श्री चन्द्रभानु गुप्त-अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पादक-मण्डल

डॉ० दीनदयालु गुप्त (प्रधान सम्पादक)
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
डॉ० माताप्रसाद गुप्त
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
डॉ० प्रेमनाथ शर्मा
डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र
डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल

प्रबन्ध-संपादक

डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी

सहयोगी प्रबन्ध संपादक

डॉ० (श्रीमती) उषा गुप्ता
डॉ० त्रिलोकीनाथ सिंह
डॉ० कृष्णचन्द्र अग्रवाल
डॉ० श्रीनारायण शास्त्री

श्री चन्द्रभानु गुप्त अभिनन्दन समारोह-समिति के तत्त्वावधान में सम्पादित

तथा

श्री श्यामलाल गुप्ता

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

रामनगर—नई दिल्ली

द्वारा प्रकाशित

श्री चन्द्रभानु गुप्त

को

उनके ६५वें जन्मदिवस

के

शुभ अवसर पर

१४ जुलाई सन् १९६६

को

उनकी बहुमुखी राष्ट्रीय सेवाओं के उपलक्ष्य में

सादर समर्पित

प्रकाशकीय निवेदन

देश के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकर्मी नेता श्री चन्द्रभानु गुप्त को उनकी महत्त्वपूर्ण सेवाओं के उपलक्ष्य में पैंसठवीं वर्षगांठ पर उनका सम्मान करने की योजना बन रही थी। इस अवसर पर उनके महान् व्यक्तित्व के अनुरूप एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेंट करने की चर्चा हुई थी। गुप्तजी की बहुमुखी विराट् सेवाओं को देखते हुए ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। ग्रन्थ की सामग्री मुझे एक मास पूर्व मिली। इतने अल्प समय में ८०० पृष्ठ का बृहद् ग्रन्थ मुद्रित करना किसी रूप में सरल न था। पर उत्तरदायित्व लेने के कारण रात-दिन लग कर जैसे भी हो सका है, ग्रन्थ को अधिक-से-अधिक आकर्षक और सुन्दर साज-सज्जा के साथ प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ के मुद्रण के समय भी निरन्तर सामग्री आते रहने से भी काफी असुविधा रही है; किन्तु अधिक-से-अधिक सामग्री को समाविष्ट करने का प्रयत्न रहा। ग्रन्थ के प्रकाशन के समय डा० विजयेन्द्र स्नातकजी का सहयोग और परामर्श मिलता रहा है। हमें प्रसन्नता है कि हमसे जैसे भी बन पड़ा, निश्चित समय पर श्रद्धेय गुप्तजी की सेवा में यह ग्रन्थ शबरी के बेर के समान भेंट करने में सफल हो सके हैं। उदारमना श्रद्धेय गुप्तजी इसे स्वीकार कर हमें कृतार्थ करेंगे, ऐसी आशा है।

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
राम नगर, नई दिल्ली।

श्यामलाल गुप्ता

सम्पादकीय वक्तव्य

आज से लगभग दो वर्ष पूर्व श्री चन्द्रभानु गुप्त जी के निकटवर्ती मित्रों एवं उत्तर प्रदेश के कतिपय सम्भ्रान्त नागरिकों ने यह निश्चय किया कि श्री गुप्तजी को उनकी बहुमुखी अमूल्य सेवाओं के उपलक्ष्य में उनकी ६५वीं वर्षगांठ पर एक 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित किया जाये। गुप्तजी का जीवन प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत रहा है और वे राष्ट्रीय आदर्शों के प्रेरणा-स्रोत होने के साथ राष्ट्र प्रेम के प्रतीक रहे हैं। वे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के अनन्य उपासक एवं समाजवादी व्यवस्था के परम समर्थक हैं। उन्होंने अनेक समाज-कल्याण-संस्थाओं की स्थापना की है और सुदीर्घ काल तक उत्तर प्रदेश की कांग्रेस पार्टी का नेतृत्व सम्भालते हुए यहां का शासन-संचालन सफलतापूर्वक किया है। यह निर्विवाद सत्य है, श्री चन्द्रभानु गुप्त का उत्तर प्रदेश के उत्थान और नव-निर्माण में प्रमुख हाथ रहा है। अतः उत्तर प्रदेश के नागरिकों द्वारा उनकी जन-सेवाओं के सम्मानार्थ अभिनन्दन-ग्रन्थ का आयोजन सर्वथा उपयुक्त ही है। इस पावन अनुष्ठान को सम्पन्न करने के लिए उसी समय एक 'अभिनन्दन-परामर्श-दात्री समिति' तथा 'ग्रन्थ निर्माण के लिये सम्पादक मंडल' का गठन किया गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद श्री गुप्त का कार्यक्षेत्र व्यापक हो गया है और आज उनका व्यक्तित्व भी प्रान्तीय सीमाओं का अतिक्रमण कर देशव्यापी है किन्तु समिति ने यह निश्चय किया कि इस ग्रन्थ में गुप्त जी के कृतित्व और सेवाओं को उत्तर प्रदेश तक ही सीमित रखा जाय और उसी को सर्वांगपूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया जाय। फलतः इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक तथा विषय-सामग्री प्रायः उत्तर प्रदेश से ही सम्बन्धित हैं। उत्तर प्रदेश के भूगोल, इतिहास, राजनीति, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, भाषा, चिकित्सा, वैज्ञानिक प्रगति, स्वास्थ्य, सम्पदा, उद्योग-धन्धे आदि विषयों पर हमने अधिकारी विद्वानों के गवेषणात्मक लेख इस ग्रन्थ में संकलित किये हैं। श्री गुप्त जी ने जिन क्षेत्रों और विभागों में अपेक्षाकृत अधिक योगदान किया है उनका विस्तारपूर्वक ग्रन्थ में वर्णन है।

अभिनन्दन-ग्रन्थ की परम्परा के अनुसार अभिनन्दनीय महापुरुष का प्रामाणिक जीवन-वृत्त भी ग्रन्थ में होना चाहिये। हमने इस ग्रन्थ में श्री गुप्तजी की प्रामाणिक जीवनी देने का भरसक प्रयत्न किया है। इस जीवनी से अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आ सके हैं।

ग्रन्थ परिचय—अभिनन्दन-ग्रन्थ पांच खण्डों में विभक्त है। प्रथम खंड के पूर्वार्द्ध में देश के सम्मानित नागरिकों के सद्भावनापूर्ण सन्देश तथा शुभ कामनाएँ हैं। खंड के उत्तरार्द्ध में गुप्त जी की प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत की गई है जिसमें शैशव से लेकर अब तक की उल्लेख्य घटनाओं का संक्षेप में वर्णन है। इसी खंड में हमने गुप्तजी की विचारधारा को स्पष्ट करने के लिये, समय-समय पर दिये गये उनके भाषणों और लेखों के अंश संकलित किये हैं। यद्यपि यह संकलन सर्वांग पूर्ण नहीं है फिर भी इसकी उपादेयता असंदिग्ध है। गुप्त जी के स्वभाव, शील और कार्यपद्धति को स्पष्ट करने के लिये उनके व्यक्तित्व से सम्बद्ध कतिपय संस्मरण भी इसी खंड में दिये गये हैं।

द्वितीय खंड आद्योपान्त उत्तर प्रदेश से सम्बद्ध है। इसमें उत्तर प्रदेश की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक, आर्थिक तथा शैक्षिक स्थिति पर विद्वानों के गवेषणात्मक निबन्ध हैं। इस खंड की सामग्री को प्रामाणिक एवं उपादेय बनाने के लिये प्रारम्भ से ही सम्पादक मंडल का ध्यान रहा है। हमें विश्वास है कि अभिनन्दन ग्रन्थ का यह खंड उत्तर प्रदेश के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होगा।

तृतीय खंड में पुरातत्त्व, इतिहास, राजनीति, धर्म, विधिशास्त्र आदि विषयों पर विचारोत्तेजक लेख हैं। इन लेखों की परिधि तो व्यापक है किन्तु उत्तर प्रदेश को भी सन्दर्भ रूप में लेखकों ने ग्रहण किया है।

चतुर्थ खंड हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध है। हिन्दी भाषा तथा उसकी उपभाषाओं का परिचय प्रस्तुत करते समय उत्तर प्रदेश की भाषा और बोलियों का विवरण इस खंड में पठनीय है। साहित्य के अन्तर्गत आदिकाल से लेकर अधुनातन काव्य-प्रवृत्तियों पर साहित्य मर्मज्ञ विद्वानों के लगभग तीस लेख दिये गये हैं। गुप्तजी हिन्दी भाषा के प्रबल समर्थक, पोषक और पक्षपाती रहे हैं। वे सदा हिन्दी में ही भाषण करते हैं और हिन्दी के उत्कर्ष के लिये उनकी सेवायें उल्लेखनीय रही हैं। इस खंड की सामग्री के विशद-व्यापक होने का एक कारण यह भी है कि ग्रन्थ की सामग्री संकलन का दायित्व लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के ऊपर था, अतः हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति उनके स्वाभाविक अनुराग और पक्षपात को इसमें स्थान प्राप्त हुआ है।

पंचम खंड में स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी लेखों के साथ विविध विषयों के फुटकर लेखों को स्थान दिया गया है। श्री गुप्तजी ने उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री के रूप में अनेक सुधार कार्य किये हैं। चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में तो उनके महत्त्वपूर्ण कार्य सदैव जनमानस के हृदय में अंकित रहेंगे। उत्तर प्रदेश में ही नये मेडिकल कालेजों की स्थापना में उनका योगदान अविस्मरणीय है।

मुद्रण सुविधा की दृष्टि से हमने ग्रन्त में अंग्रेजी के लेखों को संकलित किया है। इन लेखों में पांचों खंडों की सामग्री है जो उसी क्रम से नियोजित की गई है। प्रारम्भ में हमारा विचार था कि अंग्रेजी के लेखों का हिन्दी रूपान्तर ही ग्रन्थ में दिया जाय किन्तु समयाभाव से यह सम्भव न हो सका। अतः एक ही स्थान पर अंग्रेजी के समस्त लेखों को स्थान दिया गया है।

हमारे पास ग्रन्थ के मुद्रित होते समय भी लेख आते रहे हैं; किन्तु नियत अवधि के भीतर ग्रन्थ को मुद्रित करने की दृष्टि से हम उन लेखों को ग्रन्थ में समाविष्ट नहीं कर सके हैं। ग्रन्थ के कलेवर को सीमित रखने की विवशता के कारण भी कुछ लेखों को स्थान नहीं मिल सका है। अतः हम उन सभी उदारमना विद्वान् लेखकों से क्षमा याचना करते हैं जिनके लेखों का ग्रन्थ में उपयोग नहीं हो सका है।

आभार—'श्री चन्द्रभानु गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ' की योजना के सूत्रधार उत्तर प्रदेश, विधान-परिषद् के अध्यक्ष पंडित दरबारी लाल शर्मा हैं। उन्हीं की प्रेरणा से यह कार्य प्रारम्भ हुआ और उन्हीं के प्रोत्साहन से अनुष्ठान के रूप में सम्पन्न भी हो सका। उत्तर प्रदेश के अनेक गण्यमान्य राजनीतिक नेताओं और निष्ठावान कार्यकर्त्ताओं का सहयोग भी हमें इस योजना के प्रारम्भ से प्राप्त होता रहा है। इनमें से कुछ व्यक्तियों के नाम 'अभिनन्दन समिति' के सदस्य के रूप में अन्यत्र मुद्रित हैं।

'अभिनन्दन ग्रन्थ' के सम्पादक-मंडल में भी अनेक विद्वानों के नाम हैं और उनका सहयोग हमें सदैव सुलभ रहा है किन्तु सामग्री-संकलन एवं मुद्रण का विशेष भार प्रबन्ध-सम्पादक डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी को ही वहन करना पड़ा है। डॉ० त्रिवेदी ने पूरी लगन के साथ, अध्यवसायपूर्वक इस कार्य में जुटकर इसे सम्पन्न किया है। डॉ० त्रिवेदी सम्पादक मंडल की ओर से साधुवाद के पात्र हैं।

प्रधान-सम्पादक के रूप में अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादन का दायित्व मुझे सौंपा गया था। मैंने सम्पादक-मंडल के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से भी इस कार्य में सहायता प्राप्त की। सम्पादन कार्य में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ने अपना अमूल्य समय देकर ग्रन्थ को सुरुचिपूर्ण एवं नयनाभिराम बनाने में हमारी अत्यधिक सहायता की है। उनके अथक परिश्रम से ही ग्रन्थ को यह रूप प्राप्त हुआ है। सम्पादक-मंडल के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं में डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल तथा डॉ० (श्रीमती) उषा गुप्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जीवनी भाग की सामग्री जुटाने तथा उसे लेखबद्ध करने में डॉ० त्रिलोकीनाथ सिंह, डॉ० कृष्णचन्द्र तथा श्रीनारायण शास्त्री का परिश्रम सराहनीय रहा है, उन्हीं के प्रयत्नों से ही यह जीवनवृत्त प्रामाणिक और परिपूर्ण बन सका है।

'अभिनन्दन ग्रन्थ-समिति' की ओर से हम उन सब लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन से कुछ समय निकाल कर विचारपूर्ण, गवेषणात्मक एवं सूचनात्मक लेख लिखे हैं। हम उन महानुभावों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं जिन्होंने सन्देश, शुभकामना और संस्मरण भेज कर ग्रन्थ को समृद्ध बनाया है। इस अवसर पर मुझे उन व्यक्तियों का भी स्मरण हो रहा है जो अभिनन्दन समिति के सदस्य न होने पर भी तन-मन से इस कार्य में अपना निरन्तर योग देते रहे हैं। उनके प्रति समिति अपना आभार व्यक्त करती है।

इस प्रकार की महान् योजनाओं को साकार बनाने के लिये सब से बड़ा साधन 'अर्थ' हम बुद्धिजीवियों के पास नहीं होता। अर्थाभाव में ऐसी सुन्दर योजनाएँ कभी-कभी चरितार्थ नहीं हो पातीं किन्तु हमें इस बात का परम सन्तोष है कि इस महान् अनुष्ठान की सिद्धि के लिए अर्थसंचय के निमित्त हमें कहीं भटकना नहीं पड़ा। ग्रन्थ के मुद्रण-प्रकाशन का समस्त आर्थिक भार श्री श्यामलाल गुप्ता, संचालक, एस०चन्द एंड कम्पनी, दिल्ली ने सहर्ष अपने ऊपर ले लिया और उसका पूरी उदारता के साथ निर्वाह किया। ग्रन्थ के सुरुचिपूर्ण, सुन्दर मुद्रण की व्यवस्था एक महीने की अल्प अवधि में श्री श्याम लाल गुप्ता ही कर सकते थे। अभिनन्दन समिति उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती है।

अपनी साधन-सीमाओं और ग्रन्थ की त्रुटियों से हम भली भांति परिचित हैं। हम जानते हैं कि श्री चन्द्रभानु गुप्त जैसे महान् नेता के विराट् व्यक्तित्व के अनुरूप यह ग्रन्थ नहीं है। हमारे मन में संकोच है कि इच्छा रहते हुए भी हम इस ग्रन्थ को सर्वांग पूर्ण नहीं बना सके, किन्तु हमें विश्वास है कि उदारमना गुप्तजी अपने मित्रों, प्रशंसकों और शुभचिन्तकों की शुभकामनापूर्ण इस नगण्य भेंट को अपनी पैंसठवीं वर्षगांठ के मंगलमय अवसर पर स्वीकार कर हमें कृतार्थ करेंगे।

लखनऊ,
१४ जुलाई, १९६६।

दीन दयालु गुप्त
प्रधान सम्पादक

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

(संदेश, शुभकामनाएँ, संस्मरण तथा जीवनी)

द्वितीय खण्ड

(उत्तर प्रदेश की भौगोलिक तथा उसकी शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक एवं सांस्कृतिक अवस्था)

तृतीय खण्ड

(प्राचीन इतिहास, राजनीति, धर्म, संस्कृति, शिक्षा एवं विधि)

चतुर्थ खण्ड

(हिन्दी भाषा तथा साहित्य की समस्याएँ)

पंचम खण्ड

(विविध स्वास्थ्य, चिकित्सा, उद्योग, विज्ञान आदि)

प्रथम खण्ड

शुभकामनायें तथा सन्देश
संस्मरण, जीवनी, विचारधारा, स्फुटसंदर्भ

वाणी प्रसूनस्तवकम्

लोकानां शिशिरयितुं विलोचनानि
प्रोद्गच्छन् उदय महीधरोत्तमाङ्गे
सद्विद्याकुमुदवन स्वभावबन्धु-
र्बोभूयात् भुवनहिताय चन्द्रभानुः ॥१॥

यस्यैव श्रमजलसीकराभिषिक्ता
साफल्यं सुविदितमुत्तरप्रदेशे
सानन्दं वहति विचारकल्पवल्ली
दीर्घायुर्भवतु स विज्ञश्चन्द्रभानुः ॥२॥

साचिव्ये यस्य भव्ये समुदयति पुरा विजरीतिः प्रशस्ता ।
सञ्जाता ग्राम सीमास्वविरतसुखिनो कर्षकाः हर्षभाजः ॥
स्वास्थ्यं सद्यः समृद्धं जनयितुममिता योजना यस्य लोकान् ।
चक्रे नित्यं विशोकान् जयति स मतिमान् चन्द्रभानुर्वदान्यः ॥३॥

नैर्मल्यं यस्य चित्ते मणिमयमुकुरस्पर्धिनि प्रीतिपूर्णे ।
स्वातन्त्र्योदारधारा प्रवहति वचने कर्मणाबद्धसख्या ॥
नीतिर्यस्यास्त्यभीतिर्भजति रिपुगणो कातरत्वं यदग्रे ।
सोऽयं राकाशशाङ्कप्रतिमनिजयशः शोभनश्चन्द्रभानुः ॥४॥

भूदेव्याः भालरत्नं, नवनयलतिका स्वच्छ गुच्छावतारः
स्वातन्त्र्यश्रीविलासः श्रममय तपसां कश्चिदेकप्रकारः
सत्यत्यागैकबन्धुर्दृढतरघटनासेतुबन्धोमनस्वी ।
जीवादाचन्द्रतारं गुणमयजलधिः सर्वदा चन्द्रभानुः ॥५॥

यद्बाहुस्तम्भसम्भावित महितपदा सर्वदाऽस्मिन् प्रदेशे ।
कांग्रेसोन्मेषकान्तिर्विलसति विमला दीपरेखेव दीर्घा ॥
तस्या एव प्रभावात्तिमिरततिरहो लीयते सा पुरस्तात् ।
आशास्ते भूरिभाग्योदयपदमधुना लोकसंघो विशङ्कः ॥६॥

काले काले विशीर्णां भरतवसुमतीसेवकानाम् नराणाम् ।
शक्तिं भक्तिञ्च शश्वत् विपुलयतितरां जीवयन् यो वचोभिः ॥
सोऽयं सायन्तनेन्दुप्रतिम शुभयशो दुग्धधौताम्बरश्रीः ।
धन्यो मान्यो वदान्यो विलसतु भुवने चन्द्रभानुः कृपालुः ॥७॥

सौहार्दस्नेहसान्द्रा वचनविरचना यन्मुखाब्ज प्रसूता ।
व्याधूताशेष विघ्ना वशयति सहसा विद्विषोऽप्याशुतोषात्
चाणक्याचार्यनव्यागम इव नितरां नन्दनीय प्रभावो
भावोल्लासी स भूत्यै प्रभवतु जगतीजीवनश्चन्द्रभानुः ॥८॥

यदीयोदयानन्द सन्दोह मग्नाश्चकोरा इवैते विपश्चिद्वरेण्याः
सुधापूरसेकैर्जगत्तापहारी स जीव्यात् कला सम्भृतश्चन्द्रभानुः ॥९॥

प्रसूनस्तवकं वाण्याः चन्द्रभानुः लभेन्मुदा ।
वैद्यस्य शिवदत्तस्य कामना फलदा भवेत् ॥१०॥

शिवदत्त शुक्ल वैद्यः
ए० एम० एस०, एम० ए०, साहित्याचार्यः

I send my best wishes to Shri Chandra Bhanu Gupta on his 65th birthday.
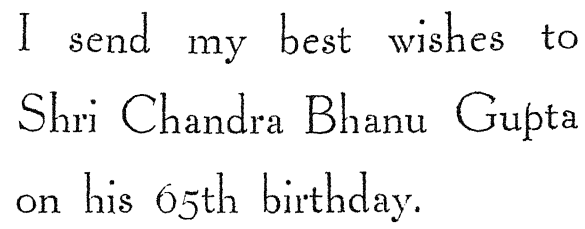
S. Radhakrishnan
President

OLD GUARD OF THE FREEDOM MOVEMENT

Shri Chandra Bhanu Gupta is one of the old guards of the freedom movement and has been serving the people of Uttar Pradesh for decades with single-minded devotion. On the occasion of his sixty-fifth birthday, I wish him a long and active life in the service of the nation.

K. Kamaraj
President, Indian National Congress

A GREAT ORGANISER

"Shri Chandra Bhanu Gupta, in spite of the controversial reputation that surrounds him, is a dedicated man, a staunch friend and a great organiser.

It is true that he is blamed for some of his ways, but who in politics can claim to be above criticism ? Politics is a strange thing. It brings strange bed-fellows together and sunders lifelong friendship. These are temporary phases. One thing I know that for the last thirty years few leaders of the Congress have augmented its strength as Guptaji has done.

The institutions that he has founded in Lucknow are a standing testimony to his creative work."

K. M. Munshi
Kulpati, Bhartiya Vidya Bhavan

NOTEWORTHY CONTRIBUTION

It is a matter of pleasure to learn that an "Abhinandan Granth" is proposed to be presented to Shri Chandra Bhanu Gupta, ex-Chief Minister of Uttar Pradesh, on his sixty-fifth birthday in July 1966.

Shri Gupta's contribution in the political and the Congress Party's fields has been noteworthy, both before and after the Independence of India.

I send my best wishes for the successful issue of the Abhinandan Granth.

K. C. Reddy
Governor, Madhya Pradesh

FAMOUS SON OF UTTAR PRADESH

I am happy to learn that a committee has been set up to prepare and present an "Abhinandan Granth" to Shri Chandra Bhanu Gupta on the happy occasion of his sixty-fifth birthday. This famous son of Uttar Pradesh has devoted more than four decades of his life to the service of our people. I have also had the good fortune of coming into close contact with his virile and dynamic personality and it is with great pleasure that I recall to my mind the many acts of personal kindness and consideration.

On this happy occasion I send my best wishes to him. May God grant him long life and good health.

Bhagwan Sahay
Governor, Kerala

A PERSON OF ORGANISATIONAL CAPACITY AND PATRIOTISM

I am glad to hear that an Abhinandan Granth is being brought out on the sixty-fifth birthday of Shri Chandra Bhanu Gupta. I had the pleasure of knowing him when I was the Governor of Uttar Pradesh, and I was always struck by his organisational capacity and patriotism. He stood in the forefront of the freedom struggle and made many sacrifices.

On this occasion, I join you in felicitating and wishing him long life so that he could continue to render his service to the cause of our motherland.

V. V. Giri
Governor, Mysore

I am very happy to note that an Abhinandan Granth is being presented to Shri Chandra Bhanu Gupta on the occasion of his sixth-fifth birthday in July, 1966. I wish your endeavours all success and I also wish him many happy returns of the day.

D. Sanjivayya
Minister of Industry, Govt. of India

AN ABLE AND EFFECTIVE ORGANISER AND ASTUTE ADMINISTRATOR

I am glad to learn that an Abhinandan Granth is being presented to Shri Chandra Bhanu Gupta on the occasion of his sixty-fifth birthday in July, 1966.

Guptaji is a front ranked soldier of the freedom movement. He is an able and effective organiser and astute administrator. He is a devoted, sincere, fearless and determined congress worker and a popular personality of his State.

I wish him many happy returns of the day.

Jagjivan Ram
Minister of Labour, Employment and Rehabilitation, Govt. of India

A DYNAMIC PERSONALITY

I am glad to know that on the occasion of his sixty-fifth birthday it has been decided to present an Abhinandan Granth to Shri Chandra Bhanu Gupta.

Shri Chandra Bhanu Gupta has a dynamic personality. He has left his imprint on all the efforts directed towards the advancement of our motherland. He was in the forefront of the country's struggle for independence. After the attainment of Independence, his contribution towards the rapid industrialisation of his Home State has been impressive.

May he be spared in good health and vigour for several years of useful service to the people and the State.

Satya Naraiñ Sinha
Minister of Communications and Parliamentary Affairs, Govt. of India

NUMEROUS CONTRIBUTIONS IN VARIOUS SPHERES OF ACTIVITY

I have great pleasure in sending this message of goodwill for the Abhinandan Granth to be presented to Shri Chandra Bhanu Gupta on his sixty-fifth birthday in July this year.

Shri Guptaji is known to everybody for the zest of his spirit and his numerous contributions in various spheres of activity. His able guidance during these long years of his active life has been a blessing to the body politic not only in the State of Uttar Pradesh but to the country as a whole.

I wish him all health and happiness for years to come in the service of the nation.

B. R. Bhagat
Minister in the Ministry of Finance, Govt. of India

विद्यार्थि-वर्ग से उनकी विशेष सहानुभूति है

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री चन्द्रभानु गुप्तजी के मित्र और प्रशंसक उनके पैंसठवें जन्म-दिन पर उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर रहे हैं। श्री गुप्तजी कांग्रेस के उन अनन्य भक्तों में से हैं, जिन्होंने कांग्रेस संगठन और देश के लिए अपना सर्वस्व अर्पण किया है। स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में या मुख्य-मंत्री के पद पर या उस पद से अलग होकर भी उन्होंने कांग्रेस कार्यकर्ताओं के साथ जो निकट सम्बन्ध रखा है, वह एक नमूने की चीज है।

विद्यार्थि-वर्ग से उनकी विशेष सहानुभूति है। वे पदासीन हों या पद से विमुक्त हों, उनके घर में भीड़ लगी रहती है और जो आता है उसको वे यथाशक्ति सहायता करते हैं।

मैं श्री गुप्तजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ और उनके शतायु होने की कामना करती हूँ।

सुशीला नैयर
स्वास्थ्य मन्त्री, भारत सरकार

बड़े सुलझे व कुशल राजनीतिज्ञ और समाज-सेवी हैं

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मंत्री, श्री चन्द्रभानु गुप्त स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रमुख सेनानियों में से हैं। श्री गुप्त का एक अद्भुत व्यक्तित्व है। उनके सुयोग्य नेतृत्व में उत्तर प्रदेश ने आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में जो प्रगति की है, वह सर्वविदित है। वे बड़े सुलझे व कुशल राजनीतिज्ञ और समाज-सेवी हैं। उनकी सादगी, कर्मठता और मिलनसारिता सर्वमान्य है। देश और कांग्रेस के प्रति उनकी सेवाएँ महान् हैं।

ईश्वर श्री गुप्त को दीर्घायु दें ताकि वे राष्ट्र की अधिक-से-अधिक सेवा कर सकें।

राम सुभग सिंह
रेलवे राज्य मन्त्री, भारत सरकार

चाहे जितना प्रबल विरोध हो, वे अपने निर्धारित मार्ग से हटना नहीं जानते

मुझे यह जानकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई कि उत्तर प्रदेश के 'लौह पुरुष' श्री चन्द्रभानु गुप्त को उनके ६५वें जन्म-दिवस पर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया है।

श्री गुप्त कांग्रेस के तपे हुए सैनिक हैं। आजादी से पहले स्वाधीनता संग्राम में तथा आजादी के बाद प्रदेश के शासन में इनका सदैव एक प्रमुख स्थान रहा है। ये चाहे मंत्री रहे हों, चाहे न रहे हों, काँग्रेस के सदैव प्रमुख स्तंभ रहे हैं। आज भी ये उत्तर प्रदेश काँग्रेस के प्राण हैं।

श्री गुप्त उन व्यक्तियों में से हैं, जो अपनी लगन और धुन के पक्के होते हैं। चाहे जितना प्रबल विरोध हो, वे अपने निर्धारित मार्ग से हटना नहीं जानते। संगठन-कुशलता में बहुत ही थोड़े व्यक्ति श्री गुप्त का मुकाबला कर पायेंगे। इस सबके बाद भी ये कांग्रेस के एक अनुशासनप्रिय सैनिक रहे हैं और इस नाते १९६३ में इन्होंने कामराज योजना के अधीन प्रदेश के मुख्य मंत्रित्व से त्यागपत्र देने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई थी। देश को इनकी सेवाओं पर गर्व है।

ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि श्री गुप्त दीर्घायु प्राप्त करें ताकि राष्ट्र इनकी सेवाओं से अधिकाधिक लाभान्वित हो सके।

शामनाथ
रेलवे उपमन्त्री, भारत सरकार

AN ABLE ADMINISTRATOR, A GREAT ORGANISER AND A SINCERE SOCIAL WORKER

Shri C. B. Gupta has rendered unique services to the motherland before and after Independence. He is an earnest Congress worker, an able administrator, a great organiser and a sincere social worker. His simplicity of life, devotion to high principles and spirit of selfless service have endeared him to his countrymen. May he live long to guide us by his experience and moral example in the difficult period of history of the nation.

Ram Kishan
Chief Minister, Punjab

GREAT LEADER OF UTTAR PRADESH

The qualities of a disciplined soldier, an able organiser and a good administrator have won for Shri C. B. Gupta a leading place in the public life of Uttar Pradesh. We require men of Shri Gupta's calibre, dynamism and energy to solve the many problems which the developing economy of the country is throwing up. I have no doubt that Shri Gupta's life of dedicated service will inspire young men to come forward to serve the country by upholding the shining traditions built up by the great leaders of Uttar Pradesh.

M. Bhaktavatsalam
Chief Minister, Madras

I am happy to learn that the friends and admirers of Shri Chandra Bhanu Guptaji have decided to present him an "Abhinandan Granth" on the occasion of his sixty-fifth birthday.

Presentation of Abhinandan Granths of this type, I am sure, will help in preserving to the posterity the details of the great sacrifices of our freedom-fighters like Guptaji.

I wish your endeavour success and I wish Shri Guptaji long life and sound health.

M. R. Apparow
Minister for Excise, Prohibition and Cultural Affairs, Andhra Pradesh

उनकी पैनी दृष्टि में व्यक्तित्व की परख की अनुपम क्षमता है

यह प्रसन्नता का विषय है कि श्री चन्द्रभानु गुप्त की ६५वीं वर्षगाँठ पर जुलाई, १९६६ में उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

श्री गुप्त ने स्वतन्त्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा मुख्य मंत्री के रूप में उत्तर प्रदेश के विकास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

श्री गुप्त से मिलने का मुझे अनेक बार सुअवसर प्राप्त हुआ है। मुझे उनमें अपूर्व देशप्रेम, वचनबद्धता और निर्णयों पर दृढ़ रहने की क्षमता का आभास मिला है। कठिन परिस्थितियों में मैंने उन्हें प्रसन्नचित्त पाया है। उनकी पैनी दृष्टि में व्यक्तित्व की परख की अनुपम क्षमता है।

मै श्री गुप्त के दीर्घायु होने की कामना करता हूँ और अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता चाहता हूँ।

मोहनलाल सुखाड़िया
मुख्य मन्त्री, राजस्थान

A FRONT-RANK PATRIOT OF UTTAR PRADESH

I am, indeed, happy to learn that it has been proposed to present Shri Chandra Bhanu Gupta with an Abhinandan Granth on the auspicious occasion of his sixty-fifth birthday. As is well-known Shri Guptaji is a front-rank patriot of Uttar Pradesh whose contribution to the freedom struggle, the growth of national consciousness and the country's progress at large during the post-independence era is too well-known to need recapitulation here. It has a place in contemporary history. As the Chief Minister of his State at a crucial juncture of its history, Shri Guptaji met the challenge of many problems with his usual vigour, tenacity and vision. I do hope that his valuable services and guidance will be available to his home State in particular and the country in general for many more years to come.

G. Brahmayya
Chairman, Andhra Pradesh Legislative Council

BY STRENGTH OF CHARACTER HE BECAME A GREAT LEADER

Among the able administrators and front-rank politicians produced by Uttar Pradesh, the name of Shri Chandra Bhanu Gupta stands out. During the days of the freedom struggle, Shri Guptaji was in the forefront from the early thirties. A keen city father with a first-hand knowledge of civic affairs, Shri Guptaji's contribution was immense to the improvement of Lucknow during his tenure as the Head of the Lucknow Improvement Trust.

He is a born nationalist and as such dedicated his life to the advancement of the tenets of the Congress in his home State during the formative years of its history. His association, as is well-known, with the Pradesh Congress Committee of Uttar Pradesh began as far back as 1946. By strength of character, integrity and drive he rose to great heights in the organisation.

As Parliamentary Secretary to the then Chief Minister in 1946, and as Food Minister between 1948—57, Shri Guptaji distinguished himself as an able administrator with a glorious record His Chief Ministership of his home State during 1960—63 was indeed a crowning glory of a life dedicated to the common-weal of the country. The future generations will no doubt draw inspiration from his example of sustained service.

His great capacities of organisation have withstood remarkably the most difficult and trying challenges that he had to face with individually and organisationally. His name is being recognised all over the country, as synonym with conviction, strength and stability—and full dedication to the cause and service of the people.

With best wishes.

M. Channa Reddy

Minister for Finance and Industries, Andhra Pradesh

A FRIEND OF ALL WHO CAME IN TOUCH WITH HIM

I am happy to learn that it is decided by the companions and colleagues of Shri Chandra Bhanu Guptaji to present him an Abhinandan Granth on his ensuing sixty-fifth birthday.

In Guptaji, the Nation has found several ideals. As a staunch follower of the Father of the Nation, Shri Guptaji fought for Freedom and led the Swarajya Movement. After independence, Guptaji with his capacities, guided both the organisational and administrative wings of the Party and by his loving and sincere nature became a friend of all who came in touch with him.

I convey my best wishes to Shri Guptaji on this happy occasion and wish him a long life and that he be a guide to the country in the days to come.

Utsava Parikh
Minister, Revenue, Agriculture and Industries, Gujarat

AN IRON-MAN OF INDIA AFTER SARDAR PATEL

I am very glad indeed to learn that an Abhinandan Granth is being presented to Shri Chandra Bhanu Guptaji on his sixty-fifth birthday.

I wonder whether Nature had destined that a few of its favourite sons should play a pivotal role in the freedom struggle of the country in which they are born. Shri Chandra Bhanuji is one of them. His qualities of head and heart command respect and awe. To my mind he can be termed an iron-man of India after Sardar Patel. His organizational capacity, resoluteness and firmness lead one to that conclusion and rightly too !

I would join you on this occasion through this small message and wish God may give this country the benefit of his services for many many years to come.

Jairambhai Patel
Deputy Minister for Agriculture, Irrigation, Electricity and Civil Supplies, Gujarat

HE WILL BE REMEMBERED BY HIS COUNTRYMEN FOR A VERY LONG TIME

I am glad to know that on the occasion of his sixty-fifth birthday it is proposed to present Shri Chandra Bhanu Gupta with an Abhinandan Granth.

The services rendered by Shri Guptaji to the countrymen are so many that it is not possible to enumerate them briefly here. But I can very confidently say that these will be remembered for a very long time by his countrymen.

I take this opportunity to pray to God that he may spare Shri Guptaji for many more years and give him sufficient strength to serve the cause so dear to us all, *viz.*, betterment of our Countrymen.

Bhanuprasad Pandya
Deputy Minister, Education, Prohibition and Excise, Gujarat

उत्तर प्रदेश का लौह-पुरुष जिसने जीवन में कभी हार स्वीकार नहीं की

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि श्री चन्द्रभानु गुप्तजी के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। गुप्तजी का एक असाधारण व्यक्तित्व है। उन्हें जो उत्तर प्रदेश का लौह-पुरुष कहा जाता है, वह अक्षरश: सत्य है। जिन्होंने जीवन में कभी हार स्वीकार नहीं की, वैसे गुप्तजी न केवल वर्तमान पीढ़ी के लिए बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए भी प्रेरणा के स्रोत बने रहेंगे।

श्री गुप्त स्वतन्त्रता-संग्राम के एक अग्रणी नायक थे। आजादी के बाद भी वही लगन, त्याग एवं बलिदान की भावना लेकर राष्ट्र-निर्माण-कार्य में लगे हुए हैं। वे अपनी कर्मठता, सेवा, निर्भयता तथा उच्च आदर्शों में अपनी आस्था एवं विश्वास के कारण राष्ट्रीय जीवन में एक बड़ा ही ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका व्यक्तित्व जो बाहर से रूक्ष और कठोर दीखता है, भीतर से अत्यन्त ही सरल और निश्छल है।

भगवान् उन्हें लम्बी आयु दे कि राष्ट्र को उनकी सेवाएँ अधिक से अधिक प्राप्त हों सकें।

शिवशंकर सिंह
राज्य मन्त्री, धार्मिक न्यास, बिहार

A REMARKABLE CARRIER

Shri Guptaji's career so far in the services of our beloved motherland is undoubtedly of remarkable nature. It is, therefore, in the fitness of things that his admirers should think of him and appreciate his services on his 65th birthday. I wish him a long life for the service of the nation.

V. S. Karmali
Minister for Education, Public Health, Public Works, Information and Tourism, Govt. of Goa, Daman and Diu

MOST TRUSTED LEADER

I am highly privileged to convey my hearty blessing and felicitation to Shri Chandra Bhanu Gupta, the Ex-Chief Minister of Uttar Pradesh on the occasion of his sixty-fifth birthday. He is one of the most trusted Leaders in handling public and national affairs and is wholeheartedly devoted to the service of the nation. May Shri Chandra Bhanu Gupta be guided by Heavenly Father for long and prosperous life. Our country has been highly benefited by his national activities and true endeavour rendered by him with an active sense of national spirit and special love to the people.

May God guide him and give him long life, happiness and prosperity.

T. N. Angami
Speaker, Nagaland Legislative Assembly

कर्मठ कार्यकर्ता तथा प्रमुख नेता

मुझे यह जानकर बहुत हर्ष हुआ है कि देश के प्रसिद्ध नेता श्री चन्द्रभानु गुप्त की ६५वीं वर्षगांठ पर उनकी सेवा में एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

श्री चन्द्रभानु गुप्त देश के स्वाधीनता-संग्राम में सदैव अग्रिम पंक्ति में रह कर भाग लेते रहे हैं। कांग्रेस के इस कर्मठ कार्यकर्ता तथा समाज कल्याण का कार्य करने वाले प्रमुख नेता को सम्मानित करना सभी देश-वासियों का परम कर्त्तव्य है। अतः इस प्रयास का हार्दिक स्वागत करते हुए मैं भी श्री गुप्त के सुस्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ।

ज्ञानचन्द
मन्त्री, उद्योग विभाग, पंजाब

WELL-KNOWN FIGHTER

I am in receipt of your letter of the 12th instant and I am glad to note that you are organising an Abhinandan Granth on the occasion of the birthday of Shri Chandra Bhanu Gupta. Shri Gupta has been well-known as a fighter in the cause of the independence of the country as well as in the constructive activities of building up of the nation after the independence. May God give him a long life so that he may usefully contribute his best to the cause of the country.

I. D. Jalan
Minister-in-Charge, Judicial, Legislative and Excise Departments, West Bengal

FIGHTER OF FREEDOM

In the fight for freedom, our country needed men with mission and sacrifice and workers of strong determination, practical intelligence and organising ability. Shri Chandra Bhanu Gupta, the former Chief Minister of Uttar Pradesh, really represents the idealism that was needed for the freedom-fighters. In the post-Independence period his contribution in reconstruction of our country will go down with flying colours in the pages of the future history of India. Friends and admirers of Guptaji have decided to publish an 'Abhinandan Granth' on his sixty-fifth birthday. I trust the idea of bringing out the publication is befitting the occasion. May God grant him a long lease of life and energy to serve our motherland.

Bijoy Singh Nahar
Minister-in-Charge, Labour and Publicity, West Bengal

A FRIEND OF THE RICH AND THE POOR ALIKE

I am very happy to know that friends and admirers of Shri Chandra Bhanu Gupta, ex-Chief Minister of Uttar Pradesh, have decided to present him an Abhi-nandan Granth on the occasion of his sixty-fifth birthday which comes of in July, 1966. A devoted Congressman and an ardent follower of Mahatma Gandhi, he fought for the liberation of our motherland for the most part of his life and his contribution in this respect is very considerable indeed. His assumption of office first as Parliamentary Secretary and then Chief Minister of Uttar Pradesh marked a new era in the administrative field of the country. He has earned great popularity by means of his cultural and organizational achievements. He is a friend of the rich and the poor alike.

On this happy occasion I wish him health, happiness and prosperity and many more returns of this memorable day.

Pratap Chandra Guha Ray
Chairman, West Bengal Legislative Council

To recapture the spirit of service which was inculcated in us by Mahatma Gandhi, to go to the people and work amidst them to understand their needs and their grievances, to serve as a link between the Government and the masses—these constitute the line of duty of every Congressman. I am sure that Congressmen will rise equal to the needs of the times and serve the people and the country with the same spirit of dedication as in the days of Mahatma Gandhi.

S. M. A. Majid
Minister for Local Administration, Madras

A BUILDER OF NEW INDIA

Shri Chandra Bhanu Gupta belongs to the band of patriots who had the unique opportunity of serving the Nation during the freedom struggle and of participating in the building up of new India after Independence. I am glad to know that you have decided to honour Shri Guptaji on the occasion of his sixty-fifth birthday by presenting him an Abhinandan Granth. On this happy occasion I wish him many more years of fruitful service to the country.

N. S. S. Manradiar
Minister for Co-operation, Madras

SELFLESS SERVICE

I send my best wishes on the occasion of 65th birthday of Shri C.B. Gupta, ex-Chief Minister of Uttar Pradesh. The presentation of an 'Abhinandan Granth' is a befitting recognition for his selfless service rendered to the country.

Ganeshram Anant
Minister for Public Health, Madhya Pradesh

VALUABLE SERVICES

I am happy to learn that an Abhinandan Granth will be presented to Shri Chandra Bhanu Gupta, ex-Chief Minister of Uttar Pradesh on the occasion of his sixty-fifth birthday, which falls in July 1966. This effort of his friends and admirers is suitable in view of the valuable services rendered by him to the people of the country in general and Uttar Pradesh in particular both during the pre-independence years and post-independence years. I hope Shri Chandra Bhanu Gupta will be spared for many more years to come to serve our country.

Grace Tucker
Deputy Minister for Education, Mysore

A PERSON OF RICH EXPERIENCE

I am happy to learn that the friends and admirers of Shri C. B. Gupta, ex-Chief Minister of Uttar Pradesh have decided to present him with an Abhinandan Granth on the occasion of his Sixty-fifth birthday which falls in July, 1966.

Shri Gupta has made a name for himself by his life of simplicity and high integrity. While wishing him a happy birthday, I pray that God Almighty may give him long life so that the younger generation that will be called upon to shoulder the heavy and responsible burden of guiding the destinies of the Country may benefit from his rich experience. I wish the release of the Abhinandan Granth every success.

Veerendra Patil
Minister for Public Works, Mysore

I will take the privilege of sending my message within a week. Anyhow I share all your joy on the occasion of the 65th birthday of Shri Guptaji.

With kind regards.

Maqsood Ali Khan
Deputy Minister for Mines and Geology, Mysore

कुशल प्रशासक, बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न, लोकप्रिय नेता

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त की जन-सेवाओं के सम्मानार्थ उनकी ६५वीं वर्षगांठ के अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

पिछले लगभग ४० वर्षों से देश के प्रति श्री गुप्त की अथक एवं निःस्वार्थ सेवाएँ सर्वविदित हैं। स्वतन्त्रता-संग्राम में महात्मा गाँधी के अनन्य सहयोगी के रूप में उनका योगदान रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी वे कुशल प्रशासक तथा बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न लोकप्रिय नेता सिद्ध हुए हैं। ऐसे नेता का जितना सम्मान किया जाय, वह कम है। श्री गुप्त को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय वास्तव में सराहनीय है।

मैं अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता की कामना करता हूँ।

हरिदेव जोशी
मन्त्री खनिज एवं जनसंपर्क, राजस्थान

PRIME MINISTER'S HOUSE
NEW DELHI

July 6th, 1966

Dear Guptaji,

I am writing to send my good wishes for your 65th Birthday. I am sending this letter in advance as I shall be out of India at the time.

You have worked hard and sincerely for the organisation and for U.P. The months to come are full of difficulties. I feel it is important that we should all pull together to strengthen the Congress organisation all over the country and especially in U.P.

May you be granted a long life so that you can continue to serve the cause with undiminished strength.

Sincerely yours,

Indira Gandhi

Shri C. B. Gupta,
Lucknow

A LEADER OF REPUTATION AND STANDING

I offer my hearty and prayerful blessings to Sri Chandra Bhanu Gupta on the auspicious occasion of his sixty-fifth birthday. Chandra Bhanuji is a leader of reputation and standing, not only in U.P., but also in India. He is a bachelor and prefers to remain in single blessedness. Though single, he has created, in course of these decades, a number of organizations and institutions, to which he is deeply wedded. Sri Gupta, a loving friend, a devoted worker and a leader of reputation, has the unique distinction of having around him a number of capable and devoted lieutenants and workers. I offer Chandra Bhanuji, on the occasion of his 65th birthday, my prayerful blessings. May he live long, with continuous health, activity and reputation always at the service of God, country and society.

Biswanath Das
Governor, U.P.

AN INSTITUTION IN HIMSELF

I am glad to associate myself with the "Abhinandan Granth" (Commemoration Volume) to be presented to Shri C. B. Gupta on his 65th birthday on 14th July, 1966.

Shri Gupta possesses rare qualities of leadership and organising ability. His deep sense of devotion and loyalty to the cause and colleagues radiates confidence, affection and optimism. He is a man of affection. To him "Work is Worship".

He never rests on his oars. Nor is he content to row in safe and shallow water. He sees happiness in struggle.

Dynamism informs his activities and he can pursue the cause with dogged determination.

He finds time for everything he undertakes and his constructive genius has found concrete expression in a number of Socio-educational and cultural organisations and institutions. As a matter of fact, he is an institution in himself.

I offer my felicitations to Guptaji on this auspicious occasion and wish him many more returns of this day to enable him to serve the State and the country.

Suchita Kripalani
Chief Minister, Uttar Pradesh

On the auspicious occasion of the 65th birthday of Shri C. B. Gupta, I extend my most cordial felicitations to him.

I wish him many more years of a long life in the service of the people and the nation.

Hitendra Desai
Chief Minister, Gujarat

A DEDICATED LIFE OF SERVICE TO THE COUNTRY

Shri C. B. Gupta has led a dedicated life of service to the country and his record as a congress leader and worker is certainly a proud one. The large following of admirers that he commands not only in congress but amongst people in all walks of life is a proof of his great popularity.

Begum Aizaz Rasul

बालक के समान सरल और निर्दोष परन्तु कृतसंकल्प कर्मनिष्ठ

श्री चन्द्रभानु गुप्त बालक के समान सरल और निर्दोष हैं। उनकी बाह्य कठोर वाणी में विनय, निरहंकार, करुणा और प्रेम छिपा हुआ है। वे एकनिष्ठ, कृतसंकल्प और कर्मनिष्ठ हैं जो निश्चय के मेरु और हार-जीत में समान रूप से अविरल गति से आरूढ़ हैं। उत्तर प्रदेश को इस अनोखे लाल पर गर्व है।

बनारसी दास
श्रम तथा सहकारिता मंत्री, उत्तर प्रदेश

तप कर कुन्दन निकले

चरित्र का निर्माण विषम परिस्थितियों तथा संघर्ष के अन्दर ही होता है। संसार की महान् क्रान्तियाँ अल्पमत के द्वारा हुई। उत्पीड़ित, उपेक्षित, निन्दित तथा निष्कासित व्यक्ति ही नये युग के निर्माता सदा बने हैं। श्री चन्द्रभानु गुप्त भी ऐसे ही युग-पुरुषों में से हैं। जब-जब अग्नि-परीक्षा में पड़े, उत्तरोत्तर निर्मल व प्रबल ही होकर निकले।

मंगला प्रसाद
प्रधान मंत्री, चन्द्रभानु गुप्त जन्म दिवस समिति

महामानव

चरित्र और व्यक्तित्व की गरिमा व्यक्ति के साहस और शक्ति में है। मन, वचन और कर्म में समान ऐसे महामानव का ६५वें जन्म-दिन पर श्रद्धापूर्वक अभिनन्दन करती हूँ।

श्रद्धा देवी
एम० एल० ए०, उत्तर प्रदेश

भाग्यनिर्माता

अध्यवसाय, असाधारण संगठन शक्ति, तन्मयता और निष्ठा के कारण अपने ही प्रयत्न से मुख्य मन्त्री का पद प्राप्त किया, प्रदेश के आर्थिक व औद्योगिक संगठन को नई दिशा प्रदान की, स्वतन्त्रता के वीर सेनानी रहे, प्रदेश के जीवन के प्रत्येक अंग में नई स्फूर्ति पैदा की व नई दिशा दिखाई। आत्मोत्सर्ग, पवित्रता, क्षमता और एकनिष्ठ कर्त्तव्य की प्रतिमूर्ति, हृदय तथा मस्तिष्क के गुणों के कारण एक लोकप्रिय नेता बन गए।

सीताराम जयपुरिया
एम० पी०

A PRACTICAL POLITICIAN

Shri Chandra Bhanu Gupta, ex-Chief Minister and leader of U.P. is known to me since 1935 when I was a student of Lucknow University. He has a dynamic personality and is a great organiser. His life is dedicated to the service of the people. He is a friend in need and it is very rare that he expresses inability to the demand of a friend in difficulty. He is a good administrator and knows how to tackle both difficult problems and men. He is very sharp and tough and fights his opponents ruthlessly. He has become a controversial personality. His admirers and followers are very much more than his die-hard opponents. He is a practical politician and does not bother much about the academic politics. He has definitely gone in the history of U.P. as a leader and the presentation of Abhinandan Granth on the occasion of his sixty-fifth birthday by his admirers and friends is a right step for which organisers deserve congratulations. May Guptaji live long and serve the people of India.

Mathuradass Mathur
Minister for Planning & State Enterprises, Rajasthan

On the occasion of the 65th birthday of Shri Chandra Bhanu Gupta, I send my best of wishes to him. May God bestow upon him a long life of service, health and happiness.

U. N. Dhebar

I am glad that you are bringing out an Abhinandan Granth on the happy occasion of the 65th birthday of our revered friend Shri C. B. Gupta.

I pray the Almighty to bestow His blessings upon Shri Guptaji and enable him to continue to strive for the socialist ideals and national solidarity for many more years to come.

Please accept my hearty good wishes on this happy occasion.

R. Krishnaswamy
President, Tamilnad Congress Committee, Madras

उनकी संगठन शक्ति से देश को लाभ हो सकता है

यह जानकर कि आप श्री चन्द्रभानु गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ उनकी ६५वीं वर्षगांठ के अवसर पर निकाल रहे हैं, प्रसन्नता हुई। गुप्तजी का जीवन निःस्वार्थ सेवा का एक उदाहरण रहा है। उत्तर प्रदेश तक उनको सीमित रखना उनके प्रति अन्याय करना है। उनकी संगठनशक्ति से देश को लाभ हो सकता है। मैं आशा करता हूँ कि ईश्वर उन्हें चिरायु करे और सदैव उन्हें देशसेवा करने की शक्ति प्रदान करता रहे।

श्यामसुन्दरनारायण मुशरान
अध्यक्ष, मध्यप्रदेश कांग्रेस कमेटी

I am happy to learn that you are presenting an Abhinandan Granth to Shri Chandra Bhanu Gupta, ex-Chief Minister of Uttar Pradesh on the occasion of his sixty-fifth birthday in July 1966. I take this opportunity of expressing my warm appreciation of the valuable services rendered by Shri Guptaji to the country and I wish him many happy returns of this day. I also convey my warm appreciation of your undertaking in presenting him the Abhinandan Granth.

Mohamed Ali
President, Mysore Pradesh Congress Committee, Bangalore

राष्ट्र-निर्माण की लोकतांत्रिक परम्परा को सुदृढ़ बनाया

हमारे लिए यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि जिन नेताओं ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के संग्राम को नेतृत्व प्रदान किया एवं बाद में राष्ट्र-निर्माण की लोकतांत्रिक परंपरा को सुदृढ़ बनाया—उनके प्रति हम अपने श्रद्धा के भाव अर्पित करने लगे हैं। सही है कि श्री गुप्त के संघर्षमय एवं रचनात्मक नेतृत्व ने भारत की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है। इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के माध्यम से उत्तर प्रदेश के राजनैतिक व्यक्तित्व को समझने का अवसर हमें मिलेगा।

आपके प्रयास के प्रति मैं हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ।

वृजसुन्दर शर्मा
शिक्षा मन्त्री, राजस्थान

MASTERLY ORGANIZER AND ADMINISTRATOR

I have very little opportunity of coming in intimate contact with Shri Guptaji. However, I have been an admirer of this great patriot and masterly organizer and administrator with versatile interest, extraordinary drive and exceptional loyalty to the organization. His simple life, unassuming manners, and dedication to the cause of the Congress has inspired many Congressmen and endeared him to millions of his countrymen. I am one of those who have been admirers of this great personality from a very long distance.

I am grateful to you for affording me an opportunity to associate with you all in greeting Guptaji and wishing him a very long, healthy and active life in the service of the motherland, on this happy occasion.

Babubhai J. Patel
Gujarat Pradesh Congress Samiti, Ahmedabad

देश-प्रेम, निर्भीकता और आत्म-बलिदान की भावना उनमें अटूट है

उत्तर प्रदेश के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में श्री चन्द्रभानु गुप्त का विशिष्ट और ऊंचा स्थान रहा है। यह स्थान उन्हें सहसा ही किसी एक घटनाचक्र के फलस्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है। उसके पीछे उनका अथक परिश्रम, अदम्य साहस और दृढ़ आत्मविश्वास है। स्वतन्त्रता की लड़ाई में वे सबसे आगे रहे। देश-प्रेम, निर्भीकता और आत्म-बलिदान की भावना उनमें अटूट है। उन्हें व्यक्तियों की बारीक पहिचान और सामाजिक प्रवृत्तियों की गहरी जानकारी है। संघटन करके कार्य करने की उनमें अद्भुत योग्यता है। उनकी कर्म प्रवृत्ति चकित करने वाली है और अनुकरणीय है। अनुशासित ढंग पर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एक लम्बे समय तक प्रदेश की जो सेवा उन्होंने की है, उसके लिये यह उचित ही है कि हम उनका अभिनन्दन करें। परमात्मा से प्रार्थना है कि वे दीर्घजीवी होकर हमारा मार्ग प्रदर्शन करें।

हुकुम सिंह विश्वेन
राजस्व मन्त्री, उत्तर प्रदेश

निःस्वार्थ जन-सेवा उनका धर्म है

मुझे यह जानकर खुशी हुई कि जनप्रिय भाई चन्द्रभानु गुप्त को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया है। निःस्वार्थ जन-सेवा के कारण सारा देश गुप्तजी के नाम से परिचित है। उत्तर प्रदेश तो उनका खास कार्य-क्षेत्र रहा है। वहां का बच्चा-बच्चा भी उन्हें जानता है।

करीब ४५ साल पहले मेरी उनसे मुलाक़ात हुई थी। ताल्लुक बढ़ता गया और गहरी दोस्ती हो गई। मोहब्बत और भाईचारा दिन-दिन बढ़ता रहा।

जिस चीज ने उनकी मोहब्बत मेरे दिल में बढ़ाई है, वह है उनकी जन-सेवा में अपने को खपा देने की आदत। चौबीसों घण्टे जनता की सेवा में मग्न, निडर और बहादुर हमेशा से रहे। खरी-खरी सुनाने में कभी संकोच नहीं किया। इसी वजह से कुछ लोग उनसे नाराज भी हो जाते हैं। लेकिन गुप्तजी ने इस फ़ज़ूल नाराजगी की कभी परवाह नहीं की। जिस काम को वे जनहित में समझते हैं, जरूर कर डालते हैं। सेवा ही उनका जीवन व धर्म है। धन बटोरा बहुत लेकिन सब जनसेवा और संस्थाओं के काम में खर्च हुआ। जनसेवा कार्य के साथियों की तादाद बहुत रही। उनके भी खूब काम आये। लेकिन खुद रहे फ़क़ीर के फ़क़ीर।

मेरी खुदा से भी यह दुआ है कि वे स्वस्थ रहें और उनकी उम्र लम्बी हो जिससे जनता और देश को उनकी निःस्वार्थ सेवा से खूब लाभ मिलता रहे।

आबिद अली

I am glad to learn from your letter of the 12th April that you are publishing an Abhinandan Granth on the occasion of the sixty-fifth birthday of Shri Chandra Bhanu Gupta for being presented to him. I wish the function all success.

C. P. Ramaswami Aiyar

I am happy to note that Mr. C.B. Gupta will be presented with an Abhinandan Granth on the occasion of his sixty-fifth birthday which falls in July 1966.

Shri Gupta has rendered yeomanly services to the country and I hope he will continue to serve the nation for many years to come.

Kasturbhai Lalbhai

A SINCERE FRIEND AND GUIDE

I congratulate the sponsors of "Shri Chandra Bhanu Gupta Abhinandan Granth" on this desirable move and I hope the Granth produced will be worthy of the great man for whom it is being prepared.

Shri Chandra Bhanu Gupta is well-known in the political and social fields, not only of this State but also of the country. He has a dynamic and forceful personality, is ever willing to help those who knock at his door and always vigilant of the interests of the people whose destiny he is called upon to guide. His enormous organisational capacity has seen the growth of several literary, social and cultural institutions. He puts patriotism before self and considers no sacrifice too great for the cause of the suffering humanity. He is frank and candid, is ever devoted to high ideals and is a sincere friend and guide.

I wish and pray that Guptaji may be spared for years to come to steer the ship of our State and the country through all storms and upheavals.

Shri Ranjan
Vice-Chancellor, Agra University

कर्मठ सेनानी तथा सजग प्रहरी

यह संवाद पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि देश के मूर्धन्य नेता, युवकों के प्रेरणा-स्रोत, कर्मठ सेनानी, राष्ट्र के सजग प्रहरी, दृढ़प्रतिज्ञ, त्यागी, सहृदय, सर्वसुलभ, जनप्रिय व्यक्तित्व, कुशल प्रशासक और उत्तर प्रदेश के लौह पुरुष श्री चन्द्रभानु गुप्त को उनकी ६५वीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर उनके शुभचिन्तकों एवं प्रशंसकों ने राष्ट्र की सेवाओं के प्रति सम्मानित करने के लिए उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का सर्वथा उचित और सराहनीय संकल्प किया है। मैं इस संकल्प की पूर्ति के लिए आन्तरिक कामना के साथ जगन्नियन्ता से यह प्रार्थना करता हूँ कि वह गुप्तजी को दीर्घ जीवन तथा उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें ताकि राष्ट्रसेवा के महत्त्वपूर्ण कार्य में हमें सदैव उनका पथ-प्रदर्शन और सहयोग प्राप्त होता रहे।

रामरतन गुप्त

लगन और निष्ठा के धनी

मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई है कि उत्तर प्रदेश के प्रख्यात कर्मठ नेता श्री चन्द्रभानु गुप्त का एक अभिनन्दन-ग्रन्थ निकालने का आयोजन हो रहा है। सुझाव उत्तम है, ग्रन्थ की सफलता को मैं शुभ कामना करता हूँ।

श्री चन्द्रभानुजी हमारे प्रान्त के एक लगन और निष्ठा के व्यक्ति हैं और जिस चीज में वह हाथ डालते हैं उसे पूरा करने का प्रयत्न भी करते हैं। हम उनके स्वस्थ और दीर्घायु होने की कामना करते हैं।

पदमपत सिंहानिया

I am glad to have this opportunity of paying my tribute to Guptaji as he is officially known to every one in U.P. His courage, devotion to duty, spirit of self-sacrifice and simplicity are virtues that even his detractors admit he possesses to a remarkable degree. If he has a fault, it is his outspokenness and frankness, which have often embarrassed both officers as well as Guptaji's political colleagues !

A. N. Jha
Chief Commissioner, Delhi

YEOMAN SERVICE TO THE NATION

I am very happy to note that the well-wishers of Shri Chandra Bhanu Gupta, the Ex-Chief Minister of Uttar Pradesh, are bringing out an Abhinandan Granth on the occasion of his sixty-fifth birthday in July, 1966.

Needless to say that Shri Guptaji has contributed yeoman service to the Nation, both before the liberation of India from British Raj, and after the independence.

I heartily congratulate Shri Guptaji on attaining the sixty-fifth birth anniversary and wish him robust health, happiness and prosperity for many years to come, in the selfless and dedicated service of the Nation.

Tony Fernandes
Minister for Industries, Goa

I am very happy to know that an Abhinandan Granth is being brought out on the 65th birthday of Shri Guptaji. Those of us who have been in Kanpur Medical College since its inception know that this institution is entirely the result of Shri Guptaji's imagination, foresight, enthusiasm and continued interest. But for his unfailing interest it would not have been possible to build a Medical College of this magnitude at Kanpur which to-day can compete with any of the best Medical Colleges in India.

Apart from the Kanpur Medical College, Shri Guptaji's interest in promotion and improvement of health services in the State is unparalleled. We have also known his significant contribution towards the development of this State which is unequalled. All this has been possible on account of selfless devotion, drive and great organisational capacity of Shri Guptaji.

We all sincerely wish that God will grant him a long life so that he may continue to contribute for the welfare of the State.

J. R. Srivastava
Professor and Head of the Department of Pediatrics, G.S.V.M. Medical College, Kanpur

अपने ध्येय को सिद्ध करने की अद्भुत क्षमता है

श्रीयुत चन्द्रभानु गुप्त उत्तर प्रदेश के लौह पुरुष हैं, उनमें राजनीतिक जय-पराजय से निर्लिप्त रह कर अपने लक्ष्य को सिद्ध करने की अद्भुत क्षमता है। यह एक दुर्लभ गुरण है। वैसे उनमें और भी अनेक गुरण हैं, जो प्रख्यात हैं। उनकी संगठन-शक्ति असाधाररण है। उनमें अपरिमेय ऊर्जा और साहस है, जिसके बल पर वे जीवन के विष का भी निर्द्वन्द्व भाव से पान कर सकते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त निकटस्थ होने पर भी मुझे उनके निकट संपर्क में आने का अवसर नहीं मिला। फिर भी मैं दूर से उत्तर प्रदेश के रंगमंच पर उनके 'जय-पराजय' नाटक का आश्चर्यपूर्वक प्रेक्षरण करता रहा हूं और उनके प्रारणवंत व्यक्तित्व के प्रति मेरी आदर भावना बढ़ती ही गई है। उनका यह जन्म दिवस, जबकि वे अपने सार्थक जीवन के ६५ वर्ष समाप्त कर रहे हैं, निश्चय ही हमारे लिए अभिनन्दनीय है। मैं उनके प्रति अपना आदर और स्नेह व्यक्त करता हूं और उनके दीर्घजीवन के लिए मंगल कामना करता हूं।

डा० नगेन्द्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

उच्चश्रेणी के निष्ठावान कार्यकर्ता के रूप में जनता की अनमोल सेवा की है

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि श्री चन्द्रभानु गुप्त की जनसेवाओं के सम्मानार्थ उन्हें ६५वीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया गया है।

श्री चन्द्रभानुजी ने कांग्रेस के एक उच्च श्रेणी के निष्ठावान कार्यकर्ता के रूप में जनता की अनमोल सेवा की है, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मंत्री के नाते भी उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया है, उनके प्रभावी व्यक्तित्व के कई पहलू हैं, जिनका विस्तृत परिचय पाकर भारतीय युवक देशसेवा की प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं, इस दृष्टि से उनका अभिनन्दन-ग्रंथ बहुत उपयुक्त सिद्ध होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

मैं श्री चन्द्रभानुजी को उनकी ६५वीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर स्वयम् अपनी तथा महाराष्ट्र की ओर से हार्दिक बधाई देता हूं और उपर्युक्त अभिनन्दन-ग्रंथ के लिए सम्पूर्ण सफलता चाहता हूं।

वसंतराव नाईक
मुख्य मंत्री, महाराष्ट्र

AN ABLE ADMINISTRATOR AND SINCERE SOCIAL WORKER

I feel it a privilege to congratulate Shri Chandra Bhanu Guptaji on his completion of the 65th year of his eventful life, who readily responded to the clarion-call of the Father of the Nation. He attracted the eyes of those working around him by his capacity and skill to organise and inspired confidence in them, who came in contact with him. His devotion to high ideals, sincerity and frankness endeared him to millions in the country.

Shri Guptaji gained administrative experience right from Parliamentary Secretary in the Congress Government after Independence and reached the highest office of the Chief Minister of the biggest State in India. He is not only an able administrator, but a sincere social worker as well.

I wish him a happy long life to serve the country for many more years to come.

Devendranath Hazarika
Deputy Minister, Panchayat & C.D., Assam, Shillong

प्रजातन्त्र के सजग सेनानी

अपार हर्ष की बात है कि श्री चन्द्रभानु गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ उनकी जनसेवाओं के सम्मानार्थ उनके ६५वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य में प्रकाशित होने जा रहा है। माननीय गुप्तजी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न, लोकप्रिय जन-नायक, कांग्रेस के कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं राष्ट्र के लौह पुरुष हैं। आदरणीय गुप्तजी की जन सेवाओं को शब्द-बद्ध करना कठिन है। आप प्रजातंत्र के सजग प्रहरी, स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानी, कुशल प्रशासक, कांग्रेस संगठन-कर्ता एवं कृषकों के सच्चे हितैषी के रूप में विख्यात हैं। आपके उच्च आदर्शों ने मुझे सदैव प्रेरित एवं मार्गदर्शित किया है। मैं माननीय गुप्तजी के दीर्घायु होने की परम शुभ कामना करता हूं।

तिरमल सिंह
भू० पू० एम० एल० ए०, सदस्य, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी

उनकी संगठनशक्ति तथा कार्यक्षमता अद्वितीय है

यह जानकर कि आदरणीय गुप्तजी की ६५वीं वर्षगांठ पर उनको अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया जायगा, अत्यन्त खुशी हुई। उन जैसे कर्मठ नेता एवं कर्मयोगी के लिए यह मान देना उचित ही है। उनका त्याग, लगन एवं प्रदेश और देश के हर क्षेत्र में जो निःस्वार्थ सेवायें उन्होंने की हैं, वे सर्व-विदित हैं। विद्यार्थी काल से अब तक अपना सारा जीवन उन्होंने देश, कांग्रेस एवं राष्ट्र की सेवा में ही व्यतीत किया है। उनकी संगठनशक्ति तथा कार्यक्षमता अद्वितीय है। साथियों पर उनका अगाध स्नेह और विश्वास और हर जरूरतमंद की उचित सहायता करना उनका विशेष गुण है और इसीलिए वह सर्वप्रिय हैं।

संगठनकर्ता के साथ-साथ वे एक कुशल प्रशासक भी हैं। यही कारण है कि उनकी प्रतिभा चारों तरफ प्रदेश के कोने-कोने में छिटकी हुई है। न जाने कितनी शिक्षा, सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के वे प्राण बने हुए हैं और इनका संचालन व्यक्तिगत रूप से उनके द्वारा होता है।

मुझे आशा है कि यह अभिनंदन-ग्रंथ उनके विशाल व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए इस प्रदेश की राजनीतिक एवं सामा-जिक प्रगति एवं विकास के इतिहास के रूप में विद्यार्थियों के लिए ज्ञान का पूर्ण भंडार सिद्ध होगा।

नवल किशोर
सचिव, उत्तर प्रदेशीय विधान मंडल कांग्रेस पार्टी

सम्पूर्ण जीवन सेवा, त्याग व परोपकार का जीवन रहा है

बड़े हर्ष का विषय है कि श्री गुप्तजी की ६५वीं वर्षगांठ के सुअवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट करने का आयोजन हुआ है। उत्तर प्रदेश के सार्वजनिक क्षेत्र में, विशेषकर कांग्रेस संगठन में, जीवनपर्यन्त गुप्तजी का जो योगदान रहा है, उसका समावेश एक नहीं अनेक ग्रन्थों में भी हो सकना कठिन है। किन्तु मुझे उनके बारे में कुछ लिखने में वही संकोच हो रहा है जो किसी भी व्यक्ति को अपने मुंह से अपनी तारीफ करने में हो सकता है, क्योंकि लम्बे व घनिष्ठ सम्पर्क ने दो व्यक्तियों के बीच की दूरी को पाट कर हमें एक कर दिया है।

वास्तव में गुप्तजी का सम्पूर्ण जीवन सेवा, त्याग व परोपकार का जीवन रहा है। उन्होंने जो कुछ भी किया वह हमेशा दूसरों के लिए ही किया। जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आया, उसके हृदय पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी। वह बाहर से जितने रूखे व कठोर दिखाई पड़ते हैं, उससे कहीं अधिक भीतर से उदार व नम्र हैं। रहन-सहन में सादगी लेकिन विचारों में उच्चता, यह उनके जीवन का एकमात्र ध्येय रहा है। कथनी और करनी में अन्तर जो आजकल की राजनीति में एक साधारण-सी बात है, उन्होंने कभी सीखा ही नहीं। वह जो कुछ कहते हैं वही करते हैं और जो करते हैं उसे निर्भीकता और सच्चाई के साथ कहते हैं। स्पष्टवादिता के कारण कभी-कभी तो राजनीति में उनका विरोध करने वालों को बल मिला है लेकिन उन्होंने कभी भी इसकी परवाह नहीं की।

किसी पद विशेष के कारण जिम्मेदारी सिर पर आ जाने से तो अक्सर लोग उसे निभाने की कोशिश करते हैं लेकिन पद तथा जिम्मेदारी से अलग रहकर भी सार्वजनिक हित के कामों के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना यह गुप्तजी के जीवन की विशेषता रही है। समय-समय पर दैवी आपत्तियों व संकटकालीन परिस्थितियों में प्रदेश की त्रस्त व दुखी जनता की उन्होंने जो सेवा की है, वह केवल चिरस्मरणीय ही नहीं बल्कि आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहेगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। इन चन्द शब्दों के साथ मैं उनके चिरायु होने की कामना करता हूं, ताकि उनके सबल नेतृत्व में हमारा देश व प्रदेश उतरोत्तर विकास की ओर अग्रसर हो सके।

मुजफ्फ़रहसन
परिवहन मंत्री, उत्तर प्रदेश

जननायकत्व की अप्रतिम प्रतिभा से सम्पन्न कर्मवीर श्री गुप्त भूतपूर्व मुख्य मंत्री, उत्तर प्रदेश की समाज-सेवाओं के सम्मानार्थ आपकी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन परिकल्पना सर्वथा समीचीन एवं श्लाघ्य है। मैं इस महान् ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति की हार्दिक कामना करता हूं।

श्यामबिहारी सिंह
अध्यक्ष, जिला परिषद्, वाराणसी

श्री गुप्तजी के प्रति श्रद्धाञ्जलि

श्रीयुत चन्द्रभानुजी गुप्त महोदय का सद्‌जीवन है,
धर्म, समाज, देश-सेवा-हित किया समर्पित तन, मन है।
भद्र भावनाओं के प्रेरक, राष्ट्र-भाव-संचारक हैं,
गुरु गांधीजी के अनुयायी विश्रुत विज्ञ विचारक हैं।

सत्य, अहिंसा का वर वैभव विशद रीति से विस्तारा,
स्नेह, संघटन, सदाचार, सहयोग तत्त्व का व्रत धारा।
'मातृभूमि'-सेवा-हित नित वे निर्भयता से अड़े रहे,
भारतीय स्वातन्त्र्य-समर में संकट झेले-कष्ट सहे।

मानवता के सबल सहायक, शान्ति-क्रान्ति सत् साधक हैं,
निरभिमान, निष्पक्ष, विवेकी, न्याय-नीति-आराधक हैं।
वाणी और लेखनी दोनों जन-सेवा संलग्न रहीं,
भारतीयता की उन्नायक, गुण गण-गरिमा-मग्न रहीं।

भारतवर्ष गुप्तजी को निज नेता कह गर्वाता है,
कठिन काल में निश्चय ही वह मार्ग-प्रदर्शन पाता है।
रहे मुख्य मंत्री उत्तर प्रदेश के जीवन-ज्योति जगी,
तब वह शासन-पद्धति जन-जनता को सुन्दर श्रेष्ठ लगी।

परमेश्वर, श्री चन्द्रभानुजी को सानन्द शतायु करे,
मातृ-भूमि-सेवा करने की अधिकाधिक गति-शक्ति भरे।

—डॉ० हरि शंकर शर्मा, डी० लिट्०

श्री चन्द्रभानु गुप्त

श्री श्रीप्रकाश

श्री चन्द्रभानु गुप्त को मैं करीब ४० वर्षों से बहुत निकट से जानता हूं। विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद ही आप सार्वजनिक क्षेत्र में आ गये और बड़ी तत्परता और परिश्रम से आप राजनीतिक कार्यों में योग देते रहे।

आपको केवल राजनीति में ही रुचि नहीं है, वरन हर प्रकार के सार्वजनिक कार्य में आप रस रखते हैं। शिक्षा से आपका विशेष सम्बन्ध है। लखनऊ विश्वविद्यालय से आपका सम्पर्क बहुत ही निकट से रहा, और आचार्य नरेन्द्रदेव पुस्तकालय, बाल विद्यामन्दिर आदि की स्थापना में आपका विशेष हाथ रहा। पंडित मोतीलाल नेहरू की स्मृति में आपने बहुत बड़ा आयोजन किया।

आप बड़े ही परिश्रमी पुरुष हैं और अपने सब कार्यों को अद्यतन रखते हैं। इतने कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी, सब पत्रों का उत्तर आप नियमित रूप से देते हैं और सैकड़ों व्यक्तियों को लाभ पहुंचाते रहते हैं।

आपने विवाह नहीं किया। गृहस्थी से आप बहुत दूर रहे, और अपना सारा समय आपने जनता की सेवा में लगा दिया। व्यक्तिगत सौहार्द का सम्बन्ध आप मित्रों और रिश्तेदारों से बराबर बनाये रखते हैं और उनके सुख-दुःख में बराबर पहुंच जाते हैं।

आपका व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक है, और कितने ही लोग आपके भक्त और प्रशंसक हैं और हर प्रकार से आपका कार्य करते को उद्यत रहते हैं। आप बड़े-बड़े पदों पर रहे हैं पर आपकी प्रकृति में कभी कोई अन्तर नहीं आया सम्भव है कि कुछ लोगों ने आप में क्रोध की मात्रा पाई हो। आप अनुचित कार्यों को बहुत नापसन्द करते हैं और यदि किसी को ऐसा करते पाते हैं तो अवश्य आपको क्रोध आता है जिसे आप छिपा नहीं सकते।

यह उचित है कि आपके सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार किया जाय। मेरी शुभकामना है कि आप अभी हमारे बीच बहुत दिनों तक रहकर अपने व्यक्तित्व और अपनी सार्वजनिक सेवाओं से हम सबका पथ-प्रदर्शन करते रहें।

श्री चन्द्रभानु गुप्त का उच्च शिक्षा में योगदान

श्री कैलाश प्रकाश

शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश।

स्वतन्त्रता के प्रसिद्ध सेनानी, देश के प्रमुख जन नायक और उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त के साहस, उद्भावना शक्ति, संकल्प शक्ति, योग्यता, उत्सर्ग, कर्म-परायणता और बुद्धिमत्ता की छाप जहां प्रदेशीय जन जीवन के विविध अंगों, अर्थ-व्यवस्था, प्रशासन , परम्परागत संस्थाओं को युग की आकांक्षाओं के अनुकूल नया रूप देने और नयी संस्थाओं के निर्माण पर पड़ी है, वहां उच्च शिक्षा का विकास भी अछूता नहीं रह सका है। श्री गुप्त जी हमारी उन विभूतियों में से हैं जिनकी उच्च शिक्षा में गहरी निष्ठा है और जिनकी धारणा है कि उच्च शिक्षा उन सभी को सुलभ होनी चाहिए जो उसके योग्य हों और जो अपनी शिक्षा पर हुए व्यय को उचित बनाने के लिये अपने में काफी सुधार करके दिखाने में समर्थ हों।

गुप्तजी को प्रारम्भ से ही उच्च शिक्षा से बहुत अनुराग है। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में जब शिक्षा में क्रान्ति लाने के विषय पर बड़े-बड़े मनीषी विचार कर रहे थे, गुप्तजी को उच्च शिक्षा के विषय में विचार मन्थन करने का बहुत अवसर मिला था और वे देश की शैक्षिक समस्याओं के विषय में मौलिक विचार करने वाले महान् व्यक्तियों के सम्पर्क में आये थे। लखनऊ विश्वविद्यालय से उनका सुदीर्घ काल तक बहुत नजदीक का सम्बन्ध रहा है। वे सन १९२७ में ही विश्वविद्यालय कोर्ट के सदस्य हो गये थे और सन् १९३० से सन् १९४५ तक उसकी कार्यकारिणी के सदस्य रहे। फिर शीघ्र ही उच्च शिक्षा के प्रति अपने उत्साह, अर्थ-संकलन पटुता और लोकप्रियता के कारण विश्वविद्यालय के कोषाध्यक्ष चुने गये। इस पद को उन्होंने १९४७ से १९५९ तक सुशोभित किया। इस अवधि में उनके पास उत्तर प्रदेशीय मंत्रि-परिषद् और प्रदेशीय तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भी बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य व पद रहे, किन्तु उन्होंने विश्वविद्यालय के कोषाध्यक्ष के पद का परित्याग न किया। यह तथ्य उनके लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रति गहन अनुराग का परिचायक है। अपने अवैतनिक कोषाध्यक्ष के कार्यकाल में उन्होंने विश्वविद्यालय के लिये दान के रूप में प्रभूत धन और सन्दान निधि एकत्र की। केवल विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के अवसर पर, सन् १९४९ में, भवन सम्बन्धी दान को मिला कर संगृहीत धनराशि १८ लाख थी।

जब वर्ष १९६० के अन्त में गुप्तजी ने प्रदेश के मुख्य मंत्रिपद का कार्य भार ग्रहण किया तब उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विशाल अनुभव ने उनको उच्च शिक्षा के अनेक सुधारों की ओर प्रवृत्त किया। उनकी दृष्टि उन बुनियादी सवालों की ओर गई जिन पर स्पष्टता और दृढ़ता के साथ शिक्षाविदों को विचार करना था। उन्होंने उन आलोचनाओं पर मनन किया जिनसे उच्च शिक्षा आक्रान्त थी। उन्होंने अनुभव किया कि प्रायः लोग कहते हैं कि पहले उन्हीं परिवारों की सन्तानें कालेजों मे प्रवेश लेने जाती थीं जो सामाजिक उन्नति के किसी निश्चित आर्थिक स्तर तक पहुँच चुके होते थे और जिनके दृष्टिकोण और लक्ष्य प्रायः समान थे किन्तु अब क्योंकि कालेजों में प्रवेश पाने की ओर सभी की प्रवृति है अतः संस्थायें निष्प्रयता का अनुभव करती हैं। वर्तमान सामाजिक और आर्थिक स्तर के छात्रों के व्यवहार को संयत बनाने की दिशा में उनका पहले का सा प्रभाव नहीं रह गया है। अनुशासनहीनता का उदय भी लोग इसी समस्या से हुआ मानते हैं। उन्होने लोगों को यह भी कहते सुना था कि कालेजों में अनुत्तीर्ण संख्या की वृद्धि का भी यही कारण है कि निपुणता की उपेक्षा करके कालेजों के द्वार अब सभी छात्रों के लिए खोल दिये गये हैं। तीसरी बात जो प्रायः उनके सामने आई यह थी कि कालेजों में प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध न रहने के कारण शिक्षितों में बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई है। मुख्य मंत्री श्री गुप्त की दृष्टि इन सब समस्याओं पर पड़ी पर वे साधारणतया यह मानने को तैयार नहीं थे कि जो कुछ जनता में कहा जाता है वह सब कुछ सही है और समाज में आज

कल जो कुछ बुराइयां दिखाई देती हैं वे सब उच्च शिक्षा के स्वरूप और संचालन के ढंग से उद्भूत हैं। श्री गुप्त जी की धारणा यह रही है कि उच्च शिक्षा में यदि कोई कमी है तो वह यह कि उस पर पर्याप्त धन व्यय नहीं किया गया है जिसके कारण इसमें गुणात्मक तत्त्वों का अभाव है। वे बडे बलपूर्वक कहा करते हैं कि यदि उच्च शिक्षा का सुन्दर विधान किया जाय और गुणात्मक दृष्टि से वह पूर्ण रूप से समृद्ध हो तो वह समाज के संग्रन्थन, सन्तोष, उत्थान और जन जीवन को मंगलमय बनाने का परम साधन है। श्री गुप्त जी का विश्वास है कि व्यक्ति और समाज के कल्याण के उद्देश्य से दी हुई अच्छी उच्च शिक्षा, तत्त्व ज्ञान, आत्मोन्नति और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास करने में सक्षम उच्च शिक्षा, समाज में बेकारी, दुर्बलता और अनुशासनहीनता का कारण कैसे बन सकती है? मुख्य मंत्री श्री गुप्त जी ने तत्काल निर्णय किया कि उच्च शिक्षा के प्रसार को रोकना उचित नहीं किन्तु उच्च शिक्षा की गुणात्मक वृद्धि की ओर विशेष ध्यान देना हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए।

मुख्य मंत्री श्री गुप्त ने कुछ बड़े मौलिक प्रश्न शिक्षाविदों के सामने रखे। उन्होंने पूछा कि हम छात्रों के भारी संख्या में कालेजों में प्रवेश पाने का विरोध तो करते हैं किन्तु क्या हमने कोई ऐसी परीक्षा या परीक्षायें निर्धारित की हैं जिनके प्रवेश के लिये आवेदकों का चुनाव किया जा सके और जिनकी सहायता से कालेज की पढ़ाई में उनकी सफलता के विषय में किसी विश्वसनीय रूप में भविष्यवाणी करना सम्भव हो? हम उच्च शिक्षा के गुणात्मक उत्थान की चर्चा तो करते हैं किन्तु क्या हमने उच्च शिक्षा की गुणात्मक परीक्षा के कोई मानदण्ड स्थिर किये हैं। शिक्षितों की बेकारी, सामाजिक मूल्यों के भ्रष्ट होने और समाज की अनेक बुराइयों के लिये हम उच्च शिक्षा को 'बलि का बकरा' बनाने को तैयार हैं, किन्तु क्या हमने उच्च शिक्षा के लक्ष्यों, उद्देश्यों और आदर्शों का निर्धारण किया है? उनके मुख्य मंत्रिपद ग्रहण करने से पूर्व अगस्त सन् १९६० से एक विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना हो चुकी थी और विश्वविद्यालय द्वारा अनेक प्रश्नों पर विचार किया जा रहा था। मुख्य मंत्री श्री गुप्त के द्वारा उठाये गये प्रश्नों से विश्वविद्यालय जांच आयोग को भी अपने कार्य की दिशा के निर्धारण में बहुत सहायता मिली।

श्री गुप्तजी ने यह अनुभव किया था कि विश्व विद्यालयों की गुणात्मक अभिवृद्धि में एक बड़ी बाधा दलीय दुष्प्रभावों से उत्पन्न हो रही थी जिसके मूल में उन दिनों चुनाव के लिये लागू विश्वविद्यालय सम्बन्धी अधिनियम था जिसके अनुसार ऐसे उपकुलपति के चुनाव का विधान था जो विश्वविद्यालय और उससे सम्बद्ध कालेजों के अधिकांश अध्यापकों का विश्वासपात्र हो। सिद्धान्त रूप में तो यह व्यवस्था उत्तम मालूम हुई थी किन्तु व्यावहारिक रूप ग्रहण करने पर उससे अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि होने की आशायें सच्ची सिद्ध नहीं हो रही थीं। जिस पद्धति से उपकुलपति के चुनाव करने का अप्रत्यक्ष अधिकार कालेजों के अध्यापकों को दिया गया था उससे वे सभी दोष उत्पन्न हो गये थे जो किसी निर्वाचन प्रक्रिया के साथ जुड़े रहते हैं। उसके कारण ऐसे वर्गों और दलों का निर्माण हुआ जिससे उपकुलपति के चुनाव पर ही दुष्प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु विश्वविद्यालय का प्रशासन ही रोगग्रस्त हो गया। जो भी उपकुलपति नियुक्त होता था उसे अपने विरोधी दल के विरुद्ध उस दल का सहारा बराबर लिये रहना पड़ता था जिसके मतदान में उसे यह अधिकार प्राप्त हुआ था। इससे भेदभाव और दुराग्रह भी उत्पन्न हुए और विविध प्रकार के दुष्परिणाम उत्पन्न होने लगे। उन व्यक्तियों के चुनाव की सम्भावना बढ़ती गई जिनमें चुनाव संघर्ष करने की क्षमता थी किन्तु विलक्षण योग्यता और यश वाले व्यक्तियों को निर्वाचित होने का कोई अवसर न रह गया। मुख्य मंत्री श्री गुप्तजी ने इन दोषों पर मनोनिवेशपूर्वक विचार किया और यह निश्चय किया कि विश्वविद्यालय अधिनियमों में सुधार कर के निर्वाचन पद्धति के स्थान पर चयन पद्धति लागू करना शासन का कर्त्तव्य है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये संसद् में एक अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार उप कुलपतियों की नियुक्ति के लिये निर्वाचन के स्थान पर चयन की पद्धति लागू की गई। चयन उन व्यक्तियों में से करने की व्यवस्था की गई जिनके नाम एक विशेष समिति द्वारा प्रस्तावित किये जाते हैं। इस समिति में विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति के एक नामजद सदस्य, हाई कोर्ट के मुख्य विचारपति के एक नामजद सदस्य और कुलपति के एक नामजद सदस्य के रहने का विधान है। यह अधिनियम मुख्य मंत्री श्री गुप्त की अपूर्व सूझ-बूझ, न्याय प्रियता और व्यक्तिगत अनुभव का परिणाम था। राज्यपाल ने इस अधिनियम को १० अप्रैल, १९६१ को स्वीकृति प्रदान की।

विश्वविद्यालयों के अध्यापकों का वेतन भी चिन्ता का विषय बना हुआ था। यद्यपि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अच्छे वेतनक्रमों की संस्तुति की जा चुकी थी किन्तु वे प्रदेश के विश्वविद्यालयों में लागू न हो पाये थे। अध्यापकों में दो वेतनक्रम वाली पद्धति लागू थी जिसमें प्रोफेसर और सहायक प्रोफेसर के बीच का कोई पद न था, जिससे अधिकांश अध्यापकों की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये कोई लक्ष्य न रह गया था। श्री गुप्त जी की प्रेरणा से शासन ने राज्य के विश्वविद्यालयों में वही वेतन क्रम लागू कर दिये जिनकी विश्व विद्यालय अनुदान आयोग द्वारा संस्तुति की गई थी और जो केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में लागू किये जा चुके थे। श्री गुप्त जी की प्रेरणा से दो वेतनक्रम वाली पद्धति को हटा

कर तीन वेतन क्रम वाली पद्धति पुनः लागू कर दी गई। विश्वविद्यालयों में अब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली द्वारा निर्धारित निम्नलिखित वेतनक्रम लागू है :

पद	रुपये
(१) प्रोफेसर	१,०००–५०–१,५००
(२) रीडर	७००–४०–११००
(३) लेक्चरर	४००–३०–६४०–४०–८००
(४) डिमांस्ट्रेटर अथवा रिसर्च सहायक	३००–२५–३५०

मुख्य मंत्री श्री गुप्तजी की छात्रों को अवसर की समानता देने की भी चिन्ता थी। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी श्री गुप्तजी छात्रों की सदा सहायता करते आये हैं। आचार्य नरेन्द्र देव पुस्तकालय तथा लखनऊ का विद्यार्थी कक्ष जिसमें निर्धन विद्यार्थियों को दृष्टि में रखते हुए पाठ्य-पुस्तकों का प्रबन्ध किया गया है, श्री गुप्त जी की प्रेरणा के फलस्वरूप ही बने हैं। इससे निर्धन विद्यार्थियों को बहुत सहायता मिली है। उसी पुस्तकालय का शोध कार्य कक्ष भी विद्यार्थियों के लिये बहुत हितकर सिद्ध हो रहा है। इसमें रिसर्च के विद्यार्थियों के लिये अध्ययन की सुविधा दी गई है। आचार्य नरेन्द्र देव पुस्तकालय में कुल मिलाकर, वर्ष १९५९ तक, २५००० (पच्चीस हजार) से अधिक पुस्तकें एकत्र कर ली गई थीं और इधर ५ वर्षों में उनकी संख्या और भी बढ़ी है। यह सब आयोजन उस प्रेरणा का परिणाम है जो श्री गुप्तजी मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी को देते रहे हैं। मुख्य मंत्रिपद पर पहुंच कर श्री गुप्तजी को विद्यार्थियों के सम्बन्ध में चिन्ता बराबर बनी रही। उन्होंने शासन को प्रेरणा दी कि ऐसी नीति की नींव डाली जाय जिस में उत्तम कोटि का कोई छात्र निर्धनता के कारण उच्च शिक्षा से वंचित न रहे। यह इसी नीति का परिणाम है कि आज शोध कक्षाओं में २७, स्नातकोत्तर कक्षाओं में १०४७, स्नातक कक्षाओं में २,२४८ छात्रवृत्तियां एवं आर्थिक सहायताएं दी जा रही हैं। इसके अतिरिक्त १५ ऋण छात्रवृत्तियां १३५ रु० प्रति मास की दर से दी जाती हैं। स्नातकोत्तर स्तर पर विविध छात्रवृत्तियां दी जाती हैं जिनकी मासिक दर २५ रुपये से लेकर ११० रु० प्रति मास तक है।

मुख्य मंत्रिपद से श्री गुप्तजी ने जिस नीति की नींव डाली उससे उच्च शिक्षा की संख्यात्मक और गुणात्मक दोनों प्रकार की वृद्धि हुई है। वर्ष १९६० से पूर्व प्रदेश में ८ विश्वविद्यालय—इलाहाबाद, अलीगढ़, आगरा, वाराणसी, लखनऊ, रुड़की, गोरखपुर और वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी थे। वर्ष १९६० में कृषि के लिये रुद्रपुर विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। डिग्री कालेजों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। वर्ष १९५९-६० में प्रदेश में डिग्री कालेजों की संख्या १०९ थी। अब यह संख्या बढ़ कर १७५ हो गई है। यह उस उदार नीति का परिणाम है जिसमें प्राइवेट डिग्री कालेजों को अनुदान देने की व्यवस्था की गई है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के पहले ४ वर्षों में ८९ गैर सरकारी डिग्री कालेजों को अनुदान सूची पर लगाया गया है। इससे प्राइवेट संस्थाओं का उत्साह बढ़ा है।

राजकीय डिग्री कालेजों का भी संख्यात्मक और गुणात्मक विकास हुआ है। प्रदेश में ३ राजकीय डिग्री कालेज नैनीताल, ज्ञानपुर (वाराणसी) और रामपुर में थे। दो नये डिग्री कालेज श्रीनगर (गढ़वाल) और पिथौरागढ़ में खोले गये। श्री गुप्तजी को पर्वतांचल प्रदेश से विशेष सहानुभूति रही है। उन्होंने कष्ट सहन करके पर्वतांचल प्रदेश का दौरा किया और उसकी समस्याओं को अच्छी तरह जानने की कोशिश की। श्रीनगर और पिथौरागढ़ के डिग्री कालेज पर्वतीय क्षेत्रों की उच्च शिक्षा के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये खोले जाते थे और मुख्य मंत्री श्री गुप्तजी को उनके विकास की सदा चिन्ता थी। पुराने राजकीय डिग्री कालेजों के समुचित विकास की नीति अपनाई गई। राजकीय डिग्री कालेज नैनीताल में वायर लैस की कक्षाएं प्रारम्भ की गईं, काशी नरेश राजकीय डिग्री कालेज, ज्ञानपुर (वाराणसी) में भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र विषय एम० एस-सी० कक्षाओं में पढ़ाना प्रारम्भ करने की व्यवस्था की गई। रजा डिग्री कालेज, रामपुर में जीव विज्ञान की प्रयोगशालाओं के लिए भवन बना कर तैयार किया गया।

मुख्य मंत्री श्री गुप्त ने विज्ञान की शिक्षा पर बहुत बल दिया। विश्वविद्यालय अनुदान की सहकारिता से राज्य सरकार ने तृतीय पंचवर्षीय योजना में ४० हजार विज्ञान स्नातक तैयार करने के लिये १०२ करोड़ रुपया निर्धारित किया था। योजना क्रियान्वित की जा रही है।

प्रदेश के विश्वविद्यालयी शिक्षा को सुसंगठित करने के लिये विश्वविद्यालय आयोग १९६० के जो सुझाव प्राप्त हुए थे, उनको कार्यान्वित कराने पर विचार हुआ और कदम उठाये गये, जिनमें विशेष कर आगरा विश्वविद्यालय का पुनर्गठन और दो नये विश्वविद्यालय, कानपुर और मेरठ का सृजन है।

उच्च शिक्षा प्राप्त शिक्षितों की बेकार के विषय पर श्री गुप्ताजी ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उनकी धारणा है कि यह समस्या शैक्षिक और आर्थिक है। इसके समाधान के लिये एक ओर हमें शिक्षा के आधार को इस प्रकार विस्तीर्ण करना होगा जिससे उसमें मानसिक, शारीरिक और व्यावसायिक निपुणताओं का समावेश हो और समाज के विविध व्यापारों, व्यवसायों और कार्यों के लिये नवयुवकों को तैयार किया जा सके और दूसरी ओर अर्थ-व्यवस्था के आधार को विस्तीर्ण करना होगा जिससे उपयुक्त मात्रा में व्यवसायों व काम का सृजन किया जा सके। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा इस दिशा में कदम उठाये जा चुके हैं। श्री गुप्त जी का सुझाव है कि हमारी शैक्षिक संस्थाओं को छात्रों के दृष्टिकोणों और व्यवहार में परिवर्तन करना होगा। एक ऐसे समाज में जिसमें स्तर की भावना सम्भ्रान्त मानसिक प्रयत्नों के साथ जोड़ी गई है, जिसमें 'सफेद कालर वाले' व्यवसायों को ही आदरास्पद माना जाता है, जिसमें कागज सरकाने वाले लोगों को फावड़ा, यन्त्र और गेहूं का बोरा ढोने वालों की अपेक्षा अधिक सम्मान दिया जाता है; उच्च शिक्षा-संस्थाओं का परम कर्त्तव्य है कि छात्रों को इस प्रकार तैयार करें जिससे वे शारीरिक परिश्रम का काम करने से मुंह न छिपायें, और माता-पिता की विचार धारा को इस प्रकार मोड़ें जिससे वे बी०ए० की उपाधि के साथ किसी कृत्रिम प्रतिष्ठा की भावना संलग्न न करें। देश के प्राकृतिक साधनों को तभी पूर्णतया विकसित किया जा सकेगा जब समस्त देशवासी समान रूप से शारीरिक श्रम और सैद्धान्तिक शोध करने में अभिरुचि रखें।

श्री गुप्त जी ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से यह पूर्णतया समझ लिया था कि यदि प्रदेश को शीघ्र समृद्ध बनाना है तो तकनीकी शिक्षा का अधिक से अधिक विकास करना चाहिये। उन्होंने पूर्ण चेष्टा करके तकनीकी शिक्षा के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। प्रदेश में तकनीकी शिक्षा के संगठन और विकास का जितना अधिक श्रेय श्री गुप्तजी को है उतना किसी भी एक व्यक्ति को नहीं कहा जा सकता।

प्रदेश का मोतीलाल नेहरू रीजनल इंजीनियरिंग कालेज उन्हीं के अदम्य उत्साह, लगन और सूझ-बूझ का परिणाम है। उन्हीं के मुख्य मंत्री काल में ३ मई, १९६१ को देश के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा कालेज का शिलान्यास किया गया। इस कालेज के गवर्नरों के बोर्ड का अध्यक्ष पद अप्रैल, १९६१ में गुप्त जी ने ग्रहण किया था और अगस्त, १९६१ तक कालेज में छात्रों का प्रवेश होना प्रारम्भ हो गया। नाना प्रकार की बाधाओं और कठिनाइयों के रहते हुए भी छात्र-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। पहले और दूसरे वर्ष में प्रवेश संख्या १०० छात्र थी किन्तु तीसरे वर्ष में यह संख्या दुगुनी हो गई और चौथे वर्ष में २५० हो गई। इस विकास में एक बड़ी कठिनाई भवन की सुविधा का अभाव था। इस कठिनाई को दूर करने में श्री गुप्तजी बहुत सहायक सिद्ध हुए। लगभग तीन वर्ष के अल्प समय में ही कालेज का निजी भव्य भवन बन कर तैयार हो गया, जो कि एक अत्यन्त प्रशंसनीय उपलब्धि है। १७ सितम्बर, १९६४ की पुनीत तिथि को श्री गुप्तजी ने कालेज के इस भव्य भवन का उद्घाटन किया जिसमें कारखाने, प्रयोगशालायें, कार्यालय, अध्यापन कक्ष तथा अध्यापकों के सुन्दर कक्ष हैं। छात्रावास निर्माण की दिशा में श्री गुप्तजी ने एक ऐसा विशेष कार्य किया जिसके लिये इस कालेज के छात्र सदा आभारी रहेंगे। भारत सरकार की योजना में छात्रावास के प्रत्येक कमरे में ३ छात्रों का एक साथ रहना प्रावधानित था। गम्भीर अध्ययन की दृष्टि से छात्रों की अभिलाषा थी कि ऐसा छात्रावास बनवाया जाय जिसमें एक कमरे में एक ही छात्र निवास करे। श्री गुप्तजी ने उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से ५.५ लाख रुपये की अतिरिक्त धनराशि प्रदान कर दी जिसमें ऐसे छात्रावास का निर्माण सम्भव हो सका जिसके एक कमरे में एक छात्र के रहने की सुविधा सुलभ थी। इसका उद्घाटन १७ सितम्बर, १९६३ को श्री गुप्त जी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। कुछ ही समय बाद एक अन्य छात्रावास बन कर तैयार हो गया जिसमें भी एक कमरे में एक छात्र के रहने की सुविधा दी गयी थी। इसका उद्घाटन श्री गुप्तजी ने १५ मार्च, १९६४ को किया। अब तीसरे छात्रावास का निर्माण किया जा रहा है। देश में कोई दूसरा ऐसा रीजनल इंजीनियरिंग कालेज नहीं है जो १९६१ में प्रारम्भ हुआ हो और इतने थोड़े समय में जिसका इतना विकास सम्भव हो सका हो। यह अपूर्व सफलता श्री गुप्त जी के उदार और प्रेरणादायक नेतृत्व का ही परिणाम है। श्री गुप्त जी ने अक्तूबर, १९६३ में मुख्य मंत्री पद का त्याग किया किन्तु उत्तर प्रदेशीय शासन ने तकनीकी शिक्षा के लिये उनके अपार प्रेम और महान सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए गवर्नरों के बोर्ड के अध्यक्ष पद के लिये उन्हीं को नामजद किया। इस प्रकार श्री गुप्तजी का वरद् हस्त इस कालेज पर अब भी बना हुआ है।

प्रदेश के पूर्वी जिले औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। इन जिलों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये अपने मुख्यमंत्री काल में श्री गुप्त जी ने मदन मोहन मालवीय इंजीनियरिंग कालेज की गोरखपुर में स्थापना कराई। इस कालेज के गवर्नरों के बोर्ड के अध्यक्ष श्री गुप्तजी अब भी हैं।

कानपुर स्थित इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेकनालाजी तकनीकी शिक्षा की एक बहुत बड़ा संस्था है जिसको संयुक्त राज्य अमेरिका ने बड़ी उदारता से आर्थिक सहायता दी है। इस संस्था के विकास में भी श्री गुप्तजी का बहुत हाथ रहा है। वे इस संस्था के गवर्नरों के बोर्ड के अध्यक्ष हैं और उनकी प्रेरणा से यह संस्था एशिया में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तकनीकी संस्था के रूप में विकसित हो सकी है।

श्री गुप्तजी के प्रभाव से रुड़की के इंजीनियरिंग कालेज के विकास को भी बहुत सहायता मिली है।

गुप्त जी को इस बात की सदा चिन्ता रही है कि कि गुणवान छात्र केवल निर्धनता के कारण इंजीनियरिंग शिक्षा से वंचित न रह जायें। अपने मुख्य मंत्री काल में उन्होंने तकनीकी ऋणों, छात्रवृत्तियों और छात्रों के लिये अनुदानों का प्रावधान किया। यदि गुप्तजी की प्रेरणा से शासन की ओर से छात्रों को इतनी आर्थिक सहायता की सुविधा सुलभ न होती तो तकनीकी कालेजों और इंजीनियरिंग विश्वविद्यालयों के अनेक छात्र इंजीनियरिंग और तकनीकी शिक्षा से वंचित रह गये होते।

श्री गुप्तजी के नेतृत्व से मेडिकल साइंस को बहुत बल मिला है। कानपुर मेडिकल कालेज की स्थापना में और विकास में वे निरन्तर प्रेरक शक्ति के रूप में रहे हैं। इलाहाबाद का मोतीलाल नेहरू मेडिकल कालेज श्री गुप्तजी की एक ऐतिहासिक देन है जिसमें इलाहाबाद के नागरिकों की चिर-प्रतीक्षित अभिलाषायें पूर्ण हुई हैं। कहा जाता है कि एक शताब्दी पूर्व वर्ष १८५४ में भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने यह आयोजन किया था कि सन् १९६१ तक देश में ५ मेडिकल कालेज स्थापित किये जायें जिनमें से एक इलाहाबाद में स्थापित होना था। चार मेडिकल कालेज तो खोल दिये गये किन्तु इलाहाबाद का मेडिकल कालेज प्रदेशीय और केन्द्रीय शासन के बीच किन्हीं बातों पर मतभेद होने के कारण न खुल सका। देश के स्वतंत्र होने पर १९४७ में जब श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित प्रदेश की स्वास्थ्य मंत्रिणी हुई तब उन्होंने इलाहाबाद में मेडिकल कालेज स्थापित कराने के लिये ४ लाख रुपये का प्रावधान किया किन्तु योजना कार्यान्वित न हो सकी। श्री गुप्तजी की बहुत इच्छा थी कि कालेज सन् १८६१ में खुलना था वह अधिक से अधिक सौ वर्ष बाद सन् १९६१ तक तो अवश्य स्थापित हो जाय। वर्ष १९६१ में स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू के शताब्दी समारोह के अवसर पर इस कालेज की स्थापना हो सकी। भूतपूर्व प्रधान मंत्री और तत्कालीन भारत सरकार के भूतपूर्व गृह मंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री के शब्दों में जब इलाहाबाद में इस मेडिकल कालेज का उद्घाटन हुआ तब मानो उल्लास का समुद्र उमड़ पड़ा। इस कालेज का नाम स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू की स्मृति में मोती लाल नेहरू मेमोरियल मेडिकल कालेज रखा गया और इसका उद्घाटन ५ मई १९६१ को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के कर-कमलों द्वारा हुआ। पुराने मलाका जेल की भूमि पर स्थित यह मेडिकल कालेज आधुनिक मेडिकल साइंस का केन्द्र बन गया है। धरातल से निचले खण्ड को छोड़कर तीन मंजिल का इसका भव्य भवन आधुनिक वास्तुकला का एक नमूना है। इस कालेज में मेडिकल विज्ञान के विविध अंगों के धुरन्धर ज्ञाता डाक्टर हैं और मेडिकल विज्ञान के विशेष उपकरण इसमें विद्यमान हैं। इस संस्था का अपूर्व विकास श्री गुप्तजी की सद्भावना, उत्साह और लगन का चमत्कार है।

श्री गुप्तजी ने कृषि की उच्च शिक्षा में भी बहुत योगदान दिया। कृषि की उच्च शिक्षा के लिये पन्त नगर, रुद्रपुर में एक कृषि विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १९६० में की गई। इसका विकास श्री गुप्तजी के मुख्य मंत्री काल में हुआ। यह विश्वविद्यालय अमेरिका के लैण्ड ग्रान्ट स्कूल के नमूने पर बनाया गया है। इसमें कृषि की अनुपम प्रयोगशालायें, उपकरण और कृषि सम्बन्धी अनुसंधान की सुविधायें सुलभ हैं। यह अपने ढंग का अद्वितीय विश्वविद्यालय है। यद्यपि इसके बाद इसके नमूने पर कुछ और संस्थाओं की स्थापना भी हुई है किन्तु गौरव और महत्त्व की दृष्टि से उन सबमें बढ़कर है। इसके विकास में श्री गुप्तजी को सदा अभिरुचि रही है।

श्री गुप्तजी के उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार हैं जिनमें से अनेक अभी पूरे होने हैं। श्री गुप्तजी उच्च शिक्षा का और अधिक प्रसार चाहते हैं। वे इस बात से संतुष्ट नहीं हैं कि इतने बड़े प्रदेश में केवल ९ विश्वविद्यालय हों। वस्तुतः जब वे मुख्य मंत्री थे, और मेरठ कालेज, मेरठ में उन्हे दीक्षान्त भाषण देने के लिये आमंत्रित किया गया था तभी वे अपने दीक्षान्त भाषण में यह घोषणा कर देना चाहते थे कि मेरठ कालेज को विश्वविद्यालयी स्तर तक तत्काल उन्नत कर दिया जायेगा। किन्तु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से कुछ परामर्श करना था तथा अन्य कुछ विशेष कठिनाइयां थीं अतः उनके सचिव और सहयोगियों ने उन्हें परामर्श दिया कि इस विषय को थोड़ा समय और दिया जाय। यही बात एक दूसरे विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में भी सही है जिसको मुख्य मंत्री श्री गुप्त बहुत जल्दी खोलना चाहते थे। यह हर्ष का विषय है कि दो विश्वविद्यालय अब अतिशीघ्र मेरठ और कानपुर में खुलने जा रहे हैं और श्री गुप्तजी की इच्छा पूर्ण करने का श्रेय शिक्षा और वित्त मंत्री श्री कैलाश प्रकाश जी को होगा।

श्री गुप्तजी का यह भी विचार था कि कुछ रीजनल विश्वविद्यालय खोले जायं जो आकार में बड़े हों और जिसमें

उस क्षेत्र के लोगों के प्रवेश की विशेष सुविधायें हों जिनमें वे स्थित हों। उनकी अभिलाषा ऐसे विश्वविद्यालय को एक विशेष स्वरूप देने की थी।

हम बड़े सौभाग्यशाली हैं कि हमारे बीच गुप्तजी जैसे मौलिक विचारक और गत्यात्मक तथा कर्मठ जननायक विद्यमान हैं। जो मौलिकता इंगलैंड के उच्च शिक्षा सम्बन्धी विचारक लार्ड रोबिन्स में है वैसी ही मौलिकता और आकर्षण श्री गुप्तजी के उच्च शिक्षा सम्बन्धी विचारों में है। दोनों ने अपने देश की परिस्थितियों को सामने रख कर विचार किया है। हमारी यह धारणा है कि श्री गुप्तजी के उच्च शिक्षा सम्बन्धी विचार जब पूर्ण रूप में कार्यान्वित हो जायेंगे तब उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रदेश में युग की आकांक्षाओं के अनुकूल क्रान्ति भी होगी और उच्च शिक्षा के विकास के लिये राजमार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

श्री चन्द्रभानु गुप्त का व्यक्तित्व

डॉ० दीन दयालु गुप्त

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

श्री चन्द्रभानु गुप्तजी से मेरा प्रथम परिचय सन् १९२९ ई० में मेरे एक पुराने मित्र श्यामलाल जी द्वारा हुआ जब मैं कानपुर क्राइस्ट चर्च कालेज में लेक्चरर और लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी में पी-एच० डी० का विद्यार्थी था। कानपुर से मैं आठवें-दसवें दिन लखनऊ आता था और अपने मित्र श्यामलाल के घर ठहरता था जो हीविट रोड पर पाठक बिल्डिंग में रहते थे। उस समय श्री चन्द्रभानु गुप्तजी अमीनाबाद में उस बिल्डिंग के पिछले हिस्से के पास ऊपर मकान में रहते थे जहां आज स्वदेशी स्टोर्स नाम की कपड़े की दुकान है। वहीं वे वकालत करते थे। देश के सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनों में तो उनकी रुचि पहले ही से थी। परन्तु काकोरी केस में वकील रूप में पैरवी करने के कारण उनका नाम बहुत बढ़ गया था। सन् १९३० अगस्त में मैं भी लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापक हो गया और तबसे गुप्तजी से उनके मौसेरे बड़े भाई स्वर्गीय डॉ० एम० एल० गुप्त के दवाईखाने पर अथवा अन्य मित्रों के यहां मिलना होता रहता था। श्री गुप्तजी मूल निवासी अलीगढ़ के हैं और मेरा भी निवास-स्थान अलीगढ़ है। उनके बड़े भाइयों और अलीगढ़ के मेरे निकट सम्बन्धियों की घनिष्ठता ने अलीगढ़ के नाते को और भी दृढ़ कर दिया। गुप्तजी मुझसे आत्मीयता के साथ मिलते थे। यद्यपि मेरा और उनका कुछ बातों में कभी-कभी मतभेद भले ही हो जाता हो, मैं सदैव उनको अपने बड़े भाई का सम्मान देता रहा हूं और अब भी देता हूं।

सन् १९३० से सन् १९३५-३६ के बीच विश्वविद्यालय के कार्यकलापों में भी श्री गुप्त की दिलचस्पी बहुत हो गयी थी और वहां के वरिष्ठतम अध्यापकों से उनकी घनिष्ठता हो गई थी। उस समय लखनऊ विश्वविद्यालय के लगभग सभी विभागों में अहिन्दी प्रदेशों का आधिपत्य था और बहुधा छोटी बड़ी सभी नियुक्तियों में यू० पी० के बाहर के ही व्यक्ति अधिकांशतः नियुक्त किये जाते थे। यहां के योग्य से योग्य व्यक्ति की भी नियुक्ति न हो पाती थी। यहां के लोगों के मन में यह बात खटकती थी। अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी-उर्दू के विशेषज्ञों का उस समय मिलना कठिन था, इसलिए ऐसे विषयों में तो विवश होकर यहां के व्यक्ति को ही लेना पड़ता था, अन्य विषयों में बहुधा अहिन्दी भाषी प्रदेशों के, मुख्यतः बंगाल और दक्षिण भारत के व्यक्ति नियुक्ति के लिये छांट लिये जाते थे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस स्थिति से हिन्दी-प्रदेश के लोग क्षुब्ध थे। इस स्थिति को लेकर लखनऊ विश्वविद्यालय की एग्जीक्यूटिव कौंसिल में एक प्रस्ताव रखा गया कि वांछनीय योग्यता समान अथवा लगभग समान होने पर लेक्चरर पद के लिये यू० पी० के उम्मीदवारों को लेना चाहिये। इस प्रस्ताव से गुप्तजी के अहिन्दी भाषी मित्र बड़े क्षुब्ध हुए और वे गुप्त जी के पास पहुंचे और उनसे उक्त प्रस्ताव का विरोध करने को कहा। श्री गुप्तजी ने प्रान्तीयता से ऊपर उठकर इस प्रस्ताव का विरोध तो किया परन्तु अन्त में उनके अहिन्दी-भाषी मित्रों ने ही उक्त प्रस्ताव को पारित करा दिया। गुप्तजी से उनके हिन्दी तथा अहिन्दी दोनों प्रकार के मित्र प्रसन्न रहे।

श्री चन्द्रभानु गुप्त स्वभाव के कुछ कड़ुवे हैं। वे उन व्यक्तियों में नहीं हैं जो गुड़ नहीं देते तो गुड़ की बात तो कह देते हैं अथवा जो ऊपर से बहुत मीठे बने रहते हैं, किन्तु भीतर कपट भाव रखते हैं। गुप्तजी बाहर से कठोर और भीतर से नरम हैं। लोगों का ऐसा ख्याल है कि जिस व्यक्ति पर वे बिगड़ गये और उसको दो-चार खरी-खोटी सुनाकर भगा दिया, समझ लो, उसका काम बन गया। नीतिकारों ने तीन प्रकार के स्वभाव के व्यक्ति बताये हैं—बेर, बादाम और अंगूर जैसे। बेर ऊपर से कोमल और भीतर से कठोर होता है। बादाम ऊपर से कठोर और भीतर से मीठा और मृदुल होता है तथा अंगूर भीतर बाहर एक-सा होता है। श्री गुप्तजी का स्वभाव बादाम जैसा है। जिस समय

गुप्तजी उत्तर प्रदेश के रसद तथा खाद्य मंत्री थे, उस समय उनके पास नियुक्ति पाने के इच्छुक अनेक उम्मेदवार प्रार्थना-पत्र लेकर आते थे। गुप्त जी कभी कभी तंग आकर उन पर बिगड़ जाते थे किन्तु उनके द्वारा अनेक व्यक्तियों का उपकार हुआ। गुप्तजी में जातिवाद लेशमात्र भी नहीं है। मैं तो यहां तक कहूंगा कि 'गुप्त' उपनाम धारी योग्य व्यक्तियों की उनके हाथों उपेक्षा-सी ही हुई है। उन्होंने जातिवाद के संकीर्ण दायरे से ऊपर उठकर अनेक ऐसे व्यक्तियों की सहायता की है जिनमें से अनेक आज उच्च पदाधिकारी हैं। उनमें कुछ तो उस उपकार के लिए उनके कृतज्ञ हैं और बहुत से गुप्तजी के प्रति अपनी कृतज्ञता को भूल गये हैं और खुले आम उनका विरोध करते हैं।

श्री चन्द्रभानु गुप्त का एक स्वभाव यह भी है कि उनका पुराना मित्र अथवा उपकृत व्यक्ति उनका विरोधी रहकर यदि फिर उनके साथ आ जाता है अथवा अपनी पूर्व परिस्थिति बता कर अपनी भूल स्वीकार कर लेता है तो वे उसकी विरोधकारी बातों को भूलकर पूर्ववत् अथवा पहले से भी अधिक उसका उपकार करते हैं। उनके इस प्रकार के उपकारी कृत्यों के अनेक उदाहरण हैं।

गुप्तजी बहुत बातों को गुप्त नहीं रख पाते। अपने गुप्त मत की बात कहीं-न-कहीं वे स्वयं खोल बैठते हैं और भेद खुलने पर दूसरों पर बिगड़ते हैं। लेकिन उस व्यक्ति के विनम्र भाव से यह बताने पर कि अमुक बात तो श्रीमान् जी ने स्वयं अमुक व्यक्तियों से कही थी तो वे फिर क्रोध छोड़कर चुप हो जाते हैं और अपनी कृति पर ही हँसने लगते हैं। वास्तव में उनकी कोई बात गुप्त नहीं है। वे स्पष्टवादी हैं और किसी के विषय में अपनी धारणा को छिपाकर नहीं रखते। वे उस व्यक्ति से मिलने पर उस धारणा को कह देते हैं चाहे वह कथन उसे कड़ुवा ही क्यों न लगे। इस निष्कपट स्वभाव के प्रशंसक लोग कम हैं और बुरा मानने वाले अधिक हैं। गुप्तजी इस प्रकार की बुराई की चिन्ता नहीं करते। कठोर स्पष्टवादिता के कारण गुप्त जी के गुप्त विरोधी भी हो जाते हैं परन्तु उन्हें इसकी परवाह नहीं। अविवाहित और अपत्यन होने के कारण वे निर्लिप्त हैं।

गुप्तजी की कार्य-कुशलता, संगठन-शक्ति और सूझ इतनी प्रखर हैं कि जो काम (औचित्यपूर्ण, अनौचित्य का नहीं) और लोग नहीं कर पाते वे सहज में कर दिखाते हैं। उनके ऐसे कार्यों के अनेक उदाहरण हैं। जैसे—– लखनऊ में गंगा प्रसाद स्मारक भवन बहुत अच्छा विशाल भवन है जो नगर के हृदयस्थल अमीनाबाद में स्थित है तथा झण्डवाले पार्क के सम्मुख है। ऐसा लगता है मानो झण्डेवाला पार्क इसका प्रांगण हो। कांग्रेस अथवा अन्य देशहितकारी संस्थाओं की विशाल बैठकों के लिए यही भवन बड़ा उपयुक्त स्थान है। कुछ समय पूर्व यह भवन कांग्रेस विरोधी दल के हाथ में था और उसमें उसी प्रकार के लोगों की बैठकें होती थीं। अन्य किसी को वह हाल नहीं मिल पाता था। यहां के बड़े-बड़े कांग्रेस कार्यकर्ताओं को यद्यपि यह बात बहुत अखरती थी परन्तु किसी को इसे लेने का उपाय नहीं सूझता था। श्री चन्द्रभानु गुप्त आगे बढ़े। उस समय गंगा प्रसाद मैमोरियल सोसाइटी की सदस्यता कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के हाथ में थी। ५० रु० देकर आजीवन सदस्यता होती थी और पांच या दस रुपये देकर वार्षिक सदस्यता प्राप्त होती थी। आजीवन सदस्यता का शुल्क जमा करने के तीन चार दिन बाद ही मतदान का अधिकार भी सदस्य को मिल जाता था और वार्षिक चन्दा देने वाले सदस्य को मतदान का अधिकार सदस्य बनने के ६ महीने बाद होता था। गुप्तजी ने अपने पुराने मित्र श्री तनखाजी से सलाह ली और उक्त सोसायटी के चुनाव के ३-४ दिन पहले आजीवन सदस्य बनाकर अपना बहुमत बनाने का उपक्रम किया और सोसायटी के चुनाव से ४ दिन पहले उन्होंने अपने बहुत-से मित्रों से ५०-५० रुपये जमा कराके आजीवन सदस्य बनवा दिये। उन सदस्यों में एक मैं भी था। निर्दिष्ट व्यक्ति के पास रुपये जमा करने के बाद नियत समय पर मैं भी गंगाप्रसाद मेमोरियल हाल में पहुंचा। वहां देखा दस-बीस अमीनाबाद के श्री पाठक जैसे प्रतिष्ठित व्यापारी बैठे हैं, दस-बीस वकील उपस्थित हैं, दस-पांच प्रोफेसर अध्यापक हैं और कुछ और भी प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। श्री गुप्तजी तथा बाबू महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव जैसे कांग्रेस के प्रतिष्ठित नेता भी पहुंचे हैं। मीटिंग की कार्रवाई आरम्भ हुई। एक सज्जन ने चपलता के साथ प्रस्ताव किया कि आज की बैठक की सदारत श्री चन्द्रभानु गुप्त करेंगे, दूसरे ने श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव का नाम प्रस्तावित किया। तीसरे ने सभापति के लिए श्री अमुक मिश्र जी का नाम प्रस्तावित कर दिया। एक के बाद एक, तीन नाम शीघ्रता से प्रस्तावित हो गये। चौथे नाम के प्रस्ताव का मौका न देकर श्री गुप्तजी ने अपना नाम विनम्रता से वापस ले लिया। बाबू महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव ने भी वही किया। श्री अमुक मिश्रजी चुप रहे और उनके लिए हाथ उठ गये। श्री मिश्रजी सभापति पद पर आसीन हो गये। सोसायटी के पूर्व सदस्य आश्चर्यचकित देखते ही रह गये। इसके बाद बैठक की कार्यवाही सभापति के संचालन में आरम्भ हुई। विभिन्न समितियों के लिए नाम प्रस्तावित हुए और श्री गुप्तजी के मन के सदस्यों का चुनाव हो गया। पिछली कमेटियों के दो एक सदस्यों को छोड़कर और कोई नहीं चुना गया। गंगाप्रसाद मेमोरियल सोसायटी कांग्रेस के हाथ में आ गई। गुप्तजी ने गंगाप्रसाद मेमोरियल हाल के ऊपर और

नीचे इतनी इमारत बनवा दी है कि अब उनसे उक्त सोसायटी को अच्छी खासी आमदनी हो गई और उक्त भवन भी कांग्रेस की अनुकूल बैठकों के लिए सहज उपलब्ध हो गया है।

श्री चन्द्रभानु गुप्त का राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अटूट प्रेम रहा है। वे हिन्दी के प्रबल समर्थक और उसके पोषक हैं। आज की शिक्षा की कमी और उसकी आवश्यकताओं को भी वे जानते हैं। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी की क्या स्थिति है, यह भी उनको भलीभाँति विदित है। अपने मुख्यमंत्रित्व काल में जून सन् १९६१ में जब उन्होंने उत्तर प्रदेश शासन की हिन्दी समिति का पुनर्गठन किया तो सबसे पहले उन्होंने समिति को ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन की ओर उन्मुख किया जिससे विश्वविद्यालय की शिक्षा के सभी विषयों में उच्चस्तर की पाठ्य पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध हो सकें। यद्यपि समिति इसके पूर्व अनेक वर्षों से कार्य कर रही थी किन्तु पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का कार्य समिति की योजना के अन्तर्गत लाने का श्रेय श्री गुप्तजी को ही है। भाषा के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े उदार हैं। वे ऐसे लोगों के विरोधी हैं जो भाषा का सम्बन्ध धर्म से जोड़ते हैं। उनकी यह भी स्पष्ट धारणा है कि यदि हम हिन्दी को जन-साधारण के बीच में तथा अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में लाना चाहते हैं तो आज इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि जो प्रचलित शब्द हैं और जिन्हें जन-साधारण नित्य प्रति बोलता है, वे किसी भी भाषा के शब्द क्यों न हों, उन्हें हिन्दी में अपना लेना चाहिये।

श्री चन्द्रभानु गुप्त निरन्तर हिन्दी के प्रचार व प्रसार में उचित योग देते आ रहे हैं। उन्होंने हिन्दी-समिति का उद्‌घाटन करते समय हिन्दी विद्वानों को सम्बोधित करते हुए मुख्य मंत्री रूप में कहा था, "यदि हिन्दी भाषा की हम किसी तरह से भी सहायता कर सकते हैं तो हमारा कोई भी कदम ऐसा न होगा जिससे हम पीछे हटेंगे और शासन की ओर से हिन्दी के प्रसार व प्रचार में कोई भी खर्चे में कमी न होगी, जिस खर्चे के द्वारा और जिस प्रगति के द्वारा हम हिन्दी को उसका गौरव प्रदान कर सकते हैं।" उक्त वक्तव्य से हम अनुमान लगा सकते हैं कि गुप्तजी हिन्दी के प्रचार-प्रसार और उसकी समृद्धि के लिये कितने उत्साहपूर्ण हैं। लखनऊ में हिन्दी-भवन बनाने की योजना भी उन्होंने ही बनाई और उसके लिये उन्होंने अपने मुख्यमंत्रित्व काल में ही अनेक प्रयत्नों के बाद भूमि की व्यवस्था भी करा दी। किन्तु कुछ विषम परिस्थितियों के बीच में आ जाने के कारण अभी तक उक्त भवन नहीं बन पाया है।
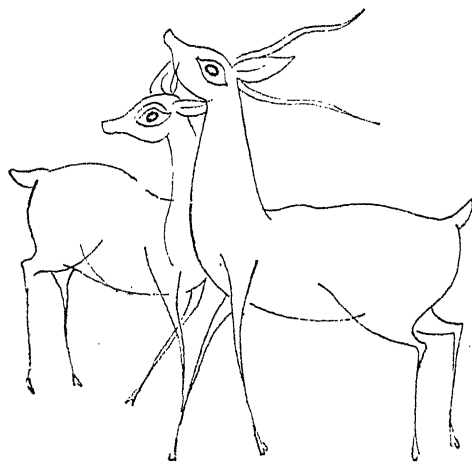
आधुनिक लखनऊ के निर्माता

श्री कालिदास कपूर, एम० ए०, एल० टी०

भूतपूर्व प्रिंसिपल, कालीचरण इण्टर कालेज, लखनऊ

लखनवी हूँ। लखनऊ मेरी जन्मभूमि है। संयोगवश लखनऊ के होनहारों की लम्बी सेवा का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त है। लखनवी होते हुए उत्तर प्रदेशीय शिक्षक बन्धुओं की लम्बी सेवा की और जीवन संध्या के निकट भारतीय शिक्षक संघ की मुखपत्रिका **भारतीय शिक्षा** के अवैतनिक सम्पादन के नाते मुझे एक प्रकार से भारतीय सेवा का सौभाग्य भी प्राप्त है। चन्द्रभानुजी गुप्त लखनवी नहीं, लखीमपुरी हैं। परन्तु लखनऊ में सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करने आये और उन्हीं दिनों गांधी जी का नेतृत्व पाकर भारतीय स्वतंत्रता के लिये संघर्षशील कांग्रेस नरम से गर्म हुई : तो नवयुवक गुप्त जी भी आजादी के दीवाने हुए। एम० ए०, एल-एल० बी० होने के पश्चात् इन्हें हस्ब मामूल विवाहित होकर वकालत करनी चाहिये थी पर राजनीति से नाता जोड़ा तो उसके ही हो गये, हैं और आजीवन रहेंगे।

तबके दीवानों के सामने आजादी के सपने ही थे। संघर्ष की यातनाएं ही थीं। आज उन दीवानों में कई जीवित हैं, लम्बी तपस्या से प्राप्त वरदान के अधिकारी हैं। परन्तु लक्ष्मी से बढ़कर चंचला राजनीति है। यह अकारण ही अपना वर छोड़ती है, पकड़ती है, उठाती है और गिराती है। गुप्तजी इस चंचला को वरे हुए हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं जो तख्त और तख्ते पर इन्हें समान सुख मिलता है।

नगर कब से—जब से गुप्तजी का राजनीतिक जीवन आरम्भ हुआ प्रायः तभी से लखनऊ को उत्तर प्रदेश की केन्द्रीयता प्राप्त है। प्रयाग को बहुत गौरवपूर्ण और लम्बा अतीत प्राप्त है। इसके विपरीत लखनऊ एकदम आधुनिक है। लक्ष्मणपुर की संज्ञा देकर इसे अयोध्या के समकक्ष उठाने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु लखनवी इसके लिये राजी नहीं। नगर की हैसियत से लखनऊ का अतीत ऐय्याश और फजूलखर्च आसफुद्दौला (१७७५–१७९७) के पीछे नहीं जाता। इसीलिये लखनवी आसफुद्दौला को वली मानता है। जिसको न दे मौला, उसको दे आसफुद्दौला। वह प्रातः उठकर आसफुद्दौला की याद करता है, मौला की नहीं।

अकबरी शासन के पहले भारतीय इतिहास में लखनऊ का कोई उल्लेख नहीं। अवध में अयोध्या का अस्तित्व था, तत्पश्चात् श्रावस्ती की बारी आयी, फिर कुछ समय तक शर्की सुल्तानों ने जौनपुर को भी चमकाया। परन्तु मुगल शासनकाल भर फैजाबाद ही सूबे अवध का शासनिक केन्द्र रहा और लखनऊ केवल एक जिले (सरकार) का कस्बा ही रहा। कदाचित् अकबर के शासनकाल ही में इसे किंचित् पनपने का मौका मिला, जिस कारण तत्कालीन कस्बे का प्रवेशद्वार 'अकबरी दरवाजा' होकर अपने पहले मुरब्बी को याद दिलाता रहता है।

बहू बेगमों के नियंत्रण से मुक्त होने के लिये ही आसफुद्दौला फैजाबाद से लखनऊ भाग आया और यहां के शीशमहल में उस ने अपना दरबार लगाया।

उन दिनों दिल्ली पर मराठों का अधिकार था। नगरी उजड़ रही थी और यहां आसफुद्दौला के गुलछर्रे उड़ने शुरू हुए, तो शोअरा और शौकीन दिल्ली से भागकर लखनऊ में बसने लगे।

प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध के पश्चात्—एक समय आया जब अंग्रेजों से भारत को मुक्त करने के प्रथम सामरिक उद्योग में लखनऊ ने दिल्ली का साथ दिया। विद्रोह को विफल होना ही था, क्योंकि भारतीय जनमानस तब नितान्त सुषुप्त था। उसे पता ही न था कि अंग्रेज यहां हिन्दू-मुसलमानों को ईसाई बनाने नहीं आये थे, वे जोंक की तरह भारतीयों का रक्त चूसने में लगे थे।

इलाहाबाद और लखनऊ—अंग्रेज इलाहाबाद को तब से अपना शासन-केन्द्र बनाये हुए थे जब से उनके पैर दुआब में जमने लगे थे। परन्तु लखनऊ ने विद्रोह किया था, तो उन्होंने लखनऊ को अपना एक सैनिक केन्द्र बनाया।

इलाहाबाद पदच्युत नहीं हुआ। परन्तु अंग्रेजों की समझ में आया कि अवध के तालुकदारों को ही अपनी भोली जनता का नेतृत्व प्राप्त है। तो उन्हें पुचकारना जरूरी है। यों मालगुजारी के सम्बन्ध में उनके साथ विशष रियायत की गई। बंगाल के जमींदार अंग्रेज भक्त थे ही। अब अवध के तालुकदारों पर वही प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

इलाहाबाद राजधानी थी तो वहां विश्वविद्यालय जरूरी था और हाई कोर्ट भी। यों धीरे-धीरे इलाहाबाद दिमागी परिश्रम का केन्द्र बना, तो लखनऊ में दिमागी ऐय्याशी के लिये अवध के तालुकदारों के महल बनने लगे।

इलाहाबाद पर लखनऊ को वरीयता—बीसवीं शती का जन्म हुआ और भारतीय स्वतंत्रता के लिये अंतर्राष्ट्रीय वातावरण बनना प्रारम्भ हुआ। तब तक इलाहाबाद में मोतीलालजी नेहरू और मदनमोहनजी मालवीय जैसे शिक्षितों की प्रसिद्धि हो गई थी जिनसे अंग्रेज डरने लगे थे। तालुकदारों की सहायता से यहां साहित्य और विज्ञान की सर्वोच्च शिक्षा के लिये लार्ड कैनिंग के नाम से एक कालेज खुला हुआ था और सन् १९०५ में ब्रिटिश साम्राज्य के युवराज यहां पधारे तो इस उपलक्ष्य में तालुकदारों ही के सहयोग से यहां एक मेडिकल कालेज का खोला जाना निश्चित हुआ जिसका शिलान्यास युवराज के हाथों हुआ।

यों लखनऊ को इलाहाबाद पर वरीयता मिलनी आरम्भ हुई। उन दिनों अंग्रेज अधिकारी ही जिलाधीश नियुक्त होता था। सो जब हारकार्ट बटलर नामक अंग्रेज यहां का जिलाधीश नियुक्त हुआ जो अपनी सफल कूटनीति के प्रसाद स्वरूप आगे चलकर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद तक पहुँचा, तो उसकी समझ में आया कि भोले तालुकदारों की सहायता से लखनऊ नगर का निर्माण किया जा सकेगा उनसे अंग्रेजों को नित्य नई दावतें मिलेंगी और उनके सहयोग से उत्तर प्रदेश पर शांतिपूर्ण शासन भी सम्भव होगा।

प्रथम निर्माता; गंगा प्रसादजी वर्मा—तब तक कांग्रेस में कोई गरमी नहीं आयी थी और लखनऊ के कांग्रेसी नेता अंग्रेज शासकों के सहयोग से ही अपने नगर की सेवा कर सकते थे। इन सेवियों के प्रमुख थे मुंशी गंगाप्रसाद जी वर्मा और इनके प्रमुख सहयोगी थे पं० गोकरणनाथ मिश्र।

आधुनिक लखनऊ के निर्माताओं में पहला पद इन गंगाप्रसाद जी वर्मा को प्राप्त है। इनकी लगन, ईमानदारी और सूझ की जिलाधीश ने कदर की। उन दिनों जिलाधीश स्थानीय नगर निगम का प्रमुख भी होता था, तो उसने इन्हें नगर के प्रमुख उप-प्रमुख के रूप में अपना मुख्य सहयोगी माना। इस पद पर वर्मा जी वर्षों रहे। इन्हींके नेतृत्व में अमीनाबाद की कच्ची-पक्की इकहरी दुकानों की जगह अमीनाबाद पार्क बना और इसे नगर की केन्द्रीयता मिलने लगी। लखनऊ का कालीचरण विद्यालय, जिसकी तीस वर्ष तक सेवा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त रहा, इन्हीं वर्माजी की रचनात्मक सेवावृत्ति का एक प्रसाद है।

वर्माजी बहुत ही संयमी थे। उन्हें दीर्घजीवी होना चाहिये था। परन्तु पचास वर्ष ही के हो पाये थे कि सन् १९१४ में उनका स्वर्गवास हो गया। उनके पट्ट शिष्य पं० गोकरणनाथ जी मिश्र ने वर्माजी की स्मृत्ति-रक्षा के लिये गंगाप्रसाद स्मारक भवन अवश्य बनवा दिया; परन्तु लखनऊ को दूसरे, और हमारे सौभाग्य से जीवित, निर्माता के लिये यथेष्ट लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

प्रथम महासमर के दौरान भर नगर का निर्माण कार्य स्थगित रहना ही था। फिर समरोत्तर संघर्षों की बारी आयी, कांग्रेस नरम से गरम हुई और गुप्त जी जैसे युवक इस गरम कांग्रेस के प्रथम स्वयंसेवक बने। सेवा में इनके सहयोगी और प्रतिद्वंद्वी थे मोहनलालजी सक्सेना जो हाल ही में स्वर्गीय हुए हैं।

कांग्रेस गरम हुई और गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन चालू किया तो जेल भरे जाने लगे और नगर निर्माण स्थगित रहा।

परन्तु एक बात नगर के पक्ष में बनी। प्रथम महासमर के पश्चात् जब देश को स्वराज्य की प्रथम किस्त मिली और प्रदेश की विधान सभा के सदस्यों की संख्या बढ़ी, तो निश्चय हुआ कि इस विधान सभा की बैठकें लखनऊ ही में हुआ करें। पहले तो ये बैठकें कैसरबाग के उस भवन में होती रहीं जहां पहले कैनिंग कालेज था और अब संगीत विद्यालय है। परन्तु कुछ समय पश्चात् विधान सभा की बैठकों और प्रादेशिक प्रशासन के लिये सचिवालय नाम से एक नया और भव्य भवन भी यहां बन गया। तब से, वैधानिक रूप में नहीं तो, वस्तुतः अवश्य ही लखनऊ उत्तर प्रदेश का शासनिक केन्द्र माना जाने लगा है।

लखनऊ विश्वविद्यालय—यहां सन् १९११ से मेडिकल कालेज चालू था और उत्तर प्रदेश में बनारस तथा अलीगढ़

के दो नये विश्वविद्यालय भी स्थापित हो गये थे, तो लखनऊ क्यों सर्वोच्च शिक्षा के क्षेत्र में इलाहाबाद का आश्रित रहता ? यों यहां सन् १९२१ में लखनऊ विश्वविद्यालय स्थापित हुआ।

मोतीलालजी नेहरू इलाहाबादी थे, लखनवी नहीं। वहीं उनका स्वराज्य भवन है और आनन्द भवन भी। परन्तु सन् १९३१ में उन्हें स्वर्गीय होना था और लखनऊ की भूमि पर। यों लखनऊ पर उनकी स्मृति-रक्षा का दायित्व भार आ गया।

लखनऊ में विधान भवन—इलाहाबाद भारत का धार्मिक तीर्थ है और रहेगा। चंचला राजनीति का कोई ठिकाना नहीं। लम्बे समय तक उसकी इलाहाबाद पर कृपादृष्टि रही, तो वहां महामना मालवीयजी और राष्ट्रनिर्माता जवाहरलालजी जैसे महापुरुष भी जन्मे जो भारतीय संस्कृति के उद्धारक और स्वतन्त्रता के निर्माता हुए। परन्तु परिस्थितियां बदलीं, तो क्रमशः स्वतन्त्रता के विकास के साथ लखनऊ में उत्तर प्रदेश के राजनीतिज्ञों का जमघट बढ़ने लगा—पहले सन् १९२१ से जब-जब स्वराज्य की प्रथम किस्त चालू हुई, फिर सन् १९३७ से जब उत्तर प्रदेश को प्रान्तीय स्वराज्य मिला, तत्पश्चात् सन् १९४७ से जब हम पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये।

आज की राजनीति शारीरिक शक्ति पर नहीं, बौद्धिक बल पर आधारित है। लखनऊ तब तक मौजों पर पनपा था। महल, इमामबाड़ा, ऐशबाग, बादशाहबाग और कैसरबाग के नगर में अब वे भवन, वे संस्थान, आवश्यक हो गये थे जिनके सहारे देश के होनहार अपनी मानसिक, शारीरिक और नैतिक शक्तियों का सन्तुलित विकास कर सकें।

विश्वविद्यालय के माध्यम से लखनऊ का कायाकल्प—लखनऊ को उस समय बहुत से शीर्षस्थ नेताओं की उपलब्धि थी। परन्तु उक्त सूझ गुप्तजी जी ही को हुई। विकास और निर्माण के लिये लखनऊ विश्वविद्यालय नामक संस्थान तो नगर को प्राप्त था ही। मोतीलाल जी का निधन होने पर नये संस्थान की स्थापना का बहाना भी इन्हें मिल गया। यों मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी का जन्म हुआ।

गुप्तजी लखनऊ विश्वविद्यालय के ही एम० ए०, एलएल० बी० हैं। अतएव आश्चर्य नहीं जो राजनीति में यथेष्ट पदोन्नति करने पर यह अपने विद्यामन्दिर की सेवा की ओर उन्मुख हुए। काकोरी षड्यंत्र के मुकदमे में अभियुक्तों की ओर से पैरवी करने पर नगर के मान्य नेताओं में इनकी गणना होने लगी, सन् १९२७ में विश्वविद्यालय की कोर्ट के सदस्य हुए, सन् १९२८ ई० में गनेशगंज से नगर निगम के सदस्य चुने गये और सन् १९३० में लखनऊ विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी हो गये। यों विश्वविद्यालय के विकास में इनका सक्रिय योग सन् १९४५ तक चला और यह योग अपनी चरम सीमा तक पहुंचा, जब सन् १९४७ से सन् १९४९ तक गुप्तजी विश्वविद्यालय के अवैतनिक कोषाध्यक्ष रहे।

विश्वविद्यालय कैनिंग कालेज तथा किंग जार्ज मेडिकल कालेज से ही प्रारम्भ हुआ था। तब मेडिकल कालेज में दो ही छात्रावास थे और केन्द्रीय भवन तथा अस्पताल के अतिरिक्त अनुसन्धान तथा प्रयोग के लिए दो-तीन भवन और थे। कैनिंग कालेज को अपना केन्द्रीय भवन अवश्य प्राप्त था, परन्तु उसमें आर्ट्स और साइंसेज की ही पढ़ाई का प्रबन्ध था। लखनऊ का मेडिकल कालेज विकास के योग्य था, जब गुप्तजी ने अपने विश्वविद्यालय की सेवा प्रारम्भ की, क्योंकि तब तक इस कालेज को एशिया की सर्वोत्कृष्ट संस्था की मान्यता मिल चुकी थी। सो सार्वजनिक दृष्टि से भी इस कालेज की सेवा करना गुप्तजी का कर्त्तव्य था।

हमारे सौभाग्य से, और अपनी ऐकान्तिक सेवा के बल पर, कांग्रेस में भी गुप्तजी की मान्यता बढ़ती चली गई। जब तक शासन से कांग्रेस का संघर्ष चलता रहा, तब तक गुप्तजी विधान सभा की सदस्यता से नितान्त अलग रहे। परन्तु जब इन्हें विधान सभा में पहुंचकर प्रदेश की सेवा करने का आदेश मिला तो यह नगर के निर्वाचन-क्षेत्र से विधान सभा के लिए खड़े हुए और भारी बहुमत से निर्वाचित हो गये।

विशालकाय गोविन्दवल्लभजी पन्त बहुगुण सम्पन्न थे। परन्तु जिस योग्यता के कारण वह पहले उत्तर प्रदेश के सफल प्रशासक हो सके और फिर जवाहरलालजी के प्रथम सहयोगी बन सके, वह थी उनकी मानवीय वृत्ति की परख। तभी तो पन्तजी ने मुख्य मंत्री होते ही गुप्तजी को अपना सचिव बनाया। पन्तजी से गुप्तजी ने जो पाया, उसके सफल प्रयोग से यह सिद्ध नहीं चूके ; क्योंकि शीघ्र ही जब शिक्षा मंत्री का पद रिक्त हुआ और पन्तजी ने आचार्य नरेन्द्रदेव को शिक्षा मंत्री बनाना चाहा, तो नरेन्द्रदेव जी तथा गुप्तजी ने पन्त जी को सम्मिलित परामर्श दिया कि उक्त पद पर सम्पूर्णानन्द जी आसीन किये जायें। गुप्त जी मंत्रिपद के लिए तभी राजी हुए जब सन् १९४६ में भारतीय स्वतन्त्रता की उषा इन्हें दीखी। गुप्तजी को उत्तर प्रदेश की सेवा करनी थी और इस प्रदेश के स्वास्थ्यरक्षक तथा चिकित्सक लखनऊ के मेडिकल कालेज ही से निकलते थे, तो स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग का मंत्रिपद स्वीकार करने पर यह उत्तर प्रदेश की जनसेवा करते हुए अपने विद्यामन्दिर की सेवा भी कर सकते थे। अतएव यह इस विभाग के मंत्री बने।

इस पद पर आसीन होने के कुछ ही समय पश्चात् यह विश्वविद्यालय के अवैतनिक कोषाध्यक्ष नियुक्त हुए, तो विश्वविद्यालय की सेवा का इन पर दोहरा दायित्व आ गया। ऐसे ही समय विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती मनाई गई और इसके लिए दान मांगा जाने लगा। मंगतों में मालवीयजी के बाद गुप्तजी का पद है। तभी तो यह अपने विश्वविद्यालय के लिये पन्द्रह लाख से अधिक दान प्राप्त कर सके।

अपने दायित्व का गुप्तजी ने किस प्रकार निर्वाह किया है, यह पिछले बीस वर्षों में विश्वविद्यालय की विकास गाथा से प्रत्यक्ष होता है। बादशाहबाग में अब प्रमुख भवन के अतिरिक्त एक विशाल पुस्तकालय है और शिक्षा, व्यापार, भौतिकी, रसायन, तथा भूगर्भ शास्त्र को अपने-अपने अलग भवन मिल गये हैं। इसके अतिरिक्त बादशाहबाग के प्रांगण ही में जुग्गीलाल कमलापति इंस्टीच्यूट ऑफ सोशल वर्क है और पेलियोबाटनी के लिये स्व० साहनी के शुभनाम से भी एक अनुसन्धानशाला है। दो मील के फासले पर मेडिकल कालेज का विशाल प्रांगण है। इस प्रांगण में अस्पतालों, अनुसन्धान-शालाओं और छात्रावासों ने इतनी जगह घेर ली है कि नये भवन के लिये अब कोई जगह नहीं बच रही है; तो बाहर कालेज से सम्बद्ध भवन बनते जा रहे हैं। इतना ही नहीं, आयुर्वेदिक चिकित्सा और होमियोपैथी मैडिकल कालेज की सेवा की प्रतिद्वंद्विनियां हैं, परन्तु उत्तर प्रदेश की गरीबी और विशाल जनसंख्या को देखते हुए एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली की पूरक भी हैं। अतएव गुप्तजी से प्रेरणा मिलने पर इन दोनों प्रणालियों के चिकित्सक भी अब लखनऊ से निकलने लगे हैं। लखनऊ का मेडिकल कालेज एशिया का सर्वोत्कृष्ट चिकित्सक प्रशिक्षण केन्द्र माना जाता है, तो यहां स्नातकोत्तर शोध और अध्ययन के विद्यार्थी भी पहुंचते हैं। इनके लिए आवासगृह जरूरी हैं। अतएव कालेज के प्रांगण ही में फोर्ड फाउंडेशन से विशाल अनुदान के सहारे एक भव्य छात्रावास बन गया है जो गोमती तट पर स्थित होने के कारण इस नगर के आधुनिक महत्त्व का परिचायक लगता है।

केन्द्रीय औषधि अनुसन्धानशाला—गुप्तजी की प्रेरणा से लखनऊ का कायाकल्प किस प्रकार हुआ है, इसका सर्वोच्च प्रतीक है छतरमंजिल। यह महल अंग्रेजों के नकलची नासिरुद्दीन हैदर ने अपने विलायती विलास के लिये बनवाया था। अवध पर ब्रिटिश शासन होने के बाद यह भवन यूनाइटेड सर्विसेज क्लब के नाम से अंग्रेज अधिकारियों का विलास-केन्द्र बन गया। देश के स्वतन्त्र होने पर नेहरूजी के नेतृत्व में विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर अन्वेषण के लिए अनुसन्धान-शालायें चालू हुईं, तो लखनऊ के हिस्से में, और स्थानीय मेडिकल कालेज के कारण, उक्त महल में केन्द्रीय औषधि अनुसन्धानशाला स्थापित है। विलास की जगह अब विकास सक्रिय है।

स्पोर्ट्स स्टेडियम—नवाबों का लखनऊ जब भारत के केन्द्रीय राज्य का राजनीतिक तीर्थ बनने लगा और आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में भी इस नगर ने प्रगति-पथ पकड़ा, तो विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी। आधुनिक खेलों की प्रतियोगितायें आये दिन लखनऊ में होने लगीं, तो नगर के लिये आधुनिक खेलों का एक प्रदर्शन भवन आवश्यक हो गया। गुप्तजी स्वयं कोई बड़े खिलाड़ी नहीं—राजनीतिक खेल के दांव-पेंच ही इनके लिये कम नहीं—परन्तु स्वस्थ मनोरंजनों को प्रोत्साहित करने से वह नहीं चूकते। अतएव गोमती तट तथा विश्वविद्यालय के प्रांगण के निकट विशाल स्पोर्ट्स स्टेडियम भी इस नगर को गुप्तजी की देन है।

मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी का माध्यम—मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी द्वारा लखनऊ में रचनात्मक सेवा का विवरण अन्त ही में आता है, क्योंकि गुप्तजी इसके संस्थापक ही नहीं, प्राण भी हैं। राजनीति इनसे नाता जोड़ती-तोड़ती रहे, परन्तु सोसाइटी इनकी आत्मजा है, संरक्षिता है। इससे इनका नाता प्रगाढ़ होता जा रहा है और आशा की जाती है कि इसे इनसे आजीवन संरक्षण मिलता रहेगा।

इस सोसाइटी के लिये अभियान तो मोतीलालजी के निधन के पश्चात् ही चालू हो गया, परन्तु औपचारिक स्थापना मार्च १९३५ में ही सम्भव हो सकी। कुछ समय तक यह सोसाइटी स्वदेशी प्रदर्शिनियां कराती रही या श्रमिकों की सेवा करती रही। परन्तु सन् १९३९ से यह शिक्षा की रचनात्मक सेवा भी करने लगी। सो इस प्रकार कि हम शिक्षकों ने आपस में मिलकर एक सहकारी संस्था बना रखी थी। इस संस्था के सामने उस शिक्षण संस्था की सेवा आयी, जो नेशनल हाई स्कूल कहलाता था। हमने उसका प्रबन्ध हाथ में लिया और कक्षाओं के लिये मुख्य भवन के दोनों ओर टीन के भवन बनवाने प्रारम्भ किये। परन्तु हमारे साधन सीमित थे और हम थके से लग रहे थे कि मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी ने हमारा भार स्वयं ओढ़ने का प्रस्ताव सन् १९३९ में हमसे किया। हमारी कामना पूरी हुई और नेशनल हाई स्कूल का भाग्योदय हुआ। बहुत शीघ्र यह संस्था इन्टरमीजिएट कालेज हो गई और अब सोसाइटी के उद्योग से इसे मोतीमहल के निकट एक विशाल भवन मिल गया है, जहां यह बहुत शीघ्र चली जायगी।

चारबाग स्टेशन और ए० पी० सेन रोड के बीच भूमि की एक यथेष्ट चौड़ी पट्टी पड़ी हुई थी जो स्थिति की दृष्टि से बहुमूल्य थी, परन्तु जो किसी व्यक्ति को निजी लाभ के लिये उपलब्ध नहीं हो सकती थी। मोतीलाल मेमोरियल

सोसाइटी ने सार्वजनिक और रचनात्मक सेवा हेतु इस भूमि पर अधिकार किया। पहले इस भूमि पर सन् १९५३ में बाल क्रीड़ाक्षेत्र बना जो बच्चों को खेलों में लगाने वाले विविध उपक्रमों से सजा है। इसमें बच्चों को निःशुल्क दूध भी मिलता है। फिर निकट ही वहां बच्चों के लिए होमियोपैथिक अस्पताल भी खुला जो सन् १९५५ से उनकी सेवा कर रहा है। तत्पश्चात् पड़ोस ही में बाल संग्रहालय तथा बाल पुस्तकालय की स्थापना हुई जो उत्तर प्रदेश की अनोखी निधि होकर सन् १९५७ से बाल गोपालों की सेवा में संलग्न है। सन् १९६३ से पास ही में बाल विद्या मन्दिर भी चालू है।

परन्तु स्वस्थ्य मनोरंजन की सेवा और कला तथा साहित्य के क्षेत्र में एक भारी अभाव की पूर्ति के लिये सोसाइटी के तत्त्वावधान में बना रवीन्द्रालय लखनऊ और उत्तर प्रदेश की एक अमूल्य निधि है। इसमें एक हजार तक दर्शक बैठ सकते हैं और यदि सोसाइटी को समुचित मार्गदर्शन मिल सके तो इस निधि द्वारा अभिनय कला के लिए देश के होनहार प्रशिक्षित किये जा सकते हैं।

गुप्तजी के उद्योग से बहुत कम मुआवजा देने पर सोसाइटी को गोमती तट पर बलरामपुर राज्य का विस्तृत प्रांगण वाला मोती महल मिल गया। सोसाइटी का दफ्तर इस मोतीमहल में है और इसके प्रांगण में ही सोसाइटी के दो भवन और हैं जो शिक्षण और समाज-सेवा के महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं।

पहला है सामाजिक विषयों पर ग्रन्थों तथा अध्ययन कक्षों से सजा एक विशाल पुस्तकालय जो सोसाइटी के प्रथम अध्यक्ष स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्र देव का स्मारक है। यह पुस्तकालय सन् १९६१ से चालू है। इसमें ग्रन्थों की संख्या ४०,००० तक पहुंची हुई है और यहां लगभग २०० पत्रिकायें भी पढ़ने को मिलती हैं।

दूसरा है एक विशाल छात्रावास जिसमें २०० छात्रों के रहने की व्यवस्था है। विश्वविद्यालय के प्रांगण के निकट होने के कारण यह छात्रावास विश्वविद्यालय की सेवा का पूरक है।

मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी के प्रांगण के बाहर परन्तु नगर के केन्द्रीय भाग में स्थापित गंगा प्रसाद स्मारक पुस्तकालय पर भी सोसाइटी का वरद हस्त है। होना भी चाहिये था क्योंकि नगर की रचनात्मक सेवा में गुप्तजी वर्मा जी के उत्तराधिकारी ही तो हैं।

नगर के बाहर और निकट चन्द्रावल में सोसाइटी ने ग्रामोद्योग विकास की सेवा अपना रखी है, सोसाइटी के तत्त्वावधान में मोटर चालकों का प्रशिक्षण केन्द्र चालू है, खेरी में एक होमियोपैथिक अस्पताल द्वारा जनसेवा हो रही है और द्रविड़ भाषायें सिखाने की व्यवस्था भी सोसाइटी ने शुरू कर दी है। इन सेवाओं का उल्लेख विषयांतर ही है।

भारत सेवक संस्थान का महत्त्व—परन्तु एक सेवा वह है जिसमें गुप्तजी के उत्तराधिकारियों के बीज सम्भव हैं। यह है भारत सेवा संस्थान। स्वर्गीय गोखले भारतीय सेवक संघ (Servants of India Society) के संस्थापक रहे। लोक सेवक संघ (Servants of the People Society) स्वर्गीय लाजपत राय की तपस्या का प्रसाद है जो श्री लालबहादुर शास्त्रीजी के व्यक्तित्व में मूर्त होकर अब अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने में सफल हुआ है। भारत सेवा संस्थान गुप्तजी की सृष्टि है। हम सब अपनी-अपनी देहों से मर्त्य हैं। परन्तु भारत सेवा संस्थान जैसे संघों के माध्यम से हमें अमरत्व मिलता है। तो आशा की जा सकती है कि इस संस्थान के पुष्पित-पल्लवित होने पर गुप्तजी की रचनात्मक सेवाओं की बेल सूखने नहीं पायेगी।

काकोरी केस और गुप्त जी : एक संस्मरण

श्री योगेशचन्द्र चटर्जी, एम० पी०

आजकल जब-जब मैंने श्री चन्द्रभानु गुप्त के सम्बन्ध में सोचने की चेष्टा की है, तब-तब मेरे नेत्रों के सम्मुख एकाएक वटवृक्ष आ खड़ा होता है--सैकड़ों गर्मी-बरसात झेले हुए, फिर भी उन्नत, दृढ़, सशक्त और गरिमामय। न जाने कितने श्रान्त पथिकों ने इसकी शीतल छांह में विश्राम किया है। अनगिनत पंछियों को इसकी डालों पर बसेरा मिलता रहा है और जो अपनी आश्वस्तकारी छाया में प्रत्येक शरणागत को निर्विकार रूप से स्थान देता आया है। कुछ ऐसा ही आच्छादक व्यक्तित्व गुप्तजी का है।

मेरा गुप्तजी से परिचय सन् १९२५ का है। उन दिनों मैं लखनऊ जिला जेल में बन्दी था। मैंने गुप्त जी को पहली बार वहीं देखा था। वे काकोरी केस में सफाई के वकील पंडित हरकरननाथ मिश्र के साथ मुझ से भेंट करने के लिए वहाँ आये थे। धोती, विशेष प्रकार से पैरों में लपेट कर पहने हुए और सिर पर सफेद पगड़ी। मुझे आज भी स्मरण है कि सामान्य कद वाले उस व्यक्ति की आंखों में देश की स्वाधीनता के ऊंचे स्वप्न को साकार देखने की आतुर--आकुल आकांक्षा और आत्मविश्वास की गहरी आस्था स्पष्टतया झलक रही थी। जब मिश्रजी ने भानुजी का मुझ से परिचय कराया तो मैं अधिक न बोला, केवल उनकी तेजस्वी आंखों में झांकता भर रह गया। तब से आज तक मैं उनकी बहुमुखी प्रतिभा को अनेक दृष्टिकोणों से देखता रहा हूं और मुझे उनके अथक परिश्रम, अविश्रान्त प्रयास, अदम्य उत्साह तथा अडिग आत्मविश्वास ने सदैव बहुत प्रभावित किया है। उनकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता की सैकड़ों मिसालें हमारे सामने हैं।

यहां मैं जिस बात की चर्चा करने जा रहा हूं, उसका सम्बन्ध गुप्तजी की वकालत-वृत्ति से है। यह एक रोचक तथ्य है कि 'ला' की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् गुप्तजी को उसकी प्रैक्टिस का श्रीगणेश राजनीतिक सन्दर्भ में ही करना पड़ा। गुप्तजी किन परिस्थितियों में क्रान्तिकारियों के वकील बने, यह समझने के लिये सम्बद्ध काकोरी केस का संक्षिप्त विवरण दे देना भी आवश्यक है। ९ अगस्त, सन् १९२५ की संध्या को सहारनपुर-लखनऊ पैसेंजर गाड़ी जैसे ही काकोरी स्टेशन से आलमनगर की ओर बढ़ी कि पूर्वयोजना के अनुसार कुछ देशभक्त क्रान्तिकारियों ने जंजीर खींचकर उसे रोक लिया। गार्ड तथा ड्राइवर को विवश कर लोहे की तिजोरी तोड़ डाली और सरकारी खजाना लूट कर वे भाग खड़े हुए। आरम्भ में तो सरकार के जी तोड़ कोशिश करने पर भी कुछ पता न लगा किन्तु अन्त में पुलिस के हाथ कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र लग गये। इन्हीं के आधार पर आकस्मिक रूप से यू० पी०, पंजाब, बंगाल आदि प्रान्तों में बहुत-से आदमी पकड़ लिये गये और उन्हें लखनऊ की जिला जेल में लाकर रखा गया। इन राजनीतिक बन्दियों को अनेक प्रकार की कठोर यातनायें दी जाने लगीं ताकि सम्पूर्ण षड्यन्त्र का रहस्योद्घाटन हो सके। सरकार को तो अपने प्रयास में विशेष सफलता नहीं मिली, हां, उसके दुर्व्यवहार की चर्चाओं से अंग्रेजों और उनकी सत्ता के विरुद्ध देशवासियों में आक्रोश व्यापक रूप से उत्पन्न हो गया और बन्दियों की वकालत करने के लिये पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त तथा मोहनलाल सक्सेना आगे बढ़े। पंडित मोतीलाल नेहरू लखनऊ आकर पंडित जगनारायण के यहां ठहरे और उनसे काकोरी केस लेने के लिये कहा परन्तु वे पूर्णतः राजी नहीं हुए तब पंडितजी श्री गोविन्द वल्लभ पन्त की अध्यक्षता में एक डिफेंस कमेटी बना कर चले गये। श्री चन्द्रभानु गुप्त के हृदय में तो देशभक्ति की आग आरम्भ से ही सुलग रही थी, अनुकूल वातावरण पाकर वह इस समय जोर से भड़क उठी और वे भी क्रान्तिकारियों की रक्षा का संकल्प कर के वकील के रूप में राजनीति के क्षेत्र में कूद पड़े।

काकोरी में सरकारी खजाने को लूटने का कार्य सामान्य लूटमार का कार्य नहीं था। उसके पीछे एक विशिष्ट भावना थी। हम देशभक्त, क्रान्तिकारी तो आरम्भ से ही पूर्ण स्वतन्त्रता को एकमात्र ध्येय मानकर चल रहे थे और काकोरी-केस सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करने की एक प्रतीकात्मक घटना थी। प्रथम महायुद्ध के दिनों में

रासबिहारी बसु के नेतृत्व में इस दिशा में एक असफल प्रयास किया गया था, उसी दिशा में यह दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इस प्रयास में समस्त उत्तर भारत के क्रान्तिकारियों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग तथा सम्पर्क था। सान्याल को बंगाल में क्रान्तिकारी पर्चे बांटने के अभियोग में सजा दी जा चुकी थी, उन्हें भी काकोरी केस में शामिल किया गया। शहीद राजेन्द्र नाथ लहरी उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० के विद्यार्थी थे, उन्हें कलकत्ता के दक्षिणेश्वर बम्ब केस में दस वर्ष की सजा मिली थी। वहीं बंगाल जेल से उन्हें काकोरी केस के लिये लखनऊ लाया गया था। खत्री पूना में, अशफाक दिल्ली में तथा बख्शी भागलपुर में पकड़े गये। चन्द्रशेखर आजाद तथा सरदार भगत सिंह का भी काकोरी षड्यन्त्र से गहरा सम्बन्ध था। देवघर षड्यन्त्र के नेता स्व० डॉ० शैलेन चक्रवर्ती काकोरी वालों के ही साथी थे। सर्वश्री योगेन्द्र शुक्ल, बटुकेश्वरदत्त, भुसावल बम वाले भगवान दास माहोर, मालकापुरकर, विजयकुमार सिंह, अजय कुमार घोष, सुरेन्द्र नाथ पांडे आदि, क्रान्तिकारी भी इस केस से सम्बन्ध रखते थे।

ऐसे महत्त्वपूर्ण केस में क्रान्तिकारियों की रक्षा के लिये गुप्त जी का सोत्साह सम्मिलित होना साधारण कार्य न था। उस समय जनता के हृदय में क्रान्तिकारियों के लिये श्रद्धा तो बहुत थी किन्तु सरकार के आतंक से कोई उसे खुले आम व्यक्त करने का साहस नहीं करता था। आतंक और भय के उस वातावरण में गुप्तजी निश्शंक होकर सरकार का कोपभाजन बनने की तनिक भी चिन्ता न करते हुए आगे बढ़े। गुप्तजी में साहस तो स्वाभाविक रूप से है ही, साथ ही वे बाल गंगाधर तिलक से प्रभावित होने के कारण भी विशेष रूप से निर्भीक रहे हैं। यह निर्विवाद है कि देशवासियों में क्रान्तिकारी भावना जाग्रत करने में तिलक का नाम सर्वप्रथम आता है। सर वेलेण्टाइन चिरल ने तो तिलक को भारतीय क्रान्ति का जन्मदाता कहा है। गुप्त जी अपने छात्र-जीवन में ही तिलक से प्रभावित हुए थे, बाद में सुभाषचन्द्र बोस का प्रभाव भी उन पर पड़ा अतएव क्रान्तिकारी दल के प्रति गुप्तजी का यह मोह सर्वथा स्वाभाविक ही था।

काकोरी षड्यन्त्र के दिनों में मैं बंगाल के बहरामपुर जेल में नजरबन्द था, वहां से मुझे पहले हजारीबाग और बाद में लखनऊ जेल लाया गया। यहीं चन्द्रभानुजी से मेरी भेंट हुई। लखनऊ जेल में मुझे विशिष्ट कैदी के रूप में अनेक सुविधाएं आरम्भ में प्राप्त थीं किन्तु बाद में तत्कालीन प्रान्तीय सरकार ने उनको समाप्त कर दिया। विवश होकर मुझे बन्दी रहते हुए भी सरकार के उस आदेश का विरोध करना पड़ा। इस विरोध प्रदर्शन में गुप्तजी ने न केवल दिलचस्पी ही ली बल्कि उसे सराहा भी। तभी मेरे उनके सम्बन्ध कुछ अधिक बढ़े। ४ जनवरी, सन् १९२६ को सैयद ऐनुद्दीन की अदालत में काकोरी केस की सुनवाई आरम्भ हुई। हम लोगों की ओर से चन्द्रभानुजी के अतिरिक्त पन्तजी, मोहनलाल सक्सेना, अजित प्रसाद जैन (लखनऊ वाले) मनीलाल कोठारी, हजेला जी आदि अनेक वकील थे। केस के लोअर कोर्ट में आने पर केवल पहले दिन चौधरी खलीकुज्जमा भी आये थे। पंडित जगतनारायण मुल्ला तथा उनके पुत्र आनन्दनारायण मुल्ला सरकारी वकील थे। आनन्दनारायण तो गुप्तजी के सहपाठी तथा मित्र थे किन्तु दोनों में कितना अन्तर था। एक सरकारी वेतनभोगी और दूसरा देशभक्ति का व्रत धारण किए हुए आत्मबलिदानी। एक के लिये रुपये का महत्त्व था तो दूसरे के लिये देश का। उस समय मैं भी यही सोचा करता था कि यही वह व्यक्ति है जो अजेय संकल्प के साथ सत्य का वरण कर सकता है और अधिकारियों की भृकुटि-भंगी से तनिक भी विचलित न होकर वास्तविक कर्त्तव्य-पथ पर निश्शंक-भाव से बढ़ सकता है। मुझे सन्तोष और गर्व है कि चन्द्रभानुजी मेरी भावनाओं की कसौटी पर खरे उतरे, फलतः न केवल मेरी दृष्टि में वरन् जन-सामान्य की दृष्टि में उनका महत्त्व व सम्मान दिनों दिन बढ़ता गया। हमारी ओर के एक सज्जन हमी लोगों की दृष्टि में संदिग्ध हो गये थे, क्योंकि वे हमारी बातें सरकार के वकील को भी बता देते थे किन्तु चन्द्रभानु जी पर हम सबको पूर्ण विश्वास था।

कानूनी परामर्श के लिये सफाई के वकीलों को इतवार के दिन हम अभियुक्तों से मिलने की इजाजत थी। पन्तजी तो कभी-कभी आते थे किन्तु सक्सेना जी व गुप्तजी नियमित रूप से इतवार को आकर हमसे विचार-विमर्श करते थे। हम लोग दोपहर में साथ-साथ भोजन करते और फिर कानूनी उलझनों को सुलझाने लगते। सेशन कोर्ट में मुकदमा आरम्भ होने पर सक्सेनाजी का आना कुछ कम हो गया लेकिन गुप्तजी कलकत्ते के बैरिस्टर बी० के० चौधरी के साथ बराबर उसी तत्परता से आते रहे। लखनऊ में चौधरीजी के निवास की व्यवस्था गुप्तजी ने ही की थी। यदा-कदा अभियुक्तों के आने वाले सम्बन्धियों के आवास की व्यवस्था भी गुप्तजी पर ही रहती थी। चन्द्रभानुजी इस सम्पूर्ण व्यवस्था में अत्यन्त मनोयोग से भाग लेते थे। हम लोगों के पास मुकदमे में खर्च करने के लिये धन का भी अभाव था। धन संग्रह में गणेशशंकर विद्यार्थी सबसे अधिक क्रियाशील थे किन्तु गुप्तजी समय निकाल कर उस कार्य में भी हाथ बटाते थे। उस समय गुप्तजी को इस केस के कारण बहुत अधिक व्यस्त रहना पड़ता था। सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति के कारण हम सबको तो यही विश्वास था ही कि हमें कठोर दण्ड अवश्य मिलेगा, सक्सेना जी और चौधरी भी यही समझते थे।

चन्द्रभानुजी भी इस वस्तुस्थिति से पूर्णतया परिचित थे फिर भी जितनी लगन के साथ वे केस की तैयारी करते उससे हम सबको न केवल आश्चर्य होता था वरन् उत्साह भी मिलता था।

काकोरी षड्यन्त्र के दो फरार अभियुक्त अशफाक उल्ला खां व शचीन्द्रनाथ सान्याल बाद में पकड़े गये। गुप्तजी ने उन लोगों से भेंट करके उनकी भी वकालत करने की आकांक्षा प्रकट की। पहले तो वे लोग सफाई देने की निरर्थकता से परिचित होने के कारण सहमत न हुए किन्तु मेरे सुझाव पर उन्होंने गुप्तजी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और गुप्तजी उनके वकील बन गये। जैसा, पहले से ज्ञात था, राजनीतिक कारणों से गुप्तजी हम लोगों को निर्दोष सिद्ध कराने में तो सफल न हो सके किन्तु वे अपनी कर्त्तव्य-निष्टा और देश-सेवा के कारण पर्याप्त लोकप्रिय हो गये। हम लोगों को अलग-अलग प्रकार की सजायें दी गईं। हममें से कुछ लोगों की ओर से सक्सेनाजी व गुप्तजी ने अपील की। वहां भी हारने पर प्रिवी कौंसिल में अपील करने के लिये गुप्तजी को काफी दौड़धूप करनी पड़ी। कुछ दिनों बाद मेरठ में एक अन्य षड्यन्त्र का मामला उठ खड़ा हुआ। काकोरी केस में सफाई के वकील के रूप में गुप्तजी को पर्याप्त अनुभव हो ही चुका था, अतएव वे उस केस में भी उसी तत्परता के साथ जुट गये। यह केस वर्षों तक चला। आरम्भिक अदालत ने तो अभियुक्तों को लम्बी-लम्बी सजायें सुनाईं किन्तु हाई कोर्ट में वे कम कर दी गईं; इससे गुप्तजी की प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ी।

मुझे काकोरी केस में सन् १९२७ में आजीवन कठोर कारावास का दंड मिला था और जब २८ अगस्त, सन् १९३७ में १३ वर्षों का बन्दी जीवन बिता कर मैं अपने अन्य साथियों सहित लखनऊ आया तो स्टेशन पर ही गुप्तजी नगर कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष के रूप में हजारों व्यक्तियों के साथ स्वागतार्थ उपस्थित थे। हम लोगों के सम्मान में उस दिन सायंकाल अमीनुद्दौला पार्क में आयोजित एक विशाल जनसमूह एकत्र हुआ सभा की अध्यक्षता भी श्री चन्द्रभानु गुप्त ने की थी। सन् १९४१ में राजस्थान के देवली डिटेंशन कैम्प में भूख-हड़ताल के कारण मैं अत्यन्त अशक्त हो गया था और सरकार ने मेरी शोचनीय दशा देखकर मुझे बिला शर्त रिहा कर दिया था तो गुप्त जी ने मुझे लाने के लिये एक व्यक्ति को भेजा और स्वयं एम्बुलैंस कार की व्यवस्था सहित स्टेशन पर पहुंच गये। सन् १९४६ में लखनऊ जेल में भूख-हड़ताल के कारण मेरी स्थिति नाजुक थी। पं० जवाहर लाल नेहरू इलाहाबाद से टेलीफान कर के दूसरे दिन प्रातः लखनऊ आये और यह पाकर फिर तत्कालीन गवर्नर के एडवाइजर ने मेरी कम-से-कम मांग को पूरा स्वीकार नहीं किया तो वे स्वयं जेल में नहीं आये और उन्होंने गुप्तजी को अपने दो पृष्ठों के पत्र सहित मेरे पास तथा मुझसे भूख हड़ताल समाप्त करने का आग्रह किया। उस दिन गुप्तजी ने मुझे दो घंटे से ऊपर समझाया था तब मैंने अपनी हड़ताल समाप्त कर दी। श्री गुप्तजी की इन सभी अवसरों पर सहृदयता देख कर मैं मन्त्रमुग्ध होता रहा हूं।

आज गुप्तजी भारत के जाने-माने नेताओं में से हैं। उन्हें गौरव और यश सहज ही मिला है किन्तु वे कभी भी उसके लिये प्रयत्नशील नहीं हुए। उन्होंने जो कुछ किया, देश की स्वाधीनता को दृष्टि में रखकर उसके लिये सहज, सम्बल और पाथेय जुटाने के सदुद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया। मैंने उनमें आत्म-प्रचार की भावना कभी भी नहीं लक्षित की। देश के सम्मान की रक्षा के लिये कुछ कर सकने को ही वे अपनी उपलब्धि मानते रहे हैं, बदले में कष्ट, तिरस्कार कुछ भी भी क्यों न मिले, उसे हृदय में छिपाये हुए ही बृहत् उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न रहे हैं। इसी में उनका गौरव रहा है और यही है उनकी महानता।
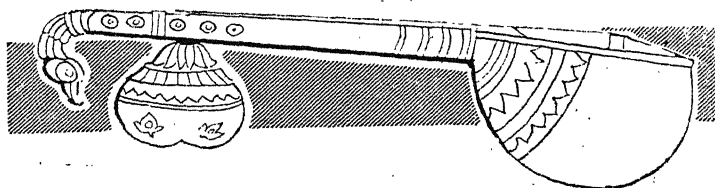
राष्ट्रीयता के प्रकाश-स्तम्भ श्री चन्द्रभानु गुप्त

जवाहरलाल

प्रजातन्त्र के सदा सतर्क प्रहरी, उत्तर प्रदेश के लौह-पुरुष, प्रतिभासम्पन्न कांग्रेस नेता, देशसेवाव्रती तथा राष्ट्रीयता के बड़े ही मजबूत और ऊंचे प्रकाश-स्तम्भ श्रीयुत चन्द्रभानु गुप्त स्वदेश के उन कुछ चुने हुए नेताओं में हैं जिनका बचपन से अब तक का सारा जीवन कांग्रेस को अर्पित रहा है। कांग्रेस उनका परम धर्म है। उन्हें कांग्रेसमय कहना चाहिये।

अपने व्यापक व्यक्तित्व और विशाल जनता के लिये अपने विराट् कृतित्व से वे सर्वमान्य और लोकप्रिय नेता उत्तर प्रदेश के हैं। उनका जन्म-दिवस विधिवत् मनाया जाना, सचमुच कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं के लिये हर्ष का सुअवसर है; मैं प्रसन्न-मन से उन्हें अपने हार्दिक शुभाशिष इस अवसर पर देता हूं।

श्री गुप्तजी के परिवार से मेरा पुराना प्रेम होने से, मुझे बहुत वर्षों से उनको निकट से देखने के अवसर प्राप्त रहे हैं। गुप्तजी का बचपन आज मुझे याद आता है जबकि वे अपनी बुद्धि की तीव्रता तथा अपनी स्फूर्ति से 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत के संकेत देते रहते थे। मैं उनके घर जाया करता था। बड़े भाई स्वर्गीय डॉ० प्यारेलालजी मुझ से प्रेम रखते थे और मंझले भाई स्वर्गीय डॉ० मिट्ठन लालजी तो मेरे सहपाठी, स्नेही तथा घनिष्ठ मित्र थे। स्व० मिट्ठनलाल जी की याद करके मुझे आज भी सुख मिलता है। आगरा मेडिकल कालेज में तब हम दोनों विद्यार्थियों के हित की बातों में समान रुचि लेते थे और परस्पर ऐसा प्रेम था कि कभी वह मेरे साथ छुट्टी का आनन्द लेने मेरे घर भरतपुर जाते थे तो कभी मैं उनके साथ लखनऊ आता था। मेरे कानपुर आ जाने पर एक दूसरे का आवागमन और बढ़ा। तभी से मैं श्री चन्द्रभानु गुप्त को अपना एक छोटा भाई माने हुए हूँ। उन दिनों आप में देशप्रेम की भावना लहरें लिया करती थीं और आप विद्यार्थियों के नेताओं में समझे जाते थे। लखनऊ यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों की पालियामेंट में आप जिम्मेदारी के साथ काम करते थे और विद्यार्थियों के संगठनकारी का उनका अपूर्व गुण सन् १९२०-२१ के दिनों में लखनऊ में देखा गया था। शिक्षा पूरी करते हुए आपने मजदूरों के संगठन में रुचि ली और उन दिनों के नवयुवक कांग्रेस कार्यकत्ताओं में नाम पैदा किया। देशभक्ति का व्रत ग्रहण करके आपने शादी करने से इन्कार कर दिया। उन्हीं दिनों आप स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में आये और स्वराज्य के लिये संघर्षकारियों में आप प्रमुख कार्यकर्त्ताओं में गिने जाने लगे। आगे जिन दिनों आपकी वकालत चलने लगी तो काकोरी षड्यन्त्र केस की सुनवाई लखनऊ में होने लगी। तब आपने स्व० पन्त, स्व० किदवई साहब, स्व० बाबू मोहनलाल सक्सेना, स्व० बाबू गोपीनाथ जी आदि के साथ क्रान्तिकारी अभियुक्तों के बचाव पक्ष की अकेले पैरवी ही नहीं की, उस केस के लिये आर्थिक सहायता जुटाने का काम भी लगन के साथ किया। अंग्रेज सरकार आतंकवादी क्रान्तिकारियों को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानती ही थी, उसने जैसे चाहा कर लिया। परिणाम का जो प्रभाव आपके मन पर होना चाहिये था, वही हुआ और आप बहुत खुलकर आजादी की जद्दोजहद में हिस्सा लेने लगे, जल यात्राओं का सिलसिला शुरू हो गया।

तबसे अब एक लम्बा युग बीत गया है, आप स्वदेश को अपना तन-मन-धन और पूरा जीवन अर्पित किये हुए कांग्रेस की सेवा अपूर्व लगन के साथ करते आ रहे हैं। दमन की आंधियां झेलते हुए आपका पूरा यौवनकाल बीता और अनाचार से लड़ते हुए, राजनीतिक अन्याय की आग से तपते हुए और समय की चोटें सहते हुए आपका मन लोहे जैसा दृढ़ बना है। स्वराज्य को लाने वाले कर्मठ कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में आप सबके लिये आदर के पात्र हैं और देश के निर्माण में तन-मन से लगे रहने वाले एक नेता के रूप में आप आगे भी सदा आदर पावेंगे।

सभी जानते हैं कि कांग्रेस का रथ लक्ष्य की दिशा में जैसे-जैसे आगे बढ़ता रहा, आपकी चमक-दमक निखरती गई है। स्व० पन्तजी आपकी क्रियाशीलता पर मुग्ध थे ही, जब उन्होंने प्रान्त का अपना मंत्रिमंडल सन् १९३७ में बनाया

तो उसमें आपको अपना सभा सचिव चुना। तभी से विधान मंडल के कामों में और शासन की बातों में जो क्रियाशीलता आपमें देखी जा रही है उससे अकेले इस प्रदेश के लोग ही नहीं, पूरे भारत के कांग्रेस-जन प्रभावित रहते हैं। कई वर्ष तक अनेक विभागों के मंत्री रह कर बाद में आप इस राज्य के मुख्य मंत्री होते रहे और जब पदत्याग की आज्ञा हुई तो एक अनुशासित सेनानी की भांति आपने संगठन की बागडोर पुनः हाथ में ली। उत्तर प्रदेश कांग्रेस के कर्णधार नेता होकर भी आप स्वभाव से जैसे पहले एक कार्यकर्त्ता थे, वैसे ही अब हैं।

आपके जनसेवा व्रत के आगे, दूसरी कोई कामना ठौर नहीं पा सकी। एक चिर कुमार और ब्रह्मचारी होने से आपका निज का जीवन कुछ नहीं जैसा है, जो भी है सब सार्वजनिक है; जनसेवा के रंग में रंगा और कांग्रेस के राग में पका हुआ है। इस दृष्टि से आपको जीवनदानी कार्यकर्त्ता कहा जा सकता है। साफ बात कहने का आपका स्वभाव तथा व्यक्तित्व का तेज कभी कुछ नेताओं को अखर जाता है। उनसे किसी को विरोध है, तो उसके मूल में यही एक बात मिलती है। किन्तु विरोधी भी इतना मानते हैं कि आपमें नेतृत्व के गुण तथा शासन की क्षमता असाधारण रूप में है। आपका निःस्वार्थ जीवन, सेवा की अखण्ड साधना, बहुमुखी प्रतिभा और अहिंसक क्रान्ति की ओर आगे बढ़ते जाने की धुन, सभी बातें अनुकरणीय हैं। समाज सेवा के आपके सारे काम राष्ट्रीय एकता के सांचे से होकर निकलते हैं। आप लोकतांत्रिक समाजवाद की ओर जनता को लेकर चल रहे हैं।

ऐसे क्रान्तिकारी नेता का जीवन सचमुच जनजीवन की एक अमूल्य निधि है। परमेश्वर आपको दीर्घायु दे। इस मंगल कामना के साथ मैं इस अभिनन्दन अवसर पर श्री गुप्तजी को अपने शुभाशिष देता हूँ।

गुप्त जी पर एक समीक्षा

रामसनेही भारतीय

अध्यक्ष , जिला परिषद्, बांदा

मानव जीवन स्वयं एक साकार साधना है जिसकी पूर्ति पथ में पग-पग पर संघर्षों की विभीषिकायें मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होती हैं। उनका पूर्ण ज्ञान करके निराकरण करना, उन पर विजय पाकर मानव अस्तित्व को सार्थक करना अत्यन्त दुस्तर तथा महान् कार्य है। मानव जीवन आशा प्रत्याशा के उद्वेलित रत्नाकर में भावनाओं का सम्बल लेकर एक निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। विवेक उसका सच्चा तथा सगा साथी रहता है, जिसके आधार पर ही उसे सफलता प्राप्त होती है। इस सापेक्ष संसार सागर में जिसमें सफलतायें व विफलतायें, लाभ और हानि, जय और पराजय समानान्तर रूप से ज्वार-भाटे की भांति चलती रहती हैं, मनुष्य को अपने पथ निर्णय करने में अपने मानव-सुलभ गुणों को कसौटी पर रखकर तथा उन्हें ही सम्यक् तरिणी बनाकर चलना पड़ता है। सात्विकता, शिष्टता, और मानवता उस नाव के अनिवार्य अंग हैं। चरित्र उस संचालन में प्रमुख निर्देशक का अभिनय करता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में चरित्र ही वास्तविक कसौटी व आधार मनुष्य का रखा गया है। इस संस्कृति के आदि मानव मनु ने समुद घोषणा प्रारम्भ में ही करते हुए कहा था :

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

कि इस देश में जन्म लेने वाले व्यक्ति संसार के सर्वप्रथम व्यक्ति हैं जिनका कर्त्तव्य चरित्र द्वारा दूसरों को शिक्षा देना है। इस चरित्र का स्वयं आचरण करना चाहिए तब दूसरे लोगों को शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार चरित्र सर्वप्रथम स्थान मानव जीवन में रखता है। इसके माध्यम से ही मानवता का विकास होता है जिसके पश्चात् हर क्षेत्र में सफलता की प्राप्ति होती है। चरित्रवान व्यक्ति का अस्तित्व इतना व्यापक, हृदयग्राही और आकर्षक बन जाता है कि अन्य लोग उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति और अनुराग स्वयं करने लगते हैं।

इन्हीं उद्देश्यों और लक्ष्यों के समन्वय में मावनता का विकास सन्निहित देखा जाता है जो वृद्धि और समृद्धि को शनैः-शनैः व्याप्त होकर मनुष्य को मनुष्य स्तर से ऊपर उठाकर देवतुल्य स्तर पर प्रतिष्ठित कर देता है। समाज, धर्म संस्कृति और राजनीति के संचालक, नेता तथा निर्देशक इन्हीं उद्देश्यों की छाया में विनिर्मित देखे जाते हैं। वे अपने कार्य विशेष के लिये भी इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और अपना कार्य सम्पन्न करके दिवंगत हो जाते हैं। राम, कृष्ण, गौतम और गांधी इन्हीं आदर्शों के प्रतीक हैं जो अपने उद्देश्यों की प्रज्वलित दीप ज्योति से प्रकाश फैलाकर समाज और देश का पथ प्रदर्शित अपने जीवन भर करते रहे तथा दिवंगत होने पर भी करते आ रहे हैं और सृष्टि के अन्त तक उन्हीं के लक्ष्य और उद्देश्य मानव का पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे। यही उद्देश्य और लक्ष्य आर्यत्व के निर्माता भारतीय संस्कृति में कहे गये हैं और इसी हेतु इस पवित्र भारत भूमि के निवासी आर्य कहलाते हैं। विदेशी और प्रशासकों ने इस आर्य शब्द का अर्थ भी बड़ा विकृत कर दिया है। वे आर्य एक जाति मानते थे और उसी भावना से उन्होंने इतिहास इस देश के बालकों के पढ़ने के लिये बनवाये थे ताकि बच्चे उन्हें पढ़ें और उनके दृष्टिकोण का अनुगमन करें। इस प्रकार प्रशासकों ने राजनीतिक शोषण तो हर दर्जे का किया था। वे हमारी संस्कृति को भी विकृत और विनष्ट करने में संलग्न थे जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण आर्य शब्द का अर्थ है। वे आर्य एक जाति मानते यह और कहते थे कि यह जाति एशिया माइनर में गाय

भेड़ें चराया करती थी। यही जाति हिमालय के दर्रों से भारत में आई और यहां के निवासियों से युद्ध करके यहां बस गई। यह ऐसी गलत बयानी है कि जिसका कोई आधार और तथ्य नहीं है। हमारे सांस्कृतिक विकास तथा देश के इतिहास में ऐसा कोई भी साक्ष्य नहीं है। आर्य शब्द हमारे यहां विशिष्ट गुणों के चरम विकास का द्योतक था और इसीलिये हमारे महर्षियों ने देश को एक नारा दिया था कि —"कृण्वन्तो विश्वं आर्यम्"—संसार को आर्य बना दो। पाठक स्वयं इन तथ्यों पर विचार करके अपने स्वतः का निर्णय निकालें।

मानव गुणों में अपनी जन्म-भूमि के प्रति भक्ति तथा अपने देश के प्रति अटूट श्रद्धा अपना विशिष्ट और उच्च स्थान रखता है। इसीलिये सम्भवतः हमारे क्षत्रियों, मुनियों और महर्षियों ने समुद घोषणा करते हुए कहा था—"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"—कि जन्मभूमि जननी (माता) तुल्य है जो स्वर्ग से भी वरीय है। हमारे एक कवि का कथन है—

स्वर्गादपि से मूल्यवान रज मातृभूमि की है प्यारी।
जिसके ही कण कण अणु अणु पर न्योछार तन मन बलिहारी।

सत्य है देश, देश-प्रेम तथा मातृ-प्रेम के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना ही विशिष्टतम मानव गुणों को सम्पन्न करना है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इन भावनाओं को चरितार्थ करने के लिये व्यापक अपील देश-वासियों से की थी। इस अपील के फलस्वरूप देश के लाखों, करोड़ों व्यक्ति मातृभूमि की सेवा में सन्नद्ध होकर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ थे और अपने उद्देश्यों व लक्ष्यों की प्राप्ति में हर त्याग करने को प्रस्तुत हुए।

श्री चन्द्रभानु गुप्त भी राष्ट्रपिता की इस मर्म-स्पर्शिनी अपील के प्रति सक्रिय होकर कार्यक्षेत्र में सन् १९२१ में उतर पड़े थे। उस समय देश में शासकों द्वारा चरम शोषण राष्ट्र का किया जा रहा था। आतंक, भय, दण्ड, वेदना और विषाद की परवाह न करके उन्होंने चौरा चौरी मामले में अपनी सेवायें समर्पित की थीं। इस मामले में बन्दी बनाये गये देश के नौनिहालों की मुक्ति में उन्होंने अपनी विद्या व बुद्धि का उपयोग किया था जिसके फलस्वरूप जनता की दृष्टि उन पर पड़ी और जनता ने उन्हें जन-हित का एक सजीव स्तम्भ समझा। यह जनता का विश्वास शनैः-शनैः सत्यता पाता गया और गुप्तजी इस प्रदेश के ही नहीं देश के महान् नेताओं में गिने जाने लगे। उनमें मानव गुणों के समन्वय की दीप-शिखा उस प्रकाश को छिटका देती है जो प्रशस्त पथ का स्पष्ट संकेत करती है। वे संस्थाओं के प्राण ही नहीं महाप्राण हैं। उनकी क्षत्रछाया में आज दर्जनों संस्थायें पल्लवित होकर फल फूल रही हैं और वे सब संस्थाएं अपने विशिष्ट उद्देश्यों और लक्ष्यों को साकार करती हुई वृद्धि और समृद्धि को प्राप्त हो रही हैं। वे मानव आत्मा के विकास को सात्त्विकता के प्रकाश में लाकर उसका पथ निर्देशन कर रहे हैं। यह उनके पिछले चार दशकों के ऊपर वर्षों के कार्यों ने स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है। कांग्रेस इस देश की उच्चतम संस्था ही नहीं इस देश का पुनीत इतिहास है। उसकी उत्तरप्रदेशीय शाखा में संगठन, सक्रियता, संचालन और द्रुतगति लाना उनके ही प्रयत्नों के फल हैं। अपने उद्देश्य की पूर्ति में अनवरत लगन, साधना और त्याग करना उनकी जन्मजाति प्रवृत्ति है। वे व्यापक संगठन के सबल प्रतीक हैं। औसत कद, साधारण स्वास्थ्य, सांवला शरीर बाह्य दृष्टि से किसी विशेषता का द्योतक न होते हुए भी चश्मे के पीछे चमकती हुई उनकी आंखें तथा हृदय में प्रज्वलित संयम और निरन्तर स्वार्थहीन कार्य करने की क्षमता व निर्भयता असाधारण है। वे जिन व्यक्तियों के भी सम्पर्क में आते हैं उनके वे श्रद्धा, विश्वास और भक्ति के प्रतीक बन जाते हैं। उन्होंने अपनी प्रशासनिक बुद्धिमत्ता से यह सिद्ध कर दिया है कि समाज, देश और हर व्यक्ति में विकास लाकर उसे विशिष्ट तथा विवेकपूर्ण बनता है। वे स्पष्टवादी, निष्पक्ष और अपनी लगन के पक्के व्यक्ति हैं। उन्हें अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों के प्रति अटूट विश्वास है। वे देश के छोटे-से-छोटे व्यक्ति के प्रति अपनी सहृदयता तथा मानव विशिष्टता का प्रदर्शन बिना किसी एहसान की भावना से हर समय करते रहते हैं और इसी के फलस्वरूप वे असंख्य व्यक्तियों की अटूट श्रद्धा, विश्वास और भक्ति के साकार प्रतीक हैं। उनका चरित्र अपना अलग अस्तित्व रखता है जिसकी सम्यक् कल्पना अन्य व्यक्ति कदापि नहीं कर सकते। इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण उनका मौदहा का संघर्षपूर्ण चुनाव है। इसमें उन्हें पराजय मिली थी। उनके प्रतिपक्षी तथा अन्य व्यक्ति यह कहने लगे थे कि गुप्तजी राजनीति में समाप्त हो गये, पर लोगों की यह धारणा भ्रामक निकली। वे अपनी सेवाओं, त्याग और तप के फलस्वरूप उस पराजय के गर्त से शीघ्र ही निकल आये और मुख्य मंत्री के पद पर आरूढ़ होकर वे फिर व्यापक सेवा में संलग्न हो गये। समाजवाद उनका नारा है। वे समाज की विशृंखल कड़ियों को तोड़कर एक संयत, विशिष्ट और मानवीय समाज का निर्माण कर रहे हैं। उन्हें इस प्रकार सक्रिय, सजग और निरन्तर संघर्षरत देखकर सैकड़ों कार्यकर्त्ताओं को प्रेरणा मिलती है और इससे अनुप्राणित होकर वे अपने पथ को प्रशस्त और गौरवपूर्ण बना लेते हैं। वे व्यक्ति हैं पर उनमें संस्थायें साकार हो गई हैं। अपने मित्रों और

अनुगतों के प्रति वे जिस माननीय शिष्टता का प्रयोग करते हैं उसकी समता ढूंढ लेना असम्भव है। उनके चरित्र में व्यापक आकर्षण है। प्रान्त तथा देश की जनता, तथा जनता के आन्तरिक विचारों को प्रकट करने वाले समाचारपत्रों ने उन्हें लौह पुरुष की उपाधि दे रखी है। जनता में जनार्दन की शक्ति निहित है जो तथ्य और स्पष्टता को देखकर ही अपना विश्वास समर्पित करती है। उन्हें देखकर कविवर अकबर इलाहाबादी का शेर हठात् याद आ जाता है।

निगाहें कामलों पर पड़ ही जाती हैं जमाने की,
कहीं छिपता है अकबर फूल पत्तों में निहाँ होकर।

हजारों-लाखों कार्यकर्त्ताओं में गुप्तजी अग्रिम पंक्ति में आगे उपस्थित हैं। वे मित्रों के ईमानदार पक्के सखा, पीड़ितों और शोषितों के रक्षक तथा गरीबों के सच्चे मददगार हैं। मनुष्य का मूल्यांकन उसके जीवन में पूर्णरूप से प्रायः अपूर्ण ही रहता है। अभी गुप्तजी की कर्मठ तथा निःस्वार्थ सेवाओं का मूल्यांकन सम्पूर्ण रूपेण नहीं हो सका किन्तु भविष्य में आने वाला समय यह निश्चयात्मकरूपेण सिद्ध कर देगा कि गुप्तजी की कितनी महान् सेवायें अपनी मातृभूमि के प्रति हैं। उनकी गांधीजी के सिद्धान्तों में अनन्य भक्ति उनके निश्चित विश्वासों की द्योतक है। उन्हें पद या वैभव की कामना कभी प्रेरित नहीं कर सकी है। वे चाहें पद पर हों चाहे निरापद, हर परिस्थिति में वे एक से ही हैं। उनके इंगितों पर लोग उनके अनुगत हो उठते हैं। उनका भारतीय लोकतन्त्र में अटूट विश्वास, राष्ट्रीय उत्थान और प्रगति में अनवरत लगन, समाज व देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की अचूक चाह, संगठन में सक्रियता तथा सजगता लाना तथा व्यापक कल्याण की कामना उनके अस्तित्व में मानवता से उठकर देवत्व की प्रतिष्ठा करती है। यद्यपि जनता के स्नेह, भक्ति, विश्वास तथा श्रद्धा प्रचुर मात्रा में उन्हें उपलब्ध हैं पर फिर भी उनके विरोधी भी हैं जो सभी महान् पुरुषों के देखे गये हैं। यदि आधाररूप से देखा जाये जो यह विरोधी सभी ही गुप्तजी के प्रोत्साहन को प्राप्त करके ही अपना राजनीतिक अस्तित्व प्राप्त कर सके हैं पर अब वे उन्हीं गुप्त जो का विरोध करते हैं और प्रतिक्रियात्मक होकर हिंसक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करते हैं। गुप्त जी की जन्म कुण्डली में नक्षत्र सम्भवतः इस दिशा में इसी प्रकार पड़े हैं। उनमें पन्तजी की दृढ़ता, गांधीजी की लगन, सरदार पटेल का आत्मविश्वास पूर्णरूप से विकसित और परिपूर्ण है। यदि विरोधियों के इन विरोधों का भी निराकरण किया जावे तो ज्ञात होगा कि वे बिल्कुल ही गलत आधार पर हैं।

श्री गुप्तजी भारतीयता के प्रबल समर्थक हैं। वे नवाबों की नगरी लखनऊ के निवासी होने के कारण उर्दू को सम्मानित स्थान देते हैं पर वे राष्ट्रभाषा हिन्दी, उसके साहित्य तथा साहित्यकारों को सम्यक् स्थान देते हैं। वे वक्ता भी उच्चकोटि के हैं। अपनी भावपूर्ण वक्तृताएँ वे घण्टों तक दे सकते हैं। किन्तु उनके श्रोता कभी उकता नहीं सकते। विनोद, हास्य, गम्भीरता, चिन्तन तथा व्यापक कल्याण का यथावत् पुट उसमें हर स्थान पर दिखाई पड़ता है।

उनके पैंसठवें जन्मदिवस पर उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ देकर अभिनन्दन ग्रन्थ समिति ने एक महान् जन कार्य किया है जो सर्वथा उपयुक्त अवसरवत् तथा श्लाघ्य है। ऐसे कर्मठ, अथक उत्साही तथा सात्त्विकी व्यक्ति के लिये ही ऐसे अवसरों का निर्माण होता है। देश के प्रति उनके त्याग तप सदैव अनुकरणीय रहेंगे। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूं कि वह उन्हें दीर्घ जीवी, स्वस्थ और सानन्द रखें।

उत्तर प्रदेश के लौह पुरुष श्री चन्द्रभानु गुप्त

श्रीमती तारा अग्रवाल, कानपुर

उत्तर प्रदेश के वरिष्ठ कांग्रेस नेता श्री चन्द्रभानु गुप्त ऐसे गौरवशाली पुरुषों में हैं, जो अपने व्यक्तित्व का निर्माण अपनी ही सतत कर्मनिष्ठा तथा पराक्रम से करते हैं। वे ऊपर से अत्यन्त साधारण दीखते हैं, पर भीतर उनमें जो वज्र संकल्प शक्ति और निरन्तर कार्यसंलग्नता है, वह उन्हें असाधारण कोटि के व्यक्तियों में सहज ही परिगणित कर देती है, वे ऐसे कृती हैं, जिन्होंने अपने पौरुष से न केवल अपने, प्रत्युत् अपने साथियों के भाग्य की रचना की है। कांग्रेस के संगठन, जन-आन्दोलन के निर्माण, प्रदेश के कल्याण तथा अपने अग्रगन्ता जन-नायकों के सम्मान में उन्होंने सदैव आगे बढ़कर हिस्सा लिया है। उनके इस चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व का कारण यह है कि उन्होंने सदैव अपने को जनसाधारण का ही एक सदस्य माना और इसके अनुरूप ही अपने जीवन की दिनचर्या बनाई। उन्होंने नेता बनने की अपेक्षा, सबका साथी एवं सहयोगी बनना अधिक पसन्द किया और इसीलिये वे अपने सहकर्मियों तथा साधारण जनसमुदाय की शक्ति के केन्द्रबिन्दु बन गये।

मैंने सन् १९३० में भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध में भाग लेना आरम्भ किया था। इसी प्रसंग में मेरा उनका प्रथम परिचय हुआ था। मेरे मन में उनके प्रति जो आस्था उस समय उत्पन्न हुई थी, वह अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई है; यह उनके गतिशील व्यक्तित्व का ही परिणाम है। सन् १९३६ ई० में लखनऊ में अखिल भारतीय कांग्रेस का वार्षिक महाधिवेशन हमारे तेजस्वी जननायक पं० जवाहरलाल नेहरूजी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ था। उस समय मैं अपने पूज्य पति श्री प्यारेलालजी अग्रवाल के साथ एक साधारण कार्यकर्त्री के रूप में इस महाधिवेशन में सम्मिलित हुई थी। इसमें काम करने वाले सहस्रों कांग्रेस सेवादल के स्वयंसेवकों की भोजन व्यवस्था का दायित्व मेरे पति ने ग्रहण कर रखा था। इस अवसर पर मैंने भी कांग्रेस स्वयंसेविकाओं के दल में सम्मिलित होकर कार्य किया। इसके परिणामस्वरूप स्वागत समिति के प्रायः सभी प्रमुख नेताओं तथा जनसेवकों का निकट परिचय मुझे प्राप्त हुआ। इस अवसर पर मैंने श्री चन्द्रभानु गुप्त का जो सौम्य स्वभाव, निष्पक्ष व्यवहार, कठिन प्रश्नों के समाधान करने का सहज प्रकार तथा कार्य करने का विशिष्ट रूप देखा, वह आज भी मेरे मानस में ज्यों का त्यों अंकित है। उस समय मेरे मन में उनके आदर्श नेतृत्व की क्षमता की जो तसवीर बनी थी, उसके रंग आज खिल कर अधिक सुस्पष्ट हो गये हैं।

उत्तर प्रदेश के कांग्रेस आन्दोलन में प्रारम्भ से ही उनका प्रभावपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने कांग्रेसजनों का न केवल निर्माण ही किया, बल्कि उनको प्रोत्साहन तथा संरक्षण भी प्रदान किया। उन्होंने अपने साथियों, सहयोगियों तथा सहकर्मियों को आगे बढ़ाने में जिस उदारता तथा निष्ठा का परिचय दिया है, उसकी तुलना सहज ही किसी अन्य व्यक्ति के साथ नहीं की जा सकती। उनकी शक्ति का यही कारण है और इसीसे उन्होंने अपने प्रदेश में लौहपुरुष की मान्यता प्राप्त की है।

आजादी की लड़ाई में मैं ज्यों-ज्यों अधिक प्रविष्ट होती गई, त्यों-त्यों मुझे राष्ट्र और क्रान्ति के कर्णधारों से अधिक निकटता प्राप्त होती गई। मुझे गर्व है कि मैं अपने पति के साथ कांग्रेस तथा देश के अनेक क्रान्तिकारी कार्यों में भाग ले सकी। स्वातन्त्र्योत्तर काल में राजनीतिक क्षेत्रों में प्रोत्साहित करने और मुझे सेवायोग्य भूमिका प्रदान करने का मुख्य श्रेय श्री चन्द्रभानु को ही है। भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध में उत्तर प्रदेश कांग्रेस विधान परिषद् तथा विधान सभा एवं कांग्रेस मंत्रि-मंडल में मुझे सेवा करने का जो अवसर मिला है, उसकी पृष्ठभूमि में मैं अपने पति के सक्रिय प्रोत्साहन तथा पथ-प्रदर्शन के साथ-साथ आदरणीय श्री चन्द्रभानु गुप्त एवं उत्तर प्रदेश के मान्य नेता श्री सम्पूर्णानन्द के औदार्य का अनुभव विशेषरूप से करती हूँ।

उनकी सहानुभूति सीमाहीन है। मैंने उनके दर्शन सन् १९६० ई० में उस समय किये, जब मेरे पति भयंकर रूप से बीमार पड़ गये। उस समय मैं ५८ दिन तक उनको लेकर लाला लाजपतराय चिकित्सालय में रही। इस संकट

काल में, हम लोगों ने अपनी सहज बुद्धि और शक्ति खो दी होती, अगर श्री चन्द्रभानु गुप्त तथा उनके समानधर्मा प्रदेश के मंत्रियों एवं सहृदय जन-नेताओं का परम आत्मीय गुरुवत् वैयक्तिक संस्पर्श एवं साहाय्य हमें न प्राप्त हुआ होता। इस विपत्तिकाल में गुप्तजी बराबर लखनऊ से कानपुर पधारते रहे और योग्यतम चिकित्सा की सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था करते रहे। उनके समुचित निर्देशन तथा प्रोत्साहन से मुझे तथा मेरे बच्चों को निरन्तर सान्त्वना मिलती रही। वे मेरे परिवार के कितने अपने हैं, इसका बखान मैं शब्दों में नहीं कर सकती। मेरे हृदय की मूक श्रद्धा निरन्तर उनके प्रति उपकृत है। वे मेरे बुजुर्ग हैं, मेरे तथा मेरे परिवार के संरक्षक हैं, उनके व्यक्तित्व की इस महानता के प्रति मैं **उनकी** आजीवन कृतज्ञ बनी रहूंगी।

यह मेरे जीवन का करुणतम प्रसंग है, उसके स्मरणमात्र से मैं सिहर उठती हूं। पर मैं इतना निःसंकोच कह सकती हूं कि यदि आदरणीय गुप्तजी का वरद हस्त इस विपत्तिकाल में मुझे न प्राप्त हुआ होता, तो मैं कितनी पंगु एवं असहाय हो गई होती, इसकी कल्पना करना भी मेरे लिये सम्भव नहीं है। मेरे पति के अचानक और आकस्मिक स्वर्गवास के पश्चात् एक वर्ष तक वे बरावर मेरे यहां समय-समय पर आते और हम सबको सान्त्वना प्रदान करते रहे। अपने ऊपर हुए इस वज्रपात के कारण मेरे हृदय में राजनीति से संन्यास लेने की बलवती आकांक्षा जाग्रत हुई; क्योंकि आजकल की राजनीति में कोई ऐसी महिला सक्रियरूप से काम नहीं कर सकती, जिसके ऊपर किसी आदरास्पद गुरुजन की छत्रछाया न हो। उस समय गुप्तजी ने मुझे यह आश्वासन प्रदान किया कि मैं राजनीति न त्यागूं और बराबर कार्य करती रहूं तथा यह कि मैं उनकी सहायता सदैव कर सकती हूं। तब से लेकर आज तक वे राजनीति में मुझे सहारा देते आ रहे हैं; वे समय-समय पर उचित परामर्श प्रदान करते हैं और आवश्यकतानुसार सहयोग और सहायता भी देते हैं।

श्री चन्द्रभानु गुप्त ने अपने जीवन के प्रारम्भकाल से ही राष्ट्रसेवा में अपने को खपाने का जो व्रत लिया था, वह आज उनके व्यक्तित्व में सम्पूर्णरूप से घुलमिल गया है। भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध के वे योद्धा रहे हैं; उनमें संगठन की अद्भुत क्षमता है, उनके वज्र संकल्प के सम्मुख विघ्नबाधाओं के पहाड़ भी तृणवक्त् उड़ गये हैं। लौह पुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल के समान वे उत्तर प्रदेश के लौह पुरुष के रूप में समादृत हैं। उनसे सार्वजनिक जीवन में एक प्रकार की स्थिरता एवं गरिमा की प्रतिष्ठा हुई है। कांग्रेस संगठन तथा प्रदेश के राजनीतिक जीवन में वे एक ऐसे महाप्राण पुरुष के समान हैं, जिनकी छत्रछाया में शतशः पुरुषों का सौरभ फैल कर दशों दिशाओं को सुगन्धित तथा सुवासित बनाता है। न केवल राजनीति, प्रत्युत् सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी उनके कृतित्व एवं व्यक्तित्व की छाप है। उनका सेवामय जीवन माता भारती के श्रीचरणों में समर्पित हुआ है। वे परम वरेण्य हैं, वन्दनीय हैं। हम अपने हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा से उन्हें प्रणाम करते हैं और परम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वह शताधिक वर्षों तक हमारा तथा हमारे राष्ट्र का पथप्रदर्शन करते रहें।

लौह पुरुष श्री गुप्तजी

डॉ० रमेशचन्द्र त्रिपाठी

आज से लगभग ६ वर्ष पूर्व जब कि श्रद्धेय श्री चन्द्रभानु गुप्त यू०पी०सी०सी० के चुनाव में विजयी हुए थे, हम लोगों ने पुराने किले के पार्क में स्वतन्त्रता दिवस के उपलक्ष्य में उनको आमन्त्रित किया था।

उस समय उनका स्वास्थ्य ठीक न था और बहुत ही अधिक व्यस्त थे। ऐसे होते हुए भी उन्होंने हमारे निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया।

मैं उस मीटिंग का अध्यक्ष था। कार्यक्रम प्रारम्भ होने से पूर्व मैंने कुछ शब्द श्री गुप्तजी तथा स्वतन्त्रता दिवस के सम्बन्ध में कहे थे। इसके उपरान्त कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। कार्यक्रम में विविध प्रकार के आइटम्स थे। कुछ खेल कूद प्रतियोगिता के थे और कुछ गाने इत्यादि के। कार्यक्रम समाप्त होने के पश्चात् पारितोषिक वितरण श्री गुप्तजी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

कार्यक्रम के अन्त में श्री गुप्तजी ने कुछ आशीर्वादात्मक शब्द कहे। तत्काल इसी के बाद उनका राजभवन जाने तथा राज्यपाल से मिलने का कार्यक्रम था। उन्होंने हम सबको प्रोत्साहित किया और हम सबको उस कार्यक्रम में आमन्त्रित किये जाने के लिये धन्यवाद प्रकट किया।

इस अवसर पर जो शब्द उन्होंने कहे वे आज भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं। इस लौह पुरुष के शब्दों में कितना भरा हुआ था, साहस तथा कर्त्तव्य निष्ठा। जनतन्त्र के विषय में उन्होंने कहा था कि सरकार हम सबकी है और हम सबको सरकार से आशा करने से पहले यह नहीं भूल जाना चाहिये कि हमारा भी अपनी सरकार के प्रति कुछ उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य है। हमें उस उत्तरदायित्व को वफादारी तथा ईमानदारी से पूरा करना चाहिये।

उन्होंने यह भी कहा कि जब पश्चिम जर्मनी या Bonn का नागरिक अपने देश के प्रति इतना अधिक वफादार तथा जागरूक रह सकता है तो क्या कारण है कि हम किसी भी दिशा में उनसे या किसी से भी पीछे रहें।

उन्होंने अपने देश के उज्ज्वल भविष्य में अडिग विश्वास व्यक्त किया और उनके प्रत्येक शब्द से अदम्य साहस तथा स्वाभिमान प्लावित हो रहा था।

अन्त में उन्होंने आह्वान किया कि आज स्वतन्त्रता दिवस (१५ अगस्त) के पुनीत अवसर पर हम सबको यह संकल्प कर लेना चाहिये कि जो भी इस देश का व्यक्ति हो और किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, अथवा खेतों में काम करने वाला किसान हो, मजदूर हो, कारखानों या मिलों में काम करने वाला श्रमिक हो अथवा और कोई भी क्यों न हो; अपने देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को ईमानदारी तथा सचाई के साथ पालन करे। तभी हम अपने देश में डिमाक्रेसी को फलते-फूलते देख सकते हैं और इस देश का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

मेरे हृदय में आज के दिन भी इन सारगर्भित शब्दों के प्रति आदर तथा श्रद्धा है। मैं उत्तर प्रदेश के इस लौह पुरुष के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि इस महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति को कोटि-कोटि वर्ष तक जीवन प्रदान करें जिसके द्वारा यह साहसी, कर्मनिष्ठ तथा आदर्श कर्मयोगी हमारे मार्ग का निरन्तर निर्देशन करता रहे।

श्री चन्द्रभानु गुप्त : एक अपराजेय व्यक्तित्व

किशोरीलाल अग्रवाल

गुप्तजी का उत्तर-प्रदेश की तमाम सामाजिक और राजनीतिक हलचलों से पिछले ४० वर्षों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जो लोग उनके स्वभाव से परिचित हैं वे जानते हैं कि गुप्तजी कितने उत्साही और लगन के व्यक्ति हैं। वकालत पास करके २४ वर्ष की आयु में उन्होंने निडर होकर काकोरी-केस के कैदियों की पैरवी की। तभी से उनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। इसके बाद १९३० से १९४२ तक ७ बार जेल गये। समाजवादी दल से सम्बन्धित होने के कारण १९४६ ई० से पूर्व वे सरकार में सम्मिलित न हो सके। विभिन्न विभागों के मंत्री और मुख्यमंत्री के रूप में उन्होंने प्रदेश के लिये निरन्तर कार्य किया है। सरकारी तौर पर जो कार्य हुए उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य गुप्तजी ने व्यक्तिगत रूप में सामाजिक कार्यकर्ता की हैसियत से किये। समस्त प्रदेश में सैकड़ों अस्पताल, शिक्षा संस्थाएँ एवं जन कल्याण केन्द्र उन्होंने जनता के सहयोग से निर्मित करवा दिये। लखनऊ नगर को उनकी देन महान है। सुप्रसिद्ध आचार्य नरेन्द्रदेव पुस्तकालय, होम्योपैथिक अस्पताल, बाल संग्रहालय, क्रीड़ांगण और रवीन्द्रालय आदि उन्हीं के सुनियोजन के फल हैं। राजनीति के रूप में गुप्तजी की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी दृढ़ता। कितनी ही विपरीत परिस्थिति क्यों न हो घबराना तो वे जानते ही नहीं। सभी जानते हैं कि कांग्रेस के अन्दरूनी मतभेद के कारण १९५७ ई० और १९५८ में उन्हें चुनाव हारना पड़ा। कितनी विकट परिस्थिति थी। आजीवन कांग्रेस के लिये सर्वस्व होम करने वाले व्यक्ति को उन्हीं के साथियों ने धोखा दिया। गलत प्रचार और लोगों की दोरुखी नीति के कारण जनता भ्रम में पड़ गई। लेकिन गुप्तजी इससे किंचित् भी विचलित नहीं हुए। वे चुपचाप जनसेवा और दल के संगठन में लगे रहे। उन्हें विश्वास था कि सत्य की अन्त में विजय होती है। आखिर में सचाई सिर चढ़ कर बोली। मुख्य मंत्री के रूप में शासन-सूत्र सम्भालने के लिये नेहरूजी ने उन्हें आमन्त्रित किया। मुख्य मंत्री के रूप में प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी कर्मठता और गुरुता का अनुभव किया गया। सत्ता और पद का लोभ उन्हें कभी नहीं रहा। जनसेवा ही उनका लक्ष्य था। शासन को भी उसी का एक माध्यम समझकर उन्होंने सम्भाला। कामराज योजना के अन्तर्गत उन्होंने फिर अपनी निःस्पृहता का प्रमाण देकर मुख्यमंत्रित्व छोड़ दिया। दल संगठन को जब तक उनकी अधिक आवश्यकता है, वे शासन से दूर रहना चाहेंगे। यद्यपि कामराज योजना भारतीय राजनीति में तूफान की भाँति आई और समाप्त सी हो गई, किन्तु गुप्तजी उसके मूल सिद्धान्त में विश्वास करने के कारण अब भी जनसेवा और कांग्रेस के संगठन कार्य में लगे हैं। प्रशासन के क्षेत्र में उनकी अत्यन्त आवश्यकता का अनुभव होते हुए भी वे अभी उससे विरत हैं। भगवान् उन्हें शतायु करे यही हमारी शुभकामना है।
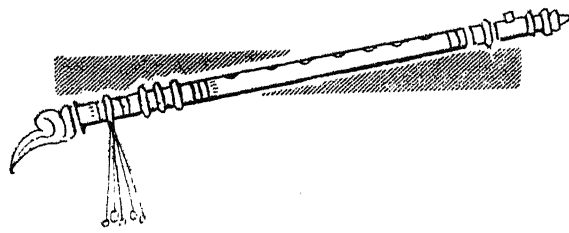
तप से परे सिद्धि से आगे

रघुबीर शरण 'मित्र'

देश में उत्तर प्रदेश सबसे बड़ा प्रदेश है और उत्तर प्रदेश में एक-से-एक बड़े व्यक्तित्व की ऐसी अद्भुत परम्परा है जिसका उत्तर नहीं। एक-से-एक बड़े महापुरूष, एक से एक बड़े सन्त, एक-से-एक बड़े राजनीतिज्ञ और एक-से-एक ऊंचे मनुष्य से इस प्रदेश का गौरव गतिमान है। यहां के त्याग और बलिदान, यहां के ऐतिहासिक महत्त्व, यहां के चामत्कारिक उत्कर्ष तथा यहां के कृतित्व और व्यक्तित्व विजय के वरण हैं।

किसी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते समय उसके कृतित्व को टटोला जाता है। चन्द्रमा की शीतल चांदनी का आनन्द तो सभी लेते हैं पर उसके अन्तश्चेतन में व्याप्त तपाग्नि को देखने वालों को जो सुख मिलता है वह बाह्य चांदनी मात्र निहारने वालों को नहीं मिलता। श्री चन्द्रभानु गुप्त को देखने के लिये हमें उनका मानस और वे दिन देखने चाहिये, जिनमें उनका जीवन घुला पड़ा है। कन्धे पर झोला, अस्तव्यस्त वस्त्र, फटी पुरानी चप्पल और एक बेहद धुन, एक अनोखी लगन, देश के लिये मिटने की तमन्ना, गांव-गांव की परिक्रमा करते हुए कदम, आज चाहे भूले से हो गये हों, पर इस देश की मिट्टी वे झांकियां नहीं भूल सकती। मिट्टी यह जानती है कि बीज किस तरह खाक में मिल कर डाली पर फूल बनकर खिला है।

गुप्तजी फूल से कोमल और वज्र से कठोर एक विलक्षण सपूत हैं। बाधाएँ उनको तपा चाहे कितना भी लें पर मिटा नहीं सकतीं। वे उन शहीदों की आत्मा हैं जिनकी उन्होंने वकालत की है। वे माँ के मन्दिर में चढ़े हुए उन फूलों के मन हैं जिनके दम से स्वतन्त्रता मिली है। वे ऐसी अष्टधातु के बने हुए हैं जो नष्ट नहीं होगी। वे ऐसे भोले बाबा हैं जो विष पी लेते हैं और वृकासुर को वरदान भी दे देते हैं।

गुप्तजी ने विष पिया है और अमृत दिया है। उनके अमृत दान की कुछ झांकियां मैंने देखी हैं। एक बार गुप्तजी कहीं जल्दी में जा रहे थे। तभी किसी युवक ने दीनभाव से उनकी ओर देखा। गुप्तजी ने भी उसे देखा और दो बार पूछा -"क्यों, कैसे आये ? क्या बात है ? "

जब दोनों बार उत्तर न मिला तो जोर से बोले, "अरे, कुछ कहो तो ? " और फिर युवक के कन्धे पर हाथ रख उसे एक ओर ले गये। पांच मिनट बाद जब लौटे तो युवक के चेहरे पर दीनता नहीं थी।

एक बार गुप्तजी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद मेरठ आये। श्री कैलाश प्रकाशजी के निवास पर मैंने और एक मित्र ने लगभग दस ग्यारह नौजवानों को उनके सामने पेश करते हुए कहा, "इन्होंने कालिज छोड़ कर स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया था। जेल गये, शिक्षा अधूरी रह गई। कुछ व्यवस्था होनी चाहिये।"

गुप्तजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "ये सब कल से राशनिंग के दफ्तर में चले जायं।"

ठीक तो याद नहीं, शायद कहा था, " एक सौ अस्सी रुपये माहवार मिलेंगे, फिर आगे और देखूंगा।"

यह बात नहीं कि गुप्तजी ने हमारे कहने से ही उनके लिये कुछ किया, वास्तविकता तो यह है कि वे सब के लिये कुछ-न-कुछ करने को आकुल रहते हैं। अपने भाषणों में अपने साथियों तक से वे कहते हैं कि उनको खोज-खोज कर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो जो देश के लिये मर मिटे हैं। मैंने बहुत बार उनके छटपटाते हुए हृदय की वाणी सुनी है। वह वाणी मानवता की वाणी होती है। साधु की वाणी है। मानो कोई पर-दुःख-कातर गा-गा कर कहता है, शहीदों के बलिदानों का मूल्य चुकाओ। स्वतन्त्रता की ज्योति को झोंपड़ियों तक पहुँचा दो। समाज के दलित वर्गों को उत्थान दो। कलाकारों के गीत बन गूंजते रहो। गुप्तजी की वाणी से दर्द बोलता है। उनके श्वासों से कोटि-कोटि इन्सानों के स्वर निकलते हैं। उनके प्राणों में भावुकता की कविताएँ मुखर हैं। उनकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि वे एक सच्चे मनुष्य हैं, ऊंचे मनुष्य हैं। उन्होंने प्राणिमात्र के लिये एक संवेदनशील हृदय पाया है।

गुप्तजी मित्रों के मित्र हैं, दोस्तों के लिये वे सर्वस्व समर्पण कर देना चाहते हैं। अपने साथियों का स्तर ऊंचा उठाने में वे तन, मन, धन से संलग्न रहते हैं। जो उनके हृदय तक पहुँच जाते हैं उनका वे पतन नहीं होने देते। उनमें कुछ ऐसी शक्ति है कि पराजय को जय में बदल देते हैं। उनकी बड़ी भारी खूबी है कि कुचले और मसले फूलों को फिर से डाली पर इस तरह खिला देते हैं कि उनकी सुगन्ध से दिशाएं महकने लगती हैं।

गुप्तजी का व्यक्तित्व विजय और विश्वासों का अद्भुत व्यक्तित्व है। उनमें हिमालय जैसी स्थिरता और पवन जैसी गति है। उनके साहस के सामने बड़े-बड़े योद्धा पराजित हो जाते हैं। गुप्तजी सिर कटाना जानते हैं, सिर झुकाना नहीं जानते। देश के वे एक समर्थ सेनानी हैं। गुप्तजी ने स्नेह से प्रज्वलित एक दीप जैसा हृदय पाया है। उनकी जीवन शिखा प्रेम की ज्योति से प्रकाशित है। वे सिर्फ प्रेम से जीते जा सकते हैं। जिनको गुप्तजी का प्रेम प्राप्त है देश में आज उनका स्थान जाज्वल्यमान नक्षत्रों की तरह है। गुप्तजी में गाँधी जी जैसी कुछ ऐसी क्षमता है, कि अन्धेरे को छूते हैं तो उजाला हो जाता है, मिट्टी को छूते हैं तो सोना बन जाती है, जड़ को छूते हैं तो चेतन कर देते हैं।

गुप्तजी एक शक्तिसम्पन्न संगठनकर्ता हैं। कर्मठ कांग्रेसी नेता हैं। त्यागों और बलिदानों से बने हुए सफल देशभक्त हैं। उनके द्वारा निर्मित संगठन न तो आज तक छिन्न-भिन्न हुआ हैं, न हो सकेगा क्योंकि वे संगठन के लिये निष्काम कर्म करते है, अपने व्यक्तित्व के लिये संगठन नहीं करते। वे पीछे हटकर साथियों को आगे बढ़ाना जानते हैं। वे धीर, वीर और गम्भीर नेता हैं, एक निडर नियामक हैं।

गुप्तजी की संगठन शक्ति का सबसे आदर्श प्रमाण यह है कि वे जो किसी कुर्सी पर होते हैं, वही कुर्सी से हट कर भी रहते हैं। उनके व्यक्तित्व का जो मूल्य सिंहासन पर है वही सिंहासन से पृथक् भी है। यह बड़ी भारी विशेषता है कि वे किसी पराई शक्ति के दम से नहीं, अपने दम से कायम हैं। कितनी हलचलें हुई, कितने उत्थान पतन आये। कितनी तलवारें चलीं। किन्तु गुप्तजी न झुक सके, न कट सके।

देश में गुप्तजी एक कुशल प्रशासक हैं। वे एक ऐसे दृढ़ व्यवस्थापक हैं कि जिनकी छाया में व्यवस्था गड़बड़ा नहीं सकती। शासन संचालन करते समय वे मौलिक मन से सोचते हैं। वे इस ढंग से सोचते हैं कि किसी के साथ अन्याय भी न हो और कोई अन्याय कर भी न पाये। विश्वास से शासन-व्यवस्था में मानव हित की योजनायें प्रस्तुत करते हैं और उनसे देश का शिव होता है।

गुप्त जी उदार हृदय के एक ऐसे सरल सुमन हैं कि जिसकी सुगन्ध सभी को सुलभ है। वे कवि नहीं हैं पर कवि-हृदय उन्होंने अवश्य पाया है। पता नहीं उनके हृदय में किस दर्द की सुगन्ध है जो उनको किसी के भी तनिक से दुःख से द्रवित कर डालती है। पर पीड़ा को पहचानते हैं। दूसरों के दुःख को याद रखते हैं और अपनी भरसक शक्ति से उनको दुःखमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने आपको भूल कर उनको याद रखते हैं; जिनमें टीस है, चीस है और क्षमता है।

गुप्तजी एक ऐसे पथिक हैं जो अब पथ बन गये हैं। उन्होंने कुछ ऐसे मार्ग निर्मित कर दिये हैं जिन पर चलते हुए लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है। गुप्तजी में दोष देखने वालों के लिये यही कहा जा सकता है कि कोई चन्द्रमा में स्याही महसूस करता है, और कोई राम की छाया। वास्तविकता तो यह है कि गुप्तजी सर्वतोमुखी ज्योति के छाया-पथ हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले गुप्तजी जिस लगन और उत्साह से आन्दोलनों में लगे रहते थे, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी उन्होंने वह लगन नहीं छोड़ी। वे आराम से बैठना नहीं जानते। जैसे आराम उनके लिये हराम है। मुख्य मंत्री हों या साधारण नागरिक, कांग्रेस के अध्यक्ष हों या साधारण सदस्य, ऊंची कुर्सी पर हों चाहे भूमि की गोद में, उनके सामने कामों की कमी नहीं। एक व्यस्त जीवन देशहित में लगा ही रहता है। शायद उनके मन और मस्तिष्क ने निद्रा पर विजय प्राप्त कर रखी हो। गांधीजी के वे सच्चे शिष्य हैं तो वे एक समर्थ विद्रोही भी हैं। सत्य के लिये निडर रहकर विद्रोह करना उनका स्वभाव है। वे चुनौती स्वीकार कर ललकारना जानते हैं। स्वतन्त्रता संग्राम के लिये संघर्ष करने वाले वीर-गीतों के शरीर गुप्तजी एक अजेय ललकार हैं।

राष्ट्रीय चेतना के प्रेरणा स्रोत गुप्तजी का व्यक्तित्व ऐसे आदर्शों का प्रतीक बन गया है जिससे देश में राष्ट्रीय भावनाओं के दीपक जगमगाते ही रहेंगे। गुप्तजी के श्वास-श्वास में कूट-कूट कर राष्ट्रीयता भरी है। उनके कृतित्व राष्ट्र-यज्ञ के ऐसे मंत्र हैं जिनसे देश के लिये कर्म करने का उत्साह मिलता है। कहा जा सकता है कि गुप्तजी एक स्पृहा-रहित राष्ट्र-पुरुष हैं।

प्रजातन्त्र के समर्थ पोषक गुप्तजी एक सजग प्रहरी हैं। उनके संरक्षण में भारतीय लोकतन्त्र सुरक्षित है।

अधिकार के लिये वे जो कुछ संघर्ष करना चाहते हैं, उसमें जनतन्त्रीय सिद्धान्तों को नहीं छोड़ते। उनकी नीति नैतिकता पर आधारित है। उनके नियम न्याय के अनुयायी हैं।

गुप्तजी केवल राजनीति के व्यक्तित्व नहीं हैं। उन्होंने समाज और शान्ति के लिये भी अथक प्रयत्न किये हैं। उनमें अनेक कलात्मक अभिरुचियां हैं। मानो जीवन की परिक्रमा में वे कितनी ही विधाओं के व्यक्ति हैं। मानो समाजवाद की किसी मिश्रित सुगन्ध ने शरीर धारण किया है।

गुप्तजी की सिद्धि का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वे शरणागत को निराश नहीं करते। पराशा पूरी करने में वे पूरा प्रयत्न करते हैं। उनकी यह प्रबल इच्छा रहती है कि किसी को निराश न होना पड़े। सिद्धि का दूसरा रहस्य यह है कि अपने साथियों के प्रति उनका पूर्ण प्रेम, विश्वास और आदर है। उनके साथी उनके लिये जान देने को तैयार रहते हैं। अपने साथियों पर गुप्तजी का प्रेमपूर्ण ऐसा अनुशासन है कि यदि वे अपने साथियों से कहें कि उमड़ते हुए समुद्र में कूद पड़ो और लहरों का रस्सा बटो तो उनके साथी तुरन्त यह काम करने लगेंगे। गुप्तजी की सफलता का तीसरा कारण यह है कि वे गिरे हुओं को उठाना चाहते हैं। पराजितों को विजय देते हैं, हारे और थके हुओं में बल भरते हैं और अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी साथियों का मान प्रतिष्ठित करते हैं।

गुप्तजी की जय का सब से बड़ा और मुख्य भेद यह है कि वे हार कर या थक कर नहीं बैठते। बात यह है कि :—

वे बहुत हारे, मगर जय भी न जीती,
क्योंकि वे जग को जिताते जा रहे हैं।
बीज बन कर फूल बनने के लिये ही,
धूल में खुद को मिटाते जा रहे हैं।।

बड़ी-से-बड़ी हार का विष भी वे अमृत की तरह पचा लेते हैं और उससे नया जीवन लेकर आगे बढ़ते हैं। अन्ततोगत्वा पराजय जय में बदल जाती है।

बाबा तुलसी दास के शब्दों में गुप्तजी एक मुख से मुखिया हैं, जो खान-पान में एक हैं और विवेक सहित सभी अंगों का पोषण करते हैं। उनमें महाराज उग्रसेन जैसा हृदय और भीष्म जैसी शक्ति है। यह तो हम नहीं जानते गुप्त जी के भीष्म रहने में कौनसी प्रतिज्ञा है, पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि गुप्तजी का जीवन हिमालय की तरह दृढ़ और गंगा की तरह पवित्र है।

अतः गुप्तजी के अभिनन्दन में किसी के लिये सब कुछ लिख कर भी कुछ-न-कुछ लिखने के लिये शेष रह जाता है। उनके इतने सुन्दर पक्ष हैं कि चित्रकार की तूलिका थक जाती है। एक अंग का चित्रण किया जाता है तो अनेकों भाव भंगिमायें फूट पड़ती हैं। भगवान भास्कर डाली के इस बोलते हुए फूल पर अपनी स्वर्ण रश्मियाँ बिखराते रहें और हम सबको उससे आनन्द मिलता रहे।

गुप्तजी निष्काम तप के तेज हैं, उन्होंने जीवन भर तपस्या की है। उस तप से जो सिद्धियां मिलीं, उनसे व्यक्ति और समाज का बड़ा हित हुआ है। प्रजातन्त्र के चरण दृढ़ हुए हैं। समाजवाद की नींव गहरी गई है। राष्ट्रीय भावनाओं के उत्स उमड़े हैं। विविध क्षेत्रों में जागरण आया है। और इतना कुछ देने के बाद अब गुप्तजी तप से परे और सिद्धि से आगे हैं।
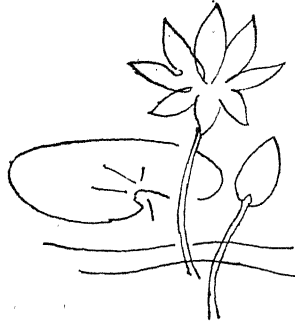
श्री चन्द्रभानु गुप्त

कुंवर गुरु नारायण, एम० एल० सी०
उपाध्यक्ष, भारत सेवक समाज, उत्तर प्रदेश

मुझे यह जान कर हर्ष हुआ कि उत्तर प्रदेश के नागरिकों की ओर से श्री चन्द्रभानु गुप्त को जो कि हमारे प्रदेश के ही नहीं वरन् हमारे देश के एक प्रमुख कर्मठ नेता हैं, अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया है। श्री गुप्त स्वतन्त्रता संग्राम के एक अग्रणी सैनिक रहे हैं और उनका इस प्रदेश में एक प्रमुख स्थान रहा है। मुझे श्री चन्द्रभानु गुप्त के साथ कार्य करने का अवसर तब प्राप्त हुआ जब मैं लखनऊ विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी का सदस्य निर्वाचित हुआ और वर्षों तक मैंने उनके कार्य करने की शैली विश्वविद्यालय के कोषाध्यक्ष के रूप मे देखी। वह एक अनुभवी व्यक्तियों में से हैं और उनके विचारों में पुष्टता सदैव रही है। निष्पक्षता के साथ उन्होंने विश्वविद्यालय का कार्य चलाया। मैंने उनको सदैव एक उत्तरदायित्वपूर्ण वातावरण में पाया। अक्सर विचारों में मतभेद भी हुआ, पर उनके हृदय में एक सहयोग की भावना सदैव बनी रही। इस प्रदेश ने जितनी भी प्रगति की है उसका बहुत कुछ श्रेय श्री गुप्तजी को है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जिस समय कांग्रेस मंत्रिमंडल आया वह उस मंत्रिमंडल में सम्मिलित हुए। तबसे काफी प्रगति इस प्रदेश में उनके व्यक्तित्व के कारण हुई और इस प्रदेश में साधन सीमित रहते हुए भी इस क्षेत्र को उन्होंने ऊंचा उठाने का प्रयास किया। सारे प्रदेश में उनकी रचनात्मक कार्यों को बढ़ावा देने की ख्याति है। उन्होंने इस प्रदेश के मुख्यमंत्री पद को जो आज सबसे ऊंचा पद है सुशोभित किया और अपने कार्यकाल में दृढ़तापूर्वक, ऐसे समय जब कि चीनियों ने आक्रमण किया, इस प्रदेश की जनता को एक सूत्र में बांध कर उसका मनोबल केवल स्थिर ही नहीं रखा बल्कि उसमें त्याग और साहस की भावना को भी जाग्रत किया।

श्री गुप्तजी एक कुशल प्रशासक और संगठनकर्ता हैं। उन्होंने आजीवन निर्भीकता से कार्य किया है। कांग्रेस संगठन की मजबूती का इस प्रदेश में जो एक मुख्य कारण था वह यह कि सामाजिक व रचनात्मक कार्यकर्ता का श्री गुप्तजी के हृदय में महान् आदर था। उन्होंने केवल मौखिक ही नहीं वरन् कार्यरूप में इसे परिणत भी किया है। कोई भी व्यक्ति जो दुखी और असहाय होता था उसकी वह सदैव मदद करते रहे हैं। अपने को उन्होंने कभी भी कार्यकर्ता से पृथक् नहीं किया और यही एक मुख्य कारण है कि प्रदेश की जनता व कार्यकर्ता आज तक उनकी प्रशंसा किया करते हैं और उनके साथ हैं। संगठन में और शासन में दोनों में वह प्रमुख स्थान पर रहे। प्रदेश में मुख्य मंत्री होने के नाते और संगठन में प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष होने के नाते उन्होंने जिस कार्यकुशलता का परिचय दिया है, वह किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता। विचारों में पुष्टता होने के कारण और सत्य पर निर्भीकता से लड़ जाने के कारण वह इस प्रदेश तथा देश में लौह पुरुष के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। अधिक समीप से उनके साथ कार्य करने के नाते मेरा यह अनुभव है कि वे बहुत ही सरल स्वभाव और शुद्ध हृदय के व्यक्ति हैं। कभी-कभी वह बात करने में कड़े शब्दों का प्रयोग कर देते हैं तो उससे कुछ लोगों को भ्रम हो सकता है पर जो उनको अच्छी तरह जानते हैं उन पर उसका असर नहीं पड़ता। जिससे अधिक स्नेह रहा उससे वह भले ही कड़े शब्दों में बोल दें पर हृदय सदैव निष्कपट और निश्छल रहा है। जब वह अपने निकटतम साथियों से बात करने में कुछ कह जाते हैं तो उसे इसी प्रकार समझना चाहिये जैसे कि :—

"हृदय प्रीत मुख बचन कठोरा।"

मैं इस शुभ अवसर पर जब प्रदेश के नागरिकों की ओर से उनको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है उनके प्रति अपनी शुभकामनायें तथा श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे।

उत्तर प्रदेश के लौह पुरुष : श्री चन्द्रभानु गुप्त

राम लगन सिंह, भूतपूर्व एम०एल० सी०
ध्य , जिला परिषद्, जौनपुर

यह जान कर मुझे अतीव प्रसन्नता का अनुभव हुआ कि उत्तर प्रदेश के समाज-सेवियों एवं कांग्रेस-जनों ने श्री चन्द्रभानु गुप्तजी की पैंसठवीं वर्ष-गांठ पर उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रदान करने का शुभ अनुष्ठान किया है। अत्यन्त कार्यव्यस्तता एवं क्रियात्मक जीवन के कारण लेखन-कार्य के लिये मुझे अपेक्षित अवकाश नहीं मिला है, फिर भी दैनिक जीवन-क्रम से अलग जाकर अपने पिछले अनुभवों एवं उनसे प्रसूत विचारों को लेख-बद्ध करने के इस कार्य के हेतु निमंत्रण पाकर मुझे हार्दिक सुख का अनुभव हुआ। अपने पिछले दशकों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में मुझे इस बात पर गर्व का अनुभव होता है कि अनेक अवसरों और परिस्थितियों में श्री चन्द्रभानु गुप्त के व्यक्तित्व को मुझे निकट से देखने का अवसर मिला है और अनेक दृष्टियों से मैं उनसे प्रभावित भी हुआ हूं। श्री गुप्त सांसारिक प्राणियों की उस कोटि में आते हैं, जिनके सम्पर्क-संसर्ग की प्रतिक्रिया अनिवार्य होती है। व्यक्तित्व तो हर व्यक्ति का होता है और इस अर्थ में, वह अनेक बातों में संसार के अन्य सामान्य जनों के समान और असमान भी होता है, किन्तु कुछ ऐसे सशक्त और जीवन्त व्यक्तित्व के पुरुष होते हैं, जो इस सामान्य समानता-असमानता की परिधि से बाहर भी जाकर अपने सम्पर्कियों एवं सहयोगियों की कर्मठता का मार्ग वरण करते हैं तो उनके व्यक्तित्व की प्रभावकता और भी अधिक बढ़ जाती है, और अनुकूल के साथ-साथ प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं की सम्भावनाएं भी स्वाभाविक हो जाती हैं। ऐसे प्राणवान् व्यक्तित्व का प्रभाव दूसरों के लिये और विशेषकर सहयोगियों और सहकर्मियों के लिये अमोघ होता है। श्री गुप्तजी के साथ कार्य करने अथवा उनके सम्पर्क में आने का एक ठोस अर्थ होता है उनसे प्रभावित होना। जहां तक मैंने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उनके संसर्ग में आकर उनके प्रभाव से बचना बड़ा दुष्कर कार्य है। अंग्रेजी में जिसे 'कन्टेजस' कहते हैं, गुप्त जी के व्यक्तित्व और कर्त्तव्य में भी अपने प्रभाव दूसरों के मन पर संक्रमित कर देने की बड़ी अद्भुत क्षमता प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। उत्तर प्रदेश के समाज-सेवा और राजनीतिक क्षेत्र में पिछले कई दशाब्दों से सूर्य की भांति जाज्वल्यमान इस व्यक्तित्व के अभिनन्दन-समारोह के आयोजक और अनुष्ठान-कर्त्ता इस दृष्टि से बहुत-बहुत बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका यह प्रयास अनेक दृष्टियों से ऐतिहासिक और स्तुत्य है।

राजनीतिक के एक जीवित इतिहास—श्री चन्द्रभानुजी गुप्त उत्तर प्रदेश की राजनीति के पिछले कई दशकों के जीते-जागते इतिहास हैं। उनके रूप में इस प्रदेश का वर्तमान इतिहास मूर्तिमान है। इसमें कोई भी अत्युक्ति न होगी यदि हम कहें कि विगत कई दशाब्दियों का राजनीतिक इतिहास वस्तुतः गुप्तजी का इतिहास है। इन पिछले वर्षों में जितने राजनीतिक आन्दोलन और मुक्ति-संघर्ष हुए हैं, उत्तर प्रदेश के धरातल पर श्री गुप्तजी का उनसे सीधा सम्बन्ध रहा है। गत स्वतन्त्रता-संग्राम से लेकर स्वतन्त्रता के बाद के सारे अद्यतन विकास-प्रयास तक उनका व्यक्तित्व और कर्त्तव्य एक निरन्तर जगमगाने वाले प्रकाश-पुंज की तरह स्पष्ट रहा है। उत्तर प्रदेश सारे भारत का 'हृदय' और 'मानस' माना जाता है और हर सामाजिक और राजनीतिक चेतना की प्रथम लौ यहीं से फूटी हुई मानी जाती है। ऐसे विशाल और क्रियाशील प्रदेश की राजनीति के मोड़ को सम्भालने और गति को दिशा देने वाले श्री चन्द्रभानु गुप्त की कर्मठता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव केन्द्र और देश की पर राजनीति न पड़ा हो, यह भी असम्भव है। उत्तर प्रदेश की राजनीति से उठ कर केन्द्र में स्थापित होने और देश की राजनीति को संचालित करने वाले पन्तजी से लेकर वर्तमान केन्द्रीय नेतृ-वर्ग तक, सभी से उनका निकटतम व्यावहारिक संसर्ग रहा है और सभी द्वारा उन्हें उचित महत्त्व मिला है। स्वर्गीय पन्तजी उन्हें अपनी भुजा समझते रहे, और अपने उत्तर प्रदेश के मुख्य-मंत्रित्व-काल में

उन्होंने गुप्तजी को महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण दायित्व का [illegible]र सौंपा। श्री गुप्त ने उन दायित्वों की भूमिका का सफल निर्वाह किया है। श्री सम्पूर्णानन्द के मुख्य-मंत्रित्व-काल में भी वे एक निर्णायक शक्ति के रूप में कार्य करते रहे और सम्बन्धों की विषमतम परिस्थितियों में भी श्री गुप्त का व्यक्ति और कर्त्तव्य कभी भी ऐसा नहीं रहा कि उसे उपेक्षा अथवा अवगणना का पात्र समझा गया हो। श्री सम्पूर्णानन्दजी के बाद पं० जवाहरलाल नेहरू ने उत्तर प्रदेश के मुख्य-मंत्रित्व के लिये उन्हीं का वरण किया। 'कामराज-योजना' के अखिल भारतीय सन्दर्भ में वे संगठन के कार्यों के लिये बुलाये गये और उन्होंने अपने स्थान पर केन्द्रीय संकेत की चिन्ता न करते हुए श्रीमती सुचेता कृपलानी को सत्ता सौंपी। सभी मुख्य मंत्री उनसे सहयोग को मूल्यवान समझते रहे और सभी ने उनकी प्रभाव-शक्ति का लाभ उठाया है। उन्होंने एक कर्मठ साथी और सच्चे मित्र के रूप में किसी के सहयोग चाहने वाले हाथ को नहीं ठुकराया। सत्ता-सहयोगी, सत्तारूढ़ और सत्ता-विलग रह कर गुप्त जी ने संगठन और साथियों पर कभी भी अपने प्रभाव को नहीं खोया। उत्तर प्रदेश की राजनीति के वर्तमान चालकों में अधिकांश उनकी ही सृष्टि रहे हैं और आज जो भी दायित्व-पद पर चमक रहे हैं, उनके निर्माण में किसी न किसी रूप में और किसी न किसी स्तर पर उनका हाथ रहा है। उत्तर प्रदेश के पिछले दो से अधिक दशकों का विकसित इतिहास वस्तुतः श्री गुप्त के संगठन, रचना और जागरूकता का इतिहास कहा जायेगा।

संघर्षी व्यक्तित्व और आदि समाजवादी—श्री गुप्त का जीवन वास्तविक रूप में संघर्षों का गतिमान इतिहास है। आराम, विश्राम और शयन को उनके कर्मठ जीवन में विशेष स्थान नहीं है। परिस्थितियों से लड़ना, उन्हें मोड़ना और भविष्य के लिये अनुकूल बनाना उनकी जीवन-कथा है। वे सच्चे अर्थों में एक योद्धा और सही माने में एक जागरूक सेनानी हैं। उनके बिगुल बजाने पर साथियों और सहकर्मियों का दल उसी प्रकार जाग कर अभियान करता है, जिस प्रकार महासेना नायक के तूर्य पर जीने-मरने के लिये सैनिकों की वाहिनी चल पड़ती है। उनका पथ फूलों का नहीं, शूलों का रहा है और पथ फूलों के उपभोग का उन्हें भले ही अवकाश न मिला हो, पर रास्ते के हर कांटे को उन्होंने अपने पैरों का खून देने में हिचकिचाहट नहीं की। जीवन के विषम से विषम और जटिल से जटिल प्रसंगों में रक्त-रंजित चरणों को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कभी भी न आह-कराह की और न हार कर शरण की याचना की। जूझना उनका बाना रहा और सम्मान के साथ विजयोत्साह में भी वे शिथिल नहीं हुए। वे हृदय के बड़े स्वच्छ और मस्तिष्क के बड़े ही दृढ़ हैं। ईर्ष्या, अथवा द्वेष की अस्वस्थ ग्रन्थियों से मुक्त रहकर अपने प्रबल विरोधी का भी उन्होंने विश्वास किया है और अप्रत्याशित हाथों और विश्वस्त मित्र-करों से छल पाकर भी वे कभी भी कोसने-कराहने की राह नहीं गये। उन्हें अपने कर्त्तव्य का विश्वास रहता है, अतएव वे दूसरों की प्रतिकूल अथवा अप्रत्याशित क्रिया से हताश और निष्क्रिय कुत्सा के शिकार भी नहीं होते। वस्तुतः कर्म-निष्ठा के धनी श्री गुप्तजी अपने युग के बेजोड़ व्यक्ति रहे हैं। यह नहीं है कि उनके शत्रु कम रहे हैं अथवा उन्हें अपने विश्वस्त जनों से विश्वासघात न मिला हो या कि अतिशय विश्वास कर जाने के दुष्परिणामों से वे परे रहे हों, पर इस दृष्टि से वे बेमिसाल हैं कि उन्होंने आदमी का विश्वास किया, मित्र में निष्ठा रक्खी और वचन तथा प्रतिश्रुति के प्रति आस्था अपनायी और जब अपनों से ही चोट खाई तो उस चोट का उन्होंने न किसी से रोना रोया और न शिकवा-शिकायत की। वे निरन्तर कर्म-रत रहे और इसी का परिणाम है कि सत्तारूढ़ता और असत्तारूढ़ता जैसे परिवर्तन उनकी वास्तविक स्थिति और मूल्य में परिवर्तन न ला सके। जिसे उन्होंने पसन्द किया, खुलकर दाद दी और जो उन्हें नहीं रुची, उस पर झूठी निष्ठा का अभिनय भी उनके स्वभाव से सर्वथा परे है। वे कर्म-तत्परता और लगन को महत्त्व देने वाले महाप्राण व्यक्ति हैं और झूठी प्रशंसा, मिथ्या उपचार तथा छल चाटुकारिता उनसे कभी भी नहीं हो सकी। पं० नेहरू और पन्तजी जैसे महान् व्यक्तित्वों के सामने भी वे अपनी रुचि और अरुचि को न छिपा कर स्पष्टवक्ता और निर्भीक संकल्पी रहे। अपने सत्य के पथ पर अडिग चलना उनके संघर्षी व्यक्तित्व का एक मात्र मन्त्र रहा है। लाभालाभ, जयाजय से ऊपर स्थित वे एक राजनीति-साधक हैं।

कांग्रेस ने समाजवाद का आदर्श अवाड़ी-अधिवेशन से स्वीकार किया, पर श्री गुप्तजी आरम्भ के ही समाजवादी रहे और आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० सम्पूर्णानन्द आदि के साथ ही 'कांग्रेस-समाजवादी दल' के विश्वस्त सदस्य और कर्मठ सेवी रहे हैं। आज तो कांग्रेस में ही अपने को औरों से अधिक समाजवादी सिद्ध करने की रात-दिन मौखिक घोषणायें की जा रही हैं और अनेक मंच-उपमंच जन्माये जा रहे हैं, पर शायद नई पीढ़ी में बहुतों को यह अवगत न हो कि श्री गुप्त उस समय समाजवादी दल में थे, जब कांग्रेस में वह दल अत्यन्त अल्प-संख्यक था और जब इस नाम से बहुत से लोग चौंक जाते थे। जीवन भर वे कुमार रहे हैं, स्त्री और सन्तान की लालसा से विलग होकर उन्होंने समाज-सेवा और राजनीति को ही अपनी सहचरी बनाया और एक सादा तथा निरन्तर व्यस्त जीवन बिताते हुए अपनी निष्ठा के कार्यों में रत रहे। मेरा श्री गुप्तजी से उन्हीं दिनों का निकट परिचय रहा है और अपने राजनीतिक अग्रज श्री ठा० हरगोबिन्दसिंह जी, गृह-मंत्री उत्तर प्रदेश तथा 'भूमि-बन्धक-बैंक' उत्तर प्रदेश के वर्तमान अध्यक्ष श्री रऊफ जाफरी की सहकर्मिता में आज तक उन्हें राजनीति

में अपना नायक और अगुवा मानता रहा हूं। जीवन में अनेक ऐसे अवसर भी आये जब उनसे मनचाही बातें नहीं हुईं, पर उनके नायकत्व और व्यक्तित्व के प्रति अपनी निष्ठा कभी भी कम न हुई। अपने व्यक्तित्व के प्रति मैत्री, सहृदयता और सहयोग के इसी चुम्बक से श्री गुप्त मुझे ही नहीं, प्रदेश के बाहर सहस्रों कार्यकर्ताओं और राजनीति-सेवियों को खींचते रहे हैं। वे साथी और सहयोगी को पूरा विश्वास देते हैं और उससे समय और अवसर पर वैसी ही निष्ठा की अपेक्षा करते हैं। साथियों के लिये जितनी दूर जाकर वे जिस प्रकार सहयोग प्रदान कर सकते हैं, राजनीति में बहुत कम लोगों में वैसा व्यवहार और सामर्थ्य दिखलाई पड़ता है। तभी वे स्व० किदवई जैसे व्यक्ति से भी लोहा ले सके थे।

बिजली और लोहा के बने कर्मयोगी—श्री चन्द्रभानु गुप्त जी का संकल्प लोहे-सा दृढ़ और उनके प्रयास में बिजलीसा तेज है। उनका जीवन आंधियों का इतिहास, संग्रामों की गाथा और अडिगता की शृंखला है। जय और पराजय उन्हें विचलित नहीं करते। भय उन्हें डिगा नहीं सकता। अपने इस्पाती चरणों से उन्होंने उत्तरप्रदेश के राजनीतिक पथ पर जो चिन्ह छोड़े हैं, वे उनके ऐतिहासिक महत्त्व के प्रमाण हैं। वे गिर कर भी नहीं गिरते और उनके संकल्पों का प्रखर स्रोत कभी नहीं सूखता। इसी अशोष्य व्यक्तित्व के कारण उन्हें उत्तर प्रदेश का 'लौह-पुरुष' कहा जाता है। यह गुण शायद श्री गुप्त ने कांग्रेस के महासेनानी तथा भारत के 'लौह-पुरुष' स्वर्गीय श्री वल्लभभाई पटेल से ग्रहण किया हो। संकल्प और निर्माण यही उनका रास्ता है। नेहरूजी की भांति श्री गुप्तजी भी ६५ वर्ष के होकर जैसे बुढ़ापे से ऊपर लगते हैं। अशक्तता और वार्धक्य जैसे उनके संदर्भ में ही न आते हों। उन्होंने जो कुछ किया, कांग्रेस और सहयोगी-सहकर्मियों के लिये तथा व्यापक अर्थों में उत्तर प्रदेश की कोटि-कोटि जनता के लिये किया। उनका 'स्व' साथी, दल और जनता के बीच फैल गया है। इसलिये व्यक्तिगत स्वार्थ के ऐसे सारे आरोप उनके उज्ज्वल शरीर पर उसी प्रकार नहीं लागू हो सकते, जिस प्रकार नीचे से फेंकी गयी धूलि बहुत ऊपर नहीं जा सकती। वे दूब की भांति अमर हैं।

वे 'मोतीलाल नेहरू-ट्रस्ट' के संस्थापक तथा 'मोती-महल' जैसे संस्थान के जन्मदाता हैं। उस न्यास से उनके तत्वावधान में न जाने कितने राजनीतिक सेवियों को सहारा, छात्रों को आवास तथा छात्रवृत्ति तथा कितनी ही संस्थाओं को अनुदान मिलता आ रहा है। सचमुच श्री चन्द्रभानु गुप्त एक व्यक्ति नहीं, एक संस्था हैं, जिनके व्यक्तित्व के आकर्षण और निश्छल सहयोग के भाव से हर कहीं और हर किसी समय निष्ठावान् कर्मठों की एक विशाल टोली खड़ी की जा सकती है। उत्तर-प्रदेशीय कांग्रेस का कार्यालय उन्हीं की कल्पना का मूर्त्त रूप है।

उत्तर प्रदेश के ऐसे निर्भीक कर्म-पुरुष और अडिग जन-नायक के अभिनन्दन का यह संकल्प, इसीलिये वरेण्य और स्तुत्य है। मेरा विश्वास है कि ऐसे महाव्यक्ति का अभिनन्दन भी उसकी महत्ता, गुरुता और उच्चता के अनुकूल होगा और उत्तरप्रदेश के राजनीतिक-गण तथा न्यायप्रिय जन-समाज अपने इस जुझारू अग्रणी, विश्वस्त नायक और संघर्षी नेता की कर्मठता और सेवा वृत्ति का सम्मान करते हुए उसके प्रति पूर्णतः कृतकृत्य होंगे।

एक साथी, सहयोगी और अनुयायी के नाते ईश्वर से मेरी भी यह आन्तरिक कामना है कि वह इस महान् व्यक्तित्व को ऐसी क्षमता प्रदान करें, जिससे वह प्रदेश की अस्थिर और विक्षुब्ध राजनीति में सुस्थिरता और सुदृढ़ता ला सकें तथा अनेक भ्रान्तियों, दुर्भावनाओं और शंकाओं के वातावरण से निकल कर प्रदेश-कांग्रेस तो स्वस्थ और बलिष्ठ हो ही, हमारी केन्द्रीय नीतियां भी प्रभावकारी, सक्षम तथा सन्तुलित हो सकें।
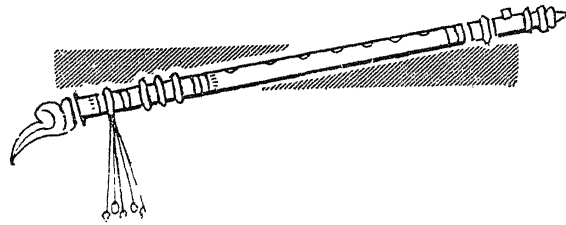
REMINISCENCES

Badr-ud-Din Tyabji
Ambassador of India,
Tokyo, Japan

Though I had met Mr. Chandra Bhanu Gupta once or twice earlier, my first real dealings with him began only when I was Vice-Chancellor of the Aligarh Muslim University from October, 1962, to March, 1965. During that period, Mr. Gupta was either the Chief Minister of Uttar Pradesh, or the power behind the throne in the State.

Mr. Gupta was born and brought up in Aligarh District ; and thus had a natural nexus with the University. The year previous to my becoming its Vice-Chancellor had been a disastrous one for the University ; and though the Enquiry Committee on its affairs had exonerated it from the many ignorant, exaggerated or biased charges made against it, its stock was pretty low in U.P. official circles in particular.

Mr. Gupta, who was then the Chief Minister, had also made certain statements in regard to it, which, to my mind, were based on a misconception of what the University stood for, its problems, and of the distinctive part that it could play in the national life of the country.

Therefore, I was rather apprehensive at my first meeting with Mr. Gupta in Aligarh about the support that I would get from him in my work, and for my ideas on the future role of the University. He, however, agreeably surprised me by his ready appreciation of my point of view in regard to these matters ; and his willingness then and subsequently to respond to the suggestions that I had occasion to make to the State Government on behalf of the University.

He displayed a resiliency of spirit, an absence of dogmatism, and a capacity to appreciate a different point of view from his own, which I thought were admirable.

I am happy at the opportunity given to me to recall this association with a remarkable man in the Abhinandan Granth, which it is proposed to present to him on his 65th birthday. I wish Mr. Gupta many more years of good health, and of service to the Indian people.

SHRI CHANDRABHANU GUPTA (AN APPRECIATION)

P. D. Gupta
Ex-Vice-Chancellor, Agra University

I deem it a privilege to be asked to contribute to the volume—Abhinandan Grantha—which is to be presented to Shri Chandra Bhanu Gupta in appreciation of the eminent services which he has rendered to his state and to the Country and his distinguished position in public life. His has been a life of incessant activity in the service of the country and he has not counted any sacrifice as too great if thereby he could advance the cause always dear to his heart —the welfare and progress of the motherland. His enthusiasm has been catching, his leadership has provided inspiration and courage to his fellow workers and his absolute purity of personal life and his incorruptibility has been equalled by a few and surpassed by none in his state of Uttar Pradesh.

From his early days Shri Chandra Bhanuji has been devoted to public service. After taking his M.A. and Law degree from the Lucknow University in 1926, he started the practice of Law but public affairs soon engrossed his attention and even the practice of Law—when he had time for it—was used as an instrument of public service. He was Junior Counsel in the defence of Meerut Conspiracy case prisoners in 1931—and showed great skill in the cross examination of witnesses and the conduct of Defence. And for him it was purely a labour of love actuated by motives of service. The various Satyagraha movements beginning from the salt satyagraha of 1930 brought his spirit of service and sacrifice to the fore and since then he was always in the vanguard of the struggle for freedom. Elected to the Legislative Assembly in 1937, he remained an active legislator until 1939 when Congress threw up office as a protest against the country being dragged into the war without her consent. He went to Jail during the Quit India Movement and like numerous other patriots received his full share of jail hardship during those awful but soul-stirring days of 1942—45.

His devotion to the Congress has been profound, continuous and consistent. He joined it soon after the end of his student career and has never faltered in his loyalty to this great organisation. The Congress, before the advent of freedom, was not a party but a movement—a national front of all freedom loving and freedom fighting elements of the country. He was one of that heroic band of youngmen and women who counted no hardship as too great and no

suffering as too painful if thereby the advent of freedom could be hastened. His zeal and untiring energy threw new life into the movement in his hometown of Lucknow where he was for several years President of the local Congress Committee and was practically a whole time worker in the National cause.

After the achievement of independence, the Congress was recognised as a political party with a definite ideology and programme and many of his former colleagues and co-workers left the organisation on account of ideological differences. He, however, not only remained loyal to it but utilised his great organising powers and capacity for raising funds to strengthen it and make it a strong political machine both for elections and for administrative purposes.

His election to the Legislature in 1946 and subsequent admission to office first as Parliamentary Secretary and then as Minister of Health and Supply brought forth his capacities as Legislator and administrator and he came to occupy a foremost place in the government of the state. After a short eclipse from power after the elections of 1957, he became President of the Provincial Congress in 1960 and shortly thereafter he was called to occupy the post of Chief Minister of the state, it is said, at the instance of Pt. Jawahar Lal Nehru himself.

Of his work as Minister and Chief Minister, it is not for me to speak. Those who worked with him and under him in the Legislature and in administration would be much better qualified to pay their tribute to one so obviously gifted with parliamentary talents and acumen and so reputed as an administrator who streamlined the administration and introduced into it a new vigour and efficiency. As a speaker he is eloquent and effective and his cogent reasoning seldom fails to carry conviction.

As a public worker of front rank and as a leader of the party for so many years it was not to be expected that he would be immune from criticism or impervious to attack. He is accustomed to receiving and giving hard knocks but not even his worst detractors have ever accused him of being motivated by considerations of personal gain. In respect of personal integrity and character he has set a standard which others have not always found it easy to follow.

A word may be said of his contribution in the field of education. Although politics has left him little time for academic work, he has been connected with several educational institutions and has always been closely associated with the working of the University of Lucknow of which he was Honorary Treasurer for many years. His Convocation Address to the Agra University in 1964 stamps him as a man of wide academic outlook, of keen insight into educational problems and a healthy eagerness for the development of education on right lines. His conception of a University as "an institution with a dynamic atmosphere, a stimulating environment where the minds of men will be stirred and where both teachers and students will feel an impelling desire to realise their intellectual potential as a prerequisite to an acceptance of personal and social responsibilities" can hardly by improved upon. He exhorted the students

that the main thing before them at the present time 'is the emotional integration of India and the building up of our ancient country, into a mighty nation—mighty in thought—mighty in action and mighty in its service for humanity.'

Who can deny that when this vision of our Country is realised, his own contribution for its achievement will not be an insignificant one.

It would be difficult to do justice to the manysided activities of Shri Chandra Bhanu Gupta within the space of a short article of personal appreciation. For his has been a life crowded with activity directed to the pursuit of noble and patriotic ideals, and yet singularly pure and incorruptible without thought of personal gain. A man of lofty vision and broad outlook with a keen perception of the problems and needs of his country and his state, a party leader capable of inspiring both loyalty and confidence, an administrator of sound judgement on men and matters, and a restless genius to whom work is worship, Shri Chandra Bhanu Gupta is bound to leave an indelible mark on the fortunes of his country.

May he live long in health and vigour in the service of his nation and his country!

C. B. GUPTA : FAITHFUL SUPPORTER OF CONGRESS IDEOLOGY

L. N. Sarin, *M.L.C.*

The Kamaraj Plan would go down in the history of the Congress as a great paradox. It made and unmade. It clarified and mystified. It built and demolished. It unconsciously aggravated what it consciously attempted to cure. It was conceived in South India but it was executed in North India. For every congressman placated it left two antagonised. It worked on assumptions that were fanciful presumptions. It evoked Gandhian values when they were dead beyond revival. Mahatma Gandhi trained congressmen for an agitational role with moral weapons ; he did not train them for political understanding with philosophical detachment in office. Life ceased to be a mission to him it once was; it became a hunting ground of power it never was. Wilderness like adversity stimulates higher values of life, power like prosperity dwarfs them.

Service before office—The motto at the back of Kamaraj Plan was 'service before office.' But it operated to emphasise its reverse. Several top-ranking congress leaders were relieved of office not by draw of lots but by human preference. Groupism already at work in the organisation assumed a more serious shape and several revisions of the original list mapped out under the operative sections of the Plan gave new edge to dissatisfaction. Mr. Nehru's calamitious death did not improve matters and Mr. Kamaraj's claims that the scheme associated with his name had helped the congress to close its ranks was exaggerated. By paving the way in several States for leaders of the dissident groups to succeed as heads of the Governments the Plan put a premium on indiscipline and consolidated groupism.

U. P.—Mr. C. B. Gupta who firmly held the reins of office with an overwhelming majority at his back in the legislature was jettisoned by the Kamaraj Plan as a sop to the pressure of the dissidents. He was hurt as he was wronged. He had strength of integrity and force of personality. He therefore disapproved the case by which he was detached from office. He could not withdraw his resignation but he could make the High Command realise that he was a living force and in U.P. they could not stage the Hamlet without the Prince of Denmark. Conscious of the backing of the majority of the Congress Legislature Party, anxious to pass on his mantle to one of his confidence he carefully examined the names of possible successors and found

Mrs. Kripalani the best choice. The High Command smarting under pain of failure to pave the way for their nominee pretended concern on lack of Mrs. Kripalani's capacity to deliver the goods. But C.B. Gupta was adamant. He pressed for election of the party leader and the High Command after some resistance agreed to a demand, that if not welcome to them, was a faultless democratic procedure. The contest proved C. B. Gupta's hold on the members of the Legislature Party and Mrs. Kripalani stepped up as the first woman Chief Minister of free India to prove the merits of women on one of the most important political assignments.

U.P.C.C. elections of 1961—Mr. C. B. Gupta who had suffered two consecutive defeats in electoral contests to Vidhan Sabha was given a leg up by political fortunes in 1961 when he contested for presidentship of the UPCC and smashed his rival who had complete support and backing of the Sampurnanand Government. Working on false premises, over-estimating his hold on the organisation Dr. Sampurnanand converted a routine election into a prestige contest and burned his boats on its results. Mr. Nehru realising the importance of the coming general elections and Mr. Gupta's hold on the organisation facilitated Dr. Sampurnanand's resignation in confirmity to his public declaration that the defeat of the official candidate proposed by him would tantamount to a verdict of no-confidence by the organisation in his Government and paved the way for C. B. Gupta's rise to power. He combined both the offices of the heads of the administration and the organisation for sometime but was relieved of one of them by the appointment of Mr. A. P. Jain as President of the UPCC. Like water and oil they remained apart. Unless the two wings of a political party, if it is in power, combine and work in complete harmony their distrust of each other weakens the administration and lowers the prestige of the party in popular estimation. One of the major factors of decline of congress influence in the country is open tug-of-war between the two segments of the ruling party. Whether it was Mr. Jain who withheld genuine cooperation from the Government or Mr. Gupta who ignored the organisational executive the reliance of the President of the UPCC on the dissidents who spared no opportunity to baulk the Chief Minister created a very unwelcome situation that sought realisation in intrigues, manipulations and mud-slinging. Even the threat of the Chinese aggression did not provide the warring groups an opportunity to close their ranks and work unitedly to raise the morale of the people. There was no dearth of pious assurances and claims to the contrary but the running sore of groupism remained unhealed and congressmen fought like Kilkenny cats. The part of the High Command was unsatisfactory as a policy of drift to create a position of equilibrium between the majority and minority is not only bad politics but is worse tactics. It encourages indiscipline and weakens the organisation at its grass roots. It is not open to doubt that if the High Command takes early effective steps to check the growth of political dissidence in the party at State levels the solidarity and strength of the State units can be protected

from future strains and shocks that in due course lead to disintegration. Mr. Gupta, if harassed and pestered by the dissidents did not allow worries to hamper him from conscientious discharge of duty Absence of loyalty of some of the colleagues, resentment o fpart of bureaucracy on his effective methods of work, faced with huge problems of administration, it went to his credit that he managed the State with efficiency with a popular touch animating all his schemes of development. Extensive tours of border areas sustained the spirit of people to meet the threat of the Chinese challenge that aggression posed.

The Kamaraj Plan however changed the shape and composition of the Government and left it bereft of the dynamism of the man who knew his mind and had considerable self-confidence to enforce his decisions. Having been neglected by the High Command relinquishment of office Mr. Gupta who finds active life full of mental and physical stimulants busied in many creative activities for the good of the people and ultimately decided to contest for Presidentship of the UPCC in order to consolidate the shaking parts of the Congress in U.P. The contest was again tough but the verdict again went in favour of Mr. Gupta. He won by a narrow majority but win he did. But objections were raised and those members of the UPCC who secured permits and licences after 1961 were disenfranchised with retrospective effects. In the recount Mr. Gupta lost by a still narrower majority. Mr Nanda's Award that unseated him was like the piece of mutton with which Dr. Johnson was once served in a wayside inn on his journey from London to Oxford and that he prounced as 'ill-caught, ill-dressed, ill cooked and ill-served". If licence and permit holders whether saints or sinners had to be disqualified there should have been no demarcation line at the year 1961. A licencee of pre-1961 period all things being equal was as much an object of abhorrence or preference as of the post-1961 period as if those who were never condemned for an anti-social crime were all as good members of the UPCC as the two contesting candidates. It passes understanding why an objection that should have been raised on the election of the licence and permit holders to the UPCC was raised when after their election they excercised their right of franchise of the election of the executive. It was like asking a bonafide traveller from a seat that was reserved in his name and on which he had travelled some distance towards his destination. The Nanda Award however reinforced Gupta's position in the public estimation as public opinion rallies round a victim of executive authority.

Personal equation—The personal equation of C. B. Gupta is without conflicting traits or pressures. He lacks the smooth tongue of a politician and is free from subtle hypocrisy that is passport of political success. He makes mistakes both of calculation and timings. He sometime relies on fair weather friends who change sides in adversity of old patrons. Some of his beneficiaries have been men of straw who shift their loyalty with change in the centre of gravity of political power. Of all political leaders of U.P. who wielded power and used it to help others, C. B. Gupta is a solitary instance who was never

tired of helping those who needed his help and forgot a personal affront when he was in a position to dispense favour or succour a man in predicament.

While his administrative qualities were equalled by his organisational skill it was his unique claim that as he led a dedicated life temporary ups and downs of political fortunes were mere passing phases of a career determined to make himself a useful member of society and a faithful supporter of congress creed and ideology.

GUPTAJI : THE ARCHITECT OF MODERN U. P.

Dr. Rai Ramcharan Agarwal

I came in contact with Shri Chandrabhanu Gupta just after his release from prison sometime in the year 1941. He had courted arrest in connection with the Individual Satyagrah Movement. My old classfellow, esteemed friend Babu Mangala Prasad introduced me to him on the grounds of the All India Swadeshi Exhibition Mela, and an important and entertaining event of the Allahabad town during those days. Since my first contact with this great personality, I have been meeting him several times at Allahabad and at Lucknow. He created an impression which has never been effaced and which I carry even today with respectful gratitude.

Guptaji is a leader of great dash and drive. Once he takes an idea into his head, it has got to be consummated. Obstacles cannot hinder his march towards the fulfilment of the cherished task; financial hurdles have never deterred him from embarking upon a laudable scheme. His dashing zeal creates an aura of activity all around his followers and companions get vitalised and enlivened. His powerful drive makes a clean sweep of all hindrances. Even laws, settled conventions and regulations have to help, adjust and conform to what he decides finally.

He is a soul fired by revolutionary fervour. Rather, he owes his active initiation into politics to the famous Kakori-case in which his powerful pleadings brought to the fore his latent revolutionary potentialities. The public could at once see in him their future great leader, a great revolutionary with infinite capabilities of lifting the state out from the abyss of ignorance and economic backwardness.

I have found him a man of sterling virtues. He knows no flattery. His words are plain, outright and often hard hitting. He cannot put up with nonsense because of his upright character. He has no personal interests. He remains ever seized of the interests of the State and the country. It is precisely due to this reason that even those who oppose him on certain points cannot help admiring his selfless devotion and dedication to the cause of the country.

It might not be known to all that it is entirely due to his untiring efforts that U.P. has found a place on the industrial and technological map of India. The Motilal Nehru Regional Engineering College at Allahabad, and the Madan Mohan Malaviya Engineering College at Gorakhpur owe their rapid develop-

ment to him alone. He is the Chairman of the Board of Governors of both these Colleges. He is also associated with other engineering colleges and institutions. As a great lover of industries, he saw to it that U.P. gets dotted with a network of industries—big and small. Engineering Education, he realised, was the key to industrial emancipation. The speed with which this State was marching ahead in the technical and industrial fields was a tribute to the farsightedness and organisational capacities of Shri Guptaji.

Guptaji will go down in the history of this country as the architect of modern U.P. He forcefully championed the cause of this state with all the love of a mother, the dedication of a devotee, the patriotism of a martyr and the renunciation of an ascetic. Though the largest in terms of population and size, this State has been the most backward economically. Guptaji pleaded the case of this state with the Centre for large-scale industries, and for engineering institutions, and today this state is well nigh on the road to rapid industrialisation. The main credit for all this goes to the indefatigable zeal of Guptaji in this noble cause.

His critics often charge him of forming groups and blocs within the rank and file of the Congressmen. But such a charge appears ridiculous to one who knows Guptaji and his transparent character. He cannot compromise with fundamentals and principles which he holds dear, even if that may lead to estrangement from his colleagues. He is not that malleable metal to change shape or form at every pressure. With love and charity for the meek and poor as the spring-board for his schemes, he has well defined programmes brooking no interference or deviations. Naturally, some of the fickleminded among the party bowing to every gust of politics, can have no easy sailing with this iron-man. This explains the baseless charge often levelled against him.

A unique example of selfless and dedicated service, unassuming manner, a veteran politician, a devoted social worker, a great organizer, a worthy son of India and one of the architects of modern U.P., Shri C.B. Gupta is indispensable to Uttar Pradesh in particular and India in general. He has developed fitness of body, clarity of mind and serenity of spirit to face successfully many challenges thrown on him. His faith in Karmayoga, his constant endeavour to improve lot of the common man merit our admiration. His name will be ever remembered with gratitude by our countrymen for the remarkable work done by him for the political, educational and social advancement of the people in a spirit of disinterested selfless service and complete dedication. The seed which he planted under the able leadership and guidance of Late Pt. G. B. Pant has grown into a big banyan tree which will continue to remind people of his unique personality for many a century. May he continue to inspire us by his noble presence in our midst for many more years. May he live the vedic age of hundred. On the auspicious occasion of his 65th birthday I offer my respectful felicitations to this veteran patriot statesman.

जीवन-परिचय

अलीगढ़ जिले की अतरौली तहसील में बिजौली नामक ग्राम में शताब्दियों से एक वैश्य परिवार निवास करता था। श्री चन्द्रभानु गुप्तजी का जन्म इसी परिवार में १४ जुलाई, १९०२ ई० को रात्रि के समय हुआ था। गुप्तजी के पिताजी का नाम हीरालालजी और माताजी का नाम कौशल्या देवी था।

उक्त वैश्य परिवार अपने गांव में गण्यमान्य, समृद्ध और बड़ा परिवार रहा है। श्री चन्द्रभानु गुप्तजी के परदादा तक का उपलब्ध वंशवृक्ष इस प्रकार है : (कृपया वंशवृक्ष अगले पृष्ठ पर देखने का कष्ट करें।)

गुप्तजी के परदादा के समय से ही उक्त परिवार में नील का व्यवसाय होता आया था। उनकी नील की कई कोठियां थीं। कोठियों के निकट अनेक कुंड बने थे जिनमें नील तैयार किया जाता था। यह व्यवसाय कभी बहुत लाभकर था, किन्तु कालान्तर में जर्मनी द्वारा कृत्रिम नील बना देने पर भारतीय नील व्यवसाय को बड़ा धक्का लगा। नील का व्यापार अलाभकर हो जाने के कारण परिवार के लोगों ने कपड़े का व्यापार आरम्भ किया। किन्तु गांव में कपड़े का नया व्यापार जम नहीं सका, फलस्वरूप परिवार की आर्थिक स्थिति डांवांडोल हो उठी और बालक चन्द्रभानु को बाल्यकाल में ही अभावों का सामना करना पड़ा।

हीरालालजी एक पौरुषवान, उद्यमी, स्वाभिमानी, दृढ़ निश्चयी और उदारमना व्यक्ति थे। वे अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए, इस बड़े परिवार की नौका खेते रहे। वे एक साधारण शिक्षित (सम्भवतः आठवीं कक्षा तक पढ़े) व्यक्ति थे किन्तु देशकाल की परिस्थिति और राष्ट्रीय स्वाभिमान के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। गांव के जमींदार सर मुज़म्मुल्ला खां थे जो हिन्दुओं को आतंकित किये रहते थे। हीरालालजी अन्याय का विरोध बड़ी दृढ़ता और स्पष्टता से करते थे। इसीलिये गांव के लोग उनका बड़ा आदर करते थे। उनसे एक बार उक्त जमींदार से किसी बात पर कहा सुनी हो गयी, जिसके फलस्वरूप वे गांव छोड़कर लखीमपुर चले आये और फिर वे वहां बहुत कम गये। गांव के किसान और मजदूर उन्हें अपना सच्चा समर्थक समझते थे। हिन्दू-समाज की अनेक कुप्रथाओं से भी उन्हें बड़ा असन्तोष था।

१९वीं शताब्दी का अन्तिम चरण हिन्दू-समाज के जातीय जागरण का युग था। इस शती के प्रथम चरण में सुसंगठित और प्रचारकुशल अंग्रेज जाति एवं ईसाई धर्म ने हिन्दू धर्म और संस्कृति को आक्रान्त करना आरम्भ किया था। इसके प्रतिरोध में शताब्दियों से शिथिल-सुषुप्त भारतीय प्रतिभा, राजा राम मोहन राय और केशव चन्द्र सेन के रूप में देदीप्यमान हो उठी थी। शताब्दी के अन्त तक तो स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामतीर्थ, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी आदि के रूप में वह शत-शत शिखाओं में दीप्त हो उठी। स्वामी दयानन्द सरस्वती की तेजस्विता से उद्दीप्त आर्य समाज ने हिन्दू जाति की तन्द्रा को झकझोर दिया। १९वीं शती के अन्तिम और २० वीं शती के आरम्भिक चरण के अनेक राष्ट्र नेताओं, कवियों, लेखकों और मनीषियों को इस सुधारवादी आन्दोलन ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है।

गुप्तजी का परिवार, उनके सगे सम्बन्धी इस युगीन प्रवाह से अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं। हीरालाल जी इस युग की मांग से परिचित थे। उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया था। इस समय (और आज आधी शताब्दी के बाद भी) गांव का वातावरण इस सुधार कार्य के कितना प्रतिकूल रहा होगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। किन्तु हीरालालजी अपने गांव में सर्वप्रथम एक विधवा-विवाह कराने में सफल हुए थे। ये कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो हीरालालजी के दृढ़ चरित्र और उच्च व्यक्तित्व का उद्घाटन करते हैं, जिनकी छाया में बालक चन्द्रभानु अपने शैशव की सीढ़ियां पार कर रहे थे। हीरालालजी गांव के 'पंच मुखिया' थे। अपनी ईमानदारी और स्पष्टवादिता के कारण ही वे इस पद के लिये चुने गये थे।

गुप्तजी के नाना जी दतावली गांव के जमींदार थे। इस परिवार पर आर्यसमाजी आन्दोलन ने गहरी छाप छोड़ी थी। गुप्तजी के मामा मुंशी किशन लालजी 'मुंशी' ने अलीगढ़ में वैदिक आश्रम की स्थापना की थी। यह आश्रम आज भी सक्रिय है। 'मुंशी' जी का प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयालजी से घनिष्ठ परिचय था। एक बार लाला हरदयाल की गिरफ्तारी के लिये खोज हो रही थी। वे फ़रार थे। पुलिस को 'मुंशी' जी के यहां उनके होने का सन्देह हुआ और

श्री चन्द्रभानु गुप्त वंश तालिका

- मेवा राम
  - शिव लाल
    - डॉ० प्यारेलाल
      - योगेन्द्र पाल
      - विपिन चन्द्र पाल
      - सुरेन्द्र पाल
      - नरेन्द्र पाल
    - डॉ० मिट्ठू लाल
      - सत्य पाल
      - धर्मेन्द्र पाल
  - राम लाल
    - माखन लाल
  - हीरा लाल
    - जवाहर लाल
      - वीरेन्द्र पाल
      - देवेन्द्र पाल
    - सन्नू लाल
      - ज्ञानेन्द्र पाल
    - रामचन्द्र
      - भूपेन्द्र कुमार
      - प्रवीण कुमार
      - जितेन्द्र कुमार
      - ज्ञानेन्द्र कुमार
      - सुधीर कुमार
    - चन्द्र भानु गुप्त
  - मुकुन्द लाल

वह एक दिन अचानक तलाशी लेने आ धमकी। संयोग की बात उस समय गुप्तजी अपनी मां के साथ ननिहाल गये हुए थे। उनकी अवस्था उस समय ८ वर्ष की रही होगी। पुलिस ने घर वालों को पड़ोस के घर में बन्द करके उनके घर की तलाशी ली। ब्रिटिश युग में भारतीय पुलिस की अभद्रता और कठोरता तो प्रसिद्ध ही रही है। जब पुलिस तलाशी लेकर चली गई तो घर की हालत देखने योग्य थी। स्थान-स्थान पर पुलिस ने दीवालें इसलिये तोड़ दी थीं कि कहीं कोई हथियार या गोपनीय सामान न रखा हो। पुलिस के इस व्यवहार की बालक चन्द्रभानु के मन पर बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। कालान्तर में अंग्रेजी-राज्य-विरोधी संगठनों और राष्ट्रीय जागरण के कार्यों में संलग्न होने का बीजारोपण उनमें यहीं हो चुका था।

गुप्तजी का विद्यारंभ घर पर ही उनके एक अध्यापक सम्बन्धी द्वारा कराया गया। उर्दू पढ़ाने के लिये एक मौलवी साहब भी आया करते थे। प्रारम्भिक कक्षायें उन्होंने घर पर ही पढ़ीं। बचपन में गांव के पास स्थित 'बड़े सराय' के स्कूल में पढ़ने जाते थे। उन्हें अब भी स्मरण है कि रास्ते में वेदा रायजी हलवाई की दूकान पड़ती थी। वेदा रायजी हीरालालजी के मित्र और पक्के आर्यसमाजी थे। वे बड़ी उत्साही और कर्मठ कार्यकर्त्ता थे। गांव में कुछ दिन पढ़ने के पश्चात् वे अपने चचेरे भाई डॉ० मिट्ठू लालजी के पास इस्लाम नगर चले आये और तीसरी कक्षा तक वहीं पढ़ते रहे।

चार भाइयों में सबसे छोटे होने के कारण गुप्तजी को अपने परिवार के लोगों का सर्वाधिक स्नेह प्राप्त हुआ था। बचपन में लाड़-प्यार के कारण उनके स्वभाव में कुछ हठीलापन आ गया था। उन्हें दूध पीना पसन्द नहीं था अतएव उन्हें चिढ़ाने के लिए उनकी भावजें और बड़े भाई सबके सामने दूध पीने को बाध्य करते थे जिससे उन्हें बड़ी झुंझलाहट होती थी। एक दिन संध्या समय इसी तमाशे का आयोजन किया गया। गुप्तजी इस बात से बहुत चिढ़ गये और रुष्ट होकर उन्होंने दूध पीना छोड़ दिया और फिर वर्षों दूध छुआ तक नहीं। यह हठ का स्वभाव सम्भवतः आगे राजनीतिक जीवन में किसी उचित बात पर दृढ़ता से जम जाने के रूप में विकसित हुआ जिसके कारण वे उत्तर-प्रदेश के 'लौह-पुरुष' कहलाये। बचपन में वे स्वभाव से बड़े लज्जाशील और जनभीरु भी थे। परिवार में किसी नवागन्तुक को देखकर छिप जाते थे और बड़ी कठिनाई से सामने आते थे। वह लज्जाशीलता, संकोच और शिष्टता के रूप में अब भी शेष है, वैसे राजनीति एवं लज्जा में सह-अस्तित्व कहां सम्भव है?

माता कौशल्या देवी अनेक भारतीय महिलाओं की भाँति धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। उनके मायके में पुरुष वर्ग आर्य-समाज से अवश्य प्रभावित था, किन्तु महिलायें सनातन धर्म की रक्षा से पीछे हटने वाली नहीं थीं। माँ गांव के मुसलमान आदि के छुए बर्तनों को आग पर रख कर शुद्ध कर लिया करती थीं। वे हीरालालजी को अनेक कठिनाइयों में प्रोत्साहन देतीं। आर्थिक कठिनाइयों में भी परिवार का सप्रेम पालन-पोषण करतीं और ईश्वर की अनुकम्पा पर अनवरत आस्था बनाये रखती थीं। सब से छोटा बच्चा होने के कारण गुप्तजी से उन्हें विशेष स्नेह था। पिता जब बच्चे की मनमानी या हठ पर रुष्ट हो जाते तो मां आड़े आ जाती थीं। आगे चलकर जब गुप्तजी पढ़ाई के साथ सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में अभिरुचि दिखाने लगे तो लड़के के 'बिगड़' जाने के भय से—क्योंकि यह मार्ग उन दिनों 'कृष्ण मन्दिर' की ओर जाता था—विशेष चिन्तित हुए और अप्रसन्न रहने लगे। पुत्र को सरकारी नौकरी मिले और वह घर गृहस्थी सम्भाले, ऐसी आकांक्षा उस युग में प्रायः सभी पिताओं को हुआ करती थी। किन्तु माता को पुत्र की सद्बुद्धि पर विश्वास था। वे कभी रुष्ट न होतीं और सदैव पुत्र का पक्ष लिया करती थीं।

लगभग १० वर्ष की अवस्था में गुप्तजी अपने चचेरे और मौसरे भाई डॉ० प्यारे लालजी के पास आये। डॉ० प्यारे लालजी लखीमपुर में जेल के डॉक्टर के पद पर प्रतिष्ठित थे। वे गुप्तजी पर अत्यधिक स्नेह रखते थे। मामा, माता, पिता आदि के अतिरिक्त डॉ० प्यारे लालजी का प्रभाव गुप्तजी के व्यक्तित्व पर अत्यन्त गहन रूप से पड़ा। डॉ० साहब कट्टर आर्य-समाजी, राष्ट्रवादी और कांग्रेसी विचारधारा से प्रभावित व्यक्ति थे। सरकारी नौकरी से उन्हें विरक्ति थी। एक बार स्थानान्तरण होने पर उन्हें इस बन्धन से मुक्ति का अवसर हाथ आया और उन्होंने नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। फिर वे आर्य समाज और कांग्रेस के कार्यों में खुलकर भाग लेने लगे। उनका डाक्टरी का व्यवसाय अच्छा चलता था। वे लखीमपुर में बड़े ही जनहितैषी एवं जनप्रिय डॉक्टर के रूप में प्रसिद्ध रहे।

गुप्तजी की माताजी ने डॉ० प्यारे लालजी का पुत्रवत् पालन-पोषण किया था, इसके लिए वे आजीवन आभारी रहे और गुप्तजी को कभी यह अनुभव ही नहीं होने दिया कि वे उनके सगे भाई नहीं हैं। गुप्तजी आज भी डॉ० साहब का स्मरण करते हुए भाव-विभोर हो जाते हैं।

सन् १९१२ ई० में गुप्तजी डॉ० प्यारेलाल के पास लखीमपुर आये थे। यहीं इनकी शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। चौथी कक्षा इन्होंने लखीमपुर के 'धर्म सभा' स्कूल से उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् पांचवीं से दसवीं कक्षा तक

इनकी शिक्षा वहीं के राजकीय हाई स्कूल में हुई। हाई स्कूल की परीक्षा का केन्द्र सीतापुर था। सन् १९१९ में वे इस परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

स्कूल-जीवन से ही गुप्तजी की खेलकूद में कोई विशेष अभिरुचि न थी। किन्तु वे हाकी और क्रिकेट के खेलों में भाग लेते रहे। ९वीं कक्षा से उन खेलों को भी छोड़ दिया था। वस्तुतः उन्होंने अपने खेल का जो मैदान उस समय चुना वह साधारण न था। इस मैदान में वे आज भी एक निपुण और सफल खिलाड़ी की भाँति अनवरत क्रीड़ारत हैं। स्कूल के सांस्कृतिक एवं सामाजिक कार्यों में भाग लेने में वे सदैव अग्रसर रहे। छठी कक्षा से वे आर्य कुमार सभा के सदस्य हो गये थे। इन्हीं दिनों स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अमेरिका से लौटकर आये थे। लोग उनकी सवारी स्टेशन से स्वयं खींच कर लाये थे। उसी समय वे परिव्राजकजी के सम्पर्क में आये थे। स्वामी जी डॉ० प्यारे लाल के आर्यसमाजी परिवार से विशेष स्नेह रखते थे और लखीमपुर आने पर वहीं ठहरा करते थे। वैसे गुप्तजी के शब्दों में "डॉ० साहब का घर संन्यासियों और आर्यसमाजियों का अड्डा था"— कोई-न-कोई संन्यासी डेरा डाले ही रहता था। एक स्वामी अनुभवानन्द जी भी प्रायः आया करते थे। वे एक उच्च कोटि के प्रसिद्ध सन्त थे।

इन्हीं दिनों आर्यसमाज के अन्तर्गत ही आर्यकुमार सभाओं की स्थापना हुई थी। इस सभा का अखिल भारतीय संगठन था। इस युवक संगठन के कुछ उद्देश्य एवं नियम थे। युवकों में देशप्रेम, वीरता, धर्म और हिन्दी भाषा के प्रति आदर भाव जाग्रत करना इस सभा का लक्ष्य था। सभा के सदस्य आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित तथा देश-काल की स्थिति से अवगत कराने वाली अन्य पत्र-पत्रिकाओं का पठन-पाठन किया करते थे। गुप्तजी छठी कक्षा से ही आर्य कुमार सभा का कार्य करने लगे थे। आठवीं कक्षा में पहुंचने पर वे उसके मंत्री हो गये। वे आर्य कुमार सभा का एक वाचनालय चलाते थे जिसमें कुछ खरीद कर और कुछ मांगकर अखबारों को एकत्र कर लिया करते थे। मुख्य समाचार पत्रों में पायोनियर, लीडर, तत्कालीन प्रकाशित एक हिन्दी पत्र अवधवासी, विश्वमित्र, वेंकटेश्वर समाचार आदि पत्र होते थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भव्य भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक सांस्कृतिक चेतना से पूर्ण था। वह कोरा राजनीतिक आन्दोलन न था। संसार के इतिहास में लगभग सभी महती क्रान्तियों के पूर्व महान् ग्रन्थों और लेखकों के माध्यम से एक वैचारिक क्रान्ति घटित होती है। भारतीय पुनर्जागरण में गीता, रामचरितमानस की भाँति 'सुजलाम् सुफलाम् मलयज-शीतलाम्' उद्घोषक बंकिमचन्द्र चटर्जी की प्रसिद्ध कृति 'आनन्दमठ' भी अनेक लोगों के लिये प्रेरणास्रोत सिद्ध हुई थी। यह पुस्तक क्रान्तिकारियों के लिये तो धर्म-ग्रन्थ सी थी। यह प्रसिद्ध ही है कि सुभाषचन्द्र बोस को भी इस ग्रन्थ से प्रेरणा मिली थी। बालक चन्द्रभानु जब आठवीं कक्षा में पढ़ रहे थे तभी 'आनन्दमठ' का अनुवाद उनके हाथ लगा और उसे पढ़कर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। उस समय उत्कट देश-प्रेम और दुस्साहसी जीवन के प्रति अनुराग की जो स्रोतस्विनी उनके जीवन में फूटी उसकी गति आगामी घटनाओं में परिलक्षित होती है। 'आनन्दमठ' उस समय जब्त पुस्तकों में से थी। गुप्तजी ने स्वयं इसका अध्ययन किया और छिपाकर आर्य कुमार सभा के सदस्यों को भी इसे पढ़ाते रहे।

अध्ययनेतर कार्यों में अधिक अभिरुचि लेने के कारण उनके अध्ययन में कोई बाधा आती रही हो ऐसी बात नहीं। वे कक्षा का कार्य बड़े मनोयोग से करते थे और कक्षा में प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियों में गिने जाते थे। उनके स्कूल के अध्यापकों में एक पंडित विश्वेश्वर दयालजी थे, जो बाद में प्रधानाध्यापक हो गये थे। वे गुप्तजी की विलक्षण प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे। गुप्तजी की प्रखर बुद्धि उनकी बातों को शब्दशः ग्रहण कर लेती और वे परीक्षा में वैसे ही लिख आते जिससे पंडितजी बड़े चमत्कृत होते। गुप्तजी अतीत पर दृष्टिपात करते हुए अब भी कहते हैं, "कभी मेरी याददाश्त बड़ी तेज थी पर अवस्था के साथ शायद अब वैसी नहीं रही।" किन्तु सैकड़ों व्यक्तियों और घटनाओं का यथावत् वर्णन सुनकर हमें उनकी स्मरणशक्ति आज भी आश्चर्यचकित कर देती है। कक्षा में उनकी उपस्थिति सर्वाधिक रहती थी, फलस्वरूप उन्हें पुरस्कार में एक 'टाइमपीस' मिली थी। दसवीं कक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त करना उनकी इस अध्ययनशीलता का ही परिणाम था।

१९१६ ई० में लखनऊ आगमन एवं तिलक महाराज के दर्शन—डॉ० प्यारे लालजी सपरिवार गुरुकुल, वृन्दावन द्वारा आयोजित आर्य समाज के जलसों में भाग लेने प्रतिवर्ष विभिन्न स्थानों में जाते थे। उन दिनों हरिद्वार, गुरुकुल और वृन्दावन में आर्यसमाज के बड़े-बड़े समारोह होते थे, जिनमें हजारों परिवार आया करते थे। १९१६ ई० में भी डॉ० साहब गुरुकुल गये थे। वहां से लौट कर वे लखनऊ के अधिवेशनों में भाग लेने आये। 'आनन्द मठ' के अध्ययन ने १५ वर्ष की आयु में ही रंग लाना शुरू किया। १९१६ ई० का लखनऊ अधिवेशन भारतीय राजनीति के रंगमंच पर एक महत्त्वपूर्ण दृश्य उपस्थित करता है। यह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। एक तो सूरत कांग्रेस में जो नरम और गरम दल बने थे वे यहां आकर मिल गये; दूसरे, कांग्रेस और मुस्लिम लीग का पैक्ट इसी अधिवेशन में हुआ, जिससे आगे कुछ वर्षों तक दोनों दलों ने सहयोग से कार्य किया। इसके अतिरिक्त उसी समय आर्यसमाज और राष्ट्रभाषा के सम्मेलन भी यहीं

हो रहे थे। फलस्वरूप बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, श्रीमती एनी बेसेन्ट और जिन्ना इत्यादि और नये नेता लखनऊ में एकत्र हो गये थे। कांग्रेस का यह बत्तीसवां अधिवेशन अम्बिकाचरण मजूमदार की अध्यक्षता में हुआ। पंडित जगतनारायण स्वागताध्यक्ष, पं० गोकरणनाथ मिश्र और समीउल्ला बेग प्रधानमंत्री थे। ए० पी० सेन वालंटियरों के हेड थे। गांधीजी लखनऊ के अजीत प्रसाद वकील (हैवेट रोड) के यहां ठहरे थे।

लखनऊ में अनेक नेताओं के आगमन का समाचार प्रदेश के सुदूर क्षेत्रों तक फैल गया था। लखीमपुर से डा० प्यारे लाल डेलीगेट के रूप में इस अधिवेशन में भाग लेने आये थे। बालक चन्द्रभानु भी लखनऊ आने के लिये आकुल थे, लेकिन इतनी भीड़-भाड़ में एक १५ वर्षीय छात्र का क्या काम। उन्हें साथ कौन लाता। परन्तु उन्होंने हार नहीं मानी। घर से पांच रुपये चुपचाप लिये और अपने तीन मित्रों के साथ लखनऊ आ पहुंचे। वे आर्यसमाज मन्दिर के पास एक मकान में ठहरे जो आर्यसमाजियों के ठहरने के लिये नियत था। फर्श पर पयाल बिछा था। ओढ़ने के लिये कम्बल उनके साथ ही था, बस यहीं गुप्त जी ठहर गये। बाल गंगाधर तिलक १९१४ ई० में दीर्घ कारावास से मुक्त हुए थे। उनके काम और नाम का जादू हिन्दुस्तान पर छा चुका था। वे लखनऊ आने वाले थे। चारबाग स्टेशन पर उन्हें गाड़ी से उतरना था। लखनऊ के अधिवेशन की स्वागत समिति में उदार दल वालों का बोलबाला था। वे तिलक महाराज को मोटर से ठहरने के स्थान पर चुपचाप ले जाने वाले थे, जुलूस आदि निकालने से गरम दल वालों के महत्त्व की वृद्धि की सम्भावना थी। अनेक युवक तिलकजी की सवारी धूमधाम से निकालने के पक्ष में थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी और काकोरी केस के शहीद राम प्रसाद 'बिस्मिल' युवकों का नेतृत्व कर रहे थे। उन्होंने तिलक महाराज की इस समय की सवारी निकालने का अपनी आत्म-कथा में बड़ा सजीव चित्रण किया है। वे कहते हैं, "स्पेशल आने पर लोकमान्य सबसे पहले उतरे। स्वागतकारिणी के सदस्यों ने कांग्रेस के स्वयंसेवकों का घेरा बनाकर लोकमान्य को मोटर में जा बिठाया। मैं तथा एम०ए० का एक विद्यार्थी मोटर के आगे लेट गये। सब कुछ समझाया गया, मगर हमने किसी की एक न सुनी। हम लोगों की देखादेखी और कई नवयुवक भी मोटर के सामने आकर बैठ गये। उस समय मेरे उत्साह का यह हाल था कि मुंह से बात न निकलती थी, केवल रोता था और कहता था, "मोटर मेरे ऊपर से निकाल ले जाओ"। स्वागतकारिणी के सदस्यों से कांग्रेस के प्रधान को ले जाने वाली गाड़ी मांगी। उन्होंने देना स्वीकार न किया। एक नवयुवक ने मोटर का टायर काट दिया। लोकमान्यजी बहुत कुछ समझाते लेकिन वहां सुनता कौन? एक किराये की गाड़ी से घोड़े खोलकर लोकमान्य के पैरों पर सिर रख कर उन्हें उसमें बिठाया और सबने मिलकर हाथों से गाड़ी खींचनी शुरू की। इस प्रकार लोकमान्य का इस धूमधाम से स्वागत हुआ कि किसी नेता की उतने जोरों से सवारी न निकाली गई। लोगों के उत्साह का यह हाल था कि कहते थे कि एक बार गाड़ी में हाथ लगा देने दो, जीवन सफल हो जाये। लोकमान्य पर फूलों की वर्षा की जा रही थी। जो फूल नीचे गिर जाते थे उन्हें उठाकर लोग पल्ले में बांध लेते थे। जिस स्थान पर लोकमान्य के पैर पड़ते वहां की धूल सबके माथे पर दिखाई देती। कई उस धूल को भी अपने रूमाल में बांध लेते थे।"[1]

ऐसे भाव-विभोर वातावरण में 'आनन्द मठ' का अध्येता एक तरुण कैसे न प्रभावित होता? लोकमान्य तिलक छेदी लाल की धर्मशाला में ठहरे थे। जिस समय वे स्टेशन रोड पर (आजकल जहां रवीन्द्रालय स्थित है) जा रहे थे, चन्द्रभानु गुप्त उनके सामने आये और उन्होंने उनके चरणों का स्पर्श किया। लोकमान्य का वरद हस्त उनके ऊपर उठ गया था। अर्द्ध शताब्दी बीत जाने पर भी गुप्तजी के मानस-पटल पर वह दृश्य स्पष्ट रूप से अंकित है और इस प्रसंग का वर्णन करते समय वे आज भी गद्‌गद् हो जाते हैं। लोकमान्य तिलक को वे 'तिलक महाराज' कहते हैं। पूज्य स्वजन सम्बन्धियों के अतिरिक्त गुप्तजी ने जीवन में केवल लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के चरण स्पर्श किये हैं। कांग्रेस अधिवेशन में वे नहीं जा सके क्योंकि वे उसके डेलीगेट नहीं थे। अतएव राष्ट्रभाषा अधिवेशन में उन्होंने यहीं सर्वप्रथम गांधीजी के दर्शन किये। गुप्तजी को अब भी स्पष्ट याद है कि गांधीजी पगड़ी बांधे हुए थे। श्रीमती एनी बेसेन्ट और गांधीजी ने हिन्दी के पक्ष में जोरदार भाषण दिये। आर्य कुमार सभा के डेलीगेट के रूप में उन्होंने आर्य समाज के सम्मेलन में भी भाग लिया। कुछ पैसों में भोजन कर, रात में फर्श पर कम्बल ओढ़ कर सोना और दिन में नेताओं के दर्शन करना, नवयुवक चन्द्रभानु गुप्त की यही दीवानगी थी। यह क्रम तीन दिन तक चला। इसके बाद वे डॉ० प्यारे लालजी के पास आ गये। फिर अधिवेशन समाप्त होने पर उन्हीं के साथ घर लौट कर आये।

कैनिंग कालेज में––१९१७ ई० में डॉ० प्यारेलालजी के छोटे भाई डॉ० मिट्ठू लालजी लखनऊ आये। उन्होंने ३९, अमीनाबाद में 'गुप्ता केमिस्ट' नाम की दुकान खोली। १९१९ ई० में श्री चन्द्रभानु गुप्तजी हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर कैनिंग कालेज की इन्टरमीडिएट कक्षा में दाखिल हुए। कैनिंग कालेज सन् १९२० में विश्वविद्यालय हो गया

---

१. भारत के क्रान्तिकारी––मन्मथनाथ गुप्त, पृष्ठ १२५–२६ पर 'बिस्मिल की आत्म कथा' से उद्धृत अंश।

था किन्तु इन्टरमीडिएट की पढ़ाई यहां १९२१ ई० तक होती रही। गुप्तजी यहीं भर्ती हो गये। पहले उन्होंने विज्ञान की कक्षा में नाम लिखवाया फिर आर्ट्स में चले आये। उन दिनों कैनिंग कालेज के प्रिन्सिपल एक अंग्रेज महाशय कैमेरन साहब थे। अधिकांश प्रधान अध्यापक अंग्रेज ही थे। दो ही छात्रावास थे। मेडिकल कालेज की स्थापना हो चुकी थी। इन्टर-मीडिएट की परीक्षा उन्होंने १९२१ ई० में द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। राजनीतिक कार्यों और विद्यार्थियों के नेतृत्व की अभिरुचि निरन्तर बढ़ती रही। खेल आदि में भाग लेने के लिये उन्हें समय नहीं मिल पाता था।

असहयोग-आन्दोलन में——१९२० ई० की नागपुर कांग्रेस में असहयोग का कार्यक्रम स्वीकृत हो चुका था। इसमें भारत के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। निर्बल, क्रोधपूर्ण और आग्रहपूर्वक प्रार्थनाओं के स्थान पर दायित्व और स्वावलम्बन की नयी भावना जाग्रत हो उठी।[१] १९२१ ई० में यह असहयोग आन्दोलन बड़े वेग से समस्त देश में फैला। कौन्सिल का बहिष्कार किया गया। अनेक वकीलों ने अपनी वकालत त्याग दी। राष्ट्रीय अदालतें स्थापित की गईं। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार भी बड़े व्यापक रूप से आरम्भ हुआ और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग चालू हुआ। गांधीजी ने खादी के प्रयोग पर अधिक बल दिया। गुप्तजी भी इस राष्ट्रीय आन्दोलन के सक्रिय सैनिक थे। उन्होंने तभी खद्दर धारण करने का व्रत लिया। राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में भी आशातीत सफलता मिली। विद्यार्थी सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार करने लगे। गांधीजी कलकत्ता गये और उन्होंने वहां एक राष्ट्रीय कॉलेज का उद्घाटन किया। पटना में उन्होंने 'बिहार विद्यापीठ' की स्थापना की। चार मास के भीतर ही तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, बंगाल राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ आदि अनेक बड़ी राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं और हजारों राष्ट्रीय स्कूलों की देश भर में स्थापना हो गयी। लखनऊ विश्वविद्यालय के कुछ युवकों ने भी विश्वविद्यालय छोड़ दिया। गुप्तजी ने कालेज शिक्षा का बहिष्कार प्रारम्भ किया परन्तु घर वालों के अत्यधिक आग्रह पर परीक्षा में बैठ गये और द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। किन्तु कुछ समय के पश्चात् गुप्तजी अपने घर वालों के आग्रह पर और अनेक साथियों के विश्वविद्यालय लौटने पर पुनः पढ़ने गये। बी० ए० की कक्षा के लिये विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गये।

सन् १९२१ ई० के इस असहयोग के समय उक्त अनेक राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं का उद्घाटन करते हुए गांधीजी लखनऊ पधारे और उन्होंने यहां भी राष्ट्रीय पाठशाला खोलने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक घर में एक हंडिया रख दी जानी चाहिए जिसमें लोग प्रतिदिन थोड़ा सा आटा डाल दिया करें। इस प्रकार प्रति मास एकत्रित आटे की बिक्री के द्वारा पाठशाला चलायी जाय। इस योजना को 'चुटकी भण्डार' की संज्ञा दी गयी। १९२२ ई० में तिलपुरवा मुहल्ले में राष्ट्रीय पाठशाला और चुटकी भण्डार की स्थापना हुई। यह कार्य बहुत साल तक सफलतापूर्वक चलता रहा। कालान्तर में जब राष्ट्रीय पाठशाला की अवस्था शोचनीय होने लगी तो श्री चन्द्रभानु गुप्त ने इसका संरक्षण किया। १९५२ ई० से वे इसके संरक्षक हैं। अब यह संस्था कन्या हायर सैकण्डरी स्कूल के रूप में कार्य कर रही है।

अहमदाबाद कांग्रेस में——अहमदाबाद कांग्रेस का अधिवेशन हकीम अजमल खां की अध्यक्षता में २७ दिसम्बर, १९२१ ई० को हुआ क्योंकि इस बार निर्वाचित सभापति चितरंजनदास तथा ३०,००० अन्य लोग जेल में थे। केवल कांग्रेस के अनेक महत्त्वपूर्ण कर्णधार अभी जेल के बाहर थे। इसका कारण यह था कि अंग्रेज सरकार गांधीजी के सुगठित असहयोग को देखकर डरती थी और उनके गिरफ्तार करने की प्रतीक्षा में थी। इस अधिवेशन की मुख्य विशेषता यह थी कि कांग्रेस के अन्य अधिवेशनों की भांति इसमें शानो-शौकत और बैठने के लिए कुर्सी-मेज का प्रयोग नहीं किया गया। गांधीजी कांग्रेस को अधिक से अधिक जनता के निकट लाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसी अधिवेशन में अंग्रेजी का बहिष्कार कर हिन्दी का प्रयोग किया गया। सभी कांग्रेसी खद्दर धारण कर आये थे। खद्दर के वस्त्र पहनने का इसी समय से एक समा बंध गया।

श्री चन्द्रभानु गुप्तजी तथा कुछ और साथी लखीमपुर से उक्त अधिवेशन में भाग लेने के लिये डेलीगेट चुने गये। वे लोग अहमदाबाद कांग्रेस में भाग लेने एक साथ गये। गुप्तजी के जीवन में यह पहला अवसर था, जब वे डेलीगेट के रूप में कांग्रेस के एक महाधिवेशन में भाग ले रहे थे। उनकी राजनीतिक चेतना, कांग्रेस के कार्यों की सक्रियता और उत्साह उन्हें अहमदाबाद खींच लाया, जहां उन्होंने कांग्रेस के समस्त कार्यों को प्रथम बार निकट से देखा। जिस अधिवेशन का निर्वाचित सभापति जेल में हो, उसके प्रति अंग्रेज सरकार की क्या दमनकारी नीति रही होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। ऐसे समय में इतनी दूर कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिये यात्रा करना एक साहस और उत्कट लगन की बात ही कही जायेगी।

इन्टरमीडिएट के बाद——जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है १९२१ ई० में गुप्तजी ने इन्टरमीडिएट की परीक्षा

१. संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास : डॉ० बी० पट्टाभि सीतारमैया, पृ० ११७।

द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। वे विश्वविद्यालय में ही बी० ए० की कक्षा में प्रविष्ट हो गये और १६२३ ई० में द्वितीय श्रेणी में बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसके पश्चात् उन्होंने १६२५ ई० में राजनीति-विषय से एम० ए० पास किया और उसके साथ ही एल०एल० बी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। उन दिनों दोनों परीक्षायें एक साथ दी जा सकती थीं। राजनीति और इतिहास के विषय सम्मिलित रूप से पढ़ाये जाते थे। उनके विश्वविद्यालय जीवन की कुछ घटनायें एवं अध्यापकों आदि के संस्मरण उल्लेखनीय हैं।

छात्रों में राजनीतिक एवं राष्ट्रीय चेतना उद्दीप्त करने के लिये वे सदैव प्रयत्नशील रहते थे। चाहे निर्वाचन हो या छात्रों पर किसी अनाचार का विरोध अथवा विद्यार्थियों की मांगें अधिकारियों के सामने रखने में वे सदैव प्रथम पंक्ति में दिखाई पड़ते। उन दिनों विश्वविद्यालय यूनियन अधिक जनप्रिय न थी क्योंकि उसका अध्यक्ष कोई अध्यापक होता था, जिसकी नियुक्ति उपकुलपति करता था। इसके विपरीत उन दिनों 'एथलेटिक एसोसिएशन' का चुनाव अधिक जनप्रिय था। एक बार गुप्तजी ने श्री टी० पी० भल्ला (भूतपूर्व आई० जी० पुलिस, उत्तर प्रदेश एवं वर्तमान विश्वविद्यालय कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य) की जो उक्त एसोसियेशन के मंत्री पद का चुनाव लड़ रहे थे, सहायता की और श्री भल्ला मंत्री चुने गये। वे स्वयं 'ला सोसाइटी' की ओर से यूनियन के प्रतिनिधि चुने गये थे।

जैसा कि कहा जा चुका है, विश्वविद्यालय यूनियन का अध्यक्ष उन दिनों कोई अध्यापक हुआ करता था, जिसकी नियुक्ति उपकुलपति द्वारा की जाती थी। डॉ० भाल साहब यूनियन के अध्यक्ष थे। वे अध्ययन के सम्बन्ध में इंगलैंड हो आये थे और वहां विद्यार्थी यूनियन के अध्यक्ष रह चुके थे। अतएव उनके इस अनुभव के कारण उन्हें विशेषरूप से लखनऊ विश्वविद्यालय का अध्यक्ष बनाया गया। राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित या छात्र संगठनों में सक्रिय भाग लेने वाले छात्रों से वे प्रसन्न नहीं रहते थे। इसी कारण वे गुप्तजी से भी अप्रसन्न थे, परन्तु गुप्तजी उनका सदैव सम्मान करते रहे। एक बार बैनेट-हाल (अब मालवीय हाल) में छात्रों द्वारा श्री भाल साहब को अपमानित भी होना पड़ा था। भाल साहब अपने विषय के अच्छे विद्वान माने जाते थे। अतएव जब भाल साहब अभी लगभग एक दशक पूर्व अवकाश प्राप्त हुए तो गुप्तजी ने प्रयत्न करके विश्वविद्यालय कार्यकारिणी समिति द्वारा उन्हें विशिष्ट (Emeritus) प्रोफेसर बनवा दिया था जबकि विश्वविद्यालय के अनेक अध्यापक और कार्यकारिणी के सदस्य उनका विरोध कर रहे थे। यह बात इस बात का एक ज्वलन्त प्रमाण है कि जो अध्यापक छात्र-जीवन से लेकर बाद तक गुप्तजी के विरोधी रहे, गुप्तजी की सदाशयता ने उनका हित करने के लिए कुछ उठा न रखा। गुप्तजी व्यक्तिगत सम्बन्ध की अपेक्षा औचित्य को सदैव महत्त्व देते रहे हैं। जैसा कि विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में उनके द्वारा किये गये कार्यों के विवरण में हम देखेंगे कि इस सरस्वती के मन्दिर में विद्वान, सच्चरित्र और आदर्श अध्यापकों को हमेशा प्रतिष्ठित एवं सम्मानित कर उन्होंने एक स्वस्थ्य परम्परा का निर्वाह किया है।

एलएल० बी० की परीक्षा में एक छात्र द्वारा समय पूछने पर किसी निरीक्षक ने उसकी रिपोर्ट रजिस्ट्रार के यहां कर दी और वह विद्यार्थी विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया। छात्रों की संगठन-शक्ति के लिये यह बड़ी चुनौती थी। सैकड़ों छात्रों का जुलूस रजिस्ट्रार आफिस गया। उन दिनों श्री आर० आर० खन्ना रजिस्ट्रार थे। छात्रों का आक्रोश देखकर वे छिप गये। यूनियन में गुप्तजी सहित पांच-छः छात्रों को विश्वविद्यालय से निकालने के लिये विश्वविद्यालय कार्यकारिणी परिषद् की बैठक उसी शाम को बुलायी गयी। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रस्ताव पास न हो सका तो समस्त विधि संकाय के छात्रों पर २०० रुपया जुर्माना कर दिया गया। चक साहब विधि संकाय के अधिष्ठाता थे। उन्होंने तथा अन्य अध्यापकों ने जुर्माना स्वयं अदा कर दिया और छात्रों को नहीं देना पड़ा। किसी छात्र पर अन्याय किये जाने पर विरोध करने के लिये और अपनी उचित मांग के लिये श्री चन्द्रभानु गुप्त अग्रिम मोर्चे पर दिखाई पड़ते थे। विश्वविद्यालय जीवन में गुप्तजी इसी कारण एक लोकप्रिय और प्रभावशाली छात्र माने जाते थे। बल-प्रयोग और अन्याय इन दोनों का विरोध उनके जीवन-दर्शन का अभिन्न अंग है। हम अनेक घटनाओं के आधार पर देखेंगे कि जहां भी अनौचित्य के द्वारा उन्हें झुकाने का प्रयत्न किया गया या कहीं भी उन्होंने अन्याय देखा वहीं वे लौह स्तम्भ की भांति दृढ़ हो गये। चाहे बचपन में जबरदस्तीं दूध पिलाये जाने की छोटी सी घटना हो अथवा छात्रजीवन में रजिस्ट्रार का अत्याचार, या वकालत में किसी जज के द्वारा की गई पक्षपात की बात हो, अथवा राजनीतिक जीवन में अंग्रेजों का दमन हो और स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संकुचित दृष्टिकोण पर आधारित गुटबन्दियां हों, सबके समक्ष गुप्तजी की निर्भयतापूर्ण चुनौतियां हमें दिखाई पड़ेंगी।

राष्ट्रीय आन्दोलनों और छात्रहित के कार्यों के अतिरिक्त गुप्तजी को अध्ययन कार्य में भी विशेष अभिरुचि थी। वे निरन्तर शाम को पुस्तकालय जाया करते थे। पब्लिक लाइब्रेरी उन दिनों पुराने संग्रहालय के भवन में (छतर मंजिल के निकट) थी। गुप्तजी जब इन्टरमीडिएट के विद्यार्थी थे, तभी उन्होंने १९१९ ई० में एक बी० एस० ए०

बाइसिकिल खरीदी थी। यह बाइसिकल काफी समय तक उनकी संगिनी रही। इसी से वे विश्वविद्यालय, पुस्तकालय आदि आया जाया करते थे।

विश्वविद्यालय में गुप्तजी के उल्लेखनीय अध्यापकों में प्रिंस मेनन, प्रो० बी० एस० राम और प्रो० स्मिथ थे। एल-एल० बी० की कक्षाओं में अनेक ऐडवोकेट पढ़ाने आया करते थे। इनमें से डा० जयकरणनाथ मिश्र, श्री कृपा शंकर हजेला, श्री हैदर हुसैन, श्री गुलाम हुसैन (कालान्तर में सुप्रीम कोर्ट के जज)। श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र (बाद में हाई कोर्ट के चीफ जस्टिस) आदि का नाम उल्लेखनीय है।

उन दिनों खद्दर पहनना, राष्ट्रीय एवं सामाजिक उद्धार सम्बन्धी आन्दोलनों तथा संस्थाओं में अभिरुचि रखना विश्वविद्यालयों के अधिकारियों और सरकारी अफसरों की दृष्टि में विद्यार्थी का सबसे बड़ा 'दुर्गुण' माना जाता था, किन्तु गुप्तजी ने इसकी कभी चिन्ता नहीं की। साथ के अनेक पुस्तक-कीट विद्यार्थी जब अध्ययन में लगकर अंग्रेजी सरकार में कोई उच्च पद पाने का स्वप्न देखा करते थे, गुप्तजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर रखा था। एक बार अमीनाबाद में घूमते समय प्रोफैसर हजेला से बातचीत में उन्होंने कहा था कि "लोग पढ़ लिखकर आई० सी० एस० बनना चाहते हैं किन्तु हमें तो सरकारी नौकरी करनी नहीं है, हम तो गृह-मंत्री बनगे।" बात आयी-गयी हो गई। समय आने पर उनकी आकांक्षा चरितार्थ हुई और गृहमंत्री ही नहीं वे उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री बने। प्रो० हजेला को उक्त घटना याद थी। हाल में उन्होंने एक भाषण में छात्र के रूप में कही गयी, गुप्तजी की उक्त बात का जिक्र किया था।

काकोरी-काण्ड—१९२५ ई० में एम० ए० एल-एल० बी० परीक्षायें उत्तीर्ण करने के पश्चात् गुप्तजी एल एल० एम० करने की सोच रहे थे। वे सरकारी नौकरी तो करना नहीं चाहते थे। वकालत करने का भी अभी कोई निश्चय नहीं था किन्तु समय का प्रवाह उन्हें तत्काल वकालत में खींच लाया। बात यह हुई कि उन्हीं दिनों ९ अगस्त, १९२५ ई० को भारत-प्रसिद्ध काकोरी-ट्रेन डकैती काण्ड हुआ। उक्त घटना एक व्यापक राष्ट्रीय महत्त्व की चर्चा का विषय बन गई। इसका संक्षिप्त परिचय दे देना यहां अप्रासंगिक न होगा।

पुराने क्रान्तिकारियों ने बड़े धैर्य के साथ शान्तिपूर्वक १९२१ ई० के असहयोग आन्दोलन को एक प्रयोग के रूप में देखा था। कुछ क्रान्तिकारियों ने उसमें भाग भी लिया था, पर जब आन्दोलन वापस ले लिया गया, तो क्रान्तिकारी फिर क्रान्ति-संगठन में लग गये। उत्तर भारत में शचीन्द्र नाथ सान्याल के नेतृत्व में फिर से क्रान्तिकारी दल अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ। शचीन्द्र बाबू को सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य, राजेन्द्र नाथ लहरी, राम प्रसाद बिस्मिल, विष्णु शरण दुबलिस, योगेन्द्रचन्द्र चटर्जी का सहयोग प्राप्त हुआ।[1] क्रान्तिकारियों का अखिल भारतीय संगठन था। दल की एक केन्द्रीय परिषद् थी जिसमें सारे निर्णय लिये जाते थे। उत्तर प्रदेश की इसकी शाखा का नाम 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन' रखा गया।[2] राम प्रसाद इस दल में अपने साथी अशफाकउल्लाह खां, रोशन सिंह आदि के साथ आये थे। उन्हें अस्त्र-शस्त्र खरीदने, चलाने, छिपाने तथा डकैतियां डालने का अच्छा अनुभव था। इस कारण वे जल्दी ही दल के हिंसा-विभाग के नेता बन गये। डकैतियां डालना इसलिये जरूरी था कि दल को धन चाहिये था, पर्चे छपाने, अस्त्र-शस्त्र, भोजन-वस्त्र और किराये आदि के लिये पैसे चाहिये थे।[3]

क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने के लिये इस दल के लोग सरकारी खजाने की लूट भी अनुचित न समझते थे। इस कार्य के लिये पार्टी के दस सदस्यों को चुना गया। उनके नाम इस प्रकार थे :—

१. राजेन्द्र नाथ लहरी
२. अशफाकउल्लाह खां
३. शचीन्द्र नाथ बख्शी
४. चन्द्रशेखर आजाद
५. राम प्रसाद बिस्मिल
६. केशव चक्रवर्ती
७. मुकुन्दी लाल

---

१. राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, मन्मथनाथ गुप्त, पृ० ३३६।
२. भारत के क्रान्तिकारी, मन्मथनाथ गुप्त, पृ० १३० व १३१।
३. भारत के क्रान्तिकारी, मन्मथनाथ गुप्त, पृ० १३०–१३१।

८. बनारसी लाल

९. मन्मथ नाथ गुप्त

१०. रोशन सिंह

ये लोग सहारनपुर से लखनऊ आने वाली गाड़ी पर सरकारी खजाने को लूटने की योजना बनाकर ९ अगस्त, १९२५ ई० की शाम को शाहजहांपुर से ८ डाउन पैसेन्जर ट्रेन पर सवार हुए। राजेन्द्र नाथ लहरी दल का नेतृत्व कर रहे थे। वे अशफाकउल्लाह खां तथा शचीन्द्र नाथ बख्शी द्वितीय श्रेणी में तथा शेष लोग तृतीय श्रेणी में बैठे। द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में बैठने का कारण यह था कि कभी-कभी तृतीय श्रेणी में जंजीर ही खराब रहती है। काकोरी से आलमनगर स्टेशन की ओर गाड़ी बढ़ने पर द्वितीय श्रेणी के डिब्बे से उसकी जंजीर खींच ली गयी। यात्रियों को सावधान कर दिया गया कि नीचे न उतरें। दो व्यक्ति थोड़ी-थोड़ी देर पर लोगों को डराने के लिये पिस्तौल से गोलियां चलाते रहे। खजाने का सन्दूक तोड़कर उसे लूट लिया गया। उस गाड़ी में चौदह व्यक्ति ऐसे थे, जिनके पास बन्दूकें थीं। दो अंग्रेज सशस्त्र फौजी जवान भी थे। पर सब शान्त रहे। ड्राइवर तथा इंजीनियर दोनों का बुरा हाल था। दोनों अंग्रेज थे। ड्राइवर तो इंजन में लेटा रहा तथा इंजीनियर महाशय शौचालय में जा छिपे।[1] इस प्रकार दस जवान इतनी सफलतापूर्वक खजाना लूट कर चलते बने और कोई चूं न कर सका। इससे न केवल क्रान्तिकारियों का साहस बढ़ा बल्कि सरकारी कर्मचारी अत्यन्त आतंकित हो गये और अंग्रेज सरकार के लिये यह घटना एक बहुत बड़ी चुनौती बन गई।

इस सम्बन्ध में शाहजहांपुर, कानपुर, बनारस, इलाहाबाद, आदि कई स्थानों पर चालीस से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया गया। डकैती में भाग लेने वाला एक व्यक्ति बनारसी लाल मुखबिर बन गया। अनेक संदिग्ध व्यक्तियों को भी गिरफ्तार कर लिया गया था। योगेशचन्द्र चटर्जी को सन् १९२४ ई० में गिरफ्तार किया जा चुका था। वे इसके पूर्व बनारस में क्रान्तिकारियों के सहयोग से कार्य कर रहे थे। अतएव काकोरी षड्यन्त्र में उन्हें भी शामिल कर लिया गया। २१ अक्तूबर, १९२५ ई० को काकोरी-षड्यन्त्र के अभियुक्तों का मुकदमा, लखनऊ में सैय्यद ऐनुद्दीन स्पेशल मजिस्ट्रेट की अदालत में आरम्भ हुआ। इसमें सबसे पहले सरकारी गवाह बनारसी लाल और इन्द्रभूषण के बयान हुए। फिर पुलिस ने २५० गवाह पेश किये। अशफाक और शचीन्द्र नाथ बाद में गिरफ्तार किये जा सके और उन पर मुकदमा चला। १६ अक्तूबर, १९२६ ई० को स्पेशल मजिस्ट्रेट ने २१ अभियुक्तों को सेशन सुपुर्द किया। ६ अप्रैल सन् १९२७ ई० को मिस्टर हिमलटन, स्पेशल सेशन जज ने धारा १२१ए, १२० बी, ३९६, ३०२ आई० पी० सी० के अन्तर्गत अभियुक्तों को सजायें दीं। इनमें जो सजायें हुईं वे इस प्रकार हैं :—

१. पं० राम प्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लहरी और रोशन सिंह को फांसी की सजा हुई।

२. शचीन्द्र नाथ सान्याल—कालापानी ।

३. मन्मथ नाथ गुप्त—१४ वर्ष का कारावास।

४. योगेश चन्द्र चटर्जी, मुकुन्दी लाल, गोविन्द चरण कर, राजकुमार, सिंह, राम कृष्ण खत्री—प्रत्येक को १० वर्ष का कारावास।

५. श्री विष्णु शरण दुबलिस , सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य—प्रत्येक को ७ वर्ष का कारावास इत्यादि।

बाद में सरकारी अपील पर कुछ लोगों की सजायें बढ़ा दी गयीं, जिनमें योगेश चन्द्र चटर्जी की सजा बढ़ कर कालापानी की हो गई। अनेक अपीलें करने के पश्चात् भी कुछ नहीं हो सका और दिसम्बर, १९२७ ई० तक सभी अभियुक्तों को सजायें दे दी गयीं।

लगभग १८ महीने तक चलने वाले मुकदमे में सरकार ने लोगों को दण्ड दिलाने के लिये कुछ भी उठा नहीं रखा। सरकारी वकील पं० जगतनारायण मुल्ला थे, जिन्हें पैरवी के लिये प्रति दिन ५०० रुपये मिलते थे। इस मुकदमे में सरकार के कुल १५ लाख रुपये के लगभग व्यय हुए थे।[2] अभियुक्तों के लिये वकील मिलना कोई सरल काम न था। सरकार के विरुद्ध क्रान्तिकारियों की वकालत कर कौन जोखिम मोल लेता। लखनऊ में सैकड़ों नामी गरामी ऐडवोकेट और वकील थे, किन्तु कोई सामने नहीं आ रहा था। ऐसे समय में राष्ट्रीय विचारधारा वाले व्यक्ति मैदान में उतरे।

अभियुक्तों की सफाई के लिये एक राष्ट्रीय समिति बनाई गई जिसके संरक्षक श्री मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहर लाल नेहरू तथा गणेश शंकर विद्यार्थी और शिवप्रसाद गुप्त इत्यादि सदस्य थे। अभियुक्तों की ओर से पैरवी करने वाले वकील गोविन्द वल्लभ पन्त, कलकत्ता के बैरिस्टर बी० के० चौधरी, श्री चन्द्रभानु गुप्त और मोहन लाल सक्सेना थे। यदि परि-

१. भारत के क्रान्तिकारी, मन्मथनाथ गुप्त, पृ० १३३

२. राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, मन्मथनाथ गुप्त, पृ० ३३६।

स्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण करें तो हमें ज्ञात होगा कि काकोरी-काण्ड के अभियुक्तों की वकालत के लिये आगे आना कोई साधारण बात न थी। एक तो इन अभियुक्तों की पैरवी में कुछ आर्थिक आय नहीं होनी थी, दूसरे सरकारी दमन और शत्रुतापूर्ण रवैये के कारण वकीलों का सामने आने का साहस नहीं हो रहा था। इसके अतिरिक्त गुप्तजी का क्रान्तिकारियों के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। लाला हरदयाल से परिचित और आर्यसमाज से प्रभावित वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ था। 'आनन्द मठ' के अध्ययन में अभिरुचि, तिलक महाराज के दर्शन की आतुरता और गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे कर्मठ सामाजिक कार्यकर्त्ता से घनिष्ठता इसके प्रमाण के लिये पर्याप्त हैं। गुप्त जी ने जिस तत्परता से इस मुकदमे में कार्य किया उससे लोगों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो गया। योगेशचन्द्र चटर्जी के शब्दों में, "काकोरी-केस की पैरवी के कारण नव युवक वकील गुप्तजी एकाएक प्रख्यात हो गये। सभी राष्ट्रीय विचारधारा के व्यक्ति उन्हें सम्मान से देखने लगे।" अभी गुप्तजी की अवस्था २३ व २४ वर्ष से अधिक न थी। अतएव इस आयु में यह एक बड़ी उपलब्धि थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे इसी ख्याति के कारण वे मेरठ-षड्यंत्र-कांड में भी पैरवी करने के लिये भेजे गये थे।

काकोरी-कांड में जो लोग सम्मिलित थे उनको और जो नहीं सम्मिलित थे उन्हें भी इतनी कठिन सजायें देकर अंग्रेजी सरकार ने एक आतंकपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर दिया। इसके अतिरिक्त उन दिनों सत्याग्रही राजनीति को भी अपने जीवन का कार्यक्षेत्र चुनने में 'सर फरोशी की तमन्ना' का गीत गाना पड़ता था। क्योंकि सभी जानते थे कि दुर्घर्ष अंग्रेजी साम्राज्य की छाया में 'होम रूल' के कागजी शासन में मिलने वाला मंत्रिपद नकली और जेल की कोठरी ही असली है। स्वतन्त्रता एक मृग-मरीचिका थी जिसकी प्राप्ति तो उस समय असम्भव थी, केवल यदा-कदा उसकी झलक मिल जाती थी। अतएव उन दिनों जो लोग राष्ट्रीय आन्दोलनों में यथाशीघ्र कुछ प्राप्ति की आशा लेकर उसमें प्रविष्ट होते थे, वे थोड़े दिन में हारकर बैठ जाते थे या निराशावादी होकर टूट जाते थे। परन्तु गुप्तजी बराबर दत्तचित्त होकर राष्ट्रीय कार्यों में लगे रहे जब चारों ओर दमन, आतंक और निराशा की घटायें, भारतीय भाग्याकाश पर छायी हुई थीं। काकोरी कांड के शहीदों का आवाहन सबसे प्रबल सिद्ध हुआ और गुप्तजी दूने उत्साह से अपने लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हुए।

सर्वदलीय सम्मेलन (आल इण्डिया पार्टीज कान्फ्रेंस)——पं० मोती लाल नेहरू ने 'सेक्रेटरी आफ स्टेट्स' के इस व्यंग्य पर कि कांग्रेसी नेताओं की बात भारत में सब लोग मानते ही कहां हैं – एक कमेटी बनाकर संविधान के लिये रिपोर्ट तैयार की। २८ से ३१ अगस्त १९२८ ई० तक लखनऊ में एक 'सर्वदलीय सम्मेलन' बुलाया गया। इसमें निम्नांकित कुल १८ दल सम्मिलित हुए थे :

१. ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग।
२. ऑल इण्डिया लेबरल फेड्रेशन।
३. ऑल इण्डिया कान्फ्रेंस ऑफ इण्डियन क्रिश्चियन्स।
४. ऑल इण्डिया पीपुल प्रजा पार्टी
५. इण्डियन एसोसियेशन ऑफ कलकत्ता।
६. एसेम्बली नेशनलिस्ट पार्टी ।
७. सेन्ट्रल खिलाफत कमेटी।
८. सेन्ट्रल सिख लीग।
९. हिन्दू महासभा।
१०. होम रूल लीग।
११. एसेम्बली कांग्रेस पार्टी।
१२. ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन ऑफ अवध।
१३. दक्षिण सभा।
१४. जमीयत-उल-उलमा।
१५. महाराष्ट्र चेम्बर आफ कामर्स।
१६. सिंध नेशनल लीग।
१७. प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी।
१८. स्वाधीन भारत।

सम्मेलन के अध्यक्ष डॉ० एम० ए० अन्सारी थे। इसकी कार्यवाही २८ अगस्त को दोपहर से कैसरबाग बारादरी में आरम्भ हुई। महाराजा महमूदाबाद ने स्वागत भाषण दिया। नेहरू-रिपोर्ट पढ़ी गयी तथा पं० मदन मोहन मालवीय ने

औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की। २९ अगस्त की कार्यवाही में सुभाषचन्द्र बोस आदि ने पूर्ण स्वराज्य की मांग की, किन्तु यह प्रस्ताव नहीं स्वीकृत हुआ। ३१ अगस्त को सम्मेलन समाप्त हुआ। सम्मेलन में भाग लेने वाले दलों की संख्या और बहुविधि प्रस्तावों से उसके महत्त्व का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इस सम्मेलन के प्रबन्ध-कार्य को सम्भालने के लिये एक स्वयं-सेवकों का जत्था नियुक्त किया गया था। इसके कप्तान श्री चन्द्रभानु गुप्तजी थे। इस प्रकार अखिल भारतीय स्तर पर होने वाले सम्मेलनों में उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों को सम्भाल कर, वे अपनी संगठन-शक्ति एवं कार्यक्षमता का परिचय देने लगे थे। श्री सुरथ बहादुर साह सदस्य, कार्यकारिणी परिषद्, लखनऊ विश्वविद्यालय और श्री ए० एल० लुम्बा (रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) उनके नेतृत्व में स्वयंसेवक के रूप में कार्य कर रहे थे।

साइमन कमीशन का आगमन—१९२७ ई० में ब्रिटिश सरकार ने सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन बनाने का निर्णय किया, जिसका उद्देश्य इस बात पर विचार करना था कि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य किस अंश तक दिया जा सकता है। स्पष्ट था कि उक्त कमीशन एक प्रवंचना थी। उससे भारत को मिलना-मिलाना कुछ था नहीं। फलस्वरूप कांग्रेस के आवाहन पर समस्त देश एक स्वर से साइमन कमीशन के विरोध में खड़ा हो गया। परन्तु इस समय भी अंग्रजी सरकार के हिमायती ऐसे लोग थे जो कमीशन का समर्थन कर रहे थे, इनमें एक सज्जन सर शफात अहमद खां थे, जिन्होंने 'लीडर' पत्र में कमीशन के पक्ष में लिखा। बाद में यही सज्जन नेहरूजी की कृपादृष्टि होने पर स्वतन्त्रता से पूर्व ही कांग्रेस-सरकार में सम्मिलित कर लिये गये थे। श्री चन्द्रभानु गुप्त जी ने इस समय बौद्धिक मोर्चे पर भी जमकर कार्य किया। उन्होंने 'लीडर' में कई लेख लिखे जिसमें श्री शफात अहमद खां के तर्कों का खडन कर कमीशन का जोरदार विरोध किया गया था। ३ फरवरी १९२८ ई० को यह कमीशन जब बम्बई में उतरा तो समस्त देश में हड़ताल रही। इसके पश्चात् 'साइमन कमीशन' जहां भी गया, उसका स्वागत हड़ताल और 'गो-बैक' (वापस जाओ) के नारों से किया गया। अपनी असफलता देखकर यह कमीशन लौट गया और ११ अक्तूबर, १९२८ ई० को पुनः भारत आया। इस बार इसके लखनऊ आगमन की भी योजना थी। नवम्बर के अन्त में यह कमीशन लखनऊ पहुंचने वाला था अतएव उसके बहिष्कार कीय हां तैयारियां आरम्भ हो गयी। कमीशन के विरोध के सम्बन्ध में लखनऊ में कांग्रेस दल के भीतर काफी वादविवाद हुआ। गुप्त जी कमीशन के बहिष्कार में जुलूस निकालने का समर्थन कर रहे थे। बाबू मोहन लाल सक्सेना और पं० बाल मुकुन्द वाजपेयी भी इसी पक्ष में थे। दूसरी ओर श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव, खलीकुज्जमा और हरकरण नाथ मिश्र आदि जुलूस न निकालने की दलील दे रहे थे, परन्तु गुप्त जी की विजय हुई और कांग्रेस ने कमीशन के विरोध में जुलूस निकालने का निर्णय किया।

जुलूस एवं सभा की मनाही होने पर भी २६ नवम्बर को जुलूस निकाला गया जिस पर लाठी-चार्ज होने के कारण कुछ लोग घायल भी हुए। गुप्त जी इन जुलूसों और सभाओं के कार्यक्रमों में बड़ी सरगर्मी से कार्य कर रहे थे। २८ नवम्बर को लाजपत राय दिवस मनाने के लिये एक सभा अमीनुद्दौला पार्क और दूसरी नरही में बुलायी गयी थी। नरही की सभा समाप्त होने पर जब लोग नवल किशोर मार्ग से अमीनुद्दौला पार्क की ओर आ रहे थे तो पुलिस ने फिर लाठी चार्ज किया। इसमें पं० जवाहर लाल नेहरू तथा पं० गोविन्द वल्लभ पन्त पर भी दो डण्डे पड़े थे। अमीनाबाद की सभा भी तितर बितर कर दी गई। ३० नवम्बर को साइमन कमीशन के आगमन का विरोध करने के लिये लोग जुलूस बनाकर ७ बजे प्रातः ही चारबाग पहुंच गये। इस जुलूस में पं० जवाहर लाल नेहरू और पं० गोविन्द वल्लभ पन्त जी भी थे। श्री गुप्तजी भी इस जुलूस में सम्मिलित थे। इसमें महिलाओं ने भी भाग लिया था और श्रीमती मित्रा झण्डा लेकर उनके आगे चल रही थीं। पुलिस के रोकने पर जुलूस स्टेशन के कुछ ही दूर खड़ा हो गया। इसी बीच पुलिस की सहायता के लिये फौज भी आ गयी और लाठी-प्रहार हुआ। पुलिस अफसर टिपसन नाम का एक अंग्रेज था जो लाठी-चार्ज का आदेश दे रहा था। इसके बाद जुलूस के लोग टोलियां बनाकर कमीशन के मार्ग में खड़े होकर 'गो बैक' (वापस जाओ) का नारा लगाते रहे। गुप्तजी, यद्यपि कद छोटा होने के कारण चोट खाने से बच गये थे किन्तु निरन्तर मोर्चे पर डटे रहे थे। ६ फुट से भी अधिक लम्बे होने के कारण गोविन्द वल्लभ पन्त और लखनऊ के एक ओजस्वी कार्यकर्त्ता पं० रासबिहारी तिवारी पर अधिक लाठियां पड़ी थीं। दिन भर नगर में हड़ताल रही और शाम को इस प्रहार के विरुद्ध एक सभा की गई।

साइमन कमीशन के प्रति लोग निरन्तर आक्रोश व्यक्त करते रहे। इस सम्बन्ध में लोगों ने एक बड़ी रोचक युक्ति से काम लिया। जिस समय ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन आफ अवध की ओर से कैसरबाग के बटलर पार्क में भोज दिया जा रहा था बाबू मोहन लाल सक्सेना, श्री चन्द्रभानु गुप्त, श्री बालकराम वैश्य, श्री राजनारायण खन्ना तथा सं० हरिश्चन्द्र वाजपेयी ने एक कनकउआ उड़ाने की योजना बनायी। पतंग पर 'साइमन गो बैक' लिख दिया गया और वह पतंग पार्टी

के बीच जा गिरी। इस मजाक की नगर में काफी दिनों तक चर्चा रही। वाजपेयी जी इस सिलसिले में गिरफ्तार भी कर लिये गये थे। साइमन कमीशन के आगमन पर गुप्तजी ने विरोध के लिये जिस तत्परता से जुलूस और हड़ताल आदि के लिये कार्य किया उसकी प्रशंसा पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी की थी।

मेरठ-षड्यन्त्र--उन्हीं दिनों मजदूर आन्दोलन भी भारत में प्रबल रूप लेने लगा था। अनेक हड़तालें और जुलूस मजदूरों द्वारा आयोजित किये गये। बंगाल और बम्बई की हड़ताल में जिन लोगों ने भाग लिया था, उनसे सरकार अत्यन्त रुष्ट थी। हड़ताल के सम्बन्ध में अनेक मजदूर, साम्यवादी और मजदूर नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और उनके ऊपर चलाया गया मुकदमा मेरठ-षड्यन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मेरठ-षड्यन्त्र के अभियुक्तों की सहायतार्थ एक समिति बनी थी जिसमें पं० मोती लाल नेहरू, डॉ० एम० ए० अन्सारी और जवाहरलाल नेहरू इत्यादि थे, समिति के निर्देशानुसार श्री चागला (वर्त्तमान केन्द्रीय शिक्षा मंत्री), श्री वेलिन्कर, (बम्बई), श्री डी० पी० सिन्हा (बिहार) तथा गुप्तजी अभियुक्तों की पैरवी के लिये मेरठ गये। सरकार लोगों को सजा देने पर उतारू थी, अतएव प्रो० धर्मबीर सिंह (श्री महावीर त्यागी के भाई), डांगे, मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी इत्यादि को सजा हो गई। गुप्त जी का इन अभियुक्तों की पैरवी के लिए जाना इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि वे एक तो क्रान्तिकारियों के पैरवीकार के रूप में याद किये जाने लगे थे, दूसरे मजदूर और समाजवादी आन्दोलनों के प्रति उनमें गहरी अभिरुचि थी।

लखनऊ में नमक-सत्याग्रह और गुप्तजी की प्रथम जेल यात्रा--साइमन कमीशन की असफलता के बाद भी अंग्रेज सरकार के कानों पर जूं नहीं रेंगी। उसका दमन-चक्र और अधिक उग्र होता गया। कांग्रेस और भारतीय जनता पूर्ण स्वराज्य के अतिरिक्त और किसी बात पर समझौता नहीं चाहती थी। २६ जनवरी, १९३० ई० को समस्त देश में स्वतन्त्रता दिवस बड़ी धूमधाम से मनाया गया। लखनऊ भी इसमें पीछे नहीं रहा। देश में जोश और उत्साह का वातावरण था, किन्तु उसे प्रकट करने का कोई समुचित मार्ग सामने नहीं था। गांधीजी ने इसका समाधान निकाला। उन्होंने सरकार के समक्ष ११ मांगें रखी, जिनमें से एक मांग नमक पर से कर हटाने की भी थी। सरकारी अस्वीकृति के पश्चात् गांधी जी ने दण्डी-यात्रा की और ६ अप्रैल, १९३० ई० को नमक कानून का उल्लंघन कर नमक सत्याग्रह आरम्भ किया। आरम्भ में यह एक छोटी सी घटना लग रही थी। किन्तु शीघ्र ही इस सत्याग्रह की आग समस्त देश में दावानल की भांति फैल गई। रेह-मिट्टी से नमक का निर्माण, अंग्रेजी प्रभुसत्ता को एक चुनौती का प्रतीक बन गया।

लखनऊ में ६ अप्रैल को ही सत्याग्रह आरम्भ कर दिया गया। गुप्तजी ने बड़े उत्साह के साथ सत्याग्रहियों का आवाहन आरम्भ किया। गूंगे नवाब के पार्क, अमीनाबाद में सत्याग्रही एकत्र होते और वहीं रेह मिट्टी से नमक बनाया जाता। इसके पश्चात् सभा होती। ६ से १३ अप्रैल तक एक सप्ताह यही कार्यक्रम चलता रहा। ६ अप्रैल को ही सभा समाप्त होने पर, नगर के आठ प्रमुख कांग्रेस के कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिये गये। इनमें श्री मोहन लाल सक्सेना तथा श्री चन्द्रभानु गुप्तजी भी थे। १४ अप्रैल को सिटी मजिस्ट्रेट ने धारा १८२२-११७ के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को डेढ़ वर्ष की सजा दे दी। पहले गुप्तजी लखनऊ जेल में रखे गये फिर वहां से गाज़ीपुर जेल भेज दिये गये।

चूंकि गुप्तजी नगर कांग्रस के जन-प्रिय कार्यकर्त्ता ही न थे बल्कि अवध बार एसोसियेशन के नवोदित युवक वकीलों में भी अत्यन्त लोकप्रिय थे, इसलिये एसोसियेशन ने हाई कोर्ट में उक्त सजाओं के विरुद्ध अपील की। बार एसोसियेशन के अध्यक्ष उस समय एक अंग्रेज महोदय जॉन जैक्सन थे। वे गुप्तजी से विशेष प्रभावित थे। उन्होंने 'बार' की ओर से अभियुक्तों की पैरवी की। यह सिद्ध होने पर कि सजा गलत धारा के अन्तर्गत दी गयी है, गुप्त जी ६ मास के बाद मुक्त किर दिये गये। अन्य मुक्त होने वाले व्यक्तियों में मोहन लाल सक्सेना और पं० जयदयाल अवस्थी थे।

'बार एसोसिएशन' की घटना--गुप्तजी ने वकालत के व्यवसाय में प्रवेश करते ही काकोरी काण्ड के कैदियों की पैरवी कर लोगों को दृष्टि में एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर लिया था। बड़े बुजुर्ग वकील भी इस होनहार नवयुवक के साहस और राष्ट्रीय विचारधारा के प्रशंसक हो गये। बार एसोसियेशन ने कई बार उनकी गलत गिरफ्तारियों के उपरान्त हाई कोर्ट का ध्यान गिरफ्तारी की त्रुटियों की ओर आकर्षित किया और हाई कोर्ट ने गिरफ्तारियों को गलत माना। ये एसोसियेशन में उनकी जनप्रियता के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं। बार एसोसियेशन के प्रसंग में उनके एक नैतिक साहस एवं अन्याय के विरोध करने की क्षमता पर प्रकाश डालने वाली घटना का उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

उन दिनों वकीलों के मध्य एवं अन्यत्र भी यह चर्चा का विषय था कि एक नये वकील अपने पिता के जज होने का अनुचित लाभ उठा रहे हैं और उनके पिताजी उन्हें इस सम्बन्ध में प्रोत्साहन दे रहे हैं। वकील साहब अपने इस प्रभाव के कारण फीस भी अधिक लेते थे। यह बात जानते सब लोग थे। किन्तु किसी में इतना नैतिक साहस न था कि इसे कह सके। सदैव से अन्याय के विरुद्ध उठ खड़े होने वाले गुप्तजी से यह बात सहन न हुई। उन्होंने चीफ जज के नाम 'तीन खुले पत्र' लिखे जो 'इण्डियन टेलीग्राफ' में प्रकाशित हुए। इसमें न्याय के क्षेत्र में फैली इस धांधली का सांकेतिक रूप

से उल्लेख था। ये पत्र काफी सनसनीखेज थे। सारे नवयुवक और अन्य वकील भी प्रसन्न थे और गुप्तजी के पक्ष में थे। चीफ जस्टिस सर स्टुअर्ट इन पत्रों के प्रकाशन से बहुत अप्रसन्न हुए। सरकार के समर्थकों ने भ्रांतियों के निराकरण के लिए अमीनुद्दौला पार्क में एक सभा बुलायी, जिसमें वे गुप्तजी के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पास कराना चाहते थे। चीफ जस्टिस का इरादा था कि गुप्तजी का हाईकोर्ट में वकालत करने का अधिकार छीन लिया जाये। किन्तु जैसा कि संकेत किया जा चुका है गुप्त जी के समर्थकों की संख्या भी कम न थी और गुप्तजी के उक्त साहसपूर्ण कार्य से तो मन-ही-मन सभी प्रसन्न थे।

जिस समय सरकार समर्थकों और कुछ वकीलों की उक्त मीटिंग निन्दा प्रस्ताव पास करने के लिये बुलायी गयी उसमें गुप्तजी के समर्थक भी उपस्थित थे। दूसरे पक्ष के लोग सर राजा राम पाल सिंह को सभापति बनाना चाहते थे। किन्तु राजा साहब का नाम प्रस्तावित होने से पहले ही डॉ० बी० एस० टंडन ने सभापति के लिये डॉ० लक्ष्मी सहाय का नाम प्रस्तावित कर दिया। उनका समर्थन भी हो गया और डॉ० सहाय सभापति की कुर्सी पर जा बिराजे। वयोवृद्ध राजा साहब के पैर भी, कुर्सी तक पहुंचने में, इतनी शीघ्रता से उनकी सहायता करने में असमर्थ थे। डॉ० लक्ष्मी सहाय ने कुर्सी पर बैठते ही कार्यवाही आरम्भ करने की घोषणा कर दी। इस पर राजे, महाराजे तथा बड़े-बड़े वकील जो सभा में चीफ कोर्ट की कार्यप्रणाली के विषय में विश्वास प्रकट करना चाहते थे, सभा से बाहर चले गये। परन्तु डॉक्टर साहब इससे घबड़ाये नहीं। उन्होंने प्रस्ताव आमन्त्रित किया। न्याय के क्षेत्र में फैले उक्त अन्याय के विरुद्ध प्रस्ताव रखा गया और उसका भारी बहुमत से समर्थन भी हो गया। सभापति ने प्रस्ताव को स्वीकृत घोषित कर दिया। इस प्रकार प्रस्ताव की स्वीकृति से प्रकारान्तर से गुप्तजी के कार्य का औचित्य भी लोगों ने सिद्ध कर दिया। अब सरकार के समर्थक तालुकदारों आदि की नींद टूटी। देखते-ही-देखते बाजी उनके हाथ से जा चुकी थी। उन्होंने प्रस्ताव के विरोध में कुछ शोरगुल मचाना चाहा किन्तु डॉ० सहाय ने सभा-विसर्जन की घोषणा कर दी और इस प्रकार सभा समाप्त हो गयी। विरोधी कुछ न कर सके। यह घटना भी काफी चर्चा का विषय रही। गुप्तजी के उक्त साहसपूर्ण कार्य का परिणाम यह हुआ कि जज के सुपुत्र महाशय के कार्यकलापों में परिवर्तन आया। लोगों के मन पर गुप्त जी के निर्भीक व्यक्तित्व की सदैव के लिये एक अमिट छाप अंकित हो गयी। जैसा कि हम आगे की घटनाओं के सन्दर्भ में देखेंगे कि अन्याय का निर्भीक विरोध उनका अभिन्न गुण है, जिसके कारण उन्हें कभी-कभी बड़ी हानि भी उठानी पड़ी है।

विवाह-प्रसंग—कहा जाता है कि जब चन्द्रभानु गुप्तजी उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री थे तो बेकारी से पीड़ित किसी व्यक्ति ने श्रीमती गुप्त के नाम एक पत्र भेजा कि वे गुप्त जी से उसकी नौकरी के लिये सिफारिश कर दें। पत्र जब गुप्तजी को दिखाया गया तो मुस्कराने लगे। पत्र भेजने वाले को बिना सिफारिश के ही नौकरी मिल गयी। उसे क्या पता था कि गुप्त जी की यह जीवन-संगिनी देश-सेवा है। यह केवल एक आलंकारिक कथन ही नहीं वरन् एक तथ्य है क्योंकि जब उनके विवाह की चर्चा के दिन थे तो वे देश-सेवा में इतने निमग्न हो चुके थे कि उन्हें घर बसाने की चिन्ता करने का न तो अवकाश था और न ब्रिटिश राज्य के विरोध में इतनी तत्परता से कार्यरत व्यक्ति को कन्यादान करने का किसी में साहस। १९२७-२८ ई० के आस-पास अनेक सम्बन्धियों और घर वालों ने काफी प्रयत्न किया कि गुप्त जी विवाह कर लें। एक बार उनके बड़े भाई साहब ने उनकी कुण्डली एक सम्बन्धी के पास भेजी, किन्तु वह वापस नहीं आयी। कालान्तर में जब जेल-यात्राओं का क्रम चल पड़ा तो विवाह की बात आयी-गयी हो गई। एक बार गुप्तजी के घनिष्ठ मित्र और जेल जीवन के साथी चौधरी विजयपाल सिंह ने जब अपना विवाह किया तो गुप्तजी से भी विवाह करने का आग्रह करने लगे, किन्तु गुप्तजी की स्वीकृति न मिल सकी। उन्होंने घर बसाने की चिन्ता कभी नहीं की। देश को ही अपना घर समझा। इतनी प्रौढ़ावस्था में भी युवकोचित उत्साह, उत्तम स्वास्थ्य, अठारह घण्टे तक अविराम कार्य करते रहना, प्रखर मेधा, एकाग्रता और अद्भुत स्मरण शक्ति उनके इसी संयत जीवन का फल है।

फिर जेल में—'बार एसोसियेशन' की अपील पर छः मास पश्चात् गुप्तजी १९३० ई० के अक्तूबर मास के मध्य में गाजीपुर जेल से छूट कर आ गये। नमक-सत्याग्रह और विदेशी-वस्तु-बहिष्कार का आन्दोलन अब भी चल रहा था। सत्याग्रह के दमन के लिये सरकार ने कुछ उठा नहीं रखा। 'सजायें दिनोंदिन कठोर होने लगीं। कैद के साथ-साथ जुर्माने किये जाने लगे। लाठी-प्रहार भी प्रारम्भ हुआ। लोगों को विश्वास नहीं होता था कि लाठियों और शस्त्रास्त्र से सुसज्जित कर के पुलिस को जो कवायद-परेड की शिक्षा दी जा रही है, वह सत्याग्रहियों पर आजमाई जायेगी। यह कोरी धमकी या आशंका नहीं थी। लाठी-प्रहार तो भयंकर सत्य के रूप में प्रकट हुआ। सभा-भंग की आज्ञा तो होती थी साधारण कानून के अनुसार और उस पर अमल होता था लाठी के निर्दय प्रहारों से। नमक-कानून के साथ ताजीरात हिन्द की धारायें मिलाकर लम्बी से लम्बी सजायें दी जाने लगीं। परन्तु गुप्त जी इस दमन नीति से हतप्रभ होने वाले नहीं थे। वे जेल से

बाहर आते ही कांग्रेस के कार्य में दूने उत्साह से जुट गये। १८ अक्तूबर, १९३० ई० को पं० जवाहर लाल नेहरू लखनऊ आये और उसी दिन वे इलाहाबाद चले गये। १९ अक्तूबर को वे वहां जिला-किसान-सभा में भाषण देने के कारण डेढ़ वर्ष के लिये जेल भेज दिये गये। पं० मोतीलाल नेहरू अस्वस्थ थे। ऐसी परिस्थिति में उत्तर प्रदेश में आन्दोलन की गति मन्द न होने पाये इसके लिये उत्साही कार्यकर्ताओं की अत्यन्त आवश्यकता थी। दिसम्बर मास में दमन-चक्र और तेज हो गया। कई जेलों में बन्दियों को कोड़े लगाये गये। किन्तु लखनऊ से लोग निरन्तर जेल जाते रहे। गूंगे नवाब के पार्क में नमक कानून का उल्लंघन होता रहा और लोग गिरफ्तार होते रहे।

गुप्त जी तीन महीने भी जेल से बाहर न रहने पाये थे कि नमक-सत्याग्रह में पुनः गिरफ्तार कर लिये गये। १२ जनवरी, १९३१ ई० को उन्हें धारा १७ के अन्तर्गत ६ मास की सजा और २०० रुपये का जर्माना हुआ। सजा भुगतने तो स्वयं जेल चले गये परन्तु जुर्माने की रकम कहां से वसूल होती? पुलिस उनकी पुस्तकें और सामान आदि उठा ले गयी। पहले भी ऐसा कई बार हुआ, इधर जेल-यात्रा और इधर घर के सामान की कुर्की।

पं० मोतीलाल नेहरू जी की स्थिति इस समय गम्भीर थी। वे एक्सरे के लिए लखनऊ आये थे और 'कालाकांकर हाउस' में ठहरे हुए थे। ६ फरवरी, १९३१ ई० को प्रातः उनका देहान्त हो गया। इसके लिए समस्त देश में शोक मनाया गया। उनके स्मारक के लिए एक कमेटी बनी जिसमें महाराजा महमूदाबाद, मोहन लाल सक्सेना, जयकिशन टंडन और गुप्तजी संस्थापक सदस्य थे। बाद में उन्होंने इस संस्था को जिस प्रकार विकसित और पल्लवित किया उसका विवरण आगे किया गया है।

काफी वाद-विवाद के पश्चात् ४ मार्च १९३१ ई० को 'गाँधी-इरविन समझौता' सम्पन्न हुआ। इसके अनुसार कांग्रेस ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया और सभी राजनीतिक बन्दी छूट कर बाहर आये।

करांची अधिवेशन में—समझौता होते ही कांग्रेस पर लगा हुआ प्रतिबन्ध हटा दिया गया था। जेल से बाहर आते ही प्रमुख कार्यकर्त्ता पुनः संगठन-कार्य में जुट गये। 'गांधी-इरविन समझौता' कांग्रेस की एक प्रकार से बहुत बड़ी विजय थी क्योंकि अंग्रेज-सरकार ने एक ऐसे दल से समझौता किया था जिसे वह स्वयं अवैध घोषित कर चुकी थी। परन्तु आगामी इतिहास का घटनाक्रम यह सिद्ध करता है कि प्रथम महासमर के समय से ही वचनभंग, दमन एवं शोषण के बल पर आधारित ब्रिटिश सत्ता को उक्त आन्दोलन को दिनों-दिन प्रबल होते हुए देख कर देशव्यापी 'वात्याचक्र' में समझौते के माध्यम से पुनः भारत में कुछ समय के लिये अपने पैर जमाने का अवसर मिल गया और अंग्रेजों की इस प्रवंचना-मय राजनीति का निरावरण गौण रूप से कुछ मास पश्चात् और स्पष्ट रूप से एक दशक पश्चात् १९४२ ई० की क्रान्ति के समय हुआ था। कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्यों ने छूटते ही करांची में कांग्रेस के महाधिवेशन का आयोजन किया।

उक्त अधिवेशन मार्च १९३१ ई० के अन्तिम सप्ताह में सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में हुआ। भगत सिंह को फांसी दी जा चुकी थी। इस सम्बन्ध में गांधीजी के तटस्थ दृष्टिकोण के कारण लोगों में रोष था और करांची अधिवेशन के समय काले झण्डे भी दिखाये गये। इसके पश्चात् कांग्रेस के अधिवेशन में भी भगत सिंह के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास कराते समय काफी कशमकश हुई। गुप्तजी इस ऐतिहासिक अधिवेशन में लखनऊ से कांग्रेस के डेलीगेट के रूप में भाग लेने गये थे। जिन दिनों कांग्रेस का उक्त अधिवेशन चल रहा था, भारत के इतिहास में एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटित हुई। अंग्रेज सरकार के उकसावे से कानपुर में साम्प्रदायिक दंगा हुआ जिसमें गणेशशंकर विद्यार्थी की हत्या कर दी गयी। वे २५ मार्च से ही लापता थे। २९ मार्च को उनकी लाश का पता चला। अधिवेशन में समाचार पहुंचने पर एक शोक का वातावरण छा गया। गुप्तजी के लिये यह समाचार अत्यन्त दुःखद था, क्योंकि विद्यार्थी जी उनके बड़े घनिष्ठ मित्रों में से थे और लखनऊ आने पर अमीनाबाद में उन्हीं के पास ठहरा करते थे। गुप्तजी उनके वियोग से बड़े मर्माहत हुए।

आगामी नौ मास—लगानबन्दी-आन्दोलन और जेल—समझौते के नौ मास बीतते-बीतते संधि-भंग के घटोत्कच का जन्म हुआ। इस बीच सन्धि होने पर भी जनता और सरकार के मध्य एक अविश्वास का वातावरण बना रहा। सरकार दमन की तैयारियां कर रही थी और कांग्रेस सन्धि-भंग की शिकायतें। १९३० ई० में गोलमेज-कान्फ्रेंस में गांधीजी के भाग न लेने के कारण उसकी सारे संसार में निन्दा हो चुकी थी। इस बार अनेक शर्तों पर समझौतों के बाद २७ अगस्त, १९३१ ई० को गांधी जी ने गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिये अपनी स्वीकृति दे दी। २९ अगस्त को बम्बई से लन्दन के लिये रवाना हुए। १५ सितम्बर को उन्होंने परिषद् में भारत की स्वतन्त्रता का तर्कपूर्ण समर्थन किया। वे २८ दिसम्बर, १९३१ ई० को भारत लौट सके।

उक्त गोलमेज कान्फ्रेन्स के समय भारत में राजनीतिक हलचलें बन्द नहीं थीं। उत्तर प्रदेश का लगान-बन्दी आन्दोलन इन हलचलों में एक प्रमुख स्थान रखता है। इसके पूर्व गुजरात में बारडोली का सत्याग्रह सफलतापूर्वक चल चुका था। अब उत्तर प्रदेश को इस क्षेत्र में अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभानी थी। डा० सीतारमैया के शब्दों में, "युक्त-प्रान्त में विकट स्थिति उत्पन्न हो रही थी। यह भी कहा जा सकता है कि उसने भविष्य के कई सालों की भारतीय राजनीति की दशा निश्चित कर दी। युक्त प्रान्त में किसानों की, अधिकांशतः ताल्लुकेदारों और जमीदारों के अधीनस्थ किसानों की आर्थिक दशा बहुत खराब हो रही थी। लगान-वसूली के तरीकों में नरमी का नाम-निशान न था।" यद्यपि कांग्रेस का अंग्रेज सरकार से कोई भी आन्दोलन न छेड़ने का समझौता हो चुका था, किन्तु उत्तर प्रदेश कांग्रेस ने किसानों को लगान रोकने की राय दी। गुप्तजी इस आन्दोलन में अत्यन्त सक्रिय थे। उन्होंने गांवों का दौरा कर किसानों की वास्तविक कठिनाइयों का अध्ययन किया। स्थान-स्थान पर भाषण देकर कर-बन्दी का समर्थन किया। 'प्रदेशीय किसान सभा' के संगठन में उनका मुख्य हाथ था। लखनऊ जिले के किसानों का उन्होंने जितनी कुशलता से संगठन किया, उसकी सर्वत्र प्रशंसा की गयी। यद्यपि कर-बन्दी आन्दोलन की घोषणा नहीं की गयी, किन्तु किसानों की स्थिति देखते हुए उन्हें कर न देने की सलाह दी गयी।[१] गुप्तजी के कार्य सरकार की आंखों में विशेष रूप से खटक रहे थे। समस्त देश का ध्यान उत्तर प्रदेश की इस विस्फोटक स्थिति की ओर आकृष्ट हो चुका था। किसानों की स्थिति का अध्ययन करने के हेतु एक कमेटी की स्थापना की गई जिसके अध्यक्ष पुरुषोतम दास टण्डनजी थे। गुप्तजी, गोपी नाथ, श्रीवास्तव जी आदि इसके सदस्य थे। उक्त दोनों सज्जन प्रतापगढ़ तथा सुल्तानपुर किसानों की स्थिति का निरीक्षण करने हेतु गये। गुप्तजी ने मोहन लाल गंज में भी किसानों की एक विराट् सभा में भाषण दिया था। पं० हरिश्चन्द्र वाजपेयी भी इस सभा में गये थे। इस प्रकार कर-बन्दी आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था। दिसम्बर १९३१ ई० में स्थिति अधिक गम्भीर हो गयी। गांधी जी दिसम्बर के अन्त तक भारत लौटने वाले थे, किन्तु सरकार ने अपना दमन आरम्भ कर दिया। "उसने सैकड़ों कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को जेल में डाल दिया। ये गिरफ्तारियां इतनी तड़ाक-फड़ाक हुईं कि सभी प्रमुख और कर्मठ सच्चे कार्यकर्ता जेलों में पहुंच गये।"[२] गुप्तजी भी गिरफ्तार हो चुके थे। धारा १८८ के अनुसार उन्हें ६ मास की सजा और २०० रुपया जुर्माना ९ जनवरी १९३२, ई० को किया गया। इस बार उन्हें बस्ती जेल भेजा गया। ५ जनवरी, १९३२ ई० को गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद लखनऊ में हड़तालें हुईं और अनेक लोग गिरफ्तार हुए।

"डिक्टेटर" बने और जेल गये—अस्थायी समझौते का भंग होना स्वाभाविक था। "वस्तुतः सरकार ने लड़ाई को वहीं से ग्रहण किया जहां पर कि ४ मार्च १९३१ ई० को उसे छोड़ा गया था। अस्थायी सन्धि के दरम्यान उसने हजारों लाठियाँ और एकत्र कर ली थीं। यह अवसर सरकार के नये सिरे से लड़ाई की तैयारी करने का था।"[३] दिसम्बर १९३१ ई० से ही सरकारी दमन-चक्र आरम्भ हो गया। पहले आक्रमण में उत्तर प्रदेश के नेता गिरफ्तार हुए थे। गांधीजी के बम्बई पहुंचते ही जवाहरलाल नेहरू उनसे मिलने के लिये जाने वाले थे किन्तु उन्हें मार्ग में गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। जनवरी, १९३२ ई० के प्रथम सप्ताह में गांधीजी और पटेलजी की गिरफ्तारी से सरकार ने अपना दमन-चक्र पूर्णरूपेण चला दिया। आगामी तीन वर्ष कांग्रेस के जीवनकाल के महान् संकट के दिन थे। कांग्रेस-संस्था, अनेक आश्रम और राष्ट्रीय विद्यालय अवैध घोषित कर दिये गये। दमन-चक्र की दशा यह थी कि न केवल सत्याग्रहियों पर ही लाठी-चार्ज और गोलियां चलती थीं। वरन् कैदियों की भी जमकर पिटाई होती थी। "हाई कोर्ट के एक ऐडवोकेट को सताने के लिये एक-एक करके उसके बाल उखाड़े गये और यह सिर्फ इसलिये कि उसने पुलिस को अपना नाम और पता नहीं बतलाया था।"[४]

उक्त सब घटनाओं और परिस्थितियों की एक झलक यहां देना इसलिये आवश्यक है कि जिन दिनों गुप्तजी कांग्रेस के सत्याग्रहों में भाग लेकर जेल-यात्रायें कर रहे थे, वे परिस्थितियां कितनी विषम थीं। इसके साथ वे कितनी तत्परता से अपने दायित्व का निर्वाह कर रहे थे। कांग्रस-कमेटियों के अवैध घोषित किये जाने और अधिकांश कर्मठ कार्यकर्ताओं के जेल चले जाने पर समस्या यह थी कि कांग्रेस का कार्य किस प्रकार चले। गुप्तजी भी इन दिनों जेल में थे। वे जून के अन्त में छः मास की सजा काट कर वापस आये। इस समय कांग्रेस ने अपने कार्य-संचालन की एक नयी व्यवस्था अपनायी। "कार्य-समिति ने अपने सारे अधिकार अध्यक्ष के सुपुर्द कर दिये, जो क्रमशः अपने उत्तराधिकारियों को नामजद करके वे

---

१. कांग्रेस का इतिहास, डा० सीतारमैया, पृ० ४०४, पहला खण्ड।

२. वही, पृ० ४०६।

३. संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास, पृ० २५५।

४. संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास, डॉ० सीतारमैया, पृ० २५६।

अधिकार दे सकते थे। प्रान्तों में भी जहां कहीं सम्भव हुआ, कांग्रेस संगठन की सारी सत्ता एक ही व्यक्ति को दे दी गई। यह व्यक्ति आम तौर पर डिक्टेटर या सर्वेसर्वा के रूप में प्रसिद्ध हुए।"[१]

जेल से बाहर आने पर गुप्तजी उत्तर प्रदेश कांग्रेस के डिक्टेटर नियुक्त हुए। सत्याग्रह निरन्तर चल रहा था। लखनऊ में प्रतिदिन या प्रति सप्ताह कोई न कोई सत्याग्रहियों का जत्था गिरफ्तार होता था। अन्त में अगस्त के दूसरे सप्ताह में गुप्तजी गिरफ्तार कर लिये गये और १३ अगस्त, १९३२ ई० को धारा १७ के अन्तर्गत उन्हें चौथी बार ६ मास की सजा हुई। इस बार फिर उन्हें बस्ती जेल भेजा गया।

कलकत्ता-कांग्रेस में—अप्रैल १९३२ ई० में जब कांग्रेस का दिल्ली अधिवेशन रणछोर दास अमृतलाल के नेतृत्व में हुआ तो गुप्तजी जेल में थे। ३१ मार्च, १९३३ ई० को कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन बड़े सनसनीपूर्ण वातावरण में दिल्ली अधिवेशन की भांति सरकार के अवैध घोषित करने पर भी हुआ। गुप्तजी फरवरी में जेल से छूटकर आये थे। "कुल मिलाकर कोई २०० प्रतिनिधि सारे प्रान्तों से चुने गये। इस बात से कि पं० मदन मोहन मालवीय ने अधिवेशन का सभापतित्व स्वीकार कर लिया है, राष्ट्र का उत्साह और भी बढ़ गया। श्रीमती मोतीलाल नेहरू ने वृद्धावस्था और दुर्बलता का ध्यान न करके अधिवेशन में भाग लेने का जो निश्चय किया उससे आने वाले प्रतिनिधियों को बड़ी स्फूर्ति मिली।"[२]

गुप्तजी रफीअहमद किदवई जी के साथ प्रतिनिधि के रूप में अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये रवाना हुए। साथ में प्रतिनिधियों के सहायतार्थ लगभग ८,००० रुपये लिये हुए थे। गुप्तचर सदा उनके पीछे लगे रहते थे। उन्हें पता चला कि गुप्त जी कलकत्ता जा रहे हैं। वे पुलिस की सतर्कता से परिचित थे, अतएव वे लखनऊ के बजाय दरियाबाद में गाड़ी पर चढ़े परन्तु फिर भी गिरफ्तार कर बाराबंकी लाये गये। इस समय कठिनाई यह थी कि पुलिस तलाशी लेकर धन छीन लेगी अत: उन्होंने एक परिचित काश्मीरी सज्जन से धन की रक्षा की बात की, लेकिन उसे साहस न हुआ। फिर गुप्तजी ने युक्ति से काम लिया। वे शौचालय में गये और रुपये वहीं छोड़ आये। संयोग-वश उसी समय किदवई साहब का एक परिचित व्यक्ति वहां आ गया। उसे संक्षेप में सारी बात समझा दी गई। वह शौचालय में गया और धन लेकर चलता बना। पुलिस ने खूब तलाशी ली लेकिन किसी के पास एक कौड़ी तक न निकली। पुलिस आश्चर्यकित होकर रह गयी, लेकिन कर ही क्या सकती थी। ११ बजे तक उन्हें स्टेशन पर रोक रखा गया और यह निश्चय हो जाने पर कि अब उन्हें कोई गाड़ी नहीं मिलेगी, छोड़ दिया गया। छूटते ही उन्होंने देखा कि एक माल गाड़ी जाने वाली है। दोनों लोग गार्ड के पास गये और एक आवश्यक कार्य बतला कर गाड़ी पर चढ़ने में सफल हुए। गार्ड से वायदा किया कि बनारस पहुंच कर पैसे दे दिये जायेंगे। बनारस पहुंचने पर इसकी सूचना फोन से गोविन्द मालवीयजी को दी। वे तत्काल पैसे लेकर स्टेशन आये। तब ये लोग विश्वविद्यालय गये। वहां से फिर एक पूरा जत्था ३ बजे कलकत्ता के लिये रवाना हुआ, जिसमें सर्वश्री मदन मोहन मालवीय, लाल बहादुर शास्त्री, गोविन्द मालवीय, किदवई साहब और गुप्तजी थे। मालवीय जी प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठे थे और शेष लोग द्वितीय श्रेणी में। पुलिस निरन्तर चौकसी रख रही थी। आसनसोल में इन लोगों का डिब्बा काट दिया गया और वहां पुलिस ने आकर इन लोगों को गिरफ्तार कर लिया। जिस समय ये लोग गिरफ्तार हो रहे थे, एक मनोरंजक घटना घटी। गुप्तजी के डिब्बे में ही शर्माजी नाम के एक ओर व्यक्ति बैठे थे। गिरफ्तारी के समय गुप्तजी ने पुलिस अफसर की ओर संकेत करते हुए कहा, "और आप भी हमारे साथ कांग्रेस के प्रतिनिधि हैं।" उस व्यक्ति के मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं। उसने बहुत सफाई दी कि वह कांग्रेसी नहीं है, वरन् कांग्रेस का विरोधी है, किन्तु पुलिस नहीं मानी और उन्हें भी गिरफ्तार कर ले गई। बाद में पुलिस कमिश्नर ने उक्त सज्जन को पहचान कर मुक्त किया।

इसके पश्चात् कलकत्ता जाने वाले ये लोग आसनसोल जेल में बन्द कर दिये गये। लुक-छिपकर किसी प्रकार लगभग एक हजार प्रतिनिधि कलकत्ता पहुंच सके थे। श्रीमती सेनगुप्त के सभापतित्व में अधिवेशन शुरू हुआ किन्तु पुलिस वहाँ भी आ धमकी और लाठी चार्ज कर अधिवेशन भंग कर दिया। गुप्तजी, रफी अहमद साहब आदि अधिवेशन समाप्ति के आठ दिन बाद कलकत्ता पहुंचे। मालवीय जी पहले ही जेल से मुक्त कर दिये गये थे। गुप्तजी और रफी साहब कलकत्ता में एक होटल में ठहरे। कलकत्ता के समाचार-पत्रों ने गुप्तजी के आगमन की सूचना प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित की थी।

---

१. वही, पृ० २५८।

२. संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास, पृष्ठ २६५।

व्यक्तिगत सत्याग्रह के पूर्व ही गिरफ्तार---कलकत्ता-कांग्रेस के दमन से लोगों में असन्तोष और बढ़ गया। गांधीजी ने इन्हीं दिनों हरिजन-आन्दोलन के सम्बन्ध में २१ दिन का उपवास किया। जल से मुक्त होने पर गुप्तजी अपने उत्साह, न्याय, प्रेम, बलिदान की भावना तथा कांग्रेस संगठन को दृढ़ करने की क्षमता के कारण अंग्रेजी सरकार की आंखों में सदैव खटका करते थे, फलतः चाहे नमक-कानून-भंग करने का आन्दोलन हो या व्यक्तिगत सत्याग्रह का अथवा लगान-बन्दी से सम्बन्धित गिरफ्तारियां, गुप्तजी सदैव सर्वप्रथम गिरफ्तार कर लिये जाते थे। उन्होंने ६ सप्ताह के लिये सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इसके बाद यह स्थगन ६ सप्ताह के लिये और बढ़ा दिया। सत्याग्रह स्थगित करने से अनेक लोगों को निराशा और असन्तोष भी हुआ। अपनी चिकित्सा के सम्बन्ध में वियना गये हुए श्री वी० जे० पटेल और सुभाष बाबू ने इस सम्बन्ध में अपना घोर असन्तोष से भरा हुआ पत्र भेजा था। १२ जुलाई, १९३३ ई० को कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति श्री अणे ने पूना में नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। इसमें गांधीजी आये। गुप्तजी ने भी इस सम्मेलन में भाग लिया। अंग्रेजी सरकार ने गांधीजी की शान्ति-स्थापना के प्रयत्न का तिरस्कार किया था। अतएव राष्ट्र को अपने सम्मानार्थ सत्याग्रह जारी रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। पर सामूहिक सत्याग्रह बन्द कर दिया गया और जो लोग तैयार थे उन्हें व्यवितगत-सत्याग्रह करने की अनुमति दी गई। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आरम्भ कर, साबरमती आश्रम हरिजन संघ को दान कर दिया। इस सत्याग्रह के सम्बन्ध में वे १ अगस्त, १९३३ ई० को गिरफ्तार हुए।

गुप्तजी पूना-परिषद् के निर्णय की प्रतीक्षा में थे। व्यक्तिगत सत्याग्रह की अनुमति मिलते ही १७ जुलाई, १९३३ ई० को एक भाषण देते समय वे गिरफ्तार कर लिये गये। इस अभियोग में धारा १०८ के अन्तर्गत उनसे पांच-पांच हजार रुपये की दो जमानतें मांगी गईं परन्तु उन्होंने जमानत देने से इन्कार कर दिया। इसके फलस्वरूप उन्हें एक वर्ष की सजा दी गयी। यह उनकी पांचवीं जेल-यात्रा थी। यह सजा गलत दी गयी थी। सजा देने वाले मजिस्ट्रेट गुप्तजी के भावी रिश्तेदार (भतीज के ससुर) थे। गुप्तजी जनवरी, १९३४ ई० में लगभग ६ मास बाद बार एसोसियेशन की अपील पर जेल से छूट कर वापस आये। इस बार वे गोण्डा जेल में थे। छूटने पर उनके भतीजे श्री सत्यपाल गुप्त उन्हें लेने गये थे।

बिहार-भूकम्प पीड़ितों के लिए सहायता-कार्य---१६ जनवरी, १९३४ ई० को बिहार में प्रलयंकर भूकम्प आया। भूकम्प से लगभग ३०,००० वर्गमील भूमि प्रभावित हुई। २०,००० मनुष्यों की जानें गयीं। हजारों लोग घायल हुए। खेतों की जगह मरुस्थल बन गया और हजारों घर धराशायी हो गये। इस भयंकर दैवी विपत्ति का सामना करने के लिये सारा देश एक साथ उठ खड़ा हुआ। स्थान-स्थान पर सहायतार्थ धन आदि एकत्र करने के लिये कमेटियां बन गयीं। जिस समय भूकम्प आया गुप्तजी जेल से छूटने वाले थे। वे खड़े हुए बातें कर रहे थे, उसी समय इस भीषण भूकम्प के झटके उन्हें लगे थे। जेल से बाहर आने पर वे भूकम्प पीड़ितों के सहायता-कार्य में तन-मन-धन से जुट गये। उन्होंने हजारों रुपया चन्दा एकत्रित किया। वस्त्र एवं अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का संग्रह कर पीड़ितों की सहायतार्थ भेजा। भूकम्प पीड़ितों की सहायतार्थ एक समिति बनाई गई। श्री कृष्ण प्रसाद कौल इसके सभापति तथा गुप्तजी महामंत्री थे। यह बात उल्लेखनीय है कि समग्र भारत द्वारा बिहार-भूकम्प में किया गया सहायता कार्य अब तक के राष्ट्रव्यापी आन्दोलनों से कम महत्त्वपूर्ण न था। इससे देश की सामाजिक चेतना, भावात्मक एकता और आपत्ति के समय संगठित होकर कार्य करने की शक्ति इतने स्पष्ट रूप में उभर कर सबके सामने आयी कि एक अंग्रेज को यह कहना पड़ा था कि अब इस देश को अधिक दिन गुलाम रखना सम्भव न होगा। सरकार की सहायता तो नाम-मात्र को रही। बिहार के दुःख का समस्त देश भागीदार हो गया और गुप्तजी तथा प्रदेश के अन्य कांग्रेस के नेताओं के सहयोग से उत्तर प्रदेश ने अपनी उचित भूमिका निभायी।

यहां एक बात उल्लेखनीय है कि गुप्त जी के राजनीतिक जीवन में सामाजिक कार्यों के क्षेत्र में सृजनात्मक अभिरुचि इन्ही वर्षों से महत्त्वपूर्ण स्थान प्रप्त कर लेती है। इसके पूर्व उनके राजनीतिक जीवन के लगभग बीस वर्ष संगठन और सत्याग्रह में व्यतीत हुए थे, अब इनके साथ सृजनात्मक कार्यों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। आर्यकुमार सभा के संगठन से लेकर प्रथम व्यक्तिगत सत्याग्रह तक वे अंग्रेजी सत्ता से संघर्ष करते रहे, अब उसके साथ अनेक सामाजिक कल्याण के कार्यों में उन्होंने हाथ बटाना शुरू किया। इस प्रकार के उनके समाजिक कार्यों के तीन पक्ष थे :

१. सार्वजनिक कार्यों तथा संस्थाओं के लिये लोगों से चन्दे एकत्र करना या प्रदर्शनियों आदि के द्वारा स्वदेशी की भावना को प्रोत्साहित करना।
२. राजनीतिक पीड़ितों, दैवी विपत्ति से ग्रस्त लोगों या अन्य असहायों की सहायता करना।
३. शिक्षा, वाचनालय, स्वास्थ्य आदि के लिये संस्थाओं की स्थापना करना।

इस सम्बन्ध में गुप्तजी द्वारा किये गये आगामी कार्यों का विवरण देने से पूर्व यदि हम पिछली स्थिति पर दृष्टिपात करें तो उनके इस प्रकार के सृजनात्मक कार्यों के अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। जैसाकि पीछे कहा गया है बचपन में ही उन्होंने आर्य-कुमार सभा की स्थापना की थी। १९२३ ई० में गोमती में भयंकर बाढ़ आने पर बाढ़ पीड़ितों की सहायता में उन्होंने काफी प्रयत्न किया था। काकोरी काण्ड में अभियुक्तों के निराश्रित परिवारों को सहायतार्थ धन एकत्र किया। १९२८ के खादी आन्दोलन के सम्बन्ध में उन्होंने गांधीजी को थैली भेंट की थी। १९३२ ई० में एक प्रदर्शनी आयोजन करवाया जिसमें सर्वश्री जयकिशन टण्डन और गोपीनाथ श्रीवास्तव ने योग दिया था। १९३३ ई० में चन्दे आदि से धन एकत्र कर झण्डे वाले पार्क में झंडा लगवाया। इस झंडे का उद्घाटन श्री दयाकिशन गंजूर ने किया था। तभी से यह पार्क झंडे वाला पार्क कहलाने लगा। नवम्बर, १९३३ ई० में महात्मा गांधी ने हरिजन आन्दोलन के सम्बन्ध में समस्त देश का दौरा किया। इस सिलसिले में गांधीजी जब लखनऊ आये तब गुप्तजी ने धन एकत्र कर फिर उन्हें थैली भेंट की। सन् १९३४ ई० से ही गुप्तजी ने अनेक प्रदर्शनियों का संयोजन आरम्भ किया, जिसकी आय से कांग्रेस एवं अन्य संस्थाओं के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सके। जेल का दौरदौरा कम होने पर उन्हें इन रचनात्मक कार्यों की ओर ध्यान देने का अधिक समय मिलने लगा। अगले वर्ष उन्होंने मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी के उन्नयन और विकास की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया जो कालान्तर में उत्तर प्रदेश की एक महान् संस्था बन सकी। मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी ने नेहरूजी के स्मारक के अतिरिक्त उन दिनों राजनीतिक पीड़ितों के लिये एक बड़े आश्रय का कार्य किया। ऐसे समय में जबकि अंग्रेजी सरकार के विरोध में लोग अपनी नौकरी, व्यापार और कभी-कभी घरबार भी खो बैठते थे, यदि उनकी सहायतार्थ किसी ऐसे राष्ट्रीय संस्थान के विकास का प्रयास किया गया तो इसे स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का एक अविस्मरणीय पृष्ठ मानना चाहिये।

समाजवादी दल की स्थापना एवं श्री चन्द्रभानु गुप्त—प्रचार एवं विज्ञापन के अभाव में आज के युग में, कितने ऐसे तथ्य इतिहास की धुन्ध में पड़े हुए हैं और समय के साथ जनमानस से विस्मृत होते जा रहे हैं। बहुत कम लोगों को यह बात मालूम होगी कि आज विविध वादों की नारेबाजी के इस युग में जबकि राजकीय पदों पर आसीन होने के बाद समाजवाद के अनेक पुराने दिग्गजों की उससे विरक्ति हो गयी है, अनेक तो प्रतिगामी हो गये हैं और अनेक गुप्तजी के चरणों में बैठकर राजनीति का 'क' 'ख' 'ग' सीखने वाले आज समाजवाद के 'कागजी कोरम' पर सबसे आगे दिखायी पड़ते हैं —गुप्तजी की कांग्रेस में समाजवादी दल के उद्भव काल से लेकर आज तक एक अनवरत गम्भीर आस्था बनी हुई है। आचार्य नरेन्द्रदेव जी और गुप्तजी की प्रगाढ़ मित्रता का आधार विचार-साम्य ही था। गुप्तजी को आरम्भिक वर्षों में इसके कारण दलीय विरोध का भी सामना करना पड़ा था।

गुप्तजी की आर्थिक परिस्थितियाँ बाल्यकाल से ही सामान्य थीं। इसके अतिरिक्त देश में व्याप्त गरीबी का उन्होंने निकट से निरीक्षण किया था। व्यक्ति की व्यक्तित्व-गरिमा समाप्त कर दी जाये, इस मत के वे समर्थक नहीं थे, किन्तु पूंजी शोषण का साधन न होकर समाज कल्याण का कार्य करे और आर्थिक बाधाओं के कारण किसी का विकास न रुके, तथा समाज से ऊंच तथा नीच का सन्तुलन मिले, यही उनकी विचारधारा का सार है। आर्यसमाज के सम्पर्क एवं भारतीयता के प्रति असीम श्रद्धा रखने के कारण, विदेशी समाजवाद के आयात के पक्ष में वे कभी नहीं रहे।

मई १९३४ में कांग्रेस महासमिति की बैठक पटना में होने वाली थी। समाजवादी विचारधारा रखने वाले व्यक्तियों की एक बैठक १७ मई को हुई। इस बैठक में कांग्रेस के भीतर रहकर कांग्रेस समाजवादी दल को स्थापित करने का निर्णय लिया गया। गुप्तजी इस बैठक में सम्मिलित हुए। तदुपरान्त वे उत्तर प्रदेश में कांग्रेस समाजवादी संगठन को फैलाने में जुटे और आचार्य नरेन्द्रदेव तथा सम्पूर्णानन्द जी को इस दिशा में कार्य करने में पूर्ण सहयोग देते रहे। उनका यह विचार रहा है कि कांग्रेस के माध्यम से समाजवादी विचार अधिक शीघ्रता से देश में प्रसारित किये जा सकते हैं और इसलिये कांग्रेस के मंच को छोड़ना नहीं चाहिये। इसी कारण से वे कांग्रेस में बने रहे और अन्य सहयोगियों की भांति कांग्रेस से बाहर नहीं गये। उन्होंने कांग्रेस समाजवादी दल से प्रत्यक्ष रूप से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। वे लखनऊ में होने वाली दलीय बैठकों और विचार गोष्ठियों में निरन्तर भाग लेते रहे। वे समाजवादी दल की उत्तर प्रदेशीय शाखा के जनरल सेक्रेटरी और कोषाध्यक्ष रह चुके हैं। जब समाजवादी दल स्वातंत्र्योत्तर कांग्रेस से पृथक् हो गया तो गुप्तजी अपने पूर्व निश्चयानुसार कांग्रेस की सेवा करते रहे। गुप्तजी समाजवादी दल में होते हुए भी सदैव इस पक्ष में थे कि मंत्रिमंडल में सम्मिलित हुआ जाये और सरकार के कल पुर्जों को समाजवादी व्यवस्था के लाने में इस्तेमाल किया जावे जब कि आचार्य नरेन्द्रदेव आदि इसके विरुद्ध थे। यदि आचार्यजी गुप्तजी की बात मान गये होते तो स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् आचार्य नरेन्द्रदेल व उत्तर प्रदेश का नेतृत्व करते होते। अशोक मेहता आदि काफी समय बाद कांग्रेस में लौटकर आये ही। गुप्तजी के मंत्रिमंडल में सम्मिलित हो जाने पर 'स्वतन्त्र भारत' ने अपने सम्पादकीय में लिखा था कि "समाजवादी दल को इस बात

से प्रसन्नता हुई होगी कि उनकी विचारधारा का पोषक व्यक्ति कांग्रेस मंत्रिमंडल में लिया गया।" यह उस समय गुप्तजी की समाजवादी के रूप में प्रसिद्धि के लिये पर्याप्त संकेत देता है। "वाद" की अपेक्षा कार्य को अधिक महत्त्व देने के कारण गुप्तजी आज तथाकथित समाजवादी मंच पर भाषण करते नहीं दिखाई पड़ते, किन्तु उनकी विचारधारा में कोई अन्तर नहीं आया है। अभी हाल में ही उन्होंने बड़ी स्पष्टभाषिता के साथ एक समाजवादी देश रूस के भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण रवैये और विकास कार्यों में महत्त्वपूर्ण योगदान की प्रशंसा और पूंजीवादी रवैये के देश इंग्लैंड और अमेरिका की पाक आक्रमण के सम्बन्ध में अपनाये भारत-विरोधी कार्यों की निन्दा की है।[1] उन्होंने अपने विचार "वाद" की अपेक्षा वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर व्यक्त किये हैं।

कांग्रेस के बम्बई-अधिवेशन में—२६ से २८ अक्टूबर, १९३४ ई० तक कांग्रेस का अधिवेशन बाबू राजेन्द्र प्रसाद के सभापतित्व में बम्बई में हुआ। गांधीजी सितम्बर मास में ही कांग्रेस से उसकी चार आने की सदस्यता से अलग हो चुके थे, किन्तु कांग्रेस पर उनका प्रभाव और उससे सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों बना हुआ था। अतएव उक्त अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास हुए उनसे गांधीजी सन्तुष्ट थे। गुप्तजी लखनऊ से प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने गये थे। इस बार उन्होंने अखिल भारतीय राजनीति के रंगमंच पर अपनी कार्यक्षमता और उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस की महत्त्वपूर्ण भूमिका का परिचय देने के लिये प्रादेशिक कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी आचार्य कृपालानी से कांग्रेस का आगामी अधिवेशन लखनऊ में करने के लिये निमन्त्रण देने को कहा। गुप्तजी का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया गया। उक्त अधिवेशन में कांग्रेस का नया विधान, रचनात्मक कार्यक्रम, साम्प्रदायिक निर्णय एवं अखिल भारतीय ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकृत हुए। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ के विषय पर खासी बहस और चहल-पहल रही और इस सम्बन्ध में भी एक लम्बा प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रस्ताव के परिणामस्वरूप ही नुमाइशों तथा प्रदर्शनों के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव पास किया गया।[2] गुप्तजी इस प्रकार की नुमाइशों की उपयोगिता से पहले से ही परिचित थे और इसके पूर्व अनेक नुमाइशों का संयोजन कर चुके थे। इस प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद उन्होंने इस कार्य को और भी उत्साह से करना आरम्भ किया।

कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती—सन् १९३४ और १९३५ के वर्ष कांग्रेस के जीवन में अस्थिरता, अनिश्चय और आत्म-मंथन के वर्ष थे। सत्याग्रह समाप्त हो चुका था। २३ जुलाई, १९३५ ई० को भारत सरकार के संविधान पर इंगलैंड के सम्राट् के हस्ताक्षर हुए। मुस्लिम लीग से कांग्रेस के समझौते के प्रयास में व्यर्थ का समय नष्ट हुआ। संविधान में यद्यपि स्वराज का नामोनिशान न था फिर भी कांग्रेस ने काफी सोच-विचार के बाद चुनाव में भाग लेने का निर्णय किया क्योंकि राष्ट्रीय चेतना को उद्दीप्त करने का इस समय यही क्षीण साधन अवशिष्ट था। १९३५ ई० में कांग्रेस का कोई अधिवेशन न हो सका। पहले यह निश्चय किया गया था कि १९३५ ई० में अखिल भारतीय स्तर पर कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जायेगी, परन्तु वह भी न मनायी जा सकी। लखनऊ में अवश्य यह जयन्ती गुप्तजी आदि नेताओं के प्रयास से धूमधाम से मनायी गयी।

२१ दिसम्बर १९३५ ई० को श्री चन्द्रभानु गुप्त और बाबू मोहन लाल सक्सेना ने लोगों का कांग्रेस की ५० वीं जयन्ती धूमधाम से मानने का आवाहन किया। २८ दिसम्बर को जयन्ती मनायी गयी। प्रभात फेरियां निकलीं और डॉ० मुरारी लालजी ने अमीनुद्दौला पार्क में राष्ट्रीय झण्डा फहराया। गुप्तजी के संयोजकत्व में अमीनुद्दौला पार्क में एक विराट् प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था।

लखनऊ-कांग्रेस के अधिवेशन में—कांग्रेस के इतिहास में लखनऊ-अधिवेशन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इस अधिवेशन में कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं हुआ, किन्तु कांग्रेस के भावी जीवन में संस्था और नेहरूजी के व्यक्तित्व के मध्य रस्साकशी और मुख्यतः वर्गवाद पर आधारित दलीय दलबन्दी की नींव यहीं पड़ी। दल बनाम व्यक्ति और दल बनाम दलबन्दी में कांग्रेस के इतिहास में विजयी कौन रहा, इसका निर्णय अभी भावी इतिहास के गर्भ में है। इस बात का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि गुप्त जी बम्बई-अधिवेशन में कांग्रेस को लखनऊ में अधिवेशन करने का निमन्त्रण दिये जाने के प्रबल समर्थक थे। अतएव अपने उत्तरदायित्व से वे परिचित थे। उन्होंने लखनऊ आते ही तदनुकूल अधिवेशन के संगठन का प्रयास आरम्भ किया। जनता से दान एकत्र करने में गुप्तजी विशेष निपुण हैं। उन्हें बाइबिल के इस कथन में पूर्ण आस्था है कि 'दरवाजा खटखटाओ, वह अवश्य खुलेगा।' उनका मत है कि 'लोगों में दान और परोपकार की भावना स्वतः विद्यमान है, आवश्यकता है लोगों का विश्वास प्राप्त करने की और यथोचित कार्य के लिये त्याग करने का उन्हें स्मरण दिलाने की।'

गुप्तजी आगामी अधिवेशन के लिये धन तथा अन्य साधनों की व्यवस्था में जुटे हुए थे। इसके अतिरिक्त वे एक उचित स्थान की खोज में थे, जहां अधिवेशन हो सके। नाकाहिण्डोला के निकट उन दिनों कुछ ही मकान थे। शेष भूमि

---

१. देहरादून में ३ नवम्बर, १९६५ ई० को दिया गया भाषण।
२. संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास, पृ० २८२।

वीरान पड़ी थीं। उन्होंने एक वर्ग मील का क्षेत्र इसके लिये चुना। कालान्तर में उन्हीं की प्रेरणा से स्व० मोतीलाल नेहरू के नाम पर वहां बसने वाले मुहल्ले का नाम मोती नगर रखा गया। २५ जनवरी, १९३६ ई० को वहीं उत्तर प्रदेश कांग्रेस-कमेटी की बैठक की गयी। इस बैठक में आगामी कार्यक्रम के ऊपर विचार हुआ और दूसरे दिन होने वाले स्वतन्त्रता-दिवस को धूमधाम से मनाने का निश्चय किया गया तथा अधिवेशन के संगठन का निश्चय किया गया। अधिवेशन का १३ से १४ अप्रेल तक होना निश्चय हुआ था।

डा० हर्डीकर स्वयं सेवक विभाग के प्रबन्धक थे। बाबू सम्पूर्णानन्द स्वयंसेवकों के जत्थे के कप्तान थे। अन्य प्रमुख कार्यकर्ताओं में दयाकिशन गंजूर कैम्प प्रवन्ध के अध्यक्ष, पं० बंशीधर मिश्र कैम्प समिति के मंत्री, पुलिन बिहारी बनर्जी, बाजार समिति के मंत्री डॉ० लक्ष्मीसहाय, निरीक्षण समिति के अध्यक्ष श्री बल्लभदास रस्तोगी, कोषाध्यक्ष श्री रामधर मिश्र, पंडाल समिति के मंत्री, श्री बालकराम वैश्य, प्रदर्शिनी के स्वयंसेवकों के इन्चार्ज और महिला स्वयं सेवकाओं की कप्तान श्रीमती मित्रा थीं। श्री राजनारायण खन्नाजी मेस कमेटी के मंत्री नियुक्त किये गये। यह सब हुआ और नवयुवक उत्साही तथा परिश्रमी गुप्तजी को महामंत्री के पद पर न होने देने की चेष्टा के बावजूद इस अधिवेशन के संचालन का सारा श्रेय श्री गुप्तजी को प्राप्त हुआ क्योंकि उन्होंने ही अपने समर्थकों को जुटाकर अधिवेशन को सफलता प्रदान कराई और सारे अधिवेशन के खर्च के लिये अकेले ही अपने साथियों के सहयोग से साधनों को जुटाया। इस कार्यकुशलता ने उन्हें कांग्रेसजनों के बीच में प्रिय बना दिया।

अधिवेशन नगर की सजावट एवं अन्य सारी व्यवस्थायें बड़ी उत्तम थीं। अधिवेशन तीन दिनों तक चलता रहा। पं० जवाहर लाल नेहरू अधिवेशन के सभापति चुन लिये गये थे। अधिवेशन के सभापतित्व के समय वे आ गये। इस समय विश्व राजनीति बड़े संक्रांति-काल से गुजर रही थी। यूरोप में तानाशाही शक्तियाँ अपने भाग्य-निर्णय की तैयारी में जुटी हुई थीं। प्रजातांत्रिक और साम्यवादी व्यवस्थायें अपने ढंग से उसके प्रतिरोध में संलग्न थीं, किन्तु भारत पर साम्राज्यवादी पंजे की पकड़ ढीली नहीं पड़ रही थी। इस समय स्थिति का चित्रण करते हुए डा० सीतारमैया ने लिखा है, "अप्रैल १९३६ ई०का हिन्दुस्तान कहां था? उसका क्या दृष्टिकोण था? वे आर्थिक सामाजिक शक्तियां, जो यूरोप को क्रान्ति के भँवरों में फेंक रहीं थीं उनकी यहां क्या प्रतिक्रिया हो रही थी? क्या यह सम्भव था कि अथाह अटलांटिक, असीम प्रशान्त सागर और दुर्गम हिमालय, पश्चिम में उथल-पुथल मचाने वाले विचारों को हिन्दुस्तान से अलग रख सकते?"[1] और इसी का परिणाम यह था कि 'जवाहरलाल जी जब हिन्दुस्तान लौटे तो उनका दिमाग साम्यवादी और मार्क्सवादी विचारों से भरा हुआ था।'[2] इसके फलस्वरूप उन्होंने कृषकों के कार्यक्रम को अधिक महत्त्व देने के लिये कांग्रेस को प्रेरित किया। अतएव लखनऊ अधिवेशन में खेतिहर कार्यक्रम की अन्तिम रूपरेखा और आगामी चुनाव घोषणा-पत्र की तैयारी के प्रस्ताव स्वीकृत हुए। मंत्रिमंडल-प्रवेश के सम्बन्ध में कोई अन्तिम निर्णय नहीं लिया जा सका।

अधिवेशन १२, १३ और १४ अप्रैल को हुआ। मोती नगर में डाक-तार और चिकित्सालय की स्थापना की गई थी। इसी अधिवेशन के समय एक अलग पण्डाल में अखिल भारतीय मुशायरा श्रीमती सरोजिनी नायडू की अध्यक्षता में हुआ। इसमें उर्दू के अनेक नामीगरामी शायर मौजूद थे। कांग्रेस का यह लखनऊ अधिवेशन शानदार ढंग से हुआ ही, गुप्तजी के सहयोग से खादी और ग्रामोद्योग की वृहद् प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था जो बहुत सफल सिद्ध हुआ। इसके बाद ही अधिवेशन नगर की रचना में जो काफी लकड़ी,लोहा लगा था उसके विक्रय ने अधिवेशन के व्यय की पूर्ति की। आम के आम और गुठलियों के दाम की कला कोई गुप्त जी से सीखे। इस प्रकार वे अधिवेशन के 'ओवर ड्राफ्ट' के संकट से उबर सके। उस समय कोई प्रतिस्पर्धी सहायतार्थ सामने नहीं आया।

सन् १९३६ एवं १९३७ ई० के आम चुनाव में—अनेक कठिनाइयों और लोगों के विरोध के बावजूद भी गुप्तजी ने लखनऊ-कांग्रेस-अधिवेशन को सफल बनाने में जो योग दिया उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। नवीन संविधान के अनुसार कांग्रेस को आम चुनाव में भाग लेने के सम्बन्ध में निर्णय लेना था। २२, २३ अगस्त, १९३६ ई० को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिसमें चुनाव-घोषणा-पत्र पर विचार किया गया था, किन्तु मंत्रिपद ग्रहण करने के सम्बन्ध में कोई निर्णय न लिया जा सका और इस विषय को आगामी कांग्रेस-अधिवेशन के विचारार्थ टाल दिया गया। गुप्तजी लखनऊ अधिवेशन के बाद कांग्रेस-संगठन के कार्य में लगे रहे। २७, २८ दिसम्बर, १९३६ ई० को कांग्रेस का अधिवेशन महाराष्ट्र के एक गांव फैजपुर में हुआ, किन्तु वे उसमें न जा सके। इस अधिवेशन के सभापति भी नेहरूजी थे।

---

१. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड २, पृ० ३।
२. वही पृ० ११।

अतएव यहां समाजवादी व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार किया गया। किन्तु नेहरूजी इस बात के विरुद्ध थे कि चुनावों में विजयी होकर मंत्रिपद ग्रहण किया जाये।[1] अतएव इस अधिवेशन में भी इस सम्बन्ध में कोई निर्णय न लिया जा सका। यद्यपि चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया गया।

यहां एक बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि गुप्तजी सदा से इस मत के समर्थक थे कि चुनावों में भाग लिया जाये और मंत्रिपद भी ग्रहण किया जाये। यद्यपि आगामी चुनाव में उन्हें मंत्रिमण्डल में इसीलिये सम्मिलित होने का अवसर नहीं मिला क्योंकि वे समाजवादी दल के साथ थे। ऐसे अवसर पर गुप्तजी का मंत्रिपद ग्रहण करने का दृष्टिकोण वस्तुतः एक राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचायक था, क्योंकि आगामी इतिहास इस बात को सिद्ध करता है कि कांग्रेस ने मंत्रिमंडल का निर्माण कर, खोने के स्थान पर कुछ प्राप्त ही किया। अपनी मांगों को आधिकारिक ढंग से मनवाना, अंग्रेजी सरकार के हस्तक्षेप को नीति और उसका पर्दाफाश तथा प्रशासनिक क्षमता के व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि, कांग्रेस के भावी जीवन के लिये बड़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। १९३७ ई० के चुनाव में विजयी होने पर गुप्तजी ने सम्पूर्णानन्द जी के इस विचार का समर्थन किया था कि उन्हें मंत्रिमंडल में प्रवेश करना चाहिए। पन्तजी ने आचार्य नरेन्द्रदेव को मंत्रिमंडल में आने के लिये आमंत्रित किया किन्तु आचार्यजी ने इन्कार कर दिया। गुप्तजी ने भी आचार्यजी को परामर्श दिया कि वे मंत्रिमंडल में सम्मिलित हो जायें क्योंकि इससे उन्हें सरकार के माध्यम से समाजवादी विचारधारा को कार्यान्वित करने का अवसर मिलेगा। वस्तुतः यह बात सच थी, क्योंकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जमींदारी उन्मूलन, सहकारिता आदि से सम्बन्धित अधिनियम सरकार के द्वारा ही लागू किये जा सके और उनके द्वारा रक्तहीन क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। आचार्यजी अपने निश्चय पर अडिग रहे। इसका एक कारण यह भी था कि उनके परामर्शदाता डॉ० राम मनोहर लोहिया, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री अशोक मेहता आदि भी मंत्रिमंडल प्रवेश के विरुद्ध थे। कालान्तर में इन्हीं कांग्रेसी समाजवादियों के कई कायापलट हुए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् तथाकथित नेताओं ने अलग दल की स्थापना की। फिर उन दलों के भी अनेक दल बने। श्री जयप्रकाश नारायणजी ने अन्ततोगत्वा राजनीति से संन्यास लेने की घोषणा की और सर्वोदयी बन गये। श्री अशोक मेहता पुनः कांग्रेस में वापस आये और अब मंत्रिपद ग्रहण किया। मीनू मसानी पक्के समाजवादी और मंत्रिपद ग्रहण करने के विरुद्ध थे, किन्तु आज स्वतन्त्र पार्टी के नेता हैं। नेहरूजी कुछ दिन में स्थिति से अवगत हो गये और उन्होंने मंत्रिपद ग्रहण की बात स्वीकार कर ली।

फरवरी, १९३७ ई० में सारे देश में आम चुनाव हुआ। इसमें २ करोड़ ८० लाख लोगों ने मतदान किया। समस्त विधान सभाओं में कुल १५८५ सीटें थीं जिनमें ७११ कांग्रेस को प्राप्त हुईं। उत्तर प्रदेश, मद्रास, मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में उसका स्पष्ट बहुमत रहा। असम, बंगाल, सीमा प्रान्त और बम्बई में उसे सबसे बड़ी पार्टी का पद मिला था। उत्तर प्रदेश में कुल २२८ सीटों में १३४ अर्थात् ५९ प्रतिशत कांग्रेस को प्राप्त हुई थीं। उत्तर प्रदेश में मुस्लिम लीग चुनाव में हार गई थी क्योंकि उसे कुल ६४ मुस्लिम सीटों में से २७ ही प्राप्त हो सकी थीं। लखनऊ नगर से कांग्रेस के दो उम्मीदवार विजयी हुए थे—श्री चन्द्रभानु गुप्त और हरिजन उम्मीदवार श्री नारायण दास। इसी चुनाव ने गुप्तजी की ख्याति बढ़ाई क्योंकि इस चुनाव में भी उनके कुछ प्रतिद्वंद्वियों ने उन्हें अन्दर-अन्दर कार्य करके हराने की पूरी चेष्टा की थी और उनके अध्यापक प्रसिद्ध बैरिस्टर जयकरणनाथ मिश्र को उनके विरुद्ध लड़ने के लिये खड़ा किया था। डॉ० जयकरणनाथ को गुप्तजी ने भारी बहुमत से हराया था।

चुनाव में सफलता के बाद भी मंत्रिमंडल बनाने का प्रश्न कांग्रेस के समक्ष विचाराधीन था। इस सम्बन्ध में निर्णय करने के हेतु १७, १८ मार्च, १९३७ ई० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की दिल्ली में बैठक हुई। इसमें यह निर्णय हुआ कि यदि प्रदेशों के गवर्नर यह वायदा करें कि वे 'वीटो' (विशेषाधिकार) का प्रयोग नहीं करेंगे तो कांग्रेस मंत्रिमंडल बना सकती है। अन्त में वाइसराय के कुछ आश्वासन के पश्चात् ७ जुलाई, १९३७ ई० को कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाया।

उत्तर प्रदेश में मंत्रिमंडल का नेता चुनने के पूर्व प्रान्तीय कांग्रेस कौंसिल की एक बैठक हुई। इस बैठक में भाग लेने के लिये नेहरू जी इलाहाबाद से आये। नेहरूजी पुरुषोत्तम दास टंडन को मुख्य मंत्री बनाना चाहते थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने गुप्तजी से बात की। जब कौंसिल की बैठक हुई तो संयोगवश टंडन जी दिल्ली गए हुए थे। वे प्रान्तीय कांग्रेस की कौंसिल की बैठक के बाद उसी दिन लखनऊ आये। उन्होंने अपने दोनों घनिष्ठ मित्रों की राय के विरुद्ध कार्य करना मुनासिब नहीं समझा। इधर बैठक आरम्भ होते ही आचार्य नरेन्द्रदेव ने पं० गोविन्द वल्लभ पन्त का नाम प्रस्तावित

---

१. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड २, पृ० ११।

कर दिया। सम्पूर्णानन्द जी ने इसका समर्थन किया, क्योंकि रात में दोनों लोग पन्तजी के पक्ष में हो गये थे। नेहरूजी पन्त जी को उदारवादी समझने के कारण उनका नेतृत्व नहीं चाहते थे। अब पन्तजी के नाम का प्रस्ताव और समर्थन हो जाने पर नेहरूजी विशेषतः गुप्तजी की ओर बार-बार देखते रहे और गुप्तजी भी नेहरूजी की राय से सहमत होते हुए और टंडन जी के नेतृत्व में विश्वास करते हुए भी कुछ न कर सके। प्रस्ताव पन्तजी के समर्थन में पास हो गया। टंडन जी ने नेहरूजी के आग्रह पर ही विधान सभा का उम्मीदवार होना स्वीकार किया था। दोपहर को टंडन जी दिल्ली से आते ही गुप्तजी के पास गये और प्रदेशीय कांग्रेस कौंसिल के निर्णय की जानकारी प्राप्त की। उस जानकारी ने उन्हें अचम्भे में डाल दिया।

जैसा कि ऊपर इस बात का संकेत किया जा चुका है, समाजवादी दल से सम्बद्ध होने के कारण गुप्तजी मंत्रिमंडल में न जा सके। उत्तर प्रदेश में जो मंत्रिमंडल बना उसके मुख्य मंत्री पं० गोविन्द वल्लभ पन्त थे। रफी अहमद किदवई, माल मंत्री, श्रीमती विजयी लक्ष्मी पंडित, स्वायत्त शासन मंत्री, डॉ० कैलाशनाथ काटजू, न्याय, उद्योग तथा श्रम मंत्री, हाफिज मुहम्मद इब्राहीम यातायात मंत्री और पं० प्यारेलाल शर्मा शिक्षा मंत्री बने। सभा-सचिवों में ठा० हुकुम सिंह, श्री अजित प्रसाद जैन, आचार्य जुगुल किशोर, श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव, पं० आत्मा राम गोविन्द खेर, पं० वेंकटेश नारायण तिवारी आदि थे। एक वर्ष के पश्चात् पं० प्यारे लाल शर्मा ने मंत्रिपद त्याग दिया तथा डॉ० सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा मंत्री बने। कराची अधिवेशन के निर्णयानुसार मंत्रियों का वेतन ५०० रुपये था।

काकोरी-काण्ड के कैदियों का स्वागत—कांग्रेस ने अपनी चुनाव घोषणा में यह कहा था कि मंत्रिमंडल का निर्माण होने पर कांग्रेस राजनैतिक कैदियों को रिहा कर देगी। उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने इस सम्बन्ध में निर्णय लिया और १२ वर्षों से जेलों में बन्द काकोरी के कैदी मुक्त कर दिये गये। कैदियों के मुक्त होने पर लखनऊ और कानपुर की नगर-पालिकाओं ने उन्हें मानपत्र भेंट किया। इसके अतिरिक्त इन कैदियों के स्वागतार्थ अनेक सभाओं के आयोजन किये जिसमें गुप्तजी ने बड़ी सक्रियता से कार्य किया। ये कैदी क्रान्तिकारी होने के कारण जेल गये थे और गुप्तजी का तो क्रान्तिकारियों के प्रति आरम्भ से ही आकर्षण रहा है। काकोरी-काण्ड की पैरवी करने के कारण उनका उक्त कैदियों से विशेष लगाव था। सरकार इन कैदियों के अभूतपूर्व स्वागत से घबड़ा उठी थी और महात्मा गान्धी को क्रान्तिकारियों को जन-सामान्य में इतना महत्त्व मिलने के कारण शंका हुई और उन्होंने इसके विरुद्ध वक्तव्य भी दे डाला, जिससे कांग्रेस सामान्यतः तटस्थ हो गयी। यहां पर यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि गुप्त जी काकोरी-काण्ड की पैरवी के बाद क्रान्तिकारियों के वकील के रूप में अखिल भारतीय ख्याति पा चुके थे। काकोरी केस के बाद उन्होंने मेरठ षड्यन्त्र केस में अभियुक्तों की वकालत की थी। १९२९ ई० में लाहौर-केस में भगत सिंह ने गुप्तजी को वकालत करने के लिये पत्र लिखा था और गुप्तजी वहां गये भी थे। किन्तु लखनऊ में कुछ कार्यव्यस्तता के कारण पैरवी न कर सके और वापस आ गये। बाद में कराची-अधिवेशन में लाहौर-केस के कुछ पैरवीकार जब गुप्तजी से मिले तो उन्होंने केस के समय गुप्तजी की अनुपस्थिति के सम्बन्ध में चर्चा की।

काकोरी कैदियों के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश और बिहार में कुछ राजनीतिक कैदी ऐसे भी थे जिन्हें ब्रिटिश सरकार मुक्त नहीं करना चाहती थी और इस सम्बन्ध में कांग्रेस द्वारा निर्णय लेने पर गवर्नर हस्तक्षेप कर रहे थे। बात यहां तक बढ़ी कि उक्त दोनों प्रदेशों के मन्त्रिमण्डलों ने फरवरी १९३८ ई० में त्याग-पत्र देने की धमकी दी थी।

हरिपुरा-अधिवेशन में—गुप्तजी मंत्रिमंडल के बाहर रहने के कारण कांग्रेस के दलीय संगठन के लिये अधिक समय निकाल सकते थे। उन्होंने उन दिनों यही कार्य किया। वे किस प्रकार सामाजिक जन-कल्याण के कार्यों में व्यस्त रहते थे, इसका एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है। डा० सम्पूर्णानन्द जी इस समय मंत्री थे। उन्होंने उत्तर प्रदेश में ६–७ श्रमिक कल्याण-केन्द्र खोलने की योजना बनायी। गुप्तजी ने तत्काल उसका स्वागत किया और लखनऊ में चारबाग में उन्होंने श्रमिक कल्याण केन्द्र खुलवाने में योग दिया। श्री बालकराम वैश्य उसके संचालक बनाये गये। इस केन्द्र द्वारा मजदूरों के शिक्षण, पुस्तकालय, अस्पताल इत्यादि की व्यवस्था हुई। यह केन्द्र स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व तक चलता रहा। बाद में गुप्तजी जब मंत्री हुए तो इसे सरकार के अधीन कर दिया गया और फिर इसे ऐशबाग के औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरित कर दिया गया, जहां यह एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में अब विद्यमान है।

कांग्रेस का अगला अधिवेशन बारदोली के हरिपुरा गांव में हुआ। गांधीजी के निर्देशानुसार फैजपुर अधिवेशन से ही यह परम्परा डाली गयी थी कि कांग्रेस के अधिवेशन गांवों में हुआ करें। हरिपुरा अधिवेशन सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में १९, २०, २१ फरवरी १९३८ ई० को हुआ। गुप्तजी इस अधिवेशन में भाग लेने गये। सुभाषबाबू ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा कि, "इस वर्ष वह भारत की जनता में ऐसी अवरोध शक्ति का विकास करने की चेष्टा करेंगे,

जसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को राष्ट्र पर अवांछनीय योजना लादने का विचार त्यागने के लिये विवश होना पड़ेगा। अपने इन प्रयत्नों के दौरान में भारत की जनता अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर दृष्टि रखेगी और ऐसी नीति से काम लेगी, जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके।"[1] इस प्रकार सुभाष बाबू ने १९३५ ई० के संविधान में उल्लिखित संघ-शासन की निन्दा की और विरोध का अधिक उग्र मार्ग अपनाने की ओर भी संकेत किया तथा विस्फोटक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की ओर इंगित करते हुए उसका भारत के पक्ष में उपयोग करने की राय दी। वस्तुतः इस अधिवेशन में कोई ऐतिहासिक निर्णय नहीं लिया जा सका किन्तु विभिन्न विचारधाराओं में पल्लवित कांग्रेस के वे दलीय मत-भेद यहां अधिक मुखर हो उठे जिनका विस्फोट आगामी अधिवेशन में हुआ।

अधिवेशन के पश्चात् राजनीतिक बन्दियों के सम्बन्ध में सरकार के झुकने पर कांग्रेस ने मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र देने का विचार छोड़ दिया।

सुभाषचन्द्र बोस के साथ—"शठे शाठ्यं समाचरेत्" की नीति में विश्वास रखने वाले, मेधावी, उग्र किन्तु गम्भीर और अपनी विचारधारा में स्पष्टवादी सुभाषचन्द्र बोस उन दिनों वास्तविक अर्थ में भारत-युवक-हृदय-सम्राट् थे। उनकी कर्मठता और व्यक्तित्व का जादू किसी भी राष्ट्रवादी व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करते के लिये पर्याप्त था। गुप्तजी का सुभाष बाबू के प्रति एक सहजाकर्षण था। सुभाषबाबू भी गुप्तजी की कर्मठता और संगठन-शक्ति से परिचित थे। अजमेर में कांग्रेस के एक दलीय झगड़े की जांच के लिये उन्होंने गुप्त जी को भेजा, जिसकी जांच गुप्त जी ने सफलतापुर्वक सम्पादित की थी। हरिपुरा अधिवेशन के पश्चात् सुभाषबाबू लखनऊ आये। पं० गोविन्द वल्लभ पन्त उन्हें अपने यहां ठहराने के इच्छुक थे। गुप्तजी ने सुभाषबाबू के ठहरने का प्रबन्ध सम्पूर्णानन्द जी के यहां कर दिया। इसी समय सेठ रामजस जी ने सुभाषबाबू के सम्मान में कैसरबाग बारादरी में एक प्रीतिभोज दिया था। इसके बाद सुभाषबाबू ने उत्तर प्रदेश का दौरा किया जिसमें गुप्त जी उनके साथ थे। मोतीलाल मैमोरियल सोसाइटी की ओर से गुप्तजी के संयोजकत्व में एक खादी और उद्योग प्रदर्शनी का आयोजन अमीनुद्दौला पार्क में किया गया था, जिसका उद्घाटन सुभाषजी ने किया। इसी प्रकार की एक प्रदर्शनी का उद्घाटन इसके पूर्व डॉ० भगवानदास कर चुके थे। डॉ० भगवानदास लखनऊ आने पर अमीनाबाद में गुप्तजी के पास ठहरे थे।

त्रिपुरी-कांग्रेस में—सुभाषबाबू की स्पष्टवादिता और प्रखर व्यक्तित्व का जादू सर्वत्र फैलता जा रहा था। कांग्रेस का आगामी अधिवेशन मार्च १९३९ ई० में त्रिपुरी में होना निश्चित हुआ था। सुभाषबाबू हरिपुरा कांग्रेस के सभापति रह चुके थे, किन्तु इस बार भी उनके सभापति होने की चर्चा चल रही थी। क्रमशः दो बार सभापति होना कोई अपवाद न था, क्योंकि इसके पूर्व लखनऊ और फैजपुर के अधिवेशनों में जवाहर लाल नेहरू लगातार सभापति रह चुके थे। महात्मा गांधी इस बार मौलाना अबुल कलाम आजाद को सभापति बनाने के पक्ष में थे, क्योंकि इससे उन्हें मुसलमानों को कांग्रेस की ओर आकृष्ट करने काअधिक अवसर मिलता। मुसलमानों में इस समय लीग का प्रभाव बढ़ रहा था।[2] इधर सुभाषबाबू के समर्थक उन्हें पुनः सभापति के पद पर देखना चाहते थे। उन्होंने इस पर कोई आपत्ति नहीं की, यद्यपि गांधीजी उन्हें प्रोत्साहित नहीं कर रहे थे, किन्तु सुभाषबाबू का नाम सभापति के लिये प्रस्तावित हो गया और उधर आजाद का नाम भी सामने आ गया। परन्तु एक दिन बाद मौ० आजाद ने अपना नाम वापस ले लिया, तब गांधीजी ने डॉ० पट्टाभि सीतारमैया को उम्मीदवार बनाया। निर्वाचन में सुभाषबाबू ९५ मतों से विजयी हुए। कांग्रेस समाजवादी दल ने सुभाषबाबू का समर्थन किया और उन्हीं के पक्ष में वोट दिये। गुप्त जी समाजवादी दल के साथ थे ही। उन्होंने बोस को ही अपना मत दिया और अपने साथियों को भी मत देने के लिये प्रेरित किया। कांग्रेस में स्वयं नेहरूजी, अजित प्रसाद जैन, केशवदेव मालवीय इत्यादि सुभाषबाबू के विरुद्ध थे। गुप्तजी द्वारा बोस का प्रत्यक्ष समर्थन इन लोगों से एक बड़ा मनमुटाव का कारण बन गया, जिसकी प्रतिक्रिया कालान्तर तक होती रही। बोस की विजय पर महात्मा गांधी ने कहा, "पट्टाभी की हार मेरी हार है।"[3] गांधी जी के इस कथन की प्रतिक्रिया कांग्रेस की कार्यसमिति पर हुई और उसने अधिवेशन से पूर्व त्यागपत्र दे दिया। इसका सीधा अर्थ था—सभापति में अविश्वास। अब गांधीजी और सुभाषचन्द्र बोस का मतभेद खुलकर लोगों के समक्ष आ गया था। सुभाषबाबू अंग्रेजों से पूर्ण स्वराज्य की मांग मानने के लिये ६ मास का अल्टिमेटम देना चाहते थे और इसके पश्चात् सविनय अवज्ञा आन्दोलन के पक्ष में थे, किन्तु गांधीजी इससे सहमत नहीं थे। संयोगवश अधिवेशन के समय सुभाषबाबू गम्भीर रूप से ज्वरग्रस्त होने के कारण अधिवेशन के जलसे में

१. संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास, पृ० ३१८।
२. संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास, पृष्ठ ३३१।
३. भारतीय राजनीति, राम गोपाल, पृ० ३८९।

उपस्थित न हो सके। त्रिपुरी-अधिवेशन १०, ११, १२ मार्च १९३९ ई० को हुआ। सभापति (बोस) कीअ नुपस्थिति में ५२ साथियों द्वारा खींचे जाने वाले रथ पर उनका चित्र रख कर जुलूस निकाला गया। अधिवेशन का सभापतित्व कार्यवाहक रूप में मौलाना आजाद ने किया।

पन्त-प्रस्ताव——१६० प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर के साथ गोविन्द वल्लभ पन्तजी ने सभापति को एक प्रस्ताव दिया, जिसे महासमिति की बैठक में पेश किया जाना था। प्रस्ताव का सारांश इस प्रकार था,——"पिछले वर्षों में महात्मा गांधी के नेतृत्व में जिन मूलभत सिद्धान्तों ने कांग्रेस कार्यक्रम को नियंत्रित किया है, उनमें यह कांग्रेस अपना पक्का विश्वास प्रकट करती है और उसका ध्रुवमत है कि नीति सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन आवश्यक नहीं है, इन्हीं सिद्धान्तों पर कांग्रेस का भविष्य भी आधारित होना चाहिये।" आगे प्रस्ताव में कहा गया था, "इस एक वर्ष में जो संकट उत्पन्न हो सकता है, उसे ध्यान में रखकर और यह जानते हुए कि केवल महात्मा गांधी ही देश व कांग्रेस को इस संकट में विजय-पथ पर ले जा सकते हैं, कांग्रेस यह अनिवार्य मानती है कि उसकी कार्य-समिति पूर्णरूपेण गांधीजी की विश्वासभाजन हो और इसलिए अध्यक्ष से अनुरोध करती है कि गांधीजी की इच्छानुसार अपनी कार्यसमिति का निर्माण करें।"[1] कार्यवाहक अध्यक्ष ने उक्त प्रस्ताव को महासमिति की बैठक में लाने की अनुमति नहीं दी, किन्तु विषय समिति में और बाद में खुले अधिवेशन में प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकृत हो गया। यहां पर उल्लेखनीय यह है कि समाजवादी दल प्रस्ताव पर मतदान के समय तटस्थ रहा।[2] किन्तु गुप्तजी तथा उनके अनेक मित्रों जैसे—मलखान सिंह आदि ने विपक्ष में अर्थात् प्रकारान्तर से सुभाष बाबू के पक्ष में मत दिया। यह गुप्तजी के दुर्दमनीय व्यक्तित्व और स्पष्टवादिता का ज्वलन्त प्रमाण है। प्रस्ताव स्वीकृत होने का सीधा अर्थ था—सुभाषबाबू का सभापति पद से त्याग-पत्र, क्योंकि प्रस्ताव के अनुसार सभापति की अपनी राय कोई महत्त्व नहीं रखती थी और सुभाष बाबू अपनी निश्चित राय रखने वाले और इस सम्बन्ध में किसी के समक्ष न झुकने वाले कर्मठ व्यक्ति थे। यह प्रस्ताव कांग्रेस की परम्परा के प्रतिकूल था और स्पष्ट रूप से अध्यक्ष में अविश्वास की भांति था। वांछित फल प्राप्त हुआ। सुभाषबाबू ने अन्ततः सभापति के पद से इस्तीफा दे दिया। धीरे-धीरे उनको कांग्रेस से पृथक् होकर "फॉरवर्ड लाक" की स्थापना करनी पड़ी जो तेज चाल में विश्वास करता था[3] वस्तुतः सुभाषबाबू न तो कांग्रेस से ही अलग होना चाहते थे और न वे कांग्रेस नेताओं के विरोधी थे, जैसा कि कालान्तर में भी वे गांधी और नेहरू जी का सम्मान करते रहे। एक बार एक पत्रकार ने सुभाषबाबू से पूछा——"सारे नेता आपके खिलाफ हैं। आप कैसे कामयाब होंगे। आपकी बात ये लोग मानने वाले नहीं। जवाहरलालजी भी तो खुलकर आपके साथ नहीं हैं।" बोस का उत्तर था——"अगर मुझे इस संघर्ष में कोई भी तकलीफ है तो यह कि जवाहरलालजी मेरा साथ नहीं दे रहे हैं। अगर वे साथ दें तो फट्टा हो जाय।"[4] इस प्रकार भारत की एक महान् प्रतिभा——"यदि तोर डाक सुने केऊ न आसे, तबे एकला चलो रे" का अनुसरण करती हुई अकेले संघर्ष के मार्ग पर चल पड़ी।

गुप्तजी की समाजवादी रुझान का परिचय पीछे दिया जा चुका है। वे द्वितीय महायुद्धकालीन आन्दोलनों में भाग लेने से पूर्व कांग्रेस के संगठन कार्य में दत्तचित्त थे। इस समय वे समाजवादी विचारधारा के प्रचार और प्रोत्साहन का भी कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे। सन् १९३७ ई० में समाजवादी दल ने 'संघर्ष' नामक पत्र निकाला जिसका कार्यालय मॉडल हाउस, लखनऊ में था। श्री यदुनाथ गौतम इसके प्रबन्धक और बी० पी० सिनहा इस के सम्पादक थे। गुप्तजी का उक्त पत्र को पूर्ण सहयोग और संरक्षण प्राप्त था। "भारत छोड़ो आन्दोलन" के समय यह पत्र सरकार ने बन्द करा दिया। बाद में श्री बी० पी० सिनहा को गुप्तजी ने मोतीलाल स्मारक समिति द्वारा संचालित राष्ट्रीय विद्यालय (नेशनल कालेज) का प्रिन्सिपल बना दिया। सन् १९३८ ई० में गुप्तजी स्वयं "जनमत" नाम का समाचार-पत्र निकालना चाहते थे जो कई कारणों से नहीं निकल सका।

३ सितम्बर, १९३९ ई० को द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने के कुछ घण्टे के बाद ही वाइसराय ने जन-प्रतिनिधियों की बिना राय लिये ही भारत के इस युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी।[5] ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने भी एक बिल पास किया जिसमें वाइसराय को भारतीय धारा सभाओं के भंग करने का अधिकार प्राप्त था। कांग्रेस ने लोकतंत्र के सामान्य अधिकारों की मांग की जिसके प्रति ब्रिटिश सरकार उपेक्षा दिखाती रही। फलस्वरूप नवम्बर १९३९ ई० तक मंत्रिमंडल ने त्यागपत्र

---

१. भारतीय राजनीति, रामगोपाल पृ० ३९०।

२. राष्ट्रीय आन्दोलनों का इतिहास, मन्मथनाथ गुप्त, पृ० ३८७।

३. वही पृ० ३८८।

४. धर्मयुग, २३ जनवरी १९६६ ई० "एक दिन की बात", पी० डी० टण्डन, पृ० ४४।

५. भारतीय राजनीति, पृ० ३९१।

दे दिया। युद्ध के साथ कांग्रेस और अंग्रेजी सरकार के मतभेद में भी तीव्रता आती जा रही थी। अंग्रेजी सरकार अब पूरी तरह दमन पर उतारू थी और परीक्षा की घड़ी निकट आ रही थी।

समाजवादी दल विरोध में अधिक प्रखरता से सामने आ रहा था। १२ मार्च, १९४० ई० को आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में भारतीय कांग्रेसी समाजवादी दल की बैठक लखनऊ में बुलाई गयी। गुप्तजी इसमें उपस्थित थे। इसी बीच जयप्रकाश नारायण और सज्जाद जहीर को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया। १४ मार्च, १९४० ई० को अमीनुद्दौला पार्क में श्री गुप्तजी की अध्यक्षता में एक सभा हुई जिसमें उक्त कार्यकर्त्ताओं को उनकी गिरफ्तारी पर बधाई दी गयी और जनता को स्वतंत्रता के युद्ध के लिये तैयार होने का आवाहन किया गया।

रामगढ़ कांग्रेस में——१९, २० मार्च १९४० को मौलाना अबुल कलाम आजाद के सभापतित्व में बिहार में रामगढ़ नामक स्थान पर कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन बड़ा ऐतिहासिक सिद्ध हुआ क्योंकि इसके बाद कई वर्षों तक कांग्रेस के अधिवेशन होने की नौबत ही नहीं आयी। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने फासिस्टवाद के साथ साम्राज्यवाद के विरोध में भी प्रस्ताव पास किया। मौ० आजाद ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया। गुप्तजी इस अधिवेशन में गये थे। अधिवेशन के समय जोरों की वर्षा हुई और सारा मैदान झील सदृश हो गया। गुप्तजी अधिवेशनों में अपना बिस्तर जमीन पर लगाया करते थे, यहां जमीन पर पानी आ गया अतएव वे कुछ ऊंचे स्थान पर रात भर बैठे रहे। सोने का अवसर नहीं मिला। श्री राममूर्ति आदि और श्री शान्ति प्रपन्न शर्माजी के पास चारपाइयां थीं। पानी के कारण वे लोग भी सो न सके। लोगों ने राम-राम कर किसी प्रकार रात बितायी। मार्च में वर्षा होने के कारण कुछ ठण्डक भी आ गई थी। अध्यक्षीय भाषण के बाद घोर वर्षा में घुटनों तक पानी में खड़े हुए लोगों के समक्ष पं० जवाहर लाल नेहरू ने युद्ध में असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव उपस्थित किया जो स्वीकृत हो गया।

बम्बई की महासमिति की बैठक में——जून १९४० ई० में पूना में कांग्रेस की महासमिति ने राजगोपालाचारी के सुझाव पर अपनी मांगें कम कर सरकार से सहयोग का प्रस्ताव पास किया किन्तु सरकार के रुख में कोई अन्तर नहीं आया। गांधीजी युद्ध में किसी भी शर्त पर सहयोग के विरुद्ध थे। १५, १६ सितम्बर १९४० ई० को कांग्रेस महासमिति की बैठक बम्बई में हुई। गुप्तजी इस बैठक में उपस्थित थे। इसके पूर्व वे "पूना" की बैठक में भी जा चुके थे। यहां कांग्रेस ने गांधीजी को मनचाहे ढंग से आन्दोलन चलाने की छूट दे दी। गांधीजी ने अपने भाषण में कहा——"अगर हम सरकार से ऐसी घोषणा प्राप्त कर सकें कि कांग्रेस युद्ध-विरोधी तथा युद्ध की सरकारी तैयारियों से असहयोग का प्रचार कर सकेगी तो हम सविनय अवज्ञा आन्दोलन नहीं करेंगे।"[1] इस बैठक में सत्याग्रह आरम्भ करने की बात पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सका और गांधीजी ने उक्त संदर्भ में वाइसराय से बात करने की सलाह दी। इस बैठक में पूना प्रस्ताव को रद्द घोषित किया गया और सरकार से युद्ध के सम्बन्ध में कोई सहयोग न करने का दृढ़ निश्चय किया गया।

व्यक्तिगत-सत्याग्रह——बम्बई की बैठक में यह स्पष्ट हो गया था कि सत्याग्रह के दिन दूर नहीं हैं। गांधीजी के निर्देशानुसार ऐसे सत्याग्रहियों की सूची तैयार करनी थी, जो नियमित रूप से कताई करते हों, खादी पहनते हों और अस्पृश्यता में विश्वास रखते हों। गुप्तजी ने बम्बई से लौटकर उक्त कार्य जोरों से आरम्भ कर दिया। यहां पर यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि लखनऊ में गिरफ्तारियां अप्रैल १९४० ई० से आरम्भ हो गयी थीं। ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया। इसी समय पं० हरिश्चन्द्र वाजपेयी युद्ध के विरुद्ध प्रचार करने के अभियोग में गिरफ्तार कर लिये गये। मई में पुलिन बिहारी बनर्जी और योगेशचन्द्र चटर्जी गिरफ्तार हुए। फिर यह सिलसिला लखनऊ में चलता ही रहा। १७ अक्तूबर, १९४० ई० को विनोबा भावे ने व्यक्तिगत सत्याग्रह विधिवत् आरम्भ कर दिया फिर तो व्यक्तिगत सत्याग्रह की दावाग्नि चारों ओर बड़े वेग में फैलने लगी।

गुप्तजी १५ दिसम्बर, १९४० ई० को व्यक्तिगत सत्याग्रह के सम्बन्ध में अमीनाबाद में गिरफ्तार हुए और १६ दिसम्बर को उन्हें १ वर्ष की सजा दे दी गई। इस बार वे नैनी जेल में भेजे गये। वहां से उन्होंने अपने भतीजे सत्यपाल गुप्त को पत्र लिखा। पत्र जेल कानून के विरुद्ध चुपके से भेजा गया था। खुफिया पुलिस ने उक्त पत्र पकड़ लिया। कर्नल उबेराय ने इसके बाद गुप्तजी का स्थानान्तरण बांदा जेल में करा दिया। बांदा जेल में उन्हें कुछ दिन अकेले में रक्खा गया। अक्तूबर १९४१ ई० में बांदा जेल से मुक्त होकर गुप्तजी जेल से बाहर आये।

अगस्त १९४२ ई० के आन्दोलन में——गुप्तजी लगभग एक वर्ष बाहर रहे। इस बीच व्यक्तिगत सत्याग्रह मन्थरगति से दिसम्बर १९४१ ई० तक चलता रहा, इसके बाद गांधीजी ने लोगों को रचनात्मक कार्यों में लगने की राय

---

१. भारतीय राजनीति, पृ० ४२०।

दी। फरवरी १९४२ ई० में जापान ने भी मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अब अंग्रेजों को कांग्रेस के सहयोग की आवश्यकता का विशेष अनुभव हुआ। फलस्वरूप ११ मार्च, १९४२ ई० को 'क्रिप्स-मिशन' की घोषणा हुई और क्रिप्स २३ मार्च को कुछ समझौतावादी प्रस्ताव लेकर दिल्ली आये। क्रिप्स प्रस्तावों की संघ योजना के अन्तर्गत भारतीय एकता के विघटन करने के प्रयास भी स्पष्ट थे। अतएव गांधी जी ने इस प्रस्ताव को "दिवालिया बैंक पर बाद की तारीख लगा हुआ चैक घोषित किया।"[1] 'क्रिप्स-मिशन' की असफलता के पश्चात् कांग्रेस के समक्ष संघर्ष का मार्ग अधिक स्पष्ट हो गया। जुलाई १९४२ ई० में कांग्रेस कार्य समिति ने सरकार के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि देश को स्वतन्त्र न किया गया तो शीघ्र ही संग्राम अनिवार्य है। ७, ८ अगस्त १९४२ ई० को कांग्रेस कार्य-कारिणी समिति की बैठक बम्बई में बुलाई गयी। ८ अगस्त को अंग्रेजों को 'भारत छोड़ने' और 'पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने' के आन्दोलन की घोषणा की गयी। ९ अगस्त की रात को ही बम्बई में एकत्र कांग्रेसी नेता अप्रत्याशित रूप से गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हें जनता को आन्दोलन के कार्यक्रम के लिये निर्देश करने का अवसर नहीं मिला, किन्तु जनता अपनी बुद्धि से आन्दोलन के जो तरीके समझ सकी उन्हें अपनाने लगी।

९ अगस्त, १९४२ ई० को प्रातः लखनऊ में जिला तथा प्रादेशिक कांग्रेस के कार्यालय को पुलिस ने घेर लिया। उसने तलाशी लेकर कागज-पत्र उठा लिये और कार्यालय में ताला लगाकर पहरा बिठा दिया। दिन भर नगर में हड़ताल रही। चारों ओर 'करो या मरो' के स्थान पर 'मारो या मरो' का नारा गूंजता रहा। नगर में धारा १४४ लगा दी गई थी किन्तु लोगों ने उसे तोड़ दिया। शाम को ५ बजे झण्डे वाले पार्क में कांग्रेस के कुछ कार्यकर्त्ता एकत्र हुए और गिरफ्तार कर लिये गये। गुप्तजी उन दिनों ज्वरग्रस्त थे। इसीलिये वे ७, ८ अगस्त को बम्बई की बैठक में नहीं जा सके थे। ९ अगस्त को गिरफ्तारियों की खबर सुन कर बुखार में भी उनसे बैठे न रहा गया। उस समय वे अपने भतीजे विपिन चन्द्र पाल के पास 'नया हैदराबाद' मुहल्ले में ठहरे थे। वहां से वे अमीनाबाद की स्थिति का निरीक्षण करने आये किन्तु अमीनाबाद में पहुँचते ही शहर कोतवाल श्री ओंकार सिंह ने उन्हें पहचान लिया और गिरफ्तार कर लिया।

१९४२ से १९४५ ई० तक का जेल-जीवन—इस बार उन्हें लखनऊ जेल में ही रखा गया। उनके इस जेल जीवन के अनुभव अन्य जेल-यात्राओं से कुछ भिन्न हैं। सरकार १९४२ ई० के आन्दोलनकारियों का कठोरतापूर्वक दमन कर रही थी। इस बार अधिक संख्या में गिरफ्तारियां भी हुई थीं। गुप्तजी पिछली जेल-यात्राओं में सदा 'ए' क्लास में रहे थे। अखबार और मिलने-जुलने की सुविधायें भी मिलती ही थीं। सच बात तो यह थी कि जेलर उनसे प्रभावित रहा करते थे और उनकी विशेष चिन्ता रखते थे। लखनऊ जेल में पहली बार उन्हें लगभग पचास व्यक्तियों के साथ रखा गया। जुलाई–अगस्त की गर्मी और उमस प्रसिद्ध ही है। इन लोगों के बाहर सोने के लिये जेल के अधिकारी मना कर रहे थे और भीतर पंखे का प्रबन्ध नहीं था। इसके पूर्व जेलों में लोगों को आंगन में सोने की अनुमति होती थी किन्तु १९४२ ई० के आन्दोलन-कारियों के साथ सरकार ने और ही प्रकार के व्यवहार का निश्चय किया था। गुप्तजी की प्रेरणा से लोगों ने जेल अधि-कारियों का आदेश मानने से इन्कार कर दिया। कुछ नेतागण जैसे सर्वश्री गोपीनाथ श्रीवास्तव, मोहनलाल सक्सेना आदि विरोध करने के पक्ष में नहीं थे किन्तु अधिकांश साथियों ने गुप्तजी की बात ही स्वीकार की और वे विरोध पर उतारू हो गये। एक रात को जिस समय लोग जेल के आंगन में सोना चाहते थे और अपनी-अपनी बैरकों में नहीं जाना चाहते थे, जेल अधिकारियों ने उन पर लाठी चार्ज करा दिया। काफी लोगों को चोटें आई। गुप्त जी को तथा सर्वश्री हरिहरनाथ शास्त्री, राजाराम शास्त्री तथा हरिश्चन्द्र बाजपेयी इत्यादि को तत्काल 'काल कोठरी' में रखने का आदेश हुआ और फिर इस काल कोठरी में उन्हें लगभग तीन मास तक रखा गया। काल कोठरी का जीवन कितना कष्टमय होता था, इसकी कल्पना करना सहज नहीं है। तीन मास तक उन्हें किसी परिचित या बाहरी व्यक्ति या जेल के साथी कैदियों के दर्शन नहीं हो सके। दातून तक नहीं दी गई। फलस्वरूप गुप्तजी के दांतों में पायरिया हो गया और बाद में अनेक चिकित्सा कराने पर भी उसने दांतों का नाश करके ही छोड़ा। इस कारावास में लगभग डेढ़ वर्ष तक कोई उनसे मिल नहीं सकता था। वर्षों तक बाहर की दुनिया का कोई समाचार नहीं मिल पाता था। कभी-कभी लुके-छिपे रात के एक बजे समाचार-पत्र मिल जाता था, जिसके लिये दो रुपये देने पड़ते थे। इस समय उनके साथ जेल में सर्वश्री राजाराम शास्त्री, हरिहरनाथ शास्त्री आदि थे। इस कठोर जेल-जीवन से उन्हें तीन वर्ष पश्चात् जुलाई, १९४५ ई० में मुक्ति मिली।

स्वतंत्रता की ओर—१० जुलाई, १९४५ ई० को इंग्लैण्ड में मजदूर सरकार की स्थापना हुई। इससे अंग्रेजी सरकार का स्वतंत्रता और सहयोग के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख हो गया। २५ जून, १९४५ ई० को भारतीय नेताओं का सम्मेलन शिमला में बुलाया गया था जिसमें यह निर्णय लिया गया था कि वाइसराय की कार्यकारिणी समिति में प्रधान मंत्री और

---

१. राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ० ४००।

सेनापति के अतिरिक्त सभी सदस्य भारतीय रहेंगे। किन्तु अन्य कोई महत्त्वपूर्ण समझौता इस सम्मेलन में न हो सका। २ सितम्बर, १९४५ ई० को जापान के हथियार डाल देने पर युद्ध समाप्त हो गया। लार्ड वेवेल के दूसरी बार इंग्लैण्ड से वापस आने पर एक चुनाव समिति का संगठन हुआ। इस प्रकार १९४५ के अन्त तक आम चुनाव की तैयारियां होने लगीं। इस समय एक घटना और उल्लेखनीय है कि आजाद हिन्द फौज के कैदियों को मुक्त कराने के लिये समग्र देश में एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। "इस सम्बन्ध में कलकत्ते में गोली चली जिसमें ४० व्यक्ति मारे गये और ३०० से अधिक घायल हुए तथा बम्बई में गोली से २३ व्यक्ति मरे और २०० घायल हुए।"[१] इस प्रकार के आन्दोलन फरवरी १९४६ ई० तक चलते रहे।

१९४६ ई० में आजाद हिन्द फौज के कैदियों के रिहा होने पर गुप्तजी ने लखनऊ में उनके स्वागत की धूमधाम से तैयारी की और यहां उनका भव्य स्वागत किया गया।

३ मार्च, १९४६ ई० को भारत में आम चुनाव हुआ। लखनऊ नगर से इस बार भी विधान सभा के लिये दो उम्मीदवार विजयी हुए—श्री गुप्तजी और हरिजन उम्मीदवार नारायण दास।

चुनाव समाप्त होने पर उत्तर प्रदेश में १ अप्रैल, १९४६ ई० को पं० गोविन्द वल्लभ पन्त के मुख्यमंत्रित्व में मंत्रिमंडल बना। इस समय मंत्रिमंडल के सदस्य इस प्रकार थे :

१. पं० गोविन्द वल्लभ पन्त	मुख्य मंत्री
२. श्री रफी अहमद किदवई	गृह मंत्री
३. डा० कैलाश नाथ काटजू	न्याय, उद्योग तथा श्रम मंत्री
४. हाफिज मुहम्मद इब्राहीम	यातायात मंत्री
५. श्रीमती विजय लक्ष्मी	स्वायत्त तथा जन-स्वास्थ्य मंत्री
६. बाबू सम्पूर्णानन्द	शिक्षा तथा वित्त मंत्री

१६ अप्रैल से २० अप्रैल, १९४६ तक निम्नांकित सभा-सचिव नियुक्त किये गये :

१. श्री लालबहादुर शास्त्री
२. श्री चन्द्रभानु गुप्त
३. श्री केशवदेव मालवीय
४. चौधरी चरण सिंह
५. पं० आत्मा राम गोविन्द खेर
६. श्री ठा० हरगोविन्द सिंह
७. श्री वहीद अहमद
८. श्री गोविन्द सहाय
९. मौलवी मैफुजर्रहमान
१०. चौधरी लताफत हुसैन
११. श्री जगन प्रसाद रावत
१२. श्री रघुकुल तिलक
१३. श्री उदय वीर सिंह

अप्रैल १९४६ ई० में जिन प्रान्तीय सरकारों की गठन का उल्लेख किया गया है, उसमें बंगाल, पंजाब, सिंध आदि प्रदेशों में मुस्लिम लीग की सरकारें बनीं। अब देश स्वतंत्रता की ओर क्षिप्र गति से प्रस्थान कर रहा था। अतएव इस ऐतिहासिक संक्रांति के समय ये उत्तराधिकार में प्राप्त नवनिर्माण और विघटन दोनों प्रकार की शक्तियां अपने प्रबलतम रूप में सक्रिय हो उठीं। कांग्रेस गांधीजी के नेतृत्व में और मंत्रिमंडल का निर्माण कर, जो रचनात्मक कार्य सीखे थे, उस अनुभव के आधार पर देश का शासनसूत्र संभालने की तैयार कर रही थी। मुस्लिम लीग अपनी पृथकतावादी नीति से देश के विभाजन की ओर प्रयत्नशील थी।

इंग्लैण्ड की अनुदारवादी सरकार की नीति के कारण शिमला कान्फ्रेंस असफल हो चुकी थी, परन्तु उदारवादी सरकार बनने पर परिस्थिति बदल गई। भारत को स्वतंत्र करने के लिये यथासम्भव कदम उठाये जाने लगे। जब पार्लिया-मेण्टरी मिशन समझौते के लिये पृष्ठभूमि तैयार कर गया तब कैबिनेट मिशन प्रस्ताव लेकर मई १९४६ ई० में भारत

---

१. संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास, पृ० ५३९।

आया। परन्तु उसका भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला। २४ मई को कांग्रस कार्य समिति ने एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया कि यदि अंग्रेज सरकार वास्तव में अन्तर्कालीन सरकार को स्वराज्य की प्रथम सीढ़ी बनाना चाहती है तो उसे अधिक जिम्मेदारियां देनी चाहिये तथा एक विधान समिति बनानी चाहिये जो भारत के लिये संविधान बनाये। जून में लार्ड वावेल से कांग्रेस की वार्ता भंग हो गई किन्तु जुलाई में विधान-सम्मेलन का निर्वाचन हो गया। मुस्लिम लीग ने उसमें भाग नहीं लिया। २ सितम्बर, १९४६ ई० को पंडित नेहरू के नेतृत्व में केन्द्र में कांग्रेस ने अन्तर्कालीन सरकार में भाग लेना आरम्भ किया। लीग ने उस समय तो बहिष्कार किया किन्तु बाद में वह भी सरकार बनाने में सम्मिलित हो गई।

मेरठ कांग्रेस में—रामगढ़ कांग्रेस (१९४० ई०) के पश्चात् नवम्बर १९४६ ई० में कांग्रेस का अधिवेशन मेरठ में आचार्य जे० बी० कृपलानी की अध्यक्षता में हुआ। अगस्त से ही लीग ने "प्रत्यक्ष कार्यवाही" आरम्भ कर दी थी और अधिवेशन से पूर्व गढ़मुक्तेश्वर में भीषण साम्प्रदायिक दंगा हो गया था। मेरठ में भी दंगे हुए। उधर बंगाल के दुर्भिक्ष की काली छाया अभी तक शेष थी अतएव अधिवेशन बिना किसी तड़क-भड़क के हुआ। अधिवेशन में कांग्रेस का विधान बनाने की एक समिति बना दी गई। गुप्तजी भी इस अधिवेशन में भाग लेने गये थे।

साम्प्रदायिक दंगों का कुचक्र—पंडित नेहरू और श्री जिन्ना को श्री ऐटली ने इंग्लैण्ड बुलाया था किन्तु श्री जिन्ना की हठधर्मी के कारण विधान सम्मेलन के सम्बन्ध में लीग से कोई समझौता न हो सका। ९ दिसम्बर, १९४६ को सच्चिदानन्द सिन्हा के सभापतित्व में ३८५ सदस्यों का सम्मेलन आरम्भ हुआ। लीग इन सब कार्यवाहियों का बहिष्कार करती रही।

जैसा कि कहा जा चुका है लीग अगस्त से प्रत्यक्ष कार्यवाही के रूप में साम्प्रदायिक दंगे आरम्भ कर चुकी थी। बंगाल में लीग सरकार ने मुस्लिम दंगइयों की मदद की। कलकत्ता और फिर नोआखाली में भयंकर रूप से हिन्दुओं का दमन हुआ। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप बिहार में भी भीषण दंगे हुए। इधर पंजाब में भी यही सिलसिला शुरू हुआ। २० फरवरी, १९४७ ई० को इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री श्री ऐटली ने घोषणा की कि जून १९४८ ई० तक अंग्रेज सरकार भारत छोड़ देगी। अब इससे भारत के स्वतंत्र होने की रूपरेखा स्पष्ट हो गई और साथ ही मुस्लिम लीग की विघटनात्मक कार्यवाहियों में तेजी भी आ गई।

गुप्तजी का देश-विभाजन के विरुद्ध मत—३ जून, १९४७ ई० को लार्ड माउण्टबेटन ने रेडियो से देश के औपनिवेशिक स्वराज्य और देश के विभाजन की घोषणा की। इसके पश्चात् नेहरूजी ने कहा कि कांग्रेस देश-विभाजन को यह समझ कर स्वीकार करती है कि सम्भव है, आगे दोनों भाग शीघ्र एक हो सकें। इस घोषणा के पूर्व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक दिल्ली में हुई थी। इसमें देश के विभाजन के सम्बन्ध में मत जानने के लिये प्रस्ताव रखा गया। पुरुषोत्तमदास टंडन, गुप्तजी आदि लगभग ४० व्यक्तियों ने विभाजन के विरुद्ध मत दिया। पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल आदि विभाजन के पक्ष में थे। बहुमत ने समर्थन किया। अतएव विभाजन का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। यहां गुप्तजी की निर्भीकता और इतिहास की इस निर्णायक घटना के सम्बन्ध में उनकी दूरदर्शिता उल्लेखनीय है। यद्यपि यह बात स्पष्ट थी कि भीषण नर-संहार और लीग की हठवादिता के कारण कांग्रेस अब स्वतंत्रता को, विभाजन के मूल्य पर स्वीकार कर लेगी और कांग्रेस के वे शीर्षस्थ नेता जिन्होंने अपनी जवानी आन्दोलन, संघर्ष और जेल की कोठरियों में बितायी थी, अब देश की स्वतंत्रता के लिए और अधिक लालायित नहीं बने रहेंगे। इसलिए विभाजन स्वीकार हो गया। लेकिन गुप्तजी ने अपना मत, औचित्य को ध्यान में रखकर व्यक्त किया। इस समय और समाजवादी लोग भी विभाजन के विरुद्ध थे। लीग के रुख को देखते हुए उन्हें यह बिल्कुल भ्रम नहीं था कि एक बार देश का विभाजन हो जाने पर पुनः निकट भविष्य में ऐसा वातावरण बन सकेगा जो एकीकरण कर सके। यह दृष्टिकोण इतिहास अक्षरशः सत्य सिद्ध करता आ रहा है। यद्यपि मुस्लिम साम्प्रदायिकता के सर्प को अंग्रेजों ने आधी शताब्दी से अधिक समय तक पक्षपात का दुग्धपान कराया और लीग उससे अत्यधिक विषाक्त बनने में सफल हुई थी, फिर भी देश का विभाजन किसी भी दृष्टिकोण से औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। गृह-युद्ध या रक्तपात के भय से देशों का विभाजन नहीं हुआ करता। पिछली एक शताब्दी में अमेरिका और रूस दोनों गृह-युद्धों का सामना कर चुके हैं और उसके बाद वे अधिक सुगठित रूप में ही हमारे सामने आते हैं। धार्मिक आधार पर देश का विभाजन तो इस शताब्दी के एशिया के इतिहास में सबसे दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं में माना जाना चाहिये। इसे चाहे तात्कालिक समाधान के रूप में ही उस समय स्वीकार किया गया हो, किन्तु यह एक भयंकर ऐतिहासिक भूल थी। दंगों के रक्तपात से बचने के लिये जिस साम्प्रदायिक प्रेत की तुष्टि के लिये विभाजन स्वीकार किया गया, वह अब दोनों देशों के पारस्परिक युद्धों के रूप में लोगों की बलि ले रहा है। जब तक धर्म को राजनीति पर छाने दिया जायेगा तब तक इसका अन्त नहीं होगा। उस समय एक भय और माना जाता था कि यदि विभाजन न स्वीकार

किया जाता तो अंग्रेज फिर यहां जमकर बैठ जाते। यह मिथ्या धारणा थी। भारत को स्वतंत्र करने के बाद अंग्रेज शिय और अफ्रीका के अनेक उपनिवेशों को परिस्थितिवश स्वतंत्र करते गये। अन्य देशों से भी योरोपीय उपनिवेशवादियों के पांव उखड़ गये। जब तक अंग्रेजों के अतिरिक्त विश्व की अन्य शक्तियां भारत के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करतीं, द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत को पराधीन रख सकना अंग्रेजों के बूते का नहीं था।

स्वतंत्र भारत में गुप्तजी के दायित्व और कार्य––इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सरकार के गठन में गुप्त जी सभा-सचिव के रूप में उत्तर प्रदेशीय सरकार में सम्मिलित हुए थे। वे और स्व० लालबहादुर शास्त्री मुख्य मंत्री पन्तजी के सभा-सचिव थे। इन लोगों को कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं सौंपा गया था। गुप्तजी ने तीन मास बाद पन्तजी के पास अपना त्यागपत्र यह कहकर भेज दिया कि उनके पास कोई कार्य नहीं है और उनके ऊपर ऐसी स्थिति में जो धन व्यय हो रहा है वह जनता की गाढ़ी कमाई का अपव्यय है। वे बैठकर वेतन-भोगी नहीं रहना चाहते। तब पन्तजी ने उन्हें पूर्ति एवं सामान्य प्रशासन के अधिक कार्य सौंपे। बाद में गुप्त जी स्वयं अपने कार्यक्षेत्र पर अपनी कर्मठता के कारण छा गये।

१५ अगस्त, १९४७ ई० को स्वतंत्र भारत के उत्तरप्रदेशीय मंत्रिमंडल के शपथ ग्रहण करते समय वे पूर्व पद पर ही बने रहे। १६ अगस्त को अमीनुद्दौला पार्क में आयोजित सभा में दयाकिशन गंजूर ने अध्यक्ष-पद से भाषण दिया। गुप्तजी भी इस सभा में उपस्थित थे। उन्होंने भाषण देते हुए कहा कि, "हमें इस प्राप्त स्वतंत्रता की रक्षा के लिये निरन्तर जागरूक रहने की आवश्यकता है।"

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में कांग्रेस को सामाजिक सेवा का प्रमुख स्रोत शासन भी उपलब्ध हो गया। ऐसी स्थिति में किसी कर्मठ व्यक्ति के लिये शासन का उत्तरदायित्वपूर्ण पद आवश्यक था। गुप्तजी ने स्वतंत्रता के बाद कुछ दिनों तक सभासचिव के पद पर कार्य किया, किन्तु कार्य इतना अपर्याप्त और गौण था कि उन्हें ऊब होने लगी। इस समय मंत्रिमंडल के विस्तार की आवश्यकता थी। ९ सितम्बर, १९४७ ई० को ४ मंत्री और बढ़ाये गये। १. श्री लाल बहादुर शास्त्री, २. श्री कृष्णदत्त पालीवाल, ३. श्री चन्द्रभान गुप्त, और ४. श्री केशवदेव मालवीय। अब इस समय मंत्रि-मंडल के सदस्यों का कार्य-विभाजन इस प्रकार था––

१. मुख्य मंत्री––गोविन्द वल्लभ पन्त, सामान्य प्रशासन, नियुक्ति
२. सर्वश्री हाफिज मुहम्मद इब्राहीम––पब्लिक वर्क्स, सिंचाई, विद्युत् और वक्फ
३. सम्पूर्णानन्द––शिक्षा, श्रम, धार्मिक (श्री बद्रीनाथ सहित) व खैराती जागीरें
४. हुकुम सिंह––माल, वन और विधि
५. ए० एन० शेरवानी––कृषि व पशु
६. ए० जी० खेर––स्वायत्त शासन व स्वास्थ्य
७. चौ० गिरधारी लाल––आबकारी, रजिट्री, स्टैम्प और जेल
८. चन्द्रभानु गुप्त––रसद एवं पूर्ति
९. लाल बहादुर शास्त्री––पुलिस और यातायात
१०. केशवदेव मालवीय––विकास और उद्योग
११. कृष्णदत्त पालीवाल––अर्थ और सूचना

१२ सितम्बर, १९४७ को लखनऊ से प्रकाशित स्वतंत्र भारत दैनिक पत्र ने अपने सम्पादकीय में नये चार मंत्रियों की नियुक्ति पर समालोचना करते हुए लिखा था, "श्री चन्द्रभानु गुप्त कर्मठ और साहसी पुरुष हैं। खाद्य और सप्लाई व्यवस्था के विषय में जनता में असन्तोष है। इस विभाग के बारे में तरह-तरह के प्रवाद भी फैले हैं। आपके तत्त्वावधान में इस विभाग में चुस्ती आ जायेगी और भ्रष्टाचार का मूलोच्छेद होगा, इसकी हमें आशा है। हिन्दी के उपयुक्त स्थान दिलाने के लिये आप जो उद्योग करते रहे हैं उसके लिये भी हम आपका अभिनन्दन करते हैं––गुप्तजी की नियुक्ति समाजवादी दल को अभिप्रेत होगी, यद्यपि इस दल ने स्वयं मंत्रिमंडल में शामिल होने से इन्कार कर दिया है।"

हिन्दी के लिये प्रयत्न––यद्यपि गुप्तजी रसद और पूर्ति मंत्री थे, परन्तु शिक्षा संस्थाओं और भाषा के प्रश्न पर वे पर्याप्त अभिरुचि रखते थे। इन्हीं दिनों उन्होंने हिन्दी के लिये जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह उल्लेखनीय है। गांधीजी के नेतृत्व में हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में कांग्रेस बहुत पहले ही स्वीकार कर चुकी थी, अब सरकारी तौर पर उसे अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करना था। स्वतंत्रता के पश्चात् गुप्तजी के आरम्भिक महत्त्वपूर्ण कार्यों में हिन्दी की सेवा है। सितम्बर १९४७ ई० में परमानन्द सिंह एम० एल० सी० ने एक प्रस्ताव रखा कि राज्य सरकार राजभाषा हिन्दी

को देवनागरी लिपि में स्वीकार करे। इस प्रश्न पर मंत्रिमंडल में जब विचार किया गया तो श्री सम्पूर्णानन्द और गुप्तजी ने हिन्दी का प्रबल समर्थन किया। "स्वतंत्र भारत" दैनिक ने १० सितम्बर के सम्पादकीय में इस सम्बन्ध में लिखा था—"श्री चन्द्रभानु गुप्त बहुत दिनों से हिन्दी के लिये प्रयत्नशील थे और आपने ही सबसे पूर्व अपनी कार्यवाही नागरी लिपि में प्रारम्भ कर दी थी। यही नहीं सचिवालय के परिचय पट्ट में अंग्रेजी की जगह हिन्दी को इन्हीं के कारण प्राप्त हो सकी। परिचय पट्ट आप केवल नागरी लिपि में ही रहने देना चाहते थे, किन्तु मंत्रियों और सभा-सचिवों ने स्वयं अपने मन से हिन्दी और उर्दू दोनों लिपियों में अपने परिचय पट्ट करा लिये। गुप्तजी ने अपना परिचय पट्ट केवल हिन्दी में ही रखा। यही नहीं परिचय-पट्ट में गलती से लिखा गया था, "चन्द्रभानु गुप्ता", दृष्टि पड़ते ही आपने उसे फौरन उतरवा कर "चन्द्रभानु गुप्त" करवाया। पता चला है कि मंत्रिमंडल के सामने जिस समय राज्य-भाषा का प्रस्ताव उपस्थित हुआ गुप्तजी ने हिन्दी का प्रबल समर्थन किया और अन्त में मंत्रिमंडल को अपने पक्ष में कर लिया।" ११ सितम्बर को उक्त प्रस्ताव विधान-सभा में स्वीकृत हो गया था।

१३ सितम्बर, १९४७ ई० को गुप्तजी ने सचिवालय में सर्वप्रथम हिन्दी पत्रकारों का सम्मेलन किया। इसके पूर्व सारे ऐसे सम्मेलन अंग्रेजी में हुआ करते थे। इस सम्मेलन में हिन्दी में उन्होंने प्रदेश की खाद्य समस्या पर प्रकाश डाला।

शरणार्थियों के सहायतार्थ कार्य– बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि की भांति शरणार्थियों की आकस्मिक समाज-सेवा में गुप्तजी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। १४ सितम्बर, १९४७ ई० को श्री पुलिन विहारी बनर्जी की अध्यक्षता में शहर कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। कमेटी ने शरणार्थियों के सहायतार्थ निम्नांकित व्यक्तियों की एक समिति गठित की।

१. सर्वश्री चन्द्रभानु गुप्त
२. पुलिन विहारी बनर्जी
३. महेश नाथ शर्मा
४. जय दयाल अवस्थी (संयोजक)
५. राज नारायण खन्ना
६. ठाकुर प्रसाद सक्सेना
७. किशोरी लाल अग्रवाल
८. राम किशोर रस्तोगी
९. सिद्ध नाथ मिश्र
१०. कन्हैया लाल कक्कड़ इत्यादि

इस समिति ने अनेक प्रकार से शरणार्थियों की सहायतार्थ कार्य किया। २३ सितम्बर, १९४७ ई० को साढ़े आठ बजे रेडियो पर भाषण देते समय गुप्तजी ने कहा था—"मैं यह अनुभव करता हूं कि इतना बड़ा विनाश और इतनी घोर आपत्तियां गत महायुद्ध में भी नहीं थीं, जिसमें इतनी बड़ी विशाल सेनायें दो महाप्रदेशों में संघर्ष कर रही थीं। यद्यपि वह महायुद्ध अवश्य निर्दयी था, परन्तु उसमें भी मानसिक भावनाओं का कुछ विचार किया जाता था। गत महायुद्ध की समस्त आपदायें और अत्याचार पश्चिमी पंजाब में किये गये अत्याचारों और आपत्तियों के सम्मुख फीके पड़ जाते हैं। हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम शरणार्थियों की यथाशक्ति सहायता करें। परन्तु यह तभी सम्भव है जब इस प्रान्त के निवासी यह अनुभव कर लें कि उन्हें युद्धकाल जैसी स्थिति का सामना करना है। इसलिए वैसी मितव्ययता अपनानी होगी। क्योंकि हमारे प्रान्त की खाद्य स्थिति यों ही खराब है..... इस भांति हमें प्रान्त और बाहर के लाखों शरणार्थियों की रक्षा करनी है। हमारे पास जो अन्न था वह केवल राशनिंग योजना वाले शहरों के लिये था। अब बाढ़ पीड़ितों और शरणार्थियों का भार भी हम पर आ पड़ा है।"

मंत्री के रूप में गुप्तजी ने खाद्य और पूर्ति विभाग इतनी कुशलता से सम्भालना आरम्भ किया कि ४ मई १९४८ ई० को उन्हें स्वास्थ्य विभाग भी सौंप दिया गया। अब उनका कार्य और अधिक बढ़ गया।

खाद्य एवं पूर्ति विभाग—गुप्त जी सन् १९४७ ई० से १९५७ ई० तक खाद्य एवं पूर्ति विभाग के मंत्री रहे। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि केन्द्र के वित्त, प्रतिरक्षा एवं खाद्य-विभाग की भांति उत्तर प्रदेश का खाद्य एवं पूर्ति-विभाग भी एक कांटों का ताज है। प्रदेश की सामान्य आर्थिक स्थिति संतोषजनक न होने और जनसंख्या के आधिक्य के कारण मांग और पूर्ति में कभी संतुलन नहीं स्थापित हो पाता। मांग अधिक और पूर्ति कम होने के कारण कोई-न-कोई जीवनोपयोगी वस्तु सदैव नियंत्रित रही है। नियंत्रण की स्थिति में वितरण व्यवस्था को निर्दोष बनाना एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि

ऐसी स्थिति में जहां राजकर्मचारियों से निष्पक्ष और निःस्वार्थ भाव से कार्य की आशा रखी जाती है, वहां जनता से भी धैर्यवान और सत्यप्रिय होने की अपेक्षा होती है। दोनों पक्षों में कहीं भी विकृति सदैव शिकायतों और आरोपों को जन्म देती है।

गुप्तजी ने जिस समय इस विभाग को सम्भाला उस समय युद्ध-कालीन घोर नियंत्रण युग चल रहा था। युद्ध और अकाल तो समाप्त हो चुके थे किन्तु उनकी काली छाया अपनी छाप सर्वत्र छोड़ गयी थी। ८ अगस्त, १९४९ ई० को गुप्तजी ने एक भाषण में ठीक ही कहा था—"अंग्रेज हमारे अन्न भण्डारों को समाप्त करके हमारी नकदी भी लूट ले गये हैं, इस प्रकार हमें एक प्रकार जर्जर करके वे यहां से गये हैं। अतः आज सबसे महत्त्वपूर्ण विषय हमारे सामने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना है।"

उनके खाद्य एवं पूर्ति मंत्रित्व काल की कुछ उल्लेखनीय बातें इस प्रकार हैं —

नियंत्रण की नीति—स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् वर्षों तक यह विषय अत्यन्त विवाद का रहा कि खाद्यान्नों और अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं पर नियंत्रण (कन्ट्रोल) रखा जाय या नहीं। केन्द्रीय सरकार के निर्देशानुसार नियंत्रण के सम्बन्ध में निर्णय होना था। वह भी काफी समय तक सोच-विचार में पड़ी रही। गांधीजी तत्काल पूर्ण नियंत्रण के उन्मूलन के पक्ष में थे। वे प्रायः इस सम्बन्ध में वक्तव्य देते रहे। अक्तूबर १९४७ ई० में उन्होंने कहा था—"अन्न-वस्त्र से नियंत्रण तुरन्त उठा लिया जाय। युद्ध समाप्त होने के बाद भी भाव बढ़ते जा रहे हैं। देश में अन्न भी है, कपड़े भी फिर भी जनता को ये चीजें नहीं मिल पातीं, यह दुःख की बात है। जनता को अपने साधनों पर छोड़ देना चाहिये।"[1] परन्तु गुप्त जी इस बात से सहमत नहीं थे। उन्होंने गांधीजी के उक्त वक्तव्य के उत्तर में कहा—"महात्मा गांधी एक दूसरी ही दुनियां में रहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि कन्ट्रोल उठा लेने के बाद बंगाल दुर्भिक्ष की पुनरावृत्ति देश के अन्य भागों में भी होगी और उससे देश को कैसे बचाया जा सकेगा।" आगे चलकर आपने कहा—"खाद्य समस्या इतनी जटिल है कि उसकी वितरण-व्यवस्था केन्द्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समितियों द्वारा होती है। देश को करोड़ों रुपये का गल्ला बाहर से मंगाना पड़ता है।"[2] यहां पर गुप्त जी ने नियंत्रण के समर्थन में एक व्यावहारिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण रखा था। उन्हीं दिनों पूर्वी जिलों में कभी भयंकर बाढ़ और कभी अनावृष्टि से फसलें नष्ट हुई थीं। अतएव उत्तर प्रदेश की खाद्य समस्या और जटिल थी।

गुप्तजी ने नियंत्रण का सैद्धान्तिक पक्ष भी लोगों के समक्ष रखा था। उन्होंने १९ नवम्बर, १९४७ ई० को दैनिक पत्र "स्वतंत्र भारत" के प्रतिनिधि से कहा था—"कन्ट्रोल हटे या न हटे इसका विचार इस बात को ध्यान में रखकर करना होगा कि अमीर और गरीब सबको समान रूप से खाना और कपड़ा मिल सके। यदि भारत को समाजवाद की ओर जाना है तो वर्तमान अभाव की स्थिति में कन्ट्रोल आवश्यक है किन्तु सभी वस्तुओं पर पूर्ण कन्ट्रोल होना चाहिये। ऐसा ही उत्पादन और वितरण दोनों पर सरकार का अधिकार भी।" वस्तुतः गुप्त जी का दृष्टिकोण नियंत्रण के सम्बन्ध में समाजवादी दृष्टिकोण से प्रभावित था और इसके अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यथार्थवादी भी। परन्तु केन्द्रीय सरकार ने नियंत्रण समाप्त करने का निश्चय किया और धीरे-धीरे अनेक जीवनोपयोगी वस्तुओं पर से नियंत्रण समाप्त किया गया। जनवरी १९४८ ई० में खाद्यान्न और कपड़े पर से नियंत्रण हटा।

नियंत्रण हटाते समय सरकार को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता थी क्योंकि सम्भव था वस्तु के अभाव में दाम अधिक चढ़ जायं या व्यापारी मुनाफाखोरी के लिये कृत्रिम अभाव पैदा कर लाभ उठायें। शक्कर पर से नियंत्रण हटाते समय तो गुप्त जी की सतर्कता ने केवल स्थिति ही नहीं सम्भाल ली बल्कि सरकार को बड़ा लाभ भी हुआ। कन्ट्रोल हटाने से पूर्व सरकार ने व्यापारियों के पास जमा शक्कर का अवैध स्टाक छापे मारकर जब्त कर लिया। इससे सरकार को कदाचित् १ करोड़ रुपये का लाभ हुआ। केन्द्र और प्रदेश की सरकारों में इस धन को पाने के लिये काफी दिनों तक रस्साकशी चलती रही।

नियंत्रण हटाने के बाद कुछ दिनों तक तो परिस्थिति सम्भली रही, लेकिन फिर फसलों के नष्ट होने और व्यापारियों की धांधली के कारण वस्तुओं के भाव बढ़ने लगे। अतएव एक वर्ष के भीतर ही सीमित रूप में खाद्यान्नों पर नियंत्रण लागू करना पड़ा। यह नियंत्रण १९५१ ई० में भी और इसके आगे भी कुछ वर्षों तक चला। २३ अगस्त, १९५१ ई० को खाद्य-स्थिति पर गुप्त जी ने प्रकाश डालते हुए तत्कालीन राशनिंग व्यवस्था का जो विस्तृत विवरण दिया

---

१. स्वतंत्र भारत, २३ अक्तूबर, १९४७ ई०।

२. स्वतंत्र भारत, २३ अक्तूबर, १९४७ ई०।

था वह कार्य-पद्धति और स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।[1]

उससे स्पष्ट होता है कि नियंत्रण द्वारा सामान्य जनता को खाद्यान्न उचित मूल्य पर मिल पाता था। इसीलिये नियंत्रण के लिये जनता द्वारा सदैव मांग की जाती रही। व्यापारी वर्ग सदैव इसका विरोध करता रहा। १९५२ ई० के पश्चात् छः वर्षों तक खाद्यान्नों पर से राशनिंग पूर्णतः समाप्त कर दी गई थी, किन्तु १९५९ ई० में उसे नगरों में सीमित रूप में पुनः लागू करना पड़ा जो अब तक चल रही है और सरकार स्थायी राशनिंग एवं गल्ला व्यापार चलाने की बात सोच रही है।

स्पष्ट है कि गुप्तजी की नियंत्रण नीति को इतिहास उचित सिद्ध कर रहा है। यदि सरकार स्थायी रूप से नियंत्रण व्यवस्था रखती तो बार-बार कर्मचारियों की भर्ती और छटनी की आवश्यकता न पड़ती और सरकार की लगातार एक नीति के कारण चोर-बाजारियों को कृत्रिम अभाव या मुनाफाखोरी का अवसर न मिलता। जनता भी क्यू आदि बनाने ओर नियंत्रित जीवन व्यतीत करने की अभ्यस्त हो जाती।

गुप्तजी ने यद्यपि इस समय नियंत्रण के सम्बन्ध में अपना मत कुछ परिवर्तित कर दिया है। उनका कहना है कि जनता यहां ईमानदारी से नियंत्रित व्यवस्था में सरकार को सहयोग नहीं देती। व्यापारी और कर्मचारी सदैव स्वार्थ से प्रेरित रहता है। अतएव ऐसी स्थिति में नियंत्रण एक दूषित व्यवस्था का अंग-मात्र बन कर रह जाता है।

भ्रष्टाचार उन्मूलन—अपने देश में नियंत्रण और भ्रष्टाचार एक सिक्के के दो पहलू की भांति सम्बद्ध माने गये हैं। गुप्तजी इस व्यवस्था में फैले भ्रष्टाचार के उन्मूलन के लिये प्रयत्नशील हुए। उन्होंने खाद्य और पूर्ति-विभाग के सम्भालते ही भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिये दो प्रकार के कार्य किये :

(१) भ्रष्टाचार से सम्बद्ध राजकर्मचारियों को तत्काल दण्डित करना।

(२) मुनाफाखोरों को दण्डित करने के लिये कानून बनवाना और उसके द्वारा उन्हें दण्डित करना।

२३ सितम्बर, १९४७ ई० के अपने रेडियो भाषण पर चोरबाजारी करने वालों और भ्रष्ट राजकर्मचारियों को उन्होंने स्पष्ट चेतावनी देते हुए कहा था। चोरबाजारी करने और अनुचित लाभ उठाने वालों को मैं चेतावनी देता हूं कि हम ऐसे लोगों को अपने बीच नहीं रहने दे सकते। बेईमान सरकारी कर्मचारियों को भी यह चेतावनी है कि ऐसे संकटकाल में उन्ह एक मिनट न टिकने दिया जायेगा। यह चेतावनी केवल मौखिक ही नहीं थी। गुप्त जी ने इसे कार्यान्वित भी किया। उन दिनों भ्रष्ट राजकर्मचारी उनके नाम से कांपते थे। वह कहीं भी दौरा कर अपराधी कर्मचारी के विरुद्ध तत्काल कार्यवाही करते थे। उस समय के समाचार पत्रों में ऐसी अनेक घटनाएं प्रकाशित हुई थीं।[2]

---

१. "इस समय प्रदेश के ६३ नगरों में राशनिंग है। इनमें ६३ में पूर्ण राशनिंग है और शेष १० स्थानों में राशन की व्यवस्था के साथ-साथ खुले बाजार में भी अन्न बिकने दिया जाता है। इन नगरों में लगभग ५३ लाख जनता निवास करती है। इस प्रकार अनुमानतः प्रदेश को समस्त जनसंख्या का आठवां भाग राशनिंग व्यवस्था के अन्तर्गत है।

इस समय प्रौढ़ों को प्रतिदिन ६ छटांक और आठ वर्ष से कम आयु के बालक-बालिकाओं को ३ छटांक राशन दिया जाता है। इस मानदण्ड के अनुसार राशन वाले नगरों के लिए प्रतिमास ६०,००० टन और प्रति वर्ष आठ लाख टन अन्न की आवश्यकता होती है।

इन ६३ राशन वाले नगरों के अतिरिक्त प्रदेश के कुछ अन्य कमी के क्षेत्रों को भी "ऑस्टेरिटी प्रॉवीजननिग स्कीम" तथा "हिल प्रॉवीजनिंग स्कीम" के अन्तर्गत नियंत्रित दर पर अन्न दिया जाता है। इसका उद्देश्य बाढ़ों और अनावृष्टि से पीड़ित प्रदेश के घने बसे हुए पूर्वीय जिलों को सुविधा देना है। गत वर्ष उक्त योजना के अन्तर्गत इस क्षेत्र के ११ जिलों में लगभग पौने नौ लाख मन अन्न वितरित करके लगभग साढ़े चौंतीस लाख प्राणियों की सहायता की गई थी। दुर्भाग्यवश इस साल वर्षा बहुत कम और असमान रूप से हुई है।"—स्वतंत्र भारत, २४ अगस्त १९५० ई०।

२. उनके इस प्रकार के दण्ड के कुछ उदाहरण उल्लेखनीय हैं। नवम्बर १९४७ ई० में गुप्तजी ने अपने दौरे में मेरठ के टाउन राशनिंग अफसर (क्लाथ) और उनके हेड क्लर्क तथा गाजियाबाद के दो सीनियर मार्केटिंग अफसरों को मौके पर जांच कर तुरन्त बरखास्त कर दिया। इसी प्रकार हापुड़ के एक मार्केटिंग इन्सपेक्टर को भ्रष्टाचार के अभियोग में गिरफ्तार किया गया। गुप्तजी ने गाजियाबाद की २ फर्मों का लाइसेन्स भी जब्त करा लिया। दिसम्बर १९४७ ई० में बस्ती जिले के दौरे में ३ इन्सपेक्टरों को रिश्वतखोरी के अभियोग में निकाल दिया और चार दूकानदारों के लाइसेन्स भ्रष्टाचार तथा चोरबाजारी के अभियोग में रद्द कर दिये—स्वतंत्र भारत, २० नवम्बर और १ दिसम्बर, १९४७ ई०।

मुनाफाखोरों को तत्काल दण्डित करने के लिये गुप्तजी ने ७ नवम्बर, १९४७ ई० को विधान सभा में चोर-बाजार-निरोधक बिल पेश किया। बिल पेश करते समय उन्होंने कहा था, "प्रान्त में चोरबाजारी बहुत बढ़ी हुई है और कुछ मुनाफाखोर.व्यापारी जनता के हित को ताक पर रखकर वर्तमान संकटजन्य परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाने का उद्योग कर रहे हैं। साधारण विधानों के अन्तर्गत इन समाजद्रोहियों को रोकने के लिये सरकार के पास समुचित अधिकार नहीं हैं और वे प्रायः अपने प्रभाव और धन-बल पर बच जाते हैं। सरकार उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करना चाहती है।"[1] विधेयक का विवरण देते हुए गुप्त जी ने कहा था, "कि उसके अन्तर्गत सरकार को उन व्यापारियों को नजरबन्द करने का अधिकार मिल जायेगा जिन पर चोरबाजारी करने का सन्देह होगा।" काफी वाद-विवाद के पश्चात् यह विधेयक ६ दिसम्बर, १९४७ ई० को स्वीकृत हुआ। इसके द्वारा अनेक व्यापारियों के विरुद्ध कार्यवाहियां की गईं। परन्तु २६ जनवरी १९५० ई० को भारतय संविधान लागू होने पर कुछ व्यापारियों ने सर्वोच्च न्यायालय में इस अधिनियम के विरुद्ध अपील की कि यह मौलिक अधिकारों का हनन करता है। तदनन्तर उक्त अधिनियम अवैध घोषित कर दिया गया।

८ मार्च, १९५० ई० को गुप्तजी ने विधान सभा में शुद्ध खाद्य-विधेयक पेश किया। इसके अनुसार खाद्य-पदार्थों में किसी प्रकार मिलावट करने वाले को कठोर दण्ड की व्यवस्था की हुई थी। इस विधेयक का अधिनियम बना और इसके द्वारा मिलावट की रोकथाम में बड़ी सहायता मिली।

स्पष्ट है कि गुप्त जी ने नियंत्रण-व्यवस्था को निर्दोष और परिष्कृत बनाने के लिये सभी सम्भव प्रयत्न किये। इसके बाद भी यदि उसमें दोष रह गये तो उनके कारणों पर हमें और अधिक गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। सत्य तो यह है कि इस सम्बन्ध में किसी कानून की अपेक्षा राजकर्मचारियों, व्यापारियों और जनता का चरित्र अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, गुप्तजी ने १४ सितम्बर, १९४७ ई० को शहर-कांग्रेस कमेटी की एक बैठक में कहा था, "आज कांग्रेस जनों के सम्मुख सबसे पहला कर्त्तव्य चोरबाजारी को समाप्त करना है। मुझे प्रसन्नता है कि शहर-कांग्रेस के कार्यकर्ता इस ओर आकृष्ट हो रहे हैं। परन्तु एक बात स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि कहीं हम डूबते को निकालने की चेष्टा करते हुए स्वयं न डूब जायँ। कांग्रेसजनों ने बड़े-बड़े त्याग किये हैं, फिर भी बड़ी विनम्रता के साथ मैं उनसे निवेदन करता हूं कि चोरबाजारी की रोकथाम का काम बड़ा नाजुक है। ये समाज-विरोधी चोरबाजारी करने वाले मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरियों का लाभ उठाना भलीभांति जानते हैं। अतः इस काम में हाथ डालने से पूर्व कांग्रेसजनों को पहले आत्मशुद्धि की आहुति में अपने आपको भलीभांति सेंक लेना चाहिये। यदि ईमानदारी के साथ वे इस क्षेत्र में उतरें तो मैं सरकार की ओर से आश्वासन देता हूं कि उन्हें पूरी सहायता मिलेगी।"[2]

आरोप और हुल्लड़बाजी की राजनीति का सामना—जनतंत्र में प्रायः महत्त्वाकांक्षी पराजित राजनीतिज्ञ शीर्षस्थ और कर्मठ व्यक्तियों के विरुद्ध आरोपों का अवलम्बन लेते हैं और उनके द्वारा प्रेरित "समूह मनोविज्ञान" से प्रभावित जनता हुल्लड़बाजी में घुसती है। बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो उक्त दोनों प्रकार के कार्य तर्क और औचित्य से अधिक संवेग एवं कुंठा पर आधारित होते हैं। "खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे" की कहावत इन पर चरितार्थ होती है। फरवरी १९६५ ई० में भीड़ द्वारा राष्ट्रपति राधाकृष्णन का पुस्तकालय और अरविन्द आश्रम जलाना तथा मार्च १९६१ ई० में पानीपत-कांड में क्रान्तिकुमार को जला देना, बहकायी गयी भीड़ की उत्तेजना के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इस प्रकार की निरुद्देश्य भ्रामक हुल्लड़बाजी का कोई भी औचित्य नहीं सिद्ध कर सकता। मंत्री के रूप में गुप्तजी की कर्मठता और सफलता देखकर विरोधियों के कान खड़े हुए। कन्ट्रोल का समर्थन करने के कारण व्यापारी वर्ग भी उनके विरुद्ध था। कई बार उनके पास उनकी हत्या कर देने की धमकी भरे पत्र आये। उनके विरोधियों ने जिनमें उनके दल और विरोधी पार्टियों के व्यक्ति थे, दो प्रकार के कार्य किये। एक तो अनेक लाइसेन्स और परमिटों के सम्बन्ध में विधान सभाओं में प्रश्न किये और समाचार पत्रों में सम्पादक के नाम पत्र में चर्चायें दीं। यद्यपि इन आरोपों में तथ्य कुछ नहीं था और प्रायः बातों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता था जिससे केवल भ्रामक प्रचार होता था। दूसरे प्रकार के कार्य को कानाफूसी अभियान (Whispering Campaign) कहा जा सकता है। इसमें मिथ्या आरोप और चर्चाएं हुआ करती थीं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय नेताओं और हाई कमाण्ड को शिकायती पत्र सीधे भेज दिये जाते थे। शिकायतें और प्रश्नोत्तर आदि करने में कई विरोधी नेता बहुत सक्रिय थे। तीसरे प्रकार के अभियान में विरोधी दलों द्वारा जनता और कभी छात्रों को बहकाकर जुलूस, नारेबाजी और हुल्लड़बाजी कराई जाती थी।

---

१. स्वतंत्र भारत, ७ नवम्बर, १९४७ ई०।

२. स्वतंत्र भारत, १४ सितम्बर १९४७ ई०।

गुप्तजी ने उक्त सभी प्रतिक्रियावादी कार्यों का दृढ़ता से सामना किया। उन्होंने हाई कमाण्ड के पास भेजी गई शिकायतों या अफवाहों के सम्बन्ध में विधान-सभा में श्री जगमोहन सिंह नेगी द्वारा स्पष्ट और व्योरेवार प्रश्न पुछवाकर उत्तर दिये। इसके अतिरिक्त अन्य आरोपों के भी विधिवत् उत्तर दिये। इससे बातें स्पष्ट हो गई। वैसे अफवाहें और जनअपवाद फैलाने वाले तो महात्मा गांधी और नेहरूजी तक को नहीं बख्शते, किन्तु इनका प्रभाव आंशिक और सामयिक होता है, इनका स्थायी या ऐतिहासिक महत्त्व बिल्कुल नहीं होता। अतएव उनकी विस्तार से चर्चा अभीष्ट नहीं है। गुप्तजी ने हुल्लड़बाजी की राजनीति का भी जिस निर्भयता से सामना किया, वह आगे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है।

गुप्त जी के विरुद्ध गलत प्रचार और हुल्लड़बाजी के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

आगरे की सभा की हुल्लड़बाजी —२५ नवम्बर, १९५१ ई० को गुप्त जी आगरे की एक सभा में भाषण देने गये। इसके पूर्व सरकारी नीति के अनुसार राशन में कुछ कटौती की घोषणा की गई थी। विरोधी दलों ने इसका मनोवैज्ञानिक लाभ उठाया और सोशलिस्ट पार्टी ने भ्रामक प्रचार के पर्चे बांटे। सभा भंग करने वाले लोग ढाई घण्टे तक चिल्लाते रहे लेकिन गुप्त जी इससे विचलित नहीं हुए और काफी रात तक मोर्चे पर डटे रहे।

१९५३ ई० का लखनऊ विश्वविद्यालय-काण्ड—१९५३ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्रों का जो आन्दोलन और गोली-काण्ड हुआ था, गुप्तजी के विरोधियों ने, उसमें भी उनको छात्रों के मध्य अप्रिय बनाने की कम कोशिश नहीं की। छात्रों की असुविधा और विश्वविद्यालय में राजनीतिक दलों की सक्रियता के कारण विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी-परिषद् ने तत्कालीन कुलपति श्री के० एम० मुन्शी के निर्देशानुसार यूनियन के निर्वाचन को अप्रत्यक्ष विधि द्वारा कराने तथा यूनियन-शुल्क ऐच्छिक करने का निर्णय किया था। गुप्तजी विश्वविद्यालय के अवैतनिक कोषाध्यक्ष-मात्र थे, किन्तु राजनीतिज्ञ उनका नाम उक्त पृष्ठभूमि में घसीट लाये। छात्रों के जुलूस निकालने पर पुलिस की गोली से मेडिकल कालेज का एक विद्यार्थी जगदीश प्रसाद, जो अपने घर जा रहा था और जिसका छात्र-आन्दोलन से कोई सम्बन्ध न था, तमाशबीन रूप में मारा गया। इससे छात्र भयंकर रूप से उत्तेजित हो उठे। उस समय विश्वविद्यालय में छात्रों के मध्य किसी नेता या मंत्री का जाकर भाषण देना साधारण बात न थी। परन्तु गुप्तजी अपनी निर्भयता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने निश्चय किया कि वे विश्वविद्यालय में जाकर छात्रों के मध्य स्थिति स्पष्ट करेंगे। मुख्य मंत्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने उन्हें विश्वविद्यालय में जाने से मना किया और गृह मंत्री सम्पूर्णानन्दजी ने उन्हें स्थिति की गम्भीरता समझाते हुए विश्वविद्यालय न जाने का आग्रह किया, परन्तु गुप्तजी विचलित नहीं हुए। जिस समय वे विश्वविद्यालय में छात्रों के मध्य भाषण दे रहे थे कुछ उपद्रवी छात्रों ने ईंटबाजी शुरू की। उनकी मोटर को काफी क्षति पहुँचायी परन्तु वे इससे आतंकित नहीं हुए। इन्हीं बातों से वे उत्तर प्रदेश के लोह-पुरुष कहे जाते हैं।

विगत ११ मई, १९६६ को जब साम्यवादी और संयुक्त समाजवादी दल ने विधान-भवन के द्वारों को घेर रखा था और उनके अप्रजातांत्रिक तथा हिंसात्मक ढंग के कार्यों के कारण लोग भीतर जाने में असमर्थ थे, गुप्तजी अपनी मोटर से कूद कर द्वार रोकने वालों के मध्य घुस पड़े और अन्दर चले गये।

१९५२ ई० का पहला आम चुनाव—फरवरी १९५२ में देश में प्रथम आम चुनाव हुए। इसमें गुप्तजी लखनऊ नगर के पूर्वी क्षेत्र से भारी बहुमत से निर्वाचित हुए। यह विजय इतनी शानदार थी कि उनके ११ प्रतिद्वन्द्वियों में से १० की जमानतें जब्त हो गई। १९५२ ई० में वे पुनः मंत्री बने और पूर्वोक्त विभागों से सम्बद्ध रहे, इस मंत्रिमंडल के सदस्यों की नामावली इस प्रकार थी :

१.	सर्वश्री पं० गोविन्द वल्लभ पन्त	मुख्य मंत्री	सामान्य प्रशासन और नियोजन
२.	हाफिज मुहम्मद इब्राहीम	मंत्री	वित्त और विद्युत्
३.	सम्पूर्णानन्द	,,	गृह और श्रम
४.	ठा० हुकुम सिंह	,,	उद्योग
५.	चन्द्रभानु गुप्त	,,	खाद्य रसद, स्वास्थ्य और चिकित्सा
६.	चौ० चरण सिंह	,,	माल और कृषि
७.	अली जहीर	,,	माल और आबकारी
८.	गिरधारी लाल	,,	सार्वजनिक निर्माण
९.	हरगोविन्द सिंह	,,	शिक्षा
१०.	कमलापति त्रिपाठी	,,	सूचना और सिंचाई
११.	मोहन लाल गौतम	,,	स्वायत्त शासन
१२.	विचित्र नारायण शर्मा	,,	परिवहन

इनमें अन्तिम तीन नये मंत्री बने थे।

श्री चन्द्रभानु गुप्त (सन् १९२६)

श्री चन्द्रभानु गुप्त (सन् १९३०)

श्री चन्द्रभानु गुप्त (सन् १९३१)

श्री चन्द्रभानु गुप्त (सन् १९३३)

१९३० में श्री गुप्तजी

ान सभा के नेता चुने जाने के अवसर पर (सन् १९६०)

मुख्य मंत्री के रूप में शपथ ग्रहण करते हुए श्री गुप्तजी (सन् १९६०)

मुख्य मंत्री गुप्तजी अपने मंत्रिमण्डल सहित (सन् १९६०)
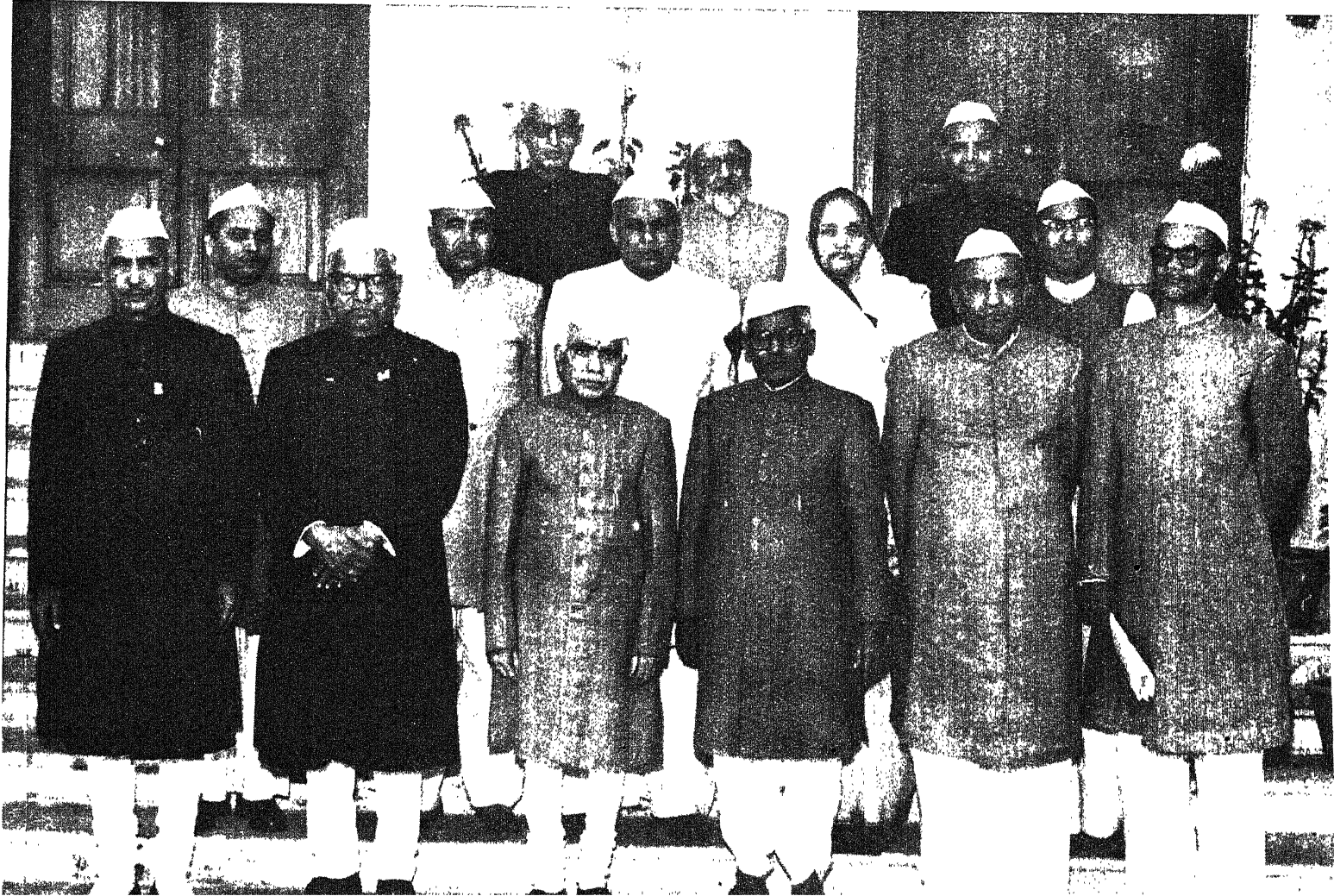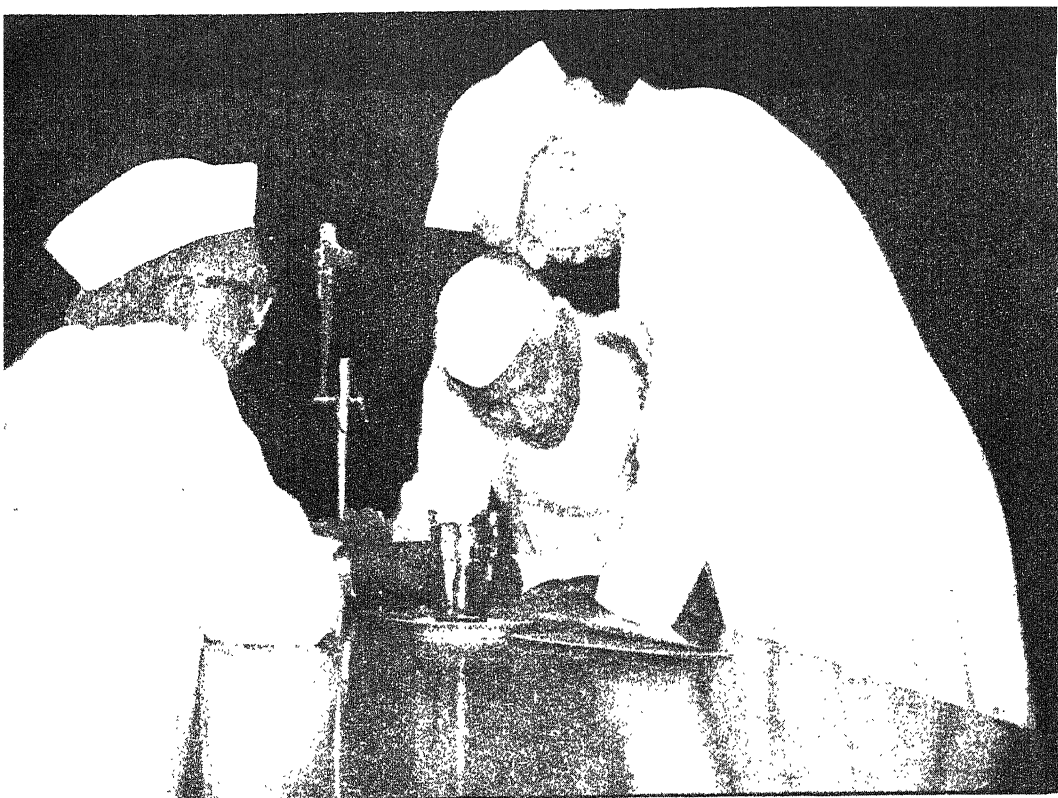
विधान भवन, लखनऊ में पण्डित नेहरू तथा डा० सम्पूर्णानन्द के साथ श्री गुप्तजी

श्री गुप्त विधान भवन में पंडित नेहरू के साथ
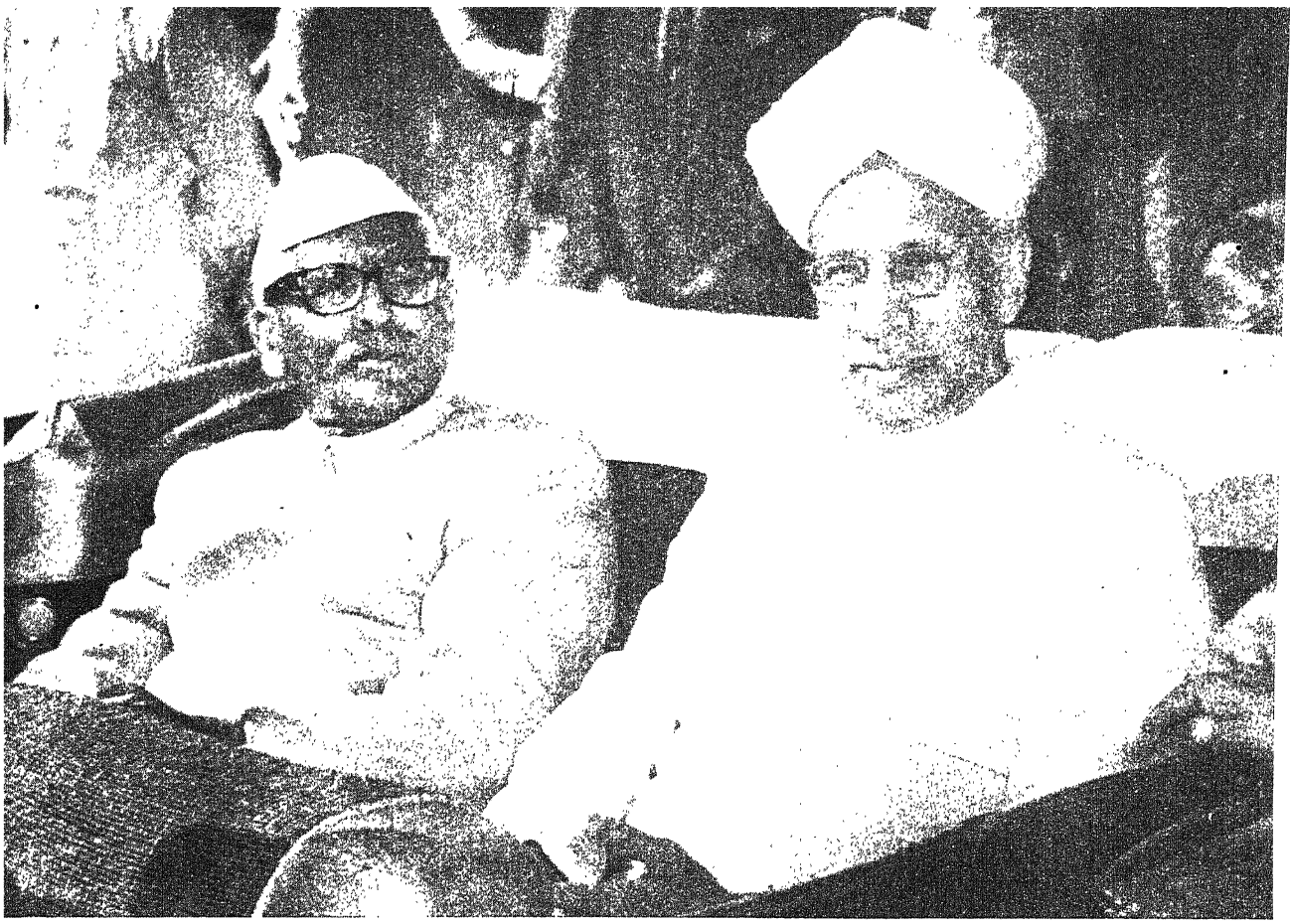
गुप्त राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के साथ

सन् १९६१ में फिरोज गांधी इण्टर कालेज के शिलान्यास के अवसर पर राष्ट्रपति के साथ

श्री गुप्त के निवास-स्थान पर पण्डित नेहरू और उपराष्ट्रपति डा० जाकिरहुसेन (सन् १९६२)

ाण्डित जवाहरलाल नेहरू श्री गुप्त के निवास-स्थान से वापस होते हुए (१९६२)

मोती महल में पण्डित नेहरू तथा अन्य लोगों के साथ श्री गुप्तजी
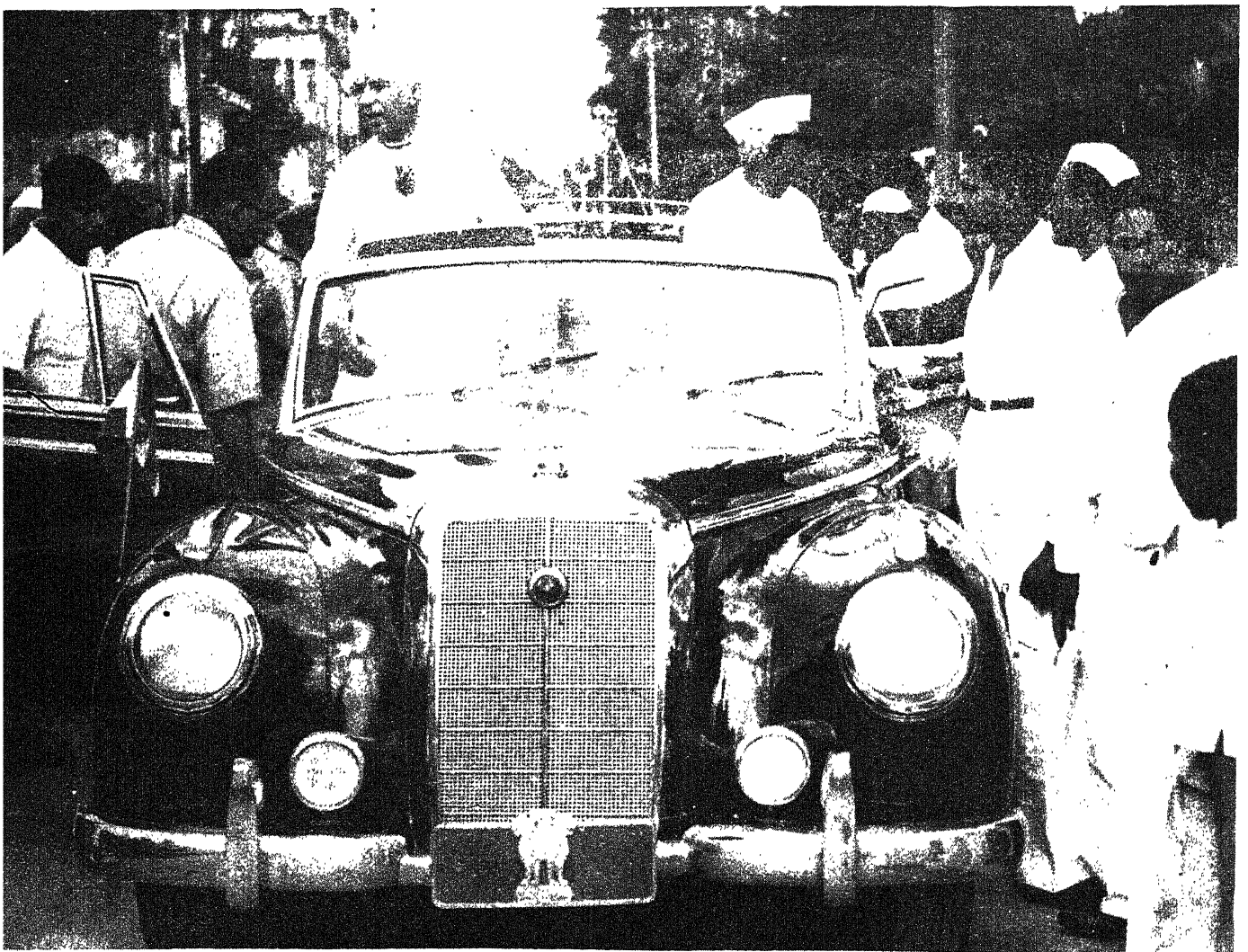
श्री गुप्त पण्डित नेहरू एवं उत्तर प्रदेश के राज्यपाल
श्री विश्वनाथ दास के साथ (सन् १९६२)

आचार्य नरेन्द्र देव पुस्तकालय में गुप्तजी पण्डित नेहरू के साथ
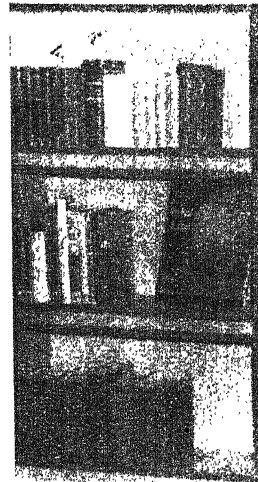
पं० जवाहरलाल नेहरू के साथ श्री गुप्तजी (सन् १९६२)

श्री गुप्तजी पं० गोविन्दवल्लभ पंत के साथ।

प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री के साथ श्री गुप्तजी (सन् १९६४)

इंटर कालेज बख्शी का तालाब, लखनऊ में श्री लालबहादुर शास्त्री के साथ (सन् १९६४)

श्री गुप्त सीमा-सुरक्षार्थ दौरा करते हुए, भोटियों के साथ (सन् १९६२)

मोली जनपद के सीमांत चौकी पर पी० ए० सी० के जवानों के साथ श्री गुप्त (१९६२)

गुप्त देश-रक्षाहित रक्त-दान करते हुए
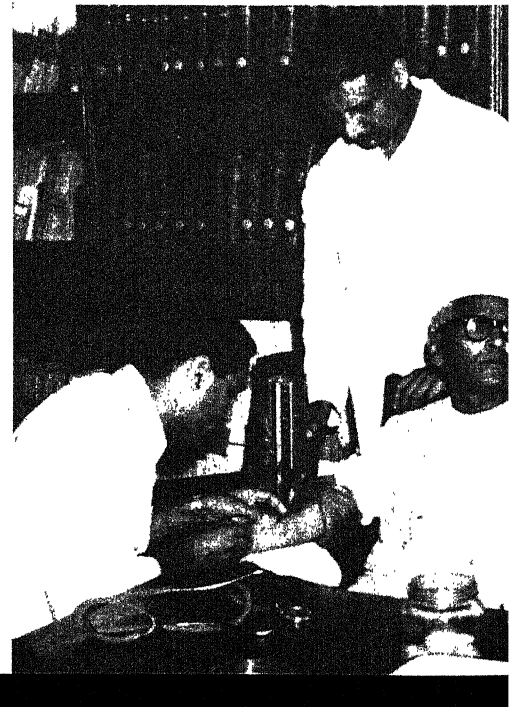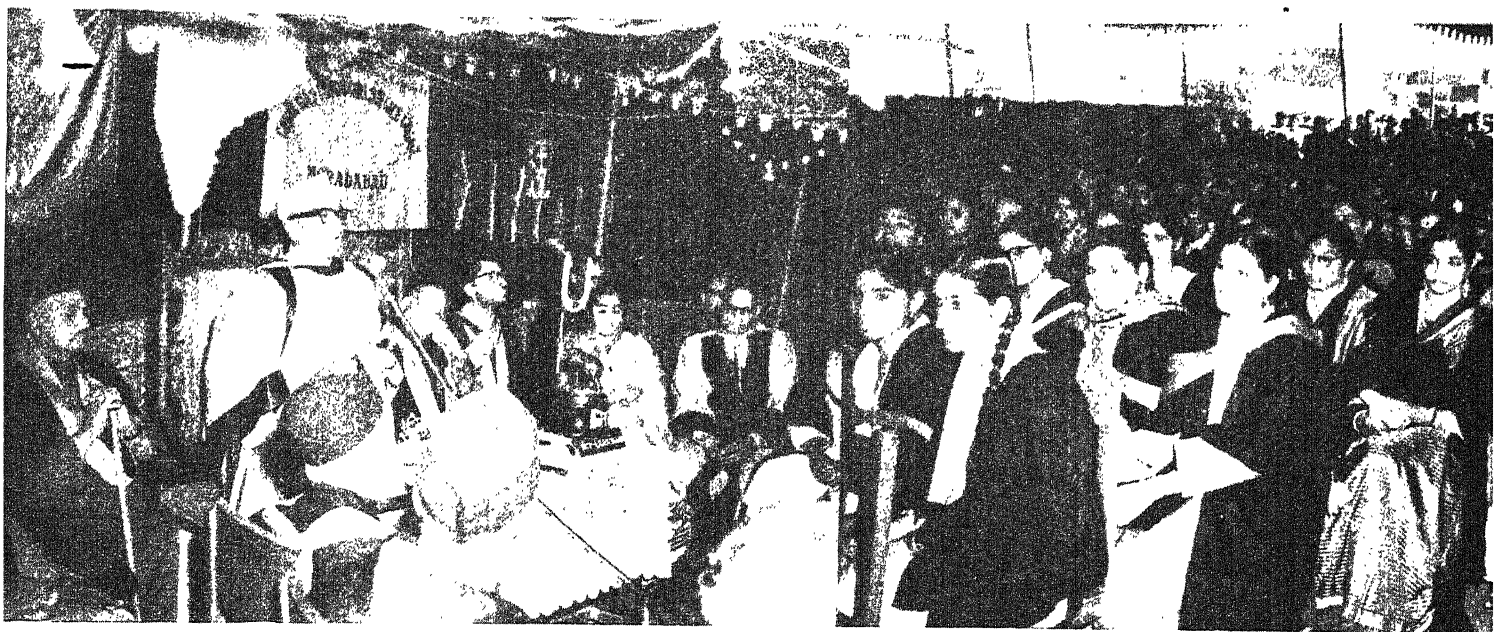
मुरादाबाद तथा अमरोहा के कालेजों के संयुक्त दीक्षांत समारोह में भाषण करते हुए
श्री चन्द्रभानु गुप्त (१९६२)

श्री गुप्त शंकर हाल, सी० डी० आर० आई० लखनऊ में उद्घाटन करते हुए (सन् १९६२)
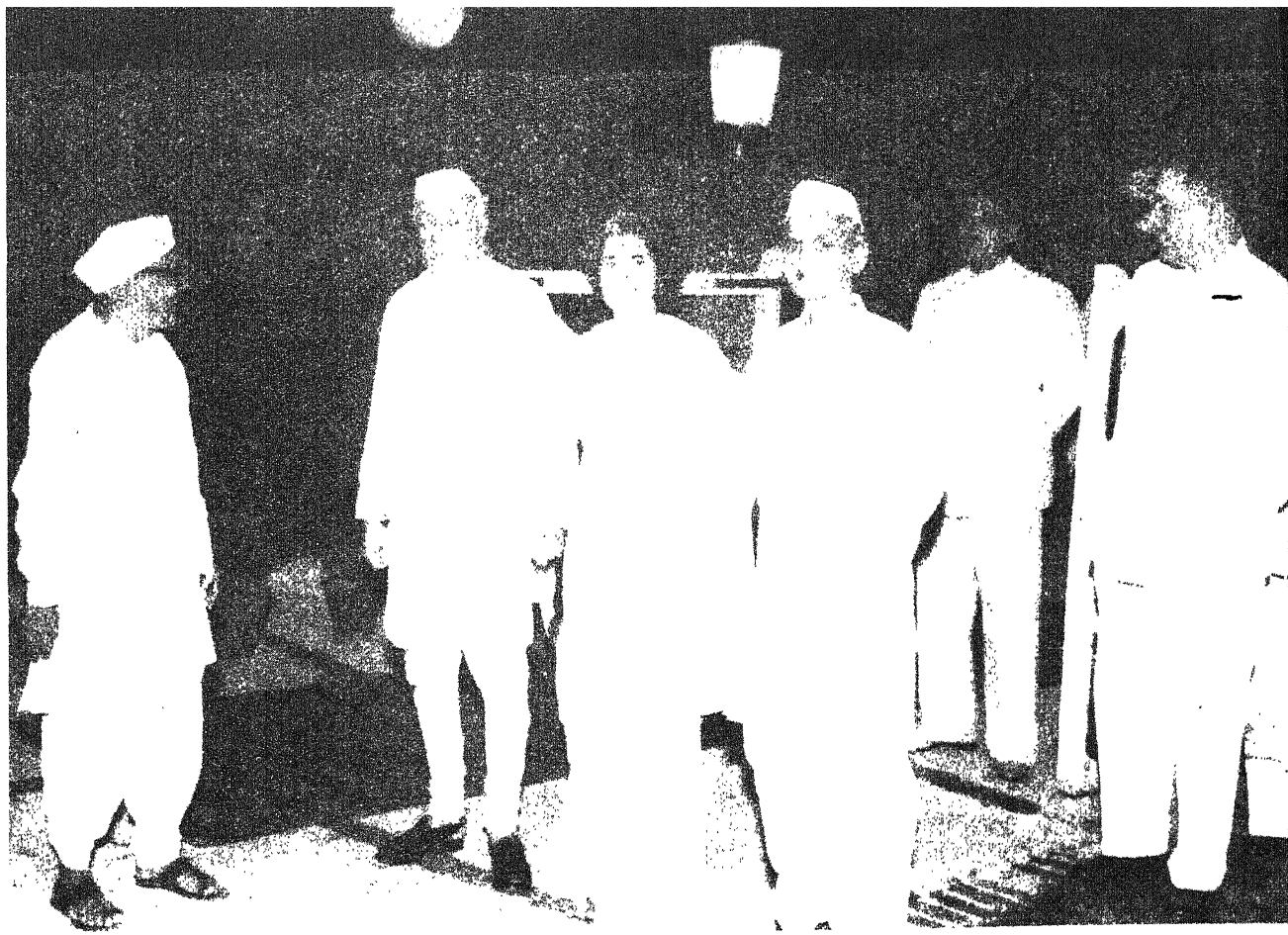
भारत के विगत और वर्तमान प्रधानमंत्रियों के साथ श्री चन्द्रभानु गुप्त (१९६२)

सर्वश्री मंगलाप्रसाद, मुरारजी देसाई तथा स्वर्णसिंह जी के साथ श्री गुप्तजी (१९६२)
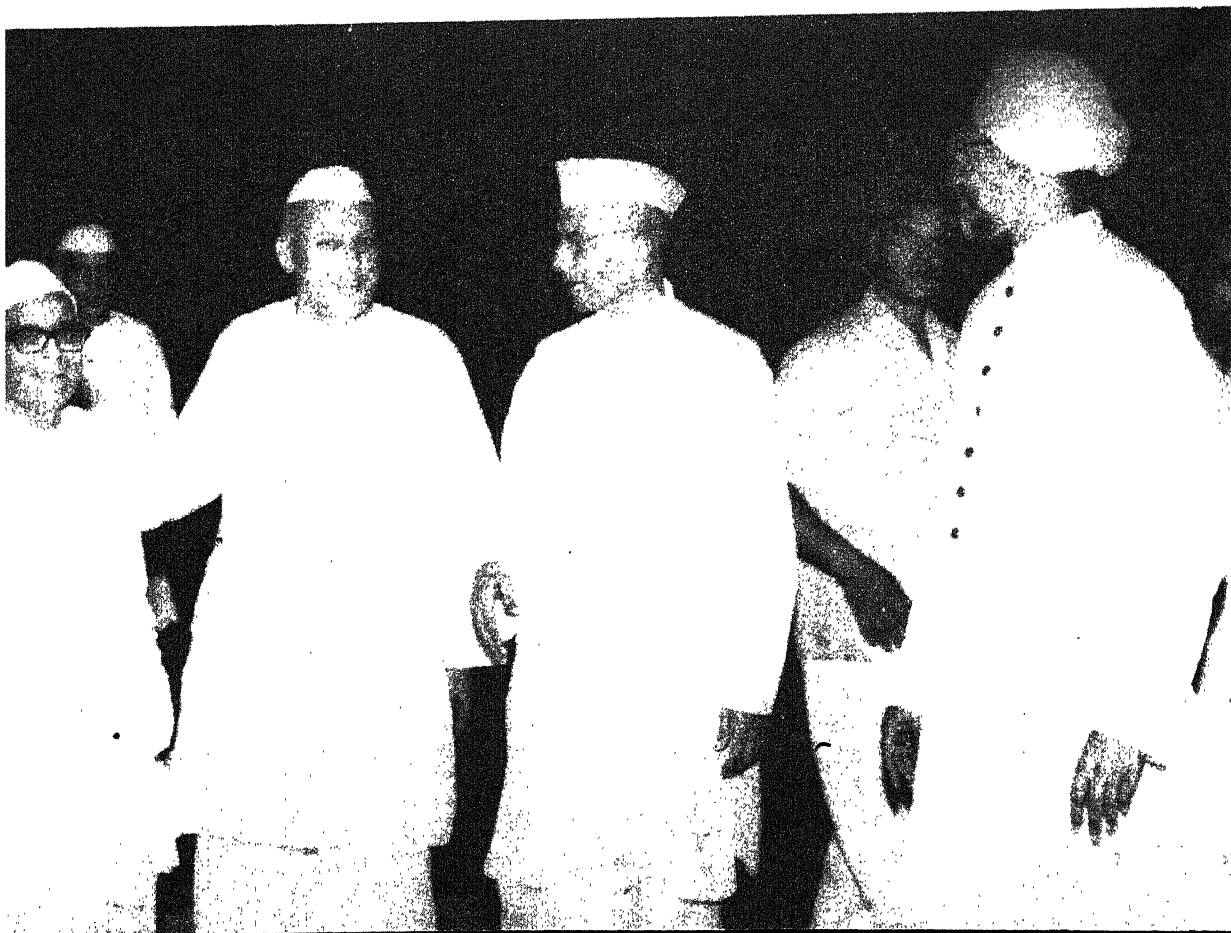
पन्त जी का दिल्ली गमन और प्रदेश की राजनीति—गुप्तजी दुबारा १९५२ ई० से १९५७ ई० तक मंत्री रहे। विरोध, आरोप और हुल्लड़बाजी की राजनीति के बावजूद उनका प्रभाव और शक्ति निरन्तर बढ़ती रही। १९५४ ई० में पं० गोविन्द वल्लभ पन्त केन्द्र में गृह-मंत्री होकर चले गये। पन्तजी यद्यपि जाने को इच्छुक नहीं थे, किन्तु नेहरूजी का आग्रह टाल न सके। पन्तजी के जाने के बाद जब प्रदेश के नेता के चुनाव का प्रश्न आया तो गुप्तजी का दल में बहुमत था, किन्तु वरिष्ठता की दृष्टि से सम्पूर्णानन्दजी को नेता होना चाहिये था। पं० नेहरूजी ने गुप्तजी से कहा भी कि सम्पूर्णानन्दजी का विरोध न किया जाय। कालान्तर में सम्पूर्णानन्दजी के विरुद्ध कुछ लोगों ने श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन का नाम नेतृत्व के लिये प्रस्तावित करना चाहा। गुप्तजी ने किसी प्रकार स्थिति सम्भाली और सम्पूर्णानन्दजी निर्विरोध नेता चुने गये। गुप्त जी का दल में, मंत्रिपरिषद् और विधायकों में बहुमत और प्रभाव इतना अधिक था कि वे मुख्य मंत्री न होते हुए "मंत्रियों में मुख्य" (Chief in Ministers) कहे जाते थे। १९५४ ई० में गुप्तजी को नियोजन और उद्योग-विभाग भी मिल गये। मंत्री की दृष्टि से उनका कार्य काफी बढ़ गया था।

दो निर्वाचनों में लगातार असफलता और परीक्षा के चार वर्ष—१९५७ ई० के आम चुनाव में गुप्तजी लखनऊ के पूर्वी क्षेत्र से विधान सभा के लिये उम्मीदवार थे। इस बार उनके निकटतम प्रतिद्वन्द्वी प्रजा सोशलिस्ट दल के नेता श्री त्रिलोकी सिंह थे। इस समय गुप्तजी के विरुद्ध कई प्रकार की शक्तियां कार्यरत थीं। एक तो कांग्रेस दल से निष्कासित या स्वेच्छा से अलग हुए वे राजनीतिज्ञ थे जो पिछले दस वर्षों से गुप्तजी के विरुद्ध आरोप की राजनीति का अभियान चलाते आ रहे थे, इस समय प्रबलतम रूप में सक्रिय हो उठे। दूसरे स्वयं कांग्रेस दल के उनके वे तथाकथित मित्र थे जिनको उन्होंने उठाया था और जो भीतर से उनके विरोधी थे। आगे चलकर ये ही मित्र उनके खुलकर विरोधी हो गये। तीसरे, गुप्तजी की कन्ट्रोल नीति आदि के कारण असन्तुष्ट व्यापारी-वर्ग भी विरुद्ध था। विश्वविद्यालय-काण्ड के बाद से गुप्तजी की दृढ़ता और शक्ति से आतंकित अनेक दल और छात्र अब विरोध के लिये संगठित हो उठे। यहां तक कि कांग्रेस दल और सरकार में कई लोग गुप्तजी के विरुद्ध गुप्त रूप में कार्य कर रहे थे। हाई कमाण्ड में भी उन्होंने परिस्थिति प्रतिकूल कर दी थी। अतएव आन्तरिक और बाह्य अनेक परिस्थितियों के कारण तथा अपने चुनाव की परवाह न करने के कारण इस चुनाव में गुप्तजी पराजित हो गये और उनके प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवार चुने गये। इस चुनाव की सारे प्रदेश में चर्चा थी और चुनाव-फल की बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा की गई थी। गुप्तजी की पराजय एक अप्रत्याशित घटना के रूप में लोगों के समक्ष आयी। इसके बाद लगभग ८५ विधायकों ने गुप्तजी के लिये त्यागपत्र देकर स्थान रिक्त करने और उनसे चुनाव लड़ने की बात कही थी परन्तु वे तत्काल सहमत नहीं हुए। निर्वाचन से पूर्व मुख्य मंत्री सम्पूर्णानन्द जी ने गुप्त जी को आगे नेतृत्व सम्भालने की बात कही थी, किन्तु उनके पराजित होने पर उन्हें मंत्रिमंडल में सम्मिलित नहीं किया गया। हाई कमाण्ड भी इस समय सौतेला व्यवहार कर रहा था, इससे पूर्व निर्वाचन में श्री मोरारजी देसाई और श्री प्रफुल्ल चन्द्र सेन भी पराजित हो गये थे परन्तु उन्हें मुख्यमंत्रित्व सम्भालने की अनुमति मिल गई थी।

कुछ समय पश्चात् मौदहा नामक क्षेत्र से उपचुनाव में भाग लेने के लिये उन्हें हाई कमाण्ड ने अनुमति दी। यहां प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवार के रूप में स्थानीय भूतपूर्व जमींदार की पत्नी एक रानी थीं। इस चुनाव में भी गुप्तजी के विरुद्ध तीन प्रकार के लोग कार्य कर रहे थे।

१. स्थानीय रानी के समर्थक और जनता की क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता आदि की भावनाओं को उकसाने वाले लोग।

२. पूर्व निर्वाचन के विरोधी अन्य दलों के लोग।

३. अपने ही कांग्रेस दल के मंत्री और अन्य महत्त्वपूर्ण नेतागण।

इसके साथ दल के लोगों द्वारा ही यह भी प्रचार किया जाता रहा कि नेहरूजी और पन्तजी गुप्तजी के विरुद्ध हैं।

इस प्रकार के संगठित विरोध के चक्रव्यूह में गुप्त जी पुनः फंस गये। ग्रामीण जनता स्थानीय प्रभाव व क्षेत्रीय भावना से निर्वाचनों में इतनी शीघ्रता से बह जाती है, इसके रोचक उदाहरण १९५२ ई० के निर्वाचन से दिये जा सकते हैं। फैजाबाद के पूर्वी क्षेत्र से स्थानीय उम्मीदवारों द्वारा, अखिल भारतीय ख्याति के महान् नेता आचार्य जे० बी० कृपलानी और आचार्य नरेन्द्र देव हटा दिये गये थे। फिर मौदहा में तो गुप्तजी के विरुद्ध कई प्रकार की विपरीत परिस्थितियां एक साथ जुट गई थीं। अतएव इस बार भी वे चुनाव में हार गये।

लगातार दो निर्वाचनों में पराजय के पश्चात् लोगों ने यह सामान्य चर्चा का विषय बना दिया कि गुप्त जी का राजनीतिक जीवन समाप्त हो गया। विरोधियों ने यह कहकर सुख की सांस ली कि 'प्रदेश कांग्रेस के कर्णधार की नैया

डूब गई।' प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसी परीक्षा की घड़ियां आती हैं। राजनीतिक जीवन में ऐसे उलट फेरों की अधिक सम्भावना रहती है। यही अवसर होता है जब किसी व्यक्ति की योग्यता और कर्मठता की परीक्षा देनी होती है।

उपर्युक्त दो निर्वाचनों में गुप्तजी की पराजय के कारणों में यह बात स्पष्ट है कि उनके प्रतिपक्षी दल और उसके बाहर सर्वत्र सक्रिय थे। उनकी पराजय के बाद भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए। लोगों ने गुप्त जी के मकान मालिक को उकसाया और उसने गुप्तजी को मकान खाली करने का नोटिस दे दिया। गुप्तजी के भाई के मकानों में किरायेदार रह रहे थे जो उन्हें खाली करने को तैयार न थे। सरकार भी उनके प्रतिकूल थी। मकान छूट जाने पर उनके लिये निवास स्थान की भीषण समस्या आती।

१९४५ से जब से गुप्तजी जेल से छूटकर आये थे वे एक किराये के मकान में रह रहे थे क्योंकि उनके रिश्तेदारों के मकान सब उनकी गैरहाजिरी में नियंत्रण के अन्तर्गत दूसरों के कब्जे में थे। जिस मकान में गुप्त जी रहते थे वह एक बंगाली महाशय का मकान था और उसे उन्होंने एक रस्तोगी के नाम बेच रखा था। इन रस्तोगी महाशय को भड़काकर तथा प्रोत्साहन देकर गुप्त जी को इस मकान से हटाने का षड्यन्त्र कुछ उनके राजनैतिक प्रतिद्वन्दियों ने किया परन्तु वे सफल नहीं हुए। उनके बड़े भाई श्री रामचन्द्र जी को जब इस बात की जानकारी हुई तो उन्होंने मकान के मालिक को राजी करके रस्तोगी जी का रुपया अदा करके मकान को अपने कब्जे में कर लिया; तब गुप्तजी के मकान की समस्या हल हुई।

१९५७ ई० का अखिल भारतीय कांग्रेस सम्मेलन—पराजयों से गुप्तजी हतप्रभ नहीं हुए। कांग्रेस का संगठन तथा अन्य जन कल्याण की संस्थाओं के कार्य पूर्ववत् करते रहे। १९५७ ई० में लखनऊ में ही एक अखिल भारतीय युवक कांग्रेस सम्मेलन हुआ। इसकी सारी व्यवस्था गुप्तजी ने की। आगन्तुकों के ठहरने और अन्य कार्यक्रमों का प्रबन्ध मोती महल में किया गया। पं० जवाहरलाल नेहरू इस सम्मेलन का उद्घाटन करने आये। उन्होंने सारी व्यवस्था और युवकों के इस महत्त्वपूर्ण सम्मेलन की प्रशंसा की। गुप्तजी के योगदान को उन्होंने सराहनीय बतलाया।

राजनैतिक तटस्थता की नीति और जनसेवा—युवक सम्मेलन के पश्चात् गुप्तजी सामाजिक सेवा और दल के संगठन के कार्य में अपना सारा समय देने लगे। सरकार की नीति और कार्यों से उन्होंने उदासीनता का दृष्टिकोण अपना लिया। यदि प्रशासन में कहीं गतिरोध की स्थिति आयी तो उन्होंने सुलझाने का प्रयत्न अवश्य किया और अपनी राय भी दी। उदाहरणार्थ १९५८ ई० में प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी की बैठक में डॉ० सम्पूर्णानन्द ने यह मन्तव्य प्रकट किया था कि यदि राजकर्मचारियों के अवकाश-प्राप्ति की अवधि सरकार ५८ वर्ष नहीं स्वीकार करती तो वे त्यागपत्र दे देंगे। इस वक्तव्य की लोगों पर अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई। अधिकांश लोग अवकाशप्राप्ति अवधि के बढ़ाये जाने के विरुद्ध थे। ऐसी स्थिति में सम्पूर्णानन्द जी के मुख्य मंत्रित्व के त्याग की सम्भावना अधिक बढ़ गई, किन्तु गुप्तजी ने गतिरोध दूर करने के लिये प्रयास किया और अधिकांश लोगों को मुख्य मंत्री के समर्थन में किया। इससे एक राजनीतिक संकट दूर हो गया। वस्तुतः इस समय प्रदेश कांग्रेस की राजनीति के दो पहलू उभर रहे थे, जो आगामी राजनैतिक उलट-फेर के कारण बने। मंत्रिमंडल गुट उग्रता की ओर बढ़ रहा था और असन्तुष्ट गुट सहनशीलता की ओर। उदाहरण के लिए इसी बीच मंत्रिमंडलीय गुट ने यह निर्णय लिया कि दल के किसी प्रश्न पर सम्पूर्ण मंत्रिमंडल एक मत होना चाहिये, किसी को स्वतंत्र मत अभिव्यक्ति का अधिकार नहीं है। इस पर असन्तुष्ट गुट के नौ मंत्रियों ने सरकार से त्यागपत्र दे दिया, जिसे स्वीकार कर लिया गया। बाद में हाई कमाण्ड ने दल की नीति के प्रश्न पर मत अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को उचित और वैध ठहराया। गुप्तजी ने अपने साथियों सहित सहनशीलता और समझौते का मार्ग अपनाया।

इस समय गुप्तजी ने मोती लाल स्मारक समिति के उन्नयन के लिये विशेषरूप से कार्य किया। इसी बीच आचार्य नरेन्द्र देव पुस्तकालय की योजना उन्होंने कार्यान्वित की।

१९६० ई० में उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष निर्वाचित—गुप्त जी के सरकार से बाहर आते ही शक्ति सन्तुलन विचलित हो गया था। मंत्रि वर्ग के अनेक कार्य मनमाने और जनभावनाओं के प्रतिकूल होने लगे थे। ये बातें राज कर्मचारियों तक में परिलक्षित होने लगीं। उस समय तानाशाही की ओर बढ़ते हुए प्रशासन से यदि जनता और दल के सत्वों की रक्षा की आशा का कोई केन्द्र था तो वे गुप्तजी थे। इसी बीच गुप्तजी के कुछ मित्रों ने उनके लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति बनाने की चर्चा चलायी। विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी परिषद् के २४ सदस्यों में से २३ सदस्यों ने इसका समर्थन किया था और गुप्तजी ने उक्त पद स्वीकार करने से स्पष्ट इनकार कर दिया था।

जनतांत्रिक व्यवस्था में शासक दल की जड़ दल द्वारा ही पोषित होती है। दल का जनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतएव यदि शासकवर्ग जनहित की उपेक्षा करने लगता है तो दल में उसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। यही

उस समय हुआ। कांग्रेस दल का बहुमत गुप्तजी के पक्ष में था। अक्तूबर १९६० ई० में प्रदेशीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद का निर्वाचन हुआ। इसमें दो उम्मीदवार आमने सामने थे श्री चन्द्रभानु गुप्तजी और मंत्रिमंडल गुट के उम्मीदवार श्री मुनीश्वर दत्त उपाध्याय। यह भी स्मरणीय है कि चार वर्ष पूर्व गुप्तजी ने मुनीश्वर दत्त उपाध्याय के अध्यक्ष बनने में सहायता की थी। मुख्य मंत्री सम्पूर्णानन्दजी ने चुनाव से एक दिन पूर्व यह वक्तव्य देकर कि "यदि उपाध्याय जी पराजित हो गये तो मैं मुख्य मंत्री पद से त्यागपत्र दे दूंगा" स्थिति को गम्भीरता की चरम सीमा पर पहुंचा दिया। यह चुनाव लखनऊ में हुए इने-गिने ऐतिहासिक चुनावों में से था। यह चुनाव सत्ता और जनता, हठ और असन्तोष के संघर्ष का प्रतीक बन गया था। राजकीय क्रीड़ांगण के पास लगभग कई हजार जनसमुदाय ४॥ से ८॥ बजे तक खड़ा रहा। भीड़ में छात्रों, दूकानदारों और सचिवालय के बाबुओं की संख्या अधिक थी। अनेक केन्द्रीय नेता भी वहां विचरण कर रहे थे। मतगणना आरम्भ होने पर मंत्रिमंडल गुट के नेता एक-एक कर खिसकने लगे, जिससे स्पष्ट हो गया कि वे बाजी हार रहे हैं। गुप्तजी ने ६३ वोटों से अपने प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवार को हराया। चौधरी चरण सिंह, कमलापति त्रिपाठीजी को हराकर पी० सी० सी० के कोषाध्यक्ष चुने गये। गुप्तजी के ही समर्थक चारों उपाध्यक्ष श्री चतुर्भुज शर्मा, आचार्य जुगुल किशोर, श्री अलगूराय शास्त्री और श्री मलखान सिंह चुने गये। गुप्तजी का चुनावफल घोषित होते ही लगभग २५ हजार जनसमुदाय मोतीमहल गया और गुप्तजी को फूलों से लाद दिया गया। उस समय "गुप्ता जी जिन्दाबाद"आदि नारों के साथ 'कांग्रेस बड़ी या सरकार' का नारा भी गूंज रहा था, जो तत्कालीन जनभावना का सच्चा प्रतिनिधि था। गुप्तजी ने उस समय उपस्थित जनसमुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा, "याद रखिये, कांग्रेसजनों को सबसे पहला काम अपने संगठन को बलशाली बनाना है, क्योंकि यही देश की आशा है। मेरी जीत कांग्रेस की ही जीत नहीं वरन् हमारे उन साथियों को सही रास्ते पर लाने का संकेत करती है जो पद के मद में आकर अपने साथियों के साथ साधारण मनुष्यता का व्यवहार करना तक भूल गये थे।"[१]

गोमती के बाढ़ पीड़ितों को सहायता—इस राजनीतिक सैलाब से जिस प्रकार उत्तर प्रदेश का शासन हिल उठा, उसी प्रकार ठीक एक सप्ताह बाद (११ अक्तूबर, १९६० ई०) गोमती नदी की भीषण बाढ़ से लखनऊ नगर का जीवन अस्तव्यस्त हो गया। इस बाढ़ में नदी का जल सदैव के कीर्तिमानों से आगे बढ़ गया। गुप्तजी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार तत्काल सहायता में जुट गये। वे स्वयं नाव पर लोगों की सहायता के लिये गये। पीड़ितों के भोजन, वस्त्र और शरणस्थल के प्रबन्ध में उन्होंने रात-दिन एक कर दिया। राजनीतिक हलचलों से महीनों तक उन्होंने अपने हाथ समेट लिये। बाढ़ के बाद जाड़े का मौसम आया। उस समय उन्होंने बाढ़-पीड़ित मुहल्लों में स्वयं जाकर कम्बल बंटवाये और इन लोगों की सहायतार्थ सब साधनों को जुटाया।

गुप्तजी की विजय के बाद उत्तर प्रदेश के प्रशासन और राजनीतिक क्षेत्र में एक बड़ी अस्थिरता और अनिश्चय का युग आ गया। सर्वत्र यही चर्चा का विषय था कि क्या श्री सम्पूर्णानन्द जी अपनी पूर्व घोषणा के अनुसार अब इस्तीफा देंगे। यह बात भी स्पष्ट हो चली थी कि कांग्रेस दल में ही नहीं विधायकों में भी गुप्तजी का बहुमत है, अतएव सच्चे अर्थों में नेता वही हैं। मंत्रिमंडल गुट के लोग काफी दिनों तक इस बात के लिये प्रयत्नशील रहे कि डॉ० सम्पूर्णानन्द जी इस्तीफा न दें। महीनों की कशमकश और अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात् नेहरूजी के हस्तक्षेप से पटपरिवर्तन हुआ। २५ नवम्बर, १९६० ई० को नेहरूजी ने श्री सम्पूर्णानन्द जी को एक पत्र लिखकर उन्हें राय दी कि वे मुख्य मंत्रित्व पद का त्याग कर दें और गुप्तजी को मुख्य मंत्री बनाने पर बल दिया।[२] २६ नवम्बर को श्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपने पद त्याग के निश्चय की घोषणा की।

गुप्तजी मुख्य मंत्री बने—१ दिसम्बर, १९६० ई० को गुप्तजी निर्विरोध मुख्य मंत्री चुने गये। ७ दिसम्बर को उन्होंने शपथ ग्रहण की। गुप्तजी के साथ मंत्रिमंडल में सम्मिलित होने वाले अन्य मंत्री ठा० हुकुम सिंह, चौधरी चरण सिंह, आचार्य जुगुल किशोर, श्री मंगला प्रसाद, श्री मुजफ्फर हुसेन, श्री राममूर्ति, डॉ० सीताराम, श्री कैलाश प्रकाश और श्रीमती सुचेता कृपलानी थीं। असन्तुष्ट गुट के अन्य सदस्य बाद में मंत्रिमंडल में सम्मिलित हुए और मंत्रिमंडल का विस्तार होता गया।

गुप्तजी के मुख्य मंत्री बनते ही सारे प्रदेश में एक उत्साह का वातावरण उत्पन्न हो गया। वर्षों से प्रशासनिक कार्य के गतिरोध का कुहासा छंट गया। जिस प्रकार पतझड़ आने पर हवा का हल्का सा झोंका भी सूखे पत्ते को गिरा देता है, उसी प्रकार राजनीति का रुख बदलते ही भ्रष्ट राजकर्मचारी एक-एक कर खिसकने लगे। गुप्तजी के मुख्य मंत्री

---

१. स्वतंत्र भारत, ५ अक्तूबर, १९६० ई०।

२. स्वतंत्र भारत, १९ दिसम्बर, १९६० ई०।

बनने पर जनता ने राहत की सांस ली। महीनों से पी० ए० सी० के बूटों से कुचले हुए लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रांगण में फिर नवजीवन का संचार होने लगा। गुप्तजी ने १८ दिसम्बर, १९६० ई० को सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए कहा था "राजनीति का रुख क्या है, इसे मैं भी कुछ जानता हूं। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि राज्य की बहुसंख्यक जनता और तरुण वर्ग आज मेरे साथ है।"[१]

गुप्तजी ने सरकार में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा था—"यदि बहुमत मेरे पक्ष में नहीं होगा तो मैं एक मिनट के लिये भी मुख्य मंत्री रहना पसन्द नहीं करूंगा।"[२]

गुप्तजी मुख्य मंत्री बनने से पूर्व विधान परिषद् के सदस्य नामजद किये गये थे, किन्तु वे चाहते थे कि चुनाव जीतकर विधिवत् विधान सभा के सदस्य बन जायं। लक्ष्मण सिंह अधिकारी के अल्मोड़े के विधायक-क्षेत्र से त्यागपत्र देने पर गुप्त जी, जनवरी, १९६१ ई० में भारी बहुमत से विधान-सभा के सदस्य निर्वाचित हुए।

गुप्तजी द्वारा कांग्रेस का अध्यक्ष पद छोड़ने पर चार मास बाद श्री अजित प्रसाद जैन निर्विरोध अध्यक्ष बने, परन्तु दल में उनका झुकाव धीरे-धीरे असन्तुष्ट गुट की ओर अधिक होता गया, यह बात किसी से छिपी नहीं है। गुप्त जी आम चुनाव से लगभग एक वर्ष पूर्व मुख्य मंत्री बने थे। अतएव प्रशासन और कांग्रेस दल दोनों की प्रतिष्ठा को जनता में सुरक्षित रखने का ही नहीं ऊंचा उठाने का भी उन पर दायित्व था। दूसरी और तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं का यही संधिस्थल भी था। उन्होंने जिस तत्परता से सभी उत्तरदायित्वों का निर्वाह किया उससे उनके 'लौह पुरुष' होने के अतिरिक्त उनकी प्रशासनिक क्षमता भी सिद्ध हो गई। काफी दिनों तक तो वे आधे दर्जन महत्त्वपूर्ण विभागों की देख-रेख स्वयं करते रहे।

पुनः मुख्य मंत्री—फरवरी, १९६२ ई० में तीसरा आम चुनाव हुआ। इसमें कांग्रेस भारी बहुमत से विजयी हुई। गुप्तजी रानीखेत दक्षिण निर्वाचन-क्षेत्र से अपने निकटतम प्रजा सोशलिस्ट प्रतिद्वन्द्वी को २० हजार वोटों से पराजित कर निर्वाचित हुए।

प्रशासन को अधिक सुचारु रूप से चलाने और कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ताओं की सन्तुष्टि के लिये उन्होंने इस बार प्रदेश के इतिहास में सबसे बड़े मंत्रिमंडल की रचना की। मंत्रिमंडल में ठा० हुकुम सिंह, चौधरी गिरधारीलाल, श्री चरण सिंह, श्रीमती सुचेता कृपालानी, श्री मुजफ्फर हसन, आचार्य जुगुल किशोर, श्री राममूर्ति, श्री अलगूराय शास्त्री, श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, श्री जगमोहन सिंह, नेगी, श्री फूलसिंह, श्री सैयद अली जहीर, श्री चतुर्भुज शर्मा, श्री विचित्र नारायण शर्मा, पं० कमलापति त्रिपाठी, डॉ० सीताराम, श्री गोविन्द सहाय, श्री दाऊ दयाल खन्ना, श्री बनारसी दास थे। अनेक उप मंत्री और सभासचिव भी मंत्रिमंडल में सम्मिलित थे। इतना सब होते हुए भी असन्तुष्ट गुट का पूर्ण सहयोग गुप्तजी को कभी नहीं मिल सका। कालान्तर में तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष से असन्तुष्ट गुट की सांठ-गांठ आये दिन गुप्तजी के लिये सिरदर्द पैदा करती रही।

चीनी आक्रमण—वर्षों तक गुप्तजी के नेतृत्व में प्रदेश की नौका शान्तिपूर्वक उन्नति की मंजिल की ओर बढ़ रही थी। अचानक सितम्बर, १९६२ ई० में भारत पर चीनियों ने आक्रमण कर दिया। चीन का समीपस्थ प्रदेश होने के कारण उत्तर प्रदेश का बड़ा उत्तरदायित्व था। गुप्तजी प्रशासनिक क्षमता के साथ जन-जागरण और धन-संग्रह के कार्य में भी अद्वितीय प्रमाणित हुए। समस्त प्रदेश में गृह रक्षक, सिविल डिफेन्स आदि की व्यवस्थायें लागू कर दी गई। सीमावर्ती प्रदेशों की देखभाल में गुप्तचर विभाग ने मुस्तैदी से कार्य किया, जिससे देशद्रोहियों की दाल न गल सकी। करोड़ों रुपये का सोना और धन एकत्र कर गुप्तजी ने सुरक्षा कोष में भेजा।

कामराज योजना—कामराज योजना को अभी किसी कूटनीति के मानदण्ड पर रखना समय से पूर्व इतिहास के समय में निर्णय देना होगा। कामराज योजना स्वातंत्र्योत्तर भारत के इतिहास में एक अभूतपूर्व, चामत्कारिक और अत्यन्त विवादास्पद घटना के रूप में लिखी जायगी, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी परिषद् ने ८ अगस्त, १९६३ ई० को मद्रास के मुख्य मंत्री कामराज नादार के इस प्रस्ताव को, कि संगठन को मजबूत बनाने के लिये कुछ वरिष्ठ मंत्रियों को त्यागपत्र देना चाहिये, स्वीकार कर लिया। १० अगस्त को महासमिति ने निर्णय लिया कि प्रधान मंत्री को छोड़ कर सरकार के सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को दल के संगठन के निमित्त अपने पदों का त्याग करना चाहिये। इस निर्णय के बाद सभी प्रदेशों के मुख्य मंत्रियों

---

१. स्वतंत्र भारत, १९ दिसम्बर, १९६० ई०।
२ वही ,, ,, ।

और केन्द्रीय मंत्रियों ने (प्रधान मंत्री को छोड़कर) अपने त्यागपत्र कार्यसमिति के पास भेज दिये। कार्यसमिति ने त्यागपत्र के सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिये प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू की सलाह ली। उनकी सिफारिश पर ६ केन्द्रीय मंत्रियं और ६ मुख्य मंत्रियों के त्यागपत्र स्वीकार किये गये : केन्द्रीय मंत्री इस प्रकार थे :

१. श्री मोरारजी देसाई (वित्त)
२. श्री जगजीवन राम (परिवहन व संचार)
३. श्री लाल बहादुर शास्त्री (गृह)
४. श्री एस० के० पाटिल (खाद्य व कृषि)
५. श्री बी० गोपाल रेड्डी (सूचना व प्रसार)
६. श्री कालूलाल श्रीमाली (शिक्षा)

६ मुख्य मंत्रियों के नाम ये हैं :

१. श्री कामराज नादार (मद्रास)
२. श्री विजयानन्द पटनायक (उड़ीसा)
३. श्री बख्शी गुलाम मुहम्मद (जम्मू व काश्मीर)
४. श्री विनोदानन्द झा (बिहार)
५. श्री चन्द्रभानु गुप्त (उत्तर प्रदेश)
६. श्री बी० आर० मंडलोई (मध्य प्रदेश)

कामराज योजना के सम्बन्ध में दो मूलभूत प्रश्न उ०ते हैं कि कौन सरकारी पदों का परित्याग करे और क्यों पदों का परित्याग किया जाय। प्रस्ताव में कहा गया था कि वरिष्ठ मंत्री और प्रमुख कांग्रेसी नेता (प्रधान मंत्री को छोड़ कर) पद-त्याग करें। वरिष्ठता और प्रमुखता की परिभाषा में प्रधान मंत्री क्यों नहीं आये, यह अपवाद में रख गये विवेचनीय नहीं है। जहां तक वरिष्ठता का प्रश्न है, त्यागपत्र देने वालों में सबसे वरिष्ठ लोगों के ही त्याग-पत्र स्वीकार किये गये हों, ऐसी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रमुख नेताओं के ही त्याग-पत्र स्वीकार किये गये हों यह भी विवादास्पद है। त्यागपत्र क्यों दिये जायं, इस सम्बन्ध में कहा गया था कि ऐसे अनुभवी लोगों की दल के संगठन में आवश्यकता है। वस्तुतः यह आधार भी सभी कार्य-मुक्त किये गये मंत्रियों के लिये ज्ञात नहीं होता। कालान्तर में कुछ मंत्री पुनः सरकार में सम्मिलित कर लिये गये। यह बात भी योजना की दोहरी नीति की द्योतक है। यद्यपि कामराज योजना का उद्देश्य उच्च और महान् था तथा सारे विश्व के राजनीतिक क्षेत्रों में यह एक अद्भुत प्रयोग के रूप में देखा गया परन्तु इसका कार्यान्वीकरण और कालान्तर में होने वाले परिणाम को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। आज लगलभग चार वर्ष पश्चात् यदि सम्पूर्ण स्थिति पर दृष्टिपात करें तो हमें उक्त योजना नैतिक पुनरुत्थान की अपेक्षा राजनैतिक पुनरुत्थान और कूटनीति से प्रेरित अधिक ज्ञात होती है।

कुछ भी हो गुप्तजी ने दल और जनता के लिये मुख्य मंत्रित्व छोड़ दिया। उन्होंने सन् १९६० ई० में मुख्य मंत्री बनते ही प्रथम भाषण में ही कहा था कि सन् १९५४ ई० में वे दल में बहुमत रखते हुए भी मुख्य मंत्री बनने के लिये सामने नहीं आये और न इस समय भी उत्सुक हैं। लोगों के आग्रह और समय की मांग के कारण उन्हें मुख्य मंत्री बनना पड़ा। इसलिये पद का परित्याग उन्होंने बड़े निर्लिप्त भाव से कर दिया।

१९६४ ई० का अध्यक्ष-पद का निर्वाचन-काण्ड—मुख्य मंत्री के पद से कार्यमुक्त होने के पश्चात् गुप्तजी दल के संगठन कार्य में संलग्न हुए। वे सात-आठ महीने मौन रहकर कार्य कर पाये थे कि प्रदेश के कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के निर्वाचन का समय आ गया। दल में अपने महत्त्वपूर्ण स्थान के कारण उन्होंने अध्यक्ष-पद का उम्मीदवार बनना स्वीकार कर लिया। उस निर्वाचन को 'काण्ड' की संज्ञा इसीलिये दी गयी है कि सर्वश्री सुभाषचन्द्र बोस और पुरुषोत्तमदास टण्डन के कांग्रेस अध्यक्ष-पद के परित्याग की भांति उक्त घटना भी कांग्रस के इतिहास में अभूतपूर्व घटनाओं में गिनी जायगी। गुप्तजी के प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवार श्री कमलापति त्रिपाठी थे। त्रिपाठीजी उस समय वित्त मंत्री थे जिसे कालान्तर में उन्होंने त्याग दिया था। यह निर्वाचन १२ मई, १९६४ को हाई कमाण्ड के चुनाव पर्यवेक्षक ललित सेन के निरीक्षण में हुआ। इस चुनाव के समय भी दल और सरकारी क्षेत्रों में बड़ी सरगर्मी रही। जनता में भी चुनाव फल की काफी व्यग्रता से प्रतीक्षा की गयी। यद्यपि गुप्तजी के त्याग और संगठन-क्षमता के कारण लोगों का सामान्य विश्वास यही था कि वे विजयी होंगे और चुनाव फल हुआ भी प्रत्याशित। गुप्तजी को ३१८ तथा त्रिपाठी जी को ३११ मत मिले। इस प्रकार गुप्तजी अध्यक्ष-पद के लिये निर्वाचित घोषित किये गये। उन्होंने कुछ दिन बाद अध्यक्ष का कार्यभार सम्भाल लिया। असन्तुष्ट गुट हाई कमाण्ड के समक्ष शिकायत लेकर गया।

यदि हम पिछले इतिहास पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि शिकायतं या रिप्रजेन्टेशन उत्तर प्रदेश की राजनीति का अभिन्न अंग रहा है। 'हाई कमाण्ड' यदि प्रादेशिक शिकायतों का कोई व्योरा तैयार करे तो उत्तर प्रदेश को उसमें शीर्षस्थ स्थान मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। ४ अगस्त, १९६४ को कांग्रेस अध्यक्ष कामराज ने असन्तुष्ट गुट की शिकायतों पर निर्णय दिया कि १९६१ ई० के पश्चात् कोटा-परमिट प्राप्तकर्त्ताओं ने जो वोट दिये हैं उन्हें वैध नहीं माना जायगा। इस चुनाव के सम्बन्ध में शिकायतों की जांच का काम केन्द्रीय गृह मंत्री गुलजारी लाल नन्दा को सौंपा गया था। उनकी रिपोर्ट के अनुसार चुनाव अधिकारी ललितसेन की उपस्थिति में मतों की पुनर्गणना हुई। १८ मतों को अवैध घोषित कर जब मत-गणना की गयी तो दोनों उम्मीदवारों को मत इस प्रकार मिले——

श्री चन्द्रभानु गुप्त	३०७
श्री कमलापति त्रिपाठी	३१०
कुल वैध वोट	६१७

इस प्रकार ९ अगस्त, १९६४ की पुनर्गणना में श्री कमलापति त्रिपाठी अध्यक्ष निर्वाचित घोषित किये गये और उन्होंने गुप्तजी को कार्यमुक्त कर अध्यक्ष का कार्यभार सम्भाल लिया।

यहां जनतांत्रिक प्रथा और वैधता की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ सकते हैं जिनके सम्बन्ध में आगामी इतिहासकार अपना निर्णय देंगे। गुप्तजी पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, वे शान्तिपूर्वक पुनः अपने कार्य में दत्तचित्त हैं।

पाकिस्तानी आक्रमण के समय गुप्तजी की सेवायें——विगत पाकिस्तान के युद्ध के समय गुप्तजी ने जनता से सुरक्षा कोष के लिये धन एकत्र करने और जन-जागरण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वे उत्तर प्रदेश नागरिक सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष हैं। इस दृष्टि से भी उन्होंने धन-बल की शक्ति राष्ट्रहित में पुंजीभूत करने में योग दिया।

कांग्रेस केन्द्रीय निर्वाचन समिति के सदस्य——२२ मई, १९६६ ई० को कांग्रेस केन्द्रीय निर्वाचन समिति (कांग्रेस सेन्ट्रल इलैक्शन कमेटी) के पांच रिक्त स्थानों के लिए बम्बई में चुनाव हुआ। इस समय अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का सम्मेलन हो रहा था। उक्त चुनाव में गुप्त जी ९१ मतों से सदस्य चुने गये। अन्य निर्वाचित सदस्यों में श्री एन० संजीवैया रेड्डी, श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र, श्री गुलाम मुहम्मद सादिक और डॉ० राम सुभग सिंह हैं। श्री रेड्डी, मिश्र जी और गुप्त जी वोटों की प्रथम गणना में ही निर्वाचित हो गये थे क्योंकि उन्हें प्रथम वरीयता के ही आवश्यक मत मिल गये थे। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के ५३४ सदस्यों ने इस मतदान में भाग लिया था।

उक्त पांच निर्वाचित सदस्य और केन्द्रीय संसदीय परिषद् के आठ सदस्य केन्द्रीय निर्वाचन समिति के सदस्य होंगे। समिति के अन्य आठ सदस्यों की नामावली इस प्रकार है: श्री कामराज, श्रीमती इन्दिरा गांधी, श्री मोरारजी देसाई, श्री जगजीवन राम, श्री वाई० बी० चव्हाण, श्री एस० के० पाटिल, श्री फखरुद्दीन, अली अहमद और श्री अतुल्य घोष।

गुप्तजी का उक्त समिति के लिये इतने अच्छे बहुमत से निर्वाचन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। एक तो अखिल भारतीय स्तर की समिति में गुप्तजी की उपस्थिति उनकी गरिमा के अनुकूल ही है। दूसरे, अखिल भारतीय स्तर पर लोगों ने उनके त्याग, कर्मठता और दल के लिये महत्त्व का अनुभव किया है। तीसरे, प्रदेश और देश में उनकी जनप्रियता और आगामी निर्वाचन में विशिष्ठ सफलता का संकेत भी है।

गुप्तजी की राजेतर जन-सेवायें——मंत्री और मुख्य मंत्री के रूप में गुप्तजी ने उत्तर प्रदेश की जो सेवायें कीं, उसकी एक झलक पिछले पृष्ठों में दी जा चुकी है। इसके अतिरिक्त जनसेवक के रूप में गुप्तजी के बहुमुखी कार्यों पर विचार करना अभीष्ट है। इस दृष्टि से गुप्तजी के कार्य अधिक व्यापक और महान् दृष्टिगत होते हैं, क्योंकि राजपद पर आसीन होने से तो शासनयंत्र की स्वाभाविक गतिविधि क्रियाशील होती है। अतएव सम्पूर्ण श्रेय किसी व्यक्ति को मिलना कठिन होता है, किन्तु सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में किसी व्यक्ति की सफलता या असफलता उसकी विश्वासपात्रता, व्यक्तिगत आकर्षण, प्रतिभा और प्रेरणाशक्ति पर निर्भर करती है। आधुनिक भारत के स्वतंत्रता के संग्रामकर्त्ताओं में कुछ बड़े नेताओं को छोड़कर कदाचित् ही कोई नेता इतनी अधिक बहुविध संस्थाओं का केन्द्रबिन्दु रहा हो, जितनी कि श्री चन्द्रभानु गुप्त हैं। यदि संक्षेप में कहा जाय तो गुप्तजी स्वयं एक संस्था हैं जिनसे अनेक संस्थायें पल्लवित और पोषित होती रहती हैं। स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, शिक्षा, क्रीड़ा, श्रम एवं जन-कल्याण तथा उद्योग आदि की सैकड़ों संस्थाओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जन-कल्याण की संस्थाओं को चलाने के लिये दो आधारभूत बातों की आवश्यकता पड़ती है, पूंजी और श्रम। जन-कल्याण की संस्था की आरम्भिक पूंजी का स्रोत प्रायः लोगों के द्वारा, जायदाद आदि के दान, चन्दा और यदा-कदा राजकीय सहायता होती है। पूंजी स्वयं निष्क्रिय है। उसको सक्रिय बनाने का श्रेय श्रम को है। गुप्तजी इस रहस्य से परिचित हैं। उन्हें ज्ञात है कि लोग अपने चिरसंचित धन का सदुपयोग करना चाहते हैं, किन्तु उपयुक्त कार्य और पात्र उन्हें नहीं मिल पाते, फलस्वरूप धन अप्रयुक्त पड़ा रहता है। गुप्तजी जन-कल्याण के कार्य और उसके आय के

साधन में समन्वय स्थापित करने में इसी कारण सर्वाधिक सफल होते हैं। बच्चों, बीमारों, श्रमिकों, शोध छात्रों को जह आवश्यकता है इसे उनकी दृष्टि निरीक्षण करती रहती है और तदनुकूल समय आने पर वहां उनकी प्रेरणा से कोई संस्था उठ खड़ी होती है।

अनेक ऐसे रोचक उदाहरण गुप्तजी के स्मरण के हैं कि अमुक नगर में कोई अच्छा अस्पताल नहीं था। वहां एसे लोग भी थे जो जन-कल्याण में धन लगाना चाहते थे, परन्तु उन्हें कार्य की दिशा और पात्र का ज्ञान न था। गुप्तजी के निवेदन करते ही लाखों रुपये एकत्र हो गये और कुछ दिनों में भव्य चिकित्सालय बन गया। यदि गुप्तजी ने इस धन की एक समुचित दिशा न निर्धारित की होती तो सम्भव है कि किसी अनुपयोगी कार्य में लगकर नष्ट हो धन जाता। गुप्तजी इस प्रकार के दान को बच्चों के मन्दिर (केन्द्र) और जनोपयोगी पुस्तकालय के रूप में व्यय करवाते हैं। इन सब बातों पर विचार करते समय अकस्मात् यह बात मन में उठती है कि यदि उत्तर प्रदेश ने दो-चार और ऐसे ही दूर-दर्शी और जनता के विश्वासपात्र नेता उत्पन्न किये होते तो उसका पूर्णरूपेण कायापलट हो गया होता। गुप्तजी के जन-कल्याण के कार्यों पर वर्गीकृत रूप से इस प्रकार विचार किया जा सकता है:

१. स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के कार्य
२. शिक्षा, क्रीड़ा, श्रमिक कल्याण, उद्योग आदि।
३. मोती लाल मेमोरियल सोसाइटी
४. भारत सेवा संस्थान

स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-कार्य––गुप्त जी के व्यक्तिगत प्रयत्न से लोगों के दान द्वारा जिन अस्पतालों का निर्माण, विस्तार या नवीनीकरण हुआ, उनकी संक्षिप्त सूची यहां दी जाती है। यह सूची पूर्ण नहीं है। इनसे और अधिक अस्पतालों या स्वास्थ्य केन्द्रों का विकास उनके प्रयत्न से हुआ है। इस सूची से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि उन्होंने सम्पूर्ण प्रदेश में किस प्रकार चिकित्सालयों का जाल बिछाने में योग दिया है।

१. सहारनपुर––सहारनपुर में गुप्तजी ने अस्पताल खोलने की बात चलायी तो एक महानुभाव ने वचन दिया कि वे अपनी पत्नी के नाम चिकित्सालय बनवा देंगे। बाद में वे अपने वायदे से मुकर गये। इसके पश्चात् गुप्तजी ने वहां के एक उद्योगपति से अस्पताल के निर्माण में योग देने को कहा। इनकी तथा वहां के अन्य दानी-मानी व्यक्तियों के सहयोग तथा जिलाधीश की सहायता से एक वर्ष के भीतर ही १०-११ लाख रुपया एकत्र हो गया और अस्पताल का निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ। सहारनपुर की यात्रा में गुप्तजी ने एक बार यह भी घोषणा की थी कि चिकित्सालय का विस्तार कर मेडिकल कालेज बना दिया जायेगा। चिकित्सालय तो बन गया, किन्तु मेडिकल कालेज न बन सका क्योंकि वहां पर्याप्त भूमि उपलब्ध न हो सकी।

२. गाजियाबाद––गाजियाबाद छोटी जगह होते हुए भी एक औद्योगिक स्थान है। वहां पर एक छोटा सा अस्पताल था। गुप्तजी के प्रयास से गाजियाबाद नगरपालिका और एक पंजाबी उद्योगपति चिकित्सालय के लिये धन देने को तैयार हुए और वहां ६, ७ लाख रुपयों की लागत का भव्य चिकित्सालय बन गया।

३. देहरादून––देहरादून में वैयक्तिक दान से अस्पताल नहीं बन सका किन्तु वर्तमान अस्पताल गुप्तजी के ही कार्यकाल में नवीनीकृत रूप में आया। वहां का पहले का अस्पताल आवश्यकताओं की पूर्ति करने में पूर्ण असमर्थ था, अतएव विस्तार करने से लोगों को सुविधा हो गई।

४. मिर्जापुर––मिर्जापुर नगर में वैयक्तिक दान और सरकारी सहायता से गुप्तजी ने एक तपेदिक का अस्पताल बनवाया। यह वहां के मुख्य अस्पताल के अंगरूप में निर्मित हुआ। इसी प्रकार एक जनाना अस्पताल भी यहां बनाया गया।

५. खुर्जा, जिला बुलन्दशहर––गुप्तजी की प्रेरणा और अनुरोध से एक स्थानीय व्यापारी ने आधुनिक ढंग का ६, ७ लाख रुपये की लागत का अस्पताल बनवा दिया।

६. हाथरस––हाथरस में एक सेठ से जब गुप्तजी ने जनहित में दान देने का आग्रह किया तो उन्होंने आंखों का एक अस्पताल बनवा दिया जो वहां की जनता की सेवा कर रहा है।

७. मुरादाबाद––मुरादाबाद में भी वैयक्तिक दान से श्री गुप्तजी की प्रेरणा से आंख का अस्पताल बना जो अलीगढ़ के आंख के अस्पताल के अधीन कार्य कर रहा है।

८. रामपुर––रामपुर में नेत्र चिकित्सालय गुप्तजी की प्रेरणा से वैयक्तिक दान से बना।

९. आगरा––आगरा मेडिकल कॉलेज का नवीनीकरण तथा मानसिक चिकित्सालय का आधुनिकीकरण गुप्तजी की देन है।

१०. फिरोजाबाद—फिरोजाबाद में गुप्तजी ने वैयक्तिक दान और सरकारी सहायता से नवीन अस्पताल बनवाने में योग दिया।

११. शिकोहाबाद—यहां भी उक्त प्रकार से गुप्तजी ने अस्पताल का निर्माण करवाया।

१२. इटावा—इटावा में भी वैयक्तिक दान से एक तपेदिक के अस्पताल का निर्माण करवाया।

१३. औरया—औरया में भी केवल वैयक्तिक दान से चिकित्सालय का निर्माण हुआ, जिसके लिये धन-संग्रह कराने में गुप्त जी का योग था।

१४. कानपुर—कानपुर में भी तपेदिक का अस्पताल गुप्तजी के प्रयासजन्य वैयक्तिक दान से बना। वहां के नये अस्पतालों का नामकरण भी गुप्त जी ने ही किया। कानपुर मेडिकल कॉलेज की स्थापना गुप्तजी की देन ही है। स्व० गणेशशंकर विद्यार्थीजी उनके घनिष्ट मित्रों में से थे। इस कॉलेज का नामकरण गुप्तजी की प्रेरणा से हुआ।

१५. फतेहपुर—फतेहपुर में मदन मोहन नेत्र चिकित्सालय भी गुप्तजी के सहयोग से वैयक्तिक दान से बना था।

१६. इलाहाबाद—इलाहाबाद में तपेदिक का अस्पताल वैयक्तिक दान और सरकारी अनुदान से निर्माण करवाने में गुप्तजी का हाथ था।

१७. वाराणसी—यहां के सरकारी तथा गैर-सरकारी अस्पतालों के निर्माण में तथा उनके नवीनीकरण में गुप्तजी का बहुत योगदान है। गैर-सरकारी व्यक्तियों के सहयोग से दो अस्पताल विश्वविद्यालय में उनकी ही प्रेरणा से बने हैं।

१८. लखनऊ—लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के समय गुप्तजी ने विश्वविद्यालय के लिए लगभग १६ लाख रुपये एकत्र किये। इस धन से विश्वविद्यालय के अनेक विभागों के भवन बने। मनोविज्ञान, गणित, भूगर्भ शास्त्र और जे० के० इंस्टीट्यूट का निर्माण इसी धन से हुआ। मेडिकल कालेज का "बच्चों का अस्पताल" भी इसी समय बनाया गया। लखनऊ में रामकृष्ण मिशन के विशाल अस्पताल के निर्माण के हेतु गुप्तजी ने भूमि दिलाई है। यहां लगभग ३० लाख रुपये की लागत का एक चिकित्सालय बन रहा है। इसमें सरकार तथा अन्य लोगों की सहायता भी उन्होंने दिलवायी है।

लखनऊ का बाल होम्योपैथिक अस्पताल मोतीलाल सोसाइटी के द्वारा निर्मित हुआ है, इसका अन्यत्र उल्लेख किया जायेगा।

१९. मथुरा—वृन्दावन के तपेदिक के अस्पताल के निर्माण में गुप्तजी ने योगदान दिया। रामकृष्ण मिशन का नया अस्पताल जो आज एक बड़ा आधुनिक अस्पताल है, उनकी प्रेरणा से बना है।

टी० बी० एसोसिएशन गुप्तजी के कार्यकाल में ही फूलाफला। वे १९४७ से इस संस्था के अध्यक्ष हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गुप्तजी के योग से प्रदेश में अस्पतालों की संख्या में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। उनके आवाहन पर सर्वत्र लोग तन-मन-धन से कार्य के लिए सामने आये और इस प्रकार जितना बड़ा जनकल्याण का कार्य उन द्वारा हुआ उसका अनुमान लगाना सहज नहीं है।

उक्त निर्माण कार्यों के अतिरिक्त गुप्तजी ने जिन अन्य स्थानों पर अस्पतालों के निर्माण में न्यूनाधिक योग दिया उनके नाम इस प्रकार हैं—गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, सुल्तानपुर, गोंडा, बहराइच, लखीमपुर, हरदोई, बरेली, सीतापुर, अल्मोड़ा, रानीखेत, कोटद्वार, नैनीताल, हल्द्वानी, मथुरा, ऋषिकेश और मसूरी इत्यादि।

शिक्षा, उद्योग, क्रीड़ा, श्रमिक कल्याण आदि सम्बन्धी कार्य—गुप्त जी द्वारा की गई इस प्रकार की विभिन्न जनसेवाओं को दो वर्गों में रखा जा सकता है, एक तो मोतीलाल स्मारक समिति द्वारा सम्पन्न किये गये कार्य, दूसरे अन्यत्र किये गये काय। सर्वप्रथम विभिन्न प्रकार की अन्यत्र की गई जनसेवाओं का विवरण यहां दिया जाता है।

मंत्री के रूप में शिक्षा से गुप्तजी का कभी सम्बन्ध नहीं रहा, किन्तु शिक्षा की समस्याओं और विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में उनकी गहरी रुचि रही है। हिन्दी के सम्बन्ध में उनके विचार और कार्य, दक्षिणी भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था, त्रिभाषी सूत्र आदि के सम्बन्ध में उनके योगदान और विचारों का अन्यत्र उल्लेख किया गया है। प्राविधिक और विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षाओं के सम्बन्ध में की गई उनकी सेवाएं भी महान् हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय—लखनऊ विश्वविद्यालय में गुप्तजी १९१९ ई० में छात्र के रूप में प्रविष्ट हुए थे। १९२७ ई० में वे विश्वविद्यालय के कोर्ट के लिये निर्वाचित हुए थे। १९२९ ई० में वे विश्वविद्यालय कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य निर्वाचित हुए, तबसे बीच में जेलयात्राओं के समय को छोड़कर वे १९५९ ई० तक सदस्य बने रहे। सन् १९४५ ई० से १९५९ ई० तक वे विश्वविद्यालय के अवैतनिक कोषाध्यक्ष रहे। इस प्रकार लगभग आधी शताब्दी से लखनऊ विश्वविद्यालय से उनका सम्बन्ध है। विश्वविद्यालय के उन्नयन और विस्तार के लिये उन्होंने जो कार्य किया है उसको इस थोड़े से स्थान में लिख सकना असम्भव है। किन्तु उनका इस विश्वविद्यालय की उन्नति के लिये जो दृष्टिकोण रहा है,

उसे उन्हीं के शब्दों में यहां देखा जा सकता है। २३ अगस्त, १९४७ ई० को उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय की प्रयाग विश्वविद्यालय के बराबर बढ़ाकर की गई फीस के सम्बन्ध में वक्तव्य देते हुए कहा था "मैं इस बात की भरसक चेष्टा करूंगा कि विश्वविद्यालय का संचालन सुचारु रूप से होता रहे और प्रति वर्ष नई-नई कक्षाएँ नये-नये विषयों की खुलती रहें। यदि विश्वविद्यालय को वास्तविक ज्ञानागार बनना है तो यहां के छात्रों को भी वास्तविकतावादी और सौम्य बनना पड़ेगा। प्रयाग विश्वविद्यालय से मैं लखनऊ विश्वविद्यालय को किसी प्रकार भी हीनावस्था में नहीं देखना चाहता।"[१] निश्चय ही उन्होंने विश्वविद्यालय को प्रख्यात और उच्चकोटि का बनाने का प्रयत्न किया। यद्यपि इस काय में उन्हें काफी विरोध का भी सामना करना पड़ा।

आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे उद्भट विद्वान को दो बार विश्वविद्यालय का उपकुलपति बनवाना उनका इसी लक्ष्य सिद्धि का कदम था। विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के समय जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, लगभग १६ लाख रुपये एकत्र कर उन्होंने मनोविज्ञान, गणित, भूगर्भशास्त्र और जे० के० इन्स्टीट्यूट आदि का निर्माण करवाया था। टैगोर पुस्तकालय जो भारत के श्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक है, के विस्तार में गुप्तजी का विशेष हाथ था। पुस्तकालय के नामकरण में भी बड़ा मतभेद था। अन्त में गुप्तजी के सुझाव के अनुसार उक्त नाम दिया गया। २९ अगस्त, १९४७ ई० को विश्व-विद्यालय की कार्यकारिणी की बैठक में गुप्तजी के सुझाव पर विश्वविद्यालयों के कुछ छात्रावासों के नाम बदले गये। बाल गंगाधर तिलक के प्रति गुप्तजी की विशेष आस्था होने के कारण एक छात्रावास से तिलक जी का नाम भी सम्बद्ध हुआ। बलरामपुर छात्रावास का भवन बलरामपुर राज्य से गुप्त जी के ही प्रयत्न से प्राप्त हो सका। निर्धन छात्रों के लिये उपकुलपति के कोष की स्थापना में गुप्तजी का योग था।

विश्वविद्यालय के मूर्धन्य विद्वानों की भी सहायता और सम्मान गुप्तजी सदैव करते रहे हैं। प्रो० बीरबल साहनी, डॉ० भाल, डॉ० राधाकमल मुखर्जी आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं।

विश्वविद्यालय के राजनीति में व्यस्त अध्यापकों से गुप्तजी की बहुत दिनों नहीं निभी। वे रात दिन राजनीति में व्यस्त अध्यापक को विश्वविद्यालय के लिये अभिशाप समझते हैं और ऐसे लोगों का उन्होंने सदैव विरोध किया है।

विश्वविद्यालय शिक्षा के सन्दर्भों में गुप्तजी के कई महत्त्वपूर्ण कार्य उल्लेखनीय हैं: जैसे वाइस चान्सलर निर्वाचन की नवीन और न्यायपूर्ण प्रणाली का निर्माण। गुप्तजी का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा निर्धारित नवीन वेतन-क्रम का लागू कराना। अनेक प्रदेश जबकि इस क्षेत्र में काफी दिनों तक पिछड़े रहे, गुप्तजी के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश ने यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

प्राविधिक शिक्षा के विस्तार की ओर भी गुप्तजी का ध्यान गया। उन्हीं के सत्प्रयत्न से मोतीलाल नेहरू रीजनल इन्जीनियरिंग कालेज, इलाहाबाद जिसमें केन्द्रीय सरकार ने भी अनुदान दिया था और मदन मोहन मालवीय इन्जीनियरिंग कालेज, गोरखपुर की स्थापना हुई। रुड़की इन्जीनियरिंग विश्वविद्यालय और रुद्रपुर कृषि विश्वविद्यालय की उन्नति में गुप्तजी का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। गुप्त जी कानपुर में केन्द्रीय सरकार और अमरीकी सहयोग से संस्थापित प्राविधिक क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था आई०आई०टी० की प्रशासकीय परिषद् के काफी समय तक अध्यक्ष रहे।

केन्द्रीय औषधि अनसन्धानशाला (C. D. R. I.) की शाखा की लखनऊ में स्थापना का श्रेय भी गुप्त जी को है। पं० गोविन्द वल्लभ पन्त इसकी स्थापना इलाहाबाद में कराना चाहते थे, गुप्तजी ने उनसे कहकर छतर मंजिल, जिसमें विधायक रहा करते थे, अनुसन्धानशाला के लिये दिलवाई थी।

लखनऊ का बीरबल साहनी इन्स्टीट्यूट अपने क्षेत्र में एशिया की सर्वश्रेष्ठ संस्था मानी जाती है। डॉ० साहनी अनुसन्धानशाला के लिये भवन चाहते थे। गुप्तजी ने सरकार से उक्त बंगला उन्हें दिलवा दिया।

गुप्तजी की औद्योगीकरण की नीति—उत्तर प्रदेश केन्द्र द्वारा बृहत् उद्योगों के विकास में उपेक्षित सा रहा है। किन्तु गुप्तजी ने इसकी पूर्ति का प्रयत्न किया। हिन्दुस्तान अल्मोनियम फैक्टरी की स्थापना में उद्योगपतियों को आमंत्रित किया। रबर फैक्ट्री (बरेली), सोडा ऐश (बनारस), रिआन फैक्ट्री (कानपुर), टैक्सटाइल इंजीनियरिंग (कान-पुर), शक्कर की मशीनें बनाने के लिये त्रिवेनी इंजीनियरिंग कम्पनी (इलाहाबाद) की स्थापना करवाने में उनका योग था। राजकीय चुर्क सीमेंट फैक्टरी का विस्तार गुप्तजी के प्रयास से हुआ, जो आज भारत के सीमेंट उद्योग में प्रमुख स्थान रखती है।

इसके अतिरिक्त गुप्त जी अनेक शिक्षा एवं जनसेवा संस्थाओं के विकास में योग देते रहे हैं, जिनकी सूची दे सकना सरल नहीं है। हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद के लिये उन्होंने धन दिलवाया, जो हिन्दी की उच्चकोटि की

---

१. स्वतंत्र भारत, २४ अगस्त, १९४७ ई०।

साहित्यिक संस्था है। उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति का पुनर्गठन उन्हीं के द्वारा हुआ। इस समिति का लक्ष्य विश्वविद्यालय स्तर की ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों को लिखवाना और अनुवाद करवाना है। अब तक सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और सैकड़ों प्रकाशनाधीन हैं। गुरुकुल कांगड़ी, बृन्दावन और हरिद्वार को भी गुप्तजी ने सहायता दिलवाई थी। लखनऊ के प्रसिद्ध राजकीय उद्यान में गुप्तजी ने एक इन्स्टीट्यूट बनवाया। लखनऊ का प्रसिद्ध क्रीड़ांगन सरकार ने गुप्त जी की योजना और प्रेरणा से बनाया। बैडमिन्टन हाल भी अभी हाल में ही उनके निर्देशन में बना। लखनऊ चिड़ियाघर के विस्तार और नवीनीकरण का श्रेय गुप्तजी को ही है। लखनऊ की विकासशील शिक्षा संस्था सरस्वती विद्यालय कन्या इण्टर कालेज को भूमि तथा अन्य सहायता दिलाने में गुप्तजी का योगदान रहा है।

मोतीलाल स्मारक समिति (मोतीलाल मेमोरियल सोसाइटी)—पं० मोतीलाल नेहरू के देहान्त के पश्चात् उनकी स्मृति में जनकल्याण के लिये एक संस्था की स्थापना की गई थी, इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यह संस्था ८ मार्च, १९३५ ई० को विधिवत् अस्तित्व में आई। गुप्तजी ने इस संस्था के विकास एवं विस्तार के लिये इतना प्रयत्न किया कि यह आज भारत की महान् जनसेवा संस्थाओं में हो गई है। आरम्भ में स्मारक समिति का कार्य स्वदेशी प्रदर्शनियों और श्रमिक कल्याण तक ही सीमित था। १९३९ ई० में इस समिति ने राष्ट्रीय हाई स्कूल की स्थापना की जो कालान्तर में इन्टरमीडिएट कालेज हो गया। इस समय यह समिति अनेक बहुविध संस्थाओं की अधिष्ठात्री है। श्री चन्द्रभानु गुप्त जी इसके अध्यक्ष हैं। अन्य उल्लेखनीय सदस्यों में आचार्य जुगुल किशोर, श्री रामचन्द्र गुप्त, श्री कैलाश प्रकाश, श्री बालक राम वैश्य, श्री दाऊ दयाल खन्ना, श्री मुजफ्फर हुसैन, श्री योगेशचन्द्र चटर्जी आदि हैं।

मोतीलाल स्मारक समिति द्वारा संचालित संस्थायें इस प्रकार हैं :

१. राष्ट्रीय उच्चतर माध्यमिक महाविद्यालय
२. बाल केन्द्र—इसके अन्तर्गत निम्नांकित संस्थायें हैं :
   (क) आदर्श बाल क्रीड़ा स्थल
   (ख) बाल होम्योपैथिक अस्पताल
   (ग) बाल संग्रहालय और बाल पुस्तकालय
   (घ) बाल विद्यामन्दिर
   (ड) रवीन्द्रालय
३. आचार्य नरेन्द्र देव पुस्तकालय
४. मोती लाल स्मारक समिति बिड़ला छात्रावास
५. ग्रामीण केन्द्र, चन्द्रावल
६. एम० एस० एस० आटोमोबाइल प्रशिक्षण केन्द्र
७. दक्षिण भारतीय भाषा कोर्स
८. आदर्श "मां" होम्योपैथिक अस्पताल खेरी
९. गंगा प्रसाद वर्मा स्मारक पुस्तकालय
१०. अतिथि शाला

उपर्युक्त संस्थाओं का क्रमानुसार संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है :

१. राष्ट्रीय उच्चतर माध्यमिक महाविद्यालय—१९३९ ई० में राष्ट्रीय विचारधारा के प्रचारार्थ मुख्यत: निर्धन छात्रों को शिक्षा सुलभ बनाने के लिये यह विद्यालय चलाया गया। १९५० ई० में यह इन्टरमीडिएट की शिक्षा देने लगा। इस समय विद्यालय में लगभग डेढ़ हजार विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। स्थानाभाव के कारण समिति ने कुछ वर्ष पूर्व मोतीमहल के निकट १,७९,४०० रुपये में एक भवन खरीद लिया है।

विद्यालय की मोतीलाल स्काउट ट्रूप ने अपने क्षेत्र में काफी ख्याति अर्जित की है। १९४९ ई० से एन० सी० सी० का जूनियर डिवीजन कार्य कर रहा है। विद्यालय में तीन प्रशिक्षित एन० सी० सी० के अफसर हैं। कालेज के छात्रों ने चैम्पियनशिप शील्ड और अनेक वैयक्तिक पुरस्कार प्राप्त किये हैं। अनिवार्य सैनिक शिक्षा आरम्भ किये जाने पर पी० एस० डी० छात्रों ने भी चैम्पियन शील्ड प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त विद्यालय में छात्र जीवन के उन्नयन के लिये छात्र संघ, निर्धन छात्र कोष और विभिन्न विभागीय संस्थायें कार्यरत हैं।

२. बाल-केन्द्र—बाल-केन्द्र के अन्तर्गत निम्नांकित पांच संस्थायें कार्यरत हैं :

(क) मोतीलाल नेहरू बाल संग्रहालय और बाल पुस्तकालय—बाल संग्रहालय का उद्घाटन पं० जवाहर लाल

नेहरू ने २७ अक्तूबर, १९५७ को किया था। तब से यह निरन्तर उन्नति कर रहा है। विस्तार के लिये कई लाख रुपये की लागत का भवन बनवाया गया। बच्चों और उनके अभिभावकों की सुरुचि का सम्वर्धन भी हो, ऐसी शिक्षात्मक और उत्तम वस्तुएं यहां एकत्र की जाती रही हैं।

संग्रहालय ने बच्चों की अभिरुचि के लिये नये विभाग जैसे सामूहिक उद्यानरोपण, स्टाम्प और सिक्कों का संग्रह आदि आरम्भ किये हैं। नक्काशी, मिट्टी के नमूने, चित्रकला और ड्राइंग आदि में अपनी रुचि के अनुसार बच्चे प्रवीणता प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी हस्तकलाएं जैसे खड़िया मिट्टी बनाना, मोम के खिलौने, चमड़े के काम, पेटी, गुड़िया, मोमबत्ती, ठंडी क्रीम आदि बनाना भी बच्चों को सिखाया जाता है। बच्चों ने अपनी एक पत्रिका "बाल लोक" निकाली है जो सफलतापूर्वक चल रही है। आक्रमण के आपत्तिकाल में बच्चों ने सांस्कृतिक कार्यक्रम किये थे। बाल सदस्यों की संख्या हजारों तक पहुंच गई है। बच्चों की अभिरुचि के संवर्धनार्थ वैतनिक आर्ट्‌स और क्राफ्ट के अध्यापक संस्था में प्रशिक्षण देते हैं। खेल के प्रशिक्षक बच्चों को प्रशिक्षण देते हैं। संग्रहालय के क्यूरेटर ने संग्रहालय के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका से प्रशिक्षण प्राप्त किया है। संग्रहालय बच्चों के लिये संगीत कक्षायें भी चलाता है। बाल पुस्तकालय में दस हजार से अधिक पुस्तकें हैं।

संग्रहालय का एक समृद्ध फिल्म पुस्तकालय भी है जिसमें हर दूसरे रविवार और विशिष्ट अवसरों पर चलचित्र दिखाये जाते हैं। संग्रहालय में प्रतिवर्ष एक लाख से अधिक दर्शक आते हैं, यह उसकी जनप्रियता का प्रमाण है। बाल सदस्य वार्षिक उत्सव बड़े उत्साह से मनाते हैं। अन्य राष्ट्रीय त्योहारों और महान् राष्ट्र-नेताओं के जन्मदिवस पर उत्तम कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। संग्रहालय को भारतीय गणराज्य के विभिन्न प्रदेशों के मुख्य मंत्रियों, श्रीमती इन्दिरा गांधी, विदेशी दूतावासों आदि से विभिन्न प्रकार के उपहार मिले हैं।

(ख) बाल उद्यान और क्रीड़ांगण—मुख्य चिकित्साधिकारी पं० कामनाथ मिश्र के संरक्षण में बाल उद्यान एक दर्शनीय स्थलों में से बन गया है। राजभवन और वनस्पति उद्यान की पुष्प प्रदर्शनियों में उद्यान को अनेक पुरस्कार मिल चुके हैं। गुलाबों के जितने भिन्न प्रकार यहां दिखाई पड़ते हैं, प्रदेश के कुछ ही उद्यानों में होंगे।

(ग) बाल होम्योपैथिक चिकित्सालय—सुप्रसिद्ध चिकित्सक पं० कामनाथ मिश्र के निर्देशन में चिकित्सालय बड़ी तत्परता से निःशुल्क जनसेवा कर रहा है। लगभग ५०० रोगियों को नित्य दवा दी जाती है। चिकित्सालय में डाइथर्मी, अल्ट्रावाइलेट और इन्फ्रा रेड लैम्प आदि की व्यवस्था है।

(घ) बालविद्या मन्दिर—बाल विद्या मन्दिर की स्थापना श्री गुप्तजी की बहुत दिनों की इच्छा की पूर्ति थी। उक्त सभी संस्थाओं और भवनों की भाँति बाल विद्या मन्दिर का भवन भी लखनऊ के चारबाग स्टेशन के पास पं० मोतीलाल नेहरू मार्ग पर स्थित है। विद्या मन्दिर के भवन-निर्माण और सजावट में कई लाख रुपये व्यय हुए थे। बाल विद्या मन्दिर की कार्यपद्धति 'पब्लिक स्कूलों' की सी होते हुए भी उनसे भिन्न है। इसमें ३ वर्ष से ९ वर्ष तक की आयु के बच्चे पढ़ते हैं। यह मन्दिर भारतीय विचारधारा पर आधारित सांस्कृतिक और राष्ट्रीय भावना विद्यार्थियों में जाग्रत करना अपना लक्ष्य समझता है। बच्चों के दोपहर के भोजन और विश्राम की व्यवस्था है। बच्चों के स्वास्थ्य शिक्षा की भी उत्तम व्यवस्था है। उनकी "बाल सभा" सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करती है।

(ङ) रवीन्द्र रंगशाला या रवीन्द्रालय—लखनऊ के चारबाग स्टेशन के सामने रवीन्द्रालय का विशाल भवन बना हुआ है। एक हजार के बैठने के लिये, वातानुकूलित उक्त रंगशाला प्रदेश के गण्य भवनों में से है। विशाल रंगमंच और आधुनिक कला से युक्त नयनाभिराम वितान दर्शनीय है। देश-विदेश के सुप्रसिद्ध कलाकारों के कार्यक्रमों का आयोजन यहां प्रायः होता रहता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पाठकों को स्मरण होगा कि यह वही स्थल है, जहां गुप्तजी ने सन् १९१६ ई० में लोकमान्य तिलक के दर्शन किये थे। वह पावन अनुभूति वे लगभग आधी शताब्दी तक हृदय में संजोये रहे और अन्त में कलागुरु विश्वकवि रवीन्द्र के नाम से सम्बद्ध, उक्त विशाल रंगशाला, लखनऊ नगर की गरिमा में वृद्धि करती हुई गुप्तजी के एक स्वप्न को साकार कर उठी। इसके निर्माण में सरकार ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

३. आचार्य नरेन्द्रदेव पुस्तकालय—मोतीलाल स्मारक समिति पुस्तकालयों की एक श्रृंखला स्थापित कर चुकी है। बच्चों की रुचि का पुस्तकालय बाल-केन्द्र में है। ग्रामीण जनता के लिये ग्रामीण केन्द्र चन्द्रावल में एक पुस्तकालय है। सामान्य जनता के लिये गंगाप्रसाद वर्मा स्मारक पुस्तकालय और छात्रों तथा शोध छात्रों के लिये आचार्य नरेन्द्र देव की स्मृति में सामाजिक विज्ञानों का आचार्य नरेन्द्रदेव पुस्तकालय है। यह पुस्तकालय मोतीमहल लखनऊ में आचार्यजी की समाधि के पास स्थित है। विभिन्न विषयों की पुस्तकें मंगवाने और उनको व्यवस्थित करने में उन्होंने स्वयं कार्य किया इससे पाठकों को कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। उन्हें स्मरण होगा कि गुप्तजी ८वीं कक्षा में ही आर्यकुमार सभा की

लाइब्रेरी चलाते थे। अन्तर्मन में सोई हुई वह सुरुचि एक विशाल पुस्तकालय को साकार करने में सफल हुई तो कोई आश्चर्य नहीं।

इस पुस्तकालय का उद्घाटन ३० अप्रैल, १९६१ ई० को पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। पुस्तकालय में ४०,००० से अधिक पुस्तकें हैं। लगभग २०० पत्र-पत्रिकाएं पुस्तकालय में आती हैं। पुस्तकालय में शोध छात्रों के बैठने की उत्तम व्यवस्था है। निर्धन छात्रों के लिये पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन का कक्ष अलग है।

४. मोतीलाल स्मारक समिति बिड़ला छात्रावास——स्मारक समिति द्वारा ही निर्मित मोतीमहल के निकट गोमती के दक्षिणी तट पर, उक्त छात्रावास की तिमंजिली भव्य इमारत स्थित है। लखनऊ विश्वविद्यालय में छात्रावासों की अभाव की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए गुप्तजी ने इस छात्रावास का निर्माण करवाया। इसमें ३०० से अधिक शोध छात्रों और विदेशी विद्यार्थियों के निवास की व्यवस्था की गई है। भवन, व्यवस्था और सुविधा की दृष्टि से उक्त छात्रावास इस समय विश्वविद्यालय में शीर्षस्थ स्थान रखता है।

५. ग्रामीण केन्द्र चन्द्रावल——स्मारक समिति द्वारा संचालित ग्रामीण केन्द्र चन्द्रावल सामान्य जनता को रोजगार देने और लघु उद्योगों के विकास के लिये स्थापित किया गया है। श्री वल्लभदास रस्तोगी ने गुप्तजी की प्रेरणा से इस योजना के अन्तर्गत चन्द्रावल, औरंगाबाद और बरौनी में स्थित भवन और भूमि इस सम्बन्ध में दान में दिये हैं। ४ अप्रैल, १९६२ ई० को हाथ से कागज बनाने के कारखाने ने उत्पादन आरम्भ किया, जो कि अब बड़ी सफलता प्राप्त कर रहा है। यहां फाइल कवर, सोख्ता और लिखने का कागज़ बनाया जाता है। खादी और ग्रामोद्योग आयोग ने इस योजना में आर्थिक सहायता दी है। खाद्य और अखाद्य तेल तथा साबुन बनाने के कारखाने भी स्थापित हैं। बेंत, बढ़ईगीरी और चमड़े के काम में प्रशिक्षण देने में सरकार भी इस क्षेत्र में रुचि ले रही है। इस प्रकार चन्द्रावल क्षेत्र एक आदर्श लघु उद्योग केन्द्र के रूप में परिणत होता जा रहा है।

६. मोतीलाल स्मारक समिति आटोमोबाइल केन्द्र——यह केन्द्र चारबाग, लखनऊ में स्थित है और लगभग ६ वर्षों से कार्य कर रहा है। यह आटोमोबाइल मशीनों के संचालन का प्रशिक्षण देता है, जिसमें हाई स्कूल उत्तीर्ण छात्र भर्ती किये जाते हैं। प्रशिक्षण अवधि ढाई वर्ष है। केन्द्र को राज्य सरकार ने मान्यता दे रखी है। राज्य परिवहन विभाग ने इस कार्य में सहयोग दिया है। प्रशिक्षण केन्द्र में प्रति छः मास बाद ६ प्रशिक्षार्थियों को लिया जाता है। यहां के प्रशिक्षित लोगों की बड़ी मांग है। केन्द्र छात्रों की नौकरी की समस्या हल करने में अतीव सहायक सिद्ध हो रहा है।

७. दक्षिण भारतीय भाषाओं का अध्ययन——राष्ट्रीय समैक्य समिति की सिफारिश पर राज्य सरकार ने कबाल नगरों में दक्षिण भारतीय भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था करने की योजना बना रखी थी। स्मारक समिति इस कार्य में योग देने आगे आई। वस्तुतः गुप्त जी समैक्य के लिये दक्षिण भाषाओं के अध्ययन के महत्त्व को समझते थे और उन्हीं की प्रेरणा से ये सुविधायें इतनी शीघ्रता से सुलभ हो सकीं। १९६२ ई० से उक्त अध्ययन की व्यवस्था की गई। तबसे सैकड़ों लोग इन भाषा कक्षाओं में अध्ययन कर चुके हैं।

८. आदर्श "मां" होम्योपैथिक अस्पताल, खेरी——गुप्तजी के अनुरोध पर डॉ० कामनाथ मिश्र ने अपनी सारी जायदाद लखीमपुर खेरी में अपनी "मां" की स्मृति में होम्योपैथिक अस्पताल बनवाने के लिये समिति को दे दी। इस सम्पत्ति की आमदनी तथा स्थानीय जनता की मदद से गुप्तजी के बड़े भाई श्री रामचन्द्र जी की देख-रेख में एक विशाल अस्पताल बन गया है जो स्थानीय जनता की सेवा कर रहा है।

९. गंगा प्रसाद वर्मा स्मारक पुस्तकालय——गंगा प्रसाद वर्मा स्मारक समिति के अनुरोध पर श्री चन्द्रभानु गुप्त ने मोतीलाल स्मारक समिति की ओर से एक वृहत् सभा कक्ष और वाचनालय बनवा दिया। शहर के मध्य में स्थित होने के कारण उत्तर कक्ष सभा और मीटिंगों के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। लोग वाचनालय और पुस्तकालय से काफी लाभ उठा रहे हैं। इस समिति में मोती स्मारक समिति के पांच सदस्य रहते हैं।

१०. भारत सेवा संस्थान——गुप्तजी की एक बड़ी देन भारत सेवा संस्थान नाम की संस्था है जिसका प्रमुख कर्त्तव्य देश के लिये सामाजिक कार्यकर्त्ता उत्पन्न करना है, जो शिक्षा, संस्कृति, समाज, राजनीति और आर्थिक क्षेत्रों में निस्पृह भावना से कार्य कर सके और जिसका ध्येय वर्ग-विहीन, न्यायपूर्ण और आर्थिक समानता से युक्त समाज की रचना है। संस्थान और सामाजिक कार्यकर्ताओं के समक्ष जो प्रमुख लक्ष्य रखे गये थे वे इस प्रकार से हैं:

१. समाज के विभिन्न क्षेत्रों और कार्यों के लिये निःस्वार्थ कार्यकर्त्ता तैयार करना।

२. ज्ञान के प्रसार के लिये शिक्षा की व्यवस्था करना। प्रशिक्षण केन्द्र, वाचनालय, पुस्तकालय, संग्रहालय, अध्ययन गोष्ठियों की स्थापना आदि का कार्य करना। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में खोज के लिये प्रोत्साहन और सुविधा देना।

३. समाज के सामान्य लोगों और मुख्यतः निर्बल वर्ग की बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और औद्योगिक दशा के विकास के लिये प्रयत्न करना।

४. सामान्य रूप से लोगों के स्वास्थ्य को उन्नत बनाने के लिये अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करना, अस्पतालों और अपाहिज लोगों की सुरक्षा की व्यवस्था करना।

५. लोगों को अनेक भाषाओं के अध्ययन के लिये प्रोत्साहित करना और हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान दिलाने के लिये उसका प्रसार आदि करना।

६. बच्चों, बूढ़ों और अनाथ लोगों की सहायतार्थ कार्य करना। स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वालों और उनके आश्रितों की सहायता करना।

७. जनतांत्रिक समाजवाद का प्रचार करना और लोगों को सामाजिक न्याय में विश्वास करने के लिये प्रशिक्षित करना।

८. सामाजिक समानता के लिये अस्पृश्यता-निवारण और जातिवर्ग विहीन समाज की रचना करना।

९. उपर्युक्त कार्यों के प्रसार हेतु पत्रिकाएं और पुस्तकें प्रकाशित करना।

१०. निर्धन छात्रों को आर्थिक सहायता और छात्रवृत्ति देना।

११. विभिन्न प्रकार की औद्योगिक, सांस्कृतिक और शिक्षात्मक प्रदर्शनियों का आयोजन करना।

१२. संस्थान की उन्नति के लिये दान आदि प्राप्त करना।

१३. संस्थान की लक्ष्यपूर्ति के लिये अन्य संस्थाओं से भी सहयोग करना।

भारत सेवा संस्थान अपने कार्यकर्ताओं और सदस्यों की यथावश्यक आर्थिक सहायता भी करता है। भारत सेवा संस्थान इसके सदस्यों और कार्यकर्त्ताओं का, जो देश भर में फैले हैं, सामूहिक नाम है।

स्पष्ट है कि उक्त संस्थान एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और बहुमखी सामाजिक संस्था है। इसके भी संस्थापक और प्रेरक श्री गुप्तजी ही हैं। इसके प्रमुख सदस्य आचार्य जुगुल किशोर, श्री मंगलाप्रसादजी, श्री कैलाश प्रकाशजी, श्री मुजफ्फर हुसैन, श्री दाऊदयालजी, श्री बालकरामजी, श्री योगेशचन्द्र चटर्जी इत्यादि हैं।

११. अतिथिशाला—मोतीमहल में मोतीलाल स्मारक अतिथिशाला की भी स्मारक-समिति द्वारा व्यवस्था की गई है। यहां आवश्यक बैठकें और सभायें भी हो सकती हैं।

श्री चन्द्रभानु गुप्त के व्यक्तित्व का मूल्यांकन

किसी भी महापुरुष के व्यक्तित्व का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन उसके जीवनकाल में पूरी तरह कर सकना सम्भव नहीं होता, क्योंकि उसके असाधारण व्यक्तित्व की अनेक ऐसी अन्तर्निहित शक्तियां प्रच्छन्न रूप से समाज के जीवन-रस को सिंचित करती रहती हैं, जिनसे समसामयिक लोग पूर्णरूपेण अवगत नहीं होते या निरपेक्ष भाव से उनका मूल्यांकन नहीं कर पाते। गुप्तजी के व्यक्तित्व के मूल्यांकन में भी यही बात लागू होती है। फिर भी यदि पिछले पृष्ठों में वर्णित उनके जीवन पर हम दृष्टिपात करें तो कुछ-न-कुछ रेखायें हमारे सामने अवश्य आती हैं। गुप्तजी उत्तर प्रदेश की लगभग एक दर्जन उन ऐतिहासिक महाविभूतियों में से हैं, जिन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में अदम्य उत्साह और त्याग से कार्य कर अखिल भारतीय स्तर की ख्याति अर्जित की है।

ऐतिहासिक विभूतियों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कुछ लोग जन्मजात महान् होते हैं, कुछ अपने कर्म से महान् बन जाते हैं और कुछ पर महानता थोप दी जाती है। गुप्तजी दूसरी कोटि के महापुरुष हैं। उनका जन्म एक साधारण परिवार और परिस्थितियों में हुआ था। परिवार और स्वजन सम्बन्धियों के विचारों पर राष्ट्रीय विचारधारा की छाप थी, जिससे उन्हें यत्किंचित् प्रेरणा मिलती रही, और उन्होंने अपनी प्रतिभा और लगन से अपना जीवन-मार्ग निर्धारित किया। बचपन से ही आर्यसमाज के आन्दोलनों से सम्पर्क, आर्यकुमार सभा के पुस्तकालय का संचालन, आनन्दमठ का अध्ययन और १५ वर्ष की आयु में ही लखनऊ आकर राष्ट्रीय आन्दोलन के महान् नेताओं के दर्शन तथा लोकमान्य तिलक से भेंट आदि बातें इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि वे देश और समाज की स्थिति और कार्यों में आरम्भ से ही रुचि लेने लगे थे। अतएव देशहित-चिन्तन उनकी विचारधारा का अविच्छिन्न अंग बन गया। इसीलिये भावी जीवन में समाज और राष्ट्र को उन्होंने निजी व्यक्तित्व और स्वपरिवार से ऊपर रखा। राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण परिवार बसाने की चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की। वकालत के पेशे में पहले मुकदमे में ही काकोरी-काण्ड के कैदियों की पैरवी करने गये जिसमें कुछ प्राप्ति के स्थान पर त्याग ही करना था। समाजवादी आन्दोलन में उसके उद्भव काल से ही साथ रहे, जिसके कारण १९३७ ई० के मंत्रिमंडल में न सम्मिलित हो सके। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् मंत्रिमंडल के भीतर या बाहर रहकर कांग्रेस और जनता

के हित का उन्हें सदैव ध्यान रहा। यही उनकी महानता का रहस्य है। पं० जवाहरलाल नेहरू अपने भाषणों में प्रायः यह बात कहा करते थे कि, "हम महान् इसलिये बन सके हैं क्योंकि हमने एक महान् काम—राष्ट्र की स्वतंत्रता—से अपने को सम्बद्ध कर लिया है।" गुप्तजी के बहुमुखी सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों पर दृष्टिपात करने पर उनका महान् व्यक्तित्व समझ में आ जाता है।

गुप्तजी की जीवन-सरिता के दो कूल हैं, सृजन और प्रतिरोध। वे शुरू से ही सृजनात्मक कार्यों में लगे रहे हैं, उनके इन कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। बच्चों, रोगियों और छात्रों के लिये किये गये उनके कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्हीं के परिश्रम और प्रेरणा से उत्तर प्रदेश में एक कोने से दूसरे कोने तक सैकड़ों अस्पतालों का निर्माण हुआ है। बाल-केन्द्रों और पुस्तकालयों की स्थापना हुई है। योजनाबद्ध रूप से समाज-कल्याण की अनेक दिशाओं में एक साथ कार्य करना और उसमें निरन्तर सफल होते रहना उनकी सृजनात्मक शक्ति का फल है। सत्य की रक्षा और समाज में निरंकुशता को रोकने के लिये व्यक्तियों में प्रतिरोध शक्ति की भी आवश्यकता होती है। यह शक्ति व्यक्ति के मौलिक चिन्तन और आत्मविश्वास के फलस्वरूप आती है। अन्याय के प्रतिरोध की क्षमता की दृष्टि से गुप्तजी हमारे इने-गिने राष्ट्रीय नेताओं में से हैं। उन्होंने अन्याय के समक्ष कभी झुकना नहीं सीखा, यद्यपि इसके कारण उन्हें बड़ी हानि भी उठानी पड़ी है। अपनी इस प्रतिरोधक शक्ति के कारण ही वे 'उत्तर प्रदेश के लौह-पुरुष' कहलाते हैं। जैसा कि पीछे बताया गया है, वकालत के पेशे में प्रवेश करते ही एक जज के पक्षपात का भंडाफोड़ करते हुए उन्होंने "तीन खुले पत्र" लिखे[1]। त्रिपुरी कांग्रेस में महात्मा गांधी, नेहरूजी आदि की अप्रसन्नता की चिन्ता न करते हुए सुभाषचन्द्र बोस के समर्थन और पन्त प्रस्ताव के विरुद्ध मत दिया। देश-विभाजन के समय भी विभाजन के विरुद्ध मतदान किया। महात्मा गांधी की कन्ट्रोल निवारण नीति की स्पष्ट आलोचना उन्होंने की और अनेक प्रादेशिक मामलों में वे किसी मुख्य मंत्री या केन्द्रीय मंत्री के प्रभाव के कारण अपने औचित्यपूर्ण विचारों से विचलित नहीं हुए। हुल्लड़बाजी और मिथ्या राय उन्हें कभी झुका नहीं सके।[2]

गुप्तजी के चारित्रिक गुणों में लगन और दृढ़ता के साथ धैर्य भी है। वे प्रतिकूल परिस्थितियों में कभी विचलित नहीं होते। विरोधियों के आरोप, दो चुनावों की पराजय आदि उन्हें कभी हतोत्साहित नहीं कर सके। वस्तुतः अधैर्य वहां होता है, जहां प्रलोभन या स्वार्थसिद्धि की आकांक्षा होती है। इतनी अधिक व्यस्तता होते हुए भी हरएक की बात को ध्यान से सुनना, अनेक व्यक्तियों, घटनाओं के सन्दर्भ को याद रखना आदि गुण इसी धैर्य और मानसिक सन्तुलन के परिणाम हैं। आयु के कारण उनके इस गुण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

गुप्तजी का व्यक्तित्व वस्तुतः अन्तर्मुखी है। वे कर्मयोगियों की भांति निष्काम भाव से निरन्तर कर्मलीन रहते हैं। उन्होंने कभी बहुत लम्बे भाषण नहीं दिये, पुस्तकें नहीं लिखीं, किसी प्रकार का आत्म-विज्ञापन नहीं किया। सरदार पटेल और लाल बहादुर शास्त्री की भाँति उन्होंने कर्म को ही सबसे बड़ा विज्ञापन समझा है। भाषण के समय उनकी नपी-तुली और ब्योरेवार बातें सजग श्रोताओं को प्रभावित करने वाली होती हैं। हास्य-व्यंग के प्रसंग उनके भाषणों में कदाचित् ही आते हों। यद्यपि सामान्य वार्तालाप में उनके हास्य-व्यंग्य दर्शनीय होते हैं। अच्छे मूड में होने पर सबसे हंसकर मृदुलता से बातें करते हैं। कभी-कभी उनका "रूखापन और डांट-फटकार भी दर्शनीय होते हैं। इसके दो कारण हैं, एक तो कहीं भी अव्यवस्था और लापरवाही उन्हें पसन्द नहीं है। वे बहुत ही स्पष्टवादी व्यक्ति हैं और दूसरे इतने अधिक लोग उन्हें अपने स्वार्थवश घेरे रहते हैं कि उन्हें आवश्यक कार्यों के लिये भी समय नहीं मिलता। अत्यधिक व्यस्त व्यक्ति में झुंझलाहट का आना स्वाभाविक है। ये ही कारण हैं कि उनके स्वभाव में यदा-कदा उग्रता दिखाई देती है, वस्तुतः यह उनके व्यक्तित्व का ऊपरी रूप है।

गुप्तजी में इस अवस्था में भी युवकोचित उत्साह और कार्यक्षमता है। उनकी कर्मठता तथा जनहित की भावना से प्रदेश और देश का भविष्य में और भी अधिक कल्याण होगा।

---

१. देखिये पीछे "बार एसोसिएशन" की घटना।

२. देखिये 'आरोप और हुल्लड़बाजी की राजनीति'।

श्री चन्द्रभानु गुप्त के विभिन्न समस्याओं और विषयों पर विचार

स्वाधीनता के बाद कांग्रेस

देश को स्वतंत्रता दिलाने में जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक अथवा ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को ही कारण मानते हैं, जिनके विचार से कांग्रेस को इसका श्रेय देना वस्तुस्थिति के सही मूल्यांकन शक्ति के अभाव का प्रमाण है, उन्हें भी इतना तो मानना ही पड़ता है कि देश में यदि कांग्रेस का अस्तित्व न होता तो स्वराज्य का समय कुछ और भी पीछे आ सकता था और स्वराज्य प्राप्ति के बाद देश के राजनैतिक ढांचे का स्वरूप भी कैसा होता यह कहा नहीं जा सकता।

मेरा अपना विचार है कि देश को पराधीनता के पाश से मुक्ति दिलाने में प्रथम श्रेणी का श्रेय कांग्रेस संगठन और उसके नेताओं को मिलना चाहिये। क्योंकि ऊपर कहे गये "ऐतिहासिक अथवा राजनैतिक प्रक्रिया की पूर्ति" के लिये भी तो प्रेरक और आधाररूप में कोई न कोई कारण चाहिए ही, शून्य में तो ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं कभी घटती नहीं हैं। इन बातों के प्रकाश में यहां पर कांग्रेस का यशोगान करने का मेरा विचार नहीं है बल्कि मैं इस बात की मीमांसा करना चाहता हूं कि देश के साथ इतना बड़ा उपकार करने वाली संस्था और उसके कर्णधारों के प्रति आज कृतज्ञता और प्रशंसा के स्थान पर तिरस्कार और क्रोध के भावों का उदय क्यों दिखाई पड़ रहा है। यहां के लोग ही कृतघ्न हैं, इसे हम कह सकने की स्थिति में ही नहीं हैं क्योंकि यहां की जनता तो सदा ही गुणग्राहकता और मधुर व्यवहार की अभ्यस्त रही। इस देश के विवेक पर भी अविश्वास नहीं किया जा सकता। फिर बात क्या है? ऐसा क्यों हो रहा है? इस स्थिति का कितना भयंकर परिणाम हमारी प्रगति और सुरक्षा पर पड़ रहा है। हम आगे न जाकर पीछे की ओर तो नहीं मुड़ गये हैं?

सच्चे हृदय से जब हम इस स्थिति पर भली प्रकार विचार करते हैं तो हमें यह मानना ही पड़ता है कि आज कांग्रेस और उसके शासन में अवश्य अनेक त्रुटियां पैदा हो गई हैं जिनको नहीं होना चाहिए था। कुनबापरस्ती, भ्रष्टाचार, देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सुलझा न सकने, अनेक नई-नई परेशानियों को पैदा कर देने, देश के नैतिक एवं आर्थिक पतन आदि बातों से सम्बन्धित जो अनेक आरोप आज हम पर लगाये जा रहे हैं, उनको हम "द्वेषवश विरोधियों की करतूत" मात्र ही कहकर टाल नहीं सकते, हमारे टालने से यह टलेगी भी नहीं।

प्रत्येक उस व्यक्ति का जिसका कांग्रेस से किसी भी प्रकार का नाता है, उसको सावधान होकर मरण-जीवन के प्रश्न की तरह इस पर समय रहते ही विचार और प्रतिकार करना चाहिए।

जहां तक मैं समझता हूं, इस वर्तमान स्थिति के उत्पन्न होने में केवल कांग्रेस-जन ही दोषी नहीं हैं। दोष उनका भी है जो दोषारोपण और आलोचना के व्यापार में संलग्न हैं। इसी धारणा के प्रकाश में मैं कुछ ऐसे तथ्यों की ओर लोगों का ध्यान खींचना चाहता हूं, इस सम्बन्ध में विचार करते समय जिन्हें प्रायः नजरन्दाज कर दिया जाता है। फलतः परिस्थिति का सही ज्ञान नहीं हो पाता। बात सुलझाने के बजाय उलझ जाती है।

कांग्रेस के इतिहास के जानने वालों को भली भाँति विदित है कि कांग्रस का चरम लक्ष्य, देश में एक जैसे शासन की स्थापना करना था जिसमें प्रत्येक नागरिक को जीवन-यापन और मानवोचित विकास की समान सुविधा सुलभ हो सके। भाषा, धर्म, वेशभूषा आदि का भेद इस मार्ग में बाधक न बने, सबको शाश्वत शान्ति की दिशा में बढ़ने का अवसर मिले. परस्पर विरोध के स्थान पर सहयोग की प्रतिष्ठा हो। विदेशी शासन के रहते हुए लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव सी थी, इसीलिए उसको हटाने का आन्दोलन पहले किया गया। स्वराज्य की लड़ाई के साथ-ही-साथ आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमों को भी चालू रखा गया था, उससे हमारे आन्दोलन को प्रेरणा भी मिली। ग्रामोद्योग, हिन्दी भाषा प्रचार, हरिजन कल्याण आदि से

सम्बन्धित कार्यक्रम आदि इसी कोटि की बातें रही हैं। जब तक हमारा उक्त कार्यक्रम चलता रहा, हम आजाद नहीं हुए थे तब तक सारे देश की नजरों में कांग्रेस हार्दिक श्रद्धा और सहयोग की पात्र बनी रही।

पराधीनता से मुक्ति के बाद देश के समाजवादी ढांचे के निर्माण का कार्य कांग्रेसी सरकार ने अपने हाथ में लिया। तो उससे उन लोगों को स्वभावतः असुविधाएं पैदा हुई जिनके पास उस समय तक आवश्यकता से अधिक सुविधाएं संग्रहीत थीं। राजे-महाराजे, जमींदार, सेठ, साहूकार और उनके आश्रित लोग ऐसे ही लोगों में से रहे। इन लोगों के पास ऐसे साधन भी रहे जिसके सहारे ये लोग अपने विरोधियों के खिलाफ देश-विदेश में एक सबल विरोधी वातावरण और विरुद्ध विचारधारा की सृष्टि कर सकें। इन लोगों ने ऐसा ही किया और आज भी करते जा रहे हैं। कांग्रेस निर्माण के कार्य में लगी रही, उतना ही ध्यान इनके प्रयासों को विफल करने में नहीं दे सकती थी जितना कि असन्तुष्ट लोग अपने कार्यों में दे रहे थे। कांग्रेस चाहती तो इस प्रकार के तत्त्वों को बलपूर्वक साधनहीन करके असमर्थ भी बना सकती थी, लेकिन बहुत कुछ सोच विचार करके एकाएक इन्हें दरिद्र बना देने का फैसला नहीं किया गया क्योंकि उदारता का आदर्श सामने रखा गया था। यह भी सोचा गया कि ऐसा करने से कहीं हमारे देश का जनमत ही उद्वेलित न हो जाय। इस उदारता का अनुचित लाभ आज भी यह वर्ग उठा रहा है किन्तु देश का विवेक प्रबुद्ध होता जा रहा है। मेरा विश्वास है कि शीघ्र ही इस प्रकार के लोगों की वास्तविकता सर्वविदित होकर रहेगी।

दूसरी बात असन्तोष की यह रही है कि स्वराज्य होने के बाद लोगों ने सुविधाओं की प्राप्ति की भारी आशाएं कीं, ऐसा करना साधारण लोगों के लिए सर्वथा स्वाभाविक भी है किन्तु गड़बड़ी यहां यह हुई कि अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति की आशा लोगों ने सरकार से अधिक की, अपने बाहुबल पर दायित्व कम डाला। हमारी कमी यह रही कि हमने भी सरकार और उनकी निजी जिम्मेदारियों को अलग-अलग समझाने का सही ढंग से प्रभावकारी कदम नहीं उठाया। बहुसंख्यक लोगों ने यह नहीं जाना कि देश के पास उतना था नहीं, और न है, जितना कि मांगा जा रहा था या मांगा जा रहा है। उत्पादन बढ़ाने के लिए जो नये समाजवादी प्रयोग शासन ने आरम्भ किये उनमें भी पूर्वनिहित स्वार्थी वर्ग आड़े आ रहा है, उससे निपटने का जो मार्ग हमने अपनाया है वह क्रमिक है। इस दशा में स्पष्ट है कि बहुत से लोगों को हम मनचाही सुविधा नहीं दे सकते थे। यथेष्ट पूर्ति के इस अभाव से भी लोगों का असन्तुष्ट होना स्वाभाविक है। विरोधी वर्ग इस असन्तोष के भी वर्धन और उसके उल्टे सीधे प्रचार में संलग्न है।

स्वराज्य के बाद देश और शासन के सामने अनेक ऐसी परिस्थितियां भी आईं जिनमें हमें काफी लम्बे समय से युद्धस्तर पर जूझना पड़ रहा है। सीमा की रक्षा, शरणार्थी पुनर्वास, उद्योग-धन्धों का विस्तार, रक्षा-व्यवस्था का अभिनवीकरण, उत्पादन के साधनों का विस्तार, शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधाओं का मौलिक रूप में सुधार आदि बातें ऐसी हैं जिन पर पहले ध्यान देना आवश्यक रहा। इन समस्याओं के समाधान के समय राष्ट्रीय साधन और सम्पत्ति का इन्हीं की ओर खिंचा जाना भी स्वाभाविक है। फलतः लोगों पर इस संक्रान्तिकाल में और सुविधाओं की प्राप्ति के स्थान पर असुविधाओं और नये करों आदि का बोझ तथा वस्तुस्थिति को सही ढंग से व्यापक रूप में जनता के सामने हम ला नहीं सके। इन योजनाओं के संचालन का ढंग भी कई दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण रहा। इससे भी लोगों में असन्तोष बढ़ा और आलोचना का अवसर मिला।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद कांग्रेस के बहुसंख्यक कार्यकर्त्ता शासनतंत्र के अंग बन गये। इसके साथ ही उनकी भौतिक सुविधाओं में वृद्धि हो गई। उनके रहन-सहन का ढंग बदल गया, अपने साथियों से वे लोग कुछ अलग से होने लगे। मैं मानता हूं कि यहां पर यह भयंकर भूल हुई। इसका फल यह हुआ कि नई-नई सुविधाओं में पड़कर कांग्रेसी लोगों में प्रमाद और अहम्मन्यता बढ़ती गई। कर्त्तव्य के प्रति सजगता कम होती गई। जो कांग्रेसजन अपने इन साथियों के साथ अभी तक अपनी शक्ति से भी अधिक मात्रा में देश के लिए सर हथेली पर रखकर घूमते रहे, उनकी भी भारी उपेक्षा की गई, मानव स्वभाव है कि इस दशा में उपेक्षित जन कितना भी उच्च आदर्श का क्यों न हो, उसके मन में भी ईर्ष्या और विद्रोह के भाव उठते ही हैं। इस प्रकार के स्वतंत्रता के सैनिकों के लिए सुविधा की जो नाम मात्र के लिए व्यवस्था की भी गई उसकी प्राप्ति का गलत ढंग भी असुविधा और असम्मान का जनक बना। इसका भी एक अनिवार्य फल यह हुआ कि हमारे अनेक कर्मठ साथी या तो अपने ही साथियों के विरोधी और आलोचक बन गये या उदासीन होकर जीवन के दिन येन केन प्रकारेण विताने लगे। इन लोगों की उपेक्षामय स्थिति को देखकर देश के अनेक विचारकों के मन में शासन के प्रति कुंठा के भाव जाग्रत हुए। देश के स्वाधीन शासनतंत्र के विरुद्ध आलोचना और असहयोग का वातावरण बनाने में ये बातें भी परोक्ष अथवा उपरोक्ष रूप में सहायक हुई हैं, हमें इसे स्वीकार करना चाहिए। इन बातों की ओर पूज्य बापू का ध्यान गया था इसीलिए उन्होंने उन कांग्रेसजनों को जो शासनतंत्र में फिट किये गये थे, बड़ी ही सादगी से कुटिया में रहने की सलाह दी थी। दुर्भाग्य है कि उस चेतावनी पर हमारे मूर्धन्य नेताओं ने दुनिया की बदलती हुई परिस्थितियों की दुहाई देकर ध्यान ही नहीं दिया। उनकी देखा-देखी, जो लोग सादगी से रहना भी चाहते थे, वे भी अनायास प्राप्त सुविधाओं के

भोग में लग गये। उसका उन्हें अभ्यास भी हो गया। कांग्रेसजनों की इस असावधानी को लेकर वह विरोधी वर्ग जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, वातावरण को विषम और विषाक्त बनाने का रात-दिन योजनाबद्ध प्रयास कर रहा है। यह एक ऐसी कमजोरी है जिसका कोई भी प्रभावशाली जवाब हमारे पास नहीं है। दुनियां की बदली मान्यताओं का उपदेश हम केवल अपने ही लिए नहीं दे सकते, बदलती मान्यताओं का लाभ उठाने के लिए हमें तब तक न्यायसंगत अधिकार नहीं होना चाहिए जब तक कि हम अपने से पहले उन्हें लाभान्वित न कर सकें जो कि हमारे ऊपर निर्भर हैं। हमें अविलम्ब इस बारे में अपने को सही करना चाहिए अन्यथा इस भूल की जो कीमत चुकानी पड़ेगी वह शायद हमें अकिंचन ही न बना दे।

कांग्रेस के आलोचकों से भी मेरा निवेदन है कि वे यह सोचने की चेष्टा करें कि राजनैतिक व्यक्ति अथवा दल के सामने दुनियादारी की बातें मुख्य रूप से रहा करती हैं। कांग्रेस एक राजनैतिक संस्था थी और आज भी है। उसके सामने भी दुनियादारी की बातें रही हैं। अपने प्रयास में सफल होने पर यदि कांग्रेस को सत्ता के भोग का आग्रह है तो इसमें अनहोनी की बात कौन-सी है? कांग्रेसी मोक्षार्थी लोगों का जमघट तो है नहीं। मैं ऐसा सोचता हूं कि पूज्य गांधीजी के प्रतापी और तपोमय व्यक्तित्व के सम्पर्क के कारण ही सम्भवतः लोगों के मन में एक ऐसा प्रच्छन्न संस्कार सभी कांग्रेसजनों के प्रति पड़ा है। जिससे उक्त भ्रम को बल मिला होगा।

लोग ऐसी धारणा कर बैठे हैं कि कांग्रेसियों को सदा लंगोटी लगाकर ही घूमना चाहिए था। ऐसी धारणा वास्तव में यथातथ्य नहीं है।

यहीं पर मैं एक बात यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मेरी उक्त बातों का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि जो स्थिति इस समय कांग्रेस अथवा देश की है वह अनिवार्य थी। इससे अच्छी स्थिति सम्भव नहीं थी। बल्कि मैं यह खुले रूप में स्वीकार करता हूं कि जो स्थिति है उससे मुझे ही नहीं अनेक कांग्रेसजनों को असन्तोष है। इस प्रकार के लोग सदा ही इस दशा को न आने देने के लिए यत्नवान भी रहे। मैं यह कहना चाहता हूं कि कांग्रेस में ही अभी ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो कि आवश्यकता पर देश के लिए सर्वस्व त्याग कर सकते हैं। देश में उनका सम्मान अभी भी है। देश के भीतर मौजूद दूसरे राजनैतिक दलों में भी अनेक अच्छे और त्यागी लोग हैं, उनको भी देश का समादर प्राप्त है किन्तु उक्त दलों में से कोई भी यदि यह कहे कि वह शत-प्रतिशत महात्माओं और मोक्षार्थियों की जमात है तो मैं ही क्या सम्भवतः कोई भी इसे मानने के लिए तैयार न होगा। ऐसी दशा में बात यही रह जाती है कि जैसी आलोचना कांग्रेस की आज सर्वत्र हो रही है वह अस्वाभाविक तो कदापि नहीं है। हां, आवश्यकता से अधिक अवश्य है। कांग्रेस की जगह पर जो भी अन्य दल आवेगा उसे भी आलोचनाओं का शिकार बनना पड़ेगा ही। संसार की कोई भी बात, कोई भी घटना कभी ऐकान्तिक नहीं होगी। ऊपर जिन कमियों की चर्चा की है वह भी सापेक्ष है। उनका दोष ऐकान्तिक रूप से केवल कांग्रेस पर ही नहीं डाला जा सकता। इसके लिये समग्र देश और उसके चतुर्दिक् व्याप्त वातावरण को भी जिम्मेदार मानना पड़ेगा। जिस भ्रष्टाचार आदि का ढिंढोरा सर्वत्र पीटा जा रहा है उसके दूर करने के प्रयासों में कितने लोग छाती खोलकर सामने आते हैं? यह कौन नहीं जानता।

कांग्रेस के आलोचकों को ईमानदारी से यह स्वीकार करना चाहिए कि व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, को जितनी अधिक मान्यता कांग्रेस शासन द्वारा निर्मित संविधान में दी गई है, वह असाधारण साहस और राजनैतिक उदारता का नमूना है। दुनिया में इसकी जोड़ की घटना अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेगी। देश की सारी भली बुरी समस्याओं के समाधान की कुंजी भी इसी में निहित है। संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के उपयोग द्वारा जनता के हाथों अनेक लोगों को पाठ पढ़ाते हम आये दिन चाहें तो देख सकते हैं। जिस व्यक्ति को पराधीनता के युग में चौकीदार के दोषों के भी विरुद्ध मुंह खोलने का साहस नहीं था आज उसे हर प्रकार से राष्ट्रपति तक को चुनौती देने का अधिकार मिला है। प्रगति के हर मार्ग पर जाने का द्वार खुला है। सोचा जाय तो यह एक भारी बात है। देश का कल्याण भी इसके बिना कभी हो नहीं सकता था।

मेरी धारणा है कि मौखिक आलोचना और गाली गलौज करते रहना, आवश्यकता पर झंझट में पड़ने से बचते रहना, कहीं समाज के लिये हर्ज करना हो तो बगलें झांकना, ईमानदार नागरिक के लक्षण कदापि नहीं। संविधान द्वारा प्रदत्त कर्त्तव्यों के पालन और अधिकारों के उपयोग के प्रति जन-साधारण का दृढ़ता के साथ निष्ठावान बनना ही उक्त सभी बातों का अचूक इलाज है। वर्तमान स्थिति में हम यदि यह नहीं कर सकते तो हमें यह भी सोचना चाहिए कि हम भी देश की दुरवस्था के प्रति उतने ही दोषी हैं जितना कि दूसरों को समझते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि केवल दुहाई देते रहने से ही विपत्ति से उद्धार कभी हो जाता रहा होगा, अब यह सम्भव नहीं है। उसके लिये हमें अपने आपको भी विवेक-शील, उदार और कर्त्तव्यनिष्ठ बनना ही पड़ेगा। जो लोग कांग्रेस के क्षेत्रों से संत्रस्त हैं, उन्हें कांग्रेस में आकर वीरतापूर्वक उसे अभीष्ट दशा में लाने का प्रयास करना चाहिए। यदि वे चाहें तो उन्हें ऐसा करने के लिये कोई भी मना नहीं कर सकता।

शिक्षा समस्या

व्यक्ति तथा समाज को जीवन-संघर्ष में सफल होने के लिये सक्षम बनाना शिक्षा का प्रयोजन है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चतुर्विध कामनाओं से समन्वित विषयों में अभीष्ट दक्षता, अटल संकल्प, अथक अध्यवसाय, सार्वभौम उदारता, सन्धि-विग्रह एवं हेय-उपादेय के प्रति अहर्निश जागरूक विवेक आदि बातों की सम्यक् सम्पत्ति से ही पुरुषार्थ से सफलता मिल सकती है। इन्हीं बातों के ही अनुपात में सफलता-असफलता की प्राप्ति होती है। इन सभी बातों की उत्पत्ति, सुस्थिति एवं वृद्धि में अनिवार्य कारण उत्तम शिक्षा है। मैं समझता हूं कि व्यष्टि समष्टि के अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि में शिक्षा के असाधारण महत्त्व का आभास उक्त बातों से सहज में ही हो जाता है।

उक्त बातों के प्रकाश में जब मैं अपने यहां की शिक्षा दशा पर विचार करता हूं तो ऐसा लगता है कि हमें अभी इस बारे में बहुत कुछ करना है। हम अपने अभीष्ट लक्ष्य से अभी बहुत पीछे हैं क्योंकि सुशिक्षा से प्राप्त होने वाली ऊपर कही गई बातों का हमारे समाज में बहुत ही अभाव है। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमारी शिक्षा का कुछ उल्टा ही असर होने लगा है। अभीष्ट स्थिति के कारणों की खोज करने से मुख्य रूप से ये बातें सामने आती हैं।

देश में व्यापक रूप से प्रचलित हमारी शिक्षा-पद्धति का ढांचा मूलतः अभी वही है जिसे सैकड़ों वर्ष पहले अंग्रेजों ने अपने मतलब के लिए बनाया था। सर्वविदित है कि इस देश में अंग्रेज ऐसी ही शिक्षा चलाना चाहते थे जिससे उन्हें अपना शासन चलाने के लिये वफादार और क्लर्क जैसे आदमी आवश्यकतानुसार यहीं मिल सकें। कालान्तर में बाबुओं की उत्पत्ति और उपयोग में अंग्रेजों को सफलता मिली। मानना पड़ता है कि उन्हें अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिली। उनके जमाने के सुशिक्षित कहे जाने वाले लोगों में अपवाद स्वरूप ही ऐसे लोग निकले जिनमें स्वदेश के प्रति अपने सही कर्त्तव्य का अनुभव हो सका। बाकी लोग तो ऐसे ही थे जैसाकि अंग्रेज चाहते थे। ऐसे लोगों की अंग्रेज भक्ति और आत्मतिरस्कार की भावना के फलस्वरूप ही यह धरती इतने दिनों तक पराधीन बनी रह सकी।

स्वाधीन होने के बाद हमारी परिस्थितियां बिल्कुल ही बदल गईं, फलतः शिक्षा के उद्देश्यों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। हमने ऐसी शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया जिससे हमारे देश में अविलम्ब वे सारी बातें आ जायँ जिनका उल्लेख हम प्रारम्भ में कर चुके हैं। उन बातों के सहारे ही हम अपने राष्ट्र को सम्पन्न, स्वस्थ एवं प्रगतिशील बना सकते थे और ऐसी शिक्षा दे सकते थे जिससे आज के युग की वैज्ञानिक तथा औद्योगिक दौड़ में हमारा देश भी आगे जा सकता।

इसमें दो मत नहीं है कि उद्देश्यों के बदलने के साथ ही जिस तरह हमें शिक्षा के ढांचे को भी नई दिशा में बदल देना चाहिए था वैसा हम कर नहीं पाये, यह हमारी ऐसी भूल थी जिसका कुफल आज सारे राष्ट्र के अस्तित्व के लिए चिन्ता का विषय बन गया है। यदि पराधीनता के समय के प्रतिशत पर ध्यान दिया जाय तो हम आज भी यह देख रहे हैं कि हमारे समाज के बहुसंख्यक शिक्षितजन स्वान्तः-सुखाय तो शायद ही देश के पुनर्निर्माण के कामों में अभीष्ट मनोयोग का परिचय देते दिखाई पड़ें। देहात और देहाती के प्रति आज भी ऐसे लोगों के मन में आत्मीयता के स्थान पर दुराव का भाव दिखाई देता है। जो लोग देश के ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों में लगे हैं वे भी भाषा, वेषभूषा और आचरण में अपने को थोड़ा विशेष रखकर ही उनके बीच में काम करना चाहते हैं जिनका वे सुधार करने जाते हैं। इसका फल यह हो रहा है कि आज साधारणजन अपने ही सुधारकों को अपना नहीं समझता। सच्चे विश्वास के साथ उसके कार्यक्रमों में सहयोग नहीं देता। परिणामतः हमारी योजनाओं का लक्ष्य पूरा नहीं हो पाता।

पूज्य महात्मा गांधीजी ने सम्भवतः इसी खतरे को लक्ष्य में रखकर चेतावनी दी थी कि, "जो लोग हमारे ग्रामीण भाइयों के बीच में जाकर कुछ करना चाहते हैं यदि वे उनमें घुलमिल नहीं सकते तो उन्हें अपने कर्त्तव्य-पालन में भारी कठि-नाइयों का सामना करना पड़ेगा। सहयोग, स्वागत और सफलता तीनों ही उन्हें अभीष्ट रूप में नहीं मिल सकेगा।"

व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में भी मैं देखता हूं कि वर्तमान शिक्षा-दीक्षा का बहुत अच्छा प्रभाव नहीं पड़ रहा है। संयमित, उदार और दायित्वपूर्ण रहन-सहन के अभ्यास की निरन्तर कमी-सी होती जा रही है। सर्वत्र अंग्रेजियत का बोलबाला है। जीवन अधिक बनावटी और आडम्बरपूर्ण सा होता जा रहा है। पढ़े-लिखे मां-बाप अपने बच्चों तक को सही माने में भारतीय गौरव के अनुरूप नहीं बना पा रहे हैं। पारिवारिक बन्धनों के निरन्तर शिथिल होते जाने का एक कारण बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था भी है, फिर भी हमारे देश की आवश्यकता और परम्परा के लिये पारिवारिक दायित्व सम्बन्धी विश्रृंखलता मेरे विचार से कल्याणकारी सिद्ध नहीं हो सकती। मैं समझता हूं कि उदारता और परस्पर सहायता की भावना सदा सबके लिये ही मंगलदायिनी होती है। हमारे देश में व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन में इसकी सदा ही आवश्यकता रही, आज भी है और आगे भी रहेगी।

उक्त दशा में अभीष्ट परिवर्तन लाने के लिये शिक्षा-पद्धति में कौन-कौन से प्राविधिक परिवर्तन होने चाहिए?

यह प्रश्न मूलतः शिक्षा तत्त्व के मर्मज्ञों के हल करने का है। अविलम्ब ऐसा करना भी चाहिए। केन्द्रीय सरकार ने इस बारे में विचार करने के लिये समय-समय पर आयोगों का गठन किया है, आज भी इस बारे में विचार चल ही रहा है। मेरी अपनी धारणा यह है कि हमारे पाठ्यक्रमों में प्रारम्भ से ही धार्मिक शिक्षा पर भी बल देना चाहिए। यहां धार्मिक शिक्षा से मेरा मतलब किसी धर्म विशेष अथवा उसकी विभेदमूलक परम्पराओं से बिल्कुल नहीं है बल्कि सभी धर्मों की उन मूलभूत बातों से है जिनका लक्ष्य सदा से ही विश्वबन्धुत्व और विश्वकल्याण रहा है। मेरा यह भी विश्वास है कि अपने मूल रूप में सभी धर्मों में ऐसी बातें रही हैं, जिनसे आदमी आदमी के पास आना चाहता है। एक दूसरे के कुछ-न-कुछ अपने 'स्व' का उत्सर्ग भी करना चाहता है। अपने ही बारे में कहता हूं कि मेरी मां पढ़ी लिखी नहीं थीं लेकिन घर के सम्हालने में उनके अन्दर जो क्षमता थी वह आज की काफी पढ़ी लिखी स्त्रियों में भी कम ही दिखाई देती है। घर के धार्मिक आयोजनों, हवन, पूजन आदि में वह स्वयं भी भाग लेती थीं और हम लोगों को भी प्रेरित करती थीं, उन सब बातों का असर आज भी मुझे अनेक बुराइयों से बचाता है। इसे मैं निःसंकोच मानता हूं और आज मैं सोचता हूं कि आस्तिकता का भाव मनुष्य मात्र के जीवन को संयमित और उदार बनाने में समान रूप से उपयोगी है क्योंकि अन्यथा मानवीय विचारों के सर्वांगीण विकास में बाधा आती है। देश में इस समय अनेक ऐसी शिक्षा संस्थाएं हैं भी जिनका संचालन विशिष्ट ढंग से धार्मिक संगठनों के प्रभाव में होता है किन्तु जहां तक मेरी जानकारी है इनमें से बहुसंख्यक संस्थाओं में धार्मिक उदारता के स्थान पर संकीर्णता और कठमुल्लापन का ही बोलबाला होता है। शिक्षा संस्था जैसी पवित्र और उदार जगह में धर्मविशेष की निन्दा अथवा स्तुति, चाहे वह किसी भी उद्देश्य से क्यों न हो, सर्वथा तिरस्कृत होनी चाहिए।

भावी जीवन को लक्ष्य में रखकर ही विद्यार्थी के पठन-पाठन की व्यवस्था करनी चाहिए, इस समस्या को ध्यान में रखकर इधर पाठ्यक्रमों के वर्गीकरण का प्रयास भी किया गया है लेकिन अनेक कठिनाइयों के कारण सभी वर्गों के अध्ययन की सर्वसुलभ व्यवस्था नहीं हो पाई है। यथासम्भव इस दिशा में अविलम्ब ध्यान देना आवश्यक है।

दुर्भाग्यवश हमारे देश में एक भारी समस्या शिक्षा के माध्यम की भी उपस्थित है। इस सम्बन्ध में मैंने अपने विचार अन्यत्र भी दिये हैं। शिक्षा के माध्यम के बारे में मैं यह मानता हूं कि छात्र की मातृभाषा को माध्यम रखा जाना चाहिये और इसके लिये देश की प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा को समर्थ बनाना चाहिये। फिर भी कम-से-कम अपने देश के लिये मैं आज भी त्रिभाषा सिद्धान्त को तब तक ठीक मानता हूं जब तक कि हमारी अपनी भाषाएं अथवा राष्ट्रभाषा की समृद्धि हमारे मतलब भर की नहीं हो जाती। उत्तर प्रदेश में त्रिभाषा फार्मूले को मैंने अपने मुख्य मंत्रित्व काल में लागू किया था। इसका एक कारण यह भी था कि केन्द्रीय सरकार ने अपने यहां से अंग्रेजी की प्रधानता को घटाया नहीं था। मुझे ऐसा आभास हो रहा था कि यदि मेरे यहां अंग्रेजी के अध्ययन को शिथिल कर दिया जायेगा तो अखिल भारतीय प्रतियोगिताओं में मेरे यहां के लोग पिछड़ जायेंगे। जब तक हमारी भाषाएं ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों के सम्बन्धित साहित्य से सम्पन्न नहीं हो जातीं तब तक कम-से-कम देश की भौतिक प्रगति के लिये अंग्रेजी के प्रचलन को स्वीकार करता हूं। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि कामचलाऊ भाषा की स्वीकृति से हम अपनी भाषाओं पर शीघ्रातिशीघ्र निर्भर बन जाने का संकल्प ढीला कर दें। मेरा यह भी विचार है कि हिन्दी भाषी लोग दक्षिण की भाषाओं का भी ज्ञान अवश्य प्राप्त करें। हमारे देश में छोटे बच्चों की अनेक ऐसी संस्थाएं हैं जिनका रंग-ढंग अभी बहुत कुछ अंग्रेजी ही है। इस प्रकार की संस्थाओं का महत्त्व अभी भी हमारे बीच में बना हुआ है। देशभक्त कहे जाने वाले अनेक लोग भी आज अपने बच्चों को ऐसी संस्थाओं में भेजना पसन्द करते हैं। कुछ ऐसी शिशु शिक्षा संस्थाएं अंग्रेजी प्रभाव से मुक्त होकर भी चलाई जाने लगी हैं जिनमें अनुशासन आदि से सम्बन्धित अनेक अच्छी बातें अंग्रेजी संस्थाओं के ढंग पर ही रखी जाती हैं। लेकिन उक्त दोनों प्रकार की संस्थाएं इतनी महंगी हैं कि उनमें साधारण घर का बच्चा प्रवेश ही नहीं पा सकता। मेरी इच्छा है कि देश में शिशु शिक्षा के लिए आदर्श संस्थाएं इतनी खुल जानी चाहिए कि सभी बच्चों को आरम्भ से ही विकास का अच्छा अवसर मिल सके। शिक्षा संस्थाओं की संस्थापना तथा परिचालन में हमें यह भी सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसमें से निकलने वाले विद्यार्थी देश के अर्थतन्त्र के मेरुदण्डरूप ग्रामीण क्षेत्रों से अलग होकर शहर न भागना चाहें बल्कि स्वेच्छा और उत्साह से ग्रामीण विकास में लगना चाहें। मैं देखता हूं कि आजकल गांव में भी खुली हुई संस्थाओं में पढ़ने वाले शहरी रहन सहन, टाई और पेन्ट के प्रति अधिक आग्रह रखने लगे हैं। इस प्रकार के शहरी आकर्षण का कुछ कारण भी है फिर भी हमें ऐसा प्रयत्न करना है जिससे हमारे देश के ग्रामों का सही मानों में विकास हो क्योंकि सही अर्थों में भारत देहातों में ही बसा है, उनका ही विकास देश का विकास कहा जा सकता है। शासन के द्वारा बड़े पैमाने पर ऐसा ही प्रयास होना चाहिए। एक ही प्रयोजन के लिये राष्ट्र भर में अनेक स्तरों की शिक्षा संस्थाओं के अस्तित्व को मैं राष्ट्रीय प्रगति में बाधक मानता हूं। मुझे कभी भी यह पसन्द नहीं है कि कोई धनी के घर का है, इसलिये ही वह किसी सुविधा

सम्पन्न अच्छी संस्था में पढ़ सकता है चाहे वह मंदबुद्धि ही क्यों न हो और कोई कुशाग्र-बुद्धि होकर भी साधनहीन संस्था में पढ़ने को इसलिये बाध्य हो जाय कि अच्छी संस्था का खर्च उसके पास नहीं है ।

गुरुकुल और पाठशाला पद्धति की शिक्षा-पद्धतियां भी जहाँ कहीं देश में चल रही हैं । अनेक लोग इनके अस्तित्व को उपादेय भी समझते हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि इस प्रकार की संस्थाएं प्रायः आवश्यक सुविधा से वंचित भी हैं । जब तक ये सुविधासम्पन्न न हो जायं तब तक इनसे यथेष्ट लाभ सम्भव नहीं है । मेरे परिवार के कई बच्चे पहले गुरुकुल में ही भर्ती कराये गये थे, बाद में इसी कमी के कारण मुझे स्वयं ही उन लोगों को वहां से उठा लेना पड़ा । मेरा अपना विचार है कि इस प्रकार की संस्थाओं में अच्छे स्नातक निकल सकते हैं यदि इन संस्थाओं को भी साधन सम्पन्न बनाया जा सके ।

शिक्षा दशा को अनुकूल स्थिति में लाने के लिये बहुत ही अधिक साहस, धन और परिश्रम की आवश्यकता है । फिर भी हमें इसे प्रथम राष्ट्रीय आवश्यकता के रूप में देखना है । व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र सभी को अपने-अपने ढंग से इस समस्या के समाधानार्थ आगे आना चाहिए । तभी यह राष्ट्र सबल, समृद्ध और सुखी बन सकेगा । हमारे शिक्षकों का योगदान इस दिशा में विशेष महत्त्व का है क्योंकि छात्र तो अधिक अंशों में अपने शिक्षक के ही चरित्र और व्यक्तित्व की अनुकृति होता है । अध्यापक निश्चिन्त होकर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सके, इस योग्य अवसर और योग क्षेम का प्रवन्ध करना समाज का कर्त्तव्य है । तभी योग्य-से-योग्य व्यक्ति इस पुनीत क्षेत्र में आने के लिये तत्पर होंगे । ऐसे समर्थ लोग ही देश की शिक्षा व्यवस्था को सही रूप भी दे सकेंगे । बच्चों के निर्माण पर सबसे अधिक और प्रारम्भिक प्रभाव मां का होता है इसलिये लड़कियों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था पर भी हमें ध्यान देना चाहिए किन्तु इसका सदा ध्यान रखना चाहिए कि बच्चियों की शिक्षा सदा इस प्रकार की रहे जिससे वह भारतीय आवश्यकता और वातावरण के अनुरूप सन्तति की मां और पथप्रदर्शिका बन सकें ।

राष्ट्रभाषा की समस्या—संसार के समस्त कार्यकलाप ज्ञानमूलक हैं । ज्ञान के अभाव में यह जगत् जड़ हो जायगा, किसी भी प्रकार के कर्म की प्रवृत्ति उसके ज्ञान के अभाव में सम्भव ही नहीं है । सारे ज्ञान शब्दाधीन हैं । शब्द और उससे सम्बन्धी विज्ञान को 'भाषा' कहा जाता है । जिस प्रकार किसी बच्चे के लिए जन्म लेते ही किसी-न-किसी सहज, समर्थ और सुबोध भाषा ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है, उसी प्रकार किसी स्वाधीन राष्ट्र के जन्म के साथ ही उसकी अपनी भाषा की व्यवस्था भी अनिवार्य है । मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और विदेशी भाषा के वैज्ञानिक विचार के समय हमें पहले 'स्व', 'राष्ट्र' एवं 'विदेश' को भली प्रकार समझ लेना चाहिए ।

व्यक्ति विशेष को 'अन्य' की भावना से सर्वथा रहित विशुद्ध रूप से अपनेपन की जो अनुभूति होती है, उस अनुभूति का सम्पूर्ण विषय उस व्यक्ति का 'स्व' है । व्यक्तियों की समष्टि की राजनैतिक एवं सामाजिक सत्ता का विषय 'राष्ट्र' कहलाता है, शेष जगत् विदेश शब्द वाच्य है ।

'स्व' सम्बन्धी विशुद्ध अनुभूति सहज, कृत्रिमता रहित, आनन्दमयी एवं बल, तेज एवं ऐश्वर्य की विधायिनी होती है । 'आनन्द' ही प्राणिमात्र के जीवन का चरम लक्ष्य है । प्रत्येक राष्ट्र का भी अपना 'स्व' होता है, विदेशों का भी निजी 'स्व' होता है । सभी यदि अपने 'स्व' की विशुद्ध अनुभूति की स्थिति में रहें तो उनका कल्याण है । जिस बिन्दु पर 'स्व' के साथ 'पर' की भी अनुभूति होने लगती है, वहीं पर दुःख, अनैश्वर्य, दैन्य एवं विनाश का क्रम आ जाता है ।

प्राणी अनादि काल से ही सामाजिक अथवा राष्ट्रीय जीवन का अभ्यस्त रहा है । इस जीवन में व्यक्ति के 'स्व' का राष्ट्र के 'स्व' के साथ एक हद तक समझौता होता है । इसी तरह 'राष्ट्र' के 'स्व' का विदेशी राष्ट्रों के 'स्व' के साथ समझौता होता है । समझौता, कुछ लेने और कुछ देने का नाम है । इस समझौते में यदि परस्पर मिलने वाले 'स्व' में प्रकृतिसाम्य की सुप्रतिष्ठा रहती है तो दोनों पक्ष सुखी, प्रगतिशील और प्राणवान होते हैं । विरुद्ध प्रकृतियों के 'स्व' की समष्टिरूप 'राष्ट्र' सदा ही कलहाग्नि में जलने वाला तथा शीघ्र विनाशी होता है ।

हम जहां रहते हैं वहां के वातावरण की ही भाषा, वेश और विषय स्वभावतः हमारे अनुकूल होते हैं । उनके ही माध्यम से हमारा व्यक्तिगत एवं समाजगत कल्याण सिद्ध हो सकता है । अन्यत्र की चीजें प्राकृतिक रूप में हमारी प्रकृति के विरुद्ध होती हैं । इनका उपयोग हम चाहे जिस रूप में अथवा चाहे जिन परिस्थितियों में भी करें, वे निर्विवाद रूप से हमारी प्रकृति की बाधक होने से अमंगलजनक ही होंगी । इसमें दो मत कदापि सम्भव ही नहीं हैं ।

भाषा के बारे में ग्रहण और त्याग का उक्त शाश्वत नियम अपरिहार्य है । इसीलिए हमारे और हमारे राष्ट्र के लिए वही भाषा ग्राह्य है जो हमारी ही धरती पर हमारे ही बीच स्वभावतः फली-फूली हो । वही हमारे मन और शरीर के अनुकूल हो सकती है । उसके ही सहारे हम प्राण और एश्वर्य के धनी हो सकते हैं । इसी आधार पर हमारे राष्ट्र ने स्वाधीनता के पश्चात् बहुत सोच-विचार कर हिन्दी को 'राष्ट्र भाषा' के रूप में स्वीकृत किया, क्योंकि यही भाषा हमारे

राष्ट्र की अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के परिचय में सर्वाधिक रही। क्षेत्रीय भाषाओं के 'स्व' के साथ हिन्दी का 'स्व' ही अधिक साम्य-युक्त था। यहां पर मैं एक बात कहना चाहूंगा कि वे देश बड़े ही सौभाग्यशाली होते हैं जिनमें मातृभाषा और राष्ट्रभाषा की समस्या नहीं रहती। कितना अच्छा रहता यदि हमारा राष्ट्र भी ऐसे ही सौभाग्य का धनी हो सकता !

हिन्दी राष्ट्रभाषा स्वीकृत तो हो गई किन्तु दुर्भाग्यवश उसे उचित रूप से हम अंगीकार आज तक नहीं कर सके। अरबों रुपयों की अनेक उल्टी-सीधी योजनाएं हमारे यहां बनी बिगड़ीं किन्तु लज्जा और दुःख का विषय है कि राष्ट्रभाषा सम्बन्धी इतने बड़े महत्त्वमय विषय पर हम ठीक-ठीक ढंग से लाखों में भी व्यय नहीं कर सके। हम केवल वचनों से ही इतने दिनों तक राष्ट्रभाषा की चर्चा करते रहे। मनसा और कर्मणा वैसा नहीं कर सके जैसा चाहिए था। सोचा जाय तो यह समग्र राष्ट्र के प्रति अपमान और खेद की बात रही है। मेरा भी अस्तित्व अपने प्रदेश में ऐसा रहा कि मुझसे राष्ट्रभाषा के बारे में न्याय की आशा की जा सकती थी किन्तु मैं यह स्वीकार करता हूं कि मैंने इस सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य का सही ढंग से पालन नहीं किया। इसका हमें खेद है। मैं आज भी यह सोचता हूं कि यदि मैं जी जान से चाहता तो मैं अपने प्रभाव से इस प्रदेश में हिन्दी का काफी कल्याण कर सकता था। राज्य सरकार की हिन्दी समिति को सक्रिय और समर्थ बनाकर राष्ट्रभाषा के साहित्य को समृद्ध करने की दिशा में मैं कुछ प्रयास जरूर करना चाहता था लेकिन मेरा वह प्रयास कई कारणों से बहुत सफल नहीं हो पाया। इसके अनेक कारणों में से एक प्रमुख कारण उससे सम्बन्धित सरकारी अफसरों का निषेधात्मक रवैया भी रहा। हिन्दी भवन के लिए भी जो भूमि मैंने आग्रहपूर्वक दिलाई थी इसका सम्भवतः सही सहपयोग नहीं हो पा रहा है। आगे चलकर हो सके तो मेरे सन्तोष की बात होगी।

इतने दिनों तक राष्ट्रभाषा सम्बन्धी प्रगति के अवरुद्ध रहने का ही यह फल है कि आज उसकी प्रगति के चक्र को पीछे की ओर मोड़ने का भी प्रयास किया जाने लगा है। राष्ट्रभाषा से सम्बन्धित इस चिन्तनीय स्थिति को लाने का दोष निःसन्देह उन लोगों के ही सर पर लगना चाहिए जिनके ऊपर राष्ट्रभाषा की व्यापक प्रतिष्ठा का भार रहा। अपने कुसंस्कारोंवश, प्रमादवश, अथवा किसी संकुचित स्वार्थरक्षा की भावनावश, चाहे जिस कारण से भी इस पवित्र कार्य के पालन में शिथिलता आई हो, वह त्रुटि तो कही ही जायगी। इस प्रकार की त्रुटियों के प्रति राष्ट्र को गम्भीर कदम उठाना चाहिए।

हमारे देश की साधारण जनता भी इसके लिये दोषी है। उसकी इच्छा तो यह अवश्य रही कि उसे अंग्रेजों की गुलामी के सबसे अधिक प्रभावशाली कुम्भल रूप अंग्रेजी भाषाओं, अंग्रेजी संस्कृति से मुक्ति मिले किन्तु इसके लिए अभीष्ट सक्रियता उसमें भी नहीं आई। लोगों ने राष्ट्रभाषा की समस्या को केवल शासन का कार्य समझा। अपने दैनिक जीवन में उन्होंने राष्ट्रभाषा को अभीष्ट स्थान नहीं दिया। फलतः हमारा राष्ट्रीय चिन्तन राष्ट्रभाषा के प्रति भी कृत्रिम और भ्रान्त सा हो गया है कि उसे 'अपनेपन' की आनन्दमयी पुण्यमयी अनुभूति की झलक ही नहीं मिल पा रही है। यही कारण है कि आज हमारे अधिकांश कार्यकलाप निस्तेज एवं भारस्वरूप से हो गये हैं। उनमें न तो सारे देश को एकता के सूत्र में आबद्ध कर लेने की ही यथेष्ट शक्ति है और न अभीष्ट दिशा में राष्ट्रीय अमंगल के निवारण की क्षमता। राष्ट्रभाषा के विरोधियों की ओर से अपने पक्ष के समर्थन में अनेक बातें कही जाती हैं। उनमें से आवश्यक साहित्य की कमी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की प्रगति की बाधा की बात मुख्य है। मेरा अपना विचार है कि ये दोनों ही बातें सारहीन, भ्रामक हैं। हिन्दी को इसलिए राष्ट्रभाषा नहीं बनाया गया था कि उसका साहित्य देश की साहित्यिक आवश्यकता के सर्वथा योग्य था बल्कि इसलिए बनाया गया था कि उसका देश के अधिकांश भागों में प्रचलन अपेक्षाकृत अधिक था, उसमें ही अन्तरप्रदेशीय विचार-विनिमय के माध्यम बनने की सर्वाधिक क्षमता थी। आवश्यक साहित्य की रचना का कार्य तो आगे करने के लिये था, उसे सारे राष्ट्र को मिलकर ईमानदारी से करना चाहिए था।

सच पूछा जाय तो अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को तो खतरा वस्तुतः अंग्रेजी से ही अधिक होना चाहिए क्योंकि सारे देश के लिये समान रूप से अस्वाभाविक भाषा अंग्रेजी आज भी विद्यमान है। हिन्दी तो फिर भी भारतीय भाषाओं के निकट है क्योंकि संस्कृत भाषा के नाते यहां की सारी ही भाषाएं सहोदरा हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस विषम स्थिति का अन्त किस रूप से किया जाय ? मैं सोचता हूं कि ऐसी दशा में प्रत्येक ईमानदार भारतीय नागरिक का यह पावन कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रभाषा के द्रोह और अपमान को राष्ट्रद्रोह जैसा ही समझकर तदनुकूल व्यवहार करे और उन लोगों को भी ऐसा ही करने के लिये बाध्य कर दे जो कि आज इसका विरोध कर रहे हैं। जो व्यक्ति राष्ट्रभाषा की प्रगति का बाधक हो रहा है, वह चाहे कितने बड़े पद पर क्यों न हो, उसे राष्ट्रद्रोह के दण्ड का भागी अवश्य बनना चाहिए। राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा के लिए इतना बड़ा जन-आन्दोलन भी होना चाहिए कि किसी का यह साहस ही न हो सके इस बारे में कुटिलता करने का। प्रत्येक व्यक्ति को अपने निजी व्यवहार में भी सदा राष्ट्रभाषा के ही प्रयोग का व्रत लेना चाहिए। भले ही ऐसा करने में असुविधा का अनुभव हो। जो लोग समर्थ हैं उन्हें राष्ट्रभाषा के साहित्य को समृद्ध करने का व्रत लेना चाहिए। जो हिन्दी नहीं जानते उन्हें प्रेमपूर्वक हिन्दी सिखाने का व्रत वे लोग

लें जो उसे जानते हैं। हमारे वे भाई जो अहिन्दी-भाषी हैं उन्हें भी निहित स्वार्थ के लोगों के बहकाने में आकर उल्टे-सीधे प्रचार का शिकार नहीं बनना चाहिए बल्कि वस्तुस्थिति पर सही ढंग से विचार करके हिन्दी को शीघ्र ही सीखने का प्रयास करना चाहिए। हर्ष की बात है कि हमारे अहिन्दी-भाषा-भाषी भाई ऐसा कर भी रहे हैं।

मैं समझता हूं कि लिपि का विभेद ही हिन्दी के साथ अन्य भाषाओं के लिए बाधक है। देवनागरी लिपि संस्कृत की लिपि होने के कारण भारत में सर्वत्र प्रचलित है। उसका परिचय प्राप्त कर लेना भी बहुत सरल है। यदि सभी क्षेत्रीय भाषाओं के लिए इस लिपि की स्वीकृति हो जाय तो इससे समस्त भारत की भाषाओं को भारी लाभ होगा। भाषागत विवादों के निपटाने में इससे बड़ी भारी मदद मिलेगी। इन बातों पर यदि ठीक ढंग से आचरण किया जाय तो राष्ट्रभाषा की समस्या देखते-देखते सुलझ सकती है। इससे ही देश में एक सबल, संगठित और प्रगतिशाली समाज का उदय हो सकेगा।

श्री रामकृष्ण मिशन

देश के समाजसेवी तथा धार्मिक संगठनों में श्री रामकृष्ण मिशन का स्थान मैं बहुत ही ऊंचा मानता हूं। अनेक प्रकार की बुराइयां और आपसी पचड़ों से ग्रस्त होकर जहां अनेक अच्छी संस्थाएँ पंगु सी बन गई हैं वहीं यह सौभाग्य की बात है कि मिशन में हमें आज तक ऐसा कोई दोष नहीं दिखाई देता। यह संस्था देश तथा विदेश में भी निःस्पृह भाव से पीड़ित मानवता की सेवा शिक्षा, चिकित्सा एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों में अत्यन्त आदर्शरूप में निरन्तर कर रही है। इसके उपकारों की साभार स्वीकृति भी देश-विदेश में सदैव होती रहती है। मैं ऐसा मानता हूं कि इस प्रकार की सेवा हमारे प्राचीन आदर्शों के सर्वथा अनुरूप है। ये आदर्श सदा ऐसे रहे हैं जिनके सम्पर्क में आकर विश्व की मानवता को युगों तक भौतिक और आध्यात्मिक प्रकाश मिलता रहा है।

लगन और सच्चाई के साथ यदि लोकोपकार का कार्य किया जाय तो उसमें चारों ओर से सहायता अपने आप मिलती है, इस बात को रामकृष्ण मिशन के कार्यकलापों में हम सर्वत्र देख सकते हैं। लोकसंग्रह के लिये पीड़ित मानव समाज की सेवा में लगा रहकर भी विरक्त व्यक्ति आध्यात्मिक साधना में बिना किसी विशेष बाधा के सफलता प्राप्त कर सकता है। इस आदर्श का भी मिशन के महात्माओं में साक्षात्कार किया जा सकता है। मेरा ऐसा विश्वास है कि मिशन जैसी अनेक संस्थाओं का अस्तित्व हमारे देश के लिये नितान्त आवश्यक है।

लखनऊ के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम से मेरा विशेष सम्पर्क सन् १९४६ के आस-पास तब हुआ जबकि मेरा सम्बन्ध प्रदेशीय शासनतन्त्र से हुआ। उस समय मिशन की ओर से अमीनाबाद स्थित मिशन के भवन में एक दातव्य औषधालय चलता था और पूजन, वंदन और एक पुस्तकालय आदि की व्यवस्था रहती थी। पूज्य स्वामी गौरीश्वरानन्दजी की कृपा से मुझे मिशन के सेवाश्रम के अध्यक्ष के रूप में कार्य करने का अवसर तब से अब तक मिलता जा रहा है, इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। इसी सिलसिले में मुझे प्रदेश के अन्य स्थानों वृन्दावन, वाराणसी, कनखल, मायावती आदि के मिशनों के भी सम्पर्क में आने और उनकी सरकारी एवं गैर-सरकारी ढंग से भी सेवा करने का सुअवसर मिल सका। १९४५-४६ के बाद से मिशन के लोकोपकार सम्बन्धी कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। करोड़ों की लागत से निराला नगर में एक बड़ा चिकित्सालय बन रहा है, जिससे प्रदेश की चिकित्सा सम्बन्धी एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति होगी। जैसाकि मिशन की सार्वत्रिक परम्परा है, मुझे आशा है कि रोगियों के प्रति निःस्वार्थ एवं आत्मीयता भरी सेवा के विषय में यह चिकित्सालय आदर्श रूप होगा। इसके निर्माण में पूज्य स्वामी श्रीधरानन्द जी एवं स्वामी क्षेत्रज्ञानन्द जी आदि जिस लगन के साथ जुटे हुए हैं, वह अकथनीय है। इसके लिये ये महात्मा लोग युग-युग तक लोगों के नमन के पात्र होंगे। मिशन के कार्यकलापों के प्रति स्वामीजी की प्रेरणावश मेरे से जो कुछ भी सेवा हो सकी उससे मुझे जितना आत्मिक सन्तोष होता है उतना शायद अन्य किसी भी बात से नहीं। मिशन से मुझे सार्वजनिक क्षेत्रों में की जाने वाली योजनाओं के संचालन में भारी प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन भी मिला है। मैं चाहता हूं कि जो भी व्यक्ति अथवा संगठन जनसेवा के कामों में लगे हों उन्हें मिशन के सम्पर्क में आकर अनेक बातें सीखनी चाहिएं। इससे उन्हें अवश्य लाभ होगा।

आर्यसमाज

भारत की समाजसेवी सस्थाओं में आर्यसमाज का प्रमुख स्थान है। सिन्ध, पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश कश्मीर, राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे इस संस्था को देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। इसका कारण जहां तक मैं समझता हूं मनोवैज्ञानिक रहा। इन्हीं स्थानों पर मुस्लिम संस्कृति का प्राधान्य रहा। हिन्दुओं पर इसकी प्रतिक्रिया स्वभावतः होती ही रहती थी, उस प्रतिक्रिया का लाभ आर्यसमाज को प्राप्त हुआ। एक बात यह भी थी कि इन प्रदेशों के हिन्दुओं की आर्थिक एवं बौद्धिक स्थिति भी मुसलमानों की अपेक्षा अच्छी थी। इसीलिए पंजाब,

सिन्ध आदि में हालांकि वे अल्पमत में ही थे, फिर भी आर्यसमाज को प्रबल बनाने में उन्हें सफलता मिल सकी। दक्षिण भारत में ऐसी स्थिति नहीं थी इसीलिए सम्भवतः आर्यसमाज वहां उतना सफल नहीं हो पाया।

आर्यसमाज आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने वालों में वकील जैसे बुद्धिजीवी वर्गों का बाहुल्य रहा, व्यापारी वर्ग प्रायः सनातनी विचारधारा ही का सदा से पोषक होता है, इसलिये उसने विशेष योगदान नहीं दिया। कांग्रेस आन्दोलन के बढ़ने पर आर्यसमाज का अधिकांश बुद्धिजीवी वर्ग कांग्रेस में आ गया। फलतः उसकी प्रगति मन्द हो गई। आगे चलकर तो यह आन्दोलन प्रायः बाबुओं के ही हाथ में चला गया। देश के साधारण नागरिकों के साधारण से सहयोग बल पर तब से यह संगठन जैसे-तैसे चला जा रहा है। प्रायः शिक्षा क्षेत्र में ही अब इसकी गतिविधियां सीमित रह गई हैं। समाज कल्याण एवं धार्मिक कार्यक्रमों का स्थान अब बहुत ही गौण सा रह गया है।

अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में विशेषतः स्वामी दयानन्दजी एवं स्वामी श्रद्धानन्दजी के समय में इस आन्दोलन की प्रगति तेजी पर थी। देश में विद्यमान प्रमुख आर्यसमाजों में से अधिकांश की स्थापना प्रायः उन्हीं दिनों में हुई थी। स्वामी दयानन्दजी एवं श्रद्धानन्दजी जैसे असाधारण व्यक्तित्वों के अभाव के कारण भी सम्भवतः यह आन्दोलन बाद को इतना प्रगतिशील नहीं रह सका।

जिन दिनों आर्यसमाज की संस्थापना महर्षि दयानन्द द्वारा की गई, उन दिनों का राजनैतिक एवं सामाजिक वातावरण बड़ा जागरूक सा प्रतीत होता है। लगता है कि लोग उस समय वर्तमान परिस्थिति से ऊब चुके थे और उसे हर दिशा से बदलना चाहते थे। सम्भवतः यही कारण है कि उन्हीं दिनों थोड़े ही वर्षों के हेर-फेर से बंगाल में राजा राम मोहन राय ने ब्रह्मसमाज चलाया। दक्षिण में श्रीमती एनी बैसेन्ट ने थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की, और प्रबुद्ध भारतीयों ने इन सभी का स्वागत समादर भी किया। राजनैतिक चेतना की जाग्रति के प्रमाणस्वरूप कांग्रेस एवं क्रान्तिकारी आन्दोलनों को लिया जा सकता है।

जहां तक आर्यसमाज की सेवाओं की बात है, मैं समझता हूं कि आर्यसमाज ने बड़े ही सुअवसर पर सोई हुई हिन्दुओं की शिथिल चेतना को उद्‌बुद्ध किया, उसे नये ढंग से हर बात को सोचने-समझने का मार्गदर्शन किया। आर्यसमाज के प्रादुर्भाव ने हिन्दुओं में उस समय हो रहे धर्म-परिवर्तनों को तो काफी हद तक रोका किन्तु मैं समझता हूं कि उसके शुद्धि आन्दोलन को अभीष्ट सफलता नहीं मिल पाई। इसका कारण सम्भवतः हिन्दू समाज की स्वात्मीकरण सम्बन्धी निजी कमजोरियां ही रहीं। देश में एकता की स्थापनार्थ अनेक आर्य-समाजों की स्थापना हुई। उसने एक सार्वदेशिक भाषा के रूप में हिन्दी को अपनाया। महिलाओं की शिक्षा और सुधार की ओर भी काफी काम किया। धर्म और संस्कृति साहित्य के पठन-पाठन की ओर भी जन-साधारण के ध्यान को खींचा। जगह-जगह विद्यालयों की स्थापना का आन्दोलन चलाकर शिक्षा के क्षेत्र में भी भारी काम किया। अनेक विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों में आर्यसमाज के माध्यम से उक्त बातों का प्रचार करके अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यह आन्दोलन चलाया गया। इससे उल्लेखनीय जाग्रति और सद्भावना का उदय इन दूरस्थ बन्धुओं में हुआ। ये सब बातें ऐसी हैं जिनको हर भारतीय आदर और कृतज्ञता के भाव से देखेगा। यही कारण है कि आगे चलकर कांग्रेस ने भी समाज सुधार सम्बन्धी आर्यसमाज की कई बातों को अपने कार्यक्रमों में स्थान दिया। अनेक दक्ष कार्यकर्त्ताओं को भी आर्य समाज ने कांग्रेस को दिया। देश के प्रति यह उसकी उल्लेखनीय सेवा है।

आर्य समाज से मेरा सम्पर्क मेरे बचपन से ही हो गया था। मेरे घर में प्रति दिन हवन एवं संध्या आदि हुआ करते थे। घर के हर छोटे-बड़े व्यक्ति को उसमें भाग लेना पड़ता है। मैं भी उसमें सम्मिलित रहता था। मेरे बड़े भाई डॉ० प्यारे लाल, आर्यसमाज के पदाधिकारी थे, आर्य प्रतिनिधि सभा से भी उनका सम्बन्ध था। मैं जब छठी-सातवीं कक्षा में लखीमपुर के धर्म समाज स्कूल में पढ़ता था तभी से आर्य कुमार सभा की स्थापना में सक्रिय रहा। आर्य समाज के जलसे उन दिनों खूब होते थे। उनमें अनेक व्याख्यान और शास्त्रार्थ आदि होते थे। मुझे उनमें बड़ी रुचि रहती थी। मैं उत्साह से उन आयोजनों में भाग लेता था। आर्यसमाज के जुलूस आदि भी निकलते थे। मैं उनमें महात्माओं आदि की गाड़ी भी खींचता था। आर्य कुमार सभा के साथ ही मैंने तथा मेरे साथ श्री मुनीश्वर दत्त आदि ने मिलकर एक वाचनालय की भी स्थापना लखीमपुर में की थी। धनाभाव के कारण हम लोग उसमें समाचारपत्र आदि लोगों से मांग-मांग कर लाते थे, स्वयं भी पढ़ते थे और लोगों को पढ़ने के लिये आग्रह करते थे। उस वाचनालय में अखबार से मदद देने वालों में बाबू सीतारामजी का नाम मुझे खूब याद है। आर्यसमाज के साप्ताहिक कार्यक्रमों में भी मैं प्रायः भाग लेता रहता था।

मेरी विचारधारा पर आर्यसमाज का असर हुआ। स्वामी दयानन्दजी के 'सत्यार्थ प्रकाश' ने मुझे काफी प्रभावित किया था। अपनी बात पर अड़े रहने की मेरी आदत के निर्माण में हो सकता है, इन बातों का भी हाथ हो।

उन दिनों अंग्रेजी राज का दबदबा अपने चरम उत्कर्ष पर था, अधिकांश पढ़े-लिखे लोग बड़े-बड़े पदाधिकारी बनने की कामना करते थे। मेरे मन में भी यह बात उठा करती थी किन्तु मेरे जीवन की धारा ही बचपन से बदल गई और

मैं ठीक उसकी उल्टी दिशा में चला आया। यदि मैं कहूं कि इसमें आर्य-समाज और लाला हरदयाल एवं विपिनचन्द्र पाल जैसे क्रान्तिकारियों के जीवन चरित तथा उनके विचार आदि क्रमशः सहायक बने तो ठीक ही होगा। बचपन के दिनों में ही मुझे बंकिमबाबू का 'आनन्दमठ' पढ़ने को मिला था। इस पुस्तक ने तो मेरे मन पर जो प्रभाव छोड़ा वह बहुत ही गहरा था। मेरे जीवन की धारा के मोड़ने में इसका भी उल्लेखनीय योगदान है। जिन दिनों मैं लखीमपुर में पढ़ता था उन्हीं दिनों एक बार लखनऊ में अखिल भारतीय आर्यसमाज का अधिवेशन हुआ था। गणेशगंज पार्क में जहां आर्य समाज का जलसा हुआ था, उसी जगह आर्यकुमार सभा और अखिल भारतीय हिन्दी सम्मेलन अधिवेशन भी हुए थे। मैं इन सम्मेलनों की चर्चा 'अवधवासी', एडवोकेट आदि पत्रों में बराबर पढ़ा करता था। फलतः मेरे मन में इन सम्मेलनों को देखने की बलवती इच्छा जगी थी। इसलिये मैं भी लखीमपुर की आर्यकुमार सभा से सम्बन्ध रखने वाले अपने कुछ साथियों के साथ यहां आया था और बड़ी ही उत्सुकता से सारे कार्यक्रमों को देखा भी था। हिन्दी सम्मेलन के इस जलसे में महात्मा गांधी ने भी सम्बोधन किया था।

कुछ दिनों बाद मैं लखनऊ आकर अमीनाबाद में स्थित पारसी शाह की दूकान के बगल में एक मकान में रहने लगा था। यहां पर भी आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता स्वामी अनुभवानन्दजी का आगमन हुआ करता था। लखीमपुर में तो वह मेरे यहां प्रायः आया करते थे।

१९२० के आस-पास मैं जब से कांग्रेस में सक्रिय रूप से भाग लेने लगा तबसे मेरा सम्बन्ध उसकी गतिविधियों से अलग सा हो जाता रहा। १९२३ में लखनऊ में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था। उस समय जो लोग सकरी गलियों में रहा करते थे वे लोग सुरक्षा के विचार से रात में निकल कर एक निर्दिष्ट स्थान पर आकर एकत्र हो जाया करते थे। मैं उस समय अपने घर से आकर छेदीलाल की धर्मशाला में स्थित हिन्दू मंडली में मिल जाता था और जै-जैकार आदि किया करता था। दंगे के इस अवसर पर पं० राजबिहारीजी तिवारी हिन्दुओं के प्रमुख नेता माने जाते थे। वह बड़ी निर्भयता से अपने दायित्व के पालन का प्रयास भी करते थे। तिवारीजी जब तक जीवित रहे नगर की हिन्दू जनता उनका आदर करती रही। आर्यसमाज तथा डी० ए० वी० कालेज के निर्माण में उनका प्रमुख हाथ रहा है।

देश में आर्यसमाज की जो दशा इस समय है वह बहुत अच्छी नहीं है। उसमें सक्रियता आनी चाहिए। मेरा विचार है कि देश में आज भी ऐसे अनेक क्षेत्र पड़े हैं जिनमें आर्यसमाजों के द्वारा बहुत कुछ किया जा सकता है। विशेषतः शिक्षा, चिकित्सा एवं समाज-सुधार के कार्यों में तो आज भी उन्हीं भावनाओं के साथ काम करने की नितान्त आवश्यकता है जिनको लेकर पहले पहल आर्यसमाज का प्रादुर्भाव और प्रसार हुआ था। आर्यसमाज यदि इस दिशा में सक्रिय बने तो यह देश के लिये कल्याण की बात होगी, उसका स्वागत होगा ऐसी मुझे आशा है।

भारतीय मुसलमानों की राष्ट्रीय निष्ठा

घरेलू और बाहरी सुस्थिति से युक्त अभय की अखंडित भावना जैसे व्यक्तिगत कल्याण के लिये परमावश्यक है उससे भी बढ़कर राष्ट्र और समाज की शान्ति और प्रगति के लिये अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में हम व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्तर पर भी सन्तोषजनक स्थिति में नहीं हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी इतने दिनों तक यह अनपेक्ष्य दशा क्यों बनी रह गई? यह एक ऐसा प्रश्न है जो किसी भी विचारक के मन में स्वभावतः उठ सकता है।

कारणों की खोजबीन करें तो पता चलता है कि देश के अधिकांश हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अभीष्ट स्तर के सौहार्द का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण रहा है। राजनैतिक जीवन के लम्बे दौरान में मैंने इस समस्या पर सदा ही सावधानी के साथ विचार किया है। मेरा यह दृढ़ मत रहा है कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद परिस्थितियां हिन्दू मुसलमान दोनों को ही बन्धु-भाव से रहने को बाध्य कर देंगी। संसार के अनेक स्वतंत्र देशों में मुसलमान लोग अन्य धर्मावलम्बियों के साथ जिस प्रकार घुलमिल कर रह रहे हैं, अनुकूल परिस्थिति आने पर यहाँ पर भी वैसे न रहने का कोई कारण नहीं है। यही कारण था कि मैंने अखिल भारतीय कांग्रेस के देश-विभाजन सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध किया था। मेरे जैसे कांग्रेसजनों का यह विचार था कि देश की भूमि के बटवारे का कोई भी अर्थ नहीं है यदि जनसंख्या की पूर्णतः अदला-बदली नहीं हो सकती क्योंकि लड़ाई तो आदमियों में है न कि भूमि के टुकड़ों में। मैं जानता था कि यदि पाकिस्तान बनता है तो दोनों वर्गों के बीच में वर्तमान मनोमालिन्य की खाई को गहरी करते रहने वाला एक स्थायी माध्यम बन जायगा और यह समस्या फिर शायद कभी भी न सुलझ सके। देश-विभाजन सम्बन्धी प्रस्ताव के समर्थकों का विचार था कि बंटवारे के बाद दोनों ही देश अपनी-अपनी धुन में लग जायेंगे, लड़ने-झगड़ने की बातों के लिये अवसर ही कैसे मिलेगा किन्तु उनकी मान्यता कितनी निःसार थी, आज स्पष्ट है। आज हम देख रहे हैं कि अंग्रेजों से भी कई गुना बढ़कर पाकिस्तान सारे संसार के

मुसलमानों के मन में हिन्दुओं के प्रति घोर घृणा का भाव फैला रहा है। उसके रेडियो, प्रकाशन एवं वक्तव्य आदि लाखों रुपये नित्य खर्च करके इस अभियान में जुटे हैं। मैं आज भी अपने इस मत पर स्थिर हूं कि यदि पाकिस्तान न बना होता तो स्थिति निश्चय ही अपेक्षाकृत अच्छी ही होती, यह सोच कर कि अब दोनों को इसी ही धरती पर मरना-जीना है, हिन्दू मुसलमान एक दूसरे को समझने की कोशिश में लगे होते और परस्पर नजदीक होने लगे होते।

पाकिस्तान में भारतीय मुसलमानों की अनेक रिश्तेदारियों और भारी संख्या में आवागमन से भी भारतीय मुसलमानों में अनेक गलत बातों को बढ़ावा मिल रहा है। इन सभी बातों का अनिवार्य और घातक कुफल हमारी भीतरी और बाहरी सुरक्षा तथा शान्ति पर नित्य पड़ रहा है। हिन्दुओं की छुआछूत के भाव पर आधारित सामाजिक मान्यताएं भी बहुत अंशों में दोनों को पास लाने में बाधक रही हैं। मैं मानता हूं कि भेदमूलक इन मान्यताओं का उपयोग किसी समय हिन्दू धर्म के रक्षार्थ रहा होगा, किन्तु अब बदली हुई स्थिति में भी उसे बनाये रखकर सम्भवतः लाभ कम, हानि ही अधिक हुई। मुस्लिम शासन युग में उत्पीड़न की प्रतिक्रिया से पैदा हुई उस धारणा को बनाये रखने की अब कोई आवश्यकता नहीं है।

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों तक हिन्दू-मुस्लिम समस्या कुछ तिरोहित हो चली थी, उसका कारण मैं समझता हूं, बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक था। मुसलमानों के मन में यह भय सा घर कर गया था कि यदि कहीं हिन्दुओं को भड़काने का काम किया गया तो यहां से मुसलमानों का भी सामूहिक देशनिकाला अथवा उत्पीड़न शुरू हो जायगा। लेकिन जैसे-जैसे समय बीता कांग्रेस शासन की धर्मनिरपेक्षता नीति की दृढ़ता के फलस्वरूप हिन्दुओं की ओर से प्रतिशोध का कोई अवसर नहीं आया तो अब देश में यदा-कदा मुसलमानों में धार्मिक असहिष्णुता की बातें फिर उभरती सी दिखाई पड़ रही हैं। यत्र तत्र हिन्दू-मुस्लिम दंगे, अपहरण और बलात्कार, उर्दू आन्दोलन, अलीगढ़ विश्वविद्यालय काण्ड आदि ऐसी ही बातों के लक्षण हैं। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि यदि इस दिशा में प्रगति इसी प्रकार होती गई, दृढ़ता से इसे मिटाया न गया तो राष्ट्र के सामने शीघ्र ही फिर से सामुदायिक समस्या उठ खड़ी हो सकती है और वह स्थिति हमारी धर्मनिरपेक्षता की नीति के लिये भयंकर चुनौती होगी। हो सकता है, हमारी यह नीति सदा के लिये समाप्त हो जाय।

बहुत से विचारकों का ऐसा मत है कि "मुसलमान इस देश के प्रति कभी भी सच्चे अर्थों में वफादार नहीं बन सकते। भारत की अपेक्षा पाकिस्तान को ही वे वरीयता देते हैं और आगे भी देंगे। मुस्लिम समाज की राष्ट्रीय निष्ठा सर्वदा सन्देहजनक और राष्ट्रीय योगक्षेम के लिये व्यापक रूप में भयावह है।" इसके समाधान के रूप में ऐसे विचारकों का जो सुझाव जैसे भी बने खंडित भारत की पूर्णता अथवा जनसंख्या की पूर्ण अदला बदली ही है।

मैं सोचता हूं कि इस प्रकार की धारणाओं का आधार प्रायः प्रतिक्रियात्मक है, सर्वथा स्वाभाविक भी है किन्तु इस हल का एक दूसरा पक्ष भी है। उस पर भी हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। जहां तक मैं सोचता हूं, यह सही है कि मुसलमानों में राष्ट्रीय निष्ठा वाले मुसलमानों का सदा से ही अभाव रहा हो ऐसी बात नहीं है। हां, यह बात हो सकती है कि उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम रही हो। हकीम अजमल खां, डॉ० अन्सारी, मौलाना जफरुलमुल्क साहब, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, रफी अहमद किदवाई आदि ऐसे मुसलमान थे जिनकी राष्ट्रीय निष्ठा पर सन्देह नहीं है। यहां तक कि मैं स्व० मुहम्मद अली जिन्ना की देशभक्ति पर भी सन्देह नहीं करता। अपने राष्ट्रीय जीवन के आरम्भिक दिनों में वह उतने ही देशभक्त थे जितना कोई भी हो सकता है। परन्तु परिस्थितियां भी आदमी के विचारों पर भारी प्रभाव डालती रहती हैं। बल्कि यों कहना अधिक ठीक होगा कि परिस्थितियां ही भावनाओं की जननी हैं। पं० मोतीलाल जैसे कई नेताओं की प्रकृति श्री जिन्ना से नहीं मिली। आपसी स्पर्धा और कशमकश ने ही जिन्ना को प्रतिक्रियावादी बना दिया। उन्होंने अपना रास्ता ही बदल दिया। स्वराज्य के बाद भी मुसलमानों के बारे में कुछ ऐसी बात कही जा सकती है। देशभक्त मुसलमान अभी भी यहां हो सकते हैं। किन्तु यह एक तथ्य है कि मुसलमान हिन्दू की अपेक्षा अधिक धर्मान्ध होता है, उसमें अपेक्षाकृत धार्मिक असहिष्णुता अधिक और उदारता कम होती है। शास्त्र और शरियत की बात चाहे कुछ भी हो, व्यवहार में प्रायः सदा से यही देखा जाता है। इस स्थिति को भी हमें नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए। हिन्दू मुस्लिम समस्या के किसी भी पहलू पर विचार करते समय इस स्पष्ट सत्य को सामने रखे रहने से गलतफहमियां नहीं हो सकतीं। हमें यह मानना चाहिए कि ऐसे कई अवसर गिनाये जा सकते हैं जब हमने इन पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया और बुरा फल सामने आया।

स्वराज्य के पूर्व हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव को बढ़ाते रहना अंग्रेजों की नीति थी, अपनी नीति पर सावधानी से अंग्रेज चलता था। हिन्दू मुसलमान उससे अपना उद्धार नहीं कर पाये। उसका परिणाम जो हुआ उस पर कुछ कहने की आवश्यकता मैं नहीं समझता।

अब प्रश्न यह है कि इसका हल कौन निकाले । क्या ऊपर लिखे गये कुछ विचारकों की नीति काम में लायी जाय अथवा दूसरे किसी उपाय का सहारा लिया जाय । मेरा अपना मत यह है कि अब हमारे लिये "बलपूर्वक देश की अखंडता और जनसंख्या की अदला-बदली" की बात पर विचार करने से लाभ नहीं होगा । बल्कि हिन्दुओं और विशेषकर मुसलमानों को चाहिये कि वे राष्ट्र के प्रति निष्ठावान बनें । ऐसा न करने से हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की हानि अधिक होगी। धार्मिक निष्ठा और धार्मिक असहिष्णुता दो अलग-अलग बातें हैं, परस्पर विरोधी भी हैं । दोनों के भेद को समझकर दोनों को व्यवहार करना चाहिये । भारतीय मुस्लिम नेताओं को जिस प्रकार यह काम करना चाहिये वे वैसा नहीं कर रहे हैं, यह कहने में मुझे संकोच नहीं है । उन्हें अविलम्ब अपने धर्मबन्धुओं को सही स्थिति समझाने का प्रबल आन्दोलन चलाना चाहिए । पाकिस्तानी प्रचार का जवाब देना एकमात्र उन्हीं का पुनीत आवश्यक कर्त्तव्य है क्योंकि दुनियां यह भूली नहीं है कि पाकिस्तान बनाने में सहायक अधिकांश मुसलमान अभी भी भारत में रहते हैं, जिसका उन्हें नैतिक अधिकार नहीं है । भारतीय राष्ट्र की उदार नीति का पोषण यदि उन्होंने समय रहते नहीं किया तो निश्चय ही दूसरों पर इसकी प्रतिक्रिया अनिष्टकर होगी ।

हिन्दुओं के प्रति भी मैं कह सकता हूं कि उनको भी अपनी नीति और संविधान के प्रति निष्ठावान बनना चाहिए । जैसे कि हमने उर्दू को अपने देश की भाषा स्वीकार कर लिया है तो उसे "केवल मुवलमानों की भाषा" न मान कर राष्ट्रीय भाषा ही समझें और उसके बारे में तदनुकूल व्यवहार भी करें । यहां पर हम एक बात की ओर मुसलमानों का ध्यान फिर भी दिलाना चाहते हैं कि वे भी उर्दू को "केवल मुसलमानों की भाषा" न मानें अन्यथा उर्दू को लाभ के बजाय हानि ही अधिक होगी । इसी प्रकार हमारे संविधान में धर्मभेद के आधार पर राष्ट्रीयता के भेद का निषेध स्वीकृत है । हमें इस निश्चय के प्रति भी निष्ठावान बनना चाहिए । निश्चय ही ऐसा करने में अनेक मनोवैज्ञानिक और भौतिक कठिनाइयां हैं । फिर भी उन्हें सहना है । उदारता को हमें छोड़ना नहीं चाहिए । मैं अब भी यह उसी प्रकार मानता हूं जैसा कि पहले कभी मानता था किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उदारता के नाम पर हम कापुरुषता का वरण कर लें । उदारता का अनुचित अर्थ भी कोई न लगा ले, इसका भी हमें ध्यान रखना ही चाहिए ।

गुप्तजी के स्फुट विचार

आम चुनाव विविध राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों को समझने और उनका अध्ययन करने का एक अच्छा अवसर प्रदान करता है, बशर्ते कि सभी दल जनतांत्रिक परम्पराओं और सहज शालीनता का पालन करें।

"...... यह क्षोभ का विषय है, कि शिक्षा की कमी के कारण हमारी धार्मिक परम्पराएं लुप्त होती जा रही हैं। वे परम्पराएं ही हिन्दू संस्कृति को आज तक जीवित रख सकी हैं। संसार में अनेक धर्म आये और चले गए, पर हिन्दू धर्म और संस्कृति आज भी अपने मूलरूप में कायम है। मेरा तो यह विश्वास है कि हिन्दू संस्कृति मानव को मानवता सीखने का अवसर प्रदान करती है।"

.... लोकतंत्रीय व्यवस्था में जातिवाद और जन्म के आधार पर नीच-ऊंच की भावनाओं को स्थान नहीं है। देश में लोकतंत्र की जड़ें मजबूत करने के लिए यह जरूरी है कि समाज में भेदभाव की भावनाओं का अन्त कर दिया जाय।

"उच्च शिक्षा के प्रसार की कोई सीमा न होनी चाहिए और न उसे समाज की बुराइयों के लिये 'बलि का बकरा' बनाया जाना चाहिए।

"मेरी यह धारणा है कि उच्च शिक्षा सभी को सुलभ होनी चाहिए, जो उसके योग्य हैं और जो अपनी शिक्षा पर हुए व्यय को उचित सिद्ध करने के लिये अपने में काफी सुधार करके दिखा सकें।"

शिक्षित समाज के द्वारा ही सुदृढ़ जनतंत्र की नींव पड़ती है और ऐसी परम्पराएं स्थापित होती हैं जिनसे जनतंत्र चलता है। इस कारण भी हमारे बालक-बालिकाओं की उचित शिक्षा आवश्यक है।

दक्षिण की आशंका, भय और अविश्वास को, जिसे कि वे हिन्दी साम्राज्यवाद के नाम से पुकारते हैं, दूर करने का विशेष उत्तरदायित्व उत्तर प्रदेश का है। उत्तर प्रदेश की भाषा राष्ट्रभाषा बनी है। अतः देश की भावात्मक एकता के लिये तामिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम जैसी दक्षिणी भाषाओं में अपनी जनता को सुशिक्षित करने का राज्य सरकार का कर्त्तव्य है।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर देने का यह मतलब नहीं है कि विश्वविद्यालय स्तर पर अनिवार्य रूप से अंग्रेजी के पठन-पाठन को कम महत्त्व दिया जा रहा है। छात्रों को अंग्रेजी का इतना ज्ञान तो होना ही चाहिए कि वे इस भाषा के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त कर सकें और अंग्रेजी के व्याख्यानों को समझ सकें। इससे उन्हें अंग्रेजी की मान्य संदर्भ पुस्तकों से सहायता लेने में सुविधा होगी।

..... रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय संस्कृति की तुलना एक पूर्ण विकसित कमल से की है। उन्होंने कहा है कि इसकी विभिन्न पंखुड़ियों में विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृतियां प्रवाहित होती हैं और इन पंखुड़ियों का समन्वित रूप पूर्ण कमल हमारी अविभाज्य किन्तु अनेक पक्षीय भारतीय संस्कृति का प्रतीक है।

आज सम्पूर्ण भारतीय जनता के भावात्मक ऐक्य को हमारे लिये नितान्त आवश्यकता है, जिससे कि अपनी समस्त विभिन्नताओं के होते हुए भी हम एक सुदृढ़ राष्ट्रीय इकाई के रूप में मूर्त हो सकें।

राष्ट्र की समृद्धि और सम्पन्नता राष्ट्रीय एकता के अभाव में सम्भव नहीं है। उत्तरी सीमा पर संकट उपस्थित है। दूसरी ओर देश के भीतर छिपे हुए शत्रु धर्म, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा और अल्पसंख्या के नाम पर विघटनकारी तत्त्वों को बढ़ावा दे रहे हैं। इन शक्तियों के प्रबल होने पर न केवल राष्ट्र-निर्माण का कार्य रुंध जायगा, वरन् राष्ट्र का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा।

"उद्योगपतियों और श्रमिकों की आचार संहिता को बहुत ही पवित्र स्थान दिया जाना चाहिए और कोई भी ऐसी बात न की जानी चाहिए जिससे अधिकाधिक उत्पादन में कोई बाधा उत्पन्न हो।

"उद्योगपतियों को सभी सम्भव उपायों से श्रमिकों को प्रोत्साहित करना चाहिए, जिससे कि वे पूरी लगन और परिश्रम के साथ काम कर सकें।

"श्रमिक नेताओं का भी यह कर्त्तव्य है कि वे श्रमिकों को हड़तालों तथा उत्पादन में बाधा डालने वाली अन्य कार्रवाइयों से विरत रहने की सलाह दें।"

"हमारे सामने दो रास्ते हैं—एक तो खुदकशी का और दूसरा उज्ज्वल भविष्य का, जो कि आज के तकनीकी युग में सम्भव है। आज दिन जब कि कुछ मुल्क, चन्द्रमा तक पहुंचने के लिये अरबों डालर खर्च कर रहे हैं, यह सम्भव नहीं है, कि हम देश को अर्द्ध-औद्योगिक और तकनीकी युग के पूर्व की स्थिति में रखें। जाहिर है, कि या तो हम अपने सभी साधनों को जुटा लें या प्रगति की दौड़ में पीछे रह जायें।

"यह एक ऐतिहासिक प्रश्न है। लोगों को चाहिए, कि वे उन राजनीतिक दलों के हाथ के खिलौने न बनें, जो देश के दीर्घकालिक हितों का ध्यान न रखते हुए अपनी शक्ति को बनाने और सस्ती लोकप्रियता हासिल करने पर तुले हुए हैं।"

"मैं कह सकता हूं कि विगत वर्षों से हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, ग्रामीण जनता में उसके चिन्ह दिखाई देते हैं। यहां के प्रति व्यक्ति की आमदनी में भले ही और राज्यों की अपेक्षा वृद्धि न हुई हो, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि समानता की भावना से प्रेरित होकर ग्रामीण जीवन में शान्ति हुई है। मैंने स्वयं देखा है कि जहां पहले दिये जलते थे अब लालटेनें जलती हैं। यहां तक, कि अब गांवों में सीने की मशीनें भी देखने को मिलती हैं। गांवों में पहले की अपेक्षा अब कहीं अधिक ईंटों के मकान दिखाई पड़ते हैं।"

"किसी भी राष्ट्र के लिये युद्ध सबसे कठिन परीक्षा होता है। युद्ध के समय ही पता चलता है कि सम्बन्धित राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता और स्वाभिमान की रक्षा के लिए किस सीमा तक बलिदान कर सकता है और बड़ी-से-बड़ी विपत्ति सहते हुए भी एक होकर शत्रु का सामना कर सकता है। जिस राष्ट्र में ये गुण हों, वह यदि दृढ़ निश्चय कर ले तो प्रबल से प्रबल शत्रु को भी परास्त करके स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है।"

समाचार-पत्र वस्तुतः जन-विश्वविद्यालय होता है और यही कारण है, कि इसकी अधिकांश शक्ति पाठकों को मौलिक शिक्षा प्रदान करने में लगनी चाहिए। समाचार-पत्र का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह जनता के सामने ऐसी सूचनाएं एवं समाचार रखे, जिससे वह उचित निर्णय ले सके और जिससे देश में लोकतंत्र सफलतापूर्वक चलाया जा सके।
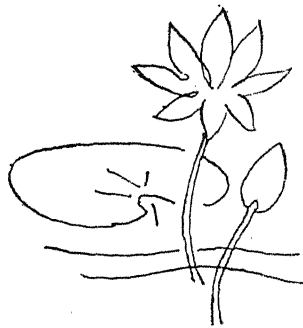
द्वितीय खण्ड

उत्तरप्रदेश की भौगोलिक तथा उसकी शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक एवं सांस्कृतिक अवस्था

उत्तर प्रदेश का भौगोलिक पर्यावरण

डॉ० रामलखन द्विवेदी
भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।

प्राकृतिक शक्तियों एवं मानव जीवन के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन भौगोलिक विषय है। यह बहुत कुछ सच है कि किसी भूखण्ड के भौतिक वातावरण की विषमतायें वहां के निवासियों तथा उनकी कार्य सम्बन्धी विभिन्नताओं को जन्म देती हैं। भौगोलिक पर्यावरण के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं :—स्थिति एवं विस्तार ; भूवैज्ञानिक संरचना एवं खनिज ; स्थलाकृतियां, जलराशियां, जलवायु, मिट्टियां तथा प्राकृतिक वनस्पति। प्रस्तुत लेख में उत्तर प्रदेश के भौगोलिक पर्यावरण पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

स्थिति, सीमा एवं विस्तार—उत्तर में हिमालय का सान्निध्य प्राप्त किये हुए, जनजीवन को प्रभावित करने वाली गंगा को हृदयंगम किये हुए तथा बुन्देलखण्ड को दक्षिणी सीमा बनाये हुए, अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण उत्तर प्रदेश नाम से अभिहित भारत का यह राज्य अतीत काल से संस्कृति एवं सभ्यता का केन्द्र रहा है। देश के उत्तरी राज्यों में मध्यवर्ती स्थिति होने के कारण यह राज्य मध्य अंचल में सम्मिलित है। उत्तर प्रदेश लगभग २४° उ० अक्षांश रेखा से लेकर ३१° उ० अक्षांश रेखा और ७७½° पू० देशान्तर रेखा से लेकर ८४½° पूर्वी देशान्तर रेखा तक फैला हुआ है। उत्तर में चीन तथा नेपाल देशों की सीमाएं इस राज्य की सीमा से मिलती हैं अतः इसकी भौगोलिक स्थिति का सामरिक महत्त्व अत्यधिक है। उत्तर प्रदेश पूर्व में बिहार राज्य, दक्षिण में मध्य प्रदेश और पश्चिम में राजस्थान, दिल्ली, पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश से घिरा हुआ है। उत्तर, पश्चिम एवं पूर्व में इस राज्य की सीमायें प्राकृतिक हैं क्योंकि वे पर्वतश्रेणियों अथवा नदियों द्वारा निर्धारित हैं। इस राज्य का क्षेत्रफल २,९३,७२८ वर्ग किलोमीटर (१,१३,६५४ वर्गमील) है। क्षेत्रफल की दृष्टि से उत्तर प्रदेश का स्थान भारत के समस्त राज्यों में चौथा है। मध्य प्रदेश, राजस्थान एवं महाराष्ट्र क्षेत्रफल में उत्तर प्रदेश से बड़े हैं किन्तु इस राज्य की जनसंख्या (७·३ करोड़, १९६१) भारत के प्रत्येक राज्य की जनसंख्या से अधिक है। आकार में उत्तर प्रदेश फ्रांस का लगभग आधा, ब्रिटेन का सवाया, पुर्तगाल का तिगुना, आयरलैंड का चौगुना, स्विट्जरलैंड का सात गुना तथा बेल्जियम का दस गुना है। ऐसे विशाल राज्य में भौगोलिक पर्यावरण का विषम होना स्वाभाविक ही है।

भूवैज्ञानिक संरचना—भूवैज्ञानिक इतिहास एवं संरचना की दृष्टि से उत्तर प्रदेश को तीन स्पष्ट भागों में विभक्त किया गया है :—(१) दक्षिणी पठारी भाग, (२) मध्यवर्ती मैदानी भाग, (३) उत्तरी पहाड़ी भाग। राज्य के दक्षिणी क्षेत्र तक देश के पठारी भाग का कठोर चट्टानों का सिलसिला चला आया है। मिर्जापुर, इलाहाबाद, बांदा, झांसी आदि दक्षिणी जिलों की शिलायें काफी पुरानी हैं और देश के भौगर्भिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यह पठारी भाग कभी भी समुद्रीय जल से निमग्न नहीं हुआ जबकि हिमालय प्रदेश में बहुत समय तक टेथीज सागर का प्रभुत्व स्थापित रहा। दक्षिणी जिलों में कई बहुमूल्य खनिज मिलते हैं, यथा मिर्जापुर में कोयला, कच्चा लोहा, चूना पत्थर, इमारती पत्थर और अग्नि मिट्टी तथा इलाहाबाद व बांदा जिलों में कांच की बालू। उत्तरी पर्वतीय प्रदेश की शिलायें टेथीज सागर में एकत्रित तलछटों से बनीं। बहुत समय तक उत्तर और दक्षिण से आने वाली नदियां मिट्टी बालू आदि से उस सागर को पूरित करती रहीं। तत्पश्चात् आन्तरिक हलचलों के फलस्वरूप सागर की तली धीरे-धीरे ऊपर उठने लगी। तीन विभिन्न चरणों में सागर में एकत्रित पदार्थों से विशालकाय हिमालय की उत्पत्ति हुई और अनेक भूवैज्ञानिक युगों की समुद्रीय शिलाओं से हिमालय की श्रेणियों का निर्माण हुआ। देहरादून, गढ़वाल, टेहरी गढ़वाल, नैनीताल, अल्मोड़ा, चमोली आदि पहाड़ी जिलों में इन चट्टानों से बहुत से खनिज उपलब्ध हुए हैं, जैसे तांबा, सीसा, चूना पत्थर, जिप्सम, ऐस्बेस्टास, कच्चा लोहा, गन्धक, सेलखड़ी, मैग्नेटाइट आदि। किन्तु यातायात के अभाव के कारण इन खनिजों का पूरी तौर से शोषण नहीं किया जा सका है। नदियों द्वारा लाई मिट्टी से निर्मित मध्यवर्ती मैदान का आर्थिक महत्त्व भूवैज्ञानिक महत्त्व से कहीं अधिक है। फिर भी मैदानी जलौढ़ मिट्टियों में तेल (बिजनौर जिले में) मिलने की सम्भावना है। लखनऊ, रायबरेली, उन्नाव और बाराबंकी जिलों के मैदानी भागों में 'मार्ल' (मृण्मय चूना पत्थर) पाया जाता है जिससे पोर्टलैंड सीमेंट बनायी जा सकती है। हिमालय

के निर्माण काल में उत्तर में पर्वतों एवं दक्षिण में पठार से सीमित एक विशाल खड्ड उद्भूत हुआ। उत्तरी तथा दक्षिणी क्षेत्रों में उद्जनित नदियां इसमें तलछट एकत्रित करने लगीं और कालान्तर में इस प्रकार एक विशाल मैदान का जन्म हुआ। भूवैज्ञानिक दृष्टि से उत्तर प्रदेश का मध्यवर्ती मैदान उत्तरी एवं दक्षिणी दोनों भागों से बाद में बना। इसकी जलोढ़ मिट्टी नवीन एवं पुरातन कांप में विभक्त की गई है, जो कृषि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

स्थलाकृतियाँ—उत्तर प्रदेश का अधिकांश भाग नदियों द्वारा लायी मिट्टी से निर्मित है। अतएव मैदानी भाग अत्यन्त विस्तृत है। किन्तु उत्तरी तथा दक्षिणी भागों में क्रमशः पहाड़ और पठार मिलते हैं। राज्य को चार प्राकृतिक भागों में विभाजित किया जा सकता है :—उत्तरी पहाड़ी प्रदेश, भावर तथा तराई प्रदेश, गंगा का मैदान तथा दक्षिणी पठारी भाग। उत्तर में हिमालय का ऊँचा पहाड़ी भाग है जो राज्य के लगभग १४% भाग को घेरे हुए है। इस प्रदेश में हिमालय की तीनों समानान्तर श्रेणियां स्थित हैं। महान् हिमालय श्रेणी पर स्थित नन्दा देवी, कायत, त्रिशूल, केदारनाथ, बदरीनाथ तथा गंगोत्री चोटियों की ऊंचाई २० हजार फीट से भी अधिक है। अतः यह भाग सदैव हिमाच्छादित रहता है और इसी भाग में स्थित हिमनदों से अलकनन्दा, भागीरथी, यमुना आदि नदियां निकलती हैं। दक्षिणी भाग में मैदान और हिमालय की श्रेणियों के मध्य शिवालिक की पहाड़ियां स्थित हैं जो ३ से ४ हजार फीट ऊंची हैं। इन पहाड़ियों और लघु हिमालय श्रेणियों के बीच पूर्व-पश्चिम विस्तृत कई घाटियां स्थित हैं जिन्हें 'दून' कहते हैं यथा देहरादून, कोठरी दून आदि। लघु हिमालय श्रेणियों की ऊंचाई १५ हजार फीट से अधिक नहीं है। अनेक स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान जैसे मंसूरी, नैनीताल, चकराता, लैंसडाउन, रानीखेत आदि इन्हीं श्रेणियों पर स्थित हैं।

भावर तथा तराई क्षेत्र उत्तरी पहाड़ी प्रदेश एवं गंगा के मैदान के बीच पूर्व पश्चिम विस्तृत एक सकरी पेटी के रूप में फैले हुए हैं। अतः इनमें पहाड़ी तथा मैदानी दोनों प्रदेशों की विशेषतायें मिलती हैं। भावर तथा तराई क्षेत्र सहारनपुर, बिजनौर, बरेली, नैनीताल, पीलीभीत, खीरी, बहराइच, गोंडा, बस्ती तथा गोरखपुर जिलों में स्थित है। भावर क्षेत्र में पहाड़ी भाग समाप्त होता है। पर्वतीय तलहटी में एक सकरी पट्टी के रूप में तराई के उत्तर में स्थित भावर प्रदेश कंकरीली, पथरीली मिट्टी से निर्मित है। यहां नदियों एवं नालों का जल धरातल में विलीन हो जाता है। इस क्षेत्र की ये अदृश्य जलधारायें तराई प्रदेश में धरातल के ऊपर आकर प्रकट होती हैं। भावर और मैदान के मध्य स्थित तराई एक लम्बी तंग पेटी के रूप में लगभग १६ हजार वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में विस्तृत है, जिसकी लम्बाई ६०० किलोमीटर और औसत चौड़ाई २५ किलोमीटर है। तराई एक नम एवं समतल मैदान है परन्तु यत्र तत्र ऊंचे टीले भी पाये जाते हैं। भावर प्रदेश में विलुप्त नदियां तराई के धरातल पर आकर भूमि को दलदल में परिणत कर देती हैं। घने जंगलों एवं लम्बी-लम्बी घासों से अधिकांश भूमि आच्छादित है। जलवायु के गर्म एवं तर होने के परिणामस्वरूप भावर तथा तराई अत्यधिक अस्वास्थ्यकर क्षेत्र हैं। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् प्रदेश सरकार ने इस क्षेत्र के आर्थिक विकास के हेतु श्लाघनीय कार्य किये हैं।

तराई और दक्षिणी पठारी भाग के मध्य स्थित गंगा का मैदान नदियों द्वारा लाई महीन तथा उपजाऊ मिट्टी से निर्मित है। कहीं-कहीं पर इस मिट्टी की गहराई ४,५०० मीटर तक है। मैदानी भाग उत्तर प्रदेश के दो-तिहाई क्षेत्रफल में विस्तृत है। पूर्व में गंडक और पश्चिम में यमुना नदी इसकी सीमा बनाती हैं। यह मैदान गंगा तथा उसकी सहायक नदियों (यमुना, रामगंगा, गोमती, घाघरा आदि) के योगदान का फल है। मैदान प्रायः समतल है और इसका ढाल पूर्व की ओर को है। गंगा के विशाल मैदान के दो उपविभाग किये जा सकते हैं। पूर्वी मैदान पश्चिम में इलाहाबाद और पूर्व में बिहार राज्य की सीमा तक विस्तृत है। पश्चिमी मैदान में गंगा तथा यमुना का दोआब सम्मिलित है। इसकी मिट्टी पुरानी है और ऊसर भूमि का क्षेत्रफल अधिक है। पूर्वी मैदान की अपेक्षा इसका ढाल भी अधिक है जो लगभग १ फीट प्रति मील है। गंगा तथा यमुना के दोआब को तीन भागों में विभक्त किया गया है। ऊपरी दोआब अधिक उपजाऊ है। इसमें सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलन्दशहर जिले सम्मिलित हैं। मध्य दोआब अलीगढ़ से कानपुर तक विस्तृत है जिसके अन्तर्गत आगरा, मथुरा, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, इटावा और फर्रुखाबाद के जिले आते हैं। निचले दोआब में कानपुर, फतेहपुर और इलाहाबाद के जिले सम्मिलित हैं। इसकी मिट्टी अधिक अच्छी नहीं है। बीच-बीच में बलुई मिट्टी पाई जाती है। गंगा नदी के पूर्वोत्तर में रुहेलखंड का त्रिभुजाकार मैदान है जो दोआब से कुछ कम उपजाऊ है। इसमें कहीं-कहीं पर 'भूड़' मिट्टी भी पायी जाती है।

गंगा यमुना के मैदान के दक्षिण में उत्तर प्रदेश का पठारी भाग है जो समुद्रतल से लगभग ३०० मीटर ऊंचा है। यह पठार झांसी, बांदा तथा मिर्जापुर जिलों में लगभग ४५,२०० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को घेरे हुए है। इस पठार का पश्चिमी खण्ड मध्य भारत के पठार का उत्तरी भाग और पूर्वी खण्ड कैमूर की पहाड़ियों का निचला भाग है। इस प्राचीनतम चट्टानी भूभाग को झांसी तथा बांदा में बुन्देलखण्ड और मिर्जापुर में बघेलखण्ड कहते हैं। समस्त पठार का ढाल दक्षिण से उत्तर की ओर सीढ़ीनुमा है। विन्ध्याचल की पहाड़ियां मिर्जापुर जिले में चुनार और विन्ध्याचल के पास गंगा तट के

निकट आ गयी हैं। पठारी भूमि प्रायः कम उपजाऊ और शुष्क है किन्तु कहीं-कहीं पर उर्वरा काली मिट्टी पायी जाती है। चम्बल, बेतवा, केन, टोंस, सोन आदि नदियां इस पठारी भाग को काटती हुई उत्तर-पूर्व की ओर बहती हैं।

नदियाँ—उत्तर प्रदेश को आर्थिक दृष्टि से संवारने और ऐतिहासिक एवं धार्मिक क्षेत्र में अमर कराने में नदियों का अकथनीय महत्त्व रहा है। राज्य की प्रमुख नदियां गंगा, यमुना, रामगंगा, गोमती तथा घाघरा उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को बहती हैं किन्तु दक्षिणी पठार से आने वाली चम्बल, बेतवा, केन, टोंस तथा सोन का बहाव दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व है। इस प्रकार राज्य में नदियों ने एक जाल सा बिछा रखा है। पौड़ी गढ़वाल जिले में देवप्रयाग के समीप अलकनंदा और भागीरथी के मिलने से पतितपावनी गंगा का स्वरूप निर्धारित होता है। भागीरथी का उद्गमस्थान गंगोत्री है और अलकनन्दा विष्णुप्रयाग के पास विष्णु गंगा और धौली गंगा के मिलने से बनती है। उसके पश्चात् अलकनन्दा से नन्दप्रयाग में नन्दाकिनी और रुद्रप्रयाग में मन्दाकिनी मिलती है। हरिद्वार के पास गंगा नदी पहाड़ों से मैदान में उतरती है और यहीं से ऊपरी गंगा नहर निकाली गई है। हरिद्वार में सुन्दर, स्वच्छ घाटों एवं हरीभरी पर्वतश्रेणियों से घिरी हुई गंगा का दृश्य बड़ा ही रमणीय एवं चित्ताकर्षक है। मुजफ्फरनगर का शुकताल, जहां शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को कथा सुनाई थी और मेरठ जिले का गढ़मुक्तेश्वर, जो हस्तिनापुर का एक उपनगर था, इसी प्रसिद्ध नदी गंगा के तट पर स्थित है। बुलन्दशहर में अहार, जहां जन्मेजय ने नागयज्ञ किया था और नरोरा, जहां से गंगा की निचली नहर निकाली गई है, इसी नदी के किनारे स्थित हैं। इसके पश्चात् गंगा बदायूं, एटा व शाहजहांपुर की सीमा बनाती हुई फर्रुखाबाद जिले में प्रवेश करती है। यहीं कन्नौज के पास रामगंगा गंगा में मिलती है। तत्पश्चात् कानपुर और फतेहपुर की उत्तरी सीमा बनाती हुई गंगा नदी इलाहाबाद जिले में प्रवेश करती है। तीर्थराज प्रयाग में गंगा से यमुना मिलती है और ये दोनों अदृश्य सरस्वती के साथ मिल कर भारत-प्रसिद्ध त्रिवेणी संगम बनाती हैं। मिर्जापुर जिले में चुनार के समीप विन्ध्य श्रेणियां गंगा को स्पर्श करती हुई दिखाई देती हैं। इसी से इसका नाम 'चरणाद्रित' या चुनार पड़ा। वाराणसी जिले में असी और वरणा नदियां गंगा से मिलती हैं। वरणा और असी के मध्य में स्थित होने के कारण काशी का दूसरा नाम वाराणसी पड़ा। गाजीपुर जिले में गंगा चौड़ी तथा गहरी हो जाती है। इसी जिले में गोमती गंगा से मिलती है। बलिया जिले में गंगा के किनारे कम ऊंचे हैं अतः बाढ़ की आशंका सदैव बनी रहती है।

यमुना नदी यमुनोत्री हिमागार से निकलती है। ९५ मील लम्बी पहाड़ी यात्रा के बाद शिवालिक को पार कर सहारनपुर जिले में फैजाबाद के समीप मैदान में प्रवेश करती है। यहीं पर यमुना नदी से पूर्वी यमुना और पश्चिमी यमुना नहरें निकाली गई हैं। यमुना नदी पंजाब और उत्तर प्रदेश के बीच की सीमा बनाती है। तत्पश्चात् यह नदी मथुरा, आगरा और इटावा जिलों से होकर बहती है। इटावा से २५ मील पूर्व चम्बल नदी आकर इससे मिलती है। हमीरपुर के पास यमुना और बेतवा का संगम है। उसके बाद बांदा जिले में केन नदी यमुना से मिलती है। अपनी ८६० मील लम्बी यात्रा को समाप्त कर यह नदी इलाहाबाद में गंगा से मिल जाती है। इसी नदी के तट पर भारत की राजधानी दिल्ली और उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध नगर श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मथुरा, आगरा, इटावा, कालपी तथा इलाहाबाद स्थित हैं।

रामगंगा पौड़ी गढ़वाल जिले में पहाड़ों से निकलती है और प्रथम १०० मील की यात्रा के पश्चात् यह बिजनौर जिले में मैदान में प्रवेश करती है। अपनी ३७३ मील की यात्रा पूरी करके फर्रुखाबाद जिले में कन्नौज के पास गंगा नदी में मिल जाती है। वर्षाऋतु में यह भयंकर रूप धारण कर लेती है और बहुधा अपना मार्ग बदलती रहती है। मुरादाबाद इसी नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। गोमती नदी पीलीभीत से २० मील पूर्व स्थित एक स्थान से निकलती है। उद्गम से ३५ मील दूर तक यह बहुत ही छोटी नदी है और प्रायः गर्मी में सूख जाती है। किन्तु सहायक नदियों के मिलने से आगे चल कर सदैव जल से भरी रहती है। इसी नदी पर लखनऊ और जौनपुर स्थित हैं। इनके बीच यह बड़े ही टेढ़े-मेढ़े मार्ग से होकर बहती है। फलस्वरूप लखनऊ और जौनपुर की सीधी दूरी से नदी की लम्बाई लगभग दुगुनी है। जौनपुर से आगे चलकर इसमें सई नदी मिलती है। इसके बाद वाराणसी जिले से होकर ५०० मील बहने के उपरान्त गाजीपुर जिले में सैदपुर के पास गंगा से मिल जाती है। घाघरा तिब्बत के पठार से निकल कर नैपाल में कर्नाली के नाम से बहती है। उत्तर प्रदेश में प्रवेश करने पर यह नदी खीरी और बहराइच जिलों की सीमा बनाती है। शारदा और सरयू इसकी प्रधान सहायक नदियां हैं। बहराम घाट के पास शारदा (चौका के नाम से) इससे मिलती है। इसी नदी पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम की पुण्य जन्मभूमि अयोध्या स्थित है। बरहज के समीप राप्ती नदी इससे मिलती है। इसके बाद घाघरा उत्तर प्रदेश से बिहार राज्य में प्रवेश करती है और छपरा के पास गंगा से मिल जाती है। यह एक बड़ी नदी है। वर्षा ऋतु में जलाधिक्य के कारण कहीं-कहीं गंगा से भी अधिक बड़ी प्रतीत होती है। परिवहन की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण नदी है। इसमें बड़ी-बड़ी नावें और स्टीमर चलते हैं। गण्डक नदी नैपाल राज्य में हिमालय की पर्वतश्रेणियों से निकलती है और उत्तर प्रदेश तथा बिहार राज्यों की सीमा बनाती है।

दक्षिणी पठार से निकलने वाली नदियों में चम्बल, बेतवा, केन, टोंस तथा सोन प्रमुख हैं। इनमें से पहली तीन यमुना नदी और अन्तिम दो गंगा नदी की सहायक हैं। चम्बल (चर्मणावती) मध्य प्रदेश के इन्दौर जिले में विन्ध्य पर्वत-श्रेणियों से निकलती है और उज्जैन, रतलाम तथा मन्दसौर जिलों में बहने के उपरान्त राजस्थान के कोटा जिले में प्रवेश करती हैं। इसके बाद राजस्थान और मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सीमायें बनाती हुई इटावा जिले में प्रविष्ट होती है और इटावा नगर से २५ मील दक्षिणपूर्व यमुना नदी में मिल जाती है। चम्बल नदी अपने आस-पास के बीहड़ क्षेत्र के लिए प्रसिद्ध है जहां पर भूक्षरण बड़ी तेजी से हो रहा है। यद्यपि इसकी लम्बाई ६५० मील है किन्तु उत्तर प्रदेश में यह केवल थोड़ी ही दूर बहती है। बेतवा (वेत्रवती) मध्य प्रदेश के रायसेन जिले से निकल कर विदिशा जिले से बहती हुई उत्तर प्रदेश के झांसी जिले में प्रवेश करती है। उसके उपरान्त जालौन तथा हमीरपुर जिलों की सीमा बनाती है। उत्तर प्रदेश में १९० मील बहने के पश्चात् हमीरपुर नगर के पास यमुना नदी में मिल जाती है। बेतवा नदी का समस्त मार्ग प्रायः पहाड़ी है। झांसी के निकट परीछ्रा के पास इस पर बांध बना कर बेतवा नहर निकाली गई है जिसके द्वारा झांसी, जालौन, तथा हमीरपुर जिलों में सिंचाई होती है। केन (कर्णावती) मध्य प्रदेश के सागर जिले की विन्ध्य श्रेणियों से निकलती है। दमोह जिले में बहने के बाद पन्ना तथा छतरपुर जिलों की सीमा बनाती है। तत्पश्चात् उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में प्रवेश करती है और यमुना नदी में मिल जाती है। पन्ना के निकट केन नदी से भी नहर निकाली गई है जिससे छतरपुर तथा बांदा जिलों में सिंचाई होती है। टोंस, जिसका प्राचीन नाम तमसा है, सतना जिले में कैमूर की पहाड़ियों से निकल कर रीवा जिले से बहती हुई उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में प्रवेश करती है और इस राज्य में ४४ मील बहने के बाद सिरसा के पास गंगा नदी में मिल जाती है। इसी नदी पर रीवा जिले में २०० फीट ऊंचा प्रसिद्ध 'चचाई' प्रपात स्थित है। सोन नदी का उद्गम स्थान बिलासपुर जिले में अमर कंटक है। शहडोल तथा सीधी जिलों से बहती हुई उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में एक चौड़ी एवं गहरी घाटी बनाती हुई वह पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है। इसी की एक सहायक नदी रेंड (रेणुका) पर रिहंड बांध बनाया गया है। अन्त में सोन नदी बिहार के शाहाबाद तथा पालामऊ और गया तथा पटना जिलों की सीमा बनाती है और पटना से कुछ पश्चिम में गंगा से मिल जाती है।

इन सभी नदियों का उत्तर प्रदेश की कृषि में महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि ये अपने साथ लायी हुई उपजाऊ मिट्टी से मैदानी भागों की उर्वरा शक्ति बढ़ाती हैं और सिंचाई के लिए आवश्यक जल प्रदान करती हैं। इस प्रकार वे राज्य की सुख-समृद्धि में हाथ बटाती हैं।

जलवायु—जलवायु भौगोलिक पर्यावरण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। असमान धरातल, विशाल आकार तथा समुद्र से दूर स्थिति के कारण उत्तर प्रदेश की जलवायु सर्वत्र एक सी नहीं है। फलतः पहाड़ी मैदानी तथा पठारी प्रदेशों की जलवायु एक दूसरे से भिन्न है। यहां तक कि मैदान के पश्चिमी एवं पूर्वी भागों की वर्षा एवं तापमान में काफी अन्तर पाया जाता है। सन् १९६१ के आंकड़ों के अनुसार वाराणसी जिले का औसत वार्षिक तापमान २५·७ से०, मेरठ का २४·७ से०, नैनीताल का १४·३ से० और झांसी का २६·१ से० था।

उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में ऊँचाई के बढ़ने के साथ-साथ, जलवायु परिवर्तित होती जाती है। मैदान की अपेक्षा यहां तापमान कम रहता है और वर्षा अधिक होती है। ग्रीष्म ऋतु में दक्षिणी भागों के तापमान का मध्यमान लगभग १५° से० ग्रे० रहता है। अतएव गर्मी में मंसूरी, नैनीताल, रानीखेत आदि पहाड़ी स्थान ठंडे और सुहावने रहते हैं। सर्दी की ऋतु में तापमान बहुधा हिमांक से नीचे हो जाने पर हिमपात होता है। कभी-कभी ५,००० फीट की ऊंचाई तक बर्फ पड़ती है। उत्तर में ऊंचाई अधिक होने के कारण गर्मी में भी तापमान कम रहता है। पर्वतीय शिखर तो वर्ष भर हिमाच्छादित रहते हैं। भावर तथा तराई की जलवायु शीतकाल के दो तीन महीनों को छोड़कर वर्ष भर उष्णार्द्र रहती है। अत्यधिक नमी के कारण गर्मी असह्य हो जाती है। वर्षा की मात्रा १२५ और १५० से० मी० के बीच में रहती है। गंगा के मैदान की जलवायु सम है। गर्मी में तेज गर्म हवायें (लू) चलती हैं जो राजस्थान और पंजाब की अपेक्षा कम भयंकर होती हैं। मैदान का पश्चिमी भाग पूर्वी भाग की तुलना में कम गर्म रहता है। अप्रैल माह से दिन गर्म और रातें अपेक्षाकृत ठंडी रहती हैं। मई व जून में तो रात व दिन गर्म रहते हैं। तापमान ४२° से ४५° से० ग्रे० तक हो जाता है। ग्रीष्म के अन्त में धूल भरी आंधियां चलती हैं जो वर्षा के आगमन की परिचायक होती हैं। आकाश में बादल दिखलाई पड़ने लगते हैं और तापमान गिरने लगता है। वर्षा ऋतु में आर्द्रता बढ़ जाने से गर्मी असह्य हो जाती है। मैदान में वर्षा की मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है। पूर्वी भाग में १०० से० मी० अधिक वर्षा होती है और पश्चिमी भागों में लगभग ८० से० मी० जैसा कि निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

उत्तर प्रदेश में वर्षा का वितरण

क्षेत्र	वार्षिक औसत	ग्रीष्म मानसून अवधि का औसत
हिमालय प्रदेश	१७० सें० मी०	१२७ सें० मी०
पूर्वी मैदानी प्रदेश	११० ,, ,,	८२ ,, ,,
मध्य मैदानी प्रदेश	९२ ,, ,,	७२ ,, ,,
पश्चिमी मैदानी प्रदेश	८२ ,, ,,	६३ ,, ,,
दक्षिणी पठारी भाग	९० ,, ,,	७२ ,, ,,

प्रायः समस्त वर्षा बंगाल की खाड़ी से आने वाली मानसूनी हवाओं से प्राप्त होती है। शीत ऋतु में तापमान का औसत १६° सें० ग्रे० रहता है। मैदान का पश्चिमी भाग पूर्वी भाग से अधिक ठण्डा रहता है। इन दिनों उत्तर-पश्चिम से आने वाली चक्रवातीय हवाओं से कभी-कभी थोड़ी वर्षा हो जाती है जो रबी की फसल के लिये बड़ी ही लाभदायक सिद्ध होती है। जाड़ों में प्रायः सारा प्रदेश शीत लहर से प्रभावित होता है। सन् १९६१ के दिसम्बर की शीत लहरी के कारण कानपुर, बांदा, इलाहाबाद आदि स्थानों के भी तापमान हिमांक तक पहुंच गये थे। दक्षिण का पठारी भाग मैदानी भाग से ऊंचा है अतः अपेक्षाकृत शीतल एवं शुष्क है। यहां वर्षा १०० सें० मी० से कम होती है।

मिट्टियाँ—उत्तर प्रदेश एक कृषि-प्रधान राज्य है अतः प्रदेश के प्राकृतिक साधनों में मिट्टी का स्थान सर्वोत्कृष्ट है और इसलिए मनुष्य के भौगोलिक वातावरण में उसका विशेष महत्त्व है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, उत्तर प्रदेश का अधिकांश भाग नदियों द्वारा लाई उर्वरा कांप मिट्टी से बना है। फिर भी अन्यान्य प्रकार की मिट्टियां जैसे पर्वतीय मिट्टी, लाल मिट्टी, काली मिट्टी आदि प्रदेश के कुछ भागों में पायी जाती है। नदियों द्वारा लाकर जमा की गई कांप मिट्टियां प्रदेश के दो-तिहाई भाग में गायी जाती हैं। अधिकांश मिट्टियां बालू और चीका के सम्मिश्रण से बनी हैं अतः उन्हें दोमट कहते हैं, यथा बलुई दोमट, मटियार दोमट आदि। देश एवं काल की विभिन्नता के आधार पर इन मिट्टियों के दो भाग किये गये हैं। बांगर अथवा उपरहार मिट्टियां नदियों द्वारा जमा की हुई प्राचीन मिट्टियां हैं और नदियों से दूर उच्च स्थलों पर पायी जाती हैं जहां बाढ़ का पानी नहीं पहुंच पाता। चूँकि ये मिट्टियां बाढ़ क्षेत्र के बाहर मिलती हैं अतएव उर्वरा शक्ति में प्रतिवर्ष वृद्धि नहीं होती। उर्वरा शक्ति कम हो जाने के कारण खाद देने की आवश्यकता पड़ती है। आवरणक्षय ग्रस्त होने के परिणामस्वरूप इस मिट्टी की ऊपरी तह बह जाती है और धरातल के अन्दर के कंकड़ ऊपर आ जाते हैं। ऐसे स्थानों पर रेह अधिक मिलती है जो कृषि के लिये सर्वथा अनुपयुक्त होती है। उत्तर प्रदेश में ऊसर भूमि का क्षेत्रफल लगभग २० लाख हेक्टेयर है। इसे कृषि-योग्य बनाना एक बड़ी समस्या है। फिर भी प्रदेश सरकार इस दिशा में अथक प्रयत्न कर रही है। अधिक बड़े और खुरदरे कणों वाली मिट्टियों को 'भूड़' कहते हैं। खादर अथवा कछारी मिट्टियां नदियों के समीप बाढ़ क्षेत्र के भीतर पायी जाती हैं, अतः प्रतिवर्ष बाढ़ के पानी से डूब जाती हैं और नई कांप एकत्रित होती रहती है। इसलिए इनकी उर्वरा शक्ति कम नहीं होने पाती। बांगर मिट्टी की अपेक्षा इसके कण महीन होते हैं, अधिक उपजाऊ होती है और जलधारण-शक्ति अधिक होती है। इस प्रकार की मिट्टी वाले क्षेत्रों में सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती। इन मिट्टियों में पोटाश, फासफोरिक ऐसिड, चूना एवं जीवांशों की मात्रा अधिक होतो है। अतः संसार की प्रमुख मिट्टियों में इनका स्थान है।

पर्वतीय मिट्टियों का पर्याप्त वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हुआ है फिर भी उत्तर प्रदेश की इन मिट्टियों के बारे में समुचित ज्ञान संचित किया जा चुका है। हिमालय प्रदेश के तीन भागों (भावर, तराई और मैदान) में चार प्रकार की मिट्टियां पायी जाती हैं—लाल दोमट, भूरी जंगली मिट्टियां, पाडजाल तथा चरागाही मिट्टियां। पाडजाल राख के रंग की होती है और उसमें जीवांश प्रतिशत अधिक होता है। पर्वतीय मिट्टियों में सामान्यतः सभी पोषक तत्त्वों, विशेषतया नाइट्रोजन एवं फासफोरस की कमी होती है अतः वे प्रायः अनुपजाऊ हैं। किन्तु उनमें पोटेशियम प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इस कारण से इन मिट्टियों में नाइट्रोजनयुक्त अथवा फासफोरस युक्त कृत्रिम उर्वरक डालने की आवश्यकता पड़ती है। पहाड़ी क्षेत्रों में वर्षा की अधिकता के कारण कैल्सियम तथा मैग्नेशियम का विनाश विशेष रूप से होता है अतएव सभी पर्वतीय क्षेत्रों में अम्लीय मिट्टियां पायी जाती हैं। ये मिट्टियां विभिन्न जलवायु वाले प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रंग की होती हैं। उदाहरण के लिए हिमालय प्रदेश की अम्लीय मिट्टियां भूरे या मटमैले रंग की हैं, जबकि दक्षिणी भारत के पहाड़ी क्षेत्रों की मिट्टियां गहरे लाल तथा पीले रंग की। इसके अतिरिक्त जंगलों की अधिकता के कारण पहाड़ी मिट्टियों में वानस्पतिक अवशेष (जीवांश या ह्यमस) अधिक पाया जाता है जो वृक्षों से गिरी पत्तियों तथा भूमि पर घासों के उगने के कारण उत्पन्न होता है। इस प्रकार की अम्लीय मिट्टियों में जंगली वृक्षों के अतिरिक्त किसी भी कृषि-फसल का उगाना कठिन है अतः इनमें चूना डालना

पड़ता है। ऐसा करने से न केवल मिट्टी की अम्लता नष्ट होती है वरन् उसमें जल सोखने की शक्ति बढ़ती है और अन्य पोषक तत्त्व भी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार वे फसल उगाने योग्य हो जाती हैं। किन्तु आलू और चाय जैसी फसलों के लिये मिट्टी की अम्लता हानिकारक नहीं। इसी कारण से उत्तर प्रदेश के उत्तरी पहाड़ी भागों में आलू और चाय की खेती की जाती है।

हिमालय की तलहटी में भावर क्षेत्र की मिट्टियां कंकरीली-पथरीली तथा मोटे कण वाली होती हैं। भूमि पोली होने के कारण वर्षा का जल धरातल के नीचे चला जाता है अतः मिट्टी में नमी काफी रहती है। तराई क्षेत्र में जलाधिक्य के कारण दलदल मिलते हैं और घने जंगल भी। इसकी मिट्टियों में नमी और चिकनी मिट्टी का अंश अधिक होता है। इन्हें 'मार' कहते हैं। नदियों के किनारे उपजाऊ जलौढ़ मिट्टियां मिलती हैं जिन्हें खादर कहते हैं। ऊंचे भागों में बांगर मिट्टियां पाई जाती हैं जो भूड़, मटियार खपट या दोमट कहलाती हैं।

दक्षिणी पठारी भाग में कई प्रकार की मिट्टियां पाई जाती हैं। मिर्जापुर जिले में आवरणक्षय द्वारा कटे-फटे क्षेत्रों में लाल मिट्टी पाई जाती है। बलुआ पत्थर के अपरदन से निर्मित यह लाल मिट्टी कम गहरी और मोटे कण वाली होती है अतः कम उपजाऊ है। जहां सिंचाई और खाद की सुविधा है, खेती की जाती है। झांसी और बांदा जिलों में समतल भूमि की मिट्टी कुछ काली है जिसे 'माल' कहते हैं। वर्षाकाल में गीली हो जाने पर इसे जोतना कठिन हो जाता है। किन्तु इसके अन्दर नमी अधिक समय तक बनी रहती है। यह मिट्टी काफी उपजाऊ है। झांसी और जालौन जिलों में काली मिट्टी के क्षेत्रों में कपास की खेती होती है।

प्राकृतिक वनस्पति—किसी भी भूभाग की प्राकृतिक वनस्पति वहां के भौगोलिक पर्यावरण का एक प्रमुख अंग होती है। आधुनिक सभ्यता में वनों के महत्त्व से सभी परिचित हैं। उत्तर प्रदेश के उत्तरी पहाड़ी तथा दक्षिणी पठारी भागों में ही प्राकृतिक वनस्पति के वनों के रूप में दर्शन होते हैं। ये वन राज्य के लगभग ३५ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को ढके हुए हैं जो कुल क्षेत्रफल का लगभग ११ प्रतिशत है। भारत के अन्य राज्यों की अपेक्षा यह प्रतिशत कम है। असम की ४२ प्रतिशत, मध्य प्रदेश की ३१ प्रतिशत, उड़ीसा की २६ प्रतिशत, जम्मू व काश्मीर की २२ प्रतिशत तथा बिहार राज्य की लगभग २० प्रतिशत भूमि वनों से आच्छादित है। इन वनों का अधिकांश भाग सुरक्षित है। सन् १९६०-६१ में उत्तर प्रदेश में सुरक्षित वनों का क्षेत्रफल लगभग २४,२०० वर्ग किलोमीटर, संरक्षित वनों का १,८६० वर्ग किलोमीटर तथा अवर्गीकृत वनों का क्षेत्रफल ८,६४० वर्ग किलोमीटर था। धरातल तथा जलवायु की विभिन्नताओं के कारण उत्तरी और दक्षिणी भागों के वनों में काफी अन्तर है। उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र के वनों में वृक्ष अधिक ऊंचे और हरे-भरे हैं। इसके विपरीत पठारी भाग में पाये जाने वाले वृक्ष छोटे तथा कम हरे भरे होते हैं। उत्तरी पर्वतीय प्रदेश तथा भावर और तराई के वन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पर्वतीय ऊंचे ढालों पर नुकीली पत्ती वाले समशीतोष्ण कटिबन्धीय वन पाये जाते हैं। ये वन केवल १३ हजार फीट की ऊंचाई तक मिलते हैं। यातायात की कठिनाइयों के कारण इनका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। इन वनों में मुलायम लकड़ी के वृक्ष (फर और स्प्रूस) मिलते हैं जिनका आर्थिक महत्त्व बहुत अधिक है। उत्तरी-पश्चिमी भाग में कम वर्षा होने के कारण पतझड़ीय वन पाये जाते हैं जिनमें साल का पेड़ प्रमुख है। चीड़ प्रायः ६ हजार फ़ीट की ऊंचाई तक मिलते हैं। इसके वन लघु हिमालय प्रदेश में अधिक हैं। उत्तर प्रदेश के पर्वतीय वनों में चीड़ और देवदार की प्रधानता है। देवदार का वृक्ष ६ से ८ हजार फीट की ऊंचाई पर मिलता है। तराई के वनों में भी अत्यधिक उपयोगी वृक्ष मिलते हैं जिनकी लकड़ी फर्नीचर, रेलवे स्लीपर इत्यादि बनाने में प्रयुक्त होती है। मिर्जापुर, बांदा, झांसी आदि जिलों के पठारी भागों में वर्षा की कमी तथा भूमि पथरीली होने के कारण छोटे तथा कांटेदार वृक्ष एवं झाड़ियां उगती हैं। इन वनों से मुख्यतया ईंधन काष्ठ प्राप्त होता है। इनमें ढाक, टेसू, तेंदू, कैथा, बबूल आदि वृक्षों की प्रधानता है। मैदानी क्षेत्रों में पर्वतीय तथा पठारी भागों की तरह प्रायः प्राकृतिक वन नहीं पाये जाते किन्तु कुछ नदियों के समीपवर्ती भागों में जंगल मिलते हैं। मैदानी भागों में बहुत से उपयोगी वृक्ष उगते हैं, जैसे आम, महुआ, शीशम, साखू, नीम, पीपल, बरगद, जामुन, आंवला, बेल, इमली इत्यादि।

वन हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है। वनों से हमें प्रकाष्ठ (इमारती लकड़ी तथा ईंधन काष्ठ) और विविध प्रकार के उपयोगी गौण पदार्थ (काष्ठेतर वनोपज) प्राप्त होते हैं, जैसे कत्था, लाख, रेजिन (लीसा), मोम, चमड़ा कमाने के पदार्थ (बबूल की छाल) घास, बेंत, बांस, बीड़ी के पत्ते, शहद, औषधि पौधे (जड़ी-बूटियां) आदि। देहरादून स्थित गौण वनोपज शाखा के संग्रहालय में मनुष्य के काम में आने वाली नाना प्रकार की वस्तुओं को देखकर वनों के आर्थिक महत्त्व का सही-सही मूल्यांकन किया जा सकता है। सन् १९६०-६१ में प्रदेश के वनों से १४७·७ लाख घनफुट औद्योगिक प्रकाष्ठ की उपलब्धि हुई थी। इन्हीं वनों से ३१,१३२ मन कत्था, १,१२० मन लाख, २,२२० मन गोंद, ३,७७,५२४ मन कच्ची राल, १,७३,६७० मन

तेंदू के पत्ते, ४,०७,००० मन कागज बनाने की घासें, ३,३४० मन बेंत, ३८२ मन शहद तथा १३,००० रु० के मूल्य की विभिन्न जड़ी बूटियां प्राप्त हुई थीं।

इसमें सन्देह नहीं कि जंगलों के अत्यधिक विनाश से कई आर्थिक संकट राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित हो गये हैं। वनों के अदूरदर्शितापूर्ण विनाश से उत्पन्न भूक्षरण की विकट समस्या प्रदेश सरकार के सामने है। जलवायु विज्ञान-विशेषज्ञों के मतानुसार वनों के कट जाने से वर्षा में कमी आ जाती है। यह सही है कि उत्तर प्रदेश का दक्षिणी-पश्चिमी भाग (आगरा व मथुरा) उत्तरोत्तर शुष्क होता जा रहा है और राज्य के कई भागों में भू-क्षरण बड़ी तेजी से हो रहा है। अतः राज्य-सरकार एक बड़े क्षेत्र में वृक्षारोपण की विस्तृत योजना को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील है और ऐसी कई छोटी-मोटी योजनाओं को कार्यान्वित भी किया गया है। सन् १९५८-५९ में लगभग ८ हजार हेक्टेयर क्षेत्र में वन लगाये गये जिनमें फलों, इमारती और जलाने की लकड़ी के लिए वृक्ष रोपित किये गये। सरकार की वन-महोत्सव-योजना इस दिशा में एक श्लाघनीय प्रयास है।

उत्तर प्रदेश की जलवायु

डॉ० मुहम्मद अनस एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, भूगोल विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

उत्तर प्रदेश का जलवायु विशेषज्ञों के लिये ही नहीं साधारण व्यक्ति के लिये भी रोचक अध्ययन प्रस्तुत करता है। न तो यहां पंजाब जैसी कठोर गर्मी व जाड़ा पड़ता है और न यहां बिहार जैसी नमी भरी गर्मी ही पड़ती है। वास्तव में यहां दोनों प्रदेशों के जलवायु के बीच की स्थिति पाई जाती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश का जलवायु बिहार से समता रखता है और पश्चिमी भाग का पंजाब से। उत्तर के पर्वतीय जिलों (उत्तर काशी, चमोली, पिथोरा गढ़, अल्मोड़ा और नैनीताल) में शीत प्रधान पर्वतीय जलवायु पाया जाता है। इस प्रकार जलवायु की विविधता का परिणाम कृषि उत्पादन पर भी पड़ता है। उत्तर प्रदेश में शीतोष्ण कटिबन्धीय फल व फसलें पर्वतीय क्षेत्रों में उत्पन्न किये जाते हैं और मैदानी क्षेत्रों में उष्ण कटिबन्धीय फसलें उत्पन्न की जाती है। यहां गेहूं, धान, गन्ना, कपास, तिलहन आदि की अच्छी पैदावार होती है। वर्षा एक मिला-जुला वरदान है। जब वर्षा उपयुक्त समय पर और उचित मात्रा में होती है तब अच्छी पैदावार होती है। परन्तु इसके विपरीत होने पर यह अभिशाप बन जाती है। अति वृष्टि होने पर भयंकर बाढ़ें आती हैं और खरीफ की फसल को अपार क्षति पहुंचती है। जन-धन को भी बहुत हानि होती है। अनावृष्टि से अकाल पड़ जाता है। जलवायु के विशद अध्ययन की दृष्टि से वर्ष को तीन ऋतुओं में विभाजित किया जा सकता है :—

१. शीत ऋतु—१५ अक्तूबर से फरवरी तक
२. ग्रीष्म ऋतु—मार्च से १५ जून तक
३. वर्षा ऋतु—१५ जून से १५ अक्तूबर तक

शीत ऋतु—यह ऋतु १५ अक्तूबर से प्रारम्भ होकर फरवरी के अन्त तक रहती है। दक्षिणी-पश्चिमी मौनसूनी हवायें समाप्त हो जाती हैं। रात्रि लम्बी होती जाती है और शीत का प्रकोप बढ़ता जाता है। पश्चिम की हवाओं का चलना प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भ में ये हलकी होती हैं पर धीरे-धीरे शक्तिशाली और स्थाई हो जाती हैं। तापक्रम कम होता जाता है और जनवरी मास में न्यूनतम तापक्रम रहता है। दिसम्बर के मध्य तक आकाश मेघहीन रहता है परन्तु इसके बाद हल्के परतीले मेघ आकाश में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। दिसम्बर और जनवरी के मेघ व वर्षा पश्चिमी हवाओं के चक्रवातों से सम्बन्धित हैं। इन चक्रवातों से मैदान में करीब ४५ मिलीमीटर और पर्वतीय क्षेत्र में १७५ मि० मि० तक वर्षा हो जाती है। पर्वतीय क्षेत्रों में वर्षा बहुधा हिमपात के रूप में होती है। वर्षा के बाद तापक्रम फिर कम हो जाता है और अत्यधिक ठंडी हवायें चलने लगती हैं। कभी-कभी ऐसे अवसरों पर शीत लहर आ जाती है जिसका प्रभाव मुख्य रूप से पंजाब, उत्तरी राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अधिक रहता है। पाला पड़ जाता है जिससे अनेक फसलों को भारी क्षति पहुंचती है। जनवरी १९६४ में इसी प्रकार की लहर से मनुष्यों व पशुओं दोनों के जीवन की अपार हानि हुई थी। कभी-कभी अधिक कुहरा पड़ता है और ६-७ दिन तक उसका प्रभाव रहता है।

यदि शीतल हवा का या मेघों का प्रकोप न हो तो दिन में अधिक ठंड नहीं होती है परन्तु रात्रि में अत्यधिक शीत पड़ता है। कभी कभी जनवरी में पाला भी पड़ जाता है। वर्ष में सबसे अधिक ठंडा मास जनवरी का होता है जब औसत तापक्रम ४९° फ० (न्यूनतम) और ७१° फ० (अधिकतम) रहता है। इस ऋतु में मौसम सुहावना व स्वास्थ्यप्रद रहता है। आकाश अधिकतर निर्मल रहता है। मेघ का अंश $\frac{२}{१०}$ से अधिक कहीं नहीं रहता। फरवरी मास में दिन लम्बा होने लगता है और उष्णता बढ़ना प्रारम्भ हो जाती है और औसत तापक्रम ५०° फ० (न्यूनतम) तथा ७७° फ० अधिकतम तक पहुंच जाता है। एक दो चक्रवात आ जाते हैं पर उनका प्रभाव अधिक दिनों तक नहीं रहता।

हवायें इस ऋतु में अधिकतर उत्तर-पश्चिम व पश्चिम से चलती हैं और चक्रवातीय वर्षा का काल छोड़ कर शुष्क रहती हैं।

ग्रीष्म ऋतु—मार्च से तापक्रम तेजी से बढ़ने लगता है और औसत तापक्रम ६०° फ० (न्यूनतम) और ८०° फ० अधिकतम तक पहुंच जाता है। अप्रैल और मई में तापक्रम बढ़ता रहता है और अधिकतम १००° फ० और १०६° फ० के मध्य रहने लगता है। कभी-कभी यह ११५° फ० के ऊपर तक पहुंच जाता है। पश्चिम से तेज और गर्म हवायें, जिन्हें 'लू' कहते हैं, चलने लगती हैं। 'लू' का प्रकोप जून के प्रारम्भ तक रहता है। ये हवायें दैनिक हैं। इनका चलना दोपहर से दो-तीन घंटे पूर्व प्रारम्भ होता है और ये सूर्यास्त होने तक चलती रहती हैं। ये अत्यधिक गर्म और शुष्क होती हैं। मई के अन्त में और जून के प्रारम्भ में अत्यधिक गर्मी पड़ती है। धूप और 'लू' लगने की बहुत-सी घटनायें होती हैं और गम्भीर अवस्थाओं में मृत्यु तक हो जाती है। दिन में अत्यधिक गर्मी पड़ती है परन्तु रातें अपेक्षाकृत ठंडी होती हैं। कमरों को शीतल बनाने के लिए सम्पन्न लोग खस या जवासा की टट्टियों का उपयोग करते हैं जिन पर पानी छिड़कना पड़ता है। अधिक धनी व्यक्ति अपने भवनों को शीतल वातयुक्त या वातानुकूलित करवा लेते हैं। रात्रि में बिजली के पंखे का उपयोग किया जाता है। मनुष्य, पशु और वनस्पति आदि सभी अधिक गर्मी के कारण मुरझाये से हो जाते हैं। वनस्पति सूख जाती है, घास जड़ तक झुलस जाती है। सारा वातावरण अधिकतर हरियाली शून्य और धूल भरा हो जाता है। 'लू' के साथ कभी-कभी भयंकर धूलभरी आंधियां आती हैं। इन आंधियों में दम घुटने सा लगता है और पेड़, झोंपड़े, बिजली व तार के लट्ठे तक उखड़ जाते हैं। इस प्रकार की आंधियों की उत्पत्ति का कारण यह है कि वायुमण्डल के निचले पर्त अत्यधिक गर्म व नम और उनके ऊपर के (४,०००' या ५,०००' ऊंचे) पर्त शीतल व शुष्क होते हैं। गर्म हवा ऊपर उठती है और बादल बनते हैं। जब आंधियां पश्चिम या उत्तर-पश्चिम से आती हैं तब मार्ग में शुष्क प्रदेशों से धूल के कण उठा लेती हैं। ये आंधियां लघुकालीन होती हैं पर वे तेज अधिक होती हैं। वर्षा ३० मि० मी० से अधिक नहीं हो पाती है।

धनी एवं सम्पन्न व्यक्ति नैनीताल, मंसूरी, रानीखेत और चकरौता जैसे पर्वतीय नगरों की ओर स्थानान्तरण करते हैं जहां गर्मियों में भी ऊंचाई के कारण शीतल और सुहावना मौसम रहता है। यहां तापक्रम ६४° फ० व ६७ फ० के मध्य रहता है और लोग वर्षा काल प्रारम्भ होने तक इन स्थानों पर ठहरते हैं।

वर्षा ऋतु—जून के मध्य या अन्त में मौसम में अचानक परिवर्तन होता है। दक्षिण-पश्चिम मौनसून प्रारम्भ होता है। असम की पहाड़ियों से टकरा कर इनका रुख बदल जाता है और उत्तरी मैदान में हवाओं का रुख पूर्व या दक्षिण-पूर्व हो जाता है। साधारण लोग इसे 'पुरविया बयार' 'पुरबाई हवा' के नाम से सम्बोधित करते हैं। बंगाल से अधिक पश्चिम की ओर बढ़ने पर वर्षा की मात्रा क्रमशः कम होती जाती है। वर्षा प्रारम्भ होने पर सभी स्थानों पर तापक्रम कम हो जाता है।

उत्तर प्रदेश में मौनसून का आगमन जून के अन्त में होता है। इलाहाबाद में यह २० जून के करीब पहुंचता है। इसके पश्चात् प्रायः एक सप्ताह में आगरा व मेरठ तक यह पहुंच जाता है। वर्षा अधिकतर सितम्बर तक चलती है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों की तुलना में पूर्वी जिलों में मौनसून कुछ पहले आता है और देर तक टिकता है। वर्षा अधिकतर एक दो दिन के लिए लगातार और भारी होती है और बहुधा एक दिन में ९० मि० मी० से १०० मि० मी० तक वर्षा हो जाती है। कभी-कभी वर्षा एक सप्ताह या इससे भी अधिक काल तक चलती रहती है और अधिक मात्रा में होती है। इस प्रकार की वर्षा से बाढ़ें आती हैं। वर्षा के दिनों के बीच के मेघहीन दिनों में कड़ी गर्मी पड़ती है जब गर्मी के साथ नमी भी अधिक होती है। यह मध्यान्तर एक सप्ताह या इससे भी अधिक काल तक रहता है। परन्तु जब यह लम्बा हो जाता है तब सूखा पड़ जाता है और खरीफ की अधिकांश फसलें मारी जाती हैं। वर्षा का अधिकांश भाग जुलाई व अगस्त मास में प्राप्त होता है अतः इन्हीं दिनों भयंकर बाढ़ें आती हैं जिनसे नदियों के निकटवर्ती क्षेत्रों में खरीफ की फसलें नष्ट हो जाती हैं, पशु बह जाते हैं और ग्राम नष्ट हो जाते हैं।

पूर्व से पश्चिम की ओर जाने पर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर जाने पर वर्षा की मात्रा में कमी होती जाती है। इलाहाबाद में ९१४·१ मि० मी० वर्षा होती है। पश्चिम की ओर बढ़ने पर वर्षा कम होती जाती है; जैसे कानपुर में ८११·१ मि० मी०, आगरा में ६०१·५ मि० मी० वर्षा होती है। उत्तर में मंसूरी में १८६७·६ मि० मी० वर्षा होती है। दक्षिण की ओर आने पर यह कम होती जाती है; जैसे, बरेली में ९५४ मि० मी०, शाहजहांपुर में ९३६ मि० मी० और बदायूं में ८३७ मि० मी० वर्षा होती है।

सारांश में उत्तर प्रदेश की वर्षा का वितरण अनिश्चित और विषम है जिसके कारण या तो बाढ़ें आती हैं या सूखा पड़ता है। उत्तर प्रदेश की औसत वार्षिक वर्षा १०१६ मि०मी० है। उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पश्चिमी भाग में अन्य भागों की तुलना में कम वर्षा होती है। इस प्रकार इस भाग में विशेष रूप से और सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में साधारण रूप

से सिंचाई की आवश्यकता रहती है। राज्य सरकार ने सिंचाई के साधनों की दृष्टि से नलकूपों व नहरों की व्यवस्था की है और आगामी योजनाओं के अन्तर्गत और भी अधिक व्यवस्था करने वाली है। बाढ़ भी एक भयंकर समस्या प्रस्तुत करती है। बाढ़ नियंत्रण के लिए भी योजनायें क्रियान्वित की जा रही हैं।

उत्तर प्रदेश में प्रारम्भिक शिक्षा

श्री कैलाश प्रकाश
शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश ।

इस प्रदेश में स्वतंत्रता के बाद से प्राथमिक (कक्षा १ से ५) तथा निम्न माध्यमिक (कक्षा ६ से ८) की शिक्षा के लिये अभूतपूर्व प्रयत्न किये जा रहे हैं । १९४७ और १९५१ के बीच में इस उद्देश्य की पूर्ति में कि प्रत्येक विद्यार्थी को डेढ़ मील की परिधि के भीतर प्राथमिक शिक्षा की सुविधायें प्राप्त हो सकें, लगभग १२,००० नये प्राथमिक स्कूल खोले गये । इसके परिणामस्वरूप प्राइमरी स्कूलों की छात्र संख्या इस अवधि में १५·७६ लाख से बढ़ कर २७·२७ लाख हो गयी और स्कूल जाने वाले छात्रों का प्रतिशत २२·६ से ३५·७ हो गया । प्रमुखतः आर्थिक कारणों से इस स्तर की शिक्षा में प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६) के अन्तर्गत उपर्युक्त ढंग से निरन्तर प्रसार न हो सका।

प्राइमरी शिक्षा के प्रसार के प्रयत्न द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत किये गये । राज्य की प्राइमरी शिक्षा का सर्वेक्षण किया गया और छात्र वृद्धि के सघन प्रयत्न हुए । परिणामस्वरूप छात्रों की संख्या १९५६ की लगभग २८ लाख से बढ़ कर १९६१ में लगभग ४० लाख हो गई ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुल ६,०७५ नये स्कूलों के खोलने का प्रावधान किया गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत २,३७० स्कूल नगर क्षेत्रों में तथा २१,५०० स्कूल ग्रामीण क्षेत्रों में खोले जा रहे हैं ।

प्रदेश में प्राइमरी शिक्षा की जो प्रगति हुई है, उसका आभास इस तथ्य से हो सकेगा कि वर्ष १९६०-६१ में प्रदेश के ६ से ११ वर्ष की आयु के बालकों का ६४·८ प्रतिशत और बालिकाओं का कुल १९·३१ प्रतिशत ही स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर रहा था । उस समय कुल लगभग ४३·२२ प्रतिशत ही छात्र शिक्षित किये जा रहे थे । इस कमी को दूर करने के लिये तृतीय पंचवर्षीय योजना में एक बहुत बड़ा कदम उठाया गया जिसके फलस्वरूप बालक-बालिकाओं की संख्या की वृद्धि में पर्याप्त सफलता मिली है और १९६२-६३ तक ६ से ११ वर्ष के स्कूल जाने वाले बालकों का प्रतिशत बढ़ कर ६५ से ७६ और बालिकाओं का प्रतिशत बढ़ कर १९ से २७ हो गया । प्रदेश के प्राथमिक शिक्षा के पिछड़ेपन को देखते हुए अब यह प्रयास किया जा रहा है कि वर्तमान योजनाकाल में ही ९५ प्रतिशत बालकों तथा ६५ प्रतिशत बालिकाओं को विद्यालय में लाया जाय । यद्यपि तृतीय योजना के अन्त तक लक्ष्य केवल ८५ प्रतिशत बालकों तथा ३८ प्रतिशत बालिकाओं का है।

कक्षा ६ से ८ में ११ से १४ वर्ष के बालक-बालिकाओं की शिक्षा में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई । इसमें जनता ने विशेषकर प्रयास किया और एक बड़ी संख्या में स्कूल खुले, जिनको शासकीय अनुदान देकर अच्छे स्तर पर लाने का प्रयास हो रहा है । १९६०-६१ में केवल २९ प्रतिशत बालक और ५·५ प्रतिशत बालिकाएं शिक्षा पा रही थीं । तृतीय योजना के अन्त तक ३८ प्रतिशत बालकों और ९ प्रतिशत बालिकाओं को सीनियर बेसिक विद्यालय में लाने का लक्ष्य है । ८५८ निजी संस्थाओं को अनुदान की सूची पर लाया जा रहा है । प्रारम्भिक स्तर पर स्वतंत्रता के बाद से १९६०-६१ तक की प्रगति का आभास निम्न तालिकाओं से होता है ।

जूनियर बेसिक स्तर (६ से ११ वर्ष आयु):

विद्यालय	१९४६-४७	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१
बालक	१८,३७०	२९,४५९	२९,२०२	३५,१५६
बालिका	१,६७८	२,५२०	२,६९६	४,९२७
योग	२०,०४५	३१,९७९	३१,८९८	४०,०८३
छात्र (लाख में)				
बालक	१३·८६	२४·१०	२२·६१	३२·२५
बालिका	१·८९	४·०८	५·४४	८·६८
योग	१५·७५	२८·१८	२८·०५	४०·९३

सीनियर बेसिक स्तर (११ से १४ वर्ष आयु)

विद्यालय				
बालक	१,३४४	२,३८६	३,१२८	३,६७४
वालिका	५०६	४६८	५१२	६६१
योग	१,८५०	२,८५४	३,६४०	४,३३५
छात्र (लाख में)				
बालक	१·५०	४·६०	५·६८	७·०२
बालिका	०·८१	०·४२	०·६८	१·२२
योग	२·३१	५·०२	६·३६	८·२४

बढ़ती हुई छात्र संख्या के लिये आरम्भ से ही पर्याप्त अध्यापक और अध्यापिकायें दी गई हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वर्ष १९६३-६४ में भारत सरकार की अतिरिक्त सहायता से ११,२६५ अतिरिक्त अध्यापक स्वीकृत किये गये थे जिसमें १० प्रतिशत अध्यापिकायें सम्मिलित थीं। इन अध्यापकों के प्रशिक्षण की सुविधा के लिये इस समय १४० नार्मल स्कूल हैं और ३३ उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में प्रशिक्षण की विशेष कक्षायें भी इस वर्ष खोली गई हैं। सेवाकालीन प्रशिक्षण की भी व्यवस्था १० केन्द्रों पर है। अध्यापकों की संख्या में क्रमशः निम्नलिखित प्रकार से वृद्धि हुई है:—

(अ) जूनियर बेसिक स्कूल

	१९४६-४७	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१
अध्यापक	३८·३७६	६५·११०	७०·६४१	८७·३४०
अध्यापिकायें	२·६१०	५·१८९	६·९३४	११·७१४
योग	४०·९८६	७०·२९९	७७·५७५	९९·०५४

(ब) सीनियर बेसिक स्कूल

अध्यापक	७·९६०	११·६०५	१६·७३४	१९·०५७
अध्यापिकायें	३·४२१	२·९००	३·२६२	४·२०२
योग	११·३८१	१४·५०५	१९·९९६	२३·२५९

प्रदेश बालिकाओं की शिक्षा में विशेषकर पिछड़ा हुआ है जिसके मुख्य कारण अभिभावकों की उदासीनता, निर्धनता, पर्दा तथा अध्यापिकाओं का ग्रामीण क्षेत्र के लिये पर्याप्त संख्या में न मिलना है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बालिकाओं की शिक्षा के प्रसार के लिये महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं। अध्यापिकाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में आकर अध्यापन कार्य की ओर प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से उन्हें अपने गांव से बाहर ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने पर क्रमशः १५ और १० रु० प्रतिमास क्रमशः प्रशिक्षित और अप्रशिक्षित अध्यापिकाओं को भत्ता के रूप में देने का प्रावधान है। उनके लिये ५,००० आवास गृह भी बनाने का प्रावधान है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक महिला प्रशिक्षार्थी को नार्मल स्कूल में ३० रु० प्रतिमास छात्रवृत्ति भी दी जाती है। १६५ लड़कियों के जूनियर हाई स्कूल अनुदान पर खोले जा रहे हैं। १५,००० से कम की जनसंख्या वाले क्षेत्रों में बालिकाओं की शिक्षा कक्षा ८ तक निःशुल्क की गयी है। छोटे स्थानों में लड़कियों के प्राइमरी स्कूलों में कक्षा ६ से ८ तक की शिक्षा के लिये क्रमोत्तर कक्षायें (Continuation Classes) खोली जा रही हैं, जिनकी १९६५-६६ तक कुल संख्या ९७५ होगी। क्रमोत्तर कक्षाओं से इन पिछड़े स्थानों पर भी जूनियर हाईस्कूल स्तर की शिक्षा बालिकाओं को उपलब्ध हो सकी है।

व्यय प्रावधान—पिछले वर्षों में इस प्रदेश की प्राइमरी शिक्षा के प्रसंग में क्रमशः जिस प्रकार व्यय प्रावधान की वृद्धि हुई है, उसका विवरण निम्नलिखित है:

	आय व्ययक प्रावधान (करोड़ रुपयों में)				
	१९४६-४७	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६४-६५
शिक्षा का पूरा बजट	३·१८	७·३७	१०·२०	१३·३५	२२·४३
प्राइमरी शिक्षा का बजट	१·२२	३·३२	४·२५	५·६९	९·६०

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शिक्षा पर कुल ४,८३८·०४ लाख व्यय का अनुमान है जिसमें से जूनियर और सीनियर शिक्षा पर क्रमशः २,७३९·२१ लाख जूनियर और ४८५·५ लाख सीनियर बेसिक शिक्षा के हेतु प्रदान करने की व्यवस्था है। प्रारम्भिक शिक्षा पर योजना के सम्पूर्ण शिक्षा प्रावधान का लगभग ६९·३ प्रतिशत व्यय होगा।

बेसिक शिक्षा—आचार्य श्री नरेन्द्र देव समिति के प्रतिवेदन के आधार पर उत्तर प्रदेश शासन ने वर्ष १९३९ में बेसिक शिक्षा के व्यापक प्रसार के लिये योजनायें कार्यान्वित कीं। वर्ष १९४५ तक प्रदेश के अधिकांश अध्यापक बेसिक शिक्षा पद्धति में प्रशिक्षित किये जा चुके थे। प्राइमरी स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिणत करने का कार्य १९४७ के बाद और भी घनीभूत रूप में किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि उस समय प्रदेश में जितने भी प्राइमरी स्कूल थे वे सभी बेसिक स्कूलों में परिणत किये गये। सभी दीक्षा विद्यालयों में बेसिक शिक्षा की सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक दीक्षा होती है।

जूनियर हाई स्कूलों को सीनियर बेसिक स्कूलों के रूप में परिणत करने के उद्देश्य से कृषि तथा अन्य शिल्पों: जैसे काष्ठ कला, सिलाई, धातुकला आदि का समावेश राज्यव्यापी पुनर्व्यवस्था योजना के अन्तर्गत वर्ष १९५४ से किया गया। इस योजना के सफल कार्यान्वियन के निमित्त लगभग २१,००० एकड़ भूमि तथा लगभग ३२ लाख रुपये जनता से दानस्वरूप प्राप्त हुए थे। इस योजना की प्रगति का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि वर्ष १९६३-६४ में स्कूलों के कृषि-क्षेत्रों से लगभग १४ लाख रुपये की उपज हुई थी। लगभग २,२०० युवक मंगल दलों का संचालन भी इन स्कूलों में किया जा रहा है। कृषि प्रदर्शन और प्रसार की प्रणालियों द्वारा इन विद्यालयों को विशेष रूप से सामुदायिक केन्द्रों में परिणत करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

शासन ने जुलाई १९६२ से ९,००० चुने हुए प्राइमरी स्कूलों में अंग्रेजी को वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ाये जाने का निश्चय इस शर्त के साथ किया कि अंग्रेजी में अनुत्तीर्ण होने पर छात्रों को कक्षोन्नति प्राप्त करने से न रोका जाय। वर्ष १९६२-६३ में कुल ८,७३२ स्कूलों की कक्षा ३ में अंग्रेजी पढ़ाने का कार्य आरम्भ हुआ। वर्ष १९६३-६४ में ९,००० की संख्या में से शेष स्कूलों में और भी अंग्रेजी का समावेश कर दिया गया तथा ७,८०० नये स्कूलों में भी इस वर्ष से अंग्रेजी आरम्भ की गयी। इसके लिये विशेष अल्पकालीन प्रशिक्षण क्रम भी अपनाया गया।

जूनियर तथा सीनियर बेसिक स्कूलों के अध्यापकों के मार्गदर्शन के उद्देश्य से विभाग ने ६ निर्देश पुस्तिकायें भी तैयार करायी हैं। इन पुस्तकों में अध्यापकों के लिये बेसिक शिक्षा से सम्बन्धित समग्र आवश्यक ज्ञान है। इन पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है।

निम्नलिखित कल्याणकारी योजनायें भी तृतीय योजना काल में प्रारम्भिक विद्यालयों में चलाई जा रही हैं :

(अ) तृतीय पंचवर्षीय योजना में सीनियर बेसिक स्कूलों में निर्धन छात्राओं के लिये पुस्तकों, लेखन सामग्री, पारितोषिक आदि भी प्रदान करने की व्यवस्था है। लगभग २० प्रतिशत छात्रों को जूनियर बेसिक स्कूलों में मुक्त पाठ्यक्रम पुस्तकें प्रदान करने की एक विशेष योजना आस्ट्रेलिया और स्वीडन से प्राप्त कागज की सहायता से कार्यान्वित की जा रही है।

(ब) जूनियर बेसिक स्कूलों के छात्रों एवं छात्राओं को मध्याह्न अल्पाहार देने के महत्त्व को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है। वर्ष १९६१ से एक योजना पाठशाला प्रबन्धक समिति के सौजन्य से कार्यान्वित की जा रही है। यह समिति विद्यालय के हित में जन सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से गठित की गयी है।

(स) वर्ष १९६३ से यूनिसेफ के सौजन्य से निःशुल्क दुग्ध वितरण की योजना भी कार्यान्वित की जा रही है। इस योजना को ९१२ स्कूलों में अपनाया गया है, जिससे लगभग १·५ लाख छात्र लाभान्वित होते हैं। योजना का समावेश १० पूर्वीय जिलों तथा ७ पर्वतीय जिलों में किया गया है।

सीनियर बेसिक स्कूलों की स्थिति को सुधारने तथा उनमें प्रावधान शिक्षण की व्यवस्था को उन्नत करने के लिये तथा साज सज्जा सम्बन्धित अनुदान स्वीकार किये जाने का प्रावधान तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत किया गया है। सीनियर बेसिक स्कूलों को भवन, फर्नीचर सज्जा पुस्तकालय आदि के लिये भी क्रमशः द्वितीय तथा तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रावधान से अनुदान दिये जा रहे हैं।

इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कि अच्छी शिक्षा अच्छे अध्यापकों पर ही निर्भर करती है, शासन ने आरम्भ से ही अध्यापकों के अधिकाधिक कल्याण को लक्ष्य में रखा है। प्राथमिक स्तर पर जूनियर बेसिक स्कूलों के अध्यापकों के वेतन के सम्बन्ध में १९५१ से १९६४ तक जो प्रगति हुई है, उसका आभास इस तथ्य से होगा कि उनका औसत वार्षिक वेतन ८६४ से बढ़ कर ९०० रु० कर दिया गया। इस वृद्धि को भी अयथेष्ट मानते हुए अप्रैल १९६४ से पांच रुपये प्रतिमास महंगाई भत्ता भी बढ़ा दिया गया। शासन ने त्रिगुण कल्याण योजना (Triple Benefit Scheme) को कार्यान्वित करने का निश्चय किया है जिसके अन्तर्गत सभी अध्यापकों को निर्वाह निधि बीमा तथा पेन्शन का लाभ मिलेगा।

उत्तर प्रदेश में प्रौढ़ शिक्षा—१. भारत गांवों में बसा है। राष्ट्र की मूल सम्पत्ति के उत्पादक ग्रामीण किसान, श्रमिक, लोहार, बढ़ई, जुलाहे आदि हैं जो भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। हमारे देश की आर्थिक तथा सामाजिक योजनाओं में इनका स्थान बड़ा महत्त्व रखता है। अशिक्षा के कारण उनका ज्ञान संकुचित हो गया है और वे वर्तमान विश्व की भौतिक उन्नति के साधनों से वंचित हो रहे हैं। देश के पुनर्निर्माण की विभिन्न योजनायें सफल बनाने के लिये ग्रामीण जनता को शिक्षित करना आवश्यक है।

२. हमारे देश में निरक्षरता दूर करने की समस्या प्रमुख है। उत्तर प्रदेश साक्षरता में अन्य प्रदेशों से पिछड़ा हुआ है। अतः प्रदेश से निरक्षरता दूर करने तथा समाज के उन वयस्कों को शिक्षा संबंधी सुविधायें प्रदान करने की अनेक प्रभावशाली योजनायें कार्यान्वित की गईं जो अपने बाल्यकाल और किशोरावस्था में असामान्य परिस्थितियों के कारण उनका लाभ उठाने से वंचित रह गये थे।

३. शिक्षा प्रसार विभाग ने १९३९ से १९५१-५२ तक की अवधि में प्रदेश में लगभग १,४०० प्रौढ़ पाठशालायें चलाईं और समाजसेवी नागरिकों को प्रौढ़ पाठशालायें चलाने के लिये अनुदान देकर प्रोत्साहित किया। इस प्रकार उक्त अवधि में लगभग १३,३०,००० पुरुषों तथा २७,३०० महिलाओं को साक्षर बनाया गया।

४. अप्रैल, १९५१ से सामाजिक शिक्षा कार्यक्रम मुख्यतया विकास विभाग के तत्वावधान में चलाया जा रहा है। सामाजिक शिक्षा का मुख्य अंग प्रौढ़ शिक्षा है। प्रदेश में विभिन्न स्तर के कुल ८७५ विकास खण्डों (ब्लाकों) में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम क्षेत्र विकास समितियों तथा क्षेत्र विकास अधिकारियों द्वारा चलाया जा

रहा है। प्रौढ़ों के प्रयोगार्थ पुस्तकें, श्यामपट्ट, स्लेट, तख्ती, चाक इत्यादि सभी आवश्यक वस्तुओं की सुविधायें प्रदान की जाती हैं। प्रथम स्तर के विकास खण्डों में से प्रत्येक में ७०० से ९०० तक तथा द्वितीय स्तर के विकास खण्डों में ६०० से ७०० तक प्रौढ़ों को प्रतिवर्ष साक्षर बनाया जाता है।

५. सामुदायिक विकास विभाग ने प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में निम्नवत् प्रगति की है :—

अवधि	साक्षर बनाये गये प्रौढ़ों की संख्या
प्रथम पंचवर्षीय आयोजनावधि (१९५१-५२ से १९५५-५६)	८२,५३१
द्वितीय पंचवर्षीय आयोजनावधि (१९५६-५७ से १९६०-६१)	७,३३,६३०
तृतीय पंचवर्षीय आयोजनावधि (१९६१-६२ से सितम्बर १९६४)	५,४०,७०८
योग	१३,५६,८६९

६. इस प्रकार उपर्युक्त योजनाओं के फलस्वरूप १९६१ की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश की साक्षरता १७·२२ प्रतिशत हो गई जबकि १९५१ की जनगणना के अनुसार साक्षरता १०·८ प्रतिशत थी। स्त्री और पुरुषों की साक्षरता प्रगति उक्त अवधि में निम्नलिखित थी :—

वर्ष	पुरुष	स्त्री	योग
१९५१	१७·४ प्र० श०	३·६ प्र० श०	१०·९ प्र० श०
१९६१	२६·६७ प्र०श०	६·८२ प्र० श०	१७·२२ प्र० श०

७. शिक्षा प्रसार विभाग द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में १,४०० ग्रामीण पुस्तकालय तथा ३,६०० वाचनालय चलाये जा रहे हैं। इन पुस्तकालयों तथा १,००० वाचनालयों को ग्रामीण क्षेत्रों के प्राइमरी स्कूलों तथा जूनियर हाई स्कूलों में खोला गया है। २,६०० वाचनालयों की स्वतन्त्र स्थिति है। पुस्तकालयों के लिये प्रति वर्ष लगभग ७०,००० रु० की पुस्तकें खरीदी जाती हैं जिनको शासन द्वारा प्रति वर्ष नियुक्त की गई पुस्तक चयन समिति चुनती है। इन पुस्तकालयों से लगभग नौ लाख पुस्तकें ग्रामीण जनता को पढ़ने के लिये दी जाती हैं। वाचनालयों से भी काफी जनता लाभ उठाती है। इन पुस्तकालयों, वाचनालयों पर लगभग साढ़े चार लाख रुपया व्यय होता है। शिक्षा प्रसार विभाग द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों के कुछ पुस्तकालयों को उनकी उपयोगिता के अनुसार प्रति वर्ष १,००० रु० की सहायता भी दी जाती है।

८. ग्राम विकास विभाग द्वारा विभिन्न विकास खण्डों के मुख्यालयों पर एक केन्द्रीय पुस्तकालय तथा सूचना केन्द्र स्थापित किया गया है जिसमें विकास कार्यों से संबंधित पुस्तकें तथा पत्रिकायें, नवसाक्षरोपयोगी सरल पुस्तकें तथा प्राविधिक और संदर्भ के लिये पुस्तकें रहती हैं। ग्रामीण जनता और विकास कार्य करने वालों के लिये लगभग ५,६०० ग्रामीण पुस्तकालय भी हैं जो नवसाक्षरों को पढ़ने-लिखने की प्रेरणा देते हैं। इन पुस्तकालयों को स्थानीय सहायता के आधार पर ५० प्रतिशत अनुदान दिया जाता है।

९. शिक्षा प्रसार तथा ग्राम विकास विभागों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सचल पुस्तकालय चलाये जा रहे हैं जो उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। इन पुस्तकालयों में सरल पुस्तकें, चित्र, पोस्टर के अतिरिक्त ग्रामीण विद्यार्थियों एवं जनता की ज्ञान-वृद्धि हेतु श्रव्य-दृश्य उपादान भी हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में सचल पुस्तकालयों द्वारा पुस्तकों की प्रदर्शनी लगाई जाती है और गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है।

१०. ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा प्रसार तथा प्रचार के कार्य के लिये द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना काल में चार सचल दलों की स्थापना की गई थी। इनमें से दो दल साक्षरता शिविरों का आयोजन करते हैं। तीसरा दल शैक्षिक फिल्मों के प्रदर्शन द्वारा ग्रामीण विद्यार्थियों तथा ग्रामीण जनता की ज्ञान-वृद्धि करता है और चौथा दल प्रचार वाहन तथा संगीत एवं वाद्य यंत्रों के द्वारा शैक्षिक योजनाओं की प्रगति से ग्रामीण जनता को अवगत कराता है तथा कथा और गोष्ठियों द्वारा प्रचार करता है।

११. नव साक्षरोपयोगी साहित्य सृजन तथा प्रकाशन की एक योजना चलाई जा रही है जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष लगभग ८ पुस्तिकायें तथा एक मासिक पत्रिका "नवज्योति" प्रकाशित की जा रही है। कुछ पोस्टर, चार्ट, हैण्डबिल तथा चित्र भी छापे जाते हैं। इस साहित्य को शिक्षा प्रसार पुस्तकालयों तथा

वाचनालयों में वितरित किया जाता है जिससे ग्रामीण जनता उनसे लाभ उठा सके। इन प्रकाशनों पर लगभग २०,००० रु० प्रति वर्ष व्यय होता है।

१२. राजकीय फिल्म लाइब्रेरी में शैक्षिक चलचित्र तथा वृत्त-चित्र बनाये जाते हैं और भारत सरकार तथा प्रसिद्ध निजी संस्थाओं से क्रय करके भी रक्खे जाते हैं। इन चलचित्रों तथा वृत्त-चित्रों का प्रदर्शन वाहनों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में किया जाता है। इस समय फिल्म लाइब्रेरी में १,५३४ चल-चित्र तथा १,१४१ चित्र पट्टियां और ३४२ "स्लाइडस" हैं।

१३. लखनऊ क्षेत्र में प्रौढ़ स्त्री शिक्षा की एक योजना चलाई जा रही है जिसके अन्तर्गत लगभग १०० पाठशालाओं को चलाने के लिये मंडलीय बालिका विद्यालय निरीक्षिका, लखनऊ द्वारा ५,००० रु० आवर्तक अनुदान दिया जाता है।

१४. प्रदेश की कुछ नगर महापालिकाओं तथा नगरपालिकाओं में से प्रत्येक को लगभग ३,००० रु० वार्षिक अनुदान प्रौढ़ रात्रि पाठशालाओं को चलाने के लिये दिया जाता है। यह योजना अगारा, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, बरेली तथा मेरठ में चल रही है।
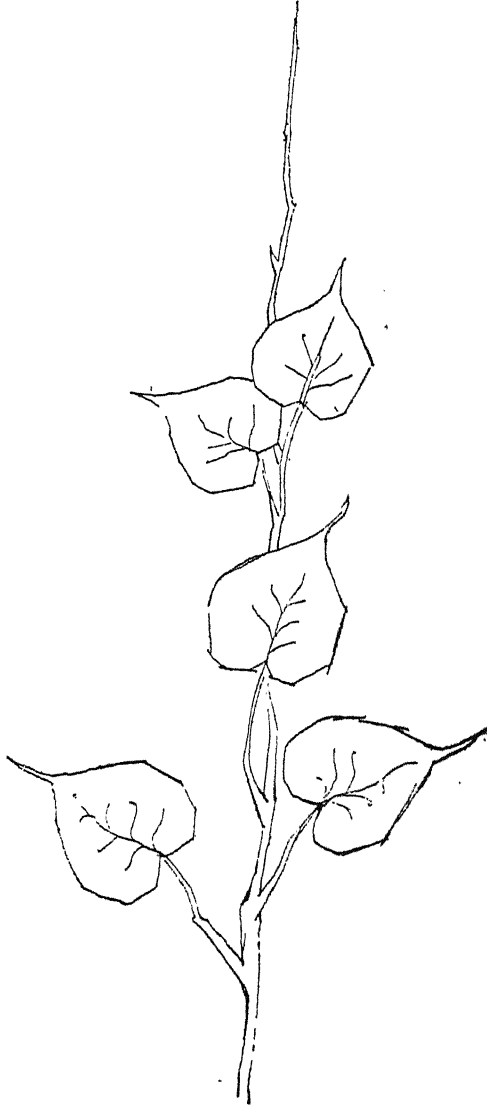
उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति

डॉ० अविनाश चन्द्र चटर्जी

सन् १९४७ में भारतवर्ष ने शताब्दियों की दासता से मुक्ति प्राप्त की, जिससे देश में एक नवीन चेतना एवं शक्ति का संचार हुआ। देश को व्यवस्थित रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर करने के उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाएं लागू की गयीं। इन योजनाओं में जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र एवं गृह की सुविधाओं—को सर्वसुलभ कराने पर तो बल दिया ही गया; देश की शिक्षा को समुन्नत करने की ओर भी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये, क्योंकि अंततोगत्वा शिक्षा ही वह मूल आधार है, जिसके ऊपर किसी देश की सर्वांगीण उन्नति निर्भर होती है। शिक्षा के उन्नयन के लिए विभिन्न स्तरों पर अनेकानेक योजनाएं बनायी गयीं और बनायी जा रही हैं; जिनके माध्यम से हम शिक्षा के विविध क्षेत्रों में अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकें। निम्नांकित पंक्तियों में हम उन क्षेत्रों में से माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र को लेकर उत्तर प्रदेश में हुई उसकी प्रगति पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

माध्यमिक शिक्षा प्राथमिक एवं उच्च शिक्षा के बीच की एक अनिवार्य कड़ी है। अतएव इसकी महत्ता स्वयं ही स्पष्ट है। प्राथमिक शिक्षा के लिए शिक्षक और उच्च एवं तकनीकी शिक्षा के लिए छात्र हमें इसी स्तर की शिक्षा से प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक उन्नतिशील देश अपने शिक्षा-भवन को सुदृढ़ बनाने के लिए उसकी माध्यमिक शिक्षा रूपी आधारशिला को बहुत ही मजबूत रखता है।

हमारे उत्तर प्रदेश में इस स्तर की शिक्षा की उन्नति की रूपरेखा सन् १९३९ में प्रथम कांग्रेस मंत्रिमंडल के समय में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में गठित समिति की देख-रेख में बनायी गयी थी। परन्तु चूंकि उस पर कार्यान्वियन होने से पूर्व ही तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था बदल गयी, इसलिए उक्त रूप रेखा के अनुकूल कार्रवाई स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् ही की जा सकी। निम्नांकित संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् राज्य की माध्यमिक शिक्षा को संख्यात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही दृष्टियों से उन्नत बनाने का सतत प्रयत्न किया गया है।

सन् १९४६-४७ में कक्षा ६ से ८ तक की शिक्षा देने वाले जूनियर हाई स्कूलों की संख्या १,८५० थी। बालक-बालिकाओं के हाई स्कूल एवं इंटर कालिजों की संख्या ५०६ थी, जिनमें ९१ बालिकाओं के थे। कक्षा ६ से १२ तक के विद्यार्थियों की संख्या २·६३ लाख थी, जिसमें से बालिकाएं केवल २० हजार थीं। इसके विपरीत, जनता के उत्साह एवं सहयोग तथा राज्य सरकार के प्रोत्साहन एवं प्रयासों के फलस्वरूप सन् १९६०-६१ में ४,३३५ जूनियर हाई स्कूल हो गये, जिनमें ६६१ बालिकाओं के थे तथा हाई स्कूल एवं इंटर कालेजों की संख्या १,७७१ हो गयी जिनमें से २८२ बालिकाओं के थे। कक्षा ६ से १२ तक के विद्यार्थियों की संख्या बढ़कर १३·३४ लाख हो गयी, जिनमें १·७८ लाख बालिकायें थीं। और अब ऐसी आशा की जाती है कि वर्ष १९६४-६५ के अन्त तक राज्य में ५,१६२ जूनियर हाई-स्कूल तथा २,०६४ हाई स्कूल और इंटर कालेज हो जायेंगे तथा ६ से १२ तक की कक्षाओं के विद्यार्थियों की संख्या १९·५२ लाख हो जायगी जिसमें २·६६ लाख बालिकायें होंगी। दूसरी ओर जहां १९५०-५१ में राज्य के आय-व्ययक में शिक्षा पर केवल १६५·९५ लाख रुपये व्यय होते थे, वहां अब १९६४-६५ में शिक्षा पर ७५०·६२ लाख रुपये का प्रावधान किया गया है।

अब हम माध्यमिक शिक्षा के गुणात्मक विकास पर प्रकाश डालेंगे।

माध्यमिक शिक्षा में गुणात्मक विकास के लिए सन् १९४८ में आचार्य नरेन्द्र देव समिति के सुझावों

को क्रियान्वित करने का प्रयास किया गया। इसके फलस्वरूप माध्यमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम व हुमुखी बना कर उसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक एवं कलात्मक वर्ग रखे गये, जिससे बालक एवं बालिकाओं को अपनी रुचि एवं रुझान, आवश्यकता एवं क्षमता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने एवं अपना सर्वांगीण विकास करने की सुविधाएं प्राप्त हो सकें। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा को बालक और उसके सामाजिक जीवन के और अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया गया, उसे और अधिक व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की गयी।

इस दिशा में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम बालकों के शैक्षिक निर्देशन का उठाया गया। उनकी अभिरुचि, मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों तथा योग्यताओं के अध्ययन के निमित्त एवं तदनुसार उनके निर्देशन के लिए इलाहाबाद में एक मनोवैज्ञानिक केन्द्र की स्थापना की गयी। अभी तक प्रदेश में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी, जिससे कि अभिभावकों को इस बात का पथ-प्रदर्शन हो सके कि वे अपने बालकों को उनकी रुचि के अनुसार किस दिशा में अध्ययन के लिए भेजें, जिससे कि वे अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का पूरा उपयोग कर सकें। मनोवैज्ञानिक केन्द्र की स्थापना से इस दिशा में एक बहुत भारी कमी की पूर्ति हुई है। इस केन्द्र की शाखाएं इस समय राज्य के प्रमुख सात जिलों में और चल रही हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त शिक्षा विषयक अनुसंधान एवं परीक्षाओं के महत्त्व की दृष्टि से इलाहाबाद में एक केन्द्रीय शिक्षण संस्थान की स्थापना की गयी, रचनात्मक विषयों एवं गृह शास्त्र के अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालय खोले गये तथा सैन्य एवं शारीरिक प्रशिक्षण के लिए प्रादेशिक शिक्षा दल तथा शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र प्रारम्भ किये गये।

सन् १९५४ में जूनियर हाई स्कूल स्तर की शिक्षा के विकास की दिशा में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया। इस स्तर की शिक्षा को भी अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं लोक-जीवन के अनुरूप बनाने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्र के अधिकांश विद्यालयों में कृषि-शिक्षा की व्यवस्था की गयी तथा नगर के विद्यालयों में कृषि के विकल्प के रूप में शिल्प की। यह शिक्षा योजना 'शिक्षा में पुनर्व्यवस्था योजना' के नाम से प्रसिद्ध है। शिक्षा की इस पुनर्व्यवस्था योजना में जनता ने भी मुख्यमंत्री शिक्षा-कोष में लगभग इकत्तीस लाख रुपये एवं लगभग बाईस हजार एकड़ भूमि देकर पर्याप्त सहयोग दिया। द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में कृषि के लगभग २,५०० तथा शिल्प के ४२० विद्यालय हो गये।

यदि हम द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में हुए माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत मुख्य कार्यों पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि इस अवधि में काफी अशासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों को उनके भवन-निर्माण के लिए तथा उनके पुस्तकालयों को समृद्ध बनाने के लिए, जूनियर हाई स्कूलों में विज्ञान की शिक्षा एवं उनके पुस्तकालयों के विकास के लिए तथा उपर्युक्त दोनों प्रकार के विद्यालयों के अध्यापकों की वेतन-वृद्धि के लिए काफी ठोस कदम उठाये गये। साथ ही जूनियर हाई स्कूलों के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए तीन विद्यालय भी खोले गये।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी उपर्युक्त प्रकार की योजनाएं चल रही हैं तथा अशासकीय विद्यालयों एवं उनके अध्यापकों की दशा सुधारने के बराबर प्रयत्न हो रहे हैं। इन योजनाओं के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा पर लगभग ६ करोड़ रुपय व्यय किया जा रहा है और आशा है कि इससे माध्यमिक शिक्षा की विभिन्न दिशाओं में काफी प्रगति होगी। इन योजनाओं के अन्तर्गत होने वाले मुख्य-मुख्य कार्य इस प्रकार हैं:

(१) ६०० जूनियर हाई स्कूलों को सामान्य विज्ञान के लिए, ८८० को सज्जा और उपकरण के लिए, २०० को पुस्तकालय के लिए और ५७४ को भवन-निर्माण के लिए विशेष अनुदान दिया जा रहा है।

(२) जूनियर हाई स्कूल स्तर पर बालिकाओं के लिए विशेष योजनाएं चालू की गयी हैं। निर्धन बालिकाओं को पुस्तकों की सहायता दी जा रही है।

(३) बालिकाओं के लिए छात्रावास बनाये जा रहे हैं तथा अध्यापकों के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष भत्ता दिया जा रहा है और उनके लिए १,००० आवास-गृह बनाये जा रहे हैं।

(४) उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में ६०० को अनुदान की सूची पर लाया जायगा।

(५) विज्ञान के लिए ५५५, भवनों के लिए ५००, पुस्तकालय के लिए १,००० और क्रीड़ास्थल के लिए २५० उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों को विशेष अनुदान दिया जा रहा है।

(६) विज्ञान के उपकरण तथा अध्यापकों के लिए विशेष योजना चलायी जा रही है।

(७) बालिकाओं के लिए अतिरिक्त छात्रवृत्तियां ९७५, छात्रावास १४ तथा सह शिक्षा देने वाले विद्यालयों में बालिकाओं के लिए अलग कमरों की १०० विद्यालयों में व्यवस्था की जा रही है ।

(८) अध्यापिकाओं के लिए एक नवीन सी० टी० ट्रेनिंग कालेज और अध्यापकों के लिए दो जूनियर ट्रेनिंग कालेज खोले जा रहे हैं।

हमारा राज्य बालिकाओं की शिक्षा में विशेष रूप से पिछड़ा रहा है। अतएव, जैसा कि उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है, जूनियर हाई स्कूल स्तर से ही इस दिशा में आवश्यक कदम उठाये जा रहे हैं। बालिकाओं की शिक्षा को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से सरकार ने हाल ही में कक्षा १० तक की शिक्षा भी राज्य भर की बालिकाओं के लिए निःशुल्क कर दी है ।

किसी भी व्यक्ति से असंतुष्ट अवस्था में संतोषजनक कार्य की आशा नहीं की जा सकती । अध्यापक भी इसके अपवाद नहीं हैं । फलतः, जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है, गैर-सरकारी विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन-क्रम और महंगाई भत्ते बढ़ा कर उनकी दशा में सुधार करने के लिए प्रदेशीय सरकार निरन्तर प्रयत्नशील रही है । सन् १९५८ में इण्टरमीडिएट शिक्षा अधिनियम में संशोधन करके सहायता-प्राप्त विद्यालयों में प्रशासन और प्रबन्ध में सुधार किया गया है तथा अध्यापकों की सेवा के विषय में सुरक्षा तथा उन्नति की व्यवस्था की गयी है । हाल ही में इन अध्यापकों को पेंशन-निर्वाह-निधि और बीमा की सुविधाएं प्रदान करने का सरकार ने निश्चय किया है । उनके प्रशिक्षण की सुविधाएं भी बढ़ाई गयी हैं तथा उन्हें कार्य करते हुए प्रशिक्षण प्राप्त करने की सुविधाएं भी दी जाने लगी हैं।

प्रसार की इस अवधि में जब कि पहले से कहीं अधिक संख्या में प्रत्येक वर्ग के छात्र माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और विद्यालयों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है, शिक्षा का स्तर बनाये रखने और उन्नति करने के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता है। यों तो अध्यापकों की दशा और प्रशिक्षण में सुधार के लिए किये गये उपायों से इस दिशा में काफी अच्छा प्रभाव पड़ा है फिर भी विज्ञान की शिक्षा के विषय में स्थिति बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती । विज्ञान के अध्यापकों की कमी के साथ-साथ सज्जा और उपकरण की भी विद्यालयों में बहुत कमी रही है । इन बातों को ध्यान में रखते हुए वर्ष १९६३-६४ से एक बड़ी योजना आरम्भ की गयी है, जिसके अन्तर्गत बहुत-से विद्यालयों को विज्ञान की सामग्री के लिए धन दिया जा रहा है तथा अध्यापकों की संख्या बढ़ाने के लिए विशेष कोर्स आरम्भ किये गये हैं । आशा है इन प्रयासों से निकट भविष्य में प्रदेश में विज्ञान की शिक्षा की दशा बहुत कुछ अच्छी हो जायगी ।

विज्ञान की शिक्षा की भांति अंग्रेजी भाषा की शिक्षा की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती । अतएव इसके सुधार के लिए न्यूफील्ड ट्रस्ट और ब्रिटिश काउंसिल के बहुमूल्य सहयोग से इलाहाबाद में सन् १९५९ से एक प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की गयी है । अंग्रेजी भाषा के इस प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा ही पाठ्यक्रम, शिक्षा-पद्धति, पुस्तकालय तथा अध्यापकों के प्रशिक्षण में विशेष उन्नति हो रही है ।

शिक्षा के गुणात्मक विकास के लिए उसकी परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन और सुधार के लिए समय-समय पर शिक्षाशास्त्रियों ने बड़ा बल दिया है, और यह स्वाभाविक ही है ; क्योंकि दोषपूर्ण परीक्षा-प्रणाली से हम बालकों के शिक्षा-स्तर का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते । इस दृष्टि से प्रदेश की शिक्षा अनुसंधान संस्था में आवश्यक कार्य किया जा रहा है और नवीनतम शिक्षा संबंधी खोजों और अनुभवों के आधार पर सुधार की योजना लागू की जा रही है ।

छात्रों के बौद्धिक विकास के साथ-साथ उनका शारीरिक विकास भी परम आवश्यक है । साथ ही इन्हें एक उपयोगी नागरिक बनाने के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि वे अपने अध्ययन के साथ-साथ समाज-सेवा के कार्यों में भी भाग लें । इस दृष्टि से प्रदेश में सैन्य तथा शारीरिक शिक्षा और समाज-सेवा की अनिवार्य योजना कक्षा ११ व १२ में चलायी जा रही है । इससे छात्रों के स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ा है और उनमें सैनिक-शिक्षा तथा समाज-सेवा के प्रति अभिरुचि का जागरण हुआ है । कुछ वर्षों से चुने हुए स्थानों पर छात्राओं के लिए भी यह योजना चलायी जा रही है । इन योजनाओं के साथ-साथ राष्ट्रीय अनुशासन योजना भी प्रदेश के कुछ स्कूलों में चल रही है।

जैसा कि आरम्भ में उल्लेख किया गया था, माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा के बीच की एक बड़ी आवश्यक और अनिवार्य कड़ी है । अतएव शिक्षा की सम्पूर्ण शृंखला को सुदृढ़ बनाये रखने के

लिए यह निर्विवाद है कि उसकी इस बीच की कड़ी को भी मजबूत रखा जाय । इस स्तर की शिक्षा के उपर्युक्त महत्त्व को ध्यान में रखते हुए प्रदेशीय सरकार उसके प्रसार और विकास में निरन्तर प्रयत्नशील रही है । किन्तु उसके प्रयत्नों की सफलता का मूल आधार शिक्षा के प्रति जनता का प्रेम, उत्साह और अमूल्य सहयोग ही है और हमें यह पूर्ण विश्वास है कि हमें यह जन-सहयोग निरन्तर मिलता रहेगा ।

माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश

श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित, एम० ए०, एल० टी०
प्रिंसिपल, राजकीय जुबिली कालेज, लखनऊ

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की उन्नति का वह साधन है, जो उसे प्रतिपल जाग्रत, सक्षम तथा तेजवान बनाता है और फिर ऐसे राष्ट्र के लिए जिसका संगठन प्रजातंत्रमूलक हो, उसके लिए तो शिक्षा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा वह अपना प्रजातंत्रात्मक स्वरूप प्राणवान रख सकता है। शिक्षा का आधुनिक अर्थ इतना व्यापक हो गया है कि वह जीवनपर्यन्त जीवन के सभी क्षेत्रों के लिए अपनी उपादेयता सिद्ध करता है। शिक्षा वर्तमान समय में जीवन के लिए प्रगति और जाग्रति की प्रतीक बन गई है। मानव उद्बोधन का वह सबसे बड़ा साधन है। जिस प्रकार जीवन के क्रम में कई स्तर रहते हैं, इन विविध स्तरों के लिए शिक्षा के भी उतने ही स्तर स्वाभाविक रूप से हो गए हैं। प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था बालक में जहां नागरिकता की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है वहाँ माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था उसमें वह शक्ति तथा कौशल प्रदान करती है, जिसके द्वारा बालक जीवन संचालन को कोई न कोई शिक्षा पाता है, समाज का उपयोगी अंग बनता है तथा राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक सम्पन्नता में अपना महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करता है। इस दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा का स्तर बालक के जीवन में तथा राष्ट्र के जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

हमारे प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा का संगठन स्थायी रूप से सन् १९२१ के पश्चात् ही हुआ जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय का क्षेत्र केवल अध्यापकीय सीमा में आया। इसके पूर्व उसके साथ कितने ही कालेज सम्बद्ध थे। इस समय तक यह विश्वविद्यालय माध्यमिक शिक्षा की परीक्षा का भी कार्य करता था। तत्पश्चात् एक हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट परिषद् की स्थापना हुई, जिसके लिए प्रान्तीय शासन ने एक कानून बनाया। इसी के अन्तर्गत हाई स्कूल तथा इण्टर की परीक्षा नियोजित की गई।

ऐक्ट के अनुसार परिषद् के तीन अंग हैं :

१. निर्वाचित तथा मनोनीत सदस्यों की परिषद् तथा उसकी विविध समितियां।
२. परिषद् का अध्यक्ष।
३. सेक्रेटरी परिषद् और उसका कार्यालय।

परिषद् का गठन :

१. अध्यक्ष, शिक्षा निदेशक, उत्तर प्रदेश।
२. राजकीय इण्टर कालिजों से दो मनोनीत प्रिंसिपल-सदस्य।
३. राजकीय हाई स्कूलों से एक मनोनीत प्रधानाध्यापक-सदस्य।
४. प्राइवेट इण्टर कालिजों से चार निर्वाचित प्रिंसिपल-सदस्य।
५. प्राइवेट हाई स्कूलों से दो निर्वाचित प्रधानाध्यापक-सदस्य।
६. प्रान्तीय शासन द्वारा मनोनीत एक इंजीनियरिंग का सदस्य।
७. मेडिकल कौंसिल द्वारा नियुक्त एक मेडिकल क्षेत्र का सदस्य।
८. प्रान्तीय शासन द्वारा नियुक्त एक कृषि क्षेत्र का सदस्य।
९. प्रान्तीय शासन द्वारा मनोनीत एक ट्रेनिंग कालेजों में से प्रतिनिधि।
१०. प्रान्तीय शासन द्वारा मनोनीत एक उद्योग क्षेत्र का प्रतिनिधि।

११. प्रान्तीय शासन द्वारा मनोनीत एक महिला शिक्षा क्षेत्र की सदस्या।
१२. प्रत्येक विश्वविद्यालय का एक प्रतिनिधि सदस्य।
१३. प्रान्तीय विधान सभा द्वारा निर्वाचित दो सदस्य।
१४. प्रान्तीय राज्य सभा द्वारा निर्वाचित एक सदस्य।
१५. अपर इंडिया चेम्बर आफ कामर्स, यू० पी० चेम्बर आफ कामर्स से नियुक्त एक-एक सदस्य।

समितियाँ—विषयों की परिषद् के विविध कार्यों के संचालन के लिए कई समितियां हैं: विविध पाठ्यक्रम समिति, पाठ्यक्रम समितियां, परीक्षा समिति, विद्यालयों को मान्यता प्रदान करने वाली समिति, वित्त समिति, परीक्षा फल समिति, महिला शिक्षा समिति, प्राइवेट कैंण्डिडेट समिति। इसके अतिरिक्त परिषद् समय-समय पर आवश्यकतानुसार किसी भी समस्या के निमित्त उप-समितियों की नियुक्ति करती रहती है।

परिषद् का अध्यक्ष सदा शिक्षा निदेशक ही रहता है।

परिषद् का एक कार्यालय है, जिसका नियंत्रण एक सचिव द्वारा होता है। कार्यालय की सम्पूर्ण व्यवस्था प्रान्तीय शासन के नियंत्रण में है। उसके सभी कर्मचारी सरकारी कर्मचारी हैं।

यद्यपि माध्यमिक शिक्षा परिषद् का वैधानिक गठन सन् १९२१ के ऐक्ट के अनुसार ही अभी तक चल रहा है, किन्तु उसके क्षेत्र का विस्तार सभी दिशाओं में तीव्रतर गति से हुआ है। देश की स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् सभी दिशाओं में विकास की गति जिस प्रकार हुई है, उसका संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रारम्भ में माध्यमिक शिक्षा परिषद् द्वारा नियंत्रित केवल दो परीक्षाएं ही होती थीं—हाई स्कूल और इण्टर परीक्षा केवल साहित्यिक तथा वैज्ञानिक वर्ग में किन्तु सन् १९४८ तथा सन् १९४९ की शिक्षा संगठन समितियों की योजना के अनुसार निम्नाँकित स्वरूप हो गया:

हाई स्कूल	इण्टर
१. साहित्यिक वर्ग	साहित्यिक वर्ग
२. वैज्ञानिक वर्ग	वैज्ञानिक वर्ग
३. रचनात्मक वर्ग	रचनात्मक वर्ग
४. कलात्मक वर्ग	कलात्मक वर्ग
५. वाणिज्य वर्ग	वाणिज्य वर्ग
६. कृषि वर्ग	कृषि वर्ग
७. टैकनीकल	टैकनीकल

आचार्य नरेन्द्र देव समिति १९४८ तथा पुनर्गठन समिति १९५४ के अनुसार छात्रों को अपनी विविध प्रकार की अभिरुचियों की पूर्ति के लिए जहां एक और अवसर मिला, वहीं शिक्षा का स्वरूप विविध लक्ष्यीय बना और उसमें अधिक सम्पन्नता का समावेश हुआ। पाठ्यक्रम के विषय बढ़े तथा प्रश्न पत्रों की संख्या बढ़ी। पाठ्यक्रम समितियों की भी संख्या तदनुरुप बढ़ी। नीचे की तालिका इस विकास को लक्षित कर रही है:

पाठ्यक्रम के विषयों की संख्या	१९४८	१९६५
हाई स्कूल	३८	८०
इण्टर	३४	९०
प्रश्न पत्र	१७८	३४०

शिक्षा का प्रसार जिस तीव्रतर गति से सन् १९४८, अर्थात् स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् हुआ है उसे देखने से उत्साह, आशा तथा प्रगति के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। कुछ आंकड़े विगत १० वर्षों के प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

	१९५६-५७	१९६४-६५
हाई स्कूल तथा इण्टर की फाइनल परीक्षार्थियों की संख्या	२,७३,८९०	४,८६,०००
हाई स्कूल परीक्षा केन्द्र	६०३	७६८

इण्टर परीक्षा केन्द्र	२६०	४३३
परीक्षक	७,६८२	१२,२८८
टेबूलेटर्स	४३२	६६४
कोलेटर्स	१५४	२१८
स्क्रूटनाइजर्स	४२२	५७१
उत्तर पुस्तिकाएं	३४,५६,४७४	४५,०३,०८०
प्रमाण पत्र दिये गए		
हाई स्कूल	७४,४२३	१,४८,३५३
इण्टर	३६,१९७	६३,७३५
व्यय राशि	६०,३८,४१७	१,०६,१२,४३१
कार्यालय विभाग	४	२२
कर्मचारी अफसर	९	११
लिपिक	२५४	२८३
मान्यता प्राप्त विद्यालय	१,९६७	३,४०६

उपर्युक्त कुछ आंकड़ों से ज्ञात होता है कि माध्यमिक शिक्षा परिषद् का कार्य दिनों दिन तेजी से बड़ता जा रहा है। परीक्षार्थियों की संख्या इतनी तेजी से बढ़ रही है कि परीक्षा का कार्य दुरूह होता जा रहा है। प्रति वर्ष एक हजार से अधिक आवेदन पत्र विद्यालयों की मान्यता प्राप्ति के लिए आ रहे हैं, जिनका समुचित निरीक्षण कठिन होता जा रहा है। परीक्षकों तथा परीक्षा केन्द्रों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। परीक्षण के मापदण्ड अधिक विस्तार के कारण ढीले होते जा रहे हैं। कार्यालय का भार इतना बढ़ गया है कि वर्ष भर वह इतना व्यस्त रहता है कि नित्य वहां विशेष परिस्थिति ही दृष्टिगोचर होती रहती है। प्रत्येक दिशा में जिस तेजी से विस्तार हो रहा है उससे ज्ञात होता है कि आगामी पांच वर्षों में परीक्षा का कार्य नितान्त दुष्कर हो जायगा। एतदर्थ शासन की ओर से इस वर्ष उत्तर प्रदेशीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की अध्यक्षता में इस पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हो गया है कि माध्यमिक शिक्षा पर परिषद् के समस्त कार्यों को किस प्रकार विकेन्द्रित किया जावे कि कार्यदक्षता भी बनी रहे तथा सभी प्रकार के कार्य सुचारु रूप से चलते भी रहें, जिससे प्रभावशील परिणामों की उपलब्धि हो सके। जहां एक ओर यह आवश्यकता है कि माध्यमिक शिक्षा परिषद् की कार्यशैली उन्नत हो, वहीं यह भी आवश्यक है कि परिषद् का वैधानिक गठन भी परिवर्त्तित हो। परिषद् में ऐसे शिक्षा-शास्त्रियों का आधिक्य हो जिन्हें शिक्षा के क्षेत्रीय अनुभव हों।

भारत में विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा का विकास उत्तर प्रदेश के संदर्भ में

डा० अविनाश चन्द्र चटर्जी, एम० एस०-सी०, डी० एस०-सी०
भूतपूर्व उपकुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय

भारत के आधुनिक विश्वविद्यालयों तथा हमारे प्राचीन तथा मध्ययुगीन शिक्षा-केन्द्रों में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है तथापि हमें इन केन्द्रों को भूलना नहीं है, क्योंकि वे उच्चतर शिक्षा के प्रति तथा राष्ट्र के नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक स्थिति एवं आचरण की वृद्धि के प्रति राष्ट्र के विदग्धजनों की अभिवृत्ति प्रकट करते हैं।

अति प्राचीन काल से वाराणसी संस्कृत-शिक्षा का केन्द्र रही है। आज भी अपने संस्कृत विश्वविद्यालय के साथ यह बहुत सुन्दर केन्द्र है।

मध्यकालीन युगों में मुस्लिम शासकों ने उच्चतर शिक्षा के लिए देश के कई भागों में मदरसों की स्थापना प्रोत्साहित की थी। उत्तर प्रदेश में ये इलाहाबाद, जौनपुर, लखनऊ तथा रामपुर में स्थापित हुए। शिक्षण का माध्यम मुख्यतः अरबी था और उसमें समाविष्ट थे व्याकरण, अलंकारशास्त्र, तर्कशास्त्र एवं विधि, ज्यामिति तथा ज्योतिष, प्राकृतिक दर्शन, तत्त्वमीमांसा तथा धर्मदर्शन; साथ ही काव्य, जो सबके लिए आनन्द का स्रोत था। विशेषीकरण भी होता था। लखनऊ धर्मदर्शन में और रामपुर तर्कशास्त्र तथा आयुर्विज्ञान में विशेषीकरण होता था। यद्यपि इनमें से अधिकतम स्थान तिरोहित हो चुके हैं, कुछ तो अब भी हैं और पुरानी परम्पराओं को चालू रखे हैं।

अंग्रेजों का आगमन होने पर, प्रथम गवर्नर-जनरल वारन हेस्टिंग्स ने १७८१ में कलकत्ता मदरसा स्थापित किया, तदनन्तर १७९१ में बनारस संस्कृत कालेज स्थापित हुआ, राष्ट्र की निधियों, साहित्य तथा धर्म को सुरक्षित रखने तथा संवर्धित करने के उद्देश्य से।

१७९२-९३ में जब हाउस आफ कामन्स ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर के नवीयन पर विचार कर रहा था, विल्बरफोर्स के समावेदन पर पार्लियामेंट में प्रस्ताव लाया गया कि ऐसे पग उठाने चाहिए जो भारत के निवासियों के उपयोगी ज्ञान की प्रगति सम्पन्न करें, किन्तु निदेशकों (डाइरेक्टरों) ने इसका भारी विरोध किया और प्रस्ताव को वापस लेना पड़ा।

१८११ में लॉर्ड मिन्टो ने भारत में साहित्य तथा विज्ञान की उपेक्षा पर खेद अनुभव किया और विद्यमान कॉलेजों की उन्नति तथा नियमों की स्थापना का सुझाव दिया। दो वर्ष बाद, १८१३ में, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी का चार्टर पुनः नवीकृत हुआ, एक धारा समाविष्ट की गई, जिसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए ब्रिटिश इंडिया में विज्ञान तथा साहित्य की उन्नत्ति के लिए प्रतिवर्ष आयाधिक्य में से कम-से-कम एक लाख रुपया व्यय करना अनिवार्य कर दिया। यह धारा श्री आर० पी० स्मिथ के समावेदन पर समाविष्ट की गई थी, जो कलकत्ते में एडवोकेट-जनरल रह चुके थे। १८२७ तक, ईस्ट इंडिया कम्पनी के १८१३ के चार्टर की शैक्षिक नीति को कार्यान्वित करने के अधिक सारवान कुछ भी नहीं किया गया।

जैसे-जैसे अधिकाधिक देश ब्रिटिश के अधीन होता गया उन्होंने अनुभव किया कि ब्रिटिश इंडिया की लोक सेवाओं के लिए शिक्षित लोगों की पर्याप्त संख्या उपलब्ध नहीं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दो संस्थाएं थीं, एक कलकत्ता में और दूसरी बनारस में, जो मुख्यतः न्यायालयों के लिए सुयोग्य न्यायाधिकारी उत्पन्न करती थीं।

१८२१ में पूना में डेकन कालेज स्थापित हुआ। पेशवा जनता के शिक्षण पर अधिक धन व्यय करते थे और जब डेकन प्रायद्वीप ब्रिटिश हाथों में चला आया, डेकन के कमिश्नर श्री चैरिलन ने एक कालेज के संपोषण के लिए पेशवाओं द्वारा व्यय किए जाने वाले धन के कुछ अंश के व्यय का प्रस्ताव किया। इस भांति, पूना का डेकन कालेज १८२१ में स्थापित हुआ।

किन्तु, इस बात पर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि भारत सरकार अपने तीन केन्द्रों कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में अपने यूरोपीय नागर कर्मचारियों (सिविल सर्वेंटों) पर जो कभी भी १०० से अधिक न होते थे, प्रतिवर्ष उससे अधिक व्यय करती थी जितना ब्रिटिश इंडिया की सारी जनसंख्या पर (पृ० ३४, हिस्ट्री आव एजुकेशन इन इंडिया, बी० डी० बसु)। यहां तक कि १८१३ चार्टर अधिनियम (53 Gorgii 3, Chapter 155 Sec. 43) में उद्दिष्ट एक लाख रुपया भी व्यय न होता था।

वैयक्तिक नागरिक भी चुप न थे। सर एडवर्ड हाइड ईस्ट, कलकत्ता स्थित सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस की सहायता से राजा राम मोहन राय ने १४ मई, १८१६ को चीफ जस्टिस के निवासस्थान पर एक अधिवेशन किया, जिसमें ५० प्रमुख भारतीय उपस्थित थे और साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा देने के लिए एक कालेज की स्थापना के लिए पचास हजार रुपयों का चन्दा किया गया। परिणामस्वरूप कलकत्ते में हिन्दू कॉलेज की स्थापना हुई। ४० वर्ष तक इस संस्था का स्वतंत्र अस्तित्व रहा और इसने बहुत से उत्कृष्ट विद्वान् उत्पन्न किए, यथा रेवरेंड के० एम० बैनर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त, राजा राजेन्द्र लाल मिश्र, राम गोपाल घोष आदि। लगभग १८५४ में यह संस्था आज कल प्रेसिडेंसी कॉलेज के नाम से ज्ञात संस्था में समाविष्ट हुई।

१८२० में, भारतीय स्कूलों की उन्नति के लिए बाम्बे एजुकेशन सोसाइटी के अधीन एक कमिटी बनी। १८२५ में वह भूमिखण्ड खरीदा गया, जिस पर आज एल्फिस्टन कॉलेज खड़ा है। १८२७ में यूरोपियनों के साथ मिलकर भारतीयों ने ३०,००० पौंड इकट्ठा किया। सरकार ने तब इस सोसाइटी को ४४,००० रुपयों का वार्षिक अनुदान दिया और उसने एल्फिंस्टन कॉलेज खड़ा किया।

१८१४ में, जय नारायण घोषाल, बनारस निवासी, ने सरकार के पास शैक्षिक संस्था स्थापित करने के लिए २०,००० रुपये तथा कुछ भूमि जमा की। १ जुलाई १८१८ में जय नारायण घोषाल द्वारा प्रदत्त गृह में एक स्कूल संस्थापित हुआ, जिसके प्रधानाचार्य रेवरेंड डी० कोन हुए। हिन्दू तथा मुसलमान २०० विद्यार्थी इस संस्था में प्रविष्ट हुए। अप्रैल १८२५ में, कोली शंकर घोषाल, जय शंकर घोषाल के सुपुत्र, ने इस स्कूल की निधि को २०,००० रुपया प्रदान कर बढ़ाया।

१८०२ में आगरा के कुछ भारतीयों ने प्रतिवेदन किया कि गंगाधर शास्त्री द्वारा प्रदत्त कुछ भूमि है, जिसकी वार्षिक आय १६,००० रुपया है। स्कूलों तथा शिक्षागोष्ठियों के लिए यह धन धर्मस्व हुआ। इस धर्मस्व से जिसकी आय अब बढ़कर २०,००० वार्षिक हो गई थी, संचित आय के ब्याज को मिला कर, १८२३ में आगरा कॉलेज स्थापित हुआ।

१८३३ में ब्रिटिश प्रभाव का क्षेत्र बहुत बढ़ चुका था। अतः १८३३ के ईस्ट इंडिया कंपनी के चार्टर अधिनियम में दस लाख रुपये संनिविष्ट करने हुए। भारत में ब्रिटिश सरकार ने स्कूलों तथा कॉलेजों की स्थापना का नेतृत्व नहीं किया, किन्तु उसने जो किया वह था चार्टर के पारित होने के दो वर्ष के भीतर शिक्षण का आंग्लीकरण; क्योंकि १८३५ में लॉर्ड बेंटिक ने अपना विख्यात निर्देश-पत्र निकाला, जिससे भारत की शिक्षण पद्धति का आंग्लीकरण हुआ। बेंटिक भारतीयों को शिक्षित करने के पक्ष में न था किन्तु उनको आंग्लीकरण की इच्छा रखता था, जिससे लोगों का एक ऐसा नया वर्ग पैदा हो जो ब्रिटिश सत्ता की सुरक्षा के स्तम्भ का कार्य करे। निदेशक मंडल ने अपने बंगाल को २९ सितम्बर, १८३० के पत्र के द्वारा अंग्रेजी को न्यायालय की भाषा का रूप दिया। इस पत्र में निदेशकों ने यह भी लिखा कि दो अंग्रेजी कॉलेज एक बनारस और दूसरा दिल्ली में स्थापित किये जाएं। किन्तु भारत के अंग्रेजों की स्वार्थपरायणता ने अंग्रेजी को शिक्षण का माध्यम बनवाया। किन्तु शिक्षण की भारतीय तथा अंग्रेजी पद्धतियों के समर्थकों के बीच बड़ा विवाद चलता रहा, जब तक कि मैकॉले ने १८३५ में अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में अपना निर्देश-पत्र नहीं लिखा। यह मान लिया गया और उस समय से अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षण ने राजकीय मान्यता प्राप्त की। यद्यपि निर्देश-पत्र लिखा मैकॉले ने था, उसको प्रणोदित करने वाला बेंटिक था। इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है। मैकॉले का यह दृष्टिकोण बहुत कुछ भारतीय शिक्षा तथा संस्कृति से उसकी पूर्ण अनभिज्ञता थी। मैकॉले ने अंग्रेजी के लिए निम्न शब्दों में वकालत की :

"हमें भरसक ऐसे वर्ग का निर्माण करना है, जो हमारे तथा उन लाखों व्यक्तियों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं, दुभाषिया हो सके (अर्थ-निर्वचन कर सके), व्यक्तियों का ऐसा वर्ग जो रक्त तथा रंग में भारतीय हो किन्तु अभिरुचि, मत, शब्द तथा बुद्धि में अंग्रेजी हो।"

१८३३-५३ के बीच उच्चतर शिक्षा की कई संस्थाएं स्थापित हुईं। हुगली कॉलेज, हाजी मुहम्मद मोहसिन

की उदारता से प्रस्तुत धन से बना। ईसाई सम्प्रदाय ने सिरामपुर कॉलेज तथा बिशप कालेज स्थापित किए। १८३० में चर्च आव स्काटलैण्ड ने एक स्कूल स्थापित किया जो उच्चतर शिक्षा के अच्छे केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। कलकत्ते का मेडिकल कॉलेज १८३५ में स्थापित हुआ, जिसने बहुत-से अच्छे डाक्टर उत्पन्न किए। डाक्टर विल्सन ने बम्बई में विल्सन कॉलेज की स्थापना की और १८३७ में मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज आरम्भ हुआ। १८४१ में रॉबर्ट नोबल ने मसुलीपट्टम कॉलेज स्थापित किया और १८४४ में नागपुर में हिस्लप कॉलेज स्थापित हुआ। १८५२ में मद्रास मेडिकल कॉलेज को लन्दन के कॉलेज आव सर्जन्स द्वारा मेडिसिन के औपनिवेशिक स्कूल के रूप में मान्यता मिली। सर रॉबर्ट ग्रांट ने बम्बई में १८४५ में मेडिकल संस्था स्थापित की, जिसे रॉयल कॉलेज आव सर्जन्स ने १८५२ में मान्यता दी।

उत्तर प्रदेश में, जो तब नार्थ-वेस्टर्न प्राविंस के नाम से विख्यात था, जहां तक तकनीकी शिक्षा का सम्बन्ध है, बड़ी प्रगति हुई, १८४७ में जेम्स टोमेसन, लेफ्टिनेंट गवर्नर, द्वारा रुड़की में इंजिनियरिंग कालेज की स्थापना से। इसकी स्थापना मुख्यतः गंगा नहर के लिए जो तब बनाई जा रही थी, सहायकों की प्राप्ति के लिए की गई थी। "जेम्स टोमेसन ने जो तब यू० पी० सरकार का सेक्रेटरी था, १८४० में आगरा सी०एम०एस० संस्था की स्थापना प्रोत्साहित की, जिससे १८४१ में स्थापित आगरा मिशन को बड़ा बल मिला। जेम्स टोमेसन १८४३ में यू० पी० का लेफ्टिनेंट गवर्नर हुआ और उसके मार्ग-प्रदर्शन के अधीन आगरा सी० एम० एस० संस्था ने एक क्रिश्चियन कालेज स्थापित करने का निश्चय किया। १८४९ तक ५०,००० रुपए इकट्ठे किए जा चुके थे जिसमें चर्च मिशनरी सोसाइटी की लन्दन कमिटी ने अपनी जुबिली निधि से इतनी ही धनराशि और मिलाई। अंग्रेजों तथा भारतीयों दोनों से चंदा इकट्ठा किया गया था। नए कॉलेज के लिए सरकार ने एक सुन्दर स्थल प्रदान किया। इमारत का काम १८५० के आरंभ में शुरू हुआ और कॉलेज तथा गृह १८५२ में अधिवास के लिए तैयार हुआ। अंततोगत्वा दिसम्बर १६ को कॉलेज खुला। यह कॉलेज, पाश्चात्य विश्वविद्यालयों के प्रतिरूप पर अंग्रेजी के माध्यम द्वारा उदार शिक्षा देने के लिए स्थापित हुआ था और इससे आशा की जाती थी कि यह चरित्र का नवीन तथा उच्चतर नैतिक प्रकार उत्पादित करेगा।" (हेथार्न वाइट ऐण्ड सली, सेंट जान्स कॉलेज आगरा (१८५०–१९३०)। रेवरेंड टामस वैल्थी फ्रेंच, आक्सफोर्ड के यूनिवर्सिटी कॉलेज के विख्यात फैलों को १६ अप्रैल, १८५० में इसका प्रथम प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया। वह १३ फरवरी, १८५१ को आगरा पहुंचा और पुरानी इमारत में जो अब निस्थित हो गई है, अध्यापन आरम्भ किया।

१८५३ तक जो कुछ भी ब्रिटिश-इंडिया अधिकारियों ने शिक्षा के लिए किया वह बहुत ही बेमन तथा निरुत्साही रूप से। १८५३ में, सक्षम साक्षियों के साक्ष्य के आधार पर, पार्लमेंट के दोनों सदनों की प्रवर समिति इस परिणाम पर पहुंची कि भारतीयों को शिक्षित करना राजनीतिक दृष्टिकोण से अकार्योचित न होगा क्योंकि शिक्षित भारतीय भय का स्रोत न होकर अंग्रेजों के बल स्तम्भ होंगे। इस अभिप्राय से १८५४ में साधारणतः वुड के डिस्पैच नाम से विख्यात डिस्पैच तैयार किया गया। उस समय सर चार्ल्स वुड ईस्ट इंडिया कम्पनी के बोर्ड आव कंट्रोल के प्रेसिडेंट थे, जो स्थिति भारत के सेक्रेटरी आव स्टेट के सदृश है। कहा जाता है कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने इसका प्रारूप बनाया था तथा उस समय वह इंडिया ऑफिस में एक क्लार्क था किन्तु साक्ष्य उपलब्ध है कि इसे लार्ड नॉर्थब्रुक ने तैयार किया था। मिल ने नोट भले ही प्रस्तुत किए हों।

इस डिस्पैच के परिणामस्वरूप जो कोर्ट आव डाइरेक्टर्स ने लॉर्ड डलहौजी, उस समय भारत के गवर्नर जनरल, को १९ जुलाई, १८५४ को भेजा था और केवल शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए एक विभाग की सृष्टि की गई।

यूनिवर्सिटी कॉलेज लंदन के प्रो० माल्डेन से परामर्श करके डा० फ्रेडरिक जॉन मोनार ने, लंदन विश्वविद्यालय के प्रतिरूप पर बंगाल में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की योजना १८५३ में बनाई। (देखो परिशिष्ट O, भारत सरकार के राज्य क्षेत्र पर १८५३ की हाउस आव लॉर्ड्स की प्रवर समिति का प्रतिवेदन)। भारत सरकार भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए शीघ्रता करने को तैयार न थी। यह दूसरा गवर्नर-जनरल लॉर्ड कैनिंग ही था, जिसने १८५७ में कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना के वैधानिक अधिनियम पारित किये।

इन तीन विश्वविद्यालयों की बनावट पर ध्यान देना रोचक होगा। गवर्नर-जनरल कलकत्ता विश्वविद्यालय का कुलपति था तथा उसका क्षेत्राधिकार असीमित था। बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों के कुलपति उनके गवर्नर थे और उनका क्षेत्राधिकार क्रमानुसार उनकी प्रेसिडेंसियों तक सीमित था। कलकत्ता में ३८ में से ६, बम्बई में २९ में से ५ तथा मद्रास में ४० में से ३ भारतीय इन विश्वविद्यालयों की सीनेटों में थे। पहले कला, विधि, चिकित्सा तथा इंजिनियरी संकाय ही थे। तदनन्तर इनमें विज्ञान संकाय भी जोड़ा गया।

इसके पश्चात् क्षैतिज प्रसार हुआ, अर्थात् प्रत्येक विश्वविद्यालय में कॉलेजों तथा छात्रों की संख्या बढ़ी तथा अधिकाधिक विश्वविद्यालय भी स्थापित हुए।

१८५७ में हुई पहली इंट्रेंस परीक्षा में सभी विश्वविद्यालयों में मिला कर २१९ विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए। अगले २५ वर्षों में १८५७ से लेकर १८८२ तक कॉलेजों की संख्या २७ से बढ़कर ७५ हो गई।

१८७१–८३ के दौरान सरकारी तथा सरकार से सहायता-प्राप्त स्कूलों की संख्या घटी किन्तु अशासकीय रूप से प्रबन्धित स्कूलों की बड़ी वृद्धि हुई और इस भांति सरकार ने माध्यमिक शिक्षा पर अपना प्रभाव खो दिया। ध्यान देने की अन्य बात यह है कि १८५७ में स्थापित विश्वविद्यालयों में कोई शिक्षण विभाग न थे, न ही कोई विश्वविद्यालयीन आचार्य-आस्पद ही संस्थापित हुए। यद्यपि १८५४ के डिस्पैच ने विश्वविद्यालयीन आचार्य-आस्पदों की संस्थापना की सिफारिश की थी। इस भांति ये विश्वविद्यालय केवल संबद्धक संस्थाएं ही रहीं।

१८६५ में, कई प्रभावशाली व्यक्तियों ने अपने लैफ्टिनेंट गवर्नर के समर्थन से लाहौर में प्राच्य विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव का उपन्यास किया। इसी भांति, दो वर्ष बाद १८६७ में नार्थ वैस्टर्न प्राविंसेज (अब उत्तर प्रदेश) ने इस प्राविंस में विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए वाइसराय को याचिका दी।

भारत सरकार इन में से कोई भी सिफारिश मानने में असमर्थ रही किन्तु लाहौर में सरकारी कॉलेज की स्थापना से सहमत हुई। यह इतना अच्छी तरह बढ़ा कि १० वर्ष बाद १८८२ में लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना का अधिनियम पारित हुआ। यह भी संबर्द्धक प्रकार का ही था किन्तु अधिनियम की एक धारा ने विश्वविद्यालय को शिक्षण कार्य उठाने का अधिकार दिया।

१८८२ में भारत सरकार ने १८५४ के डिस्पैच की कार्यप्रणाली के निरूपण के लिए एक आयोग नियुक्त किया।

१८८६ में म्योर सेंट्रल कॉलेज स्थापित हुआ और एक वर्ष बाद १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना का अधिनियम पारित हुआ। पहली बार ऐसा हुआ कि नव-निर्मित इलाहाबाद विश्वविद्यालय की सक्रियताओं को सीमित नहीं किया गया। यद्यपि आचार्य-आस्पदों की संस्थापना में कोई बाधा न थी, विश्वविद्यालय ने अपने परीक्षोपरान्त संबद्ध कॉलेजों के छात्रों को उपाधि प्रदान करने तक ही सीमित रखा।

१८८२ के आयोग के बाद उच्चतर शिक्षा में द्रुत वृद्धि हुई। १८८२ में नियमित रूप से संबद्ध ६७ कालेज थे यद्यपि ८ अन्य कालेज भी विद्यमान थे, जिससे कुल ७५ कालेज होते हैं। १८९२ तक ६१ नए कालेज स्थापित हो चुके थे और अगले १० वर्षों में ५० और कॉलेज आरम्भ हुए, इनमें से बहुत से अशासकीय समितियों द्वारा आरम्भ किए गये थे, यथा पूना की डेकन एजुकेशन सोसायटी, पंजाब में आर्य समाज और बाद में बंगाल में नैशलनल कौंसिल आव एजुकेशन।

१९०२ तक कॉलेजों तथा विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। २७ जनवरी,१९०२ को सरकार ने एक दूसरा आयोग नियुक्त किया "विश्वविद्यालयीन शिक्षा की समीक्षा के लिए तथा ऐसी कार्रवाइयों की सिफारिश करने के लिए जिन से विश्वविद्यालयीन अध्यापन का स्तर उठे और ज्ञान की प्रगति की उन्नति हो।" आयोग ने सिफारिश की कि सभी विश्व-विद्यालयों को अध्यापन संस्थाओं के रूप में मान्यता मिले तथा स्थानीय सीमाएं ठीक से निश्चित की जाएं। १९०४ के विश्व-विद्यालय अधिनियम में आयोग की मुख्य सिफारिशें संनिविष्ट की गईं और विश्वविद्यालयों के शासी निकाय पुनर्गठित हुए। भारतीय मत इस अधिनियम के सम्बन्ध में बहुत आलोचनात्मक था, क्योंकि सेनेटों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बहुत कम थी, जिससे अंग्रेजों के लिए बहुमत उपलब्ध रहे। संबद्धन की शर्तें अधिक कठोर कर दी गईं जिससे संबद्ध कालेजों की संख्या १९०७ में गिर कर १७४ रह गई जिससे कॉलेजों में विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गई, अंशतः जिसका कारण कॉलेजों की संख्या में कमी था। अगले २५ वर्षों में, १८८२-१९०५ तक उच्चतर शिक्षा का द्रुत प्रसार हुआ और सारे देश में बहुत से कॉलेज खुले। हमारे प्रदेश में भी बहुत से कॉलेज खुले :

१. क्वीन्स कॉलेज।
२. कैनिंग कॉलेज
३. सेंट ऐंड्रूज कॉलेज
४. बरेली कॉलेज
५. मेरठ कॉलेज
६. क्राइस्ट चर्च कालेज
७. ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज
८. डी० ए० वी० कॉलेज, विविध स्थानों पर।

क्वींस कॉलेज को छोड़कर शेष सब अशासकीय संस्थाओं द्वारा प्रबंधित थे और इन्होंने यू० पी० में उच्चतर शिक्षा की प्रगति में बहुत बड़ी सहायता की है। १९१३ तक कॉलेजों की संख्या बराबर बढ़ती गई और तब उच्चतर शिक्षा संबंधी नीति को स्पष्ट करने के लिए शैक्षिक नीति संबंधी सरकारी प्रस्ताव पास किया गया। इसने सूचित किया कि

यद्यपि संबद्धक विश्वविद्यालय समाप्त नहीं किए जा सकने, उनका क्षेत्राधिकार सावधानी से निश्चित होना चाहिए और प्रत्येक प्रांत में एक नया अध्यापन विश्वविद्यालय बनना चाहिए। यह निश्चय हुआ कि ढाका, बनारस तथा अलीगढ़ में आवासिक एवं अध्यापन विश्वविद्यालय और रंगून, पटना तथा नागपुर में संबद्धक विश्वविद्यालय स्थापित किए जाएं। प्रथम विश्व-युद्ध से इन विकासों में विलम्ब हुआ किन्तु बनारस तथा पटना के दो विश्वविद्यालय क्रम से १९१६ तथा १९१७ में स्थापित हुए। बनारस विश्वविद्यालय अस्तित्व में आया विख्यात तथा पूज्य राष्ट्रीय नेता महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के अथक प्रयासों के फलस्वरूप।

१९१६ में सर आशुतोष मुखर्जी के नेतृत्व में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने विश्वविद्यालय द्वारा अध्यापन कार्य का भार उठाया और अपने स्नातकोत्तर विभागों के लिए लेक्चरार तथा प्रोफेसर नियुक्त किए। कलकत्ता विश्वविद्यालय जब इस प्रकार दृढ़ीभूत हो रहा था, भारत सरकार ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन नियुक्त किया, कलकत्ता विश्वविद्यालय के मामलों की जांच के लिए।

कमिशन की रिपोर्ट कलकत्ता विश्वविद्यालय को लागू न की जा सकी, उस मतभेद के कारण जो सरकार तथा विश्वविद्यालय के बीच उस वित्तीय सहायता के संबंध में था, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय को देनी थी जिससे वह सिफारिशों को कार्यान्वित कर सके। तथापि, मैसूर तथा हैदराबाद में क्रम से १९१६ तथा १९१८ में दो नए अध्यापन विश्वविद्यालय स्थापित हुए। १९२० में अलीगढ़ में अध्यापन विश्वविद्यालय स्थापित हुआ और एक अन्य अध्यापन विश्वविद्यालय ढाका में स्थापित हुआ। तब से अधिकाधिक विश्वविद्यालय तथा उच्चतर शिक्षा संस्थाएं देश में स्थापित होती गईं किन्तु यहां अब उन्हीं की चर्चा की जाएगी जो उत्तर प्रदेश में बनीं।

संयुक्त प्रांत ने कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की सिफारिशें मान लीं और बोर्ड आव हाई स्कूल तथा इंटरमिडिएट एजुकेशन को १९२१ में स्थापित किया, प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा को संगठित तथा नियंत्रित करने के लिए, कैनिंग कालेज तथा किंग जोन्स मेडिकल कालेज जो १९२१ में बने थे आपस में मिलकर लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना १९२० में की गई। म्योर सेंट्रल कॉलेज, ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज तथा कायस्थ पाठशाला को मिलाकर पुनर्गठित अध्यापन तथा आवासिक इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना १९२३ में की गई, जिसमें एक बाह्य पक्ष था, यू० पी०, राजपूताना (राजस्थान) तथा मध्य प्रदेश के संबद्ध कॉलेजों के शासन के लिए। यह बाह्य पक्ष १९२७ में आगरा विश्वविद्यालय बना। १९४८ टोमेसन इंजिनियरिंग कॉलेज को रुड़की विश्वविद्यालय का रूप मिला जो अध्यापन पथा आवासिक लक्षण का है। हरद्वार के गुरुकुल कांगड़ी को भी विश्वविद्यालय का पद मिल गया है।

एक अन्य संस्था, वाराणसी स्थित संस्कृत कॉलेज १९६० में संस्कृत विश्वविद्यालय में परिणत हुई। थोड़ा समय हुआ, गत वर्ष, दो नए विश्वविद्यालय अधिनियम, मेरठ तथा कानपुर के, पारित हुए और आशा है कि ये जुलाई, १९६६ मे काम करने लगेंगे।

जहां तक तकनीकी तथा चिकित्सा शिक्षा का सम्बन्ध है, दयाल बाग में इंजिनियरिंग कॉलेज, इलाहाबाद में मोतीलाल राष्ट्रीय इंजिनियरिंग कॉलेज नाम का प्रादेशिक इंजिनियरिंग कॉलेज तथा गोरखपुर में मदनमोहन मालवीय इंजिनियरिंग कॉलेज स्थापित किये गए हैं। इसी भांति, प्रदेश में मेडिकल डाक्टरों की कमी दूर करने के लिए आगरा, कानपुर तथा इलाहाबाद में मेडिकल कॉलेज खोले गए हैं। प्रस्तावित है कि दो और मेडिकल कॉलेज एक गोरखपुर में और दूसरा झांसी में खोले जाएं। १९५६ में गोरखपुर में अध्यापन तथा संबद्धक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया था, प्रदेश के पूर्वी जिलों के लिए। यह अध्यापन-आवासिक तथा संबद्धक विश्वविद्यालय है।

रुद्रपुर में जो अब पंतनगर कहलाता है, अमरीका के लैंड ग्रांट कॉलेजों के प्रतिरूप पर कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किया गया है। कृषि विषयों के अध्यापन के अतिरिक्त यहां आधारभूत विज्ञानों तथा ह्यूमैनिटिओं का अध्यापन भी किया जाता है। कुछ दिन हुए उन्होंने इंजिनियरिंग कॉलेज खोलने का निश्चय किया है, जिसमें सिविल, इलैक्ट्रिकल तथा मैकनिकल इंजिनियरी की शिक्षा, ऐग्रिकलचरल इंजिनियरी के अलावा, दी जायगी।

इसके पहले, मथुरा में पशु चिकित्सा में उच्चतर शिक्षा के लिए पशु चिकित्सा तथा पशु-पालन कॉलेज स्थापित हो चुका था। इसके पूर्व, मुक्तेश्वर में, जो हिमालय में एक पहाड़ी स्थान है, इम्पीरियल कॉलेज आव वेटेरिनरी साइंसेज काम कर रहा था जिसकी एक शाखा इज्जतनगर में है। यह संस्था अधिकतर अनुसंधान में लगी रहती है।

दिसम्बर १९४८ में डा० एस० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया था, "भारतीय विश्व-विद्यालय शिक्षा पर प्रतिवेदन देने के लिए तथा वांछनीय सुधार तथा प्रसार सम्बंधी सुझाव देने के लिए, तथा देश की वर्तमान तथा भावी अपेक्षाओं के निर्धारण के लिए।" अपनी बहुत-सी सिफारिशों में से उसने ग्राम-विश्वविद्यालय खोलने का सुझाव

भी दिया था, किन्तु अभी तक केवल ग्राम-पूर्वग्रह वाला कोई विश्वविद्यालय नहीं खोला गया है। यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों में उच्चतर शिक्षा की कई संस्थाएं खोली गई हैं।

१९४८ में उत्तर प्रदेश सरकार तथा लखनऊ विश्वविद्यालय की सहायता से लखनऊ विश्वविद्यालय से मिला बीरबल साहनी पैलिओ-बोटैनिकल इंस्टिट्यूट स्थापित किया गया था, पैलिओबाटनी में अनुसंधान कार्य के लिए। इसके कुछ ही समय बाद, काउंसिल आव साइंटिफिक एंड इंडस्ट्रिअल रिसर्च ने लखनऊ में छतर मंजिल पैलेस से लगी इमारतों में सेंट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टिट्यूट की स्थापना की। यहां औषधियों तथा संबंधित आधारभूतविज्ञानों पर अनुसंधान किए जाते हैं। एक अन्य संस्था, नैशनल बॉटेनिकल गार्डर लखनऊ के सिकंदर बाग में स्थापित की गई जो १९४८ से प्रादेशिक बॉटेनिकल गार्डन के रूप में कार्य कर रही थी और बाद में नई दिल्ली के सी० एस० आई० आर० द्वारा ले ली गई। सेंट्रल इंडियन मेडिकल प्लांट ऑरगैनाईजेशन, नैशनल बॉटेनिकल गार्डन की इमारत में कार्य कर रही है किन्तु पृथक् संस्था के रूप में। इसी भांति, १९६५ में सी० डी० आर० आई० की इमारत में इंडियन टाक्सिकॉलोजी रिसर्च सेंटर खोला गया, औद्योगिक धूल, धूम तथा ऐसे ही प्रभावोंजनित रोगों पर अनुसंधान करने के लिए। सेंट्रल फूड टेक्नालॉजिकल इंस्टिट्यूट का एक छोटा प्रायोगिक स्टेशन भी सी० डी० आर० आई० की इमारत में काम कर रहा है।

उत्तर प्रदेश बड़ा भारी शक्कर उत्पादक केन्द्र है। अतः केन्द्रीय सरकार ने लखनऊ में इंडियन इंस्टिट्यूट आव शुगर केन रिसर्च स्थापित किया है, जिसका कार्य है गन्ने के कृषि-संबंधी पहलुओं का अध्ययन। कानपुर में नैशनल शुगर इंस्टिट्यूट है जो शक्कर-निर्माण के तकनीकी तथा इंजिनियरी पक्षों से संबंधित है।

अब तक संस्थाओं तथा उनके छात्रों की संख्या की वृद्धि का ही वर्णन हुआ है। यह क्षैतिज प्रसार कहा जा सकता है। चूंकि प्रत्येक देश में विश्वविद्यालय संस्कृति तथा ज्ञान के आवश्यक अंग होते हैं और चूंकि "ज्ञान की खोज विश्वविद्यालय का आवश्यक कार्य है", अब उपयोगी होगा वर्णन करना कुछ सुविधाओं सम्बंधी उन आधारभूत बातों का, जो इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए आवासिक विश्वविद्यालयों में उपलब्ध हैं। ऐसे विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए विश्वविद्यालय की कार्यप्रणाली का व्यक्तिगत ज्ञान आवश्यक है। अतः केवल लखनऊ विश्वविद्यालय को लिया जायगा, जिसकी कार्यप्रणाली का लेखक को घनिष्ठ ज्ञान है।

विश्वविद्यालय अधियिनम १९२० में पारित हुआ था और अध्यापन जुलाई १९२१ से आरम्भ हुआ, कला, विज्ञान, विधि, वाणिज्य तथा चिकित्सा संकायों में। पांच आचार्य थे—दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, भौतिकी तथा वनस्पति विज्ञान विभागों में से प्रत्येक में एक-एक और सात आचार्य थे मेडिकल कॉलेज में। अगले वर्ष, १९२३-२४ में पांच और आचार्य नियुक्त हुए, अंग्रेजी, भारतीय इतिहास, रसायन, प्राणिविज्ञान तथा गणित में और मेडिकल कॉलेज में नेत्र विज्ञान का आचार्य बढ़ा।

१९२५–२६ में संस्कृत के साथ हिंदी ओर फारसी के साथ उर्दू बी० ए० परीक्षा के लिए स्वतंत्र विषय के रूप में सम्मिलित किये गए यद्यपि सभी अण्डर ग्रेजुएटों के लिए हिंदी तथा उर्दू की शिक्षा वर्नाक्यूलर परीक्षा के लिए १९२२ से ही दी जा रही थी। १९३८ में हिंदी तथा उर्दू एम०ए० की परीक्षा में लाए गए। १९४७ में हिंदी का पृथक् विभाग बना और १९४८ में हिंदी विभाग में आचार्य-आस्पद की सृष्टि हुई। हिन्दी को यह महत्त्व मुख्यतः उपकुलपति आचार्य नरेन्द्र देव तथा अवैतनिक कोषाध्यक्ष श्री चन्द्रभानु गुप्त के कारण मिला। इस विभाग में भाषा विज्ञान का एक और आचार्य-आस्पद १९६३ में सृष्ट हुआ।

विधि तथा राजनीति विज्ञान विभागों में दो अतिरिक्त आचार्य-आस्पद जोड़े गए, क्योंकि १९४४ तक यह विभाग बहुत बढ़ चुके थे।

१९४४-५४ के बीच सम्मिलित किए गए नए विषयों में हैं: (१) सैनिक विज्ञान, (२) जीव-रसायन, (३) सोशिऑलोजी तथा मानव सम्बन्ध (४) मानव विज्ञान (५) सौपरिवेशिकी, (६) भूगोल, (७) भौतिकी तथा (८) सांख्यिकी।

मेडिकल कॉलेज में बहुत-से विषय पढ़ाये जाते थे, या तो बृहत्तर विभागों के अंगों के रूप में अथवा छोटे विशिष्ट विषयों के रूप में। यथा डरमेटॉलोजी, पीडिएट्रिक्स, रेडिऑलोजी, ट्यूबरकुलोसिस, डेंटिस्ट्री, आर्थोपीडिक्स, इयर नोज थ्रोट इत्यादि।

अवैतनिक कोषाध्यक्ष श्री चन्द्रभानु गुप्त द्वारा नए विभागों तथा विषयों के आरम्भ करने के लिए बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने स्वास्थ्य मंत्री के रूप में सहायता तो दी ही, साथ ही विश्वविद्यालय की १९४८ की सिलवर जुबिली के अवसर पर १७ लाख रुपये इकट्ठे किए। जीव रसायन आरम्भ करने के लिए २५,००० रुपया इकट्ठा करके उन्होंने बड़ा प्रोत्साहन दिया। सिलवर जुबिली निधि में से लगभग ५ लाख रुपया विज्ञान संकाय की उन्नति में लगाए गए। दो लाख

२५ हजार का बड़ा सुन्दर दान जे० के० रिसर्च इंस्टिट्यूट आव सोशिऑलोजी तथा ह्यूमन रिलेशन्स के खोलने के लिए दिया गया ।

अगले पांच वर्षों में विश्वविद्यालय ने आधुनिक यूरोपीय तथा भारतीय भाषाओं के शिक्षण का प्रबंध किया। सोशिऑलोजी तथा सोशलवर्क का विभाग खोला गया। बीरबल साहनी इंस्टिट्यूट ऑव पैलिओबॉटनी १९४८ में खोला गया और वह छात्रों को उस विषय में पी०-एच० डी० की उपाधि के लिए तैयार करता है। भौतिकी तथा सांख्यिकी एक-एक आचार्य के अधीन पृथक् विषयों के रूप में गृहीत हुए। विश्वविद्यालय में नया आयुर्वेद संकाय जोड़ा गया। वाणिज्य संकाय में व्यवसाय-प्रबंध का नया विषय जोड़ा गया।

१९५८–६५ के वर्षों में बहुत-सी उन्नतियां हुई। आचार्य के अधीन, जीव रसायन एक पृथक् विभाग बना। इसके लिए एक पृथक् बड़ी इमारत बनाई गई है। जोर दिया गया है एम्ब्राय्रालोजी, हिस्टो-पैथॉलोजी, हीमेटालोजी, बाइरालोजी, पैरासिटॉलोजी, रासायनिक फारमैकॉलोजी, निवारक चिकित्सा, हृद्य रोग, थोरेसिक प्लैस्टिक, नूरो सर्जरी तथा एेनीस्थिसिओलोजी के शिक्षण पर। आयुर्वेद संकाय में अच्छी उन्नति की गई है। यह सारी उन्नति तथा कई आचार्य-आस्पदों की सृष्टि सम्भव हुई है, उस भारी रुचि के कारण जो विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कोषाध्यक्ष श्री चन्द्रभानु गुप्त की इसमें थी।

हमारी शैक्षिक समस्याएँ

डॉ० सीताराम जायसवाल
रीडर, शिक्षा-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

भारतवर्ष भाषा तथा प्रांतीय संस्कृति की दृष्टि से विभिन्नताओं का सम्मिश्रण है। इस उप-महाद्वीप का एक शासन के अन्तर्गत आना और एक इकाई के रूप में कार्य करना एक आश्चर्यजनक बात है। कुछ दिनों पूर्व असामाजिक तत्वों ने भारतीय गणराज्य को कमजोर बनाने की दृष्टि से प्रजातांत्रिक स्वतंत्रता का दुरुपयोग करना प्रारंभ कर दिया था। फलतः भावात्मक और राष्ट्रीय एकता के आंदोलन का सूत्रपात करना पड़ा। किन्तु यह सत्य है कि भारतवर्ष सब से बड़ा प्रजातंत्रवादी राज्य है और समस्त विश्व को भारतवर्ष से एक आयोजित एवं शांतिपूर्ण परिवर्तन की आशा है। अतएव जब हम भारतीय शैक्षिक समस्या पर विचार करते हैं तो हमें इन बाह्य विचित्रताओं के पीछे गतिमान मौलिक एकता को भी ध्यान में रखना चाहिए। भारतीय समाज इस समय परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। औद्योगिक तथा तकनीकी उन्नति के कारण परंपराएं एवं मूल्य बदलते जा रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर पड़ने वाला प्रभाव इतना स्पष्ट है कि उसका उल्लेख आवश्यक नहीं है। मुख्य समस्या तो इस समय सामंजस्य की है। हम यह भी देखते हैं कि सार्वजनिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में भारतीय जीवन को पाश्चात्य पद्धति के अनुरूप बनाने के लिए प्रयास किए जा रहे हैं। यद्यपि विभिन्न राष्ट्रों के बीच अवरोध समाप्त किए जा रहे हैं; फिर भी ऐसा परिवर्तन लाना जो कि किसी प्रदेश की जनता की संस्कृति के अनुकूल नहीं हैं, अवश्य ही असफल होगा।

शिक्षा और विकास—जब से भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ है देश के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए योजनाओं के आधार पर प्रयास किए जा रहे हैं। इस संबंध में योजना आयोग द्वारा निर्मित पंचवर्षीय योजनाओं ने देश के सर्वांगीण विकास में पर्याप्त सहयोग दिया है। विकास कार्य का सैद्धांतिक पक्ष संतोषप्रद है। परन्तु जब योजनाओं को कार्यान्वित किया जाने लगा तब अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। योजना-निर्माताओं का यह विचार कि योजनाओं के कार्यान्वित करने में जन-साधारणका सहयोग स्वयं प्राप्त होगा, सत्य सिद्ध नहीं हुआ। यह भी अनुभव किया गया कि प्रशासकीय स्तर पर किए जाने वाले आयोजित परिवर्तनों के प्रत्येक प्रयास तथा जनसहयोग की एक सीमा होती है। ऐसे अनेक प्रगतिशील अधिनियमों का निर्माण किया गया जो आयोजित परिवर्तन को कार्यान्वित करें तथा साथ-साथ मानव के आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन का नियमन करें। यह भी आवश्यक समझा गया कि किसी भी आर्थिक एवं सामाजिक विकास की योजना की सफलता कुछ सीमा तक जनमत पर आधारित होती है। अतएव जनमत की प्राप्ति के लिए कार्यान्वित की जाने वाली योजना के संबंध में जनता को शिक्षित करने की आवश्यकता है, क्योंकि किसी योजना का उसके निर्माताओं की दृष्टि में चाहे कितना भी महत्त्व क्यों न हो, वह जनता के विचार में तब तक महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि जनता स्वयं इसे स्वीकार न कर ले। सामुदायिक विकास की योजना के कार्य के मध्य शिक्षा की समस्या एवं विकास के संबंध में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। सामाजिक एवं वयस्क शिक्षा का संबंध न केवल लिखने, पढ़ने एवं गणित से है वरन् योजनाओं द्वारा आशान्वित परिणाम से भी है। सामाजिक एवं आर्थिक विकास में आने वाली कठिनाइयों का निराकरण शिक्षा के प्रसार द्वारा ही संभव है। शिक्षा के संबंध में किए गए अब तक के प्रयत्नों को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है और इसके लिए निश्चित कदम उठाने की आवश्यकता है। प्रारंभिक शिक्षा की समस्याओं के समाधान के लिए भी वैज्ञानिक अध्ययन एवं सुनियोजित प्रयास की आवश्यकता है। जहां तक सामाजिक एवं वयस्क शिक्षा में कार्यरत संस्थाओं का प्रश्न है, वे संतोषप्रद नहीं हैं।

प्राइमरी तथा बेसिक शिक्षा—निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा वास्तविक प्रजातंत्र का मौलिक आधार है। आधुनिक प्रजातंत्र में किसी भी व्यक्ति को अशिक्षित नहीं होना चाहिए, क्योंकि शिक्षित नागरिक प्रजांग की जीवन-वायु के समान है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में भी प्राथमिक शिक्षा के लिए प्रावधान रखा गया है। संविधान के अनुसार प्राथमिक शिक्षा के विकास का भार राज्य सरकारों पर है तथा इसके लिए निश्चित अवधि का भी उल्लेख किया गया है। कुछ भी हो, प्राथमिक शिक्षा के विकास कार्य में भारत सरकार एवं उसकी इकाइयां पूर्ण रूप से सफल न हो सकीं।

सर्वप्रथम प्राथमिक शिक्षा की योजना का निर्माण राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के द्वारा किया गया था, जिसे सभी प्रकार की नैतिक एवं सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद प्रादेशिक शिक्षा के क्षेत्र में विशेष उन्नति न हो सकी अथवा जो उन्नति हुई वह संतोषप्रद नहीं है। इसके संबंध भी में अनेक प्रकार के विचारों को व्यक्त किया गया है। यहां तक कि शिक्षा-मंत्रालय के कुछ अधिकारी भी प्राथमिक शिक्षा के विकास के संबंध में अपना रोष व्यक्त करने में हिच-किचाते नहीं हैं। सत्य तो यह है कि जिन कंधों पर प्राथमिक शिक्षा के विकास की योजना को कार्यान्वित करने का भार था, वे स्वयं ही इसके समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दर्शन को उचित रूप से नहीं समझ सके। किसी को भी इस बात के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। परन्तु निराशा की इस स्थिति को कोई भी विचारशील व्यक्ति सरलता से समझ सकता है। दुःख इस बात का है कि प्राथमिक शिक्षा के विकास की योजना सरकार का पूर्ण संरक्षण प्राप्त करते हुए भी पनप न सकी। यह इस बात का द्योतक है कि केवल सरकार जनसहयोग के अभाव में शिक्षा के क्षेत्र में किसी विकास कार्यक्रम को सफलतापूर्वक नहीं कार्यान्वित कर सकती।

प्राथमिक शिक्षा की समस्या के कई पक्ष हैं। सबसे पहले पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित अध्यापकों एवं पाठशालाओं के लिए भवनों का अभाव है। अध्यापकों को प्रशिक्षित करने एवं पाठशाला के लिए भवनों के निर्माण हेतु प्रचुर धनराशि की आवश्यकता है। स्वर्गीय प्रधान मंत्री नेहरूजी ने इस समस्या के निराकरण के लिए यह कहा था कि हम भवन निर्माण के लिए अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। अतः प्राथमिक पाठशालाएं वृक्षों की छाया में खोली जायं। इस प्रकार तो भवन की कठिनाई पूर्ण रूप से दूर नहीं हो सकती फिर भी कुछ कम अवश्य हुई है। यह उल्लेखनीय है कि प्राथमिक पाठशालाओं में दिन प्रतिदिन बच्चों की संख्या बढ़ती जा रही है तथा दूसरी ओर प्राथमिक शिक्षा संबंधी जनता की मांग को पूरा करने में सरकार अपने को असमर्थ पा रही है। वह समय बीत चुका है जब कि बच्चों को पाठशाला भेजने के लिए अभिभावकों को प्रेरित करना पड़ता था। आज का प्रत्येक भारतीय अपने बच्चे का भविष्य संवारना चाहता है। वह यह भी जानता है कि बच्चों के सर्वांगीण विकास में शिक्षा का क्या महत्त्व है। अतएव जब जनता अपने बच्चों को प्राथमिक पाठशालाओं में आज भेजना चाहती है तब हम इन मांगों को पूरा करने के लिए पर्याप्त भौतिक साधन इकट्ठा नहीं कर पाते।

शिक्षा की व्यवस्था के साथ-साथ उसके स्वरूप पर विचार करना भी आवश्यक है। प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षक निर्धनता एवं ऋण के भार से दबे हुए हैं। इन्हीं कारणों से इस बात पर पर्याप्त जोर डाला गया कि अध्यापकों को कम-से-कम जीवन-निर्वाह-योग्य वेतन तो मिलना ही चाहिए। परन्तु सरकार का बजट केवल अध्यापकों की आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिए अपर्याप्त है। जब तक देश कृषि तथा औद्योगिक विकास के माध्यम से संपन्न नहीं हो जाता तब तक इस समस्या का निराकरण नहीं किया जा सकता। भारतीय समाज के अनेक अंग दीर्घकाल से निर्धनता के बोझ से दबे हुए हैं। अतः हम अध्यापकों से जो कि समाज के अंग हैं, यह आशा करते हैं कि वे भी निर्धनता में हिस्सा बटाएंगे। इन तथ्यों का अध्ययन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि निर्धनता की समस्या ने शिक्षा के स्वरूप पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। जब तक विश्व के संपन्न राष्ट्रों का सहयोग नहीं प्राप्त होता तब तक इसका निराकरण कठिन है। हर्ष की बात यह है कि विश्व के प्रगतिशील औद्योगिक राष्ट्रों ने भारत के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए समय-समय पर पर्याप्त अनुदान दिया है। परन्तु स्व-सहायता के महत्त्व से हम विमुख नहीं हो सकते। अतः जब तक स्वयं ही भारतवासी इस ओर प्रयत्न नहीं करते, तब तक हम किसी प्रकार की स्थायी सफलता की कामना नहीं कर सकते। स्व-सहायता के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक है।

माध्यमिक शिक्षा—माध्यमिक शिक्षा का संबंध १२ वर्ष से १८ वर्ष की आयु के बालक तथा बालिकाओं से होता है। बच्चे प्राथमिक पाठशाला के पश्चात् जूनियर हाई स्कूलों में प्रवेश करते हैं। जूनियर हाई स्कूल में प्रवेश लेने वाले छात्रों की आयु सामान्यतया ११ अथवा १२ वर्ष होती है। जूनियर हाई स्कूल के पाठ्यक्रम को इस दृष्टिकोण से बनाया जाता है कि इसको तथा प्राथमिक एवं बेसिक पाठशालाओं के पाठ्य-क्रम में निरंतरता बनी रहे। परन्तु समस्या सामान्य विज्ञान एवं सामाजिक विषयों के शिक्षा के संबंध में उत्पन्न होती है। क्योंकि इन विषयों को पढ़ाने के लिए अध्यापकों में विशेष योग्यता का होना आवश्यक है। वह शिक्षक जिसे स्वयं ही विषय का संपूर्ण ज्ञान न हो उस विषय को प्रभावशाली ढंग से नहीं पढ़ा सकता। इसी कारण शिक्षा के माध्यम से विभिन्न विषयों के सामूहिक ज्ञान प्रदान करने की समस्या सदा से ही बनी हुई है। अतः जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि शिक्षकों के प्रशिक्षण में एक नये दृष्टिकोण, एक नये उपगम का होना आवश्यक है, जिसका उद्देश्य छात्रों को न केवल परीक्षा के लिए तैयार करना हो वरन् वह बालक के सर्वांगीण विकास में भी सहायक हो।

कुछ भी हो माध्यमिक स्तर के शिक्षा की समस्याएं बहुत गूढ़ हैं और उन पर मुदलियार आयोग द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अतिरिक्त इस आयोग ने कई दृष्टि से अनेक सुझाव दिए हैं जिनमें से अधिकांश को व्यवहार में लाया गया है। इस समय भी भारत की माध्यमिक स्तरीय शिक्षा की समस्याओं की शैक्षिक निर्देशन के तथा भारत के किशोरों की आवश्यकता एवं रुचियों संबंधी समस्याओं के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अभाव के कारण नहीं सुलझाया जा सका है। फलतः माध्यमिक शिक्षा में उन अनेक तत्त्वों का अभाव रहा है जो कि भारतीय युवकों के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।

माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों की उचित व्याख्या अभी तक नहीं हुई है। कदाचित् इसी कारण शिक्षक तथा शिक्षित समुदाय में भी उद्देश्य संबंधी भ्रांतियां हैं। परन्तु अभी तक माध्यमिक शिक्षा को प्राथमिक एवं उच्च शिक्षा के बीच एक सेतु समझा गया है। एक पूंजीवादी समाज में जहां संपूर्ण समाज की रुचि एवं कल्याण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता यह अव्यवस्था उचित सिद्ध हो सकती है। परन्तु भारत जैसा प्रजातंत्रीय एवं योजना के अनुसार परिवर्तनशील समाज माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य तथा समस्याओं के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। हमें माध्यमिक शिक्षा को एक इकाई के रूप में ग्रहण करना है न कि महत्त्वहीन शैक्षिक परिशिष्ट के रूप में स्वीकार करना है। भारतीय युवकों की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए एक सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है, जिससे कि वे अपनी आयु के रचनात्मक कार्य करने की अवधि की व्याकुलता एवं आशंका में न व्यतीत कर दें। भारतवर्ष के समाजवादी ढांचे पर आधारित समाज को दृष्टि में रखकर युवकों को उनके जीवन का उद्देश्य निश्चित करने के लिए सहायता दी जानी चाहिए। हमें गला-काट-प्रतियोगिता को प्रोत्साहन नहीं देना है वरन् एक ऐसी पद्धति का निर्माण करना है जो सहयोग की भावना का विकास कर सके।

माध्यमिक शिक्षा को व्यावसायिक आधार भी देना आवश्यक है, जिससे कि माध्यमिक स्कूलों से निकलने वाले छात्रों की बड़ी संख्या को उपयोगी व्यवसाय प्राप्त हो सके और बेकारी से उत्पन्न पराजय की भावना को भी दूर किया जा सके। संपूर्ण समस्या को सुलझाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर किए जाने वाले प्रयास की आवश्यकता है। इसके लिए शिक्षा योजना निर्माताओं के सम्मुख वर्तमान भारतीय समाज तथा १५ वर्ष पश्चात् आने वाले आर्थिक स्वरूप का स्पष्ट चित्र होना चाहिए। किसी भी ऐसी शिक्षा योजना की जिसे भारतीय प्रजातंत्रवादी समाज के आधार पर नहीं बनाया गया है उसकी सफलता संदिग्ध है। यहां इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रजातंत्रवादी समाज में अभाव, क्षुधा, अज्ञान एवं रोग नहीं होते। प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। साथ-ही-साथ इस बात का भी अवसर मिलना चाहिए कि वह अपनी योग्यतानुसार उपयोगी व्यवसाय प्राप्त कर सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक शिक्षा की समस्या प्राथमिक और उच्चस्तरीय शिक्षा के बीच की केवल शिक्षा के स्तर की समस्या नहीं है, वरन् भारतीय युवकों की शक्ति को तथा भावी भारत के संबंध में उनकी कल्पना को संरक्षण प्रदान करने की समस्या है। दूसरे शब्दों में उनको उनकी योग्यता के अनुसार विकसित करने की समस्या है। प्रसन्नता इस बात की है कि भारत सरकार माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं के अध्ययन के लिए पर्याप्त समय दे रही है और यह आशा है कि 'राष्ट्रीय अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद्' देश में माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए एक व्यावहारिक योजना प्रस्तुत करने में समर्थ होगी।

उच्च शिक्षा—शैक्षिक समस्याएं बहु आयामी तथा परस्पर संबंधित हैं। उच्च शिक्षा की समस्याएं प्राइमरी तथा बेसिक शिक्षा तथा देश के आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति हैं। अतः शिक्षा की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक है। विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के माध्यम को समझकर हम शिक्षा की वर्तमान स्थिति को समझ सकते हैं। प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए, जैसा कि अधिकांश प्राइमरी तथा बेसिक पाठशालाओं में है। परन्तु इन पाठशालाओं के साथ-साथ ईसाईयों के मिशन स्कूल भी शिक्षा प्रदान करने का कार्य कर रहे हैं, जिनमें शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा होती है। अपने बच्चों को अंग्रेजी आचार-विचार अथवा शिक्षा में पारंगत कराने के इच्छुक माता-पिता उन्हें अंग्रेजी माध्यम वाली पाठशालाओं में भेजते हैं। इसका कारण भारतीय शासन में अंग्रेजी की महत्ता का होना है। ऐसे अभिभावक इस बात का विचार नहीं करते कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का कितना गहन प्रभाव युवकों पर पड़ता है। यही नहीं अंग्रेजी स्कूलों के छात्रों को एक बड़ी संख्या में पुस्तकों को खरीदना पड़ता है। इसका एक कारण यह भी है कि अब भी हमारे देश में अंग्रेजी भाषा के समर्थन का आर्थिक आधार उपस्थित है। अतः शिक्षा के माध्यम की समस्या अनेक शाखाओं में विभाजित हो जाती है। उच्चतर माध्यमिक स्तर तक मातृभाषा अथवा प्रदेशीय भाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों को विश्वविद्यालय अथवा विद्यालयों में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने में कठिनाई होती है। इन छात्रों को अचानक ही विदेशी भाषा का सामना करना पड़ता है, जो कि उन्हें निराश कर देती है तथा शिक्षा

के क्षेत्र में उनकी सफलता की संभावना को कम कर देती है। विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों में शिक्षा के मानक में ह्रास का कारण शिक्षा के माध्यम संबंधी नीति की अस्पष्टता है। यहां हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कुछ विश्वविद्यालयों ने स्नातक कक्षाओं तक शिक्षा का माध्यम प्रदेशीय भाषाओं को रखा है। परन्तु अंग्रेजी में निहित-स्वार्थ रखने वाले लोगों की ओर से इसका तीव्र विरोध किया जाता है।

जब हम शिक्षा के माध्यम की समस्या पर विचार करते हैं तो हमें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि भारत की उच्च शिक्षा योजना में अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य का क्या स्थान है। हमें स्पष्ट रूप से यह समझ लेना चाहिए कि अंग्रेजी एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा है तथा विश्वविद्यालयों एवं विद्यालयों में इसका पढ़ाया जाना नितांत आवश्यक है। परन्तु इसे अनिवार्य नहीं बनाया जा सकता। जो लोग भारतीय प्रशासकीय एवं विदेश सेवा में जाना चाहते हैं उनके लिए अंग्रेजी का ही नहीं बल्कि उन अन्य भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है, जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्ता प्राप्त है। उदाहरण के लिए रूसी, जर्मन तथा फ्राँसीसी भाषा का ज्ञान केवल राजनैतिक दृष्टिकोण से ही नहीं वरन् वैज्ञानिक तथा तकनीकी दृष्टिकोण से भी आवश्यक है। अतः जो लोग अभियन्ता अथवा प्रशासक होना चाहते हैं उनके लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक होना चाहिए। परन्तु सभी को अनिवार्य रूप से अंग्रेजी की शिक्षा देना राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास करना होगा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस समस्या का समाधान केवल यही है। उच्च शिक्षा की पद्धति में अंग्रेजी के महत्त्व की स्पष्ट व्याख्या का समय आ गया है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं को ध्यान में न रखकर तैयार की गयी शिक्षा योजना का परिणाम राष्ट्र के सीमित साधनों का दुरुपयोग करना होगा। हमें अपने कल-कारखानों, चिकित्सालयों, पाठशालाओं तथा अन्य सामाजिक एवं प्रशासनिक संस्थाओं को चलाने के लिए किस प्रकार के युवक तथा युवतियों की आवश्यकता है, इसे भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। इन कार्यों को करके हम न केवल बेरोजगारी की समस्या को हल करने में ही समर्थ होंगे, वरन् योजना के आधार पर देश के विकास तथा परिवर्तन के कार्य को भी सफलतापूर्वक कर सकेंगे।

अन्य प्रकार की शिक्षा—यहां पर अन्य प्रकार की शिक्षा की समस्याओं का विस्तारपूर्वक अध्ययन संभव नहीं है। परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा की समस्याएं भी भारत के आयोजित विकास से संबंधित हैं। हम वर्तमान कृषि संबंधी विकास के साथ-साथ औद्योगिक विकास भी चाहते हैं। शिल्प कला विज्ञान एवं यंत्रशास्त्र ने भी कृषि के क्षेत्र में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। आज के किसान को यह जानना है कि वह ट्रैक्टरों तथा अन्य औजारों का किस प्रकार प्रयोग करे। इस प्रकार समाज के सभी क्षेत्रों में विज्ञान एवं यंत्रशास्त्र के प्रभाव को अनुभव किया जा रहा है। अन्य प्रकार की शिक्षाओं पर भी तकनीकी परिवर्तन का प्रभाव पड़ा है।

इसके अतिरिक्त परिवार पर पड़ने वाले तकनीकी परिवर्तन के प्रभाव को ध्यान में रखकर स्त्री-शिक्षा की समस्याओं पर भी विचार किया जा रहा है। आधुनिक स्त्रियां घर से बाहर रहकर कार्य करती हैं तथा परिवार के बजट में अपने पति को सहयोग देती हैं। श्रम की गतिशीलता में तीव्र वृद्धि के कारण परिवारों को एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जाना पड़ता है। इसका प्रभाव सामाजिक परम्पराओं एवं मूल्यों पर भी पड़ रहा है।

प्रजातांत्रिक आदर्शों के प्रभाव को भी विभिन्न प्रकार की शिक्षाओं पर सरलतापूर्वक देखा जा सकता है। शिक्षा में संलग्न विभिन्न संस्थाएं स्वतंत्रता एवं अधिकार की मांग कर रही हैं। परन्तु शिक्षा संस्थाएं स्वतंत्रता के स्वभाव एवं उसमें अन्तर्निहित उत्तरदायित्व को उचित रूप से नहीं समझ सकी हैं। इस प्रकार हमारी शैक्षिक समस्याओं के विभिन्न स्वरूप हैं, जिनके समाधान के लिए हमें सतत प्रयास करना है। इस संबंध में केवल नौकरशाही के प्रयासों का अत्यधिक संतोषजनक परिणाम नहीं होगा। संपूर्ण समाज को लाभ पहुंचाने के लिए शिक्षा को निहित-स्वार्थों के प्रभाव से मुक्त करना है। अज्ञानता के कारण भारतीय शिक्षा निहित स्वार्थों के वश में हो गयी है। शिक्षा को तभी गतिशील एवं जीवन्त बनाया जा सकता है जबकि समाजवादी तथा प्रजातांत्रिक रीति से कार्य किया जाय।

विद्यार्थी और सैनिक प्रशिक्षण

मेजर गुरुदत्त
अध्यक्ष, व्यावहारिक अर्थशास्त्र विभाग, वाणिज्य संथान,
लखनऊ विश्वविद्यालय ।

जब तक भारतवर्ष गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था—उस समय तक विद्यार्थियों को सैनिक शिक्षा दी जानी चाहिए या नहीं इस पर किसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया था। स्वतंत्रता के पश्चात्, देश विभाजन होने पर पाकिस्तान हमारा एक ऐसा पड़ोसी बन गया जो हमें कभी चैन से नहीं बैठने देता। कश्मीर की समस्या अभी तक पूर्ण रूप से हल नहीं हुई है। पाकिस्तान से हर साल काफी लोग भाग कर हिन्दुस्तान आ रहे हैं। १९६२ के चीनी आक्रमण ने हमारे गौरव को ही नहीं, बल्कि हमारे अस्तित्व को ही चुनौती दे दी। इस हमले से हमको यह पूरी तरह ज्ञात हो गया कि इतने परिश्रम से अर्जित अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हमें सदैव प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार रहना होगा।

आजाद होने के बाद से हम सभी राष्ट्रों से मैत्री की नीति का अनुसरण करते आये हैं। इस नीति के सहारे हमारा यह दृढ़ विश्वास रहा कि दूसरे देश भी हमारे साथ सदैव दोस्ती का ही व्यवहार करेंगे। हमने सैनिक तैयारियां करने की उस समय तक अधिक चिन्ता नहीं की, जब तक अनजाने में चीनियों ने हमारे ऊपर हमला बोल दिया। तब हमारी आंखें खुलीं और हमने यह समझा कि राष्ट्रों के बीच ताकत होने पर ही दोस्ती अपनाई जा सकती है। वास्तव में इस हमले से हमारी जनतांत्रिक प्रवृत्तियों को गहरी ठेस पहुंची। आदर्श नीतियों के स्थान पर अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक नीतियों को अपनाने और आत्मतुष्टि की स्थिति से हमें मुक्त करने की दृष्टि से सम्भवतः यह ठेस जरूरी थी।

चीनियों के साथ लद्दाख और नेफा की लड़ाई में हमारा भारी नुकसान हुआ। चीनी हमारी सीमा पर काफी जमीन दबा बैठे जो हम अभी तक वापस नहीं ले सके हैं। चीनियों के साथ पता नहीं कब हमारी सीमा समस्या सुलझेगी। इसलिए उत्तरी सीमा को हमें सदैव पूरी तौर से सुरक्षित रखना है। पाकिस्तान और चीनियों की मैत्री ने हमारी सीमा समस्या को और भी जटिल कर दिया है। पश्चिमी और पूर्वी सीमाओं पर पाकिस्तान जब तब छुटपुट हमले करके हमें आतंकित करता रहता है। पता नहीं कब पूरी तौर से हमला बोल दें, अकेले या चीनियों से मिलकर। इस प्रकार अब हम तीन दिशाओं में शत्रुओं से घिरे हुए हैं। ऐसी अवस्था में हमको अपनी सैनिक शक्ति प्रबल करने के अतिरिक्त कोई और उपाय नहीं है।

यदि हम शान्ति के पुजारी हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम कमजोर हों। हमको यह पाठ अच्छी तरह पढ़ना है कि यदि हम शान्ति का अनुसरण करना चाहते हैं और दूसरों को शान्तिप्रियता का संदेश देना चाहते हैं, तो इसमें भी सफलता हमें तभी मिलेगी, जब हम शक्तिशाली हों, दुर्बल नहीं।

अब प्रश्न उठता है कि यह शक्ति किस प्रकार पैदा की जावे। मेरी समझ से देश के युवकों को सही किस्म की ट्रेनिंग देकर और तमाम आवश्यक वस्तुओं का देश में ही उत्पादन करके हम अपनी शक्ति संगठित कर सकते हैं। पिछले १५ वर्षों में आर्थिक नियोजन द्वारा हमने निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में विभिन्न उद्योगों की स्थापना की है। अन्य जनतांत्रिक देशों की सहायता से हमारे देश की उत्पादन शक्ति बढ़ेगी और कुछ समय के बाद इसमें आवश्यक तेजी भी आ जावेगी। इसलिए आज सबसे बड़ी समस्या सामान के साथ-साथ प्रशिक्षित व्यक्तियों की है जो पूरी ईमानदारी और उत्साह के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। सामान का उत्पादन हम स्वयं कर सकते हैं या बाहर से मंगा सकते हैं, लेकिन प्रशिक्षित जवानों की सेना किसी अन्य देश से नहीं मंगाई जा सकती। इसके लिए हमें अपने नौजवानों को प्रशिक्षित करना होगा जो हर प्रकार का दायित्व उठा सकें। सेना में भर्ती हो सकें, उद्योगों में काम कर सकें और जहां भी हों चुस्ती और अनुशासन का परिचय दें।

सभी भारतवासी इस बात को भली प्रकार समझते हैं कि संकटकाल अभी समाप्त नहीं हुआ है—हो सकता है भविष्य में और अधिक संकट आवें। संकटों पर विजय पाने के लिए राष्ट्र की शक्ति और मनोबल को संजोना होगा और उसे बनाए रखना पड़ेगा। मैं तो यह समझता हूं कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र को अपनी आजादी की रक्षा के लिए सदैव ही सजग और सबल रहना होता है।

प्रशिक्षित कर्मचारियों की सेना तैयार करने में देश की शिक्षा नीति का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। मेरा विश्वास है कि अंततः प्रशिक्षण द्वारा ही हम उपयुक्त व्यक्तियों में विशिष्ट कार्यों की कुशलतापूर्वक और तेजी से करने की क्षमता उत्पन्न कर सकते हैं।

हमारी शिक्षा पद्धति की सबसे गम्भीर आलोचना यह की जाती है कि इससे ऐसे सामाजिक वर्गों का सृजन होता है, जो जाति प्रथा से कम बुरा नहीं—अर्थात् स्वप्नद्रष्टा वर्ग और कार्यकर्त्ता वर्ग। इस शिक्षा की देन है एक संकुचित विचारों वाला व्यक्ति जो एक ओर तो बौद्धिक मिथ्याडंबरवश शारीरिक श्रम से घृणा करता है और दूसरी ओर उसमें इतना साहस नहीं होता कि वह अपने विचारों को व्यावहारिकता की कसौटी पर खरा सिद्ध कर सके। इस वर्ग के लोगों के विरुद्ध शिक्षितों का वह वर्ग है जो अपनी जीविका के लिए शारीरिक श्रम पर निर्भर रहता है। इस प्रकार एक ओर तो हमारे शिक्षित लोग हैं जो अपने प्रशिक्षण का उपयोग ठोस कार्य में नहीं करते और दूसरी ओर अशिक्षित जन समुदाय है जो अपने सब कार्य अकुशलता से करते हैं। इसलिए मैं उन लोगों में से एक हूं, जिनका विश्वास है कि हमारी शिक्षा पद्धति का पुनर्गठन और पुनर्नियमन होना चाहिए ताकि इससे सच्चरित्र और ईमानदार नागरिक निकल सकें—जो शक्ति से ओत-प्रोत हों, किसी भी प्रकार की कठिनाई सहन कर सकें और मातृभूमि के गौरव के लिए अपना जीवन तक न्योछावर करने के लिए उत्सुक हों।

हमने स्कूलों के विद्यार्थियों के कंधों पर अनेक विषयों का इतना बोझ डाल रखा है कि इससे शैक्षणिक-स्तर का ही ह्रास नहीं हुआ है, बल्कि ऐसे शिक्षित व्यक्तियों की संख्या भी घट गई है जिनमें अपने अस्तित्व की रक्षा करने की शारीरिक योग्यता हो। स्कूल स्तर पर केवल मूल विषयों की शिक्षा हम जितनी ही जल्दी अपना सकें, उतना ही हम सभी के लिए कल्याणप्रद होगा।

शरीर संवर्द्धन की शिक्षा जिसे हमारी स्कूली शिक्षा का अनिवार्य अंग होना चाहिए था, उसकी ओर हमने समुचित ध्यान नहीं दिया। सच्ची शिक्षा वही है जिसमें शरीर, मस्तिष्क और आत्मा का सामंजस्यपूर्ण विकास हो। शारीरिक और मानसिक शिक्षा एक दूसरे के पूरक हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि किसी प्रकार की सुरक्षा के अभाव में, मस्तिष्क की शक्तियों का संतुलन बिगड़ जाता है। शारीरिक शिक्षा से मस्तिष्क के लिए आवश्यक सुरक्षा मिल जाती है। इससे मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है और व्यक्ति में अच्छे कार्यों के संपादन के लिए अनन्त कष्टों को झेलने की क्षमता पैदा होती है।

वैदिक युग में भारत के संत इसे भली भांति समझते थे। शिष्य को गुरु के आश्रम में रहकर सभी प्रकार का शारीरिक श्रम करना पड़ता था। उनके लिए हर एक सिद्धान्त को व्यवहार में ढालना आवश्यक होता था। इसलिए हमको इतिहास से यह सबक लेना चाहिए और शारीरिक शिक्षा को स्कूलों के दैनिक कार्यक्रम का एक अंग बना देना चाहिए। आज के युग में हमारे अधिकांश विद्यार्थी मानवता के भद्दे नमूने बन गए हैं। मेरा विश्वास है कि शरीर संवर्द्धन पर उचित जोर देकर, हम ऐसे करोड़ों नौजवान तैयार कर सकते हैं, जिनके नाम से ही शत्रु सिहर उठें।

स्वतंत्र देश में कालेज तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए सैनिक प्रशिक्षण अनिवार्य होना चाहिए। मेरे विचार में सैनिक प्रशिक्षण का यह मतलब कभी नहीं होता कि सेना को बढ़ाने के लिए कालेजों में रंगरूट तैयार किए जावें, बल्कि इसका अर्थ है कि इससे युवकों में आज्ञाकारिता अनुशासन और साहस के गुण भरे जा सकें। सैनिक प्रशिक्षण में प्रगाढ़ शारीरिक ड्रिल से ऐसा स्वास्थ्य बनता है कि चाल-ढाल में वह सुघड़ता और भव्यता आ जाती है, जो सामाजिक सम्पर्क के समय विश्वास और प्रत्युत्पन्नमति को जन्म देती है। शारीरिक अनुशासन में मानसिक अनुशासन का एक अंश भी निहित रहता है, और इसमें आश्चर्य की बात नहीं क्यों कि सैनिक अनुसाशन प्रधानतः सम्मुख कार्य को बुद्धिमत्तापूर्वक करने की ट्रेनिंग से सम्बंधित है। सभी विषयों में आज्ञाकारिता और व्यवस्था के प्रबुद्ध प्रशिक्षण का स्वाभाविक परिणाम है—तत्परता और मस्तिष्क की स्वतंत्रता, जिससे वास्तविक चरित्र का विकास होता है। सर्वमान्य आचरण संहिता का दृढ़तापूर्वक पालन ही अनुशासन है, और अनुशासित मस्तिष्क कुशाग्रता और शक्ति से कार्य करता है, जब कि अनुशासन रहित मस्तिष्क दुर्बल धारणाओं में उलझा रहता है।

सैनिक प्रशिक्षण, विशेषकर शिविरों का प्रशिक्षण विद्यार्थियों में सुसंगठित जीवनयापन की योग्यता पैदा करता है। किसी एक मनुष्य पर इसमें कभी जोर नहीं दिया जाता। इसका अर्थ ही है कि काम के समय उच्चतर श्रेणी के अवैयक्तिक प्राधिकार का आज्ञापालन और विश्राम के समय स्वस्थ सहयोग। इस प्रकार की जीवन प्रणाली से अहंकार की तीक्ष्ण धार में कोमलता पैदा होती है और आत्मसम्मान तथा नियमों के आदर के सुखद समन्वय की शिक्षा मिलती है। शस्त्रों का प्रयोग

और युद्धकला सीख लेने के बाद विद्यार्थी वर्ग, राष्ट्रीय संकट के समय एक धरोहर बन जाता है। इसलिए मैं अनुभव करता हूं कि चतुर कार्यकर्त्ता का दायित्व पूरा करने की योग्यता प्रदान करने के लिए सैनिक प्रशिक्षण एक उत्तम तैय्यारी है, और हमारे कालेज और विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को अपना सोद्देश्य तथा साहसी जीवन व्यतीत करने एवं राष्ट्रीय कल्याण में योग देने के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरी शिक्षा नहीं है।

शायद ही कोई ऐसा हो जिसने हमारे योद्धाओं की भव्य सुकीर्ति के बारे में न पढ़ा हो। वे निर्भयता से काम करते थे और कर्तव्यपालन में रत रहते थे। चन्द्रगुप्त से लेकर टीपू सुल्तान और शिवाजी तक भारतीय इतिहास वीरता, शौर्य और साहस के उदाहरणों से भरा पड़ा है। हमारी महान् सैनिक परम्पराएं हैं जिन पर हमें गर्व होना चाहिए। जहां तक रण-कौशल का सम्बन्ध है, आज भी भारतीय सेना किसी से पीछे नहीं।

आधुनिक युद्ध सर्व-व्यापी युद्ध होता है, जिसमें हर नागरिक सिपाही और देश की भूमि का चप्पा-चप्पा लड़ाई का मैदान होता है। इस पावन देश का भविष्य और इसकी स्वतंत्रता आज हमारे नौजवानों के हाथों में है। हमें उन्हें इस ढंग की शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे उग्रतापूर्वक सोचें, साहसपूर्वक कार्य करें और खतरों में जीना सीखें।

विद्यार्थियों को सैनिक प्रशिक्षण हमारे देश में नैशनल कैडेट कोर के द्वारा दिया जा रहा है। यह संस्था १९४८ में बनाई गई थी और हर वर्ष इसकी प्रगति हो रही है। बहुत वर्षों तक एन० सी० सी० की ट्रेनिंग ऐच्छिक रखी गई, लेकिन सीमा समस्या जटिल हो जाने पर १९६४ में यह विश्वविद्यालयों और कालेजों के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य कर दी गई है।

कुछ विद्यार्थियों में अब भी इस प्रकार की धारणा है कि एन० सी० सी० ट्रेनिंग केवल उन लोगों के लिए अच्छी है जो आगे चलकर सैनिक बनना चाहते हों। यह धारणा बिल्कुल गलत है। एन० सी० सी० की सैनिक शिक्षा इतनी अधिक नहीं जिससे कि वह एक कुशल सैनानी बन सके। एक ऊंचे दर्जे का सैनानी बनना उतना ही कठिन है जितना कि किसी और दिशा में दक्षता प्राप्त करना। सैनिक शिक्षा से यह बात अवश्य है कि मनुष्य में इस प्रकार के गुण पैदा हो जाते हैं कि वह चाहे जहां भी रहे किसी भी व्यवसाय में हो—एक अच्छा कार्यकर्त्ता बन जाता है।

लगभग हमारी सभी शिक्षा संस्थाओं में आजकल इतनी अनुशासनहीनता आ गई है कि साधारण शिक्षा के लाभ कम होते चले जा रहे हैं। हमारे देश में भाषा और रहन-सहन की इतनी विविधता है कि इसमें अलग-अलग प्रदेशों की शिक्षा प्रणाली एक सामूहिक एकता, जिसकी कि हमको बेहद आवश्यकता है, नहीं पैदा कर पाती। इसके अलावा कुछ वर्षों से हमारे यहां का वातावरण कुछ ऐसा रहा है, जिससे लोगों में चारित्रिक अनुशासन तथा शक्ति की हीनता आ गई हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि विद्यार्थियों में जो मानसिक और शारीरिक विकास का संतुलन होना चाहिए वह नहीं है।

इन सभी दोषों को दूर करने का एकमात्र साधन अनिवार्य सैनिक शिक्षा है। सैनिक प्रशिक्षण और इसके गुणों को सम्मुख रखकर ही एन० सी० सी० के उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं। इसका पहला उद्देश्य है, नवयुवक और नवयुवतियों के चरित्र का विकास करना इनमें सेवा-भाव जाग्रत करना तथा उनमें नेतृत्व करने की क्षमता पैदा करना। दूसरा उद्देश्य है सैनिक प्रशिक्षण द्वारा उनमें देश की रक्षा की भावना जाग्रत करना और तीसरा उद्देश्य है एक प्रशिक्षित सैनिकों का समुचित संग्रह बनाना, जिसके द्वारा संकट पड़ने पर सेना को मनचाहा बढ़ाया जा सके।

एक ऊंचा चरित्र अनुशासित जीवन से ही पैदा होता है। युवक को अनुशासन सीखने के लिए परेड का मैदान ऐसा स्थल है—जहां वह तत्परता से आज्ञापालन करना सीखता है। धीरे-धीरे उसकी मानसिक प्रवृत्ति ऐसी बन जाती है कि बड़ों की आज्ञा पालन करने में उसे आनन्द आने लगता है। शिविरों में विद्यार्थियों को एक अनुशासित जीवन का अभ्यास कराया जाता है। वहां पर वह अपनी मनमानी न करके वही करता है, जो उससे करने को कहा जाता है। इस तरह के सह-योगी जीवन से भाषा, रहन-सहन, खाने-पीने आदि के भेद भाव दूर होते हैं। इस ट्रेनिंग से मनुष्य में आत्म नियंत्रण, कायदे कानून की पाबंदी करना, तथा कर्तव्य परायणता आती है। इन गुणों के पैदा हो जाने से उसका व्यक्तित्व उभरता है और इसमें एक अच्छे नागरिक की शालीनता आ जाती है।

आजकल के युग में हर नागरिक को कुछ हथियारों का प्रयोग करना भी आना चाहिए। लड़ाइयां केवल शारीरिक बल से नहीं लड़ी जातीं—तरह-तरह के शस्त्रों का प्रयोग किया जाता है, जिनकी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। एन० सी० सी० ट्रेनिंग में लड़कों को राइफल, मशीनगन इत्यादि का चलाना सिखाया जाता है। इससे मनुष्य में अपनी रक्षा करने तथा देश की रक्षा करने का हौसला बढ़ता है। एन० सी० सी० में जल, स्थल और नभ सेना के प्रशिक्षण के विभाग हैं और विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार विभाग चुनकर, उसी विभाग की ट्रेनिंग ले सकता है। एन० सी० सी० की ट्रेनिंग लड़कियों के लिए भी बहुत गुणकारी होती है। प्राथमिक चिकित्सा, सिगनलिंग इत्यादि का प्रशिक्षण लेने पर उनमें वह गुण

आ जाते हैं जिससे वह अपने नित्य का जीवन अधिक निपुणता के साथ व्यतीत कर सकती हैं, और संकट आने पर बहुत-से देश के अन्दर के कार्यों को संभाल सकती हैं।

युद्ध के समय में आजकल न केवल सीमा पर लड़ने वाले सैनानियों की ही आवश्यकता है, वरन् देश के अन्दर ऐसे अनुशासित और प्रशिक्षित नागरिकों की भी आवश्यकता है जो खेतों, कारखानों और दफ्तरों में एक सैनानी की चुस्ती से काम कर सकें। एन० सी० सी० ट्रेनिंग से हम देश-भर में इस तरह के प्रशिक्षित लोगों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ा सकेंगे। इससे एक बहुत बड़ा फायदा यह होगा कि हमें एक बहुत बड़ी सेना सदैव खड़ी रखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। जब हमारे पास सैनिक शिक्षा पाये हुए सभी जवान होंगे तो आवश्यकता पड़ने पर हम कुछ महीनों में ही करोड़ों की सेना खड़ी कर सकते हैं।

इस समय सारे देश में लगभग १३ लाख विद्यार्थी एन० सी० सी० की ट्रेनिंग पा रहे हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक यह संख्या बढ़कर १७ लाख हो जावेगी। उत्तर प्रदेश में इस समय लगभग १,७५,००० लड़के एन० सी० सी० ट्रेनिंग पा रहे हैं और इस पंचवर्षीय योजना के अंत तक यह संख्या २,१०,००० हो जावेगी। इन आंकड़ों में एन०सी०सी० की संख्या शामिल नहीं है। उत्तर प्रदेश में एन०सी०सी० के अलावा एक प्रादेशिक संस्था भी (पी०एस०डी०) विद्यार्थियों को सैनिक प्रशिक्षण देती है। यह बात उत्तम होगी कि इस क्षेत्र में एक ही संस्था रखी जावे जिससे सभी जगह एक ही प्रकार का प्रशिक्षण हो सके और खर्चा भी कम हो।

मेरा अनुभव है कि एन०सी०सी० की ट्रेनिंग में भी भविष्य में कुछ तबदीलियां करनी होंगी। वास्तविक प्रशिक्षण शिविरों में ही हो पाता है, इसलिए हर सप्ताह में तीन दिन की ट्रेनिंग को हटा कर अगर दो या तीनमहीने का शिविर हर विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य कर दिया जावे तो हम इससे विद्यार्थी वर्ग का और देश का बहुत बड़ा कल्याण कर सकेंगे।

हमारे देश की स्वतंत्रता और उसका भविष्य हमारे नवयुवकों के हाथ में है। एक कहावत है, "नवयुवकों को सही सांचे में ढालो और राष्ट्र का भविष्य सुरक्षित है।" इसलिए हमको पूरी तौर से सैनिक प्रशिक्षण द्वारा हर नवयुवक को ऐसा सैनानी बना देना चाहिए, जिससे हमारी स्वतंत्रता सुरक्षित रहे और देश की सीमाओं को पार करने का कोई दुस्साहस न कर सके।

उत्तर प्रदेश में परिवार नियोजन

श्री दाऊदयाल खन्ना,
स्वास्थ्य मंत्री, उत्तर प्रदेश ।

आजादी के बाद हमने विकास योजनाओं द्वारा प्रत्येक नागरिक की मौलिक आवश्यकतायें पूरी करने का प्रयत्न किया परन्तु यह महसूस किया गया कि जब तक देश की जनसंख्या पर कोई नियंत्रण नहीं होगा तब तक नागरिकों को उनकी मौलिक आवश्यकतायें पर्याप्त मात्रा में नहीं उपलब्ध कराई जा सकेंगी। यह महसूस किया गया है कि जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ती जा रही है। जब कि खाद्यान्न की आज, उस मात्रा में बढ़ोत्तरी नहीं हो रही है। प्रोफेसर मालथज की थ्योरी है कि खाद्यान्न की उपज गणित की प्रणाली से बढ़ती है जब कि जनसंख्या रेखा गणित की प्रणाली से बढ़ती है। अर्थात् जितने समय में खाद्यान्न की उपज १ से २ व २ से ३ होती है उतने समय में ही जमसंख्या २ से ४ व ४ से ८ हो जाती है और समय के साथ-साथ यह अन्तर बढ़ता ही जाता है। १९२१ से पहले ३० वर्षों में भारत की जनसंख्या में १ करोड़ २० लाख की वृद्धि हुई थी किन्तु १९२१ से १९५१ के ३० वर्षों में १० करोड़ ९० लाख जनसंख्या की वृद्धि हुई। यह वृद्धि इसलिये भी हुई कि इन तीस वर्षो के समय में भारत की मृत्यु दर बहुत कम हो। यह अनुमान लगाया गया कि यदि जनसंख्या इसी प्रकार बढ़ती रही तो १९८१ में हमारी आबादी १९५१ से दूनी हो जावेगी, अर्थात् लगभग २१ करोढ़ ९० लाख हो जावेगी।

१९६१ की जनगणना से विदित हुआ कि आबादी बहुत तेजी से बढ़ रही है। १९५१ से १९६१ तक करीब ७ करोड़ ८० लाख आबादी बढ़ गई। अतः यह निश्चय किया गया कि आबादी को अधिक बढ़ने से रोकने के लिये परिवारों को नियोजित किया जावे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के काल में उत्तर प्रदेश सरकार की अपनी कोई योजना परिवार नियोजन के सम्बन्ध में नहीं थी, भारत सरकार की मदद से। भारतीय रेड क्रास सोसाइटी की फेमिली प्लानिंग कमेटी ने कुछ परिवार नियोजन केन्द्र खोले तथा दो कान्फ्रेंस कराईं व शहरी इलाकों में परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रचारार्थ पैम्फलेट बांटे व पोस्टर लगवाये। जिला अस्पतालों में संतति निग्रह के साधन कम कीमत पर दिये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में उत्तर प्रदेश सरकार ने परिवार नियोजन कार्य को प्रदेश में बढ़ाने के लिये कदम उठाया और बजट में इस कार्य के लिये २३ लाख ८५ हजार रुपयों की धनराशि का प्रावधान किया और यह कार्य स्वास्थ्य सेवा निदेशक को सौंपा गया। उनकी सहायता के लिये एक प्रदेशीय परिवार नियोजन अधिकारी १९५८ से नियुक्त किया गया तथा एक प्रदेश परिवार नियोजन बोर्ड की स्थापना ११-१०-१९५७ से की गई।

१९५६-५७ से १९६०-६१ के समय में सरकार ने शहरी क्षेत्र में २५ व ग्रामीण क्षेत्र में १५० परिवार नियोजन केन्द्र स्थापित किये। इसी समय लोकल बाडीज ने स्वयंसेवी संगठनों द्वारा शहरी क्षेत्रों में १५ व ग्रामीण क्षेत्रों में ३ परिवार नियोजन केन्द्र स्थापित किये।

१९६०–६१ में एक क्षेत्रीय परिवार नियोजन प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया। निम्नलिखित आंकड़ों से यह विदित होगा कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में प्रदेश में परिवार नियोजन पर किस तेजी से व्यय किया गया :

वर्ष	रुपया
१९५६-५७	८,६५४
१९५७-५८	५४,७४०
१९५८-५९	७५,४९४
१९५९-६०	२,५०,३९१
१९६०-६१	१०,९०,७७९

प्रदेश के जिला अस्पतालों में महिला तथा पुरुषों के स्टरीलाइजेशन आपरेशन निःशुल्क किये गये। राज्य कर्मचारी जो नसबन्दी कराते हैं, उनको ६ दिन की विशेष छुट्टी दी जाती है। योजना के शुरू सालों में व्यय इसलिये कम हुआ कि महिला चिकित्सक एवं महिला समाज सेविका आवश्यक संख्या में उपलब्ध नहीं हो सकीं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में परिवार नियोजन कार्य में बहुत-सी बाधायें उपस्थित हुईं जैसे कि :

१. परिवार नियोजन केन्द्रों की संख्या बहुत कम थी।
२. परिवार नियोजन केन्द्रों में महिला कार्यकर्ताओं की कमी थी।
३. योजना स्त्रियों के स्टरीलाइजेशन आपरेशन तक सीमित थी।
४. पुरुषों की नसबन्दी योजना पर विचार नहीं हुआ था।
५. ग्रामीण क्षेत्रों में सवारी का साधन या कोई अन्य प्रबन्ध नहीं था।
६. परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रचार अपर्याप्त था।
७. जनाना अस्पतालों में स्त्रियों के आपरेशन करने की सुविधा पर्याप्त नहीं थी।
८. स्वयंसेवी संगठनों को पर्याप्त सहायता उपलब्ध नहीं थी।
९. प्रदेश में अज्ञान एवं निरक्षरता के कारण परिवार नियोजन कार्यक्रम को जनता तक पहुंचाने में बड़ी कठिनाई थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जो कठिनाइयाँ हमारे सामने आईं, उनको ध्यान में रखते हुए तीसरी पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन का कार्यक्रम बनाया गया। तय यह किया गया कि तीसरे योजनाकाल में १५०० ग्रामीण क्षेत्रों में व ५० शहरी क्षेत्रों में परिवार नियोजन केन्द्र खोले जायें। चल नसबन्दी टीम स्थापित की जाये तथा ४५ परिवार नियोजन समितियां स्थापित की जाए।

१९६१–६२, ६२–६३ तथा ६३–६४ में जो कार्य इस ओर हुआ है वह निम्न प्रकार है :

(१) सरकार ने १९६१–६२ में शहरी क्षेत्रों में १० व ग्रामीण क्षेत्रों में १४५, १९६२-६३ में शहरी क्षेत्रों में २५ व ग्रामीण क्षेत्रों में २००, १९६३-६४ में शहरी क्षेत्रों में १० व ग्रामीण क्षेत्रों में २०० परिवार नियोजन केन्द्र स्थापित किए।

उपर्युक्त समय में लोकल बाडी द्वारा १ व स्वयंसेवी संगठन द्वारा ५ केन्द्र शहरी क्षेत्र में स्थापित किये गये। इस प्रकार कुल ५२ शहरी क्षेत्रों में, ५४५ ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार नियोजन केन्द्र पिछले तीन वर्षों में स्थापित किये गये।

(२) १९६१–६२ में ६ चल नसबन्दी टीम स्थापित की गईं।
(३) १९६१–६२ में १० डिवीजनल तथा १४ जिला परिवार नियोजन उपसमितियां बनाई गईं।
(४) १९६२–६३ में ४० जिला उप समितियां और बनाई गईं।
(५) १९६२–६३ में १० चल नसबन्दी टीमें और बनाई गईं।
(६) ७ लाख रुपये के परिवार नियोजन के साधन खरीदे व बांटे गये।

इस कार्य पर प्रदेश में १९६१-६२ में १८३०८२४ रु०, १९६२-६३ में २४०३००० रु० व १९६३-६४ में ३२४८४०० रु० व्यय हुए हैं। १९६४–६५ में ५ महीनों में ७७९४०० रु० व्यय हो चुका है और अनुमान है कि पूरे वर्ष में कुल २१८६८१०० रु० व्यय होगा।

सरकार ने १९६४–६५ में ३ लाख नसबन्दी आपरेशन का लक्ष्य रखा है। अब हर व्यक्ति को जो नसबन्दी कराता है १० रु० का पारितोषिक दिया जाता है ताकि वह अच्छा खाना खा सके और आपरेशन के बाद आराम कर सके। सरकारी कर्मचारियों को ६ दिन की विशेष छुट्टी भी दी जाती है। जो व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को आपरेशन के लिये प्रेरित करता है व केन्द्र तक लाता है, उसको भी २ रु० पारितोषिक रूप में दिया जाता है।

आशा की जाती है कि जो नसबन्दी की गहन योजना कार्यान्वित की गई है, उसके फलस्वरूप अगले १० वर्षों में जन्म दर ५० प्रतिशत कम हो जायगी और एक महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त होगी। प्रदेश में ४०० से अधिक प्राइमरी हेल्थ सेन्टर्स में नसबन्दी आपरेशन की सुविधा उपलब्ध है। नसबन्दी की गहन योजना के अन्तर्गत प्रदेश में कई स्थानों पर कैम्प लगाये गये हैं जो बहुत अधिक सफल सिद्ध हुए हैं।

अब तक प्रदेश में जो नसबन्दी के आपरेशन किये गये हैं उनकी संख्या इस प्रकार है :—

वर्ष	१९५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३	१९६४ के आठ माह तक
पुरुष	१७१	१९४	५८५	४५३	७३३	२८३१	२७२१	४६८७	३९०५
स्त्रियां	१२७३	२०००	१८७९	२६१२	२६४७	७६८०	२०३८	२०५६	४८४

प्रदेश में परिवार नियोजन के लिये जो समितियां इत्यादि स्थापित की गई हैं, उनके बारे में सम्भवतः जनता को अभी भी इसके बारे में पूरी जानकारी नहीं है, जिस कारण जनता उनका उपयोग नहीं कर रही है। अतः इस सम्बन्ध में यह बताना उपयुक्त होगा कि ये समितियां इत्यादि क्या हैं और उनका कार्य क्या है।

डिवीजनल परिवार नियोजन समितियाँ—इन समितियों का कार्य यह है कि वे परिवार नियोजन के कार्यक्रम निश्चित करें तथा डिवीजन में उसको कार्यान्वित करायें। यह समिति हर तीन माह बाद बैठती है और जो कार्य तब तक होता है, उसका पुनरीक्षण करती है तथा नियोजन कार्य आगे बढ़ाने के लिये सलाह देती है। इसकी रचना इस प्रकार है:

१. डिवीजन के कमिश्नर या उनकी पत्नी——————अध्यक्ष।
२. सहायक निदेशक, महिला कल्याण——————सदस्या।
३. सहायक निदेशक, स्वास्थ्य शिक्षा——————सदस्य।
४. क्षेत्रीय शिशु कल्याण अधिकारी——————सदस्य।
५. अध्यक्ष, अन्तरिम जिला परिषद्, सदस्य ।
६. डिवीजन के तीन प्रभावशाली सामाजिक कार्यकर्ता या स्वयं सेवक जो कमिश्नर द्वारा मनोनीत होते हैं, (इसमें २ महिला कार्यकर्त्रियाँ होंगी)——————सदस्य।
७. क्षेत्रीय सहायक श्रम आयुक्त ——————सदस्य।
८. डिवीजन में चल नसबन्दी टीम के चिकित्साधिकारी——————सदस्य।
९. जिला सूचना अधिकारी——————सदस्य।
१०. क्षेत्रीय उपविकास आयुक्त——————सचिव।

जिला परिवार नियोजन समिति—जो कार्यक्रम डिवीजनल समितियां निर्धारित करती हैं, उनको जिले में कार्यान्वित करने के लिये जिला समितियों का निर्माण किया गया है।

यह समिति भी हर तीन मास पश्चात् बैठती है और जो कार्य हुआ है उनका पुनरीक्षण करती है। जो समस्यायें उत्पन्न हुई हों उनको सुलझाने का प्रयत्न करती है। कर्मचारियों, कार्यकर्ताओं तथा समिति के सदस्यों की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करती है। ये समितियां यद्यपि उतना कार्य नहीं करती हैं जितनी आशा थी, परन्तु उन्होंने निश्चित योग दिया है। इनका संगठन इस प्रकार है:

१. अध्यक्ष, अन्तरिम जिला परिषद् ——————अध्यक्ष।
२. सिविल सर्जन——————सदस्य।
३. जिला स्वास्थ्य अधिकारी ——————सदस्य।
४. नगरपालिका स्वास्थ्य अधिकारी ——————सदस्य।
५. सुपरिन्टेंडेन्ट, डफरिन अस्पताल ——————सदस्य।
६. अध्यक्ष, इण्डियन मैडिकल एसोसियेशन की स्थानीय शाखा ——————सदस्य।
७. जिला नियोजन अधिकारी——————सदस्य।
८. भारतीय परिवार नियोजन एसोसियेशन के दो प्रतिनिधि——————सदस्य।
९. जिले के प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्ता ——————सदस्य।
१०. जिला सूचना अधिकारी——————सदस्य।
११. अखिल भारतीय महिला परिषद् की प्रतिनिधि——————सदस्य।
१२. केन्द्रीय समाज कल्याण परिषद् का प्रतिनिधि——————सदस्य।
१३. जिला अस्पताल में परिवार नियोजन क्लिनिक की महिला चिकित्साधिकारी——————सचिव।

प्रदेश में ३५३८ मैटरनिटी केन्द्र, ५३४ प्राइमरी हेल्थ सेन्टर तथा १३६८ अस्पतालों पर ७ लाख रूपये की कीमत के सन्तति निग्रह के साधन जनता को वांटने के लिये रखे गये हैं। मैटरनिटी केन्द्र तथा प्राइमरी हेल्थ सेन्टर्स के समस्त कर्मचारियों को परिवार नियोजन कार्य में प्रशिक्षित कर दिया गया है।

इसके प्रशिक्षणार्थ निम्नलिखित केन्द्र खोले गये हैं:—

१. क्षेत्रीय परिवार नियोजन प्रशिक्षण केन्द्र, लखनऊ।
२. कमला नेहरू स्मारक अस्पताल, इलाहाबाद, में परिवार नियोजन प्रशिक्षण केन्द्र व परिवार कल्याण।
३. भारत सरकार की 'केन्द्रीय परिवार नियोजन फील्ड यूनिट'।
४. मेडिकल कालेज, आगरा व कानपुर में परिवार नियोजन केन्द्र।

क्षत्रीय परिवार नियोजन प्रशिक्षण केन्द्र, लखनऊ में निम्नलिखित कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण दिया गया :

वर्ष	डाक्टर	महिला समाज सेविका	पुरुष समाज सेवक	अन्य	सम्पूर्ण योग
१९६०	—	७३	—	—	७३
१९६१	१२	१०३	६१	१४८	३२४
१९६२	—	१५७	४२०	५१	६२८
१९६३	—	२६	७९	९९	२०४
१९६४ अगस्त तक	—	७५	२४८	—	३२३

परिवार नियोजन कार्यक्रम के सम्बन्ध में जनता को शिक्षित करने में ओरीयन्टेशन कैम्प की योजना द्वारा महत्त्वपूर्ण सफलता मिली है। यह कैम्प साधारणतः ३ दिन के लिये ब्लाक हेडक्वार्टर्स पर लगाया जाता है। अब तक ऐसे १८० कैम्प लगाये जा चुके हैं। इन कैम्पों में ५०—६० व्यक्ति भाग लेते हैं और अवैतनिक एजूकेशन लीडर जनता को परिवार नियोजन में शिक्षा प्रदान करते हैं। ये लीडर समाज-सेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त व्यक्ति होते हैं। अब तक ३ क्षेत्रीय तथा १७ जिला परिवार नियोजन लीडर नियुक्त किये जा चुके हैं।

परिवार नियोजन कार्यक्रम की सफलता के लिये प्रचार आवश्यक है ताकि जनता को ज्यादा-से-ज्यादा जानकारी हासिल हो सके। इस उद्देश्य से अब तक १०२९ फिल्म शो किये गये हैं, जहां परिवार नियोजन सम्बन्धी विशेष फिल्में दिखाई गई हैं और उन्हें ३३६०४२ व्यक्तियों ने देखा। परिवार नियोजन सम्बन्धी १८३० प्रदर्शनियाँ आयोजित की गईं। ११४९८४०० व्यक्तियों ने देखा। पिछले अर्धकुम्भ मेले में जो नुमाइश लगाई गई थी, वहां उसे कई लाख व्यक्तियों ने देखा।

१९६५-६६ के लिये प्रस्ताव है कि :

		अनुमानित व्यय रुपये
१.	चल नसबन्दी टीम की स्थापना की जाय	२३००७००
२.	३४ जिला परिवार नियोजन कार्यालयों की स्थापना की जाय	३१२१२००
३.	४०० ग्रामीण परिवार नियोजन केन्द्रों का उच्चस्तरीकरण किया जाय	१००२००००
४.	हेड क्वार्टर्स में स्टाफ की वृद्धि	१०००००
५.	कत्राल शहरों के अस्पतालों में तथा मेडिकल कालेजों में स्टेरिलिटी क्लिनिक की स्थापना	३५००००
६.	४ पूर्वी जिलों में परिवार सहायक तथा सहायकों की स्थापना की योजना	१००००
७.	क्षेत्रीय परिवार नियोजन प्रशिक्षण केन्द्र भवन, होस्टल तथा केन्द्र के लिये भवन निर्माण	८०००००
८.	१० शहरी परिवार नियोजन केन्द्रों की स्थापना	२४००००
	योग	१,६९,४२,०००

इसके अतिरिक्त गहन नसबन्दी कार्यक्रम के लिये १९६५—६६ में १,००,००,००० रू० के प्रवधान का प्रस्ताव है।
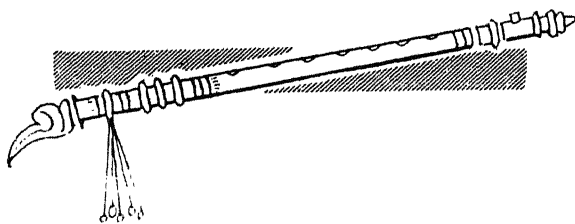
उत्तर प्रदेश में नारियों का कल्याण (चिकित्सा सेवाएँ)

श्री दाउदयाल खन्ना
स्वास्थ्यमंत्री, उत्तर प्रदेश ।

स्वतंत्रता से पहले हमारे घनी आबादी के प्रदेश में स्वास्थ्य सेवाओं की बहुत कमी थी; विशेषकर औरतों के लिये तो और भी दुर्लभ थी। यह देखकर खुशी होती है कि स्वतंत्रता मिलने के बाद नारियों के कल्याण के लिये जहां और विकास कार्य हुए साथ ही चिकित्सा सेवाओं में भी अतीव सफलता मिली।

कुछ समय पहले औरतों के लिये चिकित्सा की सुविधायें केवल जिला और डफरिन अस्पतालों में उपलब्ध थीं। लेकिन पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न विकास कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया गया, जिसके फलस्वरूप प्रदेश के कोने-कोने में औरतों को चिकित्सा की सुविधायें उपलब्ध होने लगी हैं और अब उद्देश्य यह है कि हर औरत अपनी चिकित्सा आसानी से करा सके।

इस समय हमारे प्रदेश में १५७ अस्पताल केवल औरतों के लिये हैं, जोकि सरकार द्वारा चलाये जाते हैं। इसके अलावा १३ औरतों के अस्पताल दूसरी संस्थाओं के प्रबंध से चलाये जा रहे हैं, जिनकी प्रशासकीय देखभाल प्रदेश के चिकित्सा विभाग के अधीन है। जैसे-जैसे साधन उपलब्ध होते जा रहे हैं अधिक-से-अधिक संख्या में औरतों के अस्पताल खोले जा रहे हैं।

औरतों के इलाज के लिये अस्पतालों में मिली हुई सुविधा के अलावा हर पुरुष अस्पताल में भी उनके साधारण इलाज के लिये प्रबन्ध है। इस प्रदेश की कुल २७७०५ शैयाओं में से ९७०७ शैयाए औरतों के इलाज के लिये हैं।

यह जानकर खुशी होती है कि लोगों में दिन प्रतिदिन जाग्रति हो रही है और औरतों को चिकित्सा सेवाओं में वृद्धिस्वरूप शहरी क्षेत्रों में प्रसूति अस्पतालों में होती है और ग्रामीण क्षेत्रों में प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा सहायता की जाती है। इस वजह से प्रसूतिकालीन मृत्यु संख्या में ९० प्रतिशत कमी हो गयी है। एक बड़ी समस्या महिला डाक्टरों की कमी है और यह समस्या अभी बढ़ी हुई है। मातृ कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित चिकित्सा सहायकों व नर्स मिडवाइव्ज की सहायता ली जाये। हालांकि हमारे देश में परिचारिका (नर्सिग) का कार्य बहुत विकास पर नहीं है और काफी तादाद में इसके प्रशिक्षण के लिये लड़कियां नहीं उपलब्ध होती हैं। हमारे देश में कुछ रीति-रिवाज इस तरह के हैं कि औरतों को अच्छी किस्म की चिकित्सा केवल औरतों द्वारा ही दी जा सकती है। इसलिये चिकित्वा विज्ञान की हर शाखा में महिलाओं को प्रशिक्षित किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप औरतों को चिकित्सा उपलब्ध हो सकेगी।

महिला डाक्टरों की कमी लगातार रही है। इस वजह से बहुत-से महिला अस्पतालों तथा परिवार नियोजन केन्द्रों व राजकीय कर्मचारी बीमा के चिकित्सालयों में सुचारू रूप से कार्य होना सम्भव नहीं होता है। हमारे मेडिकल कालेजों में भी शैक्षिक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने में इसलिये सुविधा नहीं होती, क्योंकि प्रशिक्षित महिला स्नातकों की कमी है। राजकीय चिकित्सा सेवा में इस समय केवल ३०८ महिला डाक्टर हैं, जब कि कैडर ४२३ का है। इस प्रदेश की महिला आबादी जो कि ३.५० करोड़ से अधिक है, उसको देखते हुए महिला डाक्टरों की संख्या बहुत कम है। प्रादेशिक शासन महिला डाक्टरों की कमी की समस्या का हल निकालने के लिये लगातार ध्यान दे रहा है। शासन ने एक उच्च सत्ता प्राप्त समिति की स्थापना की है, जो कि इस समस्या को समझे बूझे और ऐसी राह निकाले, जिससे वर्तमान संकट जो कि महिला डाक्टरों की कमी की वजह से है, दूर हो जावे। इस दिशा में उच्च सत्ता प्राप्त समिति की एक सिफारिश १–११–६४ से कार्यरूप में परिणत कर दी गयी है। वह है राजकीय चिकित्सा सेवा (महिला) प्रथम व द्वितीय श्रेणी का एकीकरण करके केवल राजकीय चिकित्सा

(महिला) सेवा के स्थायी पदों का साढ़े सात प्रतिशत उन्नतीकरण कर दिया गया है और ५००–१२०० रु० वेतन क्रम में विशेष पद स्वीकृत किये गये हैं। डाक्टरों को निजी प्रैक्टिस न करने का भत्ता, जब कि वे प्रैक्टिस न करने वाले स्थानों में नियुक्त हों, उनके वेतन का २५ प्रतिशत कर दिया गया है, जो कम-से-कम ७५ रु० प्रति मास होगा और अधिक-से-अधिक २०० रु० प्रति मास होगा। परन्तु यह भत्ता प्रशासकीय पदों के लिये नहीं है। जिन डाक्टरों के पास डिप्लोमा है उनको ५० रु० प्रतिमास व जिनके पास डिग्री है उनको १०० रु० प्रति मास पोस्टग्रेजुएट वेतन मिलता है।

महिला डाक्टरों की कमी दूर करने के लिये सब मैडिकल कालेजों में लड़कियों के लिये सीटें जो कि सन् १९४७ में ४० थीं अब बढ़ा कर ११२ कर दी गई हैं।

यह आशा की जाती है कि इन सब प्रयासों के फलस्वरूप निकट भविष्य में हमारा यह उद्देश्य पूरा हो जायेगा कि औरतों को बहुत आसानी से चिकित्सा सुविधा उपलब्ध हो सके।

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ होने तक जन स्वास्थ्य का कार्य, जिसके फलस्वरूप लोग रोगों तथा महामारियों से अपना बचाव कर सकें, डाक्टरों के ही जिम्मे था। परन्तु चिकित्सा विज्ञान के विकास की वजह से आज यह आवश्यक हो गया है कि जन स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं की सफलता मिल जुल कर काम करने पर आधारित है और इसके लिये आवश्यक है चिकित्सा विज्ञान में प्रशिक्षित कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त किया जावे। फारमेसिस्ट, परिचारिकायें, मिडवाइव्ज, दाइयों व टैक्नीशियन्स ये सब बहुत आवश्यक हैं।

परिचारिकाएं—आज कल रोगों के इलाज में मरीजों की देखभाल बहुत आवश्यक है और जब तक काफी संख्या में परिचारिकायें नहीं उपलब्ध होतीं मरीजों की देखभाल ठीक से नहीं हो सकती। हमारे प्रदेश में यद्यपि परिचारिकाओं की सेवा का प्रारम्भ १९१३ में हो गया, लेकिन जब १९४४ में इन सेवाओं का प्रान्तीयकरण कर दिया गया उसी समय से परिचारिका सेवाओं की उन्नति के लिये एक परिचारिका सेवाओं की अधीक्षिका की नियुक्ति की गई।

परिचारिका सेवा के प्रान्तीयकरण के बाद, प्रशिक्षण कार्यक्रम में वृद्धि की गयी और १९४६ में परिचारिकाओं के ६ प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गयी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में प्रशिक्षण कार्यक्रम पर और भी अधिक ध्यान दिया गया और प्रशिक्षण केन्द्रों की संख्या बढ़ाकर ९ कर दी गयी। प्रशिक्षण कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में दिक्कत काफी संख्या में लड़कियों के न मिलने से होती है। स्थान की कमी और प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी से भी दिक्कतें बढ़ती गयीं। इस वजह से किसी भी केन्द्र में प्रशिक्षार्थिनियाँ पूरी संख्या में नहीं जा सकीं। इस समय ८६० परिचारिकाओं के प्रशिक्षण का प्रबन्ध है लेकिन ७०५ को ही प्रशिक्षित किया जा रहा है। इसके अलावा ५ मिडवाइव्ज प्रशिक्षण स्कूलों में १०० परिचारिकाओं को मिडवाइफरी में प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध है।

सन् १९६० में नर्सिंग कालेज दिल्ली में हमारे प्रदेश की ५ परिचारिकाओं का बी० एस०-सी० (आनर्स) का डिप्लोमा देने का प्रबन्ध किया गया था। हर साल राजकीय व्यय पर ५ परिचारिकायें इस डिप्लोमा के लिये भेजी जाती हैं। प्रदेश में परिचारिका शिक्षा के विकास के लिये तीसरी पंचवर्षीय योजना में पोस्ट सार्टीफिकेट स्कूल ऑफ नर्सिंग की स्थापना १९६२ में की गयी। इसमें तीन मास कालीन वार्ड के प्रबन्ध का पाठ्यक्रम है। अब तक ५४ परिचारिकाओं को प्रशिक्षित किया जा चुका है और धीरे-धीरे अधिक संख्या में प्रशिक्षित हो रही हैं। कालेज आफ नर्सिंग व अन्य दूसरी संस्थाओं ने जो सहयोग दिया उसके फलस्वरूप परिचारिका कार्यक्रम को सुदृढ़ बनाने के लिये निम्नलिखित को प्रशिक्षित किया गया :

प्रशिक्षण की किस्म	प्रशिक्षितों की संख्या
नर्सिंग एडमिनिस्ट्रेशन	१३
नर्सिंग एडमिनिस्ट्रेशन और ट्यूटर्स का मिला-जुला पाठ्यक्रम	७
सिस्टर ट्यूटर्स	१०
मिडवाइफरी ट्यूटर्स	१
रेफ्रेशर्स पाठ्यक्रम	
(क) पीडियाट्रिक नर्सिंग	६
(ख) नर्सिंग एडमिनिस्ट्रेशन	८
(ग) सिस्टर ट्यूटर्स	५
(घ) साइट्रिक ट्रेनिंग	१
(ङ) टी० बी० ट्रेनिंग	१

परिचारिका कार्यक्रम में लगातार विकास होने के कारण इस प्रदेश के ४३ अस्पतालों में परिचारिका-कार्यक्रम पूरी तरह चल रहा है तथा ७३ अस्पतालों में आंशिक तौर पर। इस समय परिचारिकाओं का कैडर १७७६ है जब कि

सन् १९५२ में ८३८ था। राजकीय सेवा की परिचारिकाओं की संख्या १३८९ है जब कि इस प्रदेश में सन् १९४८ में इनकी संख्या १०० थी। छात्रा परिचारिकाओं की संख्या १०१० है जो कि विभिन्न प्रशिक्षण केन्द्रों में शिक्षा पा रही हैं। यह हमारे पारिचारिका कार्यक्रम की सफलता है और आशा की जाती है कि चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक परिचारिका सेवा का पूरी तरह विकास हो जायगा।

मातृ व शिशु कल्याण शाखा—मातृ व शिशु कल्याण सेवाओं को सन् १९४८ में रेडक्रास से लिया गया। प्रारम्भ में केवल २०० मातृ व शिशु कल्याण केन्द्रों का प्रांतीयकरण किया गया। प्रान्तीयकरण के समय केवल सिल्वर जुबिली हेल्थ स्कूल ही लखनऊ में था जहां पर मिडवाइव्ज व हैल्थ विजिटर्स का प्रशिक्षण होता था।

इस शाखा का कार्य संगठन व प्रशिक्षण दोनों का है। प्रान्तीयकरण के बाद का विकास कार्यक्रम निम्नलिखित है।

वर्ष	मातृ व शिशु कल्याण केन्द्रों की संख्या	हैल्थ विजिटरों की संख्या	मिडवाइव्ज की संख्या
१–४–१९४८	२००	६	२२५
३१–३–१९६५ (पहली पंचवर्षीय योजना का अंतिम वर्ष)	४४२	६६	४६५
३१–३–१९६१ (दूसरी पंचवर्षीय योजना का अंतिम वर्ष)	१२२९	३५२	१३५६
वर्तमान स्थिति	२०६९	८३५	२२०४

मातृ व शिशु कल्याण केन्द्र में एक मिडवाइफ, एक दाई, एक स्वीपर-कम-चौकीदार होते हैं। ब्लाक के मुख्यालय में एक हेल्थ विजिटर नियुक्त होती है, जो सेवाओं की देखभाल व संगठन करती है। जिला स्तर पर जिला हेल्थ विजिटर मातृ सेवाओं की देखभाल व दिग्दर्शन करती है।

क्षेत्रीय स्तर पर २ क्षेत्रीय मातृ व शिशु स्वास्थ्य कार्यालयों की स्थापना की गयी है—एक पश्चिमी क्षेत्र मेरठ में और दूसरा पूर्वी क्षेत्र वाराणसी में। क्षेत्रीय कार्यालयों में एक क्षेत्रीय मातृ व शिशु स्वास्थ्य अधिकारी व एक जन स्वास्थ्य परिचारिका है, जो कि अपने क्षेत्र में इन कार्यक्रमों की देखभाल करती है।

प्रान्तीयकरण के समय मुख्यालय में मातृ व शिशु कल्याण की एक सहायक निदेशिका थी। जब कि कार्यक्रमों का विकास हुआ उसके फलस्वरूप सहायक निदेशक के सहायक तथा एक आरक्षित चिकित्सा अधिकारी की नियुक्ति की गयी।

२०० मातृ व शिशु कल्याण केन्द्र यूनीसेफ से दवा आदि प्राप्त कर रहे हैं।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में ताजे दूध बांटने का कार्यक्रम जो चालू किया गया था, वह इस प्रदेश के २३ जिलों में चल रहा है। वे जिले हैं : (१) आगरा (२) इलाहाबाद (३) अलीगढ़ (४) अलमोड़ा (५) आजमगढ़ (६) बलिया (७) बिजनौर (८) बुलन्दशहर (९) गोरखपुर (१०) गाजीपुर (११) लखनऊ (१२) कानपुर (१३) वाराणसी (१४) मुजफ्फरनगर (१५) सहारनपुर (१६) खीरी (१७) मिरजापुर (१८) टेहरी गढ़वाल (१९) हमीरपुर (२०) बस्ती (२१) देहरादून (२२) झांसी (२३) बहराइच। एक वर्ष का बजट तीन लाख रु० का होता है।

प्रशिक्षण

(क) **आक्जिलरी नर्स मिडवाइफ**—सिलवर जुबिली हेल्थ स्कूल, लखनऊ में मिडवाइव्ज का प्रशिक्षण बन्द कर दिया गया था। और पहली पंचवर्षीय योजना में मिडवाइव्ज के प्रशिक्षण के लिये ४ केन्द्र खोले गये। दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह संख्या बढ़कर १६ हो गयी। मिडवाइफरी प्रशिक्षण पाठ्यक्रम जो कि एक वर्ष का था उसको दूसरी पंचवर्षीय योजना में आक्जिलरी नर्स मिडवाइफ प्रशिक्षण में बदल दिया गया, जिसका पाठ्यक्रम दो वर्ष का है। शिक्षार्थियों की शिक्षा योग्यता ६वीं से ८वीं श्रेणी कर दी गई है। केन्द्रों की संख्या १० रह गई है, क्योंकि काफी संख्या में शिक्षार्थी नहीं मिलते थे। जिन जगहों में प्रशिक्षण केन्द्र चल रहे हैं उनके नाम हैं :

(१) लखनऊ (२) वाराणसी (३) कानपुर (४) फैजाबाद (५) रामपुर (६) सहारनपुर (७) पीलीभीत (८) मिर्जापुर (९) बस्ती (अब वाराणसी में) (१०) झांसी (अब लखनऊ में)।

प्रतिवर्ष ३०० शिक्षार्थियों की भरती के लिये स्थान रहता है और हर केन्द्र में १५ हर सत्र में प्रशिक्षित हो

सकते हैं। अब तक १३०८ मिडवाइफ और अक्जिलरी मिडवाइव्ज प्रशिक्षित हो चुकी है। जो शिक्षार्थी इस समय प्रशिक्षण पा रहे हैं उनकी संख्या ३८१ है।

(ख) **हैल्थ विजिटर्स**—दूसरी पंचवर्षीय योजना में दो नये हैल्थ विजिटर्स प्रशिक्षण स्कूलों की स्थापना की गई, जिनमें एक इलाहाबाद में है और दूसरा हल्द्वानी में (जो कि अब बरेली में आ गया है)। इस प्रकार सिल्वर जुबिली हैल्थ स्कूल, लखनऊ को शामिल करते हुए इन प्रशिक्षण स्कूलों की संख्या ३ हो गयी है। पहले पाठ्यक्रम दो वर्ष का था जो कि दूसरी पंचवर्षीय योजना में बढ़ाकर ढाई वर्ष का कर दिया गया। प्रतिवर्ष इन स्कूलों में १८० शिक्षार्थियों की भरती हो सकती है और प्रति स्कूल के हर सत्र में एक साथ ३० छात्राओं का प्रशिक्षण हो सकता है। अब तक ७०० हैल्थ विजिटर्स को प्रशिक्षित किया जा चुका है और २१४ छात्रायें इस समय प्रशिक्षण पा रही हैं।

(ग) **जन स्वास्थ्य परिचारिकायें**—यह प्रशिक्षण सितम्बर सन् १९६३ से सिल्वर जुबिली हैल्थ स्कूल, लखनऊ में प्रारम्भ कर दिया गया है। चौथी पंचवर्षीय योजना के समय में यह सुझाव है कि सिल्वर जुबिली हैल्थ स्कूल का जन स्वास्थ्य परिचारिका प्रशिक्षण स्कूल में बदल दिया जाये। हैल्थ विजिटर्स का प्रवेश प्रशिक्षण के लिये बन्द कर दिया गया है। इन दिनों केवल अंतिम वर्ष की छात्राओं को प्रशिक्षित किया गया। इनकी संख्या ३६ है। पाठ्यक्रम में ३ वर्ष का साधारण पाठ्यक्रम, ९ मास का मिडवाइफरी और ९ मास का जन स्वास्थ्य परिचारिका का पाठ्यक्रम है (प्रशिक्षण का कुल समय साढ़े चार वर्ष)।

(घ) **दाई**—दाइयों का प्रशिक्षण ग्रामीण मातृ व शिशु कल्याण केन्द्रों में होता है, जहां पर ४–५ दाइयां प्रशिक्षित की जाती हैं और सफल प्रशिक्षणार्थियों को सार्टीफिकेट व दाइयों का बैग दिया जाता है। ३० केन्द्रों में भारत सरकार की दाइयों के प्रशिक्षण की योजना लागू है जो इस प्रदेश की २३ जिलों में चल रही है। अब तक १०८६३ दाइयों को प्रशिक्षित किया जा चुका है।

(ङ) **फारमेसिस्ट**—महिला कम्पाउण्डरों की बहुत कमी है और फारमेसी ऐक्ट में निर्धारित योग्यता के कारण और भी दिक्कत पेश हो रही है। इसकी वजह से प्रदेश में महिला अस्पतालों और चिकित्सालयों में महिला कम्पाउण्डरों की कमी है। महिला चिकित्सा से विकाओं की एक योजना राजकीय आदेश से प्रारम्भ की गई है जिसके कारण प्रशिक्षित महिला कम्पाउण्डरों की कमी दूर की जा सकेगी। ५ बड़े महिला अस्पतालों में केवल शहरों में ५० महिला शिक्षार्थियों को प्रशिक्षण दिया जायगा। हर अस्पताल में प्रशिक्षार्थियों की संख्या १० होगी। चिकित्सा सेविकायें परिचारिका की सहायता का कार्य करेंगी और मामूली कार्य करेंगी जैसे वार्डों की सफाई करना, बिस्तर लगाना, मरीजों की देह की सफाई करना व भोजन कराना आदि। इस प्रकार धीरे धीरे चिकित्सा अधिकारियों की देखभाल में वे यह सब कार्य उस समय तक करती रहेंगी।

इस प्रकार इस बात की जानकारी हो गई कि उत्तर प्रदेश में चिकित्सा सेवाओं के अन्तर्गत नारियों के कल्याण के लिये क्या किया गया है, इस समय क्या हो रहा है और निकट भविष्य में क्या कार्यक्रम है। नारियों के कल्याण से ही देश का कल्याण है।

महिला मंगल योजना

श्री दाऊदयाल खन्ना
स्वास्थ्य मंत्री, उत्तर प्रदेश।

महिला मंगल योजना समाज कल्याण तथा नियोजन विभाग के समन्वय से प्रदेश के ५४ जिलों में कार्यान्वित है। इस योजना के उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं तथा बच्चों को अनौपचारिक शिक्षा की सुविधा प्रदान कर उनका बहुमुखी विकास करना है तथा विभिन्न आयु वर्ग की महिलाओं को संगठित कर उन्हें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं नैतिक विकास के लिए अवसर प्रदान करना है।

इस कार्य के सम्पादन के लिए सभी विकास क्षेत्रों में सहायक विकास अधिकारी (महिला) के साथ २ से ५ तक ग्राम सेविकाएं कार्य कर रही हैं। नियोजन विभाग की दो ग्राम सेविकाएं प्रत्येक विकास क्षेत्र में और समाज कल्याण बजट पर अधिक-से-अधिक तीन ग्राम सेविकाएँ कुछ विकास क्षेत्रों में नियुक्त हैं। प्रत्येक ग्राम सेविका के साथ समीपवर्ती ग्रामों में तीन से पांच ग्राम लक्ष्मियां नियुक्त हैं। सहायक विकास अधिकारी (महिला) तथा ग्रामीण स्तर के कार्यकर्ताओं के कार्य देखने के लिए तथा उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए क्षेत्रीय स्तर पर एक क्षेत्रीय सहायक निदेशिका है।

इस योजना में ग्राम लक्ष्मी, महिला मण्डल तथा युवती मंगल दल का बड़ा महत्त्व है। ग्राम लक्ष्मी की शैक्षिक योग्यता कम-से-कम कक्षा ५ उत्तीर्ण है। यह कार्यकर्त्री अवैतनिक होती है और अपने ग्राम में सेवा कार्य हेतु इसे २० रु० मासिक मानदेय दिया जाता है। इन ग्राम लक्ष्मियों के माध्यम से गांव की महिलाओं में जाग्रति पैदा करने एवं योजना के कार्यान्वित करने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है।

युवती मंगल दल एवं महिला मण्डल, महिला जगत् में व्याप्त अन्ध विश्वास एवं अज्ञान का निराकरण करने में बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हो रहे हैं। युवती मंगल दल के माध्यम से १२ से १८ वर्ष की आयु की ग्रामीण किशोर बालिकाओं को तथा महिला मण्डल के माध्यम से १८ वर्ष से अधिक आयु तक की महिलाओं को अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास का अवसर तो मिलता है, साथ ही वे प्रजातांत्रिक रूप से विभिन्न संस्थाओं का संगठन एवं उनका संचालन करने की योग्यता भी प्राप्त कर लेती हैं। इन दलों का मुख्य ध्येय किशोर युवतियों एवं प्रौढ़ महिलाओं में त्याग एवं उत्सर्ग की भावना, आदर्श के प्रति प्रेम तथा कर्मठ जीवन बनाने की प्रेरणा उत्पन्न करना है, जिससे उनके व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास हो और वे स्वयं सचेत नागरिक बनें एवं सुदृढ़ भावी नागरिक भी बनावें।

महिला मंगल योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रम चलाये जाते हैं:

बालवाड़ी—प्रातःकाल ३ घंटे तक गांव के ३ से ६ वर्ष तक के बच्चों को केन्द्र पर इकट्ठा कर व्यक्तिगत एवं सामूहिक सफाई, सामान्य स्वास्थ्य तथा बागवानी, भावगीत, खेलकूद, रचनात्मक कार्य इत्यादि का ज्ञान दैनिक जीवन सम्बन्धी क्रियाओं द्वारा कराया जाता है। बालवाड़ी की शिक्षा पाने के उपरान्त बच्चे इस योग्य हो जाते हैं कि उनका प्रवेश गांवों की प्रारम्भिक पाठशाला में कराया जा सके। बालवाड़ी कक्षा ग्राम सेविका एवं ग्राम-लक्ष्मी केन्द्र पर नित्य लगती है।

प्रौढ़ कक्षा—दोपहर के बाद स्थानीय सुविधा को देखते हुए महिलाओं के लिए २ से ३ घंटे तक प्रौढ़ कक्षा प्रत्येक ग्राम सेविका व ग्राम लक्ष्मी केन्द्र पर लगती है। इसमें उन्हें उनके मानसिक दृष्टिकोण को ऊंचा उठाने के लिए साधारण लिखने पढ़ने का ज्ञान कराया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें हस्तकला, गृह-प्रबन्ध, संतुलित भोजन, गृह उद्यान, मातृकला, स्वास्थ्य रक्षा, भोजन व पोषण, शिशुपालन, कृषि, पशुपालन एवं नागरिकता सिखाई जाती है। साथ ही साथ उन्हें भारतीय संस्कृति का ज्ञान, जैसे भजन कीर्त्तन, लोकनृत्य, लोकगीत तथा रामायण पाठ भी कराया जाता है। खेलकूद द्वारा उनके स्वास्थ्य का विकास किया जाता है। विषयों को रोचक बनाने के लिए ग्राम सेविका दृश्य एवं श्रव्य साधनों का प्रयोग करती रहती है, जैसे नाटक, कहानी, कठपुतली, खद्दरग्राफ, दृश्यदर्शन चार्ट्स, चल-चित्र आदि। शिक्षा प्राप्त ग्रामीण महिलायें अपने

अपने घरों में प्रयोग हेतु अचार, चटनी, मुरब्बा, चिप्स, पापड़, जेली, रसोई उद्यान, सोख्ता गढ़ा, धुम्ररहित चूल्हा, आदर्श मूत्रालय व शौचालय, घड़ौची, बर्तन रखने का चबूतरा, वैज्ञानिक विधि से कपड़े धोना तथा भोजन रखने की जाली आदि बनाती हैं। इस भांति वे अपने परिवार की उन्नति करती हैं।

महिला एवं युवती शिविर—स्त्रियों में नवजीवन पैदा करने, आहार और उत्पादन तथा पंचवर्षीय योजना से अवगत कराने हेतु प्रगतिशील महिलाओं के लिए शिविरों का संगठन समय-समय पर किया जाता है।

सन् १९६३—६४ में प्रदेश के विभिन्न जिलों में १४ युवती शिविर चलाये गये, जिनमें ५४० युवतियों ने भाग लिया। इसके अतिरिक्त राज्य स्तर पर लखनऊ में मार्च, १९६४ के अन्तिम सप्ताह में महिलाओं का स्टेट लेवल यूथ फेस्टिवल का आयोजन किया गया, जिसमें विभिन्न जिलों की महिलाओं ने भाग लिया। मुख्य मंत्री, उत्तरप्रदेश तथा अन्य मन्त्रियों ने उपर्युक्त फेस्टिवल को देखा और इसमें महिलाओं द्वारा किये गये कामों की सराहना की।

गतवर्ष इस योजना के अन्तर्गत जो कार्य सम्पादित किये गये उनका विवरण इस प्रकार है:

१.	बालवाड़ी कक्षाओं की संख्या	८८७३
२.	बालवाड़ी में विद्यार्थियों की संख्या	१,३९,९३७
३.	प्रौढ़ कक्षाओं में महिलाओं की संख्या	१,१२,५९२
४.	महिलाओं और लड़कियों की संख्या, जिन्हें शिल्प शिक्षा दी गई	१,४७,२४०
५.	महिला मण्डलों की संख्या	४,८८५
६.	महिला मण्डलों में सदस्यों की संख्या	१,०७,६३९
७.	युवती मंगल दलों की संख्या	४,७०४
८.	युवती मंगल दलों में सदस्यों की संख्या	८४,१३६

ग्राम सेविकाओं का प्रशिक्षण—ग्रामीण क्षेत्रों में महिला मंगल योजना को संचालित करने हेतु कम-से-कम ८वीं कक्षा या उसके समकक्ष परीक्षा उत्तीर्ण उन महिलाओं को जिनकी आयु १८ और ३५ वर्ष के मध्य होती है, एक वर्ष तक प्रसार कार्य एवं गृह विज्ञान का प्रशिक्षण दिया जाता है और सफलतापूर्वक प्रशिक्षण समाप्त करने पर उन्हें ग्राम सेविका के पद पर ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य हेतु नियुक्त किया जाता है। ग्राम सेविकाओं को प्रशिक्षण देने के लिए १० स्थानों पर प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित हैं, जहां की प्रगति निम्न प्रकार है:

	ग्राम सेविका प्रशिक्षण केन्द्रों के नाम	प्रशिक्षिकाओं की संख्या
१.	बक्शी-का-तालाब	४६
२.	बुलन्दशहर	३०
३.	हवलबाग (अल्मोड़ा)	१०
४.	डामा सेमर (फैजाबाद)	५०
५.	बिचपुरी (आगरा)	४०
६.	गाजीपुर	५०
७.	दोहाई (मेरठ)	४०
८.	रूद्रपुर (नैनीताल)	२४
९.	चिरगांव (झांसी)	४१
१०.	फतेहपुर (सहारनपुर)	४२
		३७३

इसके पूर्व उपर्युक्त केन्द्रों से १,३२२ ग्राम सेविकाओं को प्रशिक्षित किया जा चुका है।

शिक्षिकाओं का प्रशिक्षण—ग्राम सेविकाओं के प्रशिक्षण को उच्च स्तर पर रखने के लिए शासन द्वारा समय समय पर शिक्षिकाओं के लिए अल्पकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था सन् १९६३—६४ में की गई थी, जिसमें इस राज्य की शिक्षिकाओं को भेजा गया।

प्रशिक्षण केन्द्र का नाम	प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षिकाओं की संख्या
१. एक्सटेन्शन एजूकेशन इन्स्टीट्यूट, नीलोखेड़ी, पंजाब	१
२. एक्सटेन्शन एजूकेशन इन्स्टीट्यूट, आनन्द	१
३. इलाहाबाद, एग्रीकल्चर कालेज, नैनी, इलाहाबाद	८
योग	१०

ग्राम लक्ष्मियों का संस्थागत प्रशिक्षण—सन् १९६३–६४ में ग्राम लक्ष्मियों के २२ शिविर आयोजित किये गये, जिसमें उन्हें बालवाड़ी शिल्प, गृह-उद्योग, फल संरक्षण, व्यावहारिक तथा पोषण आहार योजना, कृषि, पशुपालन तथा प्रारम्भिक चिकित्सा आदि विषयों में शिक्षा दी गई।

विविध नवीन कार्यक्रम की पोषण आहार योजना—सन् १९६२–६३ से संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट निधि तथा खाद्य एवं कृषि संघ की सम्मिलित सहमति के फलस्वरूप व्यावहारिक तथा पोषण आहार योजना उत्तर प्रदेश में चलाई गई है। इस योजना का उद्देश्य विसकासोन्मुख राष्ट्र के निम्न स्तर की पोषण आहार स्थिति की उन्नति करना है। इस कार्य को ऊंचा करने और दृढ़ बनाने के निमित्त लोगों को उत्पादन वृद्धि और उचित खपत की ओर उन्मुख करना है। पोषण तत्त्व को संरक्षित करने में महिलाओं का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अत: ग्रामीण महिलाओं को संगठित करके विशेष शिविरों का आयोजन किया जाता है और उन्हें इस बात की शिक्षा दी जाती है कि वे किस प्रकार का भोजन खायें और उसको किस प्रकार पकायें जिससे भोजन के समस्त पौष्टिक तत्त्व प्राप्त हो जायें। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए विभाग की विभिन्न स्तर की कार्यकर्त्रियों को शिक्षा देकर यह कार्य प्रारम्भ किया जा चुका है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट निधि द्वारा प्रशिक्षण का खर्च तथा अन्य उपकरण भी दिये जा रहे हैं।

पुरस्कार प्रतियोगिता योजना—सन् १९६३–६४ में केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत प्रदेश के समस्त जिलों में पुरस्कार प्रतियोगिता योजनाचलाई गई। इस योजना का उद्देश्य ग्राम सेविकाओं को राष्ट्र के विकासोन्मुख कार्यों में प्रोत्साहित करना है। इस प्रतियोगिता में राज्य की सभी ग्राम सेविकाओं ने भाग लिया जिसके फलस्वरूप जिले के नवाबगंज ब्लाक की श्रीमती कमला देवी अवस्थी ग्राम सेविका का कार्य सर्वप्रथम रहा। इसके बाद इलाहाबाद जिले में मंझनपुर ब्लाक की ग्राम सेविका श्रीमती गायत्री देवी पाण्डे का कार्य द्वितीय श्रेणी पर रहा। इन ग्राम सेविकाओं द्वारा ब्लाकों में किए कार्यों की राज्य स्तर कमेटी द्वारा सराहना की गयी।

समन्वित बाल कल्याण योजना—सन् १९६३–६४ में समन्वित बाल कल्याण योजना इटावा जिले के अजीतमल ब्लाक में संचालित की गई। इस योजना का मुख्य उद्देश्य शून्य से १६ साल तक के बच्चों की देखरेख तथा उनको प्रगति के पथ की ओर ले जाना है।

ग्रामीण स्वयं सेविका दल—कोई भी जन जाग्रति का कार्यक्रम उस समय तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक कि इस कार्यक्रम को नारी वर्ग का सहयोग न प्राप्त हो। इस दृष्टि से शासन ने १९६३–६४ में निर्णय किया कि ग्राम स्वयं सेवक दल के अनुरूप ग्राम सेविका दलों का संगठन किया जाये। इस प्रकार ग्रामीण स्वयं सेविका दल का सूत्रपात हुआ। इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्राम रक्षा, उत्पादन वृद्धि तथा जन-सेवा करना है। यह योजना प्रदेश में फरवरी, १९६४ में लागू की गई। युवकों ओर महिलाओं को ग्राम रक्षा, उत्पादन वृद्धि तथा प्रारम्भिक चिकित्सा में शिक्षा दी गई।
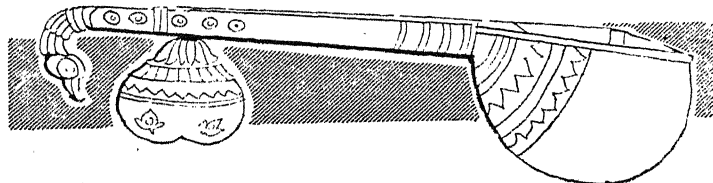
उत्तर प्रदेश में अपराधशास्त्र का अध्ययन तथा समाजशास्त्रीय अनुसंधान

डा० सुशीलचन्द्र एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट्०
प्रो० समाजशास्त्र-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

समाज-विज्ञान की कोटि में अपराधशास्त्र सब से नवीन तथा अल्पकालीन है। भारतवर्ष में स्नातकोत्तर विषय के रूप में इसकी स्वीकृति उत्तर-प्रदेश में लगभग बीसवीं शताब्दी के द्वितीय खण्ड में प्रारम्भ हुई थी।

अपराधशास्त्रीय अनुसंधान का समारम्भ—भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्रीय अनुसन्धान इस विषय के अध्यापनकार्य के पूर्व आरम्भ हुआ। प्रारम्भिक अपराधशास्त्रीय अनुसन्धान बीसवीं शताब्दी के तृतीय खण्ड से प्रारम्भ होते हैं। कुछ अंग्रेज विद्वान तथा भारतीय न्यायशास्त्रियों ने उपर्युक्त विषय पर अपनी पुस्तकों को प्रस्तुत किया जिनके शीर्षक निम्न प्रकार से हैं—'भारतवर्ष में अपराध', 'दण्ड से निरोध तक'। कुछ भारतीय समाजशास्त्रियों ने इन पुस्तकों से प्रेरणा ग्रहण की तथा प्रोत्साहित भी हुए। उन लोगों ने अपराध का अध्ययन वैज्ञानिक प्रक्रिया से आरंभ किया था। वर्तमान शताब्दी के तृतीय खण्ड में भारतीय समाजशास्त्रियों ने अपना ध्यान अपराध-शास्त्र के इन विषयों पर केन्द्रीभूत किया—अपराध के सामाजिक एवं आर्थिक कारण, रीतिरिवाज व अपराध, भारतीय ग्रामीण जनतंत्रीय संस्थाएं तथा उनका ग्रामीण अपराध पर प्रभाव, अपराध न्याय पद्धति एवं उसका अपराध पर प्रभाव, अपराधियों का वर्गीकरण तथा अपराध के कारणों का अनुसन्धान। ब्रिटिश सरकार के शासन में अपराधी पेशा करने वाली जातियों के विषय में कुछ कार्य आरम्भ हुआ। इन जातियों को कुछ बस्तियों में बसाया गया और उनको पुलिस के कठोर नियंत्रण में रखा गया। कुछ भारतीय समाजशास्त्रियों ने अपराधी पेशा करने वाली जातियों का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ किया। इस प्रकार के विभिन्न अनुसन्धानों से सामाजिक वैज्ञानिकों की रुचि अपराधशास्त्र के अध्ययन की ओर बढ़ी।

अपराधशास्त्रीय योजनाओं के विषय में उत्तर प्रदेश सम्पूर्ण भारत में अग्रणी रहा है जो कि निम्न कारणों से स्वतः सिद्ध है—हमारे कारागार वन्दियों की दैनिक औसत संख्या भारत वर्ष के सभी प्रदेशों के वन्दी गृहों की औसत संख्या से अधिक है, सब से अधिक कारागार उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं; भारतवर्ष का, सर्वप्रथम कारागार अधीक्षक हमारे प्रदेश में नियुक्त हुआ, भारतवर्ष का सर्वप्रथम केन्द्रीय कारागार आगरा में स्थापित किया गया, जेल-सुधार की योजनायें सर्वप्रथम भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश में प्रारम्भ की गईं तथा बन्दीगृहों के कर्मचारियों की उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था भी इसी प्रदेश में की गई; साथ ही भारतवर्ष में प्रथम बार समाज-शास्त्र एवं अपराध शास्त्र के प्राध्यापक की नियुक्ति केवल उत्तर प्रदेश के प्रशिक्षण केन्द्र में की गई तथा अपराधशास्त्रीय अनुसन्धान की सुदृढ़ नींव उत्तर प्रदेश में पड़ी।

दण्ड-सुधारवादी आन्दोलन तथा अपराधशास्त्र—अपराध-शास्त्र की उन्नति दण्डसुधारवादी आन्दोलन से सम्बन्धित है। दण्ड-सुधारवादी आन्दोलन जितना तीव्र होता है उतनी ही तीव्रता से अपराध और दण्ड के विषय में जिज्ञासा प्रबल होती जाती है। इस आन्दोलन की नींव १९३७–३९ में भारत के उत्तरी प्रांत में पड़ी तथा प्रथम कांग्रेसी सरकार सन् १९३७ में स्थापित हुई। अपराध और कारागार के विषय में तीन सरकारी समितियों की नियुक्ति हुईं। उस समय प्रमुख विचार यह था कि यदि अपराधी का सुधार करना है तो यह आवश्यक होगा कि बन्दीगृहों का सुधार किया जाय। बन्दीगृहों में सुधार लाने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि बन्दीगृहों के कर्मचारियों को उचित वैज्ञानिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाये। इन्हीं सब विचारों को ध्यान में रखकर लखनऊ में जेल-कर्मचारियों के प्रशिक्षण हेतु एक सरकारी संस्था निर्माण की गई। स्थापित संस्था में भारतवर्ष में प्रथम बार बन्दीगृहों के कर्मचारियों को दी गई शिक्षा को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया।

इस प्रशिक्षण केन्द्र के द्वारा बन्दीगृह के कर्मचारियों के समाज-शास्त्र, अपराध-शास्त्र, दण्ड-शास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, बन्दी गृह शासन, भवन निर्माण की कला, वन्दीगृहों की स्वच्छता, कृषि तथा कारागार सम्बन्धी आदि विषयों पर उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था कर के वन्दीगृहों के कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया गया। इस सरकारी प्रशिक्षण संस्था में केवल इसी प्रांत के कर्मचारियों को प्रशिक्षित नहीं किया गया वरन् अन्य प्रांतों के उच्च कर्मचारियों को भी प्रशिक्षित किया गया। इस प्रकार से अपराध-शास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण विषय का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। सरकारी प्रशिक्षण केन्द्र में जो अपराध-शास्त्र का बीजरोपण हुआ वह १९४९ में विश्वविद्यालयीय स्तर पर विशेष रूप से लखनऊ विश्वविद्यालय में पल्लवित और पुष्पित हुआ। इस संस्था की स्थापना के पीछे मुख्य उद्देश्य यह था कि कारागार सुधारात्मक योजनाओं एवं सुधारात्मक कार्यों को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए कारागार के अधिकारियों तथा सुधार कार्य में संलग्न अन्य कर्मचारियों को वैज्ञानिक प्रशिक्षण दिया जाय।

चतुर्थ खण्ड के प्रशिक्षणीय पाठ्यक्रम की प्रमुख विशिष्टता यह थी कि इसमें सामाजिक विज्ञानों पर अधिक बल दिया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण संस्थान में पूरे दो वर्ष तक काम करने वाले समाज-विज्ञान के अध्यापकों की नियुक्ति की गई। इनमें से एक की नियुक्ति समाजशास्त्र, अपराधशास्त्र तथा दण्ड शास्त्र के अध्यापन कार्य के लिए तथा दूसरे की नियुक्ति मनोविज्ञान के लिए हुई थी। समाजशास्त्र विषय के पाठ्यक्रम में समाजशास्त्र का क्षेत्र, विधि, अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध, मुख्य सामाजिक संस्थाएं, सामाजिक संगठन, परिवर्तन, नियंत्रण आदि विषय सम्मिलित थे। अपराध शास्त्र के पाठ्यक्रम में ये विषय थे—अपराध शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र, अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध, स्वभाव, धारणायें, अपराध-शास्त्र तथा दण्ड शास्त्र के विचारों का विकास, बाल अपराध तथा अपराध के कारण, अपराधों तथा अपराधियों का वर्गीकरण, अपराधी जनजातियों की समस्या तथा उनके निवारण के उपाय, दण्ड की उत्पत्ति तथा विकास, दण्ड के सिद्धांत, आधुनिक दण्ड एवं सुधार सम्बन्धी संस्थाएं तथा अभ्यास।

अपराध-शास्त्र तथा दण्ड-शास्त्र की सैद्धांतिक शिक्षा के पूरक के रूप में शिशु तथा बाल अपराधियों के व्यक्तिगत अध्ययन की व्यवस्था की गई। व्यक्तिगत अध्ययन तथा साक्षात्कार की विधियां कालान्तर में अपराधशास्त्रीय अनुसन्धान के क्षेत्र में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। संस्थानों के अन्तर्गत व्यक्तिगत अध्ययन की विधि को कुछ समय के लिए अस्थायी रूप से स्थगित करना पड़ा, क्योंकि संस्थान के अन्दर के व्यक्तियों का बाहर के व्यक्तियों से अधिक सम्पर्क, संस्थान के अन्दर के जीवन के लिए क्षतिपूर्ण सिद्ध हुआ। पश्चात् ये विधियां संस्थानेतर दशाओं में अधिक उपयोगी सिद्ध हुईं।

चतुर्थ दशक के अन्त होने के पूर्व ही अपराध-शास्त्र जिसका अध्यापन कार्य सर्वप्रथम एक राजकीय प्रशिक्षण केन्द्र में आरम्भ हुआ, जो कि विश्वविद्यालय का पाठ्य-विषय बन चुका था।

अपराध-शास्त्र का अध्यापन तथा विश्वविद्यालयीय स्तर पर अपराधशास्त्रीय अनुसंधान—सन् १९४९ में लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत-जयंती के शुभ अवसर पर माननीय श्री चन्द्रभानु गुप्त के अथक परिश्रम से तथा सर पदमपति सिंघानियां के आर्थिक योगदान से जे० के० इंस्टीट्यूट आफ सोश्योलाजी एण्ड ह्यूमन रिलेशन्स की पद्म भूषण डा० राधाकमल मुकर्जी की अध्यक्षता में स्थापना हुई थी। इस इंस्टीट्यूट में एम०ए० पास विद्यार्थियों के लिए अपराध-शास्त्र विषय में एक डिप्लोमा कोर्स की व्यवस्था की गई। इसके पाठ्यक्रम में अपराध तथा बाल अपराध की अवधारणा उन्नीसवीं सदी के क्लासिकल स्कूल से लेकर आधुनिक पाजिटिव स्कूल तक अपराधशास्त्रीय तथा दण्डशास्त्रीय विचारधारा के विकास, अपराध तथा बाल अपराध के विचार, बाल अपराध के पूर्व की समस्यायें, बाल, किशोर तथा प्रौढ़ अपराध, अपराध के कारणों की खोज, बाल तथा किशोर अपराधियों का सुधार, बन्दीगृह तथा दण्ड सुधारवादी आन्दोलन, प्रोवेशन तथा पैरोल, बन्दियों का पुनःस्थापन इत्यादि पर ध्यान केन्द्रित किया गया। उस समय एक-वर्षीय डिप्लोमा कोर्स के लिए अपराधशास्त्र के प्रमुख सिद्धांतों का अध्ययन कराना ही पर्याप्त एवं सन्तोषजनक समझा गया, इस अध्ययन के साथ पूरे वर्ष विद्यार्थी को अपराधशास्त्र के किसी एक विषय पर अनुसन्धान कार्य करना आवश्यक माना गया। इस अनुसन्धान के आवश्यक बनाये जाने से भारतीय अपराधशास्त्रीय क्षेत्र में पहली बार नवीन विषयों का अनुसन्धान किया गया जिसके परिणामस्वरूप अपराध-शास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त उन्नति हुई। विश्वविद्यालय में अनुसन्धान के प्रारम्भिक विषय इस प्रकार थे—जुविनाइल वेगरेन्सी (बाल आवारापन की समस्या), जुविनाइल ट्रूवेन्सी (बाल भगोड़ापन की समस्या), गन्दी बतिस्यों में बालकों के दुर्व्यवहारों का अध्ययन, ये छोटे पैमाने के अनुसन्धान आगे चलकर डाक्टोरल थीसिस में परिणत हो गये।

१९५२ में एक-वर्षीय डिप्लोमा कोर्स के स्थान पर पूरे दो वर्ष का एम०ए० का कोर्स आरम्भ किया गया तत्पश्चात् अपराधशास्त्रीय एवं दण्डशास्त्रीय अनुसन्धान पी-एच०डी०डिग्री के लिए प्रस्तुत किया जाने लगा। लखनऊ विश्वविद्यालय

में अपराधशास्त्र के नवीन विषयों पर अनुसन्धान किये गये। इस दो-वर्षीय कोर्स में भी दण्डशास्त्रीय तथा अपराधशास्त्रीय तत्त्वों को सम्यक् स्थान दिया गया। इतना ही नहीं वरन् उनका स्तर पहले से अधिक उच्च कर दिया गया तथा इसके अन्तर्गत कुछ अन्य तत्त्वों को और सम्मिलित कर दिया गया। बाल अपराधियों एवं किशोर अपराधियों पर पूर्ण रूपेण अनुसन्धान किया गया। उत्तर प्रदेश की अपराधी महिलाओं पर एक बहुत सफल डाक्टोरल डिसरटेशन प्रस्तुत किया गया। बाल और किशोर अपराधियों के क्षेत्र के सफल अध्ययन के उपरान्त प्रौढ़ अपराधियों पर दृष्टिपात किया गया। भारतीय प्रौढ़ अपराधियों का बन्दीगृह में सर्वेक्षण किया गया, मृत्युदण्ड पाने वाले अपराधियों का मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान काल कोठरियों में किया गया। इसके अतिरिक्त भारतीय सामाजिक समस्याओं पर गहन और गूढ़ अध्ययन भी किये गये।

अध्ययन के विषय इस प्रकार थे : भारतीय भिक्षा वृत्ति की समस्या, वेश्यावृत्ति की समस्या, जुविनाइल निराश्रयता की समस्या, जातीयता की समस्या, भारत में बन्दीगृहों का विकास तथा दण्ड सुधारवादी आन्दोलन की उत्पत्ति और विकास।

अपराधशास्त्र के अध्यापन तथा अनुसंधान का भविष्य—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भारत में अपराधशास्त्रीय अनुसन्धान का सूत्रपात अपराधशास्त्र के अध्यापन के पूर्व हो चुका था। अपराधशास्त्रीय अध्ययन एवं अनुसन्धान का भविष्य स्नातकोत्तर कक्षाओं में इस विषय के गहन सैद्धांतिक अध्ययन पर निर्भर करता है। लखनऊ विश्व-विद्यालय में इस विषय पर अधिक ध्यान दिया गया, आगरा में इसे एक विशेष पाठ्यक्रम के रूप में रखा गया और सागर-विश्वविद्यालय में अपराधशास्त्र को एक पूर्ण विषय के रूप में स्वीकृति दी गई। वैज्ञानिक अनुसन्धान के दृष्टिकोण से अपराधशास्त्र के पाठ्यक्रम में इन विषयों का होना आवश्यक है। अपराधशास्त्र का दृष्टिकोण तथा अपराधशास्त्र की प्रणाली, अपराधशास्त्रीय विचार का विकास, व्यक्ति की विकृतियों या शारीरिक मानसिक विशिष्टताओं पर केन्द्रित अपराध के सिद्धांत, अपराध पर संस्कृति का प्रभाव, अपराध, सांस्कृतिक संघर्ष के विशिष्ट पक्ष के रूप में, बाल अपराध और अपराध के कार्य-कारण, अन्वेषण से सम्बन्धित अपराधशास्त्रीय सिद्धांत, दण्ड सम्बन्धी एवं सुधारात्मक कार्य तथा सामाजिक निरोध।

भारतवर्ष में अपराधशास्त्र के सम्यक् अध्ययन के लिए भारतीय सामाजिक समस्याओं का समावेश अत्यावश्यक है। इसके अन्तर्गत भारत की मुख्य सामाजिक समस्याएं उनके स्वभाव तथा सीमा का अध्ययन होना चाहिए। इनके अन्तर्गत विशेषकर निर्धनता, बेरोजगारी, अपराध, वेश्यावृत्ति व जुआखोरी, भिक्षावृत्ति, अन्तर्जातीय तनाव, वर्ग-संघर्ष, स्वास्थ्य तथा मकान और ग्रामीण सामाजिक विघटन की मुख्य समस्याओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

सामाजिक समस्यायें कोई ईश्वरी देन नहीं हैं वरन् समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति न होना ही सामा-जिक सस्थाओं और सांस्कृतिक असफलता का द्योतक है। सामाजिक समस्यायें मानव-समाज के दुःख और संकट का कारण बन जाती हैं। समाज की जितनी अधिक आवश्यकताएं बढ़ती जायेंगी उसी अनुपात में समस्याएं भी सम्मुख आती जायेंगी तथा मानव-समाज को उसी दृढ़ता से उनका सामना करना पड़ेगा।

हमारे परिवर्तित समाज में औद्योगीकरण व नगरीकरण की उन्नति के साथ-साथ हमारी सामाजिक संस्थायें भी तीव्र गति से परिवर्तन की दिशा में अग्रसर होती जा रही हैं। भारतीय सामाजिक ढांचे और सामाजिक कार्यों में परिवर्तन होता जा रहा है। परिणामस्वरूप परिवर्तन की इस प्रगति को देखकर हमें आशा का कलेवर धारण करना ही होगा, क्योंकि भारतीय सामाजिक समस्याओं में दिनोदिन वृद्धि होती जा रही है। यदि समाज को स्वर्ग बनाना है तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान उसकी बुराइयों तथा जटिल समस्याओं के निराकरण की ओर जाना चाहिए। निवारण के उपायों को हमें कार्यरूप में परिणत करना होगा, अर्थात् व्यवहारोपयोगी बनाना होगा। वैसे तो समाज का प्रत्येक सदस्य चाहे वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित किन्तु सामाजिक समस्या हेतु अपना विचार व्यक्त करता है तथा अपनी बुद्धि के अनुसार उन समस्याओं के निवारणार्थ सुझाव भी प्रस्तुत करता है।

आज का वैज्ञानिक समाज अत्यधिक आगे बढ़ चुका है तथा कोई ऐसा निर्णय लेने को तैयार नहीं जो कि वैज्ञानिक अनुसन्धान की कसौटी पर सिद्ध न हुआ हो। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि आधुनिक समाज में अपराधशास्त्रीय अनुसन्धान की अतीव आवश्यकता है। अनुसन्धान के निष्कर्ष कल्याणकारी समाज की स्थापना के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

सन् १९४९ में माननीय श्री चन्द्रभानु गुप्त ने जिस उद्योगपूर्ण परिश्रम के साथ अपराधशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण विषय के अध्ययन एवं अनुसन्धान की सुन्दर व्यवस्था की उसके लिए लखनऊ विश्वविद्यालय उनका चिरऋणी

रहेगा तथा व्यक्तिगत रूप से इस महान् कार्य के लिए मैं हृदय से उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। जहां तक इसके विकास एवं प्रसार का प्रश्न उठता है इसके ज्वलन्त प्रमाण भारत के अन्य चौदह विश्वविद्यालय हैं, जहां अपराधशास्त्र, का अध्ययन तथा अनुसन्धान का कार्य अत्यन्त सुचारु रूप से विश्वविद्यालय की पद्धति पर आरम्भ हो गया है। इस सबका श्रेय मात्र हमारे कर्मठ भूतपूर्व मुख्यमंत्री माननीय श्री चन्द्रभानु गुप्त को है।
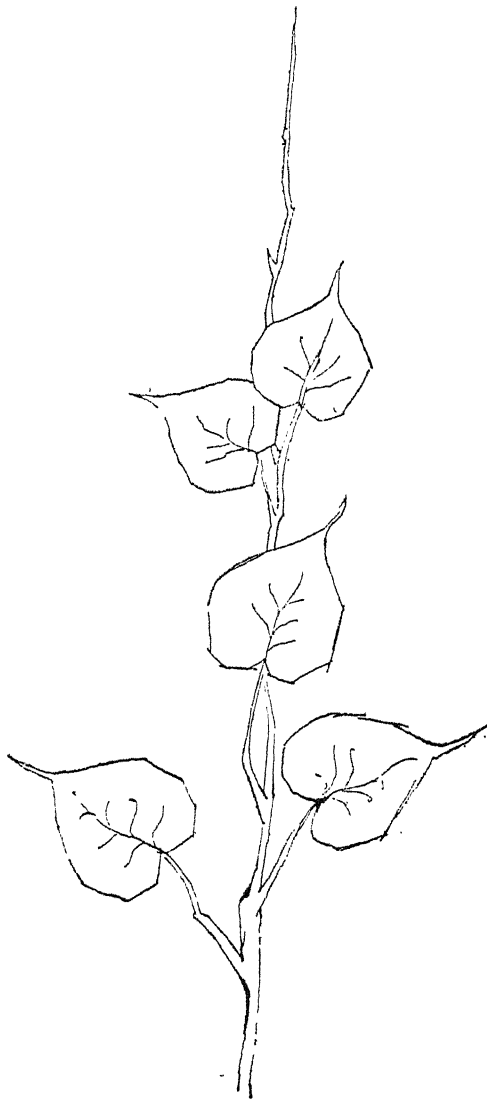
उत्तर प्रदेश के बदलते गांव

डा० श्रीधर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०
लखनऊ विश्वविद्यालय ।

बदलता समाज—यदि हम भारत के ग्राम्य जीवन की ओर ध्यान दें तो हमें विदित होगा कि आज से २–३ दशक पूर्व ग्रामों में जो वातावरण था वह क्रमशः बदल रहा है। दूसरे शब्दों में, हम अनुभव करते हैं कि २–३ पीढ़ी पूर्व ग्राम्य निवासियों का जिस प्रकार का रहन-सहन था तथा जैसे उनके आचार-विचार थे उनमें और वर्तमान पीढ़ी के लोगों के जीवन क्रम में हम बहुत बड़ा अन्तर पाते हैं। सामाजिक जीवन बड़े वेग से बदलता रहा है। संयुक्त-परिवार-प्रणाली का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है, जाति-प्रथा केवल विकृत और दूषित रूप में अपनी अन्तिम घड़ियां गिन रही है। धार्मिक और सामाजिक परम्परायें, रीति-रिवाज, त्यौहार, व्रत और कथायें आदि घटती जा रही हैं। होली, दिवाली, दशहरा, रक्षाबन्धन, रामनबमी, कृष्णजन्माष्टमी आदि उत्सव केवल दिखावा मात्र होते जा रहे हैं। उनका महत्त्व कम हो रहा है। मन्दिर तथा पूजापाठ आडम्बर का रूप होते जा रहे हैं। उनमें लोगों की आस्था घटती जा रही है। परिवार, इष्ट मित्रों, सम्बन्धियों और साधारण जन समाज में पारस्परिक व्यवहार अधिक औपचारिक होता जा रहा है। खानपान में और छूआछूत का भेदभाव प्रायः समाप्त ही है। पवित्रता तथा सात्विकता का विचार नगण्य समझना चाहिए। शादी-व्याह और उपनयन आदि संस्कारों का मौलिक महत्त्व क्षीण होता जा रहा है। इन संस्कारों को मनाने का ढंग परिस्थितिवश बदलता जा रहा है। शिक्षा का प्रसार हो रहा है और होना भी चाहिए। स्कूल, कालेज की सुविधा अब ग्रामों में अधिक हो गई है। वर्तमान शिक्षा प्राप्त युवक प्रायः हर गांव में मिल जाते हैं। ग्रामवासियों के बालक-बालिकाएं बी०ए०, एम०ए० की शिक्षा अब अधिक संख्या में पाने लगे हैं। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा पर होने वाला व्यय अब पहले की अपेक्षा अधिक हो गया है। इसके साथ मनुष्य का ज्ञान और उसकी जानकारी ग्राम की सीमा से बाहर निकलकर देश और विदेश की परिधि में पहुंचने का प्रयास करने लगी है। आज ग्रामवासी शहर, देश और विदेश की बात अधिक करने लगे हैं। उनका सामाजिक सम्पर्क अधिक विस्तृत है और उनके जीवन में अधिक शहरूपन है। यातायात की सुविधा में वृद्धि हो जाने से ग्रामनिवासी अब गांव के बाहर अधिक आने जाने लगे हैं। देशाटन और पर्यटन करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है।

रहन सहन में परिवर्तन—इसी प्रकार आर्थिक जीवन में भी परिवर्तन दिखाई देता है। समय की गति के साथ गांव का जीवन अधिकाधिक अर्थ-प्रधान होता जा रहा है। लोगों के दैनिक जीवन की क्रियाओं में व्यावसायिकता की छाप बढ़ती जा रही है। द्रव्य का प्रयोग अब अधिक होने लगा है। मानव की अधिकांश क्रियाओं का एक मात्र लक्ष्य द्रव्य और लाभ की प्राप्ति होता जा रहा है। विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों में लोगों की रुचि धन और लाभ के आधार पर है। लोगों के बदलते हुए आर्थिक जीवन से ऐसा आभास मिलता है कि वे अब अधिक खुशहाल हैं और उनका जीवन-स्तर सुधर रहा है। इसका संकेत हमें कई बातों से मिलता है। उदाहरणार्थ मोटे अनाजों के स्थान पर ग्रामवासी अब अधिक अच्छे अनाजों का, जैसे गेहूं और चावल का प्रयोग करने लगे हैं। यह भी स्वाभाविक होता है कि जैसे-जैसे किसान की आय में वृद्धि होती जाती है और उसके रहन-सहन का स्तर ऊंचा होता जाता है। वह अपने खेत की उत्पादित वस्तुओं को अपने निजी पारिवारिक उपयोग के लिए कुछ अधिक मात्रा में रखने लगता है। फलतः बाजार में बेचने के लिए आने वाली अमुक वस्तु की शेष मात्रा में कुछ समय के लिए कमी आ जाती है। अतः उस वस्तु का दाम बढ़ जाता है। वर्त्तमान समय में कुछ ऐसी ही स्थिति मालूम पड़ती है। इसी प्रकार जलपान आदि में भी अन्तर दिखाई देता है। चाय, कॉफी, कोको कोला, बरफ, क्रीम बिस्कुट, शहरी मिठाइयां, टोस्ट, केक और शरबत का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। जो वृद्ध ग्रामवासी अपनी युवावस्था में आज से २०–३० वर्ष पूर्व मोटे, ग्राम में ही सिले तथा पुराने ढंग के वस्त्रों का प्रयोग करते थे उनकी वर्तमान पीढ़ी आज

अधिक महीन, फाइन और सुपर फाइन वस्त्रों, धोतियों और इकलाइओं का प्रयोग करने लगी है। कोट, पतलून, टाई, बुश-शर्ट, हैट, शहरी जूता, चप्पल, हवाई चप्पल ग्राम निवासियों के लिए अब कोई अनजानी या अनोखी वस्तुएं नहीं हैं उनका प्रयोग निरन्तर बढ़ रहा है। चारपाई और तखत-चौकी धीरे-धीरे कुर्सी, आराम कुर्सी और मेज के सामने निकलने में संकोच का अनुभव करने लगे हैं। साइकिल ने घोड़े और बैल गाड़ियों को परास्त कर दिया है। स्कूटर और जीप आगे बढ़ने में प्रयत्नशील हैं। अनेक वस्तुएं जो आज से २०–३० वर्ष पूर्व आराम या विलासिता की सामग्री समझी जाती थीं वे आज नितान्त आवश्यक होकर घर-घर में प्रभाव जमा रही हैं––जैसे कलाई की और मेज की घड़ियां, चश्मा, फाउन्टेनपेन, ग्रामोफोन, रेडियो, टार्च, बालों में लगाने के आधुनिक तेल, पाउडर, क्रीम, स्नो, ओठ की लाली, कंघे, चोटियां इत्यादि। सिगरेट का प्रयोग कुछ कम नहीं समझना चाहिए। केवल कुछ पुरातनी लोगों को छोड़कर सिनेमा भी हर व्यक्ति जानता है क्राकरी, चीनी और शीशे के बर्तनों का प्रयोग सम्मान के लिए आवश्यक हो गया है। समाचारपत्र और पत्रिकाएं गांव गांव पहुंचने लगी हैं। डाकखाने की सुविधा हो जाने से लोगों का पत्र-व्यवहार बढ़ गया है। सीमेंट के पक्के भवन भी बनने लगे हैं और यथासम्भव बिजली भी दौड़ने लगी है। शायद ही कोई ऐसा गांव हो जहां अब चाय और पान के स्टाल न हों। वृत्ति और धन्धों में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। कृषि परिवारों के बालक नवीन शिक्षा प्राप्त कर कृषि में ही लगे रहना अब पसन्द नहीं करते अतः शहर में अपनी योग्यतानुसार वृत्ति अथवा धन्धा पाने की चेष्टा करते रहते हैं। इस भांति उनकी रुचि भी कृषि या गांव की ओर से धीरे-धीरे हटती जा रही है। उनकी बातचीत, वेश-भूषा और व्यवहार में परिवर्तन होना स्वाभाविक बात है। इस आधार पर यह धारणा बनती है कि ग्राम-निवासियों का जीवन सुधर रहा है। कुछ सीमा तक यह बात सही कही जा सकती है। जो आर्थिक साधन लोगों को पहले उपलब्ध नहीं थे, वे आज सुलभ हैं। यह सही है।

उपभोग का उद्देश्य––लेकिन इस सम्न्ध में यह सोचना अति आवश्यक है कि हम इन समस्त भौतिक साधनों, सुविधाओं और सेवाओं का प्रयोग क्यों करते हैं। स्पष्ट है कि हम अपने शरीर और मस्तिष्क की यथासम्भव रक्षा और विकास के लिए करते हैं। यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो वास्तव में स्थिति इसके विपरीत है। समस्त वस्तुओं का उत्पादन उत्पादक लाभ के लिए करते हैं। उनमें से जो वस्तुएं हमें अधिक आकर्षक लगती हैं या फिर जो वस्तुएं उपलब्ध होती हैं, कभी कभी यह जानते हुए भी कि अमुक वस्तु निश्चय ही हानिकर है, अच्छी या शुद्ध वस्तु के अभाव में, हम उसका प्रयोग करने के लिये विवश हो जाते हैं। यही कारण है कि हमारे विचार से लोगों का स्वास्थ्य कमजोर होता जा रहा है। नए-नए रोग उत्पन्न होते जा रहे हैं और कार्य करने की शारीरिक एवं मानसिक शक्ति कम हो रही है। भोजन सम्बन्धी जिन वस्तुओं का उपभोग बढ़ रहा है उस पृष्ठभूमि में यह अनुमान करना कि वर्तमान पीढ़ी के बालक एवं बालिकाओं का शरीर अधिक पुष्ट है––विवादास्पद विषय होगा। यह कहना गलत न होगा कि जितना शारीरिक परिश्रम करने की क्षमता आज के वयोवृद्ध जनों में उनकी युवावस्था में थी उतनी आज के युवकों में नहीं है। कम उम्र में नेत्रज्योति क्षीण हो जाने से उन्हें चश्मे की आवश्यकता पड़ जाती है। सर्दी-गर्मी को सहन करने की शक्ति भी प्रायः कम ही दिखाई पड़ती है। अनेक प्रकार की बीमारियां भी उन्हीं के बीच अधिक बढ़ रही हैं। जब शरीर पुष्ट और स्वस्थ नहीं होता तो विचार शक्ति भी चिन्ता का विषय हो जाता है। यही कारण है कि पीछे जाने वाली पीढ़ी की अपेक्षा आगे आने वाली पीढ़ी में हम अनेक ऐसे तत्त्वों की झलक पाते हैं जो समाज के लिए वांछनीय शांति, सुरक्षा एवं सुख के लिए बाधक सिद्ध हो रहे हैं और इस प्रकार मानवता के लिए अकल्याणकारी सिद्ध होने वाले तत्त्व एवं साधन बढ़ते जा रहे हैं।

इस प्रसंग में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि आर्थिक साधनों का उपभोग कर लेने मात्र से मानव जीवन का कल्याण नहीं हो जाता। लेखक के विचार से संसार में मनुष्य के लिए सब से कम कठिन कार्य है इन भौतिक या आर्थिक साधनों का संगठन, उससे कठिन कार्य है उनका उपभोग करना और सब से दुस्तर कार्य है उन साधनों का त्याग करना। मानव कल्याण इसी त्याग में निहित है। कोई भी व्यक्ति इन साधनों को जीवनोपरान्त अपने साथ नहीं ले जा पाता। सभी को इन्हें यहीं छोड़ना पड़ता है।कुछ लोग इन साधनों की ममता का परित्याग स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक करते हैं और कुछ लोग इनसे बिछुड़ते समय दुःख और विवशता का अनुभव करते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिए कि मानव शरीर भी केवल साधन मात्र है। जो व्यक्ति इन समस्त साधनों का भोग करते हुए उनका यथासमय प्रसन्नता से त्याग कर सकता है, उसी का जीवन कल्याणमय समझना चाहिए।

यदि हम बदलते हुए ग्राम्य जीवन को इस दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य शान्ति और सन्तोष की वांछनीय दिशा के ठीक विपरीत मार्ग पर अग्रसर होता जा रहा है। उसकी बदलती हुई दैनिक दिनचर्या एवं क्रियाकलापों से ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्ति पहले की अपेक्षा अब अधिक व्यस्त रहता है और आधुनिकता की दौड़ में प्रतियोगिता की भावना उसमें उत्तरोत्तर तीव्र होती जा रही है, जिसके परिणामस्वरूप ईर्ष्या और द्वेष की भावनायें धीरे-धीरे बढ़ रही हैं। यही कारण है कि ग्रामों में भी अपराध की प्रवृत्ति बढ़ रही है। फलतः लड़ाई झगड़ा-मारपीट, चोरी-

राहजनी, बलात्कार, डकैती, हत्या और मुकदमेबाजी सामान्य घटनायें होती जा रही हैं। इस अपराध को रोकने लिए समुचित व्यवस्था न होने से इन्हें प्रोत्साहन मिलता है। ऐसी स्थिति में ग्राम्य जीवन चिन्ताग्रस्त और वातावरण सशंकित होता जा रहा है। लोग सुरक्षा की कमी का अनुभव करते हैं। जो अधिक साहसी एवं सुयोग्य हैं, गांव छोड़कर शहर की ओर भाग रहे हैं। मानव मूल्यों का ह्रास हो रहा है। नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक स्तर गिरते दिखाई पड़ते हैं। सच्चाई, सद्भावना, सहिष्णुता, समता, सदाचार, सद्विचार और सात्विकता, जो वास्तव में मनुष्य को कल्याण मार्ग पर ले जाने में सहायक हो सकते हैं, केवल दूसरों को उपदेश देने के विषय रह गए हैं। इस प्रकार का वातावरण इसलिए उत्पन्न हो गया है कि मनुष्य भौतिक साधनों को अपने लक्ष्य (कल्याण) का साधन न मान कर, उन्हें ही भ्रमवश एकमात्र जीवनोद्देश्य समझने लगा है।

सामाजिक विघटन और संघर्ष—इस प्रकार सामाजिक विघटन और उन धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं तथा संगठनों का जिनके द्वारा सामाजिक नियंत्रण रहता है, ग्रामीण क्षेत्रों में ह्रास दिखाई देता है। इसी प्रकार आर्थिक कलह और संघर्ष तथा समाजविरोधी उग्र तत्त्वों का प्रादुर्भाव हो रहा है और उनका प्रसार वेग के साथ बढ़ता जा रहा है। शहरी क्षेत्रों में इस प्रकार का परिवर्तन पहले ही औद्योगीकरण के साथ आरम्भ हो चुका है और अब उसी का विस्तार ग्रामों तक पहुंच रहा है। इसी प्रकार का क्रम अन्य उन्नत देशों में भी चला है। परन्तु यहां हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वह नैसर्गिक वातावरण, प्राकृतिक छटा और शान्ति जो किसी भी देश में उन मनीषियों, चिन्तकों, विचारकों, दार्शनिकों और साहित्य प्रेमियों को जन्म देती है, जो किसी भी राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति के चिह्न या प्रतीक बन जाते हैं और जो अपने सद्विचार, सद्व्यवहार एवं जीवन से लोगों को वह प्रेरणा प्रदान करते हैं जिससे राष्ट्र अपनी राष्ट्रीयता बनाए रखने में सफल होता है, ग्रामों में ही सुलभ है। प्रायः सभी देशों में ऐसा देखा जाता है कि लोग शहर के अति व्यस्त जीवन से थक जाने पर परिवर्तन हेतु ग्राम के शान्तिमय वातावरण में कुछ समय के लिए जीवन व्यतीत करने जाते हैं। अतएव भारत के ग्राम्य जीवन को विनाशकारी तत्त्वों से सुरक्षित रखना उतना ही आवश्यक है, जितना वहां की दरिद्रता को दूर कर सही अर्थ में लोगों का जीवन सुखमय बनाना।

पुनरुत्थान की ओर—यह कहना गलत नहीं है कि शिक्षा की यदि कमी न होती तो भारत के ग्राम स्वर्ग समान बन जाते। शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिसे प्राप्त कर लोग अपना जीवन सफल बना सकें। इसके विपरीत ऐसा देखा जाता है कि प्रायः लोग शिक्षा प्राप्त कर पश्चात्ताप करते हैं, क्योंकि उससे उन्हें कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता। शिक्षा देश, काल और स्थिति के अनुसार सर्वांगीण होनी चाहिए जिसे ग्रहणकर मनुष्य शान्ति और सुख का अनुभव करते हुए जीवन का उद्देश्य प्राप्त कर सके और इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन का अविच्छिन्न अंग बन कर आगे आने वाली पीढ़ी के लिए उपहास का विषय न बन कर उसे वह प्रेरणा प्रदान करे जिससे वह और सम्पूर्ण देश उन्नति के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ता जाय और राष्ट्रीय संस्कृति और सभ्यता बनाए रख सके। यह उचित शिक्षा की कमी का दुष्परिणाम है कि देश स्वतंत्र हो जाने के बाद भी हम अपनी भाषा, वेषभूषा, संस्कृति और सभ्यता को अपनाने में उतना गौरव नहीं समझते जितना अन्य देशों में प्रायः देखा और सुना जाता है। कोई भी स्वतंत्र देश भौगोलिक क्षेत्र से नहीं बल्कि अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं और लक्षणों से जाना जाता है। उन लक्षणों को ग्रामों में ही बनाए रखा जा सकता है, क्योंकि औद्योगिक शहरी भागों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क अधिक हो जाता है और इस कारण वहां उनमें ह्रास होना स्वाभाविक हो जाता है। इसीलिए बहुधा ऐसा होता है कि जब लोग विदेश जाते हैं और वहां के देशवासियों का सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो वहां के ग्रामों में जाकर लोगों से सम्पर्क स्थापित करते हैं और इस प्रकार उनके स्वभावजन्य आचार-विचार का यथोचित मूल्यांकन करते हैं। यदि इस दृष्टि से हम भारत के ग्राम्य जीवन पर विचार करें तो हमें ऐसा प्रतीत होगा कि जिस संस्कृति और सभ्यता के प्रस्फुटित वृक्ष के आधार पर भारत ने समस्त विश्व में ख्याति प्राप्त की और जिसकी यशगाथा विदेशियों ने भी मुक्तकंठ से गाई —उसकी शाखाओं और पल्लवों की कौन कहे—जड़ भी हिलती दिखाई पड़ती है, इस प्रकार ग्रामों के बदलते जीवन में। अतः हमें गम्भीरतापूर्वक यह सोचना होगा कि हम वर्तमान एकांगी आर्थिक प्रतियोगिता के संघर्ष में क्या उस बहु पल्लवित एवं विकसित वृक्ष को सुखा कर सुख और शान्ति का अनुभव कर सकेंगे जिसने न केवल भारत के लोगों को बल्कि विदेशियों को भी समय-समय पर अपनी घनी शीतल छाया से लाभान्वित किया है।

वर्तमान समय में बहुत ही विषम स्थिति दिखाई दे रही है। एक ओर करोड़ों रुपये का व्यय ग्रामों की अवस्था सुधारने में हो रहा है और हजारों व्यक्ति इस कार्य में विभिन्न स्तरों पर लगे हुए हैं लेकिन दूसरी ओर ग्राम उजड़ते दिखाई पड़ते हैं। लोग गांव छोड़ कर शहर की ओर भाग रहे हैं, यह प्रवाह ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों के लिए हानिकर है। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सभी दृष्टिकोणों से इस प्रवाह को रोकना आवश्यक है। ग्रामों का पुनरुत्थान तभी

सम्भव होगा जब सुशिक्षित व्यक्ति वहां स्थिर होकर रहें। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा, वृत्ति और उद्योग-धन्धों का संगठन स्थानीय साधन, आवश्यकताओं और लोगों की अभिरुचि और योग्यताओं के अनुसार इतना किया जाय जिससे सभी लोगों को यथोचित उन्नति करने का अवसर मिले और कार्यक्रमों की रूपरेखा भारतीय दृष्टिकोणों से बनाई जाय। यद्यपि विकास योजनाओं के लिए जनसहयोग की आवश्यकता समझी जाती है, लेकिन फिर भी ऐसा स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि ग्रामों के अधिकांश लोग इन योजनाओं से अपरिचित और उनके प्रति उदासीन हैं। अतः यदि वास्तव में हम देश का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि ग्राम्य जीवन में वह चेतना और जाग्रति उत्पन्न की जाय, जिसमें भारत भारत बना रहे।

उत्तर प्रदेश में पिछड़ी हुई जातियों की कल्याण-योजना

डा० मिर्जा रफीउद्दीन अहमद, एम०एस०डब्ल्यू०
प्राध्यापक, समाजशास्त्र एवं समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

जाति प्रथा भारतवर्ष की एक मुख्य विशेषता है। प्राचीन समय से ही भारतवर्ष में स्तरीकरण का आधार जन्म पर रहा है। एक मत के अनुसार आर्य लोग तीसरी मिलीनियम बी०सी० में भारतवर्ष आए। उस समय उनका सामना भारतवर्ष के पूर्व निवासियों, अर्थात् द्रविड़ प्रजाति से हुआ। इस मत के अनुसार आर्यों ने द्रविड़ों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की दृष्टि से उनकी निर्दयता के साथ हत्या की और उनकी सभ्यता एवं संस्कृति के एक-एक चिन्ह को मिटा डाला। तत्पश्चात् श्रमिकों और दासों की आवश्यकता के कारण उन्होंने सर्वनाश की क्रूर नीति को छोड़ कर उन्हें दासों की स्थिति प्रदान कर दी। इस मत के अनुसार अपने को इन लोगों से पृथक् रखने की दृष्टि से आर्यों ने 'चतुर्वर्ण' पद्धति का निर्माण किया। चौथा वर्ण शूद्रों का था। जिन देशवासियों ने आसानी के साथ हार मान ली उन्हें स्पर्श योग्य शूद्र बना दिया गया; जिन्होंने आर्यों से घोर संघर्ष किया और बड़े युद्ध के उपरान्त ही हार मानी उन्हें अछूत शूद्र बना दिया गया; जिन्होंने पराजित होने पर दास बनना स्वीकार न किया और जंगलों की ओर चले गए उन्हें आजकल हम अनुसूचित आदिम जाति कहते हैं।[1]

यह मत सत्य हो या असत्य इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही कुछ जातियां ऐसी रही हैं जिन्हें उभरने और देश के जीवन में बराबर का भाग लेने का अवसर नहीं प्रदान किया गया और जिनका सदा शोषण होता रहा। इन पिछड़ी हुई जातियों को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है:

(१) अनुसूचित जातियां—ये वे जातियां हैं जिन्हें हम अछूत कहते हैं।

(२) अनुसूचित आदिम जातियां—वे जातियां, जो अधिकतर जंगलों, पहाड़ों और शहर आदि से पृथक् स्थानों पर रहती हैं।

(३) अन्य पिछड़ी हुई जातियां—वे जातियां जो अस्पृश्य तो नहीं हैं परन्तु उन्हें समाज में अन्य जातियों के समान बराबरी के अधिकार नहीं हैं। यद्यपि हमारे वर्तमान समाज का आदर्श एक जातिरहित, समाजवादी समाज माना जाता है तथापि अभी तक अस्पृश्यता के सम्बन्ध में पास किये गए विधान विशेष रूप से ग्रामों में पूर्ण रूपेण ढंग से कार्यान्वित नहीं किए जा सके हैं।

(४) विमुक्त जातियां (Denotified Communities)—इस श्रेणी में ऐसी समस्त जातियां आती हैं, जो अपना जीविकोपार्जन अपराध द्वारा करने की अभ्यस्त हो गई थीं।

भारतवर्ष में पिछड़ी हुई जातियों की एक बड़ी संख्या रहती है। १९६१ की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में अनुसूचित जातियों के सदस्यों की संख्या ६,४५,११,३१३ है और अनुसूचित आदिम जातियों के सदस्यों की संख्या २,९८,८३,४७० है। इस प्रकार भारतवर्ष में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के सदस्यों की संख्या भारत की कुल जनसंख्या की २१·५२% है। अनुसूचित जातियों के सदस्यों की संख्या पूर्ण जनसंख्या की १४·७% है और अनुसूचित आदिम जातियों के सदस्यों की संख्या कुल जनसंख्या की ६·८१% है।

१९६१ की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में अनुसूचित जातियों के सदस्यों की संख्या १,५४,१७,२४५ है जो भारतवर्ष में अनुसूचित जाति के सदस्यों की कुल संख्या की लगभग एक चौथाई है। १९६१ की जनगणना में विमुक्त जातियों की संख्या नहीं मिलती। १९५१ की जनगणना के अनुसार विमुक्त जातियां ५० प्रतिशत से अधिक उत्तर प्रदेश में ही रहती हैं। उनकी जनसंख्या २,७०,००,००० है।

---

1. Government of India, Report of the Backward Classes Commission, Vol. III, Minutes of Dissent (Manager of Publications, Delhi, 1956), pp. 32-33.

इन जातियों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) **अस्थायी निवासस्थान वाली जातियाँ**—जैसे बंजारे या पर्वी।

(२) **अर्ध अस्थायी निवासस्थान वाली जातियाँ**—जैसे कैकाड़ी, राजपूत भम्पटा, छारा, कंजरभाट आदि।

(३) **स्थायी निवास स्थान वाली जातियाँ**—जैसे बवरिया, कोली, वाघरी।

यद्यपि उत्तर प्रदेश में अनेक आदिम जातियां रहती हैं परन्तु अभी तक कोई जन जाति घोषित नहीं की गई है। उत्तर प्रदेश सरकार ने भारत सरकार को यह संस्तुति की है कि निम्नलिखित चौदह जातियों को जन-जाति घोषित किया जाए। अभी तक इस संस्तुति की स्वीकृति नहीं हुई है और उत्तर प्रदेश सरकार ने यह निर्णय किया है कि जब तक इस संस्तुति की स्वीकृति नहीं हो जाती, तब तक इन जातियों को प्रदेश की अन्य पिछड़ी जातियों में नान-शेड्यूल्ड ट्राइबल्स के नाम से सम्मिलित समझा जायगा और तृतीय पंचवर्षीय योजना की सुविधाएं और सेवाएं उन्हें भी उपलब्ध की जाएंगी। ये चौदह जन-जातियां इस प्रकार हैं :

(१) गोंड, (२) कोल, (३) भील, (४) कोरवा, (५) खाखार, (६) भुइया, (७) चेरू, (८) भोटिया, (९) थारु, (१०) भोक्सा, (११) राजीस (बनरावत), (१२) जौनसारी, (१३) मुस्लिम गूजर तथा (१४) बोरा।

अनुसूचित जातियों या हरिजनों के कल्याण के लिए विभिन्न योजनाएं भारत सरकार द्वारा चलाई जा रही हैं। उत्तर प्रदेश सरकार ने भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं और हरिजनों और अन्य पिछड़ी हुई जातियों के साथ सामाजिक अन्याय को समाप्त करने की ओर सराहनीय चरण उठाए हैं। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के उपरान्त पिछड़ी हुई जातियों के कल्याण की ओर ध्यान दिया गया और हरिजन सहायक विभाग की स्थापना की गई, जोकि हरिजनों का सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक उत्थान कर सके। १९६०-६१ के वित्तीय वर्ष तक इस विभाग ने हरिजनों के कल्याण के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किये। १९६१-६२ के वित्तीय वर्ष में इस विभाग के समाज कल्याण विभाग के साथ एकीकरण के पूर्व इस विभाग का संगठन इस प्रकार था :—

(१) एक हरिजन सहायक परिषद् थी जोकि विभाग की नीति निर्धारित करता थी और कार्यक्रम के विषय में अपना मत प्रकट करती थी।

(२) प्रत्येक जिले में एक जिला हरिजन सहायक उप-समिति थी जिसका प्रधान डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट और सचिव जिला प्लानिंग अधिकारी होता था।

(३) हरिजन कल्याण का एक निदेशक होता था, जिसके नीचे सात क्षेत्रीय हरिजन सहायक अधिकारी और १०२ शिक्षा एवं हरिजन कल्याण निरीक्षक होते थे, जो प्रदेश के जिलों में तैनात होते थे।

१९६१-६२ के वित्तीय वर्ष में हरिजन सहायक विभाग और समाज कल्याण विभागों का एकीकरण कर दिया गया। इस एकीकरण के कारण अनेक परिवर्तन हुए। नवीन विभाग अब हरिजन तथा समाज-कल्याण निदेशालय कहलाता है और उसका संगठन इस प्रकार है :
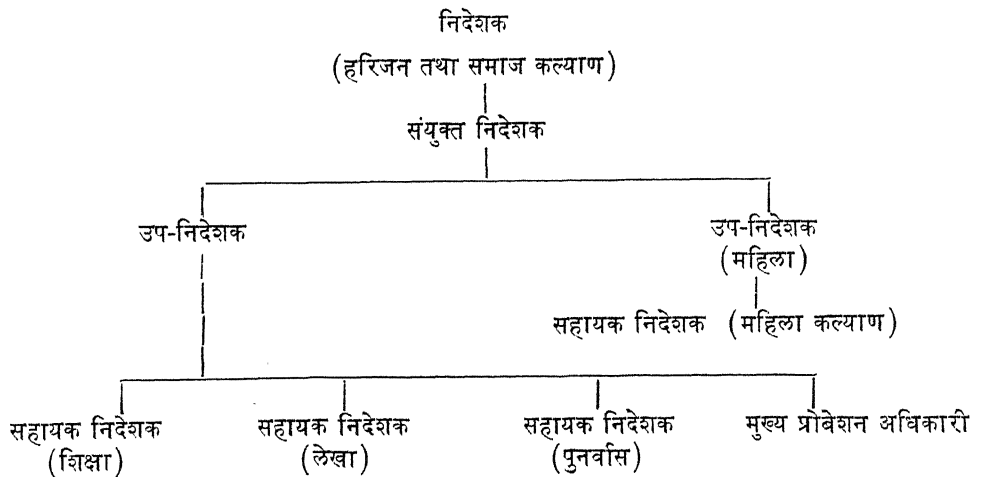
इस एकीकरण के परिणामस्वरूप जिला स्तर पर हरिजन सहायक विभाग के अन्तर्गत नियुक्त जिला हरिजन कल्याण अधिकारियों तथा समाज कल्याण विभाग द्वारा नियुक्त जिला समाज कल्याण अधिकारियों के पदों को मिला कर जिला हरिजन तथा समाज कल्याण अधिकारियों की सेवा श्रेणी स्थापित की गई। इस प्रकार के दो-दो अधिकारी राज्य के पांच 'कवाल' जिलों में नियुक्त किये गये। इनमें से एक नगर के लिये और दूसरा ग्रामीण क्षेत्र के लिये है।

हरिजनों के उत्थान के लिये उत्तर प्रदेश राज्य ने अधिक समय से सराहनीय कार्य किये हैं जिनका ब्यौरा इस प्रकार है :

प्रथम पंचवर्षीय योजना में हरिजनों के लिये ३१९·९३ लाख रुपये व्यय हुए। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ५४०·३० लाख व्यय हुआ और तृतीय पंचवर्षीय योजना में ११ करोड़ ६४ लाख रुपये का प्रावधान है। अब हम यह देखेंगे कि हरिजनों के लिए शिक्षा, आर्थिक और सामाजिक उत्थान और अन्य क्षेत्रों में क्या-क्या कार्य उत्तर प्रदेश में किये गये और किये जा रहे हैं :

शैक्षिक उत्थान—इस बात की व्यवस्था की गई है कि पिछड़ी हुई जातियों के छात्रों के शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश के सम्बन्ध में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि कोई स्कूल या कालेज जो राज्य द्वारा चलाया जा रहा हो या जिसे राज्य से अनुदान मिलता हो हरिजन छात्रों से ट्यूशन, खेलकूद, पुस्तकालय, चिकित्सा या छात्रावास की फीस नहीं ले सकता।

निजी शैक्षिक संस्थाओं को हरिजन छात्रों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने में जो आर्थिक घाटा होता है उसे राज्य सरकार विशेष अनुदान द्वारा पूरा करती है।

प्राथमिक शिक्षा स्तर से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक के विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां दी जाती हैं। १९४६-४७ में राज्य की ओर से इस मद पर ६ लाख रुपया व्यय किया गया था। १९५४ में यह व्यय बढ़ कर ४१ लाख हो गया।

१९५८ में उत्तर प्रदेश सरकार ने यह निर्णय किया कि कक्षा ८ और उससे ऊपर के अनुसूचित जातियों के छात्रों के लिये निःशुल्क शिक्षा उसी समय उपलब्ध की जाएगी जब उनके संरक्षकों की आय २५० रुपये से अधिक न हो। उत्तर प्रदेश में राजकीय और सहायता प्राप्त विद्यालयों से सम्बन्धित छात्रावासों में १/६ सीटें अनुसूचित जाति के छात्रों के लिये सुरक्षित रखी जाती हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में अनुसूचित जाति के लगभग ३२,६३,८३१ छात्रों को छात्रावृत्ति दी गई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में उत्तर प्रदेश में १,२३,१२३ छात्रों को छात्रवृत्ति, ९,८३१ छात्रों को अनावर्ती सहायता, १,५५,६०० छात्रों को ट्यूशन फीस की वापसी और नगरपालिकाओं और अन्य संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया है। अनुमान है कि १९६१-६२ में ७,३२२ विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति दी गई। ८६२ विद्यार्थियों को अनावर्ती सहायता दी गई, ९,००० विद्यार्थियों की फीस वापस की गई और ४९४ संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी गई।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिये ७४० लाख रुपये का प्रावधान किया गया है। इसमें से शिक्षा के लिये २५० लाख रुपये का प्रावधान है। अनसूचित जातियों की शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं के विषय में निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण हैं।

हरिजन विद्यार्थियों के लिये छात्रावास अधिकतर गैर-सरकारी संस्थाएं चलाती थीं। प्रदेश में हरिजन विद्यार्थियों के लिये छात्रावासों की कमी थी। इस अभाव को दूर करने के लिये प्रदेश सरकार ने यह निश्चय किया है कि विभिन्न जिलों में ५०० छात्रावासों का निर्माण किया जाये और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ५० लाख रुपये का प्रावधान किया गया है। प्रत्येक छात्रावास के लिये १० हजार रुपये का अनुदान दिया जायगा और अनुदान पाने वाले विद्यालय एवं गैर-सरकारी संस्थाओं को २,५०० रुपया स्वयं व्यय करना होगा। यह निश्चित किया गया है कि १९६१-६२ में ३८ छात्रावास और १९६२-६३ में ८६ छात्रावासों का निर्माण किया जायेगा।

इसके अतिरिक्त निजी शैक्षिक संस्थाओं को कक्षा ७ से १० के हरिजन विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने में जो घाटा होता है उसे भी राज्य सरकार पूरा करती है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस मद में ८५ लाख रुपयों का अतिरिक्त प्रावधान किया गया है।

गैर-सरकारी संस्थाएं अधिक समय से हरिजनों की शिक्षा प्रसार का कार्य कर रही हैं। प्रदेश के नागरिक एवं ग्रामीण क्षेत्रों में हरिजन बालकों तथा बालिकाओं की पाठशालाएं, रात्रि पाठशालाएं तथा छात्रावास, वाचनालय

इत्यादि चलाए जा रहे हैं। इन संस्थाओं का व्यय प्रदेश शासन द्वारा वहन किया जाता है। तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में इसके लिए ३० लाख रुपये का प्रावधान है।

१९६०–६१ में अनुसूचित जातियों के छात्रों की शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं पर ११३·८४ लाख रुपया व्यय हुआ।

अनुसूचित जाति के छात्रों को शिक्षा तथा उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिये समस्त छात्रों को जिनके अभिभावकों की मासिक आय २५० रुपये से कम है, निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। डिग्री तथा ऊपर की कक्षाओं में अध्ययन करने वाले अनुसूचित जाति के छात्रों से पढ़ाई, प्रवेश तथा एनरोलमेंट फीस नहीं ली जाती है। प्राविधिक कक्षाओं में पढ़ने वाले हरिजन तथा अन्य पिछड़ी जाति के छात्रों को भी छात्रवृत्ति दी जाती है। हरिजन, पिछड़ी जाति तथा अन्य जातियों के छात्रों के लिये प्राविधिक शिक्षा की सुविधाएं मुख्य रूप से ३ संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती हैं। ये संस्थाएं इस प्रकार हैं :

(१) राजकीय औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र, बख्शी का तालाब, लखनऊ।

(२) राजकीय औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र, पाइन्स, नैनीताल।

(३) राजकीय औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र, लालडिग्गी, गोरखपुर।

इन संस्थाओं में ७० प्रतिशत हरिजन, १५ प्रतिशत पिछड़ी जाति तथा १५ प्रतिशत अन्य जाति के छात्र लिये जाते हैं। इन सब विद्यार्थियों को ३० से ३५ रुपये मासिक की छात्रवृत्ति भी दी जाती है।

आर्थिक उत्थान—द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में हरिजनों के आर्थिक उत्थान की दृष्टि से उत्तर प्रदेश राज्य ने अनेक योजनाएं चलाईं :

१. **हरिजनों के लिए औद्योगिक संस्थान**—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में हरिजनों, को रोजगार उपलब्ध कराने के लिए दस औद्योगिक संस्थान स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इनमें से प्रत्येक संस्थान में १४ यूनिट्स स्थापित किये जाने और प्रत्येक यूनिट में ८ हरिजनों को रोजगार दिलाने का निश्चय किया गया। इस प्रकार १,१२० हरिजन कुटुम्बों के जीवन-निर्वाह की समस्या सुलझाने का प्रबन्ध किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में पांच नये औद्योगिक संस्थान स्थापित करने का प्रावधान किया गया है। इनके लिये १५ लाख रुपये का प्रावधान है और इनमें ५६० हरिजन परिवारों को रोजगार मिलेगा।

उपर्युक्त १५ संस्थानों में कार्य करने वाले हरिजनों के गृह-निर्माण हेतु २२ लाख ५० हजार रुपये का प्रावधान किया गया है जिससे १,६८० घर बनेंगे।

२. **प्राविधिक शिक्षा की सुविधाएँ**—जैसा कि शिक्षा के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है, उत्तर प्रदेश में तीन मुख्य संस्थाएं हरिजनों और अन्य पिछड़ी जातियों के छात्रों के लिए प्राविधिक शिक्षा उपलब्ध कराती हैं। ये संस्थाएं बख्शी का तालाब, लखनऊ, नैनीताल, एवं गोरखपुर में हैं। अभी तक इन संस्थाओं से प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों को मान्यता प्राप्त नहीं है, क्योंकि ये संस्थाएं उद्योग एवं श्रम विभाग द्वारा संचालित केन्द्रों के समान स्तर की नहीं हैं। अतः इनका स्तर ऊंचा करने के लिये ३ बहुधंधी संस्थाएं स्थापित करके नये अध्ययन क्रम (टेक्निकल) चलाने के लिये ८० लाख रुपये का प्रावधान किया गया है।

इसके अतिरिक्त अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों की प्राविधिक शिक्षा के लिये छात्रवृत्ति और अनावर्ती सहायता के लिये २० लाख रुपये का प्रावधान किया गया है।

३. **कृषि सम्बन्धी अनुदान**—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ३६० रुपया प्रति कुटुम्ब की दर से भूमि सुधार तथा बैल, खेती के औजार आदि खरीदने के लिये अनुदान के रूप में देने का निश्चय किया गया है। इस मद में २५ लाख रुपया उपलब्ध कराया गया है।

इसके अतिरिक्त ३५ लाख रुपया सिंचन कूप निर्माण के लिये उपलब्ध कराया गया है जिससे लगभग ७,००० कुएं बनाए जाने का अनुमान है।

४. **खेतिहर बस्तियाँ**—प्रदेश में जिन स्थानों पर गांव समाज या भूदान समितियों द्वारा भूमि प्राप्त होगी वहां पर बस्तियां स्थापित की जायेंगी। इस प्रकार की २५ बस्तियां स्थापित करने की योजना है और इसके लिये १० लाख रुपये का प्रावधान है।

५. **कुटीर उद्योग**—हरिजनों को कुटीर उद्योग स्थापित करने के लिये अनुदान दिये जाने की व्यवस्था की गई है। इस मद में एक करोड़ रुपयों का प्रावधान किया गया है। ३३,३३३ परिवारों को इस प्रकार की सहायता दी जाएगी।

(ग) **अन्य योजनाएं**

(१) **गृह-निर्माण**—ग्रामीण क्षेत्रों में हरिजनों को गृह-निर्माण के लिये सहायता देने के लिये द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ५२ लाख ५० हजार रुपये का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त १५ औद्योगिक संस्थानों में कार्य करने वाले हरिजनों के लिये गृह-निर्माण सहायता के लिये २२ लाख ५० हजार रुपये का प्रावधान किया गया है।

(२) **स्वैच्छिक हरिजन कल्याण संस्थाओं को अनुदान**—ऐसी संस्थाओं को जो हरिजनों के सामाजिक उत्थान के लिये प्रयास करती हैं अनुदान देने के लिये द्वितीय योजना में २ लाख ५० हजार रुपये का प्रावधान है।

(३) **अस्पृश्यता निवारण कार्य**—अस्पृश्यता को दूर करने के लिये राज्य सरकार ने निम्नलिखित योजनाएं चलाई हैं:—

(क) जिला हरिजन सहायक समिति को अनुदान—गत वर्ष ९,४०० रुपये का अनुदान दिया गया जिसका प्रयोग अस्पृश्यता निवारण में किया गया।

(ख) प्रचार कार्य करने के लिये सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति —अस्पृश्यता निवारण के लिये सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति की जाती है जो ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर अस्पृश्यता निवारण अधिनियम की जानकारी लोगों को प्राप्त कराते हैं और हरिजनों को अनेक सुविधाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कराते हैं। १९६१-६२ में ऐसे ७५ कार्यकर्त्ता थे। इन्हें मानदेय भी दिये जाते हैं।

(ग) इस सम्बन्ध में राज्य सरकार की ओर से अस्पृश्यता निवारण के लिये और भी कई एक कार्य किये गए हैं। राज्य की ओर से पोस्टर, बुलेटिन तथा पुस्तिकाओं के प्रकाशन की व्यवस्था की जाती है। मेलों और अन्य अवसरों पर ऐसी फिल्में दिखाई जाती हैं, जिनसे अस्पृश्यता दूर हो सके। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यता निवारण के क्षेत्र में कार्य करने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं को भी अनुदान दिया जाता है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने अस्पृश्यता निवारण के लिए १९४७ में ही U.P. Removal of Social Disabilities Act पास किया जिसके अनुसार किसी अनुसूचित जाति के व्यक्ति को किसी सार्वजनिक स्थान या मन्दिर इत्यादि के प्रयोग से रोकने पर दंड निर्धारित कर दिया गया है।

इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में विमुक्त जातियों और नान शेड्यूल्ड ट्राइबल्स के लिये भी विभिन्न प्रकार की कल्याण योजनाएं चलाई जा रही हैं। विमुक्त जातियों और नान शेड्यूल्ड ट्राइबल्स के बच्चों के लिये आश्रम ढंग की पाठशालाएँ स्थापित की गई हैं, छात्रवृत्ति की व्यवस्था की गई है और उनके पुनर्वास, कृषि सम्बन्धी उत्थान, गृह-निर्माण आदि की व्यवस्था की गई है। केन्द्र-संचालित योजनाओं के अन्तर्गत मेहतरों के लिये गृह निर्माण सुविधाएं भी उपलब्ध कराई गई हैं।
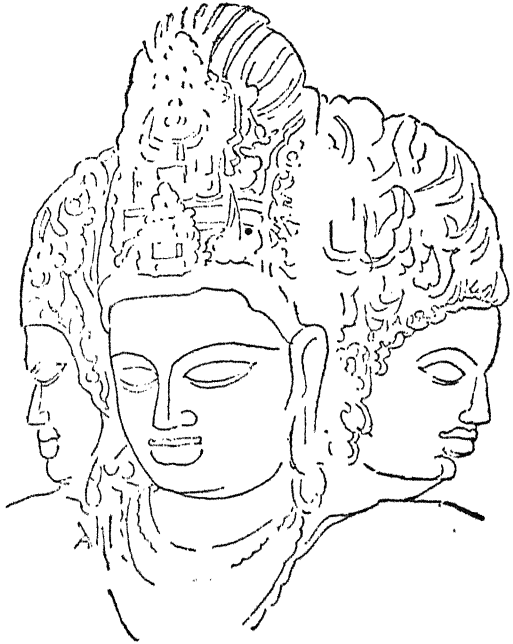
उत्तर प्रदेश में युवक कल्याण

श्री सुरेन्द्र सिंह, एम० एस० डब्ल्यू०
प्राध्यापक, समाजशास्त्र व समाज कार्य विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय।

उत्तर प्रदेश में युवक-कल्याण की विवेचना करने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि युवक-कल्याण की धारणा का विश्लेषण किया जाय। 'युवक कल्याण' शब्द की रचना दो विभिन्न शब्दों 'युवक' और 'कल्याण' के मिलने से हुई है। इसलिए इन दोनों शब्दों की पृथक्-पृथक् रूप में विवेचना करना आवश्यक होगा।

'कल्याण' शब्द की अवधारणा—कल्याण से हमारा तात्पर्य जीवन या अस्तित्व की ऐसी व्यवस्था से है जो किसी व्यक्ति या समूह के दृष्टिकोण से इच्छित प्रतीत होती है। 'इच्छित' से हमारा अभिप्राय यह है कि यह जीवन अवस्था किसी निश्चित समय में एक समुदाय में पाए जाने वाले साधनों तथा सामुदायिक पैतृकता एवं भविष्य के लक्ष्यों के दृष्टिकोण से उचित हो। अन्य शब्दों में इस जीवनावस्था का सामाजिक उद्देश्यों के अनुसार होना आवश्यक है। कल्याण का सम्बन्ध जीवन की उन परिस्थितियों से होता है जिनका प्रभाव किसी व्यक्ति या समूह के भौतिक, मानसिक, संवेगात्मक तथा नैतिक स्वास्थ्य पर पड़ सकता है। किसी भी व्यक्ति के कल्याण की कल्पना उसके परिवार एवं समुदाय को छोड़ कर नहीं की जा सकती। इसलिए यदि हम यह कहें कि कल्याण की विचारधारा संचयीकृत एवं सम्पूर्ण है तथा इसका अनुभव तीन अन्योन्याश्रित पहलुओं व्यक्ति, परिवार एवं समुदाय को ध्यान में रखते हुए ही किया जा सकता है, तो अत्युक्ति न होगी।

'युवक' शब्द की अवधारणा—युवक शब्द की अवधारणा के अन्तर्गत हम १३ वर्ष से लेकर २५ वर्ष के आयु समूह में आने वाले किशोरों एवं नवयुवकों को सम्मिलित करेंगे। यह काल एक ऐसा काल है जिसे संक्रमण काल की संज्ञा दी जा सकती है तथा जिसमें लड़के एवं लड़कियां जो पूर्ण रूपेण विकसित नहीं होते वलिक विकास की प्रक्रिया में पाए जाते हैं।

इस काल में व्यवहार में अस्थिरता एवं परस्पर विरुद्धता तथा व्यक्तित्व में संघर्ष विद्यमान रहता है। वे ज्ञात या अज्ञात रूप में, बहुधा अज्ञात रूप में एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति में संलग्न रहते हैं जिसे परिपक्वता की संज्ञा दी जा सकती है। इस काल में व्यक्ति को न तो एक बच्चा और न एक वय ही कहा जा सकता है। हाल के शब्दों में यह ऐसा काल है जिसमें व्यक्ति घोंसले में पाए जाने वाले एक ऐसे पक्षी के रूप में पाया जाता है जिसके डहनों में केवल प्रारम्भिक पंख पाए जाते हैं किन्तु जो उड़ने के लिए निरन्तर व्यर्थ प्रयास किया करता है।

इस काल में प्रत्येक लड़के व लड़की के व्यक्तित्व में ऐसे परिवर्तन होते हैं जिनका सामना वे स्वयं अपने आप नहीं कर सकते हैं।

युवक कल्याण कार्यों का महत्त्व—यौवनावस्था एक ऐसा काल है, जिसमें नवयुवक व्यक्तियों पर विशेष दबाव पड़ता है तथा जिसमें पहले की निश्चित धारणायें स्वाभाविक नहीं प्रतीत होतीं। इन कुछ वर्षों में व्यक्ति के आकार एवं अनुपात में भी परिवर्तन होता है। इस काल में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को चार भागों में बांटा जा सकता है—(१) भौतिक, (२) संवेगात्मक (३) बौद्धिक और (४) सामाजिक। इन परिवर्तनों के साथ-साथ युवकों का सामाजिक के साथ दायित्व सामञ्जस्य प्राप्त कराने के लिए युवक कल्याण कार्यों की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस सामंजस्य की प्रक्रिया में आने वाली कठिनाइयों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) युवकों की समस्यायें ।

(ख) माता-पिता, शिक्षकों एवं अन्य सामाजिक सदस्यों की समस्याएं ।

युवकों की समस्याएं—इरिक एच० इरिक्सन ने निम्नलिखित कारणों को स्वास्थ्यपूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण के लिए उत्तरदायी बताया है :

१. विश्वास की भावना
२. स्वत्व की भावना
३. कार्य आरम्भ करने की भावना
४. उद्योग की भावना
५. परिचय की भावना
६. आत्मीयता की भावना
७. पैतृकता की भावना
८. एकीकरण की भावना

इरिक्सन की विचारधारा में युवाकाल की प्रमुख समस्याएं आत्मीयता एवं परिचय की भावना के कारण उत्पन्न होती हैं । युवकों की ये समस्याएं निम्न हैं :

(क) संवेगात्मक समस्याएं
(ख) पारिवारिक सामंजस्य की समस्याएं
(ग) पास-पड़ोस की समस्याएं
(घ) समवयस्कीय समस्याएं
(ङ) शैक्षिक समस्याएं
(च) व्यावसायिक समस्याएं
(छ) लिंगीय सामंजस्य सम्बन्धी समस्याएं
(ज) रिक्त समय से सम्बन्धित समस्याएं
(झ) नैतिक एवं धार्मिक समस्याएं

युवकों की इन विभिन्न समस्याओं के दो प्रमुख स्रोत हैं : (१) स्वयं युवक और (२) वह वातावरण जिसमें वे रहते हैं। युवकों की समस्याएं प्रमुख रूप से सामंजस्य की समस्याएं हैं, जिनकी उत्पत्ति युवकों के इस प्रयास के परिणामस्वरूप होती है कि वे स्वयं अपने से तथा अपने वातावरण से परिचित होना चाहते हैं और इन दोनों के साथ अपने को उचित रूप से अनुकूलित बनाना चाहते हैं। इन अनुकूलन की प्रक्रियाओं का उद्देश्य परिपक्वता तथा ऐसे व्यक्तित्व की प्राप्ति है, जिसमें एकीकृत्य रूप में दक्षतापूर्ण ढंग से कार्य करने की सामर्थ्य पाई जाती है ।

माता-पिता, शिक्षकों एवं अन्य सामाजिक व्यक्तियों की समस्याएं—इस प्रकार की समस्याओं का जन्म उस समय होता है जब कि अत्यधिक दक्षता प्राप्त माता-पिता भी युवकों के सम्पूर्ण जीवन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक एवं इच्छित प्रतीत होते हैं । इन समस्याओं से युवकों को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि ये व्यक्ति युवकों की विभिन्न आवश्यकताओं एवं भावनाओं को समझते हुए उन्हें सदैव सहायता प्रदान करने के लिए सन्नद्ध रहें ।

उत्तर प्रदेश में युवक-कल्याण की दिशा में कार्य करने वाले विभिन्न संगठन और कार्यक्रम

उत्तर प्रदेश में युवक-कल्याण का कार्य करने वाले संगठनों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) प्रादेशिक स्तर पर कार्य करने वाले वे संगठन जिनका सम्बन्ध केन्द्रीय स्तर पर कार्य करने वाले संगठनों से है ।

(२) केवल प्रादेशिक स्तर पर कार्य करने वाले संगठन ।

इन दोनों समूहों के अन्तर्गत आने वाले संगठनों की क्रियाओं का यहां पर संक्षेप में वर्णन किया जायेगा ।

(१) **केन्द्रीय स्तर पर कार्य करने वाले संगठन**—इस समूह के अन्तर्गत आने वाले संगठनों को पुनः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(अ) **सरकारी**—ये वे संगठन हैं जिनकी संचालन तथा नियंत्रण व्यवस्था पूर्णरूपेण सरकार के अधीन है। उदाहरण के लिए शिक्षा मंत्रालय, श्रम एवं रोजगार मंत्रालय, सुरक्षा मंत्रालय, सामुदायिक विकास।

(ब) **ऐच्छिक**—ये वे संगठन हैं जिनकी संचालन व्यवस्था ऐच्छिक रूप से की जाती है, यद्यपि, इन विभिन्न संगठनों को भी विभिन्न प्रकार की सहायता सरकार द्वारा प्रदान की जाती है तथा इनके कार्यों पर भी सरकार द्वारा नियंत्रण किया जाता है। उदाहरण के लिए भारत स्काउट्स आन्दोलन, बालिका निर्देशन आन्दोलन, अखिल भारतीय ब्वाय स्काउट्स एसोसिएशन, भारत सेवक समाज, इंडस्ट्रियल यंगमैन क्रिश्चियन एसोसिएशन तथा अखिल भारतीय छात्रावास समिति आदि।

(२) **केवल प्रादेशिक स्तर पर कार्य करने वाले संगठन**—इन्हें भी प्रमुख रूप से दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है :

(अ) **सरकारी संगठन**—इसके अन्तर्गत हरिजन एवं समाज-कल्याण निदेशालय, प्रान्तीय रक्षा दल तथा विकास अन्वेषणालय को सम्मिलित किया गया है।

(ब) **ऐच्छिक संगठन**—इसके अन्तर्गत नवयुवक संघ, यंगमैन एसोसिएशन, पौड़ी गढ़वाल तथा युवक-कल्याण समिति लखनऊ हैं।

अब हम इन सभी संगठनों की क्रियाओं की व्याख्या विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के संदर्भ में करेंगे।

सुरक्षा मंत्रालय—इस मंत्रालय के अधीन नेशनल कैडेट कोर तथा आक्जिलरी कैडेट कोर का संचालन किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश में एन०सी०सी० निदेशालय की स्थापना की गई है। एन०सी०सी० के निम्नलिखित तीन प्रमुख उद्देश्य हैं :

(१) नवयुवकों तथा युवतियों के अन्दर चारित्रिक, मित्रता, सेवाभाव तथा नेतृत्व के गुणों को विकसित करना।

(२) नवयुवकों एवं युवतियों को सेवा प्रशिक्षण प्रदान करना ताकि राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति उनके अन्दर अभिरुचियां उद्दीप्त हो सकें।

(३) राष्ट्रीय संकटकालीन स्थिति के लिए सुरक्षित मानव शक्ति का विकास करना ताकि सैनिक शक्ति को सहारा प्राप्त हो सके।

१५ नवम्बर, १९६४ को १६वीं वर्षगांठ के अवसर पर प्रकाशित किए गए प्रतिवेदन के अनुसार एन०सी०सी० के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में निम्नलिखित प्रगति की गई है :

पूर्व चुनाव प्रशिक्षण केन्द्र—उत्तर प्रदेशीय एन०सी०सी० निदेशालय के अन्तर्गत १२ पूर्व चुनाव प्रशिक्षण केन्द्र (पी०एस०टी०सी०), आगरा, अलीगढ़, इलाहाबाद, बरेली, देहरादून, फैजाबाद, झांसी, कानपुर, गोरखपुर, लखनऊ, मेरठ तथा बनारस में चलाए जा रहे हैं। इन केन्द्रों में उन उम्मीदवारों को प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है जो वायु, जल या स्थल सेना में जाने के लिए उद्यत होते हैं। प्रत्येक प्रशिक्षण केन्द्र में ४० उम्मीदवारों के लिए स्थान होता है तथा प्रशिक्षण अध्ययन क्रम ४ सप्ताह का होता है। प्रति वर्ष प्रत्येक केन्द्र के द्वारा ९ अध्ययन क्रमों का आयोजन किया जाता है। अब तक ८३५ उम्मीदवारों को उनके अन्तर्गत प्रशिक्षण प्रदान किया गया है, जिसमें ५६ का चुनाव सैनिक शक्ति आयोग के अन्तर्गत कर लिया गया है।

एन० सी० सी० (सीनियर तथा जूनियर डिवीजन) की इकाइयों की शक्ति

इकाई का प्रकार	इकाइयों की संख्या	सम्पूर्ण शक्ति	
		अधिकारी	कैडेट
(१) सीनियर डिवीजन			
(क) इनफैन्ट्री बटालियन (लड़कों की)	८८	१७६	१,३७,७००
(ख) इन्डेप कम्पनी (लड़कों की)	२	२	४००
(ग) गर्ल्स बटालियन	१३	२१	१०,९००

(घ) गर्ल्स इन्डेप कम्पनी	७	७	१,४००
(ङ) आर्मर्ड स्क्वैड्रन्स	२	२	४००
(च) आर्टिलरी बैटरीज	२	२	४००
(छ) सिग्नल कम्पनी	४	४	८००
(ज) मेडिकल यूनिट	४	८	१,८००
(झ) मेडिकल कम्पनी	२	२	४००
(ञ) इंजीनियरिंग रेजीमेंट	४	८	१,८००
(ट) इंजीनियरिंग कम्पनी	१	१	२००
(ठ) ई०एम०ई० कम्पनी	६	६	१,२००
(ड) नेवल यूनिट	२	४	४००
(ढ) एयर स्क्वैड्रन्स	४	८	८००
(ण) ओ०टी०यू०	१	२	१५५
योग	१४२	२५३	१,५८,६०० १५५
(२) **जूनियर डिवीजन**			
(क) आर्मी ट्रुप्स	२५४	२५४	१२,७००
(ख) नेवल ट्रुप्स	८	८	४००
(ग) एयर ट्रुप्स	२७	२७	१,३५०
(घ) गर्ल्स ट्रुप्स	१९	१९	९५०
योग	३०८	३०८	१५,४००
कुल योग	४५०	५६१	१,७४,१५५

एन०सी०सी० निदेशालय उत्तर प्रदेश के तत्त्वावधान में १९६३-६४ के अन्तर्गत ए०सी०सी० टीचर्स इनिशियल ट्रेनिंग कैम्प, ए०सी०सी० आफिसर्स रिफ्रेशर ट्रेनिंग कैम्प, ऐनुअल ट्रेनिंग कैम्प (जूनियर डिवीजन), ऐनुअल ट्रेनिंग कैम्प (सीनियर विंग गर्ल्स), ऐनुअल ट्रेनिंग कैम्प, (सीनियर, डिवीजन) ऐनुअल ट्रेनिंग कैम्प (एन०सी०सी०आर० गर्ल्स) कैडेट कैम्प एन०सी०सी० तथा रिफ्रेशर ट्रेनिंग कैम्प आफिसर्स (आर्मी), आदि विभिन्न शिविरों का आयोजन विभिन्न जिलों में किया गया।

ए०सी०सी० के चार प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :

(१) शारीरिक, नैतिक एवं मानसिक दृष्टिकोण से युवकों का विकास करना तथा उनके अन्दर चारित्रिक एवं नेतृत्व के गुणों का विकास कर उन्हें अनुशासित बनाना।
(२) देशभक्ति की भावना जाग्रत करना।
(३) उनमें आत्म-विश्वास उत्पन्न करके उन्हें सामाजिक सेवाओं के लिये प्रशिक्षित करना।
(४) उन्हें शारीरिक श्रम के महत्त्व को सिखाना।

ए०सी०सी० के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथा उपर्युक्त प्रतिवेदन में दिए गए हैं :

इकाई का प्रकार	इकाई की संख्या	सम्पूर्ण शक्ति	
		अधिकारी	कैडेट्स
ए० सी० सी० प्लाटून	२,२१२	२,२१२	१,३२,७२०
योग	२,२१२	२,२१२	१,३२,७२०

शिक्षा मंत्रालय—शिक्षा मंत्रालय के अन्तर्गत युवकों के आर्थिक, खेल-कूद तथा स्वास्थ्य से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओंपर उचित ध्यान दिया गया है। निर्धन छात्रों को आर्थिक सहायता प्रदान की गई है। हरिजन विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क शिक्षा तथा छात्रवृत्तियों का आयोजन किया गया है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालय सहायता आयोग ने उल्लेखनीय कार्य किया है। विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों के अन्तर्गत युवकों के स्वास्थ्य निरीक्षण तथा अन्य चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएं भी प्रदान की गई हैं। युवकों के लिए शिक्षा संस्थाओं में क्रीड़ा सम्बन्धी अनेक सुविधाएं प्रदान की गई हैं। इन शिक्षा संस्थाओं में वार्षिक समारोहों का आयोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त जिला क्षेत्रीय तथा प्रादेशिक स्तर पर भी युवक समारोहों का आयोजन किया जाता है। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए अंतर्विश्वविद्यालय युवक समारोहों के आयोजन की भी व्यवस्था है। शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत 'प्रसार शिक्षकों' द्वारा भी ग्रामीण क्षेत्रों में युवक-कल्याण का कार्य किया जाता है। १९६३ तक उत्तर प्रदेश में इन शिक्षकों की संख्या लगभग ३,००० रही है।

श्रम एवं रोजगार मंत्रालय—इस मंत्रालय के अन्तर्गत श्रम एवं समाज-सेवा शिविरों का आयोजन किया गया है तथा रोजगार दफ्तरों की स्थापना की गई है। ये रोजगार के दफ्तर इन युवकों को जीविका दिलाने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

कृषि एवं सामुदायिक विकास मंत्रालय—इस मंत्रालय के अधीन ग्रामीण युवकों के सर्वांगीण विकास का ध्यान रखते हुए ए०डी०ओ० (सोशल एजूकेशन) की नियुक्ति खंड स्तरों पर की गई है। इस मंत्रालय के अन्तर्गत ग्रामीण नेताओं के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गई है और साथ ही प्रान्तीय स्तर पर १९६०-६१ में 'कर्म वीर प्रतियोगिता' का आयोजन किया गया है।

भारत स्काउट एवं गाइड आन्दोलन—भारत स्काउट एवं गाइड उन महत्त्वपूर्ण संस्थाओं में से एक है जो युवक-कल्याण के क्षेत्र में कार्य कर रही है। इस संस्था का उद्देश्य चरित्र के उन गुणों के विकास के लिए सुअवसर प्रदान करना है जो युवकों को अनुशासित, आत्मनिर्भर एवं समुदाय की सेवा करने के लिए इच्छुक तथा उसके योग्य बनाते हैं। इस संस्था की दो शाखाएं पृथक्-पृथक् रूप में राज्य स्तर पर कार्य कर रही हैं, जिनमें प्रथम 'बाल स्काउट्स' और दूसरी 'बालिका गाइड्स' के नाम से प्रसिद्ध है।

ईश्वर भक्ति तथा उसके प्रति सम्मान की भावना एवं स्वदेश सेवा के साथ सम्पूर्ण मानवता के स्वार्थहीन सेवार्थ विश्वबंधुत्व की भावना के सम्बन्ध में प्रेरणा प्रदान करना इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य है। प्रत्येक स्काउट तथा गाइड को तीन निम्नलिखित प्रतिज्ञाएं करनी पड़ती हैं :

१. ईश्वर एवं अपने देश के प्रति कर्तव्यपरायणता की प्रतिज्ञा।
२. स्काउट एवं गाइड संगठन के नियमों का पालन करने की प्रतिज्ञा।
३. अन्य व्यक्तियों की प्रत्येक आवश्यकता के समय सहायता करने के लिए कटिबद्ध रहना।

भारत स्काउट और गाइड, उत्तर प्रदेश, बलरामपुर हाऊस, १७, कटरा रोड, इलाहाबाद—भारत स्काउट और गाइड उत्तर प्रदेश की स्थापना ७ नवम्बर, १९५० को हुई थी। इस संस्था का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश है। संस्था का उद्देश्य स्काउटों एवं गाइडों का चारित्रिक विकास करना है।

मार्च १९६२ में विकास अन्वेषणालय द्वारा प्रकाशित 'स्वयंसेवी संस्थाओं की निर्देशिका' के अनुसार भारत स्काउट और गाइड, उत्तर प्रदेश के लगभग ८०० सक्रिय सदस्य हैं और ८२,००० स्काउट तथा गाइड हैं। संस्था की व्यवस्था प्रादेशिक परिषद् द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय तथा जिला स्तर पर क्षेत्रीय एवं जिला समितियों का भी निर्माण किया गया है।

सदस्यता शुल्क, दान तथा राजकीय अनुदान इसकी आय के साधन हैं। संस्था का निजी भवन इलाहाबाद में है। ग्रीष्मकालीन शिविरों के लिए शीतलाखेत में तथा कुछ जिला समितियों के पास भी निजी भवन हैं।

संस्था द्वारा स्काउटों एवं गाइडों को प्रशिक्षित किया जाता है, जिससे वे अपने को देश का योग्य नागरिक बना सकें। समय-समय पर स्काउटों और गाइडों के शिविर आयोजित किए जाते हैं, जिनमें जिला एवं प्रादेशिक स्तर पर स्काउट तथा गाइड भाग लेते हैं। प्रादेशिक स्तर पर वार्षिक समारोहों का भी आयोजन किया जाता है। अखिल भारतीय शिविरों तथा जम्बूरियों में भाग लेने के लिए चुने हुए स्काउट तथा गाइड भेजे जाते हैं। संस्था द्वारा अधिक-से-अधिक स्थानीय स्काउट तथा गाइड दल बनाने का प्रयास किया जाता है। भारत स्काउट और गाइड, उत्तर प्रदेश द्वारा एक मासिक मुख पत्रिका

'सेवा' का प्रकाशन भी किया जा रहा है। स्काउटों तथा गाइडों द्वारा गांवों में सड़क की मरम्मत, मेंड़ बांधना, बाँध बाँधना तथा वृक्षारोपण, पुल निर्माण, गड्ढों को पाटना, ग्रामों की सफाई तथा नाली निर्माण कार्य किए जाते हैं। मेला आदि के अवसरों पर स्काउटों ने सराहनीय सेवा कार्य किए हैं। बाढ़-पीड़ितों को भोजन, वस्त्र और अन्न पहुंचाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया है। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में स्काउट और गाइड कार्यक्रमों का प्रदेश में और विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार किया जायेगा।

अखिल भारतीय ब्वाय स्काउट एसोसियेशन, उत्तर प्रदेश शाखा, १३/३ दि माल रोड, कानपुर—अखिल भारतीय ब्वाय स्काउट एसोसियेशन, उत्तर प्रदेश की स्थापना सन् १९५७ में हुई थी। यह अखिल भारतीय ब्वाय स्काउट एसोसियेशन की शाखा है जो कि एक रजिस्टर्ड संस्था है। उत्तर प्रदेश शाखा का मुख्य कार्यालय १३-३, दि माल रोड, कानपुर है और इसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश है।

एसोसियेशन का उद्देश्य समाज-सेवा करना, मोहल्ला एवं शैक्षिक संस्थाओं में स्काउट दल स्थापित कर बच्चों का चरित्र निर्माण करना तथा धार्मिक एवं राष्ट्रीय पर्वों और मेलों में सेवा कार्य करना है।

संस्था में लगभग १०,००० स्काउट्स हैं।

संस्था के आय के साधन दान और चन्दा हैं। एसोसिएशन का कार्य ब्वाय स्काउटों को प्रशिक्षित करना है, जिससे वे योग्य नागरिक बनकर बिना किसी भेदभाव के जनता की सेवा कर सकें। एसोसियेशन द्वारा समय-समय पर मेलों एवं पर्वों के अवसर पर सेवा-शिविरों का आयोजन किया जाता है। संस्था ने अब तक अनेक स्काउटों को प्रशिक्षित किया है। समय-समय पर प्रशिक्षण शिविर आयोजित किए जाते हैं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में संस्था का प्रस्ताव गांवों में सफाई अभियान चलाना, ग्रामोत्थान कार्य करना, प्रौढ़ शिक्षा की कक्षा चलाना तथा ग्रामीण क्षेत्रों और नगरों में स्काउट दलों की स्थापना करने का है।

भारत सेवक समाज—भारत सेवक समाज के आधीन भारत युवक समाज का कार्यक्रम भी चलाया जा रहा है जिसका कर्त्तव्य यह है कि विभिन्न युवक संगठनों को सम्मिलित मोर्चे पर लाकर नवीन जीवन, जागरूकता एवं स्फूर्ति को एक नया मोड़ प्रदान कर स्थायी रूप देने एवं मनोबल को ऊंचा बनाए रखने में सम्पूर्ण शक्ति लगा दे।

भारत सेवक समाज के १९६३ के वार्षिक कार्य विवरण के अनुसार प्रदेशीय भारत युवक समाज का ७, ८ और ९ दिसम्बर, १९६३ को शाहजहांपुर में होने वाला सम्मेलन विशेष रूप से सफल रहा। प्रदेश के प्रायः सभी जिलों में भारत युवक समाज की शाखाएं स्थापित हो गई हैं। भारत युवक समाज की १३०शाखाएं, जिला, नगर एवं विश्वविद्यालय युवक समाज के रूप में कार्य कर रही हैं। अलीगढ़, इलाहाबाद, बलिया, देहरादून, हरदोई, जालौन, कानपुर, लखनऊ, मैनपुरी, मेरठ, सीतापुर तथा उन्नाव जिलों में ध्यान देने योग्य कार्य किया गया है। मई के महीने, में युवकों का एक कैम्प लगाया गया, जिसमें उन्हें नागरिक सुरक्षा, प्राथमिक चिकित्सा आदि के सम्बन्ध में प्रशिक्षण प्रदान किया गया। भारत युवक समाज की प्रत्येक शाखा के अन्तर्गत एक पुस्तकालय है। समय-समय पर इसके तत्त्वावधान में वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का भी आयोजन किया जाता है।

इण्डस्ट्रियल यंगमैन क्रिश्चियन एसोसियेशन, १०/४७१ सिविल लाइन्स, कानपुर—इंडस्ट्रियल यंगमैन क्रिश्चियन एसोसिएशन, कानपुर की स्थापना १९५८ ई० में हुई थी। यह कौंसिल ऑफ वाई०एम०सी०ए० ५, रसेल स्ट्रीट, कलकत्ता १६ से सम्बन्धित है, जो कि एक पंजीकृत संस्था है और भारत में ८० वर्षों से काम कर रही है। संघ का मुख्य कार्यालय १०/४२८, सिविल लाइन्स कानपुर है। इसका कार्यक्षेत्र कानपुर है।

यंगमेन क्रिश्चियन एसोसिएशन का उद्देश्य युवकों को शारीरिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए संगठित करना, क्राइस्ट के सेवा आदर्शों से उन्हें प्रोत्साहित करना, समाज कल्याण कार्यों में निरत अन्य संस्थाओं को सहयोग देना तथा मानवता के विकास के लिए आन्दोलनों और संगठनों को प्रोत्साहित करना है।

इंडस्ट्रियल वाई०एम०सी०ए० के ७ सक्रिय सदस्य हैं। इसकी व्यवस्था प्रधानमंत्री तथा एक कार्यकारिणी समिति द्वारा होती है।

आय के साधन सदस्यता शुल्क, दान, चन्दा, तथा वाई०एम०सी०ए० कौंसिल द्वारा सहायता आदि हैं।

इंडस्ट्रियल यंगमैन क्रिश्चियन एसोसिएशन की ओर से मिल के कार्यकर्त्ताओं के लिए विभिन्न कल्याण कार्य किए जाते हैं। उनके स्वास्थ्यवर्द्धन और मनोरंजन के लिए खेल-कूद तथा रेडियो श्रवण केन्द्र की व्यवस्था है। मिल

कार्यकर्त्ताओं तथा उनके परिवारों की चिकित्सा की व्यवस्था भी है। बच्चों के लिए एक क्लब स्थापित किया गया है और बच्चों में निःशुल्क दूध वितरित किया जाता है। समय-समय पर सांस्कृतिक कार्यक्रम, पिकनिक तथा अन्य मनोरंजन कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में एसोसियेशन का प्रस्ताव उपर्युक्त कार्यों के साथ-साथ लगभग दो दर्जन बालकों को दोपहर में निःशुल्क भोजन कराने तथा बिना भेदभाव के जनता की सेवा करने का है।

अखिल भारतीय छात्रावास समिति—यात्रा एवं परिभ्रमण के समय उचित रहन-सहन के प्रबन्ध करने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए एक अखिल भारतीय संगठन 'युवक छात्रावास संघ' के नाम से स्थापित किया गया है। इस संगठन ने बड़े उत्साह के साथ इस कार्य का उत्तरदायित्व लिया है। यह संघ भ्रमण पर जाने वाले विद्यार्थियों को कालेजों तथा विश्वविद्यालय के युवक छात्रावासों में निवास-स्थान उपलब्ध कराने में सहायता करता है, उत्तर प्रदेश में भी यह संगठन सक्रिय रूप से अपना कार्य कर रहा है।

यंगमैन क्रिश्चियन एसोसियेशन, १३, सरोजिनी नायडू रोड, इलाहाबाद—यंगमैन क्रिश्चियन एसोसियेशन की स्थापना सन् १८९५ में हुई थी और इसका पंजीकरण १३-१२-१९०९ को हुआ। इसकी पंजीकृत संख्या १-१५६ है। संस्था का मुख्य कार्यालय १३, सरोजिनी नायडू रोड, इलाहाबाद है। इसका कार्यक्षेत्र इलाहाबाद नगर है।

संस्था का उद्देश्य क्रिश्चियन सिद्धांतों पर आधारित बिना धर्म व जातीय भेदभाव के युवकों का चारित्रिक विकास करना और उनमें सांस्कृतिक सुरुचि तथा नागरिकता की भावना का विकास करना है।

एसोसियेशन के १२ सक्रिय सदस्य हैं।

एसोसियेशन द्वारा युवकों के चारित्रिक, मानसिक तथा शारीरिक विकास के लिए विविध कार्य किए जाते हैं। युवकों के लिए आदर्श छात्रावास की सुविधाएं सुलभ की गई हैं। उनके लिए खेल-कूद, अध्ययन केन्द्र, पुस्तकालय तथा वाचनालय की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर हाबी प्रदर्शनी, ड्रामा, पिकनिक तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। एसोसियेशन द्वारा समाज-सेवा की कुछ योजनाएँ पंचवर्षीय चलाई जाती हैं।

यंगमैन क्रिश्चियन एसोसियेशन, लखनऊ—इस एसोसियेशन की स्थापना सन् १९५७ में हुई थी। संस्था का उद्देश्य युवकों को क्राइस्ट के सेवा आदर्शों से प्रेरित करना, उन्हें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का अवसर प्रदान करना, युवकों को प्रजातंत्र में नागरिकता के कर्त्तव्यों से परिचित कराना और उन्हें पालन करने के अवसर और प्ररणा प्रदान करना तथा युवक कल्याण कार्य में लगी अन्य संस्थाओं को सहयोग देना है।

इस एसोसिएशन द्वारा विद्यार्थियों, युवकों, ग्रामीणों में कार्य किया जाता है। खेल-कूद, सामाजिक उत्सव, तथा संगीत, नृत्य आदि सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। वादविवाद, चर्चाएं, विचार गोष्ठियां, युवक प्रशिक्षण शिविर और शैक्षिक पर्यटन आयोजित किए जाते हैं। आपत्ति काल में इस एसोसिएशन द्वारा सेवा-कार्य किया जाता है तथा आवश्यक व्यक्तियों में निःशुल्क दूध और खाद्य पदार्थ का वितरण किया जाता है। प्रौढ़ों के लिए साक्षरता-कक्षाएं तथा प्रौढ़ सभाएं भी आयोजित की जाती हैं।

प्रादेशिक स्तर पर युवक कल्याण कार्य करने वाले संगठन

(१) **हरिजन एवं समाज कल्याण निदेशालय**—१९६०-६१ के वार्षिक प्रतिवेदन के अनुसार ग्रामीण युवकों की वैज्ञानिक रीतियों से कृषि, पशुपालन, ग्रामीण उद्योग-धन्धों आदि में रुचि उत्पन्न कराने के लिए तथा उनमें खेल-कूद मनोरंजन, सामाजिक सेवाओं द्वारा स्वस्थ नागरिकता की भावना जाग्रत करने के लिए विभिन्न विकास क्षेत्रों द्वारा युवक मंगल दलों की स्थापना एवं अभिवृद्धि की जा रही है। महिला कल्याण कर्त्ताओं द्वारा स्थान-स्थान पर ग्रामीण क्षत्रों में युवती मंगल दलों का भी बीजारोपण किया जा रहा है। नागरिक क्षत्रों में नगर तथा मोहल्ला समाज-कल्याण समितियों के तत्त्वावधान में समाज कल्याण विभाग के अधिकारियों ने युवा कल्याण हेतु विभिन्न युवक दलों को प्रोत्साहित किया है। विभिन्न विभागों द्वारा ग्रामों से लेकर नगरों तक होने वाले युवा कल्याण सम्बन्धी सभी कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करने तथा इस विशिष्ट क्षेत्र में नवीन परियोजनाओं का संचालन करने हेतु समाज-कल्याण निदेशालय के अधीन एक युवा कल्याण अधिकारी कार्य कर रहा है। इस वर्ष के अन्तर्गत कुछ नवीन जिलों में युवक कल्याण शिविरों का आयोजन किया गया। ये जिले पिथौरागढ़, हरदोई, चमोली, सहारनपुर, लखनऊ, प्रतापगढ़, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, आजमगढ़, एटा, उन्नाव, बुलन्द शहर, पीलीभीत, मथुरा, फैजाबाद, बस्ती, जालौन, मिर्जापुर, बलिया, गोंडा, मुजफ्फर नगर, बदायूं, सुल्तानपुर तथा बांदा हैं।

६ ग्रामीण युवती नेतृत्व शिविरों का आयोजन गाजीपुर, आगरा, अल्मोड़ा, फैजाबाद, लखनऊ तथा मेरठ में किया गया। १९६१ तथा ६२ दोनों वर्षों में लखनऊ में इस विभाग की ओर से एक प्रादेशिक ग्रामीण युवती समारोह भी आयोजित किया गया। इस समारोह का मुख्य उद्देश्य पूरे प्रदेश से चुनी हुई ग्रामीण युवतियों को ऐसा उल्लासपूर्ण अवसर प्रदान करना था जिसके द्वारा वे एक दूसरे से हिल-मिल कर विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं में भाग ले सकें एवं विचारों में पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा अपना ज्ञान वर्द्धन कर सकें। इस समारोह के अन्तर्गत खेल-कूद, मनोरंजनात्मक तथा हस्तकला सम्बन्धी कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।

प्रदेश के ५१ जिलों में केन्द्रस्थल नगरों में विभाग की ओर से समाज कल्याण समितियों का संगठन किया गया है जिनका कार्य विभिन्न प्रकार के युवक कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों का आयोजन करना है। इसके अतिरिक्त युवक कल्याण के क्षेत्र में कार्य करने वाली ऐच्छिक संस्थाओं को सहायता भी प्रदान की गई है।

प्रान्तीय रक्षा दल—प्रान्तीय रक्षा दल के १९६२ के प्रकाशन 'युवक कल्याण' संगठन के अनुसार १९५६ में प्रान्तीय रक्षक दल के तत्त्वावधान में युवक कल्याण संगठन की एक शाखा स्थापित की गई और सामुदायिक विकास मंत्रालय, भारत सरकार की प्रेरणा से एक विशेषज्ञ अधिकारी अर्थात् सहायक समादेष्टा (युवक कल्याण संगठन) की भी नियुक्ति की गई। प्रान्तीय रक्षा दल के तत्त्वावधान में आयोजित किए गए विभिन्न युवक कल्याण कार्यक्रमों को प्रमुख रूप से चार समूहों में विभाजित किया जा सकता है:

(क) **आर्थिक कार्यक्रम**—इसके अन्तर्गत बागवानी, पशुपालन तथा लघु उद्योग से सम्बन्धित विभिन्न योजनाएं बनाई गईं।

(ख) **सांस्कृतिक कार्यक्रम**—इसके अन्तर्गत खुले रंगमंचों पर किए जाने वाले कार्यक्रमों, एकांकी अभिनयों, लोकनृत्यों तथा ग्रामीण वाद्य यंत्रों का आयोजन किया गया।

(ग) **समाज सेवा कार्यक्रम**—इनके अन्तर्गत ग्रामीण स्वच्छता, श्रमदान, प्राथमिक स्वास्थ्य सहायता, मेलों में व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।

(घ) **भौतिक, सांस्कृतिक एवं खेलकूद सम्बन्धी कार्यक्रम**—इनके अन्तर्गत कबड्डी, खो, रस्साकर्षण, दौड़, लम्बी कूद तथा भारतीय व्यायाम आदि का आयोजन किया गया।

प्रान्तीय रक्षा दल के मार्च १९६४ के त्रैमासिक प्रतिवेदन के अनुसार निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए गए थे तथा उनमें निम्नलिखित प्रगति सम्भव हुई:

क्रम संख्या	मद	१९६३-६४ का लक्ष्य	मार्च, १९६४ तक की गई लब्धि
१.	युवक क्लब		
	(अ) संगठित किए गये युवक क्लबों की संख्या	१३,९१९	२२,९९४
	(ब) सदस्य संख्या	२,६४,०२१	२,२६,१५६
	(स) संगठित की गईं युवक समितियों की संख्या	२,४४४	१,४४१
२.	बाल मंगल दल		
	(अ) संगठित किए गए दलों की संख्या	११,३५३	७,१२४
	(ब) सदस्यों की संख्या	१,७८,८५३	१,१९,२३९
३.	युवक क्लबों द्वारा चलाई गईं आर्थिक योजनाओं द्वारा प्राप्त की गई आय (रुपयों में)	३,५१,४०५	२,१७,३१०
४.	युवक शिविर		
	(अ) युवक शिविरों की संख्या	१,५५३	८९५
	(ब) प्रशिक्षित किए गए युवक नेताओं की संख्या	४५,९२५	२५,८९०
५.	युवक क्लबों की सभाओं की संख्या	१,९९,४६१	१,०५,८३९
६.	युवक क्लबों द्वारा किए गए श्रमदान का रुपयों में मूल्य	१६,८९,१०४	१२,५४१
७.	युवक क्लबों द्वारा मेड़बंदी कार्यक्रम द्वारा किया गया भूमि संरक्षण सम्बन्धी कार्य (एकड़ों में)	१,४१,३६५	१,१७,२७०

विकास अन्वेषणालय, उत्तर प्रदेश—उत्तर प्रदेश में विकास अन्वेषणालय की स्थापना नियोजन एवं सामुदायिक विकास मंत्रालय के अन्तर्गत की गई है। ग्रामीण क्षेत्रों में युवक कल्याण सम्बन्धी कार्य अग्रगामी योजनाओं के रूप में इस संस्था द्वारा १९५४ में आरम्भ किया गया। इसके द्वारा प्रस्तुत की गई योजना ने अन्य संगठनों के ग्रामीण क्षेत्रों में युवक कल्याण कार्य का पथ-प्रदर्शन किया है। इस संस्थान द्वारा १९६२ में 'गाइड टु रूरल यूथ आर्गेनाइजेशन' नामक प्रतिवेदन प्रकाशित किया गया है, जिसके अन्तर्गत ग्रामीण युवक कल्याण की सम्पूर्ण योजना का सविस्तार वर्णन किया गया है।

नवयुवक संघ (यंगमैन एसोसियेशन), पौढ़ी गढ़वाल—नव युवक संघ की स्थापना सन् १९२३ में हुई थी। इस संस्था का उद्देश्य गढ़वाल क्षेत्र के युवकों की सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति करना है। नवयुवक संघ नवयुवकों में राष्ट्रीय चेतना विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है। युवकों के शारीरिक विकास पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। समय-समय पर नवयुवक संघ द्वारा फुटबाल, वालीबाल तथा टेबुल टेनिस आदि खेलों की प्रतियोगिताएं आयोजित की जाती हैं। संघ की ओर से एक पुस्तकालय तथा एक वाचनालय भी चलाया जा रहा है। संघ द्वारा राष्ट्रीय एवं सामाजिक पर्वों के समारोहों का आयोजन किया जाता है। साहित्यिक तथा सांस्कृतिक अधिवेशन बुलाए जाते हैं और कभी-कभी औद्योगिक प्रदर्शनियों का भी आयोजन किया जाता है। संघ की एक बाल शाखा भी है, जिसकी ओर से बालकों के लिए क्रीड़ास्थली की भी व्यवस्था है। तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में संघ का प्रस्ताव लोग-गीतों के उत्थान एवं उन्हें नूतन रूप देने, सामाजिक कुरीतियों को दूर करने और औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने का है, साथ ही संघ का प्रस्ताव निजी भवन एवं रंगमच भी निर्मित किए जाने का है।

युवक समाज कल्याण समिति, जे० के० इंस्टीट्यूट, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ—इस संस्था का उद्देश्य निर्धन युवकों को शिक्षा की सुविधाएं सुलभ करना, प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार करना तथा ग्रामीणों का स्वस्थ मनोरंजन करना है। युवक समाज कल्याण समिति के तत्त्वावधान में प्रौढ़ शिक्षा के लिए नियमित कक्षाएं चलाई जा रही हैं। बच्चों तथा प्रौढ़ों में दूध वितरित किया जाता है। समिति की ओर से कई सुरुचिपूण सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित किए जा चुके हैं। नगर में एक पुस्तकालय तथा वाचनालय की भी स्थापना की गई है। तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में संस्था का प्रस्ताव नगर कल्याण की विविध योजनाएं चलाने, गन्दी बस्तियों की सफाई करने और समाज का विस्तार करने का है।

उत्तर प्रदेश के युवक कल्याण कार्यक्रमों का मूल्यांकन तथा तत्सम्बन्धी सुझाव—उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'युवक कल्याण' के क्षेत्र में केन्द्रीय तथा प्रादेशिक स्तर पर अनेक सरकारी तथा ऐच्छिक संस्थाएं कार्य कर रही हैं। किन्तु इनमें समन्वय स्थापित किए जाने की नितान्त आवश्यकता है। यदि केन्द्रीय स्तर पर गृह मंत्रालय के अधीन एक 'युवक कल्याण विभाग' खोल दिया जाये जो इन विभिन्न संगठनों में समन्वय स्थापित करने का कार्य करे तो इस कार्य में सरलता होगी। इसके साथ-साथ प्रान्तीय स्तर पर समाज कल्याण निदेशालय के अधीन एक युवक कल्याण विभाग की भी स्थापना की जानी चाहिए।
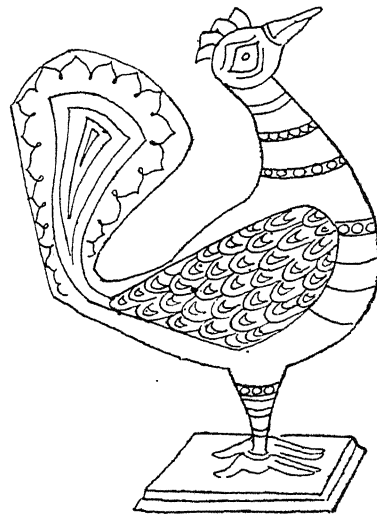
उत्तर प्रदेश में विकलांगों का कल्याण

श्री शिवप्रकाश श्रीवास्तव, एम० एस० डब्ल्यू०
प्राध्यापक, समाजशास्त्र एवं समाज कार्य विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय ।

किसी भी सभ्यता के स्तर का निर्धारण उसके उस दृष्टिकोण से हो सकता है, जो उसने समाज के एक विशिष्ट समूह के हित तथा कल्याण के लिए निर्मित किया है। शारीरिक रूप से अक्षम विकलांग (अन्ध, मूक, बधिर तथा पंगु) व्यक्तियों के कल्याण का कार्य किसी भी देश, राज्य अथवा समाज के लिए उसकी उदारता का परिचायक नहीं वरन् उसका सामाजिक एवं नैतिक दायित्व तथा वैधानिक कर्त्तव्य है। वर्तमान कल्याणकारी राज्य की कल्पना तभी सम्पूर्ण रूप से साकार हो सकती है जब कि समाज का यह एक विशाल अंग समाज में भारस्वरूप न होकर सम्मानित व्यक्तियों की भांति जीवन व्यतीत कर सके। वर्तमान युग की औद्योगिक तथा प्रौद्योगिक प्रगति का चिह्न केवल भौतिक सुखों की उपलब्धि ही नहीं है वरन् इसके द्वारा उत्पन्न 'व्यक्ति कल्याण' के साधनों से है। समस्त विकलांग व्यक्ति देश के नागरिक होने के नाते राज्य, समाज तथा परिवार से अपने जीवन के सुखों की प्राप्ति का अधिकार मांग सकते हैं। वर्तमान युग में वे कृपा, दया तथा सहानुभूति के याचक नहीं, वरन् अपने प्रति देश, राज्य तथा समाज के उस दृष्टिकोण के अधिकारी हैं जो उनके कल्याण (चिकित्सा, प्रशिक्षण तथा व्यवस्थापन) पर आधारित है।

विकलांगों के कल्याण की समस्या वर्तमान युग की मानववादी विचारधारा के एक पहलू का मानवीकरण है जिसमें विकलांगों को एक असामान्य व्यक्ति न समझकर सामान्य व्यक्ति समझा जाता है और उन्हें उनकी चिकित्सा तथा अन्य व्यवस्थापन विधियों द्वारा उन्हें देश पर भारस्वरूप न मानकर, एक उपयोगी नागरिक माना जाता है। उनकी अन्तर्निहित शक्तियों का सदुपयोग, व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राष्ट्रीय हितों में किया जाता है। दया द्वारा उत्पन्न कृपा, उदारता एवं परोपकार वास्तव में भारतीय समाज कल्याण की पृष्ठभूमि में निहित है परन्तु वर्तमान युग में समाज एवं राज्य का उत्तरदायित्व यह हो गया है कि वह सभी शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक रूपों से असहाय, बाधित एवं अक्षम व्यक्तियों को उनके अधिकारस्वरूप उनकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करे और उनकी चिकित्सा, प्रशिक्षण, व्यवस्थापन तथा पुनर्वास के लिए कोई निश्चित योजना कार्यान्वित करे। कोई भी व्यक्ति स्वभाव से परिवार, समाज तथा देश के ऊपर भार बन कर नहीं रहना चाहता है। अतः राज्य की ओर से ऐसे प्रयत्न किये जाने चाहिये जिससे कि ये विकलांग व्यक्ति भी नैराश्य के जीवन से मुक्ति प्राप्त कर, प्रकाश की ज्योति का अनुभव कर सकें और अपने को समाज का एक आवश्यक अंग समझ कर अपने प्रयत्नों तथा अन्तर्निहित कुशलताओं का सदुपयोग करके देश की प्रगति में अपना योगदान सम्भव कर सकें।

वास्तव में देखा जाय तो ये विकलांग व्यक्ति अपनी शारीरिक अक्षमताओं से कम पीड़ित हैं वरन् समाज के रूढ़िगत क्रूर दृष्टिकोण से अधिक। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज के इस अंग को समाज की असीम निर्दयता तथा अमानवीय व्यवहार का शिकार होना पड़ा है। परन्तु वर्तमान युग में यह विचारधारा समूल नष्ट हो गई है। यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुकी है कि समुचित देखभाल, शिक्षा, प्रशिक्षण तथा विशेष उपकरणों के प्रयोग से विकलांग व्यक्ति न केवल आत्मनिर्भर बन सकते हैं वरन् किसी भी सामान्य व्यक्ति की भांति उच्च से उच्च पद प्राप्त कर सकते हैं। इस परिवर्तन के मूल में निम्नांकित कारण हो सकते हैं :

(१) इस बात की स्वीकृति कि विकलांगों की शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, शैक्षिक, आर्थिस एवं सामाजिक

आवश्यकतायें समाज के अन्य सामान्य व्यक्तियों के समान हैं और वे किसी की सहानुभूति एवं दया पर निर्भर नहीं।

(२) इस बात की चेतना कि विकलांग भी अपनी आन्तरिक शक्तियों का प्रयोग करके (यदि उन्हें सुविधायें उपलब्ध हों) देश के सामाजिक एवं आर्थिक पुनरुत्थान में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकते हैं।

(३) चिकित्सा विज्ञान (शल्य चिकित्सा) शैक्षिक एवं शिक्षण विधियों तथा अन्य मानवीय एवं सामाजिक विज्ञानों की प्रगति जिनसे विकलांगों की इस महत्त्वपूर्ण मानवीय समस्या पर प्रकाश डाला जा सका है।

(४) देश में प्रजातांत्रिक समाजवाद तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना का प्रयत्न, जिससे समाज कल्याण के क्षेत्र में राज्य का अधिकाधिक ध्यान सम्भव हो सका है।

बीसवीं शताब्दी विकलांगों के हेतु एक नये युग के रूप में प्रस्तुत हुई और राज्य तथा केन्द्रीय सरकार की ओर से विकलांगों के कल्याण की अनेक योजनायें निर्मित की गईं। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में समाज कल्याण के अन्तर्गत विकलांगों के कल्याण हेतु राज्य सरकारों को केन्द्रीय अनुदानों की प्राप्ति हुई और केन्द्र के निर्देशन पर विकलांग व्यक्तियों के कल्याण के सम्बन्ध में योजनायें कार्यान्वित की गईं। यद्यपि निश्चित आंकड़ों की उपलब्धि नहीं है परन्तु फिर भी देश में इस समय लगभग १५० संस्थायें कार्य कर रही हैं जिनमें अनुमानतः ५,००० विकलांग व्यक्ति लाभ प्राप्त कर रहे हैं। इन संस्थाओं में उन्हें सामान्य शिक्षा तथा प्रौद्योगिक शिक्षा प्रदान की जाती है और उन्हें स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया जाता है। राज्य समाज कल्याण बोर्डों तथा केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा विकलांगों को उच्च शिक्षा तथा प्रशिक्षण के लिए छात्र-वृत्तियां प्रदान की जाती हैं और स्वयंसेवी संस्थाओं को अनुदान दिये जाते हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजना में विकलांगों की समस्या को महत्त्व प्रदान करते हुए ९९ लाख रुपये उनके कल्याण के लिए निर्धारित किये गये और उनके शिक्षण तथा व्यवस्थापन के कार्यक्रम में १९६६ तक ३०० संस्थाओं तथा केन्द्रों को प्रारम्भ करने की योजना पारित की गई।

यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं में विकलांगों के कल्याण की व्यवस्था तो की जा रही है। परन्तु फिर भी देश के अनुमित दो करोड़ बाधितों के कल्याण के लिए किये गये प्रयत्न उस स्तर को नहीं पहुंच पा रहे हैं, जिसमें सभी विकलांगों को लाभ प्राप्त हो सके और उनका जीवन सामान्य व्यक्तियों की भांति व्यतीत हो सके। इस दिशा में मन्द और असन्तोषजनक विकास होने का कारण राज्य या केन्द्रीय सरकार की आर्थिक कठिनाइयां ही नहीं वरन् जन-रूचि की कमी तथा समस्या को समझने की अपूर्णता है। विकलांगों की कल्याण सेवाओं के प्रसार के लिए केन्द्र को राज्य सरकारों तथा दूसरी संस्थाओं को सहायता प्रदान कर के पथ-प्रदर्शन करना है।

उत्तर प्रदेश में विकलांगों के प्रति किये गये कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों, सेवाओं तथा प्रयत्नों पर दृष्टिपात करते समय यह बात प्रमुख रूप से दृष्टिगत है कि उत्तर प्रदेश में राज्य सरकार की ओर से विकलांगों के कल्याण के लिए सन्तोष-जनक एवं सराहनीय प्रयत्न किये जा रहे हैं। देश की १५० संस्थाओं में २८ संस्थायें उत्तर प्रदेश में हैं। और यह स्थिति बम्बई प्रान्त के बाद दूसरी है। परन्तु फिर भी उत्तर प्रदेश में विकलांगों की संख्या तथा कल्याण कार्यक्रमों को जाने बिना यह सन्तोष कर लेना कि हम इस क्षेत्र में प्रगतिशील हैं, मूर्खता होगी। निदेशक अर्थ एवं संख्या विभाग, उत्तर प्रदेश (लखनऊ) ने श्री जे० के० पांडे के संरक्षण में १९६०-६१ में विकलांगों की संख्या के अनुमान के लिए एक सर्वेक्षण किया, जिसके आधार पर निम्नांकित आंकड़े प्राप्त हुए :

उत्तर प्रदेश में विकलांगों की अनुमित संख्या

(१) अन्ध	२,०३,७२६
(२) बधिर	२७,५९७
(३) मूक	२८,६७४
(४) पंगु एवं अस्थि दोष वाले	९०,१७२
(५) अन्य	२६,७७९
योग	३,७६,९४८

इन आंकड़ों से यह भी निष्कर्ष निकला कि प्रति १०० घरों पर अनुमानतः २·६८ प्रतिशत, अर्थात् प्रति १००

व्यक्तियों पर ०·५ प्रतिशत के आधार पर विकलांग प्राप्त होते हैं। साधारण शब्दों में उत्तर प्रदेश राज्य में प्रति ४० घरों में कम-से-कम १ घर में १ तक विकलांग व्यक्ति प्राप्त होता है। सर्वेक्षण से यह भी निष्कर्ष निकला कि विकलांगों में ९४% ग्रामों में रहते हैं और शेष ६% शहरों में। इन आंकड़ों से स्पष्ट रूप से ज्ञातव्य है कि राज्य की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग शारीरिक अक्षमताओं से पीड़ित होने के कारण दान एवं दया पर आधारित होकर उपेक्षित एवं नारकीय जीवन बिता रहा है।

राज्य में विकलांगों के कल्याण के हेतु, हरिजन एवं समाज कल्याण निदेशालय कार्य कर रहा है। इस दिशा में उठाये गये प्रगतिशील चरणों के सम्बन्ध में यह आवश्यक रूप से कहा जा सकता है कि नगरीय क्षेत्रों में विकलांग बालकों के लिये शिक्षा तथा औद्योगिक प्रशिक्षण के लिए निम्नलिखित राज्य परिचालित तथा स्वैच्छिक संस्थायें कार्य कर रही हैं, जिनमें कुल मिला कर ९४० बालक लाभ प्राप्त कर रहे हैं।

क्रमसंख्या	संस्था का नाम	विद्यार्थियों की संख्या
(१)	बधिर एवं मूक विद्यालय, ११-ए, नवाब यूसुफ अली रोड, इलाहाबाद	६३
(२)	अन्ध गृह एवं विद्यालय, नैनी, इलाहाबाद	१०
(३)	शार्प मेमोरियल अन्ध विद्यालय, राजपुर, देहरादून	५३
(४)	मूक बधिर विद्यालय, अलीनगर, गोरखपुर	४४
(५)	मूक बधिर, विद्यालय, ऐशबाग, लखनऊ	७७
(६)	मूक बधिर विद्यालय, सहारनपुर	३९
(७)	अन्ध विद्यालय, सीतापुर नेत्र चिकित्सालय	१७
(८)	काशी सेवा समिति अन्ध विद्यालय, पुलानवाला, वाराणसी	१६
(९)	अन्ध विद्यालय भदैनी, वाराणसी	१५
(१०)	मूक बधिर विद्यालय, रामपुर, वाराणसी	३५
(११)	अहमदी अन्ध विद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय	३१
(१२)	मूक बधिर विद्यालय, झांसी	१८
(१३)	मूक बधिर विद्यालय, नेहरु नगर, कानपुर	६७
(१४)	अन्ध विद्यालय, हरिहर नाथ शास्त्री स्मारक भवन, कानपुर	२५
(१५)	गूंगे बहरों का विद्यालय, रामबाग, कानपुर	६५
(१६)	मूक बधिर विद्यालय, पीलीभीत	२१
(१७)	मूक बधिर विद्यालय, मेरठ	१८
(१८)	कुंवर लालसिंह, मानसिंह औद्योगिक अन्ध विद्यालय, मैनपुरी	६
(१९)	नन्हीं दुनिया मूक बधिर विद्यालय, देहरादून	२५
(२०)	इन्दुमती अन्ध शिशु श्रमालय, टेहरी	९
(२१)	मूक बधिर विद्यालय, शाहजहांपुर	२३
(२२)	आदर्श अन्धविद्यालय, झांसी	१७
(२३)	मूक बधिर विद्यालय, ससनी गेट, अलीगढ़	२२
(२४)	बधिर शिक्षक दीक्षा विद्यालय, ऐशबाग, लखनऊ	१३
(२५)	राजकीय मूक बधिर विद्यालय, आगरा	६०
(२६)	राजकीय मूक बधिर विद्यालय, बरेली	७१
(२७)	राजकीय अन्ध विद्यालय, लखनऊ	७०
(२८)	राजकीय अन्ध विद्यालय, गोरखपुर	५०
	योग	९४०

उपर्युक्त संस्थाओं का उद्देश्य अन्ध, मूक, बधिर बालकों को सामान्य शिक्षा देना तथा उन्हें विभिन्न प्रकार की प्राविधिक, औद्योगिक तथा व्यापारिक शिक्षा (काष्ठकला, चर्मकला, बेंत कार्य, सिलाई, कढ़ाई, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, छपाई, बुनाई, कताई, कृषि एवं बागवानी आदि) प्रदान करके उन्हें नैतिक, बौद्धिक एवं शारीरिक रूप से विकसित करके आत्मनिर्भर बनाना है। बच्चों की शिक्षा निःशुल्क है और छात्रावास की सुविधायें उपलब्ध हैं। बालकों की चिकित्सा, सामान्य शिक्षा तथा प्रशिक्षण के लिये विद्यालय आधुनिक यन्त्रों से सुसज्जित हैं और औद्योगिक तथा साहित्यिक विषयों को सिखाने के लिए प्रशिक्षित अध्यापक भी नियुक्त किये गये हैं। बालकों की अवशेष दर्शन तथा श्रवण शक्तियों का परीक्षण किया जाता है और उन्हें ब्रेल पद्धति के अनुसार अथवा ओष्ठपठन तथा श्रवण सहायक यन्त्रों के आधार पर शिक्षा, दीक्षा की व्यवस्था की जाती है।

बालकों के सर्वांगीण विकास के लिए उन्हें पाक विज्ञान, प्राथमिक चिकित्सा, ड्रिल, अभिनय एवं खेलकूद आदि की भी शिक्षा प्रदान की जाती है। इस सम्बन्ध में बच्चों को प्रोत्साहित करने के लिए समय-समय पर राष्ट्रीय तथा सामाजिक पर्वों का आयोजन किया जाता है। विद्यालयों में बालकों के लिये पुस्तकालय तथा उनके आमोद-प्रमोद के लिये चलचित्र आदि की व्यवस्था की जाती है। राजकीय अन्ध विद्यालय लखनऊ, तथा गोरखपुर के अतिरिक्त अन्य विद्यालयों में भी छात्रावास तथा बाहर रहने वाले छात्रों को एकत्र करने के लिये वाहन की भी व्यवस्था है। मूक बधिर विद्यालय, आगरा तथा बरेली एवं अन्ध विद्यालय लखनऊ तथा गोरखपुर के अतिरिक्त, प्रदेश में स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा चलाये जाने वाले मूक, बधिर तथा अन्ध विद्यालयों को अनुदान देने के लिए प्रति वर्ष ९०,००० रुपये का प्रावधान है तथा मूक, बधिर, अन्ध एवं अन्य विकलांग छात्रों को समाज कल्याण विभाग की ओर से ३०,००० रु० की छात्रवृत्तियां दी जाने की भी व्यवस्था है।

इन संस्थागत कल्याण कार्यक्रमों के अतिरिक्त सामाजिक सहायता कार्यक्रमों के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में वृद्धावस्था की पेंशन योजना दिसम्बर, १९५७ से कार्यान्वित की गई है जिसके अन्तर्गत ६० वर्ष से अधिक अशक्तों के लिए २० रु० मासिक पेंशन प्रदान की जाती है। इस योजना से विकलांग बड़ी मात्रा में लाभान्वित होते हैं।

उत्तर प्रदेश में विकलांगों की संख्या को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि प्रदेश में उनकी शिक्षा, प्रशिक्षण तथा रोजगार प्राप्त करने की सुविधायें बहुत ही अपर्याप्त हैं। प्रदेश के विकलांग कल्याण कार्यक्रमों से यह प्रतीत होता है कि वयस्क विकलांग व्यक्तियों के लिए किसी भी प्रकार की सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं। बाल विकलांगों के लिए जो भी संस्थाएँ कार्य कर रही हैं वे धनाभाव के कारणवश अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर पा रही हैं तथा उसमें प्रशिक्षित शिक्षकों तथा उपयुक्त साधनों का अभाव है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये थोड़ी सेवायें केवल नगरीय क्षेत्रों में स्थित हैं, फलतः ग्रामीण विकलांग कल्याण सेवाओं के लाभ से पूर्णतः वंचित रहते हैं।

इस स्थिति में राज्य को चाहिये कि वह अपने दायित्व को समझे और उदारतापूर्वक योजनायें कार्यान्वित करके अनेकानेक विकलांगों के जीवन में प्रजातान्त्रिक समाजवाद के सुखों की उपलब्धि सम्भव कर सके तथा अन्य प्रगतिशील पश्चिमी देशों तथा राज्यों के सम्मुख अपना मस्तक उन्नत कर सके। विकलांगों के कल्याण के प्रति विमुख होने की अपेक्षा उनकी शिक्षा, चिकित्सा, प्रशिक्षण आदि का प्रबन्ध करना लाभदायक है और विकलांगों पर पर धन व्यय करना इस प्रकार बेकार नहीं जायेगा। ऐसा करना न केवल मानवीय दृष्टि से उचित है, अपितु इसलिये भी उचित है कि बाधितों में भी सामान्य नागरिकों की भांति राष्ट्र के नवनिर्माण में अपना योगदान देने की क्षमता होती है। राज्य के विचार के लिए निम्नांकित सुझाव कार्यक्रम विकलांगों की शिक्षा, सामाजिक समायोजन एवं पुनस्संस्थापन के लिए उपयुक्त हो सकता है:—

(१) विकलांगों के कल्याण के लिये योजना बनाने से पहले उनकी संख्या का सही अनुमान सामाजिक सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त कर लेना तथा उनकी बाधाओं एवं उनकी जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के सम्बन्ध में समुचित तथ्यों का एकत्रीकरण तथा अध्ययन।

(२) सभी शक्त तथा अशक्त विकलांगों के सम्बन्ध में सूचना रखने के लिये नगर निगमों, नगरपालिकाओं तथा पंचायतों को आदेश देना जिसके अनुसार विकलांगों के रजिस्ट्रेशन का विधान हो।

(३) सभी प्रकार के विकलांगों के लिए उनकी विशेष प्रकार की चिकित्सा, शिक्षा तथा प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था।

(४) ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले विकलांगों के जीवन-यापन के लिए (यदि उनका संस्था में रहना उपयुक्त नहीं है) किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता का प्रबन्ध। वृद्धावस्था पेंशन योजना उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत वयस्क विकलांगों को पेंशन की व्यवस्था।

(५) सभी प्रकार के विकलांगों के हेतु अधिकाधिक शिक्षण तथा प्रशिक्षण संस्थाओं को पूर्ण मात्रा में अनुदान प्रदान करना जिससे वे अपना कार्य-संचालन सन्तोषजनक रूप से कर सकें और जिनके द्वारा अधिक से अधिक लोग शिक्षा तथा अनेकों प्रकार के रोजगारों में प्रवीण होकर स्वावलम्बी बन सकें।

(६) प्रशिक्षित, योग्य तथा कार्यशक्त विकलांगों को छोटे-मोटे कुटीर उद्योग चलाने के लिए राज्य उद्योग विभाग द्वारा सुविधायें उपलब्ध होनी चाहिये तथा उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के बाजार खोलने के लिये राज्य की ओर से प्रयत्न किया जाना चाहिये।

(७) शिक्षा एवं प्रशिक्षण का कोई मूल्य नहीं होगा जब तक कि विकलांगों को रोजगार दिलाने का कार्य राज्य अपने हाथ में नहीं लेगा क्योंकि लोग उन्हें साधारण स्थितियों में रोजगार नहीं प्रदान करते। इस दिशा में उत्तम यह होगा कि राज्य सरकार एक ऐसा अधिनियम पारित कर दे जिसमें विकलांगों के लिए अनेक नौकरियों में कुछ प्रतिशत स्थान आरक्षित हों।

(८) प्रचार के विभिन्न साधनों द्वारा जनता में विकलांगों के प्रति उचित धारणा का जागरण जिससे वह रूढ़िगत दृष्टिकोण त्याग सके और विकलांगों को एक सामान्य व्यक्ति की भांति स्वीकार कर सकें।
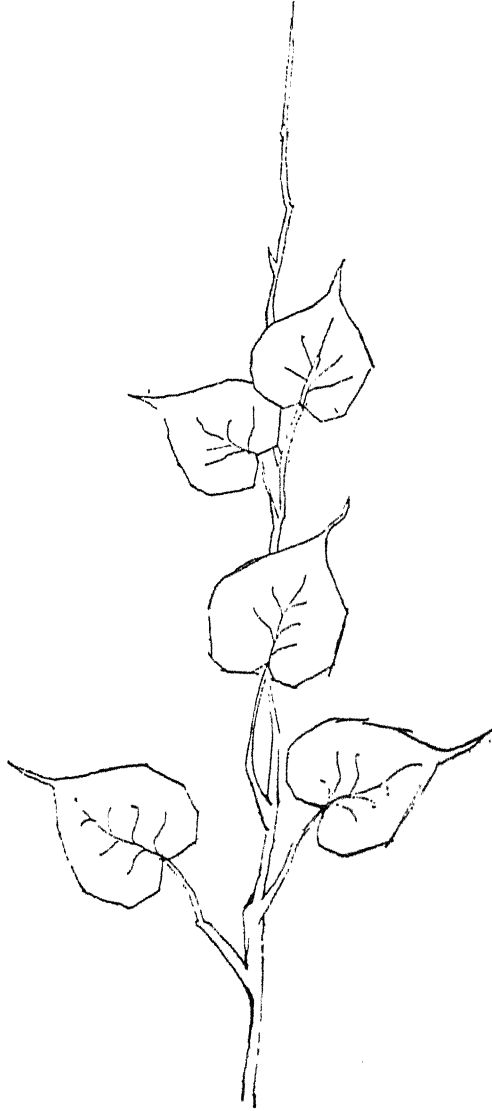
उत्तर प्रदेश की आर्थिक स्थिति

प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०

औद्योगिक स्थिति—भारत एक उपमहाद्वीप है, जहां जलवायु एवं नैसर्गिक साधनों की विभिन्नता के क्रमिक प्रभाव के कारण यहां के विभिन्न राज्यों तथा क्षेत्रों के आर्थिक विकास में वैषम्य है। प्रादेशिक ईर्ष्याओं एवं दुर्भावनाओं का यही एक मूल कारण है। व्यापक बेकारी तथा विशेष वर्गों द्वारा आर्थिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनैतिक सत्ता हथियाने की चेष्टा के परिणामस्वरूप विभिन्न वर्गों में पारस्परिक कटुता एवं संवेगात्मक विघटन की भावनाओं का जन्म होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शिक्षित मध्यमवर्गीय बेकारी के कारण प्रान्तीय भेदभाव, उत्तेजनाओं एवं घृणा को प्रोत्साहन मिलता है। देश के कुछ क्षेत्रों में तो औद्योगिक केन्द्रीयकरण की आर्थिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियां तथा अन्य क्षेत्रों में दरिद्रता एवं अल्प-विकास भारत जैसे संघीय राष्ट्र के सन्तुलित आर्थिक विकास के हित में नहीं माना जा सकता।

यह स्मरण रखना चाहिये कि संयुक्त राज्य अमेरिका में आर्थिक विकास के इतिहास में एक स्टेज पर उत्तरी तथा दक्षिणी क्षेत्रों में आर्थिक विकास की विभिन्न स्थिति थी ; क्योंकि उत्तरी भाग में औद्योगिक विकास तथा आर्थिक समृद्धि हो गई थी, किन्तु दक्षिणी भाग निर्धन तथा अल्पविकसित था। ऐसी स्थिति में वहां के संघात्मक राज्य को एक बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया था। भारत में भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व राष्ट्रीय नियोजन समिति ने इसी प्रकार के आर्थिक विकास की क्षेत्रीय विषमता की गम्भीर समस्या पर विचार किया था। उसकी धारणा यह थी कि अधिक उन्नत राज्यों अथवा क्षेत्रों की अपेक्षा पिछड़े भागों में आर्थिक विकास की गति को अधिक तेजी से बढ़ाने की आवश्यकता है।

कुछ आंकड़े इस सम्बन्ध में यहां प्रस्तुत किये जा सकते हैं। निम्नलिखित तालिका में विभिन्न राज्यों को उनकी औद्योगिक प्रगति की मात्रा के आधार पर वर्गीकृत कर दिया गया है। क, ख, ग क्रमशः उच्च, मध्यम एवं निम्न औद्योगिक प्रगति की श्रेणियों के द्योतक हैं। अभिनवीकरण एवं औद्योगीकरण की दृष्टि से उत्तर प्रदेश को 'ख' अर्थात् मध्यम श्रेणी का राज्य माना जा सकता है।

राज्य	कारखानों की संख्या	औद्योगिक श्रमिकों की संख्या (लाख)	उत्पादक पूंजी की लागत (करोड़ रु०)	निर्माण के द्वारा मूल्य में वृद्धि (करोड़ रु०)
(क)				
बम्बई	१,७४८	४·९	२९८	१४९
प० बंगाल	१,६०८	४०·६	२३६	१२२
(ख)				
मद्रास	८४१	१·६	९०	३६
उत्तर प्रदेश	५९८	१·७	९४	३८
(ग)				
राजस्थान	१००	१·२	१४	३
असम	१४८	०·०६	६	१

उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से औद्योगिक वृद्धि में क्षेत्रीय विषमता का अनुमान भली-भांति लगाया जा सकता है। यहां इस बात का विश्लेषण करना समीचीन होगा कि प्रथम तथा द्वितीय आयोजनों की अवधि में आर्थिक विकास के इस वैषम्य में कमी हुई है अथवा वृद्धि। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दृष्टि से दोनों आयोजनों में पश्चिमी बंगाल में क्रमशः ७·७ तथा १२·० प्र० श० की वृद्धि हुई। इसी प्रकार राजस्थान में २१·६ तथा १८·८ और असम में ९·५ तथा ९·८ प्र० श० की वृद्धि क्रमशः हुई। इससे कोई सामान्य धारणा बना कर यह कहना तो गलत ही होगा कि प्रवृत्ति समानीकरण की ओर है, तथापि यह कहा जा सकता है कि राजस्थान की प्रगति उल्लेखनीय है।

कृषि-अवसाद तथा नियोजन—उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मद्रास जैसे राज्यों में आर्थिक प्रगति को और भी अधिक तीव्रतर किया जा सकता है बशर्ते कि वहां भूमि पर जनसंख्या का भार हलका किया जा सके। इसके प्रतिकूल राजस्थान का तीव्रतर विकास उस स्थिति में सम्भव है जब कि वहां अति जनसंख्या वाले भागों से जनसंख्या का नियंत्रित स्थानान्तरण कर दिया जाय। वस्तुतः अन्तःक्षेत्रीय स्थानान्तरण के लिये एक ऐसे बोर्ड की स्थापना की आवश्यकता है जो कि घनी जनसंख्या वाले राज्यों अथवा क्षेत्रों से अतिरिक्त श्रम शक्ति को हटा कर कम जनसंख्या वाले क्षेत्रों में स्थानान्तरित कर सके। स्थायी बेकारी तथा दरिद्रता का निवारण करने के लिये कुशल श्रम-शक्ति का क्षेत्रीय स्थानान्तरण भी नियंत्रित अवस्थाओं में सम्भव है। केरल तथा पश्चिमी बंगाल जैसे राज्यों में अधिक संख्या में कुशल इंजिनियरों, टैक्नीशियनों, डाक्टरों तथा सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के विशेषज्ञों को शीघ्र ही प्रशिक्षण देकर उत्तर प्रदेश, राजस्थान, असम तथा उड़ीसा में जन-समूह की शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम को पूरा करने भेजा जा सकता है। किन्तु यह सब राष्ट्रीय भावात्मक एकता के स्तर पर निर्भर है, जो दुर्भाग्य से इस समय पर्याप्त नीचा गिर गया है।

यह आवश्यक है कि कृषि की दृष्टि से पिछड़े हुए भाग जैसे दक्षिणी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश में नदियों के खारों वाली भूमि, दक्षिणी दिल्ली, राजस्थान के उत्तर-पूर्व तथा मध्य प्रदेश के उत्तर के भागों को दामोदर घाटी कार्पोरेशन जैसी किसी संस्था के अन्तर्गत ले जाना चाहिये ताकि इन क्षेत्रों में भूमि-क्षरण का नियंत्रण कर के रेगिस्तान के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए फैलाव को रोका जा सके। इसी प्रकार पूर्वी उत्तर प्रदेश के आक्रांत भागों तथा बिहार के पश्चिमी तिरहुत वाले क्षेत्रों में, जहां छोटे नदी नाले भयानक विध्वंसकारी बाढ़ें उत्पन्न कर देते हैं, 'टैनेसी घाटी प्रशासन' के प्रकार की एक पृथक् समन्वित नियोजन-सत्ता की स्थापना बाढ़ नियंत्रण, सिंचाई के लघु-साधनों तथा कृषि-उद्योगों की स्थापना के लिये की जा सकती है। बम्बई तथा मद्रास में भी इसी प्रकार की इकाइयां समन्वित आर्थिक-नियोजन के लिये स्थापित की जानी चाहिये।

शिक्षा तथा साक्षरता की स्थिति—तृतीय पंचवर्षीय आयोजना के अन्तर्गत सभी राज्यों में ६ से ११ वर्ष के आयु-वर्ग के बच्चों की सार्वभौमिक शिक्षा के कार्यक्रम के लिए एक महत्त्वपूर्ण समानीकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। निम्नलिखित तालिका से विभिन्न राज्यों में विभिन्न आयु-वर्ग के बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में उपलब्ध शिक्षा-सुविधाओं की विषमता एक दम स्पष्ट हो जाती है:

राज्य	**स्कूलों में जनसंख्या का प्रतिशत (१९६१)**		
	आयु-वर्ग ६–११	**आयु-वर्ग** ११–१४	**आयु-वर्ग** १४–१७
(क)			
महाराष्ट्र	७३	२९	१४
गुजरात	७२	२७	१२
प० बंगाल	६६	२१	११
(ख)			
मद्रास	७९	३०	१३
उत्तर प्रदेश	४५	१९	१२
(ग)			
राजस्थान	४२	१५	७
असम	६२	२७	१८

उत्तर प्रदेश में साक्षरता तथा शिक्षा विकास की निम्न-दर विशेष रूप से चिन्ताजनक है।

साक्षरता-दर

राज्य	पुरुष	स्त्री
उत्तर प्रदेश	२७·१	७·०
गुजरात	४१·१	१९·१
महाराष्ट्र	४२·०	१६·८
केरल	५५·०	३८·९
मद्रास	४४·५	१८·२
प. बंगाल	४०·१	१७·०
अखिल भारत	३४·४	१२·९

शिक्षा पर (प्रति व्यक्ति) औसत वार्षिक-व्यय

	(रुपयों में)
उत्तर प्रदेश	५·०
बम्बई	९·८
केरल	१०·३
मद्रास	८·६
पं० बंगाल	९·४
अखिल भारत	७·०

अल्प-विकास के कारण—भारत के समुद्री तट वाले क्षेत्रों जैसे बंगाल, बम्बई तथा मद्रास ने आधुनिकीकरण, शिक्षा तथा औद्योगीकरण में उस समय तक पर्याप्त उन्नति कर ली थी जब तक कि उत्तर प्रदेश ने इन क्षेत्रों में मुश्किल से शुरूआत ही की थी। मध्य-कालीन सामन्तवादी भूमि-व्यवस्था के अवशेष चिह्न, जातिवाद एवं वर्ग-वैषम्य की दुरूह परम्परा, एक शक्तिशाली मध्यम वर्ग का अभाव, बाल-विवाह, स्त्रियों की उपेक्षा तथा उनके सामाजिक स्तर को नीचा बनाये रखने की सामाजिक-धार्मिक रूढ़िवादिता इत्यादि तत्त्वों ने मिल कर उत्तर प्रदेश को देश के शेष आधुनिक क्षेत्रों की अपेक्षा सामाजिक दृष्टि से अधिक पिछड़ी हुई स्थिति में रखा है। पतन के इन कारणों एवं शक्तियों में से कुछ तो शताब्दियों तक विदेशी शासन एवं सांस्कृतिक विजय के परिणामस्वरूप ही हैं। उत्तर प्रदेश औद्योगिक विकास के सोपान में बहुत नीचे आता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि उत्तर प्रदेश में केवल ६०० कारखाने हैं, जबकि प० बंगाल और बम्बई में से प्रत्येक में १,७०० कारखाने हैं। नगरीकरण की प्रगति भी उत्तर प्रदेश में काफी मन्द रही है। यहां सम्पूर्ण जनसंख्या में नागरिक जनसंख्या का अनुपात केवल १३ है, जबकि महाराष्ट्र में २८, मद्रास में २७ तथा प० बंगाल में २४ है। यू० पी० की जनसंख्या का एक बड़ा भाग परिगणित जातियों से सम्बन्ध रखता है। देश की सम्पूर्ण परिगणित जाति संख्या के २४ प्रतिशत अकेले प्रदेश उत्तर में हैं, जबकि इसके प्रतिकूल १० प्र० श० क्रमशः बिहार तथा प० बंगाल में हैं। उत्तर प्रदेश की परिगणित जातियां सम्पूर्ण देश में सबसे अधिक पिछड़ी हुई एवं सबसे अधिक उर्वर हैं। सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश का जीवन-स्तर तथा विकास की दर इन्हीं लोगों के कारण और भी अधिक नीचे गिर गये हैं।

सामाजिक-वैज्ञानिकों के मतानुसार बाल-मृत्यु की दर सामाजिक उन्नति अथवा अवनति की एक विश्वस्त कसौटी है। उत्तर प्रदेश में बालमृत्यु—प्रति हजार में ९७ है, जबकि प० बंगाल में ८६ है; किन्तु इन दोनों राज्यों में स्वास्थ्य पर किये जाने वाला व्यय प्रति व्यक्ति क्रमशः ०·६५ रु० तथा २·०१ रु० है।

स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में अन्य राज्यों ने कुछ महान् नेताओं जैसे राममोहन राय, बेथ्यून, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, रमाबाई, ऐनी बेसैण्ट तथा कर्वे इत्यादि के नेतृत्व में पर्याप्त प्रगति की। उन्होंने विधवा विवाह, बाल विवाह-निषेध तथा सह-शिक्षा जैसे समाज-सुधारों का भी प्रचार किया। उत्तर प्रदेश की अपेक्षा मद्रास तथा केरल जैसे

राज्यों में सह-शिक्षा, विशेषतः प्राथमिक स्तर पर, स्त्री-शिक्षा की शीघ्र प्रगति के लिये विशेष रूप से उत्तरदायी है। ग्रामीण उत्तर प्रदेश में तो स्त्री शिक्षा भयानक रूप से पिछड़ी हुई है।

६ से ११ के आयु-वर्ग में लड़कियों के प्रवेश का प्रतिशत

राज्य	ग्रामीण	नागरिक
उत्तर प्रदेश	८·४	३८·१
केरल	६५·०	१००·०
मद्रास	३०·७	८५·६
प० बंगाल	२२·८	१००·०
बम्बई	१७·६	१००·०
अखिल भारत	१७·७	८९·८

विकास के क्षेत्रीय सुअवसरों का समानीकरण—विभिन्न राज्यों की इन विषमताओं का निवारण केन्द्र द्वारा किया जा सकता है। केन्द्र को अल्प-विकसित राज्यों के शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, गृह-निर्माण तथा ग्रामीण सार्वजनिक कार्यों पर, जो कि भावी आर्थिक विकास के मूल आधार हैं, अधिक व्यय करना चाहिये। देश के सभी लोगों को एक निर्दिष्ट अवधि के अन्तर्गत समान सुअवसर प्रदान करने की दिशा में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम होगा। इसी प्रकार की प्राथमिकताएं विशेष सुविधाओं के रूप में औद्योगिक ऋण प्रदान करके, औद्योगिक पूंजी तथा मशीनरी उपलब्ध कराके तथा रेल के भाड़ों में छूट देकर भी प्रदान की जा सकती हैं। दीर्घकाल में तो समानीकरण लाने का सबसे कारगर उपाय देश के अल्प-विकसित राज्यों तथा क्षेत्रों में तेजी के साथ औद्योगीकरण करना ही है। इन क्षेत्रों में जल विद्युत् का विकास, छोटी-छोटी मोटरों का प्रयोग, रेल तथा सड़क यातायात का समन्वय तथा औद्योगिक सहकारी समितियों का संगठन करने का भी परिणाम यह होगा कि मध्यम तथा लघु आकार के उद्योग तेजी के साथ औद्योगिक बस्तियों में परिवर्तित हो जायेंगे। कृषि-उद्योगों की अपेक्षा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, असम, उड़ीसा तथा मद्रास राज्यों में वस्त्र उद्योग, सीमेंट तथा चीनी उद्योग जैसे कुछ वृहत्-स्तरीय उपभोग सामग्री के उद्योगों की स्थापना भी की जा सकती है।

यदि मौलिक रूप से देखा जाय तो औद्योगीकरण से अल्प-विकसित तथा पिछड़े हुए राज्यों के लोगों के गुणों में विकास होता है जिसका लाभ सम्पूर्ण देश को होता है। यदि भारत का तीव्रगामी औद्योगिक विकास संसार के अधिक उन्नत एवं सम्पन्न देशों की सद्भावना तथा उदारता पर निर्भर है तो फिर इसी सिद्धांत के आधार पर देश के अधिक उन्नत तथा विकसित राज्यों को पिछड़े हुए भागों के साथ भी यही व्यवहार करना चाहिये। यह तर्क केवल अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था का ही नहीं है, अपितु एक विशाल संघात्मक राज्य का भी है, जिसका सामाजिक जनतंत्र का एक महान् परीक्षण वृद्धि तथा विकास के क्षेत्रीय सुअवसरों के समानीकरण के आधार पर ही सफल हो सकता है।

उत्तर प्रदेश का तुलनात्मक अल्प विकास

डॉ० बलजीत सिंह एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

किसी व्यक्ति के कार्य से बढ़ कर उसकी महत्ता का कोई और मानदंड नहीं है—स्वतन्त्रता-संघर्ष की सफलता के पश्चात् श्री चन्द्रभानु गुप्त का अपने गृह राज्य उत्तर प्रदेश की प्रगति के लिए अथक प्रयास ही अब तक के उनके जीवन की सबसे बड़ी देन है। उत्तर प्रदेश राष्ट्र का सबसे विशाल राज्य होते हुए भी उन पिछड़े हुए प्रदेशों में से है जिनकी विकास समस्यायें सबसे अधिक जटिल हैं। इसकी ८ करोड़ जनसंख्या, मद्रास तथा पश्चिमी बंगाल अथवा आंध्र प्रदेश, मैसूर तथा केरल की सामूहिक जनसंख्या से अधिक है। आज दुनिया के प्रत्येक ४० व्यक्तियों में एक उत्तर प्रदेशीय है और यही नहीं समूचे योरुप तथा अमेरिका में संयुक्त राज्य को छोड़कर कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसकी जनसंख्या उत्तर प्रदेश से अधिक हो। विभाजन के समय सारे पाकिस्तान की जनसंख्या उत्तर प्रदेश की वर्तमान जनसंख्या से कम थी। परन्तु इसके साथ ही इस प्रदेश का समाज तथा यहां की अर्थव्यवस्था इतनी पिछड़ी तथा रूढ़िग्रस्त है कि नेहरू, पन्त और गुप्त की वृहत्त्रयी के अथक प्रयासों के बाद भी इसकी विराट् समस्याओं का निराकरण नहीं हो सका। इस दशाब्दी की विषम स्थिति का मैं यहां उल्लेख कर रहा हूं जो श्री गुप्त के मुख्यमंत्री पद पर आसीन होने के समय उनके समक्ष चुनौती के रूप में आ खड़ी हुई थी और जिस चुनौती को उन्होंने ग्रहण किया था। इधर हाल के विकास का मैं वर्णन नहीं करूंगा, क्योंकि न तो वे इतिहास का अंग ही बन पाई हैं और न श्री गुप्त को ही इतना अवसर दिया गया कि उनके संचालन में नियोजित आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया इस प्रदेश में उनके कार्य के रूप में आ सके। मेरा यह आलेखन उत्तर प्रदेश की तुलनात्मक प्रगति पर लिखित मेरी एक रिपोर्ट पर आधारित है और उस चुनौती को स्पष्ट करता है जिससे जूझने की लिए श्री गुप्त जैसे उच्चकोटि के साहसी लौह पुरुषों की आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश की वास्तविक राष्ट्रीय आय में (सन् १९४८-४९ के मूल्यों पर) सन् १९५०-५१ और सन् १९६०-६१ के बीच २१·९५% और प्रति व्यक्ति आय में ४·६७% वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप उत्तर प्रदेश की प्रति व्यक्ति आय (सन् १९४८-४९ के मूल्य स्तरों पर) १९५०-५१ में २४२ रुपया और सन् १९६०-६१ में २५३ रु० थी। शेष भारत में ये आंकड़े क्रमशः २४९ रुपया और ३०३ रु० थे। उत्तर प्रदेश की प्रति व्यक्ति आय का सूचकांक, शेष भारत=१०० मान कर, सन् १९५०-५१ के ९६·९ के घट कर सन् १९६०-६१ में ८३·१ रह गया।

उत्तर प्रदेश की जनसंख्या एवं रोजगार में शेष भारत की अपेक्षा कम वृद्धि हुई। सन् १९५१ में उत्तर प्रदेश की जनसंख्या देश की जनसंख्या की १७·६५% थी, समस्त कर्त्ताओं में १८·९२% कर्ता तथा १९·९% पुरुष कर्त्ता थे। सन् १९६० में ये अनुपात क्रमशः १६·८९%., १५·३१% और १७·८३% थे। सम्पूर्ण दशाब्दी में उत्तर प्रदेश के कर्त्ताओं की संख्या में केवल ९·३% की वृद्धि हुई जबकि शेष भारत में ४१·१% वृद्धि हुई। उत्तर प्रदेश में पुरुष कर्त्ताओं की संख्या में जहां १६·६% की वृद्धि हुई शेष भारत में ३३·५% हुई।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास—साक्षरता को जनता के सांस्कृतिक उत्थान का सूचकांक मान कर यह कहा जा सकता है कि सन् १९५१ में शेष भारत की अपेक्षा उत्तर प्रदेश काफी पिछड़ा हुआ था। उत्तर प्रदेश में समस्त साक्षर व्यक्तियों का प्रतिशतांक १०·८ था—पुरुषों में १७·४ तथा स्त्रियों में ३·५, शेष भारत में उपर्युक्त अनुपात क्रमशः १७·९३, २६·५८ और ८·८ था। सन् १९६१ में भी शेष भारत की अपेक्षा यह राज्य अधिक पिछड़ा हुआ था। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब उत्तर प्रदेश में साक्षरता की वृद्धि ६३% हुई भारत में ४४·६% की ही हुई, फिर भी उत्तर प्रदेश को शेष भारत के बराबर आने के लिए बहुत विनियोग की आवश्यकता है।

राज्य के तुलनात्मक अल्प विकास के कारण

(१) **अपर्याप्त नियोजित व्यय**—सन् १९५१-६१ में प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत राज्य सरकार का नियोजित व्यय ३९४ करोड़ रुपया था, अर्थात् दशाब्दी के अन्तर्गत समस्त राज्यों के नियोजित व्यय में उत्तर प्रदेश का भाग ११·५% तथा समस्त सार्वजनिक व्यय में ६% भाग था। सन् १९६०-६१ में उत्तर प्रदेश सरकार के आंकड़ों के अनुसार राजकीय नियोजित व्यय समस्त प्रदेश की आय के ३% से भी कम था। सन् १९६१-६२ अर्थात् तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में भी राजकीय व्यय ७२ करोड़ से कम अर्थात् प्रदेश की कुल आय का ४% था। यह भी स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश में शेष भारत की अपेक्षा दोनों योजनाओं में प्रति व्यक्ति व्यय कम हुआ है, शेष भारत में प्रति व्यक्ति ८४·४५ रुपया था जबकि उत्तर प्रदेश में ५३·४२ रुपया। अपेक्षाकृत अल्प नियोजित व्यय के कारण ही यदि उत्तर प्रदेश की प्रगति न्यून रही, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

उत्तर प्रदेश में राजकीय व्यय के अपर्याप्त होने के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। राजकीय योजनाओं को इस प्रकार का स्वरूप प्रदान किया गया है कि राजकीय व्यय कृषि, सिंचाई, विद्युत् शक्ति, सड़कों, ग्रामीण उद्योगों एवं सामाजिक सेवाओं के अधिकांश व्यय का वहन कर सके। परिस्थितियों को देखते हुए जहां तक समस्त राज्यों के विकास में एकरूपता का प्रश्न है, कृषि, सामुदायिक विकास एवं सहकारिता में एक न्यूनतम विनियोग आवश्यक है; और राजकीय नियोजन में ही वे क्षेत्र हैं जो पिछड़ गए हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय राज्य योजना में अनुमानित व्यय की व्याख्या से यह पता चलता है कि उत्तर प्रदेश में उपर्युक्त दो मदों में प्रति व्यक्ति व्यय १० रुपया था जबकि शेष भारत में प्रति व्यक्ति व्यय १२ रुपया था। यह अन्तर केवल २०% का ही है। उत्तर प्रदेश के अन्य क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति व्यय २९ रुपया था जबकि शेष भारत में ४० रु० प्रति व्यक्ति से भी अधिक था। सेवाओं के क्षेत्र में यह अन्तर मुख्य रूप से उल्लेखनीय है जहां विकास दर शेष भारत की अपेक्षा अधिक न्यून रही है!

उत्तर प्रदेश में द्वितीय योजना काल में समस्त व्यय का ३१% से कुछ अधिक भाग कृषि, सामुदायिक विकास एवं सहकारिता में तथा २५% विद्युत् शक्ति के उत्पादन में व्यय किया गया और अन्य मदों में व्यय करने के लिए ४४% शेष बचा, जिसके कारण सिंचाई में ११% और निकालने पर, यातायात में ७% ग्रामोद्योग में ५% और सामाजिक सेवाओं में केवल २०% व्यय करने के लिए शेष बचा। इसके विपरीत भारत के अन्य राज्यों की योजनाओं में व्यय राशि अधिक होने के कारण कृषि, सामुदायिक विकास एवं सहकारिता की आवश्यकताओं को २३% से कम व्यय करने पर भी पूरा किया जा सका तथा १९% विद्युत् शक्ति पर व्यय करने के पश्चात् समस्त व्यय का ५८% भाग अवशिष्ट रहा। अतएव सामाजिक सेवाओं में शेष भारत में २३%, यातायात में ९% और सिंचाई एवं बाढ़ नियंत्रण में १८% व्यय सम्भव हो सका।

शेष भारत में अपेक्षाकृत अधिक व्यय राशि एवं सिंचाई, उद्योग एवं सेवाओं में व्यय प्रतिशतांक की अधिकता दोनों ही कारणों ने प्रति व्यक्ति व्यय के अन्तर को अधिक स्पष्ट कर दिया है।

वास्तव में द्वितीय योजना में शेष प्रदेशों में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा सभी मदों में प्रति व्यक्ति व्यय अधिक था। विशेष रूप से सिंचाई, उद्योग, यातायात एवं सामाजिक सेवाओं में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा शेष भारत में व्यय दो से तीन गुना अधिक था। कृषि, सामुदायिक विकास एवं सहकारिता में जिस अनुपात में उत्तर प्रदेश में व्यय कम हुआ उसी अनुपात में प्रगति कम रही। उसी प्रकार सेवा क्षेत्र में दोनों योजनाओं के अन्तर्गत जिस मात्रा में यहां राज्य व्यय कम हुआ उसी मात्रा प्रगति अवरुद्ध रही।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि दूसरी पंचवर्षीय राज्य योजना के अन्त में मानव पूंजी में अल्प विनियोग के कारण ही विकास दर निम्न नहीं रही, वरन् जनता का सामूहिक सेवा उपभोग भी शेष भारत की अपेक्षा कम रहा।

उत्तर प्रदेश के राजकीय आगणन के अनुसार समस्त आयु वर्गों में स्कूल जाने वालों की संख्या शेष भारत की अपेक्षा बहुत कम रही है और फलस्वरूप जहां इस प्रदेश की जनसंख्या शेष भारत की १/६ है वहां शिक्षित व्यक्तियों का अनुपात १/८ ही है तथा इन साक्षर व्यक्तियों में स्त्रियों की संख्या १/११ है। ऐसी अवस्था में राज्य में सांस्कृतिक विकास का न्यून होना स्वाभाविक है।

(२) **अल्प विनियोग**—यह बहुधा सर्वमान्य है कि अल्प-विकसित क्षेत्रों में पूंजी की कमी विकास में सबसे बड़ी रुकावट उपस्थित करती है। इसीलिए बहुधा विकास को पूंजी निर्माण का परिणाम माना जाता है और विकास की वृद्धि गति एवं पूंजी निर्माण की गति में परस्पर एक घनिष्ठ योगदायी सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

सरकारी स्रोतों के अनुसार प्रथम दोनों योजनाओं में जनसंख्या को देखते हुए राज्य की अर्थव्यवस्था में विनियोग की भीषण कमी रही है, और यह माना जाता है कि विनियोग की कमी ही अप्रगति का महान् कारण रहा है। यदि यह बात सत्य है तो इससे यह अर्थ निकलता है कि अर्थव्यवस्था को गतिशीलता प्रदान करने के लिए विनियोग में पर्याप्त वृद्धि करनी पड़ेगी।

समस्त विनियोग के दो भाग होते हैं—'निजी' और 'सार्वजनिक'। सार्वजनिक व्यय समस्त नियोजित व्यय का भाग होता है। गणित के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों योजनाओं में राज्य सरकार के व्यय में विनियोग का भाग कठिनाई से ३०० करोड़ रुपया होगा। यही नहीं, पूर्ण अवधि में राज्य में केन्द्रीय सरकार के व्यय से अत्यन्त अल्प विनियोग हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय तथा राज्य की सरकार का विनियोग केवल ३०० करोड़ रुपया होगा। राज्य सरकार ने यह अनुमान किया है कि पूंजी संचालन के लिए निजी विनियोग भी इस अवधि में ३०० करोड़ से अधिक नहीं होगा और इस प्रकार समस्त सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में वह विनियोग ६०० करोड़ रुपया अथवा ८१·३६ रु० प्रति व्यक्ति हुआ। यह राशि पूर्व दशाब्दी में देश के सार्वजनिक विनियोग का ६% से कुछ कम एवं निजी क्षेत्र के ६% से कुछ अधिक तथा राष्ट्र के समस्त विनियोग का ५·३९% है। राज्य सरकार के अनुसार निजी विनियोग के कम होने का कारण अल्प सार्वजनिक विनियोग ही है। राज्य में सम्पूर्ण विनियोग के निम्न स्तर एवं दोनों योजनाओं में निर्धारित अल्प व्यय में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

एक अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था में सामाजिक मदों में सार्वजनिक विनियोग निजी विनियोग को प्रोत्साहन प्रदान करता है। यदि सार्वजनिक क्षेत्र, निजी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक दशायें प्रदान करने में सफल होता है, अर्थात् कृषकों को सिंचाई, उर्वरक एवं यातायात की तथा उद्योगपतियों को पर्याप्त विद्युत् शक्ति के साथ-साथ कच्चे माल एवं ऋण सुविधाओं को प्रदान करता है तो अवश्य ही निजी विनियोग बढ़ सकता है। जनता में शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं का प्रबन्ध भी निजी विनियोग को बढ़ावा देने के लिए आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर प्रदेश की दोनों योजनाओं में अपेक्षाकृत अल्पविनियोग का मुख्य कारण इन मदों में न्यून विनियोग है। इस सामान्यीकृत व्याख्या में काफी सत्यता है और इसमें सन्देह नहीं है कि सामाजिक मदों में सार्वजनिक विनियोग स्पष्ट प्रोत्साहन प्रदान करता है। परन्तु इससे यह अर्थ बिल्कुल नहीं निलकता कि हमने सार्वजनिक एवं निजी विनियोग के राजकीय आगणनों को मान लिया है।

यदि हम राजकीय अनुमानित आंकड़ों को मान भी लें तो उनसे पता चलता है कि शेष भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग सन् १९५१-६१ के बीच ४,९१० करोड़ रुपया था और निजी विनियोग ४,६०० करोड़ रुपया था तथा समस्त विनियोग ९,५१० करोड़ रुपया था। इस स्तर पर दोनों योजनाओं में से शेष भारत का प्रति व्यक्ति विनियोग २६१·२६ रुपया होता है जो उत्तर प्रदेश का तीन गुना है। इसलिए आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि इस समयावधि में शेष भारत में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा विकास दर दूनी रही है। प्रथम दो योजनाओं के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में सन् १९४८-४९ के मूल्य स्तर पर वास्तविक गृह-उत्पादन में ३३५·५ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई, जबकि शेष भारत में ३५९९·५ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। राज्य सरकार के समस्त आगणित विनियोग के आधार पर वृद्धिगत पूंजी उत्पादन अनुपात १·८० था जबकि शेष भारत में २·६४ था। शेष भारत में उच्च पूंजी उत्पादन अनुपात का कारण दोनों योजनाओं में भारी उद्योगों में विनियोग के प्रति अभिरुचि में प्राप्त होता है। यह बात इससे भी स्पष्ट है कि जब उत्तर प्रदेश में बढ़ी हुई आय का ७९% भाग कृषि द्वारा और ३% से कम खानों, बड़े एवं छोटे उद्योगों द्वारा प्राप्त हुआ शेष भारत में ये आंकड़े ३६% और १७% थे। चूंकि पहला क्षेत्र पूंजी प्रधान कम है अतएव शेष भारत के वृद्धिगत पूंजी-उत्पादन अनुपात का अधिक होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त 'अन्य सेवाओं' के क्षेत्र में भी शेष भारत में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई। सेवा क्षेत्र में पूंजी उत्पादन अनुपात कम होता है चूंकि यह श्रम प्रधान होती है अतएव इसे शेष भारत के पूंजी उत्पादन अनुपात को कम करना चाहिए। इसलिए यह सन्देह होता है कि वृद्धिगत पूंजी-उत्पादन में अन्तर केवल विनियोग एवं बढ़ी हुई आय के स्रोतों में भिन्नता के कारण ही नहीं है। अपने एक पूर्व आलेख में मैंने यह तर्क दिया था कि दोनों योजनाओं की समयावधियों में केन्द्रीय सरकार के विनियोग ने परोक्ष रूप से राज्य की आय में वृद्धि की होगी उसी आलेख में मैंने यह भी स्पष्ट किया है कि केन्द्रीय सरकार के विनियोग का १/६ भाग जो यातायात और सार्वजनिक सेवाओं आदि में व्यय होता है, उसे परोक्ष रूप से विनियोग माना जा सकता है और यह गणित की थी कि केन्द्रीय विनियोग की १,३८० करोड़ रुपये की राशि में, २३० करोड़ रुपया ऐसा विनियोग है जिसे हम राज्य में परोक्ष विनियोग मान सकते हैं। यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि यह धनराशि कितनी होगी क्योंकि दोनों योजनाओं में केन्द्रीय विनियोग का राज्यों के अनुसार वर्गीकरण अप्राप्य है। हम सत्यता से अधिक परे न होंगे यदि हम पूर्ण दशाब्दी में केन्द्रीय कार्यक्रम का लगभग २५० करोड़ रुपया राजकीय योजनाओं के ३०० करोड़ रुपया के विनियोग में मिलाकर ५५० करोड़ रुपया राजकीय विनियोग मान लें। इस पर भी

यह उस रकम से कम है जो कि यह राज्य जनसंख्या के आधार पर अधिकारपूर्वक प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार समस्त सार्वजनिक क्षेत्रीय विनियोग में उत्तर प्रदेश का अंश १०·५३ हो जाता है।

देश में इस समयावधि में निजी विनियोग अनुमानतः ४,९०० करोड़ रुपया अर्थात् १,८०० करोड़ रुपया प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में और ३,१०० करोड़ रुपया द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में हुआ है। निजी क्षेत्र में स्थायी पूंजी निर्माण विनियोग एवं पूंजी संचयन दोनों शामिल होते हैं। यह विनियोग घरेलू क्षेत्र एवं संगठित क्षेत्र द्वारा किया जाता है। सी० एस० ओ० के अनुसार भारत में समस्त पूंजी निर्माण में संगठित क्षेत्रों का १२% और घरेलू क्षेत्रों का ८८% योगदान है। रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा प्राप्त बचत एवं विनियोग के अनुमानों से यह पता चलता है कि सन् १९५०-५१ और १९५८-५९ में समस्त बचत में ८१·४% घरेलू क्षेत्र एवं ४·७% संगठित क्षेत्र और १३·९% राजकीय क्षेत्र का योगदान था। समस्त घरेलू क्षेत्र की बचत का ३२.५% भाग ग्रामीण परिवारों एवं ६७.५% शहरी परिवारों का था। घरेलू क्षेत्र की सामूहिक बचत का ६३% भौतिक सम्पदा के रूप में था।

उत्तर प्रदेश में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में बढ़े हुए गृह उत्पादन का १६·७९% भाग कृषि, ०·९२% बड़े उद्योग, ७·५% छोटे उद्योग, ७% यातायात, वाणिज्य एवं संवाद का था। इन आंकड़ों के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में निजी क्षेत्र में ११३ करोड़ रुपया कृषि, ७ करोड़ रुपया बड़े एवं लघु उद्योग, १२% यातायात एवं शक्ति में माना जा सकता है। गृह एवं अन्य निर्माण तथा पूंजी संचयन में निजी विनियोग में ८·४९% की वृद्धि हुई है, उसे विभिन्न क्षेत्रीय अनुपातों में यदि विभक्त किया जाए तो ८५ करोड़ रुपया भवन एवं निर्माण में एवं ८२ करोड़ रुपया पूंजी संचयन में निकलता है। उत्तर प्रदेश की द्वितीय योजना में निजी विनियोग २७६ करोड़ रुपया अर्थात् समस्त भारत के ३,३०० करोड़ रुपया का ८·३६% अनुमित किया जा सकता है। उपर्युक्त आधार पर १९५१-६१ के बीच उत्तर प्रदेश में समस्त विनियोग ९७६ करोड़ रुपया (५५० करोड़ सार्वजनिक क्षेत्र में और ४२६ करोड़ निजी क्षेत्र में) होता है ; जब कि सरकारी अनुमान ६०० करोड़ रुपया का ही निकलता है। इस प्रकार उत्तर प्रदेश का विनियोग समस्त भारत के विनियोग का ९·६५% होता है। वृद्धिगत पूंजी उत्पादन अनुपात २·९ निकलता है जो शेष भारत से अधिक है (२·४)। यह प्रत्यक्ष रूप से यह बताता है कि दोनों योजनाओं के अन्तर्गत शुद्ध उत्पादन आनुपातिक दर पर केवल इसलिए नहीं बढ़ा कि विनियोग में आनुपातिक व्यय अल्प रहा है वरन् इसका कारण उच्च वृद्धिगत पूंजी-उत्पादन अनुपात है। परन्तु यह पुनः जटिलता उत्पन्न करता है और आसानी से स्पष्ट नहीं होता क्योंकि उत्तर प्रदेश का विनियोग स्वरूप औद्योगीकरण के प्रति अभिरुचिपूर्ण नहीं था। अतएव इसका सम्भव स्पष्टीकरण दो तथ्यों में विहित हो सकता है :

१. पूंजी का अपूर्ण उपयोग अथवा अतिरिक्त उत्पादन क्षमता।
२. आर्थिक तृतीय क्षेत्र में आनुपातिक अल्प विनियोग और अल्पविकास विशेषकर सामाजिक सेवाओं के श्रम-प्रधान क्षेत्र में।

इन दोनों ही कारणों से वृद्धिगत पूंजी-उत्पादन अनुपात बढ़ सकता है।

मानव पूंजी में अपेक्षाकृत अल्प विनियोग—अल्प-विकसित क्षेत्रों में विकास की प्रारम्भिक स्थिति में मानव पूंजी अर्थात् शिक्षा, प्रशिक्षण, एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं आदि में विनियोग तीन प्रकार से विकास में सहायक होता है। प्रथम, यह प्रत्यक्ष रूप से सेवाओं की इस शाखा में उत्पादन एवं रोजगार बढ़ाता है। यह सर्वविदित है कि राज्य में शिक्षित बेरोजगारी की विषमता अधिक है इसलिए इस क्षेत्र में व्यय तुरन्त रोजगार एवं उत्पादन में वृद्धि करेगा। द्वितीय, इस प्रकार का व्यय प्रशिक्षित एवं कुशल व्यक्तियों की पूर्ति में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादकता में वृद्धि करता है। उत्पादकता में वृद्धि धीरे-धीरे होती है अतएव इस प्रकार के व्यय का प्रभाव तुरन्त दृष्टिगोचर नहीं होगा। कुछ भी हो मानव पूंजी में विनियोग द्वारा उत्पादकता में वृद्धि अवश्यम्भावी है। तृतीय, इस प्रकार का व्यय प्रत्यक्ष से उन सामाजिक मदों को उत्पन्न करता है जिनकी कमी निजी विनियोग विशेषकर माध्यमिक क्षेत्र की वृद्धि में अवरोध उपस्थित करती है। शिक्षित लोगों के रोजगार में वृद्धि से जो मांग उत्पन्न होती है वह उन उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में विनियोग बढ़ाती है जिनका मध्यवर्गीय लोग उपभोग करते हैं। शिक्षा एवं स्वास्थ्य में जितना अधिक विकास व्यय होगा उतना ही अधिक रोजगार एवं आय में वृद्धि होगी। यह वृद्धि केवल सेवाओं के क्षेत्र में ही नहीं माध्यमिक क्षेत्र में भी होगी। इसके विपरीत यदि यह व्यय सीमित और अल्प होता है तो विकास गति, रोजगार एवं आय की वृद्धि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

उत्तर प्रदेश में शेष भारत की अपेक्षा सामाजिक सेवाओं पर नियोजित व्यय कम हुआ है जो मोटे तौर पर स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रशिक्षण एवं अन्य मानव गुणों के विकास का द्योतक है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में सामाजिक सेवाओं में प्रति व्यक्ति व्यय ६·१२ रुपये था जो शेष भारत के व्यय का आधा था। इसीलिए उत्तर प्रदेश की प्रथम दोनों योजनाओं में रोजगार एवं उत्पादन में आनुपातिक अल्प वृद्धि हुई। सन् १९६०-६१ में उत्तर प्रदेश के राजस्व द्वारा केवल ८·३१ रुपये

का व्यय हुआ था जबकि शेष भारत में १४·२२ रु० का व्यय हुआ था। उत्तर प्रदेश में प्रति व्यक्ति विकास व्यय शेष भारत का ५८% था। ध्यान देने योग्य बात है कि इसकी विकास दर शेष भारत की अपेक्षा आधी रही। उत्तर प्रदेश के समस्त गृह उत्पादन में विकास व्यय का ३·३२% भाग रहा है और शेष भारत में यह भाग ४·६४% रहा है। सन् १९६०-६१ में शिक्षा एवं चिकित्सा एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य इन दोनों महत्त्वपूर्ण वर्गों में अल्प वार्षिक विकास व्यय अन्तर को अधिक स्पष्ट कर देता है। उत्तर प्रदेश सरकार ने इस वर्ष में शिक्षा पर २.४१ रुपया प्रति व्यक्ति और औषधि एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य में १ रु० प्रति व्यक्ति व्यय किया जबकि शेष भारत में यह व्यय क्रमशः ४·९७ और २·०५ रुपया था। अर्थात् उत्तर प्रदेश की अपेक्षा दोगुना था। उत्तर प्रदेश में यह व्यय प्रदेश के गृह उत्पादन का ०·९६% तथा ४·००% था जब कि शेष भारत में क्रमशः व्यय १·६३% तथा ०·६७% था।

बेरोजगारी—उत्तर प्रदेश की तुलनात्मक अल्प प्रगति दर का मुख्य कारण दशाब्दी में रोजगार का तुलनात्मक अधिक आपात है। नवम्बर सन् १९६० में योजना आयोग के श्रम एवं रोजगार विभाग ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में बेरोजगारी के अवशिष्टांश का अनुमान ७४·३ लाख का लगाया था जिसमें १८·७ लाख का अनुमान उत्तर प्रदेश के लिए था। इसका यह अर्थ है कि उत्तर प्रदेश में समस्त देश की २५·१६% बेरोजगारी थी जबकि उत्तर प्रदेश के श्रमिकों की संख्या देश के समस्त श्रमिकों की १/६ थी। वास्तव में ये अनुमित आंकड़े त्रुटिपूर्ण और न्यून थे। तृतीय पंचवर्षीय योजना में दिए हुए आंकड़ों के अनुसार देश में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में बेरोजगारी का अवशिष्टांश ९० लाख से कम नहीं था और इस प्रकार उत्तर प्रदेश की बेरोजगारी का अवशिष्टांश २३ लाख पर आगणित किया जा सकता है। सन् १९६०-६१ की जनगणना से यह स्पष्ट होता है कि सन् १९५१-६१ के बीच कर्ताओं की संख्या में ४७१·७ लाख अर्थात् ३५·०५% की वृद्धि हुई। पुरुष कर्त्ताओं की संख्या में २८७ लाख अर्थात् ३०·३% और स्त्री कर्त्ताओं में १८४·८ लाख अर्थात् ४७·५% की वृद्धि हुई। मोटे तौर पर ये आंकड़े देश में रोजगार वृद्धि की ओर इंगित करते हैं। परन्तु इस वृद्धि का कुछ कारण सन् १९५१-६१ की जनगणनाओं में पारिभाषिक परिवर्तन है। सन् १९५१ की परिभाषा के अनुसार कर्ता समस्त आत्मनिर्भर व्यक्ति और आश्रितों की संख्या के द्योतक थे और परिभाषा का सम्बन्ध आय और अर्जन से था कार्य से नहीं अतएव कर्त्ताओं की संख्या न्यून हो गई, और सन् १९६१ में कर्त्ता शक्ति की वृद्धि दर में स्फीति हो गई। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि सन् १९६१ में कर्त्ता एवं जनसंख्या अनुपात वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाता है। सन् १९५१ में कर्त्ता शक्ति योग दान दर ३९·१०% थी, पुरुषों में ५४·०५% तथा स्त्रियों में २३·३०%, सन् १९६१ में यही आंकड़े क्रमशः ४२·९८%, ५७·१२% और २७·९६% थे। इसमें यह स्पष्ट है कि देश में कर्ताओं की संख्या में वृद्धि जनसंख्या की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हुई। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि कर्त्ताओं में समस्त वृद्धि का ५% भाग पारिभाषिक परिवर्तन है और इस प्रकार सम्पूर्ण दशाब्दी में श्रम शक्ति में वृद्धि ३०% हुई। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि देश में कर्त्ताओं की वृद्धि दर जनसंख्या की वृद्धि दर से ३६% अधिक थी। हम यह मान सकते हैं कि देश की श्रम शक्ति अर्थात् कर्त्ता एवं कार्य खोजने वाले लोग जो वास्तव में कार्यरत नहीं हैं लगभग उसी दर पर बढ़े होंगे यदि दशाब्दी के प्रारम्भ एवं अन्त में बेरोजगारी के आपात में कोई विपरीत परिवर्तन न हुआ हो।

राजकीय आगणन के अनुसार समस्त देश में सन् १९५१ में ५० लाख तथा सन् १९६१ में ९० लाख पूर्ण रूप से बेरोजगार श्रमिक थे। कार्यरत व्यक्तियों की संख्या सन् १९५१ में १४१५·२ लाख और सन् १९६१ में १८८४·२ लाख थी। बेरोजगारी का आपात सन् १९५१ में ३·६% और सन् १९६१ में ४·८% निकलता है। स्पष्ट ही है कि श्रम-शक्ति में कार्यरत व्यक्तियों से अधिक वृद्धि हुई होगी। उपर्युक्त आधार पर श्रम शक्ति का अपरिवर्द्धित वृद्धि दर ३६·६% होगी, इसमें पारिभाषिक परिवर्तनों के कारण ५% वृद्धि को घटाने पर कर्त्ताओं में ३१% वृद्धि का आगणन किया जा सकता है। अर्थात् जनसंख्या की वृद्धि दर से कर्त्ताओं की वृद्धि दर ४२% अधिक है। कर्ताओं में स्त्री एवं पुरुष अनुपात के अनुसार यदि हम बेरोजगार व्यक्तियों का वितरण करें तो सन् १९५१ में ये अनुमित आंकड़े स्त्रियों के लिए १४ लाख और पुरुषों के लिए ३६ लाख निकलते हैं। सन् १९६१ में उपर्युक्त आंकड़े क्रमशः २८ लाख और ६२ लाख पर आगणित किए जा सकते हैं। इस प्रकार समस्त श्रम शक्ति सन् १९५१ में १४४५.२ लाख––१०२६.८ लाख पुरुष एवं ४१८.४ लाख स्त्रियां और सन् १९६१ में १९७४·२ लाख––१३५२·२ लाख पुरुष एवं ६२२ लाख स्त्रियों के लगभग निकलती है। श्रम-शक्ति योग दान दर सन् १९५१ में ४०·५०%—५६% पुरुषों में और २४·११% स्त्रियों में निकलता है। सन् १९६१ में ये आंकड़े क्रमशः ४५·०४%—५९·८७% एवं २९·२८% होते हैं।

देश में उक्त उन्नत प्रवृत्ति के विपरीत उत्तर प्रदेश में प्रगति दर धीमी रही है। वास्तव में पूर्ण दशाब्दी में रोजगार में आनुपातिक वृद्धि कम हो गई है। कर्ताओं का योगदान दर जो शेष भारत में ३८·५२% से बढ़ कर ४३·७७% हो गया और पुरुषों में ५३·०९% से ५६·९०% एवं स्त्रियों में २३·२३% से बढ़ कर २९·९०% हो गया, उत्तर प्रदेश में

४१·७६% से घटकर ३९·१२% हो गया। पुरुषों में यद्यपि अनुपात ५८% पर समान रहा है स्त्रियों में २३·६३ प्रतिशत से घट कर १८·१४% हो गया।

उत्तर प्रदेश में पुरुष कर्ताओं की योगदान दर शेष भारत की अपेक्षा फिर भी अधिक थी परन्तु स्त्री कर्ताओं के इस अनुपात में काफी कमी हुई। १९५१ में यह अनुपात शेष भारत से अधिक था परन्तु १९६१ में योगदान दर शेष भारत की अपेक्षा बहुत कम हो गई। यह पहले ही कहा जा चुका है कि देश में जनसंख्या वृद्धि को देखते हुए सम्पूर्ण दशाब्दी में कर्ताओं की संख्या में काफी वृद्धि हुई। उत्तर प्रदेश की प्रवृत्ति ठीक विपरीत रही है। शेष भारत में कर्ताओं की संख्या ४१% बढ़ी—३३·५% पुरुषों में और ५९% स्त्रियों में। उत्तर प्रदेश में यह वृद्धि केवल ९% की हुई यद्यपि पुरुषों में यह वृद्धि १६·६% हुई, स्त्रियों में १०·५% की कमी हुई।

अन्ततः यह परिणाम निलकता है कि जनसंख्या वृद्धि की रोजगार लोच शेष भारत में लगभग इकाई थी (अर्थात् कर्ताओं की प्रतिशत वृद्धि दर एवं जनसंख्या में प्रतिशत वृद्धि दर का अनुपात) समस्त कर्ताओं के लिए १·७%—पुरुषों में १·३६% और स्त्री कर्ताओं के लिए २·५०%। उत्तर प्रदेश में यह लोच इकाई से कम रही ०·५६% समस्त कर्ताओं के लिए—०·९१% पुरुष कर्ताओं के लिए एवं ६·३% स्त्रियों के लिए।

उत्तर प्रदेश में रोजगार की वृद्धि दर के सीमित होने से ही राज्य में बेरोजगारी का आपात बढ़ गया है। समस्त देश के लिए यह आगणित किया गया है कि बेरोजगारी का आपात जो सन् १९५१ में श्रम शक्ति के ३·४६% से बढ़ कर सन् १९६१ में ४·७८% हो गया है, शेष भारत में यह आपात ३·४६% से बढ़ कर ४·०३% हो गया है। अपेक्षाकृत उत्तर प्रदेश में बेरोजगारी का आपात और अधिक बढ़ गया है। सन् १९५१ में यह आपात ३·४७% था सन् १९६१ में ७·३८% हो गया। उत्तर प्रदेश में इस आपात में वृद्धि एवं कर्ताओं की संख्या में आनुपातिक अल्पवृद्धि कम आय का कारण और परिणाम दोनों रहा है।

अन्य अवरोधक तत्वों की अनुपस्थिति में रोजगार बाजार मूल्यों पर मांग अथवा राष्ट्रीय आय की वृद्धि के अनुपात में बढ़ता है। उसी प्रकार जिस अनुपात में रोजगार एवं उत्पादकता बढ़ती हैं, उसी अनुपात में उत्पादन बढ़ता है। इसलिए किंचित् मात्र सन्देह नहीं होना चाहिए कि यदि दशाब्दी में उत्तर प्रदेश में रोजगार उसी अनुपात में बढ़ता जिस अनुपात में शेष भारत में बढ़ा है तो विकास दर भी शेष भारत के बराबर होती। परन्तु यदि हम रोजगार को विकास के एक ध्येय की दृष्टि से देखें तो यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि इस प्रकार से समस्या को प्रस्तुत करने से समस्या का कोई हल नहीं निकलता है। सही समस्या यह है कि उत्तर प्रदेश के कर्ताओं में उतनी वृद्धि क्यों नहीं हुई जितनी कि अन्यत्र हुई है। इस समस्या का उत्तर हम अपर्याप्त विनियोजन के स्वरूप एवं विकास के साथ-साथ प्रविधि चुनाव में मिलता है।

ऐसा कहा जाता है और जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके हैं विकास और विनियोग यदि शेष भारत की भांति सेवाओं पर अधिक बल देता है तो राज्य में रोजगार एवं आय में उसी गति से वृद्धि होती जिस गति से शेष भारत में हुई है। विनियोग का स्वरूप उद्योगों के प्रति अधिक बल न देते हुए भी सम्पूर्ण दशाब्दी में शेष भारत की अपेक्षा भी प्रधान रहा है और फलतः शेष भारत के मुकाबले न केवल आय ही कम दर पर बढ़ी है वरन् आय की रोजगार लोच भी कम रही है।

अल्प कुशल प्रविधि—विकास की प्रारम्भिक स्थितियों में प्राविधिक प्रगति पूंजी गहन होती है, क्योंकि तत्कालीन प्रविधि आदि कालीन होती है, परन्तु साथ ही साथ यह श्रम बचत करती है और सम्पूर्ण प्रभाव द्वारा लागत को कम करती है। अच्छी प्रविधि पूंजी अथवा श्रम की बचत करती है। हमारे प्रमाण यह बताते हैं कि सम्पूर्ण दशाब्दी में वृद्धिगत पूंजी उत्पादन अनुपात और वृद्धिगत श्रम उत्पादन अनुपात शेष भारत की अपेक्षा उत्तर प्रदेश में अधिक रहा है। बहुत हद तक यह दोनों क्षेत्रों में विकास के स्वरूप में भिन्नता के करारण हो सकता है, परन्तु केवल यही कारण नहीं हो सकता, विशेषकर जब यह अनुपात एक साथ सभी क्षेत्रों में अधिक रहा है। सभी क्षेत्रों में इन अनुपातों का एक साथ अधिक होना यह बाताता है कि शेष भारत की अपेक्षा उत्तर प्रदेश की प्रविधि निम्न कोटि की रही है।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि वृद्धिगत पूंजी-उत्पादन अनुपात शेष भारत की अपेक्षा उत्तर प्रदेश में कम रहा है। रोजगार की आय लोच को यदि गृह-उत्पादन में १% वृद्धि के द्वारा पुरुष श्रमिकों में प्रतिशत रोजगार वृद्धि द्वारा नापें तो यह पता चलता है कि शेष भारत के अनुपात में यह लोच उत्तर प्रदेश में अधिक रही है। रोजगार में वृद्धि को सन् १९५१–६१ के मध्य बढ़े हुए कर्ताओं की संख्या द्वारा नापा गया है और इस माप को केवल पुरुष कर्ताओं में सीमित रखा गया है, क्योंकि सन् १९५१–६१ के मध्य स्त्री कर्ताओं की संख्या में पारिभाषिक परिवर्तन के कारण कुछ अन्तर हो गया

है। लोच सर्वप्रथम गृह उत्पादन में वृद्धि द्वारा और फिर प्रत्येक क्षेत्र के उद्योग में उत्पादन द्वारा नापी गई है। रोजगार की आय लोच उत्तर प्रदेश में ०·७६ और शेष भारत में ०·६८ निकलती है। स्पष्ट है कि यदि उत्तर प्रदेश में आय उसी दर पर बढ़ी होती जिस दर पर शेष भारत में बढ़ी है तो राज्य में रोजगार अधिक तीव्र गति से बढ़ता, चूंकि राज्य में आय शेष भारत से आधी दर पर बढ़ी है; रोजगार उतना नहीं बढ़ सका और यदि हम आय की रोजगार लोच को रोजगार की आम लोच के विपरीत स्वरूप में लें तो यह पता चलता है कि शेष भारत की अपेक्षा उत्तर प्रदेश में रोजगार की वृद्धि द्वारा आय उत्पादन से कम बढ़ी है। उत्तर प्रदेश में आय की पुरुष रोजगार लोच १·३२ और शेष भारत में १·४७ निकलती है। प्रत्यक्ष है कि वृद्धिगत श्रम उत्पादन अनुपात शेष भारत की अपेक्षा उत्तर प्रदेश में अधिक रहा है और साथ ही साथ वृद्धिगत पूंजी-उत्पादन अनुपात निम्नकोटि की प्रविधि के कारण अधिक रहा है। क्षेत्रों के अनुसार उत्तर प्रदेश में कृषि में शुद्ध उत्पादन में १% वृद्धि से ४·८% पुरुष कर्ताओं में वृद्धि होती है और शेष भारत में ०·८१%। इससे यह पता चलता है कि श्रम के अन्यत्र उपादानों का उत्तर प्रदेश के कृषि उत्पादन में अधिक भाग रहा है जबकि शेष भारत की अपेक्षा इस क्षेत्र में प्रविधि अधिक श्रमगहन रही है। इससे राज्य को कोई विशेष लाभ नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि श्रम ही एक अतिरेक साधन है और श्रम के अतिरिक्त उपादानों की सीमित पूर्ति ने इस क्षेत्र के समस्त विकास को सीमित कर दिया है। खनिज पदार्थ, वन एवं बगीचे इस राज्य की अर्थव्यवस्था में बहुत कम महत्त्वपूर्ण हैं। औद्योगिक क्षेत्र में घरेलू एवं मिल उद्योगों एवं निर्माण को लेते हुए प्रविधि अत्यधिक श्रमगहन रही है, क्योंकि प्रत्येक १% शुद्ध उत्पादन में वृद्धि से कर्ताओं की संख्या उत्तर प्रदेश में १०·७३% बढ़ी जबकि शेष भारत में यह वृद्धि केवल १.१३% है। इससे यह पता चलता है कि उत्पादन में वृद्धि का विशेष भाग निम्न कोटि की प्रविधि द्वारा उत्पादित किया गया है। मानवी श्रम पर इतनी अधिक निर्भरता एवं इसकी अल्प उत्पादकता ने निश्चित ही इस क्षेत्र की उत्पादन की वृद्धि पर अवरोधक प्रभाव वाला होगा।

यह प्रत्यक्ष है कि प्राविधिक विकास अधिक नहीं हो सकता है और यही बात सेवाओं के क्षेत्र के लिए भी सत्य है विशेषरूप से 'अन्य सेवा' क्षेत्र के लिए। प्रत्यक्ष रूप से राज्य में उत्पादन के लिए निम्न कोटि की प्रविधि के प्रयोग का मुख्य कारण अपर्याप्त अथवा अप्राप्य श्रम के अतिरिक्त उपादानों अथवा पूंजी की कमी है। यदि उच्चतर प्रविधि का उत्तर प्रदेश में प्रयोग सम्भव हो सकता है और यदि पूरक साधन उपलब्ध होते तो उत्तर प्रदेश के उत्पादन में भी वैसी ही वृद्धि होती जैसे अन्य कहीं।

व्यावसायिक ढांचे की प्रतिकूल प्रवृत्ति——राज्य में सीमित उत्पादन का कारण केवल रोजगार में सीमित वृद्धि ही नहीं है वरन् बढ़े हुए रोजगार के स्वरूप में प्रतिकूलता का योग भी है। सन् १९५१ में उत्तर प्रदेश का व्यावसायिक ढांचा शेष भारत की अपेक्षा कमजोर था, चूंकि ७३% पुरुष कर्ता कृषि में संलग्न थे जबकि शेष भारत में प्रतिशतांक ६५ था और खनिज उद्योग एवं निर्माण में जबकि उत्तर प्रदेश में १०% व्यक्ति संलग्न थे ऐसे व्यक्तियों की संख्या शेष भारत में १४% थी। उसी प्रकार सेवाओं के क्षेत्र में १६% व्यक्ति उत्तर प्रदेश में कार्यरत थे जबकि शेष भारत में २०% व्यक्ति सेवाओं के क्षेत्र में थे। सन् १९६१ तक राज्य के पुरुष कर्ताओं के औद्योगिक व्यावसायिक वितरण में इंच मात्र परिवर्तन नहीं हुआ। जबकि शेष भारत में कृषि संलग्न पुरुष कर्ताओं में २ बिन्दु का अन्तर आया और प्रतिशतांक घट कर ६३ हो गया तथा उद्योगों में १·५ बिन्दु की वृद्धि हुई अर्थात् १२% की वृद्धि हुई। इस प्रकार शेष भारत में सन् १९६१ में ३७% पुरुष कर्ता कृषि के अन्यत्र संलग्न थे, जबकि उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या २७%थी। उत्तर प्रदेश में बढ़े हुए पुरुष कर्ताओं की संख्या में ३२% व्यक्तियों को कृषि के अतिरिक्त रोजगार प्राप्त हुआ जबकि शेष भारत में ४३%। दशाब्दी में कृषि के अतिरिक्त रोजगार में अल्प वृद्धि प्रमुख रूप से आय की अल्प वृद्धि दर का कारण रही है। सबसे अधिक कमी सेवा क्षेत्र में रही है। इस क्षेत्र में उत्तर प्रदेश में कार्यसंलग्न व्यक्ति ९·३% थे जबकि शेष भारत में इनकी संख्या १४·६% थी।

श्रम उत्पादकता या प्रतिकर्ता उत्पादन आम तौर से कृषि के अन्यत्र अधिक होता है और चूंकि उत्तर प्रदेश में शेष भारत की अपेक्षा बढ़ी हुई कर्ताओं की संख्या के एक बहुत थोड़े भाग को कृषि के अन्यत्र रोजगार प्राप्त हो सका है, विशेषकर, अन्य सेवाओं के क्षेत्र में, निश्चित रूप से इसका प्रभाव राज्य के उत्पादन में वृद्धि को अवरुद्ध करने पर पड़ा होगा।

आंशिक तृतीय क्षेत्र में सीमित रोजगार——अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आय एवं रोजगार की दृष्टि से उत्तर प्रदेश तृतीय क्षेत्र में अधिक पिछड़ गया है। यह बहुधा कहा जाता है कि तृतीय क्षेत्र में रोजगार उस मांग का परिणाम है जो प्राथमिक अथवा माध्यमिक क्षेत्रों के बढ़े हुए उत्पादन द्वारा निकलती है। प्रति व्यक्ति कृषि से आय के अनुसार जिलों को रखने के पश्चात् व्यावसायिक ढांचे के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि जहां कहीं कृषकों की आय अधिक है वहीं तृतीय क्षेत्र में रोजगार भी अधिक है। इससे यह विचार उत्पन्न होता है कि कृषि के विस्तार एवं कृषकों की आय वृद्धि द्वारा तृतीय क्षेत्र में विकास एवं जनसंख्या के सामान्य रहन-सहन के स्तर में वृद्धि होनी चाहिए। यह निष्कर्ष विभिन्न देशों की कृषि उत्पादकता एवं व्यावसायिक ढांचे की तुलना द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है।

यह स्थैतिक विश्लेषण तनिक भी व्यावहारिक महत्त्व का नहीं है, क्योंकि अन्तरसामयिक परिवर्तन का विश्लेषण यह बताता है कि वास्तव में प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन में वृद्धि स्वतः ही तृतीय क्षेत्र के विकास में सहायक नहीं होती है, इसके तीन कारण हैं। प्रथम, निम्नस्तर पर कृषि आय में वृद्धि, राज्य में या देश में, मुख्यतः वस्तुओं की मांग में वृद्धि उत्पन्न करती है न कि सेवाओं में, उपभोग के स्वरूप और व्यवहार सम्बन्धी अनेक अध्ययन इस कथन की पुष्टि करते हैं। इसके पहले कि लोग नवीन सेवाओं की मांग करें वे सर्वप्रथम अपनी आवश्यक आवश्यकताओं—खाद्य, कपड़ा, रहने के स्थान की पूर्ति करते हैं। एक आम स्तर के पश्चात् सेवाओं के प्रति आम लोच अपेक्षाकृत अधिक होगी। परन्तु जहां लोग जीविका स्तर से निम्न अथवा उसके निकट स्तर पर जीवन यापन करते हों वहां ऐसा सम्भव नहीं है। द्वितीय, इसमें सन्देह नहीं कि वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ कुछ विशेष प्रकार की सेवाओं में वृद्धि होती है, उदाहरणार्थ व्यापार, वाणिज्य, अधिकोषण आदि में। परन्तु हर प्रकार की सेवाओं के लिए यह सत्य नहीं है और उपर्युक्त में भी यह आवश्यक नहीं है कि रोजगार में आनुपातिक वृद्धि हो। जिस प्रकार एक गांव में २०% फसलों की उपज बढ़ने पर भी ग्रामीण बनिया या साहूकार या फेरी वालों, यातायात कर्मचारियों या तौलने वालों में रोजगार वृद्धि नहीं होगी, यही उन व्यक्तिगत सेवाओं के लिए भी सत्य है जो धोबी, नाई, पंडित या मुल्ला प्रदान करते हैं। विभिन्न इकाइयों में अर्ध रोजगारी और अप्रयुक्त क्षमता इतनी अधिक है कि कोई एक इकाई अधिकांश मांग वृद्धि की पूर्ति कर देगी। इसके अतिरिक्त अविभाजनशीलता की भी समस्या है। तृतीय, अल्पविकसित देशों में, तृतीय क्षेत्र का विकास मुख्य रूप से, सार्वजनिक सेवाओं पर निर्भर करता है, व्यक्तिगत और निजी सेवाओं पर नहीं; उदाहरणार्थ शिक्षा, स्वास्थ्य। इन सेवाओं के विस्तार से ही वैयक्तिक एवं निजी सेवाओं में विस्तार होता है। इससे यह परिणाम निलकता है कि तृतीय क्षेत्र में रोजगार वृद्धि सार्वजनिक सेवाओं के नियोजित विकास से होती है न कि प्राथमिक और माध्यमिक क्षेत्र के विकास से। तृतीय क्षेत्र में "अन्य सेवा क्षेत्र" ही अधिकांश रोजगार प्रदान करता है, रोजगार की दृष्टि से व्यापार, वाणिज्य, यातायात एवं परिवहन अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है। इनमें सम्भावित वृद्धि उत्पादन विशेषकर औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि पर आधारित है। परन्तु यहां भी, जैसा कि पहले कह चुके हैं, 'अन्य सेवाओं' में रोजगार अपेक्षाकृत कम बढ़ेगा, चूंकि व्यक्तिगत सेवाओं में रोजगार की क्षमता सीमित होती है। अतएव अधिकतम रोजगार सार्वजनिक सेवाओं द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि सार्वजनिक सेवाओं का प्रसार शेष भारत की अपेक्षा उत्तर प्रदेश में कम हुआ है और इसीलिए तृतीय क्षेत्र में आय एवं रोजगार में सीमित वृद्धि हुई है।

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश के तृतीय क्षेत्र के कर्ताओं में २९% व्यक्तियों का रोजगार व्यापार था, ८% का यातायात और ६३% का 'अन्य सेवा'। ७% से कम पुरुष और १२% स्त्रियां घरेलू नौकरी में संलग्न थीं। ११% पुरुष कर्ता सार्वजनिक सेवाओं में, ५% शिक्षा, चिकित्सा और स्वास्थ्य में कार्यरत थे। उपर्युक्त आंकड़े हमारे पूर्व निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं कि तृतीय क्षेत्र में रोजगार और आय केवल निकली हुई मांग से ही नहीं बढ़ते हैं। सर्वप्रथम निजी व्यापार एवं यातायात के पुनःसंगठन तथा अच्छी शिक्षा, प्रशिक्षण तथा स्वास्थ्य सुविधाओं द्वारा मानव गुणों के विकास के लिए 'मानव पूंजी' में विनियोग की आवश्यकता है।

संस्थात्मक परिवर्तनों का सीमित प्रभाव—प्रमुख संस्थात्मक परिवर्तन कृषि क्षेत्र में हुए हैं; उदाहरणार्थ जमींदारी उन्मूलन, भूमि का पुनर्वितरण, चकबन्दी और सहकारी कृषि। जमींदारी के अतिरिक्त अन्य परिवर्तनों का सम्पूर्ण प्रभाव अभी सीमित है क्योंकि राज्य के सभी भागों में अभी इनका प्रसार नहीं हुआ है। यह सत्य है कि कुछ पहाड़ी क्षेत्रों के अतिरिक्त, राज्य के अधिकांश भाग से जमींदारी उन्मूलन हो गया है और सभी कहीं मध्यस्थों के अधिकार समाप्त हो गए हैं; फिर भी एक समान भूधारण प्रणाली का जन्म नहीं हो पाया है। समस्त जोतों के क्षेत्रफल का केवल ३४% भाग भूमिधरों के अधिकार में है, जिन्हें हस्तांतरण अधिकार प्राप्त हैं। शेष समस्त भाग सीरदारों का है जिनका अधिकार स्थायी और वंशानुगत तो है परन्तु हस्तान्तरणीय नहीं है; और ये ही वे कृषक हैं जो पहले असामी थे और इनकी स्थिति में यदि कोई परिवर्तन हुआ है तो केवल यह कि मध्यस्थों को लगान देने के स्थान पर अब उन्हें सरकार को सीधे लगान देना होता है। वे अब भी वही लगान देते हैं जो पहले देते थे। चूंकि ऐसे कृषकों की संख्या दो-तिहाई है, अतएव आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जमींदारी उन्मूलन का उत्पादन पर सीमित प्रभाव पड़ा है।

गांव समाज द्वारा भूमि व्यवस्था और अधिकतम जोत निर्धारण द्वारा विस्तृत कृषि एवं भूमि पुनर्वितरण का प्रयास किया गया है। अधिकतम जोत निर्धारण सन् १९६० से प्रारम्भ किया गया है, अतएव इतना शीघ्र इसके प्रभाव का पता नहीं चल सकता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि पुनर्वितरण द्वारा जोत के आकार में दृश्य प्रभाव नहीं पड़ेगा। जहां तक गांव समाज द्वारा भूमि वितरण का प्रश्न है लगभग ९५ लाख एकड़ भूमि जो इनके पास थी, उसमें से ३७·६ लाख नियोजित विकास के लिए और ३३ लाख वितरण के लिए थी। द्वितीय योजना काल में २७ लाख एकड़ भूमि १ लाख

कुटुम्बों में बांट दी गई थी, इन एक लाख कुटुम्बों में ६३००० भूमिहीन कृषि श्रमिक थे। समस्त राज्य में ४० लाख भूमिहीन कृषक थे और इनमें गांव समाज द्वारा प्रदत्त भूमि से लाभ उठाने वालों की संख्या ०·२% से अधिक नहीं है। जमींदारी उन्मूलन की लागत इस राज्य में अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक रही है और ६०० लाख एकड़ भूमि जिससे जमींदारी उन्मूलन हुआ है, उस पर पुनर्वास को मिलाकर कुल आगणित वित्तीय उत्तरदायित्व १५७ करोड़, अर्थात् २६ रुपया प्रति एकड़ है और केवल जोतों की भूमि के अनुसार ३४·५० रुपया प्रति एकड़ है। जमींदारी उन्मूलन से न तो जोतों के आकार में परिवर्तन हुआ है और न उनके वितरण में। औसत जोत का क्षेत्रफल लगभग ७·० एकड़ है। आधे से अधिक (कुल का ५२%) अब भी ५ एकड़ से कम भूमि पर कृषि करते हैं। और कुल मिलाकर इनके पास समस्त कृषि-योग्य भूमि का ८% भाग हैं। दूसरी ओर समस्त कृषक परिवारों के ११% परिवारों के पास १५ एकड़ से अधिक भूमि है और कुल मिलाकर ३८% क्षेत्रफल है।

जमींदारी उन्मूलन से सीरदारों को लगान आपात से रंच मात्र भी छूट नहीं मिली है। राज्य में वर्तमान प्रति एकड़ लगान पहले की लगान मांग का, जो ४·८८ रुपया प्रति एकड़ थी, ९५% से कुछ अधिक है और वर्तमान प्रति एकड़ लगान ४·६७ रुपया है। वाराणसी, गोरखपुर और फैजाबाद इन तीनों क्षेत्रों में तो वर्तमान दर जमींदारी दर से अधिक है। जहां तक जमींदारी लगान आपात कृषि विकास को सीमित करता था, मूल्य परिवर्तन के सिवा इस दिशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

जमींदारी उन्मूलन द्वारा आसामियों की लिखित संख्या में अवश्य कमी आ गई है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध अवैध आसामियों से हो गया है, इस प्रकार यह कृषि में उत्पादन वृद्धि को विकसित करने में असफल रहा है।

चकबन्दी के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के एक अध्ययन से पता चलता है कि उत्तर प्रदेश में किसी हद पर जोर डालने के पश्चात् १८% से भी कम भूमि पर चकबन्दी हो पाई है जबकि पंजाब में ९५% भूमि पर चकबन्दी हो चुकी है। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं है कि उत्तर प्रदेश की अपेक्षा पंजाब का अधिक उत्पादन इसी कारण से सम्बन्धित है। भूमि उपयोग और उन्नति जैसे सड़कों, नालियों, स्कूल आदि के लिए भूमि पृथक् कर देना पंजाब की चकबन्दी कार्यक्रम के अंग थे; गांव की सड़कों एवं तालाबों के निर्माण के लिए ग्रामवासियों ने स्वतः श्रम दान किया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में पंजाब में प्रति एकड़ चकबन्दी की लागत ३·६६ रुपया थी, जब कि उत्तर प्रदेश में यह लागत १४·२५ रुपया है। सन् १९६०-६१ में राज्य की १७ लाख एकड़ भूमि पर चकबन्दी हुई थी। और यदि चकबन्दी की यही गति रही तो समस्त भूमि पर चकबन्दी में २० वर्ष लगेंगे।

सहकारी कृषि में पर्याप्त प्रगति नहीं हुई है। सन् १९६० की जून तक सब प्रकार की सहकारी कृषि समितियों की कुल संख्या ४१५ थी और इनमें ६०,००० एकड़ भूमि निहित थी। सहकारी खेती से उपज बढ़ती है, अथवा नहीं, हम इस प्रतिवाद में पड़े बिना यह कह सकते हैं कि हमारे आंकड़े यह प्रदर्शित करते हैं कि सहकारी खेती बड़े पैमाने पर आरम्भ नहीं की गई है, इसका प्रभाव राज्य की कृषि पर नहीं पड़ा होगा।

अप्रयुक्त साधन और अतिरिक्त उत्पादन क्षमता—राज्य की कृषि एवं उद्योग दोनों में ही, सम्भवतः बुरे संयोजन एवं संगठन के कारण, अतिरिक्त उत्पादन क्षमता प्रायः एक विशेषता है। उदाहरणार्थ, सिंचन क्षमता, जो दो पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत उत्पन्न की गई है एक बड़ी सीमा तक अप्रयुक्त है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में सार्वजनिक सिंचन साधनों द्वारा ७८ लाख एकड़ के लिए सिंचन सुविधा थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में राज्य के सिंचन साधनों की क्षमता ९७ लाख एकड़ तक बढ़ा दी गई और द्वितीय योजना के अन्त में १२१·२ लाख हो गई थी। इस प्रकार सिंचत क्षमता में ४३·२ लाख की अतिरिक्त क्षमता हुई। इस के विपरीत राजकीय साधनों से समस्त वास्तविक सिंचित क्षेत्रफल सन् १९५७-५८ के अतिरिक्त, जब कि ८० लाख एकड़ सींचा गया था, कभी भी ७० लाख एकड़ से अधिक नहीं हुआ। यह प्रत्यक्ष है कि राजकीय साधनों की बढ़ी हुई क्षमता का बहुत बड़ा भाग अप्रयुक्त रहा है। सन् १९५१-५२ में निजी एवं सार्वजनिक सभी साधनों द्वारा १३९ लाख एकड़ सिंचित क्षेत्रफल था। तब से इसमें कठिनाई से कोई वृद्धि हुई है। ६० करोड़ रुपया व्यय करने के पश्चात् सिंचन क्षमता में ४० लाख एकड़ की वृद्धि का सिंचित क्षेत्रफल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। यह सम्भव है कि नवीन सिंचाई साधनों को पूर्ण क्षमता पर आने में कुछ समय लगेगा, परन्तु स्थिर सिंचित क्षेत्रफल यह बताता है कि नवीन सिंचन साधनों का यदि कुछ भी प्रयोग हो पाया है तो वह तत्कालीन साधनों की उपेक्षा द्वारा हुआ है। इससे भी अधिक चिन्ताजनक बात यह है कि बहुत सी पुरानी नहरें भी अभी तक पूर्ण क्षमता पर नहीं पहुंच पाई हैं। शारदा नहर जो राज्य की बड़ी नहरों में से एक है, लगभग ३० वर्ष पहले २० लाख एकड़ की क्षमता के आधार पर बनाई गई थी, यह नहर अब भी केवल १० लाख एकड़ से कुछ ही अधिक भूमि को सींचती है। ऐसी स्थिति में

क्षमता निर्माण शायद ही लाभप्रद होगा। राज्य की सिंचन सुविधाओं पर यह एक विषादपूर्ण टीका है कि सिंचन सुविधाओं का अल्प प्रयोग समस्त नवीन राजकीय साधनों की विशेषता है। यहां तक कि नलकूपों की तरह के लघु सिंचन साधन जो साधारणतः कुछ ही सालों में पूर्ण क्षमता प्राप्त कर लेते हैं बड़ी मात्रा में पूर्णरूप से अप्रयुक्त रहे हैं। राज्य के द्वारा इन सिंचन साधनों का बड़ी मात्रा में विनियोग किया गया है। सिंचन साधनों के अल्प प्रयोग का कारण विनियोग की कमी न होकर अतिरिक्त उपादानों, विशेषकर संगठन एवं संयोजन के प्रति उदासीनता है।

ऐसी स्थिति संगठित उद्योगों की भी है। इसमें सन्देह नहीं कि विनियोग की कमी के कारण राज्य में औद्योगीकरण पिछड़ गया है, परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वर्तमान अतिरिक्त क्षमता का पूर्ण उपयोग क्यों नहीं होता है। राज्य में कपड़ा और चीनी ये दो प्रमुख उद्योग हैं। सूचना प्रदान करने वाली कपड़े की मिलों का उत्पादन सन् १९५७ में ३,६२० लाख मीटर, सन् १९५८ में ३,००० लाख मीटर और सन् १९६१ में ३,३६० लाख मीटर था। चीनी का उत्पादन सन् १९५६-५७ में १०·८ लाख टन और सन् १९५८-५९ में ८·९ लाख टन था। सन् १९५९-६० और १९६०-६१ में इसमें वृद्धि हुई परन्तु सन् १९६१-६२ में पुनः उत्पादन घट गया। राज्य में शायद ही कोई चीनी का कारखाना पूर्ण क्षमता पर कार्य कर रहा है, यही नहीं कुछ तो बिल्कुल बन्द पड़े हैं। नये विनियोग के स्थान पर अपूर्ण क्षमता में निहित कारणों पर ध्यान देना अधिक आवश्यक है।

हीशमैन का कथन है कि सभी क्षेत्रों में एक साथ विनियोग समान रूप से उचित नहीं है और असन्तुलित विकास के पक्ष में प्रबल तर्क दिया है, जिसमें प्राथमिकता उन उद्योगों को दी जाती है जो 'सामाजिक मदों की पूंजी' प्रदान करते हैं क्योंकि इनमें, उन उद्योगों की अपेक्षा जो प्रत्यक्ष उत्पादन क्रियाओं की वृद्धि करते हैं, 'सम्बन्धित प्रभाव' होते हैं।

सामाजिक मदों की पूंजी उन सेवाओं को प्रदान करती है जो बहुत-सी आर्थिक क्रियाओं के लिए आधारभूत है, जैसे सिंचाई और शक्ति। ये सेवाएँ बहुधा सार्वजनिक विभागों द्वारा प्राप्त होती हैं। सामाजिक मदों की पूंजी का विकास, मानव पूंजी में विनियोग को लेकर निश्चित रूप से औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास के लिए पूर्व दशा है। राज्य में पिछले १० वर्षों का अनुभव असंतुलित विकास की विचारधारा का प्रबल प्रमाण हैं। निजी पूंजी का विकास तभी सम्भव है जब कि आधारभूत सेवाएँ प्रविधि कुशल एवं कुशल श्रमिक उपलब्ध हों। इसलिए राज्य में इन मदों में जितना विनियोग हो चुका है केवल उससे अधिक विनियोग की ही आवश्यकता नहीं है वरन् विनियोग का विशेष दिशा में निर्देशन भी आवश्यक है। साथ-ही-साथ साधनों एवं क्षमता के पूर्ण उपयोग के लिए अविनियोज्य उपादानों (संगठन एवं शिक्षा) की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश की राजस्व-व्यवस्था

डॉ० मुरलीधर जोशी
अर्थ विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

भारतवर्ष संघीय राष्ट्र है। उत्तर प्रदेश उसकी प्रान्तीय इकाइयों में से एक इकाई है। ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भ में प्रान्तों को आर्थिक एवं वित्तीय मामलों में स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। भारत का जो भाग अंग्रेजों के अधीन था उसकी सम्पूर्ण राजस्व-व्यवस्था का केन्द्रीयकरण था और प्रान्त इन विषयों में केन्द्रीय सरकार की एजेंसी के रूप में काम करते थे। धीरे-धीरे विकेन्द्रीयकरण का सूत्रपात हुआ और प्रान्तीय सरकारों के राजस्व सम्बन्धी अधिकार तथा उत्तरदायित्व में वृद्धि होती गई। अन्ततोगत्वा १९३५ में एक अधिनियम के संदर्भ में प्रान्तीय स्वायत्तता का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अन्तर्गत केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच राजस्व-व्यवस्था की योजना दी हुई है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतवर्ष के संविधान में भी प्रान्तीय स्वायत्तता निहित है। संविधान के अनुसार कुछ विषय केन्द्रीय (संघीय) सूची में, कुछ प्रान्तीय सूची में और कुछ संयुक्त-सूची में दिये गये हैं। इसी प्रकार राजस्व की व्यवस्था भी कर दी गई है।

प्रान्तों अथवा राज्यों की सूची में जो विषय दिये गये हैं, उनके अनुसार राज्य-सरकारों को अपने-अपने राज्यों में शान्ति, शिक्षा तथा स्वास्थ्य की व्यवस्था और आर्थिक विकास सम्बन्धी अनेक प्रकार की व्यवस्थाएं करनी हैं। इन कार्यों में होने वाले व्यय के लिए वित्त का भी प्रबन्ध है। हमारे वर्तमान संविधान के अन्तर्गत प्रादेशिक सरकारों को निम्नलिखित आय के साधन उपलब्ध हैं :

(१) भूमि पर लगान
(२) कृषि-भूमि पर उत्तराधिकार कर
(३) भूमि पर सम्पदा शुल्क
(४) कृषि-जन्य आय पर कर
(५) भूमि तथा मकानों पर कर
(६) खनिज-अधिकारों पर कर
(७) शराब, अफीम, भांग तथा अन्य मादक-स्वापक पदार्थों पर उत्पादन कर
(८) किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग तथा बेचने के निमित्त वस्तुओं के प्रवेश पर कर
(९) बिजली के उपभोग तथा बिक्री पर कर
(१०) समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर (अन्तर्देशीय व्यापार को छोड़ कर)
(११) समाचार-पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों को छोड़ कर अन्य विज्ञापनों पर कर
(१२) सड़कों तथा आन्तरस्थलीय जलमार्गों के यात्रियों तथा उनके द्वारा ले जाने वाली वस्तुओं पर कर
(१३) सड़कों पर चलने वाले यानों पर कर
(१४) जानवरों तथा नौकाओं पर कर
(१५) पथ-कर
(१६) व्यवसाय, व्यापार तथा रोजगार पर कर
(१७) व्यक्ति कर
(१८) मनोरंजन, बाजी, द्यूत तथा अन्य विलासिताओं पर कर
(१९) दस्तावेजों पर मुद्रांक-शुल्क
(२०) प्रादेशिक सूची के किसी मद पर शुल्क

प्रादेशिक आय के इन साधनों के अतिरिक्त प्रदेशों को केन्द्रीय आय-कर के विभाज्य निकाय का कुछ भाग भी मिलता है। यह भाग ५० प्रतिशत से बढ़ कर वर्तमान काल में ६६⅔ प्रतिशत कर दिया गया है। उत्तर प्रदेश को इस राशि का १४·४२ प्रतिशत तृतीय वित्तीय आयोग की सिफारिश के अनुसार मिलता है। इसी प्रकार केन्द्रीय उत्पादन शुल्क का कुछ भाग भी राज्यों में वितरित किया जाता है। उपर्युक्त आयोग के अनुसार ३५ वस्तुओं पर लगाए गये उत्पादन शुल्क से उपलब्ध शुद्ध धनराशि का २० प्रतिशत राज्यों को उपलब्ध होता है। इस राशि का १०·६८ प्रतिशत उत्तर प्रदेश को मिलता है। कुछ ऐसे कर भी हैं जो केन्द्र सरकार द्वारा लगाये तथा इकट्ठा किये जाते हैं परन्तु उनकी उपलब्धि राज्यों में वितरित कर दी जाती है। इसका एक उदाहरण कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर लगाया हुआ सम्पदा-कर है। उत्तर प्रदेश को इस राशि का १७·१० प्रतिशत दिया जाता है।

संविधान के अनुच्छेद २७५ (१) के अनुसार केन्द्र द्वारा राज्यों को आर्थिक सहायता के निमित्त अनुदान भी दिया जाता है। यह अनुदान राज्यों की संभावित आय तथा आवश्यक व्यय को ध्यान में रखकर दिया जाता है। उपर्युक्त आयोग ने १९६२ से चार वर्ष पर्यन्त दो करोड़ रुपया प्रति वर्ष अनुदान के रूप में उत्तर प्रदेश के लिए निर्धारित किया है।

इस संदर्भ में एक बात बतानी उचित मालूम पड़ती है। वह यह है कि हमारे संविधान में स्थानीय निकायों के लिए आय के साधनों की अलग से कोई सूची नहीं दी गई है। स्थानीय निकाय प्रदेश की सूची में दिये गये हैं। अतएव प्रदेशों ने अपने आय के कुछ साधनों को म्यूनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, पंचायत इत्यादि स्थानीय निकायों को समर्पण कर दिया है। इनमें से प्रमुख चुंगी, भूमि तथा मकानों पर कर, पथ-कर, तथा जानवरों और नौकाओं पर कर हैं। उत्तर प्रदेश सरकार ने भी इस प्रकार के आय के साधनों को स्थानीय निकायों को सौंप दिया है।

आय के पूर्वोक्त साधनों के अतिरिक्त प्रदेशों को कुछ आय प्रशासकीय कार्यों द्वारा भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त उनको कुछ आय अपनी सम्पत्ति तथा अपने उद्योग-धन्धों से भी प्राप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश सरकार को कुछ आय वनों, नहरों तथा राजकीय परिवहन द्वारा उपलब्ध होती है।

यदि किसी अवधि विशेष में राज्य का व्यय उसकी आय से कम पड़ जाय तो उसको ऋण लेने का भी अधिकार है। यह ऋण केन्द्रीय सरकार से लिया जा सकता है तथा खुले बाजार से भी प्राप्त किया जा सकता है।

१९५०-५१ से भारत में पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश के विकास का कार्य सम्पादित हो रहा है। केन्द्रीय पंचवर्षीय योजनाओं के अतिरिक्त राज्यों की अपनी-अपनी पंचवर्षीय योजनाएं भी हैं। दो योजनाएं पूर्ण हो गई हैं और तीसरी अपने चौथे वर्ष में चल रही हैं। इन प्रादेशिक योजनाओं के सम्पादन के हेतु केन्द्रीय सरकार से विशेष अनुदान तथा ऋण प्राप्त होता है। उत्तर प्रदेश सरकार को भी अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के संदर्भ में केन्द्रीय सरकार से इस प्रकार की सहायता प्राप्त हुई है।

अब हम उत्तर प्रदेश की राजस्व व्यवस्था की व्याख्या विस्तार रूप में करेंगे और यह भी जानने का प्रयत्न करेंगे कि इस व्यवस्था से प्रदेश के आर्थिक विकास में क्या सहायता मिली है।

प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना के समय १९३७-३८ में उत्तर प्रदेश (जो उस समय संयुक्त प्रान्त कहा जाता था) का कुल राजस्व लगभग १२ करोड़ ३३ लाख रुपया था जो कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक १९४७-४८ के बजट के अनुसार लगभग ३८ करोड़ ७४ लाख रुपया हो गया था। १९५०-५१ में जब कि प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई यह आय लगभग ५१ करोड़ ८९ लाख रुपया थी। जहां तक राज्य के व्यय का सम्बन्ध है १९३७-३८ में इसकी मात्रा लगभग १२ करोड़ ३३ लाख, १९४७-४८ में ३८ करोड़ ७३ लाख तथा १९५०-५१ में ५१ करोड़ ८४ लाख रुपया थी।

आगे दी गई तालिकाओं में उत्तर प्रदेश राज्य के आय तथा व्यय का लेखा-जोखा १९५०-५१ से वर्तमान वित्तीय वर्ष १९६४–६५ तक अधिक विस्तार से दिया जा रहा है। हमने इस अवधि में इन दो वर्षों के अतिरिक्त १९५५–५६ तथा १९६०–६१ के आंकड़े भी दिये हैं। १९५५–५६ में प्रथम पंच-वर्षीय योजना समाप्त हुई थी तथा १९६०–६१ म द्वितीय पंच-वर्षीय योजना काल पूरा हुआ था। तृतीय पंच वर्षीय योजना १९६५–६६ में पूर्ण होगी। वित्तीय-बजट और पूंजी-बजट अलग-अलग दिये गये हैं।

वित्तीय बजट*

आय (लाख रुपये)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६४-६५ (बजट अनुमान)
करों द्वारा	३५,४५	५४,९१	८७,१९	१,१०,५२
प्रशासकीय	अप्राप्त	६,९५	१४,७५	११,७४
सार्वजनिक उद्योग-धन्धों द्वारा	७,१९	६,१०	८,०९	१२,६३
विविध छोटी-छोटी मदों द्वारा	३,८९	८,२५	१०,४१	२०,४९
अनुदान तथा सहायता द्वारा	अप्राप्त	२,८२	१४,७८	३४,६३
कुल वित्तीय आय	५१,८९	७९,०३	१,३५,१४	१,९०,०१

व्यय (लाख रुपये)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६४-६५ (बजट अनुमान)
विकास कार्यों के निमित्त	२२,१०	४०,२३	६१,३१	१,१०,१९
अन्य कार्यों के निमित्त	२९,७४	३८,८०	६९,७९	९१,४१
कुल वित्तीय व्यय	५१,८४	७९,०३	१,३०,१२	२,०१,६०

पूँजी-बजट

(लाख रुपये)

उपलब्धियाँ

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६४-६५ (बजट अनुमान)
ऋणों द्वारा / धरोहर इत्यादि द्वारा	१०,५४	४४,०६	६५,८४	१,४४,२४
वितरण				
विकास कार्यों के लिए	९,०५	३०,००	२५,०३	५०,४३
अन्य कार्यों के लिए	६१	१६,८१	३३,५६	८२,१०
कुल	९,६६	४६,८१	५८,५९	१,३२,५३

इन तालिकाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् विशेषरूप में पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ से उत्तर प्रदेश की सरकारी आय तथा व्यय की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। वित्तीय आय में १९६०-६१ में १९५०-५१ की तुलना में १६० प्रतिशत वृद्धि हुई है। इस अवधि में करों द्वारा प्राप्त आय में १४६ प्रतिशत वृद्धि हुई है। १९६०-६१ की तुलना में १९६४-६५ में अनुमित आय में ४१ प्रतिशत वृद्धि होने की आशा है, जिसमें २७ प्रतिशत वृद्धि करों द्वारा होगी ।

इसी प्रकार वित्तीय व्यय में भी १९५०-५१ की तुलना में १९६०-६१ में १५३ प्रतिशत वृद्धि हुई है तथा १९६०-६१ की तुलना में १९६४-६५ में ५४ प्रतिशत वृद्धि अनुमित है ।

पूंजी-बजट के हिसाब में १९५०-५१ की तुलना में १९६०-६१ में ५२५ प्रतिशत अधिक उपलब्धि हुई तथा

*इस लेख में दिये गये आंकड़े उत्त र प्रदेश के बजटों, अर्थ तथा संख्या विभाग के बुलेटिनों तथा रिजर्व बैंक की वार्षिक रिपोर्टों और मासिक बुलेटिनों से संकलित किये गये हैं ।

१९६०-६१ की तुलना में १९६४-६५ में ११९ प्रतिशत वृद्धि की आशा है। पूंजी-बजट द्वारा वितरण की राशि में १९५०-५१ की तुलना में १९६०-६१ में ५०७ प्रतिशत वृद्धि हुई है तथा १९६०-६१ की तुलना में १९६४-६५ में १२६ प्रतिशत वृद्धि अनुमित है।

इन आंकड़ों के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि यह सभी वृद्धि वास्तविक वृद्धि नहीं है। इस वृद्धि का एक बड़ा भाग मूल्य वृद्धि के परिणाम स्वरूप है। वास्तविक वृद्धि को ज्ञात करने के लिए हमको मूल्यजनित स्फीति को हटाना पड़ेगा।

राजस्व-व्यवस्था का आर्थिक परिस्थिति से गहरा सम्बन्ध है। यदि कोई सरकार राज्य के आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप करना चाहती है तो इस कार्य के लिए उसका प्रमुख साधन उसका बजट अथवा उसकी राजस्व व्यवस्था तथा नीति है। लगभग दो शताब्दी पूर्व की एक विचारधारा के अनुसार राज्य को देश की आर्थिक क्रियाओं में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। अतएव सरकार का बजट भी बहुत छोटी धनराशि का होना चाहिए। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि देशों में इसी विचारधारा के अन्तर्गत आर्थिक विकास सम्पन्न हुआ। परन्तु आधुनिक काल में इस विचार-धारा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया है। अब यह माना जाने लगा है कि किसी भी देश की आर्थिक प्रगति के संदर्भ में सरकार की सहायता, सहयोग तथा हस्तक्षेप की अत्यन्त आवश्यकता होती है। विशेषकर जो देश आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए हैं उनके विकास में वेग लाने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्नों पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता है। रूस में १९१८ की क्रांति के पश्चात् जो आर्थिक विकास हुआ है उसका श्रेय राज्य द्वारा नियोजित तथा सम्पादित अर्थव्यवस्था को है।

यह आवश्यक नहीं है कि सभी अविकसित अथवा अल्पविकसित देश आर्थिक प्रगति के लिए रूस का ही पूर्णरूप में अनुकरण करें। रूस की अर्थव्यवस्था में कुछ बातें ऐसी हैं जो सर्वमान्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए वहां व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं है अथवा नाममात्र की है। परन्तु उसकी व्यवस्था का योजना सम्बन्धी भाग बहुत महत्त्व का है। भारत ने अपनी अर्थ-व्यवस्था में कुछ भाग रूस की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था से और कुछ भाग अमेरिका की स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था से लेकर एक मिश्रित अर्थव्यवस्था को अंगीकार किया है। इस मिश्रित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं। सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार द्रुतगति से हो रहा है।

भारत की अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र को इतना महत्त्व देने का कारण यह है कि गत अनेक शताब्दियों में विदेशी शासन के कारण यहां विशेष आर्थिक प्रगति नहीं होने पाई। अतएव यह देश विकसित देशों की तुलना में बहुत पिछड़ गया है। इस पिछड़ेपन को शीघ्रता से दूर करने के लिए राज्य के सहयोग की आवश्यकता है और इस सहयोग के लिए एक अनुकूल राजस्व-व्यवस्था अनिवार्य है।

उत्तर प्रदेश भारत का एक प्रमुख प्रांत है। १९६१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार इसका क्षेत्रफल ११३,६५४ वर्गमील है तथा इस वर्ष इसकी जनसंख्या ७,३७,४६,४०१ थी। क्षेत्रफल के हिसाब से भारत के प्रदेशों में उत्तर प्रदेश का चौथा स्थान है परन्तु जनसंख्या के हिसाब से इसका पहला स्थान है। इसकी जनसंख्या का औसत घनत्व ६४९ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। गत १९५१-६१ के दशक में जनसंख्या में वृद्धि की दर १६·६६ प्रतिशत अर्थात् १·६७ प्रतिशत प्रतिवर्ष रही।

यह एक दुःख का विषय है कि उत्तर प्रदेश की गणना भारत के पिछड़े हुए प्रदेशों में की जाती है। इसका आर्थिक विकास भी देश के औसत आर्थिक विकास से कम मात्रा में हो रहा है। लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग द्वारा किये गये एक शोधकार्य के अनुसार १९५०-५१ के उत्पादन को आधार (१००) मान कर १९६०-६१ में उत्तर प्रदेश में उत्पादन का सूचनांक १२०·६ था जब कि उत्तर प्रदेश को छोड़कर शेष भारत का सूचनांक १४४·१ था। इसी प्रकार इन्हीं वर्षों में प्रति व्यक्ति आय का सूचनांक उत्तर प्रदेश में १०३·५ था जबकि शेष भारत का सूचनांक ११८·७ था।

शिक्षा में भी उत्तर प्रदेश बहुत पिछड़ा हुआ है। १९६१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार यहां प्रति १,००० व्यक्तियों में केवल १७६ व्यक्ति ही शिक्षित थे जब कि केरल में यह संख्या ४६८ थी। महिलाओं की शिक्षा में तो यह प्रदेश और भी अधिक पिछड़ा हुआ है।

प्रदेश का मुख्य धन्धा कृषि है। सन् १९६१-६२ में लगभग ५ करोड़ ३० लाख एकड़ क्षेत्रफल में खेती हुई जिसमें से लगभग ४ करोड़ ९२ लाख एकड़ भूमि खाद्य-फसल तथा ३८ लाख एकड़ भूमि खाद्येतर-फसल के उपयोग में लाई गई। खाद्यान्न ४ करोड़ ५४ लाख एकड़ भूमि में उत्पन्न किया गया।

कृषि की दशा भी गिरी हुई है। प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। इसका प्रधान कारण सिंचाई के साधनों की

कमी है। १९६०-६१ में लगभग १ करोड़ ३० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई हुई। इसके अतिरिक्त खेती करने के ढंग भी बहुत पुराने हैं और बीज, खाद, पशु, औजार इत्यादि का समुचित प्रबन्ध नहीं है। फलस्वरूप प्रदेश में खाद्यान्न अपर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है और बाहर से मंगवाना पड़ता है। गत तीन वर्षों में खाद्यान्नों की उपज घट गई है। १९६०-६१ में यह १ करोड़ ४२ लाख टन थी जोकि १९६४-६५ में १ करोड़ १६ लाख टन रह गई।

कोई भी देश अथवा प्रदेश केवल कृषि द्वारा ही सम्पन्न नहीं हो सकता है। आर्थिक विकास के लिए उद्योग-धन्धों की वृद्धि नितान्त आवश्यक है। उद्योग-धन्धों में उत्तर प्रदेश का पिछड़ापन निम्नलिखित सारणी से प्रकट होता है:

उत्तर प्रदेश की आय विविध स्रोतों से

(करोड़ रुपये)

	१९५०-५१	१९६०-६१
(१) कृषि, पशुपालन तथा अन्य तत्सम्बन्धी कार्यों द्वारा—		
(अ) प्रचलित मूल्यों के आधार पर	९१०	१,०४०
(ब) १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर	८७०	१,१००
(२) खनन, विनिर्माण तथा लघु उद्योग-धंधों द्वारा—		
(अ) प्रचलित मूल्यों के आधार पर	२२०	२४०
(ब) १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर	२३०	२४०
(३) व्यापार, यातायात तथा संचार क्रियाओं द्वारा—		
(अ) प्रचलित मूल्यों के आधार पर	२५०	३१०
(ब) १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर	२६०	३१०
(४) अन्य सेवाओं द्वारा—		
(अ) प्रचलित मूल्यों के आधार पर	२५०	३३०
(ब) १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर	२७०	३२०
(५) कुल उत्पादन—		
(अ) प्रचलित मूल्यों के आधार पर	१,६३०	१९२०
(ब) १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर	१,६३०	१९७०

उपर्युक्त तालिका से दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि उत्तर प्रदेश में कुल उत्पादन का केवल १३ प्रतिशत भाग बड़े तथा लघु उद्योग-धन्धों से उपलब्ध होता है। दूसरी यह कि १९५०-५१ से १९६०-६१ की दस वर्ष की अवधि में इसमें वृद्धि नहीं हुई है।

यदि हम उत्तर प्रदेश के निवासियों के जीवन-निर्वाह के ढांचे का अध्ययन करें तो उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहां की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग कृषि पर निर्भर है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश की १९५१ की जनगणना की रिपोर्ट से निम्नलिखित आंकड़े उद्धृत किये जाते हैं:

जीवन-निर्वाह का आधार	**कुल जनसंख्या का प्रतिशत**
कृषि उत्पादन	७४·१८
कृषि-इतर उत्पादन	८·३९
व्यापार	५·०३
परिवहन	
अन्य	११·०४
	१००·००

यह एक मानी हुई बात है कि आर्थिक समृद्धि के लिए कृषि, उद्योग-धंधे तथा अन्य सेवाओं का सन्तुलित रूप में विकास करना आवश्यक है। केवल कृषि पर बल देने से आर्थिक प्रगति में वेग नहीं लाया जा सकता है। अनेक कारणों

से जिसमें विदेशी शासन तथा लोगों की उदासीनता प्रमुख हैं, उत्तर प्रदेश औद्योगिक प्रदेश नहीं बनने पाया है। कुछ उद्योग-धंधे अवश्य हैं जिनमें वस्त्र-उद्योग तथा चीनी उद्योग (जो मौसमी उद्योग हैं) बड़े पैमाने पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु अधिकांश उद्योग-धंधे छोटे पैमाने पर काम कर रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रदेश में न तो कृषि की ही समुन्नत दशा है और न औद्योगीकरण ही विकसित अवस्था में है। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि प्रदेश की आय तथा प्रति-व्यक्ति आय बहुत ही निम्न स्तर पर है और जनसाधारण का रहन-सहन का स्तर बहुत हीन दशा में है।

ऐसी बात नहीं है कि प्रदेश नैसर्गिक दृष्टिकोण से असमृद्ध है। जो भूभाग हिमालय पर्वत से संलग्न हैं उनमें प्राकृतिक सौंदर्य भरा पड़ा है। यदि इन स्थानों पर यातायात का समुचित प्रबन्ध हो जाय तथा इनको आधुनिक साज-सज्जा से संवार दिया जाय तो यह क्षेत्र पर्यटकों के लिए आकर्षक बनाया जा सकता है और स्विट्जरलैंड की तरह समृद्ध हो सकता है। इसी प्रकार प्रदेश का जो भाग वनाच्छादित है वहां तत्सम्बन्धी उद्योग-धंधे स्थापित किये जा सकते हैं।

गंगा-यमुना का मैदान कृषि के लिए बहुत उत्तम है। इस क्षेत्र में अनेक बारहमासी नदियां बहती हैं जिनसे नहरें निकाल कर सिंचाई की जा सकती है। मैदान की मिट्टी भी उपजाऊ है।

शक्ति-साधनों के लिए यहां अनेक जलप्रपात हैं जिनसे सस्ती जलविद्युच्छक्ति उपलब्ध की जा सकती है।

खनिज पदार्थों में यह प्रदेश धनी नहीं है। भूवैज्ञानिक इस विषय में अन्वेषण कर रहे हैं। हो सकता है कि भू-गर्भ में छिपा तेल, कोयला इत्यादि खनिज पदार्थ उपलब्ध हो जाय। वैसे चूना तथा सीमेंट बनाने के खनिज पदार्थ प्रचुरता से पाये जाते हैं। मिर्जापुर जिले में पत्थर की खानें पाई गई हैं और नैनीताल जिले में जिप्सम उपलब्ध है।

जन-शक्ति की प्रदेश में प्रचुरता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि जनसंख्या के दृष्टिकोण से भारत में इसका स्थान प्रथम है।

इन सभी साधनों के होते हुए भी प्रदेश में अत्यधिक गरीबी है। इसका यही कारण है कि इन साधनों का पूर्ण रूप में उपयोग नहीं हो रहा है। श्रम की कार्यकुलशता भी बहुत कम है। गरीबी के कारण बचत की मात्रा भी कम है अतएव पूंजी के संचय की दर भी कम है।

उपर्युक्त आर्थिक वातावरण में प्रदेश की सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह आर्थिक विकास में वेग लाने के लिए प्रयत्नशील हो और सक्रिय सहयोग द्वारा प्रदेश को सम्पन्न बनाये। इस कार्य के सम्पादन के लिए सरकार को वितीय साधनों की आवश्यकता होती है। सरकार की आय का मुख्य स्रोत कर होता है। संविधान के अनुसार उत्तर प्रदेश को अनेक प्रकार के कर लगाने का अधिकार प्राप्त है और राज्य में विविध प्रकार के कर लगाए भी गये हैं। परन्तु इन करों से पर्याप्त आय नहीं होती है। कुछ करों में अपवंचन बड़ी मात्रा में होता है। उदाहरण के लिए, बिक्री-कर प्रदेश का एक प्रमुख कर है। परन्तु अनेक करदाता नाना प्रकार से कर-वंचना करने में सफल हो जाते हैं जिससे राज्यकोष को करोड़ों रुपयों की क्षति हो गई है। अन्य करों की उपलब्धि में भी कर-वंचना से सरकार की आय में कमी आ जाती है। यह एक प्रशासकीय प्रश्न है। परन्तु इतना निश्चयात्मक रूप में कहा जा सकता है कि यदि सरकार अपनी कर-पद्धति का कुशलतापूर्वक संचालन तथा इसे कार्यान्वित कर सके तो वर्तमान करों द्वारा ही उसकी आय में बहुत कुछ वृद्धि हो सकती है।

करों द्वारा प्रदेश के सरकार की आय दो प्रकार से बढ़ाई जा सकती है: (१) वर्तमान करों की दरों में वृद्धि करके, और (२) नये कर लगा करके। जहां तक वर्तमान करों का प्रश्न है उस सम्बन्ध में कृषि के क्षेत्र में वृद्धि की सम्भावना है। भूमि का लगान उत्तर प्रदेश की सरकार की आय का एक प्रधान मद है। जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् आंकड़ों से इस मद की आय में बहुत वृद्धि प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए १९५०-५१ में लगान से ७ करोड़ ७२ लाख रुपये की आय थी और १९६२–६३ में यह २५ करोड़ १३ लाख हो गई। परन्तु हम को यह बात भी ध्यान में रखनी है कि सरकार को एक बहुत बड़ी रकम मुआवजे के रूप में जमींदारों को भी देनी है। इस प्रकार संशोधन करने पर लगान द्वारा शुद्ध आय काफी कम हो जायेगी।

कृषि-भूमि पर लगान की दर ४०-५० वर्षों में बदली जाती है। इधर कुछ वर्षों से कृषिजन्य पदार्थों के मूल्यों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है और इनके उत्पादकों की आय में भी वृद्धि हुई है। परन्तु लगान की दर पूर्ववत् ही है। यह ठीक है कि छोटे किसानों की आय में अधिक वृद्धि नहीं हुई है। परन्तु बड़े किसानों की आय में अवश्य ही वृद्धि हुई है। इस वृद्धि का कुछ भाग सरकार को भी मिलना चाहिए। कुछ समय पूर्व लगान की दर में २५ प्रतिशत वृद्धि करने की बात चली थी परन्तु सम्भवतः कुछ राजनैतिक कारणों से इस प्रस्ताव को छोड़ दिया गया है। यदि सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप में वर्द्धमान कर प्रणाली द्वारा लगान में वृद्धि की जाय तो लगानदाताओं पर विशेष भार डाले बिना इस मद द्वारा पर्याप्त मात्रा में सरकार की आय बढ़ाई जा सकती है।

इसी प्रकार से जिस कृषि भूमि के उत्पादन तथा मूल्य में सरकार के तत्सम्बन्धी व्यय द्वारा वृद्धि हुई है उस पर भी सरकार 'समुन्नति' कर लगा कर अपनी आय में वृद्धि कर सकती है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने कृषि-आयकर भी लगाया हुआ है। ज्ञातव्य है कि कृषि जन्य आय पर केन्द्रीय आय-कर नहीं है। १९६२-६३ में उत्तर प्रदेश को इस मद से केवल २८ लाख रुपये की आय हुई और १९६४-६५ के बजट में इससे ४९ लाख रुपये की आय अनुमित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कर न ठीक ढंग से लगाया गया है और न ठीक ढंग से इसका मूल्यांकन अथवा वसूली ही होती है। इस सम्बन्ध में एक सुझाव यह है कि कृषिजन्य आय पर भी केन्द्रीय आय कर लागू हो और वसूली इत्यादि का खर्च काट कर शेष रकम केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार को उपलब्ध करा दे। इससे इस मद से राज्य सरकार की आय के बढ़ने की आशा है।

साधारण तौर पर अब कोई ऐसा नया कर ध्यान में नहीं आता है जिससे अधिक मात्रा में आय हो सके। वर्तमान करों में ही समय-समय पर आवश्यकतानुसार कुछ हद तक वृद्धि की जा सकती है।

केन्द्रीय सरकार से जो सहायता अनुदानों के रूप में उत्तर प्रदेश सरकार को मिलती है, उसमें वृद्धि करने की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश न केवल एक घना बसा हुआ प्रदेश है अपितु यह बहुत पिछड़ा हुआ भी है। आशा करनी चाहिए कि चौथा वित्तीय कमीशन जो आजकल इस विषय में सर्वेक्षण कर रहा है, इन सब बातों को दृष्टि में रखकर उत्तर प्रदेश के भाग में वृद्धि की सिफारिश करेगा।

करों द्वारा तथा अन्य साधनों द्वारा सरकार को जो आय होती है उसके व्यय द्वारा ही आर्थिक विकास का कार्य किया जा सकता है। स्वतन्त्रता से पूर्व विकास सम्बन्धी कार्यों में सरकार का व्यय सीमित मात्रा में ही होता था। उदाहरण के लिए १९३६-३७ में कुल व्यय का केवल २५ प्रतिशत विकास सम्बन्धी मदों पर खर्च होता था। १९५०-५१ में यह लगभग ४२ प्रतिशत हो गया। वर्तमान वित्तीय वर्ष, १९६४-६५, में यह लगभग ५४ प्रतिशत अनुमित है।

यद्यपि योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत १९५०-५१ से वर्ष प्रति वर्ष विकास-व्यय में उत्तर प्रदेश की सरकार का व्यय निरपेक्ष तथा सापेक्ष रूप में बढ़ रहा है तथापि वास्तविक उपलब्धि उस मात्रा में नहीं हो पा रही है। इसका सारगर्भित प्रमाण यही है कि स्थिर मूल्यों में जब कि १९५०-५१ में प्रति व्यक्ति आय लगभग २६० रु० प्रति वर्ष थी। दस वर्ष बाद १९६०–६१ में २६९ रु० के लगभग हो सकी, अर्थात् एक रुपया प्रति वर्ष से भी कम बढ़ी।

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सरकार की व्यय नीति से कोई लाभ नहीं हुआ। कुछ विकासात्मक कार्यों में वांछनीय वृद्धि हुई है। इनमें से एक प्रमुख विद्युत् शक्ति का क्षेत्र है। १९५०-५१ में इसकी क्षमता १२२ मेगावाट थी जो कि १९६०-६१ में २३७ मेगावाट और १९६२-६३ में ५६८ मेगावाट हो गई। अर्थात् इस क्षेत्र में लगभग ३६६ प्रतिशत वृद्धि हुई। इसी प्रकार सिंचाई के क्षेत्र में भी जब कि १९५०–५१ में ७७ लाख एकड़ की क्षमता थी वह १९६०–६१ में ११८·२ लाख एकड़ हो गई। अर्थात् इसमें ५३ प्रतिशत वृद्धि हुई। परिवहन के सम्बन्ध में पक्की सड़कें जो १९५०–५१ में १०,०५१ मील थीं, १९६२-६३ में १५,०९६ मील हो गईं। यह वृद्धि लगभग ५० प्रतिशत है।

शिक्षा के क्षेत्र में साक्षरता १९६१ में जनसंख्या की १७·६ हो गई थी जबकि १९५१ में वह केवल १३·७ ही थी। प्रारम्भिक बुनियादी शिक्षा के लिए १९५०-५१ में ३१,९७९ पाठशालाएं थीं तथा १९६०-६१ में इनकी संख्या ३८,६६८ हो गई थी और इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या इसी अवधि में २७ लाख से बढ़कर ४१ लाख हो गई थी। माध्यमिक तथा स्नातक-शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ वृद्धि हुई है। तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में स्नातक-शिक्षा के सम्बन्ध में १९५५-५६ में केवल एक संस्था थी, १९६२-६३ में इसकी संख्या ६ हो गई और प्रतिवर्ष भर्ती किये जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या इसी अवधि में १६० से बढ़कर ५८८ हो गई। स्नातकोत्तर डिप्लोमा देने वाले तकनीकी संस्थानों की संख्या इसी अवधि में ७ से बढ़कर २५ हो गई और प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या ४३० से बढ़कर २,९१९ हो गई।

स्वास्थ्य तथा चिकित्सा के क्षेत्र में निम्नलिखित तालिका से विकास का अनुमान किया जा सकता है :

	१९५५-५६	१९६२-६३
मेडिकल कालेजों में प्रतिवर्ष दाखिल होने वालों की संख्या	३२५	५५०
डाक्टरों की संख्या	६,७००	८,६८७
नर्सों की संख्या	१,६२४	२,९३२
अस्पताल तथा डिस्पैंसरी की संख्या	१,७१८	२,०३१
शय्याओं की संख्या	१६,४९७	२०,०८६

औद्योगीकरण के क्षेत्र में राज्य सरकार ने चुर्क में एक सीमेंट का कारखाना खोला है जो १९५४ से उत्पादन करने लगा है। इसकी क्षमता १९६३ में दुगुनी कर दी गई है। सार्वजनिक क्षेत्र में लखनऊ में एक सूक्ष्म यंत्रों के

निर्माण का कारखाना खोला गया है जिसकी क्षमता १९५८-५९ में दुगुनी कर दी गई है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार ने निजी क्षेत्र में भी औद्योगिक विकास के लिए ऋण देने की व्यवस्था की है। सहकारी क्षेत्र में चीनी के उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए भी ऋण के रूप में सहायता देने की व्यवस्था है। ग्रामीण तथा कुटीर उद्योगों के विकास पर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

सरकार की भवन-निर्माण योजना भी है। इसके अन्तर्गत कारखानों के मजदूरों के लिए निवासस्थान के लिए मिल मालिकों को आर्थिक सहायता दी जाती है। इसके अतिरिक्त कम आय वाले व्यक्तियों को भवन-निर्माण के लिए कम ब्याज पर ऋण दिया जाता है, जिसका भुगतान छोटी-छोटी किस्तों द्वारा दीर्घकाल में किया जा सकता है।

विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन तथा शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि की वृद्धि के अतिरिक्त राज्य सरकार कुछ कल्याणकारी योजनाओं में भी व्यय करती है। इनमें प्रमुख पिछड़ी हुई जातियों के उत्थान के लिए, हरिजनों के कल्याण के लिए योजनाएं हैं। श्रम-कल्याण, माता तथा शिशु कल्याण की योजनाएं भी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर प्रदेश की सरकार अपनी राजस्व नीति तथा राजस्व व्यवस्था द्वारा प्रदेश के आर्थिक तथा सामाजिक स्तर को ऊंचा करने में प्रयत्नशील तो अवश्य है। परन्तु दुःख इस बात का है कि करोड़ों रुपया व्यय करने पर भी यह प्रदेश अपने पिछड़ेपन से छुटकारा नहीं पा सका है। कृषि का उत्पादन अभी भी बहुत कम है। भारी उद्योग-धन्धों की बहुत कमी है। प्रदेश में अभी तक केवल १८ प्रतिशत जनता साक्षर है। महिलाओं की साक्षरता तो ७ प्रतिशत ही है। जनता रोग व्याधियों से ग्रस्ति है और उसकी चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका है। और तो और अनेक स्थानों में पीने योग्य जल तक का प्रबन्ध नहीं है। प्रदेश में बेकारी की समस्या भी उग्ररूप में है।

इस प्रकार की परिस्थिति में राज्य सरकार को विशेष सतर्कता और लगन के साथ राजस्व व्यवस्था का संचालन करना चाहिए। केवल योजनाओं के निर्माण से ही विकास नहीं हो जाता है। योजनाओं को समुचित रूप में कार्यान्वित करना अधिक आवश्यक है। यह एक दुर्भाग्य की बात है कि राज्य की आय का एक बड़ा भाग प्रशासकीय व्यय में ही समाप्त हो जाता है। यद्यपि प्रशासकीय कर्मचारियों की आवश्यकता होती है परन्तु यह व्यय विकासशील नहीं होता है। अतएव इसमें कम से कम रकम लगानी चाहिए। परन्तु हमारी शासन-पद्धति कुछ इस प्रकार की बन गई है कि जिसमें आदेश देने वाले तथा जांच करने वाले अधिकारियों की प्रचुरता है और इन पर सापेक्षिक रूप में अधिक व्यय हो जाता है और वास्तविक स्तर पर उत्पादन तथा सेवाओं के क्षेत्र में वृद्धि करने के लिए अपर्याप्त धन रह जाता है। कहने का आशय यह है कि प्रशासकीय व्यय तथा उसके द्वारा उपार्जित वास्तविक उपलब्धियों में सामंजस्य होना चाहिए।

बहुधा यह देखा गया है कि राज्य के अनेक विभागों में अपव्यय भी बहुत होता है। इससे न केवल करदाताओं पर अधिक भार पड़ता है अपितु सड़क, पुल इत्यादि अनेक निर्माण के कार्य निम्नस्तर पर सम्पन्न होते हैं। यह एक गम्भीर समस्या है। जिन अधिकारियों को व्यय करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है, उनका कर्त्तव्य है कि इस विधि से व्यय करें जिससे कम से कम मूल्य पर अधिक से अधिक उपलब्धि हो सके। अपव्यय तथा भ्रष्टाचार का अन्त होना चाहिए।

प्रदेश के उत्थान तथा विकास के लिए सरकार तथा जनता दोनों के सहयोग की आवश्यकता है। सरकार स्वयमेव अधिक नहीं कर सकती यदि जनता उसके कार्य में सक्रिय रुचि न ले। ऐसी भावना कि विकास का सारा काम सरकार के जिम्मे है, एक घातक भावना है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्र महत्त्वपूर्ण हैं। आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक है कि ये दोनों क्षेत्र कन्धे से कन्धा मिला कर लगन के साथ अपने सीमित साधनों का सदुपयोग करें तथा प्रदेश को उत्तरोत्तर समृद्ध बनावें।
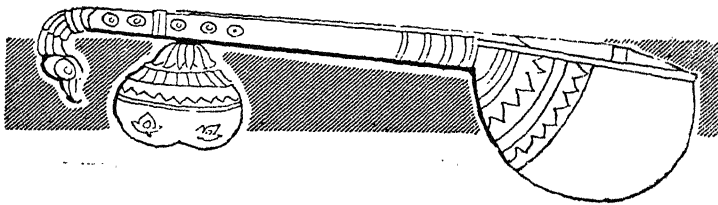
उत्तर प्रदेश में सहकारिता

डॉ० ओमप्रकाश गुप्ता, बी० एस-सी०, पी० एच० डी०
अवकाश-प्राप्त डीन, वाणिज्य संकाय एवं प्रोफेसर वाणिज्य विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय।

परिभाषा—व्यापक रूप से सहकारिता शब्द का अर्थ मिलकर कार्य करने या संयुक्त क्रियाओं से होता है। किन्तु आज के युग में सहकारिता का अर्थ एक विशेष प्रकार के व्यापारिक संगठन के रूप में लगाया जाता है। श्री सी० आर० फे (C R.Fay) के अनुसार सहकारी समिति एक ऐसा संगठन है जिसका निर्माण निःस्वार्थ भावना से संयुक्त व्यापार के लिए किया जाता है। जो व्यक्ति इसके सदस्य बनकर कार्य करते हैं वे इसके लाभ में उसी अनुपात में हिस्सा बंटाते हैं जिस अनुपात में वे संगठन का उपयोग करते हैं। सर होरेस प्लंकेट (Sir Horace Plunkett) के अनुसार सहकारिता स्वयं की मदद करना है एवं इसको संगठन द्वारा प्रभावी बनाया जाता है। सच तो यह है कि सहकारिता जीवन का एक मार्ग है जिसके द्वारा व्यक्ति पारस्परिक मदद की भावना से, जनतन्त्रात्मक रूप से उन वस्तुओं एवं आवश्यक सेवाओं के निकटतम पहुंचने के लिये संगठित होते हैं जिनकी उनको आवश्यकता होती है और इस प्रकार सहकारिता के द्वारा मानव स्वभाव की आन्तरिक विशेषताओं का विकास भी होता है।

उत्तर प्रदेश में सहकारी आन्दोलन—भारतवर्ष में सहकारी आन्दोलन सरकारी नीति के रूप में सन् १९०४ से प्रारम्भ हुआ। उत्तर प्रदेश में भी इस आन्दोलन का श्रीगणेश इसी वर्ष से हुआ। आरम्भ में आन्दोलन का उद्देश्य ग्रामीण जनता को सस्ते ब्याज तथा अन्य सुविधाजनक शर्तों पर ऋण प्रदान करना था। सन् १९०९ में अखिल भारतीय रजिस्ट्रार सभा में, १९०४ के ऐक्ट की बहुत सी कमियों को दूर करने की सिफारिश की गई। इस प्रकार सन् १९१२ में दूसरा सहकारी अधिनियम पास किया गया। सन् १९१९ में मेकलागन समिति ने इस बात का सुझाव दिया कि सहकारिता के कार्यक्रम प्रान्तों (राज्यों) द्वारा किये जाने चाहिएं। सन् १९२५ में उत्तर प्रदेश की सरकार ने ऑकडन कमेटी की नियुक्ति की, जिसकी सिफारिशों पर इस संचलन के बहुत से दोषों को दूर किया गया। सन् १९२८-२९ में ऑकडन कमेटी की सिफारिश पर "यू० पी० कोआपरेटिव यूनियन" की स्थापना की गई। १९४२-४३ तक इस आन्दोलन की प्रगति अधिकतर उधार अथवा साख के क्षेत्र में ही रही। सन् १९४२-४३ में दो शिखर (Apex) की संस्थाओं को स्थापित किया गया।

(अ) प्रादेशिक कोआपरेटिव फेडरेशन, और
(ब) प्रोविन्शियल कोआपरेटिव यूनियन।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात्—स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से सहकारी आन्दोलन को एक नये रूप से संगठित किये जाने का प्रयत्न किया जाने लगा। १९४७ में ही डा० के० एन० काटजू की अध्यक्षता में 'न्यू कोआपरेटिव डेवलपमेंट प्रोग्राम' बनाया गया जिससे प्रदेश की विभिन्न संस्थाओं से सहकारी आन्दोलन का समन्वय जोड़ दिया गया। सन् १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई। इस योजना में साख समितियों के अतिरिक्त और क्षेत्रों में भी सहकारी सिद्धांतों को लागू करने पर ध्यान दिया गया। पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्षों में अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण की निर्देशन कमेटी की सिफारिशें, प्रकाश में आईं। इस कमेटी ने सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए अनेक सुझाव दिए। उनमें से एक प्रमुख सुझाव यह था कि ऋण वितरण के लिये गांवों में बड़े आकार की समितियां स्थापित की जायें। ये सुझाव स्वीकार किए गये और उनके फलस्वरूप द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में क्षेत्रीय सहकारी (ऋण) समितियों का निर्माण आरम्भ हुआ। १९५९ में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन की सिफारिशों के फलस्वरुप साधन

सहकारी समितियों का निर्माण आरम्भ हुआ। तब से सहकारी आन्दोलन ने विशेष प्रगति की है, जैसा कि निम्नलिखित आंकड़ों से प्रतीत होता है :

	विषय	क्रमिक स्थिति	
		३० जून, १९५९	३० जून, १९६३
१.	सभी प्रकार की समितियों में व्यक्ति सदस्यों की संख्या	३२ लाख	५४·८० लाख
२.	सभी प्रकार की समितियों की हिस्सा पूंजी	१५ करोड़ रु.	२९·८४ करोड़ रु०
३.	सभी प्रकार की समितियों की जमा अमानतें	१५ ,, ,,	३९·९० ,, ,,
४.	,, ,, ,, ,, की निजी पूंजी	२० ,, ,,	४०·९० ,, ,,
५.	,, ,, ,, ,, ,, कारोबारी पूंजी	६६ ,, ,,	१६२·५० ,, ,,
६.	,, ,, ,, ,, का वार्षिक लाभ	२ ,, ,,	४.३१ ,, ,,

इस समय उत्तर प्रदेश में सहकारी आन्दोलन ने विभिन्न क्षेत्रों में पदार्पण किया है। सहकारी साख समितियां ऋण देने का कार्य आन्दोलन के जन्मकाल से ही करती आ रही हैं। साख वितरण के लिए ग्राम स्तर पर प्राथमिक साख समितियां, बहुधन्धी समितियां, साधन सहकारी समितियां तथा बड़े आकार की क्षेत्रीय ऋण समितियां कार्य करती हैं। जिला स्तर पर जिला एवं केन्द्रीय सहकारी बैंक, एवं प्रदेश स्तर पर "यू० पी० कोआपरेटिव बैंक" साख देने का कार्य करता है तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने के लिए 'यू० पी० कोआपरेटिव डेवलपमेंट बैंक' हैं।

शहरों में ऋण वितरण के हेतु प्रायः सरकारी एवं अर्ध-सरकारी संस्थाओं में संगठित सहकारी समितियां कार्य कर रही हैं। ३० जून, १९६३ को १,०९२ अकृषक सहकारी समितियां नगरों में कार्य कर रही थीं।

इन सहकारी संस्थाओं ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक २४·७२ करोड़ रु० के अल्प एवं मध्यकालीन ऋण तथा ०·०१ करोड़ रु० के दीर्घकालीन ऋण प्रदान किए। और ऐसा अनुमान किया जाता है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में ८० करोड़ रु० के अल्पकालीन ऋण, १० करोड़ रु० के मध्यकालीन ऋण तथा १० करोड़ रु० के दीर्घकालीन ऋण प्रदान किये जायेंगे, जो सहकारी आन्दोलन की उन्नति में महत्त्वपूर्ण हैं।

सहकारी विपणन—साख के अतिरिक्त सहकारी क्रय-विक्रय (विपणन) समितियां एवं भंडार का उचित आयोजन किया गया है। सहकारी क्रय-विक्रय का उद्देश्य कृषकों की फसल को अच्छे मूल्य पर बेचना तथा मध्यस्थों से होने वाली हानि को बचाना है। उत्तर प्रदेश में सहकारी क्रय विक्रय समितियों का संगठन १९५६-५७ से प्रारम्भ हुआ। उस समय से इन समितियों की प्रगति सन्तोषजनक रही है। ३० जून, १९६३ को इन समितियों की संख्या २०८ थी और इनके द्वारा गत वर्ष में १२·९१ करोड़ रु० का व्यापार किया गया। ये समितियां अखिल भारतीय ग्रामीण सर्वेक्षण साख समिति की सिफारिशों का पूर्ण पालन कर रही हैं। सन् १९६३ तक १९·०४ करोड़ रुपये का ऋण प्राइमरी समितियों द्वारा वितरित किया गया। इसमें से ३·९४ करोड़ रुपया क्रय-विक्रय समितियों द्वारा वसूल किया गया जो कि कुल दिये गए ऋण का २१% है। उत्तर प्रदेश में इन विक्रय समितियों की शिखर संस्था 'प्रादेशिक सहकारी संघ' है, जिसका मुख्य उद्देश्य क्रय-विक्रय समितियों तथा जिला सहकारी संघों का पथ-प्रदर्शन करना और उन्हें हर दृष्टिकोण से सुदृढ़ बनाने में सहायता देना तथा राज्य स्तर पर विक्रय संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करना है। वर्ष १९६२-६३ के आरम्भ में १,६०० सहकारी बीज भण्डार थे। वर्ष १९६२-६३ में इन बीज भण्डारों ने ६·७९ लाख क्विंटल रबी तथा १·१७ लाख क्विंटल खरीफ का बीज वितरित किया। इसके अतिरिक्त ८०० कृषि यंत्रों का विक्रय हुआ। ८६० क्विंटल खली तथा २,००० क्विंटल हरी खाद का वितरण किया गया। मार्च, १९५८ में उत्तर प्रदेश संग्रहागार निगम (वेयरहाउसिंग कारपोरेशन) की स्थापना की गई और अगस्त में कार्य आरम्भ हुआ। द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में ३७ संग्रह गोदाम खोले गये थे। तीसरी पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य ३३ नए संग्रह गोदाम खोलने का है।

अन्य लाभ—इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में सहकारी संस्थाएं किसान वर्ग को कृषि सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएं—जैसे उन्नतिशील बीज, कृषि-यंत्र उर्वरक आदि उपलब्ध कराने का कार्य पिछले काफी समय से करती चली आ रही हैं।

सहकारी बीज भंडारों की विशेष उन्नति हुई है। सहकारी बीज भंडार के कार्यक्षेत्रों में पन्द्रह से बीस तक प्रारम्भिक समितियां सम्मिलित हैं और उनके क्षेत्रीय संघ स्वयं ही उनको प्रजातान्त्रिक ढंग से चलाते हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल के लिए एक संशोधित योजना चलाई गई है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक सहकारी बीज भंडार को अपने स्टाक का २०-२५ प्रतिशत भाग कृषि विभाग द्वारा निर्मित खंड-बीज-सहायक संस्थाओं से, नया बीज नकद दाम पर खरीद कर, प्रति वर्ष बदलने की व्यवस्था है। १९६२-६३ में १,६०१ बीज भंडार थे।

सहकारी खेती—कृषि के क्षेत्र में भी सहकारी सिद्धांतों को लागू करने की पूर्ण चेष्टा की गई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारी खेती प्रारम्भ की गई। १९६०-६१ के अन्त में सहकारी खेती समितियों की संख्या ३८७ थी और इनके सदस्यों की संख्या ८,४०० थी। इन समितियों के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल लगभग ८३,००० एकड़ था। तृतीय पंचवर्षीय योजना में निजलिंगप्पा कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सहकारी खेती का वृहत् कार्यक्रम अपनाया गया है। चुने हुए विकास क्षेत्रों में ४५ सहकारी खेती अग्रगामी योजनाएं चलाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है और प्रत्येक अग्रगामी योजना में कम से कम १० सहकारी खेती समितियों का संगठन किया जायगा। इस समय उत्तर प्रदेश में ९०३ सहकारी खेती समितियां हैं और उनके सदस्यों की संख्या १५,००० से ऊपर है। सहकारी खेती समितियों को राज्य सरकार द्वारा विशेष सुविधाएं उपलब्ध हैं और आर्थिक सहायता दी जाती है।

सहकारी उपभोक्ता भंडार—उत्तर प्रदेश में सहकारिता ने उपभोग के क्षेत्र में भी प्रगति की है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ काल में उत्तर प्रदेश में कुल ६ केन्द्रीय उपभोक्ता भंडार तथा ४८० प्राथमिक उपभोक्ता भंडार थे। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सहकारी उपभोक्ता भंडारों की योजना शहरी, देहाती एवं औद्योगिक श्रमिकों के क्षेत्रों में अलग-अलग बनाई गई है। १९६२-६३ एवं १९६३-६४ के लिये भारत सरकार ने केवल २७ इकाइयों के लिये आर्थिक सहायता दी है। अतः यह योजना वर्तमान समय में प्रदेश के केवल २७ शहरों में लागू की जा रही है। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक शहर में एक थोक भंडार तथा २० प्राथमिक भंडार या शाखायें स्थापित की जानी हैं। थोक भंडार विशेषतः थोक व्यापार करेगा तथा अपने से सम्बद्ध प्राथमिक भंडारों या शाखाओं के माध्यम से उपभोक्ताओं के लिए दैनिक आवश्यकताओं की उपभोक्ता सामग्रियों की पूर्ति करेगा। ग्रामों में उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण के लिए कोई अलग से सहकारी उपभोक्ता समितियां नहीं संगठित की जाती हैं। वरन् वितरण का कार्य वर्तमान क्रय-विक्रय समितियों, क्षेत्रीय विकास संघों, साधन तथा बहुधन्धी एवं अन्य ग्राम स्तरीय ऋण समितियों द्वारा करने की व्यवस्था है। औद्योगिक श्रमिकों के लिये ऐसी इकाइयां, जिनमें ३०० से अधिक श्रमिक काम करते हैं, प्राथमिक भंडारों के संगठन का आयोजन है।

सहकारी दुग्ध वितरण—सहकारिता के आधार पर दुग्ध वितरण का प्रयास भी उत्तर प्रदेश में किया गया है। इस प्रदेश में पहला सहकारी दुग्ध संघ लखनऊ में १९३८ में बिना किसी शासकीय सहायता के संगठित किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष में इस प्रदेश में ७ दुग्ध वितरण सहकारी संघ थे। योजना आयोग ने यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि दुग्ध वितरण की योजनाएं सहकारिता के आधार पर संगठित की जायें। अतएव तीसरी योजना काल में ४ नगरों में दुग्ध वितरण की व्यवस्था करने का लक्ष्य रखा गया है। इन संघों को प्रोत्साहन देने के हेतु 'प्रादेशिक सहकारी डेयरी फेडरेशन' की स्थापना १९६२ में दुग्ध संघों की शीर्ष संस्था के रूप में की गई है और यह आशा है कि यह संघ दुग्ध योजनाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योग देगा।

अन्य क्षेत्रों में सहकारी सिद्धान्त—उत्तर प्रदेश में अन्य क्षेत्रों में भी सहकारी सिद्धान्तों के अपनाने की योजनाएं लागू की गई हैं। इनका ज्वलन्त उदाहरण भूमि बसाने की सहकारी समितियां हैं। भूतपूर्व सैनिकों, विस्थापित व्यक्तियों, राजनीतिक पीड़ितों, कृषि स्नातकों तथा भूमिहीन व्यक्तियों को बसाने के उद्देश्य से राज्य में उपनिवेशीकरण की योजना १९४८ ई० में कार्यान्वित की गई थी। विभिन्न उपनिवेशों में बसाई जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल १,१८,५५१ एकड़ है जिसमें से ९०,३४९ एकड़ भूमि को कृषियोग्य बना लिया गया है। इसके अतिरिक्त तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सहकारी श्रम समितियों के संगठन की योजना का प्रादुर्भाव भी हुआ है और १५० श्रम संविदा समितियों के संगठन का लक्ष्य है। योजना के प्रथम दो वर्षों में ही यह लक्ष्य पूरा किया जा चुका है और ५० समितियों को अनुदान भी दिया जा चुका है। यहां तक कि रिक्शा चालकों की सहकारी समितियां भी स्थापित की जाने की योजना है। तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में ८ सहकारी समितियों के संगठन का लक्ष्य और इसके लिए शासकीय वित्तीय सहायता की व्यवस्था भी है।

सहकारी आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ उत्तर प्रदेश में सहकारी शिक्षा, प्रशिक्षण एवं प्रचार की ओर भी अत्यधिक ध्यान दिया गया है। गैर-सरकारी सहकारी शिक्षा योजना इस प्रदेश में उत्तर प्रदेश कोआपरेटिव यूनियन

द्वारा संचालित की जा रही हैं। प्रशिक्षण के लिए सरकारी कर्मचारी और सहकारी संस्थाओं के कर्मचारियों के लिए व्यवस्था की गई है। सहकारी आन्दोलन के प्रचार के लिए सभी साधनों का उपयोग किया जाता रहा है। गोष्ठी, सभा सम्मेलन तथा प्रदर्शनियां आदि आयोजित की गई हैं। किन्तु इतना सब होते हुए भी सहकारी आन्दोलन में स्वतः प्रवृत्ति का अभाव है। साथ ही साथ अवैतनिक कर्मचारियों का भी अभाव है। कुछ समितियों में गबन भी हुआ है। और इस प्रकार से सहकारी आन्दोलन उत्तर प्रदेश में अभी तक प्रजातान्त्रिक राज्य लाने की स्थिति में नहीं पहुंचा है।
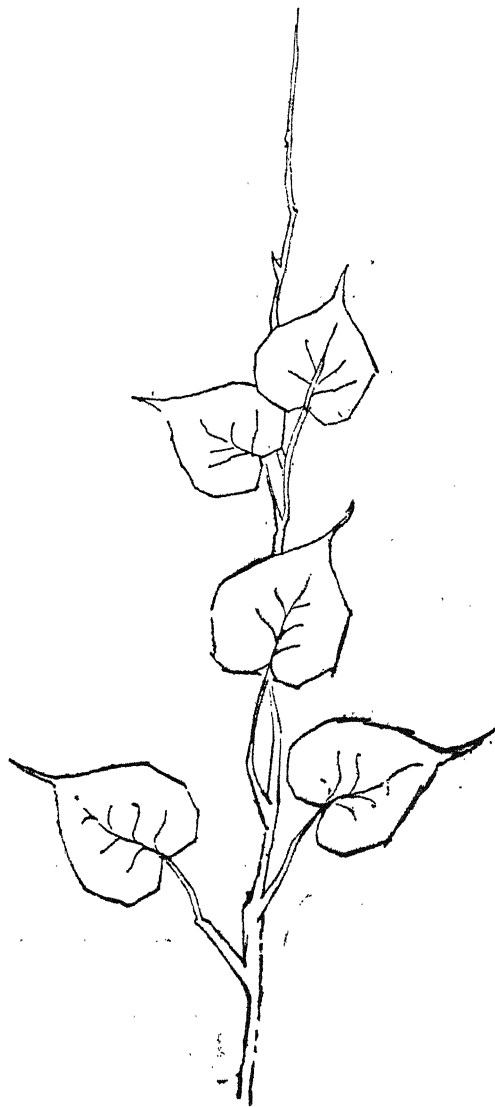
उत्तर प्रदेश में भूमि-पुनर्व्यवस्था

डॉ० जी० आर० मदन, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, समाज शास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

भूमि की पुनर्व्यवस्था सम्बन्धी समस्या का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से किया गया था। प्रथम दृष्टिकोण के अन्तर्गत भूमि से सम्बन्धित विभिन्न कारण थे, मुख्यतः सामाजिक अन्याय और शोषण। द्वितीय कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित दृष्टिकोण था। प्रथम विषय भूमि-पुनर्व्यवस्था के अन्तर्गत और द्वितीय भूमि-प्रबन्ध से। हम इन दोनों विषयों की, एक के बाद दूसरे की विवेचना करेंगे।

भूमि से सम्बन्धित साधारणतः मध्यस्थ, अधिक भूमि के मालिक, थोड़ी अथवा उससे अधिक भूमि के मालिक, स्वतः इच्छा से काम करने वाले आसामी और बिना भूमि के काम करने वाले मजदूर आदि होते हैं। भूमि पुनर्व्यवस्था का मुख्य ध्येय किसानों की सामाजिक असमानता एवं शोषण को समाप्त करना एवं उनको जहां तक सम्भव हो सके उस भूमि पर अधिकार प्रदान करना है। उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु निम्नलिखित प्रयत्न किए गए हैं—(१) मध्यस्थ व्यक्तियों का निराकरण, (२) आसामियों की अवस्था में सुधार, (३) भूमि-अधिकार पर नियंत्रण, (४) बिना भूमि के किसानों की पुनर्व्यवस्था, (५) भूमि सम्बन्धी सुधारों का प्रबन्ध। उत्तर प्रदेश में हुए प्रयत्नों का निम्नलिखित वर्णन है।

१. **मध्यस्थ-व्यक्तियों का निराकरण**—उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमि-सुधार ऐक्ट (१९५०) के अन्तर्गत बड़े आसामियों ने राज्य से सीधा सम्पर्क किया। इन बड़े आसामियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया, प्रथम व्यावसायिक आसामी और द्वितीय जो व्यावसायिक आसामी नहीं थे। व्यावसायिक आसामियों का उस भूमि पर जिस पर वे खेती करते थे १२ साल से, उस पर उनका अधिकार बिना हरजाना दिए ही हो गया। जबकि वे आसामी जो कि व्यवसायिक नहीं थे उनको हरजाना देकर उस भूमि पर अधिकार मिला जिस पर वे खेती करते थे। इस प्रकार अन्त में केवल 'सीरदारी अधिकार' ही रह गया। उनका भूमि पर अधिकार तो होना था परन्तु वे अपनी भूमि को न बेच सकते थे न ही हस्तांतरित कर सकते थे जब तक कि उन्हें 'भूमिदारी अधिकार' न प्राप्त हो जाय। अस्तु, 'सीरदारी अधिकार' 'भूमिदारी अधिकार' से निम्न कोटि का है। इन सीरदारियों को दस बार किराया देना होता है या बारह बार का चार बराबर किश्तों में प्रत्येक छः माह के पश्चात् देना होता है। धन की कमी के कारण बहुत-से आसामी इस अधिकार को प्राप्त नहीं कर पाए। यह पता लगाया गया है कि केवल एक-तिहाई ही आसामी भूमिदारी अधिकार प्राप्त कर पाए हैं। उन लोगों को जिन लोगों ने गांव के महाजनों से धन लिया है उन्हें ब्याज की ऊंची दर भुगतान करनी पड़ी। यह अच्छा रहेगा कि यदि इस उद्देश्य के लिए सरकार कम ब्याज की दर में रुपया प्रदान करे और सरल किस्तों में वसूल करे जैसा कि मध्य प्रदेश में हुआ है।

जमींदारी उन्मूलन ऐक्ट में तीन प्रकार के आसामी निर्धारित किए गए हैं—भूमिदार, सीरदार और आसामी। इस ऐक्ट के १५६ भाग में निर्धारित किया गया है कि अयोग्य-व्यक्ति, जैसे कि विधवा, अविवाहित, अपरिपक्व व्यक्ति, पागल या मानसिक रूप से असन्तुलित व्यक्तियों को छोड़कर भूमिदार, सीरदार एवं आसामी अपनी भूमि को किसी और को काश्तकारी के लिए नहीं दे सकते। लेकिन बहुत से योग्य शरीर वाले भूमिदार और सीरदार अपनी भूमि को साझेदारी के आधार पर दे देते हैं। डा० रावत ने अपने राज्य में कुछ गांवों का क्षेत्रीय अध्ययन किया जिससे पता चला कि भूमिदार एवं सीरदारों को यद्यपि अधिकार नहीं है कि वे हिस्सा देकर फसल तैयार करें परन्तु २०·७ प्रतिशत भूमि रखने वाले परिवारों ने अपनी भूमि हिस्सों में खेती करने के हेतु अन्य आसामियों को दे दी साझीदारी का बहाना कर के।[1] इतना

१. रावत, पी० एल०—दि फ्यूचर एग्रेरियन पैटर्न एण्ड पॉलिसी इन इण्डिया।

ही नहीं कुछ आसामी भूमि अपने अधिकार में रखकर कृषक-मजदूरों से खेती करवाते हैं। प्रो० बलजीत सिंह ने अपने सर्वेक्षण के आधार पर बताया, "साधारणतः यह अन्दाज लगाया गया है कि दो-तिहाई भूमि ही काश्तकारों के द्वारा जोती जाती है जो उनके मालिक हैं। बाकी एक-तिहाई भूमि उन आसामियों के पास है जो कि हिस्सेदार के आधार पर अथवा स्थायी मजदूरों को रख कर कृषि करवाते हैं। अस्तु, इससे उन किसानों का बोध होता है जोकि अपने व्यक्तिगत परिश्रम से कृषि नहीं करते हैं और उनके पास 'अतिरिक्त भूमि' है।[1] कुछ ऐसे भी भूमि-मालिक हैं जो कि न तो स्वयं कृषि करते हैं और न ही किन्हीं दूसरे काश्तकारों को करने के लिए देते हैं, इस डर से कहीं उन काश्तकारों का उनकी भूमि पर स्थायी स्वामित्व न हो जाए। ऐसे प्रायः वे व्यक्ति होते हैं जोकि गांव में अधिक प्रभावशाली नहीं होते हैं और अपनी जीविका शहर में अर्जित करते हैं। इससे उत्पादन में कमी आ गई है। ऐसे मामलों का कानून के द्वारा समाधान करना चाहिए जिनसे कि भूमि-मालिक को कोई लाभ नहीं है।

२. आसामियों की परिस्थिति का सुधार—जैसा कि ऊपर जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार ऐक्ट १९५० में बताया गया है कि ज्यादातर आसामियों को स्थायी अधिकार उनके द्वारा जोती जाने वाली भूमि पर दे दिया गया है। यद्यपि इस ऐक्ट के अन्तर्गत पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने पर भी आसामियों ने बहुत अधिक मात्रा में बेदखली कर दी और स्वतः भूमि त्याग दी। मेरे सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ, इसका मुख्य कारण वैधानिक सुधार सम्बन्धी ज्ञान की कमी, मुकदमेबाजी का डर, जमींदार के विरोध का भय, भूमि सम्बन्धी सरकारी कागजों में उनका नाम न होने का भय और 'भूमिदारी अधिकार' को प्राप्त करने के लिए धन की कमी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निश्चित किया गया कि आसामियों की बेदखली पर रोक लगाई जाएगी, केवल उनको छोड़ कर जो भूमि का किराया नहीं देते हैं अथवा भूमि का दुरुपयोग करते हैं। उचित परिस्थितियां होने पर बेदखल किए गए आसामियों और स्वतः त्यागने वाले आसामियों को पुनः भूमि प्रदान की जाय। स्वतः भूमि त्यागने वाले आसामियों को हतोत्साहित करने के लिए यह निश्चित किया गया कि भविष्य में स्वतः भूमि त्यागने वालों को मालगुजारी सम्बन्धी अधिकारियों से अपना नाम रजिस्टर्ड कराना होगा।[2] परन्तु अपने राज्य में इससे सम्बन्धित कोई कार्य नहीं किया गया।

३. भूमि अधिकार पर प्रतिबन्ध—भूमि अधिकार पर दो प्रकार की रोक लगी। प्रथम भविष्य से सम्बन्धित और द्वितीय वर्तमान से सम्बन्धित। भविष्य में कोई भी भूमिदार अपनी भूमि को दूसरे व्यक्ति के हाथ हस्तांतरित नहीं कर सकता, जब तक कि उसके पास ३० एकड़ से अधिक भूमि न हो। ऐसा ऐक्ट के १५४ भाग में वर्णित किया गया है। वर्तमान भूमि-अधिकार से सम्बन्धित एक ऐक्ट जिसका नाम उत्तर प्रदेश भूमि अधिकार पर प्रतिबन्ध सम्बन्धी ऐक्ट १९६० बनाया गया, जिसमें यह निर्धारित किया गया कि कोई व्यक्ति अधिकतम भूमि ४० एकड़ रख सकता है। प्रो० बलजीत सिंह ने इस सीमा का विरोध किया है, उनके अनुसार १५ एकड़ भूमि ही प्रति व्यक्ति के पास होनी चाहिए। इस विचार से सहमति रखने वालों ने यह भी कहा कि भूमि मालिक अपनी भूमि साझीदारी पर न दें और न ही उसके हिस्से करके दूसरों से कृषि करवाएं। साथ ही भूमिविहीन कृषकों को भूमि दी जाय ताकि उनका सामाजिक स्तर ऊपर उठे और उत्पादन भी प्रति एकड़ अधिक हो। उन्होंने यह भी बताया कि उत्तर प्रदेश कृषि-क्षेत्र प्रबन्ध सर्वेक्षण १९५४-५५ से पता लगा कि पांच एकड़ से कम भूमि रखने वालों की आय प्रति एकड़ १२० रु० है और ७·५ एकड़ रखने वालों की प्रति एकड़ आय १३२ रु० है। साथ ही १० और १५ एकड़ के बीच की भूमि रखने वालों की प्रति एकड़ आय ९९ रु० है और २० एकड़ भूमि रखने वालों की आय १०८ रु० प्रति एकड़ है। अस्तु, अधिकतम प्रति एकड़ आय ५ से १० एकड़ की भूमि तक है। अस्तु, प्रत्येक परिवार के लिए अधिकतम भूमि इतनी होनी चाहिए। यह प्रश्न अत्यधिक विवादग्रस्त है, साथ ही सामाजिक-न्याय से सम्बन्धित है। यदि ग्रामीण-क्षेत्रों में आय निम्न स्तर पर निर्धारित की जाती है तो शहर में भी आय पर वैसा ही प्रतिबन्ध होना चाहिए।

४. पुनर्व्यवस्था से सम्बंधित योजना—भूमि की पुनर्व्यवस्था में आसामियों, हिस्सेदार कृषक, कृषक-मजदूर आदि को प्रथम स्थान देना चाहिए। उन्हें जिस भूमि पर कृषि कर रहे हैं अधिकार प्रदान करना चाहिए। द्वितीय स्थान उनको देना चाहिए जो कि भूमि-विहीन मजदूर हैं और अनार्थिक भूमि रखते हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में सहकारी-कृषि छोटे और टुकड़ों में भूमि रखने वालों की समस्या के समाधान हेतु अति उत्तम रहेगी परन्तु यह सहकारी खेत ३० एकड़ भूमि से कम न हों।

५. भूमि सुधार सम्बंधी सरकारी व्यवस्था—आसामियों के भूमि अधिकार सम्बन्धी सुधार के दो पहलू हैं। प्रथम, निश्चित लगान की दर निर्धारित करना जिससे कि ठीक-ठीक लिखा-पढ़ी रह सके और विभिन्न ऐक्ट जैसे भूमि-अधिकार

---

१. सिंह, बी० नेक्स्ट स्टैप इन विलेज इण्डिया (१९६१), पृ० ३३। २. सैकिंड फाइव-ईयर प्लान, पृ० १८५।

पर प्रतिबन्ध और भूमि के पुनर्वितरण आदि का उचित उपयोग हो सके। इसके लिए भूमि का ब्यौरा रखने वाले अधिकारियों को भूमि की ठीक-ठीक लिखा-पढ़ी रखनी चाहिए, वे आसामी जो कि गलत ढंग से भूमि से वेदखल कर दिए गए हैं, उनकी लिखा-पढ़ी, अनुचित रूप से भूमि हस्तांतरित करने वालों पर रोक, विभिन्न प्रकार के अधिकारों की प्राप्ति के लिए उचित हरजाना, प्रतिबन्ध पर नियन्त्रण, भूमि-प्रतिबन्ध से प्राप्त भूमि का पुनः वितरण एवं भूदान से प्राप्त भूमि आदि की लिखा-पढ़ी उचित प्रकार से रखना आदि महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। प्लानिंग कमीशन के अनुसार यह कार्य ग्राम पंचायत को मालगुजारी सम्बन्धी अधिकारियों की सहायता से करना चाहिए। लेकिन मेरे सर्वेक्षण से विदित हुआ कि ग्राम पंचायत भूमि सुधार में उतनी रुचि नहीं ले रही है जितनी कि लेनी चाहिए। इस कार्य के हेतु एक विशेष-अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए जो कि विशेष कमेटी की सहायता से, जैसा कि जापान और फिलीपाइन में हुआ है, पुनः सब गांव की भूमि की लिखा-पढ़ी की जांच करनी चाहिए और उचित व्यक्ति को उचित भूमि पर अधिकार प्रदान करने का सरकारी विधान के अनुसार प्रबंध करना चाहिए। जापान में इस कमेटी में पांच आसामियों के प्रतिनिधि, दो कृषि-क्षेत्र के मालिक और तीन भूमि-अधिकारी जो कि उसी गांव के हों, होते हैं। एक कमीशन राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित किया जाता है।

६. **वैधानिक भूमि प्रबंध**—इसमें कोई शक नहीं है कि भूमि पुनर्व्यवस्था कृषि का महत्त्वपूर्ण अंग है परन्तु कृषि-व्यवस्था की उन्नति के लिए निम्नलिखित प्रोग्राम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—(१) अनार्थिक एवं छोटे टुकड़ों से होने वाली हानि को दूर करना, (२) भूमि-प्रबन्ध में अयोग्यता को दूर करना, (३) ऋण, बिक्री, मूल्यों का निर्धारण आदि का प्रबन्ध आदि कार्यक्रम उत्पादन की मात्रा को दिनोंदिन बढ़ा सकते हैं।

छोटे खेतों के एकीकरण का कार्यक्रम जो कि इस राज्य में १९५४ में चलाया गया था, उसका प्रचार अत्यधिक हो रहा है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में ५४ लाख एकड़ भूमि का एकीकरण किया गया और १९६३ के दिसम्बर के अन्त तक ११४ एकड़ भूमि का। यह आशा की जाती है कि पांचवीं पंचवर्षीय योजना के मध्य तक ४.१६ करोड़ एकड़ भूमि का एकीकरण हो जायगा। यह कार्यक्रम भूमि-प्रतिबन्ध के बाद ठीक रहेगा जब बची हुई भूमि का एक जगह एकीकरण कर लिया जायगा। ज्यादातर लोग २·५ एकड़ भूमि रखते हैं। उनमें ८०% लोगों ने सहकारी कृषि व्यवस्था को अपनाया। तृतीय पंचवर्षीय योजना में प्रत्येक जिला में १० अग्रगामी योजना सहकारी कृषि समितियों को प्रारम्भ किया गया। इसके अलावा व्यक्तिगत सहकारी समितियां भी स्थापित की गईं। ऐसी समितियों की सहायता हेतु भी व्यवस्था है। इन अग्रगामी सहकारी समितियों को एवं अन्य व्यक्तिगत सहकारी समितियों को दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन सरकारी ऋण देने की भी व्यवस्था की गई। यह ऋण ४०० रु० से ५०० रु० तक गोदाम एवं पशु-बाड़ा आदि बनाने के लिए प्रदान किया जाता है। यह रुपया अब १,२०० तक तीन से पांच साल तक के लिए दिया जाता है। इसके अतर्गत यह देखा गया है कि इसमें छोटे खेतों को ही मिलाया जाता है ताकि बड़े खेतों के मालिक इसके सदस्य बन कर अपनी भूमि सुरक्षित न कर सकें।

कृषि-उत्पादन की उन्नति के हेतु किसानों को समस्त वैज्ञानिक साधनों को जो कि सम्भव हो सकें प्रयोग करना चाहिए। साथ ही भूमि की रक्षा के लिए भूमि को समतल, बांध लगाना एवं उसे नष्ट होने से बचाना चाहिए। उत्तम कोटि के बीजों का प्रयोग, अच्छी खादों का प्रयोग, पानी का आर्थिक प्रयोग, अच्छे प्रकार के कृषि यन्त्रों का प्रयोग, फसलों का उचित हेर-फेर आदि का समुचित प्रयोग करना चाहिए। ऐसा कमेटी आफ पेनल आन लैंड रिफार्म ने निर्धारित किया है। योजना-आयुक्त ने राज्यों को अधिकार दिया है कि वे इससे सम्बन्धित नियम बना कर ग्राम पंचायतों के द्वारा उपर्युक्त कार्य करवाएं। लेकिन अभी तक राज्य के द्वारा कोई ऐसा विधान नहीं बना है।

साधनों के क्रय-हेतु उचित-ऋण की व्यवस्था अनिवार्य है। यह प्रबन्ध तीसरी पंचवर्षीय योजना में सहकारी समितियों के द्वारा किया गया। जब तक ऐसी समितियों की पुनर्व्यवस्था नहीं की जाती जिन्होंने एक बार कर्जा लेकर वापस नहीं किया है तब तक इस क्षेत्र में उचित व्यवस्था सम्भव नहीं है।

कुछ दिन पूर्व ही राष्ट्रीय-विकास सभा ने नवम्बर, १९६३ को बताया कि १५ वर्ष स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हो जाने के बाद भी अभी तक भूमि-सुधार पूर्ण रूप से हमारे देश में बहुत से कारणों के परिणामस्वरूप नहीं हो पाया है। यह आशा की जाती है कि उपर्युक्त दिए गए सुझावों से कुछ समय बाद ही हमारे उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकेगी।

उत्तर प्रदेश में
तीसरी पंचवर्षीय योजना की उपलब्धियां

श्री राममूर्ति,
सामुदायिक विकास मंत्री, उत्तर प्रदेश ।

आजादी के बाद जनता के जीवन को बेहतर और सुखमय बनाने के लिए योजना बनाकर विकास करना सरकार ने अपना पहला कर्त्तव्य समझा। इसी कारण पंचवर्षीय योजनायें आरम्भ की गई जिनका लक्ष्य राष्ट्र का बहुमुखी विकास करना था। हमने यह सोचा कि आजादी का एक सच्चा सुख तभी लोगों को मिल सकेगा, जब हमारे गांव तरक्की करें और वे जिन्दगी की सुख-सुविधाओं से भरपूर हों।

इसी उद्देश्य को साकार करने के लिए सामुदायिक विकास योजना चालू की गई जिसने हमारे गांवों में मौन क्रांति ला दी है। सदियों से गुलामी में रहने के बाद गांव की जिन्दगी में नई चेतना और उत्साह पैदा करने में सामुदायिक विकास योजना ने काफी योगदान किया है। विकास के बहुत से काम हुए और खेतीबाड़ी, पशुपालन, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सहकारिता के क्षेत्र में, गांव आगे बढ़े। एक के बाद दूसरी और फिर तीसरी पंचवर्षीय योजना का क्रम रखा गया। इस समय तो हमने चौथी योजना का आरम्भ कर दिया है और उसके माध्यम से बहुत-से ठोस कार्यक्रम संचालित करने के लिए तत्पर हैं। जिन बातों में हमें सफलता नहीं मिली उनमें पूरे जोर शोर से काम करने का इरादा किया गया है। खेती में हमारा प्रमुख लक्ष्य आत्मनिर्भरता प्राप्त करना है, क्योंकि हम चाहते हैं कि दूसरे देशों से आने वाले अनाज के सहारे न रहें।

हालांकि तीसरी योजना के दौरान खेती के काम पर ज्यादा ध्यान दिया गया फिर भी प्रतिकूल कारणों से हमें मनचाही सफलता नहीं मिली। वैसे दूसरे कामों में हम आगे बढ़े हैं और सामुदायिक कार्य के जरिये, तीसरी योजना के पांच सालों में संतोषजनक प्रगति दिखाई दी है। इसलिए इस समय जबकि हम चौथी योजना में प्रवेश कर रहे हैं, यह जरूरी हो जाता है कि हम अपने पिछले कार्यों पर एक नजर डालें और यह देखें कि किन कामों में हम आगे बढ़े और किन कामों में सफलता नहीं मिली। तीसरी योजना के इस सिंहावलोकन से हम अपनी कमियों को दूर करने में सहायक हो सकते हैं और विकास कार्यों को ज्यादा तेजी से चला सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी बड़ी योजना में जहां तारीफ करने वाले होते हैं वहां आलोचक भी। इसलिए इस संगठन में हमने सदैव दोनों का स्वागत किया है। ग्रामों में समस्त जीवन का विकास करने वाली इतनी बड़ी योजना इसके पहले कभी भी चालू नहीं की गई थी। इसके बारे में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "यह योजना भारत के करोड़ों लोगों की जन्मपत्री है जो देश के साधनों को भलीभांति देखकर तैयार की गई है ताकि जनता को आगे बढ़ने का अवसर मिले।" और जनता को आगे बढ़ने का मौका भी मिला। आशा और आनन्द का संचार करने और लोगों में आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना भरने में ताकि देश के सम्मानित नागरिक की हैसियत से रहें हमें काफी सफलता मिली। इसका सबूत हमें चीन द्वारा किए गए बर्बर हमले के समय में मिल गया जबकि आजादी की रक्षा के लिए सारे प्रदेश की जनता एक हुंकार के साथ संगठित हो गई। तेजी से ग्राम सुरक्षा दल बने और सुरक्षा व उत्पादन वृद्धि के काम बड़े जोश से चलाए गए। योजना का सबसे बड़ा शुभ परिणाम इसी चेतना का जन्म होना है जो एकता और भारतीयता की गहरी भावना से भरी हुई है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि लोगों में देश की इज्जत व उसकी आजादी की रक्षा करने का संकल्प पैदा होना सराहनीय सफलता रही है।

जैसाकि मैंने बताया तीसरी योजना के दौरान खेती पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया गया और अधिक अनाज पैदा करने के लिए रबी, खरीफ और जायद अभियान चलाये गए, जिनमें किसानों ने उन्नत बीज, खेती के औजार, खाद, कीटनाशक दवाइयां आदि के इस्तेमाल में बड़ी तत्परता दिखाई। तीसरी योजना के पहले दो सालों में हुई प्रगति की रफ्तार

धीमी रही परन्तु तीसरे और चौथे वर्ष में यह प्रगति बहुत तेज हो गई। हमारे प्रदेश में सामुदायिक विकास के समस्त कार्यों के लिए पूरे पांच वर्षों में ५० करोड़ २१ लाख रुपए की धनराशि रक्खी गई थी। जैसा आप जानते हैं कि सामुदायिक विकास का काम विकास खंडों की मारफत होता है जहां विकास विभागों के कई तकनीकी जानकार और ग्राम सेवक आदि रहते हैं। दूसरी योजना के अन्त तक प्रदेश में ५०६ विकास खंड थे, क्योंकि सारे ग्रामीण क्षेत्र को ८७५ विकास खंडों में बांटा गया था, तीसरी योजना के शुरू के तीन वर्षों में बकाया विकास खंड भी खोले गए। इस तरह सामुदायिक विकास के क्षेत्र में प्रदेश क सारे गांव आ गए हैं। जैसा मैंने पहले बताया कि अनेक क्षेत्रों में प्रदेश आगे बढ़ा है और इस योजना के दौरान बहुत से काम ऐसे हुए हैं जिन पर हम गर्व कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में पंचायती राज की स्थापना एक अहम कार्य समझा जा सकता है जिसके जरिये विकास कार्यों की जिम्मेदारी जिला और गांव स्तर पर जनता के चुने हुए नुमाइन्दों पर सौंपी गई है। हालांकि पंचायती राज के जरिए विकास की जो तस्वीर हमने खींची थी, उसमें कुछ समय लगेगा; फिर भी बहुतेरे प्रमुखों और अध्यक्षों ने लगन के साथ अपनी जिम्मेदारी निभाई है। योजना के संचालन में, उन्हें अपना योगदान देने के लिए तकनीकी जानकारी प्राप्त हो, इसलिए इन प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण केन्द्रों पर शिक्षित भी किया जाता है। इस समय प्रदेश में ३५ पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र इस कार्य को बखूबी निभा रहे हैं। पंचायती राज को सबल बनाने के लिए हम बराबर विचार कर रहे हैं और दूसरे प्रदेशों की व्यवस्था का अध्ययन भी मैंने किया है। अफसरों की टीम के साथ महाराष्ट्र गुजरात, राजस्थान और आंध्र गया था। मुझे इस बात का यकीन है कि गांव के चौतरफा विकास में पंचायतें महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं और यह खुशी की बात है कि बहुत-सी पंचायतों और गांव सभाओं ने इस दिशा में बड़ा अच्छा काम किया है। खेती का काम हो, चाहे पढ़ाई-लिखाई का काम हो या चिकित्सा का काम हो, प्रगति उसी समय मुमकिन है जबकि पूरी गांव सभा इसमें जुटे। तीसरी योजना के दौरान सामुदायिक विकास के सारे संगठन के साथ गांव के निवासियों ने खेती की उपज बढ़ाने, सिंचाई के साधन जुटाने, स्कूल खोलने तथा सहकारी समितियों आदि के काम में साथ-साथ मिलकर काम किया है। इसके फलस्वरूप प्रदेश की कृषि उपज दूसरी योजना के मुकाबले जो वर्ष १९६१-६२ में १३८·३९ लाख टन थी, वह चार वर्ष के बाद यानी वित्तीय वर्ष १९६४-६५ में १४९·८५ लाख टन हो गयी। अर्थात् लगभग १२ लाख टन की बढ़ोत्तरी हुई है। पिछले मार्च के अन्त तक कृषि उत्पादन का लक्ष्य १६९ लाख टन था। परन्तु जाड़ों की बारिश न होने तथा विपरीत मौसम के कारण ऐसा मालूम होता है कि यह लक्ष्य पूरा न हो पाए। फिर भी खेतीबाड़ी के काम में हम आगे बढ़े हैं। काश्तकार अब नए तरीकों को अपनाने में दिलचस्पी लेता है, अच्छी खाद और उर्वरक का महत्त्व जानता है और एक फसल के स्थान पर दो तथा दो के बजाय तीन फसलें पैदा करने का इरादा करता है। तीसरी योजनाकाल में रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल लगभग साढ़े तीन लाख टन अधिक हुआ है। इन पांच वर्षों में कृषि के उन्नत यंत्रों को काफी तादाद में बांटा गया है। लगभग १ लाख ८० हजार कल्टीवेटर तथा ६ लाख २३ हजार सुधरे हुए हल किसानों को दिए गए। जमीन के कटाव को बचाने का काम लगभग ४ लाख एकड़ में किया गया।

कृषि उपज बढ़ाने के काम को एक आन्दोलन के रूप में सचालित किया गया जिसकी काफी तारीफ योजना मूल्यांकन समिति ने की है।

आप जानते हैं कि खेती का आधार सिंचाई है, इसलिए किसानों को समय से पानी दिलाने की ओर हम बराबर सजग रहे हैं। विकास खंडों में अल्प सिंचाई योजना के काम में सन्तोषजनक तरक्की हुई है। योजना के पांच वर्षों में लगभग ४१ करोड़ रुपया सिंचाई के छोटे साधनों पर खर्च हुआ है, जिसके फलस्वरूप लगभग २ लाख कुएं बनाए गए, ७८ हजार पुराने कुंओं की मरम्मत की गई, ९२ हजार कुओं में बोरिंग की गई तथा १ लाख २३ हजार रहट बनाने का काम पूरा हुआ है। इन कामों को पूरा करने के लिए राज्य सरकार ने काफी ऋण और अनुदान भी दिया है।

सामुदायिक योजना के जरिए हमने शिक्षा, चिकित्सा, पशुपालन, सहकारी समितियों की स्थापना, युवक संगठन तथा महिला कार्यक्रम के अनेकानेक कार्य किए। गांव के स्तर पर चौतरफा तरक्की हो इसके लिए सभी विकास विभागों के ताल-मेल में काम करने का तरीका अख्तियार किया जाता है। सामुदायिक विकास में काम करने का एक विशाल क्षेत्र है, क्योंकि हमारा लक्ष्य गांव का बहुमुखी विकास है। अगर हम शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ गए या उचित दवा-दारू का इन्तजाम न हो सका या उपज बेचने और उससे मिली रकम का अच्छा इस्तेमाल करने की आदत न डाली गई तो फिर विकास के, क्या माने? हमें इन सभी बातों पर ध्यान देना है और मुझे यह कहते हुए खुशी है कि पिछले पांच वर्षों में हमने विकास की मंजिल काफी हद तक तय कर ली है। इतनी बड़ी योजना के लिए जिसने प्रदेश के सारे गांवों को अपने आंचल में समेटा है दस बारह वर्षों की अवधि कोई ज्यादा नहीं है। यदि हममें सही रास्ते पर चलने और लगन से काम करने का माद्दा है तो हम अपने गांवों को और तेजी से विकसित करके वहां खुशहाली कायम कर सकते हैं। इसी लगन और निष्ठा की आज जरूरत है। मुझे यकीन है कि आने वाले वर्षों में हम सब देश और प्रदेश की बहुमुखी प्रगति में अपना पूरा-पूरा योगदान देंगे।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास की अर्थव्यवस्था

डॉ० रोशनलाल वार्ष्णेय, एम० काम०, पी-एच० डी०
वाणिज्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

अन्य प्रदेशों की तरह, हमारे प्रदेश में भी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लिये लक्ष्य बनाये जा रहे हैं और उनको प्राप्त करने के लिये साधन उपलब्ध करने के प्रश्न पर विचार हो रहा है। इस लेख में उत्तर प्रदेश में उद्योगों के विकास के लिये साधन जुटाने के कुछ तरीकों पर विचार प्रकट किये गये हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि राज्य सरकार को सरकारी क्षेत्रों के उद्योगों के लिये ७५ से १०० करोड़ रुपयों की आवश्यकता पड़ेगी और निजी क्षेत्र में भारी उद्योग स्थापित करने के लिये लगभग २७० करोड़ रुपयों की आवश्यकता होगी।

सरकारी क्षेत्र के उद्योगों के लिये ७५ से १०० करोड़ रुपये को पूर्णतया कर वृद्धि से उपार्जित करना न तो आवश्यक है और न युक्तिसंगत ही है। इस सीमा तक कर वृद्धि न तो सम्भव है और न ऐसा करना ही चाहिये। इस राशि का अधिकांश ऋणों एवं अल्प बचत से इकट्ठा किया जा सकता है। शेष के लिये कर वृद्धि का सहारा लिया जा सकता है। पहले इस बात पर विचार करना चाहिये कि ऋणों और अल्प बचत से किस सीमा तक धन एकत्र करना सम्भव है।

प्रदेश सरकार द्वारा ऋण लेने की संभावना—अगस्त १९६४ में प्रदेश सरकार ने १० करोड़ रुपये के ऋण पत्र निर्गमित किये। और इस ऋण के ऋण पत्रों की मांग निर्गम के पहले ही दिन निर्गमित राशि से कहीं अधिक थी। कुल मांग १२ करोड़ रुपये के लगभग थी। इससे यह सिद्ध होता है कि विनियोजकों को उत्तर प्रदेश के भावी विकास पर विश्वास है और अगर प्रदेश सरकार चाहे तो ऋणों से १५ करोड़ रुपया चतुर्थ योजना काल में प्रतिवर्ष उपार्जित किया जा सकता है। इस प्रकार चतुर्थ योजना काल में ७५ करोड़ रुपया एकत्र किया जा सकता है। पिछले सालों के अनुभव से भी यही प्रतीत होता है कि उत्तर प्रदेश सरकार को ऋण से रुपया इकट्ठे करने में कभी कठिनाई नहीं हुई। इस राशि का कुछ भाग पुराने ऋणों का भुगतान करने के लिये आवश्यक होगा। चतुर्थ योजना काल में जो ऋण परिपक्व हो रहे हैं उनका योग ३२ करोड़ रुपया है (१९६७ में ८·९४ करोड़+१९६८ में ८·१७ करोड़+१९६९ में ७·५३ करोड़+१९७० में ७·६४ करोड़)। जैसा कि पुराने अनुभव से प्रतीत होता है इन ऋणों का एक भाग परिपक्व होने से पहले चुका दिया जा सकता है। इस प्रकार हमको ऋणों का भुगतान करने के लिये लगभग ३० करोड़ रुपये की आवश्यकता हो सकती है। पुराने ऋणों के भुगतान के बाद इस प्रकार हमको ऋणों से चतुर्थ योजना काल में ४० से ४५ करोड़ रुपये की राशि प्राप्त हो सकती है।

उत्तर प्रदेश बचत पत्र—अल्प बचत द्वारा पर्याप्त रुपया इकट्ठा किया जा सकता है। अल्प बचत की वृद्धि के लिये सात-वर्षीय उत्तर प्रदेश बचत पत्रों को चालू किया जा सकता है। इन पत्रों पर ७½ प्रतिशत चक्रवृद्धि ब्याज परिपक्वता पर मिलना चाहिये। इस प्रकार एक १०० रुपये के पत्र पर परिपक्वता के समय १६२.५० रुपये मिलने चाहिये। यदि १ रु० को ७ साल के ७½ चक्रवृद्धि ब्याज पर लगाया जाय तो अन्त में १.६२४४९६६ प्राप्त होगा। ७½ प्रतिशत ब्याज देना सरकार को कठिन नहीं है। हाल में ही अनुसूचित बैंकों ने अपनी ब्याज की दर बढ़ा दी है—इस समय वे ७ साल के नियत समय के लिये जमा किये रुपये पर ७½ ब्याज दे रहे हैं और ब्याज ६-६ महीने बाद दिया जाता है। यह व्यवस्था उन लोगों के लिए निश्चित रूप से आकर्षक होगी जो अपना रुपया १२ साल की अवधि के लिए नहीं फसाना चाहते, जिस अवधि के लिये राष्ट्रीय बचत पत्र (National Savings Certificates) मिलते हैं और केवल कुछ थोड़े समय

के लिए ही अपना रुपया सावधि जमा खातों में रखना चाहते हैं। इन पत्रों को अधिक आकर्षक बनाने के लिये निक्षेपकों को यह सुविधा रहनी चाहिये कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपना रुपया निश्चित समय के पहले भी निकाल सकें। बस यह सुविधा एक वर्ष से पहले नहीं मिलनी चाहिये। ऐसी अवस्था में निक्षेपकों को जो व्याज मिलना चाहिये, वह उतना ही होना चाहिये जितना वे अपने रुपये को किसी बैंक के सावधि निक्षेप खाते में डाल कर उतनी ही अवधि के लिये प्राप्त कर सकते थे। निम्न तालिका से यह ज्ञात हो सकता है कि एक १०० रु० के पत्र को समय के पहले ही भुनाने पर कितना रुपया मिलेगा और उसको चक्रवृद्धि व्याज कितनी मिलेगी :

अवधि	देय राशि	निक्षेपकों को प्राप्त चक्रवृद्धि व्याज
प्रथम वर्ष के अन्त पर	१०६·००	६ प्रतिशत
द्वितीय वर्ष के अन्त पर	११३·००	६·२५ ,,
तृतीय वर्ष के अन्त पर	१२०·७५	६·५० ,,
चतुर्थ वर्ष के अन्त पर	१२८·७५	६·५० ,,
पंचम वर्ष के अन्त पर	१४०·२५	७ ,,
षष्ठ वर्ष के अन्त पर	१५०·००	७ ,,

इस प्रकार इन पत्रों में सावधि निक्षेप के लाभ के साथ-साथ समय के पहले आवश्यकतानुसार रुपया निकालने की भी सुविधा रहेगी और ये पत्र निक्षेपकों के लिये बहुत ही आकर्षक होंगे। ये पत्र ५ रु०, १० रु०, ५० रु० और १०० रु० की राशियों में निर्गमित किये जा सकते हैं जिससे कि छोटे से छोटे विनियोजक को भी रुपया विनियोग करने के लिये आकर्षित किया जा सके। अगर ये पत्र निर्गमित किये गये तो उत्तर प्रदेश के बाहर के लोग भी ऐसे पत्रों में अपना रुपया विनियोग कर सकते हैं। इन पत्रों को अभिकर्ताओं, डाकघरों, सहकारी समितियों, राजकीय कोषागारों और सेवानियोजकों के द्वारा बेचा जा सकता है। सेवानियोजकों की सहायता लेने से यह लाभ होगा कि वेतन के दिन ही कर्मचारी इन पत्रों को खरीद सकते हैं। कर्मचारियों को जो अधिलाभांश मिलता है वह भी इन्हीं पत्रों के रूप में दिया जा सकता है।

इन पत्रों के निर्गमन से कितना धन उपलब्ध हो सकता है, इसका भी अनुमान किया जा सकता है। अनुसूचित बैंकों के सावधि निक्षेप प्रति वर्ष १२५ से १५० करोड़ रुपये की दर से बढ़ रहे हैं। इस तथ्य को विचार करते हुए कि उत्तर प्रदेश की जनसंख्या पूरे भारत की जनसंख्या का सातवां भाग है, अगर हम उत्तर प्रदेश की सावधि निक्षेपों की वृद्धि को १० करोड़ रुपये प्रति वर्ष मान लें तो यह अनुमान अत्यधिक नहीं होगा। इन पत्रों के निर्गमन से हम इस वृद्धि का आधा भाग तो अवश्य ही प्राप्त कर सकते हैं। इस तरह से हम हर साल ५ करोड़ रुपये पर चतुर्थ योजना के ५ सालों में २५ करोड़ रुपया उपलब्ध कर सकते हैं।

अतिरिक्त कर वृद्धि—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ऋण और उत्तर प्रदेश बचत पत्रों से हम ६५ से ७० करोड़ रुपये तक उपलब्ध कर सकते हैं। शेष साधनों के लिये हमको अतिरिक्त कर वृद्धि की सम्भावना को देखना होगा। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव यहां दिये जा रहे हैं :—

(१) सिनेमा घरों में किये गये विज्ञापनों पर कर—सिनेमा घरों द्वारा विज्ञापनों से प्राप्त शुल्क पर ५ प्रतिशत कर लगा दिया जाय। राजस्थान में ऐसे टैक्स से १९६३-६४ में ४ लाख रुपया प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश में सिनेमाघरों की संख्या अधिक है, इसलिये हमको इस कर द्वारा लगभग १० लाख रुपया प्राप्त हो सकता है।

(२) मोटर ट्रकों द्वारा उपार्जित भाटक पर २ से ३ प्रतिशत अधिकर—मेरा सुझाव यह है कि मोटर ट्रकों को सामान ढोने के आज्ञा पत्र अधिक संख्या में दिये जायें और उनके आवागमन के क्षेत्र पर जो प्रतिबन्ध हैं वे हटा लिये जायें। अगर ऐसा किया जाय तो मोटर ट्रक वालों को यह अधिकार देने में कोई आपत्ति नहीं होगी। गुजरात में ऐसे ३ प्रतिशत अधिकर से प्रतिवर्ष ४० लाख रुपया प्राप्त हुआ। अगर उत्तर

प्रदेश में २ प्रतिशत से भी यह अधिकर लगाया जाय तो लगभग २५ लाख रुपया प्रतिवर्ष तो एकत्र किया जा सकता है ।

(३) देशी शराब के उत्पादन पर कर वृद्धि—राजस्थान में देशी शराब पर कर वृद्धि द्वारा १९६२-६३ में १५ लाख रुपया प्राप्त हुआ। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में शराब बन्दी है, इस कर में वृद्धि से कम से कम १० लाख रुपया तो प्राप्त किया ही जा सकता है।

(४) विदेशी शराब के बिक्री कर में वृद्धि—केरल में विदेशी शराब के बिक्री कर में वृद्धि द्वारा १९६१-६२ में ३ लाख रुपया प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश में जनसंख्या अधिक होने के कारण, विदेशी शराब की खपत अधिक है। इसलिये इस स्रोत से कम से कम १० लाख रुपये का अतिरिक्त धन प्राप्त किया जा सकता है ।

(५) विवाह कर—प्रति विवाह पर वर पक्ष पर ५ रु० का कर—इस कर से प्रति वर्ष ढाई तीन लाख रुपया प्राप्त हो सकता है। जहां विवाह में कुल खर्चे हजारों में होते हैं वहां ५ रु० का छोटा-सा कर देने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी ।

(६) विलास की वस्तुओं पर बिक्री कर को ७ से बढ़ाकर १० प्रतिशत किया जाय—जिन वस्तुओं पर इस कर की वृद्धि की जा सकती है उनमें ये वस्तुएं शामिल की जा सकती हैं—रेफ्रीजरेटर, कार, रेडियोग्राम, कूलर और ५०० रु० से अधिक के रेडियो । विलास की वस्तुओं पर बिक्री कर में कर वृद्धि से मध्य प्रदेश में १९६३-६४ में १२ लाख रुपया प्राप्त किया गया। उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश की अपेक्षा अधिक विकसित है और यहां विलास की वस्तुओं का प्रयोग अधिक होता है। इसलिये यहां ऐसी कर वृद्धि से प्रति वर्ष कम से कम १५ लाख रुपया प्राप्त किया जा सकता है।

(७) इनके अतिरिक्त, बिक्री कर की चोरी (Evasion) की रोक थाम से भी सरकार पर्याप्त धन प्राप्त कर सकती है। इसका सर्वोत्तम उपाय बिक्री कर के स्थान पर जहां सम्भव हो सके उत्पादन कर लगाना होगा। इस विषय में यह ध्यान रखना जरूरी है कि इस प्रस्ताव पर कुछ राज्यों को आपत्ति अवश्य होगी, क्योंकि उनकी स्वतन्त्रता (Autonomy) पर कुछ प्रहार अवश्य होगा। इसका दूसरा उपाय यह हो सकता है कि बिक्री कर अन्तिम फुटकर बिक्री के स्थान पर प्रथम थोक बिक्री पर लगना चाहिये। ऐसी व्यवस्था पश्चिमी बंगाल में लागू है। इस उपाय से बिक्री कर से उपलब्ध धन में ५ से १० प्रतिशत तक वृद्धि की जा सकती है, अर्थात् प्रति वर्ष इस से १ से २ करोड़ रुपये तक अधिक धन प्राप्त किया जा सकता है ।

साथ ही उत्तर प्रदेश के औद्योगिक विकास के साथ, उत्तर प्रदेश में प्रति पुरुष आमदनी भी बढ़ेगी जिससे उत्तर प्रदेश को केन्द्रीय सरकार से आयकर के भाग के रूप में भी अधिक धन प्राप्त होगा। औद्योगिक उत्पादन बढ़ने से उत्पादन कर भी बढ़ेगा जिससे उत्पादन कर का भी भाग केन्द्रीय सरकार से अधिक प्राप्त होगा।

अगर उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित किया जाय और बिक्री कर की चोरी (Evasion) को रोका जाय तो प्रति वर्ष २ करोड़ रुपया उपलब्ध हो सकता है, अर्थात् चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में १० करोड़ रुपया प्राप्त किया जा सकता है ।

नये करों के लिये सुझाव देते समय मैंने यह सोचा है कि ऐसी चीजों पर कर वृद्धि न की जाय जो कि सामान्य जनता के लिये आवश्यक हों। जो अप्रत्यक्ष कर ऊपर सुझाये गये हैं उनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आम जनता का रहन-सहन का खर्च नहीं बढ़ेगा। हो सकता है कि मोटर ट्रक वाले अपने भाटक पर लगे हुए अधिकर को किराये बढ़ा कर वसूल करना चाहें। परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर सुझाव दिया है, अगर मोटर ट्रकों को आज्ञा-पत्र बिना प्रतिबन्ध के दिये जाएं तो मोटर ट्रक वालों में आपस में प्रतियोगिता होगी जिससे कि उनकी अधिकर को वसूल करने के लिये किराये बढ़ाने की सम्भावना न्यूनतम हो जायेगी। देशी और विदेशी शराब पर वृद्धि से साधारण जनता के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हां, हो सकता है कि इससे शराब का उपभोग कम हो जाय। विलास की वस्तुओं पर बिक्री कर वृद्धि से केवल धनी वर्गों पर ही प्रभाव पड़ेगा जो कि इस भार को सरलता से वहन कर सकते हैं ।

निजी क्षेत्र के लिए संसाधनों की उपलब्धि—राज्य में भारी उद्योगों के लिये २५० से २७५ करोड़ रुपये की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया है। मेरा अनुमान है कि इतना धन हमको देशी और विदेशी साहसियों से और Industrial Finance Corporation, I.C.I.C.I., L.I.C. I.D.F., S.F.C. आदि संस्थाओं से प्राप्त हो सकता है। भारतीय कम्पनियों के लिए निजी पूंजी और ऋण का अनुपात १ : २ तक हो सकता है । इस बात को ध्यान में रखते हुए २७५ करोड़ रुपये के विनियोग के लिये, लगभग ९० करोड़ रुपये की पूंजी का विनियोग आवश्यक है । इसमें से

लगभग ५० करोड़ भारतीय पूंजी होनी चाहिये शेष विदेशी पूंजी हो सकती है। ५ वर्षों में ५० करोड़ रुपया उपलब्ध करना भारतीय पूंजीपतियों के लिये कोई कठिन कार्य नहीं है यदि उपयुक्त प्रायोजनाएँ उपस्थित हों।

धन विनियोग करने से पहले एक निजी साहसी यह चाहता है कि उसको कच्चा माल, यातायात, शक्ति आदि की सभी सुविधाएं हों और अपनी उत्पादित वस्तुओं की बिक्री की अच्छी सम्भावना हो। साथ ही बिना किहीं अनावश्यक औपचारिकताओं के वह अपना उत्पादन आरम्भ कर सके। इसके अतिरिक्त वह यह भी चाहता है कि उसको एक लम्बी अवधि तक अपने परिश्रम का फल उपभोग करने का अवसर मिले। विशेषकर उसे यह आश्वासन होना चाहिये कि उसके उद्योग का राष्ट्रीयकरण नहीं होगा। वास्तव में राष्ट्रीयकरण के विषय में आशंका और अनिश्चितता ही भारत में भारतीय और विदेशी दोनों ही के निजी विनियोग की वृद्धि और विकास के पथ में सब से बड़ी बाधा है। यदि सभी आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध हों और यह आश्वासन हो कि राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायेगा तो विदेशी विनियोजकों की भारत के लिये कोई कमी न होगी। यदि मोटर यातायात के लिये आज्ञा-पत्र बिना किसी प्रतिबन्ध के निर्गमित किये जायें और उनके कार्यक्षेत्र पर कोई प्रतिबन्ध नहीं हो तो यातायात की समस्या पर्याप्त सीमा तक सुलझ जायेगी। रिहन्द बांध की समाप्ति से और हरदुआगंज शक्तिघर के विस्तार से शक्ति की कमी भी कुछ दूर हो जायेगी। अगर आवश्यकता हो, तो आंध्र प्रदेश की तरह निजी क्षेत्र में शक्ति घर स्थापित करने की आज्ञा दी जाये। साथ ही पहले ५ वर्षों में उद्योगपतियों को २५ प्रतिशत विद्युत् कर में १० से १५ प्रतिशत तक छूट दी जाये। इससे उद्योगपतियों को विद्युत् शक्ति कम मूल्य पर मिल पायेगी और वे उत्तर प्रदेश में आने के लिये लालायित होंगे। कानूनी और विधिवत् कार्रवाई के विषय में उत्तर प्रदेश सरकार कुछ नहीं कर सकती। इसमें तो केन्द्रीय सरकार ही कोई निश्चित कदम ले सकती है, क्योंकि यह तो केन्द्रीय सरकार के क्षेत्र में है। इन विषयों पर तो केन्द्रीय सरकार ही कोई निश्चय ले सकती है। यह उच्चस्तर नीति का मामला है।

१८० करोड़ रुपया ऋण के रूप में प्राप्त करने के विषय में, मेरे विचार से हमारी आर्थिक संस्थाओं और विदेशी आर्थिक संस्थाओं से इतना रुपया पाना कोई कठिन काम नहीं होगा। अगर ९० करोड़ रुपये की पूंजी उपलब्ध हो जाये तो ऋण प्राप्त करना कोई कठिन कार्य नहीं होगा।

यदि उत्तर प्रदेश सरकार आवश्यक सुविधाएं प्रदान कर दे तो केन्द्रीय सरकार को यह घोषणा करने के लिये कि प्रथम बीस वर्षों में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं होगा तब निजी क्षेत्र के लिये प्रदेश सरकार को कोई वित्तीय सहायता देना आवश्यक न होगा। मेरे विचार से केन्द्रीय सरकार को यह घोषणा करने में कि बीस वर्षों तक राष्ट्रीयकरण न होगा, कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।
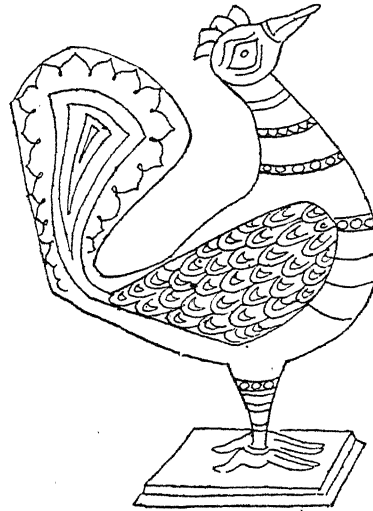
उत्तर प्रदेश में नदी घाटी प्रायोजनाएं

श्री राममूर्ति
सामुदायिक विकास मंत्री, उत्तर प्रदेश।

भूमिका—वर्तमान युग में नदी घाटी प्रायोजनाएं किसी भी देश के विकास की सूचक तथा उन्नति की प्रतीक होती हैं क्योंकि वे जनता की बहुमुखी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं—जैसे सिंचाई, बिजली, बाढ़-क्षति से बचाव, स्वास्थ्य, सफाई और यहां तक कि कुछ दशाओं में पीने के पानी की सप्लाई भी। उत्तर प्रदेश में तीन पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान नदी घाटी प्रायोजनाओं के सम्बन्ध में काफी कार्य किया जा चुका है, यद्यपि यह कार्य उतना नहीं हुआ है जितना कि इस राज्य को विकास की गति में अन्य राज्यों के समतुल्य बनाने के लिये अपेक्षित है।

केवल सिंचाई विभाग के लिये तीन योजनाओं का परिव्यय लगभग १७३ करोड़ रुपया हुआ है जब कि योजना पूर्व के विगत १०० वर्षों का व्यय लगभग ३६ करोड़ रुपया रहा है। जलविद्युत् योजनाओं (नदी घाटी प्रायोजनाओं के अन्तर्गत आने वाली) पर तीन योजना अवधियों में लगभग १४३ करोड़ रुपये की अतिरिक्त धनराशि व्यय हुई है।

कुछ नदी घाटी प्रायोजनाएं बहुप्रयोजनीय हैं जिनसे सिंचाई होती है, बिजली मिलती है, बाढ़ नियंत्रण, मलेरिया नियंत्रण होता है तथा मनोरंजन सम्बन्धी सुविधायें प्राप्त होती हैं किन्तु कुछ नदी प्रायोजनायें केवल एक-प्रयोजनीय हैं जो मुख्यतया सिंचाई या बिजली विषेयक हैं। राज्य की समस्त बड़ी तथा मध्यम नदी घाटी प्रायोजनाओं की प्रमुख विशेषतायें जिनका कार्य विभिन्न योजना अवधियों में प्रारम्भ किया गया है, सारणी १ से ३ तक में दी गयी हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रायोजनायें जो हाल ही के वर्षों में राज्य में आरम्भ की गयी हैं, नीचे दी जाती हैं।

बड़ी सिंचाई तथा बहु-प्रयोजनीय योजनाएं

माताटीला बाँध प्रायोजना—यह प्रायोजना उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड सम्भाग में जहां कि पानी की कमी है, सिंचाई, बिजली तथा पीने के प्रयोजनों के लिये पानी की सप्लाई करने के निमित्त बनायी गयी थी। पहली पंचवर्षीय योजना में यह बांध बनाना आरम्भ हुआ था और १९५७ में यह पूरा हुआ। बांध के अनुस्रोत के बिजलीघर का निर्माण १९६२ में आरम्भ हुआ और तीन मशीनों में से पहली मशीन फरवरी १९६५ में चालू हुई। यह बांध बेतवा नदी पर झांसी से ३५ मील दूर स्थित है। इस प्रकार इस बांध का कुछ भाग उत्तर प्रदेश में है और कुछ मध्य प्रदेश में। इस नागरिक प्रायोजना (बांध तथा नहर) का अनुमित परिव्यय ११·९९ करोड़ रु० है। बांध का नदी खण्ड (Section) जिसमें उत्प्लव भाग (Spillway) तथा परिवाहेतर भाग (Non-overflow portion) जिसके अन्तर्गत बायें किनारे पर बिजली घर के लिये स्थित तीन अवधारक नल (Penstocks) भी हैं, १५० फीट ऊंचा है और ग्रेनाइट पत्थर से जो कि वहां पर उपलब्ध है, पक्का किया गया है। उत्प्लव मार्ग का भाग लगभग १६०० फीट है। दायें तथा बायें पार्श्वों में मिट्टी का बांध बनाया गया है जिसकी अधिकतम ऊंचाई १२० फीट है, बांध की कुल लम्बाई लगभग ४ मील है।

माताटीला बांध से कोई नहर प्रणाली प्रारम्भ नहीं होती है। किन्तु जो पानी छोड़ा जाता है उसकी सप्लाई से उस discharge की पूर्ति होती है जो परीची पर वितरण के लिये उपलब्ध है। माताटीला बांध बनने से पहले परीची को ढुकवां बांध द्वारा, जो कि माताटीला बांध से अनुस्रोत की ओर १५ मील पर है, पानी मिलता था किन्तु इस बांध के निर्माण से जिसकी कुल क्षमता ३४ अरब करोड़ घनफीट है, ३०,००० किलोवाट विद्युत् शक्ति के उत्पादन के साथ-साथ ४०९·५८ लाख एकड़ का अतिरिक्त क्षेत्र सिंचाई के अन्तर्गत लाया जा रहा है। कुल सिंचाई क्षेत्र में से २५८·६ लाख एकड़ क्षेत्र झांसी, जालौन तथा हमीरपुर के जिलों में है और शेष क्षेत्र मध्य प्रदेश में है। इस प्रायोजना से भूमि की

बंजर भूरी सतह उपजाऊ हरियाली भूमि में बदल जायेगी। बांध से पानी या तो बांध की जल कपाटों (Sluices) से या बिजलीघर के टरबाइनों से छोड़ा जा सकता है।

झांसी नगरपालिका, बबीना तथा झांसी के बीच के ग्रामीण क्षेत्र तथा झांसी और बबीना के कैन्टून्मेंटों को लगभग ९० लाख गैलन पानी प्रति दिन सप्लाई करने के लिये बांध के बायें परिवाहेतर पक्के अनुभाग से एक पाइप लाइन भी निकाली गयी है। झांसी बबीना जल सप्लाई की इस प्रायोजना का अतिरिक्त परिव्यय लगभग २·०२ करोड़ रुपया है और यह उत्तर प्रदेश सरकार (स्वायत्त शासन अभियंत्रण विभाग) तथा भारत सरकार (प्रतिरक्षा विभाग) का संयुक्त उपक्रम है।

दो नई नहर प्रणालियां अर्थात् गुरसराय नहर तथा भंडार नहर परीची जलाशय से निकाली गयी हैं जो माताटीला बांध से जलपोषित होती हैं। गुरसराय नहर में परीची जलाशय से सीधे पानी आता है जबकि भंडर नहर पहले ही से विद्यमान बेतवा नहर से पानी लेती है। इस प्रायोजना के अधीन ६९ मील नयी मुख्य नहरें तथा शाखायें और ६८९ मील माइनर तथा डिस्ट्रिब्यूटरी (रजबहा) निर्मित किये गये हैं, और ८९ मील मुख्य नहरों तथा १६३ मील माइनरों को फिर से नया रूप दिया गया है।

रामगंगा नदी प्रायोजना—रामगंगा नदी के पार, जो गंगा की एक सहायक नदी है, कालागढ़ जिला बिजनौर में मिट्टी तथा चट्टान भरकर एक बांध बनाया जा रहा है। इस स्थान पर यह नदी पहाड़ों से नीचे उतरकर एक तंग गहरी घाटी बनाती है। इस बांध से पश्चिमी जिलों में १७·०६ लाख एकड़ क्षेत्र के लिये सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था होगी और साथ ही १,९५,००० किलोवाट की अधिष्ठापित क्षमता का एक विद्युत् शक्ति स्टेशन पोषित होगा। इससे ७·५ लाख एकड़ क्षेत्र की, जिस पर अभी तक बाढ़ का प्रभाव पड़ता था, बाढ़ से रक्षा भी होगी। इस प्रायोजना का अनुमित व्यय ६७·९८ करोड़ रुपया है।

जिन जिलों में सिंचाई की व्यवस्था की जायेगी वे राज्य के सब से अधिक उपजाऊ क्षेत्र हैं। यद्यपि इन क्षेत्रों में राज्य के नलकूपों द्वारा तथा नहर प्रणाली से अर्थात् उत्तरी गंगा नहर, निचली गंगा नहर, आगरा नहर तथा रामगंगा नहर (जो एक छोटी पम्पड़ नहर है) पहले से ही सिंचाई होती है; फिर भी इस क्षेत्र का विकास इतनी तेजी से हो रहा है कि जिन जिलों में सिंचाई की सुविधा पहले से उपलब्ध है उनमें सिंचाई और प्रकृष्ट रूप से करने तथा इस भूखण्ड के अन्य क्षेत्रों तक सिंचाई का विस्तार करने की तीव्र मांग है। वास्तव में इस प्रायोजना से जिन जिलों को लाभ होगा वे पश्चिमी उत्तर प्रदेश के विकास की मुख्य धुरी हैं।

यह बांध २,००० फीट लम्बा तथा ४१२ फीट ऊंचा होगा और इससे १७·८ लाख एकड़ फीट पानी अवरुद्ध होगा जिससे ३३·१२ वर्ग मील की झील बन जायेगी। जब यह पूरा बन जायेगा तो यह एशिया में सब से अधिक ऊंचा मिट्टी का बांध होगा। बांध के अतिरिक्त निर्माण के दौरान उक्त प्रायोजना में बांध के पानी को निकालने के लिये दो अपवर्तन सुरंगों (Diversion tunnels) का निर्माण किया जायेगा। बाद में इन सुरंगों में से एक का उपयोग बिजलीघर के अवधारक नलों (पेनस्टाकों) के पोषण के लिये विद्युत् सुरंग के रूप में किया जायगा और दूसरे का उपयोग सहायक निकास के लिये किया जायेगा। सुरंगों का व्यास ३१ फीट होगा। उनका निर्माण बहुत नाजुक तथा कठिन शैल समूह (Geological formation) में किया जायेगा। सुरंगें बांध के दाहिने पार्श्व पर स्थित हैं।

बांध के पूरा हो जाने के बाद बाढ़ का फालतू पानी बांध के दाहिने पार्श्व पर तथा नदी की लगभग समानान्तर सीधाई पर स्थित ढलवाँ नाली के उत्प्लव मार्ग (Chute Spillway) के जरिये निकलेगा। बिजलीघर बांध के नीचे के विद्युत् सुरंग के स्टिलिंग बेसिन के पास स्थित है। टरबाइनों के जरिये बांध से छोड़ा गया पानी रामगंगा नदी में ही पहुंचाया जायेगा तथा बांध के १६ मील अनुस्रोत पर फीडर चैनेल में एक बांध द्वारा मोड़ दिया जायेगा। फीडर चैनेल का पानी गढ़-मुक्तेश्वर के पास गंगा नदी में जायेगा। गंगा नदी पर फिर से बने हुए नरोरा बैरेज पर पानी ग्रहण कर लिया जायेगा तथा नई और फिर से बनाई गयी नालियों द्वारा खेतों में ले जाया जायेगा। उक्त प्रायोजना के अन्तर्गत २,४५० मील नई नालियों का निर्माण किया जायेगा तथा २,१०४ मील लम्बी नालियों को फिर से बनाया जायेगा। इनमें फीडर नहर, मुख्य नहर, शाखायें और राजबहे सम्मिलित हैं।

इस प्रायोजना पर विभागीय रूप से कार्य किया जा रहा है जिसे १९६१ में प्रारम्भ किया गया था तथा जिसकी १९७२ तक समाप्त होने की आशा है।

गंडक नहर योजना—इस योजना का निष्पादन उत्तर प्रदेश, बिहार और नेपाल के लाभ के लिये भारत सरकार तथा नेपाल सरकार के बीच अनुबन्ध के अन्तर्गत किया जा रहा है। इसके अधीन २,४३७ फीट लम्बे बांध बैरेज का निर्माण किया जाना है, जिसके साथ नेपाल क्षेत्र में नेपाल उत्तर प्रदेश सीमा के उत्तर की ओर लगभग ११ मील पर स्थित बाल्मीकि नगर (जिसे पहले भसौंलाटुन कहा जाता था) में बड़ी गंडक नदी के आर-पार सड़क पुल भी

बनाया जायेगा। बांध की सीधी लम्बाई भारतीय क्षेत्र में पड़ती है। इस बांध के प्रतिस्रोत से दो मुख्य नहरें क्रमशः बायें और दायें पार्श्व से निकलती हैं। *पूर्वी नहर बंगाल और नेपाल में सिंचाई के लिये है।

दाहिने पार्श्व से नहरें—मुख्य पश्चिमी नहर जिससे १५,८०० क्यूसेक्स जल आता है, दाहिने पार्श्व से निकलती है। मुख्य पश्चिमी नहर से निकलने वाली एक १८ मील लम्बी रजबहा से, जो पूर्ण रूप से नेपाल के लाभ के लिये है, नेपाल के भैराहवा जिले में ३१,००० एकड़ क्षेत्र की सिंचाई होगी। मुख्य पश्चिमी नहर १२० मील लम्बी है। ११¾ मील नेपाल में, ७० मील उत्तर प्रदेश में और शेष बिहार में पड़ती है। उससे उत्तर प्रदेश के गोरखपुर और देवरिया जिलों में ७·१४ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी तथा बिहार के सारन जिले में ११·८४ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

नेपाल में इस नहर के ११ मील ४ फर्लांग पर १५,००० किलोवाट की अधिष्ठापित क्षमता का एक बिजलीघर भी स्थित है जिसे नेपाल सरकार को उपहार के रूप में उस समय दे दिया जायेगा जब नेपाल में १०,००० किलोवाट का भार इससे विकसित हो जायेगा।

बाएँ पार्श्व से नहरें—मुख्य पूर्वी नहर की लम्बाई १५५ मील है जिसमें से १४,११० क्यूसेक्स जल निकास होता है। इससे बिहार के चम्पारन, मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिलों में १४·७३० लाख एकड़ क्षेत्र की सिंचाई की जायगी। डोन शाखा नहर नामक एक नहर शाखा इस नहर से निकलती है जो भारतीय क्षेत्र को पार करने के बाद नेपाल पूर्वी नहर कहलाती है। इससे नेपाल के परसा, बरा और रौताहाट जिलों में ८७,००० एकड़ क्षेत्र की सिंचाई होगी।

इस नहर को गण्डक नदी की बाढ़ से बचाने के लिये ७ मील लम्बा नेपाल बांध भी बनाया गया है, जिससे संलग्न क्षेत्र की भी बाढ़ क्षति से रक्षा होगी। इससे नेपाल में लगभग ६,००० एकड़ क्षेत्र, उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में ५८,००० एकड़ तथा उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में लगभग १,५८,००० एकड़ क्षेत्र की रक्षा होगी।

इस प्रायोजना का कुल अनुमित व्यय, जैसा कि योजना आयोग द्वारा स्वीकृत किया गया है, ५२·०३ करोड़ रुपया है, जिसमें से नेपाल के लिये सिंचाई तथा विद्युत् सम्बन्धी लाभों की व्यवस्था करने के लिये ४·२५ करोड़ रुपया व्यय किये जायेंगे। उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित निर्माण कार्यों का अनुमित व्यय जिसमें नेपाल बांध भी सम्मिलित है, १६·४५ करोड़ रु० है। इस प्रायोजना से जो देश की सब से सस्ती प्रायोजना कही जाती है, सिंचाई का पूर्ण विकास हो जाने के बाद पूर्ति परिव्यय पर वार्षिक प्रतिलाभ उत्तर प्रदेश में ८·३२ प्रतिशत तथा बिहार में ७·५ प्रतिशत होगा।

इस प्रायोजना पर वर्ष १९६२ में कार्य प्रारम्भ किया गया था तथा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इसके पूरा हो जाने की आशा है।

बड़ी विद्युत् प्रायोजनाएं

रिहंद बाँध—यह केवल विद्युत् प्रायोजना है। जिला मिर्जापुर में पिपरी नामक स्थान पर ३०४ फीट लम्बा कंक्रीट का एक गुरुत्व (ग्रेवेटी) बांध बनाया गया है। बांध की कुल लम्बाई ३,२५४ फीट है तथा उत्प्लव मार्ग की ६२४ फीट है। उसके ऊपर २४ फीट चौड़ी सड़क का एक पुल है। बांध की संग्रह क्षमता ८६ लाख एकड़ फीट है तथा इसका ५,१४८ वर्ग मील का एक जलागम क्षेत्र है। जब वह भर जाता है तो यह १८० वर्ग मील की एक झील बन जाती है। बांध के नीचे की ओर दाहिने पार्श्व में एक बिजलीघर बनाया गया है। इस समय इसमें प्रत्येक ५०,००० किलोवाट क्षमता की ५ इकाइयां हैं तथा छठी इकाई अधिष्ठापित करने के लिये निर्माण कार्य किया जा रहा है। यह कार्य १९५५ में प्रारम्भ किया गया था और १९६२ में निर्धारित समय के भीतर पूरा हो गया था।

मिर्जापुर के आस-पास का क्षेत्र राज्य के सब से पिछड़े क्षेत्रों में से था परन्तु अब रिहंद बांध के बन जाने से इसका परिवर्तन तीव्र गति से हो रहा है। नये उद्योग स्थापित हो रहे हैं। प्रायोजना क्षेत्र के समीप स्थित हिन्दुस्तान एलूम्यूनियम निगम (कारपोरेशन) इसी विद्युत् प्रायोजना का प्रत्यक्ष परिणाम है, क्योंकि एलूम्यूनियम का उत्पादन लगभग पूर्णतया विद्युत् पर निर्भर करता है।

रिहंद बांध के निर्माण के लिये अपेक्षित बहुत बड़ी मात्रा में सीमेंट की सप्लाई करने के लिए जो चुर्क सीमेंट फैक्टरी स्थापित की गयी थी वह अब बाजार में सीमेंट की सप्लाई करने का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

इस क्षेत्र का विकास इतनी तीव्र गति से हुआ है कि और अधिक बिजली की आवश्यकता हो गयी है और ओबरा जल विद्युत् प्रायोजना का निर्माण इस बांध के २० मील अनुस्रोत की ओर हो रहा है।

ओबरा जल-विद्युत प्रायोजना—ओबरा जल विद्युत् प्रायोजना में रिहद बांध के २० मील अनुस्रोत की ओर रिहंद नदी के आर पार ९६ फीट ऊंचा और ६,२०० फीट लम्बा मिट्टी और चट्टान से युक्त बांध है। इसमें ७२० फीट लम्बा

कंक्रीट उत्प्लव मार्ग (Spillway) और इसके नीचे ९९ मेगावाट की अधिष्ठापित क्षमता वाला एक बिजलीघर होगा। इस बांध से बनने वाली झील का क्षेत्रफल लगभग ७ वर्ग मील होगा।

बिजली पैदा करने के अलावा, ओबरा तापीय विद्युत् स्टेशन को ठंडा करने के लिये जल सप्लाई करेगा और मत्स्य क्षेत्र की वृद्धि करेगा।

इस प्रायोजना की कुल अनुमित लागत ११.२२ करोड़ रुपये है। काम चालू है और १९६७ तक उसके समाप्त हो जाने की सम्भावना है।

यमुना जल विद्युत् योजना प्रक्रम १—यह केवल विद्युत् प्रायोजना है, जिसमें पानी मोड़ने के लिये यमुना नदी के आर-पार एक बांध, जल ले जाने के लिये एक शक्तिचालित नाली (पावर चैनेल) और बिजली पैदा करने के लिए दो बिजलीघरों का निर्माण सम्मिलित है। बांध १७६४ फीट लम्बा है और देहरादून से लगभग २५ मील पर डाक पत्थर में स्थित है, जहां नदी मुख्य पहाड़ियों से नीचे उतरती है। इस प्रायोजना में २५ फीट चौड़ी सड़क सहित एक प्रतिवलित कंकरीट (Pre-stressed Concrete) का पुल भी रहेगा। इस बांध से पानी को ८·९ मील लम्बी शक्तिचालित नाली (Power Channel) के द्वारा अहसान नदी की ओर मोड़ दिया गया है और इस प्रकार दो चरणों में १६५ फीट के झरने का उपयोग किया गया है। शक्तिचालित नाली की क्षमता ७,००० क्यूसेक की है। ६५ फीट के जल प्रपात का उपयोग ढाकरानी में स्थित पहले बिजलीघर में किया गया है जहां तीन मशीनें ३३,७५० किलोवाट बिजली पैदा करेंगी और धालीपुर में १०० फीट के जल प्रपात से ५१,००० किलोवाट बिजली पैदा की जायेगी। इस योजना से पैदा की गयी बिजली धालीपुर से रुड़की तक १३२ किलोवोल्ट पारेषण तन्तु पथ (Transmission Lines) द्वारा राज्य विद्युत् परिषद् के वर्तमान पश्चिमी ग्रिड (Western Grid) से सम्बद्ध कर दी जायेगी।

इस प्रायोजना की कुल लागत १६·८३ करोड़ रुपया है जिसकी बस बार्स (Bus Bars) पर २·१५ पैसे प्रति किलोवाट घंटे की जनन लागत (Generation cost) होगी और पूंजी परिव्यय पर ६·१५ प्रतिशत परिलाभ होगा। यह प्रायोजना १९६२ में आरम्भ की गयी थी और निर्धारित समय के अनुसार शीघ्र ही चालू हो जायेगी।

यमुना जल विद्युत् योजना प्रक्रम २—हिमालय पर्वत न केवल हमारी सीमाओं की रक्षा करते हैं बल्कि वे विद्युत् के भी महान् स्रोत हैं। भौमिकीय रूप में वे बहुत नये हैं और इसलिये जहां तक प्रमुख जल शक्ति सम्बन्धी संरचनाओं के निर्माण का सम्बन्ध है वे कठिन समस्यायें उत्पन्न कर देते हैं। फिर भी मानव के बुद्धि चातुर्य को प्रकृति की प्रतिकूल शक्तियों पर विजय पाने में सफल होना चाहिये।

यमुना घाटी में विभिन्न योजनाओं को धीरे-धीरे आरम्भ करने का प्रस्ताव है। यह प्रायोजना पहले ही वर्णित यमुना जल योजना प्रक्रम १ के बाद विकास का दूसरा चरण है। यह प्रायोजना देश की अनुपम प्रायोजनाओं में से एक है, क्योंकि हिमालय की चट्टानों में इसका एक भूमिगत विद्युत् स्टेशन होगा। इस समय भारत में केवल दो भूमिगत विद्युत् स्टेशन हैं जो भूगर्भ विज्ञान की दृष्टि से कहीं अनुकूल क्षेत्रों में स्थित हैं। इस प्रायोजना में दो भाग में ३०० मेगावाट की अधिकतम बिजली के लिये प्रस्तावित किशाऊ बांध स्थल (प्रक्रम ३) डाकपाथर के समीप यमुना नदी में और टोंस नदी के मुहाने के बीच टोंस नदी में उपलब्ध लगभग ६२२ फीट के जल प्रपात के उपयोग की व्यवस्था है।

प्रथम भाग के अन्तर्गत इछारी अपवर्त्तन बांध (Diversion Dam) का निर्माण कर के टोंस नदी का पानी २३ फीट व्यास वाली सुरंग में मोड़ दिया जायेगा। २४० मेगावाट की क्षमता का (६० मेगावाट की ४ मशीनों का) एक बिजलीघर लगभग ४१२ फीट के एक 'ग्रोस हैड' का उपयोग करने के लिए चिबरो में बनाने का प्रस्ताव है।

दूसरे भाग के अन्तर्गत चिबरो विद्युत् स्टेशन से जल पुच्छ (Tail Water) लगभग २१० फीट के सकल वर्क्स (Gross Head) का उपयोग करने के लिये यमुना प्रायोजना प्रक्रम १ के प्रतिस्रोत की ओर खोदरी बिजलीघर रूढ़ि सतह नमूना (Conventional surface type) पोषण के लिये २३ फीट व्यास की एक सुरंग से होकर ले जाया जायेगा। इसकी अधिष्ठापित क्षमता १२० मैगावाट (४×३० मेगावाट) है।

इस प्रायोजना की कुल लागत का अनुमान लगभग ५५·८८ करोड़ रुपये है। अक्तूबर १९६५ तक इस कार्य के आरम्भ होने की सम्भावना है और चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इस कार्य के समाप्त हो जाने की आशा है।

मध्यम सिंचाई योजनाएँ

कुछ महत्त्वपूर्ण मध्यम सिंचाई योजनाओं की प्रगति नीचे दी जाती है :

मेजा जलाशय—इस योजना में जिला मिर्जापुर में बेलन नदी के आर-पार १·५ मील लम्बे और ११२ फीट ऊंचे मिट्टी के बांध के निर्माण की व्यवस्था है। इस जलाशय की संग्रह क्षमता (Storage Capacity) ६ अरब ५० करोड़

घन फ़ीट है। इलाहाबाद और मिर्ज़ापुर जिलों में ५२,३८० एकड़ भूमि की सिंचाई करने के लिये २०३ मील लम्बी नालियों (Channels) का निर्माण करने का प्रस्ताव है। इसमें से ११८ मील लम्बी नालियां पहले ही बनायी जा चुकी हैं जिन में अस्थायी रूप से सिरसी बांध से जल पहुंचाया जा रहा है।

इस प्रायोजना की कुल अनुमित लागत ३३४ लाख रुपये है। यह कार्य १९६२ में आरम्भ किया गया था और तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इसके समाप्त हो जाने की आशा है।

नरौरा बाँध—वर्तमान नरौरा बांध के अनुस्रोत की ओर लगभग १,००० फीट पर २४ फीट सड़क मार्ग सहित ३,०३० फीट लम्बा बांध बनाना इस प्रायोजना में सम्मिलित है। लोअर गंगा कैनाल में पानी भरने के लिये गंगा नदी पर जिला बुलन्दशहर में (अलीगढ़ के समीप) वर्तमान नरौरा हैड वर्क्स के ढांचे को जिसे असुरक्षित घोषित कर दिया गया था, बदलने की बहुत दिनों से महसूस की जाने वाली आवश्यकता प्रस्तावित रामगंगा बांध के कारण, जो लोअर गंगा कैनाल के लिये पानी छोड़ेगा, अनिवार्य हो गयी है। प्रधान नियामक (Head regulator) की लम्बाई २०५ फीट है।

यह निर्माण कार्य उन निर्माण कार्यों में से एक है जो राम गंगा प्रायोजना से लाभ प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। इसकी अनुमित लागत ४४१ लाख रुपये है। यह निर्माण कार्य १९६२ में आरम्भ किया गया था और १९६७ तक इसके समाप्त होने की आशा है।

तुमरिया बाँध तथा उसका विस्तार—मिट्टी का तुमरिया बांध नैनीताल में काशीपुर के समीप ढेला और तुमरिया नदी के आर-पार ८ मील लम्बा और ७० फीट ऊंचा है। यह नैनीताल और मुरादाबाद जिलों में ४०,००० एकड़ क्षेत्र की सिंचाई करता है। इसकी अनुमित लागत २१०·७० लाख रुपये है। इस प्रायोजना पर निर्माण कार्य लगभग पूरा हो गया है।

अब तुमरिया बांध का विस्तार कर के और फीका नदी के आर पार एक बांध (बैरेज) बना कर जलधारिता (Storage) को २८,५५० लाख घन फीट तक बढ़ाये जाने का प्रस्ताव है। इसे प्रायोजना का दूसरा चरण कहा जाता है। इस विस्तार से नैनीताल और मुरादाबाद जिलों में ४५,००० एकड़ की अतिरिक्त सिंचाई की व्यवस्था हो जायेगी। इस विस्तार की अनुमित लागत २५४·१५ लाख रु० है और इसे तृतीय पंचवर्षीय आयोजना के अन्त तक इसके पूरा हो जाने की आशा है।

बौर जलाशय—यह योजना उस स्थान से जहां लालकुआं काशीपुर रेलवे लाइन बौर नदी को पार करती है और नदी पर प्रति स्रोत की ओर आधे मील पर निष्पादित की जा रही है। इस जलाशय में संग्रहीत जल रामपुर और नैनीताल जिलों में ४६,५०० एकड़ अतिरिक्त क्षेत्र की सिंचाई के लिये जल की सप्लाई में वृद्धि करेगा। इसकी अनुमित लागत २९४·९० लाख रुपये है और चतुर्थ पंचवर्षीय योजनावधि के दौरान इसके पूरा हो जाने की आशा है।

मूसाखण्ड बाँध—इस प्रायोजना के अन्तर्गत जिला वाराणसी में कर्मनाशा नदी के आर पार एक मील और सात फर्लांग लम्बा एक मिट्टी का बांध निर्मित किया जा रहा है जिसकी अधिकतम ऊंचाई १०० फीट होगी। जलाशय कुल ४ अरब घन फीट जल का संग्रह करेगा और वाराणसी तथा गाजीपुर जिलों में ५५,००० एकड़ क्षेत्र की सिंचाई करेगा तथा पहले से विद्यमान कर्मनाशा कैनाल में जल की वृद्धि करेगा।

इस योजना की अनुमित लागत २७५·१६ लाख रु० है और इसके १९६६-६७ तक पूरा हो जाने की आशा है।

पूर्वी बहगुल जलाशय—इस प्रायोजना के अन्तर्गत नैनीताल जिले में पूर्वी बहगुल नदी के आर पार १० मील लम्बा, ३६ फीट ऊंचा एक मिट्टी का बांध बनाया जा रहा है। यह जलाशय १,१९,००० एकड़ फीट जल का संग्रह करेगा। यह नैनीताल जिले में १७,८८५ एकड़ क्षेत्र में सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करेगा और बरेली जिले में ३७,००० एकड़ क्षेत्र की बाढ़ से सुरक्षा करेगा।

इस प्रायोजना की अनुमित लागत १४५ लाख रुपये है, जिसमें से ७४·१८ लाख रुपये सिंचाई पर और ७०·८२ लाख रुपये बाढ़ सुरक्षा निर्माण कार्यों पर व्यय किया जा रहा है। निर्माण कार्य इस वर्ष आरम्भ किया गया है और इसके चतुर्थ पंचवर्षीय योजनावधि में पूरा हो जाने की आशा है।

पीली जलाशय—इस प्रायोजना के अन्तर्गत बिजनौर और नैनीताल जिलों में २८,३८० एकड़ के क्षेत्र में सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिये पीली नदी पर लगभग ६ मील लम्बा एक मिट्टी का बांध निर्मित करने का प्रस्ताव है जिसकी अधिकतम ऊंचाई ६० फीट होगी। इसमें १०५ मील लम्बी नालियां भी सम्मिलित होंगी जिनमें से ४० मील लम्बी नालियां बन कर तैयार हो गयी हैं। इस योजना की अनुमित लागत २२५·७५ लाख रुपये है। निर्माण कार्यों में प्रगति हो रही है और चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इसके पूरा हो जाने की आशा है।

उत्तर प्रदेश की खनिज सम्पत्ति

डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र, श्री हरिश्चन्द्र पन्त, श्री इन्द्रदत्त द्विवेदी
भूविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

खनिज क्या है ? संक्षेप में इसका अन्वय होगा खनि+ज, अर्थात् खान से जन्मा हुआ। वर्तमान युग में ये किसी भी राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिये अति महत्त्वपूर्ण हैं। इसी महत्ता को अवगत करते हुए उत्तर प्रदेश में डायरेक्टरेट आफ जियोलोजी एंड माइनिंग की स्थापना की गयी। इसकी स्थापना तथा अन्य खनिजों के विकास का श्रेय मुख्यतः श्री चन्द्रभानु गुप्त जी को है; जिनके अथक परिश्रम, विज्ञान जिगीषा एवं प्रदेश के सर्वतोमुखी विकास की चेष्टा के फलस्वरूप ही आज उत्तर प्रदेश दिन प्रतिदिन खनिज-उत्पादन में उन्नति कर रहा है।

परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इनका प्रभाव देश-निर्माण में प्रत्यक्ष एवं वांछनीय है उदाहरणार्थ मृतैल, लौह, स्वर्ण आदि आधुनिक युग में राष्ट्र जीवन हेतु वही महत्त्व रखते हैं, जो भवन, भोजन, वस्त्रादि जन-जीवन में रखते हैं। इसीलिये इनकी प्रचुरता या अभाव राष्ट्र की समृद्धि व वैभव के लिये एक अपना अलग स्थान रखते हैं। इनकी इस महत्ता एवं योगदान को दृष्टिगत रखते हुए इनको निम्नलिखित तीन प्रकारों में विभाजित किया गया है :

१. **युद्धनीतिक खनिज**—ये वे खनिज हैं जो राष्ट्र की उन्नति के लिये अति आवश्यक हैं; परन्तु उस राष्ट्र की आवश्यकतानुकूल उस राष्ट्र में उपलब्ध नहीं हैं। अतः ये खनिज उन राष्ट्रों से आयात किये जाते हैं जहां कि उनकी बहुलता होती है।

२. **क्राँतिक खनिज**—ये वे खनिज हैं जिनकी उत्पत्ति राष्ट्र की आवश्यकता के अनुकूल होती है।

३. **मौलिक खनिज**—ये वे खनिज हैं जो राष्ट्र की छोटी-बड़ी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात्, विदेशों व जरूरतमन्द देशों को निर्यात कर दिये जाते हैं।

प्रायः कोई भी राष्ट्र अपने ही यहां उत्पन्न हुए खनिजों पर आत्मनिर्भर नहीं रहता है, कुछ न कुछ उसे आयात करना ही पड़ता है। एक ही स्थान पर सारे खनिजों का उत्पन्न होना दुर्लभ है, क्योंकि प्रत्येक खनिज की उपस्थिति परिस्थिति विशेष से सम्बन्धित होती है।

भारतवर्ष के प्रायः सभी क्षेत्रों ने सम्पूर्ण राष्ट्र के खनिज उत्पादन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप भारत के कुछ स्थानों से ऐसे खनिज प्राप्त हुए हैं, जिनकी उपलब्धि कल्पनातीत थी, विशेषकर उत्तर प्रदेश (जिसका खनिज-उत्पादन योगदान अन्य प्रदेशों की अपेक्षा नगण्य था) से अब कुछ ऐसे खनिज उपलब्ध हुए हैं जो कि अभी अन्य क्षेत्रों से नहीं प्राप्त हुए हैं। यह इस प्रदेश के लिये परम सौभाग्य की बात है तथा इनका विकास शनैः शनैः समुचित रूप से किया जा रहा है।

प्राकृतिक सीमाएं

सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश का क्षेत्रफल ११३,४५४ वर्ग मील है। यह उत्तर में तिब्बत एवं नैपाल, पूर्व में बिहार, दक्षिण में मध्य प्रदेश तथा पश्चिम में राजस्थान, पंजाब, देहली और हिमाचल प्रदेशों से घिरा हुआ है। उत्तर की उत्तुंग हिमालय श्रेणी भौगोलिक बाधा ही नहीं अपितु इस प्रदेश के लिये एक वरदान है। भारतवर्ष का सर्वोच्च शिखर नन्दा देवी (२५,६४५) फीट इसी प्रान्त में है। भौगोलिक वर्णन हेतु इस प्रान्त को तीन भागों में विभाजित किया गया है :

१. उत्तर का पहाड़ी प्रदेश
२. गंगा-यमुना का मैदान
३. दक्षिण का पठारी भाग

उपर्युक्त खंडों का संक्षिप्त वर्णन 'भौमिकी की संक्षिप्त रूपरेखा-नामक शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

भौमिकी की संक्षिप्त रूपरेखा—इसका गूढ़ विवेचन संलग्न तालिका (१) में किया गया है। प्राथमिक ज्ञान की दृष्टि से इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विवेचन करना अनुपयुक्त न होगा—

१. उत्तर का पहाड़ी प्रदेश—इस प्रदेश में केवल हिमालय पर्वत माला आती है जो कि दक्षिण से उत्तर को क्रमशः ऊंची होती जाती है। इसकी उत्तुंग श्रेणियां तथा हरी-भरी उपत्यकायें उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को जाती हैं जिनमें सब से प्राचीन आर्कियन युग से वर्तमान युग तक की शैल श्रेणियां विद्यमान हैं। पर्वत श्रेणियां १२,००० फीट तथा १४,००० फीट की ऊंचाई से हिम मंडित हो जाती हैं।

गढ़वाल हिमालय	कुमायूं हिमालय	नैनीताल हिमालय
अभिनव बजरी शिवालिक शैल नुमुलिटिक शैल	अभिनव बजरी शिवालिक शैल कैलाश मिश्रपिंडाश्म कैलाश ग्रेनाइट	जोलीकोट श्रेणी { मिश्र पिंडाश्म, बालुकाश्म एवं शैल, रानीबाग पारफिरिटिक ग्रेनाइट एवं मिग्मेटाइट }
ताल चूर्णप्रस्तर एवं चूनेदार ग्रिट	क्रिटेसियस फ्लिश	रानीबाग काठगोदाम श्रेणी { काठगोदाम, रानी बाग }
ताल श्रेणी { ऊपरी ताल क्वार्टजाइट, निम्न ताल शैल }	विदेशज खंड शैल समूह (कियोगढ़ एवं रक्षास झील)। विदेशज खंड सफेद एवं लाल चूर्ण प्रस्तर (कियोगढ़)	
क्रोल श्रेणी { स्थूल चूर्ण प्रस्तर, नीलारुण शैल, स्लेट्स }	कियाटो चूर्ण प्रस्तर कुटी शैल कालापानी चूर्ण प्रस्तर चाकलेट श्रेणी कुलिंग शैल	नैनीताल श्रेणी
ब्लैनी श्रेणी { इन्फ्रा क्रोल श्रेणी, ऊपरी ब्लैनी गोलाश्म, संस्तर एवं डोलोमाइट, ब्लैनी स्लेट्स, निम्न ब्लैनी गोलाश्म-संस्तर }	मुथ श्रेणी वेरिगेटेड श्रेणी शियाला श्रेणी	इन्फ्रा नैनीताल्स भीमताल स्लेट्स
नागथाट श्रेणी चांदपुर श्रेणी चैल श्रेणी	गरवियांग श्रेणी रालम श्रेणी मारतोली श्रेणी (बुधी शिस्ट)	भोवाली श्रेणी रामगढ़ श्रेणी अल्मोरा-द्वाराहाट श्रेणी
मोधाली उत्क्रम पैरानाइसज्, गारनेटिफेरस शिस्ट एवं ग्रनुलाइट	वैक्रितास	

उत्तर प्रदेश में उपलब्ध खनिजों की संक्षिप्त तालिका—(१)

खनिज	उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र	मैदानी क्षेत्र	दक्षिण पठारी क्षेत्र
धात्विक	तांबा, आर्सेनिक, स्वर्ण, लोहा, सीसा	स्वर्ण	तांबा, स्वर्ण, सीसा
अधात्विक	एस्बेस्टस, ग्रेफाइट, मैग्नेसाइट, गन्धक, सेलखड़ी, चूर्ण प्रस्तर, जिप्सम, फिटकरी, फास्फेटिक पिंड	मार्ल, शोरा, रेह, मृत्तिका, कांच-रेत	एस्बेस्टस, चूर्ण प्रस्तर, अभ्रक डायस्पोर, पायरोफिलाइट, अकीक, डोलोमाइट, बांसी मृत्तिका
ईंधन एवं आन्तभाम जल	प्राकृतिक गैस, स्रोत जल, गन्धक जल	पेट्रोलियम, मीठा जल	कोयला
निर्माण-प्रस्तर एवं रथ्याश्म	क्वार्टजाइट, ग्रेनाइट स्लेट, चूर्ण प्रस्तर, बालुकाश्म, मृत्तिका	कंकड़, मृत्तिका	संगमर्मर, ग्रेनाइट, बेसाल्ट, क्वार्टजाइट, डोलेराइट, बालुकाश्म

२. **गंगा-यमुना का मैदान**—यह भाग उत्तरी तथा दक्षिणी खंडों को विभाजित करता है और राष्ट्रीय महत्त्व से अत्यन्त उपयोगी है। इसकी गोद में कई सभ्यतायें व संस्कृतियां पलीं, जिनके अवशेष अभी तक फतेहपुर-सीकरी, ताजमहल एवं अवध के खंडहरों के रूप में विद्यमान हैं। इसका विस्तार पूर्व में असम से लेकर पश्चिम में पंजाब तथा सिंधुतीर तक लगभग ३०० मील लम्बा तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिणी पठार के प्रारम्भ तक करीब ९० मील चौड़ा है। इसकी गहराई कुछ फीट से प्रारम्भ होकर २४,००० फीट तक है। हिमालय श्रेणी की ओर यह ज्यादा गहरा एवं दक्षिणी पठार की तरफ क्रमशः उथला होता जाता है। लखनऊ के समीप यह लगभग १७,००० फीट से लेकर २०,००० फीट तक गहरा है। इसका निश्चित रूप, गुण एवं प्रकृति अभी तक उचित व पूर्ण से ज्ञात नहीं हो सकी हैं। अभी तक उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार इसको निम्न खंडों में विभाजित किया गया है :

जलोढ निक्षेप —गंगा एवं सिन्धु से

अभिनव जलोढक —पंजाब का खांडर

पूर्वतन जलोढक —गंगा-घाटी का भांगर

शिवालिक, मरी एवं बाह्य हिमालय श्रेणियों का शंकित प्रसार।

आर्कियन, पुराना एवं गोंडवाना शैलों का प्रस्तर।

३. **दक्षिण का पठारी भाग**—आगरा, झांसी, मिर्जापुर, हमीरपुर, बांदा एवं इलाहाबाद आदि स्थान इस भाग के अन्तर्गत आते हैं। भूविज्ञान की दृष्टि से इस भाग में आग्नेय, स्तरीय एवं परिवर्तित अर्थात् सभी प्रकार के शैल मिलते हैं। बुन्देलखण्ड के आग्नेय एवं परिवर्तित शैल इस भाग में सब से प्राचीन युग के हैं जो कि कई अभिनव आग्नेय शैलों एवं क्वार्ट्ज शिराओं से नितोदित हैं। इन शैलों में इनसे भी प्राचीन अन्य कई शैलों के खंड मिलते हैं जो कि अनुपयुक्त तापक्रम व दबाव के कारण अपरिवर्तित ही रह गये हैं या अल्परूप से परिवर्तित हो गये हैं। विंध्य समूह में मुख्यतः शैल, चूर्णप्रस्तर एवं बालुकाश्म आते हैं। अन्तिम दो शैलों की उपस्थिति के कारण ही इस समूह की आर्थिक महत्ता है।

संक्षेप में इस भाग का स्तर-अनुक्रम निम्न है :

मिर्जापुर एवं इलाहाबाद क्षेत्र	झांसी क्षेत्र	हमीरपुर एवं बांदा क्षेत्र
विन्ध्य समूह	डेकन ट्रैप	विन्ध्य समूह
बिजावर शैल	विन्ध्य समूह	डोलेराइट
धारावार शैल	बिजावर शैल	क्वार्ट्ज शिरा
अन्तर्वर्ती शैल	डोलेराइट एवं क्वार्ट्ज-शिरायें	ग्रेनाइट
बुन्देलखंड नाइस	बुन्देल खंड नाइस एवं ग्रेनाइट	बुन्देलखंड नाइस

खनिज विवरण

धात्विक खनिज

१. **तांबा**—यह कोमल परन्तु अत्यन्त दृढ़ धातु होती है। प्राचीन काल में सिर्फ स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार अल्मोड़ा जिले के राई आगर, खरई, देवलधर, आदि स्थानों से प्राप्त किया जाता था। अवैज्ञानिक ढंग से धातु निकलने के कारण यहां की खानें अब वन्द हो गई हैं तथा आजकल इनसे कोई भी धातु नहीं प्राप्त की जाती है। शुद्ध अवस्था में बहुत प्रतन्य, कुह्य एवं विद्युत् की अत्युत्तम सुचालक है। इसको जस्ते एवं टिन के साथ मिश्रित करने पर क्रमशः पीतल एवं कांसे का निर्माण किया जाता है। इसकी उत्पत्ति चट्टानों की दरारों में आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति के समय बचे हुए अवयवों से होती है। यह प्राकृतिक अवस्था में ऑक्साइड, सल्फेट, सल्फाइड, सिलीकेट, क्लोरेट एवं कार्बोनेट के रूपों में प्राप्त होता है।

उपयोग—विद्युत् का सुचालक होने की वजह से मुख्यतः यह विद्युत् उद्योग में प्रयुक्त होता है। मिश्रित धातुओं, मुद्रा-निर्माण, वस्त्रों की रंगाई व छपाई तथा अन्य उद्योगों में भी इसका उपयोग होता है।

प्राप्ति स्थान—गढ़वाल क्षेत्र के कुनेत, धानपुर, असेना, कोटी, कपरोली, डागर, बगोरी, अगरोराली एवं धानखेत स्थानों से प्राप्त होता है। अल्मोड़े क्षेत्र से पुराने समय में प्राप्त किया जाता था। गढ़वाल क्षेत्र के अन्तर्गत पोखरी कंधाड़ा एवं दंडोकहान स्थानों से भी प्राप्त होने की काफी आशा है। झांसी क्षेत्र के अन्तर्गत भी प्राप्त किया गया है।

२. **हरताल**—यह नारंगी-पीले रंग का तथा आसानी से नाखून से खुरच जाने वाला खनिज होता है। यह पर्णित स्थूल रूप में प्रायः एवं मणिभीय रूप में यदाकदा मिलता है। चूनेदार शैल या संगमर्मर की चट्टानों में समाक्षारीय अन्तर्भेदी शैलों के समीप मिलता है।

उपयोग—मिश्रित धातुओं, कीटनाशी चूर्ण, रंगों, सीस गुलिका निर्माण एवं वस्त्र छपाई प्रक्रिया में प्रयुक्त होता है। प्रलाक्ष कार्य में रंजक के रूप में इसका मुख्य उपयोग है।

प्राप्ति स्थान—यह अल्मोड़ा क्षेत्र के मुंसियारी स्थान में मिलता है।

प्रथम तो यह प्रचुर मात्रा में नहीं है; द्वितीय इसका प्राप्ति स्थान आधुनिक उद्योग केन्द्रों से अत्यन्त दूर है।

३. **स्वर्ण**—इसके सुन्दर रंग, कोमलता एवं अन्य गुणों तथा आभूषणों में इसकी उपयोगिता होने के कारण इस धातु की महत्ता प्राचीन समय से ही चली आ रही है। यद्यपि इससे अब मुद्रा निर्माण नहीं होता परन्तु फिर भी देश की आर्थिक स्थिति सन्तुलन में इसका योग होता है। यह प्रकृति में क्वार्ट्ज शिराओं में चांदी, तांबे, बिस्मथ तथा अन्य धातुओं के साथ मिश्रित अवस्था में पाया जाता है। नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी में भी इसके छोटे-छोटे कण प्राप्त होते हैं।

उपयोग—आभूषणों, विद्युत्-उद्योगों, विज्ञान उपकरणों के निर्माण एवं राष्ट्रों के आर्थिक संतुलन को बनाये रखने में प्रयुक्त होता है।

प्राप्ति स्थान—यह बांदा जिले के नारायणी तीतल, मैदानी क्षेत्र के नगीना एवं गढ़वाल जिले की सोना नदी से प्राप्त किया जा ता है। आजकल सिर्फ कुछ स्थानीय लोग ही इसको बालू से प्राप्त करते हैं परन्तु बिजनौर क्षेत्र में 'डायरेक्टरेट आफ जियालोजी एंड माइनिंग' ने प्रतिचयन इत्यादि प्रारम्भ कर दिया है। शायद निकट भविष्य में कुछ आर्थिक दृष्टि से उपयोगी क्षेत्र ज्ञात हो सकें।

४. **लोहा**—इस खनिज का देश की उन्नति में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण योग है। इस खनिज का उपयोग दैनिक

कार्यों में प्रयोग आने वाली वस्तुओं से लेकर बड़े-बड़े उद्योगों में होता है। अतः इसकी मांग अत्यधिक बढ़ती जा रही है। लोहा धातु, खनिज को कोक के साथ प्रद्रावित करने से प्राप्त होती है। इसके पश्चात् इस लोहे से अन्य प्रकार की लोहे की किस्मों को प्राप्त किया जाता है। मुख्य खनिज मैगनेटाइट, हेमेटाइट, इल्मेनाइट एवं सिडराइट हैं। अल्मोड़ा क्षेत्र में पहले यह बिल्कुल शुद्ध रूप में पाया जाता था जिसे स्थानीय निवासी सीधे भट्टियों में पिघला कर प्रयोग में लाते थे। परन्तु धीरे धीरे इनका भंडार समाप्त होता जा रहा है। अभी तक बड़े औद्योगिक पैमाने में इसका उत्पादन उत्तर प्रदेश के किसी भाग से नहीं होता है।

उपयोग—इसका उपयोग बहुक्षेत्रीय है। संक्षेप में इसका उपयोग आधुनिक उद्योगों में मिश्रित धातुओं के निर्माण में एवं इसकी ऑक्साइड का रंग आदि के निर्माण में होता है।

प्राप्ति स्थान—गढ़वाल क्षेत्र के लोहा गांव, उदातोली, चोपरा, झारनेमी आदि स्थानों में मिलता है। मिर्जापुर क्षेत्र के अन्तर्गत तथा नैनीताल क्षेत्र के काला-धुंगी एवं रामगढ़ स्थानों में कुछ घटिया प्रकार का लोहा प्राप्त होता है।

५. **सीसा**—यह हल्के नीले भूरे रंग की भारी परन्तु कोमल धातु है। इसकी ताजी कटी सतह बड़ी चमकीली होती है पर थोड़ी देर में धुंधली पड़ जाती है। इसकी न्यून नम्यता के कारण इसको तारों के रूप में नहीं प्रयोग किया जा सकता है। प्राकृतिक अवस्था में यह स्वतन्त्र रूप से नहीं प्राप्त होता है। प्रायः यह जस्ते की सल्फाइड के साथ पाया जाता है। यह आग्नेय चट्टानों के निर्माण के समय निकली गैसों से उत्पन्न होता है जो कि समीपवर्ती चूर्ण प्रस्तरों की दरारों व रिक्त स्थानों में एकत्र हो जाती है।

उपयोग—मिश्रित धातुओं, घर्षण विरोधी धातुओं, बिजली की बैटरियों, बारूद, कांच निर्माण, रबड़, रंगों इत्यादि में इसका प्रचुरता से उपयोग होता है।

प्राप्ति स्थान—अल्मोड़ा क्षेत्र के खरई तथा गढ़वाल क्षेत्र के पिंडकी एवं झांसी जिले में अल्प व्यापारिक रूप से प्राप्त किया जाता है।

अधात्विक खनिज

६. **फिटकरी**—यह खनिज सफेद एवं पारदर्शक होता है। पायराइट सम्पन्न शैलों में पायराइट के विघटन से उत्पन्न गन्धकाम्ल से इसकी उत्पत्ति होती है तथा बरसात में नदियों द्वारा चट्टानों से मिट्टी के साथ बह कर एकत्र होता रहता है।

उपयोग—इसका उपयोग गंदले पानी को साफ करने, एन्टीसेप्टिक के रूप में एवं चर्मसंस्कार में होता है।

प्राप्ति स्थान—नैनीताल क्षेत्र के खैरना नामक स्थान से उपलब्ध होता है परन्तु बड़े औद्योगिक पैमाने पर नहीं।

७. **एस्बेस्टस**—यह सफेद भूरे तथा हरे रंग का रेशमी रेशों या स्थूल रूप में पाया जाने वाला खनिज है। इसकी उत्पत्ति मैगनीशियम सम्पन्न शैलों के परिवर्तन से होती है। व्यापारिक दृष्टि से इसके तीन रूप उपयोगी हैं (क) तिर्यक् तन्तु—जब तन्तु शिरा भित्ति से समकोण बनाते हैं। (ब) समतन्तु—जब तन्तु समानान्तर होते हैं। (स) शैलपुंज तन्तु—जब तन्तु अव्यवस्थित रूप से मिलते हैं। एस्बेस्टस के चार प्रकार होते हैं—१. क्राइसोटाइल, २. एक्टिनोलाइट ३. एमोराइट। ४. बोरीडोलाइट।

उपयोग—अग्निसह कपड़े, एप्रन, दस्ताने, आरोधास्तर, विसंवाहक सामग्री, भ्राजाइष्टका, वज्रलेप, छदिनिर्माण, सामग्री, पावतल्प, अम्ल तथा अन्य रसायनों के छानने आदि के काम में आता है।

प्राप्ति स्थान—गढ़वाल जिले के जलाई एवं कंधाड़ा तथा अल्मोड़ा क्षेत्र के सिंगली कानली स्थान में उपस्थित है परन्तु अभी पूर्णतया विकास एवं सम्पूर्ण भंडारों का पता लगाना बाकी है।

८. **ग्रेफाइट**—यह हलका कोमल एवं काले रंग का होता है। इसमें कुछ चमक भी होती है। छूने पर हाथों को काला कर देता है। यह प्रकृति में विभिन्न शैलों के साथ मिलता है। यह दरारों में, छोटे-छोटे सिध्मों में या छितरी हुई अवस्था में प्राप्त होता है। इस पर उच्च तापक्रम का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता। अतः इस गुण ने इसकी उपयोगिता को और बढ़ा दिया है।

उपयोग—मुख्यतया इसका उपयोग विद्युत् सम्बन्धी वस्तुओं में किया जाता है, जैसे विद्युज्जनित्र के कूर्च निर्माण में, अधातुई वस्तुओं में विद्युत्रोपन करने, विद्युत् भट्टियों में विद्युत् द्वार के निर्माण आदि में। इसका अन्य उपयोग उच्च तापक्रम पर नष्ट न होने वाली प्यालियों, रंगों, लुब्रीकेन्ट्स एवं पेन्सिल इत्यादि के निर्माण में भी होता है।

प्राप्ति स्थान—अल्मोड़ा क्षेत्र के पिंडरी उकाकोट तथा गढ़वाल क्षेत्र के मानसोरी स्थानों से उपलब्ध होता है परन्तु व्यापारिक मात्रा में इसका उत्पादन नहीं है।

९. **मैग्नेसाइट**—यह मैग्नेशियम कार्बोनेट सफेद या भूरे रंग का खनिज होता है। प्रकृति में यह मणिभीय या स्थूल रूप में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति मुख्यतया दो प्रकार से होती है—(१) सरपेन्टीन मास के दरारों इत्यादि में कार्बन डाई आक्साइड की प्रक्रिया से, (२) आग्नेय चट्टानों से निर्वासित घोल से विघटित चूर्णप्रस्तरों में मिलता है।

उपयोग—इसका उपयोग कुछ विशेष प्रकार की सीमेंट निर्माण में कागज एवं शक्कर उद्योगों एवं उच्चताप-क्रम पर सहनशील होने की वजह से उष्मसह इष्टका एवं भ्राष्ट आस्तर में होता है।

प्राप्ति स्थान—हिमालय क्षेत्र के देवलधर, तछनी, जजरौली, गनई एवं बोरागर आदि स्थानों से प्राप्त होता है। अल्मोड़ा क्षेत्र का खनिज व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहां पर यह बहुतायत से मिलता है। इसलिए पिछले चार वर्षों से उत्तर प्रदेश की सरकार इस ओर विशेष ध्यान दे रही है। शीघ्र ही इसका उत्पादन व्यापारिक दृष्टि से होने लगेगा।

१०. **सेलखड़ी**—यह विभिन्न रंगों वाला कोमल एवं हल्का खनिज होता है। हाथ से छूने पर यह चिकना एवं साबुन जैसा प्रतीत होता है। इस पर तापक्रम का भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। यह मेग्नीशियम सम्पन्न शैलों के जलीयन से उत्तरजात खनिज के रूप में उत्पन्न होता है। यह जलीयन (१) आग्नेय शैलों के संस्पर्श क्रिया द्वारा, (२) प्रादेशिक परिवर्तना के समय प्रत्यावल द्वारा या द्रुतपुंजीय जल की प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होता है।

उपयोग—पहले इस खनिज का उपयोग पत्थरों के आभूषणों एवं बर्तनों के निर्माण में होता था परन्तु यह लेप, कागज, रबड़, रंग, पाउडर एवं चमड़े आदि के निर्माण में प्रयुक्त होता है। इसकी बड़ी-बड़ी शिलापट्टियों से संवियुक्त फलक मेज की छत, सिंक व अम्ल टैंक आदि का निर्माण किया जाता है।

प्राप्ति स्थान—अल्मोड़ा क्षेत्र के देवलधार, देवलथल एवं बागेश्वर स्थानों में डोलोमाइट शैलों के साथ मिलता है। इसका उत्पादन व्यापारिक मात्रा में होता है।

११. **फॉस्फेटिक पिंड**—यह फॉस्फेटिक खनिज छोटे या बड़े पिंडों के रूप में प्राप्त होता है। स्तरीय अवस्था में बहुत कम मिलता है। इनसे जो फॉस्फोरस प्राप्त किया जाता है वह अत्यन्त उपयोगी होता है। पिंडों में लगभग ७६ प्रतिशत कैल्शियम फॉस्फेट एवं स्तरीयों में ६० प्रतिशत कैल्शियम फॉस्फेट होता है।

उपयोग—फॉसफोरस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी होता है। इसका मुख्य उपयोग स्वास्थ्यप्रद टॉनिक, खाद-निर्माण, प्लास्टिक-निर्माण एवं फोटोग्राफी में है।

प्राप्ति स्थान—यह मसूरी क्षेत्र के अन्तर्गत प्राप्त होता है। परन्तु मात्रा अधिक न होने की वजह से बड़े पैमाने पर इसका उत्पादन उत्तर प्रदेश से नहीं होता है।

१२. **चूर्ण प्रस्तर**—स्तरीय अवस्था में पाये जाने वाले कैल्शियम कार्बोनेट को चूर्ण प्रस्तर कहते हैं। यह विभिन्न प्रकार का होता है, जैसे स्फटात्मक चूर्ण प्रस्तर, मार्ल चूर्ण प्रस्तर, अशुद्ध अवस्था में मृन्मय चूर्ण प्रस्तर, सैकत्य, चूर्ण प्रस्तर, जतुक्य चूर्ण प्रस्तर आदि।

इनका निर्माण रासायनिक क्रिया तथा मोलस्क, प्रवाल इत्यादि के बाह्यावरण या अन्य कठोर हिस्सों, जो कि कैल्शियम कार्बोनेट के बने होते हैं, के एकत्र होने से या चूर्णमय शैवाल के अवक्षेपण से होता है।

उपयोग—इसका बहुक्षेत्रीय उपयोग है। संक्षेप में सीमेंट निर्माण, लोहे तथा रासायनिक उद्योगों एवं भवन निर्माण में इसका उपयोग होता है।

प्राप्ति स्थान—चूर्ण प्रस्तर के उत्पादन का व्यापारिक क्षेत्र में अत्यधिक योगदान है। उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र में चकराता, लेन्सडाउन, मंझोला, देहरादून स्थानों से प्राप्त होता है। नैनीताल क्षेत्र में तूफा भी मिलता है। दक्षिणी पठार में यह झांसी, बांदा एवं मिर्जापुर क्षेत्र में प्राप्त होता है।

१३. **जिप्सम**—यह खनिज सफेद हल्के पीले या लालरंग तथा आसानी से नाखून से खुरच जाने वाला होता है। शुद्ध अवस्था में यह पारदर्शक होता है परन्तु अशुद्ध अवस्था में अपारदर्शक होता है। यह चार प्रकार का होता है—(१) सेलेनाइट (२) एलबास्टर (३) सेटिनस्पार (४) जिप्साइट। इसकी उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—(१) समुद्री पानी के वाष्पीकरण से (२) समुद्र में चूर्ण प्रस्तर के डोलोमिटाइजेशन से एवं (३) मिट्टियों में उपस्थित कैल्शियम कार्बोनेट के बाह्यावरणों पर, पाइराइट के विघटन से उत्पन्न गन्धकाम्ल की प्रतिक्रिया से।

उपयोग—खाद, प्लास्टर ऑफ पेरिस, सीमेंट, क्रेयान, रंग, रबड़ व्यामिश्रित अन्न उत्पादन आदि में प्रयुक्त होता है।

प्राप्ति स्थान---सेरा (टेहरी गढ़वाल क्षेत्र) ; लक्ष्मण झूला, बल्दियाखान, सोहनधारा, कालाढूंगी, धापिला (नैनीताल क्षेत्र), सहस्रधारा, देहरादून क्षेत्र तथा हमीरपुर जिले में पाया जाता है। इन स्थानों से इसकी उपस्थिति ज्ञात है परन्तु इनका प्रचुर मात्रा में सब स्थानों में मिलना सन्देहजनक है। कालाढूंगी एवं सहस्रधारा क्षेत्र में यह काफी मात्रा में मिलता है।

१४. **गन्धक**---यह खनिज शुद्ध एवं मिश्रित दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है। यह पीले रंग का (हरापन या लालपन लिये हुए) पारदर्शक या अल्पपारदर्शक होता है। प्रकृति में गर्म स्रोतों के मुहानों पर या क्वार्ट्ज शिस्ट की दरारों में पाया जाता है। इसका उत्पादन हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में नहीं होता है। अतः इसका बाहरी देशों से आयात किया जाता है।

उपयोग---इसका अत्यधिक उपयोग गन्धकाम्ल निर्माण में होता है। विस्फोटक पदार्थों तथा कीटनाशी चूर्ण निर्माण में भी प्रयुक्त होता है। इसका अन्य उपयोग वस्त्र उद्योग, लोहे, रेयान, रंगों, कागज आदि के निर्माण में होता है।

प्राप्ति स्थान---गढ़वाल क्षेत्र के रूपगंगा घाटी से तथा मंझारा में जिप्सम सम्पन्न चूर्ण प्रस्तरों में मिलता है। नैनीताल क्षेत्र से भी इसकी उपस्थिति ज्ञात है पर व्यापारिक मात्रा में उक्त किन्हीं स्थानों से नहीं प्राप्त होता है।

१५. **अभ्रक**---यह खनिज विभिन्न रंगों वाला पारदर्शक एवं चमकीला होता है। यह पुस्तिका रूप में प्रकृति में पाया जाता है। इसकी परतों को अलग-अलग किया जा सकता है। व्यापारिक क्षेत्र में इन परतों के आकार पर ही इसका मूल्य निर्धारित किया जाता है। मुख्यतया यह आग्नेय शैलों, ग्रेनाइट या पेग्मेटाइट शिराओं में मिलता है।

उपयोग---विद्युत् कुचालक होने के कारण विद्युत् वस्तुओं में पृथक्करण प्रयोजनों में प्रयुक्त होता है। लैम्प चिमनियों, रबड़ टायरों, कृत्रिम पत्थर एवं लुब्रीकेन्ट निर्माण में भी उपयोग किया जाता है।

प्राप्ति स्थान---मिर्जापुर क्षेत्र के अन्तर्गत प्राप्त होता है। अशुद्ध अभ्रक गढ़वाल क्षेत्र से भी प्राप्त किया जाता है। कम मात्रा एवं अशुद्धि के कारण व्यापारिक दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व नहीं है।

१६. **अकीक**---यह खनिज अमणिभ सिलिका होता है। इसमें विभिन्न रंगों की पट्टियां होती हैं। गर्म करने पर ये रंग और निखर आते हैं। ये प्रकृति में वातमाकार बेसाल्ट में छोटे-छोटे छिद्रों में या बड़े-बड़े गोलों के रूप में प्राप्त होते हैं।

उपयोग---इस खनिज को तराश कर आभूषणों के नगों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अपघर्षों एवं मार्टर के निर्माण में भी उपयोग किया जाता है।

प्राप्ति स्थान---यह बांदा क्षेत्र से औद्योगिक रूप में प्राप्त किया जाता है।

१७. **डायस्पोर**---यह खनिज मुख्यतः पायरोफिलाइट के साथ मिलता है। छोटे-छोटे कणों से लेकर लम्बे फलक (३" लम्बा) आकार में मिलता है। स्थानीय ग्रामवासी इसको चमकीले होने की वजह से 'चमकीला' भी कहते हैं। अल्यूमीनियम की प्रतिशत मात्रा अधिक होने के कारण इसकी उपयोगिता बढ़ गई है।

उपयोग---मुख्य उपयोग, उष्मसह वस्तुओं के निर्माण एवं अल्यूमीनियम उद्योगों में है।

प्राप्ति स्थान---यद्यपि यह पायरोफिलाइट के साथ आंशिक रूप से मिलता है पर इसकी व्यापारिक मात्रा में उपलब्धि झांसी क्षेत्र के गौरारी स्थान से होती है।

१८. **पायरोफिलाइट**---यह खनिज अपने बाह्य गुणों में सेलखड़ी से समानता रखता है परन्तु रासायनिक एवं अन्य गुणों में इससे भिन्न होता है। स्थानीय ग्रामवासियों में यह खनिज 'गौरा' नाम से प्रचलित है। इस खनिज की उत्पत्ति प्रदेशीय शैल (नाइसोस ग्रेनाइट) के उष्मजलीय परिवर्तन से होती है।

उपयोग---स्थानीय ग्रामवासी इस खनिज को सुन्दर वस्तुओं के निर्माण में उपयोग करते रहे हैं। पर अब अपने कुछ विशेष गुणों के कारण यह मृत्तिका उद्योग, उष्मसह वस्तुओं के निर्माण, कांच उद्योग इत्यादि में भी प्रयुक्त किया जाता है।

प्राप्ति स्थान---इसकी व्यापारिक मात्रा में उपलब्धि झांसी एवं हमीरपुर क्षेत्र से होती है।

१९. **काँच-रेत**---यह शुद्ध स्फटिक रेत होती है जिसके कणों एवं गठन में पूर्णतया समानता होती है। यह समानता ही रेत को अत्यन्त उपयोगी बना देती है। अशुद्धि-उपस्थिति इसकी व्यापारिक महत्ता को कम कर देती है। इसका निर्माण बालुकाश्म के विघटन से होता है। यह विघटन प्राकृतिक एवं कृत्रिम शक्तियों द्वारा सम्पन्न होता है।

उपयोग—उत्तम रेत का उपयोग कांच-निर्माण उद्योग में होता है। दैनिक उपयोग में प्रयुक्त होने वाली सभी कांच की वस्तुएँ इससे निर्मित होती हैं। इसको कुचालक के रूप में भी प्रयुक्त करते हैं।

प्राप्ति स्थान—इलाहाबाद क्षेत्र से व्यापारिक मात्रा में उपलब्ध होती है। बांदा क्षेत्र से भी इसकी प्राप्ति होती है।

२०. **रेह**—यह अशुद्ध सोडा होता है। यह जिस स्थान पर प्राप्त होता है वहां कृषि नहीं हो सकती है। यह पर्त के रूप में जमीन की सतह पर जमा होता रहता है। पानी में घुलनशील लवण जब केशिका क्रिया द्वारा जमीन की सतह पर आते हैं तो पानी के वाष्पीकरण हो जाने के पश्चात् ये लवण सतह पर ही रह जाते हैं। ये लवण मिट्टी में मिलकर उसकी उर्वरा शक्ति को क्षीण कर देते हैं।

उपयोग—इसका उपयोग अधिकांशतः कांच एवं वस्त्रादि की सफाई में किया जाता है।

प्राप्ति स्थान—मुरादाबाद, मुजफ्फरनगर तथा मेरठ क्षेत्रों से व्यापारिक मात्रा में प्राप्त होता है।

२१. **मृत्तिका**—मृत्तिका का निर्माण अल्युमिनो सिलिकेट खनिजों से सम्पन्न शैलों के विघटन से होता है। यह विघटन विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों या क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होता है। इसमें कुछ विशेष गुण होते हैं, जैसे लचीलापन, सूक्ष्मकणों से संरक्षण इत्यादि।

अग्नि मिट्टी, मुलतानी मिट्टी आदि इसकी कुछ मुख्य किस्में हैं।

उपयोग—ये मिट्टियां छोटी-छोटी वस्तुओं के निर्माण से लेकर बड़े-बड़े उद्योगों में प्रयुक्त होती हैं। मिट्टी रूई को सफेद एवं भारी बनाने, कागज निर्माण, लिनोलियम, तैल, वस्त्र, उप्मसह ईंटों के निर्माण में प्रयुक्त होती है।

प्राप्ति स्थान—साधारण मिट्टी उत्तर प्रदेश के मैदानी भाग से मुख्यतः प्राप्त होती है। मिर्जापुर क्षेत्र, बांदा क्षेत्र एवं कानपुर क्षेत्र की मिट्टियां उल्लेखनीय हैं जोकि बड़े पैमाने में प्रयुक्त की जाती हैं।

२२. **मार्ल मिट्टी**—यह मृन्मय चूर्ण होता है तथा ज्यादातर उन स्थानों से प्राप्त होती है जहां पर पहले नदियां बहती थीं। और बाद में उनका मार्ग बदल गया है। शुष्क परिस्थितियों में मोलस्क तथा अन्य जीवों के बाह्यावरणों के मिट्टी से मिश्रित होकर बनती है। इस मिट्टी को अक्षार जलीय झीलों के तल से भी प्राप्त किया जाता है। इस मिट्टी में कैल्शियम कार्बोनेट की मात्रा ३५% से ६५% तक होती है।

उपयोग—इसको पोर्टलैण्ड सीमेंट के निर्माण में प्रयुक्त करते हैं।

प्राप्ति स्थान—बाराबंकी, रायबरेली, लखनऊ, उन्नाव, मोहनलाल गंज एवं अजगैन से प्राप्त होता है।

२३. **कोयला**—यह राष्ट्र के लिये एक महत्त्वपूर्ण खनिज है। यद्यपि उत्तर प्रदेश इस खनिज में बहुत अधिक सम्पन्न नहीं है, फिर भी दो-तीन स्थानों से इसकी उपलब्धि होने की वजह से इसका अलग वर्णन करना अनुपयुक्त न होगा। शुद्ध कोयला अपारदर्शक, काला एवं चमकीला होता है। इसका निर्माण प्राचीन वनस्पतियों के भूमि में दबने से दबाव व आंशिक तापक्रम के बढ़ने पर, कई रासायनिक परिवर्तनों के पश्चात् होता है।

उपयोग—कोक के रूप में इस्पात निर्माण उद्योगों में, अन्य उद्योगों में, आवागमन के साधनों एवं घरों में ईंधन के रूप में यह प्रयुक्त होता है। कोक-निर्माण के समय की अवशेष गैसों को कार्बनिक रसायनों के निर्माण कार्य में उपयोग किया जाता है।

प्राप्ति स्थान—यह मिर्जापुर जिले के कोटा क्षेत्र तथा निकटवर्ती मध्य प्रदेश के सिंगरौली क्षेत्र में पाया जाता है। परन्तु अभी तक व्यापारिक मात्रा में उत्पादन का समुचित विकास नहीं हुआ है।

२४. **पेट्रोलियम**—यह प्रायः अशुद्ध अवस्था में भूगर्भ से हाइड्रोकार्बनिक रसायन के रूप में उपलब्ध होता है तत्पश्चात् इसको कई विधियों से आवश्यकतानुसार शुद्ध कर के प्रयोग में लाया जाता है। इसके निर्माण के लिये तैलाधार, शैल तथा उत्पन्न हुए तैल का 'संरचना-नियंत्रण' द्वारा एक स्थान में एकत्र होना आर्थिक दृष्टि से आवश्यक है। तत्पश्चात् नलकूपों द्वारा इसको भू-सतह पर लाकर नलकों द्वारा शुद्ध करने हेतु कारखानों में भेज दिया जाता है।

उपयोग—पेट्रोल तथा मिट्टी का तेल बहुत प्रकार से शक्ति-चालित यंत्रों में प्रयुक्त होता है। इसको शुद्ध करने के पश्चात् बचे हुए पदार्थों से रसायन, रंगने की सामग्रियां एवं मोम इत्यादि पदार्थ निर्मित किये जाते हैं। प्राकृतिक गैस का उपयोग ईंधन व खाद बनाने में होता है।

प्राप्ति स्थान—थोड़े ही समय पूर्व किये गये सर्वेक्षणों के पश्चात् कई स्थानों से उपयुक्त अधोभूमि संरचनायें गंगा-यमुना के मैदान में ज्ञात हुई हैं। इनमें बदायूं एवं बरेली क्षेत्र प्रमुख हैं। परीक्षण अभी जारी हैं।

२५. **भूमिगत जल**—इसका मुख्यतया पेयजल के रूप में उपयोग होता है। यह पृथ्वी से स्रोतों से, झरनों एवं कुओं से प्राप्त किया जाता है। इसको सिंचाई आदि कार्यों में प्रयुक्त करते हैं। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी प्रदेशों में स्रोतों का जल बावड़ी में एकत्र कर पीने के काम में लाया जाता है। बदरीनाथ एवं ऋषिकेश के पास गर्म-पानी के स्रोत है। नैनीताल एवं ऋषिकेश में स्रोतों का जल गन्धक से मिश्रित होने के कारण औषध के रूप में प्रयुक्त होता है।

तराई खंड को छोड़कर मैदानी भाग का जल कुओं एवं नलकूपों द्वारा भू-सतह पर लाया जाता है। तराई खंड में उत्स्रुव-स्थिति होने के कारण जल स्वतः ही भू सतह पर आ गया है, जिसको यहां पीने एवं सिंचाई के काम में लाया जाता है।

दक्षिणी पठारी भाग में जहां-जहां जलोढ-उपस्थित नहीं हैं, वहां कुओं एवं अन्य उन्नत वैज्ञानिक विधियों द्वारा जल ग्रनाइट के संघों में एकत्र स्थानों से भू-सतह पर लाया जाता है ताकि यह जल इन शुष्क स्थानों में पीने हेतु प्राप्त हो सके।

२६. **निर्माण प्रस्तर एवं रथ्याश्म**—मनुष्य प्राचीन काल से ग्रेनाइट, बालुकाश्म, संगमर्मर एवं बेसाल्ट भवन-निर्माण तथा अन्य कार्यो मे उपयोग करता आ रहा है। इनके विविध उपयोग हैं और विविध उपयोगों हेतु उसी तरह के गुणवाला शैल प्रयुक्त किया जाता है फिर भी इसकी कठोरता, भार सहन करने की क्षमता, धूप व वर्षा से अप्रभावित रहना, खान से सरलतापूर्वक बड़े आकार में प्राप्त होना, स्पष्ट संधों की अनुपस्थिति एवं अनेक ऐसे गुण हैं जो इनकी उपादेयता एवं महत्त्व को बढ़ा देते हैं। ये गुण शैल की उत्पत्ति, संधों की उपस्थिति एवं इसकी भाजन-क्षमता पर निर्भर हैं।

उपयोग--ये बहुत प्राचीन काल से मन्दिरों, भवनों एवं महलों के निर्माण में बहुतायत से प्रयुक्त होते आ रहे हैं। अब इनका बृहद् उपयोग पुल, बांध, राजपथ, विद्युत् स्तम्भों एवं चहारदीवारी आदि के निर्माण में होता है।

प्राप्ति स्थान—दक्षिणी पठारी भाग के बुन्देलखंड क्षेत्र से उत्तम भौमिक गुणों एवं सुन्दर रंग वाला ग्रेनाइट बहुतायत से प्राप्त किया जाता है। विन्ध्य तंत्र का लाल बालुकाश्म चुनार, फतेहपुर सीकरी, मिर्जापुर एवं आगरा से प्राप्त होता है। इसी बालुकाश्म से बुलन्द दरवाजा, आगरे का किला एवं दिल्ली के लाल किले जैसी सुन्दर इमारतों का निर्माण हुआ है। मिर्जापुर जिले के मूंधा नामक स्थान से प्राप्त संगमर्मर मूर्ति-निर्माण हेतु प्रयुक्त होता है। टेहरी गढ़वाल की अलगाड़ नदी की घाटी से मसूरी, रानी खेत और देहरादून आदि क्षेत्रों से अच्छी किस्म की स्लेट प्राप्त की जाती है।

कंकड़—यह भूरे रंग का मटमैला अशुद्ध चूना, पिंडाकार व अन्य रूपों में पाया जाता है। इसमें लगभग ३०% मृत्तिका या बालू मिली रहती है। यह भू-सतह पर या अधोभूमिक परतों के रूप में प्रकृति में पाया जाता है। मुख्यतः इसकी संरचना रन्ध्राकार होती है।

उपयोग—इनसे द्रव-चूना प्राप्त किया जाता है। इसको रथ्याश्म रूप में एवं निपिंड कंकड़ को निर्माण प्रस्तर के रूप में भी प्रयुक्त करते हैं।

प्राप्ति स्थान—यह उत्तर प्रदेश के मैदानी भाग से प्राप्त किया जाता है और वहीं से आवश्यकतानुसार अन्य स्थानों को पहुंचा दिया जाता है।

खनिज उत्पादन

पिछले दस वर्षों के खनिज-उत्पादन के उपलब्ध आंकड़ों से उत्तर प्रदेश को खनिज-क्षमता एवं सम्पूर्ण भारतवर्ष की खनिज-क्षमता का निम्न तालिका से सहज में ही तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है:

वर्ष	खनिज—उत्पादन	
	उत्तर प्रदेश '००० **रुपयों में**	**भारतवर्ष (गोवा को छोड़कर)** '०००,००० **रुपयों में**
१९५५	७८९	९४४†
१९५६	२,१६५	१,०६९†
१९५७	६,३२३	१,२९३†
१९५८	११,८८६	१,३८३†
१९५९	१५,११७	१,४३०†
१९६०	२०,४८४	१,६४४†
१९६१	२७,९०३	१,७६४†
१९६२	२९,४५०	१,८८२††
१९६३	३,८८४††	२,१२४††
१९६४	३,९२३††	२,०५६††

†पिट्रोलियम, प्राकृतिक गैस एवं परमाणु शक्ति अधिनियम १९४८ के अन्तर्गत आने वाले खनिजों को छोड़ कर।
††पिट्रोलियम, अप्रधान खनिजों एवं परमाणु शक्ति अधिनियम १९४८ के अन्तर्गत आने वाले खनिजों को छोड़कर।

उत्तर प्रदेश का सन् १९५७ से सन् १९६४ तक का मुख्य खनिज उत्पादन निम्नलिखित है :

खनिज	१९५७	१९५८	१९५९	१९६०	१९६१	१९६२	१९६३	१९६४
चूर्ण प्रस्तर (टनों में)	४९०,४२२	४४४,६३७	४१७,६१९	३७८,०३५	५७७,४१२	८२७,५७०†	८२१,७५३	७२१,४८८
जिप्सम (,,)	२,१८५	१,४११	१,३६४	४२१	६४१	३,८२४†	२,८८५	२,७८८
सेलखड़ी (,,)	—	—	—	—	७५७	१,४९०	५४२	१,१०९

उपर्युक्त दोनों तालिकाओं के आंकड़े मिनरल एकोनोमिक डिवीजन, इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइन्स, नागपुर द्वारा प्रकाशित 'इण्डियन मिनरल्स' (वार्षिक ६१, ६२) एवं 'बुलेटिन ऑफ मिनरल स्टेटिस्टक्स' (मासिक) अंकों से उद्धृत किये गये हैं।

संक्षेप में उपर्युक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर प्रदेश ने खनिज-उत्पादन में पिछले दस वर्षों में एक निश्चित उन्नति की है और निरन्तर इस उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने का प्रयास जारी है। इसी हेतु मिर्जापुर जिले के रेनुकूट नामक स्थान पर (रिहन्द बांध के समीप), सन् १९६२ में हिन्दुस्तान अल्यूमीनियम कारपोरेशन की स्थापना की गयी, जिसमें निर्धारित लक्ष्य २०,००० टन अल्यूमीनियम उत्पादन को बाद में ५०,००० टन कर दिया गया। इसके अतिरिक्त वज्रलेप मृत्तिका एवं कई कांच-निर्माण उद्योग स्थापित किये गये हैं। एक नाइट्रोजन कृत्रिम खाद उत्पादन केन्द्र, गोरखपुर में २८ करोड़ रुपये की लागत का एवं जापानी सरकार के सहयोग से तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत स्थापित किया जा रहा है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कानपुर में एक खाद-उत्पादन केन्द्र खुलने की सम्भावना है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश अत्यन्त संकुचित साधनों के पश्चात् भी खनिज-उत्पादन क्षमता में उन्नति कर रहा है और इन बाधाओं के बावजूद भी इसका यह प्रयास सराहनीय है तथा इसके उज्ज्वल भविष्य की कामना है।

कुछ विशेष खनिजों की उपलब्धि के कारण उत्तर प्रदेश के खनन उद्योग क्षेत्र में प्रगति की नई सम्भावना हो गई है। देहरादून एवं मिर्जापुर क्षेत्रों में क्रमशः मैग्नेसाइट एवं चूर्ण प्रस्तर के भंडार प्राप्त किये गये हैं। मैग्नेसाइट ने उष्मसह वस्तुओं के निर्माण उद्योग को अत्यन्त उत्साहित किया है। देहरादून क्षेत्र में तो कई सीमेंट के कारखाने स्थापित होने की गुंजाइश है।

पायरोफिलाइट खनिज भी अपने कुछ विशेष गुणों के कारण बहुत ही उपयोगी हो गया है। उष्मसह वस्तुओं के निर्माण एवं श्वेत वस्तुओं (white ware bodies) इत्यादि में प्रयुक्त हो सकने की क्षमता के कारण इसकी मांग निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। भविष्य में बुन्देलखण्ड में प्राप्त होने वाले इस खनिज का उद्योग में महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

बाहुल्य में प्राप्त होने वाले कांच रेत की उपयोगिता उसके श्रेणीकरण एवं शुद्धीकरण पर निर्भर है। उत्तम प्रकार के कांच-रेत में लगभग ९९.७ प्रतिशत सिलिका होती है। अशुद्धता की मात्रा बढ़ने पर प्राप्त कांच रंगहीन नहीं रह जाता है। २० मेश से सम्पूर्ण निकल जाने वाली एवं ३० मेश में से ९५ प्रतिशत निकल जाने वाली रेत उत्तम होती है १२० मेश से निकल जाने वाले कांच-रेत की उपयोगिता क्षीण हो जाती है।

विभिन्न प्रकार के सर्वेक्षणों से उत्तर-प्रदेश के मैदानी भाग में ऐसी कुछ भूगर्भीय संरचनाओं की उपस्थिति होने की सम्भावना है जिनमें पैट्रोलियम एकत्र होने की आशा की जा सकती है। अतः इस क्षेत्र से पेट्रोलियम उपलब्धि की सम्भावना की सम्पूर्णतया उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इस दिशा में निरन्तर प्रयास किया जा रहा है।

---

†संशोधित आंकड़े

उत्तर प्रदेश में लघु उद्योगों का विकास

श्री अमिय भूषण मलिक, आई० ए० एस०
उद्योग निदेशक, उ० प्र० ।

इस बात को सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि उद्योगों का विकास किसी भी अविकसित अथवा अल्पविकसित क्षेत्र की आर्थिक उन्नति का आधार है। यह बात उत्तर प्रदेश के लिये, जो कि मुख्यतया एक कृषि-प्रधान राज्य है और जिसमें रोजगार के अपर्याप्त साधन वाली जनसंख्या की अधिकता है, विशेष महत्त्वपूर्ण है। अर्थव्यवस्था को आत्म-निर्भर बनाने, कृषि पर अवलम्बित जनसंख्या के अनुपात को धीरे-धीरे घटाने एवं जनता के सामान्य जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उद्योग विकास ही सर्वोत्तम विकल्प है। इसी संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि लोगों को अधिक-से-अधिक रोजगार देने एवं क्षेत्रीय साधनों को स्थानीय रूप से उपयोग करने में लघु उद्योगों का विकास एक प्रमुख स्थान रखता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए द्वितीय एवं तृतीय पंच-वर्षीय योजनाओं में, उत्तर प्रदेश के उद्योग विकास कार्यक्रम में लघु उद्योगों के विकास पर अधिकाधिक बल दिया गया और इस बात के लिए निरंतर प्रयास किये जाते रहे कि उद्योगों का समुचित विकेन्द्रीयकरण करके ग्रामीण क्षेत्रों को अधिक-से-अधिक लाभान्वित किया जाय।

एतदर्थ, राज्य में लघु स्तरीय उद्योगों के विकास के लिए नियोजन काल में, विशेषतया तृतीय पंचवर्षीय योजना में, महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम संचालित किए गए और इस बात के लिए प्रयत्न किया गया कि लघु उद्योगों के विकास में बाधा देने वाली विभिन्न समस्याओं, जैसे पूंजी की कमी, कच्चे माल का अभाव, प्रशिक्षित एवं प्राविधिक व्यक्तियों की अनुपलब्धि एवं उत्पादन स्तर को ऊंचा उठाने तथा तैयार माल के विपणन में आने वाली कठिनाइयों आदि का निराकरण किया जा सके और उद्योग विकास में अभिरुचि रखने वाले कारखानेदारों का उचित मार्ग-दर्शन कराया जा सके।

राज्य के लघुस्तरीय क्षेत्र में स्थापित उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए तृतीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में २८१·८५५ लाख रुपयों की वित्तीय सहायता प्रदान की गई। लघु उद्योगियों को स्थानीय रूप से सामूहिक सेवा सुविधाएं प्रदान करने के उद्देश्य से, राज्य में प्रमुख स्थानों पर, राजकीय सुविधा केन्द्र स्थापित किए गए हैं, जिनमें बरेली, इलाहाबाद तथा सहारनपुर के लकड़ी परिपक्वीकरण संयंत्र; मेरठ, हाथरस, कायमगंज और रामपुर के कटलरी योजना केन्द्र; कानपुर और मुरादाबाद में इक्लैट्रोप्लेटिंग संयंत्रों की स्थापना; वाराणसी में तार की जाली का केन्द्र; मिर्जापुर में पीतल उद्योग केन्द्र; गाजियाबाद की फाउन्ड्री और तेल इंजन परीक्षणशाला; शंकरगढ़ का बालू धोने का संयंत्र; पात्रकला विकास केन्द्र, खुर्जा, चुनार व भीमताल; अलौहधातु केन्द्र मुरादाबाद और वाराणसी; फिरोजाबाद का गैस प्लान्ट; हाई तथा लो टेन्शन इन्सूलेटरों की परीक्षण प्रयोगशाला खुर्जा; एवं आगरा व बस्ती के पाइलट प्रोजेक्ट (फुटवियर) उल्लेखनीय हैं।

अर्द्धशहरी एव ग्रामीण अंचलों में राज्य विद्युत् मंडल द्वारा विद्युतीकरण का निरंतर प्रसार किया जा रहा है। इस व्यवस्था के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में यंत्रीकृत उद्योगों के विकास की सम्भावनाएं और अधिक बढ़ जाएंगी। लघु-स्तरीय उद्योगों को बिजली की बढ़ी हुई दरों पर छूट देने के लिए सरकार द्वारा 'पावर-सब्सिडी' योजना चलाई गई है जिसमें तृतीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में ४·१६५ लाख रुपये की सहायता दी जा चुकी है।

खण्ड स्तर पर विभिन्न लघु, कुटीर एवं ग्रामीण उद्योगों जैसे लोहारगीरी, बढ़ईगीरी, सिलाई, ढलाई, बिजली का काम तथा खराद आदि में प्रशिक्षण देने के लिए प्रसार योजना के अन्तर्गत २६१ केन्द्र चलाए जा रहे हैं, जिन पर २० रु० मासिक छात्रवृत्ति सहित, तृतीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में लगभग ३,००० व्यक्तियों को प्रशिक्षण दिया जा चुका है। पाइलट वर्कशाप योजना के ५ केन्द्रों पर प्रतिवर्ष २२५ प्रशिक्षार्थियों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था है। विभिन्न शिल्पों के १० प्रशिक्षण केन्द्र पाइलट प्रोजेक्ट, देवबन्द में संचालित हैं। पात्रकला, प्लास्टिक, वैज्ञानिक टेबिल ब्लोइंग, खेलकूद के सामान बनाने, अलौह धातु, लकड़ी परिपक्वीकरण और इलैक्ट्रोप्लेटिंग में भी प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई है।

लघु उद्योगों के विकासार्थ एवं राज्य भर में उनके संतुलित फैलाव को सुनिश्चित करने के लिये द्वितीय योजना में कारखाने की बनी बनाई इमारतों तथा पानी, बिजली एवं अन्यान्य सुविधाओं से युक्त २ बड़े, ३ लघु, ५ पर्वतीय एवं ५ पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक आस्थान आरम्भ किए गए थे। तृतीय योजना में, ४ बड़े, ५ मध्यम, ८ लघु, २१ ग्रामीण आस्थान एवं ११ विकसित क्षेत्रों की स्थापना का कार्यक्रम सम्मिलित किया गया था। इनके अतिरिक्त १५ हरिजन आस्थान और ११ सहकारी आस्थानों की स्थापना भी की जा रही है। योजनान्तर्गत औद्योगिक आस्थानों में ५९५ इकाइयां निर्मित हो चुकी हैं, इनमें ४५१ इकाइयां उद्योगियों को एलाट की जा चुकी हैं जिनमें से २०४ इकाइयों ने उत्पादन कार्य आरम्भ कर दिया है। इन इकाइयों में २,५०० व्यक्ति रोजगार से लगे हुए हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों के औद्योगीकरण के कार्य में तीव्रता लाने के उद्देश्य से, भारत सरकार द्वारा स्वीकृत ५ परियोजना केन्द्र इस राज्य में देवबन्द (सहारनपुर), मऊरानीपुर (झांसी), फूलपुर (इलाहाबाद), ताड़ीखेत (अल्मोड़ा) और गाजीपुर में स्थापित किए गए हैं, जहां आवश्यक स्थानीय सर्वेक्षण के उपरान्त उद्योग विकास हेतु विभिन्न कार्यक्रम आरम्भ किए गए हैं। चालू वित्तीय वर्ष में इन ग्रामीण औद्योगिक परियोजनाओं के लिए ४१·३५७ लाख रुपये का प्रावधान किया गया है। इसमें से ऋणों के वितरण के लिए १६·४७ लाख रुपये की धनराशि स्वीकृत की गई है।

पूर्वी जिलों के सघन औद्योगिक विकास हेतु, संयुक्त अध्ययन दल की सिफारिशों के अनुसार, राज्य के ४ पूर्वी जिलों—जौनपुर, आजमगढ़, गाजीपुर, देवरिया—में विकास कार्य आरम्भ करने के लिए आवश्यक प्रशासकीय कदम उठाये जा चुके हैं। एक उप निदेशक की देखरेख में इन चारों जिलों को मिलाकर पृथक् उपक्षेत्र बना दिया गया है। तृतीय योजना के शेष समय में विद्यमान योजनाओं को और प्रगतिशील करने तथा नई योजनाएं चालू करने के लिए ७६ लाख रुपये की धनराशि निर्धारित की गई है।

योजनान्तर्गत विभिन्न योजनाओं के सफल कार्यान्वियन को सुनिश्चित करने के लिए उद्योग निदेशालय के प्रशासनिक ढांचे को क्षेत्रीय विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप यथासम्भव विकेन्द्रित कर दिया गया है। चतुर्थ योजना में इसे और अधिक उपयोगी बनाने एवं सुदृढ़ करने का प्रयास किया जायगा। इस समय भी लघु स्तरीय उद्योगों की विभिन्न प्राविधिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए समय-समय पर मुख्यालय के प्राविधिक अधिकारी क्षेत्र में जाकर स्थानीय रूप से इकाइयों का मार्ग-दर्शन करते रहते हैं।

उपर्युक्त प्रयत्नों के फलस्वरूप, राज्य में उद्योगों के विकास में उत्तरोत्तर वृद्धि परिलक्षित हुई है। इस राज्य के प्रमुख लघु उद्योग लोहे की ढलाई, पीतल और अल्युमीनियम के बर्तन, ताले व कटलरी, कृषि उपकरण, औद्योगिक मशीनरी व औजार, साईकिलें और उनके हिस्से, इंजीनियरिंग, खाद्य तेल, चर्मशोधन, जूता और चपड़े की वस्तुएं, रसायन तथा औषधें, कांच की चूड़ियां तथा अन्य उपकरण आदि हैं।

उद्योगों के संगठित क्षेत्र में कारखानों की संख्या, उनमें संलग्न व्यक्ति और उत्पादन तीनों ही बढ़े हैं, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा :

योजना	सन्	पंजीकृत कारखानों की संख्या	रोजगार (व्यक्तियों की संख्या)	उत्पादन
१—प्रथम योजना के पश्चात्	१९५६	१,४३४	२,०३,८९०	२००·४३ करोड़ रु०
२—द्वितीय योजना के पश्चात्	१९६१	२,३९३	२,४६,५१४	३२५·८५ ,, ,,
३—तृतीय योजना में	१९६३	२,६३३	२,६७,३४४	३४५·०० ,, ,,

१९६३ की २,६३३ पंजीकृत इकाइयों में से २,३६७ लघु औद्योगिक इकाइयां हैं, जिनमें पंजीकृत कारखानों के कुल उत्पादन का २८ प्रतिशत उत्पादन हुआ और ३८ प्रतिशत व्यक्तियों को रोजगार मिला। तथापि राज्य की विशालता और यहां की जनसंख्या को देखते हुए देश के किसी भी बड़े राज्य की तुलना में उक्त प्रगति को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब में कारखानों में लगे व्यक्तियों की संख्या वहां की कुल आबादी का क्रमशः २·११, २·५, १·७२ और ०·९० प्रतिशत है, जबकि उत्तर प्रदेश में यह औसत केवल ०·४७ प्रतिशत ही है। यह तथ्य यद्यपि हमारे लिये चिन्ता का विषय है, किन्तु केवल पंजीकृत कारखानों का आधार लेकर सम्पूर्ण राज्य की

औद्योगिक प्रगति आंकना उपयुक्त न होगा, क्योंकि राज्य की बहुत-सी लघुस्तरीय इकाइयां कारखाना कानून के अन्तर्गत नहीं आती हैं। उद्योग निदेशालय द्वारा लगभग ९,००० लघुस्तरीय इकाइयां अभी तक पंजीकृत की जा चुकी हैं, जिन्हें सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। फिर भी, हमें राज्य की चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना में इस बात के लिए अनवरत प्रयत्नशील रहना होगा कि हम राज्य में कारखानों की संख्या में वृद्धि करते हुए और अधिक लोगों को औद्योगिक रोजगार प्रदान कर सकें तथा उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि कर सकें।

जहां तक औद्योगिक उत्पादन का प्रश्न है, उत्तर प्रदेश की लघु औद्योगिक इकाइयों को कच्चे माल की बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा है। अनुमान है कि चतुर्थ योजना के प्रारंभिक वर्ष में ५० करोड़ रुपये से आरम्भ करके उसके पांचवें वर्ष में इस राज्य की लघु स्तरीय इकाइयों की यह आवश्यकता ८५ करोड़ रुपये तक पहुंचेगी, जिसमें से इस अवधि में लगभग ३५ से ४० करोड़ रुपये तक का कच्चा माल आयात करना होगा। इसके लिए हमें पूर्णतया केन्द्रीय सरकार पर निर्भर रहना होगा।

इस राज्य की जनसंख्या की अधिकता सामान्य जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने में बाधक रही है। वास्तविकता यह है कि १९६०–६१ के आंकड़ों के अनुसार, इस राज्य की प्रति व्यक्ति औसत आय केवल २४० रु० है जो भारत के अन्य राज्यों की तुलना में सबसे कम है। इस आय में औद्योगिक क्षेत्र का योगदान केवल ३२.०७ रु० है और यह योगदान भी अन्य राज्यों की तुलना में निम्नतम है। चतुर्थ योजना में हमें औद्योगीकरण के कार्यों का निर्धारण यह लक्ष्य सामने रख कर करना होगा कि हम राज्य की प्रति व्यक्ति औसत आय बढ़ा सकें और साथ ही उसमें उद्योगों के योगदान के अंश में भी वृद्धि कर सकें। इस हेतु औद्योगिक कार्यक्रमों के नियोजन में पूंजी विनियोग बढ़ाने का विशेष ध्यान रखना होगा। आर्थिक सहायता सम्बन्धी कार्यक्रमों में लघुस्तरीय उद्योग क्षेत्र के लिए निर्धारित धनराशि में भी वृद्धि करनी होगी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत (औद्योगिक आस्थानों को सम्मिलित करते हुए) लघुस्तरीय औद्योगिक क्षेत्र के लिए १२·०७ करोड़ रुपये का निर्धारण किया गया था जब कि इस क्षेत्र की सम्भावित आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए चतुर्थ योजना में लगभग ३५·०० करोड़ रुपये का व्यय अनुमित है।
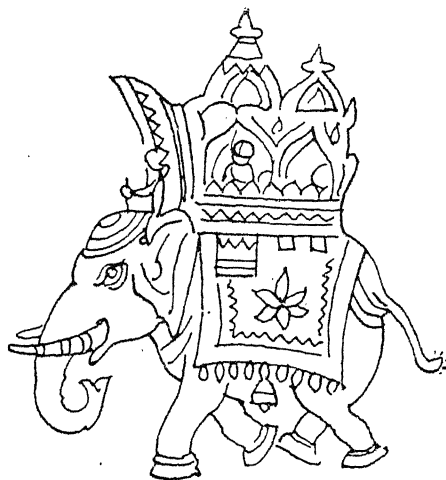
उत्तर प्रदेश में औद्योगिक सम्बन्ध : एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

श्री जी० एन० मेहरोत्रा, एम० ए०
प्राध्यापक, समाजशास्त्र तथा सामाजिक कार्य विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय ।

औद्योगिक सम्बन्धों का उद्विकास चाहे वह राज्य के नियमों के प्रभाव के कारण हो या पारस्परिक समझौते के कारण, सामाजिक व्यवस्था के एक निश्चित प्रतिमान के परिणामस्वरूप होता है । वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्थूल रूप से वे तत्त्व सम्मिलित हैं जो औद्योगीकरण व सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं के विकास के लिये आवश्यक हैं । अतः औद्योगिक सम्बन्धों का अध्ययन उनकी एकतापूर्ण व संघर्षमय प्रकृति, मूल्यों की व्यवस्था तथा औद्योगिक विकास एवं औद्योगीकरण की वेग से चलने वाली प्रक्रिया पर आधारित है। मालिकों एवं श्रमिकों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों द्वारा जो कि एकता या अशान्ति का चित्रण करते हैं, उस सीमा को परावर्तित किया जाता है जिस सीमा तक वे अपने मूल्यों की व्यवस्था के प्रति चेतन रहते हुए परिवर्तन की चुनौती का अनुभव करते हैं । इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय लक्ष्यों या उद्देश्यों में, जो कि समाज में स्थापित किये जाते हैं, एक विशेष दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया जाता है जिसके साथ इन सम्बन्धों का समायोजित किया जाना या ढाला जाना आवश्यक हो जाता है । इन सम्बन्धों की प्रकृति प्रौद्योगिक एवं औद्योगिक प्रगति, तथा सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों की सीमा के अनुसार परिवर्तित होती है ।

चाहे उत्तर प्रदेश हो या भारतवर्ष का अन्य कोई राज्य हो प्रत्येक स्थान पर उद्योग में पाये जाने वाले सम्बन्ध, उनका विभिन्न समूहों के बीच समायोजन या असमायोजन, उन असन्तोषों का अनुसरण करते हैं जो कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रौद्योगिक विकास तथा संस्थात्मक शक्तियों के उदय के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं, किन्तु अभी तक इन प्रभावों को निर्धारित करने के लिये या उनका परिणाम बताने के लिये कोई भी माप या परीक्षण सफल नहीं हुआ है । औद्योगिक व्यवहारों में होने वाले परिवर्तनों व विभेदों के परिमापन के लिये जिन औद्योगिक सम्बन्धों की संरचना व प्रतिमानों का अब तक सुझाव दिया गया है, उनके अन्दर यथार्थता तथा सूक्ष्मता की कमी पायी जाती है। श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के सफल सम्बन्धों के तत्त्वों से सम्बन्धित सभी परिणाम सम्बन्धी मूल्यांकनों में अब तक निःसन्देहात्मकता की कमी पायी जाती है । अतः सम्बन्धों का भूत एवं वर्तमान काल से सम्बन्धित विश्लेषण ही सम्भव है । यद्यपि अशान्ति के सूचकों के ऊपर संघर्षात्मक एवं शान्तिमय सम्बन्धों के कारणों के परिणाम सम्बन्धी विवरण के रूप में बल नहीं दिया जा सकता है; किन्तु फिर भी एक राज्य के अन्दर एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत इनकी तुलना एक ओर स्थितियों तथा भूमिकाओं में हुए परिवर्तनों एवं दूसरी ओर नवीन परिस्थितियों में पाये जाने वाले विकल्पों के आधार पर की जा सकती है । अतः उत्तर प्रदेश में शुभ सम्बन्धों के अध्ययन के लिये इस प्रकार के कुछ सूचकों की विवेचना की जा सकती है ।

हड़ताल व तालाबन्दियाँ—उत्तर प्रदेश में १९४० से लेकर १९६३ तक हुई हड़तालों व तालाबन्दियों की संख्या किसी एकरैखिक प्रवृत्ति का चित्रण नहीं करती । प्रजातांत्रिक नियोजन के आरम्भ की स्थिति में उत्तर प्रदेश में औद्योगिक अशान्ति उसी सीमा पर थी जिस पर वह १९४७ में रही थी । सन् १९५३–५४ में हड़तालों तथा तालाबन्दियों की संख्या में कुछ कमी हुई । किन्तु पुनः १९५५ में बढ़ गयी । वर्तमान वर्षों में जिससे हमारा तात्पर्य १९६१, ६२ और ६३ से है, इसने पुनः वृद्धि की प्रवृत्ति अपनायी है । जैसा कि सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में होने वाले मौलिक परिवर्तन उपरिलिखित विशिष्ट वर्षों की विशेषता रही है, इन वर्षों में अशान्ति से सम्बन्धित वृद्धि, और बाद में आने वाले वर्षों में ह्रास की प्रवृत्ति मालिकों एवं श्रमिकों की अनुकूलन के लिये अनुपयुक्त, कठोर मनोवृत्ति को परावर्तित करती है ।

यह एक सामान्य धारणा है कि संघों का विकास श्रमिकों में दृढ़ता की उत्पत्ति करता है जिसके परिणामस्वरूप हड़तालों व तालाबन्दियों की अभिवृद्धि होती है। श्रमिक संगठनों के छोटे-छोटे भागों में विभाजन की एक दूसरी घटना श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के बीच समझौते के अवसरों को और कम कर देती है। किन्तु इस घटना का सांख्यिकीय विश्लेषण परिकल्पना की अवहेलना करता है। श्रम विभाग उत्तर प्रदेश की कार्रवाइयों की वार्षिक समीक्षाओं में १९४७, ५२, ५५, ६१ में दिये गये आंकड़ों के आधार पर हड़तालों व तालाबन्दियों की संख्या क्रमशः १२५, १२०, ९८ व ९३ है तथा संघों के विकास की संख्या उपर्युक्त वर्षों में क्रमशः २९५, ५८१, ८०१ व १,००९ है।

इन आंकड़ों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने पर संघों में विकास की वृद्धि तथा औद्योगिक अशान्ति में वृद्धि होने का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं दृष्टिगोचर होता है। प्रत्युत् उनके अन्दर विपरीत पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट है। संघों के विकास के द्वारा औद्योगिक अशान्ति कम होती प्रतीत होती है। उपरोक्त वर्षों में संघों की औसत सदस्यता से सम्बन्धित आंकड़े क्रमशः १,०४४, ५३१, ४०१ व ३७० हैं जो श्रम संगठनों के अन्दर पाये जाने वाले छोटे-छोटे खण्डों की उत्पत्ति के द्योतक हैं। इन आंकड़ों तथा हड़तालों व तालाबन्दियों की संख्या में पारस्परिक विपरीत सम्बन्ध है। अर्थात् संघों की औसत सदस्यता में ह्रास, हड़तालों व तालाबन्दियों की संख्या में वृद्धि उत्पन्न नहीं करता है।

उत्तर प्रदेश में हड़तालों को प्रेरणा देने वाली परिस्थितियां सम्पूर्ण देश के औद्योगिक क्षेत्र में व्याप्त परिस्थितियों से भिन्न नहीं हैं। श्रमिक की आर्थिक अनुपयुक्तता उद्योग में पाये जाने वाले अधिकांश विवादों तथा हड़तालों के लिये उत्तरदायी रही है। आधुनिक वर्षों में कार्मिक व अन्य अनेकों कारणों—उदाहरणार्थ कार्य से मुक्त करना, अनुचित व्यवहार, श्रमिकों को पीड़ित किया जाना तथा संघों की मान्यता आदि—ने अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है।

उत्तर प्रदेश में हड़तालों व तालाबन्दियों का प्रतिशत के रूप में विभाजन विभिन्न समूहों के अन्दर भिन्न प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करता है। किन्हीं भी विशेष औद्योगिक समूहों में जिनके नाम इस प्रकार हैं—वस्त्र उद्योग, अन्य (पेंट व वार्निश व प्रलाक्ष आदि) भोजन, पेय व तम्बाकू आदि में एक स्थिर उत्थान या पतन नहीं हुआ है। पिछले दस वर्षों में अन्य की श्रेणी में आने वाले औद्योगिक समूह में वस्त्र उद्योग समूह की अपेक्षा अधिक हड़ताल व तालाबन्दियां रही हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि औद्योगिक विवाद जो कि पहले केवल बड़े उद्योगों से सम्बन्धित थे, अब दूसरे उद्योगों तक भी फैल गये हैं।

उत्तर प्रदेश में हुई हड़तालों व तालाबन्दियों की संख्या के आधार पर यदि यहां के श्रम सम्बन्धों की स्थिति देखी जाये तो यह तुलनात्मक दृष्टिकोण से अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक उदासीन प्रतीत होती है। यदि अधिक लम्बी अवधि में श्रम सम्बन्धों की स्थिति का अवलोकन किया जाय तो यह और अधिक बुरी प्रतीत होती है, जैसाकि हड़तालों व तालाबन्दियों की संख्या में अनवरत वृद्धि से स्पष्ट है। विशेषतया यह प्रवृत्ति सन् १९५९ से आगे दृष्टिगोचर होती है—जबकि अन्य राज्यों में यह प्रवृत्ति या तो सामान्य रूप से पतनोन्मुख रही है या इसमें १९६२ में न्यूनतम वृद्धि हुई है अथवा बिना किन्हीं महत्त्व के पूर्ण रूपान्तरों में स्थायी रही है।

परिवेदनाएँ तथा शिकायतें—अभी तक श्रमिकों की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं द्वारा उत्पन्न परिवेदनाओं के शीघ्र निवारण के लिए कोई भी संतोषजनक व्यवस्था नहीं रही है। औद्योगिक संस्थानों में श्रमिकों की परिवेदनाओं को सुलझाने के लिये, जो प्रायः उनके स्थायी आदेशों का एक भाग है, अपने-अपने ढंग पाये जाते हैं। प्रायः विभिन्न संस्थानों के कल्याण अधिकारियों को श्रमिकों की दैनिक क्रियाओं से सम्बन्धित परिवेदनाओं को सुलझाने का कार्य दिया जाता है। यद्यपि आदर्श परिवेदना निवारण क्रिया विधि का महत्त्व व इसकी उपयोगिता स्वीकृत की जा चुकी है, परन्तु उत्तर प्रदेश में इसके अपनाये जाने की आवश्यकता है। राज्य कार्यान्वियन तथा मूल्यांकन बोर्ड द्वारा उत्तर प्रदेश के उद्योगों को परिवेदना निवारण क्रिया विधि स्वीकृत कराने के विषय में प्रयास किया जा रहा है।

उत्तर प्रदेश के श्रमिकों की वर्तमान परिवेदनाओं की सीमा उनकी प्रकृति तथा उनके कारणों का यथार्थ चित्रण करने वाले आंकड़े उपलब्ध नहीं। केवल उन शिकायतों के आंकड़े उपलब्ध हैं, जिन पर विचार नहीं किया गया या जिनका समाधान नहीं किया गया और जो परिणामस्वरूप संराधन व अन्य अधिकारियों के समक्ष लाई गयीं। १९५२ से लेकर १९६१ तक उत्तर प्रदेश के संराधन अधिकारियों के समक्ष लाई गईं सम्पूर्ण शिकायतों में ८८ प्रतिशत से अधिक श्रमिकों की हैं। यद्यपि उनमें से अधिकांश शिकायतें श्रमिक संघों के माध्यम से आगे बढ़ाई गईं, किन्तु फिर भी उन शिकायतों की संख्या जो श्रमिकों के द्वारा वैयक्तिक रूप में की गयीं, कम नहीं। इसके द्वारा मालिकों की श्रम संघों व उनके प्रति सद्भावना रखने वाले व्यक्तियों के प्रति विरोधी मनोवृत्तियों का परावर्तन होता है।

विभिन्न उद्योगों में हुई शिकायतों के अध्ययन से भिन्न-भिन्न वर्षों में पायी जाने वाली भिन्नताओं का ज्ञान स्पष्ट होता है। जहां तक कारखाने वाले उद्योगों का सम्बन्ध है, विभिन्न उद्योगों में हड़तालों व तालाबन्दियों की तुलनात्मक स्थिति

समान है। उन उद्योगों में भी जिनमें कारखाने नहीं हैं, हुई शिकायतों की सम्पूर्ण संख्या इन वर्षों में (अर्थात् १९५० से लेकर १९६० तक) अत्यधिक बढ़ गयी है।

औद्योगिक सम्बन्धों के अन्य सूचक अनुपस्थिति, श्रम-प्रतिस्थापना और अनुशासन सम्बन्धी कठिनाइयां हैं। किन्तु अन्तिम विश्लेषण में यह भी मुख्य रूप से दो कारणों के परिणामस्वरूप अनिश्चित व अनुपयुक्त प्रतीत होती है। प्रथम कारण यह है कि श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों के अतिरिक्त भी इनके अनेक कारण होते हैं। दूसरा कारण यह है कि अब तक उस सीमा को निर्धारित करने के लिये कोई भी गुणात्मक या परिमाणात्मक साधन नहीं अपनाये गये हैं, जो इन कारकों द्वारा पृथक् रूप से श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को परावर्तित करती हैं।

विवादों का समझौता—द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच अभिनिर्णायिकों की नियुक्ति के पूर्व इस राज्य में विवादों का समझौता करने के लिये कोई भी वैधानिक व्यवस्था नहीं थी। 'श्रम विवाद अधिनियम १९२९' ('ट्रेड डिस्पयूट्स ऐक्ट' १९२९) के अंतर्गत दिये गये प्राववानों का उपयोग नहीं हुआ। वर्तमान समय में इस व्यवस्था की दो प्रकार की रूपरेखायें हैं—एक निजी क्षेत्र में आने वाले संस्थानों से सम्बन्धित है तथा दूसरी का सम्बन्ध सरकारी व अन्य निश्चित सहकारी क्षेत्र के संस्थानों से है। निजी क्षेत्र की व्यवस्था के अन्तर्गत संराधन मण्डल दोनों दलों की सहमति से पंच निर्णायिकों की नियुक्ति तथा श्रम न्यायालयों एवं औद्योगिक न्यायाधिकरण आते हैं।

संराधन मण्डलों की प्रकृति त्रिदलीय है तथा यह पूर्ण रूप से संराधन कार्यों से सम्बन्धित है। इसका अध्यक्ष क्षेत्रीय संराधन अधिकारी होता है। यदि दलों में किसी प्रकार का समझौता हो जाता है, तो संराधन अधिकारी इस समझौते का एक प्रपत्र तैयार करता है और इसे सम्बन्धित दलों, राज्य सरकार व श्रमायुक्त के पास प्रेषित करता है। समझौता कराने में असफल होने पर मण्डल की कार्रवाइयों का वृत्तलेख, जिसमें कि असफलता के कारणों का विशेष उल्लेख रहता है, राज्य सरकार तथा श्रमायुक्त के पास प्रेषित करता है। समझौता मण्डल की रिपोर्ट के तथ्यों पर विचार करके सरकार औद्योगिक न्यायाधिकरणों या श्रम न्यायालयों में से किसी एक के पास भेजने की, जो भी स्थिति हो, आवश्यकता के सम्बन्ध में निर्णय करती है। राज्य सरकार स्वयं भी प्रेषण कर सकती है। उत्तर प्रदेशीय औद्योगिक विवाद अधिनियम, १९४७ के अन्तर्गत पंच निर्णय के लिये ऐच्छिक प्रेषण की भी व्यवस्था है। किन्तु एक बार विवाद के पारस्परिक स्वीकृत पंच-निर्णायिक के समक्ष प्रेषित किये जाने पर निर्णय को मानने के लिये दोनों दल बाध्य हो जाते हैं।

उत्तर प्रदेश में पायी जाने वाली वर्तमान अभिनिर्णायिक व्यवस्था दो स्तरीय व्यवस्था है, इसके अन्तर्गत श्रम न्यायालय तथा औद्योगिक न्यायाधिकरण आते हैं, इनके अधिकार स्पष्ट रूप से निर्धारित रहते हैं।

सरकारी संस्थानों में विवादों के समझौते की व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य परिषद्—वर्क्स कौंसिल्स (Works Councils) जो कि द्विदलीय व्यवस्था है, स्थायी संराधन मण्डल जो कि त्रिदलीय व्यवस्था है और 'हाई पावर कमेटी' सम्मिलित है। राज्य सरकारों का उन सभी औद्योगिक संस्थानों पर आधिपत्य है और इसके लिये कार्य-परिषदों का निर्माण आवश्यक रूप से करना पड़ता है, जिसमें श्रमिकों व प्रबन्धकों के सामान प्रतिनिधि होते हैं। यदि कार्य-परिषद् द्वारा किया गया विवाद का समझौता दलों को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, तो यह स्थायी संराधन मण्डल को प्रेषित कर दिया जाता है, जिसमें एक अध्यक्ष व दो सदस्य होते हैं। ये सदस्य दोनों दलों से एक-एक होते हैं। उन स्थितियों में जहां मण्डल दलों में आपसी समझौता कराने में असफल होता है, इसे हाई पावर कमेटी के पास प्रेषित कर दिया जाता है। इस समिति के सदस्य श्रम सचिव, वित्त सचिव तथा संस्थान से सम्बन्धित विभागीय सचिव होते हैं। इसके द्वारा लिया गया निर्णय अन्तिम होता है तथा दोनों दल इस निर्णय को मानने के लिये बाध्य होते हैं।

जहां तक उत्तर प्रदेश में विवादों के समझौते के विभिन्न ढंगों की प्रभावात्मकता तथा लोकप्रियता का सम्बन्ध है, यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि कोई भी सन्तोषजनक नहीं है। सन् १९५७ से लेकर १९६३ के बीच संराधन मण्डलों द्वारा निपटाये गये विवादों में उन विवादों का प्रतिशत १९५७ में १९·३ प्रतिशत से लेकर १९६० में ३४·९ प्रतिशत के बीच पाया जाता है, जिनमें पारस्परिक स्वीकृति के आधार पर समझौता कराया जा सका। इसी प्रकार केवल सीमित संख्या में विवाद पंच निर्णायिकों के समक्ष प्रेषित किये गये। इस ढंग के कम प्रयोग होने का मुख्य कारण पंच निर्णायिकों द्वारा उनके निर्णय के सम्बन्ध में देर किया जाना है, क्योंकि कोई भी अवधि की सीमा निर्धारित नहीं की गयी है। आधुनिक वर्षों में ऐच्छिक पंच निर्णय की प्रवृत्ति तुलना करने पर १९६१–६२ व ६३ के बीच बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। पंच निर्णायिकों तथा संराधन मण्डलों के समक्ष प्रेषित विवादों की संख्या में क्रमशः १५०, २,७९८, १३० व २,८९३, तथा १६३ व २,९१२ का तुलनात्मक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है, जबकि १९५७–५८ व ५९ में तुलनात्मक दृष्टि से यह संख्या क्रमशः १० व ३,५५३, १६ व ३,६४७ तथा ३६ व ३,८४२ है।

अभिनिर्णय व्यवस्था की क्रियात्मक पद्धति भी उत्साहवर्धक नहीं रही है। प्रत्येक वर्ष के अन्त में शेष विवादों की संख्या श्रम न्यायालयों तथा औद्योगिक न्यायाधिकरणों में बढ़ती रही है। १९५९ में हुए भारतीय औद्योगिक विवाद अपील न्यायालय (लेबर एपीलेट ट्रिबुनल ऑफ इण्डिया) के उन्मूलन ने भी सन्तोषजनक परिणाम नहीं दिये हैं। इसके कारण उपर्युक्त संस्थाओं के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में की गयी समादेश याचिकाओं की संख्या बढ़ गयी है। इन समादेश याचिकाओं के निर्णय में समय लगता है और परिणामतः श्रमिकों व मालिकों के सम्बन्धों में अनवरत रूप से और भी तनाव बढ़ता जाता है।

सरकारी क्षेत्र में विवादों के समझौते की व्यवस्था, जो कि अभी नवीन है, इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही है। इसके अतिरिक्त इसने निजी क्षेत्र के लिये भी अच्छा उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया है। बल्कि इन दोनों क्षेत्रों की व्यवस्थाओं में पाये जाने वाले भेद ने मालिकों व श्रमिकों दोनों के बीच में इनके प्रभावों के प्रति भ्रान्ति व सन्देह उत्पन्न कर दिया है।

अब तक किया गया विश्लेषण उन कारकों की खोज करने की प्रेरणा देता है जो कि श्रमिकों व प्रबन्धकों या श्रम संघों एवं मालिकों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों के लिये उत्तरदायी हैं, तथा जो विवादों में समझौता कराने वाली व्यवस्था की अप्रभावात्मकता के लिये उत्तरदायी हैं। साथ ही साथ हमें उन उपायों को खोजने की भी प्रेरणा मिलती है जो शान्तिपूर्ण श्रम सम्बन्धों की स्थापना में अपना योगदान करते हैं। किन्तु इस लेख के सीमित होने के कारण समस्या के उन सभी तत्त्वों की व्याख्या करना सम्भव नहीं। फिर भी उन कारणों की, जो कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के औद्योगिक क्षेत्र तथा अन्य राज्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं, अलग रहते हुए हम अपना कार्य उन कारकों तक ही सीमित रखते हैं जो तुलनात्मक दृष्टिकोण से इस राज्य के लिये विशेष महत्त्व रखते हैं।

सर्वप्रथम, हम राज्य के द्वारा औद्योगिक सम्बन्धों में किये गये हस्तक्षेप की भूमिका व सीमा का उल्लेख करेंगे। वह देश जो प्रजातांत्रिक समाजवाद के आदर्श को नियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा प्राप्त करना चाहता है, वहां राज्य का कार्य स्वतः जीवन के प्रत्येक पहलू में महत्त्वपूर्ण हो जाता है। किन्तु विशेष रूप से यह औद्योगिक क्षेत्र में जो कि देश की अर्थ-व्यवस्था को नियंत्रित करने के लिये शक्ति रखता है, और भी आवश्यक हो जाता है। यह वास्तविकता निःसन्देह राज्य के हस्तक्षेप की वृद्धि को आवश्यक बना देती है। फिर भी संस्थाओं व शक्ति संरचनाओं के प्रजातंत्रीकरण के पहलू को छोड़ा नहीं जा सकता। दुर्भाग्यवश ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम पहलू को उत्तर प्रदेश में उचित स्थान नहीं दिया गया है। अन्य राज्यों की अपेक्षाकृत इस राज्य में सरकार का औद्योगिक विवादों में अधिक हस्तक्षेप रहा है। उत्तर प्रदेश में उन विवादों की संख्या जिनमें राज्य द्वारा तालाबन्दी की घोषणा की गयी है तथा कुल विवादों की संख्या का अनुपात १९५९–६०–६१–६२ ई० में क्रमशः लगभग १ : १३ व १ : २० व १ : ११ और १ : ९ रहा है, जब कि बम्बई राज्य में (महाराष्ट्र और गुजरात मिला कर) यह अनुपात क्रमशः उपर्युक्त वर्षों में १ : २३, १ : २४, १ : ३१ और १ : ३३ रहा है।* राज्य के द्वारा किया गया आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप कभी-कभी श्रम संघों के उपर्युक्त विकास में बाधा उत्पन्न करता है तथा जितनी ही असंगठित श्रम शक्ति होती है, औद्योगिक सम्बन्धों में उतना ही अधिक असन्तोष पाया जाता है।

दूसरे, उत्तर प्रदेश के प्रबन्धक एवं मिल मालिक अन्य राज्यों की अपेक्षा प्रबन्ध सम्बन्धी ज्ञान कम रखते हैं। उन्होंने अब तक उस सीमा तक भी श्रमिकों के कार्यों तथा उनकी प्रतिष्ठा को मान्यता प्रदान नहीं की है जिस सीमा तक कि दूसरे राज्यों के प्रबन्धकों एवं मिल मालिकों ने किया है। उनकी श्रम संघों तथा नेताओं के प्रति मनोवृति अब भी प्रति-क्रियावादी है। अब तक श्रमिकों के समूह के अन्तर्गत नेतृत्व को प्रोत्साहित करने के लिये कोई भी प्रयास नहीं किया गया है। परिणामतः वे बाह्य नेतृत्व पर अधिक आश्रित रहे हैं और इस प्रकार श्रम संघ आन्दोलन को राजनीतिकरण का अधिक परावर्तन करने के लिये बाध्य कर दिया गया है। यह बात सरकारी क्षेत्र में भी पायी जाती है। निकट अतीत में उत्तर प्रदेश राज्य के कानपुर की राजकीय यातायात केन्द्रीय कार्यशाला में हुई हड़ताल राज्य सरकार का श्रमिकों तथा उनके नेताओं के साथ किये गये व्यवहार का ज्वलन्त प्रमाण है। यद्यपि सरकार ने श्रमिकों की अधिकांश मांगों को स्वीकार कर लिया है, पर उनके संघीय नेताओं को पुनः काम पर आने की अनुमति नहीं दी है।°

इसके अतिरिक्त इस राज्य में श्रमिकों का निम्न शैक्षिक स्तर जिसे अधिक उचित शब्दों में ज्ञान की कमी तथा

---

*भारतीय श्रम वार्षिक पत्रिकाओं (Indian Labour Year Books) के आधार पर की गयी गणना।
°दैनिक 'दी पायनियर' में दिये गए समाचार के आधार पर।

चेतनता का निम्न स्तर कहा जा सकता है, उन कारकों में जो शोचनीय औद्योगिक सम्बन्धों के लिये उत्तरदायी हैं, अपना प्रमुख स्थान रखता है।

अन्त में मैं इस राज्य में औद्योगिक सम्बन्धों की उन्नति के लिये एक साधन के रूप में सामूहिक सौदाकारी की भूमिका को ही अकेले महत्त्व प्रदान करूंगा, जो संघों-प्रबन्धकों-मालिकों के सम्बन्धों में प्रजातंत्रीकरण उत्पन्न करने की एक संस्था है, तथा जो एक नवीन सामाजिक तथा आर्थिक संरचना के निर्माण के लिये उस यंत्र का कार्य करती है जिसके द्वारा प्रजातांत्रिक समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। इसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि श्रमिक तथा मिल मालिक अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिये पूर्ण रूप से स्वतंत्र छोड़ दिये जायें, प्रत्युत् इसका अभिप्राय राज्य के आवश्यक नियंत्रण की सहायता से समाज में उन परिस्थितियों को उत्पन्न करना है जिनमें श्रमिक एवं मिल मालिक समाज की आवश्यकता के प्रति सचेत रहते हुए सामूहिक ढंग से सौदा कर सकेंगे तथा अपनी उस स्वार्थोन्मुखता की भावना को अलग रखते हुए, जिसके कि वे अब तक शिकार रहे हैं, देश की समृद्धि के लिये अपना पूर्ण प्रयास कर सकेंगे।

नोट : यह लेख "श्रम-विभाग, उत्तर प्रदेश की कार्रवाइयों की वार्षिक समीक्षाओं" में प्रस्तुत आंकड़ों की गणना पर आधारित है।
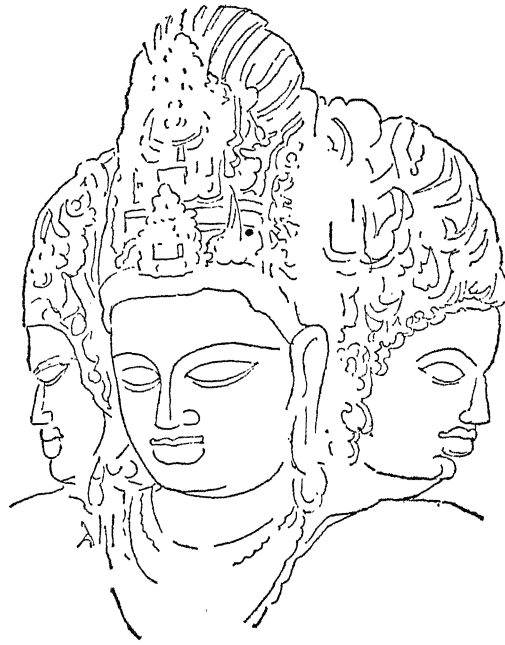
उत्तर प्रदेश में शक्कर उद्योग

डा० महेन्द्र प्रतापसिंह
व्यावहारिक अर्थशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

यदि गुड़ और खांडसारी को सम्मिलित करें तो आज भी भारत सारे विश्व में सबसे अधिक शक्कर का उत्पादन करता है और उत्तर प्रदेश की स्थिति भारत में सर्वश्रेष्ठ है। इस समय देश की मिलों की कुल पेराई-क्षमता ३५ लाख टन है जिसे चतुर्थ योजना के अंतिम वर्ष तक ४५ लाख टन बढ़ा देने का लक्ष्य बनाया जा रहा है। भारत के कुल उत्पादन का ५०% उत्तर प्रदेश और २०% बिहार प्रदान करते हैं। कुल जनसंख्या का ४०% भाग शक्कर का प्रयोग करता है और इतना ही गुड़ एवं खांडसारी का प्रयोग करता है। भारत में प्रति व्यक्ति औसतन ५.५ किलो शक्कर प्रति वर्ष उपयोग करता है। भारत में प्रति एकड़ गन्ने का उत्पादन और गन्ने से शक्कर की प्रतिशत-प्राप्ति अन्य देशों की अपेक्षा कम है। गन्ना उत्पादन में उत्तर प्रदेश प्रथम, महाराष्ट्र द्वितीय और आन्ध्र प्रदेश तृतीय हैं। शक्कर प्राप्ति प्रतिशत में क्रमशः महाराष्ट्र प्रथम, गुजरात द्वितीय और मैसूर तृतीय हैं। औसत कार्यकाल में सबसे अधिक मैसूर में कार्य-दिवस होते हैं, तदुपरान्त महाराष्ट्र और मद्रास का स्थान है। भारत में गन्ने का उत्पादन १६.६१ टन प्रति एकड़, प्राप्ति-प्रतिशत ९.७७ और औसत कार्य काल १४६ दिवसों का पाया जाता है। उत्तर प्रदेश में गन्ने का उत्पादन १४.९९ टन प्रति एकड़, प्राप्ति प्रतिशत ९.३२ और औसत कार्य काल १५१ दिवसों का होता है। भारत में इस समय १९२ मिलें कार्य कर रही हैं जिनमें से ७१ उत्तर प्रदेश में स्थित हैं। नये अनुज्ञापत्र प्रदान करते समय सरकार की नीति दक्षिण की ओर झुक रही है। चौथी योजना में पुरानी मिलों के विकास की ओर अधिक ध्यान दिये जाने का आश्वासन मिल रहा है जिससे पुराने मिल अपने अनुकूलतम उत्पादन स्तर को प्राप्त कर सकेंगे, ऐसी आशा है।

शक्कर उद्योग भारत में विदेशी मुद्रा के अर्जन में जूट और चाय उद्योगों के बाद तीसरा स्थान रखता है। १९६३ में भारत ने विदेशों को ५ लाख टन शक्कर का निर्यात किया और ३२ करोड़ रुपयों की विदेशी मुद्रा अर्जित की। १९६४ में उत्तर प्रदेश से ८५,००० टन शक्कर का निर्यात किया गया। सन् १९६५ के लिए अमेरिका ने भारत का कोटा १०,९४० टन द्वारा बढ़ा दिया है और अब परिवर्धित कोटा ९०,८६९ टन का हो गया है। उत्पादन और उपभोग की तुलनात्मक स्थिति सबसे अधिक उत्तर प्रदेश के पक्ष में है और वह कमी वाले क्षेत्रों और विदेशों को शक्कर भेजने की क्षमता रखता है।

उत्तर प्रदेश का महत्त्व शक्कर उत्पादन के अग्रणी के रूप में क्रमशः गिरता जा रहा है। जहां सन् १९५२–५३ में उत्तर प्रदेश ने भारत के कुल उत्पादन का ६०% प्रदान किया था, उसने सन् १९६१–६२ में ४५% और सन् १९६३–६४ में केवल ४२% ही प्रदान किया। उत्तर प्रदेश की मिलें देश में सबसे पुरानी हैं। उन्हें पेराई के लिये गन्ने की पूर्ति कम पड़ जाती है। गुड़ और खांडसारी व्यवसायी कम कर-भार के कारण अधिक देय-शक्ति रखते हैं और २ रु० प्रति मन के स्थान पर २॥ रु० और ३ रु० प्रति मन तक गन्ना उत्पादकों को दे सकते हैं। गन्ना उत्पादक उनकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में गन्ना उत्पादन की कमी और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पूर्ति का दूसरी ओर बहाव समस्यायें उत्पन्न कर रहा है। गन्ने की कमी के कारण ४ मिलें बन्द पड़ी हैं और ५ का स्थानान्तरण हो चुका है। अभी हाल में सेन आयोग ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट में गुड़ और खांडसारी उद्योग पर अनेक प्रतिबन्ध लगाने का सुझाव दिया है परन्तु इन वस्तुओं के क्षेत्रीय परिचलन पर कोई रोक लगाना उचित नहीं माना है।

शक्कर उद्योग एक नियंत्रित उद्योग है। सेन आयोग नियंत्रण को हटाने के पक्ष में नहीं है पर उसके तर्क बहुत ही युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होते हैं। २८ जनवरी, १९६४ को इस प्रदेश के प्रख्यात उद्योगपति श्री गूजरमल मोदी ने

पिछले वर्ष की अपेक्षा मिलों के अतिरिक्त उत्पादन को खुले बाजार में बेच सकने की सरकार से आज्ञा चाही है जिससे व्यवसायी अपने व्यावसायिक जोखिमों को उठाने में समर्थ हो सकें।

उत्तर प्रदेश में माननीय चन्द्रभानु जी गुप्त की अध्यक्षता में एक विशेष शक्ति-संपन्न कमेटी उनके मुख्य मंत्रित्व काल में बनी थी जिसने अपनी पहली मीटिंग में सन् १९६२ में तीन उप-कमेटियां बनाई थीं। पहली कमेटी का उद्देश्य प्रति एकड़ गन्ना उत्पादन और प्राप्ति प्रतिशत की वृद्धि पर विचार करना, दूसरी का उद्देश्य केन आयुक्त के दफ्तर का पुनर्गठन करना और तीसरी का उद्देश्य अनार्थिक इकाइयों के आधुनिकीकरण एवं पुनर्वास के लिये सुझाव देना था। ये उप-कमेटियां और विशेष शक्ति-सम्पन्न कमेटी बहुत ही उपयोगी कार्य कर रही हैं। ३० अप्रैल, १९६३ को इस कमेटी ने सरकार को सुझाव दिया कि प्रत्येक मिल के पास ४,००० एकड़ का एक गन्ना विकास क्षेत्र स्थापित किया जाए और पुनर्वास के लिये अनार्थिक इकाइयों को कर्ज दिया जाए जिसके लिये एक ५ करोड़ रुपयों की चलनशील पूंजी स्थापित की जाये। इस कमेटी ने उत्तर प्रदेश के भीतर ही क्षेत्रीय आधार पर मूल्य-घोषणा की योजना पर बल दिया जोकि उद्योग के हित में आवश्यक है।

शक्कर उद्योग के मूल्य-लागत का ढांचा सन् १९५४-५५ से सन् १९५६-५७ तक निम्नलिखित रहा है: गन्ने की लागत ५२% ; सरकारी कर २२% ; निर्माण सम्बन्धी व्यय १२% ; भृति और वेतन ११% और लाभ ३%। सन् १९५९ में टैरिफ कमीशन ने पुरानी मिलों के लिए विक्रय मूल्य ९९·५२ पैसे प्रति क्विन्टल और नई मिलों के लिये १२५·०४ पैसे प्रति क्विन्टल निर्धारित किया, जिसे सरकार ने मान लिया और प्रति वर्ष शक्कर के विक्रय-मूल्य घोषित करने प्रारम्भ कर दिये। शक्कर वज बोर्ड के सुझावों के फलस्वरूप नई परिस्थिति उत्पन्न हुई और सरकार ने पुनः २४ अक्टूबर, १९६४ को यह प्रश्न टैरिफ कमीशन को सौंप दिया। सेन शक्कर आयोग ने १९६४-६५ के लिये भारत के चार क्षेत्रीय भागों के लिये ११६·५० पैसे से लेकर १२५ रु० तक प्रति क्विन्टल मूल्य निर्धारित किये और केन्द्रीय सरकार ने १२ नवम्बर, १९६४ को ११६ रु० से लेकर १२९·२५ पैसे तक मूल्य घोषित कर दिये। इन मूल्य निर्धारणों में औसत कार्यकाल और शक्कर प्राप्ति प्रतिशतों का ध्यान रखा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि शक्कर उद्योग अब सरकार की दया पर अधिक निर्भर है और अपनी स्वयं की लागत-व्यय कम करने की क्षमता को नहीं देख पा रहा है। बहुत सी मिलें अनार्थिक इकाइयां हैं पर उन्हें मिटा देने की कल्पना भयानक है, क्योंकि उनका जन-जीवन से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। पूर्वी उत्तर प्रदेश की तो सारी अर्थ-व्यवस्था ही इस उद्योग पर आधारित है। अनेक अनार्थिक मिलों के आपस में मिल जाने की आवश्यकता है और इस सम्बन्ध में प्रयत्न चल रहे हैं। सरकार की गुण्डू राव कमेटी अखिल भारतीय भ्रमण कर रही है और उसने सिफारिश की है कि २ या अधिक मिलों को मिल कर २,००० टन या अधिक पेराई-क्षमता वाली इकाई बन जाना चाहिये। सरकार के अतिरिक्त उन्हें स्वयं भी अपनी स्थिति सुधारने के लिये कृत-संकल्प हो जाना चाहिये। सहकारी मिलों का भी विकास किया जा रहा है। चौथी योजना में इस बात की आशा है कि ४०% देश की शक्कर का उत्पादन सहकारी क्षेत्र में होगा। इसी वर्ष १० नई शक्कर मिलों को सहकारी क्षेत्र में अनुज्ञापत्र प्रदान किये गये हैं जिनकी पेराई-क्षमता १,००० से १,२०० टन है। चौथी योजना में ३० सहकारी मिलों के स्थापित किये जाने की योजना है जिनमें से लगभग एक दर्जन उत्तर प्रदेश में होंगी।

शक्कर उत्पादन और निर्माण की कुशलता उत्पादन इकाई पर बहुत कुछ निर्भर है। अनेक मिलों ने अपना विकास किया है। भारत में सन् १९५९–६० में औसत पेराई-क्षमता ८५० टन से १,१५० टन पहुंच गई थी। परन्तु अभिनवीकरण और आधुनिकीकरण मिलों में अधिक नहीं पनप सका है। कारण धन सम्बन्धी तो है ही परन्तु जिन क्षेत्रों में धन के बिना भी सुधार हो सकता था उनमें भी सुधार नहीं हुआ है। शक्कर मिलों की मशीनरी के सम्बन्ध में भारत अब परोन्मुखापेक्षी नहीं रहा है। सरकारी सहायता की अपेक्षा निजी प्रयत्न अधिक प्रभावी होंगे यदि छोटी और अनार्थिक शक्कर मिलें आपस में मिल कर आर्थिक इकाइयां बना लें और अभिनवीकरण के लिये श्रम-मालिक-सहकारिता उत्पन्न करें। श्रम-आधिक्य के पुनर्वास में सरकारी सहायता की आवश्यकता होगी और यह सरकार का पुनीत, सामाजिक एवं राजनैतिक कर्तव्य होगा।

'संतुष्ट-श्रम' के अभाव की समस्या शक्कर मिलों के लिये सबसे बड़ी समस्या है। न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने के हेतु वस्तुओं, मशीनों और मनुष्यों के वैज्ञानिक प्रबन्ध की आवश्यकता है। संतुष्ट-श्रम से अनेक व्यय कट सकते हैं जोकि अनुपस्थिति, श्रम-संचलन, विवाद, कम-उत्पादन, खराब उत्पादन, चोरी, सामान की बर्बादी, इत्यादि के कारण उत्पन्न होते हैं। शक्कर मिलों में श्रम का अनुशासन बहुत ही निम्न स्तर का है और उद्योगपतियों का व्यवहार भी योग्य नहीं है। मनुष्य केवल रोटी के लिये ही तो जीवित नहीं रहता है। उसकी कुछ आशायें-आकांक्षायें भी होती हैं जिनके पूर्ण न होने पर मनो-विकृति उत्पन्न हो जाती है। मनोवैज्ञानिक समायोजन के अभाव से श्रमिक का लगाव अपने कार्य के प्रति

कम हो जाता है और वह अनेक अप्रत्याशित कार्यों की ओर अग्रसर होता जाता है जिससे औद्योगिक अशान्ति उत्पन्न होती है। यह अशान्ति क्रमशः शान्त से विप्लवी बनती जाती है। प्रत्येक श्रमिक को 'शारीरिक सुरक्षा' के निमित्त अच्छा कार्य-वातावरण, स्वस्थ निवास, दुर्घटना से बचाव का प्रबन्ध चाहिये। उसे 'आर्थिक सुरक्षा' के लिये स्थिर नौकरी और स्वस्थ वेतन चाहिये। उसे 'नागरिक सुरक्षा' के लिये श्रमिक-संघों में भाग लेने की छूट चाहिये। इन सुरक्षाओं के अतिरिक्त प्रत्येक श्रमिक कुशलता के लिए 'मान्यता' भी चाहता है। कुशलता का योग्य मान न होने पर उत्पन्न भग्नाशा-भावना श्रमिक को विद्रोही बना देती है। उसका विद्रोह कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट होता है। शान्त विद्रोह उत्पादन इकाई के लिये अधिक घातक सिद्ध होता है। पद-वृद्धि की स्पष्ट योजना श्रमिक के कार्य करने की इच्छा पर बहुत अच्छा प्रभाव डालती है। खराब कार्य-वातावरण, रहने की व्यवस्था का विभेदकारी वितरण, खराब कल्याण व्यवस्था, कानूनी आवश्यकताओं का न प्रदान करना, अवैज्ञानिक कार्य-भार का वितरण, मनमाना वेतन-क्रम, मनमानी पद-वृद्धियां इत्यादि उत्तर प्रदेश के शक्कर उद्योग की विशेषतायें रही हैं। यद्यपि शक्कर वेज बोर्ड के सुझाव प्रायः लागू कर दिये गये हैं फिर भी कार्य-भार का अध्ययन, कर्मचारियों की संख्या का प्रमाणीकरण, श्रम-आधिक्य की गणना इत्यादि कार्य तो वेज बोर्ड भी नहीं कर सका है। बोनस कमीशन के सुझावों पर अभी भी कोई समझौता नहीं हो सका है।

भारत सरकार की नीति एक समाजवादी रूप की ओर संकेत करती रही है जिसमें 'औद्योगिक प्रजातंत्र' की स्थापना एक प्रमुख घटना होगी। श्रमिक और मालिक आज अपने अधिकारों की ओर बहुत सजग हैं पर अपने कर्तव्यों का विस्मरण कर चुके हैं। वे यह भूल जाते हैं कि अधिकार कर्तव्य से ही उत्पन्न होता है। सरकारी नीति और दबाव से दी गई सुविधा कर्मचारियों को कार्य-भक्त नहीं बनाती है वरन् अपेक्षित सुविधा न मिलने पर श्रमिक अनुशासनहीन हो जाते हैं। स्थानाभाव के कारण मैं केवल यही संकेत करना चाहता हूं कि शक्कर उद्योग में अनुशासन-सम्बन्धी कोड, औद्योगिक संधि, प्रस्तावित कार्य-कुशलता एवं कल्याण कोड, श्रमिकों की शिक्षा योजना, इत्यादि कुछ भी फलदायक न होंगे जब तक श्रम-मालिकों में योग्य सहयोग स्थापित नहीं होता। श्रम-मालिक-सहकार स्थापित करने के लिये एक मजबूत श्रम-संगठन और मालिक-संगठन की आवश्यकता है जोकि भाग्यवश शक्कर उद्योग उत्तर प्रदेश को उपलब्ध है। यूनियन डिप्टी मिनिस्टर श्री मालवीय ने 'देहली उत्पादकता विचार गोष्ठी' में दिनांक २९ मई, १९६५ को उत्पादकता के लिये श्रम-मालिक-सम्बन्धों को आधारभूत महत्त्व का घोषित करते हुए यह माना कि कानूनी संशोधनों के बावजूद भी इकाई स्तर पर विवाद सुलझाने के लिये कमेटियां नहीं बन सकी हैं और न श्रमिकों द्वारा सुझाव देने की योजनायें ही स्थापित हुई हैं। सरकार की सहायता से परे उत्तर प्रदेश के शक्कर उद्योग के मालिक और श्रमिक संघों को द्विपक्षीय सहयोग की सुदृढ़ स्थापना करनी चाहिये और अभिनवीकरण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये। समय और साधन के अभाव में कार्य-भार का जो अध्ययन वेज बोर्ड न कर सका उसे व्यक्तिगत उद्योग कर सकते हैं। शक्कर मिलों में बेकार के और कृपापात्र अधिकारी ढूंढने पर मिल सकते हैं और प्रत्येक इकाई उन्हें हटा कर एक 'अभिनवीकरण अधिकारी' और 'कर्मचारी व्यवस्था अधिकारी' नियुक्त करे जिससे श्रमिकों का मनोवैज्ञानिक समायोजन और वैज्ञानिक कार्य-व्यवस्था स्थापित की जा सके। यह एक दुःख का विषय है कि शक्कर वेज बोर्ड और बोनस कमीशन की सिफारिशें भी मनवाने में समय लग रहा है जबकि उनमें दोनों ही पक्षों के प्रतिनिधियों ने मिलकर फैसले किये हैं—यह श्रम और मालिकों की मनःस्थिति को प्रकाशित करने वाला एक तथ्य है।

उत्तर प्रदेश में जनसंख्या का भार

श्री ए० पी० अग्रवाल, पी० सी० एस०

"संस्था के रूप में जनगणना अतीत काल से चली आ रही है। परन्तु यह अब केवल शीर्ष गणना मात्र नहीं रह गई है, इसके अन्तर्गत वे ज्ञातव्य बातें प्राप्त की जाती हैं जो बहुत सी प्रशासन सम्बन्धी नीतियों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करती हैं। जो तथ्य इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्राप्त किए जाते हैं वे सामाजिक महत्त्व के वैज्ञानिक आंकड़े प्रदान करते हैं। अनेक मामलों में ये प्रभावशाली या अन्यथा भी अर्थनीति सम्बन्धित लाभप्रद निर्देशन प्रदान करते हैं। जनसंख्या का सिद्धान्त स्वयं ही अर्थशास्त्र का एक रोचक अंग है। जनगणना हमें सिद्धान्त को कसौटी पर कसने एवं तथ्यों के अनुसार उसे अपनाने में सहायक होती है।" —सरदार वल्लभ भाई पटेल

सरदार वल्लभ भाई पटेल के उपर्युक्त शब्द पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध हुए हैं। जनसंख्या के प्रश्न ने पर्याप्त काल से दार्शनिकों एवं प्रशासकों के ध्यान को आकृष्ट किया है। यद्यपि हाल में ही विद्वानों ने जनसंख्या में वृद्धि एवं ह्रास तथा जनसंख्या परिवर्तन किस प्रकार सामाजिक संस्थाओं एवं राजकीय नीति में परिवर्तन करता है इसके कारक तत्त्वों के वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयास किया है। भारत में सरकार एवं योजना आयोग कम से कम अवधि में अधिकांश लोगों के लाभ को आश्वस्त करने के हेतु दुर्गम समस्याओं के हल करने का प्रयास कर रहे हैं। इस प्रकार के उद्देश्य को दृष्टि में रख कर अनेक पंचवर्षीय योजनाएं बनाई गई हैं। इस समस्त नियोजन के लिए जनसंख्या की प्रवृत्ति का अध्ययन आवश्यक है।

भारत में जनसंख्या प्रवृत्ति के अध्ययन से दो समयावधियां स्पष्ट होती हैं—(१) सन् १९२१ के पूर्व (२) सन् १९२१ के पश्चात्। सन् १९२१ जनसंख्या प्रवृत्ति में 'महान् विभाजक' कहा गया है। उस समय तक जनसंख्या में वृद्धि १२० लाख की हुई थी; बीसवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी में २७० लाख की वृद्धि हुई। चौथी दशाब्दी ३७० लाख, पांचवीं में ४४० लाख और छठी दशाब्दी में ७८० लाख की वृद्धि हुई। इस तीव्र गति के पूर्ण प्रभाव में सातवीं और आठवीं दशाब्दियों में चलने की बात को तो हम सोचने का साहस नहीं कर सकते। जिस प्रकार भारत में उसी प्रकार उत्तर प्रदेश के लिए भी सन् १९२१ को विभाजन रेखा कह सकते हैं। सन् १८७२ और १९०१ के बीच ५९·४ लाख की वृद्धि हुई और सन् १९०१ और सन् १९२१ के बीच १९·६ लाख की कमी हुई। इस प्रकार सन् १८७२ एवं १९२१ के बीच आधी शताब्दी में सम्पूर्ण वृद्धि ३९·८ लाख अर्थात् ९·३३% की हुई। सन् १९०१ और १९११ के बीच जनसंख्या में ह्रास का कारण सन् १९०७-८ का अकाल, प्लेग एवं मलेरिया की महामारी और सन् १९११ और १९२१ के बीच ह्रास प्रमुख रूप से इनफ्लूऐंजा की महामारी थी। सन् १९२१ के पश्चात् जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। सन् १९२१ और सन् १९३१ के बीच १० वर्षों में संख्या में ३१,०६,८८९ की वृद्धि हुई। सन् १९३१ और १९४१ के बीच ६७,५५,०९४ से; सन् १९४१ और १९५१ के बीच ६६,८३,८९४ से और सन् १९५१–६१ के बीच १०५,३०,६५९ से अर्थात् ५८·०२% की वृद्धि हुई। प्राकृतिक प्रकोप, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है और जिनके कारण महान् जीवन क्षति होती थी, उस प्रकार के प्रकोपों से यह समयावधि मुक्त रही है।

भारत के राज्यों एवं केन्द्रीय क्षेत्रों में दिल्ली (२६·६), हिमाचल प्रदेश (१३·५) और त्रिपुरा (११·४) की जनसंख्या १० लाख से अधिक है। जम्मू और काश्मीर (३५·६), केरल (१६·९०) और उड़ीसा (१७·५५) वे प्रदेश हैं जिनकी जनसंख्या २०० लाख से अधिक है। उत्तर प्रदेश (७३७·५), बिहार (४६४·६), महाराष्ट्र (३९५·६) और

इस आलेख में जो विचार व्यक्त किए गए हैं वे स्वयं लेखक के हैं और ये किसी भी रूप में राजकीय दृष्टिकोण अथवा नीति को व्यक्त नहीं करते हैं। इस आलेख में, श्री पी० पी० भटनागर, आई० ए० एस०, अधीक्षक जनगणना कार्यक्रम, ने जो निर्देशन और सहायता प्रदान की है उसका मैं आभारी हूं।

आंध्र प्रदेश (३५९.८) में प्रत्येक की जनसख्या ३५० लाख से अधिक है। राज्यों में सबसे अधिक जनसंख्या की वृद्धि गति असम की है (३.००) और उसके तुरन्त बाद पश्चिमी बंगाल (२.८८) आता है। असम की अधिक वृद्धि गति का कारण वहां के बगीचे, खनिज, तैल क्षेत्र, एवं अन्य योजनाएं तथा पाकिस्तान, तिब्बत और नेपाल से सामूहिक आवास के कारण हो सकती है। पश्चिमी बंगाल के औद्योगिक क्षेत्र ने भी श्रमिकों के आवास को आकर्षित किया है और पूर्वी पाकिस्तान, तिब्बत और नैपाल से बड़ी संख्या में जन-समूहों का आवास हुआ है। गुजरात, पंजाब, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र वे अन्य राज्य हैं जिनकी वृद्धि गति २% से अधिक रही है। जम्मू और काश्मीर ही एक ऐसा राज्य है जिसकी वृद्धि दर एक प्रतिशत से कम रही है। हाल के महान् विकास के कारण अंडमन और निकोबार के द्वीपों में वार्षिक वृद्धिदर अत्यधिक (७.४५) रही है। उत्तर प्रदेश की वार्षिक वृद्धि दर १.५५ है तथा जम्मू-काश्मीर, मद्रास और आंध्र से अधिक है। मद्रास की अल्प वृद्धि का कारण किसी हद तक तामिल श्रमिकों का प्रवास है।

ग्रामों अथवा नगरों में अधिक वृद्धि वाले जिले—सन् १९५१-६१ की दशाव्दी में वृद्धि गति में तीव्रता निरंतर बनी रही। १६.६६% की वृद्धि पाई गई जो राज्य के जनसंख्या इतिहास में पहले कभी प्राप्त नहीं हुई थी। परन्तु यह वृद्धि देश की प्रतिशतांक वृद्धि से न्यून थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ मात्रा में राज्य से प्रवास हुआ है, भले ही बहुत अधिक न हुआ हो। राज्य की इस बढ़ी हुई वृद्धि दर का कारण जन्म दर में वृद्धि एवं मृत्यु दर में ह्रास है, जो कि इस दशाब्दी की प्रवृत्ति रही है। मृत्यु दर में ह्रास का कारण स्वास्थ्य व्यवस्था में उत्तरोत्तर उन्नति है। सर्वाधिक प्रतिशत वृद्धि नैनीताल, रामपुर, आगरा, झांसी, मिर्जापुर, कानपुर, पीलीभीत, इटावा, बिजनौर और बांदा में हुई है। नैनीताल में ७३% से अधिक वृद्धि हुई है और शेष ९ जिलों में २० और ३०% के बीच वृद्धि हुई है। ये जिले तीन संलग्न क्षेत्रों का निर्माण करते हैं। नैनीताल, बिजनौर, रामपुर और पीलीभीत प्रथम क्षेत्र बनाते हैं और आगरा, इटावा, कानपुर, बांदा द्वितीय क्षेत्र, झांसी और मिर्जापुर जो दोनों ही विंध्याचल के पहारी प्रदेश में स्थित हैं, कोई संयुक्त क्षेत्र नहीं बनाते। जंगलों की सफाई, दलदली भूमि से पानी निकाल कर तथा विशाल क्षेत्रफल को कृषि योग्य बना कर और औपनिवेशिक बना कर, तथा मलेरिया अवरोधक कार्यक्रम के द्वारा इन जिलों में आश्चर्यजनक जनसंख्या वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त निकट के क्षेत्रों में सामान्य विकास और व्यापार में वृद्धि नगरों की वृद्धि का कारण है। द्वितीय क्षेत्र के जिलों में वृद्धि का मुख्य कारण नगरों की तीव्र वृद्धि है। मिर्जापुर में वृद्धि का कारण सिंचाई व्यवस्था में वृद्धि तथा पिपरी और चोपन के निकट निर्माण कार्यक्रम है। झांसी में वृद्धि का कारण कृषि योग्य भूमि में अधिक वृद्धि है; चूंकि बांधों द्वारा सिंचाई वृद्धि के कारण बहुत सा क्षेत्र कृषिमय हो गया है। सेन्ट्रल रेलवे के क्षेत्रीय हेडक्वार्टर की स्थापना एक अतिरिक्त कारण है जिससे प्रगति हुई है। इन दस जिलों में जनसंख्या में वृद्धि केवल प्राकृतिक कारणों से ही नहीं हुई है। अन्य स्थानों से आवास मुख्य कारण रहा है।

समस्त राज्य में आवास प्रवास प्रवृत्ति—सुलतानपुर, बस्ती, गोंडा, फैजाबाद, बहराइच और बलिया जिलों में वृद्धि १२% से कम रही है। बलिया के सिवा शेष सभी जिले एक संयुक्त क्षेत्र का निर्माण करते हैं। वृद्धि में कमी का कारण यह है कि कृषि में उतनी वृद्धि नहीं हुई कि वह बढ़ी हुई जनसंख्या का निर्वाह कर सके। इन जिलों में से बड़ी संख्या में प्रवास हुआ है। सुलतानपुर तथा बलिया से तो विशेष रूप से प्रवास हुआ है जैसा कि उच्च स्त्री पुरुष अनुपात से ज्ञात होता है, यहां का स्त्री-पुरुष अनुपात राज्य के तथा राज्य के बाहर विशेष रूप से बम्बई और कलकत्ते की अपेक्षा अत्यधिक है। नगरों से भी प्रचुर संख्या में प्रवास हुआ है—फैजाबाद जिले की नगरीय जनसंख्या में १०% की कमी हुई है, जबकि अन्य जिलों में प्रतिशत ह्रास दृष्टिगोचर नहीं होता है। शेष ३८ जिलों में दशाब्दी में वृद्धि १२% और २०% से कम हुई है और इस सम्बन्ध में विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

भारत एवं उत्तर प्रदेश में नगरीकरण में वृद्धि, अल्पवृद्धि के कारण—भारत में नगरोन्मुख प्रवास देर से प्रारंभ हुआ है और इसकी गति मंद रही है। नगरीकरण में भारत पाश्चात्य विकसित देशों की अपेक्षा बहुत पीछे है। यद्यपि जापान में भारत की ही भांति नगरीकरण देर से प्रारंभ हुआ है परन्तु जापान में नगरीकरण की गति अत्यन्त तीव्र रही है और वहां जबकि ५५% लोग अब नगरों में निवास करते हैं भारत में ऐसे व्यक्तियों की संख्या १३.७% है। यद्यपि भारत में नगरों की जनसंख्या तीव्रता से बढ़ रही है फिर भी नगरीय एवं ग्रामीण जनसंख्या अनुपात में बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं है क्योंकि ग्रामीण जनसंख्या में वृद्धि बहुत अधिक रही है। किंग्सले डेविस के अनुसार भारत में नगरीकरण की मंद गति का मुख्य कारण आर्थिक प्रगति की मंद गति है।

स्त्री-पुरुष अनुपात एवं आयु ढाँचा, सुण्डबर्ग का अनुपात, मध्यकीय आयु की न्यूनता, सभी भारत एवं उत्तर प्रदेश में जनसंख्या की अतिवृद्धि की ओर इंगित करते हैं—किसी जनगणना वर्ग में स्त्री-पुरुष अनुपात की परिभाषा प्रति

१००० पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या द्वारा दी जाती है। हमें यह विदित है कि बालिकाओं की अपेक्षा बालकों का जन्म अधिक होता है परन्तु बालकों की मृत्यु दर में अधिकता के कारण बालकों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है परन्तु भारत में युवा एवं प्रौढ़ावस्था के प्रारंभ में स्त्रियों की मृत्यु दर इतनी अधिक बढ़ जाती है कि प्राकृतिक प्रवृत्ति का विपर्यय हो जाता है और पुरुषों की ही संख्या अधिक रहती है। भारत में कुछ ही ऐसे स्थान हैं जहां महिलाएं अधिक हैं। उत्तर प्रदेश के स्त्री पुरुष अनुपात का स्वरूप भारत के अनुरूप ही है यदि कुछ कम है। स्त्री-पुरुष अनुपात सामान्य से अल्प है। इस असमानता का मुख्य कारण नगरों में आवास करने वाले व्यक्तियों में पुरुषों की अधिकता है, स्त्रियां बाद में आती हैं जबकि पुरुष नगरों में बस जाते हैं। कभी-कभी तो स्त्रियां नहीं भी आती हैं। लगभग सदैव ही पुरुषों के नगरों में आगमन और स्त्रियों के आवास में पर्याप्त कालान्तर रहता है।

आयु वर्गानुसार सामान्य जनसंख्या—जिस जनसंख्या में स्थैतिक जन्म एवं मृत्यु दर होती है, और जो महान् आवास प्रवास के प्रभाव से रहित होती है, उसमें प्रत्येक आयुवर्ग में आगे वाले आयुवर्ग से अधिक और पीछे वाले आयुवर्ग से कम व्यक्ति होते हैं। इसमें अन्तर केवल तब होता है जबकि जन्म में आकस्मिक ह्रास होता है अथवा मृत्यु दर का अधिक आयुवर्ग की अपेक्षा किसी विशेष आयुवर्ग पर चुनींदा प्रभाव हो, अथवा आवासियों में अधिक आयुवर्ग वाले व्यक्ति अधिक हों।

पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत के आयुवर्गानुसार वितरण में बहुत अन्तर है, यहां शिशुओं, छोटे बच्चों एवं १५ वर्ष से कम के बालक-बालिकाओं का अनुपात अन्य देशों की तुलना में अधिक है। दूसरी ओर ५० वर्ष से अधिक आयुवर्ग में व्यक्तियों की संख्या तुलनात्मक रूप से कम है। यह एक सामान्य नियम है कि वे देश जिनमें बच्चों की संख्या कम है उनमें ही अधिकांश लोग मध्यायु से अधिक जीने की आशा कर सकते हैं। सुंडबर्ग के अनुसार कोई भी जनसंख्या प्रगतिशील, स्थैतिक अथवा ह्रासोन्मुख हो सकती है। यदि शून्य से चौदह वर्ष के आयुवर्ग में प्रतिशत अनुपात ४०, ३३ और २० है तो जनसंख्या क्रमशः प्रगतिशील, स्थैतिक एवं ह्रासोन्मुख होगी। दूसरे शब्दों में प्रगतिशील जनसंख्या वह है जिसमें ०—१४ वर्ष के आयुवर्ग में जनसंख्या ५० वर्ष से ऊपर वाले वर्ग की जनसंख्या की दूनी से अधिक हो, स्थैतिक वह है जिसमें यह अनुपात ठीक दूना हो, और ह्रासोन्मुख वह है जिसमें यह अनुपात दूने से कम हो।

दोनों ही व्याख्याओं से भारत की जनसंख्या प्रगतिशील है। प्रगतिशीलता किस मात्रा में है, निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।

	(भारत असंशोधित)		**(उत्तर प्रदेश संशोधित)**	
	१९५१	१९६१	१९५१	१९६१
०—१४	३८·३	४१·१	३७·५	४०·५
१५—४९	४९·८	४८·१	५०·१	४८·०
५० से अधिक	११·९	१०·८	१२·४	११·५
सुंडबर्ग का अनुपात	३·२	३·८	३·०	३·५

एक भारतीय मातापिता को जिसके पास पर्याप्त साधन नहीं हैं, अपेक्षाकृत प्रचुर एवं अच्छे साधनों वाले पाश्चात्य देशीय समकक्षी की अपेक्षा बहुत अधिक बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ता है। इससे वे कमियां तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाती हैं जिनमें रहकर एक भारतीय बच्चे को परिश्रम करना पड़ता है। अभी तक स्थिति में सुधार के कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। बच्चों की बढ़ती हुई संख्या ने, जो उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है, स्थिति को और भी दुष्कर बना दिया है।

जन्म एवम् मृत्यु दर के आँकड़ों का पंजीकरण—सन् १८६६ के इम्पीरियल ऐक्ट ने भारत में जन्म एवं मृत्यु दर के पंजीकरणार्थ एक स्वरूप प्रदान किया था, परन्तु समस्त देश में एक समान प्रयोग नहीं किया जा सका। सन् १८६६ में नगरपालिकाओं के लिए पंजीकरण अनिवार्य कर दिया गया था। सन् १९१६ के उत्तर प्रदेश नगरपालिका ऐक्ट ने पुनः

इस दिशा में योग दिया। कानपुर में सन् १८६६ से लगातार जन्म एवं मृत्यु दर के आंकड़ें संकलित किए जा रहे हैं। परन्तु पहले के पंजीकृत आंकड़े किसी भी काम के नहीं हैं क्योंकि पंजीकरण प्रणाली दोषपूर्ण थी। वैसे तो देश में कहीं भी जन्म-मृत्यु के आंकड़े त्रुटिरहित नहीं हैं। भोर कमेटी के सुझावों का अनुसरण करते हुए भारत सरकार ने सन् १९४९ में जनसंख्या एवं वृद्धि से सम्बन्धित आंकड़ों के सुव्यवस्थित रूप से एकत्रित करने के लिए प्रयास करने का निश्चय किया। इसके लिए रजिस्ट्रार जनरल के अधिकार में जन्म-मृत्यु आंकड़ों के लिए एक विभाग स्थापित किया गया था। शीघ्र ही लोक सभा में पंजीकरण को व्यवस्थित करने के लिए एक केन्द्रीय अधिनियम प्रस्तावित किया जाने वाला है। सन् १९५१ जनगणना के जीवनांकिक ने देश को पंजीकरण के अनुसार अच्छे और असंतोषजनक वर्गों में विभक्त किया था। उत्तर प्रदेश दूसरे वर्ग में था। वर्तमान दशाब्दी में कुछ अच्छे पंजीकरण वाले क्षेत्रों में भी प्रणाली इतनी दोषपूर्ण हो गई है कि पंजीकृत आंकड़े किसी भी उपयोग के नहीं रह गये हैं।

उत्तर प्रदेश में पंजीकृत जन्म एवं मृत्यु दर के आधार पर आगणित वृद्धि दर जनगणना वृद्धि दर से काफी मिल जाती है। परन्तु सन् १९४१–५० के आंकड़ों में अन्तर था और सन् १९५१-६० में तो आगणित वृद्धि दर बहुत ही कम थी। नीचे दी हुई तालिका में उत्तर प्रदेश के प्रति १००० व्यक्तियों में पंजीकृत और जनगणना वृद्धि दर प्रदर्शित की गई है जो उपयुक्त अन्तरों को स्पष्ट करती है।

	पंजीकृत वृद्धि दर	जनगणना वृद्धि दर
१९२१—३०	८·४	६·४
१९३१—४०	१३·७	१२·७
१९४१—५०	८·३	११·२
१९५१—६०	६·७	१५·४

जन्म एवं मृत्यु दर दोनों में ही अत्यधिक अल्प पंजीकरण है परन्तु मृत्यु दर की अपेक्षा जन्म दर में अल्प पंजीकरण अधिक है। अच्छे संगठन के कारण नगरों में जन्म एवं मृत्यु दर का पंजीकरण ग्रामों की अपेक्षा अधिक अच्छा है।

आगणित जन्म एवं मृत्यु दर—जन्म एवं मृत्यु सम्बन्धी आंकड़ों के अल्प पंजीकरण के कारण जो कमी है उसे पूरा करने के लिए जनगणना के आधार पर गणित के जटिल सूत्रों की सहायता से जन्म एवं मृत्यु दर आगणित की जाती है। श्री एस०पी० जैन ने सन् १९४१-५० और सन् १९५१-६० के लिए जन्म एवं मृत्यु दर का आगणन किया है।

पिछली दो दशाब्दी के पंजीकृत और आगणित जन्म एवं मृत्यु दर के आंकड़े नीचे तालिका में दिये गए हैं।

		१९४१—५०		१९५१—६०	
		जन्म	मृत्यु	जन्म	मृत्यु
भारत	पंजीकृत	२७·२	१९·४	—	—
	आगणित	२९·९	२७·४	४१·७	२२·८
उत्तर प्रदेश	पंजीकृत	२४·८	१६·५	१५·९	९·२
	आगणित	३८·६	२७·२	४१·५	२४·९

उपर्युक्त तालिका वर्तमान अल्प पंजीकरण की सीमाओं का प्रदर्शन करती है। भारत की जन्म एवं मृत्यु दर आर्थिक रूप से विकसित देशों की तुलना में अधिक है जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट है।

	भारत	जापान	रूस	इंगलैण्ड	फ्रांस	अमेरिका	आस्ट्रेलिया
जन्म दर	४१·७	१७·२	२५·३	१६·५	१८·६	२५·०	२२·९
मृत्यु दर	२२·८	८·३	७·८	११·५	१२·१	९·६	८·८

भारत में जन्म समय जीवन की आशा की तुलना उपर्युक्त देशों से करें तो उपर्युक्त कथन और स्पष्ट हो जाता है। विकसित देशों की तुलना में भारत में जन्म समय जीवन की आशा की तालिका नीचे दी हुई है।

	भारत	जापान	रूस	इंग्लैण्ड	फ्रांस	अमेरिका	आस्ट्रेलिया
अवधि	१९५१–६०	१९५७	१९५५–५६	१९५६	१९५२–५६	१९५६	१९५३–५४
पुरुषों की सम्भावित जीवन-आशा—वर्षों में	४१·९	६३·२	६३·०	६७·८	६५·०	६९·६	६७·४
स्त्रियों की संभावित जीवन-आशा—वर्षों में	४०·६	६७·६	६९·६	७३·३	७१·२	६९·६	७२·८

भारत में सम्भावित जीवन अवधि में पिछली दशाब्दी की अपेक्षा पर्याप्त उन्नति हुई है फिर भी यह आर्थिक रूप से विकसित देशों की अपेक्षा कम है। दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि भारत में पुरुषों की आयु स्त्रियों से अधिक होती है परन्तु ऐसा उपर्युक्त देशों में नहीं है, इसका मुख्य कारण १५ और ४५ वर्षों के मध्य स्त्रियों की अधिक मृत्यु दर है। नीचे दी हुई तालिका में आगणित जन्म, मृत्यु एवं सम्भावित जीवन अवधि के आंकड़े दिये हुए हैं।

	भारत	आंध्रप्रदेश	असम	बिहार	गुजरात	केरल	म०प्र०	मद्रास	महाराष्ट्र	मैसूर	उड़ीसा	उ०प्र०	प०बंगाल
जन्म दर	४१·७	३९·७	४९·३	४३·३	४५·७	३८·९	४३·२	३४·९	४१·२	४१·६	४०·४	४१·५	४२·९
मृत्यु दर	२२·८	२५·२	२६·९	२६·१	२३·५	१६·१	२३·२	२२·५	१९·८	२२·२	१८·९	२४·९	२०·५
जीवन अवधि की आशा	४१·२	३६·९	३६·८	३७·६	४०·०	४८·३	४०·०	३९·८	४५·२	४०·२	४७·५	३८·९	४४·५

असम में जन्म एवं मृत्यु दर दोनों ही अत्यधिक हैं, मद्रास में जन्म दर सबसे कम है और केरल में मृत्यु दर। उत्तर प्रदेश के व्यक्तियों की औसत जीवन की आशा की अवधि भारत के औसत नागरिक से कम है यद्यपि पिछली दशाब्दी में उत्तर प्रदेश की औसत जीवन आशा (३४·२) भारत (३२·८) से अधिक थी। परन्तु अब स्थिति विपरीत हो गई है।

उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा

श्री गोविन्द नारायण नातू संगीत निपुण
प्रिंसिपल, भातखंडे संगीत महाविद्यालय, लखनऊ।

तुलनात्मक दृष्टि से साहित्य और संगीत के विषय में विचार किया जाय तो निःसन्देह कह सकते हैं कि उत्तर प्रदेश का स्थान इन दोनों दिशाओं में गौरवास्पद और गर्व करने योग्य है। इस प्रदेश की भूमि ने अनेक रत्नों को जन्म दिया है जिन्होंने अपनी कलाकृति से अपना नाम इतिहास में अजरामर करके प्रदेश का स्थान दोनों ही क्षेत्रों में ऊंचा बनाया है। तुलसीदास, सूरदास के समान भक्त-कवि-शिरोमणि उत्तर प्रदेश में ही हो गए हैं। संगीत क्षेत्र में भी इस प्रदेश के कलाकारों का पर्याप्त योगदान रहा है। इस समय हम प्रदेश की संगीत-परंपरा पर केवल विहंगम दृष्टि डालेंगे।

स्थूल दृष्टि से संगीत दो प्रकारों में विभाजित किया जाता है—शास्त्रीय संगीत तथा लोक-संगीत। ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तर प्रदेश इन दोनों ही प्रकार के संगीत वर्गों में समृद्ध है। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में यहां पर अच्छे-अच्छे गायक, वादक तथा नृत्यकार हो गए जिन्होंने ख्याल, ध्रुपद, ठुमरी, दादरा, टप्पा इत्यादि के गायन में अपना ऊंचा कीर्तिमान स्थापित किया है। वादन कला में भी प्रदेश में भिन्न-भिन्न वाद्यों के, जैसे—तबला, मृदंग, रबाव, बीन, सितार, शहनाई, नक्कारा इत्यादि बजाने वाले श्रेष्ठ कलाकार हो गए हैं। नृत्य शाखा में 'कत्थक' प्रणाली की दृष्टि से उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ का नाम सर्वप्रथम अत्यन्त गर्व से लिया जाता है। उसी प्रकार ठुमरी गायन की चर्चा छिड़ने पर लखनऊ और बनारस इस प्रणाली की गायकी के दो मुख्य केन्द्र माने जाते हैं।

मुगल शासन काल में जब कि ग्वालियर, जयपुर, लखनऊ और आगरा संगीत के बड़े केन्द्र माने जाते थे, उस समय ग्वालियर और लखनऊ में, विषय के संबंध में विचारों का आदान-प्रदान चलता रहता था, और इस नाते दोनों ही केन्द्र एक दूसरे से संबंधित थे। उस समय के शासकों के दरबार में संगीत कलाकारों को यथायोग्य मान-सम्मान तथा प्रोत्साहन था। फलस्वरूप संगीत की चर्चा पर्याप्त थी और कला अपने उच्च शिखर पर थी। इन नगरों के कलाकार व्यवसाय की दृष्टि से अथवा निमंत्रित किए जाने पर एक दूसरे के यहां जाते आते रहते थे। उनमें कुछ अंशों में एक प्रकार से प्रतियोगिता सी चलती रहती थी। नवाबी काल में तो लखनऊ गायक, वादक और नृत्यकारों का एक प्रकार से अखाड़ा ही था। नवाब वाजिदअली शाह तो स्वयं भी गायक और नृत्यकार थे। इतना ही नहीं किन्तु रचनाकार के नाते इनकी ठुमरियों की रचनाएं आज भी प्रत्येक संगीत व्यवसायी के कंठ से समय-समय पर सुनाई देती हैं। इन रचनाओं का परिचय 'अख्तर पिया' उपनाम से उन गीतों में मिलता है। हकीम महम्मद करीम इमाम नवाब के समकालीन होते हुए उनके दरबार में थे। हकीम साहब संगीत के एक अच्छे ज्ञाता तथा रसिक थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'मादुनुल मोसिकी' में नवाबी दरबार के कलाकारों के तथा तत्कालीन संगीत परिस्थिति के विषय में अच्छा परिचय कराया है। 'मादुनुल मोसिकी' पुस्तक सन् १८५६ के आस-पास लिखी गई है अर्थात् पुस्तक में कही हुई बातों का विवरण कही-सुनी बातों के आधार पर न होते हुए स्वानुभव के आधार पर है, यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है। उनके दिये हुए विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नवाबी काल में संगीत की सभी शाखाओं के कलाकार लखनऊ नगर में थे। गायकों में ख्याल, ध्रुपद, ठुमरी, टप्पा और कव्वाली गाने वाले तथा 'सोज' पढ़ने वाले थे। रबाब, सितार, वीणा, तबला, मृदंग, शहनाई, नक्कारा बजाने वाले तथा चोटी के नृत्यकार एकत्रित थे। संगीत व्यवसायी लोगों के अतिरिक्त बहुतेरे अव्यवसायी संगीत विद्वान तथा कलाकार भी थे, जोकि संगीत जगत् में नायक माने गये हैं। उन लोगों में इलाहाबाद के बाबू राम सहाय का नाम, जो कि इस विषय के अच्छे ज्ञाता, गायक और श्रेष्ठ शिक्षक थे, प्रसिद्ध है। कलाकारों में केवल पुरुष-वर्ग ही नहीं अपितु स्त्री कलाकारों की भी कमी न थी। इनमें से बहुतेरी मानी हुई गायिकाएँ तथा नृत्यकार थीं। समय तथा स्थानाभाव

के कारण उस समय के कलाकारों का विस्तृत परिचय देना इस समय सम्भव नहीं। जिज्ञासुओं को 'मादुनुल मोसिकी' पुस्तक में उन सब का परिचय हो सकता है। ठुमरी रचनाकारों में अधिकांश नाम लखनऊ के रचनाकारों के ही मिलते हैं। इन लोगों ने भिन्न-भिन्न 'पिया' उपनामों से रचनाएं की हैं। इन रचनाओं से संगीत व्यवसायी तथा प्रेमी भलीभांति परिचित हैं।

लोकसंगीत की दिशा में भी उत्तर प्रदेश दूसरे प्रदेशों की तुलना में किसी भी प्रकार पीछे नहीं है। प्रदेश के भिन्न प्रांतों में अनेक प्रकार के लोकगीत तथा लोकनृत्य प्रचलित हैं। इन गीतों में मुख्य प्रकार—कजरी, चैती, बारह-मासा, सोहर, झूला, बिरहा, सावन इत्यादि तथा ऋतुविशेष और प्रसंग विशेषों पर गाये जाने वाले गीत सम्मिलित हैं। इस प्रकार उत्तर प्रदेश संगीत की शास्त्रीय और लोक संगीत शाखाओं में समृद्ध रहा है। संगीत और साहित्य की ऊंची परंपरा के कारण ही इस प्रदेश की संस्कृति उच्च श्रेणी की मानी गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो उत्तर प्रदेश का संगीत में बहुत कुछ योगदान है। भारत के नगरों में संगीत-चर्चा की दृष्टि से लखनऊ का नाम भी प्रमुखता से लिया जाता है। इन सब बातों का विचार करने पर यह कहना कि उत्तर प्रदेश संगीत में प्राचीन काल से ही समृद्ध है, अनुचित न होगा। प्रदेश के नगरों में संगीत शिक्षा का कार्य आज दिन भी चलता है। राज्य शासन की ओर से भी संगीत शिक्षा संस्थाओं को आर्थिक सहायता मिल रही है। यदि इन संस्थाओं की आवश्यकताओं की पूर्णरूपेण सहायता की जाय तो प्रदेश की अनवरत संगीत परंपरा के उज्ज्वल भविष्य की भी आशा की जा सकती है।

शिक्षा में खेलकूद का महत्त्व

श्री काशीराम दुबे
रिटायर्ड प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज ऑफ फिजीकल एजूकेशन, उ० प्र०।

सर्वांगीण विकास शिक्षा का सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार शिक्षा प्रणाली वही उचित और वैज्ञानिक समझी जानी चाहिए, जिसके द्वारा हमारे बच्चों की शैक्षिक, मानसिक और शारीरिक—सभी शक्तियों का यथोचित विकास सम्भव हो सके।

हमारी सारी प्रवृत्तियों के प्रस्फुटन और समुचित विकास के लिए शारीरिक स्वस्थता ही ठोस आधार भूमि हो सकती है। अंग्रेजी की एक कहावत है—"Sound mind in a sound body" अर्थात्, स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रह सकता है। दैनिक जीवन में हम बराबर यह अनुभव करते हैं कि मस्तिष्क चाहे जितना समृद्ध और स्वस्थ हो, शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में वह पंगु हो जाता है। यही नहीं मानसिक शान्ति भी नहीं मिलती। यही कारण है कि हमारे इस धर्मप्राण देश में भी, 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' की व्यवस्था की गई है। शरीर की रक्षा मनुष्य का प्रथम धर्म बताया गया है। शरीर की कार्यक्षमता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनादि काल से नाना प्रकार के शारीरिक अभ्यासों का प्रचलन रहा है और यद्यपि इन अभ्यासों का रूप देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार बदलता आया है परन्तु मूलोद्देश्य, आज भी वही है। प्राचीन काल में धनुर्वेद, मल्लयुद्ध, असियुद्ध, घुड़सवारी एवं नाना प्रकार के आसनों की व्यवस्था की गई थी। आज उनका रूप बदल चुका है। व्यक्तिगत अभ्यासों के अतिरिक्त नाना प्रकार के खेलों—हॉकी, फुटबाल, बास्केट बाल, वाली बाल, कबड्डी, खो खो, लम्बी दौड़, लम्बी कूद, तैराकी आदि की प्रतिष्ठा हो चुकी है। ये सामूहिक खेलकूद शारीरिक स्वस्थता के साथ-साथ हमारी सामाजिक भावना को व्यापक बनाते और एक उद्देश्य के लिए मिलजुलकर—कभी कभी अपनी स्वाभाविक प्रगति को रोक कर भी, कार्य करने की शिक्षा देते हैं। खेलकूद में ही हम उन सद्गुणों के अभ्यस्त बन जाते हैं, जो सैकड़ों पुस्तकों के निरन्तर पाठ से भी सम्भव नहीं हो पाते।

जापान एक छोटा-सा द्वीप-समूह है। पिछले महायुद्ध में—केवल २० वर्ष पूर्व—इस देश को भयंकर क्षति उठानी पड़ी। जन-जीवन के सभी क्षेत्र अस्त-व्यस्त हो गए। फिर भी इन २० वर्षों के भीतर ही खेल-कूद (Games, Sports and Athletics) में उसने कल्पनातीत उन्नति कर ली है। जापान १९६४ की ओलम्पिक प्रतियोगिताओं के लिए जितने बड़े परिमाण पर साधन जुटा सका, जितनी सफलता के साथ आवास एवं खान-पान की व्यवस्था कर सका, उसे देख कर बड़े-से-बड़े देश भी आश्चर्य-चकित हो गए। निश्चय ही जनता और सरकार तथा खिलाड़ी (Athletes) और उनके प्रबन्धकों के बीच सम्पूर्ण सहयोग के बिना यह सम्भव न हो पाता।

भारत एक विशाल देश है। फिर भी बड़े खेद की बात है कि हम इस क्षेत्र में संसार के सभी देशों से पिछड़े हुए हैं; पिछड़ते जा रहे हैं। ऐसा क्यों? क्या यह बात भारतवर्ष में नहीं हो सकती? आज हम देखते हैं कि जो राष्ट्र इस क्षेत्र में आगे हैं, वही भौतिक समृद्धि के क्षेत्र में भी सबसे आगे हैं—वही सर्वाधिक सम्पन्न हैं। कहने वाले यह भी कह सकते हैं कि जो देश अधिक सम्पन्न हैं वही इस क्षेत्र में भी अग्रणी हैं। यह बात नहीं कि हम यह सब जानते नहीं; अथवा राष्ट्रीय जीवन में खेलकूद के महत्त्व को हम स्वीकार नहीं करते।

अन्य देशों की भांति हमारे देश में भी खेल-कूद की आयोजना अखिल भारतीय स्तर पर की गयी है। अखिल भारतीय खेल कूद परिषद् (All India Council of Sports) प्रधान संस्था है, जो प्रादेशिक खेलकूद परिषद् (State Council of Sports) तथा जिला खेलकूद संघ (District Council of Sports) के सहयोग से इस क्षेत्र का संचालन करती है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से सरकार का ध्यान भी इस ओर है। सरकारी अनुदानों से विगत पन्द्रह-बीस वर्षों में खेलकूद की सुचारु व्यवस्था के लिए प्रत्येक प्रदेश के मुख्य-मुख्य नगरों में स्टेडियम बनाए जा रहे हैं।

हमारे नगर लखनऊ में भी प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त के सहयोग से लगभग पन्द्रह-बीस लाख की लागत से एक विशाल स्टेडियम बन चुका है। लगभग ४,००,००० रुपयों का वार्षिक अनुदान भी इसीलिए मिलता है कि खेलकूद (Sports and Athletics) का प्रशिक्षण कार्य और प्रतियोगिताओं का आयोजन-संचालन सुचारु रूप से हो सके ।

यह ठीक है कि जिस स्तर पर और जिस परिमाण में आर्थिक सहायता राष्ट्रीय अथवा प्रादेशिक सरकारों से मिलनी चाहिए, वह अभी नहीं मिल पा रही है। फिर भी जितना कुछ हम लगाते हैं, उसका उचित प्रतिफल तो हमें मिलना ही चाहिए। मेरा आशय यह है कि योजना बनाना ही सब कुछ नहीं है—तथ्य की बात है, योजनाओं को प्रभावपूर्ण ढंग से कार्यान्वित करना।

इस सम्बन्ध में कतिपय सुझाव हैं और मुझे आशा है कि इन पर चलने से स्थिति में पर्याप्त सुधार की आशा की जा सकती है।

खेदकूद की इन योजनाओं का क्षेत्र आज व्यक्तिगत शारीरिक संगठन अथवा प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं तक ही सीमित नहीं रह गया है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं के प्रतिस्पर्धी युग में आज इनका व्यापक महत्त्व है। जिस प्रकार हमारी शिक्षा-दीक्षा, हमारे आचार-विचार, हमारी संस्कृति और सभ्यता देश के गौरव का कारण बनती है, ठीक उसी तरह खेलकूद भी। अतएव इसी स्तर पर इनका भी आयोजन होना चाहिए।

इतनी बड़ी जनसंख्या वाले इस देश में योग्य व्यक्तियों का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी के गर्भ में कौन-सा आवश्यक तत्त्व कहां छिपा पड़ा है—भूगर्भ-वेत्ता प्रयत्नपूर्वक खोज निकालते हैं। इस क्षेत्र में भी हमें वही वैज्ञानिक दृष्टि अपनानी होगी। हमारी किस आवश्यकता की सम्यक् पूर्ति कौन व्यक्ति कर सकता है अथवा कौन-सा युवक किस खेलकूद में दक्षता प्राप्त कर सकता है—हमें खोज निकालना होगा। स्पष्ट है कि हमारा यह कार्य आरम्भ होना चाहिए पाठशालाओं एवं विश्वविद्यालयों से। होनहार बिरवान के होत चीकने पात—की कहावत पर विश्वास रख कर हमें इन चिकने पत्ते वाले सुकुमार वृक्षों को ढूंढना होगा, उन्हें अलग क्यारियों में रखना होगा और अपेक्षाकृत अधिक खाद द्वारा बड़ी तत्परता-पूर्वक विकसित करना होगा।

आज भी खेलकूद प्रतियोगिताओं का आरम्भ पाठशालाओं से ही होता है। अनुभवसिद्ध है कि प्रायः जो बालक खेलकूद में दक्ष दिखाई पड़ता है, वह पठन-पाठन में पिछड़ा होता है और यह स्वाभाविक भी है। किसी भी दशा में दक्षता-प्राप्ति के लिए आवश्यकता है निरन्तर अभ्यास एवं देख-रेख की। और ये दोनों ही हमारी अधिकांश पाठ-शालाओं में सुलभ नहीं हैं। बहुतों में तो क्रीड़ा-क्षेत्र हैं ही नहीं। दूसरे, पुस्तकीय शिक्षा का जीविका-अर्जन से अनिवार्य सम्बन्ध हो जाने और इस क्षेत्र में परीक्षा सफलता ही पाठशालाओं और विद्यार्थियों—दोनों की—कार्य-क्षमता का एकमात्र मापदण्ड बन जाने के कारण भी खेल-कूद की योजनाओं को यथोचित महत्त्व नहीं मिल पाता।

कुछ विद्यार्थी जो इस दिशा में विशेष रुचि रखते हैं और आगे चल कर पूर्ण रूप से विकसित हो सकते हैं, आर्थिक अभावों के कारण प्रारम्भ में ही कुण्ठित हो जाते हैं। अतएव आवश्यकता है कि सरकार पाठशालाओं में तथा इनके बाहर व्यावसायिक जीवन में भी—जहां कहीं कार्य-क्षम और क्रीड़ा-कुशल तत्त्व मिलें—उनकी आर्थिक सहायता करे। उन्हें जीविका-अर्जन की चिन्ता से मुक्त करे, जिससे वे अपना सारा समय उसी दिशा में दे सकें। इस क्षेत्र में भी उन्हें विषय का निर्देशन (Vocational Guidance) यथासमय दिया जाय, जिससे वे अपने विषय को केवल चंचुग्रहण न कर उसे पूर्णतया आत्मसात् कर सकें।

अन्त में हमारे आयोजक, प्रारम्भिक संस्थाओं से लेकर शीर्षस्थ संस्थाओं के संचालक पारस्परिक संघर्ष, क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक भावनाओं से ऊपर उठकर देश-हित को ध्यान में रख कर उसके गौरव की अभिवृद्धि को ही अन्यतम लक्ष्य बना सके तो जनता की गाढ़ी कमाई का सदुपयोग भी होगा और देश का कल्याण भी।
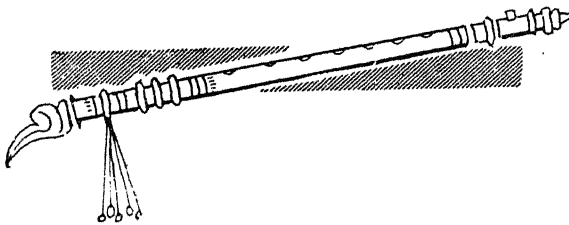
तृतीय खण्ड

प्राचीन, इतिहास, राजनीति, धर्म, संस्कृति, शिक्षा एवं विधि

वेद और अर्वाचीन विज्ञान

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्०
प्रोफेसर ऑफ इंडोलाजी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ।

वेद प्राचीन भारतीय संस्कृत के मूलाधार हैं। वेदविद्या का क्या स्वरूप है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। विशेषतः नये विचारों से प्रभावित व्यक्ति सच्चे मन से यह जानना चाहते हैं कि वेदों में किस प्रकार का ज्ञान है। यदि वैदिक विज्ञान का मानव के लिए कोई शाश्वत मूल्य है, तभी उसे अर्वाचीन जगत् में उचित सम्मान मिल सकता है। इस प्रश्न की उद्भावना करते हुए हमारा यह कथन है कि वेद विद्या का आज भी मानव के लिए उतना ही महत्त्व है, जितना पहले था।

वेद विद्या क्या है? इस प्रश्न का सरल उत्तर यही है कि जो सृष्टि विद्या है, वही वेद विद्या है। सृष्टि का विज्ञान ही वैदिक है। विश्व के विराट् नियमों का परिचय ही वैदिक मन्त्रों का उद्देश्य है। यह विश्व भूतों से बना हुआ है। भूतों के पीछे कोई महती शक्ति कार्य कर रही है। उसका क्या स्वरूप है? उसका उद्गम या स्रोत कहां है? उन भूतों में अवतार किस प्रकार होता है? भूत और शक्ति के पारस्परिक परिवर्तन के नियम क्या हैं? इन प्रश्नों की मीमांसा जिस प्रकार अर्वाचीन विज्ञान को अभीष्ट है, उसी प्रकार ऋषियों को भी इन प्रश्नों के समाधान में रुचि थी। किन्तु अर्वाचीन विज्ञान की जो पद्धति और परिभाषाएं हैं, ऋषियों की ज्ञानप्रणाली और परिभाषाएं उससे कुछ दूसरे प्रकार की थीं। यदि हम उन्हें उचित प्रकार से जान लें तो प्राचीन शास्त्रों के मर्म को अधिक स्पष्टता से समझ सकेंगे।

आज के युग में विज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वैज्ञानिकों ने निष्ठा से विश्व के नियमों का परिचय प्राप्त किया है। विज्ञान का आधार प्रकृति के महान् सत्य हैं। यों तो कहने के लिए सैकड़ों प्रकार के विज्ञान हैं किन्तु क्षेत्र विभिन्न हैं। उनमें ज्ञान की प्रक्रियाएँ भी कई एक प्रकार की हैं। किन्तु विश्लेषणपूर्वक देखने से या समीक्षा की दृष्टि से मूल विज्ञान तीन ही हैं। पहला भौतिक विज्ञान (फिजिक्स) दूसरा जीव विज्ञान (बायोलोजी) और तीसरा मनोविज्ञान (साइकोलोजी)। भौतिक विज्ञान के द्वारा हम विश्व के भौतिक तत्त्वों की छानबीन करते हैं। वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में अब तक जो अनुसंधान किए हैं उन सबकी उपलब्धि के फलस्वरूप वे यह जान सके हैं कि प्रत्येक भौतिक तत्त्व संगठन का अन्तिम स्वरूप परमाणु है। परमाणु की आन्तरिक रचना ऋण और धन विद्युत् कणों पर निर्भर है। इनका पारस्परिक आकर्षण और विकर्षण कुछ नियमों के अधीन है जो विद्युत् शक्ति के अन्तर्गत हैं। इस समस्त भूत का पर्यवसान वहां है, जहां शक्ति और भौतिक तत्त्व एक दूसरे में परिवर्तित होते हैं। भूत और शक्ति की विभाजक रेखा कहां है? और इनका विपरिणाम कैसे होता है? यह एक रहस्य है। इस मौलिक प्रश्न के विषय में मानवीय मस्तिष्क अभी तक अप्रतिबुद्ध बना हुआ है। परमाणु भौतिक होते हुए भी उसका अन्तरंग स्वरूप विद्युन्मय है। प्राचीन वैदिक परिभाषा के अनुसार भूतों को अक्षर कहा जाता है और भूतों में रहने वाली शक्ति को क्षर—'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते'; (गीता १५।१६)। ऋग्वेद में भी कहा है—'ततः क्षरत्यक्षरम्' अर्थात् अक्षर या शक्ति के क्षरण से क्षर या नश्वर भूत जन्म लेते हैं। ऋग्वेद की कल्पना के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में शक्ति का एक महासमुद्र भरा हुआ था। उसकी ऊर्मियों या तरंगों के स्पन्दन से इस विश्व की रचना हुई। अथवा यों भी कह सकते हैं कि वह शक्ति समुद्र इतना विशाल है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड या सृष्टि उसकी तरंग या लहर के समान है। (समुद्रादूर्मिर्मधुमां उदारत्, ऋ०वे०४।५८।१)। उसी महान् समुद्र को, शक्ति के आधार को पारमेष्ठी समुद्र भी कहा जाता है। वह महती शक्ति सब समुद्रों की अधिष्ठात्री है। उसीके तक्षण से ब्रह्माण्ड जन्म लेते हैं। इन ब्रह्माण्डों की रचना और व्यवस्थिति उसी एक मूल भूत शक्ति के अधीन है। उसे ऋग्वेद में गौरी कहा गया है। उसीकी निजी शक्ति से प्रमाण या सीमाभाव का जन्म होता है और शक्ति की सीमा के परिधियों के रूप में अनेक ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आते हैं। इस प्रक्रिया को इस प्रकार कहा है :

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥
ऋ० वे० १।१६४।४१

अर्थात् शक्ति समुद्र के जलों का तक्षण या विविध रूप में रचना करते हुए वह महती जगन्माता गौरी जो अपने मौलिक रूप में सहस्रात्मिका अर्थात् अनन्त है। वही भिन्न-भिन्न प्रमाणों को धारण करती है। वही एक-दो-चार, आठ, नव इन भिन्न-भिन्न संख्याओं के रूप में अपनी अक्षर शक्ति का विकास करती है। कहीं वह एक ओर अखण्ड है जिसमें समस्त विलीन होता है। कहीं वह द्विधा भाव को प्राप्त होता है, जो विश्व का मौलिक द्वित्व है। द्विधा भाव के बिना विश्व की रचना संभव ही नहीं। देव और भूत, प्राण और अपान, प्रकाश और अन्धकार, सत् और असत्, अमृत और मृत्यु, द्युलोक और पृथ्वी, समष्टि और व्यष्टि, मण्डल और केन्द्र इत्यादि सहस्रों रूपों में द्वन्द्व भाव को प्राप्त होकर ही विश्व की रचना संभव हुई है। स्त्री और पुरुष, माता और पिता विश्वात्मक मिथुन के स्फुट रूप हैं। यही गौरी शक्ति का द्विपदी रूप है। इसी प्रकार चतुष्टयात्मक रूप धारण करके चतुष्पदी बनती है। इसे ही प्राचीन परिभाषा में सृष्टि का स्वस्तिक कहा गया है। स्वस्तिक से ही वृत्त चक्र का स्वरूप बनता है, जिसके अन्तर में चार भुजाओं से बंटे हुए नब्बे अंशों के चार समकोण होते हैं। वैदिक भाषा में इन्हें चार नवतियां कहा जाता है :

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं
न वृत्तं व्यतीरवीविपत् (ऋ० वे० १।१५५।६)

शक्ति का कोई भी भौतिक कारण ऐसा नहीं है जिसके अन्तःकरण में यह स्वस्तिक विद्यमान न हो। इस चक्र का व्येपन या परिभ्रमण गति का परिणाम है। अतएव समस्त विश्व के मूल में गति शक्ति की सत्ता है। वस्तुतः गति ही शक्ति है और गति है, विश्व। प्रत्येक परमाणु में गति का स्पन्दन है। उस स्पन्दन को वैदिक भाषा में समञ्चन और प्रसारण कहा जाता है। पुराणों में इसे ही संकोच और विकास कहा गया है। विश्व में सन्निविष्ट प्राण शक्ति की यही परिभाषा है——इसे ही गति या अगति भी कहते हैं। इस प्रकार वैदिक विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान इस विषय में एक मत हैं कि विश्व-शक्ति का मूल स्वरूप गति है और गति का स्वरूप स्पन्दन है। भूत और शक्ति के विलास का परिणाम यह जगत् है। शक्ति और चेतना के विषय में अर्वाचीन विज्ञान को मालूम है, किन्तु वैदिक विज्ञान का इस विषय में निश्चित मत है कि शक्ति चिन्मयी है। उसके चिदंश से भी भौतिक और प्राणात्मक विश्व की रचना हुई है और हो रही है। चेतना का भूत में परिवर्तन, यह एक रहस्यमयी प्रक्रिया है। उसके विषय में अभी हमारा वैज्ञानिक परिश्रम नितान्त अस्पष्ट है।

विज्ञान का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र जीव विज्ञान है। जीव या जीवन की स्थिति कोषों के रूप में देखी जाती है। प्रत्येक कोष को विज्ञान की परिभाषा में अण्ड या गर्भ कहते हैं। इस प्रकार के कोटानुकोटि अण्ड (Cell) हमारे शरीर में ही हैं। उनमें से प्रत्येक की संज्ञा गर्भ है। प्रत्येक गर्भ या अण्ड में जीवन या चेतना है। जीवन चैतन्य को ही वैदिक विज्ञान में हिरण्य कहा जाता है। प्रत्येक कोष का स्वरूप हिरण्यगर्भ है। उसके केन्द्र में जो स्पन्दनशील प्राण है, वही हिरण्य है। यही प्राचीन हिरण्य-गर्भ विद्या है, जिसे समस्त विश्व का, ब्रह्माण्ड का अण्ड या ब्रह्मांड कहा गया है। यही हिरण्यगर्भ है। वैदिक विज्ञान में शक्ति के मूल केन्द्र अर्थात् हिरण्य या प्राण का अत्यधिक महत्त्व है। समस्त चेतन सृष्टि का विकास हिरण्य से ही माना गया है। हिरण्य एक प्रकार का तेज है और प्राण का स्वरूप भी वही है। प्राण को ही ज्योति या रोचना भी कहा जाता है। प्राण अपान और व्यान ये ही तीन ज्योतियां या तीन रोचनाएं हैं। प्राण और अपान के परस्पर संघर्ष से जो प्रत्येक केन्द्र में एक ज्योति उत्पन्न होती है, वही चिनगारी जीवन है। प्राण का स्वरूप, उसका कोष में आगमन और निर्गमन दोनों रहस्यमय प्रक्रियाएं हैं। आज तक कोष की रचना के विषय में विज्ञान ने जो कुछ जान पाया है, उससे प्राण एवं चेतना के विषय में कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। कोष भौतिक है किन्तु प्राण अभौतिक है। कोष के आन्तरिक संस्थान के अनेक चित्र बन सकते हैं। किन्तु प्राण का कोई चित्र संभव नहीं। प्राण की कोई विराट् सत्ता विश्व रचना के मूल में है। उसके विषय में अर्वाचीन विज्ञान का कोई परिचय नहीं है। वस्तुतः उसकी सत्ता में भी विज्ञान को संदेह है। किन्तु वैदिक विज्ञान इस विराट् चेतना को ही आधार मान कर चेतन और अचेतन विश्व की व्याख्या करता है। इस विराट् चेतना का प्रतिबिम्ब प्रत्येक भौतिक शरीर में प्रकट हो रहा है। शरीर के भीतर ही उसका साक्षात् परिचय प्राप्त हो सकता है :

वेदान्तेषु यमाहुरेक पुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी।
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दोयथार्थाक्षरः (विक्रमोर्वशीय १।१)

प्राण के धरातल पर चेतना के द्विविध-रूपों को स्त्री और पुरुष की संज्ञा दी जाती है। इन्हीं के संयोग से नई प्राण सृष्टि संभव होती है। जहां तक स्त्री-पुरुष रूपी माता-पिता के प्राण व्यापार का विस्तार है, उसे ही द्यावा-पृथिवी या रोदसी ब्रह्माण्ड कहा जाता है। वहीं अर्द्धनारीश्वर रुद्र शिव का सेचन करता है। प्रत्येक पुष्प, कीट, पतंग, पशु-पक्षी और स्त्री-पुरुष में अर्द्धनारीश्वर की सत्ता है। शिव के नर-नारी वपु से ही प्राणि मात्र का जन्म होता है। सरल स्पष्ट शब्दों में वैज्ञानिक तथ्य यही है कि माता और पिता के संयोग के बिना प्राण या चेतना का आविर्भाव भूतों के धरातल पर नहीं होता। जिस प्रकार

विद्युत् शक्ति की अभिव्यक्ति भौतिक विद्युत् कणों के द्वारा ही होती है। वैसे ही प्राणमयी चेतना भौतिक कोषों में ही क्रियाशील हो सकती है।

प्राणियों के चेतन केन्द्र में तीसरी महत्त्वपूर्ण शक्ति मन है। यह भी एक रहस्य है कि पंचभौतिक देह में संज्ञानात्मक मन का जन्म किस प्रकार कहां से संभव होता है। मनःशक्ति का भौतिक आधार मन है। किन्तु स्वयं मानसिक शक्ति नितान्त अभौतिक है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पंच भूतों से यह शरीर बनता है। इनमें कहीं भी संज्ञा या चेतना की स्थिति नहीं देखी जाती। पंचभूतों की समष्टि में इस प्रकार की मानसिक शक्ति कैसे उत्पन्न होती है? यह प्रश्न वैदिक विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान दोनों के लिए असमाधेय रहा है। ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त में कहा है

देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्

(ऋ० वे० १।१६४।१८)

मन एक देवता है, अर्थात् उसका स्वरूप दिव्य है। विश्व की जितनी दिव्य-शक्तियां हैं, उन सब का अधिष्ठातृ मन है। इस प्रकार का महान् शक्तिशाली मन कहां से आया? पंचभौतिक शरीर में पहले एक अवयव संस्थान तैयार किया जाता है, जिसे मस्तिष्क कहते हैं। उसीके साथ नस नाड़ियों का बड़ा जाल पूरा हुआ रहता है। उसके आधार पर मानसिक चेतना का कार्य होता है। मन के बिना भूत की सत्ता का भी परिचय या प्रत्यय नहीं हो सकता। प्रज्ञान, विज्ञान, संवित्, बुद्धि, स्मृति, धृति आदि मन की ही अनेक शक्तियां है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं के द्वारा मन की ही शक्ति अभिव्यक्त होती है। मन को ही वैदिक भाषा में सविता भी कहा जाता है। सब भौतिक और दिव्य शक्तियों के प्रेरक होने के कारण मन की संज्ञा सविता है। जैसा कहा है— "सविता वै देवानां प्रसविता।" जैसे व्यष्टि शरीर को व्यवस्थित करने वाला आन्तरिक केन्द्र मन है, वैसे ही विश्व के आभ्यन्तर और बाह्य व्यापारों का नियामक केन्द्र सूर्य है। इसलिए सूर्य को भी सविता एवं विज्ञान या बुद्धि का ही अधिष्ठातृ देवता माना गया है। सूर्य से ऋषियों का तात्पर्य भौतिक तत्त्वों से निर्मित बाह्य तत्त्व नहीं किन्तु उसके मूल में अन्तः शिव प्राण या आत्मा से है, जिसके लिए कहा गया है—प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः,(मैत्री उ० ६।८)। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च, (ऋ० वे० १।११५।१)। सूर्य का शरीर भौतिक है किन्तु उसके भीतर देवात्मक शक्ति का निवास है। ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य शरीर में आत्मा है। इसीलिए सूर्य को ब्रह्मशक्ति का प्रतीक माना गया है—ब्रह्म सूर्य समंज्योतिः (यजुर्वेद २३।४८)। सूर्य के केन्द्र में जो प्राणात्मक चैतन्य बिन्दु है, उसे ही याजुष पुरुष भी कहा गया है।

इस प्रकार भूत, प्राण और मन इन तीनों की रचना, विकास और क्रियाओं के विषय में वैदिक विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान इन दोनों को समान रुचि थी। तत्त्व जिज्ञासा के मार्ग में ऋषियों ने और वैज्ञानिकों ने बहुत परिश्रम किया और अपनी-अपनी परिभाषाओं के द्वारा तत्त्व का वर्णन किया किन्तु दोनों में से ही कोई इन तीन पहेलियों को नहीं सुलझा सका। वैदिक विज्ञान के अनुसार मन, प्राण और भूत को तीन साहस्री या तीन अनन्तता कहा जाता है :

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये न कतरश्चनैनोः।

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि—तदैरयेथाम ॥ (ऋ० वे० ६।६९।८)

भूत, प्राण और मन इन तीन साहस्रियों की समष्टि से प्रत्येक व्यष्टिगत चेतना केन्द्र होता है। ये तीन साहस्रियां समष्टि विश्व में हैं। मनोविज्ञान शास्त्र की नवीनतम प्रगति और अद्यावधि खोजों से आशा होती है कि मन के स्वरूप और शक्तियों के विषय में हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ सकेगा और तब हम जान सकेंगे कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति और उससे ऊपर तुरीय कही जाने वाली मन की शक्तियों और अवस्थाओं की सच्ची परिधि और स्वरूप क्या है? वैदिक विज्ञान में मन के विषय में जो कुछ कहा है, वह अतिगौरवपूर्ण है। अर्वाचीन मनोवैज्ञानिक मन के विषय में अभी तक कुछ हिचकिचाहट के साथ तथ्यों को प्रकट कर रहे हैं। किन्तु उसकी पूरी शक्तियों के विषय में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। वैदिक विज्ञान के अनुसार विश्व की रचना काल की शक्ति से संभव हुई है और काल की गति चक्रात्मक है। काल चक्र का स्फुट स्वरूप संवत्सर है। चक्र की गति के दो रूप होते हैं—उद्ग्राभ और निग्राभ, अर्थात् ऊपर उठना या नीचे आना। इन दो अर्द्ध भागों से चक्र का स्वरूप बनता है। इस प्रकार का काल चक्र सदा से घूमता आया है। यह चक्र कभी जीर्ण नहीं होता—वर्वर्ति चक्रं नहि तज्जराय, (ऋ०वे०,१।१६४।११)। इस पहिये की धुरी कभी गर्म नहीं होती, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का घर्षण नहीं है—नाक्षस्तप्यते भूरिभारः (ऋ० वे० १।१६४।१३)। इस प्रकार की छन्दोगति से घूमता हुआ कालचक्र ही संवत्सर चक्र, भवचक्र या ब्रह्मचक्र है। यह विचार प्राचीन शब्दावलि में निहित होने पर भी नितान्त अर्वाचीन और गति-विज्ञान से संगत है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति ईश्वर तत्त्व में विश्वास करती है, वही देव तत्त्व है। उसीसे विश्व या प्रकृति का जन्म होता है। देव एक है, वह अनेक रूपों और नामों से विश्व में अभिव्यक्त हो रहा है। विश्व की जो दिव्य और अनन्त शक्तियां

हैं, वे ही देव हैं। वेद सृष्टि की व्याख्या, देव और असुर, अमृत और मृत्यु, ज्योति और तम; इन द्वन्द्वों के में रूप करते हैं। इनके मूल में किसी एक देव तत्त्व की महती सृजन शक्ति क्रियाशील है। इसे ही प्रकृति, प्राधानिक प्रक्रिया, त्रिगुणात्मिका शक्ति, पंचभूतों से समुत्पन्न और उनकी प्रेरक शक्ति के नामों से कहा जाता है। विज्ञान के अन्वेषण की सीमा वही है किन्तु वैदिक मान्यता के अनुसार इसके ऊपर और इसका नियामक अक्षर ब्रह्म है, इसे पुरुष कहा जाता है। पुरुष की शक्ति ही प्रकृति या विश्व के धरातल पर अवतरित होती है। इस प्रकार जहां वेद और अर्वाचीन विज्ञान के मतों में प्रकृति को लेकर भौतिक साम्य है, वहीं पुरुष की दृष्टि से मौलिक भेद भी है।
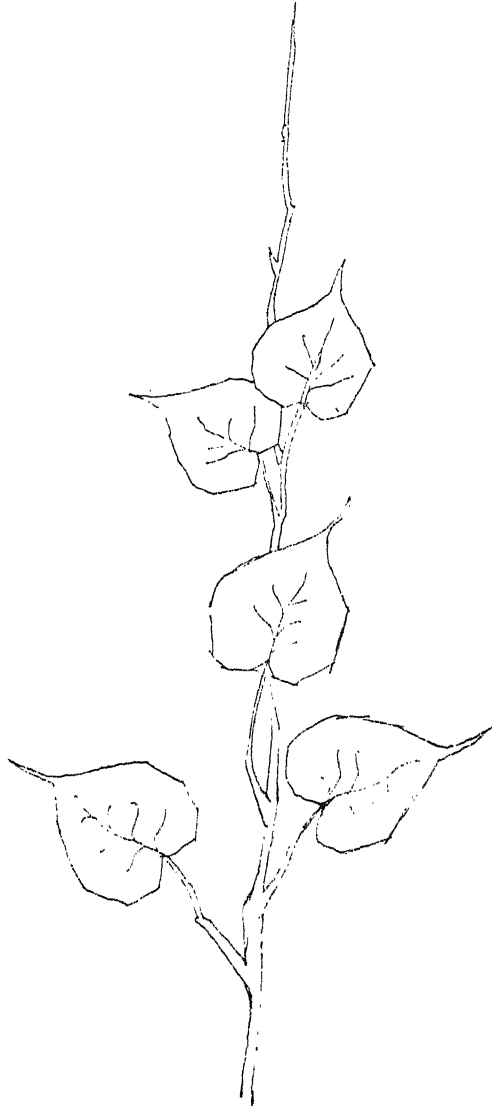
देवनीमोरी की मृद्-कला

डॉ० रमणलाल नागरजी महेता, एम० ए०, पी-एच० डी०
पुरातत्त्व व प्राचीन इतिहास विभाग, बड़ौदा विश्वविद्यालय।

गुजरात राज्य के साबरकांठा जिले की भीलोडा तहसील में शामलाजी नाम का तीर्थस्थान मेधो नदी के उत्तरी किनारे पर विद्यमान है। इस तीर्थस्थान के अग्निकोण में एक किलोमीटर की दूरी पर 'भोजराजानो टेकरो' नाम का एक टीला था। यह टीला देवनीमोरी गांव की सीमा में मेधो नदी के पूर्वी किनारे पर वृक्षादि से आच्छादित स्वरूप में स्थित था। इसके पास के खेतों में से ईंट आदि निकाल कर लोग कुएं, मकानात आदि बनाते थे। इस प्रवृत्ति से पता चलता था कि यहां कई प्राचीन इमारतें मौजूद हैं। इन इमारतों का प्रथम अध्ययन करने पर पता चला कि ईंटों की इन इमारतों का उत्खनन करने से इनका इतिहास प्रकाशित होगा। अतएव महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के पुरावस्तुविद्या विभाग के द्वारा १९६० में उत्खनन प्रारंभ हुआ और १९६३ में पूर्ण हुआ।

देवनीमोरी के इस उत्खनन से यह पता चलता है कि 'भोजराजानो टेकरो' और उसके चौतरफा की इमारतें बौद्ध संघाराम की थीं। इनमें स्तूप, विहार आदि रचनाएं दृष्टिगोचर होती हैं। देवनीमोरी का स्तूप निहायत सुन्दर बौद्ध प्रतिमाओं एवं मनोहर सुशोभनों से आच्छादित था। देवनीमोरी का स्तूप ईंट एवं मृद् सुशोभनों द्वारा आकर्षक एवं वंदनीय बनाया था। इस निबंध में देवनीमोरी की मृद्कला का परिचय देने का प्रयास किया गया है।

देवनीमोरी की मृद्-कला का किस समय आविष्कार हुआ? इस प्रश्न पर निर्णयात्मक अभिप्राय स्तूप में से प्राप्त पत्थर के समुद्गक के आधार पर दिया जाता है। इस समुद्गक के ऊपर कथिक संवत् १२७ के भाद्रपद के पंचम दिन रुद्रसेन के राज्यकाल में स्तूप बनाने का वर्णन है। कथिक संवत् का प्रारंभ कब हुआ, वह विवादास्पद बात है। किन्तु इस विवाद में देवनीमोरी का स्तूप ३७५ ई० में बनने के प्रमाण अधिकतर हैं, अतएव देवनीमोरी की कला ईसवी सन् की चतुर्थ शताब्दि के तृतीय पाद की है।

देवनीमोरी के बौद्ध कलाकारों ने इस कला का निर्माण यहाँ ही किया था। उनको मूर्त्तियां एवं नासिका, पत्रवेल इत्यादि सुशोभनों की आवश्यकता थी। इनका अपक्व मिट्टी में निर्माण करने के समय कुछ पदार्थ पकाने के समय खराब हो जायेंगे इस बात का पक्का विश्वास था। इसलिये आवश्यकता के अतिरिक्त मूर्त्तियां आदि बनाई गईं थीं। पकाते समय जो चीजें बिगड़ गईं थीं, उन सबको स्तूप के भीतर व्यवस्थित रूप में सुरक्षित रख दिया गया था।

इन सब प्रबंधों से पता चलता है कि देवनीमोरी के कलाकारों ने निर्माण-कार्य इस स्थान में किया था और संभवतः वे पास के नगर में रहते होंगे। उनकी कला किस प्रकार की है, इस प्रश्न पर विचार करके इस कला के मूल्यांकन का प्रयास करेंगे।

देवनीमोरी की कला में बुद्ध की पद्मासनस्थ मूर्त्तियां, नासिकाएं, वेल पत्रों के सुशोभन एवं शंख, ग्रास, सिंह आदि विविध स्वरूप पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं।

देवनीमोरी की कला की सर्वोत्तम कृति बुद्ध की पद्मासनस्थ प्रतिमाएं, हैं। वे ध्यान मुद्रा, प्रसन्न मुद्रा आदि मुख मुद्राएं दिखाती हैं। बुद्ध की मूर्त्ति के सिंह दक्षिणावर्त रोमराजी से या गांधार कला की भांति ऊर्ध्व केश रचना से आच्छादित हैं। लंबे कान, सरल नासिका एवं अर्धोन्मीलित नेत्र से ज्ञान, अनुकंपा एवं कारुण्य के भाव को भली भांति प्रकट करती हुई भगवान् बुद्ध की मुख मुद्रा दर्शनीय है। कंबुग्रीवा और सरल, मांसल देह के ऊपर उत्तरीय विविध ढंगों से परिधान करती हुईं इन प्रतिमाओं के अंग उपांग मनोहर रूप से अंकित हैं। पद्मासन के भिन्न-भिन्न प्रकारों से बुद्ध के आसनों में भेद जताने का इन कलाकारों का प्रयास रहा है। यहां से प्राप्त मूर्तियां स्तूप की द्वितीय दीवार को सुशोभित करती थीं, एक मूर्त्ति विहार में थी, और ज्यादा पकी हुईं या टूटी हुईं मूर्तियां स्तूप के अंदर के भाग में मिली थीं। एक और मूर्त्ति अंड से प्राप्त हुई है।

भगवान् बुद्ध के स्वरूप के अतिरिक्त सुशोभन स्वरूपों में नासिकाएं मिलती हैं। इन नासिकाओं में बड़ी कमान युक्त रचनाएं एवं शैलगृह की खिड़की की भांति रचना मिलती है। कई एक नासिकाएं मूर्ति के सुशोभन के लिये और कितनी स्तूप पर सुशोभनार्थ बनाई थीं। जो मात्र सुशोभनार्थ बनाई थीं उनके केन्द्र में बूटे, ग्रास आदि बनाते थे।

स्तूप की केवाल या कपोलाली टोडे, वेल, पान आदि से सौंदर्यपूर्ण बनायी है। इसके सिवाय यहां के स्तम्भ की कुंभी एवं शीर्ष भी मनोरम बनाये हैं। इनमें एफेन्थस की भाम प्रचुर मात्रा में है। एफेन्थस के अलावा ओलीव की भी कतिपय भामें बनी हैं। कमळ का उपयोग न्यून मात्रा में है।

इन वनसंति की भांत के अतिरिक्त लंब चौरस और समचौरस ईंटों पर शंख, ग्रास, बुद्ध आदि आकृतियां अंकित हैं।

इन सब कला स्वरूपों का देवनीमोरी में आविर्भाव ईसा की चतुर्थ शताब्दि के तृतीय चरण में हुआ है। इन स्वरूपों के अध्ययन से पता चलता है कि देवनीमोरी की कला का स्रोत अनेक धाराओं से बना है। इन धाराओं का पृथक्करण करने का प्रयास यहां किया है।

बुद्ध की प्रतिमा निर्माण करने का प्रयास भारत में हुआ था। भारतीय विचार एवं कलाधारा में ईस्वी सन् की प्रथम शती के आस-पास बुद्ध-मूर्ति निर्मित हो चुकी थी। बुद्ध-मूर्ति के मथुरा केन्द्र से दक्षिणावर्त रोमराजी वाली मनोहर प्रतिमाएं बनीं किन्तु गान्धार से ऊर्ध्व केशवाली प्रतिमा तैयार हुई। देवनीमोरी में दोनों प्रकार की मूर्तियां विद्यमान हैं। इससे पता चलता है कि उत्तर प्रदेश स्थित मथुरा केन्द्र और गांधार केन्द्र का यहां मिलाप हुआ है। मथुरा से गांधार कला के कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं और गांधार प्रदेश में मथुरा शैली के नमूने प्राप्त होते हैं।

इन बातों से पता चलता है कि बौद्ध कलाकारों में मथुरा शैली और गांधार शैली का मेल हो चुका था और दोनों केन्द्रों की कला के उत्तम अंश ग्रहण करके भारतीय शिल्प कला खास करके पश्चिम भारत में विशिष्ट स्वरूप धारण करती थी। बीकानेर से प्राप्त कला खंडों में गाधार सुशोभन अधिक है और राजस्थान के दूसरे विभागों से कुषाणकालीन शिलावशेष प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषों से पता चलता है कि पश्चिम भारत में चतुर्थ शताब्दि में विशिष्ट कला का आविर्भाव हो चुका था। पश्चिमी भारत की कला में गांधार एवं मथुरा कला के कतिपय अंश विद्यमान थे। इस बात का प्रमाण देवनी-मोरी की कला में प्राप्त होता है। बनारस के पास सारनाथ में पांचवीं शताब्दि और उसके बाद जो कला का विकास हुआ, इसमें भी मथुरा कला के कतिपय अंश शामिल हैं। सारनाथ से प्राप्त पत्र वेल आदि के और देवनीमोरी के इस प्रकार के कलावशेषों की तुलना करने से एक प्रमाण मिलता है कि सारनाथ की प्रशिष्ट कला में जो निर्माण हुआ है उसके अनेक तत्त्व तीसरी या चौथी शताब्दि में भारत में प्रचलित कला में से उद्धृत किये गये हैं। इस सदियों की कला के नमूने देवनीमोरी से प्राप्त हुए हैं जिसके अध्ययन से पता चलता है कि पश्चिम भारत में चौथी शताब्दि में विशिष्ट कला प्रणाली थी और इस प्रणाली में देवनीमोरी और शामलाजी में कलाकारों ने पत्थर और मृत्तिका का उपयोग करके प्रशंसनीय नमूने तैयार किये। शामलाजी से प्राप्त परिवां पत्थर की कुछ माताओं की मूर्त्तियां इस शताब्दि में बनी हैं। इस विधान के लिये अब पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। भविष्य की खोज से पश्चिमी भारत की ईसवी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दि की कला के अधिक नमूने प्राप्त होने की संभावना है।

देवनीमोरी के इन अवशेषों की प्राप्ति के बाद भारत की प्राक्-गुप्त कालीन कला के अध्ययन में एक महत्त्व का प्रकरण सम्मिलित हो गया है।

प्राचीन शिक्षा-केन्द्र कन्नौज

डॉ० रामकुमार दीक्षित एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, प्रा० भा० इ० एवं पुरातत्त्व, लखनऊ विश्वविद्यालय।

कन्नौज की गणना उन थोड़े-से नगरों में की जा सकती है, जिन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इस नगर का इतिहास बहुत ही विश्रृंखलित रहा है। इसकी स्थापना ऐल-वंशी नरेशों के समय में हुई थी[१] और उनके साथ ही इसके वैभव का भी अन्त हुआ। छठी शताब्दी में मौखरियों की राजधानी के रूप में कन्नौज एक बार पुनः उदीयमान हुआ। सातवीं शताब्दी में हर्ष ने इसे उत्तरापथ की राजधानी बना कर गौरवान्वित किया। कन्नौज का यह गौरव दसवीं शताब्दी तक अक्षुण्ण बना रहा, जब वह महमूद के नृशंस आक्रमण का शिकार बना। गहड़वाल शासकों (११-१२ वीं शताब्दी) के संरक्षण में उसने पुनः उत्कर्ष के दिन देखे, परन्तु यह उसके विगत वैभव की छाया मात्र थी, बुझते हुए दीपक की अन्तिम लौ। मुहम्मद गौरी द्वारा जयचन्द की पराजय के पश्चात् यह नगर अपने अतीत के गौरव को फिर कभी न प्राप्त कर सका।

कन्नौज की ख्याति केवल राजनीतिक परिस्थितियों पर ही आधारित नहीं थी; अपितु वह धर्म, विद्या और संस्कृति का भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। भले ही तक्षशिला या नालन्दा की भांति कन्नौज शिक्षा संस्थान न रहा हो, परन्तु निस्संदेह वह प्राचीन भारत का प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र था। कन्नौज को यह गौरव उसके प्रबुद्ध शासकों के उदार संरक्षण से ही प्राप्त हुआ था, जिनमें से अधिकांश स्वयं उच्च कोटि के विद्वान् थे।

कन्नौज के सर्वप्रथम ऐतिहासिक शासक मौखरी नरेशों के साहित्य-प्रेम की पुष्टि अभिलेखीय प्रमाण करते हैं।[२] खेद है कि उनकी राजसभा को गौरवान्वित करने वाले समस्त कवियों और विद्वानों[३] का उल्लेख इन अभिलेखों में नहीं मिलता है, परन्तु इस अभाव की पूर्ति बाण के निम्नोक्त कथन से होती है :

नमामि भर्वेश्चरणाम्बुजं द्वयं।
सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम्॥[४]

कतिपय विद्वान् मौखरियों को मुद्राराक्षस के प्रसिद्ध लेखक विशाखदत्त का भी आश्रयदाता मानते हैं।[५] यह कल्पना नाटक की कुछ पाण्डुलिपियों के 'भरतवाक्य' में अवन्तिवर्मन पाठ पर आधृत है जिसका साम्य कन्नौज के तन्नामा शासक से किया जाता है।[६] यह प्रमाण सुदृढ़ नहीं है, क्योंकि अन्य पाण्डुलिपियों में अवन्तिवर्मन के स्थान पर चन्द्रगुप्त, दन्तिवर्मन या रन्तिवर्मन पाठ भी प्राप्त होता है।[७]

हर्ष के राजकाल में कन्नौज ने आशातीत उन्नति की। वह स्वयं महान् विद्वान् तथा प्रभूत लेखक था।[८] सुप्रसिद्ध नाटक रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द[९] के अतिरिक्त सुप्रभात[१०] तथा अष्टमहाश्री चैत्य[११] आदि बौद्ध स्तोत्र, नाट्य-शास्त्र पर एक भाष्य[१२] एवं व्याकरण ग्रन्थ (लिंगानुशासन)[१३] भी उसी की कृतियां मानी जाती हैं।

प्राचीन युग के साहित्य-मीमांसकों ने हर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सोड्ढल ने उसे कवीन्द्र की उपाधि ही नहीं प्रदान की वरन् उसके शब्द-चयन की भी प्रशंसा की है।[१४] मधुसूदन ने उसे 'कवि-जन-मूर्धन्य' कहा है[१५] जबकि जयदेव[१६] तथा एक अन्य अज्ञातनामा लेखक[१७] उसे संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों की कोटि में स्थान देते हैं। कतिपय लेखकों ने इस प्रकार के भी अनुदार संकेत किये हैं कि 'उसकी साहित्यिक कृतियों के वास्तविक प्रसूतक दूसरे ही थे'—उदाहरणार्थ नागोजी का कथन है कि रत्नावलि का वास्तविक लेखक धावक था जिसने इस ग्रन्थ का कृतित्व अपने संरक्षक को समर्पित करके प्रभूत धन उपलब्ध किया था।[१८] आधुनिक आलोचक भी कभी-कभी इसी प्रकार का सन्देह प्रकट करते हैं।[१९] परन्तु हर्ष उच्चकोटि का लेखक था इस तथ्य को सहज ही अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। इसकी पुष्टि इत्सिग द्वारा भी होती है जो शीलादित्य की काव्य-रचना का ही नहीं उल्लेख करता है, वरन् यह भी कहता है कि बोधिसत्वजीमूतवाहन (जिसने एक नाग के

स्थान पर स्वयं अपने को समर्पित कर दिया था) की कथा का कर्ता वही था।[20] दसवीं शताब्दी के पश्चात् के अलंकार शास्त्रों तथा काव्य संग्रहों में इन नाटकों से उद्धृत अनेक पद्यांशों को सम्राट् हर्षकृत ही माना गया है। वास्तव में हर्ष ने संस्कृत के विद्वानों में अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था। उसकी कृतियों की सर्वदा प्रशंसा की गई है, उनका अनुकरण किया गया है और उन्हें उद्धृत किया गया है।

हर्ष के औदार्य ने देवी सरस्वती के अनेक उपासकों को कन्नौज की ओर आकर्षित किया।[21] जयसेन जैसे विद्वानों के लिए तथा नालन्दा जैसे विद्या-विहारों के लिए हर्ष प्रदत्त उपहारों का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है, जिसने स्वयं भी सम्राट् के अद्वितीय आतिथ्य का उपभोग किया था।[22] भारतीय स्रोत भी बाण और धावक के लिए प्रदत्त उसके बहुमल्य उपहारों का उल्लेख करते हैं।[23]

इत्सिंग के वृत्तान्त से भी विदित होता है कि हर्ष के दरबार में विद्वानों का भारी जमघट रहता था। एक समय सम्राट् के काव्यमयी रचनाओं की मांग करने पर उन्होंने सहज ही जातक कथानकों से सम्बन्धित ५०० कविताओं का संग्रह प्रस्तुत कर दिया था।[24] परन्तु आगामी युगों में केवल बाण, मयूर तथा धावक की ख्याति ही स्थिर रह सकी, जो निस्संदेह हर्ष की सभा के साहित्य-रत्न थे।

बाण अपने दो ग्रन्थों—हर्ष चरित और कादम्बरी के द्वारा अमर है।[25] चण्डीशतक भी उसी की कृति बताई जाती है, कभी-कभी उसे पार्वती परिणय,[26] मुकुट ताडितक[27] (अप्राप्य) तथा एक शब्दकोश[28] का लेखक भी माना जाता है। मयूर की ख्याति सूर्यशतक तथा मयूराष्टक पर आधारित है।[29] कालक्रम से अष्टक, शतक का पूर्ववर्ती हो सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मयूर के कामुक श्लोकों के कारण उसे कुष्ठ रोग का शिकार बनना पड़ा था, जिससे मुक्ति पाने के लिए ही उसने सूर्यशतक की रचना की थी।[30] काव्यप्रकाश भी इस कथा की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु[31] यह अनुश्रुति केवल कल्पना पर भी आधारित हो सकती है और यह भी सम्भव है कि सूर्यशतक को केवल उस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप जन्म मिला हो। समसामयिक अभिलेख एवं बाण तथा ह्वेनसांग के ग्रन्थ भी उस युग में सूर्य पूजा की व्यापकता की पुष्टि करते हैं।

पुष्ट साहित्यिक परम्परा, बाण और मयूर को समकालीन तथा हर्ष के आश्रित सिद्ध करती है।[32] यह उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा काव्य स्पर्धा (कवित्व प्रसंग परस्पर स्पर्धा) को भी व्यक्त करती है। मयूर को बाण का श्वसुर या साला मानने वाली किंवदंतियां[33] भ्रामक हो सकती हैं, क्योंकि बाण ने मयूर का उल्लेख किया है[34] परन्तु अपने पारस्परिक सम्बन्ध का कुछ भी संकेत नहीं किया है। दोनों की प्रतिस्पर्धा की कथा अधिक पुष्ट है। पद्मगुप्त ने तो यहां तक कह दिया है कि इसका मूलकारण स्वयं हर्ष था।[35]

उत्तरकालीन समालोचकों और लेखकों ने बाण तथा मयूर दोनों ही की अपरिमित प्रशंसा की है।[36] उनकी ही कोटि का एक अन्य विद्वान् दिवाकर या मातंग दिवाकर भी हर्ष की राजसभा में विद्यमान था।[37] राजशेखर तो उसे भास, भारवि, कालिदास, सुबन्धु और दण्डी के समान उच्च स्थान प्रदान करते हैं।[38] उसकी रचनाओं में से सुभाषितों में संग्रहीत कुछ श्लोक मात्र ही बच रहे हैं।[39] इनमें से एक उसके संरक्षक की स्तुति प्रतीत होता है।[40] कभी-कभी सबल कारणों के अभाव में भी उसकी पहचान भक्तामरस्तोत्र के जैन लेखक मानतुंग से की जाती है।[41]

कन्नौज के आगामी शासकों ने भी हर्ष की साहित्यिक परम्परा को स्थिर रखा। आठवीं शताब्दी में यशोवर्मन का दरबार भवभूति और वाक्पति जैसे साहित्यिक धुरंधरों से विभूषित था।[42]

भवभूति विदर्भान्तिर्गत पद्मपुर के निवासी थे।[43] वह मालतीमाधव, उत्तररामचरित तथा महावीरचरित नामक तीन संस्कृत नाटकों के रचयिता हैं। लक्षणावती के शासक 'धर्म' की सेवा में नियुक्त परमार क्षत्रिय वाक्पति ने बाद में कन्नौज के विजयी शासक को अपनी सेवाएं समर्पित की थी।[44] प्राकृत में विरचित उनकी कृतियों में 'गौडवहो' ही प्राप्य है। उससे पूर्व की रचना 'मुहमहवियय' अब अप्राप्य है।[45] प्राचीन समालोचकों ने भवभूति के गुणों की सम्यक् प्रशंसा की है।[46] वाक्पति ने भी उसकी महानता को स्वीकार किया है[47]—यद्यपि राजसभा में वह अधिक समादृत था। वाक्पति राजा का वैयक्तिक मित्र (पणै लवो) था और कैराय (कविराज) के विरुद से विभूषित था।[48]

राजतरंगिणी के उपर्युक्त श्लोक से प्रतीत होता है कि यशोवर्मन स्वयं भी कवि था। संस्कृत सुभाषितावलियों में भी उसके कुछ श्लोक उद्धृत पाये जाते हैं।[49] 'रामाभ्युदय' नाटक (जो अब अप्राप्य है) के लेखक होने का यश भी उसे प्राप्त है। इसका पता उत्तरकालीन अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त उसके उद्धरणों से ही चलता है।[50] यदि जैन ग्रन्थों को विश्वस्त माना जाय तो वाक्पति यशोवर्मन के उत्तराधिकारी आम के भी संरक्षण का उपभोग करता रहा था। आम का नाम प्रसिद्ध जैन विद्वान वप्पभट्टसूरी से भी सम्बन्धित है।[51]

प्रतिहारों के युग (९वीं तथा १०वीं शताब्दी) में कन्नौज में सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक व्यक्ति राजशेखर था। यह

राजा महेन्द्रपाल के गुरु या उपाध्याय थे और उसके पुत्र महीपाल के समय में भी विद्यमान थे।[५२] उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी[५३] और वह संस्कृत तथा प्राकृत में काव्य और नाटकों के सिद्धहस्त लेखक थे। उनकी रचनाओं में कर्पूर मंजरी, बाल रामायण, बाल भारत या प्रचण्ड पाण्डव विद्धशाल भंजिका और काव्य मीमांसा अब भी प्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त, राजशेखर को 'भुवन कोश'[५४] तथा 'हरविलास नाटक'[५५] का भी लेखक माना जाता है। महीपाल चण्ड कौशिक के लेखक क्षेमीश्वर का भी आश्रयदाता था।[५६]

गहड़वालों के राजत्वकाल में एक बार पुनः कन्नौज ने अपनी पूर्व ख्याति प्राप्त की। इस वंश के शासक स्वयं विद्वान् थे,[५७] उन्होंने विद्या को प्रोत्साहन दिया और लब्धप्रतिष्ट विद्वानों को अपने दरबार की ओर आकर्षित किया। इस वंश के द्वितीय शासक मदन-पाल को भैषज्य-ग्रन्थ मदन विनोद निघण्टु का लेखक बताया जाता है।[५८] उसके प्रसिद्ध पुत्र गोविन्द चन्द्र का युग मंत्री लक्ष्मीधर की साहित्यिक कृतियों के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने विधि-विधान पर 'कृत्य कल्प तरु' या 'कल्पद्रुम' नामक रोचक ग्रन्थ लिखा था। कन्नौज के अन्तिम शासक जयचन्द्र के दरबार में अनेक विद्वान् थे।[५९] उनमें से श्री हर्ष ने तो संस्कृत साहित्य के इतिहास में उसे अमर ही बना दिया है। 'नैषध-चरित' में कवि ने स्वयं ही कन्नौज से अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है।[६०] इसकी पुष्टि जैन लेखक राजशेखर भी करता है।[६१]

श्री हर्ष धुरन्धर विद्वान् (प्रज्ञाचक्रवर्ती) तथा अलंकार, गीत, गणित, ज्योतिष, चूड़ामणि मंत्र, व्याकरण और अन्य विद्याओं में पारंगत थे।[६२] उनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नैषध चरित' है। इसी ग्रन्थ में उनके अन्य ग्रन्थों—स्थैर्य विचारण, विजय प्रशस्ति, खण्डनखण्डखाद्य (शास्त्रार्थ ग्रन्थ), गौडोर्विशकुल प्रशस्ति, अपविवर्णन, छन्द प्रशस्ति, शिवशक्ति सिद्धि तथा नवसाहसांक चरित का भी उल्लेख मिलता है।[६३]

ऊपर-वर्णित कवियों और विद्वानों को संस्कृत साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उत्तरयुगीन लेखकों ने भी उनके गुणों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उनकी स्मृति को निरंतर समादरित करते रहे हैं। देवी सरस्वती की यह साधना केवल राजदरबार तक ही सीमित न थी। ह्वेनसांग के वृत्तान्त से कन्नौज के साधारण नागरिकों के कला और विद्या-प्रेम की पुष्टि होती है। मध्य प्रदेश (जिसमें कन्नौज भी सम्मिलित था) के लोगों का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि "उनकी वाणी शुद्ध और स्पष्ट वक्तव्य देवताओं की भांति मधुर तथा उच्चारण सुस्पष्ट था और वे अन्य जनों के लिए आदर्श प्रस्तुत करते थे।"[६४]

राजशेखर ने भी अपनी बाल रामायण (१०।८६) में पंचाल (कन्नौज जिसके अन्तर्गत था) के निवासियों को, विशेषतः वहां के कवियों को इन शब्दों में श्रद्धांजलि अर्पित की है :

पत्रार्थे न तथानुरज्यति कविर्ग्रामीणगीर्गुम्फने ।
शास्त्रीयासु च लौकिकेषु च यथा भव्यासुन व्योक्तिषु ।।
पांचालास्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजनाः ।
त्वद्दृष्टेरतिथी भवन्तु यमुनां त्रिस्त्रोतसं चान्तरा ।।

उसने अपने ग्रन्थों में कन्नौज के विद्वत् समाजों का प्रायः उल्लेख किया है जिनके समक्ष उसके नाटक खेले गये थे।[६५] उसकी 'काव्य-मीमांसा' में काव्य-गोष्ठियों तथा सभाओं का उल्लेख हुआ है जिन्हें राजा काव्य परीक्षा के लिए आयोजित किया करते थे। बड़े-बड़े नगरों में (महानगेरषु) भी 'काव्य-शास्त्र-परीक्षा' के लिए विद्वद् सभाओं (ब्रह्म सभाओं) का आयोजन होता था।[६६] प्रबुद्ध शासकों के संरक्षण में इस प्रकार की संस्थाओं के कन्नौज में अस्तित्व की कल्पना भी सहज ही की जा सकती है। कन्नौज की इस प्रकार की एक गोष्ठी (गोट्ठी) का स्पष्ट उल्लेख गौड़वहो में मिलता है जिसमें यशोवर्मन ने समारोह मनाने के लिए कवि वाक्पति से निवेदन किया था।[६७]

कान्यकुब्ज की स्त्रियां भी शिक्षा में पिछड़ी न थीं। हमारे सामने मौखरी रानी राज्यश्री का ज्वलन्त उदाहरण है। वह प्रथित विदुषी बौद्ध धर्म के सम्मतिय सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में पारंगत थी। ह्वेनसांग के विद्वत्तापूर्ण भाषण से वह बहुत प्रभावित हुई थी और उसकी प्रशंसा की थी।[६८] इस प्रसंग में राजशेखर की विदुषी पत्नी अवन्ति सुन्दरी का उल्लेख भी असंगत न होगा। 'काव्य मीमांसा' में तीन स्थानों पर उद्धृत[६९] उसके मत से आभासित होता है कि उसने अलंकार शास्त्र के किसी ग्रन्थ की रचना की थी। 'कर्पूरमंजरी' का अभिनय भी उसी की इच्छानुसार हुआ था।[७०] मातंग दिवाकर का उदाहरण यह बताता है कि सरस्वती के मन्दिर का द्वार निम्न से भी निम्न व्यक्ति के लिए भी खुला था।[७१] इससे उस युग की मनोवृत्ति पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। शिक्षा समाज के निम्न स्तर में भी व्याप्त हो चुकी थी।

कन्नौज के बौद्ध विहार भी विद्या के केन्द्र थे। त्रिपिटिकाचार्य वीर्यसेन के निर्देशन में ह्वेनसांग ने यहां के भद्र विहार में तीन मास रह कर अध्ययन किया था।[७२]

कन्नौज विद्वद्सम्मेलनों और संगीतियों का भी केन्द्र रहा है। हर्ष ने इसी तरह का एक बृहत् सम्मेलन ह्वेनसांग

के सम्मान में आयोजित किया था जिसमें भारत के पांचों भागों से अठारह राज्यों के शासक, विभिन्न राज्यों के युवराज तथा मंत्रियों के अतिरिक्त ३,००० प्रमुख बौद्ध भिक्षु, ३,००० ब्राह्मण तथा जैन विद्वानों एवम् नालन्दा विश्वविद्यालय के १,००० प्रथित विद्यार्थियों ने भाग लिया था। अठारह दिवसीय इस सम्मेलन का प्रारम्भ राजकीय ढंग से बड़ी धूम-धाम के साथ हुआ था[७३] और जनता भी बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थी। लूथर की भांति चीनी यात्री ने सभा-भवन के बाहर यह सूचना टंगवा दी थी कि 'मेरे वक्तव्य में जो कोई व्यक्ति किसी बात को प्रतिकूल सिद्ध करेगा अथवा तर्क में परास्त करेगा, उसे मैं अपना सिर भेंट कर दूंगा।' इस सम्मेलन का अन्त कुछ दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के साथ हुआ। हर्ष द्वारा आयोजित काव्य-प्रतियोगिताओं का उल्लेख बाण ने भी किया है।[७४]

विक्रमांक देव चरित के एक श्लोक से प्रकट होता है कि विल्हण जैसे प्रसिद्ध कवि भी स्थानीय विद्वानों से प्रतियोगिता हेतु कन्नौज पधारे थे।[७५] इसके विपरीत अन्य ग्रन्थों से पता चलता है कि कन्नौज के विद्वान भी देश के विभिन्न भागों को जाया करते थे। उदाहरणार्थ 'श्री कण्ठचरित' में कहा गया है कि कश्मीर नरेश जयसिंह के मंत्री अलंकार द्वारा आयोजित विद्वद्-सभा में भाग लेने के लिए गहड़वाल शासक गोविन्दचन्द्र ने सुहल को भेजा था।[७६] इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में कन्नौज के प्रतिनिधि वप्पभट्ट सूरी तथा लक्षणावती के बर्द्धनकुंजर के मध्य वाद-विवाद का उल्लेख मिलता है। यह वाद-विवाद दोनों राज्यों की सीमा पर हुआ था जो छह मास में समाप्त हुआ था।[७७]

निश्चय ही कन्नौज प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र बन गया था। देश के अन्य भागों में वहां के विद्वानों को समुचित आदर प्रदान किया जाता था। कश्मीर के शासक जलौक ने धर्म और व्याकरण में पारंगत कन्नौज के चारों वर्णों के लोगों को अपने राज्य में बसाया था।[७८] इसी प्रकार कहा जाता है कि राजा आदिसूर ने बंगाल में वर्ण-व्यवस्था के पुनस्संगठन के लिए कन्नौज के ब्राह्मणों को निमंत्रित किया था।[७९] प्राचीन अभिलेखों से भी प्रमाणित होता है कि अन्यान्य राज्यों के शासकों ने कन्नौज के ब्राह्मणों को अग्रहार प्रदान किये थे। प्राचीन युग कन्नौज की सांस्कृतिक महत्ता को इससे बढ़ कर और क्या विभूति अर्पित कर सकता था ?

द्रष्टव्य टिप्पणियाँ

१. रामायण (भगवद्दत द्वारा सम्पादित) १।३०।६ के अनुसार पुरुख-ऐल-वंशी कुशनाभ ने कन्नौज (महोदय) की स्थापना की थी।

२. द्रष्टव्य : ईशान वर्मन् का हरहा अभिलेख जिसमें ईशान वर्मन एवं सूर्य वर्मन के सम्बन्ध में क्रमशः 'यस्मिन्शासति च क्षितिं क्षितिपतौ जातेगभूयस्त्रयी' तथा 'शास्त्रविचारणा हितमनाः पारंकलानांगतः लक्ष्मीकीर्तिसरस्वतीप्रभृतयो यं स्पर्धयेवाश्रिताः' वाक्य उद्धृत मिलते हैं।

३. उनमें रविशान्ति एक थे ; जिन्होंने 'नृपानुरागात्' 'हरहा प्रशस्ति' की रचना की थी।

४. कादम्बरी (सं० पेटर्सन) पृ० १ श्लो०४ : भर्वरचित श्लोक वल्लभ देव की सुभाषितावली (पेटर्सन और दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित श्लो० ५१३, ६३७, १८३८), शारङ्धर पद्धति (पेटर्सन द्वारा सम्पादित, श्लो० २५२ तथा ३९३२) तथा सुभाषित रत्न भाण्डागार (परब द्वारा सम्पादित), सदुक्तिः कर्णामृत : (शर्मा द्वारा सम्पादित) आदि में प्राप्त होते हैं।

५. उसे देवी चन्द्रगुप्तम् तथा अभिसारिकावञ्चितक (या बन्धितक), जो अब अप्राप्य हैं, का लेखक भी माना जाता है। यथा वरदाचारी, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १५६।

६. द्रष्टव्य : इण्डि० ऐ० ४३ पृ० ६७; जे० आर० ए० एस०, १९००, पृ० ५३५, पायर्स : मौखरिज, पृ० १८५, तेलन्ग द्वारा सम्पादित कादम्बरी की भूमिका; इत्यादि।

७. यथा वरदाचारी 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर', पृ० १५५।

८. द्रष्टव्य: हर्षचरित (परब, ७वां संस्करण): काव्य कथा स्वपीतमप्यमृतमुद्वमन्तं (पृ० ७१); सर्वविद्यासंगीत गृहमिव सरस्वत्या (पृ० ७६); अपिचास्य............................प्रज्ञायाः शास्त्राणि...........................कवित्वस्य वाचः..... ....कौशलस्य कला न पर्याप्तो विषय: (पृ० ७८), नागानन्द (करमारकर द्वारा सम्पादित) १।३, श्री हर्षो निपुणः कवि................................। बांस खेरा अभिलेख से विदित होता है कि हर्ष के हस्ताक्षर भी बहुत सुन्दर थे।

९. द्रष्टव्य : इन नाटकों की भूमिका में सूत्रधार का कथन : "अद्याहं................उत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राजश्री हर्ष देवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तः। यथास्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेन.......... कृत..तत् त्वया नाटयितव्यमिति"।

मधु सूदन की भाव बोधिनी में हर्ष को स्पष्टतः 'रत्नावल्याख्य नाटिका कर्तुः' कहा गया है। यथा इण्डि० ऐं० २,

पृ० १२७–२८। तीनों नाटकों की रचना और शैली में साम्य तथा उनमें अनेक वाक्यों का एक रूप में उद्धृत होने से भी यही प्रमाणित होता है कि उनका लेखक एक ही व्यक्ति था।

१०. द्रष्टव्य : थॉमस, जे० आर० ए० यस० १९०३, पृ० ७०३, कीथ, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २१५; वरदाचारी, ऊपर उद्धृत, पृ० ९६ इत्यादि।

११. लेवी ओरेन्टलिस्टेन कांग्रेस, १०।२, पृ० १८९, कीथ, ऊपर उद्धृत, पृ० २१५; वरदाचारी, ऊपर उद्धृत, पृ० ९६ इत्यादि।

१२. वही पृ०, १७७, १८०।

१३. वही पृ० १९६।

१४. उदय सुन्दरी-कथा (जी० ओ० यस०) पृ० १५० कवीन्द्रैश्च विक्रमादित्यश्रीहर्षमुंजभोजदेवादिभूपालैः; तथा पृ० २।

१५. भावबोधिनी (उद्धृत इण्डि० ऐं० पृ० १२७–२८) तथा क्वेकेन्बस, संस्कृत पोयम्स ऑफ मयूर, पृ० ६–७। मधुसूदन भ्रमवश उसे मालव का शासक बताता है, जिसकी राजधानी उज्जैन थी।

१६. द्रष्टव्य : प्रसन्नराघव १।२२,

यस्याश्चोरचिकुरनिकुरः कर्णपूरोमयूरो।
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः॥
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पंचबाणाश्च बाणः।
केषां नैषां कथय कविताकामिनी-कौतुकाय॥

१७. द्रष्टव्य : सुभाषित रत्न भाण्डागार (परब तथा पंसिकर ५वां संस्करण) पृ० ३८, ७१ :

माघश्चोरो मयूरोमुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः।
श्री हर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्याह्न्वयो भोजराजः॥
श्री दण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लरो भट्टबाणाः॥
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादयः इहकृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति"॥

१८. द्रष्टव्य : काव्यप्रदीपोद्योत :—धावकः तन्नामा कविः।
स हि श्री हर्षनृपनाम्ना रत्नावलीं नाम्नीं नाटिकां,
कृत्वा बहुधनं लब्धवानिति प्रसिद्धिरित्युद्द्योतादौ।

स्पष्टम्—यथा काव्य प्रकाश (कर्मरकर, ६वां संस्करण) १।पृ०७॥ अन्य समालोचकों ने भी यह आरोप लगाया है। यद्यपि मूल ग्रन्थ में ऐसा कोई आभास नहीं प्राप्त होता है। कभी-कभी धावक-भास को इन तीनों नाटकों का लेखक माना जाता है; जिसका आधार कुछ श्लोक हैं, जो राजशेखर की 'कविविमर्श' से सम्बन्धित माने जाते हैं, यथा—नागानन्द (कर्मरकर द्वारा सम्पादित) भूमिका पृ० १७।

१९. द्रष्टव्य—वही पृ० १९ तथा मैकडोनेल, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३६२, इत्यादि।

२०. तकाकुसु, ए रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रेलीजन, पृ० १६३–६४।

२१. हर्षचरित, ऊपर उद्धृत, पृ० ५५ : अस्य पण्डितोपकरणं वैदग्धम्।

२२. ह्वीली, लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, वील द्वारा अनूदित, पृ० १५३-५४; तथा पृ० ११२, ११९, १५९ एवम् वाटर्स, आन युअनच्वांग, भाग २, पृ० १७१।

२३. द्रष्टव्य : काव्य प्रकाश, ऊपर उद्धृत, पृ० ७ : श्री हर्षादेधावकादीन धनम्.................। (सुभाषितावली, पृ० १३८, में धावक के स्थान पर बाण पाठ मिलता है); उदय सुन्दरी कथा पृ० २ : सम्मूजितः कनक कोटिशतेन बाणः। राम चरित २२।१००; श्री हर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्। हर्ष के अभिलेख भी विद्वान् ब्राह्मणों को प्रदत्त उसके उपहारों का उल्लेख करते हैं। एपी० इण्डि० संख्या ४, पृ० २०८-२११; संख्या ७, पृ० १५७-५९। हर्ष चरित भी उसको बाण का संरक्षक बताता है।

सुभाषितावली, श्लोक १८०, में भी एक अज्ञात कवि पूछता है कि :

हेम्नो भारशतानि वा मदमुच्यां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्री हर्षेण समर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्ति बिसरैरुट्टङ्किता कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्॥

२४. तकाकुसु, ऊपर उद्धृत ; पृ० १६३ ।

२५. बाण के दोनों ग्रन्थ अपूर्ण रह गये थे। कादम्बरी को उनके पुत्र भूषण भट्ट ने पूरा किया था। क्षेमेन्द्र की औचित्य विचार चर्चा में उद्धृत एक श्लोक के आधार पर पीटरसन ने यह मत व्यक्त किया है कि बाण ने कादम्बरी की कथा को पद्यबद्ध भी लिखा था (सुभाषितावली, भूमिका पृ० ६३)।

२६. द्रष्टव्य: वरदाचारी, ऊपर उद्धृत, पृ० ११० ; मैक्डोनल, ऊपर उद्धृत, पृ० ३५२ ; सुभाषितावली, भूमिका पृ० ६२–६३, । कीथ, ऊपर उद्धृत, (पृ० १३ तथा ३१५) उसे वामन भट्ट बाण की कृति मानते हैं।

२७. नल चम्पू के समालोचक, गुण विनयगणि ने इससे एक पद्यांश उद्धृत किया है। (यदाह मुकुटताडितनाटके बाण:.......................) यथा, पीटर्सन, कादम्बरी, भूमिका पृ० ९८ तथा वरदाचारी, ऊपर उद्धृत, पृ० ३६२।

२८. द्रष्टव्य: कीथ, ऊपर उद्धृत, पृ० ४१२।

२९. मयूर को एक शब्दकोश का भी लेखक माना जाता है, पीटर्सन ने सुभाषितावली (टि० पृ०८) में यह मत व्यक्त किया है कि वक्रोक्ति पद्य जो काव्य संग्रहों में मयूर के बताए जाते हैं सम्भवत: किसी अप्राप्य ग्रन्थ के मंगलाचरण रहे होंगे। उसका बताया जाने वाला निम्नलिखित पद्य हर्ष की प्रशंसा में हो सकता है: (सुभाषितावली, श्लोक २५१५)।

> भूपाला: शशिभास्करान्वयभुव: के नाम नासादिता ।
> भर्तारं पुनरेकमेवहि भुवस्त्वां देव मन्यामहे ।।
> येनांगं परिमृप्य कुन्तलमथाकृप्य व्युदस्यायतं ।
> चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुना काञ्च्यां कर: पातित: ।।

३०. द्रष्टव्य: मानतुंग के भक्तामरस्तोत्र का एक अज्ञातनामा समालोचक––यथा, हाल, वासवदत्ता, भूमिका पृ० ७–८ पर टिप्पणी ; तथा क्वकेन्वस, संस्कृत पोयम्स ऑफ मयूर, पृ० २५। अन्य विद्वानों ने उसके कुष्ठरोग का कारण भिन्न बताया है। वही पृ० २१–२३। इसके विपरीत, प्रबन्ध चिन्तामणि (जिन विजयमुनि द्वारा सम्पादित पृ० ४४-४५) बाण को कुष्ठरोग से पीड़ित तथा सूर्य-शतक का लेखक बताती है।

३१. काव्य प्रकाश, ऊपर उद्धृत, १।पृ० ८: आदित्यादेर्मयूरादीनामिवामर्थ निवारणम्'। नरसिंह ठाकुर ने इस पर भाष्य किया है कि 'मयूर नामा कवि: श्लोक शतेनादित्यमुपश्लोक्य कुष्ठरोगान्निस्तीर्ण इति जनश्रुति:।

३२. द्रष्टव्य: भावबोधिनी, उद्धृत इण्डि० ऐन्टी० संख्या २, पृ० १२७–२८ ; नवसहसांक चरित २।१८ ; प्रभावक चारित (जिन विजय मुनि द्वारा सम्पादित) पृ० ११५ ; सारंगधर पद्धति श्लोक १८९ इत्यादि।

क्वेकनवास (संस्कृत पोयम्स ऑफ मयूर, भूमिका, पृ० १६ आदि) यथेष्ट ही कहते हैं कि प्रबन्ध चिन्तामणि, भोज प्रबन्ध आदि जो उन्हें भोज और शंकराचार्य के समकालीन कहते हैं, भ्रमपूर्ण हैं।

३३. द्रष्टव्य: भावबोधिनी, ऊपर उद्धृत; प्रबन्ध-चिन्तामणि (जिनविजय द्वारा सम्पादित) पृ० ४४, प्रभावक चरित, ऊपर उद्धृत, पृ० ११३ आदि।

३४. हर्ष चरित, ऊपर उद्धृत, पृ० ४२ में एक "जांगुलिको मयूरक:" का उल्लेख है। पेटर्सन, सुभाषितावली, भूमिका पृ० ८६ तथा क्वेकेंबोस, ऊपर उद्धृत, पृ० ४–५, उसे कवि मयूर मानते हैं।

३५. द्रष्टव्य: नवसहसांक चरित (इस्लाम्पुरकर द्वारा सम्पादित) २।१८: श्री हर्ष इव संघहं चक्रे बाणमयूरयो:। भावबोधिनी, ऊपर उद्धृत, प्रबन्ध चिन्तामणि, ऊपर उद्धृत, पृ० ४४, प्रभावक चरित, ऊपर उद्धृत, पृ० ११३-११६ भी उनकी प्रतिस्पर्धा का उल्लेख करते हैं।

३६. द्रष्टव्य: सूक्ति मुक्तावली, सुभाषितावली, शारंगधर पद्धति, सुभाषितरत्नभाण्डागार आदि में कवि प्रशंसा सम्बन्धी पद्य, तथा संस्कृत पोयम्स ऑफ मयूर, पृ० ५२–५५ ; उदयसुन्दरी कथा पृ० ३, १५४, १५७ आदि।

३७. द्रष्टव्य: राजशेखर:

> अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंग दिवाकर: ।
> श्री हर्षस्याभवत्सभ्य: समो बाण मयूरयो: ।।
> उद्धृत, शारंगधर पद्धति, श्लोक १८९ ।

सूक्ति मुक्तावली (जी० ओ० यस०) श्लोक ७० में मातंग दिवाकर के स्थान पर चण्डाल दिवाकर पाठ है।

३८. द्रष्टव्य: शारंगधर पद्धति, श्लोक १८८।

३९. द्रष्टव्य: वही, श्लोक १२२७, सुभाषितावली, श्लोक ३०, २४९६, २५४४, २५४६; सुभाषित रत्नभाण्डागार, पृ० १४१, श्लोक ३३ आदि।

४०. द्रष्टव्य :

आसीन्नाथ पितामही तव महीमाता ततोनन्तरं ।
संप्रत्येव हि साम्बुराशिरशना जाया जयोदभूतये ।।
पूर्णेवर्षशते भविप्यति पुनः (सैवानुवद्य:) स्नुषा ।
युक्तं नाम समस्त शास्त्र विदुषां लोकेश्वराणामिदम् ।।
(सुभाषितावली, श्लोक २५४६) ।

४१. द्रष्टव्य : एफ हॉल, वासवदत्ता ऑफ सुबन्धु भूमिका पृ० २१ कीथ, (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० १२५), क्वेकेंबोस (ऊपर उद्धृत, पृ० ११) तथा पेटर्सन (सुभाषितावली, भूमिका पृ० ५८) इस मत से सहमत नहीं है।

४२. द्रष्टव्य : राजतरंगिणी ४१४४:

कविर्वाक्पति राजश्री भवभूत्यादिसेवितः ।
जितौ मयौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुति वंदिताम् ।।

४३. मालती माधव (भण्डारकर द्वारा सम्पादित) अंक २, पृ० ११ ।

४४. प्रबन्ध कोश पृ० ३०, ३७; प्रभावक चरित पृ० ८५, ९८ ।

४५. गौडवहो श्लोक ६९ । परन्तु जैनग्रन्थ प्रबन्ध कोश, पृ० ३७, तथा प्रभावक चरित, पृ० ९८, महुमह विजय को गौडवहो के पश्चात् की रचना बताते हैं ।

४६. द्रष्टव्य : राजशेखर, प्रचण्डापाण्डव, १।१२; सोड्ढल, उदयसुन्दरी कथा, पृ० १५४; सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० ३७, श्लोक ३१, ३३ आदि ।

४७. गौडवहो, श्लोक ७९९ :

भवभुइ–जलहि–णिग्गय–कव्वामयरसकणाइव फुरन्ति ।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा–णिवेसेसु ।।

४८. वही, श्लोक ७९७ । जैनग्रन्थ, प्रबन्धकोश (पृ० ३७) तथा प्रभावक चरित (पृ० ९८) का कथन है कि विजेता यशोवर्मन ने उसे बन्दी बना लिया था जिससे मुक्ति पाने के लिए उसने गौडवहो की रचना की थी । प्रभावक चरित (पृ० ८५) ने उसे "विदुषांमौलि-माणिक्यं प्रवन्ध कविरद्भुतः' कहा है ।

४९. द्रष्टव्य : सुभाषितावली, श्लोक १३६४, १३६६; शारंगधर पद्धति श्लोक ४०७१; सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० २९६, श्लोक २९६, पृ० २८२, श्लोक ११, सूक्ति मुक्तावली पृ० १५३, १६३, ३३०, ४०७ ।

५०. द्रष्टव्य : ध्वन्यालोक, लोचन, शृंगार प्रकाश इत्यादि तथा सुभाषितावली, भूमिका पृ० ९५, एवम् इण्डि० ए० संख्या ४१, पृ० १४१ ।

५१. द्रष्टव्य : प्रबन्ध कोश, पृ० २६–४६ तथा प्रभावक चरित पृ० ८०–१११ । वे ग्राम को ७२ कलाओं में प्रवीण, कवि तथा विद्वानों का संरक्षक मानते हैं । यह भी कहा जाता है कि उसने राजा धर्म के दरबार में प्रसिद्ध विद्वान् वर्द्धन कुंजर तथा अपने संरक्षित कवि बप्पभट्टि के मध्य होने वाले विवाद के परिणाम पर अपने सम्पूर्ण राज्य की बाजी लगा दी थी । (यः कोऽपि वादी विजयी भविष्यति तत्प्रभुरपरस्य राज्यं ग्रहिष्यति)

५२. कर्पूर मंजरी १।५, ८–९ विद्धशालभंजिका १।६ । एवम् बालभारत (कार्ल कापेल्लर द्वारा सम्पादित) पृ० २ ।

५३. कर्पूरमंजरी (१।८) में वह स्वयं अपने को 'सब्बभाषा चदुर' तथा 'कविराज' बताता है ।

५४. यथा, काव्य मीमांसा (दलाल द्वारा सम्पादित) पृ० ९८ ।

५५. द्रष्टव्य : काव्यानुशासनविवेक; तथा, काव्यानुशासन (आर० सी० परिख द्वारा सम्पादित) खण्ड १० पृ० ४५७ : स्वनामाङ्कता यथा राजशेखरस्य हरविलासे ।

५६. द्रष्टव्य : दलाल, काव्यमीमांसा, भूमिका पृ० १२–१३ । वरदाचारी, ऊपर उद्धृत, पृ० १६० उसे नैषधानन्द का भी लेखक मानते हैं ।

५७. द्रष्टव्य : एपी० इण्डि०, खण्ड २, पृ० २६२ आदि ।

५८. द्रष्टव्य : त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृष्ठ ३०६ तथा टि० २ ।

५९. द्रष्टव्य : प्रबन्ध कोश, ऊपर उद्धृत, पृ० ५४ तस्यराज्ञो बहवो विद्वांसः ।

६०. नैषध चरित, (निर्णयसागर प्रेस, ९वां संस्करण) २२।१५३: ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।

यत्काव्यमधुवर्षिवर्षितपुरास्तर्केषु यस्योक्तयः श्री हर्षः कवेः कृतिः कृतिमुदेतस्याभ्युदीयादियम् ।।

६१. द्रष्टव्य : प्रबन्ध कोश, ऊपर उद्धृत पृ० ५४, पाद टिप्पणी ।

६२. द्रष्टव्य : प्रबन्ध कोश, ऊपर उद्धृत, पृ० ५४–५५ ।

६३. नैषधचरित (निर्णयसागर प्रेस) के ४, ५, ६, ७, ९, २७ व २८ सर्गों के अन्तिम छन्दों तथा सर्ग २२ के छन्द १४९ में क्रमशः उल्लिखित । और भी द्रष्टव्य, प्रबन्ध कोश, पृ० ५५ ; खण्डनादिग्रन्थान् परः शताञ्चग्रन्थ ।

६४. वाटर्स, भाग १, पृ० ३४० तथा १५२–१५३ ।

६५. द्रष्टव्य : प्रचण्डपाण्डव (कार्लकापेल्लर द्वारा सम्पादित) पृ० २ : एते महोदय महानगर लीलां वतसां विद्वांसः सामाजिकाः । हेर्टेल का विचार है कि उसके सभी नाटक कन्नौज में लिखे गये और काल प्रियनाथ के मन्दिर में यात्रियों के समक्ष खेले गये थे ।(एस्पिा मेजर खण्ड १ पृ० १२–१३)

६६. काव्यमीमांसा पृ० ५४, ५५ ।

६७. गौडवहो (यस० पी० पण्डित द्वारा सम्पादित) श्लो० ८०४ तथा भूमिका पृ० ३४ ।

६८. लाइफ, पृ० १७६ ।

६९. काव्य मीमांसा, पृ० २०, ४६, ५७ ।

७०. कर्पूर मञ्जरी, १।१० ।

७१. द्रष्टव्य : राजशेखर :

सरस्वती पवित्राणां जातिस्तत्र न देहिनाम् । व्यासस्पर्धी कुलालोभूद्यद् द्रोण भारते कविः ।।

(शारंगधर पद्धति, श्लोक १९०) ।

७२. लाइफ, पृ० ८४ ।

७३. वही पृ० १७७–७९ ।

७४. हर्षचरित, अनूदित कार्वल तथा थॉमस, पृ० ५८ ।

७५. विक्रमांक देव चरित १८।९० ।

७६. द्रष्टव्य : मङ्ख कृत श्रीकण्ठचरित, २५।१०२ : अन्यः स सुहलस्तेन ततोऽवन्द्यतपण्डितः ।

दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः ।।

७७. उपर्युक्त ।

७८. द्रष्टव्य, राजतरंगिणी १।११७ :

जित्वोर्वीं कान्यकुब्जाद्यां तमयं सन्यवेशयत् ।

चातुर्वर्ण्यं निजे देशे धर्म्यांश्च व्यवहारिणः ।।

७९. यथा, मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, खण्ड १ परिशिष्ट १ ।
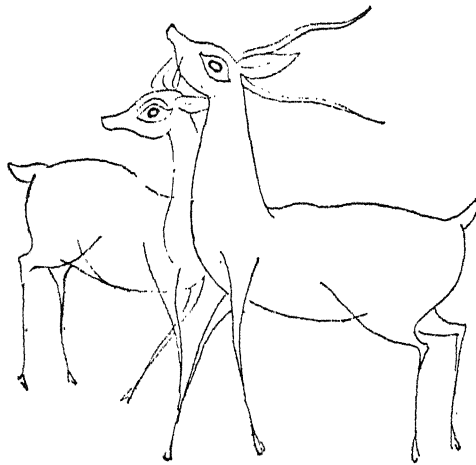
प्राचीन भारतीय मुद्राएं

डा० किरणकुमार थपल्याल, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय।

मुद्राएं[1] प्राचीन सभ्यताओं के विषय में जानकारी के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। उत्खनन एवं सर्वेक्षण से सहस्रों मुद्राएं प्राप्त हुई हैं जिनसे विदित होता है कि जब से मनुष्य ने सभ्य सामाजिक जीवन प्रारम्भ किया तभी से मुद्राओं का प्रयोग और प्रचलन प्रारम्भ हुआ। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं—मिस्र, सुमेर, बेबीलोनिया और भारत में मुद्राओं का प्रचलन था।

मुद्राओं के आकार और गठन, निर्माणवस्तु एवं उपयोग तथा लेख और चिन्हों में भिन्नता पाई जाती है। इनके प्रयोग करने वाले विभिन्न वर्गों के व्यक्ति थे—राजा और रानी, राजपुत्र और सभासद, राज कर्मचारी एवं जन-साधारण। इसके अतिरिक्त इनका प्रयोग धार्मिक तथा सार्वजनिक संस्थाएं भी करती थीं। उपर्युक्त भिन्नताओं के साथ ही अन्य वस्तुओं की भांति, मुद्राओं पर देश-काल की विशेषताओं का भी प्रभाव परिलक्षित होता है।

मुद्राएं मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं—वे जिन्हें दवाव डालकर अंकित किया जाता है तथा वे जिनका प्रयोग बेलन की भांति लुढ़काकर किया जाता है। यह तो सर्वमान्य है कि कतिपय विचार भावनाएं और कार्य-प्रणालियां देश और जातिगत विशेषताओं से प्रभावित होती हैं। प्राचीन हड़प्पा-सभ्यता (जिसे सिन्धु-सभ्यता भी कहा जाता है) के भारतीय उपर्युक्त प्रथम प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग करते थे और उनके समकालीन मेसोपोटामिया के लोग दूसरे प्रकार की। दोनों देशों ने पारस्परिक व्यापारिक संबंध होते हुए अपनी-अपनी विशेषताओं को बनाए रखा। ऐतिहासिक-काल में भी भारतीयों ने उसी तरह की मुद्राओं का प्रयोग किया जैसे कि उनके पूर्वज हड़प्पा काल में करते थे।

मुद्राएं विभिन्न आकृतियों की मिलती हैं, यथा—आयताकार, वर्गाकार, बेलनाकार, पिरामिड के आकार जैसी, बोतल की आकृति वाली, बटन के सदृश और मुद्रिका के रूप में। जिस मिट्टी पर उनकी छाप लगती थी उसकी आकृति किसी भी प्रकार की हो सकती थी। जहां तक आकार का सम्बन्ध है, एक पैसे से लेकर आधे फुट या उससे भी बड़े आकार की मुद्राएं प्राप्त हुई हैं।

एक ही मुद्रा से अनेक बार छाप ली जा सकती है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि मुद्राओं की अपेक्षा छापें अधिक संख्या में मिली हैं। हड़प्पा काल की सहस्रों सेलखड़ी की बनी मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य काल की मुद्राएं अप्रत्याशित रूप से कम ही मिली हैं। मुद्राएं, विशेषकर जो मिट्टी की बनी होती थीं, अनेकशः प्रयोग के फलस्वरूप टूट भी जाती रही होंगी। साथ ही व्यक्ति विशेष की मृत्यु के उपरान्त उन्हें प्रायः नष्ट भी कर दिया जाता होगा जिससे उनका दुरुपयोग न हो सके। जो मुद्राएं प्राप्त हुई हैं वे या तो कलात्मक होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से नष्ट नहीं की गई थीं, या वे खो गई थीं।

यद्यपि हड़प्पा-सभ्यता की प्राप्त मुद्राओं पर उत्कीर्ण लेखों को लिपि के ज्ञानाभाव के कारण पढ़ा नहीं जा सका है तथापि तत्कालीन सभ्यता के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक इतिहास पर सबसे अधिक प्रकाश उन्हीं के द्वारा पड़ा है। सेलखड़ी से बनी हुई ये मुद्राएं बड़ी संख्या में हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो से प्राप्त हुई हैं, किन्तु उनकी एक भी छाप इन स्थानों से प्रकाश में नहीं आई। यही कारण था कि कुछ विद्वानों ने इन्हें 'मुद्रा' मानने से असहमति प्रकट की थी, वे इनको तावीज कहना अधिक उपयुक्त समझते थे। किन्तु हाल ही में अहमदाबाद जिले के अन्तर्गत लोथल नामक स्थान पर खुदाइयों में न केवल हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो जैसी मुद्राएं ही प्राप्त हुईं अपितु अनेक मुद्रा-छापें भी मिट्टी पर मिली हैं।

---

१. मुद्रा शब्द का प्रयोग इस लेख में मुहर (सील) के अर्थ में किया गया है।

अतः अब निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो में प्राप्त तथाकथित 'तावीज' मुद्राएं ही थीं। इन स्थानों पर मुद्रा-छापें न मिलने का कारण यह था कि वे आग में नहीं पकाई गई थीं और दीर्घ-काल तक भूमि के अन्दर पड़े रहने के फलस्वरूप उनकी नमी और नमक के प्रभाव से नष्ट हो गई।

यद्यपि मुद्राओं के निर्माण में विभिन्न वस्तुओं का प्रयोग हुआ है तथापि मिट्टी और पत्थर की बनी मुद्राएं ही अधिकतर व्यवहृत थीं। धातुओं में तांबे और कांसे का ही अधिकांश प्रयोग हुआ है, सोने अथवा चांदी की मुद्राएं बहुत कम संख्या में प्राप्त हुई हैं, क्योंकि थोड़े ही व्यक्ति इन बहुमूल्य धातुओं की मुद्राएं बनवाने की सामर्थ्य रखते थे। मुद्रा-स्वामी की मृत्यु के उपरान्त इन्हें अन्य किसी कार्य में प्रयोग हेतु गलवा भी दिया जाता था। रैढ़ (राजस्थान) के उत्खनन में एक शीशे की मुद्रा प्राप्त हुई है। तक्षशिला, माहेश्वर और पटना के निकट की खुदाइयों में कुछ कांच की मुद्राएं भी मिली हैं। छापें प्रायः मिट्टी पर ही मिलती हैं, मोम की छापों के प्रयोग का प्रमाण गुप्तकाल के उपरान्त ही प्राप्त होता है। भोजपत्र और तालपत्र पर भी मुद्राएं लगाते रहे होंगे किन्तु समय के प्रभाव से वे नष्ट हो गई होंगी।

कुछ मुद्राओं पर केवल लेख (Legend) और कुछ पर केवल लांछन (Device) मिलते हैं, किन्तु कुछ ऐसी भी हैं जिन पर लेख और लांछन दोनों ही मिलते हैं। जिन पर लेख और लांछन दोनों ही मिलते हैं उनमें अधिकांश लांछन ऊपर के भाग में होता है और लेख नीचे की ओर। लेख ऊपरी भाग में और लांछन नीचे भाग में कम मिलता है। साधारणतः लेख मुद्रा-स्वामी के नाम का होता था। कभी-कभी नाम के साथ पद अथवा पिता का नाम या दोनों ही होते थे। कुछ मुद्राओं पर राजाओं की वंशावली भी मिलती है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक संस्थाओं की मुद्राओं पर उपास्य देवता का नाम, उसकी जय अथवा उसे नमस्कार मिलता है। बौद्ध-विहारों की मुद्राओं पर प्रायः विहारों का नाम प्राप्त होता है। सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं उपलब्ध बौद्ध मुद्राएं वे हैं जिन पर धारिणी मंत्र (ये धर्म्मा हेतु प्रभवा इत्यादि) अंकित है। कुछ मुद्राएं श्रेणी, निगम आदि आर्थिक और व्यापारिक संगठनों अथवा संघों की होती थीं और कुछ चरण, अग्रहार आदि शिक्षा संस्थानों की।

हड़प्पा-सभ्यता की मुद्राओं की लिपि के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक काल की भारतीय मुद्राओं के लेख साधारणतः ब्राह्मी लिपि में हैं किन्तु कुछ मुद्राओं के लेख खरोष्ठी में भी प्राप्त हुए हैं। ऐसी मुद्राएं उत्तरी तथा उत्तरी-पश्चिमी भारत तक ही सीमित हैं। ब्राह्मी, खरोष्ठी तथा ग्रीक लिपि में अंकित एक मुद्रा भी प्राप्त हुई है, जिसके लेख का आशय––'मित्र शर्मा के पुत्र बलीय की', है। लेख प्रायः एक अथवा दो पंक्तियों के मिलते हैं। दो से अधिक पंक्ति वाले लेख अज्ञात तो नहीं किन्तु बहुत ही कम हैं। ऐसे लेख विशेषतया राजवंशावली अथवा धारिणी मंत्रयुक्त हैं। जहां तक छापों का प्रश्न है, साधारणतया एक मिट्टी के लोंदे पर एक ही छाप मिलती है, कुछ दो तीन अथवा तीन से भी अधिक छापों वाले उदाहरण भी प्राप्त हैं।

मुद्राओं पर लेख उलटे खुदते थे, ताकि छापों में वे सीधे और उभरे आ सकें। कभी-कभी लेख खोदने वाले ने भूल भी कर दी है और अक्षर सीधे ही खोद दिये हैं परिणामस्वरूप मुद्रा छापों में वे उलटे आ गये हैं।

कभी-कभी संस्थाएं और व्यक्ति विशेष अपनी मुद्राओं पर अंकन हेतु ऐसे प्रतीकों का चयन करते थे जिनसे उनके धार्मिक विश्वासों की भी अभिव्यक्ति हो सके। नन्दी या बैल शिव का वाहन है, अतएव मुद्राओं पर बैल की आकृति का अंकन मुद्रा स्वामी के शैव मतानुयायी होने का सहज ही द्योतक है किन्तु गोपसेन अथवा नन्दी जैसे नामों के साथ जब हमें बैल (नन्दी) की आकृति मिलती है तो ऐसा लगता है कि सम्भवतः नाम के साम्य के कारण उपर्युक्त लांछन चुना गया हो। इसी प्रकार तक्षशिला से प्राप्त एक शिवरक्षित नामक व्यक्ति की मुद्रा पर शिव की आकृति अंकित है। धार्मिक संस्थाओं में कसिया (कुशीनारा) में स्थित महापरिनिर्वाण विहार की प्राप्त अधिकांश मुद्राओं पर 'महापरि-निर्वाण भिक्षु संघ' लेख के साथ शाल वृक्षों के बीच बुद्ध का वेष्टित शव दिखाया गया है। स्पष्ट है कि महापरिनिर्वाण विहार ने मुद्रा-चिन्ह हेतु महापरिनिर्वाण का दृश्य चुना है। इसी प्रकार सारनाथ के 'सद्धर्म चक्र विहार' की मुद्राओं पर धर्मचक्र और उसके दोनों ओर एक-एक मृग अंकित है। गौतम बुद्ध ने सारनाथ के मृगवन में अपना सर्वप्रथम धर्मोपदेश दिया था। मुद्रा में चित्रित मृग सारनाथ (मृगदाव) के प्रतीक हैं और चक्र 'धर्मचक्र' का जिसका सर्वप्रथम प्रवर्तन वहां के उपवन के शान्त वातावरण में हुआ था। वस्तुतः सारनाथ के 'सद्धर्म चक्र विहार' के हेतु इससे अधिक उपर्युक्त और सार्थक प्रतीक हो ही क्या सकता था? कालान्तर में मृग और धर्मचक्र का चिन्ह ज्ञान-दान का प्रतीक हो गया, और नालन्दा महा विहार ने भी, जो प्राचीन काल में विश्व का सबसे महान् विद्या-केन्द्र था, यही लांछन अपनी मुद्रा हेतु चुना।

मुद्राओं का प्रयोग भी अनेक प्रकार से होता था। कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेष की मुद्रा-छाप उसके हस्ताक्षर का काम देती थी। राजशासनों पर मुद्रा-छाप इस बात का प्रमाण थी कि वे राजा द्वारा अनुमोदित हैं। मिट्टी के एक ही लोंदे पर अंकित एक से अधिक छापें साक्षी-गण की हो सकती हैं। कभी-कभी मुद्रा बन्द पत्रों तथा पार्सलों पर उसी भांति

लगाई जाती थी जैसे कि आजकल। उन्हें भली भांति बन्द करके रस्सी से बांध दिया जाता था और गांठ पर गीली मिट्टी रख कर उसे मुद्रा से अंकित कर दिया जाता था। मुद्रा-छाप का सुरक्षित होना पत्र के न पढ़े जाने अथवा पार्सल के न खोले जाने का प्रमाण था। इस प्रकार प्रयुक्त मुद्रा-छापों की पीठ की ओर बांधी जाने वाली रस्सी के स्पष्ट चिन्ह मिलते हैं। मुद्रा तोड़ना नैतिक अपराध और भावी अनिष्ट का सूचक माना जाता था। इसी कारण कभी-कभी घड़े में धन अथवा आभूषण आदि रख कर उसके मुँह पर गीली मिट्टी लगा कर उस पर मुहर लगा दी जाती थी। चोर, अनिष्ट की आशंका से, उसे तोड़ने का साहस कम करते थे।

प्राचीन काल में भूमिदान सम्बन्धी लेख ताम्रपत्रों पर लिखे जाते थे और उन्हें दान प्राप्त करने वाले व्यक्ति अथवा संस्था को दे दिया जाता था, जो उन्हें सुरक्षित रखते थे। यदि सारा लेख एक ही ताम्रपत्र पर आ जाता था तो उसी पर मुद्रा लगा दी जाती थी, किन्तु प्रायः एक ही लेख कई ताम्रपत्रों पर चलता था। ऐसी दशा में उन सब ताम्रपत्रों में छेद कर एक तांबे की छड़ डाल दी जाती थी और उस छड़ के दोनों कोनों को मिलाकर उनकी संधि पर एक और तांबे का टुकड़ा रख कर उसे गरम करके उस पर मुद्रा-छाप लगा दी जाती थी। उपर्युक्त मुद्रा-छाप न केवल इस बात का ही प्रमाण थी कि उक्त दान राज्य सरकार द्वारा अनुमोदित है अपितु उसका सुरक्षित रहना इस बात का भी द्योतक था कि ताम्रपत्र एक दूसरे से अलग नहीं किये गये हैं, न बदले गये हैं और न उनमें जाली पत्र ही जोड़े गये हैं।

कुछ मुद्राएं ऐसी भी होती हैं जिनका उपयोग पत्र अथवा पार्सल बन्द करने के लिए नहीं होता था। ऐसी मुद्रा-छापों की पीठ की ओर रस्सी के चिन्ह नहीं मिलते, उनके पृष्ठ भाग अधिकतर सपाट हैं, कुछ पर इस ओर उंगलियों के चिन्ह प्राप्त होते हैं, क्योंकि छापें गीली मिट्टी को हाथ से पकड़ कर लगाई गई थीं। कभी-कभी उन पर चटाई आदि के भी निशान मिलते हैं क्योंकि उन्हें चटाई पर रख कर मुद्रांकित किया गया था। इस तरह की मुद्राएं अधिकतर वे हैं जिन पर धार्मिक चिन्ह अथवा धार्मिक वाक्य लिखा होता है और जिन्हें भक्तगण प्रसाद के रूप में मंदिरों में चढ़ाते थे। ऐसी मुद्राएं प्रमाणपत्र के रूप में भी व्यवहृत होती थीं, और इन्हें लेकर ही कोई व्यक्ति स्थान विशेष में प्रवेश कर सकता था अथवा वहां से बाहर निकल सकता था। ऐसी परिस्थितियां विशेषतः युद्धकाल में उठती रही होंगी जबकि शत्रु के गुप्तचरों की कार्रवाइयों से रक्षा आवश्यक थी। कभी ऐसी मुद्राएं पत्र अथवा संदेश-वाहक अपने साथ ले जाते थे जिससे पत्र प्राप्त करने वाला यह प्रामाणिक रूप से जान ले कि पत्रवाहक भेजने वाले का विश्वस्त व्यक्ति है और पत्र अथवा संदेश जाली नहीं है।

ये प्राचीन मुद्राएं कलात्मक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। अल्प निर्दिष्ट स्थान में अक्षरों को उलटे रूप में लिखना और उनको स्पष्ट बनाये रखना तथा मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता और पुष्प को ऐसी आकृति देना ताकि वे छापों में अनुरूप और स्पष्ट उभर आवें, उच्चकोटि की शिल्प-दक्षता का द्योतक है।

मुद्राओं द्वारा प्राचीन कला, मूर्ति-विज्ञान, इतिहास, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और राजनैतिक तथा प्रशासनिक सभी प्रकार के तत्कालीन जीवन पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। अतः पुराविदों और इतिहासकारों के लिये इनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। अनेक अंशों में, विशेषतया आकृति, लेख और चिन्ह के आधार पर मुद्राएं सिक्कों से मिलती-जुलती हैं किन्तु जहां प्रायः सभी उपलब्ध सिक्के धातुओं के ही हैं, मुद्राएं मिट्टी, पत्थर आदि पदार्थों की भी निर्मित हैं। सिक्कों का प्रचलन राजाओं, जनतंत्रात्मक सरकारों और निगमों द्वारा ही होता था किन्तु मुद्राओं का प्रयोग सभी वर्गों के लोग करते थे। अतः जन-जीवन के इतिहास और जनभावनाओं के न्यास के रूप में इनका विशेष महत्त्व है।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में उत्तर प्रदेश

डा० अंगने लाल एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रा० भा० इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

बौद्ध साहित्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रामाणिक साहित्य माना जाता है। इस साहित्य का आश्रय महामानव की देश-देशान्तर, नगर निगम और जनपदों की पद-चर्या है[1] जिसके साथ ही उनके जीवन के दुःख और सुखमय क्षण लिप्त हैं। यही कारण है कि बौद्ध साहित्य बुद्ध को पाकर बोधगम्य हो उठा, और "सब्बे सत्ता सुखी होन्तु सब्बे होन्तु च खेमिनो" का पावन सन्देश प्राणि मात्र को अपनी ओर आकर्षित करने लगा। लोग वर्ण-वर्ग और ऊंच-नीच के अहंभाव को तिलांजलि देकर समादरपूर्वक समुद्र में नदियों की भांति एक स्तर पर और एक संघ में आने लगे।[2] बौद्ध भिक्षुओं का विचरण समाज की सुख-शान्ति और समृद्धि के लिये था जिसके लिये वे उपदेश देते और पथ-प्रदर्शन करते थे। यही तथागत का उनके लिये आदेश भी था कि :

"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं।"[3]

यों तो समस्त भारत भूमि पुण्यमयी पूज्या रही है परन्तु मध्यदेश[4] उसमें भी विशेष पवित्र माना गया है। इसी क्षेत्र में महामानव ने विचरण कर समता, बन्धुता और 'कुक्कुट सम्पातिता' से परिपूर्ण चेतनामय उपदेश दिये थे। मध्यदेश की सीमाएं समय-समय पर बदलती रही हैं। विनय पिटक[5] के अनुसार पूर्व में कजंगल (कचंगल) निगम,[6] पूर्व दक्षिण में सल्लिवती नदी, दक्षिण में शेतकर्णिक निगम, पश्चिम में थूण नामक ब्राह्मण-ग्राम और उत्तर में उशीरध्वज पर्वत मध्यदेश की सीमाएं बनाते थे। दिव्यावदान के युग में मध्य देश की पूर्वी सीमा पुण्ड्रवर्धन (आधुनिक महास्थान, जिला बोगरा) थी।[7] सौन्दरनन्द में मध्यदेश को हिमालय और पारिपात्र (पारियात्र) पर्वतों के मध्य स्थित बताया गया है।[8] इस प्रकार ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि केवल पूर्व की सीमाओं को छोड़ कर प्राचीन काल का मध्यदेश आज का उत्तर प्रदेश ही है।

उत्तर प्रदेश से नातिदूर लुम्बिनी वन में[9] महामाया (मायादेवी) ने बुद्ध को 'सिद्धार्थ' के रूप में जन्म दिया था। इसी की स्मृति में कालान्तर में सम्राट् अशोक ने इस स्थान पर एक अभिलेख युक्त शिलास्तम्भ का प्रतिष्ठापन करवाया था, साथ ही वहां के निवासियों को कर से मुक्त कर दिया और उपज के छठे अंश के स्थान पर आठवां अंश ही लिया।[10] आज भी यहां पर माया देवी के मन्दिर में बुद्ध जन्म का दृश्य दिखलाया गया है। इसे आज कल रुम्मिन देई कहा जाता है। नेपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु[11] आज भी तिलौरा कोट के रूप में समिट कर कुमार सिद्धार्थ के बाल-जीवन

१—दिव्या० १–१४१।२
२—खुद्दक निकाय जि० १।१२७।१५–२५
३—ललित० ४।६–७, २६–२७
४—दिव्या० ३७।२९; अवदान० जि० १।१२४।६; १।१५३।६
५—विनय० ५।३।२
६—अवदान० जि० २।४१।५–६
७—दिव्या० १३।११–१६
८—सौ० २।६२
९—दिव्या० २४८।१५
१०—अशोक का रुम्बिनदेई का स्तंभाभिलेख।
११—दिव्या० २४९।२०, २५०।५

के क्रीड़न और चिन्तन की स्मृति दिलाता है। वहां कुमार ने 'लिपि-ज्ञान'[1] प्राप्त किया था तथा स्वकुलानुकूल समस्त विद्याओं में परं गति प्राप्त की थी।[2] व्यायाम शालाओं[3] ने उनके वल को आजमाया था। यहीं पर उन्होंने कीड़ों-मकोड़ों में भी 'मात्स्य न्याय' देख कर एक जामुन-वृक्ष के नीचे बैठ कर चिन्तन किया था।[4] 'जीर्णातुरमृत'[5] और भिक्षु[6] (श्रमण)[7] का साक्षात्कार कर दुःख-मुक्ति की युक्ति हेतु वन-गमन का निश्चय किया।[8] अर्द्धरात्रि को कंथक राजाश्व पर सवार हो छन्दक सारथि के साथ गृह-त्याग किया। ललित विस्तर के अनुसार कपिलवस्तु से छह योजन (षट्सु योजनेषु) दूरस्थ मल्लों के मैनेयानामनुवैनेय निगम में पहुंच कर उन्हें सूर्योदय हुआ था। यहीं से उन्होंने कन्थक और छन्दक को वापस किया था।[9] महावस्तु के अनुसार कपिलवस्तु से १२ योजन दक्षिण मल्ल जनपद के अनोमिया स्थान से वे वापस लौटे थे। यह स्थान ऋषि वसिष्ठ के आश्रम के समीप था।[10] बुद्ध चरित में इसे भृगु आश्रम बताया गया है।[11] नैरंजना[12] नदी के किनारे उरुवेला[13] स्थान पर उन्होंने संबोधि प्राप्त की थी।

संबोधि प्राप्त कर 'पंचवर्गीय' भिक्षुओं को कृतार्थ करने के लिये काशी जनपद के लिये प्रस्थान किया था। इस जनपद में साठ हजार नगर (षष्टीनां नगर सहस्राणि) थे।[14] वाराणसी (वर्तमान वनारस) उसकी राजधानी थी।[15] वाराणसी नगरी वाराणसी और भागीरथी नदियों से घिरी हुई थी।[16] सौन्दरनन्द से ज्ञात होता है कि वरणा और असी नामक दो नदियों से अभिसिंचित होने के कारण ही काशीनगर को वाराणसी कहा गया।[17] इसी नगरी में असित मुनि के भागनेय कात्यायन का निवास स्थान था जिन्हें बुद्ध ने उपदेश दिया था।[18]

काशी जनपद का सबसे प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थ 'ऋषि पत्तन मृगदाय' है। डेढ़ योजन वन खण्ड में ५०० प्रत्येक बुद्ध[19] के साधना कर परिनिवृत्त होने के कारण यह वन-खंड ऋषि पत्तन (ऋषयो अत्र पतिता ऋषि पत्तनम्)[20] कहलाया। मृगदाय नाम बोधिसत्व न्यग्रोध से सम्बन्धित है। जिसके परोपकार से अभिभूत हो आखेट प्रिय काशिराज ब्रह्मदत्त ने इस

१—वही २४९।२८
२—वही २४९।२९
३—वही २४९।३०
४—बु० च० ५।४–१३
दिव्या० २४९।३२ से २५०।११
५—दिव्या० २४९।३२
६—बु० च० ५।१६
७—वही ५।१७
८—टिप्पणी :—कुमार सिद्धार्थ की आयु २९ वर्ष की थी जब उन्होंने महाभिनिष्क्रमण किया था। इस अवस्था तक उनका वृद्ध, रोगी, मृत और संन्यासी को न देख पाना कुछ समझ में नहीं आता। धर्मानन्द कोशाम्बी तथा डा० बी० आर० अम्बेडकर ने गृह-त्याग के लिये जिन राजनीतिक कारणों को उत्तरदायी माना है उन्हें क्रमशः उनके ग्रन्थों—'भगवान बुद्ध' हिन्दी अनुवाद पृ० १०६–११२, राजकमल प्रकाशन दिल्ली १९५६ तथा बुद्ध ऐण्ड हिज धम्म पृ० २२–३०, सिद्धार्थ कालेज पब्लिकेशन १९५७ में देखा जा सकता है।
९—वैद्य, ललित० पृ० १६३–१६४, १६७।१५
१०—महावस्तु जि० २।१६४।१८, वही जि० २।१६६।११; २।१८९।१–२, ९–१०; २।२०७।१०–१२
११—बु० च० ६।१–६५
१२—बु० च० १२।९०; ललित० ४९२।१५–१६ (मित्रा)
१३—दिव्या० १२५।२५–२६
१४—महावस्तु जि० २।४२०।७–८
१५—वही जि० २।४२०।६
१६—बु० च० १५।१४
१७—सौ० ३।१०
१८—बु० च० २१।२१
१९—महावस्तु जि० १। पृ० ३५७–३५९; ललित० १८।२०–२१; अवदान० जि० १।४२।९
२०—महावस्तु जि० १।३५९।१७

वन खण्ड को मृगों के लिये दान दे दिया था। इसी कारण से ऋषि पत्तन "मृगदाय" भी कहलाया। कहीं कहीं इसे ऋषि वदन मृगदाव[१] भी कहा गया है।

बुद्ध अपने युग के प्रचलित ६ प्रसिद्ध दर्शनों और उनके प्रचालकों[२] से पहले ही अवगत हो चुके थे। उनके काय-सुख (यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्) और काय-क्लेश[३] से बुद्ध कभी भी सहमत न थे, क्योंकि दोनों ही मार्ग सामान्य लोगों के दैनिक जीवन में आचरणीय न थे। अस्तु, उन्होंने ऋषि-पत्तन मृगदाय वर्तमान सारनाथ में, जहां पुरातात्विक खोजों में मौर्य काल से लेकर बारहवीं शताब्दी के स्मारक प्राप्त हुए हैं,[४] 'मध्यम मार्ग' का उपदेश किया:

"भिक्षुओ, अपने को काय क्लेश देने वाले अज्ञानी को और वैसे ही विषयों में आसक्त रहने वाले को—इन दोनों को तुम्हें दोष में स्थित समझना चाहिए, क्योंकि दोनों ही अमरत्व की ओर नहीं ले जाते।"[५] "इन दोनों अन्तों को छोड़ कर मैंने तीसरा मार्ग पाया है। वह मध्यम मार्ग है जो दुःख का अन्त करने वाला तथा जन-जन में प्रीति और सुख उत्पन्न करने वाला है।"[६] संयोग, वियोग, प्राप्ति, दुष्प्राप्ति आदि तृष्णाओं से लोग दुखित हैं। तृष्णाओं को जीत लेने से दुःख का निवारण होता है और उन्हें जीतने के लिये—'अष्टांगिक मार्ग'[७] का आचरण अनिवार्य है।

जब तक दुःख को मनष्य दुःख नहीं मानता, दुःखोत्पादक कारणों को नहीं त्यागता, उसके दूर करने के उपाय को नहीं खोजता और उपाय खोज लेने पर भी यदि उन उपायों का आचरण नहीं करता तब तक दुःख-नाश असम्भव ही है।[८] अल्प काल में ही पांच से बढ़ कर ६० शिष्य हो गये। उन्हें 'चरथ भिक्खवे चारिकं' का उपदेश देते हुए बुद्ध ने कहा कि "हे भिक्षुओ, तुम अपने दुःखों का नाश कर चुके हो अब उनकी मदद करो जो इस समय भी दुःखी हैं। इस कार्य के लिये अलग-अलग अकेले अकेले पृथ्वी के विभिन्न भागों पर विचरण करो और दया-भाव पूर्वक लोगों को दुःख दूर करने के उपायों का उपदेश करो।"[९] सम्राट् अशोक ने ऋषिपत्तन मृगदाय की यात्रा की थी[१०]—पुरातात्विक खोजों से अशोक द्वारा प्रतिष्ठापित चतुःसिंह युक्त पाषणस्तंभ तथा अन्य स्मारक प्राप्त हुए हैं।

उत्तर कोशल[११] महाजनपद की राजधानी श्रावस्ती[१२] का भी बुद्ध जीवन से अटूट सम्बन्ध रहा। उन्होंने वहां पर २५ वर्षावास बिताये थे।[१३] सवत्थ ऋषि का निवास होने के कारण अथवा जो कुछ भी मनुष्यों के उपभोग और परिभोज हैं,

---

१—वही जि० १।३५९ से ३६६ तक

२—दिव्या० ८९।८–९ पूर्णः कश्यपः, मस्करी गोशालीपुत्रः,
संजयी वेरट्ठीपुत्रः, अजितः केशकम्बलः,
ककुदः कात्यायनः निर्ग्रन्थो ज्ञातिपुत्रः।

३—बु० च० सर्ग० ७वां 'तपोवन प्रवेश'

४—डा० वी० एस० अग्रवाल, सारनाथ पृ० ३–६; प्रो० के० डी० बाजपेयी व डा० आर० के० दीक्षित बुद्धिस्ट सेन्टर्स इन उत्तर प्रदेश पृ० ४–१०
विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य—डी० आर० सहानी, कैटेलॉग ऑफ दि म्यूजियम ऑफ आर्क्योलाजीएट सारनाथ।

५—बु० च० १५।२७

६—वही० १५।३४

७—अष्टांगिक मार्ग :—सम्यक् दृष्टि (वास्तविक स्वरूप को जानना), सम्यक् संकल्प (तृष्णाओं को दूर करने का दृढ़ संकल्प), सम्यक् वचन (कटु, परुष और असत्य न बोलना), सम्यक् कर्मान्त (योग्य व्यवहार जिससे दूसरे को कष्ट न हो), सम्यक् आजीविका (जीवन यापन के लिये ऐसे उद्योगों को अपनाना जिससे दूसरे को कष्ट न हो), सम्यक् व्यायाम (जन-कल्याणी कार्यों के सम्पादन तथा बुरे भाव विचारों और कर्मों को रोकने का प्रयास), सम्यक् स्मृति (कुशल विचारें का चिन्तन), सम्यक् समाधि (चित्त को एकाग्र करना)।

८—बु० च० १५।३४–५०

९—वही० १६।१८–२०

१०—दिव्या० २५१।२०–२१

११—बु० च० १८।१, ८२, ८७; २०।५; २१।२९; दिव्या ९७।२

१२—दिव्या ५१।१; २५७।३०; बु० च० १८।५८; २०।५३, ५६; २१।१८;
देखिए चि० १ (श्रावस्ती)

१३—राहुल-पुरातत्त्व निबंधावली पृ० १८

सब यहां हैं (सब्बं अत्थि) के कारण सावत्थी या श्रावस्ती नाम पड़ा।[1] धनी गृहपति सुदत्त का यहीं निवास था।[2] अनाथों को दान देने के कारण उसे अनाथपिण्डिद या अनाथपिण्डिक भी कहते थे।[3] सद्धर्म पिपासु श्रेष्ठि की उत्कट अभिलाषा देख कर तथागत ने उसे दान माहात्म्य का उपदेश दिया। दान देना इस लोक एवं परलोक में भी महान् फलदायक है। दान के समान दूसरा मित्र नहीं है।[4] शीलाचरण, कामासक्ति से विरक्ति, 'अनिमित्त' का 'अभ्यास' और 'सर्व अनीश्वरं' का भी उपदेश दिया था।[5]

श्रावस्ती के समीप ही जेतवन था जिसे सुदत्त ने स्वर्ण मुद्राओं से खरीद कर महर्षि उपतिष्य के निर्देशन में विशाल रूपोज्ज्वल विहार का निर्माण करवाया था और उसे संघ के लिये दान दिया था।[6] जेतवन[7] में ही कोमलराज प्रसेनजित ने तथागत के दर्शन किये थे। राग और राजधर्म से व्यथित शासक को 'कर्म प्रधान' उपदेश देते हुए महामानव ने कहा :

"हे नरपति, जब काल आपको बांध कर खींचेगा तब न तो स्वजन आप के पीछे जायेंगे और न मित्र न राज्य। सब लोग दु:खी व विवश होकर अलग हो जायेंगे। केवल आप के कर्म ही छाया की भांति आप के साथ जायेंगे। इसलिये यदि आप स्वर्ग व सुयश चाहते हैं तो धर्मानुसार राज्य की रक्षा कीजिए। अपनी प्रजा का सदा अच्छी तरह पालन कीजिए, खूब जान बूझ कर उचित के लिये दृढ़तापूर्वक यत्न कीजिए।[8] कर्मों का फल कभी नष्ट नहीं होता। सामग्री और समय पाकर वे फलदायी होते हैं :

न प्रणश्यन्ति कर्माणि अपि कल्प शतैरपि।
सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिनाम्॥[9]

परन्तु अपने द्वारा न किये हुए कर्मों के फल की प्राप्ति असम्भव ही है।[10] धर्माचरण में योग प्रमाण है आयु और वंश नहीं (योगः प्रमाणं न वय न वंशः)[11]

जेतवन जिला बहराइच का सहेत है जिसके समीप महेट का विशाल टीला श्रावस्ती का स्मरण दिलाता है जहां बुद्ध ने ऋद्धि प्रदर्शन किया था,[12] और सभिय ग्रन्थ नपत्रीपुत्रों तथा अन्य तीर्थिकों का अज्ञानान्धकार दूर किया था।[13] श्रावस्ती के समीप ही शेतविक की वन भूमि थी जहां तथागत ने दो द्विजवरों को उपदेश दिया था।[14] कालान्तर में सम्राट् अशोक ने जेतवन की धर्मयात्रा की थी। वहां उन्होंने स्थविर शारिपुत्र[15] (शारद्वतीपुत्र)[16] महामौद्गल्यायन[17],

---

१—वही पृ० १९ और भी देखिए कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्राफी आफ इण्डिया पृ० ३४३–३४८
२—बु० च० १८।५८
३—वही १८।१
४—वही १८।६७
५—वही १८।३–३४
६—वही १८।८२–८७
७—देखिए चित्र सं० २ (जेतवन)
८—बु० च० २०।१–१०
९—दिव्या० ३३।६–७; ८२।१०–११, ८८।६–७, ११८।१८–१९, १७५।१–२, १९२।२३–२४, ४३९। १५–१६, ४९०।१–२, ४९१।१८–१३
१०—बु० च० २०।११–२८
११—वही २०।५०
१२—वही २०।५४–५६
१३—वही २१।२१
१४—वही २१।३०
१५—दिव्या० २५२।१२–१३
१६—वही २५२।२३
१७—वही २५२।२६, २५३।५

महा-काश्यप[१], वत्कुल[२] और आनन्द[३] के स्मारक स्तूप देखे थे और सैकड़ों सहस्र प्रदान कर विनयावनत हो पूजा की थी। कुषाण काल में भिक्षुबल ने यहां बोधिसत्व की मूर्ति स्थापित की थी।[४]

कोशल जनपद का अन्य नगर साकेत भी बौद्ध जगत् में प्रसिद्ध है। यहीं पर बुद्ध ने जगली नागर, क्रूर कर्मा कालक व कुम्भीर शम को सद्धर्म का उपदेश दिया था।[५] प्रसेनजित ने मगध निवासी मेंडक के पुत्र धनंजय को बिम्बिसार से प्राप्त कर साकेत में ही बसाया था। धनंजय की पुत्री विशाखा से सम्बन्धित अनेक बुद्ध उपदेश बौद्ध साहित्य में उपलब्ध हैं। यह नगर श्रावस्ती से ७ योजन या ५६ मील से अधिक दूर था।[६] तक्षशिला से राजगृह लौटते समय जीवक ने साकेत के सेठ की पत्नी का सात वर्ष पुराना सिर दर्द ठीक किया था।[७] संभवतः साकेत वर्तमान उन्नाव जिला के अन्तर्गत प्रवाहित सई नदी के दक्षिणी किनारे पर ६०० एकड़ के विस्तार में स्थित संचान कोट का विशाल टीला है। भूउत्खनन में यहां पर सम्राट् अशोक कालीन स्तूप तथा उसी युग की ईंटों की बनी हुई १० फिट मोटी नगर की चहार दीवाल के अवशेष उपलब्ध हुए हैं।[८] फाहियान[९] और ह्वेनसांग[१०] ने भी बौद्ध केन्द्र के रूप में इसका उल्लेख किया है।[११]

वत्स महाजन[१२] पद भी समृद्धिशाली जनपद था जिसकी राजधानी कोशाम्बी थी।[१३] उदयन[१४] यहां के प्रसिद्ध शासक हुए। घोसिताराम यहां का प्रसिद्ध विहार था।[१५] तथागत ने यहां पर घोसिला या घोसिता कुब्जोत्तरा तथा अन्य नारियों को दीक्षित किया था।[१६] इलाहाबाद के आस-पास वत्स जनपद विस्तृत था। कौशाम्बी की पहचान वर्तमान कोशम नगर से की जाती है जो यमुना नदी के बायें किनारे पर इलाहाबाद से लगभग ३० मील दूर पश्चिम में स्थित है। यहीं सम्राट् अशोक का एक स्तंभ अभिलेख भी प्राप्त हुआ है जिसमें सम्राट् ने बौद्ध संघ में विघटनकारी भिक्षु और भिक्षुणियों के लिये दण्ड की घोषणा की है।[१७] खुदाई में विहार के अवशेष तथा दुर्ग के चिन्ह मिले हैं।[१८] श्रावस्ती से प्रतिष्ठान जाने वाले माग में स्थित यह एक प्रसिद्ध नगर था।[१९]

भर्ग लोगों का प्रसिद्ध गण भी इसी जनपद में स्थित था जिनकी राजधानी संसुमारगिरि थी। भेपक यज्ञ तथा नकुल के वृद्ध माता-पिता ने यहीं पर बुद्ध से धर्म-लाभ किया था।[२०] मिर्जापुर जिले में इस गण की स्थिति मानी जाती है।

पांचाल जनपद के दो भागों—उत्तरी पांचाल और दक्षिणी पांचाल का उल्लेख संस्कृत बौद्ध साहित्य में मिलता है।[२१] पाली बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि उत्तरी पांचाल की राजधानी अहिछत्र (रामनगर, जिला बरेली उत्तर

१—वही २५३।८, १६
२—वही २५३।१९
३—वही २५३।२९
४—बुद्धिस्ट सेन्ट्स इन उत्तर प्रदेश पृ० २६; श्रावस्ती के लिये द्रष्टव्य कनिंघम, आ० स० इ० रि० वाल्यूम १।३३० व वाल्यूम ११।७८
५—बु० च० २१।३१
६—बुद्धचर्या पृ० ३०२—३१४ (राहुल)
७—वही २८०—२८१
८—विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य 'धर्मदूत' मई—जून अंक १९६४
९—बील—चाइनीज अकाउण्ट्स ऑफ इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० २५
१०—वही, वाल्यूम २, पृ० २५८
११—देखिए चित्र सं० ३ (संचानकोट—साकेत)
१२—महावस्तु जि० १।३४।९—१०, जि० २।४१९।१
१३—दिव्या० ४५५।८, बु० च० २१।३३
१४—दिव्या० ४५५।९, १२
१५—महावस्तु जि० २।२।१३
१६—बु० च० २१।३३
१७—डा० पाण्डे, हिस्टारिकल ऐण्ड लिटररी इन्सक्रिप्शन्स पृ० ३८, माइनर पीलर एडिक्ट कौशाम्बी।
१८—कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्राफी ऑफ इण्डिया पृ० ३३४—३५
१९—रीजडेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया पृ० १०३
२०—बु० च० २१।३२
२१—दिव्या० २८३।४—५

प्रदेश) और दक्षिणी पांचाल की राजधानी कम्पिल्ल थी। परन्तु दिव्यावदान के युग में उत्तरी पांचाल की राजधानी हस्तिनापुर थी। यह धन-धान्य और जन से परिपूर्ण (ऋद्धं च स्फीतं च क्षेमं च सुभिक्षं च आकीर्ण वहुजन मनुष्यंच) नगरी थी जहां महाधन राजा का शासन था।[1] महाधन धर्म सम्मत शासन करता था।[2] महाधन का राजकुमार सुधन[3] अनेक विद्याओं और परीक्षाओं में पारंगत और उत्तीर्ण था।[4] सुधन ने किन्नर देश के राजा द्रुम की कन्या मनोहरा के साथ विवाह किया था।[5] उसे बल, बुद्धि और वीर्य में पूर्ण जानकर महाधन ने स्वयं ही उसका राज्याभिषेक कर दिया था।[6] सुधन ने हस्तिनापुर में १२ वर्षीय निरर्गड यज्ञ का सम्पादन किया था।[7] हस्तिनापुर के अवशेष मेरठ जिले में प्राप्त हुए हैं। दक्षिण पांचाल का शासक बहुत ही प्रचण्ड, क्रोधी, कर्कश और अधर्मी था।[8] वह नित्य-प्रति अंग भंग कर (घातन) भोजन न देकर (धारण) लकड़ियों की बेड़ियों में बांध कर (हड़ि) और जंजीरों की वेड़ी (निगड) आदि दण्डों से राष्ट्र निवासियों को कष्ट देता था।[9] लोग देश छोड़कर उत्तर पांचाल में जा बसे।[10] दक्षिण पांचाल का शासक एक दिन मृगया के वहाने (मृगया व्यपदेशेन) जानपद लोगों के देखने के लिये निकला (जनपदान व्यवलोकनाय निर्गतः)।[11] उसने ग्रामों तथा नगरों को जनशून्य एवं वाटिकाओं और देवालयों को उजड़ा हुआ देख कर मंत्रियों से देशवासियों को लौटाने के सम्बन्ध में पूछा। मंत्रियों ने उसे धर्मानुसार शासन करने का परामर्श दिया।[12]

दक्षिणी पांचाल की राजधानी कम्पिल्ल नगर थी।[13] यह नगर गंगा के किनारे स्थित था जहां 'पुनर्वसु आत्रेय' हिमालय पर्वत में मैदान में पधारे थे।[14] ज्योतिषाचार्य वराह मिहिर इसी नगर में उत्पन्न हुए थे।[15] कम्पिल्ल नगर[16] जिसे जनपद (कम्पिल्लं जनपदं)[17] भी कहा गया है, धनधान्य से परिपूर्ण था जहां व्यवहार सम्पन्न लोग रहते थे।[18] ब्रह्मदत्त का यहां पर शासन बताया गया है।[19] एक बार नगर में महामारी का प्रकोप फैल गया था। (अमनुष्य व्याधि दारुणो उत्पन्नो)[20] जिसे, हिमालय निवासी कम्पिल्ल नगर के महामात्र के पुत्र रक्षित ने नगर में आ कर शान्त किया था।[21] कम्पिल्ल नगर वर्तमान फर्रुखाबाद जिले का कम्पिल ही है जो फतेहगढ़ से २८ मील उत्तर-पूर्व गंगा के समीप स्थित है।

१—वही २८३।५–६

टिप्पणी :—महावस्तु जि० ३।३६१।४ में हस्तिनापुर को कुरु जनपद की राजधानी बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि दिव्यावदान के समय तक पांचाल जनपद का विस्तार हस्तिनापुर तक बढ़ गया था। ललित विस्तर (वैद्य, १५।२७) में हस्तिनापुर में पाण्डव कुल का प्रभुत्व बताया गया है, इससे भी ललित विस्तर के समय तक हस्तिनापुर कुरु जनपद के अन्तर्गत ही प्रतीत होता है।

२—दिव्या० २८४।७
३—वही २८७।५
४—वही २८७।१०–१६
५—वही पृ० २९६–३००
६—वही ३००।६–९
७—वही ३००।१०, १३–१४
८—वही २८३।११–१२ दक्षिग पांचालस्तु राजा अधर्मभूयिष्ठश्च चण्डो रभसः कर्कशोऽधर्मेण राज्यं कारयति।
९—वही २८३।१२–१३
१०—वही २८३।१३–१४, २४
११—वही २८३।१५–१६
१२—वही २८३।१७–२९
१३—महावस्तु जि० १।२८३।१४
१४—चरक संहिता वि० अ० ३।३
१५—ब्री० सी० ला० वाल्यूम भाग २ पृ० २४०
१६—महावस्तु जि० १।२८३।११, १।२८४।६, ८, १०
१७—वही १।२८३।१५–१६
१८—वही जि० १।२८३।१६–१७
१९—वही जि० १।२८३।१४–१५, १।२८६।१६
२०—वही जि० १।२८४।६–७
२१—वही जि० १।२८४।८–१३

आलवी भी पांचाल जनपद का प्रसिद्ध नगर था।[१] यहां के शासक आलवक को दीक्षित कर बुद्ध ने "जयमंगल" किया था।[२] यहीं पर 'सिंसिपावन' था जहां महामानव एक समय प्रातःकाल अपने आप गिरी हुई पत्तियों के बिछौने पर 'गोमार्ग' के किनारे बैठे हुए थे। हत्थक आलवक ने तथागत को देख कर उनसे उस रात के सुख-दुःख के सम्बन्ध में पूछा। बुद्ध ने बताया कि जो मनुष्य शीतल स्वभाव, रागादि से रहित, कामों में निर्लिप्त, आसक्ति को छिन्न-भिन्न कर निर्भय मन में शान्ति प्राप्त कर परिनिवृत्त हो जाता है वह पुरुष सदा सुख से ही सोता है।[३] प्राचीन आलवी वर्तमान नेवल ग्राम है जो उन्नाव जिले में उन्नाव से हरदोई जाने वाली पक्की सड़क के दक्षिण में बांगरमऊ से लगभग २ मील दूर स्थित है।[४]

संकाश्य नगर[५] भी बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध है। पांचाल जनपद के इसी नगर में तथागत बुद्ध त्रायस्त्रिंशस्वर्ग में अपनी माता को धर्म-देशना देकर अवतरित हुए थे।[६] यह वर्तमान फर्रुखाबाद जिले का संकिसा है जो काली नदी के तट पर स्थित है।[७] संकिशा की प्राचीन नगरी कन्नौज के मध्य स्थित थी। यह नगरी एक राजमार्ग द्वारा मथुरा से भी सम्बद्ध थी।[८] खुदाई में यहां पर अशोक कालीन प्रस्तरस्तंभ पर स्थापित हाथी की मूर्ति मिली है। पांचाल शासकों की गणमुद्राएं तथा कुषाण शासकों की मुद्राएं भी भारी संख्या में मिली हैं।[९]

शूरसेन[१०] जनपद की मथुरा नगरी[११] समृद्धिशाली नगरी थी और कंस कुल के शूरसेनेश्वर राजा सुबाहु की राजधानी थी (राज्ञः सुबाहो कंस कुलस्य शूरसेनेश्वरस्य राजधानिः)[१२] यह व्यापारिक नगर था जहां उत्तरापथ के व्यापारी सैकड़ों घोड़ों पर मुद्राएं लाद कर (पंचशतमश्वं पण्यं गृहीत्वा) व्यापार करने के लिये आते थे।[१३] मथुरा में तथागत ने भयानक गर्दभ[१४], पलालनाग, कुम्भकारी चाण्डाली और गोपाली को दीक्षित किया था। साथ ही उन्होंने यह घोषणा भी की थी कि मेरे महा परिनिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् गुप्त नामक गान्धिक, उपगुप्त नामक अलक्षणक बुद्ध को जन्म देगा जो बुद्ध शासन को आगे बढ़ायेगा।[१५] नट और भट नामक दो श्रेष्ठि बन्धु मथुरा में ही रहते थे जिन्होंने उरुमुण्ड या रुरुमुण्ड पर 'नटभतकेति' नामक एक विहार का निर्माण करवाया था।[१६] रूपाभिमानिनी वासवदत्ता नामक गणिका का भी मथुरा में ही निवास था। प्रमाद के कारण उसे हस्त पद कर्ण और नाक विच्छेद का दण्ड भी दिया गया था।[१७] क्षत-विक्षत अवस्था में देख कर स्थविर उपगुप्त ने उसे बुद्धोपदेश देते हुए कहा था कि : "बुद्ध के वचन सुवचन हैं। उन्हें जो सुनते हैं तथा आचरण करते हैं वे श्रम-शोक और दुःख के उत्पादक कामाचार से मुक्त हो सद्गति को प्राप्त करते हैं। वे काम निमित्त (कामाश्रयों) को त्याग कर प्रसन्न चित्त हो शान्त वन में विचरण करते हैं और वे मार्ग (अष्टांगिक मार्ग) रूपी महती नौका पर आरुढ़ हो भवसागर से पार हो जाते हैं।"[१८] इस उपदेश से उसे कामधातु वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह बुद्ध, धर्म और

१—दीघ नि० जि० ३।१५७।१६, जि० ३।१६४।२३

२—जयमंगल अट्ट गाथा (द्वितीय गाथा)

३—अंगुत्तर नि० जि० १।१२६।६–९

४—विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य : 'धर्मदूत' वर्ष २९, अंक ५, सितम्बर, पृ० ९३–१०० देखिए चित्र सं० ४ (नेवल)

५—दिव्या ९३।१०

६—वही २५८।५–६

७—बुद्धिस्ट सेन्टर्स इन उत्तर प्रदेश पृ० १०

८—वही पृ० ११

९—वही पृ० १२–१३

१०—महावस्तु जि० १।३४।९–१०, २।४१९।९; दिव्या० ३६०।१३, ३६१।३

११—दिव्या० २१८।१४; २२१।२६, २७; २२२।१०; २२८।६, १७, १८; २४४।२१, २२ २४५।१९; लेफमैन, ललित० २१।२१–२२; कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्राफी आफ इण्डिया, पृ० ३१५

१२—ललित० १५।२१–२२

१३—दिव्या० २१९।५–६

१४—बु० च० २१।२५

१५—दिव्या० २१६।१३–१७, २४४।२०–२४

१६—वही २१६।२३–२४, २१७।१७

१७—वही पृ० २१८ से २२० तक

१८—वही २२१।६–९

संघ की शरण ले 'आर्य चतुष्टय' का दर्शन कर अष्टांगिक मार्ग के आचरण से मथुरा वासियों द्वारा ही पूज्या बनी।[1] उपगुप्त ने मथुरा में तीन दिनों तक धर्मोपदेश किया था।[2] मथुरा इस समय भी पवित्र तीर्थ माना जाता है। पुरातात्विक खुदाई में यहां पर ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म सम्बन्धी मूर्तियां तथा कलावशेष प्राप्त हुए हैं।[3] मथुरा के समीप ही ब्राह्मण ग्राम भी स्थित था।[4]

कान्यकुब्ज नगर[5] संस्कृत बौद्ध साहित्य के अनुसार शूरसेन जनपद के अन्तर्गत स्थित था। मद्रक राजा महेन्द्रक का यहां पर शासन था।[6] उसकी पुदर्शना नामक सुरूपवान राजकुमारी का विवाह वाराणसी के इक्ष्वाकु राजा कुश के साथ हुआ था।[7]

बुद्ध जीवन-लीला में पापापुर[8] (पावा) का भी विशेष स्थान है। बुद्ध भक्त चुन्द यहीं का निवासी था।[9] जिसके भोजन से बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था। पापापुर (पावा) मल्लों की एक राजधानी थी। कसिया से १२ मील पूर्वोत्तर दूरस्थ पडरोना से पापापुर की पहचान की जाती है।[10] यह प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद था।

मल्लों की दूसरी राजधानी कुशीनगर[11] या कुशनगर[12] थी। पापापुर (पावा) और कुशीनगर के मध्य इरावती[13]

१—वही २२१।२७

२—वही पृ० २२२ से २२९ तक

३—प्रो० के० डी० बाजपेयी, मथुरा पृ० २७–३७

४—दिव्या० २२४।१९

५—महावस्तु जि० २।४४२।९, १२; ४४३।१; ४५९।१५, ४६०।७;
कणकुब्जं :—४६०।९; ४६१।१३; ४६२।२०

६—वही जि० २।४४२।८–९, १२–१३, ४४३।१, १२–१३

७—वही जि० २।४४४।२
टिप्पणी :—राजा कुश काशी के राजा सुबन्धु का पुत्र था। वह अपने ५०० भाइयों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ था (महावस्तु जि० २।४८७।४–५, २।४८८।७) सुदर्शना राजा कुश को स्वरूपवान न देख कर अपनी सास से आज्ञा ले अश्वरथ पर बैठ कर अपने माता पिता के पास कान्यकुब्ज चली गई (वही जि० २।४६०।१–२)। वियोगी राजा कुश ने अपने ४९९ भाइयों में से कुशद्रुम को (वही जि० २।४८७। ४–५) काशी के राज्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया (वही जि० २।४६०।१८ व ४६१।१०)। उसे समस्त हस्ति तथा सैन्धवाश्व सेना प्रदान कर यह आदेश दिया (वही जि० २।४६१।१–६) कि "जब तक मैं वापस लौट कर न आऊं इस राज्य का परिपालन करो (इमं राज्यं परिपालेहि याव मम आगमनं भविष्यति—वही जि० २।४६१।६–७)। मंत्रियों को भी आदेश दिया कि जब तक मेरा प्रत्यागमन नहीं होता कुशद्रुम तुम्हारा राजा है। धर्मानुसार प्रशासन तथा राजधानी और राष्ट्र के लोगों का परिपालन करो (वही जि० २।४६१।७–९)। वीणावादन में पटु राजा कुश ने 'सप्त सन्त्रिका वीणा' लेकर उत्तराभिमुख हो कान्यकुब्ज के लिये प्रस्थान किया (वही जि० २।४६१।११–१२)। कान्यकुब्ज विषय (वही जि० २।४६१।१४) के एक ग्राम में रुक कर वह कान्यकुब्ज पहुंचा। उसी समय महेन्द्र सुता के रूपलावण्य से आकृष्ट हो ७ क्षत्रिय राजाओं ने उसे व्याहने के लिये अपनी शक्तिशाली सेनाएं लेकर कन्नौज पर आक्रमण कर दिया (वही जि० २।४८५।४–१०, २।४८९।१४, १५)। परन्तु कान्यकुब्ज नरेश के जामाता राजा कुश की वीरता और धीरता से हार मान कर सातों राजाओं को अपने-अपने राज्यों को लौट जाना पड़ा। सुदर्शना को लेकर राजा कुश काशी पहुँचे जहां ४९९ भाइयों तथा अमात्यों ने उनका सजधज के साथ स्वागत किया (वही जि० २।४९४।१०, १८)।
कन्नौज के लिये द्रष्टव्य :—डा० आर० के० दीक्षित कृत, कन्नौज (शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश, १९५५)।

८—बु० च० २५।५०

९—वही २५।५१

१०—पो० हि० ए० इं० पृ० १२७

११—बु० च० २५।५२–८१, विशेष विवरण के लिये देखिए त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित कृत 'कुशीनगर का इतिहास'

१२—वही २८।३, २१

१३—वही २५।५३

(अचिरावती[1] या अजिरवती[2]) प्रवाहित थी। यह आधुनिक राप्ती नदी है।[3] कुशीनगर देवरिया जिले का वर्तमान कसिया है। यहां कमल युक्त एक सरोवर था जहां तथागत रुके थे।[4] इस नगर के अनेक द्वारों में 'नागद्वार'[5] भी एक था। कुशीनगर के पास ही हिरण्यवती नदी[6] भी बहती थी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और भरत सिंह उपाध्याय के अनुसार यह सोनरानाला है।[7] इस समय भी हरिण्णा नामक नदी नाले के रूप में कसिया के पास प्रवाहित है। इसी नदी में स्नान करके तथागत ने तद् तटीय शालवन के दो शालवृक्षों के मध्य निर्वाण हेतु शैय्यासन तैयार करने के लिये आनन्द को आदेश दिया था।[8] बांह का तकिया लगाकर एक पैर पर दूसरा पैर रख कर निर्वाण हेतु लेटे हुए तथागत से मल्लों ने उत्तम पथ प्रदर्शन का अनुनय विनय किया।[9]

बुद्ध ने कहा :

"भूमि, जल, अनल, अनिल और शून्य तत्त्वों के संघात से बना शरीर नश्वर है यह विनष्ट होगा ही। सद्गति पाने के लिये कठोर योगाचार अपेक्षित है। मेरे दर्शन मात्र से निर्वाण नहीं मिलता, जो कोई मेरे धर्म को ठीक-ठीक समझता है वह मेरे दर्शन के बिना भी दुःख जाल से मुक्त हो जाता है। जैसे रोगी औषध सेवन के बिना केवल वैद्य के दर्शन मात्र से रोग-मुक्त नहीं हो सकता वैसे ही धर्म की भावना किये बिना मेरे दर्शन से ही दुःख दूर नहीं हो सकता। इसलिये सदा आलस्यरहित हो मन को नियंत्रित रखो, श्रेयस्कर कार्यों का परिश्रमपूर्वक सम्पादन करो।"[10]

बुद्ध ने त्रिदण्डी सुभद्र को[11] अष्टांगिक मार्ग[12] तथा अनात्मवाद[13] का उपदेश भी यहीं पर दिया था। "मेरे निर्वाण प्राप्त करने के बाद प्रातिमोक्ष (जीवन के पाप निषेधक कार्यों) को अपना आचार्य उपदेशक, प्रदीप और कोष मानना और तुम्हें उसीके आधीन रहना चाहिए।"[14] इस अन्तिम उपदेश के साथ शीलाचार का महत्त्व बताते हुए शालवन में ही तथागत ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।[15] दिव्यावदान से पता चलता है कि सम्राट् अशोक ने कुशीनगरी[16] की धर्मयात्रा की थी। "यहीं पर तथागत ने निरुपाधिशेष निर्वाण प्राप्त किया" यह सुन कर वह मूर्छित हो गये थे। शत सहस्र व्यय करके परिनिर्वाण चैत्य प्रतिष्ठापित करवाया था[17] पुरातात्विक अन्वेषणों में यहां पर बुद्ध की महापरिनिर्वाण मुद्रा की सम्पूर्णांग मूर्ति प्राप्त हुई है। यों तो यहां पर कई अभिलेख प्राप्त हुए हैं परन्तु जिन दो लेखों से इस स्थान की निश्चित पहचान हो सकी वे हैं १—'परिनिर्वाणचैत्ये ताम्रपटतिति' २—'श्री महापरिनिर्वाण महा विहारीयार्य भिक्षु संघस्य'।[18]

बुद्ध चिता के कारण मुकुट चैत्य (मुकुट बन्धन चैत्य) भी भूगोल में अमर ही है। जहां तथागत के पार्थिव शरीर के अनुरूप चिता तैयार की गई थी। यह चैत्य कुशीनगर के समीप ही हिरण्यवती नदी के किनारे स्थित था।[19]

१—वही २५।५३ पाद टिप्पणी
२—अवदान जि० १।६९।३–४
३—बु० भा० भू० पृ० १३१ (भरतसिंह), हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग सं० २०१८
४—बु० च० २५।५३
५—वही २७।७
६—वही २५।५४
७—बु० भा० भू० पृ० १३४
८—बु० च० २५।५५
९—वही २५।७४
१०—वही २५।६९-८०
११—वही २६।१
१२—वही २६।८
१३—वही २६।१०–१७
१४—वही २६।२६
१५—वही २६।२७–१०६
१६—दिव्या० २५२।१
१७—वही २५२।२–१२
६८—बुद्धिस्ट सेन्टर्स इन उत्तर प्रदेश पृ० १४
१९—बु० च० २७।७०

मल्लों के अतिरिक्त ७ अन्य बुद्ध भक्त राजा संघ बनाकर[1] तथागत के अवशेष प्राप्त करने के लिये कुशीनगर में एकत्र हुए थे परन्तु शान्तिपूर्ण ढंग से ही अवशेष विभाजन हो गया।[2] प्रारम्भ में मगध, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामग्राम, वेट्ठदीप, पावा और कुशीनगर में आठ धातु युक्त स्तूपों के अतिरिक्त घड़ा वाला नवां और राख वाला दसवां स्तूप था।[3] रामग्राम[4] अथवा रामपुर[5] उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत गोरखपुर जिले का रामगढ़ ताल ही है जो रोहिणी और राप्ती नदियों के संगम के समीप होने से नष्ट हो गया। श्री शिवाजी सिंह ने रामग्राम की पहचान जिला गोरखपुर की तहसील महराजगंज में निचलौल से लगभग ३ मील पश्चिम में स्थित मनियारभर से की है।[6]

वस्ती जिले में बौद्ध खण्डहर और स्मारक प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। पिपरावां नामक स्तूप भी यहीं से प्राप्त हुआ है। इस स्तूप से प्राप्त एक अभिलेख में शाक्य मुनि की अस्थियों की प्रतिष्ठापना का उल्लेख किया गया है।[7] इस प्रकार संस्कृत बौद्ध साहित्य से उत्तर प्रदेश के प्राचीन स्वरूप की रेखाएं जानी जा सकती हैं। इससे यहां के नगर, निगम ग्राम और जनपद नदी, सरोवर वन और उपवन आदि भौगोलिक सामग्री पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

१—दीर्घ निकाय जि० २।१२८ के अनुसार मगधराज अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवी, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुलिय, रामग्राम के कोलिय, वेट्ठदीप के ब्राह्मण और पावा के मल्लों ने ही यह संघ बनाया था।

२—बु० च० २८।३–५४

३—वही २८।५५

४—दिव्या० २४०।१४

५—बु० च० २८।६६

६—इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस रांची १९६४ समरीज ऑफ पेपर्स पृ० ८

७—डा० पाण्डे, हिस्टारिकल एण्ड लिटररी इन्सक्रिप्शन्स पृ० १ (पिपरावा बुद्धिस्ट वेस इन्सक्रिप्शन)

उत्तर प्रदेश में लिपि का विकास

(लगभग चौथी शती ई० पू० से चौथी शती ई० तक)

श्री भगवानसिंह सूर्यवंशी,
म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा ।

भारत में लेखनकला का विकास किस प्रकार हुआ, इस पर विद्वानों में मतभेद है । डा० अतफ्राइड म्यूलर, सर जेम्स प्रिंसेप, सेनार्ट तथा विलसन आदि विद्वान् इसे यूनानियों की देन समझते हैं । दूसरे वर्ग के विद्वान् विशेषकर सर्वश्री वेबर वेनफे, व्यूहलर आदि इसे सेमेटिक लिपि से विकसित मानते हैं । इस वर्ग के विद्वानों का कथन है कि फोनेशियन अक्षर ब्राह्मी से अधिक मिलते-जुलते हैं, दोनों लिपियों के अक्षरों में लगभग एक-तिहाई अक्षर एक से ही हैं तथा शेष उसके द्वारा प्रभावित हुए हैं । श्री आरजाइक टेलर ब्राह्मी लिपि को सातवीं शताब्दी ई०पू० के ईरानी आर्य सम्राट् दारयवौष प्रथम के शिलालेखों की कोनीफॉर्म लिपि से विकसित हुई मानते हैं । प्रोफेसर बारनेट तथा श्री ई०जे० रेप्सन भी इसे फोनेशियनों के द्वारा ही विकसित हुई मानते हैं ।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उपर्युक्त विद्वानों ने केवल अक्षरों की एक-सी बनावट को देख कर ही इसे फोनेशियन लिपि की देन निर्धारित किया है । यह स्मरणीय है कि लगभग सातवीं शती ईस्वी पूर्व प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हीरोडोटस ने फोनेशियन लोगों का भारत-आगमन तथा यहां आकर देश की परम्परा आदि सीखने का स्पष्ट उल्लेख किया है । पाश्चात्य विद्वानों का मत था कि सातवीं-आठवीं ईस्वी पूर्व सर्वप्रथम फोनेशियनों ने ही संसार में लेखनकला का आविष्कार किया था । वास्तव में यह कथन उत्खननों द्वारा प्राप्त न्यूनतम प्रमाणों के आधार पर असत्य प्रतीत होता है । फोनेशियनों से लगभग १२०० वर्ष पूर्व (अर्थात् २००० ई०पू०) सिन्धु के अंचल में निवास करने वाले भारतीयों ने लिपि का आविष्कार कर लिया था । सिन्धु-घाटी की सभ्यता की लिपि के दर्शन हम उत्खननों में प्राप्त की गयी मुद्राओं पर देख सकते हैं । रेवरेन्ड फादर हेनरी हेरास आदि कतिपय विद्वानों ने इसे पढ़ने का प्रयास किया था किन्तु वह सर्वमान्य न हो सका । अतः जब तक हमें कोई द्विभाषीय शिलालेख नहीं मिलता जिस पर एक ओर सिन्धु-घाटी के अक्षर हों तथा दूसरी ओर अब तक के जाने हुए अक्षर हों; तब तक सिन्धु-घाटी की लिपि दुरूह ही रहेगी, किन्तु वह भारत की आदि-लिपि है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

समस्या यह है कि ब्राह्मी तथा सिन्धु-घाटी की लिपियों में लगभग १३०० वर्षों का अन्तर है जिसके निराकरण के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है । जब तक यह दूरी समाप्त नहीं हो जाती तब तक हमारा लिपियों का इतिहास अधूरा ही रहेगा । सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अक्षरों की यदि ब्राह्मी लिपि के साथ तुलना की जाय तो यह सत्य जान पड़ता है कि दोनों में अत्यधिक साम्य ही नहीं, अपितु अनेक अक्षर एक ही हैं । जनरल सर अलेक्जेन्डर कनिंघम, श्री डाउसन तथा लेसन आदि विद्वानों ने सिन्धु-घाटी की लिपि तथा ब्राह्मी लिपि का अध्ययन करके यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि ब्राह्मी लिपि का विकास प्राचीन काल में तात्कालिक चित्रलिपि से हुआ । श्री कनिंघम के इस महत्त्वपूर्ण कथन की पुष्टि हम प्राचीन ब्राह्मी लिपि तथा सिन्धु-घाटी की लिपि के अक्षरों की तुलना करके कर सकते हैं । किन्तु यह कहना कठिन है कि सिन्धु सभ्यता के अक्षरों का उस समय वही अर्थ था जो आज उनके समरूप ब्राह्मी का है । इतना अवश्य है कि दोनों में आश्चर्यजनक साम्य होने के कारण सिन्धु-घाटी की लिपि को प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी की जन्मदात्री मानना पड़ेगा । सिन्धु-घाटी

के ये चिन्ह न केवल ब्राह्मी लिपि में अपितु भारत के प्राचीनतम पंचमार्क सिक्कों पर भी बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं[1] और आगे चल कर इन्हीं को तांत्रिकों ने अपने भिन्न-भिन्न तंत्रों में भी प्रयोग किया। सम्भवतः इसी के आधार पर श्री शमाशास्त्री जी सिन्धु-घाटी की लिपि को तंत्रों का चिन्ह मानते हैं। इस विषय में भी अभी अधिक अध्ययन की आवश्यकता है। जब तक भारतीय तंत्रशास्त्र का अध्ययन संपूर्ण नहीं हो जाता और तांत्रिक विद्या की प्राचीनता तथा उपादेयता सिद्ध नहीं हो जाती, तब तक इस विषय में कुछ भी कहना कठिन है।

अब प्लेट नंबर १ के अक्षरों पर ध्यान दीजिए। ये अक्षर विशेषकर उत्तर प्रदेश में प्राप्त शिलालेखों से लिये गये हैं। अक्षर नंबर १ और २ को देखिए जो कि क्रमशः सिन्धु की घाटी नं० १ तथा ब्राह्मी नं० २ लिपियों के हैं। अक्षर नम्बर ५ तथा ६ को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि नम्बर ६ गुप्तकालीन ब्राह्मी का है और इसमें ज अक्षर को दूसरे ज से मिला कर ऊपर र-कार लगाया गया है। नंबर ९ तथा १० के अनेक रूप हमें देखने को मिलते हैं। नंबर १० ब्राह्मी के अक्षर 'ट' पर आ की मात्रा लगायी गयी है और यह रूप अशोक से लेकर कुषाण काल तक बराबर प्रयुक्त हुआ है। नंबर १७ और १८ को देखिए—नंबर १८ अशोक के गिरिनार शिलालेख का 'अ' है। नंबर २२ ब्राह्मी लिपि का 'म' है जिस पर 'आ' की मात्रा लगायी गयी है। नंबर २६ अक्षर 'ख' है, जिस पर 'उ' की मात्रा लगायी गयी है। यह रूप भी कुषाणकालीन लिपि में अधिक देखने को मिलता है। अब आप अक्षर क्रमांक ७, ११, २९, ४३ तथा ४५ की क्रमांक ३०, ४४, ४६, ८ तथा १२ से तुलना कीजिए। ये ब्राह्मी के 'त' अक्षर के विभिन्न रूप हैं। ये अक्षर अशोक के समय से लेकर गुप्तकाल तक बराबर प्रयोग में लाये जाते रहे। नंबर ३० के अक्षर पर 'ओ' की मात्रा लगायी गयी है, नंबर ३३ तथा ३४ में थोड़ा-सा अंतर है। नंबर ३३ में दोनों सीधी रेखाओं को काट कर बनाये गये त्रिकोण के सिरे को रेखा द्वारा दाहिनी ओर से बढ़ाया गया है। यदि नंबर ३४ में 'उ' की मात्रा लगा दी जाय तो उसका रूप ३३ का-सा हो जायेगा। नंबर ३८ अक्षर 'ब' है जिसमें ऊपर र-कार लगाया गया है। कभी-कभी यह र-कार अक्षर के बीच में भी लगाया जाता है। प्लेट २ का नंबर ४२ अक्षर 'ए' है जो कुषाण तथा गुप्त लिपि में 'ब' का यही आकार रहा है। अशोक के खालसी शिला-लेख में हमें अक्षर नंबर ६१ 'गो' के इस रूप के दर्शन होते हैं। नंबर ५२, ५४, ४, १६, २० बहुत स्पष्ट हैं जिनमें तथा सिन्धु-कालीन लिपि में अंतर नहीं है। ब्राह्मी में ये अक्षर 'त, थ, ड, व' और 'र' हैं। नंबर २३ व २४ में भी अधिक अंतर नहीं है। २४ नंबर 'थ' अक्षर है। नंबर २८ ब्राह्मी का अक्षर 'गो' है। यह रूप कलिसी एवं गुप्तकाल में मिलता है। नंबर ३५ व ३६ तथा ३९ व ४० के से अक्षर ब्राह्मी में बहुत मिलते हैं। अशोक के कालसी शिलालेख में दोनों रूप प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त विवरण द्वारा हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उत्तर प्रदेश में पाये गये शिलालेखों के ब्राह्मी के अक्षरों तथा सिन्धु-घाटी अक्षरों में बहुत साम्य है—कुछ अक्षर तो आकार में एक ही हैं और कुछ में थोड़ा ही अन्तर है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता के पश्चात् लेखनकला का विकास भारत के किस प्रदेश में हुआ यह कहना कठिन है। अब तक के प्राप्त प्रमाणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारत का प्राचीनतम शिलालेख उत्तर प्रदेश में ही पाया गया है, यद्यपि इसकी तिथि विवादास्पद है। यह शिलालेख उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में स्थित पिपरवा नामक ग्राम से प्राप्त हुआ था। यह एक मिट्टी के घड़े के चारों ओर खुदा हुआ है जिसमें भगवान् बुद्ध के अवशेष रखे थे। लेख के अनुसार ये अवशेष (सलिल निधने) भगवान् बुद्ध के बन्धु शाक्यों ने परम निष्ठा तथा भक्ति के साथ भूमि में समाहित किये थे। यदि वर्ण्य-विषय के आधार पर लेख के काल का निर्णय किया जाय तो इसे पांचवीं शती ई०पू० का मानना पड़ेगा। अभी तक हमें इसके पहले का अन्य कोई भी लेख प्राप्त नहीं हुआ है किन्तु डा० दिनेशचन्द्र सरकार इसे इतना प्राचीन मानने को तैयार नहीं हैं। लेख के अक्षरों को ध्यान से देखने से विदित होता है कि उनमें अशोक के शिलालेखों के अक्षरों की-सी पूर्णता नहीं है। सम्पूर्ण लेख किसी नौसिखिये द्वारा लिखा गया एक प्रयोग-सा प्रतीत होता है। अतः इसे लगभग चौथी शती ईस्वी पूर्व का मानना समीचीन होगा।

प्लेट नंबर ३ के अक्षर 'क' के दोनों रूपों को ध्यान से देखिए। इस अक्षर की प्रलम्बाकार रेखा को काटती हुई रेखा एक स्थान पर नीचे की ओर लगायी गयी है, दूसरे में अक्षर के ऊपर के भाग की ओर काटती हुई है। इसी प्रकार 'ग' के दोनों आकारों को देखिए। अक्षर नंबर ५ में 'ग' की दोनों रेखाएं समकोण बना कर मिलती हैं और उनके ऊपर 'इ' की मात्रा लगायी गयी है तथा दूसरे अक्षर में 'ग' की दोनों रेखाएं बराबर नहीं हैं। 'त' के भिन्न रूपों में परस्पर अधिक अन्तर है। संख्या ९ तथा १० के अक्षरों में बड़ी रेखा के नीचे की ओर मिलाकर छोटी रेखा लगायी गयी है किन्तु संख्या १०

---

१. देखिए—SURYAVANSHI B., "Interpretations of some of the symbols of Punch Marked Coins, *Journal of the Oriental Institute, Baroda*, Vol. XII, pp. 144—172.

के अक्षर में यह छोटी रेखा बड़ी रेखा के बीच में लगायी गयी है। इस अक्षर के ११ तथा १२ की संख्याओं के अक्षरों का अपना पृथक् आकार है। इस अक्षर का यह आकार बहुत कम देखने को मिलता है। इसमें बड़ी रेखा वृत्ताकार बनायी गयी है और छोटी रेखा उसके अर्द्धवृत्त से मिलती है। अक्षर १३, १४, १५, १६ 'न' के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसे बनाने में लेखक ने किसी नियम का ध्यान नहीं रखा। १४वें नंबर के 'न' पर 'इ' की मात्रा लगा दी गयी है। अक्षर 'भ' की प्रलम्बाकार रेखाएं अन्य की अपेक्षाकृत संकरी तथा छोटी-बड़ी हैं। नंबर १८ अक्षर 'प' के ऊपर 'उ' की मात्रा लगायी गयी है किन्तु अन्य अक्षरों की अपेक्षाकृत यह अधिक हाथ साधकर बनाया गया है। अन्य अक्षरों की भांति नंबर १९ के 'द', २४ के 'ब' तथा नंबर २० के 'ल' अक्षरों को कुशलतापूर्वक नहीं बनाया गया है। इनकी बनावट में पूर्णता तथा स्थिरता का अभाव दृष्टिगत होता है। किसी-किसी अक्षर के दो प्रकार हैं। एक में 'ल' की लम्बी प्रलम्बाकार रेखा को भी गोल करके अक्षर की गोलाई से मिलाया गया है तथा यही नियम उसके ऊपर लगायी 'इ' की मात्रा में प्रयोग में लाया गया है। 'य' के आधार में दो छोटे-छोटे वृत्त हैं जो कि आकार में भी छोटे-बड़े हैं। 'य' का यह रूप आगे चल कर लुप्त हो गया।

इस प्रकार पिपरावा शिलालेख के अक्षर यद्यपि अशोक के शिलालेख से मूलतः भिन्न न होते हुए भी चौथी शती ईस्वी पूर्व के माने जा सकते हैं। जो पूर्णता, सौष्ठव तथा दृढ़ता अशोक की लिपि में दिखायी देती है उसका पिपरावा के लेख में अभाव है। मूलतः लेख बहुत छोटा होने से इसके विषय में अधिक कुछ भी कहना कठिन है किन्तु यह मानना पड़ेगा कि यह भारत का प्राचीनतम शिलालेख है। इसके परवर्ती शिलालेखों की सूची में सम्राट् अशोक के लेख आते हैं।

सम्राट् अशोक की ब्राह्मी लिपि से भारत की समस्त आधुनिक लिपियों का विकास हुआ। कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक भारत में व्यवहृत देवनागरी, बंगला, गुजराती, तामिल, तेलगू, कन्नड़ तथा मलयालम आदि की लिपियों का जन्म इसी ब्राह्मी से ही हुआ है। अतः लगभग तृतीय शती ईस्वी पूर्व भारत भर में एक ही लिपि का व्यवहार होता था। इस कथन की पुष्टि भट्टिप्रोलू लेख से भी की जा सकती है। प्राचीन जैनग्रंथों——पन्नवणासूत्र, समवायांगसूत्र तथा भगवतीसूत्र में ब्राह्मी लिपि की वन्दना की गयी है। प्रसिद्ध ग्रंथ 'ललितविस्तर' में ब्राह्मी सहित ६४ लिपियों का वर्णन आता है किन्तु चीनी यात्री फाहियान ने अपने समय की मुख्य दो ही लिपियों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार बौद्ध-विश्वकोश (फा-युअन-वु-लिन) में भी भारत की भिन्न-भिन्न लिपियों का वर्णन आता है। कालान्तर में ब्राह्मी लिपि की उपादेयता तथा वैज्ञानिकता के कारण इसका देशव्यापी प्रचार हुआ।

उत्तर प्रदेश में प्राप्त अशोक के शिलालेखों में कलसी लेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह शिलालेख देहरादून जिले की चकराता तहसील के कलसी नामक कस्बे से डेढ़ मील उत्तर की ओर है। ये लेख यमुना और तोन नदियों के संगम के पास क्वाट्स पत्थर की चट्टी पर खुदे हैं। सम्राट् अशोक के यहां पर १ से १४ तक शिलालेख (Rock Edicts) है। अशोक के अन्य लेख देहली-टोपरा स्तम्भ पर भी हैं जो कि आज दिल्ली नगर में फिरोजशाह कोटला में खड़ा है। पहले यह स्तम्भ अम्बाला के समीप टोपरा नामक स्थान पर खड़ा था। दिल्ली-मेरठ स्तंभ भी सम्राट् ने मेरठ के पास खड़ा करवाया था जो कि आज दिल्ली नगर के उत्तर-पश्चिम में खड़ा है। सम्राट् अशोक का एक स्तंभ आजकल प्रयाग के संगम पर स्थित दुर्ग में है जो कि पहले कौशाम्बी नगर में खड़ा कराया गया था। शेष दो शिलालेखों में से एक सारनाथ में तथा दूसरा नेपाल राज्य की भगवानपुर तहसील से दो मील उत्तर में स्थित परिया ग्राम से लगभग १ मील की दूरी पर है। इस शिलालेख में भगवान् बुद्ध का जन्मस्थान बताया गया है। इस प्रकार उत्तर प्रदेश में अशोक के शिलालेखों का भौगोलिक विस्तार दिल्ली से लेकर सारनाथ तक है।

कालसी लेख लिपि के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अशोक के दिल्ली-मेरठ, इलाहबाद-कोसम तथा रुम्मिनदेई स्तंभ तथा कालसी शिलालेख के मुख्य-मुख्य अक्षर प्लेट नंबर ५ में दिये गये हैं। शिलालेख को उत्कीर्ण करने वाले शिल्पियों ने इसे जान-बूझकर या अनजाने में भिन्न-भिन्न प्रकार से अंकित किया है। 'अ' के संख्या १, ३, ४, ५ के अक्षरों में बहुत-कुछ साम्य है। केवल प्रलम्बाकार रेखा तथा वक्र रेखा में लम्बाई व आकार में भिन्नता है। किसी-किसी अक्षर में 'अ' की दोनों रेखाएं प्रलम्बाकार रेखा के मध्य में मिलती हैं, किसी में ऊपर तथा किसी में वे नीचे की ओर मिलती हैं। इसी में दूसरा वर्ग अक्षर संख्या २, ६, ७ तथा ८ का है। अक्षर क्रमांक ८ में 'अ' की ऊपर की ओर बनने वाली गोलाकार रेखा स्थान पर तीन ओर घिरा एक आयत (Rectangle) बनाया गया है। इसकी अक्षर संख्या ७ की हम प्रथम प्लेट के सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अक्षर 'अ' के साथ समता कर सकते हैं। देखने से दोनों अक्षर एक से ही दिखायी देते हैं। इसी में तीसरा वर्ग उन अक्षरों का है, जिनकी दोनों गोल रेखाएं पृथक् पृथक् दिखायी देती हैं। जैसे अक्षर संख्या ९, १० तथा १२। अक्षर संख्या ११ तथा १३ रोमन लिपि के अक्षर 'के' (K) के उलटे रूप लगते हैं।

'आ' की मात्रा लगाने की दो विधियां प्रयोग में लायी गयी हैं। अधिकतर यह मात्रा बीच में जहां दोनों गोल रेखायें प्रलम्बाकार रेखा से मिलती हैं, उसी को आगे बढ़ा कर लगायी जाती है, किन्तु अशोक के गिरिनार शिलालेख में इसे सीधी रेखा के सिरे पर भी लगाया गया है। 'मौर्य लिपि' में 'इ' तथा 'उ' के दीर्घ ध्वनि-चिह्नों का अभाव है तथा उनके स्थान पर केवल ह्रस्व ध्वनियां ही प्रयोग में लायी गयी हैं। 'ई' को तीन बिन्दियों द्वारा बनाया गया है। 'उ' की आकृति रोमन लिपि के अक्षर 'एल' (L) से मिलती है। 'ए' की आकृति त्रिकोणात्मक है। 'ओ' को रोमन लिपि के अक्षर जेड (Z) के आकार का बनाया गया है। 'क' की आकृति एक सीधी तथा आड़ी रेखा को काट कर बनायी गयी है। इस पर 'ओ' की मात्रा लगाने में सिरे पर दो रेखायें दोनों ओर खींची जाती हैं।

हमारे समक्ष 'ख' के दो प्रकार हैं—पहला प्रकार अक्षर संख्या १, २, ३, ४ तथा दूसरा ५, ६, ७, ८ का है। पहले प्रकार में ऊपर एक कांटे के आकार का अक्षर बना कर नीचे एक छोटा सा गोला बनाया गया है तथा दूसरे में इस कांटे के नीचे एक दीर्घ बिन्दी लगायी गयी है। पहला प्रकार कालसी लेख से प्राप्त किया गया है और दूसरा दिल्ली-टोपरा, इलाहाबाद-कोसम तथा रुम्मिनदेइ नैपाल के स्तम्भ लेखों से प्राप्त किया गया है। 'ख' अक्षर पर आ, इ, ए तथा ओ की मात्राएं ऊपर की ओर लगायी जाती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यद्यपि मौर्य ब्राह्मी में 'ई' तथा 'ऊ' के चिन्ह नहीं हैं तथापि उनकी मात्राएं विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ 'ख' के अक्षर संख्या ३ तथा ५ को देखिए—प्रथम में एक समकोणात्मक रेखा 'ख' के कांटे से लगायी गयी है, दूसरे में एक स्थान पर दो सीधी रेखाएं खींची गयी हैं। इसमें 'ओ' की मात्रा लगाने के भी दो प्रकार हैं एक 'ख' संख्या ४ में दूसरा 'ख' संख्या ८ में देखा जा सकता है। 'उ' की ह्रस्व अथवा दीर्घ मात्राएं लगाते समय गोले से अथवा बिन्दु से एक सीधी रेखा नीचे खींची जाती है।

इस प्लेट में 'ग' अक्षर के मुख्यतया तीन प्रकार हैं। एक प्रकार में कोण को गोलाकार बनाया गया है ('ग' संख्या १ देखिए) । दूसरे में दोनों रेखायें छोटी-बड़ी हैं तथा ठीक प्रकार से कोण बनाती हैं। तीसरी में बाईं ओर की रेखा लम्बी तथा दायीं ओर की रेखा छोटी है। संख्या २ में 'ग' के ऊपर 'ए' की मात्रा लगाते समय दायीं ओर की रेखा को ऊपर की ओर बढ़ाया गया है तथा 'इ' की मात्रा को ऊपर की ओर गोल करके लगाया गया है। 'घ' के हमें उत्तर प्रदेश में मुख्यतः दो रूप (संख्या ३) मिलते हैं जिनमें से एक में दो अर्द्ध परिधियों को मिलाकर दोनों के किनारे ऊपर बढ़ा दिये गये हैं। दूसरे में एक ही अर्द्ध परिधि को एक रेखा के द्वारा दो रेखाओं में बांटा गया है। अक्षर 'च' के भी दो प्रकार हैं। अक्षर संख्या २ व ३ एक प्रकार के हैं तथा ५, ७, ९ दूसरे प्रकार के हैं। पहले प्रकार में अक्षर 'च' की रेखा को कोणात्मक बनाया गया है और दूसरे में उसे अर्द्ध गोलाकार बना कर सीधी प्रलम्बाकार रेखा से मिलाया गया है। इस अक्षर में आ, इ, ई, ए, ओ की मात्राएं ऊपर की ओर लगती हैं तथा 'उ' की मात्रा में प्रलम्बाकार रेखा को आगे सीधा बढ़ा दिया जाता है। इसमें दूसरा प्रकार भी है (संख्या ३ के अक्षर में देखिए) । अक्षर ५ मौर्यकालीन ब्राह्मी में सरलता से पहचाना जा सकता है। इसके दो प्रकार हैं। पहले प्रकार में दो वृत्तों को मिला कर बीच में रेखा खड़ी कर दी गयी है। दूसरे में एक वृत्त को ही रेखा द्वारा बराबर बांट दिया गया है। इसमें मात्रा लगाने की विधि उसी प्रकार है।'ऊ' की मात्रा लगाते समय दो रेखायें समानान्तर या परस्पर कोण बनाती हुईं खींची जाती हैं।

उत्तर प्रदेश के मौर्यकालीन अक्षरों में 'ज' के हमें पांच रूप देखने में आते हैं। प्रस्तुत प्लेट नंबर ५ में अक्षर संख्या १, २, ३, ६, ७ तथा १० में परस्पर भिन्नता देखी जा सकती है। ब्राह्मी का यह अक्षर रोमन लिपि का 'ई' (E) है इसमें बिना हाथ उठाये शीघ्रता से बनाये जाने वाले गोलाकार अक्षर संख्या १, २, ७, ८ तथा एक रेखा को पृथक् जोड़ने वाले ३, ४, ६ तथा १० सम्मिलित हैं। इस अक्षर में 'आ' की मात्रा बीच में 'इ, ई' की मात्रा ऊपर तथा 'उ, ऊ' की मात्रा नीचे लगती है।

अक्षर 'ञ' को एक सीधी रेखा से दाहिनी ओर समकोण मिला कर बनाया जाता है। इसमें यहां पर 'इ' की मात्रा ऊपर की ओर लगायी जाती है। ट वर्ग के कुछ अक्षर गोल ही बनाये जाते हैं। इनमें से 'ट' का अक्षर वृत्ताकार होता है। कभी-कभी यह वृत्त का तीन-चौथाई भाग होता है तथा कभी आधा ही किन्तु 'ठ' का अक्षर पूर्णतया गोल ही होता है। समस्त वर्ग में 'ड' ही एक ऐसा अक्षर है जो केवल तीन सीधी रेखायें खींच कर बनाया जाता है। 'ढ' का आकार जो मौर्यकाल में था, वही आज भी है। गुप्तकाल के बाद इसमें एक लाइन ऊपर अवश्य लग गयी है। इस वर्ग के अक्षरों की मात्राएं ऊपर, मध्य तथा नीचे तीनों लगती हैं।

अध्ययन की दृष्टि से 'त' अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। प्लेट में इस अक्षर के २० आकार दिये गये हैं, जिनमें मुख्य प्रकार पांच हैं। इनमें पृथक् रूप से एक सीधी छोटी रेखा एक बड़ी रेखा के साथ मिला दी गयी है। दूसरा प्रकार अक्षर संख्या ३, ४, ८, १ का है। इनमें प्रलम्बाकार अथवा लगभग ८०° का कोण बनाती हुई लम्बी रेखा में छोटी सी

परिधाकार रेखा मिलायी गयी है। इसमें तीसरा प्रकार संख्या ६, १६, १७, १८, १९ तथा २० का है। इसमें अक्षर 'ग' के आकार का अक्षर बनाकर दोनों समान रेखाओं के मिलने के स्थान पर एक सीधी छोटी समान रेखा जोड़ दी गयी है। इस अक्षर का चौथा प्रकार संख्या ७ तथा १५ है; इसमें सीधी रेखा को वृत्ताकार बना कर उसमें छोटी सीधी रेखा लगभग मध्य में लगायी गयी है। इसमें पांचवां प्रकार अन्यत्र देखने में नहीं आता जिसमें लम्बी रेखा के मध्य से एक छोटी रेखा निकलती है जो कि लगभग ७०° का कोण बनाती हुई तीसरी रेखा से मिलती है। इस प्रकार इसमें तीन रेखाएं हैं। 'त' के ये भिन्न-भिन्न स्वरूप शुंग, कुषाण तथा गुप्तकाल तक चलते रहे। इस प्रकार अक्षर संख्या १३ को छोड़ कर शेष कहीं भी मात्रा मध्य में नहीं लगायी जाती। यहां आ, इ, ई ए तथा ओ की मात्राएं ऊपर के सिरे पर तथा उ, ऊ की मात्रा नीचे के सिरे पर लगती हैं।

त वर्ग के अन्य अक्षरों के अधिक भेद नहीं हैं। 'थ' केवल एक वृत्त बना कर बीच में बिन्दु बनाया जाता है। इसमें मात्राएं बीच में तथा नीचे लगती हैं। प्लेट नंबर ६ में संख्या २, ३, ४, ५, ६ देखिए। अक्षर 'द' के चार प्रकार हैं। इनमें अशोक के सारनाथ-शिलालेख में 'द' अक्षर की अद्भुत आकृति बनायी गयी है जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। इसमें भिन्न आकार के वृत्तों को एक के साथ एक रेखा से जोड़ा गया है (संख्या ६)। 'ध' अक्षर को प्रायः अंगरेजी के डी (D) के आकार का बनाया जाता रहा है। एक स्थान पर कालसी शिलालेख में इसे चौकोर भी बनाया गया है (दे० संख्या ४)। 'न' के प्रकारों में अधिक भेद नहीं है। कुषाण तथा गुप्त लिपियों में प्रलम्बाकार रेखा छोटी हो जाती है और आड़ी रेखा प्रायः गोल हो जाती है। इनमें 'ध' को छोड़ कर शेष अक्षरों में मात्राएं ऊपर तथा नीचे की ओर लगती हैं।

मौर्य ब्राह्मी में 'प' वर्ग के अक्षरों में अधिक प्रकार नहीं हैं। 'फ' के दो प्रकार हैं (संख्या १, २)। इसका पहला रूप जो कि कम प्रयोग में आता है, कालसी से लिया गया है किन्तु दूसरा तथा तीसरा सारनाथ के शिलालेख का है जो कि अधिक प्रयुक्त हुआ है। 'ब' का प्रायः एक ही रूप देखने में आया है। 'भ' के संख्या १ व २ के रूप कम प्रयुक्त हुए हैं किन्तु संख्या ३ का रूप मौर्यकालीन लिपि में बहुत व्यवहृत हुआ तथा आगे चल कर इसी का विकास हुआ। प्लेट नंबर ७ में 'म' अक्षर के १६ रूप दिये हैं। इनमें प्रायः सभी रूपों में केवल संख्या ५ के अक्षर को छोड़ कर एक वृत्त बना कर ऊपर दो रेखायें भिन्न-भिन्न आकार से लगायी गयी हैं। इनमें मात्राएं ऊपर नीचे, बीच में तथा नीचे की ओर लगायी गयी हैं। 'य' के दो रूप हैं। एक कालसी में तथा दूसरा दिल्ली-मेरठ व रुम्मिनदेई स्तंभ लेख में मिलता है। इनमें आगे चल कर प्रथम प्रकार के रूप का ही विकास हुआ। 'ल' के अक्षर को कालसी में कहीं गोल और कहीं सीधी रेखाओं द्वारा बनाया गया है। 'व' का रूप मौर्य ब्राह्मी में लगभग एक सा ही है। कालसी लेख में इसका कोई विशेष रूप नहीं है 'ब' का प्रयोग मौर्यकालीन ब्राह्मी में कालसी शिलालेख में ही हुआ है। इसमें अक्षर संख्या ५ अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। इसमें एक बड़े और छोटे वृत्त को परस्पर मिला कर 'ए' की मात्रा मिलायी गयी है। अक्षर 'स' के भी १७ रूप दिये गये हैं। उत्तर प्रदेश में ये रूप मौर्यकाल में विद्यमान थे। इनमें संख्या ४ का अक्षर पृथक् है। यह कुषाण तथा गुप्तकाल में प्रकट होता है। इसे बिना हाथ उठाये बनाया गया है। कालसीके लेख में 'ह' के तीनों रूप (१, २,३ देखिए) उत्तर प्रदेश में अन्यत्र नहीं मिलते। इस अक्षर के संख्या ४, ५, ६ व ७ के रूप बहुत सामान्य हैं।

यह उल्लेखनीय है कि संयुक्ताक्षरों की बनावट का क्रम मौर्यकाल से ही आरम्भ हो गया था। इसमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि मिले हुए अक्षरों की लम्बाई मात्रा सहित मिलाकर अन्य अक्षरों से अधिक न हो। उदाहरणार्थ प्लेट ७ में **दिव्या** तथा **नातिक्या** शब्दों को देखिए। इसमें शब्दों की मिलावट ऊपर तथा नीचे की गयी है। प्रथम उच्चारण में आने वाले अक्षर को ऊपर तथा बाद में आने वाले को बाद में नीचे लिखा गया है। 'क्या' शब्द की बनावट में लिपिकार ने 'य' की रेखा 'क' से मिला कर लम्बाई बराबर करके 'आ' की मात्रा लगा कर वैज्ञानिकता का परिचय दिया है।

कालसी के समस्त शिला लेख में अक्षरों के कई रूप दिए गए हैं। कहीं-कहीं अक्षरों की खड़ी रेखाओं के ऊपर कुषाण अथवा शुंग कालीन बिन्दु (Serif) भी बनाया गया है। सारनाथ के लेख में 'ह' का एक विशेष प्रकार दिया गया है जो अन्यत्र कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ। मौर्य-ब्राह्मी के 'स' तथा 'ज' के कुछ अक्षरों के बीच एक वृत्त भी बनाया गया है। कालसी के दसवें शिलालेख (R.E.X) के पश्चात् अक्षर बड़े तथा आकृति अधिक स्पष्ट दिखायी पड़ती है तथा 'श' और 'ष' का प्रयोग अधिक हुआ है। कालसी में विराम के लिये एक खड़ी लकीर का प्रयोग हुआ है। यह चिन्ह सहसराम तथा मास्की के लेखों में भी पाया जाता है।

इतिहास में मौर्यकाल के पश्चात् शुंगकाल आता है। मौर्य सम्राटों के आसेतु-हिमाचल तक विस्तृत सुदृढ़ शासन ने देश में शान्ति स्थापित की और देश के विभिन्न भागों में परस्पर आदान-प्रदान होना सुगम हो गया। मौर्यवंशीय 'आर्य-

कुमार' तथा 'आर्यपुत्र', सुदूर दक्षिण तक राज्य करने पहुँचे। अतः देश में राष्ट्रीय एकता का सूत्र सुदृढ़ होने के साथ ही सांस्कृतिक उन्नति भी हुई। फलतः लिपि का भी विकास होने लगा। मौर्ययुग के पतन के पश्चात् समग्र देश को एकता के सूत्र में पिरोने वाली कोई शक्ति न रही जिसका परिणाम यह हुआ कि क्षेत्रज संस्कृतियां बलवती होने लगीं और यहीं से प्रान्तीय लिपियों का विकास आरम्भ हुआ। प्रत्येक लिपि लेखन के द्वारा ही परिष्कृत होती है। अतः भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विविध हाथों के द्वारा समस्त भारत में व्यवहृत मौर्यकालीन ब्राह्मी के शनैः शनैः क्षेत्रज रूप प्रकट होने आरम्भ हुए जो कि उत्तर भारत में शुंग तथा कुषाण लिपि, पश्चिम में क्षत्रप लिपि तथा दक्षिण में सातवाहन लिपि के नाम से ज्ञेय हैं।

अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ को भारद्वाजगोत्रीय शुंगकुल के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने सेना की सलामी लेते समय वध करके मगध के सिंहासन पर शुंग बंश की प्रतिष्ठा की। शुंग काल में ब्राह्मधर्म की उन्नति हुई तथा वैष्णव धर्म सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा जिसकी साक्षी उस काल के शिलालेखों द्वारा दी जा सकती है। लिपि के विकास का अध्ययन करने की दृष्टि से हमने यहां यूनानी राजदूत हेलियोडोरस का बेसनगर-शिलालेख, शुंगवंशीय महाराजा धनदेव का अयोध्या-शिलालेख, तत्कालीन प्रचलित सिक्के पभोसा, नरेश का शिलालेख, कुषाण सम्राट् हुविष्क का मथुरा-शिलालेख तथा जैन लेख लिये हैं।

शुंगकाल में उत्तर प्रदेश में अंकित अक्षरों को अधिक सुडोल बनाने का प्रयत्न किया गया। सीधी रेखा द्वारा बनने वाले अक्षरों को लम्बा तथा वृत्ताकार अक्षरों को अधिक विस्तीर्ण बनाया गया। अक्षरों के सिरे पर एक मोटा-सा विन्दु (Serif) जो केवल कालसी के कुछ अक्षरों में ही लगाया गया था अब विस्तृत रूप से प्रयोग में आने लगा। शुंगकाल में मध्य प्रदेश की लिपि पर मेरठ तथा उसके आस-पास की लिपि का प्रभाव पड़ा। हेलिओडोरस के वेसनगर स्थित शिलालेख पर अशोक के दिल्ली-मेरठ स्तम्भ का प्रभाव स्पष्ट है। प्लेट ८ में 'अ' तथा 'आ' के संख्या १ के अक्षर देखिए। 'अ, आ' का यही स्वरूप सम्राट् के मेरठ के स्तंभलेख में मिलता है। 'अ' के २ व ३ संख्या के अक्षरों की खड़ी रेखायें अपेक्षाकृत लम्बी बनायी गयी हैं। संख्या ३ के अक्षर का वृत्त एक छोटे कांटे के आकार का बना दिया गया है। इसी प्रकार संख्या ४, ५, ६ के अक्षरों के नीचे का आकार पृथक् बनाया गया है। संख्या ६ के अक्षर में निचली रेखा सीधी है, ५ में वही रेखा वृत्ताकार हो गयी है। कुषाणकालीन लिपि में इन अक्षरों को अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया। सम्राट् हुविष्क के लेख इनके सुन्दर आकार देने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं (देखिए ७, ८, ९, १० तथा ११)।

शुंगकाल में 'औ' की मात्रा का चिन्ह भी दिखायी देता है जिसके लगाने में दो रेखाओं को बायीं ओर समानान्तर बनाया गया है (संख्या क २)। मुद्राओं से प्राप्त लिपि से ज्ञात होता है कि कुछ मात्राएं सीधी भी लगायी जाने लगी थीं (देखिए संख्या 'क' ३, ४)। 'क' की आड़ी रेखा को सीधे के स्थान पर कुछ गोल बनाया गया जिससे आगे चल कर आधुनिक नागरी लिपि के अक्षर 'क' का विकास हुआ। प्लेट संख्या ९ में 'ग' के कोण को गोल बनाया जाने लगा। शुंग व कुषाण लिपि में 'ग' को अर्द्ध-वृत्ताकार स्वरूप का बनाया गया है। 'ख' का आधार एक सीधी रेखा होते हुए कुषाणकाल से ही वह वृत्ताकार का बनाया गया। 'च' के भिन्न-भिन्न रूपों में संख्या ४ का अक्षर मुख्य है। यह अक्षर आकार में विस्तृत तथा सुगमता के लिए कुछ गोल बनाया गया है। इसे तिरछे दीपक के आकार का भी बनाने की परम्परा जारी रही। उदाहरण के लिए संख्या ६ देखिए। संख्या ६ के अक्षर में 'ई' की मात्रा दो रेखायें ऊपर की ओर उठा कर बनायी गयी है। 'ज' का लगभग वही रूप रहा जो अशोक के शिलालेखों में पाया जाता है। केवल थोड़ी सुन्दरता लाने का यत्न किया गया है (संख्या २)। 'टा' में 'आ' की मात्रा को बीच से काट कर लगाने का प्रयत्न मथुरा तथा जैन शिलालेखों में किया गया। हेलिओडोरस के शिलालेख में 'ड' का आकार अशोक के शिलालेख जैसा ही है किन्तु मुद्राओं पर उसके अन्य रूप भी देखने को मिलते हैं। सुगमता के लिए 'ड' को विना हाथ उठाये बनाया गया है। मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन जैन शिलालेखों में यह अक्षर अपने पूर्व आकार से एकदम भिन्न आड़ा-टेढ़ा बनाया गया है।

इस काल में 'त' के मुख्यतः दो रूप सामने आते हैं। एक तो एक वृत्त के ऊपर छोटी सी रेखा को बिन्दी लगाकर खड़ा किया गया है। पुराना अशोककालीन रूप जिसमें तीनों रेखाओं को जोड़ा गया है। मथुरा के जैन लेखों में 'इ' की मात्रा को गोल करके ऊपर बढ़ा कर लगाया गया है। प्लेट १० में 'द' के मुख्यतः दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक में अशोककालीन अक्षर को वर्गाकार बनाया गया है (संख्या ४ तथा ५), दूसरे में उसे सुविधानुसार आधार बना कर नीचे से मोड़ दिया गया है। 'ध' का वही रूप रहता है किन्तु संख्या ३ में मात्रा लगाने का प्रकार नवीन है। न की सीधी लकीर (Horizontal Line) को गोल बनाया गया है और मात्रा लगाने के प्रकार में नवीन प्रयोग किया गया है। 'प' को वर्गाकार बनाया गया है। इसमें 'र' कार को नीचे मिलाने का प्रकार संख्या ५ में देखिए। कुषाणकालीन मथुरा के लेख में यह अक्षर लगभग आधुनिक नागरी के अक्षर 'प्र' से मिलता है। दूसरा प्रकार संख्या ९ में देखिए। यह सुगमता

परिधाकार रेखा मिलायी गयी है। इसमें तीसरा प्रकार संख्या ६, १६, १७, १८, १९ तथा २० का है। इसमें अक्षर 'ग' के आकार का अक्षर बनाकर दोनों समान रेखाओं के मिलने के स्थान पर एक सीधी छोटी समान रेखा जोड़ दी गयी है। इस अक्षर का चौथा प्रकार संख्या ७ तथा १५ है; इसमें सीधी रेखा को वृत्ताकार बना कर उसमें छोटी सीधी रेखा लगभग मध्य में लगायी गयी है। इसमें पांचवां प्रकार अन्यत्र देखने में नहीं आता जिसमें लम्बी रेखा के मध्य से एक छोटी रेखा निकलती है जो कि लगभग ७०° का कोण बनाती हुई तीसरी रेखा से मिलती है। इस प्रकार इसमें तीन रेखाएं हैं। 'त' के ये भिन्न-भिन्न स्वरूप शुंग, कुषाण तथा गुप्तकाल तक चलते रहे। इस प्रकार अक्षर संख्या १३ को छोड़ कर शेष कहीं भी मात्रा मध्य में नहीं लगायी जाती। यहां आ, इ, ई ए तथा ओ की मात्राएं ऊपर के सिरे पर तथा उ, ऊ की मात्रा नीचे के सिरे पर लगती हैं।

त वर्ग के अन्य अक्षरों के अधिक भेद नहीं हैं। 'थ' केवल एक वृत्त बना कर बीच में बिन्दु बनाया जाता है। इसमें मात्राएं बीच में तथा नीचे लगती हैं। प्लेट नंबर ६ में संख्या २, ३, ४, ५, ६ देखिए। अक्षर 'द' के चार प्रकार हैं। इनमें अशोक के सारनाथ-शिलालेख में 'द' अक्षर की अद्भुत आकृति बनायी गयी है जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। इसमें भिन्न आकार के वृत्तों को एक के साथ एक रेखा से जोड़ा गया है (संख्या ६)। 'ध' अक्षर को प्रायः अंगरेजी के डी (D) के आकार का बनाया जाता रहा है। एक स्थान पर कालसी शिलालेख में इसे चौकोर भी बनाया गया है (दे० संख्या ४)। 'न' के प्रकारों में अधिक भेद नहीं है। कुषाण तथा गुप्त लिपियों में प्रलम्बाकार रेखा छोटी हो जाती है और आड़ी रेखा प्रायः गोल हो जाती है। इनमें 'ब' को छोड़ कर शेष अक्षरों में मात्राएं ऊपर तथा नीचे की ओर लगती हैं।

मौर्य ब्राह्मी में 'प' वर्ग के अक्षरों में अधिक प्रकार नहीं हैं। 'फ' के दो प्रकार हैं (संख्या १, २)। इसका पहला रूप जो कि कम प्रयोग में आता है, कालसी से लिया गया है किन्तु दूसरा तथा तीसरा सारनाथ के शिलालेख का है जो कि अधिक प्रयुक्त हुआ है। 'ब' का प्रायः एक ही रूप देखने में आया है। 'भ' के संख्या १ व २ के रूप कम प्रयुक्त हुए हैं किन्तु संख्या ३ का रूप मौर्यकालीन लिपि में बहुत व्यवहृत हुआ तथा आगे चल कर इसी का विकास हुआ। प्लेट नंबर ७ में 'म' अक्षर के १६ रूप दिये हैं। इनमें प्रायः सभी रूपों में केवल संख्या ५ के अक्षर को छोड़ कर एक वृत्त बना कर ऊपर दो रेखायें भिन्न-भिन्न आकार से लगायी गयी हैं। इनमें मात्राएं ऊपर नीचे, बीच में तथा नीचे की ओर लगायी गयी हैं। 'य' के दो रूप हैं। एक कालसी में तथा दूसरा दिल्ली-मेरठ व रुम्मिनदेई स्तंभ लेख में मिलता है। इनमें आगे चल कर प्रथम प्रकार के रूप का ही विकास हुआ। 'ल' के अक्षर को कालसी में कहीं गोल और कहीं सीधी रेखाओं द्वारा बनाया गया है। 'व' का रूप मौर्य ब्राह्मी में लगभग एक सा ही है। कालसी लेख में इसका कोई विशेष रूप नहीं है 'ब' का प्रयोग मौर्यकालीन ब्राह्मी में कालसी शिलालेख में ही हुआ है। इसमें अक्षर संख्या ५ अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। इसमें एक बड़े और छोटे वृत्त को परस्पर मिला कर 'ए' की मात्रा मिलायी गयी है। अक्षर 'स' के भी १७ रूप दिये गये हैं। उत्तर प्रदेश में ये रूप मौर्यकाल में विद्यमान थे। इनमें संख्या ४ का अक्षर पृथक् है। यह कुषाण तथा गुप्तकाल में प्रकट होता है। इसे बिना हाथ उठाये बनाया गया है। कालसीके लेख में 'ह' के तीनों रूप (१, २,३ देखिए) उत्तर प्रदेश में अन्यत्र नहीं मिलते। इस अक्षर के संख्या ४, ५, ६ व ७ के रूप बहुत सामान्य हैं।

यह उल्लेखनीय है कि संयुक्ताक्षरों की बनावट का क्रम मौर्यकाल से ही आरम्भ हो गया था। इसमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि मिले हुए अक्षरों की लम्बाई मात्रा सहित मिलाकर अन्य अक्षरों से अधिक न हो। उदाहरणार्थ प्लेट ७ में **दिव्या** तथा **नातिक्या** शब्दों को देखिए। इसमें शब्दों की मिलावट ऊपर तथा नीचे की गयी है। प्रथम उच्चारण में आने वाले अक्षर को ऊपर तथा बाद में आने वाले को बाद में नीचे लिखा गया है। 'क्या' शब्द की बनावट में लिपिकार ने 'य' की रेखा 'क' से मिला कर लम्बाई बराबर करके 'आ' की मात्रा लगा कर वैज्ञानिकता का परिचय दिया है।

कालसी के समस्त शिला लेख में अक्षरों के कई रूप दिए गए हैं। कहीं-कहीं अक्षरों की खड़ी रेखाओं के ऊपर कुषाण अथवा शुंग कालीन बिन्दु (Serif) भी बनाया गया है। सारनाथ के लेख में 'ह' का एक विशेष प्रकार दिया गया है जो अन्यत्र कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ। मौर्य-ब्राह्मी के 'स' तथा 'ज' के कुछ अक्षरों के बीच एक वृत्त भी बनाया गया है। कालसी के दसवें शिलालेख (R.E.X) के पश्चात् अक्षर बड़े तथा आकृति अधिक स्पष्ट दिखायी पड़ती है तथा 'श' और 'ष' का प्रयोग अधिक हुआ है। कालसी में विराम के लिये एक खड़ी लकीर का प्रयोग हुआ है। यह चिन्ह सहसराम तथा मास्की के लेखों में भी पाया जाता है।

इतिहास में मौर्यकाल के पश्चात् शुंगकाल आता है। मौर्य सम्राटों के आसेतु-हिमाचल तक विस्तृत सुदृढ़ शासन ने देश में शान्ति स्थापित की और देश के विभिन्न भागों में परस्पर आदान-प्रदान होना सुगम हो गया। मौर्यवंशीय 'आर्य-

कुमार' तथा 'आर्यपुत्र', सुदूर दक्षिण तक राज्य करने पहुँचे। अतः देश में राष्ट्रीय एकता का सूत्र सुदृढ़ होने के स ही सांस्कृतिक उन्नति भी हुई। फलतः लिपि का भी विकास होने लगा। मौर्ययुग के पतन के पश्चात् समग्र देश को एकता सूत्र में पिरोने वाली कोई शक्ति न रही जिसका परिणाम यह हुआ कि क्षेत्रज संस्कृतियां बलवती होने लगीं और यहीं प्रान्तीय लिपियों का विकास आरम्भ हुआ। प्रत्येक लिपि लेखन के द्वारा ही परिष्कृत होती है। अतः भिन्न-भिन्न क्षेत्रों विविध हाथों के द्वारा समस्त भारत में व्यवहृत मौर्यकालीन ब्राह्मी के शनैः शनैः क्षेत्रज रूप प्रकट होने आरम्भ हुए जो उत्तर भारत में शुंग तथा कुषाण लिपि, पश्चिम में क्षत्रप लिपि तथा दक्षिण में सातवाहन लिपि के नाम से ज्ञेय हैं।

अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ को भारद्वाजगोत्रीय शुंगकुल के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने सेना की सलामी ले समय वध करके मगध के सिंहासन पर शुंग वंश की प्रतिष्ठा की। शुंग काल में ब्राह्मधर्म की उन्नति हुई तथा वैष्णव धर्म सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा जिसकी साक्षी उस काल के शिलालेखों द्वारा दी जा सकती है। लिपि के विकास का अध्ययन करने के दृष्टि से हमने यहां यूनानी राजदूत हेलियोडोरस का वेसनगर-शिलालेख, शुंगवंशीय महाराजा धनदेव का अयोध्या-शिलालेख तत्कालीन प्रचलित सिक्के पभोसा, नरेश का शिलालेख, कुषाण सम्राट् हुविष्क का मथुरा-शिलालेख तथा जैन लेख लिये हैं।

शुंगकाल में उत्तर प्रदेश में अंकित अक्षरों को अधिक सुडौल बनाने का प्रयत्न किया गया। सीधी रेखा द्वार बनने वाले अक्षरों को लम्बा तथा वृत्ताकार अक्षरों को अधिक विस्तीर्ण बनाया गया। अक्षरों के सिरे पर एक मोटा-स विन्दु (Serif) जो केवल कालसी के कुछ अक्षरों में ही लगाया गया था अब विस्तृत रूप से प्रयोग में आने लगा शुंगकाल में मध्य प्रदेश की लिपि पर मेरठ तथा उसके आस-पास की लिपि का प्रभाव पड़ा। हेलिओडोरस के वेसनगर स्थित शिलालेख पर अशोक के दिल्ली-मेरठ स्तम्भ का प्रभाव स्पष्ट है। प्लेट ८ में 'अ' तथा 'आ' के संख्या १ के अक्षर देखिए। 'अ, आ' का यही स्वरूप सम्राट् के मेरठ के स्तंभलेख में मिलता है। 'अ' के २ व ३ संख्या के अक्षरों की खड़ी रेखायें अपेक्षाकृत लम्बी बनायी गयी है। संख्या ३ के अक्षर का वृत्त एक छोटे कांटे के आकार का बना दिया गया है। इसी प्रकार संख्या ४, ५, ६ के अक्षरों के नीचे का आकार पृथक् बनाया गया है। संख्या ६ के अक्षर में निचली रेखा सीधी है, ५ में वही रेखा वृत्ताकार हो गयी है। कुषाणकालीन लिपि में इन अक्षरों को अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया। सम्राट् हुविष्क के लेख इनके सुन्दर आकार देने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं (देखिए ७, ८, ९, १० तथा ११)।

शुंगकाल में 'औ' की मात्रा का चिन्ह भी दिखायी देता है जिसके लगाने में दो रेखाओं को बायीं ओर समानान्तर बनाया गया है (संख्या क २)। मुद्राओं से प्राप्त लिपि से ज्ञात होता है कि कुछ मात्राएं सीधी भी लगायी जाने लगी थीं (देखिए संख्या 'क' ३, ४)। 'क' की आड़ी रेखा को सीधे के स्थान पर कुछ गोल बनाया गया जिससे आगे चल कर आधुनिक नागरी लिपि के अक्षर 'क' का विकास हुआ। प्लेट संख्या ९ में 'ग' के कोण को गोल बनाया जाने लगा। शुंग व कुषाण लिपि में 'ग' को अर्द्ध-वृत्ताकार स्वरूप का बनाया गया है। 'ख' का आधार एक सीधी रेखा होते हुए कुषाणकाल से ही वह वृत्ताकार का बनाया गया। 'च' के भिन्न-भिन्न रूपों में संख्या ४ का अक्षर मुख्य है। यह अक्षर आकार में विस्तृत तथा सुगमता के लिए कुछ गोल बनाया गया है। इसे तिरछे दीपक के आकार का भी बनाने की परम्परा जारी रही। उदाहरण के लिए संख्या ६ देखिए। संख्या ६ के अक्षर में 'ई' की मात्रा दो रेखायें ऊपर की ओर उठा कर बनायी गयी है। 'ज' का लगभग वही रूप रहा जो अशोक के शिलालेखों में पाया जाता है। केवल थोड़ी सुन्दरता लाने का यत्न किया गया है (संख्या २)। 'टा' में 'आ' की मात्रा को बीच से काट कर लगाने का प्रयत्न मथुरा तथा जैन शिलालेखों में किया गया। हेलिओडोरस के शिलालेख में 'ड' का आकार अशोक के शिलालेख जैसा ही है किन्तु मुद्राओं पर उसके अन्य रूप भी देखने को मिलते हैं। सुगमता के लिए 'ड' को बिना हाथ उठाये बनाया गया है। मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन जैन शिलालेखों में यह अक्षर अपने पूर्व आकार से एकदम भिन्न आड़ा-टेढ़ा बनाया गया है।

इस काल में 'त' के मुख्यतः दो रूप सामने आते हैं। एक तो एक वृत्त के ऊपर छोटी सी रेखा को बिन्दी लगाकर खड़ा किया गया है। पुराना अशोककालीन रूप जिसमें तीनों रेखाओं को जोड़ा गया है। मथुरा के जैन लेखों में 'इ' की मात्रा को गोल करके ऊपर बढ़ा कर लगाया गया है। प्लेट १० में 'द' के मुख्यतः दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक में अशोक-कालीन अक्षर को वर्गाकार बनाया गया है (संख्या ४ तथा ५), दूसरे में उसे सुविधानुसार आधार बना कर नीचे से मोड़ दिया गया है। 'ध' का वही रूप रहता है किन्तु संख्या ३ में मात्रा लगाने का प्रकार नवीन है। न की सीधी लकीर (Horizontal Line) को गोल बनाया गया है और मात्रा लगाने के प्रकार में नवीन प्रयोग किया गया है। 'प' को वर्गाकार बनाया गया है। इसमें 'र' कार को नीचे मिलाने का प्रकार संख्या ५ में देखिए। कुषाणकालीन मथुरा के लेख में यह अक्षर लगभग आधुनिक नागरी के अक्षर 'प्र' से मिलता है। दूसरा प्रकार संख्या ९ में देखिए। यह सुगमता

तथा शीघ्रता से लिखा जा सकता है। 'ब' का रूप सर्वत्र वही रहता है। 'भ' का रूप नागरी के 'त' की तरह का है। 'म' के रूपों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। संख्या ५, ६ तथा ७ के अक्षर एक दम नवीन हैं। इसके साथ ही गुप्तकालीन 'म' का रूप पूर्ववत् ही प्रचलित रहा। 'य' का परिवर्तित रूप संख्या २, ७ व ८ में दिखाया गया है। इनमें एक सीधी रेखा खींच कर उसके दोनों सिरे मोड़ दिये गये हैं। इन अक्षरों में ऊपर छोटी-छोटी रेखाएं खींच दी गयी हैं। महाराजा धनदेव के शिलालेख में 'य' के ऊपर एक छोटी रेखा खींची गयी है जो हमें दूसरे स्थानों पर गुप्तकाल से इधर नहीं मिलती।

'र' के मुख्यतः तीन प्रकार हैं। हेलियोडोरस के शिलालेख में 'र' का आकार अशोक के शिलालेख की प्रतिलिपि ही है किन्तु अयोध्या नरेश धनदेव तथा कुषाण सम्राट् हुविष्क के मथुरा शिलालेखों में इसमें विकास हुआ है। 'र' एक ऊपर मोटी तथा नीचे पतली रेखा के रूप में बनाया गया है। अक्षर ७ में 'र' को नीचे से गोल मोड़ दिया गया है। शुंग व कुषाणकाल से 'व' के अक्षर बहुधा त्रिकोण ही बनाये जाते रहे (प्लेट ११)। 'व' के ऊपर 'इ' की दीर्घ मात्रा लगाने के लिये ऊपर दो रेखाएं खींची गयी हैं (संख्या २)। 'श' में 'इ' मिलाने की विधि संख्या २ में देखिए, यह धीरे-धीरे नागरी के निकट आ रहा है। 'ष' का रूप कुषाण काल में बदल गया (संख्या १, २, ३, ४)। 'स' के वृत्त को तरह-तरह से बनाने का उपाय किया गया। किसी-किसी में बड़े आकार का वृत्त है, किसी में उसे फैला कर बनाया गया है तथा किसी में उसी वृत्त को बहुत छोटा कर दिया है। इस प्रकार 'स' के विभिन्न रूप लिपि के इस संक्रमणकाल में मिलते हैं। मौर्यकालीन लिपि में क्ष, त्र व ज्ञ अक्षर न थे। इसी कारण मौर्यकालीन ब्राह्मी में केवल प्राकृत लिखी जा सकती थी। संस्कृत लिखने योग्य न थी किन्तु कुषाणकाल में इसमें उक्त अक्षर बना दिये गये। अक्षर 'क्ष', 'क' तथा 'ष' का संयुक्त रूप है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि ब्राह्मी में अक्षर ऊपर-नीचे करके मिलाये जाते हैं, आजकल नागरी की तरह अक्षर के बराबर नहीं, यद्यपि पहले नागरी में भी एक के ऊपर एक करके मिलाये जाते थे। 'क्ष' अक्षर में ऊपर का भाग 'क' है और नीचे का भाग 'ष' है। इसी प्रकार 'त्र' में ऊपर 'त' नीचे 'र' मिलाया गया है। संस्कृत में 'ज्ञ' को 'ज्यं' कहते हैं। अतः ध्वनि के अनुसार इसमें भी पहला 'ज' और दूसरा 'ङ' का अक्षर है। अतः दोनों को मिला कर 'ज्ञ' अक्षर बना। यह अक्षर सर्वप्रथम प्रथम शती ईस्वी पूर्व के महाराजा धनदेव के शिलालेख में आया है। इस अक्षर के दो पृथक् रूप उत्तर प्रदेश में प्रथम शती के आस पास प्रचलित सिक्कों पर प्राप्त होते हैं (संख्या ३ व ४)।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि प्राचीन भारतीय लिपिकारों ने लिपि को विकसित करते समय सुगमता, सौन्दर्य तथा ध्वनि की स्पष्टता का ध्यान रखते हुए ही ब्राह्मी लिपि को विकसित किया। संयुक्ताक्षरों को देखने से ज्ञात होगा कि इसमें कितना संतुलन है। शिलालेखों के अतिरिक्त सिक्कों की लिपि में हमें दूसरा रूप भी मिलता है। अक्षरों को मिलाते समय उनकी बनावट को स्पष्ट रखते हुए भी अक्षरों को क्रमानुसार मिलाया जाता था। इसके उदाहरणस्वरूप संख्या १, २, ३, ११ व १४ को देखिए। प्रत्येक अक्षर में मात्रा की स्पष्टता तथा अक्षर के मिलान का ध्यान रखा गया है। अक्षरों में परस्पर सौम्य व संतुलन का उदाहरण प्रथम शती ईस्वी पूर्व के अयोध्यानरेश मूलदेव के सिक्के पर अंकित निम्नलिखित नाम से जाना जा सकता है :

मू ल दे व स

इसमें लिपिकार ने 'द' को छोटा करके शेष अक्षरों को मिला कर एक सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।

अयोध्यानरेश वायुदेव के सिक्के पर 'व' के ऊपर एक रेखा आ जाने से लिपिकार ने 'आ' की मात्रा को ऊपर से लगाया है। उदाहरणार्थ देखिए :—

इसी प्रकार अयोध्यानरेश विजयमित्र के सिक्के पर नरेश का नाम अत्यन्त सुन्दर सुललित अक्षरों में लिखा गया है। इन अक्षरों का सौष्ठव देखते ही बनता है।

वि ज य मि त स

भिन्न-भिन्न अक्षरों को संयुक्त करके सुडौल स्वरूप देने का उदाहरण हमें कन्नौजनरेश ब्रह्ममित्र के सिक्के पर मिलता है।

उनके नाम में 'ह्' तथा 'य' का मिश्रण कलात्मक ढंग से किया गया है। इसमें लिपिकार ने दोनों 'म' को मिला कर एक अद्‌भुत सौन्दर्य का परिचय दिया है।
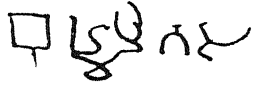
कुषाणकाल के सुगठित तथा सुदृढ़ शासन ने देश की सभ्यता तथा संस्कृति को और भी उन्नति के शिखर पर पहुंचा दिया। कुषाण सम्राटों की राजधानी पुरुषपुर थी जो भारत तथा पश्चिमी प्रदेश के आवागमन के मार्ग का नियंत्रण करती थी। फलतः योरुप, ईरान, अरब तथा मिस्र आदि से व्यापार अधिक बढ़ गया। इन देशों के सहस्रों व्यापारी जल व थल मार्ग से भारत आया-जाया करते थे। भारत के पत्तनों के हाटों में आप संसार भर की भाषाएं सुन सकते थे। देश के भिन्न-भिन्न प्रांतों में भी परस्पर व्यापार बहुत बढ़ गया था जिनके साथ ही बड़े-बड़े राजमार्ग प्रशस्त हुए। उत्तर प्रदेश के श्रावस्ती, कौशाम्बी, कुशावती, पावा, अहिच्छत्र, काम्पिल्य, अंतरंजी आदि प्रशस्त नगरों के लक्षाधिपति व्यापारी भी अपना माल लाद कर सुदूर दक्षिण तक जाया करते थे। आप दक्षिण भारत के पूर्वांचल पर स्थित कावेरी पडवम् पत्तन के थोक बाजारों से भी गंगा-यमुना के द्वाबे की बनी हुई एक-एक वस्तु बहुत बड़े परिमाण में खरीद सकते थे। अतः जब धन-धान्य की इतनी वृद्धि हुई, कला संस्कृति का इतना अभ्युदय हुआ तो साहित्य भी पीछे क्यों रहता। गुप्तकाल में हमारे साहित्य में विशेषकर बाल्मीकि रामायण, पुराण आदि के आधुनिक संस्करण तैयार किये गये। संस्कृत भाषा का प्रचार अधिक हो गया। उसमें विविध विषयों पर ग्रंथों का प्रणयन करने के लिए लिपिकारों ने लिपि को और भी परिष्कृत किया। गुप्त युग में ही उत्तर प्रदेश के काशी, श्रावस्ती, वैशाली आदि के हारे क्षत्रिय कुमार तथा व्यापार में कंगाल हुए व्यापारी सुवर्ण की खोज में स्वर्णद्वीप तथा स्वर्णभूमि गये, जहां जाकर उन्होंने भारतीय लिपि, भाषा तथा धर्म का प्रसार किया। यह स्मरणीय है कि स्वर्णद्वीप (जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो आदि) के निवासी आज भी हिन्दू ही हैं तथा इन्हीं आये हुए भारतीय हिन्दुओं की संतान हैं।

इस प्रकार गुप्तकाल में आकर ब्राह्मी लिपि पूर्णतः परिपक्व हो गयी। इसमें अब प्रत्येक ध्वनि को लिपिबद्ध करने की शक्ति आ चुकी थी। अक्षरों के ऊपर एक छोटी-सी रेखा भी खींची जाती थी। इस समय तक भारत की विभिन्न लिपियों के प्रान्तीय रूप बहुत विकसित हो चुके थे।

प्रस्तुत प्लेट १२ में 'अ' के अक्षरों की बनावट देखिए। चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्के पर बने 'अ' का अक्षर नागरी लिपि के कितने समीप आ गया है। तीन के स्थान पर दो बिन्दु तथा एक रेखा आ गयी थी। 'उ' का अक्षर नीचे गोल बनाया गया है। 'क' में दूसरा 'क' मिलाने के तरीके को संख्या २ व ७ में देखिए। संख्या ४ में 'क' पर और की मात्रा के लिए तीन रेखाएं खींची गयी हैं। 'ख' की आकृति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। प्लेट १३ में 'ग' को अधिक फैला कर तथा वर्गाकार बनाया गया है। इस समय लिपि में 'ङ' का शब्द भी मिलता है जो मौर्य-ब्राह्मी में न था। ट वर्ग के चिन्हों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु भिन्न-भिन्न अक्षरों पर मात्राएं लगाने के भिन्न-भिन्न तरीके प्रयोग में लाये गये। उदाहरण के लिए 'टि' को संख्या २ तथा 'ति' को संख्या ८ में देखिए। 'ए' की मात्रा ब्राह्मी लिपि में इसी काल में विकसित हुई किन्तु 'ओ' की मात्रा के लिए विचित्र रूप दिखायी पड़ता है जिसमें 'त' के दोनों ओर कांटे जैसे लगाकर 'तो' बनाया गया है। प्लेट १४ की संख्या ६ में 'द' का यह रूप कुषाणकाल में विकसित हो चुका था। 'द' में 'र' मिलाने की विधि नवीन है। 'न' की दो रेखाओं के स्थान पर एक ही रेखा को घुमा कर बनाया गया है और उसके ऊपर छोटी-सी एक लाइन लगायी गयी है। 'प' के अक्षर में एक और खांचा इलाहाबाद के समुद्रगुप्त के लेख में मिलता है। 'भ' का यह रूप तो कुषाणकाल में ही विकसित हो चुका था। इस पर 'उ' की मात्रा नवीन प्रकार से लगायी गयी है (संख्या २, ११)। 'म' अक्षर में दूसरा 'म' मिलाने का सुन्दर उदाहरण 'म' के संख्या ५ का अक्षर देखिए। इसमें एक 'म' के ऊपर दूसरा अक्षर बना कर 'रकार' तथा 'आ' की मात्रा पृथक् लगायी गयी है। 'म' के प्राचीन तथा नवीन दोनों ही रूप गुप्तकाल में विद्यमान रहे। प्लेट १४ में देखने से पता चलता है कि 'य' तथा 'र' के आकार में कोई परिवर्तन नहीं आया है। केवल नवीन रूप 'र' में दीर्घ 'ऊ' की मात्रा है। (संख्या ७) इसमें 'क' अक्षर के नीचे एक पाई और लगायी गयी है। 'ल' के रूपों में संख्या १ व २ के रूप नये हैं।

'व' के अक्षर में मात्रा और रकार लगाने की विधि अक्षर ३ में देखिए। यह इलाहाबाद शिलालेख में मिलती है।

तालव्य 'श' की बनावट में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। उसमें 'इ' की मात्रा मिलाने का यह तरीका गुप्तकाल में ही विशेष तौर से प्रचलित हुआ (संख्या ६ व ७)। यहां पर आप नागरी लिपि की श्री का ब्राह्मी से मिलान कर सकते हैं। मूर्धन्य 'ष' बहुत कुछ नागरी का सा हो गया है (देखिए संख्या १ व २) किन्तु इस अक्षर में 'आ' की मात्रा तथा र कार मिलाने का प्रकार संख्या २ में देखिए। इस काल में 'स' का भी एक नया रूप हमारे सामने आया। इसमें पृथक्

पृथक् वृत्तों को मिला कर बनाने के स्थान पर एक ही रेखा को बिना हाथ उठाये बनाया गया है (देखिए संख्या ३)। इस काल में यद्यपि नवीन अक्षरों का प्रणयन हुआ किन्तु पहले के अक्षर भी प्रयोग में आते रहे जो कि गुप्तकाल के भिन्न-भिन्न लेखों में प्रयोग किये गये हैं। मथुरा के गुप्तकालीन लेखों में हमें नागरी अक्षर का 'स' देखने को मिलता है। लिपिकार ने इस पर 'ए' की मात्रा बड़े यत्न से लगायी है। 'ह' के दो रूप सामने आते हैं—पहला उदाहरण आप प्लेट नंबर १६ के अक्षर संख्या १, २, ३, ४ के अक्षरों में देखिए। इस अक्षर का उदाहरण संख्या ५, ६, ७, ८, ९ है जो कि कुषाणकाल से चलता आया है। 'ज्ञ' के अक्षर की बनावट में और अधिक पूर्णता आई है। इस पर 'आ' की मात्रा कई प्रकार से लगायी गयी है (संख्या १ व ५) समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के शिलालेख से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में उत्तर प्रदेश में 'क' का भी व्यवहार होता था। प्रमाणस्वरूप अक्षर संख्या १२, १३ देखिए।

संयुक्ताक्षर

गुप्तकाल में संयुक्ताक्षरों की बनावट में अधिक शालीनता आयी। संख्या १ में 'ज' में दूसरा 'ज' मिला कर ऊपर से 'आ' की मात्रा लगायी गयी है। इस समय अक्षरों को मिलाने में नागरी की तरह आधा करने का भी व्यवहार होने लगा। उदाहरणार्थ १५ संख्या के अक्षर को देखिए। इसमें 'ल' को 'म' अक्षर में आधा मिला कर 'आ' की मात्रा लगायी गयी है। संख्या २४ में 'प' में आधा 'त' मिलाया गया है, जो आधुनिक नागरी से एकदम मिल गया है। श्री का दूसरा रूप संख्या १० में देखिए। इसमें 'इ' की मात्रा को केवल एक रेखा वृत्ताकार बनाया गया है। 'क' अक्षर में 'त' मिलाने का उदाहरण संख्या १३ में देखिए। यहां पहले ध्वनित होने वाला अक्षर ऊपर बाद को ध्वनित होने वाला अक्षर नीचे बनाया गया है। गुप्तकालीन लिपि में जहां हमें पूर्णता प्रतीत होती है वहां कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से बड़ी दुरूह भी हो गयी है। उदाहरणार्थ मथुरा के गुप्तकालीन जैन लेखों के निम्नलिखित अक्षरों को देखिए :

"संम्वतसरे सप्तपंचाश हेमन्धतितो"

इसी प्रकार जैन लेखों के अक्षरों की दुरूहता का एक और उदाहरण देखिए। यह लेख लगभग पांचवीं शती का है।

सम्वत्सरे

इस प्रकार अक्षरों को सुन्दर, संतुलित तथा श्लिष्ट बनाने के साथ-साथ दुरूह करने का भी प्रयत्न किया गया। अक्षरों की लम्बाई-चौड़ाई, आकार-प्रकार, मात्राओं का मिलाना तथा संयुक्ताक्षरों को शेष अक्षरों के साथ संयोजित करने में लिपिकारों ने अप्रतिहत परिश्रम किया था। शब्द-माधुर्य के साथ काव्य का सौष्ठव तथा लिपि के चित्रात्मक परिष्करण का उदाहरण हमें गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के इलाहाबाद लेख की निम्नलिखित पंक्तियों को देखने को मिल सकता है :

निरोध परिमोक्ष शीघ्रमिव पाण्डु गाङग (पयः)

पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा—

उत्तर प्रदेश के इस लिपि-विकास का भारत के अन्य प्रान्तों पर भी प्रभाव पड़ा। समस्त भारत की लिपियों पर उस समय गुप्तलिपि का प्रभाव स्पष्ट है। यद्यपि इस समय प्रत्येक स्थान पर अपनी-अपनी प्रान्तीय लिपियों का स्वरूप स्पष्ट हो गया था तथापि उनमें इतना अन्तर नहीं पड़ा था जितना आज है। गुप्तलिपि वास्तव में नागरी तथा ब्राह्मी लिपियों

का संगम कही जा सकती है। इस काल में अनेक अक्षर नागरी के आधुनिक स्वरूप में आ गये और इसके पश्चात् कुटिल तथा नागरी लिपि का प्रादुर्भाव हुआ।

नोट—लेखक पुरातत्त्व व प्राचीन इतिहास विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के आचार्य तथा अध्यक्ष ड रमणलाल नागरजी महेता का आभारी है, जिनके आदेशानुसार इस लेख की प्लेटें तैयार हुई तथा सर्वश्री रां खत्री व बेडेकर ड्राफ्टमैन का भी आभारी है, जिन्होंने लेखक के निर्देशानुसार ये प्लेटें बना कर तैयार कीं।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के जौनपुर की वास्तुकला

श्री दिनेश बिहारी त्रिवेदी, एम० ए०
प्राध्यापक इतिहास विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

तुगलक साम्राज्य के खंडहरों से चौदहवीं शताब्दी के अंत में तथा पंद्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत के विभिन्न भागों में अनेक स्वतंत्र राज्यों का जन्म हुआ। ये राज्य कालांतर में काफी शक्तिशाली तथा अर्थ-सम्पन्न हो गये और कला तथा संस्कृति के गढ़ बन गये। इन्हीं राज्यों में एक जौनपुर का राज्य था। यह शर्की वंश के शासन में कलाओं तथा विद्या का इतना अनुपम केन्द्र बन गया कि जौनपुर को भारत का शिराज कहा जाने लगा।

जौनपुर नगर की स्थापना सन् १३५९-६० ई० में सुल्तान फिरोजशाह तुगलक ने की थी। उसको, जब वह बंगाल के विरुद्ध दूसरे अभियान पर जा रहा था, वर्षा ऋतु के कारण ६ मास जफराबाद में विश्राम करना पड़ा था। समकालीन इतिहासकार, शम्स सिराज अफीफ, के कथनानुसार, "जब फिरोजशाह वहां (जफराबाद) पहुंचा तो उसने उस स्थान को बड़ा सुन्दर पाया। उसने हृदय में सोचा यहां पर एक बहुत बड़ा नगर बसाना चाहिये। फिरोजशाह ६ मास तक जौनपुर में रहा तथा कोदी (गोमती) नदी के तट पर एक बहुत बड़ा नगर बसाया और उसका नाम सुलतान मुहम्मद तुगलक के नाम पर रखा। सुलतान मुहम्मद का नाम जोना था। इसी कारण उसका नाम जोनापुर रक्खा।"[1] जौनपुर के इस प्रारम्भिक काल के केवल दो स्मारक आज विद्यमान हैं। उन में से एक सन् १३७६ ई० में निर्मित दुर्ग है। इसका अब केवल पूर्वी द्वार ही शेष है। बाकी दुर्ग ध्वस्त हो चुका है। दूसरी इमारत किले की मस्जिद है। इसका निर्माण सन् १३७७ ई० में हुआ था। इन दोनों इमारतों का निर्माता इब्राहिम नायब बारबक था। इन दोनों की निर्माण सामग्री प्राचीन हिन्दू मंदिरों को तोड़ कर प्राप्त की गयी थी। इनकी वास्तु शैली जौनपुर की शैली की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था है। जौनपुर की मस्जिदों के एक विशिष्ट अंग, गोपुर[2], की कुछ झलक दुर्ग के द्वार में मिलती है। ये दोनों इमारतें अत्यन्त साधारण कोटि की तथा नीरस हैं।

तैमूर के आक्रमण के उपरान्त, जब दिल्ली-सल्तनत की शक्ति क्षीण हो गयी तो ख्वाजा जहां मलिक सरवर ने जो जौनपुर का प्रांतपति था तथा जिसे सुलतान महमूद शाह तुगलक ने मलिकुश्शर्क अथवा पूर्व के नायक की उपाधि दी थी, अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। कला, साहित्य, तथा विद्वत्ता के संरक्षक के रूप में जौनपुर के सुलतानों में शम्सुद्दीन इब्राहिम शाह शर्की (सन् १४०२-१४३६) का नाम अग्रगण्य है। तबकाते अकबरी के रचयिता ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद ने इब्राहिम शाह द्वारा कलाविज्ञों तथा विद्वानों को आश्रय देने के विषय में लिखा है, "आलिम[3] तथा सम्मानित व्यक्ति जो संसार की अव्यवस्था के कारण कष्ट में थे, जौनपुर, जो दारुल अमान[4] था, पहुंच गये और वह राजधानी आलिमों के

१—डा० सै० अ० अ० रिजवी द्वारा अनूदित तुगलक कालीन भारत, भाग २, तारीखे फिरोजशाही, पृ० ८१।

स्थानीय हिन्दू परम्पराओं और किम्वदंतियों के अनुसार प्राचीन काल में जौनपुर परशुराम का नगर था और उसका नाम जमदग्निपुर था। बाद में इसका नाम बिगड़ कर जमनपुर, तथा जमनपुर से जौनपुर हो गया। कुछ लोगों का मत यह भी है कि प्राचीन शक राजाओं का नगर होने के कारण इसका नाम यवनपुर था जो कालान्तर में जौनपुर हो गया। पर किसी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में ये परम्पराएं अविश्वसनीय हैं।

२—Pylon

३—मुसलमान विद्वान्

४—शान्ति का घर

चरणों के आशीर्वाद से दारुल उलूम[1] बन गया।"[2] उसके काल में तैमूर के आक्रमण के फलस्वरूप दिल्ली का वैभ छिन्न-भिन्न हो गया था। दिल्ली के विद्वान् तथा कलाकार योग्य आश्रय की खोज में इधर-उधर जा रहे थे। ऐसे हं व्यक्तियों के साथ वास्तुकला के चतुर शिल्पी भी जौनपुर आ गये थे। अतएव तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि जौनपुर क १५वीं शताब्दी की वास्तुकला तुगलुक स्थापत्य शैली से अत्यन्त प्रभावित है। जौनपुर के तत्कालीन भवनों की अनेव विशेषताएं जैसे मेहरावों की चतुर्केन्द्रीय[3] रचना, मेहरावों के साथ-साथ उन के नीचे धरण[4] का प्रयोग, मेहरावों के किनारं पर कमल की कलियों की लड़ी सरीखा अलंकार, गोपुर की ढलुआं[5] बाहरी दीवालें, मस्जिद के बाह्य कोणों[6] पर ढलुअ बुर्ज[7] आदि तुगलुक सुलतानों की इमारतों से ही प्राप्त की गयी हैं।

अटाला मस्जिद इब्राहिम शाह की वास्तुकला की परिष्कृत रुचि का स्मारक है।[8] इस मस्जिद की नींव १३७८ ई० में रखी गयी थी पर इसका निर्माण इब्राहिम शाह ने कराया था। जिस स्थान पर अटाला मस्जिद बनी है वहां पर पहले एक प्राचीन अटाला देवी का मंदिर था। उसको ध्वस्त कर के अटाला मस्जिद बनायी गयी थी। इसके बनाने के लिये पत्थर उसी मंदिर के ध्वंसावशेषों से तथा आस-पास के मंदिरों से प्राप्त किये गये थे। यह मस्जिद शर्की स्थापत्य का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें प्रयुक्त विशेषताएं शर्की वंश द्वारा निर्मित अन्य सभी मस्जिदों की आवश्यक अंश बन गयीं। यह मस्जिद यद्यपि आकार में बड़ी नहीं है, फिर भी अपने विभिन्न अंगों के उत्तम संतुलन और सतेज, स्वस्थ एवम् सशक्त शैली के कारण यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके शिल्पियों की कलापूर्ण साहसिकता समकालीन जौनपुर के जागरूक बौद्धिक वातावरण को प्रदर्शित करती है। जैसा कि मस्जिदों की परंपरा है, इसके प्रांगण के उत्तर, पूर्व और दक्षिण की ओर पांच खंड गहरी दहलीजें[9] हैं जिनमें विद्वानों के आवास हेतु छोटी-छोटी कोठरियां बनी हैं। इन दहलीजों के मध्य में, प्रत्येक दिशा में एक-एक भव्य प्रवेश-द्वार है, जिनमें पूर्वी द्वार सब से बड़ा है। इन दहलीजों की निर्माण पद्धति प्राचीन भारतीय है। पर जौनपुर के शिल्पियों की प्रायोगिक बुद्धि का चमत्कार तो प्रांगण के पश्चिम की ओर स्थित प्रार्थना कक्ष के मुहार[10] में देखने को मिलता है। उसके निर्माण में उन्होंने उच्च कोटि की कलात्मक प्रतिभा एवम् मौलिक सूझ का परिचय दिया है। इस मुहार के साथ में उन्होंने एक उच्च गोपुर[11] बनाया है। इस मुख्य गोपुर के दोनों पार्श्वों में दो छोटे-छोटे गोपुर बनाये गये हैं। फलतः दर्शकों को, कुल मिला कर, कुशलतापूर्वक व्यवस्थित संतुलन तथा लयबद्धता का आभास होता है।[12] यह गोपुर मुख्य मुहार से कुछ बाहर निकले हैं। फलतः प्रकाश पड़ने पर धूप और छांह का मनोरम तथा कलात्मक दृश्य उत्पन्न हो जाता है। जौनपुर की इस युग की समस्त मस्जिदों में गोपुर का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यह जौनपुर की स्थापत्य योजना का विशिष्ट अंग बन गया है। गोपुर के प्रयोग में एक दोष है। भवन निर्माण शिल्प का एक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि भवन के विभिन्न अंगों में तर्कसम्मत संबंध होना चाहिये। गोपुर का निर्माण इस नियम का उल्लंघन करता है, क्योंकि इसके पीछे इमारत का एक आवश्यक अंग, गुम्वद, छिप जाता है।[13]

गोपुर की उत्पत्ति के विषय में वास्तुकला के मर्मज्ञों में काफी मतभेद हैं। हैवेल का मत है कि इसके निर्माण का विचार दक्षिणी भारत के मंदिरों के गोपुरम्[14] से प्राप्त किया गया है। पर इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, क्योंकि यातायात के उत्तम साधनों के अभाव में उन दिनों दक्षिणी भारत की यात्रा दुष्कर था। इन गोपुरों का स्वरूप दक्षिणी भारतीय गोपुरम् से कुछ साम्य अवश्य रखता है पर इतना नहीं कि निश्चित मत प्रतिपादित किया जा

१—विद्या का केन्द्र

२—डा० रिजवी द्वारा अनूदित उत्तर तैमूरकालीन भारत, भाग २, पृ० ४

३—Four-centred arches

४—Lintel या beam

५—Sloping या tapered

६—Quoins

७—Turrets

८—Fuhrer, A. Tho Shirqi Architecture of Jaunpur, pp. 38.

९—Five bays deep cloisters.

१०—Facade

११—Pylon

१२—फर्सी ब्राउन, इंडियन आर्कीटेक्चर (इस्लामिक पीरियड), पृ० ४४

१३—वही, पृ० ४५

१४—दक्षिणी भारतीय मन्दिरों के सिंहद्वारों को गोपुरम् कहा जाता है।

सके। गोपुरम् पूर्ण भवन होते थे जब कि जोनपुर में गोपुर का प्रयोग केवल अलंकार के रूप में ही मिलता है। फ्यूहरर ने इस विषय में कहा है कि जौनपुर के शिल्पी प्राचीन मंदिरों की उपलब्ध सामग्री के आकार की परिसीमाओं के कारण मस्जिद के प्रार्थना कक्षों की ऊंचाई गुम्बद की इच्छित ऊंचाई के अनुपात में बनाने में असमर्थ थे। जिससे असंतुलित भवन दिखाई देता था। अतः उन्होंने गुम्बद के सम्मुख दोनों ओर दो ऊंचे चौकोर प्रस्तम्भ[1] बना कर उनको मेहराब से जोड़ दिया।[2] पर फ्यूहरर स्वयम् इस उपपत्ति की सीमाओं को समझता था। उसने स्वीकार किया है कि जफराबाद की एक सन् १३११ ई० में बनी मस्जिद में, गुम्बद न होते हुए भी, गोपुर का आदिरूप मिलता है। फ्यूहरर का यह मत केवल अटकल ही प्रतीत होता है। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि अटाला मस्जिद के निर्माण में योजना का अभाव था। पर पूरी रचना को देखने पर प्रतीत होता है कि वह पूर्णतया सुनियोजित है। किसी भी अंग के निर्माण में शिल्पी द्विविधाग्रस्त नहीं दिखाई देता है। गोपुर की उत्पत्ति की, कदाचित्, सब से उचित व्यवस्था पर्सी ब्राउन ने दी है। उसके मतानुसार दिल्ली के शिल्पियों का विस्तृत अनुभव और जौनपुर के स्थानीय हिन्दू शिल्पियों की निर्माण बुद्धि का सम्मिलन ऐसी मौलिक रचना करने में समर्थ थी।[3] पर्सी ब्राउन ने एक और अनुमान प्रस्तुत किया है। उसका कहना है कि गोपुर का आकार दुर्ग के सिंहद्वारों के समान है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि इस्लाम धर्म के प्रारम्भिक विकास एवम् प्रसार के काल में उसके अनुयायियों को काफी युद्ध में प्रवृत्त रहना पड़ता था। दुर्ग उनके रक्षा तथा प्रसार के केन्द्र थे। अतः दुर्ग तथा उसके द्वार उनके अचेतन मन में रम गये थे। यही अचेतन मन में पड़ी हुई परम्परा मस्जिदों के गोपुर के रूप में उमड़ आयी है।[4] पर गोपुरों के निर्माण की इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या को प्रमाणित करना कठिन है। यह केवल अनुमान ही है। गोपुर की उत्पत्ति चाहे कुछ भी हो पर यह शिल्पियों का एक अत्यन्त सफल प्रयोग है।

अटाला मजिस्द की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण जौनपुर की वास्तुकला की एक अन्य विशेषता उस पर हिन्दू तथा बौद्ध स्थापत्य की स्पष्ट छाप है। ई० बी० हैवेल ने जौनपुर की मस्जिदों के विषय में कहा है, "वे हिन्दू तथा मुसलमान स्थापत्य के आदर्शों का रोचक तथा मौलिक समन्वय प्रस्तुत करती हैं।"[5] यह हिन्दू कला का प्रभाव जौनपुर की निर्माण शैली तथा अलंकरणों, दोनों, पर स्पष्ट है। भारत में अन्य स्थानों की भांति जौनपुर के शासकों को स्थापत्य के क्षेत्र में हिन्दू शिल्पियों पर आश्रित होना पड़ा था। जौनपुर की सारी मस्जिदें अधिकतर हिन्दू कारीगरों की ही कृति हैं। अटाला मस्जिद के द्वार पर 'सूत्रधार षातुमान' तथा उसके पुत्र 'विसैहवा' का नाम अंकित है। लाल दरवाजा मजिस्द में 'विसदु सुत कमऊ शिल्पी' उत्कीर्ण है। ये तीनों ही शिल्पी हिन्दू हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक मस्जिद पर हिन्दू कारीगरों के शिल्पी चिन्ह अंकित हैं। इन लोगों ने कुछ मुसलमान स्थापत्य की विशेषताओं, जैसे गुम्बद, मेहराब, और ज्यामितीय अलंकरण अपना लिये हैं। पर उनकी रचना को प्रेरणा प्राचीन भारतीय कला से प्राप्त की गयी है। अटाला मजिस्द की दहलीजों को देख कर एक मर्मज्ञ, बैरन ह्यूगेल यह समझ बैठा था कि किसी प्राचीन बौद्ध मठ को ही मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया है।[6] अन्य हिन्दू विशेषताएं जो जौनपुर की सारी मस्जिदों में प्रयुक्त हैं, सपाट छतें, दहलीजों और प्रार्थना कक्ष में धरण तथा टेक[7] का प्रयोग हैं। हिन्दू शिल्पियों ने, जो मेहराब बनाने के नये उपाय[8] में पूर्ण विश्वास नहीं रखते थे, मेहराब के साथ-साथ नीचे भारी आकार की धरणों का प्रयोग किया है। इस प्रकार मेहराब का उपयोग अलंकार मात्र का ही रह गया है। उत्कीर्ण विभूषणों में हिन्दू प्रभाव विशेष रूप से अधिक है। इनमें कमल, पुष्पाकार चक्र और मेहराबों के किनारों पर कमल की लड़ियों का बहुधा प्रयोग किया गया है। जंजीर, जिसके मध्य में एक चक्र पर 'अल्लाह' अंकित है में बंधी घंटी तो स्थान-स्थान पर उत्कीर्ण है।

अटाला मजिस्द की अन्य विशेषता, जो जौनपुर की सारी मजिस्दों में प्रयुक्त है, उसकी पश्चिम के ओर

१—Pier.

२—ए० फ्यूहरर, दि शर्की आर्कीटेक्चर ऑव जौनपुर।

३—पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्कीटेक्चर (इस्लामिक पीरियड), पृ० ४७।

४—वही, पृ० ४७।

५—ई० बी० हैवेल, हैंडबुक ऑव इंडियन आर्ट, पृ० ११९।

६—जेम्स फर्ग्यूसन, हिस्ट्री ऑव इंडियन एंड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर, पृ० ५२१ और ५२४।

७—Beam and bracket.

८—मेहराब, गुम्बद और डाटदार छतों का प्रयोग भारत में प्रथम बार मुसलमानों ने आरम्भ किया था। प्राचीन भारतीय स्थापत्य में इनका प्रयोग नहीं होता था। प्राचीन काल में सपाट छतें, शिखर और धरण तथा टेकों की सहायता से निर्मित द्वारों का प्रयोग होता था।

की बाहर की दीवाल का निर्माण है। उसमें कोई द्वार नहीं हो सकता। अतः उसको कलात्मक बनाने की समस्या मुसलमान निर्माताओं के सामने सदैव रहती थी। जौनपुर के कारीगरों ने इसका उत्तम हल निकाला है। इस दीवाल की एकरसता भंग करने के लिये किबला की ओर बने मेहराबदार ताखों की पिछली दीवालें उस दीवाल से निकली बनायी गयी हैं उनके कोनों पर तथा मस्जिद के बाह्य कोणों पर ढलुआं बुर्ज बनाये गये हैं। इस तरह मस्जिदों की पिछली दीवालें काफी कलात्मक बन गयी हैं।

अटाला मजिस्द के प्रार्थना कक्षों की भीतरी बनावट भी बड़ी सुनियोजित है। मध्य का मुख्य हाल आयताकार है जिसके ऊपर एक ऊंचा गुम्बद है। इसकी दीवालें ऊंचाई में तीन खंडों में विभक्त हैं और प्रत्येक खंड मेहराबों से अलंकृत है। जौनपुर की सभी मस्जिदों में मिम्बर[1] काफी ऊंची बनायी गयी है। इस मुख्य कक्ष के दोनों ओर दो लम्बे लम्बे स्तम्भयुक्त हाल हैं जिनके मध्य में एक एक गुम्बद से आच्छादित अष्ट भुजाकार कक्ष है। जौनपुर की सभी मस्जिदों में एक बात ध्यान देने योग्य है। इनमें महिलाओं की धार्मिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर प्रार्थना कक्षों में महिलाओं के लिए अलग कक्षों की व्यवस्था है। अटाला मजिस्द में यह प्रबन्ध प्रार्थना कक्ष के उत्तरी तथा दक्षिणी सिरों पर है। लाल दरवाजा मजिस्द में यह व्यवस्था प्रार्थना कक्ष के मध्य के मुख्य हाल के दोनों ओर की गयी है, क्योंकि इसका निर्माण एक महिला, बीबी राजी, ने करवाया था। जामा मजिस्द में भी ये कक्ष मध्य में ही रखे गये हैं। प्रार्थना कक्षों के निर्धारित भागों को दो मंजिलों में विभक्त कर के ऊपरी मंजिल में महिला कक्ष बनाये गये हैं और परदे के प्रबन्ध के हेतु उसको पत्थर की जाली से बन्द कर दिया गया था।

इब्राहिमशाह के शासनकाल में निर्मित दो अन्य मस्जिदें आजकल विद्यमान हैं। उनमें से एक मलिक खालिस तथा मुखलिस द्वारा निर्मित खालिस-मुखलिस मस्जिद है। इसके विभिन्न अंग अटाला मस्जिद की पद्धति पर बनाये गये हैं। पर इसमें अलंकारों के प्रयोग न होने के कारण यह मजिस्द निस्तेज, शुष्क एवम् सरल है। दूसरी मस्जिद झंझरी मजिस्द है। इसके मुहार का केवल मध्य भाग ही आजकल शेष है। यह भाग अत्यन्त अलंकृत है। इसके विद्यमान भाग को देख कर यह कहना कठिन है कि इसका मूल स्वरूप क्या रहा होगा।

इब्राहिम शाह के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र महमूद शाह को जौनपुर का राज्य प्राप्त हुआ।[2] उसकी महत्त्वाकांक्षिणी तथा योग्य रानी बीबी राजी ने १४५० ई० के लगभग लाल दरवाजा मस्जिद का निर्माण करवाया। यह मजिस्द, ऐसा प्रतीत होता है, राजप्रासाद का भाग थी। यह मजिस्द काफी छोटी है और अटाला मजिस्द की ही पद्धति पर बनायी गयी है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें केवल एक गोपुर है, जो मुहार के मध्य में स्थित है तथा, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, महिला कक्ष मध्य के हाल के पार्श्व में बनाये गये हैं। यह मस्जिद बड़ी संतुलित तथा सुन्दर है और इसके विभिन्न अंगों का विन्यास प्रभावोत्पादक है। इस मजिस्द के ऊपर हिन्दू स्थापत्य का प्रभाव अन्य मस्जिदों की अपेक्षा अधिक प्रचुर है।

जौनपुर की मस्जिदों का श्रेष्ठ तथा अन्तिम उपलब्ध उदाहरण महमूदशाह के पुत्र हुसेनशाह के राज्यकाल में निर्मित जामी मस्जिद है। इसकी नींव सन् १४३८ ई० में रखी गयी थी पर इसका निर्माण मुख्यतः हुसेनशाह ने करवाया था। उसीके शासनकाल में सन् १४७० ई० के आस-पास यह पूर्ण हुई थी। इसके पूर्वी द्वार पर 'मजिस्द जामी-उश्-शर्क' उत्कीर्ण है। इस लेख के समस्त अक्षरों की निर्धारित संख्या जोड़ने पर जो वर्ष संख्या आती है वह ईसवी वर्ष के अनुसार १४४८ है।[3] यह मस्जिद जौनपुर की सबसे विशाल तथा महत्त्वाकांक्षी कृति है। इसका निर्माण आस-पास की भूमि की अपेक्षा १६ से २० फीट ऊंची कुर्सी पर किया गया है। इसके मुख्य अंग तथा विशेषताएं अटाला मस्जिद के समान हैं। प्रांगण के पूर्व, उत्तर तथा दक्षिण ओर की दहलीजें इसमें केवल दो खंड गहरी हैं। इस मजिस्द की एक विशेषता यह है कि इसमें एक नया प्रयोग किया गया है। इसके मुहार में गोपुर केवल मध्य में निर्मित है। इसके दोनों ओर छोटे गोपुरों के स्थान पर मेहराबदार द्वार हैं। प्रार्थना कक्षों के मध्य के हाल के दोनों पार्श्व के कक्षों को गुम्बद से आच्छादित नहीं किया गया है। ये दोनों कक्ष लम्बे तथा आयताकार हैं। उनकी छतों को नुकीली डाटदार[4] निर्मित किया गया है।

१—मिम्बर उस चौकी को कहते हैं जिस पर खड़े होकर शुक्रवार की नमाज के समय खुतबा पढ़ा जाता है और धार्मिक विद्वान् प्रवचन करते हैं।

२—रिजवी द्वारा अनूदित उत्तर तैमूरकालीन भारत, भाग २, तबकाते अकबरी, पृ० ६।

३—प्राचीन काल में मुसलमान शिल्पी निर्मित भवन की निर्माण तिथि अंकित करने के लिये इस उपाय का बहुधा प्रयोग करते थे। अरबी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर की एक नियत संख्या होती थी। भवन के किसी मुख्य भाग पर एक लेख उत्कीर्ण कर दिया जाता था जिसके अक्षरों की संख्याओं का योग निर्माण तिथि की वर्ष संख्या के समान होता था।

४—Pointed vaulted roofs.

इस प्रकार की छतों के कारण हाल के ५० फीट लम्बे तथा ४० फीट चौड़े होते हुए भी उसके भीतर स्तम्भों का पूर्ण अभाव है और प्रार्थियों तथा दर्शकों के सम्मुख व्यवधान उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार की छत का निर्माण भारतीय मुसलमानी स्थापत्य में सर्वथा नवीन और सफल प्रयोग है। परन्तु इन दो डाटदार छतों और मुहार के अन्य तत्त्वों, जैसे गोपुर में शिल्पी पूर्ण सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाये। फलतः मुहार का स्वरूप कुछ उखड़ा उखड़ा तथा संशयग्रस्त लगता है। इस दोष के कारण यह मस्जिद एक साधारण योग्यता की इमारत रह जाती है।

हुसेनशाह शर्की को लोदी सुलतान बहलोल ने पराजित कर के उसके राज्य को छीन लिया था तथा हुसेनशाह को जौनपुर से भाग जाना पड़ा था। उसके बारम्बार राज्य की पुनर्प्राप्ति के प्रयत्नों से क्रुद्ध होकर द्वितीय लोदी सुलतान सिकंदर ने जौनपुर से शर्की राज्यवंश के प्रत्येक चिन्ह को मिटा देने का संकल्प किया। उसने मस्जिदों को छोड़ कर हर प्रकार के शर्की भवनों को ध्वस्त कर दिया। कहा जाता है कि वह मस्जिदों को भी भूमिगत करवानाच ाहता था तथा जामी मस्जिद के पूर्वी द्वार को गिरवाना आरम्भ भी कर दिया था। पर धार्मिक विद्वानों के हस्तक्षेप करने पर उसने मस्जिदों को छोड़ दिया। इसी वजह से आजकल जौनपुर के शर्की वंश के स्मारक के रूप केवल मस्जिदें ही विद्यमान हैं।

भारत में प्रत्येक स्थान पर मुसलमानों के स्थापत्य संबंधी कार्यों की तीन विशिष्ट अवस्थाएं हैं। प्रथमतः वे प्राचीन भारतीय भवनों का विनाश करते थे। द्वितीय अवस्था में पुराने ध्वस्त भवनों के पत्थरों से वे अपने भवनों का निर्माण करते थे। तृतीय तथा अंतिम अवस्था में ही वे अपने भवनों का निर्माण सर्वथा ताजी सामग्री से करते थे। इस अवस्था में ही उनकी वास्तुकला का स्वतंत्र विकास होता था और वह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचती थी। जौनपुर की स्थापत्य कला का विकास द्वितीय अवस्था में ही अवरुद्ध हो गया। भविष्य में विकास के उच्चतम स्तर पर पहुंचने के सभी साधन एवम् सम्भावनाएं जैसे—शिल्पियों की कार्य-कुशलता, निर्माताओं की प्रखर कल्पना शक्ति, प्राचीन भारतीय तथा इस्लामी स्थापत्य में गहरी पैठ, जौनपुर का प्रेरणादायक बौद्धिक तथा सांस्कृतिक वातावरण और प्रबुद्ध राज्याश्रय इत्यादि जौनपुर में उपलब्ध थीं। परन्तु जौनसुर के स्वतंत्र राज्यवंश के पतन के कारण वास्तुकला की यह प्रबल धारा अनायास ही सूख गयी। फिर भी भारतीय-मुसलमानी स्थापत्य शैलियों में जौनपुर शैली को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

१८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम

डा० रामसागर रस्तोगी, एम० ए०, पी-एच० डी०
लखनऊ विश्वविद्यालय।

भारतीय इतिहास में १८५७ की क्रान्ति एक महान् और महत्त्वपूर्ण घटना है। यह क्रान्ति अंग्रेजों के सौ वर्ष के अत्याचार एवं शोषण का परिणाम थी। चारों ओर बढ़ते हुए असन्तोष ने १८५७ में एक ऐसा विकराल रूप धारण कर लिया कि उत्तरी भारत का बहुत बड़ा भाग अंग्रेजी साम्राज्य को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया। हिन्दू, मुसलमानों तथा अन्य धर्मावलम्बियों ने पारस्परिक मतभेद तथा व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर, कन्धे से कन्धा मिलाकर विदेशी सत्ता को एकबारगी मिटा देने के लिए, जीवन की बाजी लगा दी और बलिदानों से वह ज्योति प्रज्वलित की जो भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास में सदैव अमर रहेगी।

उत्पत्ति की दृष्टि से १८५७ की क्रान्ति केवल सैनिक-विद्रोह था अथवा ब्रिटिश साम्राज्य को विनष्ट करने वाला संगठित षड्यंत्र का विस्फोट; इस पर अलग-अलग मत हैं। जिन लोगों का सम्पर्क सीधे आन्दोलन से था उन्होंने भी इस विषय पर विरोधी विचार प्रकट किये हैं। सर जान लारेंस के अनुसार, 'यह सैनिक विद्रोह को छोड़कर और कुछ भी नहीं था और इसका तात्कालिक कारण कारतूस की घटना थी।' सर जेम्स आऊटरम का विचार था, "विद्रोह ऐसे मुसलमान षड्यंत्र का फल था जिसमें हिन्दू सिपाहियों का उपयोग अपने लाभ से किया गया था।" कुछ लेखकों का कथन है, 'यह संघर्ष वास्तविक रूप में जन-आन्दोलन था न कि केवल सिपाही विद्रोह।' अन्य का मत है, 'यह संघर्ष मुख्यतया सिपाही विद्रोह था यद्यपि कुछ स्थलों में जन-आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया था।' ये भिन्न-भिन्न मत जान ब्रूस नार्टन (John Bruce Norton) तथा चार्ल्स रेक्स (Charles Raikes) द्वारा क्रमशः १८५८ के विज्ञापन में व्यक्त किये गये हैं। एडिन्बर्ग रिव्यू (अप्रैल १८५९) में छपे हुए लेख से प्रकट होता है, "केवल अवध को छोड़कर यह संघर्ष पूर्णतया सिपाही विद्रोह था और इसे जन-समुदाय का सहयोग प्राप्त न था।" 'दि टाइम्स' समाचार पत्र से प्रकट होता है, "यह संघर्ष केवल सिपाही विद्रोह था।" इसके विपरीत ब्रिटिश इतिहासकार डफ, मेलिसन, के और बाल ने जान ब्रूस नार्टन के मत का समर्थन करते हुए कहा है, "१८५७ का संघर्ष अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का एक संगठित प्रयत्न था।"

आधुनिक प्रसिद्ध इतिहासकार आर० सी० मजूमदार का मत है, "१८५७ का संघर्ष, घटना-चक्र क्रान्ति न था वरन् कुछ असन्तुष्ट सिपाहियों का विद्रोह था और पीछे से उसको भड़काने में ऐसे सामन्तों और राजाओं ने साथ दिया जिनके स्वार्थों को कम्पनी की नीति से आघात पहुंच रहा था।" वी० डी० सावरकर का कथन है, "१८५७ का संघर्ष प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम था।" आधुनिक अनुसन्धानों से यह प्रकट होता है कि १८५७ के संघर्ष को केवल 'सिपाही विद्रोह' अथवा 'प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम' कहना असंगत एवं अन्यायपूर्ण होगा। यह सत्य है कि सैनिकों का इस संघर्ष में विशेष हाथ रहा है। विश्व इतिहास में बहुधा हिंसात्मक युद्ध एवं राजनीतिक क्रान्ति, सैनिकों की सहायता से हुए हैं। १८५७ की क्रान्ति का प्रारम्भ भी सैनिकों द्वारा हुआ है। यह कहना अनुचित न होगा कि १८५७ की क्रान्ति ने जन-जीवन में विदेशी सत्ता के विरुद्ध स्वदेशी शासन स्थापित करने की चेतना जाग्रत की थी। यद्यपि यह क्रान्ति सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में विस्तृत न हो सकी किन्तु फिर भी सैनिकों का जनता के सहयोग से, अंग्रेजी सत्ता के स्थान पर स्वदेशी शासन स्थापित कर लेने का सर्वप्रथम प्रयास था। हो सकता है कि इस क्रान्ति में हिस्सा लेने वालों के ध्येय तथा दृष्टिकोण भिन्न भिन्न रहे हों और व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के हेतु अंग्रेजी शासन को हटाने का प्रयत्न किया हो, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक स्वतन्त्रता सेनानी के सम्मुख अंग्रेजी शासन के स्थान पर भारतीय शासन स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य था। वे फिरंगी राज्य को घृणा और असन्तोष की दृष्टि से देखते थे। अतः १८५७ की क्रान्ति केवल चन्द सिपाहियों, सामन्तों,

ताल्लुकेदारों, राजाओं और स्वार्थियों का विद्रोह न होकर, भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था, जिसका मुख्य उद्देश्य भारत-भूमि को विदेशी दासता से मुक्त करना था।

स्वतन्त्रता संग्राम के कारण

स्वतंत्रता संग्राम के कारणों का अध्ययन करते समय मस्तिष्क में अनेकों प्रश्न उठते हैं। क्या यह सिपाहियों के असन्तोष का एक सहज विस्फोट था या कुशल राजनीतिज्ञों द्वारा नियंत्रित एक पूर्व-विचारित विद्रोह ? क्या वह सेना तक ही सीमित एक गदर था या उसे विस्तृत रूप से जनता का समर्थन भी प्राप्त था ? क्या वह ईसाइयों के विरुद्ध एक धार्मिक युद्ध था या सर्वोच्च सत्ता के लिए काले और गोरे लोगों का एक जातीय संघर्ष ? क्या इस गदर में नैतिक प्रश्न अन्तर्हित थे ? क्या लड़ने वाले लोग अनजाने में अपनी सभ्यता और संस्कृति के लिए लड़ रहे थे ? इन सब प्रश्नों का जो भी उत्तर रहा हो किन्तु यह बात स्पष्ट है कि इस क्रान्ति का प्रमुख कारण था चारों ओर फैला हुआ असन्तोष। अंग्रेजों की अन्यायपूर्ण, विश्वासघाती, अपमानजनक तथा स्वार्थपूर्ण नीति के कारण देश में कोई ऐसा वर्ग नहीं था, जो अंग्रेजी सत्ता से प्रसन्न एवं संतुष्ट हो। सभी श्रेणियों के लोग अनुभव करने लगे थे कि अंग्रेजी राज्य के कारण उन्हें बहुत हानि हुई हैं और उनका अस्तित्व खतरे में है। स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों का दमन अत्यन्त कठोरता से किया गया। कई वर्षों तक देश में आतंक का वातावरण रहा। सैकड़ों को बगैर मुकदमा चलाये फांसी दे दी गई। उत्तर भारत का शायद ही कोई ऐसा इलाका बचा था जहां फांसी के खम्भों से झूलती हुई लाशें लोगों को ब्रिटिश सरकार की बर्बरता तथा प्रतिहिंसा की याद न दिलाती हों।

लार्ड सैलिस्बरी ने हाउस आफ कामन्स में कहा था "मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं, कि इतना व्यापक और शक्तिशाली आन्दोलन सिर्फ चर्बी वाले कारतूसों को लेकर ही उठा हो।" उन्होंने विश्वास प्रकट किया, "विद्रोह का ऊपर से जो कारण दिखाई देता था उसके अलावा भी कोई कारण अवश्य था।" फ्रेड्रिक जान शोर के कलकत्ते के एक दैनिक 'इण्डिया गजट' तथा 'नोट्स आफ इण्डियन अफेयर्स' नामक पुस्तक से प्रकट होता है, "यद्यपि ऊपर से भारत में शान्ति थी लेकिन अन्दर-अन्दर आग सुलग रही थी और सिर्फ एक चिनगारी ही उसे एक भयंकर ज्वाला में बदल देने के लिए काफी थी।" चपातियों तथा लाल कमल द्वारा भी जगह-जगह विद्रोह फैलाया गया। स्वतंत्रता के सेनानियों का कोई स्वीकृत एक नेता न था। ताँत्या टोपे और अहमदउल्लाशाह के अतिरिक्त सभी नेताओं ने व्यक्तिगत कारणों के हेतु इस महान् क्रान्ति में भाग लिया था। स्पष्ट नीति, कुशल नेतृत्व और समुचित योजनाओं का अभाव था। स्वतंत्रता संग्राम, सावधानी से बनाई गई किसी निश्चित योजना पर आधारित नहीं था और न उसके पीछे चतुर आयोजक तथा नेता ही थे। नाना साहब तथा झांसी की रानी के अतिरिक्त कोई अन्य असाधारण कोटि का नेता न था, जो इस महान् क्रांति का संचालन कर सकता। वास्तविकता यह है कि यह क्रांति अंग्रेजों के सौ वर्ष के अत्याचार एवं शोषण का परिणाम थी। यह संघर्ष कुछ व्यक्तियों या गुटों के कारण नहीं, वरन् जनता के बढ़ते हुए असन्तोष तथा घृणा के कारण व्याप्त हुआ। यह बढ़ता हुआ असन्तोष, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सैनिक कारणों के हेतु भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में परिणत हो गया।

राजनीतिक

डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति, जब्ती के सिद्धान्त और मुगल बादशाह को उसके पूर्वजों के राजमहल से हटाये जाने के कारण; प्रजा, सामन्तों और ताल्लुकेदारों में अत्यधिक रोष एवं प्रतिशोध की भावना थी। मुगल बादशाह की अवस्था अत्यन्त ही दयनीय एवं निःसहाय थी। वह केवल नाममात्र का बादशाह रह गया था और समस्त शक्ति अंग्रेजों में केन्द्रित थी। गोद न लेने की प्रथा, साम्राज्य विस्तार नीति और नाना साहब को पेन्शन बन्द कर देने के कारण हिन्दू जनता भी अत्यधिक क्षुब्ध थी।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रसार तथा अधिकृत प्रदेशों की व्यवस्था के साथ ब्रिटिश शासन-यंत्र की शक्ति बढ़ती गई और इससे हिन्दुस्तानी अमीर वर्ग के सदस्यों, पुराने जागीरदारों, ताल्लुकेदारों को सामाजिक और आर्थिक शिकायतें उत्पन्न हो गई थीं। पहले कम्पनी ऐसे जमींदारों का एक वर्ग कायम रखने या बनाने की नीति के पक्ष में थी जो स्वाभाविक रूप से ब्रिटिश सरकार के हितैषी हो। कुछ समय उपरान्त फिरंगी सरकार ने जमींदार वर्ग को शक्तिहीन करने के हेतु रैय्यत से सीधा सम्पर्क स्थापित करने की नीति को अपनाया। इस नीति के परिणामस्वरूप, कम्पनी ने जमींदारों की जमींदारियां खत्म करने, काश्तकारों को सीधे अपने अधीन करने का हर सम्भव प्रयत्न किया। इस प्रकार जमींदार तथा ताल्लुकेदार वर्ग शक्तिहीन तथा दरिद्र बन गया और विद्रोह करने की योजना में प्रयत्नशील हुआ। जिस विधि से अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया तथा जमींदारों के प्रति व्यवहार किया गया, जनता के लिए घृणोत्पादक सिद्ध हुई।

डलहौजी का निर्देशक सिद्धान्त था "जनता के लिए सब कुछ, परन्तु जनता द्वारा कुछ नहीं।" अतः देशी अ कारियों का एक समुदाय जो यद्यपि चतुर तथा प्रभावशाली था, परन्तु असावधानी के कारण जीविका विहीन कर दि गया था, विदेशी साम्राज्य को समूल नष्ट करने की योजना में प्रयत्नशील था। जब बम्बई मे, इनाम आयोग द्वारा बी हजार जागीरों को जब्त कर लिया गया, समस्त जमींदार वर्ग में प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत हुई। अतः साम्राज्यवादी त राजस्व सम्बन्धी अदूरदर्शितापूर्ण नीति के कारण, राजनीतिक असन्तोष चरम सीमा को पहुंच चुका था और विस्फोट लिए केवल एक शोले की आवश्यकता थी।

सामाजिक

राजनीतिक प्रभुता के साथ-साथ नई पश्चिमी सभ्यता का भी दूर-दूर प्रचार हो रहा था। देशी शासकों तथ अमीर वर्गों के राज्यों को विदेशी साम्राज्य में सम्मिलित हो जाने के कारण जनता में ब्रिटिश राज्य के प्रति प्रतिशोध व भावना बलवती हो उठी थी। हिन्दू और मुसलमान अनुभव कर रहे थे कि फिरंगी राज्य एक न एक दिन उनके प्राची रीति रिवाजों, परम्पराओं और धर्मों की पवित्रता को नष्ट कर समस्त हिन्दुस्तानियों को ईसाई बना लेगा। जनता किसी भी जनोपयोगी कार्य पर, जिसमें अन्य चीजों के साथ-साथ रेल, तार और अस्पताल आदि भी सम्मिलित थे, सामाजिक व्यवस्थ नष्ट करने के एक अप्रत्यक्ष साधन होने का सन्देह करती थी। देश के लाखों रूढ़िवादी व्यक्ति रुष्ट थे, क्योंकि वे अपनी प्राचीन प्रथाओं और परम्पराओं का अस्तित्व खतरे में देख रहे थे। यातायात के शीघ्रगामी साधनों के प्रति घृणा का मुख्य कारण यह भी था कि तार की लाइनें विभिन्न सैनिक छावनियों को सम्बद्ध करती थीं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार से जनत क्षुब्ध थी। सती और बाल-विवाह जैसी अन्ध-विश्वासपूर्ण प्रथाओं का अन्त हो गया। धर्म-परिवर्तन करने वाले व्यक्तियो की पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार बना रहने दिया गया और पादरियों को ईसाई धर्म प्रचार करने में प्रत्येक प्रकार का सरकारी प्रोत्साहन प्रदान किया गया। इन सुधारों एवं परिवर्तनों में हिन्दुस्तानी, भारत के पश्चिमीकरण तथा ईसाई धर्म के प्रचार की गंध पाते थे। अतः सामाजिक सुधारों के कारण जनता में असन्तोष का एक ऐसा स्रोत निःसृत हुआ, जो स्वतंत्रता संग्राम के लिए वरदान स्वरूप सिद्ध हुआ।

धार्मिक

हिन्दुस्तान में पूर्णतया राजनीतिक सत्ता स्थापित करने के उपरान्त, अंग्रेजों को अपना साम्राज्य स्थायी बनाने की चिन्ता व्याप्त हुई। वे भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति तथा गौरव को धार्मिक हस्ताक्षेप द्वारा समाप्त करना चाहते थे। वे भली भांति जानते थे कि हिन्दुस्तानी अपने धर्म के बड़े पक्के होते हैं। धर्म के नाम पर मर मिटना उनके लिए एक साधारण बात है। अतः उन्होंने हिन्दुस्तानियों के धर्माभिमान तथा प्राचीन गौरव को नष्ट करने की नीति अपनाई।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों के अध्यक्ष मैंगलस ने कामन्स सभा में भाषण देते हुए कहा था : "ईश्वर ने इंगलैंड को हिन्दुस्तान के विशाल साम्राज्य का भार इसलिये सौंपा है कि ईसाई धर्म का झंडा हिन्दुस्तान के एक कोने से दूसरे कोने तक फहराया जा सके। समस्त हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने के प्रयत्न में हमें थोड़ा भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।" तत्कालीन ब्रिटिश पादरी केनेडी ने लिखा था, "जब तक हिन्दुस्तान में हमारा राज्य है, हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारा प्रमुख कार्य इस देश में ईसाई धर्म की स्थापना करना है।" मेकाले के समय से १८५७ तक की ब्रिटिश संसदीय रिपोर्टों से पता चलता है कि इस धर्म-परिवर्तन का उद्देश्य राजनीतिक था।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु, अंग्रेजों द्वारा धार्मिक हस्तक्षेप की नीति अपनाई गई। स्थान-स्थान पर ईसाई धर्म प्रचारक, हिन्दू-मुसलमानों के धर्म की हँसी उड़ाते और देवी-देवताओं तथा पैगम्बरों का अपमान करते थे। पादरियों को ईसाई धर्म प्रचार करने के हेतु ऊंचे-ऊंचे वेतन तथा इनाम सरकारी खजाने द्वारा प्रदान किये जाते थे। ईसाई धर्म ग्रहण करने वालों को उच्च पद प्रदान किये जाते और धर्म-परिवर्तन के कारण उन्हें पैतृक सम्पत्ति से विमुक्त नहीं होना पड़ता था। अभी तक मन्दिरों और मजिस्दों की व्यवस्था के लिए इनाम भूमि आदि दी जाती थी किन्तु फिरंगियों ने मन्दिरों और मस्जिदों को धन देना ही बन्द नहीं किया वरन् उनके पास जो धन था उसको भी जब्त कर लिया। पुरी में स्थित जगन्नाथ मन्दिर, सरकारी निरीक्षण में ले लिया गया। सार्वजनिक कोष से जो अब तक मूर्त्ति-पूजक संस्थाओं तथा धर्मालयों को आर्थिक सहायता दी जाती थी वह बन्द कर दी गई। इस प्रकार धार्मिक हस्तक्षेप द्वारा अनेकों मन्दिर व मस्जिद अंग्रेज सरकार के आर्थिक लाभ के स्रोत बन गये। धार्मिक सुधारों एवं परिवर्तनों का जनता तथा सैनिकों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और वे अपने धर्म का अस्तित्व खतरे में समझने लगे। धर्म-परिवर्तन, पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता का अनिवार्य अंग समझा जाने लगा। स्कूल, अस्पताल, कारागृह और बाजार, ईसाई धर्म-प्रचार के मुख्य केन्द्र बन गये। इस प्रकार अंग्रेजों की धार्मिक हस्तक्षेप नीति के कारण जनता तथा सैनिकों में अत्यधिक क्षोभ उत्पन्न हुआ जो स्वतंत्रता संग्राम में विशेष सहायक सिद्ध हुआ।

सैनिक

यद्यपि राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक सुधारों एवं परिवर्तनों के कारण स्वतंत्रता संग्राम का वातावरण बन गया था किन्तु जब तक हिन्दुस्तानी सिपाहियों की अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति बनी रही, असन्तोष के इन विभिन्न तत्वों का संयोग तथा विस्फोट सम्भव नहीं था। ब्रिटिश साम्राज्य निर्माण में भारतीय सेना विशेष सहायक रही है। जो सेना अब तक मजबूत समर्थन का स्तम्भ थी, धार्मिक और सामाजिक हस्तक्षेप के कारण, ब्रिटिश साम्राज्य के लिए खतरे का साधन बन चुकी थी।

हिन्दुस्तानी सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं पर प्रथम आघात १८०६ में सर जार्ज बार्लो द्वारा किया गया था। आदेश किया गया कि माथे पर तिलक न लगाया जाय; मूँछें एक खास अनुपात में काट-छांट कर रखी जायं, पुरानी पगड़ी के स्थान में चमड़े के झब्बे प्रयोग में लाये जायं। सिपाही के माथे का चिन्ह हिन्दू धर्म की सूचना देता था। एक मुसलमान सिपाही अपनी दाढ़ी जिसका सम्बन्ध धर्म से था, मुंड़ाना पसन्द नहीं करता था। हिन्दू और मुसलमान झब्बे में गाय व सूअर के चमड़े का मिश्रण पाते थे। चूंकि कम्पनी अतिरिक्त भत्ते के दावे को पूरा न कर सकी, अतः ३४वें एन० आई० ने १८४४ में, २२वें एन० आई० ने १८४९ में, ६६वें एन० आई० ने १८५० में और ३८वें एन० आई० ने १८५२ में विद्रोह कर दिया।

नियमानुसार बंगाल के हिन्दू सिपाहियों के लिए समुद्र यात्रा द्वारा युद्ध करना अनिवार्य न था। भर्ती की शर्तों के अनुसार, बंगाल सेना पूर्ण रूप से, समुद्र यात्रा करने से वर्जित थी। बंगाल सेना को चटगांव होकर जहाज द्वारा बर्मा जाने का आदेश दिया गया। सिपाहियों ने धर्मभ्रष्ट होने की आशंका से जहाज द्वारा बर्मा जाने से इन्कार कर दिया और उन्हें इस हेतु गोली का शिकार बनना पड़ा। कैनिंग ने शीघ्र ही सार्वजनिक सैन्य भर्ती कानून बनाया जिसके अनुसार नया भर्ती होने वाला सिपाही किसी भी स्थान पर भेजे जाने से इन्कार नहीं कर सकता था। यद्यपि यह कानून पूर्व स्थित बंगाल सेना पर लागू नहीं होता था किन्तु उनकी सन्तान के लिए अप्रत्यक्ष रूप से सैनिक सेवा का मार्ग बन्द हो गया था। उन्हें पैतृक व्यवसाय और धर्म में से एक चुनना था। भविष्य में सेना में भर्ती होने का तात्पर्य था धर्म परिवर्तन।

चर्बी के कारतूसों के मामले ने क्रान्ति के विस्फोट होने में एक शोले का कार्य किया। इन्फील्ड बन्दूक के कारतूसों में जानवरों की चर्बी लगी हुई थी। गाय और सूअर की यह चर्बी, हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए ही घृणोत्पादक थी। सिपाहियों को कारतूसों को व्यवहार में लाने के लिए इनके छोरों को दांत से काटना पड़ता था। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों को दृढ़ विश्वास हो गया कि अंग्रेज चर्बी के कारतूसों द्वारा उन्हें धर्मभ्रष्ट कर ईसाई बनाना चाहते हैं। अतः समस्त सिपाहियों में अंग्रेजों के प्रति प्रतिहिंसा की ज्वाला उत्तेजित हो उठी जो विश्वविख्यात भारतीय स्वतंत्रता के रूप में परिणत हो गई।

स्वतंत्रता संग्राम तथा दमन

स्वतंत्रता संग्राम के प्राथमिक लक्षण बैरकपुर और बरहमपुर में दृष्टिगत हुए। २९ मार्च, १८५७ के ३४वें एन० आई० के एडजुटेण्ट को मंगल पाण्डे नामक सिपाही ने मार डाला और पाण्डे को फांसी की सजा दे दी गई। अम्बाला के उपरान्त मेरठ में, तीसरे घुड़सवार दल के सिपाहियों ने चर्बी वाले कारतूसों को प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। ३ मई को लखनऊ में सातवीं अवध इनफैनटरी ने खुले आम विद्रोह किया। १० मई को मेरठ में भयंकर विद्रोह हुआ। घुड़सवार और पैदल सिपाहियों के दो रेजीमेण्टों ने जेल को तोड़ कर, अंग्रेज अफसरों की हत्या कर, दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। मेरठ की तरह देश के अन्य भागों में भी अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना जाग्रत हुई। हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का हर सम्भव तरीका अपनाया गया किन्तु अंग्रेज अपने उद्देश्य में असफल रहे।* हिन्दू और मुसलमानों ने एक होकर, अंग्रेजों के विरुद्ध आजादी की लड़ाई लड़ी। मेरठ, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, झांसी, ग्वालियर, बरेली, बनारस, इलाहाबाद, जगदीशपुर आदि प्रदेश स्वतंत्रता संग्राम के मुख्य केन्द्र बन गये। बहादुरशाह को पूरे देश का सम्राट् घोषित किया गया। बहादुरशाह, नाना धूंधू पन्त, महारानी लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे, कुंवरसिंह, बेगम हजरतमहल, अहमदउल्लाशाह, बेनीमाधवसिंह, खान बहादुरखां आदि नेताओं के समुचित नेतृत्व तथा जनता के सहयोग के कारण उपर्युक्त नगरों में विदेशी शासन के स्थान पर स्वदेशी राज्य स्थापित कर लिये गये थे।

---

*जार्ज कूपर—सचिव चीफ कमिश्नर अवध—१ दिसम्बर, १८५७ पत्र द्वारा एडमानसटन—सचिव भारतीय शासन को लिखा "बरेली की हिन्दू जनता को मुसलमान क्रान्तिकारियों के विरुद्ध उकसाने के प्रयत्न में ५०,००० रुपये व्यय करने की आज्ञा प्रदान की गई किन्तु यह धनराशि व्यय किये बिना ही अन्त में शाही खजाने में वापस आ गई है।" (फारेन सीक्रेट कनसल्टेशन्स, संख्या २५, दिनांक २७ अगस्त, १८५८—नेशनल आरकाइव्स, नई दिल्ली।)

स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी भारत मां को परतंत्रता की बड़ियों से मुक्त करने के लिए हर सम्भव बलिदान के लिए तत्पर थे । वे खून के आखिरी बूंद तक अंग्रेजों से देश की आजादी का युद्ध लड़ना चाहते थे । यद्यपि वे मेरठ, दिल्ली, झांसी, लखनऊ, कानपुर, ग्वालियर, बरेली, फैजाबाद, बनारस, इलाहाबाद, बांदा, आजमगढ़, शाहाबाद और जगदीशपुर आदि नगरों में स्थायी स्वदेशी शासन स्थापित न कर सके किन्तु यह न भूलना चाहिए कि एक ओर हिन्दुस्तान में राजनीतिक एकता का अभाव था तथा सैनिक व आर्थिक व्यवस्था में दुर्बलता थी तो दूसरी ओर अंग्रेजी शक्ति संसार में सबसे अधिक शक्तिशाली थी । अंग्रेजों की सैनिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और वैधानिक स्थिति इतनी अधिक सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बन चुकी थी कि हिन्दुस्तान क्या, संसार की कोई भी शक्ति उन्हें पराजित न कर सकती थी । फिरंगी राज्य हर प्रकार से सुदृढ़ एवं समृद्धिशाली होने के कारण अजेय था । और स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों की हार होना अवश्यम्भावी था । अतः अनेकों कमजोरियों और कठिनाइयों के उपरान्त भी सशस्त्र क्रान्ति द्वारा ब्रिटिश शासन के स्थान पर स्वदेशी शासन स्थापित कर लेना प्रशंसनीय एवं ऐतिहासिक कार्य था ।

धीरे-धीरे स्वतंत्रता के सेनानियों की पराजय होना प्रारम्भ हो गया । मेरठ में शान्ति स्थापित करने के उपरान्त अंग्रेज दिल्ली की ओर अग्रसर हुए । बहादुरशाह को हडसन द्वारा बन्दी बना कर देशनिकाला दे दिया गया और उनके बेटों तथा पोतों को मृत्युदण्ड दिया गया । बनारस और इलाहाबाद की क्रान्ति का दमन जनरल नील द्वारा किया गया । अवध और कानपुर में क्रान्तिकारियों का संगठन सबसे अधिक सुदृढ़ था । हेवलाक, नील और आऊटरम के संयुक्त एवं सतत प्रयत्न के उपरान्त लखनऊ में क्रान्तिकारियों की पराजय हुई । कानपुर के तृतीय युद्ध में नाना साहब पराजित होकर शाहजहांपुर चले गये । नाना साहब और अहमदउल्लाशाह के सतत प्रयत्न से बरेली में स्वतंत्र शासन स्थापित हो गया । बरेली युद्ध में परास्त होकर, नाना साहब नैपाल चले गये और अनेकों कठिनाइयों के उपरान्त मृत्यु को प्राप्त हुए । अहमदउल्लाशाह की हत्या पोवायां के राजा जगन्नाथ सिंह द्वारा की गई । बेतवा के युद्ध में परास्त होकर लक्ष्मीबाई ने ताँत्या टोपे के सहयोग से ग्वालियर पर स्वतंत्र शासन स्थापित कर लिया । ग्वालियर के युद्ध में परास्त होकर, रानी १७ जून, १८५८ को वीरगति को प्राप्त हुई । ताँत्या टोपे युद्ध में पराजित होकर राजपूताना चले गये । मानसिंह द्वारा विश्वासघात करने के हेतु ताँत्या टोपे को बंदी बना लिया गया और सिप्री में फांसी दे दी गई । कुंवरसिंह जिन्होंने ८० वर्ष की अवस्था में शाहाबाद और जगदीशपुर में स्वतंत्र शासन स्थापित किया था, जगदीशपुर के युद्ध में हताहत होकर, २६ अप्रैल, १८५८ को मृत्यु को प्राप्त हुए । इस प्रकार चारों ओर अंग्रेजों की विजय हुई और एक-एक करके सभी स्वतंत्रता के वीर सेनानियों का अन्त कर दिया गया ।

स्वतंत्रता संग्राम का महत्त्व

भारतीय इतिहास में १८५७ की क्रान्ति का बहुत बड़ा महत्त्व है । परातंत्रता की बेड़ियों से अपने को उन्मुक्त करने का यह अन्तिम सशस्त्र प्रयास था । स्वतंत्रता संग्राम ने इस तथ्य को सत्य सिद्ध कर दिया कि सशस्त्र हिंसात्मक क्रान्ति करके देश को स्वतंत्र करना असम्भव है । यद्यपि १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति लक्ष्य प्राप्ति की दृष्टि से विफल रही, किन्तु विदेशी शासन को नष्ट करके देश को खोई हुई स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करने का जो उद्देश्य सामने रखा गया था, उससे आने वाले स्वतंत्रतानुरागियों ने उत्साह और प्रेरणा ग्रहण की । इस क्रान्ति में पहलीं बार हिन्दू और मुसलमानों ने एक होकर फिरंगी राज्य को समाप्त करने का संयुक्त प्रयत्न किया था । मुगल सम्राट् बहादुरशाह, नाना धूंधू पन्त, रानी लक्ष्मीबाई, ताँत्या टोपे, कुंवरसिंह, बेगम हजरतमहल, अहमदउल्लाशाह, बेनीमाधवसिंह और खानबहादुर खां आदि अनेक देशरत्न, भारत मां को विदेशी दासता से मुक्त करने के हेतु बलिदान हो गये किन्तु अपने बलिदान से वह ज्योति प्रज्वलित की जो आने वाली पीढ़ियों को सदैव प्रेरणा देती रहेगी ।

परिणाम की दृष्टि से १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई । फिरंगियों ने अनुभव किया कि भारतवासियों पर केवल सैन्य बल द्वारा शासन नहीं किया जा सकता और अपेक्षाकृत उदार नीति अपनानी पड़ी । अनेकों वैधानिक परिवर्तन किये गये । कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को भारत के शासन-प्रबन्ध का उत्तरदायी बनाया गया । ब्रिटिश सम्राज्ञी की घोषणा के अनुसार देशी राज्यों, नवाबों, जमींदारों, ताल्लुकेदारों और प्रजा के प्रति उदार नीति अपनाई जाने का आश्वासन प्रदान किया गया । सेक्रेटरी आफ स्टेट और इण्डिया कौंसिल की स्थापना, भारतवर्ष के शासन-प्रबन्ध को देखने के हेतु, की गई ।

देश को विदेशी दासता से मुक्त करने के लिए जिस राष्ट्रीय एकता और सहयोग की आवश्यकता रहती है, क्रान्ति में उसका अभाव था । जहां कुछ लोग सिर पर कफन बांध कर देश की स्वतंत्रता के लिए जीवन आहुति दे रहे थे वहां ऐसे लोग भी थे जो व्यक्तिगत स्वार्थों के हेतु, उनके उद्देश्यों को असफल बनाने में संलग्न थे । सिखों, गुरखों, मराठों और राजपूतों ने स्वतंत्रता संग्राम का दमन करने में विदेशी सत्ता का समर्थन किया था । दक्षिण भारत, नैपाल और पंजाब में यह क्रान्ति विस्तृत नहीं हो सकी थी और वहां की जनता या सेना अंग्रेजों के साथ थी । यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि

क्रान्ति के असफल होने का अधिकांश श्रेय अंग्रेजों के स्थान पर हिन्दुस्तानियों को ही मिलता है, क्योंकि देश का बहुत बड़ा भाग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अंग्रेजों का ही समर्थन कर रहा था। संघर्ष के प्रारम्भ में नेताओं की बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और व्यवहारकुशलता के कारण हिन्दू और मुसलमानों में एकता थी। किन्तु कुछ समय उपरान्त साम्प्रदायिक फूट तथा मतभेद ने उग्र रूप धारण कर लिया था। इस महान् क्रान्ति में ऐसा कोई सर्वमान्य नेता न था जो समस्त देश को एकता के सूत्र में बांध कर समुचित नेतृत्व कर सकता। यद्यपि मुगल सम्राट् बहादुरशाह को इस क्रान्ति का नेता घोषित किया गया था किन्तु वह अत्यन्त वृद्ध एवं प्रभावहीन हो गये थे। दुर्भाग्यवश उस समय मुगल राजवंश में असाधारण प्रतिभा का कोई नेता न था जो अंग्रेजों के विरुद्ध समस्त राष्ट्र का नेतृत्व कर सकता। क्रान्ति को जनता के सहयोग के अतिरिक्त, समुचित योजना एवं संगठन की भी आवश्यकता थी। राजनीतिक एकता के अभाव तथा सैनिक और आर्थिक अव्यवस्था के कारण, देश को स्थायी रूप में स्वतंत्र करना प्रायः असम्भव कार्य था। अतः १० मई, १८५७ को मेरठ में जिस क्रान्ति का शंखनाद हुआ था १८ अप्रैल, १८५९ को वीर सेनानी ताँत्या टोपे के महान् बलिदान के साथ समाप्त हो गया।

१८५७ के स्वतंत्रता संग्राम से, देशभक्तों ने सबसे बड़ी शिक्षा यह ग्रहण की थी कि सशस्त्र हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा, देश को स्वतंत्र करना असम्भव है। अतः शान्ति और अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने की सुसंगठित योजना बनाई गई। बाल, पाल, लाल, गोखले और मालवीय आदि नेताओं ने, कांग्रेस पार्टी द्वारा, वैधानिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए देशव्यापी संघर्ष प्रारम्भ किया। गांधी, पटेल और नेहरू आदि नेताओं ने शान्ति और अहिंसा द्वारा, जनता के सहयोग से, देश को स्वतंत्र करने का संकल्प किया। गांधी ने जन-जन में देश प्रेम की भावना जाग्रत की। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, एक होकर गांधी के आदेशानुसार, पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने में संलग्न हो गये। समस्त राष्ट्र एक आदमी की भांति उठ खड़ा हुआ। "भारत छोड़ो" के नारे से सम्पूर्ण देश गूँज उठा। १९४२ के जन आन्दोलन ने सिद्ध कर दिया कि शान्ति और अहिंसा के पुजारियों को दमन नीति द्वारा अधीन नहीं किया जा सकता। अतः १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति जो भारत को स्वराज्य दिलाने में असफल हुई थी, गांधी के सफल नेतृत्व तथा जनता के सहयोग से शान्ति और अहिंसा द्वारा, १५ अगस्त, १९४७ को पूर्ण स्वराज्य दिलाने में सफल हुई।
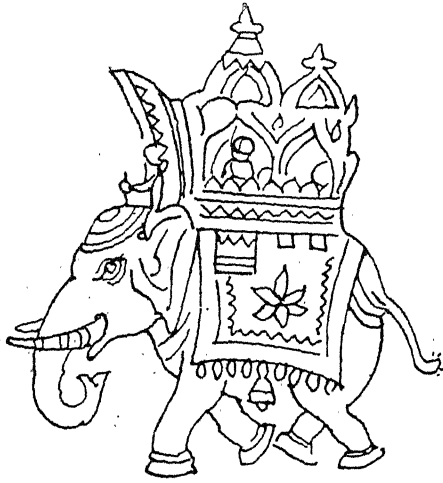
सन् १८८५ से सन् १९१७ तक स्वराज्य प्राप्ति के प्रयास का सिंहावलोकन

डॉ० ब्रजकिशोर, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०
रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

यह ठीक है कि भारत बहुत समय तक गुलामी की शृंखलाओं में जकड़ा रहा पर साथ-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि उसने इस आभूषण को कभी हृदय से चाहा नहीं। जब-जब उसकी स्वतंत्रता पर आक्रमण हुए, उसने अपने बचाव के लिए भरसक प्रयत्न किया। यवन, हूण, कुषाण, तुर्क और मुगल—एक-के-बाद एक आए। देश का कुछ हिस्सा उनके हाथ में चला गया। उनके राज्य स्थापित हो गए, पर विजित भारतीय चुप होकर कभी बैठे नहीं। चप्पे-चप्पे भूमि के लिए लड़ाई हुई। सफलता नहीं हुई यह दूसरी बात है। तुर्कों के साथ राजपूतों का लम्बा संघर्ष, विजयनगर की बहमनी साम्राज्य तथा उसकी शाखाओं से टक्कर और अन्त में मराठों का मुगल साम्राज्य की जड़ें हिलाने का सफल प्रयत्न इस बात का प्रतीक था कि स्वाभिमानी भारत विदेशी सत्ता को आत्म-समर्पण करने में असमर्थ रहा। अंग्रेजी राज्य के प्रति भी उसका यही रुख रहा। राजा राम मोहन राय जैसे लोगों ने निश्चय कर लिया था कि देश को किसी-न-किसी प्रकार इस विदेशी जाति के चंगुल से छुड़ाना ही पड़ेगा। उनका ब्राह्मसमाज, रानाडे का प्रार्थना-समाज देश की स्वतंत्रता की राह पर पहले कदम थे। उस समय इससे अधिक सम्भव भी न था।

बंगाल अंग्रेजों का अड्डा था अतः स्वतंत्रता संग्राम का श्रीगणेश वहां से होना स्वाभाविक ही था। समय ऐसा कठिन था, और सरकार इतनी सतर्क थी कि खुले आम कोई राजनीतिक आंदोलन चलाना असम्भव था। जो भी संस्थायें स्थापित हुईं उनको ऐसे ऐसे नाम दिये गये जिससे किसी को कोई सन्देह न हो। बंग-भाषा-प्रकाशिका सभा, ज्ञानोपार्जिका सभा केवल साहित्य और ज्ञान-वर्द्धन के साधन न थीं; इन कामों की आड़ में वे देश के स्वतंत्रता संग्राम की अग्रदूत थीं। धीरे-धीरे दिल खुला, कदम और आगे बढ़ा। पहले 'ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी', फिर 'ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन' स्थापित हुए। इनके साथ ही साथ 'जातीय गौरव सम्पादनीय सभा' व 'हिन्दू मेला' ने भी अपना काम शुरू किया। यह राष्ट्रीयता की लहर बंगाल की सीमाओं को थोड़े ही समय में लांघ गई। बाम्बे में 'बाम्बे एसोसिएशन' तथा महाराष्ट्र में 'सार्वजनिक सभा' व 'प्रार्थना समाज' ने वही काम करना शुरू किया जो बंगाल में हो रहा था। सन् १८५७ ई० के गदर की असफलता ने लोगों की आंखें खोल दी थीं। उनकी समझ में आ गया था कि देश में विभीषणों की कमी नहीं है और उनके रहते सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा अंग्रेजों को मार भगाना सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में विदेशी सत्ता से समझौता ही करना पड़ेगा और वैधानिक रीतियों से ही उनसे अपने अधिकारों की मांग करनी पड़ेगी।

इस विचार को लेकर श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी सामने आए। १८७६ में उन्होंने आनन्द मोहन बसु के साथ मिलकर 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना की। अगले वर्ष यही संस्था 'नेशनल कांग्रेस' बन गई। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने जोर-शोर से काम शुरू किया। उन्होंने देश-भर का दौरा करके इलबर्ट बिल और सिविल सर्विस की आयु घटाने के विरुद्ध जन-मत तैय्यार किया। वह १८७७ में होने वाले दिल्ली दरबार में भी गये। इस पर्यटन के बाद उनको ऐसा लगा कि राजनीतिक जागरण के लिए एक देशव्यापी संस्था की आवश्यकता है। यह विचार उन्हीं के मस्तिष्क में नहीं उठा वरन् कुछ समझदार अंग्रेज भी इसी प्रकार की बात सोचने लगे। इटली के क्रान्तिकारी आन्दोलन तथा गैरीबाल्डी और मेजिनी की सफल कार्रवाइयों का प्रभाव पढ़े-लिखे भारतीय मध्य वर्ग पर काफी पड़ रहा था। उधर रूस का प्रभाव भी मध्य-एशिया में बढ़ता जा रहा था। साधारण जनता अंग्रेजी राज्य की धन-शोषण की नीति से त्राहि-त्राहि कर रही थी। किसी समय भी परिस्थिति विकट रूप धारण कर सकती थी। इसको रोकने का एकमात्र उपाय यही था कि किसी ऐसी संस्था की स्थापना की जाय जो सरकार को जनमत के सम्पर्क में रखे। इस ध्येय को सामने रख कर श्री ए० ओ० ह्यूम ने एक

तरफ तो कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम देशसेवा के कार्यों के लिए एक खुली चिट्ठी लिखी और दूसरी ओर उन्होंने तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन से इस सम्बन्ध में बात-चीत की। लार्ड डफरिन का आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद श्री ह्यूम के हाथों १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस का बीजारोपण हुआ।

पहला अधिवेशन पूना में प्लेग फैल जाने के कारण हटाकर बम्बई में किया गया। श्री उमेश चन्द्र बनर्जी ह्यूम साहब के प्रस्ताव पर अध्यक्ष चुने गये। यह अधिवेशन राज-भक्ति की भावना से परिपूर्ण था और महारानी विक्टोरिया की जयजयकार के साथ समाप्त हुआ। कई अंग्रेज सज्जन कांग्रेस के सिद्धान्तों से सहमत थे और उन्हें आशा थी कि पढ़े-लिखे भारतीयों की सहायता से वे जनमत को अंग्रेजी सरकार के पक्ष में रख सकेंगे। वैडरबर्न, जॉर्ज यूल, बैरिस्टर नार्टन तथा कॉटन इनमें प्रमुख थे। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी भी अगले साल इस संस्था में आ गये। उनका और उनके साथियों का विचार था कि वैधानिक रूप से आन्दोलन करके सरकार को काफी सुधारा जा सकता है और भारतीयों को वे अधिकार प्राप्त हो सकते हैं जिनसे उनको अब तक वंचित रखा गया है। शुरू-शुरू में सरकार का रुख बहुत अच्छा रहा। कलकत्ता में होने वाले दूसरे अधिवशन के अवसर पर वाइसराय लार्ड डफरिन ने प्रतिनिधियों को पार्टी दी व सबसे मित्रतापूर्ण बातचीत की। ऐसा लगता था मानो सरकार व् जनमत के नेता एक दूसरे के समीप आ रहे हैं। पर बाद में चलकर यह बात केवल ऊपरी दिखावा ही निकली। असल में सरकार समझती थी कि कांग्रेस में सम्मिलित होने वाले नेता बहुसंख्यक जनमत का प्रतिनिधित्व तो करते नहीं हैं, कुछ मामूली सुविधाएं देकर उनको सन्तुष्ट रक्खा जा सकता है। पर कौन कह सकता है कि सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी, फीरोज शाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले जैसे लोग धन या पद के लोभ से खरीदे जा सकते थे? आरम्भ में इन लोगों की मांगें बहुत साधारण थीं। न ये लोग अंग्रेजों को भगाना चाहते थे, न स्वराज्य की मांग करते थे। इनका कहना केवल इतना ही था कि भारतीय जनता के साथ जो अन्याय हो रहा है उसको रोका जाय और धीरे-धीरे उनको वही नागरिक अधिकार प्राप्त हो जायं जो इंग्लैंड-वासियों को प्राप्त हैं। धर्म और रंग के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाय। उन्होंने सरकारी खर्चे को घटाने की, किसानों पर मालगुजारी कम करने की और कृषि बैंक खोल कर उनकी दशा सुधारने की, न्याय विभाग के पृथक्करण की, सिविल सर्विस की आयु बढ़ाने तथा उसकी परीक्षा भारत में करने और उसमें भारतीयों को समुचित संख्या में लेने की तथा भारतीय उद्योग-धन्धों को बढ़ाने की मांगें कीं। ये कार्रवाइयां अंग्रेजी शासकों और उनके प्रतिक्रियावादी सहायकों की आशाओं के बिलकुल विरुद्ध थीं। वे तो कांग्रेस से उस महावत का काम लेना चाहते थे जो जनमत के विषैले हाथी को अपने अंकुश से संभाले रहे। जब उन्होंने ऐसा होते न देखा तो अपनी निगाह बदली। गोरे पत्रों ने जलती आग में घी डाला। कांग्रेस के चौथे अधिवेशन के अवसर पर ह्यूम और यू० पी० के गवर्नर श्री ऑक्लैंड कॉलविन में गर्मागर्म बात-चीत हो गई और उसके फलस्वरूप इलाहाबाद में होने वाले अधिवेशन में जितने भी अडंगे डाले जा सकते थे डाले गये। श्री अयोध्यानाथ जी स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशन के लिये खुसरो बाग मांगा। मना हो गई। किले के पास के स्थान के लिये भी मनाही हो गई। अन्त में यह भी कह दिया गया कि 'पायोनियर' के पास के मैदान में तम्बू लगा कर भी अधिवेशन नहीं किया जा सकता। पर ललकार का उत्तर ललकार से मिला। महाराजा दरभंगा ने उसी समय एक कोठी खरीद दी और शान के साथ उसमें अधिवेशन हुआ। सरकार ने अपने मुंह की खाई और क्रोध इस प्रकार उतारा कि अधिवेशन के समय गवर्नर महोदय शहर छोड़कर दौरे पर चले गये और एक गश्ती चिट्ठी निकाल गये कि कोई सरकारी कर्मचारी दर्शक की हैसियत से भी कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हो सकता। इसी तरह १८८९ में सरकार ने जब लखनऊ के शहर में कांग्रेस का अधिवेशन नहीं होने दिया तो बहुत सारी कठिनाइयों को झेलते हुए यह जलसा आठ मील दूर एक गांव में किया गया। वायसराय लार्ड डफरिन के विचारों में भी बहुत अन्तर आ गया था। अब कांग्रेस उनको एक विद्रोही संस्था दिखाई देती थी। पर अंग्रेज जाति में अब भी समझदार लोगों की कमी नहीं थी। चौथे अधिवेशन का सभापतित्व श्री जार्ज यूल, और पांचवें का सर विलियम वैडरबर्न ने किया। ह्यूम साहब तथा श्री कॉटन सदा उसके पक्षपाती बने रहे। इंग्लैण्ड में भी ऐसे लोग थे जो लोकतांत्रिक सिद्धान्तों और कांग्रेस के पुजारी थे। ऐसे लोगों में श्री ब्रेडला का नाम सर्वमान्य है। वह इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट के सदस्य थे। उन्होंने बम्बई में होने वाले काग्रेस के पांचवें अधिवेशन में बड़ा जोरदार भाषण देकर इस बात पर जोर दिया कि अब भारत को गुलामी की जंजीरों में बांधकर नहीं रखा जा सकता। उन्होंने भारत से लौटने पर पार्लियामेण्ट में एक बिल भी प्रस्तुत किया परन्तु वह ठुकरा दिया गया। इस सबका फल यह हुआ कि जनता में जाग्रति और उसके नेताओं में जोश बढ़ता ही गया पर इस सब के होते हुए भी अभी तक कोई ऐसा काम न हुआ था जिसको अवैधानिक कहा जा सके। देश के हित की मांगें की गईं परन्तु वे प्रार्थना के रूप में थीं। कांग्रेस नेता अब भी देशभक्त होने का दावा करते थे। अब भी उनकी मांगों का लक्ष्य शासन-सुधार था न कि स्वराज्य। उनके एक प्रतिनिधि मंडल ने, जिसमें सर्व श्री ह्यूम, नार्टन, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आर० एस० मुधोलकर तथा फीरोज शाह मेहता

प्रमुख थे, इंग्लैण्ड का दौरा करके अपने इस विचार को अंग्रेजी नागरिकों तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। पर भार सरकार अपने स्थान पर दृढ़ थी। उसके विचार में यह सब कार्रवाई राज-द्रोह के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। डंडों से इस इन्सानी ज़लज़ले को रोकना चाहती थी।

१९वीं शताब्दी के समाप्त होने से पहले ही जनता की चेतना काफी बढ़ चुकी थी और उसके कुछ नेताओं ऐसा लगने लगा था कि वैधानिक आन्दोलन से अब काम न चलेगा। लोकमान्य तिलक इनमें प्रमुख थे। इनको अपने प्रा इतिहास, साहित्य, कला, संस्कृति और सभ्यता पर गर्व था। इनका दृष्टिकोण गोखले और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से भिन्न क्योंकि जब गोखले और बनर्जी पर पाश्चात्य सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा था तो तिलक जी के विचार शुद्ध भारतीय उन्होंने प्राचीन संस्कृति की दुहाई देकर जनता में नया जोश लाने के लिये गणपति और शिवाजी उत्सव प्रारम्भ किय धार्मिक उत्सव के रूप में यह राजनीतिक चेतना का प्रयास था। इस उग्र चेतना का एक फल प्लेग कमिश्नर मिस रेण्ड की पूना में हत्या थी। वैधानिक तरीकों में विश्वास करने वाले नेता इस नये आन्दोलन को रोकने में असमर्थ क्योंकि सरकार दमन का सहारा ले रही थी। जब से लार्ड कर्जन ने काम सम्हाला था दमन का चक्र वेग से घूमने लगा थ बजाय भारतीयों की मांगों को पूरा करने के नये नये कानून बना कर तथा आपस में फूट डलवा कर सरकार हाल में जन-चेतना को बिल्कुल ही कुचल डालना चाहती थी। इंडियन यूनिवर्सिटी ऐक्ट और कलकत्ता कारपोरेशन पर सरका नियंत्रण के कानूनों ने लोगों को बता दिया था कि वे सरकार से क्या आशा कर सकते हैं। बंग-भंग की घोषणा उनकी डूबती आशाओं पर वज्रपात किया। नरम दल के विधान-वाद के पुजारी श्री गोपाल कृष्ण गोखले को आखि कहना ही पड़ा कि "यदि इस शासन की उपमा ढूंढनी हो तो औरंगजेब के युग में जाना होगा। मेरा विचार है कि ला कर्जन का सबसे बड़ा भक्त और प्रशंसक भी यह बात नहीं कहेगा कि उसने अंग्रेजी शासन की नींव मजबूत बनाई। इ समय जनता को दबाने के लिए सरकार नये नये हथकण्डे अपना रही थी। वह फिर अपनी 'फूट डालो और शासन करं वाली नीति का आश्रय ले रही थी और मुसलमानों को कांग्रेस के विरुद्ध भड़का रही थी।" १९वीं शताब्दी के अन्ति वर्षों की मन्दी के कारण किसान और मजदूर, और बढ़ती हुई बेकारी के कारण मध्यम वर्ग के लोग परेशान थे। सरका की इस प्रतिक्रियावादी नीति ने जले पर नमक का काम किया। इसी समय दूसरे देशों में होने वाली घटनाओं से उन अपने नवीन दृष्टिकोण की पुष्टि दिखाई दी। लोग सोचने लगे कि जब अबीसीनिया की पुराने ढंग की फौजें इटली क नवीन शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सेना से टक्कर ले सकती हैं (१८९४ में) जब रूस जैसे विशाल देश को जापान जैसा छोट देश पराजित कर सकता है (१९०४), जब रूस, मिस्र और फारस जैसे देशों में सफलता के साथ राजनीतिक आन्दोलन हो सकते हैं तो फिर भारत जैसा विशाल देश अपनी स्वतंत्रता के लिये क्यों न एक प्रयास करे? फलतः राजनीति में एक नई लहर आई। अब कांग्रेस दो दलों में बँट गई—नरम व गरम। पहले में वे लोग थे जो अब भी अपने को इंग्लैण्ड के राजा-रानी की स्वामिभक्त रिआया समझते थे और देश का कल्याण विधान-वाद की नीति से ही करना चाहते थे। दूसरे वर्ग में अब वे लोग थे जिनको विधानवाद में विश्वास नहीं था। वे सरकार से अब अपनी मांगों के लिए प्रार्थना नहीं करना चाहते थे वरन् अपनी मांगों को उनसे मनवाना चाहते थे। उनके इस समय के प्रमुख नेता थे लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय व विपिन चन्द्र पाल। इनका लक्ष्य था स्वशासन एवं इनका हथियार था जोरदार आन्दोलन। एक दल और भी भारतीय क्षितिज पर चढ़ता हुआ दिखाई दे रहा था और वह था क्रान्तिकारियों का। विधानवाद को वे भिक्षा-वृत्ति समझते थे, असहयोग और नारेबाजी को वे बेकार समझते थे। उनका विश्वास था हिंसा में, आतंकवाद और तोड़-फोड़ में।

बंगाल के विभाजन ने इन नये विचारों को सक्रिय कर दिया। नरम दल वाले बिल्कुल दब गये। आन्दोलन ने एक नया रूप धारण किया। विदेशी माल के बहिष्कार का जोरदार नारा लगा और कलकत्ता में होने वाले १६ अक्टूबर के राखी उत्सव और उपवास दिवस ने भारतीय एकता का भरपूर प्रदर्शन किया। वन्देमातरम् राष्ट्रीय गान बना। सरकार मानो इस गान से चिढ़ती थी। १९०६ में होने वाले बारीसाल के राजनीतिक सम्मेलन के अवसर पर उसने इस गान पर प्रतिबन्ध लगा दिया। शान के साथ इसकी अवहेलना की गई। अध्यक्ष थे इस सम्पेलन के श्री ऐजाज रसूल। वह खूब समझते थे उस खेल को जो अंग्रेज हिन्दू मुसलमानों को भिड़ा कर स्वयं देखना चाहते थे। क्रान्तिकारियों का दल भी प्रथम बार अपने कार्यक्रम को लेकर सामने आया। इटली के नमूने पर गुप्त समितियां बनीं और शस्त्रास्त्रों का जमाव व शिक्षा शुरू हुई। वारीन्द्र घोष, सखाराम देवस्कर, अश्विनी कुमार दत्त और भूपेन्द्र कुमार दत्त इस संगठन के प्राण थे। अरविन्द घोष और विपिन चन्द्र पाल भी इस संगठन को बाहर से बल दे रहे थे। सैडीशस मीटिंग्स ऐक्ट और समाचारपत्रों पर सरकार की ओर से लगाये हुए प्रतिबन्ध इस प्रवाह को पूरे तौर पर न रोक सके। यदि क्रान्तिकारियों पर मुकदमे चले, उन्हें सजायें हुईं, फांसी लगी तो सरकारी कर्मचारियों को भी कुछ न कुछ भुगतान तो देना ही पड़ा। नव-स्थापित बंगाल

के गवर्नर पर बम फेंका गया, जिसमें वे बाल बाल बचे। ढाका के भूतपूर्व डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट पर गोली का वार हुआ और ऐसा ही एक वार हुआ मुजफ्फरपुर में मिस्टर किंग्सफोर्ड पर, परन्तु वह बच गए और उनकी जगह धोखे से दो निर्दोष स्त्रियां मारी गईं। खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी को इस सम्बन्ध में अपना जीवन अर्पण करना पड़ा। देश के दूसरे भागों में भी क्रान्तिकारी कार्रवाइयों का लघु रूप दिखाई दिया। महाराष्ट्र में सावरकर बन्धुओं ने नासिक को इस काम का केन्द्र बना दिया। 'इंडिया' और 'पंजाबी' में छपे हुए कुछ लेखों के कारण लाला लाजपतराय पर और 'केसरी' में छपे लेखों के कारण तिलक जी पर भी क्रान्तिकारी होने का शुबह किया गया व दोनों पर मुकद्दमा चला कर सजा कर दी गई। दमन-शस्त्रों के प्रयोग से परिस्थिति कुछ-कुछ सरकार के पक्ष में अवश्य हो गई। परन्तु संगठन पूर्णतः कुचला न जा सका। सच पूछिये तो वह विश्वव्यापी हो गया। हेमचन्द्र ने पेरिस में रहकर रूसी क्रान्तिकारियों से बम बनाना सीखा। १९०५ में श्यामजी वर्मा ने इंडिया होम रूल सोसाइटी व उसके पत्र 'इंडियन सोशियॉलाजिस्ट' से अपने विचारों का प्रचार किया। मदन लाल ढींगरा व विनायक दामोदर सावरकर भी इसी काम में जुट गए। लाला हरदयाल यही काम अमरीका तथा कनाडा में करने लगे।

पर इतना सब होते हुए भी जनमत अभी पूर्ण रूप से गरम दल वालों या क्रान्तिकारियों के हाथ में न था। यह बात प्रत्यक्ष रूप में १९०७ के सूरत कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर सामने आ गई। गरम दल के नेताओं ने हू-हल्ला बहुत मचाया, जूते फिंके, पुलिस आ गई पर अन्त में यह साफ दिखाई दे रहा था कि देश की बागडोर अब भी उन्हीं लोगों के हाथ में है जो विधानवाद में विश्वास रखते थे। नरम दल का पक्ष प्रबल करने के लिए सरकार ने एक छोटी सी पुड़िया उनके हाथ में दी—१९०९ के मौर्लेमिण्टो सुधार। थोड़े ही दिनों में इनका मुलम्मा उतर गया। एक भी भारतीय मांग ऐसी नहीं थी जो इनके द्वारा पूरी हुई हो। इसके विपरीत अंग्रेजों की पुरानी हिन्दू मुसलमान को लड़ाने की नीति इसके शब्द-शब्द से टपकती थी। जहां मत-दान का अधिकार ७,००० रुपये मालगुजारी देने वाले हिन्दू को दिया गया था वहां मुसलमान जो केवल ७५० रुपये मालगुजारी देता था, उसको भी यह अधिकार प्राप्त था। मतदाता चार भागों में बांटे गये थे—साधारण, जमींदार, मुसलमान व विशेष स्वार्थ। सरकार की इस वक्र नीति को मुसलमान ने भी खूब समझ लिया था। यही कारण था कि १९२० के इलाहाबाद वाले कांग्रेस अधिवेशन में श्री मुहम्मद अली जिन्नाह ने स्वायत्त शासन की संस्थाओं में भी पृथक् निर्वाचन प्रारम्भ करने का विरोध किया था। इन सुधारों की निरर्थकता स्वीकार करते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि सरकार यह जान गई थी कि अब भारतवर्ष को भुलावे में नहीं डाला जा सकता। भारत की राजनीतिक चेतना अब उस भयानक बिन्दु तक पहुंच गई थी जहां विस्फोट कभी भी हो सकता था। गरम दल और क्रान्तिकारियों की कार्रवाइयां इसका जीता-जागता प्रमाण थीं। मिण्टो और मौर्ले दोनों राजनीति के चतुर खिलाड़ी थे। उनका ध्येय था उफनते हुए जनमत को शान्त करना एवं गरमदली और क्रान्तिकारी नेताओं को नरम दल से अलग करके उनको दण्डित करना। इन दोनों कामों में वे सफल हुए। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, १९०९ के सुधार बिल्कुल थोथे थे परन्तु नरम दल के विधानवादियों को संतुष्ट करने के लिए वे पर्याप्त थे। यदि वे संतुष्ट नहीं थे तो असंतुष्ट भी नहीं थे। बगैर बलिदान किये केवल बातचीत के रास्ते वे इससे अधिक क्या आशा कर सकते थे। गरम दल वालों का असंतोष और बढ़ गया था। उनको अब पूर्ण विश्वास हो गया था कि अंग्रेज सरकार से समझौते की कोई आशा नहीं है अतः विधानवाद को अन्तिम नमस्कार करके ऐसा रास्ता पकड़ना पड़ेगा जिससे सरकार देश की मांगें पूरी करने पर मजबूर हो। कांग्रेस के इलाहाबाद में होने वाले २६वें अधिवेशन में सभापति सर विलियम वेडरबर्न ने दोनों दलों में समझौते का बहुत प्रयास किया पर वह विफल रहा। सरकार को गरम दल को दबाने का पूरा मौका मिल गया। तिलक और गरम दल के अनेक नेता जेल में भर दिये गये। राजनीतिक वातावरण में एक शिथिलता सी दिखाई देने लगी। गोखले जी अफ्रीका गये और वहां गांधी जी के साथ मिल कर उन्होंने वहां के भारतीयों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया पर सफलता न मिली। नरम दल के नेता भी यह महसूस करने लगे थे कि सरकार की नीयत साफ नहीं है। नरम दल बराबर बंगाल के विभाजन का विरोधी रहा था। पर अभी तक उस दिशा में कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। नरम दल वाले गरम दल वालों की नीति से सहमत नहीं थे पर उस पर होने वाले दमन को भी वे खड़े-खड़े देख नहीं सकते थे। अतः मनमुटाव जैसा का तैसा था। इस परिस्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने बदला। १९१४ में जो प्रथम महायुद्ध हुआ उसके प्रारम्भिक चिन्ह आकाश में झलक निकले। योरोप के राष्ट्रों के बीच कशमकश बढ़ गई। युद्ध पास आता दिखाई दिया। ऐसे समय में भारत को असंतुष्ट रखना उचित न था। संतुष्ट करना भी कठिन काम न था, क्योंकि गरम दलीय नेता जेलों में थे और भारतीय जनता का नेतृत्व ऐसे हाथों में था जो विधानवाद के पुराने भक्त थे और धक्के खाने के बाद भी जिनको ब्रिटिश जाति की न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रख कर १९११ के दिल्ली दरबार में बंग-भंग को रद्द करने की घोषणा की गई।

जिसकी आशंका थी वह होकर ही रहा। १९१४ के जून मास में योरुप में युद्ध छिड़ गया। जर्मनी एक तरफ था और इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस दूसरी तरफ। बाद को अमरीका भी मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्धक्षेत्र में आ गया। मित्र राष्ट्रों का कहना था कि उनकी लड़ाई संसार में लोकतंत्र और मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए है। अतः संसार के उन सब देशों का, जिनको यह सिद्धान्त प्रिय है, धर्म है कि वे मित्र राष्ट्रों को पशु-बल का मुकाबला करने में सहायता करें। भारत से भी भरपूर सहायता मांगी गई। प्रधान मंत्री आसक्विथ ने आश्वासन दिया कि भारत के प्रश्नों को भविष्य में एक नई दृष्टि से देखा जायेगा और उसकी स्वामिभक्तिपूर्ण सहायता के पुरस्कार में उसको स्वशासन का अधिकार दे दिया जायेगा। उनके उत्तराधिकारी लॉयड जार्ज ने भी करीब-करीब इसी बात को दुहराते हुए कहा कि अयनवृत्त के प्रदेशों को भी आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जायेगा। यदि ये आश्वासन न भी दिये गये होते तो भी भारत को सहायता तो देनी ही पड़ती, क्योंकि उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता तो थी नहीं। जर्मनी से उसका कोई सीधा विरोध तो था नहीं पर इंग्लैण्ड का पिछलगुआ होने के कारण चाहे अनचाहे जर्मनी उसका शत्रु बन गया था। इस अवस्था का ध्यान रखते हुए और ब्रिटिश सरकार के आश्वासनों पर विश्वास रखते हुए हर वर्ग के भारतीय नेता ने जनता से सहायता का अनुरोध किया। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महात्मा गांधी और सभी नेता सरकार की पूरी सहायता कर रहे थे। महात्मा गांधी को इस सेवा के उपलक्ष्य में कैसर हिन्द मैडल मिला था। लोकमान्य तिलक, जो अभी छह वर्ष की सजा पूरी करके छूटे थे, उन्होंने भी मित्र राष्ट्रों के पक्ष का समर्थन किया और कहा कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत को स्वशासन मिल जाय तो वे संतुष्ट होंगे। इस तरह जहां तक युद्ध सहायता का सम्बन्ध था, नरम दल और गरम दल का भेद किसी हद तक मिट गया था। हां, मुसलमान अवश्य अंग्रेजों की ओर से कुछ खिचे हुए से थे। बांकीपुर के २८वें कांग्रेस अधिवेशन में ही स्वागताध्यक्ष श्री मजरुल हक ने अंग्रेजी सरकार की बलकान नीति के प्रति असंतोष प्रकट किया था। युद्ध छिड़ जाने के बाद जब टर्की जर्मनी की तरफ हो गया तो भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति उधर की ओर हो गई। कुछ भी हो, लड़ाई के समय में अंग्रेजी सरकार को भारत से लाखों सिपाही और करोड़ों रुपया प्राप्त हुआ। भारतीय सैनिक जी-जान से लड़े मानो वे अपनी ही स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हों और जर्मनी की बढ़ती हुई बाढ़ को पीछे हटा देने का श्रेय उन्हींको मिला। मित्र राष्ट्रों के नगरों में उनका बड़ा सम्मान हुआ और उनकी प्रशंसा से आकाश गूँज उठा।

लड़ाई का अन्त अब दिखाई दे रहा था और विजय-श्री मित्र राष्ट्रों के हाथ थी। भारतीय सिपाही अब घर लौटने लगे थे। उन्होंने स्वतंत्र देशों को देखा था और उनका हाल वे गांव-गांव पहुंचा रहे थे। इधर भारतीय नेताओं ने भी अंग्रेजी अधिकारियों को अपने वादों की याद दिलानी शुरू की। लड़ाई के दिनों में विभिन्न भारतीय दल एक-दूसरे के पास आ गए थे। पुराने नेताओं में से दादा भाई नौरोजी और गोपाल कृष्ण गोखले का निधन हो चुका था। नये नेताओं में गांधीजी, श्री जिन्नाह तथा श्रीमती एनी बीसेंट थे। नये और पुराने नेताओं की सूझ-बूझ के कारण राजनीति में एक नया पृष्ठ खुल गया था। नरम दल और गरम दल का भेदभाव कुछ अंश तक मिट गया था और इससे भी अधिक प्रसन्नता की बात यह थी कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग का सम्पर्क बढ़ने लगा था। जब कांग्रेस का ३१वां अधिवेशन बम्बई में हो रहा था तो उसी समय वहां लीग का भी अधिवेशन हो रहा था। यह ऊपर कहा भी जा चुका है कि मुसलमान इस समय अंग्रेजी सरकार से चिढ़े हुए थे। अतः लीग और कांग्रेस के बीच की कटुता कम हो गई और कांग्रेस के सदस्य लीग के अधिवेशन में शामिल हुए और वहां उनका आदर हुआ। इसी प्रकार कांग्रेस के लखनऊ में होने वाले अधिवेशन में भी सहृदयता साफ झलक रही थी। इस अधिवेशन में श्री मुहम्मद अली जिन्नाह, श्री एनी बीसेंट और गांधीजी पास-पास बैठे थे। इतना ही नहीं, इस अधिवेशन में कांग्रेस व लीग की एक सम्मिलित योजना भी तैयार हुई थी। इस उपयुक्त वातावरण का लाभ उठा कर श्रीमती बीसेंट ने अपना होम-रूल आन्दोलन शुरू किया था। उन्होंने ललकार कर कहा, "अब भारत साम्राज्य की शिशुशाला में एक बच्चे की तरह रहने को तैयार नहीं है। वह स्वतंत्रता चाहता है।" इस स्वतंत्रता से उनका मतलब था औपनिवेशिक स्वराज्य से। "ब्रिटेन का भाग्य" उन्होंने कहा, "भारत के भाग्य के साथ-साथ जुड़ा हुआ है। अतः इसी में बुद्धिमत्ता है कि भारत को स्वराज्य देकर संतुष्ट कर दिया जाय।" इस आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा और घर-घर उसकी सफलता की प्रार्थना होने लगी। यहां तक कि मन्दिरों में साधुओं ने इसकी सफलता के लिए प्रार्थना की। इधर कांग्रेस अपने अधिवेशनों में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर---नजरबन्दी कानून, प्रेस ऐक्ट, कुली-प्रथा, उपनिवेशों के भारतीय, स्वदेशी आन्दोलन आदि---प्रस्ताव पास करती रही। तिलक जी भी इसी प्रकार का काम महाराष्ट्र में कर रहे थे।

इस सब कुछ से कुछ होना-जाना नहीं था। अब तो काम निकल चुका था। सरकार ऐसी कार्रवाइयों को विद्रोह समझती थी। गोरे महाप्रभु का दमन-चक्र फिर चल पड़ा। श्रीमती एनी बीसेंट को मद्रास में नजरबंद कर दिया गया। इस्टिंगटन कमीशन की रिपोर्ट द्वारा सिविल सर्विस की आयु घटा कर १९वर्ष कर दी गई। भारत-मंत्री श्री माण्टेग्यू की जो २० अगस्त सन् १९१७ को घोषणा हुई, उससे भी यह जाहिर था कि निकट भविष्य में स्वशासन मिलने की कोई

आशा नहीं है। होम-रूल आन्दोलन ठंडा हो रहा था, क्योंकि उसकी जन्म-दात्री एक हद से आगे बढ़ने को तैयार नहीं थी। होम-रूल आन्दोलन चलाने का एक यह भी कारण था कि श्रीमती बीसेंट को डर था कि कहीं गरम दल वाले क्रान्तिकारियों में न मिल जायँ। अब यह डर भी दूर हो गया था। लड़ाई के दिनों में क्रान्तिकारियों ने अपना-सा प्रयत्न किया था, वे असफल रहे। लाला हरदयाल, चम्पाकरण पिल्ले, राजा महेन्द्र प्रताप, उबैद उल्लाह, बरकत उल्लाह आदि ने बाहरी शक्तियों का सहारा लेकर अंग्रेजी सरकार की जड़ खोदनी चाही। इस सम्बन्ध में रेशमी चिट्ठियों का षड्यन्त्र बहुत प्रसिद्ध है।

ऐसी उदासी के समय में चतुर खिलाड़ी श्री माण्टेग्यू नवम्बर सन् १९१७ में भारत आए और उन्होंने अपना जादू का पिटारा खोला। भारतीय राजनीति में फिर फूट फैल गई। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी की अध्यक्षता में नरम दल वाले सदा के लिए कांग्रेस से पृथक् हो गये। उन्होंने अपनी नई संस्था का नाम 'नेशनल लिबरल लीग' रक्खा और अपने पहले ही अधिवेशन में उन्होंने 'अगस्त–घोषणा' और उसके निर्माता श्री माण्टेग्यू की बड़ी प्रशंसा की। कांग्रेस अभी तक पूर्णतया संग्राम पथ पर नहीं थी। कांग्रेस के ३३वें अधिवेशन में घोषणा का स्वागत किया गया, पर सरकार को यह भी याद दिलाया गया कि लड़ाई जीतने में भारत का कितना हाथ था और सरकार ने इस सम्बन्ध में क्या-क्या वायदे किये थे। कहा गया कि सरकार का विचार तो सराहनीय है कि "ब्रिटिश नीति का लक्ष्य है शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीय नागरिकों का सहयोग प्राप्त करना तथा उत्तरदायी शासन मूलक ऐसी संस्थाओं का विकास करना, जिनसे ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत भारत में जिम्मेदार सरकार का विकास हो" पर सरकार को यह भी बता देना चाहिये कि यह नीति कब तक कार्यान्वित होगी। साथ-साथ होम-रूल के झण्डे को उसने अपना झण्डा बना कर यह भी घोषणा कर दी कि आना-कानी की सूरत में स्वतंत्रता संग्राम चालू रहेगा। यहीं पर उसमें और नरम दल वालों में मतभेद था। नरम दल वाले अब भी वैधानिक नीति के पुजारी थे और उनकी समझ में कांग्रेस अब एक संग्रामकारी संस्था बनती जा रही थी। वे क्यों इस बात को भूल गये कि कांग्रेस झगड़ालू अवश्य थी पर वह अब भी राज्य भक्त थी। सन् १९१८ में दिल्ली में होने वाले कांग्रेस के अधिवेशन में राज-भक्ति का प्रस्ताव पास हुआ और सरकार को युद्ध में विजयी होने के लिए बधाई दी गई। उन्होंने यह भी प्रार्थना की कि शान्ति सम्मेलन में भारत को भी प्रतिनिधित्व दिया जाय और उस सम्मान के लिए उन्होंने लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और हसन इमाम साहब को चुना। माण्टेग्यू साहब ने अच्छी तरह नरम दल वालों के हृदय में यह बात बैठा दी थी कि कांग्रेस विद्रोही संस्था है। उन्होंने यही चाल मुसलमानों के सम्बन्ध में खेली। १९१७ की एक घोषणा से उन्होंने कांग्रेस और लीग की उस सद्भावना को मिटा दिया जो सन् १९१६ ई० के लखनऊ पैक्ट के रूप में प्रकट हुई थी।

लड़ाई से पहले की-सी खींचा-तानी फिर दिखाई देने लगी। पर जैसे ही अंग्रेज सरकार ने पुरस्कार के रूप में भारत को रौलट ऐक्ट दिया, देश के आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए भगवान् के वचनानुसार चर्खे का सुदर्शन चक्र हाथ में लेकर गीता के अनन्य भक्त ने राजनीति में प्रवेश किया। अब कांग्रेस सचमुच संग्रामकारी संस्था थी।

गांधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश और १९२० ई० के बाद का जन-जागरण

श्री भंवरलाल गर्ग
राजनीतिशास्त्र विभाग, काशी विश्वविद्यालय ।

यद्यपि भारतीय राजनीति में गांधीजी का सक्रिय पदार्पण सन् १९१६ ई० में हुआ, तथापि इससे बहुत पूर्व ह उनका संपर्क यहाँ की राजनीति तथा राजनीतिक नेताओं से हो चुका था । सर्वप्रथम सन् १९०१ ई० में वे कांग्रेस के कलकत्त अधिवेशन में सम्मिलित हुए और तत्कालीन कांग्रेसाध्यक्ष ने गाँधीजी को "अत्युत्तम, अत्यधिक सक्रिय तथा अत्यंत उत्साही विशेषणों से विभूषित किया । किंतु जहां तक गाँधीजी का संबंध है, वे कांग्रेस के क्रिया-कलापों से संतुष्ट नहीं थे । उन शिकायत थी कि कांग्रेस में "शक्ति की मितव्ययिता पर ध्यान नहीं दिया जाता, अंग्रेजी का प्राधान्य रहता, सब कार्य अस्त व्यस्त होते तथा स्वयं-सेवकों को समुचित शिक्षा नहीं दी जाती ।" इन सबसे भी बड़ कर शिकायत उनको यह थी कि कांग्रेस, "वर्ष में केवल तीन दिन सक्रिय रहती तथा शेष समय सुप्तावस्था में पड़ी रहती है ।"

किन्तु गाँधीजी की इस शिकायत पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उस समय तक गांधीजी का संबं प्रत्यक्षतया भारतीय राजनीति से नहीं था । वे दक्षिण अफ्रीका स्थित भारतीयों की दयनीय स्थिति को दूर करने के लि संघर्ष-रत थे और इसी रूप में उनकी मान्यता कांग्रेस में थी । जहां तक कांग्रेस के आधिकारिक प्रस्तावों का संबंध है, सन १९०९ ई० से पूर्व उनमें गांधीजी का कहीं भी नामोल्लेख नहीं मिलता । जब सन् १९०९ ई० में दक्षिण अफ्रीका संबंधी प्रस्ताव पर बोलते हुए श्री गोपालकृष्ण गोखले ने "अत्यंत भावुकता तथा गर्व" के साथ गांधीजी का नामोल्लेख किया तं कांग्रेस की विशाल सभा ने खड़े होकर तीन बार हर्ष-ध्वनि की ।

इस प्रकार जब सन् १९१५ ई० में वे भारत में सन्निविष्ट हो जाने के प्रयोजन से भारत आये तो भारती जनता के हृदय में उनके लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन चुका था । सर फीरोजशाह मेहता ने उनके लिए आयोजित स्वागत सभा में ठीक ही कहा था कि "गत कुछ वर्षों से गांधीजी के कार्यों, उनके साहस, उनके नैतिक गुणों तथा दक्षिण अफ्रीक स्थित भारतीयों के लिए, विशेषकर उनमें आत्म-सम्मान एवं प्रतिष्ठा की भावना भरने तथा उसे जाग्रत रखने के लिए उनके द्वारा किये गये प्रयत्नों तथा कष्टों की कहानी से समूचा देश प्रतिध्वनित हो रहा है ।"

किंतु गांधीजी की इस प्रतिष्ठा के बावजूद भी उनके परम प्रिय मित्र तथा 'राजनीतिक गुरु' श्री गोपालकृष्ण गोखले ने उन्हें एक वर्ष तक 'कान-आँख खुला रखने तथा मुंह बंद रखने' का अमूल्य परामर्श दिया । फलस्वरूप गांधीजी ने इस 'गुरु-मंत्र' के अनुसार वर्ष-भर भारत-भ्रमण करने तथा यहां की वास्तविक स्थिति को ठीक से समझने का प्रयत्न किया । यद्यपि वे उक्त 'गुरु-मंत्र' का पूर्णतया निर्वाह नहीं कर सके, क्योंकि इसी बीच उन्हें कई भाषण देने पड़े, जिन्हें पूर्णतया राजनीति से मुक्त नहीं कहा जा सकता तथापि इस काल में उन्होंने अपने आपको अधिकांश में शासन की आलोचना से परे रखा तथा केवल 'जनता की दुर्बलताओं को व्यक्त करने, अस्पृश्यता का विरोध करने एवं स्वदेशी के प्रचार करने' तक सीमित रखा ।

अपने इन 'अराजनीतिक' भाषणों में ही गांधीजी ने राजनीति विषयक अपनी एक नई रीति-नीति का पूर्वाभास दे दिया ।

जब बंबई में १२ जनवरी, सन् १९१५ ई० को उनके स्वागत का एक विशाल शानदार आयोजन किया गया जिसमें बंबई के सभी वर्गों के लगभग ८०० 'भद्र-जन' उपस्थित थे; तब गांधीजी को वहां के अभारतीय वातावरण से इतनी अधिक ठेस पहुंची कि अपने स्वागतोत्तर भाषण में उन्हें इसका उल्लेख करना पड़ा । उनके मतानुसार जब वे दक्षिण अफ्रीका से चले तो उन्हें यह आशा थी कि अपनी मातृभूमि में उन्हें 'दक्षिण अफ्रीका स्थित भारतीयों के संसर्ग की अपेक्षा अधिक

आत्मीयता का अनुभव होगा', किंतु इस संबंध में उन्हें अत्यधिक निराश होना पड़ा। श्री डी० जी० तेंदुलकर के मतानुसार "अपनी काठियावाड़ी वेशभूषा में गांधीजी तड़क-भड़क के उस वातावरण में अटपटे से लगते थे।"

जब फरवरी सन् १९१५ ई० में शांति-निकेतन के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों ने भारतीय ढंग से उनका स्वागत-सत्कार किया तो वे अतीव प्रसन्न हुए। उन्होंने वहाँ पुनः पाश्चात्य ढंग पर आयोजित बंबई के समारोह का स्मरण किया तथा कहा कि "हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पौर्वात्य-पद्धति का प्रयोग करना चाहिये न कि पाश्चात्यता का अंधानुकरण। हमें अपनी समस्याओं का, भारतीय ढंग से, भारतीय रीति-रिवाजों तथा भारतीय आचार-विचारों का ध्यान रखते हुए, भारतीय आदर्शों के अनुरूप, समाधान ढूंढ निकालना होगा।"

गांधीजी को अपने स्वागत-समारोहों में न केवल वेशभूषा एवं आचार-विचार में ही पाश्चात्यता के प्राधान्य का अनुभव हुआ, अपितु भाषा के क्षेत्र में भी यही स्थिति दृष्टिगोचर हुई। जब बंबई के गुजराती-समाज ने उनका स्वागत अंग्रेज़ी में किया तो एक बार पुनः उनके हृदय को ठेस पहुंची और उन्होंने गुजराती में धन्यवाद देकर 'गुजराती तथा हिन्दुस्तानी के प्रति अपने पक्षपात तथा अंग्रेजी के प्रयोग के विरुद्ध अपना विरोध' प्रकट किया।

इसी प्रकार सन् १९१५ ई० में ही दक्षिण-भारत के मायावरम् नामक स्थान पर आयोजित एक स्वागत-सभा में उन्होंने कहा कि "आप लोगों ने अंग्रेजी भाषा में मेरा स्वागत किया। कांग्रेस के प्रस्तावों में एक 'स्वदेशी' पर भी है। यदि आप लोग 'स्वदेशी' होने का दावा करते हुए भी इन्हें अंग्रेजी में छपवाते हैं, तो फिर मैं 'स्वदेशी' नहीं हूं। मुझे यह अत्यंत असंगत प्रतीत होता है। मुझे अंग्रेजी के विरुद्ध कुछ नहीं कहना है, किंतु मैं यह अवश्य कहूंगा कि यदि आप लोग भारतीय भाषाओं को समाप्त कर उनकी समाधि पर अंग्रेजी को अवस्थित करना चाहते हैं, तो आप सच्चे अर्थों में 'स्वदेशी' का समर्थन नहीं कर रहे हैं।"

हरिजनों की हीन अवस्था ने भी इस अवधि में गांधीजी का ध्यान आकर्षित किया। जब वे अपनी भारत-यात्रा के दौरान लक्ष्मण-झूला की यात्रा कर रहे थे तो एक संन्यासी ने, जो उनसे काफी प्रभावित हुआ था, यह शिकायत की कि वे न तो शिखा रखते हैं और न जनेऊ ही धारण करते हैं। इसके प्रत्युत्तर में गांधीजी ने यह स्वीकार किया कि एक वैष्णव की हैसियत से वे शिखा रखते थे, किंतु 'लज्जा की गलत भावना' के कारण उन्होंने उसे त्याग दिया था। अतः उन्होंने संन्यासी को वचन दिया कि वे पुनः शिखा रखेंगे। किंतु जहाँ तक जनेऊ का संबंध है, हरिजनों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि "जब अगणित हिन्दू जनेऊ धारण किये बिना भी हिन्दू बने रह सकते हैं तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं।"

इतना ही नहीं, मायावरम् की एक सभा में तो उन्होंने स्पष्टतया कहा कि "जिस व्यवस्था में मनुष्यों का एक बहुत बड़ा समुदाय अछूत माना जाय, वह कभी भी सच्चे हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती और यदि मुझे यह विश्वास दिला दिया जाय कि यह हिन्दू-धर्म का एक आवश्यक अंग है तो ऐसे हिन्दू-धर्म के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करने वाला मैं पहला व्यक्ति हूंगा।"

जहां तक राजनीति का संबंध है, इस अवधि में, उन्होंने कलकत्ता में विद्यार्थियों की एक सभा में बोलते हुए कहा कि विद्यार्थियों को राजनीति से पूर्णतया पराङ्‌मुख होना चाहिये। राजनीति को धर्म से पृथक् करना, उन्हें पसंद नहीं था। उनका कहना था कि "अनेक विद्यार्थी देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत होकर षड्यंत्रकारी कार्यों में लीन हैं, किंतु वे यह कार्य लुक-छिप कर करते हैं।" उनके मतानुसार "विद्यार्थियों का यह कार्य बताता है कि वे लोग मनुष्यों से डरते हैं, परमेश्वर से नहीं; जब कि यथार्थ में उन्हें डरना परमेश्वर से चाहिये।" अस्तु। उन्होंने विद्यार्थियों को यह परामर्श दिया कि यदि उनके पास देश के लिए कोई कार्यक्रम है, तो उन्हें खुलकर आगे आना चाहिये तथा उसे देश के सम्मुख रखना चाहिये। उन्होंने विद्यार्थियों को यह आश्वासन दिया कि वे यदि धर्म तथा नीति के मार्ग का अनुसरण करेंगे तो वे स्वयं संघर्ष में उनका साथ देंगे किन्तु यदि उन्होंने विपरीत मार्ग का अवलंबन किया तो उन्हें मजबूरन उनके विरुद्ध खड़ा होना होगा।

इसी प्रकार मद्रास में, विद्यार्थियों की एक दूसरी सभा में, बोलते हुए उन्होंने कहा कि "आज देश में जो कुछ हो रहा है, राजनीतिक हत्याएं तथा राजनीतिक डकैतियां, यह सब अभारतीय है। हमारा धर्म हमें कभी यह नहीं सिखाता कि हम इस प्रकार के हिंसात्मक कार्य करें। हमें तो अपने लक्ष्य की पूर्ति निर्भयतापूर्वक अहिंसात्मक साधनों द्वारा करनी चाहिये।" इस सभा में एक बार पुनः उन्होंने धर्म तथा राजनीति के सम्मिश्रण का समर्थन किया तथा विद्यार्थियों को राजनीति से पृथक् न रहने का परामर्श दिया।

इसी अवधि में उन्होंने सत्याग्रह तथा सत्याग्रही की रीति-नीति पर भी प्रकाश डाला। सन् १९१५ ई० में जब बंबई के गवर्नर ने उन्हें सुझाव दिया कि जब कभी वे शासन के विरुद्ध कोई कदम उठायें तो ऐसा करने से पूर्व वे उनसे इस संबंध में 'विचार-विमर्श' कर लें तो गांधीजी ने सहर्ष उत्तर दिया कि "मैं सरलता से यह आश्वासन दे सकता हूं, क्योंकि एक

त्याग्रही की हैसियत से मेरा यह नियम है कि मैं विपक्षी के पक्ष को ठीक से समझने तथा यथा-संभव उससे सह होने का प्रयास करता हूं।"

इतना ही नहीं, सन् १९१५ ई० में लॉर्ड वेलिंग्टन के वैयक्तिक सचिव को लिखे गये एक पत्र में उन्होंने सत्या की महत्ता एवं शक्ति की चर्चा करते हुए लिखा कि "यद्यपि ब्रिटिश शासन अत्यंत शक्तिशाली है, तथापि मेरी मान्यता कि सत्याग्रह उसका भी सर्वोच्च उपचार है।"

इसी प्रकार, इस अवधि में, गांधीजी ने शिक्षा-पद्धति के संबंध में भी अपने विचार व्यक्त किये। सन् १९१५ में मद्रास में विद्यार्थियों की एक सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा कि "जो शिक्षा आप को दी जा रही है, वह और कुछ न सरकारी नौकर तथा कल-कारखानों के लिए क्लर्क तैयार करने वाली एक मशीन मात्र है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक वर्ष की इस 'अराजनीतिक' अवधि में यद्यपि गांधीजी ने अपने आप को सक्रि राजनीति से परे रखा, तथापि जो भाषण इस अवधि में उन्होंने दिये, उनसे देश की राजनीति को एक नवीन दिशा की ओ उन्मुख होने की पूर्व-पीठिका प्राप्त हो गई।

यह एक संयोग ही था कि गोखले जी के 'गुरु-मंत्र' की अवधि-समाप्ति और काशी विश्वविद्यालय का उद्‌घाटनोत्स साथ ही साथ पड़े। परिणामतः गांधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश काशी विश्वविद्यालय के उद्‌घाटनोत्सव पर दि गये उनके भाषण से हुआ। उक्त अवसर पर वाइसराय लॉर्ड हार्डिंज विश्वविद्यालय की आधार-शिला रखने के लिए आमंत्रि किये गये थे। उनकी सुरक्षा के लिए इतनी अधिक व्यवस्था की गई थी कि समूची काशी एक प्रकार से घेरे की-सी स्थि को प्राप्त हो गई थी। भारत के विभिन्न भागों से अनेक महान् विभूतियां आई थीं तथा उनमें से कई लोगों ने गांधीजी पूर्व, भाषण भी किये थे। भारत के कई राजे-महाराजे भी अपनी तड़कीली-भड़कीली वेशभूषा में, आभूषणों से लदे हुए सभा-मंच को सुशोभित कर रहे थे। गांधीजी को यह सब कुछ इतना विचित्र लगा कि, ४ फरवरी सन् १९१६ ई० को जब उन्हें भाषण देने का अवसर प्राप्त हुआ, वे अपनी सहज-प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लोभ का संवरण न कर सके।

सर्वप्रथम उन्होंने भाषा का प्रश्न उठाया और पूछा कि "इधर दो-तीन दिनों में जो भाषण हुए, उनमें से कितने श्रोताओं का हृदय-स्पर्श कर सके?" उनका कहना था कि "हमारे लिए यह एक अत्यंत शर्म की बात है कि इस पवित्र नगरी से इस महान् विद्यालय के साये में मुझे आज एक ऐसी भाषा में बोलने के लिए बाध्य किया जा रहा है कि जो मेरे लिए विदेशी है।" इस संबंध में उन्होंने कांग्रेस के बंबई अधिवेशन (सन् १९१५ ई०) का अपना अनुभव सुनाया और कहा कि बंबई जैसी अहिन्दी भाषा-भाषी नगरी में केवल वे ही कांग्रेसी वक्ता सर्वसाधारण जनता का हृदय-स्पर्श कर सके, जिन्होंने हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी में भाषण किया। अतः उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि इस विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जायगी। इस संबंध में उन्होंने भारतीय भाषाओं की अपरिपक्वता अथवा दुर्बलता संबंधी तर्क का उल्लेख करते हुए पूना के कुछ प्राध्यापकों से हुई अपनी चर्चा का उल्लेख किया, जिन्होंने उन्हें बताया कि अंग्रेजी के माध्यम से ज्ञानार्जन के परिणामस्वरूप प्रत्येक भारतीय युवक को अपने जीवन के कम-से-कम छह अमूल्य वर्ष बर्बाद करने पड़ते हैं। गांधीजी ने अपने श्रोताओं से कहा कि "इस संख्या का गुणा, हमारी पाठशालाओं एवं महाविद्यालयों से निकलने वाले विद्यार्थियों की संख्या से कीजिये और आप को पता लग जायगा कि इससे राष्ट्र को कितने हजार वर्षों की हानि होती है।"

दूसरा प्रश्न, जिस पर गांधीजी ने उक्त सभा में विचार व्यक्त किया, वह राजाओं-महाराजाओं की तड़क-भड़क तथा शान-शौकत से संबंधित था। उन्होंने कहा कि "इधर दो दिनों से कई वक्ताओं ने भारतीय दरिद्रता की चर्चा की है, किंतु जिस पंडाल में आधार-शिला संबंधी आयोजन किया गया था, उसमें ठाट-बाट, शान-शौकत तथा हीरे-जवाहरात तथा अन्य आभूषणों का जैसा विशाल प्रदर्शन हुआ, उससे संभवतः पेरिस के जौहरी भी चकाचौंध हो जायेंगे। जब मैं इनकी तुलना करोड़ों दरिद्र भारतीयों से करता हूं तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक ये लोग इन आभूषणों को उतार कर इन्हें निर्धन भारतीय जनता की धरोहर के रूप में नहीं रखेंगे, तब तक भारत का उद्धार नहीं हो सकता।"

तीसरी बात, जिसकी गांधीजी ने, अपने भाषण में चर्चा की, वह वाइसराय की सुरक्षा से संबंधित व्यवस्था थी। उनका कहना था कि "गत दो-तीन दिनों से मुझे यह देख कर अत्यंत व्यग्रता हो रही है कि लॉर्ड हार्डिंज की सुरक्षा के लिए इतने अधिक गुप्तचरों और इतनी अधिक बड़ी सुरक्षा-व्यवस्था की क्या आवश्यकता थी? हमारा इतना अधिक अविश्वास क्यों किया जाता है? मेरी समझ से तो लॉर्ड हार्डिंज का इस प्रकार जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना ज्यादा अच्छा है। एक बार यदि यह मान भी लिया जाय कि उनके लिए यह व्यवस्था आवश्यक थी, तो भी प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हमारे पीछे क्यों गुप्तचर लगाये गये हैं?" उनका कहना था कि "शासन के ऐसे कार्यों से अराजकतावादियों का जन्म होता है।" यद्यपि गांधीजी ने स्वयं को भी एक (दूसरे) प्रकार का अराजकतावादी बताया तथापि उनका कहना था कि "अराजकतावादियों ने हिंसा का जो तरीका अपनाया है, वह धर्म-विरुद्ध तथा भारतीय संस्कृति एवं परंपरा के विपरीत है।" उन्होंने

कहा कि "हमें इस देश को पारस्परिक अविश्वास से उबार कर इसमें स्नेह तथा विश्वास का शासन कायम करने का प्रयत्न करना चाहिये।"

चौथी वात, जिस पर गांधीजी ने उक्त भाषण में प्रकाश डाला, वह स्वशासन संबंधी समस्याओं से संबद्ध है। उन्होंने कांग्रेसाध्यक्ष के इस विचार से सहमति प्रकट की कि "हमें इसके लिए आवश्यक तैयारियां करनी पड़ेंगी।" इस संबंध में उन्होंने अस्वच्छता संबंधी हमारी आदतों का उल्लेख किया और कहा कि "भारत के सभी वर्गों के लोग, चाहे फिर वे पढ़े-लिखे हों या अनपढ़, गरीब तबके के हों अथवा धनाढ्य; सभी को इस दिशा में अपने आप को सुधारने का प्रयत्न करना होगा।" उनका कहना था कि "ब्रिटिश राष्ट्र स्वतंत्रता-प्रेमी है और वह तब तक स्वशासन नहीं देगा, जब तक हम स्वयं उससे स्वशासन लेने में समर्थ नहीं हैं। बोअर-युद्ध से हमें यही शिक्षा मिलती है कि जो लोग कुछ वर्षों पूर्व तक एक दूसरे के शत्रु थे, वे ही अब एक दूसरे के मित्र वन गये..."

गांधीजी अपनी इस बात को पूरा भी न कर पाये कि उनके भाषण में टोका-टाकी शुरू हो गई। यद्यपि टोका-टाकी इससे कुछ समय पूर्व भी हुई थी और डॉ० एनी बीसेंट जैसी विदुषी महिला ने की थी, तथापि इस बार की टोका-टाकी के परिणामस्वरूप स्वयं सभाध्यक्ष कुर्सी छोड़ कर चल दिये और इसी गड़बड़ी में सभा विसर्जित हो गई।

इन सब गड़बड़ियों का परिणाम यह निकला कि रात्रि में वाराणसी के पुलिस कमिश्नर ने गांधीजी को वाराणसी से निष्कासित करने का आदेश निकाल दिया। यद्यपि बाद में पंडित मदनमोहन मालवीयजी के अनुरोध पर अधिकारियों ने उक्त आदेश को रद्द कर दिया, तथापि गांधीजी दूसरे ही दिन प्रातः वाराणसी से रवाना हो गये।

डॉ० एनी बीसेंट ने, जब गांधीजी के उक्त भाषण की भर्त्सना की तो गांधीजी ने कहा कि "अपने बीस वर्षों के सार्वजनिक जीवन में अनेक सभाओं को संबोधित करने के उपरांत मुझे श्रोताओं की नब्ज पहचानने का अनुभव हो गया है और मैं कह सकता हूं कि यदि डॉ० बीसेंट ने विघ्न न डाला होता तो कुछ ही मिनिटों में मेरा भाषण समाप्त हो गया होता तथा अराजकतावाद संबंधी मेरे विचारों को समझने में किसी भी प्रकार की भ्रांति नहीं हुई होती।" अस्तु।

गाँधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश, इस प्रकार, दो विचारधाराओं के संघर्ष से आरंभ हुआ। ये दो विचारधारायें थीं, उदारवाद तथा उग्रवाद। यद्यपि गांधीजी ने अपने आप को उक्त दोनों विचारधाराओं से मुक्त बताया, तथापि कार्यक्रम की दृष्टि से वे उग्रवादियों के अधिक निकट थे, बनिस्बत उदारवादियों के। उदारवादी राजनीतिज्ञ ब्रिटिश जनता की न्याय-प्रियता में विश्वास रखते थे, अतः उनके कार्यक्रमों में ब्रिटिश सम्राट् के प्रति राजभक्ति की भावना को सुदृढ़ करने के उपरांत जनता के दुःख-दर्दों को दूर करने के लिए प्रार्थना-पत्रों, प्रस्तावों, शिष्ट-मंडलों, समाचार-पत्रों तथा विधान-मंडलों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। यद्यपि गांधीजी उदारवादियों के इस दृष्टिकोण से असहमत नहीं थे, तथापि वे उनके कार्यक्रमों को अपर्याप्त तथा उनकी रीति-नीति को असंतोषप्रद मानते थे।

उनकी मान्यता थी कि राजभक्ति का बार-बार ढिंढोरा पीटने से राजभक्ति की भावना सुदृढ़ नहीं होती, अतः वे इसे अनावश्यक मानते थे। उनका कहना था कि "ब्रिटिश शासन में सम्मान उसी का होता है, जो सम्मान का पात्र हो।" अतः वे चाहते थे कि भारतीय जनता में आत्म-प्रतिष्ठा तथा आत्म-सम्मान की भावना भरी जाय। किंतु यह तभी संभव हो सकता था जब कि देश का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथों में हो, जो जनता की भाषा बोलते हों, उसकी-सी वेश-भूषा धारण करते हों तथा उसके आचार-विचारों से अनुप्रेरणा प्राप्त करते हों। दुर्भाग्य से उदारवादियों में इसकी कमी थी। यही कारण है कि वे सर्वसाधारण से वैसा तादात्म्य स्थापित न कर सके जैसा कालांतर में गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस की नई पीढ़ी ने किया।

गांधीजी उदारवादियों की रीति-नीति से, जिसके अनुसार आरामकुर्सी पर विराजमान होकर देश की राजनीति का संचालन किया जाता था, संतुष्ट नहीं थे। यद्यपि बाल गंगाधर तिलक ने, गांधीजी के भारतीय राजनीति में प्रवेश से पूर्व ही, इस प्रकार के नेतृत्व पर 'घातक चोट' कर 'लोकमान्य' की पदवी प्राप्त कर ली थी, तथापि गांधीजी ही सर्वप्रथम राजपुरुष थे, जिन्होंने इस प्रकार के नेतृत्व को सदा के लिए महत्त्व-शून्य कर दिया। 'सत्याग्रह', 'सविनय अवज्ञा' तथा 'अहिंसात्मक असहयोग', ऐसे अमोघ अस्त्र थे, जिनके सहारे गांधीजी ने कांग्रेस को एक नया कलेवर प्रदान किया। यद्यपि सन् १९०५ ई० में ही कांग्रेस को एक सर्वसाधारण जनता का संघटन बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया था तथापि अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा तथा अंग्रेजियत की चकाचौंध से प्रभावित उदारवादियों के नेतृत्व ने कांग्रेस के सहज विकास को अवरुद्ध कर दिया था, जिसे दूर करने के लिए आत्म-बल से युक्त गांधीजी जैसे 'महात्मा' का नेतृत्व आवश्यक था।

महात्मा जी की रीति-नीति का मूलाधार था 'स्वदेशी'। यद्यपि गांधीजी के भारतीय राजनीति में प्रवेश से बहुत पूर्व ही 'स्वदेशी' की चर्चा आरंभ हो गई थी, उदाहरणार्थ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में 'बंबई एसोसिएशन' से संबद्ध सुप्रसिद्ध न्याय-शास्त्री श्री विश्वनाथ नारायण मांडलिक ने खद्दर का उपयोग राजनीतिक विरोध के प्रतीक के रूप में किया

ा, सन् १८७० ई० के आसपास श्री गणेश वासुदेव जोशी ने 'स्वदेशी' का प्रचारारंभ कर दिया था तथा सन् १६०६ ई० में वराज' शब्द का प्रयोगारंभ हो चुका था, तथापि गांधीजी ही सर्वप्रथम लोकनेता थे जिन्होंने 'स्वदेशी' का एक सुव्यवस्थित र्शन प्रस्तुत किया तथा अपनी राजनीति में उसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। १४ फरवरी सन् १९१६ ई० को द्रास की एक सभा में 'स्वदेशी' का जो निरूपण उन्होंने किया, वह आज तक सर्वोत्तम माना जाता है। उनके मतानुसार स्वदेशी का अर्थ एक ऐसी भावना है कि जिसके अनुसार हम लोग दूर की अपेक्षा अपनी निकटवर्ती वस्तुओं के उपयोग ो अधिक प्रश्रय प्रदान सकते हैं। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में इसका अर्थ यह है कि मुझे भारतीय संस्थाओं (यदि उनमें ोई दोष आ गये हैं, तो उन्हें दूर कर) का उपयोग करना चाहिये। आर्थिक क्षेत्र में इसका अर्थ यह है कि मुझे केवल न्हीं वस्तुओं का उपभोग करना चाहिये कि जिनका उत्पादन मेरे निकटवर्ती पड़ोसी करते हों।'

'स्वदेशी' संबंधी ऐसी विचारधारा का तत्कालीन उदारवादियों के गले के नीचे उतरना संभव नहीं था। यही ारण है कि गांधीजी के भारतीय राजनीति में प्रवेश के साथ ही वे कांग्रेस से अलग होने की बात सोचने लगे और अंततो-त्वा सन् १९१८ ई० में उन्होंने कांग्रेस से अलग होकर एक अपनी नई संस्था बना ली।

उदारवादियों के कांग्रेस से इस प्रकार पृथक् हो जाने का परिणाम यह निकला कि अब कांग्रेस निर्विरोध रूप से ांधीजी की विचारधारा को ग्रहण करने लगी। सन् १९२० ई० में सर्वप्रथम कांग्रेस ने गांधीजी के नेतृत्व में 'सविनय वज्ञा' तथा 'अहिंसात्मक असहयोग' का सफलतापूर्वक परीक्षण किया। फल-स्वरूप सन् १९२० ई० के बाद के जन-ागरण में 'स्वदेशी', 'स्वराज', 'सत्याग्रह', 'सविनय-अवज्ञा' तथा 'अहिंसात्मक असहयोग' का प्राधान्य रहने लगा। अब ांग्रेस यदा-कदा वर्ष में केवल कुछ दिन मिलने वाली संस्था मात्र नहीं रह गई, वरन् निरंतर देश-सेवा में रत रचनात्मक ार्य करने वाली एक सजग तथा सजीव संस्था बन गई। अब उसमें केवल कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों का ही बोल-ाला नहीं रहा, वरन् समाज-सेवा में रत सभी भारतीयों—शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन तथा स्त्री-पुरुषों—को समान वसर प्राप्त होने लगा। इस प्रकार गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जन-जागरण को एक नवीन दिशा प्रदान की।

स्वतंत्रता-प्राप्ति और भारत-विभाजन

डा० लक्ष्मण प्रसाद चौधरी, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, राजनीति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सम्राट् अशोक ने अपनी विभिन्न विजयों के पश्चात् भारत में एकता स्थापित की थी। कलिंग-युद्ध के पश्चात् उसने प्रण किया था कि वह धर्मराज्य की स्थापना कर प्रजा की सुख और शान्ति के लिये विभिन्न प्रकार से उद्योग करेगा। उसने प्रेम, अहिंसा और मानवता के ऊंचे आदर्श के अनुसार अपने पुत्र और पुत्री को भी देश के बाहर भेजकर धर्म राज्य की स्थापना की थी, जिसके फलस्वरूप भारत के पड़ोसी देशों में ऐसी सद्भावनायें उत्पन्न हुई थीं कि जिनके कारण बृहद् भारत का मान विश्व में बहुत ऊंचा हो गया था और सैकड़ों वर्षों तक यह देश संसार का सांस्कृतिक गुरु रहा था।

छठी और सातवीं शताब्दी में भारत पर सिंध के द्वारा मुस्लिम आक्रमण हुआ और भारतीय संस्कृति ने आक्रमणकारियों के हिंसात्मक तथा विध्वंसकारी सिद्धान्तों से टक्कर ली। कई सौ वर्ष तक मुसलमानों के आक्रमण इस देश पर होते रहे, जिनका उद्देश्य भारत में मुस्लिम मजहब का प्रचार था। इन आक्रमणकारियों ने हिन्दू संस्कृति का विनाश और देश की लूटमार आदि साधनों द्वारा अपना राज्य स्थापित किया, बलात् हिन्दुओं को मुसलमान बनाया और हिन्दू मुसलमानों में घृणा के बीज बो दिये। कई सौ वर्ष के पश्चात् मुसलमान शासकों ने देश में बस कर एक नवीन विचार-धारा, आपसी व्यवहार और सांस्कृतिक उन्नति की। मुगलों के आक्रमण के पश्चात् राजपूतों की पराजय हुई और मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। कुछ दूरदर्शी मुगल शासकों ने इस देश को अपना लिया और ऐसी नीति को अपनाया जिससे धार्मिक भेदभाव होते हुए भी राजनीतिक एकता स्थापित हो और हिन्दू-मुस्लिम सहअस्तित्व के आधार पर जीवन व्यतीत करें। इन शासकों में सम्राट् अकबर का विशेष स्थान है, जिसने एक ऐसे मजहब की स्थापना करने की कोशिश की जिसमें ईश्वर को ही सभी मजहब वालों के विचार में प्रधानता दी जाय। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् देश की एकता को बड़ी भारी ठेस पहुंची। देश में उत्तराधिकार के युद्ध हुए और देश के विभिन्न भागों में स्थानीय शासकों ने, केन्द्र सरकार से स्वतंत्र होकर, अपने-अपने स्वतंत्र शासन स्थापित किये। ये लोग आपस में लड़ने लगे और इसके पूरे-पूरे लाभ योरुप से आई हुई व्यापारिक कंपनियों ने उठाए। अंग्रेज, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और हालैंड वाले व्यापारी एक दूसरे से होड़ लगा कर अपनी-अपनी सफलता के लिये भारत के विभिन्न शासकों से मिल कर युद्ध करने लगे। अंत में अंग्रेजों की विजय हुई और २३ जून सन् १७५७ को प्लासी के युद्ध में विजय पाकर ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में अपने राज्य की नींव डाली और १०० वर्ष के काल में विभिन्न देशी लोगों को एक दूसरे से लड़ा भिड़ा कर अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाई और भारत को अशक्त बना दिया। सन् १८५८ में कंपनी का अंत हो गया और इंगलैंड की पार्लियामेंट ने, भारत में कंपनी अधीन भाग और प्रदेशों पर इंगलैंड के शासक के नाम पर अपना शासन स्थापित कर लिया और भारत पूर्णतया विदेशी शासन के अधीन हो गया। लगभग ९० वर्ष तक अंग्रेजी पार्लियामेंट का भारत पर शासन रहा। यह वह समय था जब भारत की परतंत्रता की बेड़ियां बहुत मजबूत हो गई थीं। कई योग्य और कूटनीतिज्ञ गवर्नर जनरलों और वाइसरायों ने भारत में अंग्रेजी शासन को बहुत मजबूत बना दिया भारतीय संस्कृति का प्रायः लोप हो गया। देश में दुर्भिक्ष और निर्धनता तथा अज्ञान का अंधकार छा गया। इन ९० वर्षों में साम्राज्यवादी अंग्रेज शासकों ने बड़ी कुटिल नीति का अनुसरण किया। प्राचीन रोमन साम्राज्य के प्रसिद्ध सिद्धान्त "विभाजन करो और शासन करो" का पूरा-पूरा लाभ उठाया। इस सिद्धान्त के लागू करने में हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे का शत्रु बना दिया। हिन्दुओं में भी जाति-पांति के भेदों को बृहत् रूप देकर उच्चवर्ग और अछूतों के बीच बड़ा भारी अन्तर कर दिया। फिर भी भारत में ऐसे दूरदर्शी नेता उत्पन्न हुए, जिन्होंने इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना कर, देश की एकता को कायम रखते हुए राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। इस राजनीतिक चेतना के भावी परिणामों को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजों ने यह समझ कर कि भारत की

राजनीतिक स्वतंत्रता किसी न किसी समय अस्तित्व धारण करेगी, मिंटो-मौरले सुधार योजना जारी करने के पहले ही मुसलमानों को उकसाकर साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का बीज बो दिया और कुछ मुसलमान नेताओं के मस्तिष्क में ऐसे विषैले विचार पैदा कर दिये जिसके फलस्वरूप मुसलमानों के हृदय में भारत के प्रति और विशेषतया हिन्दुओं के प्रति केवल प्रेम का ही अभाव नहीं कर दिया बल्कि घृणा उत्पन्न कर दी। कुछ अदूरदर्शी मुस्लिम नेताओं ने साम्प्रदायिकता के आधार पर दो-राष्ट्र सिद्धान्त की आवाज उठायी और अंत में यह मांग की, चूंकि हिन्दू और मुस्लिम दो विभिन्न राष्ट्रीयताएँ हैं इसलिये भारत को स्वतंत्रता देने के पूर्व इसी सिद्धान्त के आधार पर मुसलमानों के लिये पाकिस्तान बना कर देश का विभाजन कर दिया जाय। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने इस मांग का विरोध किया, क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास था कि देश का विभाजन हो जाने से भारत कमजोर हो जायगा और आपसी वैमतस्य से इसे अपनी समृद्धि करने का अवसर नहीं मिलेगा। विदेशी शक्तियां इस परिस्थिति से लाभ उठा कर इस देश पर हावी हो जायंगी।

देशप्रेमी भारतीय नेताओं के प्रयत्न करने पर भी देश की एकता को गहरी चोट पहुंची और राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रलोभन में आकर १५ अगस्त, १९४७ को देश के विभाजन को स्वीकार कर लिया। वह दिन भारत के आधुनिक इतिहास में एक विचित्र दिन रहेगा। जहां प्रत्येक वर्ष १५ अगस्त को स्वतंत्रता दिवस मनाया जायगा वहां साथ ही साथ हृदय को दुःख पहुंचाने वाली यह स्मृति भी बनी रहेगी कि इसी दिन अखंड भारत के खंड कर दिये गये थे और पाकिस्तान को एक स्वतंत्र राज्य बना कर भारत के प्रति घृणा उत्पन्न कर देश को निर्बल बना दिया गया था।

भारत-विभाजन से उत्पन्न समस्याएं

मुहम्मद अली जिन्ना ने मुसलमानों का नेतृत्व करके पाकिस्तान की मांग की थी और यह विचार प्रकट किया था कि पाकिस्तान बन जाने के पश्चात् भारत और पाकिस्तान में मित्रता रहेगी और भारतीय महाद्वीप की ओर किसी भी बाहरी शक्ति को निगाह उठाने का साहस न होगा। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य का सदा के लिये अंत हो जायगा। परन्तु उन्होंने यह विचार नहीं किया कि ऐसे बड़े देश का राजनीतिक विभाजन हो जाने पर कितनी ही पेचीदा समस्यायें खड़ी हो जायेंगी, जिनका हल करना अत्यन्त कठिन हो जायगा। चूंकि इसमें सन्देह नहीं कि पाकिस्तान बनने की मांग मुसलमानों के हृदय में हिन्दुओं के प्रति घृणा होने के कारण ही थी। जो भी काम घृणा के आधार पर किया जाता है वह कभी भी अच्छा फल नहीं दे सकता। पाकिस्तान बनाने के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच कई समस्यायें खड़ी हो गईं, जिनमें मुख्य-मुख्य ये थीं :

(१) विभाजन के पूर्व समस्त देश की सरकारी सम्पत्ति और राष्ट्रीय ऋण का बटवारा,
(२) विस्थापितों की चल और अचल सम्पत्ति का प्रश्न,
(३) विस्थापितों को नवीन स्थानों में बसाना,
(४) नहर और नदियों के पानी का बटवारा,
(५) दोनों देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा का निर्धारण करना, तथा
(६) दोनों देशों की सुरक्षा, यातायात, व्यापार और मुद्रा, डाक-तार की सुविधायें, नागरिकों के एक देश से दूसरे देश में निजी काम के लिये आना-जाना।

ये कोई भी प्रश्न हल नहीं होने पाये थे कि सांप्रदायिकता से उत्पन्न दोनों देशों में नफरत बढ़ गई और साम्प्रदायिक दंगे हुए, खून खच्चर हुआ और विदेशी शक्तियों ने इससे लाभ उठाया। हैदराबाद के निजाम ने जो रुख अपनाया वह भी अदूरदर्शी और अनुचित था। उधर कश्मीर की समस्यायें खड़ी हो गईं और पाकिस्तान ने कबाइलियों को उभाड़ कर जो कश्मीर पर हमले कराये, उस समय कश्मीर में आक्रमणकारियों ने बड़े ही घृणित अत्याचार किये। उधर चीन के साम्यवादी नेताओं ने इस परिस्थिति से लाभ उठा कर भारत पर हमला करने की पूरी तैयारी कर ली। मुहम्मद अली जिन्ना ने बड़े ही गर्व के साथ कहा था कि हिन्दुओं में लोकतंत्रात्मक भावना नहीं है और मुसलमानों में भाईचारा तथा लोकतंत्र तथा समता के भाव कूट-कूट कर भरे हुए हैं। यह भी गलत सिद्ध हुआ। भारत ने अपना लोकतंत्रात्मक संविधान बनाकर वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संसद् और विधानमण्डल बना दिये और संसदात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना कर लोकप्रिय शासन स्थापित कर लिया। इसके विपरीत पाकिस्तान में लोकतंत्रात्मक भावनाओं को कुचल दिया गया और यह घोषणा कर दी गई कि वहां के निवासी लोकतंत्रात्मक शासन से सुखी नहीं रहेंगे। सैनिक शासन स्थापित किया गया और तानाशाही के आधार पर एक के बाद दूसरे ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली।

पिछले २० वर्षों में दोनों देशों में अभी तक राष्ट्रीय ऋण और सम्पत्ति के बटवारे पर पूरा-पूरा समझौता नहीं हुआ है। विस्थापितों की चल और अचल सम्पत्ति का प्रश्न अभी तक दोनों देशों की सरकारों के सामने कठिनाई

उत्पन्न कर रहा है। साम्प्रदायिकता का जहर अभी तक अपना पूरा असर दिखा रहा है। भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना हो गई है और भारतीय नागरिकों को बिना धार्मिक भेदभाव के समान अधिकार प्राप्त हैं। भारत में ऊंचे से ऊंचे सरकारी पदों पर, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि नियुक्त हैं और सभी धर्मों के मतावलम्बियों को अपने धर्म के पालन करने में पूर्ण स्वतंत्रता है। इसके विपरीत पाकिस्तान में मुस्लिम मजहब के आधार पर तानाशाही शासन स्थापित किया गया है, जिसमें हिन्दुओं को तो कोई स्थान ही नहीं दिया गया है और इस बात का बराबर प्रयास किया जा रहा है कि गैर-मुस्लिमों को वहां से बाहर खदेड़ दिया जाय। इससे सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है और जो सांप्रदायिक दंगे हो रहे हैं उनसे आपसी नफरत की भावना बहुत बढ़ती जा रही है। दोनों देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा अभी तक पूरी तरह निर्धारित नहीं हो पाई है। चीन ने मौका पाकर भारत के ऊपर अक्तूबर १९६२ में हमला कर ही दिया। अब तो यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो गई है कि इस हमले के पीछे पाकिस्तान की साजिश एक गहरा प्रभाव रखती है। चीन और पाकिस्तान में जो गुप्त समझौता हुआ था वह अब प्रकट हो गया है और ये दोनों देश मिलकर भारत को अपना दुश्मन समझ कर सारे काम कर रहे हैं। भारतीय महाद्वीप में कोई शान्ति नहीं है। चीन के साम्यवादी शासन ने दक्षिण-पूर्व एशिया में एक नये साम्राज्यवाद के आधार पर अपना आधिपत्य बढ़ाना शुरू कर दिया है, जिसके कारण संसार की शान्ति के भंग होने की पूरी आशंका है। चीन ने अणु विस्फोट कर जो खतरा संसार के सामने उपस्थित किया है वह बहुत बड़ा है। हो सकता है कि संसार में फिर से विश्वयुद्ध छिड़ जाय, जिसकी जिम्मेदारी पाकिस्तान के ऊपर भी होगी, क्योंकि चीन और पाकिस्तान में चोली दामन का साथ हो गया है और ये दोनों देश आपस में मिल कर भारत को नीचा दिखाने की कोशिश कर रहे हैं। एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमें भारत को भी अपने आर्थिक विकास में कुछ ढील डालकर अपनी सुरक्षा के लिये सैनिक तैयारी में बहुत अधिक व्यय करना पड़ रहा है। उधर चीन ने अपनी आन्तरिक समस्याओं को हल न कर सैनिक शक्ति बढ़ाकर विश्व में अतिक्रमण द्वारा साम्यवाद फैलाने का बीड़ा उठा लिया है। चीन-पाक गठबंधन भारत के ही लिये नहीं वरन् सारे संसार के लिये एक बड़ा भारी खतरा है और इसका आधार और कारण सन् १९४७ में हुआ भारतवर्ष का विभाजन है।

नहरों के पानी की समस्या कई वर्षों के बाद एक विशेष संधि द्वारा सुलझाई गई थी परन्तु वहां पर भी पाकिस्तान ने अपना रुख ठीक नहीं रक्खा है और नदियों के पानी की समस्या को कठिन बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। भारत ने पाकिस्तान से अपील की थी कि दोनों देश युद्ध-विरोधी घोषणा करें परन्तु पाकिस्तान ने ऐसा करने से साफ इनकार कर दिया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि युद्ध की धमकी देकर पाकिस्तान अपने मनमाने ढंग पर मजबूर करना चाहता है कि पाकिस्तान की अनुचित मांगों को पूरा किया जाय। परन्तु भारत का स्वाभिमान ऐसी परिस्थिति को स्वीकार नहीं कर सकेगा और परिणाम यही होगा कि भारत-विभाजन से उत्पन्न समस्यायें और जटिल होती जायेंगी। अभी तक दोनों देशों में व्यापार की अनेक रुकावटें मौजूद हैं जो दोनों देशों की आर्थिक उन्नति में बाधायें डाल रही हैं और जब तक ये बाधायें दूर नहीं होंगी तब तक दोनों ही देशों को विभिन्न प्रकार की हानि उठानी पड़ेगी। भारत और पाकिस्तान के सैनिक बजट बढ़ते ही जायेंगे और जो धन औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी उन्नति पर व्यय किया जा सकता था जिससे दोनों ही देशों के नागरिकों को अधिक सुखमय जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता, वह धन मूर्खतापूर्ण सैनिक तैयारियों पर व्यय किया जा रहा है। कोई भी दो पड़ोसी देश सदा के लिये एक दूसरे से नफरत नहीं कर सकते। साधारण जनता शान्ति, सुख और समृद्धि चाहती है और इसके लिये यह आवश्यक है कि दोनों ही देश अपने शासन को ऐसे ढंग से चलावें कि सहअस्तित्व कायम रखते हुए एक दूसरे को सहयोग दें, जिससे यह भावना बढ़ जाए कि एक देश की उन्नति दूसरे की उन्नति के लिये आवश्यक है।

यह एक दुःख की बात है कि भारत-पाक सीमाओं पर अशान्ति है। पाकिस्तान की ओर से लगभग प्रतिदिन उत्तेजनापूर्ण हमले होते रहते हैं जो भारत के लिये बहुत ही दुःखदाई हैं। इन अतिक्रमणों से पाकिस्तान को किसी प्रकार लाभ नहीं हो सकता। ऐसी नीति अपनाने से पाकिस्तान भारत को इस बात पर मजबूर नहीं कर सकता कि पाकिस्तान की किसी भी अनुचित मांग को भारत पूरा कर दे।

कोई भी दो पड़ोसी देश बहुत समय के लिये दुश्मन होकर रहते हुए शान्तिमय जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। इसके लिये यह आवश्यक है कि वे आपस में मैत्री भाव स्थापित करें। भारत ने अनेक बार इस नीति को अपनाने के लिये पाकिस्तान से अपील की है। परन्तु पाकिस्तान ने इस पर कुछ भी ध्यान न देकर भारत को धमकियां देकर अथवा विरोधी प्रचार कर ऐसा दूषित वातावरण कर दिया है कि दोनों देशों में मैत्री भाव के बजाय शत्रुता की अग्नि भड़का दी है। सारा संसार इस बात को जानता है कि अक्टूबर सन् १९६२ में चीनी शासकों ने चीनी साम्राज्यवाद का विकास करने के लिये भारत पर आक्रमण कर दिया और एक ऐसा वातावरण उपस्थित किया जिसमें यह भय हो गया कि शायद दूसरा

विश्वयद्ध यहीं से आरम्भ हो जाय। उस समय भारत के प्रधान मंत्री ने विश्व के लगभग सभी देशों से यह अपील की थी कि वे चीनी आक्रमण से बचाने के लिये भारत की रक्षा करें। इंगलैंड, अमरीका, रूस, आस्ट्रेलिया, कनाडा, फ्रांस आदि देशों ने भारत को विभिन्न प्रकार की सहायता दी, और अन्य बहुत से देशों ने भारत के साथ सहानुभूति प्रकट की, किन्तु पाकिस्तान ने इसके विपरीत रुख अपनाया और चीनियों के साथ गुप्त मेल-जोल कर ब्रिटेन और अमरीका से कहा कि वे भारत की सहायता न करें और किसी प्रकार से भारत को सैनिक सहायता न दें, क्योंकि पाकिस्तान ने कहा कि भारत इस सहायता का पाकिस्तान के खिलाफ इस्तेमाल करेगा। ऐसा अनर्गल झूठ बोल कर पाकिस्तान ने भारत के अन्य पड़ोसी देशों को बरगलाया कि भारत की बढ़ती हुई सैनिक शक्ति भारत के पड़ोसी छोटे देशों के लिये एक भीषण खतरा हो जायगी। हाल ही में पाकिस्तान के विदेश मंत्री जुलफिकार अली भुट्टो ने संयुक्त राष्ट्र में भारत के विरुद्ध और चीन के पक्ष में जो प्रचार किया वह सर्वथा निन्दनीय था और भारत के साथ शत्रुता का प्रतीक था। पाकिस्तान का ऐसा ख्याल मालूम होता है कि इन धमकियों द्वारा वह भारत को अपनी मांगें स्वीकार कराने के लिये बाध्य कर देगा। यह पाकिस्तान का बड़ा भारी भ्रम है। भारत अपने सभी झगड़ों को और समस्याओं को दूसरे देशों के साथ शान्तिमय वातावरण में शान्ति-पूर्वक सुलझाने के लिये तैयार है और पाकिस्तान के साथ तो विशेष करके। यह बड़े दुःख की बात है कि पाकिस्तान के शासकों ने एक ऐसी नीति को अपनाया है जो इन दोनों देशों के लिये ही अंत में घातक सिद्ध होगी। पाकिस्तान ने पहले तो अमरीका से सैनिक सहायता इस बहाने से ली कि वह साम्यवादी देशों का मुकाबला करेगा और अब चीन के साथ खुल्लमखुल्ला मिल कर भारत के खिलाफ प्रचार कर अमरीका और ब्रिटेन को धमकी भी दी है कि यदि ये भारत को सैनिक सहायता देना बन्द नहीं करेंगे तो उसे अपनी विदेशी नीति बदलनी होगी और चीन के साथ विशेष मैत्री स्थापित करनी होगी। इस प्रकार पाकिस्तान के शासकों के असली मंतव्य स्पष्ट हो जाते हैं कि इनका उद्देश्य केवल यही है कि येन केन प्रकारेण वे भारत का विरोध करेंगे और संसार में एक ऐसा वातावरण बनाये रखेंगे जिसमें विश्वासघात तो पाकिस्तान की नीति का एक साधारण सिद्धान्त हो जायगा। भारत-विभाजन के समय मुस्लिम नेताओं ने यह आश्वासन दिया था कि पाकिस्तान बन जाने के पश्चात् भारत और पाकिस्तान में मैत्री भाव स्थापित हो जायगा और हिन्दू-मुस्लिम समस्या तय हो जायगी किन्तु परिणाम दूसरा ही निकला, हिन्दू-मुस्लिम द्वेष बढ़ता ही गया है और मैत्री भाव स्थापित न होकर निरंतर शत्रुता उत्पन्न की जा रही है जो विश्व शान्ति के लिये बाधक होगी।
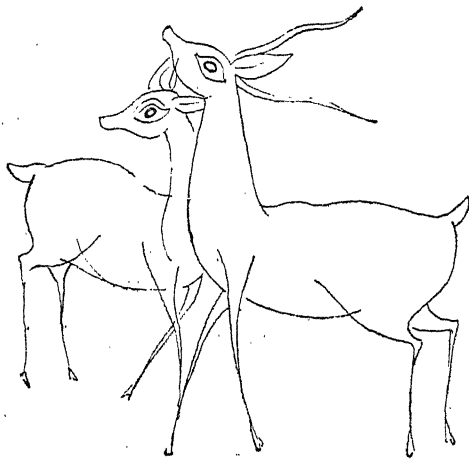
पूर्णघट किस शक्ति का प्रतीक है

डॉ० राय गोविन्द चन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०
कोषाध्यक्ष, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय ।

आज प्रायः सारे भारत में मंगल अवसरों पर मिट्टी के कलस को रंग कर या उस पर स्वस्तिक बना कर जल से पूर्ण करके उसके मुंह पर पंच पल्लव (वट, अश्वत्थ, आम्र इत्यादि के पत्ते) रख कर उस पर पूर्ण पात्र (चावल को एक कसोरे में भर कर उस पर रोली से कमल का आकार बना कर) रखते हैं और पूर्ण पात्र पर नारिकेल अथवा कभी-कभी दीपक भी स्थापित करते हैं। इसी पर विवाह तथा और कई शुभ कार्यों में वरुण का आवाहन होता है (शुद्ध स्फटिक संकाशम् जले शंपाद सांपतिम् आवाहमे प्रतीचीशम् वरुणम् सर्वकामदम्)। द्वार पर भी इसी पूर्णघट को मंगलसूचक समझ कर रखा जाता है तथा देवीपूजन में भी हम इसी पूर्णघट पर देवी का आवाहन करते हैं। इसी का चित्र हम अपने द्वार पर सभी मंगल कार्यों के समय बनवाते हैं। हमारे जीवन में इस प्रतीक का जिसे पूर्णघट कहते हैं, एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और हमारी संस्कृति पर इसकी एक विशेष छाप है। प्राचीन भारतीय कला के अवशेष जो हमें शुंगकाल के भारहुत[1] सांची[2] तथा कुषाण काल के अमरावती[3] नागार्जुन कोण्ड[4] इत्यादि के बौद्ध स्तूपों पर मिले हैं, वहां भी इस पूर्णघट का प्रचुरता से व्यवहार दिखाई पड़ता है और पीछे की कुषाण, गुप्त तथा उत्तर गुप्त काल की कलाओं में तो इस कला प्रतीक का स्थान-स्थान पर उपयोग हुआ है और पीछे चल कर स्तूप के शिखर के रूप में[5] मन्दिरों के शिखरों पर[6] खम्बों के मुकुट के रूप में भी इसका व्यवहार हुआ। यह अवश्य है कि जिस रूप में यह आज हमारे सम्मुख आता है उससे इसका स्वरूप प्राचीन काल में भिन्न था। हां अलंकृत घट से कमल के पुष्प, पत्ती तथा कलियां निकलती हुई अथवा कमल की लता निकलती हुई दिखाई गई हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रतीक ने हमारी संस्कृति में कब प्रवेश किया ? सिन्धु घाटी की सभ्यता की मोहरों पर इस पूर्णघट का अंकन चान्हूदाड़ो की एक मोहर को छोड़ कर कहीं प्राप्त नहीं होता। यों यहां ऐसे घट मिलते हैं जिन पर कमल के फूल बने हुए हैं[7] जिनसे ऐसा अनुमान हो सकता है कि इन घटों को वहां के निवासी पूर्णघट के रूप में व्यवहार करते थे और इन पर कमल के फूल इत्यादि रख कर पूजन करते थे।

ऋग्वेद में हमें पूर्णघट के स्थान पर पूर्ण कलस तथा पूर्ण कुम्भ का दर्शन होता है—

(१) आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसचे पिबध्ये।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिमिद सोमा स इन्द्रम्॥ (३, ३२, १५)

(२) युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरधिम्।
करोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुंभां असिञ्चतं सुरायाः॥ (१, ११६, ७)

---

१. कुमार स्वामी—ला स्कलप्त्यु र डु भारहुत—प्लेट ४० फिगर १२५-१२६ इत्यादि।
२. जिम्मर—दी आर्ट आफ इण्डियन एशिया—खण्ड २, प्लेट २८ बी इत्यादि।
३. डुगलस वारेट—स्कल्पचर्स फ्राम अमरावती इन दी ब्रिटिश म्यूजियम—प्लेट १८।
४. टी० एन० रामचन्द्रन—नागार्जुन कोण्ड—मेमार्स आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया नं० ७१—प्लेट ११ बी इत्यादि।
५. कनिंघम—महाबोधि इत्यादि—प्लेट २३—मीडीवल स्तूपाज-सी।
६. माधोस्वरूप वत्स—एक्सकवेशन्स एट हड़प्पा—खण्ड २, प्लेट ६६-७७, प्लेट ६७, २६ एनशिएंट इण्डिया नं० ९ (१९५३) प्लेट २०।
७. जिम्मर—उपरोक्त—भुवनेश्वर प्लेट ३३६।

यहां हमें इन दोनों मंत्रों में कलश तथा कुम्भ का सम्बन्ध इन्द्र से प्राप्त होता है। कलश कदाचित् स्वर्ण या और किसी धातु का बनता था।[1] परन्तु कुम्भ तो मिट्टी के ही बनते थे जैसा एक दूसरे मंत्र से संकेत मिलता है।[2] कलश तथा कुम्भ पानी से पूरित किये जाते थे इसका भी संकेत उपरोक्त मंत्रों में मिलता है। कलश के पूजन का कुछ संकेत हमें ऋग्वेद के अधोलिखित मंत्र में प्राप्त होता है—

एतानि भद्रा कलश क्रियाम कुरुश्रवण ददतो मघानि।
दान इन्दो मघवानः सो अस्तव्यं च सोमो हृदियं बिर्भमि ।। (१०, ३२, ९)

अथर्ववेद के एक मंत्र में आर्यों को कुम्भ भर मधु तथा कलश भर दही प्राप्त करने की इच्छा करते हुए पाते हैं।[3] एक दूसरे स्थान पर इसी संहिता में स्त्रियों को यज्ञ की रक्षा करने के हेतु यज्ञशाला में पूर्ण कुम्भ लाने का निर्देश प्राप्त होता है—

पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातृमृतेना समंगीप्टापूर्तममि रक्षात्येनाम् ।। (३, १२, ८)

(हे नारि इस जल से पूर्ण कुम्भ को, जो स्वभाव से घृत रूपी अमृत की धारा को गिराता है, इस कलश को जो सुधा रूपी जल से पूर्ण होकर दमक रहा है, यज्ञशाला में ला, जिसमें हमारी रक्षा हो।)

ऐसा ज्ञात होता है कि अथर्ववेद के काल तक पहुंचते-पहुँचते ऐसा विश्वास चल पड़ा था कि पूर्ण कुम्भ को रखने से यज्ञ तथा यजमान की रक्षा होती है। आज भी विवाह कर्म के समय एक दृढ़ पुरुष को पूर्ण कलश कन्धे पर रख कर खड़े रहने का निर्देश दिया जाता है कदाचित् यह उसी प्राचीन पद्धति का प्रतीक है।

एक दूसरी विचारधारा इसी संहिता के एक मंत्र में और दिखाई देती है—

पूर्णः कुम्भोधिकाल अहिस्तं वै पश्यामो बहुधानुसन्तः।
स इमां विश्वाभुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ।। (अथर्व—१९, ५३, ३)

यहां पूर्ण कुम्भ को अनन्त काल (समय) का स्थायी स्वरूप माना है जो अपने बहु स्वरूप में प्रत्यक्ष होता है। इसके जल को अनन्तता का द्योतक बताया है जिससे यह पूर्ण है इत्यादि। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि इस काल में यह न केवल रक्षक के रूप में था अपितु यह हमारे दर्शन का भी एक प्रतीक बनने लग गया था।

पुराणों में हमें आज की भाँति श्रीपर्णी सहित पूर्ण कुम्भ को द्वार पर चित्रित करके पूजन करने का विधान मिलता है[4] तथा पूर्ण कुम्भ से द्वार को सुशोभित करने का भी विवरण प्राप्त होता है।[5]

कुम्भ श्रीपर्णवल्लीभिर्मूलद्वारतु शोभयेत्।
पूजयेच्चापि तन्नित्यम् बलिना चाक्षतोदके ।। (मत्स्य)
कलशाश्च विराजन्ते मणिहेमचितागृहे (स्कन्ध)

संयुक्त शब्द 'घट कटाह' हमें सर्वप्रथम चुल्लवग्ग में पानी के बर्तन के अर्थ में मिलता है।[6] तथा 'पुन्न घट' पाली के ग्रन्थों में 'पूर्णघट' के अर्थ में कई स्थानों में प्रयुक्त है। धम्मपद अट्टकथा में हमें 'पुन्नघट पतिमण्डितघर' मिलता है[7] जिससे स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि जनता में इस काल तक यह भावना उत्पन्न हो गयी थी कि पूर्णघट को द्वार पर रखना मंगलप्रद होता है। संस्कृत में घट शब्द ने कुम्भ के पर्यायवाची रूप में कदाचित् बहुत बाद में पदार्पण किया क्योंकि पाणिनि ने इस शब्द का अर्थ 'बहुत व्यस्त' किया है (५, २, ३५)। पानी के बर्तन के रूप में यह शब्द हमें मनुस्मृति (८, ११) तथा याज्ञवल्क्य (३।१४४) स्मृतियों में ही प्राप्त होता है। जैन ग्रन्थों में पूर्णघट को अप्ट मंगलों में माना है और त्रिशला के १४ स्वप्नों में यह विद्यमान है।[8] पीछे के चित्रित जैन ग्रन्थों में हम पूर्णधट के प्रतीक को पताका इत्यादि से सुशोभित पाते हैं। 'मणि मेखलाई' में हमें यह निर्देश मिलता है कि नगर को सुसज्जित किया जाय,

---

१. ऋग्—१, ११७, १२।
२. ऋग्—१०, ८९, ७।
३. अथर्व—३, १२, ७।
४. मत्स्य पुराण—२५४—१० मोर संस्करण।
५. स्कन्ध महापुराण—५ अवन्ती खण्ड—५०८, २१ मोर संस्करण।
६. चुलवग्ग—५, ९, ४।
७. अट्टकथा—१, १४७।
८. आनन्द कुमारस्वामी—यक्षाज खण्ड २ पृष्ठ ५८-५९।

स्थान स्थान पर पूर्णघट, धान से भरे कलश जिसमें धान फूट गये हों तथा दीप लिये हुए स्त्रियों की मूर्तियां रक्खी जायं।[1]

अब विचारणीय विषय यह है कि इस कला के प्रतीक का किस प्रकार भारत में जन्म हुआ। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि पश्चिम में सुमेर से यह प्रतीक भारत में आया और भारतीयों ने जब इसे अपना लिया तो उस पर ऋषियों ने एक दार्शनिक विचारधारा आरोपित कर दी। इसके प्रमाणस्वरूप वे कहते हैं कि इसका सबसे प्राचीन रूप हमें सुमेर की एक मोहर पर दिखाई देता है[2] तथा इसी प्रतीक का कुछ मिलता जुलता रूप पीछे की चाल्डियन काल की कला में भी मिलता है।[3] हाल में इसी प्रकार का रूप हमें रूस के काकेशिया के पार के कारमीर ब्लर से एक चांदी के बर्तन के ढक्कन पर स्वर्ण की गण्डी के रूप में मिला है।[4] इस बर्तन पर अरगिशटी राजा का नाम अंकित है जिससे इस प्रतीक को प्रायः ई० पू० ८वीं शताब्दी का माना जाता है। इस स्वरूप में एक गोल घट एक विकसित कमल पर स्थित है और उसके मुंह पर भी कमल का एक विकसित पुष्प बना है परन्तु सुमेर की मोहर पर अंकित वृक्ष जो घट से निकल रहा है वह कमल का पौधा नहीं है और न घट ही हमारे घट के समान गोल है। मिश्र की भाँति कमल भारत का भी राष्ट्रीय पुष्प है[5] परन्तु भारत में इस पुष्प के पूर्ण खिले हुए आकार को कला में सर्वप्रथम स्थान दिया गया जैसा हड़प्पा के बर्तनों पर के चित्रण से तथा वहां इसी आकार के बने आभूषणों से सिद्ध होता है।[6] इस कारण यह अनुमान होता है कि रूस वाले घट का रूप सम्भवतः भारत से ही गया होगा क्योंकि उस देश में कमल नहीं उत्पन्न होता तथा सुमेर का प्रतीक पूर्णघट का सर्वांग प्रतीक नहीं ज्ञात होता। इस प्रकार यदि हम यह विचार करें कि भारत में इस रूप का किस प्रकार जन्म हुआ तो कुछ अनुपयुक्त न होगा।

यह सर्वमान्य है कि भारतीय कला का व्यक्ति रूप लक्षणात्मक तथा प्रतीकात्मक है। यहां आदर्शवाद का ही प्राधान्य रहा है, कभी भी यथार्थवाद को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। इस कारण यहां की कलाकृतियाँ भारतीय विचार-धाराओं की प्रतीक हैं। ये वे ही विचार हो सकते हैं जो जनसाधारण में प्रचलित थे तथा जिनके पीछे जनता के सदियों के जीवन का इतिहास छिपा है। इस कारण पूर्णघट के प्रारम्भिक आकार के जन्म की कहानी का पता लगाना है तो हमें प्रागैतिहासिक युग के मनुष्यों की संस्कृति में खोज करनी पड़ेगी।

यों पूर्णघट के स्वरूप के अध्ययन के हेतु हम इसे चार भागों में बांट सकते हैं। एक घट की वेदी, दूसरा अलंकृत घट, तीसरा घट का जल और चौथा उसमें से निकलता हुआ कमल का पुष्प, पत्ती इत्यादि जिसने पीछे चल कर पंच पल्लव, पूर्ण पात्र तथा नारिकेल के फल का स्वरूप ले लिया। प्राचीन काल की कलाकृतियों में हम घट को सीढ़ीनुमा वेदी पर तथा कमल के फूल पर रखा हुआ पाते हैं तथा घट के चारों ओर प्रायः एक मेखला का अलंकरण देखते हैं जो कदाचित् वरुण के पाश का द्योतक है और कलश में से कमल ही निकलता हुआ दिखाई देता है। इस कमल को ऋषियों ने जीवन की लता माना तथा वरुण की नाभि से उत्पन्न माना।[7] इस कारण घट के जल को वरुण का प्रतीक मानने में इनको कोई अड़चन नहीं हुई। पीछे चल कर कमल को नारायण की नाभि से उत्पन्न माना, फिर ललित विस्तर में बुद्ध की नाभि से इसकी उत्पत्ति बताई गयी[8] परन्तु ये धारणायें बहुत पीछे की हैं। प्रागैतिहासिक युग में तो कमल को तालों में से स्वयं निकलते हुए देख कर आदिम काल के मनुष्य के मस्तिष्क में स्वभावतः आश्चर्य की भावना उत्पन्न हुई होगी क्योंकि न और धान्यों की भांति यह बोया जाता था न इसके फूल या फल को तोड़ लेने पर उसके पेड़ सूख जाते थे न इसके पत्ते ही पानी में डूबते थे। इन कारणों से ऐसा अनुमान है कि इसमें भगवान् या शक्ति के वास की कल्पना उसने की होगी।

---

१. आनन्द कुमारस्वामी—यक्षाज खण्ड २ पृष्ठ ६१।
२. सबाटिनो मोसकाटी—दी फेस आफ दी एनशिएण्ट ओरियण्ट—प्लेट ८।
३. ए० सी० वार्ड—सीलिण्डर्स नं० २८६, ३५०।
४. अलेकजाण्डर मोजे—आर्केआलोजी इन दी यू० एस० एस० आर०—प्लेट पृष्ठ ३४ के सामने।
५. मिश्र के कमल का आकार भारतीय कमल से भिन्न है। वह भारतीय कुमुदिनी के आकार से मिलता है।
६. वत्स—एक्सकवेशन्स एट हड़प्पा खण्ड २ प्लेट १३९ फिगर ७। सुमेर से प्राप्त इस आकार के आभूषण भारत से ही गये प्रतीत होते हैं (गार्डन चाइल्डे—ए न्यू लाइट आन दी मोस्ट एनशेण्ट ईस्ट—प्लेट २५ पृ० ८५६५।
७. कुमार स्वामी—यक्षाज खण्ड २ पृष्ठ ३।
८. ललित विस्तर—लेफ मेन—खण्ड १, पृष्ठ १९६।

जल के पेड़ों का जीवन किस प्रकार चलता है, इस नियम से तो सम्भवतः आदिम काल का मनुष्य अनभिज्ञ ही रहा होगा। पुनः कमल को इसे प्रचुर मात्रा में स्वयं उत्पन्न होते देख कर कदाचित् इसे इसने सौभाग्यसूचक भी मान लिया होगा।

इसी प्रकार गोल घट को पानी भरने पर न टूटते देख कर आदिम मनुष्य ने इसमें दैवी शक्ति के वास की कल्पना की होगी क्योंकि उस काल तक वह यह तो जानता नहीं था कि पका देने पर मिट्टी का वर्तन पानी भरने पर भी टूटता नहीं, यों भी घट जल तत्त्व पर मनुष्य के विजय का प्रतीक था क्योंकि यों तो पानी पर वह नियंत्रण कर नहीं पा रहा था। पानी में यक्ष का वास तो आदिम जाति मानती ही थी जिसका प्रतिपादन अथर्ववेद में भी मिलता है।[1] इस प्रकार घट को पानी से भर देने पर उसमें एक विशेष दैवी शक्ति का प्रादुर्भाव मानना कोई आश्चर्य की वस्तु न थी। इस प्रकार घट की शक्ति तथा जल की शक्ति के मेल से स्त्री-पुरुष के संयोग की भांति संसार के सृजन की कल्पना इनके मन में उत्पन्न होना अनिवार्य था। कमल इसी नये जीवन का प्रतीक माना गया होगा। यों कमल का फूल पत्ती इत्यादि इस प्रकार घट के जल में रखने से जल्दी सूखती भी नहीं थी, यह भी उस मनुष्य को दैवी शक्ति का प्रभाव ही ज्ञात हुआ होगा। इस कला प्रतीक की एक विशेषता यह भी है कि जहां भी कमल दिखाया गया है वहां पुष्प, पत्ती, कली सहित है या यों कहिये कि अपने सर्वांग रूप में प्रस्तुत है (फलक १, २, ३, ४) जिससे भी यह बात सिद्ध होती है कि इसे आदिम काल का भारतीय जीवन का प्रतीक मानता था।

अब एक दूसरा प्रश्न यह उठता है कि कला के इस रूप को प्रागैतिहासिक युग का मनुष्य किस शक्ति का द्योतक मान कर पूजन करता था। यह बात तो सर्वमान्य है कि प्रायः प्रत्येक देश में आदिम काल का मनुष्य माता को दूसरे जीवन को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण बहुत प्रभावित था और प्रायः प्रत्येक सभ्यता में वह माता की पूजा करता था। उसका ऐसा विश्वास होना स्वाभाविक था कि बिना किसी दैवी शक्ति के स्त्री अपने पेट में एक दूसरे मनुष्य को नौ महीने तक नहीं रख सकती है और न बिना दैवी शक्ति के एक दूसरे मनुष्य को इच्छानुसार उत्पन्न कर सकती है। इस माता की गर्भावस्था की मूर्तियां हमें बहुत से स्थानों से प्राप्त हुई हैं और भारत में भी हड़प्पा[2] तथा मोहनजुदाड़ो[3] से मिली हैं जिससे उपरोक्त विचार की पुष्टि होती है। प्राचीन सभ्य देशों के निवासियों में केवल आर्य ही इस विचारधारा के विरोधी थे क्योंकि ये पितृपूजक थे और इनके विचार से बीज प्रधान था भूमि नहीं। इनका ही केवल यह मत था कि वीर्य को यदि घट में भी रख दिया जाय या द्रोण में रख दिया जाय तो भी मनुष्य उत्पन्न हो सकता है। आर्यों के यहां ही यह कल्पना मिलती है कि अगस्त्य घटयोनि थे तथा द्रोणाचार्य की उत्पत्ति द्रोणी से हुई थी। यह सम्भव है कि स्त्री के पेड़ू और घट दोनों के समान गोल आकार को तथा दोनों के मुख को देख कर घट को गर्भिणी स्त्री का प्रतीक माना गया हो। चान्हूदाड़ो, तक्षशिला, कसिया, भीटा तथा मनियार मठ की खोदाइयों में कुछ ऐसे मिट्टी के घट मिले भी हैं जिन पर स्त्री के स्तनों के सदृश आकार आभूषण इत्यादि दिखाई देते हैं[4] (फलक ५)

इस प्रकार गर्भिणी स्त्री की नग्न मूर्ति हड्डी तथा पत्थर की बनी हुई दक्षिण योरप के ग्रेड मास्टियन तथा आरेगनासियन मनुष्यों के काल की मिली है।[5] अभी हाल में एक प्रस्तर युग के काल की इसी प्रकार की मूर्त्ति रूस के कोस्टेंकी स्थान से प्राप्त हुई है। यह मामूथ नाम के हाथी की हड्डी की बनी हुई है।[6] इस नग्न स्त्री के लटकते हुए स्तन, भारी नितम्ब तथा निकला हुआ पेड़ू इस बात का द्योतक है कि यह गर्भिणी है। इन मूर्तियों का आकार अपने यहां की सिन्धु सभ्यता की मूर्तियों से मिलता है। पीछे चलकर कुछ इसी भांति की मूर्त्ति बीच में छेद बने हुए गोल पत्थर पर भी

---

१. अथर्ववेद—१०–७, ३८।

२. वत्स—हड़प्पा खण्ड २ प्लेट ७६ फिगर २८, २९।

३. मांके—फरदर एक्सकवेशन्स एट मोहनजुदाड़ो प्लेट ७३ फिगर २।

४. मांके—इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज—नवम्बर १४, १९३६ पृ० ८६३ फिगर १८, २५;
जे० मारशल—टक्सिला—खण्ड ३ प्लेट १२६ नं० १८५, १८६;
जे० पीएच वोगल—एक्सकवेशन्स एट कसिया—ए० एस० आई० ए० आर० १९०६–०७ पृष्ठ ५४;
मारशल—एक्सकवेशन्स एट भीटा—ए० एस० आई० आर०—१९११–१२ प्लेट २२—१२।
जी० सी० चन्दा—एक्सकवेशन्स एट राजगीर—आनुअल रिपोर्ट आफ आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया—१९३५–३६ पृ० ५४।

५. वी० गार्डन चाइल्ड—मान मेक्स हिम सेल्फ—पृष्ठ ५६।

६. अलेक्जेण्डर मोंगेट—आर्कआलाजी इन दी यू० एस० एस० आर०—पृष्ठ ८१ पर बनी मूर्ति।

भारत में उत्कीर्ण की गयी है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस प्रकार की स्त्री का पूजन प्रायः सभी जातियों में आदिम काल में प्रचलित था। इस स्त्री के प्रतीक के रूप में घट की जो उसके पेड़ू के सदृश था आदिम मनुष्य का पूजन करना कुछ अप्रत्याशित नहीं प्रतीत होता क्योंकि ऐसी मूर्त्तियां उसने बनाईं जो खोखले घट की भांति हैं केवल उनके मुख पर स्त्री का मस्तक रखा है[1] (फलक क) पीछे चल कर कदाचित् यह धारणा बनी होगी कि जल के देवता यक्ष का या वरुण[2] और घट में उसकी स्त्री यक्षिणी या लक्ष्मी का[3] वास है और जब पानी घट में भर दिया गया तो स्त्री पुरुष के संयोग से[4] उसमें जीवन की उत्पत्ति आवश्यक है। इस जीव को कमल माना गया क्योंकि कमल तो जीवन का प्रतीक था[5] ही। कुछ ऐसी कुषाण काल की नग्न देवियों की मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं जिनमें मस्तक के स्थान पर कमल का फूल बना है (फलक ६)[6] जो इन्हीं प्राचीन धारणाओं की द्योतक है।

इस प्रकार ऐसा ज्ञात होता है कि कमल सहित पूर्णघट प्रारम्भ में गर्भिणी माता का द्योतक था जिसकी पूजा से सौभाग्य की वृद्धि मानी जाती थी क्योंकि वरुण और लक्ष्मी दोनों ही सौभाग्य प्रदाता माने गये हैं। आज हम उस प्राचीन इतिहास को भूल गये हैं परन्तु पूर्णघट को मंगल शकुन हम अब भी मानते हैं और प्रायः अपने द्वारों पर पूर्ण कुम्भ और श्रीपर्ण वल्ली बनवाते हैं परन्तु उसका आकार आजकल कुछ दूसरा हो गया है। कुम्भ के स्थान पर चित्रकार गमला बना देते हैं और श्रीपर्ण वल्ली अर्थात् कमल की लता के स्थान पर कोई और फूल की बेल। कुम्भ पर भी हम वरुण पाश तथा कमल के अलंकरण के स्थान पर स्वस्तिक बनाते हैं और उसके मुंह पर कमल के फूल और पत्ती के स्थान पर पंच पल्लव रखते हैं और मनुष्य के सिर के आकार का नारियल रखते हैं या जीवन-ज्योति का द्योतक दीप। पूर्णघट के पीछे जो इतिहास था वह हम भूल गये परन्तु उसके रूप को हम अपनी संस्कृति से अलग नहीं कर सके।
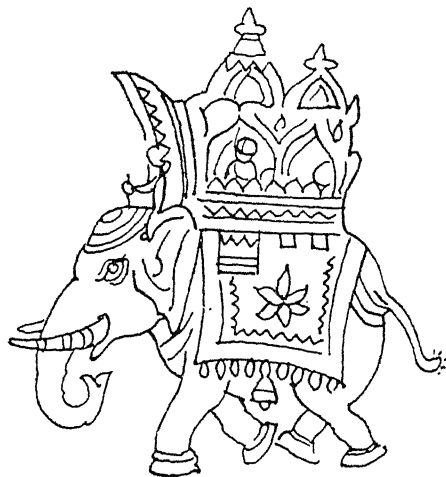
१. एम० ई० मलोवन—छागर बजार इत्यादि—इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज—मार्ज २७, १९३७ पृष्ठ ५१९ फिगर ५।
२. वाल्मीकि रामायण—७, ५६, १२।
३. कुमार स्वामी—यक्षाज खण्ड २ पृष्ठ ३४–३५।
४. शतपथ—९, ४, १, २ तथा ४।
५. कुमार स्वामी—यक्षाज खण्ड २ पृष्ठ ६७।
६. एस० सी० काला—अण्टीक्विटीज फ्राम झूसी इन दी एलहाबाद म्यूजियम—रीप्रिण्ट फ्राम जरनल आफ इण्डियन म्युजियम खण्ड १४–१६–१९५८—६०—प्लेट ७ अ पृ० ७ नं० ४६१७; इसी प्रकार की मूर्तियां कौशाम्बी, तेर इत्यादि स्थानों से भी मिली हैं—स्टेला क्रामरिश का लेख आरटिकस आजी खण्ड ९ में देखिये।

रुद्र-शिव-शंकर

श्रीमती सरोजिनी शिवराम लेले एम० ए० (जर्म०, अंग्रे०)

अनुवादक—श्री कैलासनाथ टण्डन, एम० ए० (भाषा-विज्ञान, हिन्दी)
रिसर्च स्कालर, लखनऊ विश्वविद्यालय।

भारतीय इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य एवं विद्या का मूल-स्रोत वेद है। अंग्रेजों के विद्वानों की वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में जो धारणा है, उस पर पाश्चात्यों का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। यह धारणा भ्रामक है कि शिक्षित समुदाय उस प्रभाव से मुक्त हो रहा है।

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद का समय ई० पूर्व १००० से १४०० तक है। स्व० पं० लोकमान्य तिलक का मत इनको मान्य नहीं है। कुछ लोगों के विचारानुसार शिवजी आर्यों के न होकर अनार्यों के देवता हैं, पश्चात् अनार्यों से प्रभावित होकर आर्यों ने भी शिवजी को अपना इष्ट मान लिया। विश्वासघात करने वाले विदेशी इतिहासकारों ने हमारे पावन इतिहास तथा धार्मिक प्रवृत्तियों को विकृत करने के लिए ही शिवजी को अनार्यों का देवता एवं श्मशान-वासी सिद्ध किया जब कि पौराणिकों ने शंकर के महत्त्व और गौरव को बढ़ाया। पुनश्च, पुराणों में उल्लिखित सम्पूर्ण तथ्य प्रामाणिक नहीं हैं।

विद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले इतिहास के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया जाता है कि सोमनाथ के मन्दिर में शिवजी की पुरुषाकार मूर्ति निराधार लटकी थी। आक्रमण के समय मोहम्मद गजनवी ने उस मूर्ति को अपनी गदा से खंडित कर दिया था। मूर्तिभंग होने के अनन्तर मूर्ति में से हीरे, मोती, जवाहरात, सुवर्ण तथा रत्नों के ढेर बिखर गए। हमारे शिक्षकों का ध्यान पढ़ाते समय जरा भी उस ओर नहीं जाता कि यदि चुम्बक के सहारे मूर्ति लटकी होती तो गजनवी की लौह गदा चुम्बकाकृष्ट क्यों न हो गई? जब कि जूते में जड़ी हुई नाल चुम्बक-शक्ति के प्रभाव से वंचित नहीं रह पाती।

भारत में ऐसा कोई गांव नहीं जहां शिव-मन्दिर न हो। फिर प्रश्न यह उठता है कि इनमें शिव मूर्ति की पूजा होती, अथवा शिवलिंग की। शिव-लिंग के निर्माण के विषय में कोई सुनिश्चित मत नहीं है। फिर भी, कुछ शिवलिंग मनुष्य-निर्मित हैं तथा कुछ स्वयंभू, अर्थात् प्रकृति-गत। लिंग पोला होना चाहिए, अथवा ठोस? यह कितना ऊंचा होना चाहिए? क्या इसके लिए कोई नियम है? इत्यादि प्रश्न पठन-पाठन करने वालों के अन्तर में प्रायः नहीं उठते।

शिवजी भारत के राष्ट्रीय देवता हैं, ऐसा वैदिक वाङ्मय में कहा गया है। इनके अनेक नाम भारत में प्रचलित हैं, इसके सम्बन्ध में यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं—एकलिंग, शिव, गिरीश, ईशान्, शंकर, महादेव, रुद्र, महेश आदि। इस्लामी आक्रामकों के साथ प्राण-पण से युद्ध करने वाले, बलिवेदी पर अपने प्राणों को हँसते-हँसते न्यौछावर करने वाले राजपूतों के एकमात्र देवता 'एकलिंग' जी माने जाते हैं। पिशाचों से लेकर देवों तक शंकरजी के उपासक थे। हिन्दुओं के इस महान् राष्ट्र पर जब-जब आपत्ति के घनघोर बादल मंडराये, विदेशी आक्रान्ताओं के भयावह आक्रमण हुए, तब-तब शिव-भक्तों ने, शिवगणों ने, शिव-पुत्र सेनानी कार्तिकेय ने रणक्षेत्र में शत्रुओं को हंसते हुए ललकारा और उनका मूलोच्छेदन किया।

दक्षिण-भारत में त्रिपुर-दहन का उत्सव प्रत्येक कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि को मनाया जाता है। उक्त तिथि की रात्रि के प्रथम प्रहर में शिव-मन्दिरों का प्रांगण शतावधि दीपों से आलोकित किया जाता है। दीप-स्तम्भ पर अग्नि प्रज्वलित की जाती है, और समस्त शिव-मन्दिरों में हर-हर-महादेव की अभ्रभेदी ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। यह उत्सव पूर्णतः राष्ट्रीय एवं ऐतिहासिक है।

विदेशी आक्रान्ता मेनान्द्र (Menander) के तीनों पुत्र अपनी-अपनी राजधानी में रहते थे, जो कि, त्रिपुराधिपति के नाम से विख्यात थे। ये त्रिपुराधिपति बड़े मायावी थे, तथा भारत पर आक्रमण करके माया के छल-बल से अपने-अपने पुरों में जा छिपते, और भारत-वासियों को त्रस्त करते थे। भगवान् शिव ने एक ही बाण से छेदवन तथा उनके

तीन पुर-त्रिपुर का अन्त कर दिया। यह ऐतिहासिक विजय-पर्व आज भी दक्षिण के प्रत्येक शिव मन्दिर में कार्तिक पूर्णिमा की पावन मंगल-वेला में मनाया जाता है, यह उत्सव उस प्राचीन तथा ऐतिहासिक विजय का स्मृति-रूप है। श्री नन्दलाल डे के शब्दों में:—

"The story of destruction of Tripura (त्रिपुर), is an allegorical description of the expulsion of the Buddhists by the Shaivas."

लिंग, शिवजी का प्रतीक है, ऐसा पुराणों में कहा गया है। भारत में बारह ज्योतिर्लिंग प्रसिद्ध हैं। ये सारे लिंग स्वयंभू हैं। सौराष्ट्र, बद्रीनाथ, विश्वनाथ, अमर-नाथ, उज्जैनी का महाकालेश्वर, भीम शंकर बैजनाथ, मल्लिकार्जुन, धुसृणेश्वर, रामेश्वर इत्यादि। भारतीय परम्परा के अनुसार शिवजी सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हैं। धनुर्वेद की उत्पत्ति शिवजी से मानी जाती है। सारी विद्या तथा कलाओं का उद्गम-स्रोत यही है।

"इमाः रुद्राय स्थिरधन्वने शिरः क्षित्रेषवेदेवाय स्वधाम्ने।"

—'जिसका धनुष अत्यन्त दृढ़ है, जिसके शर अत्यंत वेगवान हैं, जो अपनी इच्छानुसार चलता है, वह रुद्र अपराजित है, शत्रु का दमन करने वाला है, सारी घटनायें उसकी इच्छानुसार घटित होती हैं, ऐसे रुद्र को यह स्तोत्र अर्पण है, और वह इस स्तोत्र का श्रवण करेगा ही।' इस ऋचा में शिवजी का उनके धनुषबाण व नक्षत्र सहित उल्लेख है। यह आषाढ़ा नक्षत्र का उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है :

"यत् ना सहन्त तत् आषाढ़ाः॥"

ये रुद्र आर्द्रा नक्षत्र के स्वामी हैं। मूल बर्हिणी नक्षत्र के कुल ११ तारे हैं, जो क्रमशः एकादश रुद्रों के प्रतीक हैं। रुद्र एकादश हैं, और आदित्य द्वादश। यह बात सर्वप्रसिद्ध है। रुद्रों में शंकर जी प्रमुख हैं। जैसा कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है :

"रुद्राणां शंकरश्चास्मि॥"

ये एकादश नाम अधोलिखित हैं—वीरभद्र, शंभु, गिरीश, अजेकपात्, अहिर्बुधन्य, पिनाकी, अपराजित, भुवनाधीश्वर, कपाली, स्थाणु, तथा भव। सभी पुराणों के अनुसार रुद्र एकादश हैं, और सातवां रुद्र अपराजित है। अपराजित रुद्र का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आता है। चाणक्य ने स्पष्ट आदेश दिया है कि प्रत्येक किले के मध्य में रुद्र की स्थापना किले के अधिष्ठातृ-देवता के रूप में करनी चाहिए।

ऋग्वेद में रुद्र के अग्नि, शंभु, शर्व, रुद्र, शिव, भव (भग), अपराजित, उग्र पशुपति, कपर्दिन, ईशान्, अशनि, और हर के नाम उल्लिखित हैं। इन सारे नामों के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में एक कथा आती है——संवत्सर ने अपनी पत्नी ऊषा से अग्नि नामक कुमार उत्पन्न किया। जन्म होते ही कुमार अपने नामकरण के लिए रोते हुए हठ करने लगा। अतः उसके उपरोक्त नाम रखे गए। रुद्र के जन्म के सम्बन्ध में एक और कथा उपलब्ध होती है—प्रजापति स्वकन्याभिलाषी को अनाचार से निवृत्त होते न देखकर प्रजापति को शासनार्थ सभी देवताओं ने अपने-अपने में से घोर अंश निकालकर रुद्र की सृष्टि की। प्राचीन ईरान में पिता-पुत्री, माता-पुत्र, और भाई-बहन के विवाह उत्तम माने जाते थे, भारतीय परम्परा इस प्रथा के विरुद्ध है। प्रजापति ने न करने वाले आचरणों को प्रश्रय दिया, अतः उसे रुद्र ने दण्ड दिया।

दक्ष प्रजापति और शिवजी के मध्य हुए युद्ध का वर्णन अधिकांश पुराणों में पाया जाता है। शर्व और भव, अवेस्ता में भिन्न रूप में मिलते हैं। वैदिक सर्व और भव भग रूप में प्राप्त होते हैं।

वास्तव में भव और भग ये दोनों शब्द एक ही हैं। उच्चारण भेद के कारण दो पृथक् शब्द बने हैं। भव से बध और बोध (इस्लाव भाषा का शब्द) बने हैं। "शर्व इति प्राच्याः आचक्षन्ते भवः इति बाइकाः पशूनाम् पतिः रुद्रो अग्निः इति।" भारत के पश्चिमवर्ती प्रदेशों में रुद्र को भव नाम से जाना जाता है। यह परम्परा उक्त वेदवाक्य में सुरक्षित है। सामवेद में 'भगो न चित्रो' ऐसा उल्लेख मिलता है। रुद्र को मखारि भी कहा गया है। रुद्र कृत मख-विध्वंस का वर्णन हरिवंश पुराण में उल्लिखित है। इसमें जो परम्परा सुरक्षित है, उसका सम्बन्ध, खगोलशास्त्र से माना जाता है। "धनुः विग्रीह्य जानुभ्याम्।" ये शब्द विशेष महत्त्व के हैं। पाश्चात्य ज्योतिष शास्त्र में वृश्चिक और धनु, ये दोनों राशियां व्यापने वाले हरक्युलिस को 'KNEELR' शब्द से सम्बोधित किया है। शंकर जी ने भी घुटने टेककर यज्ञ को बाण मारा था। रुद्र ने जब यज्ञ को बाण का लक्ष्य बनाया, तब वे यज्ञ-भूमि पर ही खड़े थे। इस वस्तुस्थिति को लेकर पौराणिकों ने युद्ध-वर्णन किया। इस युद्ध के नेता वीर-भद्र थे। यह नाम रुद्र का ही है।

यज्ञ-भूमि पर रुद्र सशस्त्र खड़े हैं, ऐसा शतपथ ब्राह्मण का वचन है। रुद्र के अतिरिक्त अन्य सभी देवों का निवास-स्थान पूर्व दिशा की ओर है। केवल रुद्र ही उत्तर की ओर निवास करते हैं। कैलाश भी उत्तर दिशा में स्थित है, जो शिव का प्रिय-स्थान है। ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख है—"तिग्मम् एको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिर उग्रो जलाषभेषजः।" 'उग्र शुचि

हाथ में तीक्ष्ण अस्त्र धारण करने वाला जलाषभिषज देव रुद्र ही है। यह वर्णन उस समय का है, जब स्वाति नक्षत्र में दक्षिणायन था।' रुद्र के विषपान का उल्लेख स्पष्टतया ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है "केशी विषस्य पात्रेण यत् रुद्रेण पिबत सह॥" शिवजी के अद्भुत विषपान का मूल इस ऋचा में है।

भूतेश रुद्र का सर्वपरिचित नाम है। 'भूतेश' का अर्थ 'समस्त उत्पन्न वस्तुओं का स्वामी' है। भूत का अर्थ 'प्रेत योनि का प्राणी' कदापि नहीं। परन्तु ऐसा अर्थ करके शंकर जी को, अथवा रुद्र को प्रेत-योनि का अधिपति सिद्ध किया गया है। वास्तव में भूतेश अथवा भूतवान एक तेजस्वी तारा का नाम है। जब कि, पाश्चात्य ज्योतिश्शास्त्र में, इस तारे का नाम "Bootés" है। इसी को लैटिन भाषा में 'Clamans', 'Clamator', 'Viocferator' और अरबी में 'AL. Aurwa' कहा है। उपर्युक्त चारों शब्दों का अर्थ 'महान् ध्वनि करने वाला' है। शिवजी का एक नाम 'महानाद' भी है। 'रुद्र' शब्द का अर्थ भी 'महान् ध्वनि करने वाला है'। वेद में रुद्र का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार पाश्चात्य वेदविदों का मत है कि यह 'आंधी के देवता हैं।' जिसको पाश्चात्य ज्योतिष में 'Bootés' कहा गया है। यह तारा उत्तराकाश में सप्तर्षि-मंडल के पास मिलता है, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। भूतेश, अर्थात् लुब्धक (Orian) भी कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—"तं देवाः अपश्यन् अक्रतं वै प्रजापतिः करोति इति। ते तम् ऐच्छन् य एनं मारयिष्यति इति, एवम् अन्योन्यस्मिन् अविन्दन्; तेषां याः घोरतमाः तन्वः आसन् ता एकधा समभरन् ताः संभृता एष देवो अभवत् तस्य एतेत् भूतवत् नाम भवति।"

'इस महाकाय पुरुष ने प्रजापति हनन के बदले में पशुओं का आधिपत्य मांग लिया। यह हमारी परम्परा द्वारा सुरक्षित भूतेश, भूतवान्, अथवा 'Bootés' की उत्पत्ति कथा है। रुद्र के पूर्व त्वष्टा पशुपति था। उत्तराकाश स्थित 'Bootés' अथवा 'भूतवान' का जो विवेचन किया गया है, उस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण, जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, दिया जाता है—

For the first, depicting on the vault of heaven of the figure of Bootés, I claim with much strong conviction, the date of 6,000 B. C. and latitude of 45° north. For then and there Bootés might be seen at midnight of the summer solstice, standing upright on the northern horizon, his head reaching nearly to the pole of heavens. Never since that date has he held a so commanding position in the sky, nor at any more southern latitude could his whole figure have been represented as standing on the horizon. The name Bootés has been translated as ox-driver and for him, Aratos says, "The bear ward whom mankind, the ploughman call because he seems to touch the wain like bear. The seven bright stars which mark the tail and part of the body of the Great Bear are often spoken as the plough and on the large remaining space allotted to the sphere of Ursa-Major, it would not be difficult to include oxen harnessed to the brightly marked celestial plough."

पौराणिकों की यह कल्पना सर्वथा निराधार नहीं है कि प्रजापति की कन्या रुद्र की पत्नी है क्योंकि ऋग्वेद में अद्भुत जामाता का वर्णन मिलता है—"तव वायो ऋतस्पते त्वष्टुर्जामातर अद्भूत अपाँसि आवृणी महे! त्वष्टुर्जामातरम् वयं ईशानं राय ई महे।" ईशान को त्वष्टा का जामाता कहा गया है, तथा धन देने के लिए प्रार्थना की गई है।

भूतेश स्वाति नक्षत्र हैं, और उसके देवता वायु हैं—"वायुर्नक्षत्रमभ्येति निष्ठ्याम् तिग्मश्रृंगो वृषभो रोरुवाणः।"

प्राचीन अक्कड़ लोगों की भाषा में 'सिब' शब्द का अर्थ पशुपति है, जो कि उनके देवता भी हैं। उक्त भाषा में 'सिबजी अन्न' शब्द भी प्राप्त होता है, जिसका अर्थ है स्वर्गीयों का पशुपति। 'अन्न' शब्द का अर्थ स्वर्ग है। ग्रीक में मदिरा का देवता 'बाकुस' माना गया है क्योंकि ग्रीक देश में 'बाकुस' को 'सिब' कहकर उपासना करने वाला एक पन्थ भी मिलता है। ग्रीक में भूतेश के लिए "अर्क" शब्द का प्रयोग किया गया है। आश्चर्य की बात यह है कि उक्त शब्द का अर्थ 'लिंग' है। होमर के ग्रन्थों में भी 'भूतेश' शब्द आया है।

दक्षिणाकाश में दो तारक-पुञ्जों का वर्णन मिलता है। यज्ञ-वेदी अथवा वेदी, त्रिशंकु उनके नाम हैं। यज्ञवेदी के सम्बन्ध में मानिलाऊस नामक ग्रीक ज्योतिषी कहता है कि 'यज्ञवेदी विश्व का मन्दिर है।' यज्ञवेदी भूतेश के ठीक सामने किन्तु दक्षिणाकाश में है। जिस समय भूतेश नक्षत्र उत्तराकाश में प्रकाशित होता है, उस समय यज्ञवेदी दक्षिणाकाश में छिप जाती है, और जब यज्ञवेदी उत्तरोत्तर ऊपर की ओर बढ़ती है तब क्रुद्ध मखारि रुद्र का दर्शन दुर्लभ हो जाता है। यह रुद्र और यज्ञ के विरोध का वास्तविक स्वरूप है। ज्योतिष के अनुसार इस प्रकार विरोध के प्रत्यक्ष दर्शन ईसा पूर्व ३,००० से ३,४०० के लगभग माने जाते हैं।

ऋग्वेद में यज्ञ और रुद्र के युद्ध अथवा विरोध का वर्णन नहीं प्राप्त होता जब कि वेदोत्तर साहित्य में यज्ञ विध्वंस की अनेक कथायें मिलती हैं। उक्त साहित्य का समय ज्योतिष के अनुसार ई० पू० ३,००० वर्ष माना जाता है। भारतीय परम्परा में त्रिशंकु और यज्ञवेदी की कथा का विशेष महत्त्व है। विश्वामित्र जी ने यज्ञवेदी से ही त्रिशंकु को स्वर्ग भेज दिया था।

महाभारत के अनुशासनपर्व में रुद्र के वारुण ऐश्वर्य का वर्णन मिलता है। दक्षिणायन का प्रारम्भ धनु राशि के आषाढ़ नक्षत्र से होता था। जब आरम्भ स्थान उक्त स्थान से हटकर मूल, ज्येष्ठा, अनुराधा, विशाखा, चित्रा, स्वाति, क्रम से हस्त में आ गया था, उसका वर्णन महाभारत में रुद्र के वारुण ऐश्वर्य के रूप में संग्रहीत किया गया।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक महत्त्वपूर्ण ऋचा मिलती है—'अनर्वा यत् शतऽदूरस्य वेदः हनन शिश्नऽदेवान् अभिवर्चसा भूत।"

उक्त ऋचा से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकाल में लिंग पूजा को महत्त्व दिया गया, साथ ही उसके विरोधियों का दल भी उत्पन्न हो चुका था। इन सारी बातों की जानकारी बैखानसवभ्र-ऋषि के सूत्रों से प्राप्त होती है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त जो सिक्के या ताबीजें हैं, उन पर उत्कीर्ण 'यय' और 'यव' शब्दों का अर्थ 'सूर्य रूपधारी विष्णु है, ऐसा कहा गया है। ये दोनों शब्द ऋग्वेद में भी उपलब्ध होते हैं, और इनका अर्थ न तो सूर्य है, और न विष्णु, अपितु अग्नि का विशेषण है, तथा अन्य ताबीजों पर 'यय' 'नटय' और 'कुय' शब्द अंकित हैं, जिनमें 'नटय' का अर्थ नटराज शंकर माना गया है। 'कुय' का अर्थ 'सर्वसंहारक शिव' है, ऐसा डा० ह्रोझनी महोदय ने सिद्ध किया है। उक्त ताबीजों के साथ जो अन्य ताबीजें और प्राप्त हुई हैं, उन पर 'शिया' 'इशिया' और 'शियेता' नाम अंकित हैं। ये सारे नाम पशपति की पत्नी के हैं, यह सर्वमान्य है।

इस प्रकार शिव, शंकर तथा रुद्र के विषय में अनेक अन्तर्कथायें, किम्वदन्तियां एवं वैदिक तथा अन्य मत-मतान्तरों का उल्लेख यत्र-तत्र ग्रन्थों में सन्निहित है। 'शिव, शंकर तथा रुद्र' ये तीनों शब्द पारस्परिक पर्यायवाची हैं तथा अपना स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण अर्थ भी रखते हैं। जैसे शिव का अर्थ कल्याण, 'रुद्र' धातु से बने रुद्र का सम्बन्ध गम्भीर ध्वनि तथा शंकर का अर्थ 'सर्व' कल्याण से माना गया है।

शिव न केवल विशेष जाति, धर्म, सम्प्रदाय, अथवा देश के देवता हैं, वरन् विश्व के सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याणकारी इष्ट सिद्ध हैं।

"सत्यं शिवम् सुन्दरम्॥"

ब्रह्मा, सरस्वती तथा हंस

श्री देवीशंकर मिश्र 'भ्रमर', एम० ए०, एम० एस-सी०

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मा को ज्ञान का अधिष्ठाता, सरस्वती को ज्ञान की देवी तथा हंस को ब्रह्मा तथा सरस्वती दोनों का ही वाहन माना गया है। एक पौराणिक कथा के अनुसार सरस्वती ब्रह्मा की आत्मजा थीं। ब्रह्मा ने बड़े ही मनोयोग के साथ उनका निर्माण किया, और सरस्वती भी कैसी——

'कोटिपूर्णेन्दु शोभाढ्या शरत्पङ्कजलोचना ।
वहि्नशुद्धांशकाधाना रत्नाभरणभूषिता ।।
सस्मिता सुदती वामा सुन्दरीणाञ्च सुन्दरी ।'[1]

अर्थात्—करोड़ों पूर्ण इन्दुओं[2] के समान शोभना, शरत्कालीन उत्फुल्ल पंकजों के समान सुन्दर नेत्रों वाली, वह्नि[3] के समान शुद्ध अंशुकों[4] को धारण किये हुए, रत्नों[5] के आभरणों से भूषित, मन्द हास्य से युक्त, शोभायुक्त दांतों वाली, परम लावण्यमयी वामा[6], तथा सुन्दरियों में भी सुन्दर[7] कही जाने वाली।"

और फिर ऐसी सर्वांग सुन्दरी स्त्री को देख कर ब्रह्मा पंचशर के वाणों से विद्ध हो व्यथित हो गये।[8] इतना ही नहीं, विश्व का निर्माण कर चुकने के उपरान्त ब्रह्मा ने श्रेष्ठ योषिता सावित्री में उसी प्रकार वीर्याधान किया जिस प्रकार एक कामुकी स्त्री में एक कामुक पुरुष करता है।'[9]

स्थूल दृष्टि के देखने पर कथा में अनैतिकता प्रकट होती है। स्वभावतः ही ऐसे विचार मन में उठते हैं कि यदि वास्तव में ऐसा हुआ तो कम-से-कम ज्ञान के आदिस्रोत ब्रह्मा के लिये ऐसा करना उचित न था; और यदि यह कथा है तो नीतिज्ञ ऋषियों को देव-देव, सुरज्येष्ठ, वेदगर्भ, अष्टकर्ण, पितामह ब्रह्मा के साथ ऐसी कथा न जोड़नी चाहिये थी। परन्तु...........

परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इस कथा में किसी भी प्रकार से अनैतिकता का पोषण किया जाता नहीं मिलता। 'कामुक्यां कामुको यथा' का 'यथा' तथा इसके तुरन्त बाद का पद 'सुषुवे चतुरोवेदान्' अर्थात् 'चारों

---

१. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, ब्रह्मखण्ड, ३।५४–५५

२. इन्दु, उनत्ति, अमृतधारया भुवं विलन्नां करोति इति, धरा को सुधा की धार से सिंचित करने वाला।

३. वन्हि, वहति धरति हव्यं देवार्थमिति, परम पवित्र अग्नि, वह अग्नि जो देवताओं के लिये समर्पित किये गये हव्य को ग्रहण कर उसे उन तक पहुंचाती है। अग्नि एक तो वैसे ही शुद्ध होती है और अपवित्र वस्तुओं की कल्मषता को दूर करने वाली होती है, उस पर वह्नि तो और भी पवित्र हुई क्योंकि भोजन का वाहक—और फिर देवताओं के अर्थ हव्य का वहन करने वाला—अत्यधिक शुद्ध तथा पवित्र वस्त्रों का धारण करने वाला होना चाहिये।

४. अंशुओं अर्थात् किरणों के समान चमकने वाले श्वेत-धवल वस्त्रों को अंशुक कहा गया है।

५. रत्न, रमयति हर्षयति इति, जिसे देख कर हर्ष प्राप्त हो।

६. वामा, वमति सौन्दर्य्यं इति, ऐसी स्त्री जिसके अंग-प्रत्यंग से सौन्दर्य फूटा पड़ रहा हो।

७. सुन्दरी, सुष्ठ उन्नत्ति आर्द्रयति मनः इति सुन्दरी, अपने सौष्ठव से मन की दृढ़ता को नष्ट कर देने वाली, अचंचल मन को चंचल कर देने वाली स्त्री।

८. 'दृष्ट्वा तां व्यथितस्तावत् कामवाणार्दितो विभुः।'—मत्स्यपुराण, अ० ३

९. ब्रह्मा विश्वं विनिर्माय सावित्र्यां कर योषिति ।
चकार वीर्याधानं कामुक्यां कामुको यथा ।। ——मत्स्यपुराण, अ० ३

वेदों की उत्पत्ति की' स्पष्ट कर देते हैं कि यह आधिदैविक कथा लौकिक भाषा में नहीं वरन् आलंकारिक भाषा में लिखी गयी है और इसमें प्रयुक्त प्रत्येक शब्द के अर्थ भी उसी दृष्टि से लगाये जायेंगे।

ब्रह्मा को आर्य ऋषियों ने ज्ञान का प्रतीक माना है। ज्ञान की उत्पत्ति उन्हीं से हुई जिसके कारण ज्ञान-शक्ति को ही ब्रह्माणी कहा गया।[1] पुराणकारों ने इसी बात की ओर लक्ष्य करते हुए ब्रह्माणी को—सरस्वती को, सावित्री को—ब्रह्मा की आत्मजा कहा। व्युत्पत्तिक दृष्टि से ब्रह्माणी वह शक्ति है जिसने ब्रह्मा को———अक्षर को[2]———जन्म दिया।[3] इस दृष्टि से यदि ब्रह्माणी ब्रह्मा की माता कही जातीं—ब्रह्म अर्थात् ज्ञान को जन्म देने वाली वह कही ही गयी हैं—तो भी उचित ही होता।

ब्रह्मा का मन इस ज्ञान-शक्ति में ऐसा रमा कि वह अपना आपा भूल गये और 'कोटिपूर्णेन्दु शोभाढ्या.................. सुन्दरीणाञ्च सुन्दरी' के प्रति उनकी आसक्ति की सीमा न रही। फलस्वरूप सृष्टि हुई चारों वेदों की—सनातन ज्ञान के भाण्डारों की। यही तो कथा है ब्रह्मा से ज्ञान-शक्ति अर्थात् ज्ञान की धात्री की उत्पत्ति की, उस ज्ञान की प्रतिमा पर ब्रह्मा की अनुरक्ति की, तथा फिर चारों वेदों के रूप में चतुर्दिक् फैलने वाले ज्ञान के प्रकाश की। कहां है अनैतिकता इसमें ?

फिर, ब्रह्मा के अर्थ होते हैं 'वह जो वर्द्धन को प्राप्त होता है या जो प्रजा का वर्द्धन करता है'[4]। इस प्रकार ब्रह्मा हुए पुरुष के प्रतीक जो सृष्टि का कर्त्ता है। सरस्वती के अर्थ होते हैं 'वह जो जल के समान रसवती हो।'[5] इस प्रकार सरस्वती हुई ऐसी प्रकृति की प्रतीक जो पुरुष के लिये जल के समान रसवती तथा जीवनदायिनी अर्थात् जीवन का आधार हो। व्यावहारिक दृष्टि से पुरुष प्रजा के वर्द्धन में तत्पर तभी होगा जब उसे ऐसी पत्नी प्राप्त होगी जिसमें उसका मन रम सके, जो उसके लिये उसी प्रकार जीवन का आधार सिद्ध हो जिस प्रकार प्राणियों के लिये जल, और तभी स्वयं उसकी भी वृद्धि होगी। यदि ऐसा न होगा तो न तो वह स्वयं सुखी रह सकेगा और न प्रजा का वर्द्धन करने में ही तत्पर होगा। सृष्टि के आदि में भगवान् विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा को ब्रह्मा (जो प्रजा का वर्द्धन करता है) होने के नाते सृष्टि की रचना तथा प्रजा की उत्पत्ति का कार्य सौंपा गया। पुरुष तथा प्रकृति—नर तथा नारी—के संयोग के बिना सृष्टि का उत्पन्न किया जाना सम्भव नहीं था, अतः ब्रह्मा ने 'कोटिपूर्णेन्दु शोभाढ्या...........सुन्दरीणाञ्च सुन्दरी' नारी का निर्माण किया और फिर उसकी सहायता से (प्रजा का वर्द्धन करने वाले ने, सृष्टिकर्त्ता ने, ब्रह्मा ने) प्रजा की उत्पत्ति की।

इसी बात को यदि हम यों कहें कि प्रकृति पुरुष की शक्ति-स्वरूपा, उसका सम्यक् संचालन करने वाली, उसे गति प्रदान करने वाली है तो वैज्ञानिक दृष्टि से भी सर्वथा उचित ही होगा। शक्ति का उत्पत्ति स्थान पुरुष (अर्थात् प्राणि-शरीर, ही है, और फिर आधार भी है शक्ति का पुरुष ही। दूसरे शब्दों में, शक्ति पुरुष से ही उत्पन्न तथा फिर पुरुष की ही सहचारिणी है; उसीके द्वारा उसकी उत्पत्ति, उसी के द्वारा उसकी गति और फिर उसके लय के साथ ही उसका भी लय है।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्राचीन ग्रंथकारों ने सभी कहीं 'पुरुष' अथवा 'नर' से केवल लैंगिक नर (Sexual male) या मानव शरीर (Human body) का ही अर्थ नहीं लिया है वरन् समष्टि रूप से प्राणधारियों (Living beings, both animals and plants) का अर्थ भी लिया है। श्वेताश्वरोपनिषद्, ३।१५ में स्पष्ट कहा गया है कि 'जो अन्न के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है' (यदन्नेनातिरोहति) वह पुरुष अथवा नर है।

शिक्षा की दृष्टि से ब्रह्मा और सरस्वती की इस कथा में संयम का पाठ पढ़ाया गया कहा जा सकता है यदि हम इसके लौकिक अर्थ लगाने का ही हठ करें। इस कथा के अनुसार ब्रह्मा सरीखे ज्ञानी भी—केवल ज्ञानी ही नहीं वरन् समस्त ज्ञान के आदिस्रोत—नारी के आकर्षण से न बच सके; और नारी भी कौन सी ? स्वयं उनकी ही आत्मजा। तभी तो मनुस्मृति (२।२१५) का विधान है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

---

१. आयाता ब्रह्मणः शक्तिर्ब्रह्माणी साभिधीयते।
—मार्कण्डेय पुराण, ८८।१४

२. ब्रह्मा अक्षर परामता।—देवीपुराण, ४५

३. ब्रह्माणी ब्रह्मजननात्। —देवीपुराण, ४५

४. बृंहति वर्द्धते यः, बृंहति प्रजा यः वा।'—शब्दकल्पद्रुम

५. 'सरो नीरं तद्वत् रसो वा अस्ति अस्या इति सरस्वती।'—शब्दकल्पद्रुम

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण की एक अन्य कथा के अनुसार ब्रह्मा ब्राह्म मुहूर्त्त में सावित्री को साथ लेकर विचरण करने निकले। मार्ग में सावित्री की दृष्टि पुरूरवा पर पड़ी और उनका उनसे प्रेम हो गया। ब्रह्मा को यह देख कर बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होंने सावित्री अर्थात् सरस्वती को नदी हो जाने का शाप दिया। सरस्वती ने अपनी इस मानसिक दुर्बलता पर पश्चात्ताप करते हुए ब्रह्मा से क्षमा मांगी। इस पर ब्रह्मा ने तुष्ट होकर उन्हें पवित्र-सलिला होने का वरदान दिया।

कथा हमें फिर आलंकारिक भाषा में ही लिखी मिलती है। ब्रह्मा ज्ञान के प्रतीक हैं, ज्ञान वृद्ध माना गया है, इसीलिये ब्रह्मा भी श्वेत श्मश्रुयुक्त वयोवृद्ध रूप में ही चित्रित किये जाते हैं। ब्राह्म मुहूर्त्त में ज्ञानी व्यक्ति आत्मचिन्तन अथवा स्वाध्याय में रत रहता है और ज्ञानशक्ति का अधिकाधिक अर्जन किया करता है। ब्रह्मा का सरस्वती के साथ ब्राह्म मुहूर्त्त में विचरण करने का यही तात्पर्य है। सूर्य निकलने पर मेधा-शक्ति तथा विचारशीलता में कुछ कुण्ठा आ जाती है क्योंकि ज्ञानी अथवा विचारक का एकान्त भंग हो जाता है। वातावरण में विविध प्राणियों के स्वरों के कम्पन व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से व्याप्त हो उठते हैं जो विचारक की एकाग्रता को भंग कर देते हैं। परिणामस्वरूप ज्ञान की ओर से सरस्वती खिंचती है। पुरूरवा[1] को देख कर सरस्वती का ब्रह्मा की ओर से खिंच कर उनकी ओर आकर्षित होना इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। ज्ञानी का विचार करना बन्द हो जाता है और उसका ज्ञान मुखर हो उठता है, धारावती का रूप लेने लगता है—वाग्धारा का भी और अध्यापन की धारा का भी। दूसरे शब्दों में सूर्योदय होने पर ज्ञानार्जन का समय समाप्त हो जाता है और आरम्भ हो जाता है ज्ञानदान का समय। ब्रह्मा के शाप से सरस्वती का धारावती का रूप ले लेना यही अर्थ व्यक्त करता है। ज्ञानदान पुरूरवा (हंस अर्थात् विवेकशील प्राणी) के प्रति प्रेम के कारण पवित्र ही होगा—छल-छद्म आदि से सम्बन्धित कलाओं की शिक्षा का समय तो तमपूर्ण पर्यावरण है। यही ब्रह्मा द्वारा सरस्वती को पवित्र सलिला होने का वरदान है।

हंस ब्रह्मा का भी वाहन माना गया है तथा सरस्वती का भी। ब्रह्मा के जहां अन्य अनेक नाम हैं वहां हंसरथ, हंसवाहन तथा हंसारूढ़ भी। इसी प्रकार जहां सरस्वती को गायत्री, महाश्वेता, शतरूपा, शारदा, शुक्ला तथा सावित्री जैसी संज्ञायें दी गयी हैं वहां हंसाधिरूढ़ा तथा हंसारूढ़ा भी। 'हंस' शब्द के व्युत्पत्तिक अर्थ हैं 'वह प्राणी जिसकी गति बहुत ही सुन्दर होती है। (हन्ति सुन्दरं गच्छति)' तथा जो बिना प्रयास ही जल (=जीवन) में तैरता रहता है। जल भी कैसा? गड्ढे-पोखरों का गंदला जल नहीं वरन् कवि-प्रसिद्धि के अनुसार कैलाश पर्वत पर स्वयं ब्रह्मा द्वारा निर्मित मानस तड़ाग[2] का शुभ्र, शीतल तथा सुन्दर सरस जल जहां चारों ओर पीत कमल खिले हुए हैं।[3] हंस के लिये प्रयुक्त मानसवासी, मानसालय तथा मानसौका जैसी संज्ञायें उसके मानस में निवास करने की बान की ही द्योतक हैं; वल्लभदेव हंसों के मानस सरोवर में निवास करने की आन को परिलक्षित करते हुए लिखते हैं:—

अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरज मण्डितम्।
रमते न मरालस्य मानसं मानसं विना॥[4]

अर्थात्—यद्यपि कमलों से युक्त जल सभी कहीं सरोवरों से सुलभ है परन्तु मराल का मानस मानससरोवर के अतिरिक्त और कहीं नहीं रमता।

साहित्य में हंसों के सम्बन्ध में ऐसी भी मान्यता है कि वह मुक्ताओं का आहार करते हैं। देखिये, सुजान-विनोद में कवि देव लिखते हैं—

पीछे परबीनैं बीनैं संग की सहेली आगे,
भार डर भूषन अगर डारै छोरि-छोरि।
चौंकति चकोरनि त्यों मोरै मुख मोरनि त्यों,
भौंरनि की ओर भीरु हेरै मुख मोरि-मोरि॥

---

१. पुरूरवा, पुरु प्रचुरं रवा स्यात् तथा रौतीति, सूर्य के निकलने पर वातावरण में प्रचुर रव व्याप्त हो उठता है इसीलिए पुरूरवा के अर्थ 'सूर्य' होते हैं। 'सूर्य' का ही एक पर्याय है 'हंस', हंस जब आकाश में पंक्ति बांध कर उड़ते हैं तो मधुर ध्वनि करते हुए, इस कारण पुरूरवा हंस को भी कहते हैं।

२. कैलास पर्व्वते राम! मनसा निर्मितं परं।
ब्रह्मणा नरशार्दूल! तेनेदं मानसं सरः॥ —वाल्मीकि, रामायणम्, आदिकाण्डम्, २४।८

३. हेम पुष्कर सञ्छन्नं तेन वैखानसं सरः।
कम्पितं मानसश्चैव राजहंसनिषेवितम्॥ —व्यास, महाभारतम्, ३।२३०।७१

४. सुभाषितावलिः, ६९३

एक कर आली कर ऊपर ही धरे, हरे—
हरे पग धरै 'देव' चलै चित चोरि-चोरि।
दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन, राज-
हंसन चुनावति मुकुति माल तोरि-तोरि ॥[१]

प्रश्न उठता है कि मानस सरोवर में निवास करने वाला, मुक्ताओं का ही आहार करने वाला, तथा ब्रह्मा और सरस्वती इन दोनों का ही वाहन यह हंस है कौन ? महाभारत (१२।४३।७) में इसके लिये कहा गया है 'शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्च्चिर्हंसउच्यते, अर्थात् 'हंस उस प्राणी को कहते हैं जो स्पष्ट सुनने वाला हो, जिसके शरीर पर के पतत्र देखने में बहुत ही सुन्दर तथा प्रीतिकर हों, तथा जो घृत की सी आभा वाला (कुछ-कुछ पीलापन लिये हुए श्वेत वर्ण का) हो।'

ठीक भी है, हंस की ध्वनिग्राहक शक्ति पर्याप्त तीव्र होती है, सुन्दर पतत्रों से वह युक्त होता है, और घृत की सी पीताभं धवल आभा वाला वह होता ही है।

फिर प्रकारान्तर से 'शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्च्चिर्हंस उच्यते' के यह भी अर्थ होते हैं कि 'वह जो वेद, शास्त्र, पुराण तथा नीति आदि के पुण्य-पावन वचनों का सुननेवाला हो ; हृषीकों (इन्द्रियों) का ईश (स्वामी) अर्थात् संयमी हो; तथा घृत को अग्नि में डालने पर जो रक्तातिपीत वर्ण की ज्वाला उससे उठती है उसके समान तेज से युक्त हो, घृत की सी स्निग्ध आभावाला हो, अथवा अमृत[२] की आख्या के समान पुनर्जीवन प्रदान करने वाली विचित्र शक्ति से युक्त हो, हंस की संज्ञा प्राप्त करता है।'

इस परिभाषा के अनुसार मनुष्यों में हंस की संज्ञा से विभूषित किया जा सकने योग्य वह तत्त्वज्ञ पुरुष ही हो सकता है जो उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त हो, और फिर जो हंस के समान सुन्दर चाल चलने वाला हो (हन्ति सुन्दर गच्छति) सदैव श्रेय तथा प्रशस्त पथ का ही अवलम्बन तथा अनुगमन जिसे अभीष्ट हो, कुटिलता से जिसे घृणा हो; वह नहीं जिसके सरीखे लोगों के लिये गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं —

जे जनमे कलिकाल कराला। करतब बायस बेष मराला ॥
चलत कुपंथ बेद मग छांड़े। कपट कलेवर कलिमल भांड़े ॥
बञ्चक भगत कहाई राम के। किंकर कञ्चन कोह काम के ॥[३]

यही नहीं, हंस कहलाने के लिये उसका उच्चाकांक्षी तथा उन्नतमना होना (कैलास पर्व्वते राम...............) भी आवश्यक है। इन सब गुणों से युक्त व्यक्ति ही शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्तियों की श्रद्धा का पात्र बनता है, उनके अन्तर-प्रदेश पर अपना अधिकार जमा पाता है, अपनी आदर्शाचारिता का उदाहरण उनके सामने रखता हुआ उनमें सद्बुद्धि का विकास करता है, उनके मन-मानस में विहार करता हुआ[४] उन्हें नीर-क्षीर-विवेकिनी शक्ति से संयुत करता

---

१. हरदयालु सिंह, देव-दर्शन, पृष्ठ १५४, २६

२. जटाधर कोष में 'घृत' का एक पर्याय 'अमृत' भी आया है (घृतोऽस्त्री चाजमाज्यञ्च सर्पिः स्यादमृतं हविः), और ऐसा ही कथन राजनिर्घण्ट का भी है। ठीक भी है, क्षीर (सागर अर्थात् दूध के समुद्र) को मथ कर ही तो अमृत (अर्थात् घृत) निकाला भी गया था।

वैसे ऋग्वेद (१।१०४।३) में क्षीर जल के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—

अवत्मना भरते केतवेदा अवत्मना भरते फेनमुदन् ।
क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः ॥

अर्थात्—वह पुरुष जो ऐश्वर्य तथा ज्ञान प्राप्त करके भी स्वार्थ के वशीभूत हो निकृष्ट उपायों द्वारा अपने धन की वृद्धि में संलग्न रहता तथा अपनी बुद्धि एवं ज्ञान का उपयोग अधम कार्यों के सुचारु सम्पादन में करता है, फिर वह पुरुष जो स्वभावतः नीच उपायों द्वारा धन आदि का हरण करता है, ये दोनों ही जल (क्षीर=क्षयति कल्मषम् ति क्षीरः) से व्यर्थ ही स्नान करते हैं क्योंकि ऊपर से शुद्ध दिखलायी देने लगने पर भी अन्तर इनका मलिन ही रहता है। ये दोनों उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार एक दरिद्र व्यक्ति की दो पत्नियां परस्पर सपत्नी-वैर के कारण कलह-वृत्ति के नीच व्यवहार में पड़ कर आपस में लड़तीं और नष्ट हो जाती हैं।

३. रामचरितमानस, बालकाण्ड, १२१-२

४. भूषित रघुबर बंस, भक्तवत्सल, भव-खण्डन,
मुनि-जन-मानस-हंस, बिहित सीता-मुख-मण्डन,.................आदि।
—सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, ४३

× × ×

है,[1] उनके हृदय-तल में प्रच्छन्न पड़े हुए उत्तम गुणों के मुक्ताओं को चुन-चुन कर अपने जीवन का आधार बनाता है, तथा उन व्यक्तियों को भी अपने उदाहरण से सन्मार्ग पर ही बढ़ते रहने के लिये प्रेरणा देता है। ब्रह्मविद्या का ज्ञाता, ब्रह्मज्ञान का तत्त्वदर्शी, जन-जन तक सद्ज्ञान को पहुंचाने वाला, तथा सच्चे अर्थों में ज्ञान का वाहक यह ज्ञानी पुरुष ही तो हुआ न जिसे हम 'जन-मन-मानस हंस' कह कर याद करते हैं तथा हंस एवं परमहंस की उपाधियों से विभूषित करते हैं।

हंस मानस सरोवर में ही निवास करता है जहां का जल स्फटिक के समान स्वच्छ रहता है क्योंकि वर्षा का उत्पात उसे गंदा नहीं कर पाता। महाकवि कालिदास इसी तथ्य की ओर इङ्गित करते हुए लिखते हैं—

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा-
हेमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥[2]

अर्थात्—उस गृह के भीतर प्रवेश करने पर एक वापी मिलेगी जिसकी सीढ़ियाँ मरकत की शिलाओं की बनी हुई हैं। उस वापी में तुम्हें ऐसे कमल खिले हुए दिखलायी देंगे जिनकी पंखुरियाँ सोने की तथा जिनके नाल वैदूर्य मणि के बने हुए होंगे। उस वापी के जल में रहने वाले हंस इतने सुखी होंगे कि वे तुम्हें देख कर और आती हुई वर्षा का अनुमान करके भी मानस सरोवर में चले जाने का प्रयत्न नहीं करेंगे यद्यपि वह वहां से बिल्कुल ही सन्निकट है।

फिर, भेक आदि से संकुल सरोवर में हंस दुर्दिन में भी निवास नहीं करता। यही नहीं, उसे तो मानस सरोवर के आगे गंगा जी का जल भी नहीं सुहाता, 'गांगं नीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसा वयम्'।

ठीक है, नीर-क्षीर-विवेकी ज्ञानवान् सत्पुरुष सद्ज्ञानियों के साथ निष्कलुष पर्यावरण में ही रह सकता है जहां

करौं काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस मन-मानस-हंसा।
अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा-मन्दिर दोउ भ्राता॥
—तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, २८५।३

१. हंस नामक पक्षी के लिये ऐसा प्रसिद्ध है कि वह दूध का दूध और पानी का पानी अलग कर देता है। राजर्षि भर्तृहरि का इस विषय में एक बड़ा ही सुन्दर श्लोक है—

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः॥
—नीतिशतकम्, १८ (जोगलेकर)

अर्थात्—अत्यधिक कुपित होने पर विधाता अधिक-से-अधिक यही कर सकता है कि वह हंसों के कमल के वन में निवास करने के सुख एवं आनन्द को नष्ट कर दे, परन्तु वह उनके दूध और जल को अलग-अलग कर देने की स्वाभाविक सामर्थ्य की कीर्त्ति का अपहरण कर सकने में समर्थ नहीं है।

हंस की नीर-क्षीर-विवेकिनी शक्ति की ओर इङ्गित करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी श्रीकृष्ण-गीतावली (२५।९-१०) में लिखते हैं—

आपु मिल्यो यहि भाँति जाति तजि, तन मिल्यो जल-पय की नाईं।
है मराल आयो सुफलकसुत लै गयो छीर नीर बिलगाई॥

कविवर बृन्द का भी एक दोहा है—

साँच झूठ निर्णय करै, नीति-निपुन जो होय।
राजहंस बिन को करै, नीर-छीर को दोय॥

हंस नामक पक्षी नीर और क्षीर को अलग-अलग कर सकता हो अथवा नहीं परन्तु शुचिश्रवा, हृषीकेश, सद् एवं असद् का ज्ञान रखने वाला विवेकशील मनुष्य अवश्य दूध का दूध और पानी का पानी अलग-अलग कर देने की सामर्थ्य रखता है। हंस के अर्थ ही होते हैं सुन्दर गतिवाला अर्थात् वह व्यक्ति जिसकी पैठ प्रशंसायुक्त हो, जो किसी भी गुत्थी को सुलझाने में बड़ी सरलता से उसकी बारीकियों में पैठ जा सके, और फिर सत्य और असत्य को अलग-अलग कर के रख दे। ज्ञानी व्यक्ति यदि हरि का स्वरूप है और हंस नामक पक्षी भी यदि हरि कहा गया है तो अपनी इस नीर-क्षीर-विवेकिनी विशेषता (हरति पापान् इति) के कारण। वैसे वैज्ञानिकों का भी मत है कि हंस की लार आम्लिक होने के कारण जब दूध में मिलती है तो उसे फाड़ देती है।

२. मेघदूतम्, २।१६

न तो वातावरण के किसी भी अवस्था में दूषित होने का भय हो और न दम्भी अविवेकियों का साहचर्य्य ही हो। इस प्रकार हमने देखा कि हंस मानसवासी है; शुचिश्रवा, हृषिकेश तथा नीर-क्षीर-विवेकी सत्पुरुष सज्जनों के मानस में विहार करने वाला है, और हंसवाहना भगवती मानस-विहारिणी हैं ही।

हंस के लिये सितपक्ष (सितौ पक्षौ यस्य), श्वेतगरुत् (श्वेतः गरुत् पक्षो यस्य), धवलपक्ष (धवलौ शुक्लौ पक्षौ यस्य) जैसे पर्यायों का प्रयोग प्राचीन साहित्य में हुआ है। और यह सर्वथा उपयुक्त भी है क्योंकि ज्ञानवान् तथा विवकी पुरुष का पक्ष सदैव ही निर्मल तथा निष्कलंक रहता है, कालिमा उसे छू नहीं जाने पाती, सितच्छद होता है वह।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हमें मानना पड़ता है कि आर्य ऋषियों ने यदि ब्रह्मा का वाहन हंस निर्धारित किया है और उन्हें हंसरथ, हंसवाहन तथा हंसारूढ़ की संज्ञायें दी हैं तो यह सब बहुत समझ-बूझ कर किया है। ब्रह्मा निर्मल ज्ञान के प्रतीक हैं, उनके मुख से चारों वेद प्रकट हुए कहे गये हैं,[1] उन्हीं से समस्त ज्ञान की उत्पत्ति मानी गयी है, इसी कारण प्रतीक स्वरूप में उनका वाहन भी माना गया है हंस ही। केवल इतना ही नहीं, यदि ब्रह्मा प्रजापति हैं, प्रजा का वर्द्धन करने वाले हैं (बृंहति प्रजा यः), परमेष्ठी हैं, पितामह हैं, तो उनका वाहन हंस भी इस बात में उनसे पीछे नहीं है। पद्मश्री श्री सालिम अली के शब्दों में :

---

१. भारतीयों का ऐसा मत है कि वेद अपौरुषेय हैं, उनका प्रणयन किसी मनुष्य द्वारा नहीं वरन् स्वयं परमात्मा द्वारा किया गया है। विद्या तथा विनय से सम्पन्न आर्य ऋषियों का ऐसा कथन उनकी महानता का ही द्योतक है। वेद सत्य एवं सनातन ज्ञान के कोष-स्वरूप संकलित किये गये हैं। ऋषियों ने ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न दिशाओं में अन्वेषण किये और प्राकृतिक नियमों, भूगोल, खगोल, इतिहास, ज्योतिष, रसायन, खनिज पदार्थों, प्राणियों तथा उद्भिजों आदि के विषय में ज्ञान का अर्जन कर अपने उस अर्जित ज्ञान को मन्त्रों के रूप में विश्व के सम्मुख रख दिया। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि यदि—

ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परिज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता॥

—ऋग्वेद, १०।७५।७

अर्थात्—सरल गति से सीधी बहनेवाली, श्वेत वर्ण की, दीप्यमाना, वेगवती, अहिंसिता नदियों में सिन्धु नदी श्रेष्ठ नदी है। वह अश्वा (घोड़ी) की भांति प्रशंसनीय——सिंचाई में बहुत ही लाभदायक (अश्वा=अश्नुते मार्गं व्याप्नोति, अशू व्याप्तौ) अतः मार्ग में दोनों ओर शस्य-श्यामल भूमि से संयुत—, तथा सुन्दर तरुणी अंगना की भाँति दर्शनीया है।

यदि—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रम् परिद्यामृतस्य।
आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥

—ऋग्वेद, १।१६४।११

अर्थात्—हे अग्नि! सूर्य का चक्र आकाश के चारों ओर घूमता है परन्तु जीर्णता (जरा) को प्राप्त नहीं होता। उस चक्र के (बारह महीने ही उसके) बारह अरे हैं, (तीन सौ साठ दिवस तथा तीन सौ साठ रात्रियों के रूप में कुल मिला कर) उसके (सूर्य्य के) सात सौ बीस पुत्र तथा कन्यायें (नर तथा नारी लिङ्गों वाली सन्तानें) हैं।

अथवा यदि—

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतोजनान्।

—यजुर्वेद, रुद्राध्याय, १६।६२

अर्थात्—ये (जीवाणु, germs) भोजन करने में, पात्रों में जल व दुग्ध आदि पान करते समय (शरीर में प्रवेश पाकर) धातु-वैषम्य उपस्थित कर रोग उत्पन्न करते हैं।

तो इन तथ्यों के वह (ऋषि) अन्वेषक भर हैं, प्रकाशक भर हैं, द्रष्टा भर हैं, रचयिता नहीं, प्रणेता नहीं, कर्त्ता नहीं। कर्त्ता तो इन सबका वह है जो सृष्टि का कर्त्ता है, सृष्टि का रचयिता है, अखिल ब्रह्माण्ड का निर्माता है। उन्होंने अपने इस ज्ञान को उस परमज्ञान—उस परब्रह्म—का ही दिया हुआ माना और इस प्रकार चारों वेदों के रूप में संकलित ज्ञान पर अहम्मन्यता की छाप न लगाकर उसे सत्य एवं सनातन ज्ञान कहा और स्वयं को मन्त्रों का द्रष्टा भर कहा। यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम ऐसे ग्रंथों को भी देखते हैं जिनके प्रणेताओं का हमें पता नहीं। वे अपने जीवन भर की तपस्या के फलस्वरूप प्रणीत ग्रंथों के रूप में अपने विशद ज्ञान का सार अंश तो हमें दे गये परन्तु विनय एवं संकोच के कारण अपना नाम और परिचय अपने साथ ही लिये चले गये।

'उत्तरी भारत में जाड़ों के दिनों में एक बहुत बड़ी संख्या में साधारण रूप से दिखलायी पड़ने वाला एक और भी हंस है जिसे (प्राणिशास्त्रवेत्ता अपनी वैज्ञानिक नामकरण-विधि के अनुसार) ऐन्सर ऐन्सर अथवा (जन-साधारण की आंगल भाषा में) ग्रे लैग कहते हैं। हंस की जाति में आने वाली जितनी भी पालतू सञ्जातियाँ (नस्लें) हैं उन सबका यह हंस पूर्वज है—पितामह है।'[१]

इसी प्रकार सरस्वती को भी विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न नाम दिये गये हैं जिनमें प्रमुख हैं इरा, गायत्री, गिरा, गीः, ब्रह्माणी, ब्राह्मी, भारती, महाशुक्ला, महाश्वेता, मुखनिवासिनी,[२] वाचसामीशा, वाणी, शतरूपा, शारदा, शुक्ला, तथा सावित्री और इन सबके साथ किसी-न-किसी रूप में हंस जुड़ा हुआ है। वह्निपुराण के गायत्रीकल्प नामक अध्याय में सावित्री के लिये लिखा है —

सर्व्वलोकप्रसवनात् सविता स तु कीर्त्यते ।
यतस्तद्देवता देवी सावित्रीत्युच्यते ततः ।।

अर्थात्—समस्त लोकों को उत्पन्न करने वाला होने के कारण सूर्य को सविता कहा गया है, और उस सविता की देवी होने के कारण, उस सर्व्वप्रकाशक तथा समस्त लोकों के प्रसवनकर्त्ता की शक्ति का स्रोत होने के कारण, उस विभूति को सावित्री की संज्ञा दी गयी है।

ठीक है, सविता सत्य ही सौर मण्डल के समस्त ग्रहों एवं उपग्रहों (पृथ्वी, चन्द्रमा, बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, वारुणी, यम, वरुण, आदि) को उत्पन्न करने वाला है, उनका पिता है। यही नहीं, सविता की शक्ति से ही ये समस्त ग्रह प्रकाशित भी हैं,[३] अनुप्राणित भी हैं और फिर प्राणियों एवं उद्भिजों को धारण भी करते हैं। सूर्य शक्ति ही प्राणशक्ति है[४]

---

१. Another common goose, also a winter visitor to N. India in large numbers, is the Grey Lag (*Ancer ancer*) the ancestor of all our domestic breeds.

—Salim Ali, 'The Book of Indian Birds', 1946, p. 423.

'ऐन्सर ऐन्सर' हंस नामक पक्षी का प्राणिशास्त्रीय नाम है, लैटिन भाषा का 'ऐन्सर' अथवा 'आन्सर' शब्द प्राग्संस्कृत में इस प्राणी के लिये पाये जाने वाले 'घंस' शब्द से बदल कर बना हुआ प्रतीत होता है। संस्कृत में 'घ' का विकार 'ह्' जिससे 'घंस' का 'हंस' हो गया और लैटिन में 'ह्' तथा 'अ' हुआ जिससे 'हांसर' तथा 'आंसर' शब्द बने। यूनानी भाषा में 'घ' का विकार 'ख' हुआ जिससे 'खेन्' बना। इसी प्रकार प्राचीन प्रशन में हंस के लिये 'सांसी', डच तथा जर्मन में 'गांस', प्राचीन नॉर्स में 'गॉस', ऐंग्लो-सैक्सन में 'गोस', मध्यकालीन अंग्रेजी में 'गॉस', तथा आधुनिक अंग्रेजी में 'गूज' आदि शब्द बन गये।

२. सरस्वती एक ओर यदि मुखनिवासिनी कही गयी हैं तो दूसरी ओर कमल पर आसीन भी दिखलायी जाती हैं। यही कारण है कि ज्ञान के आलोक से प्रदीप्त मुख-मण्डल को कमल के समान प्रफुल्लित कहा जाता है और सुन्दर तथा प्रसन्न मुख को कमल की उपमा दी जाती है। कमल है प्रतीक मेरुदण्ड के शिखर पर मस्तिष्क में उपस्थित परम चिन्मय सहस्रदल-कमल का जो विवेक, बुद्धि, तथा ज्ञान का स्थान कहा गया है। ज्ञान के अधिष्ठाता ब्रह्मा यदि कमलासन हैं तो संकेत इसी सहस्रदल-कमल से है। ब्रह्मा की शक्ति यदि कमल पर आसीन दिखलायी जाती है तो ज्ञान की अधिष्ठात्री होने के ही कारण। ज्ञान का द्योतन मुख से होता है इसीलिये सरस्वती मुखनिवासिनी हैं और मुख है कमल का उपमेय।

३. तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वम्...............।

—ऋग्वेद, १।११५।७

अर्थात्—जिस प्रकार सूर्य का स्वतः प्रकाशित होकर अन्यों को प्रकाश देना और महान् सामर्थ्य वाला होना अनुपम है................आदि।

४. आदित्यो वै प्राणः .... —प्रश्नोपनिषद्, १।५

आज आधुनिक विज्ञान भी धीरे-धीरे इसी तथ्य पर पहुँच चुका है कि सूर्य ही समस्त प्राणधारियों—क्या उद्भिज और क्या प्राणी सभी—की प्राणशक्ति का मूल स्रोत है। हम आज जानते हैं कि पौधे वायुमण्डल से कार्बन डाइऑक्साइड, पृथ्वी से जल तथा आवश्यक खनिज लवण लेकर पर्णहरिम (पौधों में पाये जाने वाले हरे पदार्थ क्लोरोफ़िल) की सहायता से अपने लिये शर्करा, और फिर अन्य रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा माड़ी, तेल तथा प्रोटीन आदि अन्य जैव भोज्य पदार्थों का निर्माण करते हैं। इन प्रक्रियाओं के लिये वह शक्ति सूर्य से प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि पौधों का अपने लिये शकर के निर्माण का कार्य दिन में ही होता है, रात्रि में स्थगित रहता है। इसके अनन्तर पौधे इन भोज्य पदार्थों को पुनः इनके उन्हीं संघटकों—कार्बन डाइऑक्साइड, जल, तथा अजैव मल-सृष्टों (inorganic waste products) में विश्लेषित

अतः सविता की शक्ति का स्रोत सावित्री स्वयं प्राणस्वरूपा हुई। उदित होने पर सूर्य जीवमात्र में प्राणशक्ति का संचार करता है। दूसरे शब्दों में इसे हम यों भी कह सकते हैं कि समस्त जीवों के हेतु प्राणों का वहन करने वाला सविता अर्थात् सूर्य ही है।[1] सूर्य को जहाँ अन्य अनेक नाम दिये गये हैं वहाँ 'हंस' भी कहा गया है।[2] अतः यदि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा तथा उनकी शक्तिस्वरूपा सावित्री का वाहन हंस कहा गया है तो यह वैज्ञानिक दृष्टि से भी बिल्कुल ठीक है।

कर सूर्य से प्राप्त शक्ति को स्वतन्त्र कर देते तथा उससे अपने जीवन-सम्बन्धी समस्त प्रकार्यों का सम्पादन करते हैं। जीवन सम्बन्धी समस्त प्रकार्यों का सम्पादन करती हुई प्राणधारियों के शरीर में स्थित यह सूर्य-शक्ति ही प्राणशक्ति कहलाती है।

केवल इतना ही नहीं, हम देखते हैं कि प्राणी भी अपने जीवन के लिये पौधों द्वारा निर्मित किये गये इन जैव भोज्य पदार्थों पर ही निर्भर रहते हैं। स्पष्ट है कि जब ये जैव भोज्य पदार्थ प्राणियों के शरीर में विश्लेषित होते हैं तो वही सूर्य-शक्ति स्वतन्त्र होती है जो इनके निर्माण के समय पौधों द्वारा सूर्य से प्राप्त की गयी थी, और इस प्रकार सूर्यशक्ति ही प्राणशक्ति के रूप में प्राणियों के भी जीवन-सम्बन्धी समस्त प्रकार्यों को गति देती है।

१. अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणं यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरादिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥६॥ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥७॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

—प्रश्नोपनिषद्, १।६–८

अर्थात्—रात्रि के अनन्तर उदित होता हुआ सूर्य जब पूर्व दिशा में प्रवेश करता है तो वहाँ के प्राणियों के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करता है। इस सूर्य का प्रकाश जैसे-जैसे दक्षिण दिशा में, पश्चिम दिशा में, उत्तर दिशा में, अधो दिशा में (अर्थात् पृथ्वी के अन्तर्प्रदेश गिरि-गह्वरादि में), ऊर्ध्व दिशा (अर्थात् आकाश) में, विभिन्न अन्तर्दिशाओं (ईशान, वायव्य, नैर्ऋत्य, आग्नेय आदि विदिशाओं, अपदिशाओं अर्थात् कोणों) में सर्वत्र फैलता है। वैसे-वैसे सम्पूर्ण जगत् के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करता है (अर्थात् अपनी रश्मियों द्वारा सम्पूर्ण जगत् में एक नवीन प्राणशक्ति का संचार करता है।) यह सूर्य ही वैश्वानर अर्थात् प्राणिमात्र में व्यापक प्राण (जीवनीशक्ति, प्राणशक्ति, bio-energy, life-energy) तथा विश्वरूप अर्थात् विश्व के सभी पदार्थों में व्यापक अग्नि (रासायनिक शक्ति, chemical energy) है। यही बात अगली ऋचा में इस प्रकार कही गयी है कि सम्पूर्ण विश्व में (अग्नि रूप से अथवा प्राण रूप से) व्याप्त, किरणों से युक्त, सर्वज्ञ अर्थात् सभी कहीं अपना प्रकाश पहुँचानेवाला, सभी वस्तुओं का आधार, प्रकाशमय, तपता हुआ सहस्ररश्मि सूर्य अनेक रूपों में विभिन्न वस्तुओं में उपस्थित, समस्त जीवों का प्राणस्वरूप होकर उदित होता है।

२. त्वं हंसः सविता भानुः अंशुमाली वृषाकपिः।

—महाभारत ३।३।६१

अष्टाक्षर महामंत्र का माहात्म्य

प्रो० राधेश्याम रस्तोगी एम० ए०
अनुवादक—श्री राज सरन रस्तोगी,
प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

वेदों, श्रीमद्‌भागवत, गीता एवं व्यास-सूत्रों का गहन अध्ययन करने के पश्चात्, श्री वल्लभचार्य जी ने यह निश्चयात्मक मंतव्य दिया कि "श्री कृष्ण: शरणंमम" महामंत्र का जप कलियुग की समस्त आत्मिक कलुषताओं की महौषधि है। वस्तुत: उनके उपदेशों का सत्व हमे षोडश-ग्रन्थ की सुविख्यात कविता "नवरत्न" की अंतिम पंक्तियों में मिलता है, जिसमें वह कहते हैं कि जीव को दीनता एवं श्रद्धा से युक्त होकर, इस मंत्र का अनवरत उच्चारण करना चाहिये।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्री कृष्ण: शरणं मम ।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मति: ।।

इस महामंत्र पर विचार करने के पूर्व धार्मिक सिद्धांत शृंखला में जप के महत्त्व पर प्रकाश डालना आवश्यक है । हिन्दुओं की उपासना-पद्धति में साधारणतया एवं वैष्णवों में विशेषकर, जप का एक विशिष्ट स्थान है। समस्त धर्माचार्यों एवं धर्म-गुरुओं ने इसके गोपनीय महत्त्व को स्वीकार ही नहीं वरन् इसका समर्थन भी किया है। उनका यह मत है कि "जप से मनुष्य आत्मिक शुद्धता को प्राप्त होता है और आत्मिक बंधन से उसकी अंतिम मुक्ति विनिश्चित हो जाती है।" गीता में इसका रहस्ययुक्त माहात्म्य सुस्पष्ट है "यज्ञानाम् जपयज्ञोऽस्मि।" जप (भगवत्‌नाम का सतत उच्चारण) में किसी प्रकार की हिंसा अपेक्षित नहीं है। निरंतर जपाभ्यास से ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है। अत: जपयज्ञ, समस्त यज्ञों में उत्तम है और इसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करने हेतु ही, भगवान् ने इसे अपना स्वरूप बतलाया है।

जप यथार्थत: एक स्तुति है। स्तुति की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की गई है। एक पाश्चात्य लेखक के अनुसार "स्तुति, आत्मा के अपने स्वामी ईश्वर के प्रति निष्कपट, सार्थक एवं प्रेमपूर्ण भावों का अभिव्यक्तीकरण है।" वह "हृदय की सर्वोत्कट अभिलाषा की स्वत: अभिव्यंजना है—हृदय में विकम्पित होने वाले उस छिपे हुए अनल का जलायमान होना है"। स्तुति के संबंध में विचार करते हुए आचार्य गोपाल का यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है—

"स्तुति न तो केवल मानसिक क्रिया है, न केवल बौद्धिक प्रयास अथवा स्मरण शक्ति का कार्य है, अपितु अपने स्वामी के सन्निकट पहुँचने के हेतु आत्मा का उत्थान है। शारीरिक दुर्बलताओं, मानसिक विषमताओं, बौद्धिक व्यतिक्रम एवं आत्मिक वक्रताओं का मर्मस्पर्शी आभास, ईश्वर की सर्वतोमुखी पूर्णता का, उसकी दीनों का आर्तनाद सुनने की व असहायों का संरक्षण-भार लेने की तत्परता का तीव्र अंतर्ज्ञान, ही भगवत् स्तुति का कारण है। स्तुति का माहात्म्य, हार्दिक अथवा मन की कल्पना-शक्ति में केवल नहीं निहित है, अपितु ईश्वर की अनिर्वचनीय, कल्पनातीत लीलाओं व चमत्कारों पर दृढ़ विश्वास में है। स्तुति में, दीनता-प्रेरित आत्म-समर्पण, पश्चात्ताप की उग्रता एवं श्रद्धा में विश्वास अंतर्निहित है। वह कोई भाषा-चातुर्य नहीं, अपितु गंभीर उत्सुकता है, आश्रय-हीनता की परिभाषा नहीं, वरन् आश्रय की परमावश्यकता का तीक्ष्ण अनुभव है।"

यदि जप इतना महत्त्वपूर्ण है, तो यह प्रश्न उठता है कि भक्त किस मंत्र का आश्रय ग्रहण करे। शुद्धाद्वैत मत प्रवर्तक श्री वल्लाभाचार्य जी ने जो कि ब्रह्मवाद पर प्रवचन एवं विभिन्न दर्शन-शास्त्र के पंडितों को शास्त्रार्थ में पराजित करने के कारण, अपने प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा भी सर्वश्रेष्ठ एवं अद्वितीय गुरु माने गये—बताया कि भगवत्-परायण व्यक्तियों को अपनी निष्ठा कृष्ण में ही स्थापित करनी चाहिये, क्योंकि वे ही परब्रह्म हैं–'परं ब्रह्म तु कृष्णो हि'। सिद्धांत मुक्तावली में वे स्पष्ट रूप से निश्चयपूर्वक यह घोषणा करते हैं।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्त विनिश्चयम् ।
कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।।

"समस्त दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन करने के पश्चात् मेरा यह सुविनिश्चित सिद्धांत है जिसका उद्घोष मैं असंदिग्ध शब्दों में करता हूं, कि मनुष्य को सदैव कृष्ण की ही सेवा करनी चाहिये, और उसमें भी मानसी सेवा सबसे उत्तम है।"

अंतःकरण प्रबोध के संबंध में उनका कथन है—

कृष्णात् परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ।

"कृष्ण के अतिरिक्त कोई भी देवता दोषों से रहित अर्थात पूर्णानन्द नहीं है।"—कृष्णाश्रय में वह बार-बार यह कहते हैं कि कृष्ण ही समस्त जीवों के संरक्षक हैं। उपर्युक्त श्लोकों से यह स्पष्ट है कि कृष्णोपासना का सिद्धांत—जिसका समर्थन वल्लभाचार्य जी दृढ़तापूर्वक करते हैं—कोई उनका कल्पनाप्रसूत सिद्धांत नहीं है, परन्तु धर्म-ग्रन्थों एवं दर्शन-शास्त्रों के गहन अध्ययन का परिणाम है। अतः यह उचित ही होगा कि इस विषय का अध्ययन, सुविख्यात धर्म-ग्रन्थों का आश्रय लेकर, तीन भागों में किया जाय। १—कृष्ण ही परम ब्रह्म हैं। २—उनके नाम का माहात्म्य। ३—शरणागति।

(१) श्री कृष्ण ही परमब्रह्म हैं।

(अ) **वेद** : ऋग्वेद की निम्न पंक्तियां महत्त्वपूर्ण हैं

कृष्णं त एमरुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वार्चिर्वपुषा ।
मिदेकन्, यदप्रचीता दधतेह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुदूतः ॥

"कृष्ण के रूप में हम अपने को तुम्हारी शरण में समर्पित करते हैं। रुद्र के रूप में तुम त्रिलोक-संहारक हो एवं ज्ञानियों के ज्ञान के मुख्य स्रोत हो। चलने में असमर्थ शृंखलाबद्ध देवकी के गर्भ से अवतार लेने के पश्चात् तुमने तत्काल ही अपने को उससे पृथक् कर लिया।"

सामवेद के एक सुप्रसिद्ध कथानक के अनुसार:—

एतद्घोर अंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त वोवाचेति सोऽपिपासएव बभूव ।

"अग्निगोत्र के घोर नामक ऋषि ने कहा कि देवकीपुत्र कृष्ण के प्रति अपने को समर्पित करने के पश्चात्, वह तत्काल ही संसार से प्रयाण कर गया।"

(ब) **गीता** : गीता में श्रीकृष्ण को परमब्रह्म स्वीकार करते हुए अर्जुन के निम्न कृष्णस्तुति संबंधी वाक्यांश सारगर्भित हैं :

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ (गीता १०, १२)

"तुम ही परम ब्रह्म हो, परमधाम हो, परम पवित्र हो, शाश्वत पुरुष हो, देवताओं में प्रथम हो, अजन्मा हो, सर्वव्यापी हो।"

श्रीकृष्ण अपने संबंध में कहते हैं—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः (गीता ९, १७)
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय (गीता ७, ७)

"मैं इस जगत् का पिता हूं, माता हूं, धारक हूं एवं पितामह हूं। मेरे अतिरिक्त और मुझ से परे कोई भी वस्तु नहीं है।"

अन्यत्र श्रीकृष्ण कहते हैं:—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्यच ॥ (गीता १४, २७)

"मैं ही अमृत एवं अविनाशी ब्रह्म का, शाश्वत धर्म का एवं ऐकान्तिक सुख का आश्रय हूं।"

(स) **महाभारत** :—सत्य एवं पुण्य के सत्त्व स्वरूप महान् योद्धा एवं गुरु, भीष्म श्रीकृष्ण के संबंध में कहते हैं :—

एतत्परमेकं ब्रह्म एतत्परमेकं यशः ।
एतदक्षरमव्यक्तमेतद्वै शाश्वतं महः ॥

वे ही परम ब्रह्म हैं, परमतत्त्व हैं। वे ही अव्यक्त, अक्षर एवं शाश्वत तेज हैं।

भीष्म पर्व में, भीष्म उन समस्त ऋषियों के संस्मरण प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने श्रीकृष्ण के संबंध में कुछ कहा है—

१. नारद :—भगवान् श्रीकृष्ण समस्त लोकों के सृष्टिकर्त्ता हैं, सर्वज्ञ एवं समस्त देवताओं एवं सिद्धगणों के परम स्वामी हैं।

२. भृगु—वे देवताओं के भी देवता हैं और पुरातन विष्णु हैं।

३. व्यास—वे देवताओं के भी देव हैं।

४. संत कुमार :—वे ही शाश्वत पुरुष हैं ।

(द) **श्रीमद्भागवत** ।

१. श्री वेदव्यास के अनुसार—

एते चांश कलाः पुंसःकृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्राख्याकुलं लोकं मुडयन्ति युगे युगे ॥ (भागवत १, ३, २८)

"विभिन्न अवतार परम ब्रह्म के अंश स्वरूप हैं, जिनका आविर्भाव समय समय पर, आसुरी ताप से पीड़ित लौकिक जीवों को आनंद-प्रदान करने के हेतु ही होता है । अन्य अवतार तो भगवत् कलावतार हैं, परन्तु कृष्ण तो स्वयं ही भगवान् हैं ।"

२. ब्रह्मा कृष्ण को इन मनोहारी शब्दों में संबोधित करते हुए कहते हैं :—

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् । यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ (भागवत १०, १४ ३२)।

"नंद द्वारा शासित उन व्रजवासियों का परम अहोभाग्य है, सनातन ब्रह्म एवं पूर्णानंद स्वरूप श्रीकृष्ण जिनके प्रिय एवं सुहृद् हैं।"

३. रुद्र अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में देते हैं :—

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये । यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् (१०, ६३—६४) ।

"परमज्योतिर्मय वेद के रहस्य तुम ही हो । ब्रह्म (वेद नाद ब्रह्म है) के नाम से विख्यात हो, शुद्ध बुद्धि एवं निर्मल अंतःकरण वाले व्यक्ति तुम्हें गगन-सदृश सर्वव्यापी एवं तुम्हारी सार्वभौम सत्ता स्वीकार करते हैं।"

(य) **अन्य शास्त्र** :—

१. पद्म पुराण के अनुसार—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निवृत्तिवाचकः ।
तयोरक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

"कृ" अथवा "भू" धातु वस्तुतः एक ही हैं, जिनका अभिप्राय अस्तित्व से है। "न" का तात्पर्य निवृत्ति से है, अर्थात् जटिलताओं से रहित आनन्द है। यथार्थ सत् एवं पूर्णानन्द तो परम ब्रह्म है। जहां पर सत् एवं आनन्द है, वहीं चेतना है ।

२—ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार :—

महाविरामहाविष्णुस्त्वं तस्य जनको विभो

"हे कृष्ण, तुम महाव्रत हो एवं महाविष्णु के जन्मदाता हो, जो कि तुम्हारे ही अंश हैं।"

३—ब्रह्म संहिता के अनुसार—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्व्वकारण कारणम् ॥

"कृष्ण जो कि गोविन्द के नाम से विख्यात हैं, ही परम ब्रह्म हैं । उनका स्वरूप आनन्दमय एवं अलौकिक है । वे अनादि हैं, समस्त सृष्टि के आदि हैं, एवं समस्त कारणों के प्रमुख एवं एकमात्र कारण हैं।"

अन्यत्र, उसी संहिता में यह कथित है :—

रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतार मक्रोद्भुनेषुकिन्तु कृष्णः स्वयं समभवत परमः पुमान् यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"ईश्वर अपने को राम सदृश अवतारों के माध्यम से, संसार में प्रकाशित करता है। उसका पूर्ण रूपेण आविर्भाव कृष्ण के रूप में हुआ। उस आदि पुरुष गोविन्द को मैं नमस्कार करता हूं।"

इस ग्रन्थ की विलक्षणता अंतिम सत्य को अत्यन्त संक्षेप में अभिव्यक्त करने में निहित है। इस ग्रन्थ के उपसंहार में यह कथित है कि श्रीकृष्ण ही सत्, चित् एवं आनन्द के घन स्वरूप हैं, वे परमहंस हैं, शाश्वत हैं, सबके आदि हैं और समस्त कारणों के कारण हैं ।

४—चैतन्य चरितामृतः—इसके लेखक की यह असंदिग्ध घोषणा है :—

स्वयं भगवान कृष्ण परतत्व
पूर्णज्ञान पूर्णानन्द, परम महत्त्व

"कृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं, कृष्ण ही परम तत्त्व हैं। वे सर्वज्ञ, पूर्णानन्द एवं महानता की चरम सीमा हैं। अंत में उनका यह कथन है :—

ईश्वर परम कृष्ण स्वयं भगवान्

"परम ब्रह्म कृष्ण ही हैं, कृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं।"

५–आदि शंकराचार्य के अनुसार:—

ब्रह्माराडानि बहूनि पंकज भवान्प्रत्यडंमत्यद्भुतान्.
गोपानवत्स सुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्चयः
शंभुर्मच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोत्यविकृतःसच्चिन्मयीनीलिमा ॥

"अनेक ब्रह्मांडों के पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश हैं, और सबके स्वामी महाविष्णु हैं, जो कि श्रीकृष्ण के ही अंश हैं।

अद्वैतदर्शन महारथी, परमहंस परिव्राजक श्री मधुसूदन सरस्वती जी के शब्दों में (अद्वैतसिद्ध नामक ग्रन्थ में तथा गीता में अंकित) भी यही समर्थन हमें प्राप्त होता है।

वंशी विभूषित करान्नवनीरदाभात्।
पीताम्बरादरुण बिम्बकलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविन्द नेत्रात्।
कृष्णात्परं किंभाषितत्वमहं न जाने।

"जिनके कर-कमलों में वंशी सुशोभित है, जो नव जलधर वर्ण हैं, पीताम्बर धारण करने वाले प्रभु के बिम्बफल के समान जिनके ओष्ठपुट हैं, ऐसे पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर मुखारविन्द वाले श्रीकृष्ण से बढ़ कर मैं किसी भी तत्त्व को नहीं जानता।"

"कृष्ण के वास्तविक अर्थ के लिए—जिसकी अभिव्यंजना विभिन्न स्रोतों के द्वारा विभिन्न प्रकार से हुई है हमें नाम कौमुदी के निम्न श्लोक का अवलोकन करना होगा—

तमालश्यामलत्विषि श्री यशोदास्तनन्धये।
कृष्ण नाम्नोरूढिरिति सर्वशास्त्रविनिर्णयः॥

"सर्वशास्त्रों द्वारा स्वीकृत एवं परम्परागत अर्थ श्रीकृष्ण का यह है—तमाल वृक्ष के समान श्यामल वर्ण वाले यशोदानन्दन॥"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निश्चयपूर्वक सिद्ध होता है कि:—

१. श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं, जैसा कि श्रुति कहती है
"एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् जिसका कोई द्वितीय न हो।

२. श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं, परमानन्द हैं, माया के अधिपति हैं और महत्तम भगवत् आविर्भावों से भी महान् हैं।

३. श्रीकृष्ण ही सबके आदि हैं, सब कारणों के कारण हैं।

४. कृष्ण ही कूटस्थ ब्रह्म के साकार स्वरूप हैं। महाविष्णु भी उनके अंश हैं।

५. एक ही समय में उनमें विरोधी लक्षण पाये जाते हैं। कोई भी वस्तु उनसे सूक्ष्म नहीं हो सकती न बृहत् ही। अणोरणीयान् महतो महीयान्—सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म एवं विशाल से भी अति विशाल—इन दोनों विरोधी गुणों के मुख्य आधार हैं।

६. उनमें भगवान् के षट् गुण चरम मात्रा में हैं:—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, वैराग्य, ज्ञान।

७. श्रीकृष्ण भगवतावतार नहीं हैं, वरन् स्वयं भगवान् हैं। वे पूर्णावतार हैं, निर्गुण ब्रह्म के सगुण स्वरूप हैं। वे इस भूतल पर ससीम होकर अवतरित हुए और वास्तविक कर्मक्षेत्र में अपूर्व एवं विलक्षण चमत्कारों (जिसका प्रदर्शन किसी भी अन्य अवतार ने नहीं किया था) का प्रदर्शन किया।

८. वे समस्त देवताओं जैसे ब्रह्मा एवं रुद्र द्वारा पूजित हैं।

(२) कृष्ण नाम स्मरण का माहात्म्य

श्रीमद्भागवत गीता एवं अन्य ग्रन्थों में उनके नाम स्मरण का अद्भुत माहात्म्य स्पष्ट रूप से लक्षित है।

छठे स्कंद में यह लिखित है—:

सर्वेषामप्यधवतामिदमेव सुनिष्कृतम्
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः (६, २, १०)।

"भगवत् नाम के अनवरत उच्चारण द्वारा समस्त वर्ग के पापियों के पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है, क्योंकि

इसके द्वारा भगवान् का ध्यान उच्चारक की ओर आकर्षित होता है (तत्पश्चात् उच्चारक के संरक्षक ईश्वर हो जाते हैं)।

उसी स्कन्द में यह कहा गया है:—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनामयत्
संकीर्तितमघं पुँसो दहेदेधो मथानलः। (६, २–१८)।

"ज्ञान अथवा अज्ञान वश ईश्वर का कोई भी नाम ले लेने से मनुष्य के प्राप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे समस्त स्थितियों में ईंधन, अग्नि में स्वाहा हो जाता है।

द्वादश स्कन्द में भी ऐसी ही उक्ति है:—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्वा वा विवशोब्रुवन्
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥ (१२–१२–४६)

अधम, गिरा हुआ, रोगी एवं छींकता हुआ मनुष्य भी विवशता में यदि ओजमय स्वरों में "हरि को नमस्कार है" कहता है, तो वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

गीता:—नवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु॥ (गीता ९, ३४)

अपना मन मुझ में स्थित कर, मेरा भक्त हो, मेरी उपासना कर, मुझे नमस्कार कर।

नारद पुराणः—हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय
इतोरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधतेकलि।

"जो मनुष्य नित्य हरि, केशव, गोविन्द, वासुदेव एवं अन्य भगवन्नामों का उच्चारण करते हैं, उनको कलियुग हानि नहीं पहुँचा सकता है।"

स्वपन् भंजन् ब्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा
चिन्तयेद् यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः।

"जो प्रतिक्षण स्वप्न में, चलते समय, भोजन करते समय, उठते हुए, वार्तालाप करते समय, हरि के नाम का उच्चारण करता है, मैं उसको नमस्कार करता हूं।"

महर्षि जैमिनि का कथन है:—

हृदि भावयतां भक्त्या भगवन्तमधोक्षजम
यः कोऽपि दैहिको दोषो जात मात्रो विनश्यति॥

"भक्ति ओत-प्रोत हृदय से भगवान् को भजने वाले मनुष्य यदि किंचित्-मात्र भी दैहिक दोषों के लक्ष्य बन जाते हैं, तो वे दोष शीघ्र ही विलुप्त हो जाते हैं।

महात्मा भीष्म के शब्दों में—

कृष्ण कृष्णेति जपतां न भवो नाशुभा मतिः
प्रयान्ति मानवास्ते तु तत्पदं तमसः परम्॥

"श्रीकृष्ण के नाम का जप करने वाले पुनः इस संसार में नहीं आते और न हि उनके मन अशुभ विचारों से ग्रस्त रहते हैं। वे अंधकार से परे उस परम पद को प्राप्त होते हैं।"

(३) **शरणागति**:—

पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण की भावना—जिसका कि चरम उद्देश्य विश्वात्मा, अर्थात् प्रत्येक जीव में प्रतिष्ठित आत्मा, में अन्तर्निहित आनन्द की प्राप्ति है—से गीता के उपदेश ओत-प्रोत हैं। गीता का अंतिम निर्देश सब प्रकार से आत्म-समर्पण ही है। समस्त कार्यों का विनियोग इष्ट में ही होना है—वह इष्ट जो समस्त जीवों के हृदय में स्थित होकर उन कर्मों को नियंत्रित करता है। इस प्रकार के समर्पण से जीव समस्त पापों एवं दुःखों से मुक्त हो जाता है और शाश्वत आनंद से युक्त उस परम शांति को प्राप्त होता है।

गीता के आठवें अध्याय में ईश्वर की शरण में जाने का स्पष्ट आदेश है।

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (गीता १८–६२)।

"हे भारत, सब प्रकार से उसी ईश्वर की शरण में जा, क्योंकि उसी की अनुकम्पा से तुम्हें परम शांति एवं सनातन परम धाम की प्राप्ति होगी।"

पुनः उसी अध्याय में यह आदेश है:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"मेरे में चित्त स्थिर कर मेरा भक्त हो, मेरी उपासना कर, समस्त कर्म मुझ में समर्पित कर, मेरे को सर्वस्व समझते हुए अपने अहंभाव का सर्वनाश कर। इसके पश्चात् तुम मुझ को ही प्राप्त होगे। यह मैं तुमसे सत्य कहता हूं, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।"

"समस्त आश्रयों का परित्याग करके, मेरी शरण में आ। शोक मत कर, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा।"

विभिन्न ग्रन्थों के उपर्युक्त उद्धरणों से हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

१. श्रीकृष्ण ही सनातन परम ब्रह्म, सबके आदि, समस्त कारणों के कारण, समस्त देवताओं के द्वारा पूजित हैं। अतः वे ही भगवान् हैं, और हृदय और आत्मा द्वारा उन्हीं की उपासना होनी चाहिये।

२. उनके नाम के अनवरत उच्चारण से जीव समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। सबसे निंद्य पापी भी, इस मार्ग का अनुगमन करके अपने को लाभान्वित कर सकता है।

३. पूर्ण आत्म-समर्पण होना चाहिये। स्त्री एवं शूद्र भी इस मार्ग की शरण ले सकते हैं।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्यः पापयोनयः ।
स्त्रियो वेश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ (गीता ९-३२)

"हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनि वाले भी जो कोई हों वे भी मेरी शरण होकर परम गति को ही प्राप्त होते हैं।

अतः, शुद्धाद्वैत, ब्रह्मवाद, पुष्टि भक्ति मार्ग प्रवर्तकाचार्य श्रीमन् महाप्रभु वल्लभाचार्य चरणों ने श्रीकृष्ण की उपासना एवं पूर्ण आत्मसमर्पण को अत्यधिक महत्त्व दिया है। श्रीमद्भागवत एवं गीता ही उनके दर्शन के मुख्य स्रोत थे। मानव समाज की दृष्टि उन्होंने पुनः उन सिद्धांतों पर केन्द्रित की, जो कि समय की गति के साथ विस्मृत हो चुके थे, और जिनको अन्य मत-मतांतरों की शिक्षाओं ने आवृत कर रखा था, स्त्री एवं शूद्रों सहित—जिनको अतीत के धर्माचार्यों ने अनेक प्रतिबंधों से जकड़ रखा था—समस्त मानव-समाज को मुक्ति का सहज मार्ग दिखाने का श्रेय श्री वल्लभाचार्य जी को ही है। क्योंकि श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म है (परं ब्रह्म तु कृष्णो हि) इसलिये हमें चाहिये कि हम उन्हीं की शरण लें और उन्हीं के प्रति अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु ही उन्होंने अपने ग्रन्थों से "श्री कृष्णः शरण मम" के महामंत्र का चयन करके उसकी पृथक् प्रतिष्ठा की। यह मंत्र पुष्टि मार्ग की आधारशिला है। इस महामंत्र में दो बातों का सुन्दर समन्वय है।

१. श्री कृष्ण का नाम, जो कि स्वयं भगवान् हैं। २. उनके प्रति जीव का पूर्णरूपेण आत्म-समर्पण।

मंत्र वह है, जिसका निरन्तर स्मरण एवं विचार करने से मनुष्य आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। उसकी प्रकृति का पूर्णरूपेण परिवर्तन हो जाता है, और वह सर्वव्यापक में अपने को विस्मृत कर बैठता है। मंत्र शब्द मन् धातु से उद्भूत है। इस शब्द के प्रथम पद "मन्" का तात्पर्य विचार करने से है, और "त्र" का अर्थ संरक्षण करने से है अर्थात् सांसारिक बंधन अथवा क्षणिक जीवन से मुक्ति से है। जिस प्रकार वायु से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार मंत्र की शक्ति से साधक की साधना और शक्तिमान हो जाती है। मंत्र देदीप्यमान तेज का पुंज है, जो कि अलौकिक शक्तियों को जाग्रत करता है। इस मंत्र का सतत उच्चारण सृजनात्मक शक्ति का संचार और पोषण करता है, और आध्यात्मिक जीवन के प्रत्येक पहलू को शांतिमय बनाता है। यदि जीव एकाग्र चित्त से अर्थ गांभीर्य पर बुद्धि को केन्द्रीभूत करते हुए, इस मंत्र का उच्चारण करे, तो उसे भगवन् सान्निध्य का आभास सहज और शीघ्र ही होने लगेगा।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के समय से अब तक भी वैष्णवों को दीक्षा इसी मंत्र से दी जाती है। इसे महामंत्र कहते हैं क्योंकि :—

१. यह गीता और श्रीमद्भागवत की शिक्षाओं में ही केन्द्रित है और श्रीकृष्ण ने स्वयं ही इसका आदेश किया है।

२. यह भक्त को परं ब्रह्म की भक्ति के चरम उद्देश्य की ओर ले जाता है, जिससे कि चरम फल की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर देवताओं की उपासना का लाभ सीमित ही होता है।

३. यह हृदय को शुद्ध करता है और पापों का संहार करता है।

४. श्रीमद्भागवत में वर्णित नवधा भक्ति को प्राप्त कराने में यह सहायक है।

५. यह भक्त की प्रत्येक आवश्यकता एवं इच्छा को पूरा करता है।

इस महामंत्र के प्रत्येक अक्षर का अपना अलग महत्त्व है, जो निम्न प्रकार है :—

श्रीः यह धन एवं समृद्धि प्रदान करता है।
क्रः यह पापों को भस्म कर देता है।
ष्णः यह ऐहिक एवं पारलौकिक तापों का विनाश करता है।
शः यह आवागमन के चक्र से मुक्त करता है।
रः यह भगवत् ज्ञान कराता है।
णः यह भगवत् भक्ति को दृढ़ करता है।
मः भगवत् सेवा के विषय में बताने वाले गुरु के प्रति प्रेम को प्रगाढ़ करता है।
मः यह भगवत् सान्निध्य कराता है।

६. जातीय, धार्मिक अथवा वंश विषयक प्रतिबंध रहित, इस मंत्र का उच्चारण किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है।

इस महामंत्र के तीन रूप हैं:—

आधिभौतिक:—मंत्र के अक्षर आधिभौतिक हैं।

आध्यात्मिक:—कृष्ण लीला वर्णित श्रीमद्भागवत कृष्ण रूप है, और सुबोधिनी (जो कि श्रीवल्लभाचार्य द्वारा लिखित भाष्य है, और भगवत् लीला का गूढ़ अर्थ प्रकाशित करती है) राधा रूप है। भागवत से आनन्द की प्राप्ति होती है, और सुबोधिनी से परमानन्द की, और दोनों से पूर्णानन्द की।

आधिदैविक:—कृष्ण और राधा का रसात्मक स्वरूप (अनिर्वचनीय तेज एवं सौंदर्ययुक्त ब्रजलीला धाम के प्रिय और प्रियतम, जिनके दर्शन से भक्त को असीमित आनन्द की प्राप्ति होती है)।

यह स्मरणीय है कि जप करते समय हमें अपनी दुर्बलताओं का निरंतर आभास रहे,—मन को हतोत्साहित अथवा आत्मा को निर्बल करने के हेतु नहीं अपितु दैवी सहायता से उन पर विजय प्राप्त करने के लिये। इस अभ्यास द्वारा हम आत्म-निरीक्षण के कार्य में निपुण हो जाते हैं, और जिससे कि हमें अपने पापों की क्षुद्रता एवं हृदय का छल प्रत्यक्ष हो जाता है। सतत अभ्यास से निवेदक की आत्मा बलवती और लगन स्फूर्तिमान हो जाती है।

स्तुति की प्रवृत्ति का सृजन एवं पोषण अधिक महत्त्वपूर्ण है। उचित प्रकृति एवं चित्तवृत्ति का होना आवश्यक है। अहंकारयुक्त प्रकृति एवं विनम्र प्रार्थना का संयोग हास्यास्पद ही होगा। प्रार्थना आरंभ होने के पूर्व चित्तवृत्ति का अनुकूल होना आवश्यक है। हमें अपना समस्त जीवन, उसके प्रत्येक पहलू को पावन बनाना होगा। हमें ईश्वर को अपना एकमात्र संरक्षक एवं आश्रय समझना चाहिये, और हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया का सम्पर्क उससे होना चाहिये। स्तुति एवं कर्म में सामंजस्य और भक्ति एवं व्यवहार में संतुलन होना आवश्यक है। हमारा जीवन त्यागमय होना चाहिये। केवल जप के समय ही हमें श्रद्धायुक्त नहीं होना चाहिये। वरन् जप का प्रभाव दिवस के प्रत्येक प्रभाग, प्रत्येक कार्य एवं चित्त की प्रत्येक वृत्ति में व्याप्त होना चाहिये। ईश्वर सदैव हमारे मध्य में है—इस भावना को सदैव जागरूक रखना चाहिये।

यहां पर यह कहना अनुचित न होगा कि इस महा-मंत्र का प्रयोग जप और कीर्तन दोनों के लिये समान रूप से हो सकता है। जप अकेले और एकांत में होता है, परन्तु जब मंत्र अकेले अथवा भक्तों के समुदाय में, ऊंचे स्वर में वाद्य यंत्रों के साथ अथवा यों ही कहा जाता है तब उसे कीर्तन कहते हैं। उपासना पद्धति में कीर्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भावना का अतिरेक, असीमित प्रेम और किसी अन्य उद्देश्य का न होना कीर्तन के लिये आवश्यक है। कृपा के सदृश इसका लाभ भी द्विपक्षी है। कीर्तन करने वालों और सुनने वालों, दोनों को यह पवित्र करता है।

कीर्तन का महत्त्व श्रीमद्भागवत में सुस्पष्ट है—

कलेर्दोष निधे राजन्नास्ति ह्येको महान्गुणः
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्त बंधः परं व्रजेत्॥ (भागवत १२-३-५१)

"हे परीक्षित! दोषों की निधि कलियुग में एक महान् गुण है कि श्रीकृष्ण के नाम और गुण का गान करने से, मनुष्य सब प्रकार की आसक्ति से मुक्त हो जाता है, और परम ब्रह्म को प्राप्त होता है।"

पुरुषोत्तम सहस्रनाम में महाप्रभु जी कहते हैं:—

श्रोतव्यः सकलागमैः
कीर्तितव्यः शुद्धभावैः स्मर्तव्यश्चात्म वित्तमैः॥

"श्रवण से वेदों का वास्तविक ज्ञान होता है, कीर्तन मन को शुद्ध करता है, और स्मरण से आत्मज्ञान होता है।"

कीर्तन से किस प्रकार मन की शुद्धि होती है, इसका वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है:—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्नानांभाव सरोरुहम् ।
धुनोति शमल कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ।।

"श्रोत्र पुटों द्वारा भक्तों के हृदय कमल में पहुंच कर श्रीकृष्ण उसकी समस्त कलुषताओं को दूर कर देते हैं, जैसे शरद ऋतु सरिताओं के सलिल को निर्मल कर देती है।

अतः श्री हरराय जी—महाप्रभु जी के एक सुविख्यात वंशज—असंदिग्ध शब्दों में यह उद्घोष करते हैं :—

अष्टाक्षर महामंत्रः कीर्त्तनेन विशेषतः

"इस महामंत्र का जप विशेष रूप से होना चाहिये ।"

उपसंहार में, हम यह कह सकते हैं कि इस महामंत्र का प्रभाव अंततोगत्वा अन्य मंत्रों से कहीं अधिक है, क्योंकि परम ब्रह्म की उपासना चरम फल प्रदायिनी होती है। गीता के नवें अध्याय में यह कहा गया है—

यान्ति देवव्रता देवान्, पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।।
भूतानि यान्ति भूतेष्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।। (गीता ९-२५)

"देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं।"

डा० राधाकृष्णन उपर्युक्त श्लोक पर अपने विचार प्रगट करते हुए कहते हैं :—

"प्रगति एवं विकास की विभिन्न अवस्थाओं में तेजोमय देवता, मृतात्मायें मनुष्यों द्वारा पूजी जाती हैं। परन्तु ये सब परम ब्रह्म के सीमित स्वरूप हैं, और प्रगतिशील जीवों को वह शान्ति देने में असमर्थ हैं, जो बुद्धि ग्राह्य नहीं है। उपासना का अंतिम परिणाम उपास्य स्वरूप की प्राप्ति है, और ये सीमित स्वरूप सीमित फल ही दे सकते हैं। सभी देवताओं की भक्ति इस प्रकार अपने संदर्भ में चरम फल प्रदान करने में असमर्थ है। छोटे देवताओं की भक्ति का परिणाम सीमित ही होता है, और परम ब्रह्म की भक्ति चरम फल को प्रदान कराती है। सब प्रकार की धर्ममुक्त भक्ति अंततोगत्वा परम ब्रह्म की ही खोज है।"

श्री विट्ठलेश प्रभु का यह निष्कर्ष इस महामंत्र के संबंध में उचित ही है :—

आनन्द परमानन्द सायज्यं हरिवल्लभम् ।
यः पठेच्छ्रीकृष्ण मंत्रं सर्वज्वरविनाशनम् ।।
तं हि दृष्ट्वा त्रयोलोकाः पूताःस्युःकिमुमानवाः ।
मध्ये च सर्व मंत्राणां मंत्रराजोत्तमोत्तमः ।।

"यह मंत्र सब प्रकार के तापों का नाश करता है, और जो भी व्यक्ति इस मंत्र का जाप करता है उसे आनन्द, परमानन्द, भगवत् सान्निध्य, और हरि का प्रेम उपलब्ध होता है। इस मंत्र का जाप करने वाले मनुष्यों के दर्शन से तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं। समस्त मंत्रों में यह उत्तम है, सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः यह वेद, पुराणों, गीता और श्रीमद्भागवत का सार है।"

गीता का सर्वांग अध्यात्मवाद

डॉ० अर्जुन मिश्र
दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।

आदिम काल से ही मानव-इतिहास में जीवन-युद्ध का क्रम चलता चला आ रहा है। गीता में इस युद्ध के स्वरूप को स्वीकार करने का उपदेश दिया गया है। सत्त्व, रज और तम, प्रकृति के इन तीन गुणों को गीता स्वीकार करती है। जिस समय में तमोगुण की प्रवृत्ति होती है उस समय व्यक्ति जीवन-संग्राम से विकल होकर साहस हार जाता है, जान बचाने का प्रयत्न करता है। किन्तु जब उसमें रजोगुण की प्रधानता होती है तब वह अपने को युद्ध में झोंक कर विरोधी शक्तियों पर पूर्ण रूप से अधिकार पाने की चेष्टा करता है और जब सत्त्व गुण की प्रधानता होती है, तब वह संघर्ष के बीच सत्य, धर्म, सन्तुलित अवस्था, समन्वय, शान्ति और सन्तोष का कोई तत्त्व खोजने का प्रयत्न करता रहता है। लेकिन ऐसी भी अवस्था आती है जब मन इन समस्त अवस्थाओं से उदासीन हो जाता है, और ऐसे समाधान खोजने का प्रयत्न करता है जो इनसे परे हों। इसी के द्वारा संन्यास की प्रवृत्ति भी जगती है। अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में भीषण कार्य की जिम्मेदारी को देखकर संन्यास की ओर प्रवृत्त होता है, और भगवान् कृष्ण उसे कार्य में प्रवृत्त कर आन्तरिक साम्य और स्थिरता स्थापित करने की शिक्षा देते हैं। अर्जुन का वैराग्य सत्त्व की ओर प्रवृत्त रजोगुणी पुरुष का तामस वैराग्य है। भगवान् कृष्ण ने उसे शुद्ध कर अर्जुन को घोर कर्म में प्रवृत्त होने तथा आन्तरिक शान्ति, सन्तुलन और स्थिरता बनाये रखने का मार्ग बतलाया।

गीता आध्यात्मिक जगत् में चमकता हुआ वह तेजपुंज सूर्य है जिसका प्रकाश आज २५०० वर्ष से मानव अन्तःकरण को प्रकाशित करता हुआ चला आ रहा है तथा अनन्त काल तक शान्ति और ज्ञान के जिज्ञासुओं की आध्यात्मिक प्यास को बुझाता रहेगा। यह पुरातन होते हुए भी नित्य नवीन है।

प्रकृति, आत्मा और ईश्वर सम्बन्धी दर्शन की मौलिक समस्याओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करना ही भगवद्-गीत के रूप में गीता की प्रधान विशेषता है। ये एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं, प्रत्युत् इनमें आन्तरिक सम्बन्ध है; अतः गीता प्रकृतिवाद, जीवाणुवाद और निरपेक्षतावाद के दोषों से मुक्त है। प्रकृति-दर्शन यथार्थतः प्रकृति की एकरूपता को स्वीकार करता है और यह भी मानता है कि यह विकासशील जीवात्मा के लिए उचित वातावरण प्रदान करता है। गीता का आचार-दर्शन प्रागनुभविक मार्ग प्रकृति से पुरुष और पुरुष से पुरुषोत्तम का अनुसरण करके अल्प को उच्च से निगमित करता है तथा आचार के मुख्य अंगों—जैसे, अधिष्ठान, कर्ता और दैवम् के विश्लेषण द्वारा अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचता है। प्रकृति और उसके गुणों—सत्त्व, रजस् और तमस् द्वारा सीमित तत्त्वदर्शन संबंधी जीवात्मा के सिद्धांत को इसका नीतिदर्शन व्यावहारिक स्वरूप देता है। पुरुष अथवा आत्मा के स्वभाव की जिज्ञासा ही इसका आध्यात्मिक दर्शन है और उसी से आत्मा की प्राप्ति के मार्ग तथा नैतिक सिद्धांत विकसित किए गए हैं। धर्म ने इसका मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और आत्म-दर्शन में समर्थन प्राप्त किया है, और गीता का तत्त्वदर्शन सम्बन्धी निरपेक्ष ब्रह्म अथवा पुरुषोत्तम की धारणा का आधार भी धर्म ही है। वह (ब्रह्म) जहाँ समस्त विश्व में अन्तरस्थ और नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है वहीं नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुभव का चरम निर्णेता भी। इस प्रकार गीता मानव अनुभवों के सभी स्तरों के मध्य समन्वय स्थापित करके संगति तथा समस्त बुद्धिग्राह्यता के तार्किक परीक्षणों और मानव-पूर्णता की नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती है।

नैतिक और आध्यात्मिक प्रयास के चरम लक्ष्य के रूप में गीता के पुरुषोत्तम की धारणा साधना के तीन प्रकारों—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग, द्वारा उत्तरोत्तर प्राप्त कर ली जाती है। पुरुषोत्तम की व्याख्या भी गीता में आचार के तीन सूत्रों—नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक स्वरूपों में ही की गई है। प्रथम सूत्र निष्काम कर्म अर्थात् दैवी आदेश के रूप में कर्तव्य की भावना से किया गया कर्म है। कहा गया है कि हमें इस भावना से कर्म करना चाहिए कि वे अर्थात् हमारे कर्म प्रकृति और उसके तीनों गुणों से प्रभावित हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। ३।२७, २८

अज्ञान के कारण जीवात्मा प्रकृति से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसके व्यवहार प्रकृति के गुणों द्वारा सीमित कर दिये जाते हैं। किन्तु जब इसका ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो व्यक्ति स्वार्थ से परे होकर नैतिक आदेश के रूप में कर्म करता है, आकांक्षाओं से रहित होकर कर्त्तव्य की भावनाओं से प्रेरित होकर कर्म करने लगता है।[1] यह कर्म 'में' स्वातंत्र्य है, कर्म 'से' स्वातंत्र्य नहीं। इस प्रकार नैतिक जीवन के सिद्धांत और प्रयोग के रूप में सांख्य अर्थात् ज्ञान और योग के मध्य सामंजस्य स्थापित करके[2] यह मत सुखवाद और यतित्ववाद के दोषों को दूर करता है। इसके द्वारा केवल चिन्तनशीलता और क्रियात्मक जीवन के एकांगी स्वरूपों का परिहार हो जाता है।

दूसरा आध्यात्मिक सूत्र है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।६।२९

अर्थात्, 'समस्त भूतों में अपनी आत्मा को देखो और अपनी आत्मा में समस्त भूतों का दर्शन करो।' यह सिद्धांत पूर्वविवेचित निषेधात्मक सूत्र को निश्चित अर्थ प्रदान करता है, जिससे आत्मस्थिति और उसके आन्तरिक मूल्यों की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। आत्मा स्वतंत्र है, वह भाग्यवाद या दैवी नियतिवाद की दासता से मुक्त है, अतः वह अपने भविष्य को बनाने अथवा बिगाड़ने में स्वयं समर्थ है। आत्मस्थिति की प्राप्ति को लक्ष्य मानकर यह सिद्धांत समस्त भूतों में समान आत्मा के निवास द्वारा स्वार्थवाद और परार्थवाद के मध्य की दरारों को भरने में सफल हो जाता है।

तीसरा सूत्र आध्यात्मिक-दर्शन से धर्म-दर्शन की ओर संक्रमण करता है जिससे दूसरे सूत्र में सम्भावित व्यक्ति-निष्ठावाद का दोष दूर हो जाता है। गीता के ही शब्दों में—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ।।३।३०

अर्थात्, 'अपने समस्त कर्मों को पुरुषोत्तम, जो समस्त भूतों की अन्तरात्मा है, द्वारा निर्धारित किया हुआ समझो'। धार्मिक स्तर पर किया गया कार्य ईश्वर की उपासना कहलाता है। अतः जो ईश्वर स्वयं जीवन का मार्ग और लक्ष्य दोनों है, उसी को समर्पित करके ही समस्त विचार अथवा कर्म आदि किए जाते हैं। इसीलिए वह ईश्वर आराध्य कहलाता है। संकल्प अनन्त अर्थात् ईश्वर के अनुकूल होता है और जीवात्मा परमात्मा को अर्पित कर दिया जाता है। यह नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक प्रयास की चरम अवस्था है। अपने कार्य-क्षेत्र को व्यक्तिगत से समस्त सृष्टि और पुरुष से परमपुरुष में परिवर्तित कर यह सिद्धांत आचरण में एक क्रान्ति उत्पन्न कर देता है और इस प्रकार ईश्वर के जिज्ञासुओं को सांसारिक जीवन की प्रताड़नाओं तथा संसार से मुक्त करा देता है। ये तीनों सिद्धांत वास्तव में एक दूसरे के विपरीत नहीं हैं, प्रत्युत् एक ही सत्य की विवेचना के केवल भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।

गीता में यज्ञ, दान और तपस् को इन्हीं तीनों सिद्धांतों के अन्तर्गत कर्तव्य के आदेश रूप में स्वीकृत किया गया है। यज्ञ देवताओं के प्रति, दान समाज के लिए, और तपस् आत्मा के प्रति किया गया कर्तव्य है। ये आचरण के एक विशेष प्रकार के उदाहरण हैं। निष्काम कर्म तामसिक आलस्यपूर्णता से रहित निःस्वार्थ भाव से किया गया कर्म है, और आत्मैश्वर्य की भावना से किया गया कर्म राजसिक कहलाता है। इस दृष्टिकोण से, यज्ञ जगत् के देवताओं के प्रति किया गया कर्तव्य है, जिनसे हम बिना किसी पक्षपात के अपने मनःशरीर के स्वभाव को प्राप्त करते हैं। बिना किसी स्वलाभ के परहितैषणा का अनुष्ठान दान कहलाता है। तपस् आत्मशुद्धि है जिससे मन, वचन और कर्म सभी शुद्ध हो जाते हैं और व्यक्ति हिंसा तथा काम के दोषों से छुटकारा पा जाता है। आत्मावलोकन से सम्बन्धित दूसरा सूत्र आत्मबलिदान, समत्व और अन्तर्मुखता आदि सद्गुणों की ओर संकेत करता है। ज्ञानाग्नि में पुष्ट भावनाओं की आहुति देने को यज्ञ कहते हैं, समत्व अथवा बिना किसी जन्म या पद का विचार किए हुए सभी जीवों को समान समझने की भावना के अनुष्ठान को दान कहते हैं और अन्तःस्वभाव अथवा आन्तरिक शान्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा पर लगातार ध्यान देने को तपस् की संज्ञा दी गई है। किन्तु तीसरा ही सूत्र ऐसा है जो धार्मिक दृष्टिकोण से आचरण को चरमप्रेरक हेतु प्रदान करता है। ब्रह्मार्पण और ब्रह्महवि

---

१. गीता, ४।३३, ४१
२. गीता, ५।४, ५

अथवा समस्त देवों में उनकी आन्तरिक आत्मा के रूप में अन्तरस्थ ईश्वर को आत्मसमर्पण कर देना ही यज्ञ है। ईश्वर के पुत्र के रूप में समस्त जीवों के प्रति किया गया लाभकारी कर्तव्य दान है। सीमित जीवन के स्रोत और केन्द्र के रूप में ईश्वर पर ध्यान लगाना ही तपस् कहलाता है। भगवान् के स्वयं उपाय और उपेय होने के कारण, आध्यात्मिक, सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से युक्त तीनों प्रकार के अनुशासन और सद्गुणों का 'मुक्ति' के साधन के रूप में, बिना ईश्वर की कृपा के, अपने में कोई महत्त्व नहीं है। पूर्णरूप से आत्मसमर्पण कर देने के उपरान्त मुमुक्षु ईश्वर की शरण में चला जाता है और स्वयं ईश्वर ही उसका सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसे अज्ञान तथा ताप से मुक्त कर देते हैं।[1] जब धर्म रहस्यवाद के रूप में विकसित हो जाता है तो पाप का अर्थ होता है ईश्वर (जो अनुराग ही है) से विराग, और ऐसी ही अवस्था में रहस्यवादी अथवा ज्ञानी इष्ट से पुनः एकत्व स्थापित करने के लिए शोकाकुल तथा उत्कट इच्छुक रहता है। फिर विषयासक्त मन अध्यात्मपरक हो जाता है, काम अनुराग में वदल जाता है, और अनुराग ईश्वर-प्राप्ति की उत्कण्ठा का रूप धारण कर लेता है तथा अन्त में प्रेमी और प्रिय एक होकर अमरानन्द में लुप्त हो जाते हैं।

हिन्दू धर्म सर्वव्यापक निरपेक्ष ब्रह्म और नैतिक धर्म के ईश्वर, जो समस्त जीवों का रक्षक और उद्धारक है, के मध्य एकत्व स्थापित करके तत्त्वदर्शन तथा धर्म के विरोध को समाप्त कर देता है। यह सृष्टि-क्रम की एकरूपता, कर्म के कारण मनोवैज्ञानिक भिन्नता के होते हुए भी जीवों की आवश्यक एकता और प्रत्येक जीव की अपनी दैवी उत्तराधिकार की पुनः प्राप्ति तथा सदैव के लिए संयोग के आनन्द का भोग करने की सम्भावनाओं पर बल देती है। धर्म के आवश्यक तत्त्वों और अनावश्यक अर्थात् केवल स्थानापन्न तत्त्वों के अन्तर को स्पष्ट करने के कारण ही गीता को हिन्दू धर्म का सार कहा जाता है। यह विश्वधर्म की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती है, यह समस्त जीवों के आध्यात्मिक संबंध, ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति की प्रक्रिया में प्रत्येक जीव की पूर्णता की सम्भावना की घोषणा करती है।

लेकिन आज की वर्तमान परिस्थितियां कुछ इसके प्रतिकूल हैं—गीता और उपनिषद हमारे पास हैं किन्तु उन पर चलने की हममें शक्ति नहीं। जिस सत्य के चारों ओर हमारे ये शास्त्र चक्कर काटते हैं, उनकी राह हम भूल गए हैं। केन्द्र में स्थित सत्य का स्वरूप हमारी आंखों से ओझल हो गया है और हमें कठिनाइयां ही कठिनाइयां दिखलाई पड़ती हैं, किन्तु जब तक उन कठिनाइयों को पार न कर लिया जाय तब तक वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो सकता। 'एक ही ब्रह्म फैलकर अनेक हो गया' यह सूक्ति तो हमें स्मरण है किन्तु हमारा आचरण ठीक इसके विपरीत हो गया है। हम रूढ़ियों से इतने ग्रस्त हैं कि हमारा व्यक्तित्व ही खण्डित हो गया है। एक साँस में तो हम 'एकोऽहम् बहुस्याम', 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' आदि की दुहाई देते हैं, किन्तु दूसरी सांस में मनुष्य-मनुष्य में भेद करने लगते हैं। एक मनुष्य को जन्म से ही श्रेष्ठ और दूसरे को अधम बताने लगते हैं। एक ओर तो हम 'कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन' का नारा लगाते हैं और दूसरी ओर छोटी सी छोटी वस्तु के लिए दूसरे व्यक्ति का गला घोंट देने को तैयार रहते हैं। यह खेद की बात है, विभक्त व्यक्तित्व की यह स्थिति अधिक दिन चलने वाली नहीं है, विचार और आचरण के इस वैषम्य का निराकरण शीघ्र करना ही होगा क्योंकि इस वैज्ञानिक युग की तीव्र गति से बदलती हुई परिस्थितियों में किसी भी जाति अथवा देश को अधिक सोचने का अवसर नहीं मिल सकता है।

गीता का समाज दर्शन जहां समस्त जीवों की आध्यात्मिक एकता को मान्यता देता है, वहीं इस मनोवैज्ञानिक सत्य को भी स्वीकार करता है कि तीनों गुणों अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् के प्रभाव के कारण व्यक्ति अपने स्वभाव और प्रशिक्षण में भिन्न होते हैं। व्यक्तिवाद तथा साम्प्रदायिकता के दोष से रहित होकर व्यक्ति तथा समाज को अपने ढंग से विकास करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। मानव अधिकार पर अधिक राजनीतिक बल देने के स्थान पर यदि नीतिपरायणता अथवा धार्मिक भावनाओं को स्थापित कर दिया जाय तो पृथकत्व और घृणा के दोषों का परिहार सरलता से हो सकता है। कर्तव्य कर्म का निर्धारण जीवन में मनुष्य के स्थान से किया जा सकता है चाहे वह वंशानुक्रम से प्राप्त हो अथवा स्वेच्छा से चुना गया हो, किन्तु गीता के अनुसार उसकी आन्तरिक अभिवृत्ति सभी में समान है—धर्मव्याध की कथा में इसका स्पष्ट विवेचन किया गया है।

गीता की शिक्षा का राजनीति दर्शन की समस्याओं पर भी गहरा प्रभाव है, क्योंकि यह आध्यात्मिक साध्यों के समाज पर बल देती है जिसमें प्रत्येक मनुष्य एक ऐसा व्यक्ति अथवा आत्मा है जिसने नैतिक स्वराज्य प्राप्त कर लिया है अथवा कर सकता है, न कि ऐसी वस्तु जिसका प्रयोग शोषकों और निरंकुश अथवा अत्याचारियों के स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किया जाय। केवल नीति-जगत् में ही, जहां बाध्यता का स्थान अनुनय ले लेता है और पाशविक शक्ति के ऊपर

---

१. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥ गीता, ६।६५

आत्मशक्ति का प्रभुत्व रहता है, राजनीतिक स्वातंत्र्य उन्नति कर सकता है। आदर्श राज्य में, प्रज्ञान, साहस और मिताचार में उचित रूप से सतुलन रखा जाता है और अन्य सद्गुण प्रज्ञान के अधीन रहते हैं, किन्तु इस सामंजस्य का तात्पर्य जीवन के आध्यात्मिक, मानवीय और पाशविक पक्षों के स्वर्णिम मध्यम मार्ग से नहीं है, प्रत्युत् नैतिक अर्थ में वास्तविक सामंजस्य का अर्थ है–आचारात्मक और आध्यात्मिकता द्वारा पाशविकता पर विजय। इस योजना के अनुसार निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक स्वराज, प्रत्येक मनुष्य को अपने नैतिक और आध्यात्मिक, आदर्शों की प्राप्ति की स्वतंत्रता प्रदान करता है, समस्त राष्ट्रों की स्वयं अपने ऊपर राज्य करने की समानता को स्वीकार करता है और मानवता की एकता तथा सामाजिक सुदृढ़ता की मान्यता देता है। व्यावहारिक दृष्टि से राजनीति इष्टसिद्धि अथवा कार्य-साधकता पर निर्मित है, किन्तु दर्शन अथवा शास्त्र के रूप में इसे नैतिक और आध्यात्मिक प्रकर्षों के आदर्शों पर ही आधारित होना चाहिए और अन्त में आगे चल कर इसका आधार नैतिक धर्म में श्रद्धा हो जाता है, अर्थात् वह (राजनीतिदर्शन) इस मान्यता को स्वीकार करने लग जाता है कि जब राष्ट्र अथवा समाज में सद्गुणों (दैवी प्रवृत्तियों) का स्थान अवगुण (आसुरी प्रवृत्तियां) ले लेते हैं तो नीति-परायणता के शासन की पुनः स्थापना तथा मनुष्य को पाप और पापियों से मुक्त कराने के लिए इतिहास में भगवान् (धर्मेश्वर) का अवतार होता है।

गीता दैवी प्रेम का गीत है। नारायण और नर अभिन्न हैं। कृष्ण और अर्जुन एक हैं तथा नर के रूप में विश्व-मानव अथवा समस्त मानवता का प्रतिनिधित्व करते हैं। गीत सम्पूर्ण जगत् के लिए गाया गया है। यह मानवता की आत्मा के लिए आह्वान है, जिससे उसकी कालिमा और अज्ञान नष्ट हो जाय और वह दैवी जीवन तथा भगवद् प्रेम के आतिथ्य का उपभोग कर सके। अपनी दिव्य दृष्टि और दैवी शक्ति से संजय ने इस गीत को सुना और उसके आनन्द में आत्मविभोर हो गया –

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुरायं हृष्यामि च मुहुर्मुहु: ॥१८।७६

अर्थात् "हे राजन्! भगवान् कृष्ण और अर्जुन के इस रहस्यमय कल्याणकारक और अद्भुत संवाद को पुनःपुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूं।"

जो एक व्यक्ति के लिए सम्भव था वह मानव-मात्र के लिए सम्भव है। ईश्वर की आवाज केवल कर्तव्य अथवा वेदान्तिक ज्ञान की आवाज नहीं है, प्रत्युत् वह दैवी प्रेम का आह्वान है।

भगवान् के ही अमर शब्दों में––

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥७।२१

अर्थात् "जो भी कोई व्यक्ति सच्ची भक्ति से किसी भी देवता की उपासना करता है, मैं उस भक्त की उसी देवता के प्रति श्रद्धा को स्वीकार करता हूं और अन्त में वह भक्त मुझे प्राप्त हो जाता है"। और यहां तक कि "जो अन्य देवताओं की उपासना करते हैं वे मेरी ही उपासना करते हैं"––

येऽप्यन्यदेवता भक्ता भजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्ते विधिपूर्वकम् ॥९।२३

इस प्रकार दर्शन, नीति और धर्म आदि समस्त क्षेत्रों में गीता का रहस्य सर्वांग अध्यात्मवाद है। जहां एक ओर अध्यात्मवाद कर्म-संन्यास तथा जगत् को त्याग कर ईश्वर-साक्षात्कार पर बल देता है, वहीं दूसरी ओर जड़वाद दुःख को जीवन का अनिवार्य अंग मानकर प्रवृत्तियों को अधिकाधिक सन्तुष्ट करने की शिक्षा देता है। किन्तु सर्वांग अध्यात्मवाद में इहलोक और परलोक; स्वार्थ और परार्थ; शरीर, मन तथा बुद्धि सभी का सन्तोष हो जाता है। यह दैवी स्थिति, दैवी रूपान्तर और परमानन्द की ओर ले जाता है। मानव-स्वभाव के रूपान्तर द्वारा व्यक्ति और समाज में सामंजस्य स्थापित करके आज के युग में यही दृष्टिकोण मानव-मात्र को आध्यात्मिक शान्ति तथा आनन्द प्रदान कर सकता है और इसी में भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष की चरम परिणति है।
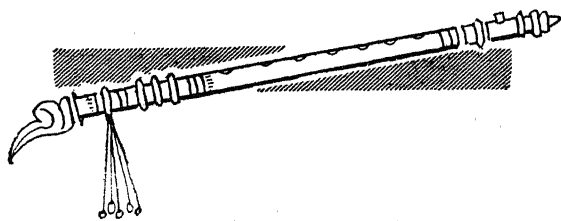
प्राचीन भारत में शिक्षा

श्री चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा, एम० ए०, साहित्यरत्न, बी० एड०
प्राध्यापक, कान्यकुब्ज कालिज, लखनऊ।

अपने गौरवपूर्ण, स्वर्णिम एवं वैभवशाली अतीत के लिए भारत आज भी जगत्-विख्यात है। तत्कालीन भारत की बहुमुखी उन्नति और विकास का श्रेय यहां की शिक्षा-व्यवस्था को ही था। आश्रमों के पावन, सुरम्य, प्राकृतिक वातावरण में गुरु-चरणों में बैठकर ज्ञानार्जन करने वाले ब्रह्मचारी भविष्य में समाज के सफल नागरिक होते थे, जिनके सत्प्रयत्नों से समाज और राष्ट्र दोनों का उन्नयन होता था। भारत के ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होकर ही तो विदेशों के विद्वान् वर्षों यहां पर रहकर ज्ञानार्जन करते थे। अपने देश की प्राचीन शिक्षा-पद्धति पर भारत को आज भी गर्व है और भविष्य में भी रहेगा।

हमारे प्राचीन महर्षियों ने मानव जीवन को चार भागों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभक्त किया था। उन्होंने प्रत्येक की अवधि २५ वर्ष निर्धारित की थी। ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन और ज्ञानार्जन का समय निर्धारित किया गया था; गृहस्थाश्रम गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने के लिए था; वानप्रस्थ अवकाश का समय और संन्यास संसार के माया-मोह से वैराग्य लेकर भगवद्भजन का समय निश्चित किया गया था।

शिशु के जन्म के पूर्व ही जब वह अपनी माता के गर्भ में रहता था, तभी पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन संस्कार सम्पादित किये जाते थे और माता को इस बात का निर्देश दिया जाता था कि वह अपने स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखे, अपने मन में सद्विचारों को उत्पन्न करे, क्रोध और मत्सर से दूर रह कर शान्तिमय वातावरण में रहे, जिससे शिशु में उदात्त गुण उत्पन्न हो सकें। शिशु के जन्म के पश्चात् 'जातकर्म' और 'अन्नप्राशन' संस्कार किये जाते थे। जब शिशु पांच वर्ष का हो जाता था तो उसका 'चूड़ाकर्म' या 'चौल संस्कार' होता था। इस संस्कार के उपरान्त 'ओ३म् नमः शिवाय' के पावन मंत्र के साथ ही बालक की शिक्षा घर पर ही माता-पिता द्वारा प्रारम्भ कर दी जाती थी। प्रारम्भ में श्वत वस्त्र के ऊपर तण्डुलकण बिछाये जाते थे और उस पर बालक से वर्णमाला के अक्षरों का अभ्यास कराया जाता था। माता-पिता के संरक्षण में गृह-शिक्षा का यह कार्यक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के बालकों का क्रमशः ८, ११ तथा १२ वर्ष की आयु तक चलता था।

गृह-शिक्षा की समाप्ति के बाद बालक का 'मौंजी-बंधन' और 'उपनयन' संस्कार किया जाता था। 'उपनयन' का अर्थ होता है 'गुरु के निकट ले जाना।' इस प्रकार उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक गुरु के निकट ले जाया जाता था। अब उसे ब्रह्मचारी की संज्ञा दी जाती थी और उसे अपना गृह त्याग कर आश्रम में गुरु के समीप रहना पड़ता था।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य :

ब्रह्मचारी को अपने गुरु की सच्चे हृदय से सेवा करनी होती थी। उसे गुरु गृह को पवित्र अग्नि को सदैव प्रज्वलित रखने के लिए वन से लकड़ी लानी पड़ती थी; उसे समीपवर्ती ग्रामों में भिक्षा मांगने जाना पड़ता था। इस भिक्षा-वृत्ति के पीछे एक बहुत महान् उद्देश्य यह था कि ब्रह्मचारियों में विनय और शील की भावना उत्पन्न हो। ब्रह्मचारी को सदैव पृथ्वी पर सोना, साधारण भोजन करना तथा मांस और मद्य पदार्थों का सेवन करना वर्जित था। उसे गुरु की गायों को ले जाकर वन में चराना भी पड़ता था। ब्रह्मचारी के लिए दिवा-शयन, अधिक स्नान, अधिक भोजन, अधिक जागरण वर्जित था। उसे गुरु के शयनोपरान्त सोना और उनके जागरण के पूर्व ही जागना आवश्यक होता था। ब्रह्मचारी के लिए क्रोध, घृणा, भय, दुःख तथा असत्य भाषण पूर्ण वर्जित था।

ब्रह्मचारी को सदैव मृगचर्म ही पहनना पड़ता था; वस्त्रों एवं आभूषणों का पहनना उसके लिए वर्जित था। उसे अपने 'मौंजी बन्धन' तथा 'यज्ञोपवीत' को सदैव धारण करना पड़ता था। ब्रह्मचारियों को भौतिक सुखों से दूर रखा जाता था। उनके सम्मुख "सुखार्थिनः कुतः विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्" का पावन आदर्श रहता था। ब्रह्मचारी को अपने गुरु की आज्ञाओं का पालन करना परमावश्यक होता था। उसे नित्य प्रातः उठकर गुरु को साष्टांग प्रमाण करना, ईश प्रार्थना

करना, वेद मंत्रों का पठन करना तथा संध्या करना भी आवश्यक रहता था। उसे मनसा-वाचा-कर्मणा, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना तथा 'मातृवत् परदारेषु' का आदर्श अपने सम्मुख रखना होता था। ब्रह्मचारी का प्रधान कर्तव्य 'विद्याध्ययन' करना होता था। गुरु द्वारा निर्धारित पाठ को उसे कंठस्थ करना पड़ता था क्योंकि उस समय प्रकाशित पुस्तकें नहीं थीं। गुरुमुख से निःसृत वेदमंत्रों को सुनकर ब्रह्मचारियों को अवधारण करना होता था, इसी कारण वेदों को 'श्रुति' की संज्ञा दी गयी है।

गुरु के कर्त्तव्य :

प्राचीन भारत में गुरु का पद अत्यधिक पावन माना जाता था। शिक्षक वर्ग समाज का सर्वाधिक समादृत वर्ग समझा जाता था। गुरुओं के पहुंचने पर सम्राट् तक अपने राजासन से उठकर उन्हें प्रणाम करते थे। महामुनि नारद, आचार्य वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे महापूज्य आचार्यों के मान-सम्मान की कथायें हमारे धार्मिक ग्रन्थों में सर्वत्र सुलभ हैं। प्राचीन काल में गुरु, अपने शिष्यों को आश्रमों में पुत्रवत् रखते थे। उनके भोजन, वस्त्र, आवास, आचार तथा अन्य सभी बातों का प्रबंध गुरु स्वयं करते थे।

गुरु अपने शिष्यों को बड़ी तन्मयता से शिक्षा प्रदान करते थे। वे सदैव इस बात का प्रयत्न करते थे कि उनके शिष्य उनसे भी अधिक विद्वान् और ज्ञानी हों। तभी तो गरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश की समानता दी गयी है :

गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

गुरुकुल :

प्राचीन भारत में बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध गुरुकुलों में होता था। उपनयन संस्कार के उपरान्त बालक को गुरुकुल में प्रविष्ट किया जाता था और तब से उसे ब्रह्मचारी की संज्ञा से पुकारा जाता था। गुरुकुलों की स्थापना नगरों के कोलाहलपूर्ण वातावरण से दूर किसी प्राकृतिक स्थली में की जाती थीं। गुरुकुलों के पवित्र वातावरण में ब्रह्मचारी दत्तचित्त होकर गुरु-आज्ञा का पालन करता हुआ ज्ञानार्जन करता था।

गरुकुल में प्रवेश के पश्चात् गुरु ही बालक के माता-पिता के रूप में रहता था। अब ब्रह्मचारी को 'अन्तेवासिन्' या 'गुरुकुलवासी' कहा जाता था, क्योंकि गुरुकुल ही उसका वासस्थान हो जाता था और वह गुरु के परिवार का एक सदस्य स्वीकार कर लिया जाता था। गुरुकुल में प्रत्येक ब्रह्मचारी के साथ गुरु समान स्नेह और प्रेम का व्यवहार करते थे। कोई भी विवाहित बालक गुरुकुल में प्रवेश नहीं पाता था और न किसी भी ब्रह्मचारी को विवाह करने की अनुमति ही दी जाती थी।

गुरु शिष्य का सम्बन्ध :

प्राचीन भारतीय शिक्षा की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि उस समय शिष्यों और गुरुओं के बीच में बड़ा ही आत्मीयता का व्यवहार था। गुरु की ओर से शिष्यों के प्रति वात्सल्य भाव और शिष्यों की ओर से गुरु के प्रति श्रद्धाभाव सदैव बना रहता था। गुरु अपने शिष्यों को पुत्रवत् मानते थे और शिष्य भी अपने गुरुओं को पितातुल्य मानते थे। गुरु अपने शिष्य को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता था (तमसो मा ज्योतिर्गमय)। वह सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता था कि उसका शिष्य उच्च कोटि का ज्ञानी विद्वान बने और चतुर्दिक् उसकी कीर्ति को प्रसारित करे। शिष्य भी पूर्ण श्रद्धा और भक्ति के साथ अपने गुरु की सेवा करते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे।

गुरु और शिष्य साथ-साथ आश्रम में रहते थे, अध्ययन-अध्यापन तथा चिन्तन करते हुए अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते थे। तभी तो भारत को उस समय जगद्गुरु की उपाधि प्राप्त हुई थी। एक साथ रहते हुए गुरु-शिष्य ईश्वर से निम्नलिखित प्रार्थना करते थे :

सहनाववतु सहनौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

—कठोपनिषद्।

अर्थात् हम दोनों की सुरक्षा हो। हम दोनों की रक्षा हो। हम दोनों साथ-साथ काम करें। हम दोनों का अध्ययन सफल हो। हम दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न हों। ऊं शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

इस प्रार्थना के साथ ही कीर्ति और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी प्रार्थना की जाती थी :

सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

अर्थात्—हम दोनों को यश प्राप्त हो। हम दोनों को आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश हो।

पाठ्यक्रम :

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने सम्पूर्ण ज्ञान को दो भागों में विभक्त कर दिया था—'अपरा विद्या' और 'परा विद्या'। अपरा विद्या के अन्तर्गत वेद वेदांगों का ज्ञान कराया जाता था। परा विद्या के अन्तर्गत आत्मचिन्तन की विधि बतायी जाती थी। आश्रमों में ब्रह्मचारियों को इतिहास, धर्मशास्त्र, व्याकरण, गणित, स्वप्न तथा शकुन-ज्ञान, तर्क-शास्त्र, निरुक्त, स्वर-शास्त्र, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या तथा अन्य ललित कलाओं आदि का ज्ञान कराया जाता था। किन्तु इन सभी विषयों के अतिरिक्त ब्रह्मचारियों को आत्मबोध अथवा आत्मज्ञान की शिक्षा अधिक दी जाती थी। उस समय की शिक्षा का उद्देश्य न तो केवल ज्ञानार्जन मात्र करना था, और न भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति ही। उस समय शिक्षा का उद्देश्य 'ब्रह्म' की प्राप्ति था। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए आश्रमों में ब्रह्मचारी और गुरु दोनों ही अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान सम्पादित किया करते थे। उस समय वही विद्या सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी, जो व्यक्ति को 'मुक्ति' प्रदान करने में सहायक बन सके (सा विद्या या विमुक्तये।)

तत्कालीन शिक्षा में 'स्वाध्याय' पर अधिक बल दिया जाता था। गुरु शिष्यों के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। इस प्रकार ब्रह्मचारियों के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास किया जाता था।

शिक्षण-पद्धति :

प्राचीन भारत के आश्रमों की शिक्षण-पद्धति आजकल के विद्यालयों की शिक्षण-पद्धति से सर्वथा भिन्न थी। उस समय गुरु प्रत्येक शिष्य पर व्यक्तिगत ध्यान रखता था। पुस्तकों के अभाव के कारण गुरु पहले पाठ्य वस्तु को पढ़ता था और तब शिष्य उसको दुहराता था। पाठ्य वस्तु की गुरु सम्यक् प्रकारेण व्याख्या करता था। शिष्य को तर्क करने, प्रश्न पूछने आदि की पूरी छूट रहती थी। गुरु अन्वय, पदच्छेद तथा समास-विग्रह आदि के द्वारा शिष्य को पाठ विधिवत् समझा देता था। उस समय की शिक्षा में 'पठन' की अपेक्षाकृत 'लेखन' को कम महत्त्व दिया जाता था। सुलेखक की परिभाषा निम्नलिखित श्लोक में दी गयी है :

समानि समशीर्षाणि वर्तुलानि घनानि च।
मात्रास्तु प्रतिबद्धानि यो जानाति स लेखक:॥

तत्कालीन अध्ययन की पद्धति में 'श्रवण', 'मनन' तथा 'निदिध्यासन'—ये तीन प्रक्रियायें थीं। गुरु द्वारा पढ़ाये गये अंश को ध्यान से मनन करना तथा उसकी पुनरावृत्ति करना परमावश्यक होता था।

उस समय के आचार्य विभिन्न ग्रन्थों से ज्ञान-विज्ञान एकत्रित कर उसे आत्मसात् करके अपने शिष्यों को प्रदान करते थे। इसी कारण आचार्य शब्द की निम्नलिखित रूप में व्याख्या की गयी है :

आचिनोति च शास्त्रार्थान्यानाचरत्यपि।
स्वयमाचरति चैव तस्मादाचार्य उच्यते॥

प्राचीन भारतीय शिक्षा में शारीरिक दण्ड का पूर्ण निषेध था; किन्तु असाधारण परिस्थितियों में आचार्य शिष्यों को शारीरिक दण्ड भी देते थे।

स्त्री शिक्षा :

प्राचीन भारत में स्त्रियों की शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था थी। बालकों की भांति बालिकाओं का भी उपनयन संस्कार होता था। उन्हें आश्रमों में गुरुओं के पास रहकर अध्ययन करने की व्यवस्था थी। उन्हें बालकों की भांति ही वेद-वेदांगों का अध्ययन कराया जाता था। आत्रेयी ने महर्षि वाल्मीकि के पावन आश्रम में रहकर लव और कुश से वेदांत का गम्भीर अध्ययन किया था। तत्कालीन विदुषी नारियों को 'ब्रह्मवादिनी' की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। उन्हें 'मंत्रविद्' तथा 'पण्डित' की उपाधियां भी दी जाती थीं। गार्गी, मैत्रेयी, आत्रेयी, कौशल्या, तारा तथा द्रौपदी आदि प्राचीन भारतीय विदुषी महिलाओं के नाम आज भी श्रद्धा के साथ लिये जाते हैं।

स्मृति-काल में भारतीय नारी वर्ग पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इस काल में उनकी शिक्षा का प्रबन्ध उनके अभिभावकों द्वारा उनके घरों पर ही होने लगा। शनैः-शनैः यह प्रतिबन्ध दृढ़तर होता गया और स्त्री को असहाय मानकर उसे स्वतंत्रता का अधिकारी न समझा गया—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षति वार्धके पुत्रो न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥

समावर्तन समारोह :

प्राचीन काल में आश्रमों में प्रत्येक सत्र का प्रारम्भ श्रावण पूर्णिमा से होता था। सत्र की समाप्ति पर 'उत्सर्जन' समारोह के साथ ही 'समावर्तन' समारोह का भी सम्पादन होता था। 'समावर्तन' समारोह के समय ब्रह्मचारी मृगचर्म और

मौंजी बंधन को उतार देता था। वह गुरु-आश्रम छोड़कर अपने माता-पिता के पास जाता था। आश्रम छोड़ते समय वह यथासामर्थ्य गुरु को श्रद्धा से गुरुदक्षिणा देता था। विदा के समय गुरु उसे निम्नलिखित उपदेश देता था :—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः ।।

अर्थात्—सदैव सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। आचार्य की सेवा में उनका प्रिय धन लाकर देते रहना तथा सन्तान और शिष्य-परम्परा का लोप न होने देना।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै: न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

अर्थात्—सत्य में प्रमाद न करना। धर्म में प्रमाद न करना। सुरक्षा और कल्याण में प्रमाद न करना। ऐश्वर्य की प्राप्ति में प्रमाद न करना। स्वाध्याय तथा प्रवचन में प्रमाद न करना।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव ।।

अर्थात्—देव एवं पितृ कार्यों में प्रमाद न करना। माता को देवतुल्य मानना। पिता को देवतुल्य मानना। आचार्य को देवतुल्य मानना। अतिथि को देवतुल्य मानना।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि ।।

अर्थात्—जो करने योग्य कार्य हैं उन्हें करना। अन्य नहीं। जो अच्छे आचरण हैं उन्हें करना। अन्य नहीं।

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाअदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम् ।।

अर्थात्—जो कोई अपने समाज में श्रेष्ठ ब्राह्मण हों उनको भोजन आदि देकर स्वागत करना। श्रद्धा से दान देना। अश्रद्धा से न देना। शोभा के लिए दान देना। लज्जावश होकर दान देना। भय से (समाज के भय से) दान देना। बदले की भावना से दान देना।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः।

अर्थात्—यदि किसी कर्म या आचरण के संबंध में तुम्हें कुछ सन्देह हो तो समाज के विचारशील समाहितचित्त, तुमसे स्नेह रखने वाले किन्तु प्रेमी जैसा करें वैसा ही तुम भी करना।

युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेष वर्तेथाः ।।

अर्थात्—जो निन्दित जन हैं उनके सम्बन्ध में भी विचारयुक्त समाहितचित्त स्नेही स्वभाव वाले, धर्मप्रेमी ब्राह्मण जैसा व्यवहार करें वैसा ही तुम भी करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा में बालक के सर्वांगीण विकास की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था और उनमें व क्षमताएं उत्पन्न की जाती थीं जिनसे वे समाज के सुयोग्य नागरिक बन कर समाज का कल्याण कर सकें।

विधि-विज्ञान का विकास

श्री गोपीकृष्ण अरोड़ा, एल-एल० एम०
विधि प्राध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय।

मनुष्य स्व-चेतन प्राणी है। जीव-विकास क्रम में इसी गुण के कारण मनुष्येतर प्राणियों का 'समूह' मनुष्य स्तर पर आकर 'समाज' का रूप धारण कर लेता है। अर्थात् उसका जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से भिन्न संयोजित तथा नियमित हो जाता है। इसी संयोजन तथा नियमन प्रक्रिया में जब सजग प्रयास का प्रारम्भ होता है, वहीं विस्तृत अर्थों में, विधि का भी निर्माण आरम्भ हो जाता है। व्यापक रूप में मानव आचरण के साधिकार निर्धारित नियमों को विधि की संज्ञा दी जा सकती है। अर्थात् वे नियम जिनका पालन अनिवार्य हो तथा जिनका उल्लंघन किसी-न-किसी रूप में दण्डनीय हो। इस प्रकार विधि-विज्ञान सामाजिक विज्ञानों में से एक है।

अंग्रेजी भाषा में विधि-विज्ञान के लिए 'ज्यूरिस्प्रूडेन्स' शब्द का प्रयोग होता है। अंग्रेजी में यह शब्द लैटिन भाषा के संयुक्त शब्द—'ज्यूरिस-प्रूडेन्शिया' से आया है, जिसका अर्थ है न्यायिक निर्णय का ज्ञान। मनुष्य के आचरण सम्बन्धी किसी विवाद में सही आचरण करने वाले की रक्षा तथा गलत आचरण करने वाले को जिस प्रक्रिया से दंडित किया जा सके उस विधा को ज्यूरिस-प्रूडेन्शिया कहा जाता था। हम यहां विकास के ऐतिहासिक विवरण में न जाकर इतना ही कहना जरूरी समझते हैं कि कालान्तर में इस विधा के दो रूप विकसित हो गये। एक तो यही कि किसी काल के किसी मानव समाज में पनपे हुए मानव आचरण सम्बन्धी सभी नियमों का ज्ञान। अर्थात् वह विद्या जिसमें विधियों का अध्ययन एवं विधि समूह का ज्ञान उपलब्ध हो। विधि चूंकि मानव आचरण सम्बन्धी नियमन एवं संयोजन की उपलब्धि है, अतः विधि-विधा का दूसरा अर्थ यह किया गया कि उन कुछ मौलिक सिद्धान्तों का ज्ञान ही विधि-विधा है, जिनके आधार पर किसी सामाजिक संगठन की सत्ता तथा दण्ड-प्रक्रिया निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में किसी सुस्पष्ट विधि-व्यवस्था का दर्शन अथवा उसका औपचारिक विज्ञान ही विधि-विज्ञान है। अंग्रेजी भाषा में इस शब्द के आगमन के समय इस दूसरे अर्थ का ही समर्थन किया गया और इसी पक्ष से इस विधा की एक निश्चित रूप-रेखा निर्धारण में भी प्रयास किया गया। सर जान आस्टिन की कतिपय आलोचनाओं के बावजूद आंग्ल क्षेत्र में मूलतः आज भी वैसी ही रूप-रेखा और वैसा ही दृष्टिकोण कायम है। फ्रांसीसी भाषा में ज्यूरिस्प्रूडेन्स शब्द का प्रयोग विधि-समूह अथवा विधि के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों के लिए नहीं वरन् न्यायालयों के निर्णयों के लिए होता है।

मानव आचरण के नियमन तथा संयोजन के आधार को भारत में 'धर्म' की संज्ञा दी गयी है। एतदर्थ जिस विद्या को लैटिन भाषा में ज्यूरिसप्रूडेन्शिया तथा अंग्रेजी में ज्यूरिस्प्रूडेन्स कहा गया उसे भारत में धर्मशास्त्र का नाम दिया गया। धर्म शब्द के प्रयोग के कारण भारतीय विधि विज्ञान की अक्सर यह आलोचना की जाती रही है, और यह आलोचना करने वालों में स्वयं भारतीयों की भी कमी नहीं है कि यहां कानून और धर्म ऐसा मिश्रित-सा रखा गया है कि कोई 'धर्म-निरपेक्ष' वैज्ञानिक विश्लेषण संभव नहीं है। कहना न होगा कि यह आलोचना धर्म शब्द के अर्थ के विषय में नासमझी और किसी सामाजिक विज्ञान के विकास के ऐतिहासिक क्रम की उपेक्षा का ही परिचय है।

वस्तुतः सामाजिक व्यवहार एवं आचरण की सभी विधियों का प्रारम्भिक स्रोत दैवी ही माना गया है। उदाहरणार्थ पश्चिमी लेखकों द्वारा विधि विषयक सबसे प्राचीन माने जाने वाले यूनानी इतिहास में भी यही क्रम रहा। होमर की कृतियों में उल्लेख है कि इस लोक में न्याय करने के हेतु न्याय की देवी 'जीयस' से ही 'परमिस्ट्स' के रूप में राजा विधि आदेश प्राप्त करता है। इसी से मिलता-जुलता भाव मनु ने व्यक्त किया है कि राजा की सहायता के लिए ईश्वर ने धर्म व दण्ड को उत्पन्न किया :

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्मात्मजम्।
ब्रह्म तेजोमयं दण्डमुत्सृजत्पूर्वमीश्वरः॥

अस्तु, यदि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक भारत में धर्म को माना गया और राजा को उसी धर्म की स्थापना के लिए दण्डधारी माना गया तो उससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि विधि, न्याय आदि की यहां स्वतंत्र चेतना नहीं थी।

धर्म शब्द अनेकार्थी है। उसका कोई पर्याय अंग्रेजी भाषा में न तो है और न हो सकना संभव है, क्योंकि वर्त्तमान अंग्रेजी समाज संगठन का प्रारम्भ ही ईसा की ग्यारहवीं शती से हुआ है जब कि धर्म शब्द से व्यक्त होने वाले विचार भारत में ईसा से कम-से-कम चार हजार वर्ष पूर्व पनपना प्रारम्भ हो चुके थे। यह तो पढ़े-लिखे भारतीयों पर अंग्रेजी भाषा और संस्कृति के एकान्त प्रभाव का ही दोष है कि अंग्रजी के 'रेलीजन' शब्द को धर्म शब्द का पर्यायवाची मान लिया गया और फिर 'रेलीजन' शब्द के गुण-दोष 'धर्म' शब्द पर आरोपित कर दिये गये। 'रेलीजन' शब्द का सही अनुवाद वस्तुतः सम्प्रदाय है, धर्म नहीं।

जैमिनि ने धर्म शब्द की परिभाषा की है—चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः। अर्थात् कोई कर्म करने अथवा कोई कर्म न करने की प्रेरणा देने वाला ही धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता अराजकता उत्पन्न करने वाली है। अतः निर्बन्ध अथवा प्रबंध द्वारा मनुष्याचरण की मर्यादायें स्थापित होना आवश्यक है। जैसे विवाह-व्यवस्था श्वेतकेतु ने निर्दिष्ट की और शुक्राचार्य ने मदिरा-पान का निषेध किया। इन निर्देशों में उचित कर्म करने की प्रेरणा है अतः यह धर्म है। कौन सा आचरण उचित है और कौन सा नहीं इसका संकेत कणाद की परिभाषा में मिलता है। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। अर्थात् जिन आचरणों एवं कर्मों से अभ्युदय हो तथा निःश्रेयस की सिद्धि हो वही धर्म है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'धारण करना।' जिससे समाज का धारण अर्थात् सर्वभूतहित हो वही धर्म है। लोकमान्य तिलक ने कहा है कि मोक्ष शब्द का अलग होना ही यह सिद्ध करता है कि धर्म शब्द में मोक्ष धर्म का समावेश नहीं है। अतः धर्म का मूल अर्थ केवल इहलौकिक कर्त्तव्य एवं व्यवहार ही है, पारलौकिक कल्याणार्थ कर्म नहीं।

सामाजिक जीवन में आचरण एवं व्यवहार के जिन नियमों को हम विधि या कानून की संज्ञा देते हैं वे किसी न किसी रूप में एक छोर पर दर्शन से और दूसरे छोर पर राजनीति से सम्बन्धित रहते हैं। यह सही है कि इन नियमों के रूपों की स्पष्टता के लिए, उनके व्यापक विस्तार के लिए और सामाजिक जीवन की स्थिरता के लिए इन नियमों की स्वतंत्र महत्ता और उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकृत होना चाहिए। किन्तु इन नियमों के समूह का सम्बन्ध उपर्युक्त दोनों सीमावर्ती विधाओं यथा दर्शन और राजनीति से विच्छेद न तो किया जा सका है और न किया जा सकता है। यह अवश्य हुआ है कि यदि किसी विधि-वेत्ता ने इन नियमों पर दर्शन पक्ष से (अर्थात् किसी विधि नियम के औचित्यानौचित्य को नैतिकता की तुला पर आंकने का प्रयास) विचार किया तो उसकी व्याख्या में विधि-विज्ञान का राजनीतिक एवं क्रियात्मक पक्ष गौण हो गया, और यदि किसी ने इन नियमों पर क्रियात्मक एवं राजनीतिक पक्ष से विचार किया (अर्थात् विधि नियमों का पालन क्यों और कैसे होता है।) तो उसके विश्लेषण में दार्शनिक एवं नैतिक पक्ष गौण हो गया। इसी दृष्टिभेद के कारण विधि-विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिमी विद्वानों के विभिन्न स्कूल्स अर्थात् मत स्थापित हो गये हैं। भारतीय विधि-विज्ञान की यह अपनी विशेषता रही है कि इस विधा के विश्लेषण एवं अध्ययन में किसी एक पक्ष पर एकान्त आग्रह न रख कर दोनों सीमावर्ती विधाओं—सदाचार तथा दण्डनीति (अर्थात् दर्शन और राजनीति) का संतुलित समावेश किया गया है। एतदर्थ जहां धर्मशास्त्रों में दण्ड के महत्त्व का उल्लेख है वहीं राजा अर्थात् दण्डधारी भी धर्म के अधीन माना गया है। दोनों का अन्योन्याश्रय ही धर्म और अर्थ का सामंजस्य स्थापित करते हैं। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में कहा है—

धर्मशास्त्रान्तर्गत राजनीति लक्षणमर्थे शास्त्रमिदं विवक्षितम्

दर्शन और राजनीति अथवा सदाचार और दण्डनीति से सर्वथा स्वतंत्र विधा के रूप में विधि का अध्ययन तो तभी संभव था जब कानून का ज्ञान एक स्वतंत्र पेशे के रूप में पनप जाय। इतिहास में यह प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के साथ ही प्रारम्भ होती जान पड़ती है। उसके पहले विधि-विधा केवल भारत में ही नहीं प्रायः सभी जगह या तो दर्शन की एक शाखा तथा नीतिशास्त्र के रूप में प्रकट हुई अथवा दण्डनीति का एक अंग मात्र रही। प्रायः सभी विधि-विचारक या तो दार्शनिक अथवा किसी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक रहे अथवा दण्डनीतिज्ञ रहे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ के साथ ही जब विधि अध्ययन स्वतंत्र रूप में पनपा तभी उसने विधि-विज्ञान का रूप धारण किया।

यहां यह उल्लेखनीय है कि एक स्वतंत्र विधा के रूप में पनप जाने के बाद भी विधि-विज्ञान के सिद्धान्तों का स्रोत स्वयं विधि नहीं वरन् विधि के ऊपर ही रहा है। किसी वस्तु के विधिवत् ज्ञान को ही विज्ञान कहते हैं, अतः विधि-विज्ञान का अर्थ विधि-विज्ञता ही माना जाता है। इस सीमित अर्थ में भी इस मौलिक प्रश्न पर तो विचार करना ही पड़ता है कि सामाजिक आचरण विषयक किस प्रकार के नियमों को विधि की संज्ञा दी जाती है और क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में ही विधि-विज्ञान के सिद्धान्तों के स्रोत प्रदर्शित होते हैं। दर्शन और राजनीति से अलग एक स्वतंत्र विधा के रूप में भी

उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने की प्रक्रिया में अन्तर आने से अध्ययन की पद्धति में भी अन्तर आना स्वाभाविक है। इस पद्धति-भेद के कारण भी अर्वाचीन विधि-वेत्ताओं के अनेक सम्प्रदाय से बन गये हैं। जैसे—

ह्यूगो ग्रोशियस का मत है कि मनुष्य के सामाजिक स्वभाव में ही एक प्राकृतिक विधि-प्रणाली व्याप्त है। उसका उद्‌गम स्थल मानव-विवेक है और उस प्राकृतिक विधि की अन्तर्निहित क्षमता ही आचरण-नियमों को अधिकृत रूप प्रदान करती है। इमेनुएल काण्ट ने नीति और विधि दोनों को मानव आचरण से सम्बन्धित मानते हुए उनका विभेद इस आधार पर किया कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध हमारे स्वच्छिक कार्यों से है, अर्थात् सदाचार की ओर प्रेरित करने वाले नियम नीति-नियम हैं। इसके विपरीत हमारे बाह्य व्यवहारों को नियंत्रित करने वाले अर्थात् किसी निश्चित प्रकार का आचरण करने के लिए बाध्य करने वाले नियम विधि कहलाते हैं।

जर्मन दार्शनिक हीगेल ने विधि की व्याख्या अपने द्वन्द्वात्मक दर्शन की पृष्ठभूमि में की है। उनका मत है कि सामाजिक जीवन में स्वचेतन प्राणी का अहं-प्रदर्शन जब एक दूसरे के संघर्ष में आता है तब जिस प्रक्रिया से वह संघर्ष शांत किया जाता है उसी को विधि कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अहं चेतना कुछ अंशों में इस प्रकार सीमित कर दी जाती है कि व्यक्ति का अहं सार्वभौमिक चेतना का अंश बन कर एक अल्पकालिक सामंजस्य स्थापित हो जाता है। द्वन्द्व और सामंजस्य की यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर चलती ही रहती है। दूसरे शब्दों में हीगेल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक (भाव-भेदभाव-समभाव) भौतिकवादी दर्शन मानव समाज के क्रमिक विकास का प्रतिपादन है। इन विचारकों ने विधि के नैतिक आधार एवं विधि के उद्देश्यों का ही विश्लेषण किया है। एतदर्थ इस पद्धति को दार्शनिक अथवा नैतिक विधि-विज्ञान की संज्ञा दे दी गयी है।

विधि-विचार की इस परम्परा में यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक आचरण के नियमों का औचित्य यह नहीं है कि वह राजाज्ञा है, वरन् उसे उन नियमों के परे किसी ऊंचे नियम की तुला पर तोला गया है कि उक्त नियम का यह औचित्य है। प्रारम्भ में सामाजिक शांति कायम रखने के हेतु ही कुछ नियमों का पालन रूढ़ि रूप में आवश्यक माना गया और उनका उल्लंघन दैवी आपत्ति का सूचक मान कर प्रायश्चित्त की कल्पना ही उस युग में दण्ड का स्वरूप था। कालान्तर में मानव ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक रूढ़ियों एवं धार्मिक निर्देशों के पालन का उद्देश्य दैवी प्रकोप से बचने के लिए नहीं वरन् तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के हेतु आवश्यक समझा गया। इस प्रकार यदि एक समय राज्याधिकार की पुष्टि के लिए आचरण नियम बने तो दूसरे समय नियम पालन का उद्देश्य धर्माचरण का विस्तार करना रहा। और उससे भी आगे चल कर स्वभाव तथा गुण की कल्पना प्रमुख हो उठी। यह वह समय था जब राज-निर्देशों के उचितानुचित होने की शंका उत्पन्न हुई (कदाचित् कष्टदायक होने के कारण) और उस शंका का समाधान प्रकृति-प्रदत्त कुछ अपरिवर्त्तनीय मान्यताओं पर अथवा राष्ट्र-नियमों की तुला पर किया गया। कहना न होगा कि विधि-विज्ञान के विकासक्रम में इस विचार-पद्धति ने जहां एक समय किसी आततायी राजा के विरुद्ध जन-द्रोह को नैतिक समर्थन तथा सैद्धान्तिक आधारशिला प्रदान की वहीं किसी दूसरे समय इसी विधि-विचार ने राज्याधिकारों को बढ़ाने में भी सहायता दी। यदि एक समय में राज्यादेशों की मनमानी पर अंकुश लगाने के लिए एक ऊंचे आदर्श-नियम की कल्पना कर व्यक्ति-अधिकार पर इस विधि-विचार ने बल दिया तो राज्याधिकारों को बढ़ाने की आवश्यकता पड़ने पर अन्य समय व्यक्ति-कर्त्तव्य को ही केन्द्र बना दिया गया।

उपर्युक्त विचार-पद्धति से बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण एक दूसरे जर्मन विचारक सैविनी (कार्लफौन सैविनी) ने व्यक्त किया है। इस मत के अनुसार विधि कोई प्रकृति-प्रदत्त नियमावली नहीं है जो सभी मानव समूहों में प्रचलित हो। विधि तो किसी देश की जन-चेतना का व्यावहारिक प्रदर्शित रूप है जो उसी जनसमूह की अपनी थाती है। जिस प्रकार किसी देश की भाषा का विकास विशुद्ध व्याकरण से नहीं वरन् सार्वजनिक प्रयोग से होता है उसी प्रकार किसी देश की विधि-व्यवस्था का विकास रजनीतिक सत्ता द्वारा बनाये गये विधानों में नहीं वरन् जन-साधारण के आचरण में निहित होता है। और उनकी अभिव्यक्ति वहां की परम्पराओं एवं सार्वजनिक प्रथाओं में ही होती है, तर्क और विवाद में नहीं। सैविनी के मतानुसार व्यक्ति पर सामाजिक नियंत्रण के सभी रूप विधि-विज्ञान के अध्ययन की विषय सामग्री है, केवल विधानमंडलों द्वारा पारित कानून अथवा सार्वभौम सत्ता द्वारा निर्देशित आदेश मात्र नहीं। व्यक्ति पर यह सामाजिक नियंत्रण अचानक उत्पन्न नहीं होता और न ही उसका स्रोत स्वतः सामाजिक जीवन से भिन्न होता है। किसी विशिष्ट जन-समूह की अपनी विशिष्टतायें होती हैं जो स्वतः प्रत्येक व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार में प्रकट होती हैं। सैविनी ने इस विशिष्टता को 'फोक्ल-जीस्ट' (अंग्रेजी में इसका उच्चारण 'वोल्क-जीस्ट' किया जाता है) अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित उक्त समाज की ऋृतम्भरा ही प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार तथा आचरण में प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में कानून बनाया नहीं जाता वह तो सदा से ही कायम है केवल विभिन्न स्थितियों के अनुसार विभिन्न रूपों में वह प्रकट होता रहता है। भारतीय धर्म-

शास्त्र में धर्म शब्द की व्याख्या और युगधर्म की कल्पना तथा सैविनी के उपर्युक्त मत की समता उल्लेखनीय ही नहीं, विचारणीय भी है ।

अंग्रेज विधि-शास्त्री आस्टिन ने विधि के औचित्य अथवा उसके विकास-क्रम से सर्वथा उदासीन होकर विधि की विषय-सामग्री के विश्लेषण करने को ही विधिविद्या अथवा विधि-विज्ञान की संज्ञा देना उचित माना। इस दृष्टि से, कानून क्या है इस प्रश्न का उत्तर कानूनों में प्रयुक्त शब्दों एवं शब्दार्थों का तार्किक विश्लेषण करने में ही मिल सकता है। स्पष्ट है कि यह विश्लेषणात्मक पद्धति केवल किसी परिपक्व विधि-व्यवस्था पर ही लागू हो सकती है। उस व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास अथवा नैतिक औचित्य से उसका कोई प्रयोजन नहीं। व्यक्ति पर सामाजिक नियंत्रण के अनेक साधन हैं। उनमें से एक साधन कानून व्यवस्था भी है। आस्टिन का एकांगी आग्रह उसी प्रश्न पर है कि कानून क्या है। उसे इसकी चिन्ता नहीं कि कानून कैसा होना चाहिए अथवा उससे न्याय प्राप्त होता है या नहीं। उसके मत में कानून का पालन ही न्याय है, भले ही नैतिक अथवा सामाजिक दृष्टि से वह न्याय न हो। इस मत की दृष्टि से सार्वभौम सत्ता का निर्देश ही कानून है। अस्तु, कानून क्या है, इसका स्पष्टीकरण उक्त निर्देशों में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ-विश्लेषण करके ही मिल सकता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि जहां उपर्युक्त नैतिक तथा ऐतिहासिक पद्धति में अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक रहते हैं वहां आस्टिन की विश्लेषणत्मक पद्धति में ऐसा सर्वथा संभव नहीं है। सामान्य व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में तो एक का अधिकार और दूसरे का कर्त्तव्य अन्योन्याश्रित है किन्तु व्यक्ति और राजशक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों में व्यक्ति के केवल कर्त्तव्य हैं और राज्य के केवल अधिकार। यह इसीलिए कि इस मत में सार्वभौम सत्ता का आदेश ही कानून है। इसका ही यह उदाहरण है कि दो दशक पहले तक इंगलैण्ड में राजकर्मचारी द्वारा कितना भी क्षतिग्रस्त होने पर कोई सामान्य जन राज्य पर क्षतिपूर्ति का दावा नहीं कर सकता था। उसके लिए उसे राजा से विनय ही करनी पड़ती थी अथवा उस राजकर्मचारी के विरुद्ध व्यक्तिगत (राज्याधिकारी के रूप में नहीं) दावा करना पड़ता था। अंग्रेजी शासनकाल में भारत में भी अंग्रेजी विश्लेषणात्मक विधि पद्धति अपनायी गयी, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु यह अवश्य आश्चर्य की बात है कि इंगलैण्ड में तो तद्विषयक विधि परिवर्त्तन हो गया परन्तु भारत में स्वतंत्रता के बाद भी स्वतंत्रता-पूर्व का वही कानून कायम है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस स्थिति पर खेद प्रकट करने और विधि परिवर्त्तन की आवश्यकता पर बल देने के बावजूद तथा भारतीय विधि-आयोग द्वारा प्रस्तावित होने की बाद भी संसद् द्वारा अभी तक कुछ नहीं किया गया है।

विधि-अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। सामाजिक विकास के अनेक साधनों में विधि भी एक साधन है। व्यक्ति की एकांगी स्वतंत्रता पर सामाजिक नियंत्रण का साधन होने के कारण विधि सामाजिक सुधार एवं संयोजित सामाजिक विकास का यंत्र बन सकती है। अतः विधि के केवल सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण मात्र न कर विधि के व्यावहारिक रूप अर्थात् विधि के वास्तविक कार्यों एवं नतीजों का अध्ययन करना इस पद्धति का लक्षण है। इस पद्धति का विकास विशेषतया अमरीका में हुआ और इस पद्धति के प्रणेता अमरीकी विधिवेत्ता रास्को पाउण्ड हैं। यह विचार-पद्धति मूलतः विश्लेषणात्मक तथा नैतिक पद्धतियों का एक सम्मिश्रित-सा रूप है। इस सामाजिक मत से न तो सभी राजाज्ञायें और न सभी सामाजिक परम्परायें आवश्यक रूप से कानून कहला सकती हैं। बहुत-सी राजाज्ञायें और विधान मण्डल की घोषणायें व्यक्ति के आचरण अथवा व्यवहार को नियंत्रित करने वाली नहीं होतीं। जैसे सरकारी नीति विषयक घोषणायें अथवा जब्ती विषयक व्यवस्थायें। इसी प्रकार बहुत-सी परम्परायें केवल व्यक्ति-रुचि पर निर्भर होने के कारण अथवा परिवार या कुल तक सीमित होने के कारण कानून का बल प्राप्त नहीं कर पातीं। दूसरी ओर जिन्हें हम कानून कहते हैं वे स्वयं कोई अपरिवर्त्तनीय नियम नहीं, वरन् विभिन्न परिस्थितियों में समाज के विभिन्न हितों के बीच आवश्यकतानुसार एक संतुलन स्थापित करते रहने का सतत प्रयत्न मात्र है। व्यक्तियों अथवा समूहों के हितों में परस्पर संघर्ष होना और एक संतुलन स्थापित होकर पुनः नये संघर्ष होते रहना यह प्रक्रिया सामाजिक जीवन में अनिवार्य है। इस प्रक्रिया के विरोधी तत्त्वों तथा संघर्षरत हितों को सचेतन रूप से संतुलित करते रहना ही कानून का उद्देश्य है।

रास्को पाउण्ड के विचारों का हीगेल के विचारों से मौलिक साम्य स्पष्ट ही है। किन्तु कार्ल मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त से इस मत की भिन्नता समझ लेना भी आवश्यक है। मार्क्स का संघर्ष वर्ग-संघर्ष है और आवश्यक रूप से आर्थिक आधार पर है तथा इस संघर्ष का अंत एक वर्ग के सम्पूर्ण विनाश से ही होना संभव माना गया है। किन्तु रास्को पाउण्ड के मत में यह संघर्ष समाज के विभिन्न समूहों के पारस्परिक हितों का संघर्ष है जो परिवर्त्तनशील तथा बहुपक्षीय है। इन हित संघर्षों का कारण आर्थिक ही नहीं वरन् सामाजिक अथवा राजनीतिक अथवा दार्शनिक या नैतिक कुछ भी हो सकता है। और उन संघर्षों का अन्त एक समूह का ही विनाश कर के नहीं, वरन् दोनों हितों में नये संतुलन स्थापित करके ही हो सकता है।

विधि विधा के क्षेत्र में इन प्रमुख सम्प्रदायों ने अनेक उप-सम्प्रदायों को भी जन्म दिया है। उन सभी का उल्लेख कर सकना स्थानाभाव के कारण संभव नहीं है फिर भी दो शाखाओं का उल्लेख करना समीचीन जान पड़ता है। स्टैमलर ने यह तो स्वीकार किया है कि व्यवस्थित कानूनों के उचित अनुचित होने की तुला उस कानून-व्यवस्था के परे का ही कोई आदर्श हो सकता है। लेकिन उनका मत है कि वह आदर्श स्वतः स्थिर अथवा स्थायी न होकर सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं भी परिवर्त्तनशील है। इस मत का तात्पर्य यही है कि किसी समाज में किसी समय के कानूनों का औचित्य तत्कालीन आवश्यकताओं पर ही तौला जा सकता है। आज के कानूनों का औचित्य उन्नीसवीं सदी की मान्यताओं पर नहीं आंका जा सकता और न ही उन्नीसवीं सदी के इतिहास को आज की मान्यताओं से आंकना उचित माना जा सकता है।

फ्रांसीसी विधिवेत्ता लिओ दिग्वी ने भी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया है। किन्तु दिग्वी ने व्यक्ति-अधिकार की कल्पना का त्याग कर कर्त्तव्य पर ही सर्वाधिक बल दिया है। अधिकारों पर बल देना ही सारे संघर्षों की जड़ है। अतः हित-संघर्षों का अंत तभी संभव है जब सामाजिक जीवन का मूलाधार कर्त्तव्य-पालन हो। भारतीय धर्मशास्त्रों में वर्णित कर्त्तव्य-पालन पर बल का दिग्वी के विचारों से साम्य स्पष्ट ही है। किन्तु यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इस विधि-विचार से अधिनायकवादी राजनीति दर्शन को बहुत बड़ा बल मिलता है। नाजीवादी विधि-शास्त्र इसी विधि-विचार पर आधारित था। सैविनी के राष्ट्रीय ऋतम्भरा के सिद्धान्त ने उसे पुष्टि प्रदान की थी। रूसी अधिनायकवादी विधिशास्त्र का सीधा सम्पर्क तो दिग्वी के मत से नहीं है किन्तु साम्यवादी विधिशास्त्र की नींव वही है जो दिग्वी के मत की है। अर्थात् समाज (राज्य क्योंकि राज्य ही समाज का संगठित व्यक्त रूप है) के प्रति व्यक्ति के कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य हैं अधिकार नहीं। कहना न होगा कि जहां कर्त्तव्य पर ही एकान्त बल है वहां व्यक्ति की स्वतंत्रता नगण्य है।

विधि-विज्ञान के अर्वाचीन मतों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण की पृष्ठभमि में भारतीय धर्मशास्त्र का अध्ययन करने पर तीन बातें निश्चित रूप से कही जा सकती हैं। एक, भारतीय विधि-वेत्ताओं ने किसी एक मत का एकांगी आग्रह नहीं किया। दो, भारतीय धर्मशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त विकासोन्मुखी रहे और तीन, राजनीतिक कारणों से ही उसका विकास अवरुद्ध हुआ, किन्हीं आन्तरिक कारणों से नहीं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय का समुचित अध्ययन और शोध कार्य हो। यह दुःख की बात है कि आज भी विश्वविद्यालयों के विधि-शिक्षा के पाठ्यक्रम में भारतीय विधि-इतिहास न पढ़ाकर रोमन ला और इक्विटी पढ़ाया जाता है। अथवा यहां का विधि-इतिहास अंग्रेजों के आने के बाद अर्थात् सत्रहवीं सदी से ही पढ़ाया जाता है। मानो उसके पहले कुछ नहीं था। अमरीका में जहां वस्तुतः कुछ नहीं था और सब कुछ यूरोपवासी ही अपने साथ लेकर गये वहां तो रोमन ला या कामन ला का इतिहास नहीं वरन् अमरीका का विधि इतिहास पढ़ाया जाता है और भारत में इसका उल्टा ही है। कहना न होगा कि अपने इतिहास का समुचित ज्ञान न होने से दो प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। या तो यह धारणा बन जाती है कि आज जो कुछ हम देख सुन रहे हैं उसमें कोई विशेषता नहीं, क्योंकि यह सब और इससे भी कुछ अधिक हमारे पूर्वजों ने सिद्ध कर लिया था। अथवा यह कि जो कुछ विकास हुआ है, वह सब आधुनिक ही है, उसके पहले सब अंधकार ही था। वस्तुतः ये दोनों ही मार्ग त्याज्य हैं, क्योंकि ये दोनों हमें सत्य से परे ले जाते हैं। विकास का एक क्रम होता है। आवश्यक उपकरणों की उपलब्धि के बाद ही कोई नयी खोज, कोई नया निर्माण अथवा किसी नये सिद्धान्त की रचना संभव होती है। यह भी भूलना नहीं चाहिए कि नीचे के और ऊपर के स्तरों का अन्तर चाहे जितना अधिक हो, विकास के पथ की किन्हीं दो सीढ़ियों का अन्तर प्रायः इतना कम होता है, जिसकी अक्सर उपेक्षा-सी हो जाती है। लेकिन वे अन्तर ही महत्त्वपूर्ण होते हैं और आगे की ऊंचाई की ओर संकेत करते हैं।

अन्य स्थानों की भांति भारत में भी विधि-पालन की अनिवार्यता प्रदान करने के लिए ही प्रारम्भ में विधि का स्रोत दैवी माना गया किन्तु स्मृतिकाल में ही विधि नियमों को दैवी प्रभाव से सर्वथा मुक्त कर दिया गया था। नारद ने कहा है:

"धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्। चतुष्पद्व्यवहारोऽयं उत्तरः पूर्वबाधकः॥"

अर्थात्, व्यवहार (न्यायिक प्रक्रिया) के चार पद होते हैं, यथा—धर्म, व्यवहार, चरित्र (लिखित दस्तावेज) तथा राजाज्ञा अथवा राजशासन। इनमें प्रत्येक पद अपने पूर्व पद का खण्डन करने का अधिकारी है। स्पष्ट है कि धर्मादि से परे राजाज्ञा को ही सर्वाधिकारी स्वीकार किया गया और उसीको न्याय का स्रोत माना गया। विधि का स्रोत भी राजा माना गया है। नारद ने कहा है:

प्रकीर्णके पुनर्ज्ञेयो व्यवहारो नृपाश्रयः।
न दृष्टं यच्च पूर्व्वेषु सर्व्वं तत् स्यात् प्रकीर्णके॥

अर्थात्, धर्मशास्त्रों में वर्णित व्यवहार पदों के अतिरिक्त नये प्रकार के विवादों का निर्णय राजा पर ही निर्भर है। विश्लेषणात्मक पद्धति के जनक आस्टिन के इस मत का और अधिक समर्थन कहां मिलेगा कि सार्वभौम सत्ता ही विधि का स्रोत

है और वही न्यायदायक है। लेकिन भारतीय विधिवेत्ताओं ने राजसार्वभौमिकता पर एकांगी आग्रह न रख कर समाज की परम्पराओं एवं रीति रिवाजों का भी सम्मान किया है और राजा को निर्देश किया है कि उनका विरोध न करे।

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा दशम उपागतः ।।

याज्ञवल्क्य के इस आदेश का अर्थ विकास अथवा उन्नति का मार्ग अवरुद्ध करना नहीं वरन् किसी समाज एवं देश की राष्ट्रीय ऋतम्भरा का सम्मान करना ही है जिसे सैविनी ने 'फोल्क जीस्ट' कहा है। किसी जनसमूह की अपनी आवश्यकताओं के आधार पर स्वाभाविक रूप से उत्पन्न और विकसित तथा व्यवहृत नियमाचरण उस जनसमूह की अपनी निजी राष्ट्रीय विशेषता है। कुमारिल के शब्दों में :

अन्येषाम् एवमादीनां प्रतिदेशं व्यवस्थया ।
आप्तस्तम्बेन संहृत्य दुष्टादुष्टत्वम् आश्रति ।।
येषां परम्परा प्राप्ताः पूर्वजैरप्यनष्ठिताः ।
त एव तैनं दुष्येयुराचारैर्नेतरे पुनः ।।

अर्थात्, जिन्होंने उन परम्पराओं को जो स्मृतिविरुद्ध हैं अपने पूर्वजों से प्राप्त किया है और जिन पर वे चलते हैं, वे स्मृतिविरुद्ध आचरण के दोषी नहीं हैं। किन्तु यदि अन्य लोग उनका अनुगमन करते हैं तो वे दोषी हैं। इसी सिद्धान्त पर भारतीय राजाओं ने केवल न विजित देशों पर वरन् जो विदेशी भारत में आये उन्हें भी अपनी ही विधि-व्यवस्था से शासित होने की स्वतंत्रता प्रदान की। यदि सीमावर्ती क्षेत्रों में जैसे वर्तमान नैपाल, बर्मा, लंका, दक्षिण-पूर्व के एशियाई देशों में भारतीय धर्मशास्त्रों तथा राजशास्त्रों के चिन्ह आज भी प्राप्त हैं तो उसका कारण यही है कि उन देशों की जनता ने उन नियमों को स्वयं उसी प्रकार स्वीकार तथा आत्मसात् कर लिया जैसे रोम के विधि नियम क्रमशः सारे यूरोप में स्वीकृत हो गये। इस मौलिक तथ्य को न समझ सकने के कारण ही ब्रिटिश शासनाधिकारियों द्वारा निर्मित प्रथम विधि आयोग ने यह मत प्रकट किया था कि भारत में कोई देशव्यापी कानून नहीं वरन् व्यक्तिगत कानून ही हैं।

यह सही है कि मुसलमानों के आक्रमण के बाद भारतीय धर्मशास्त्र का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो गया। इस अवरोध का कारण बाह्य राजनीतिक परिस्थितियां ही थीं। मुस्लिम विधि-शास्त्र का आधार साम्प्रदायिक होने के कारण वह केवल इस्लाम के अनुयायियों पर ही लागू हो सकता था। फलतः भारतीय धर्मशास्त्र गैर-मुस्लिमों अर्थात् हिन्दुओं तक ही सीमित हो गया। राज्य की सुरक्षा तथा शांति व्यवस्था विषयक मुस्लिम विधि के ही नियम प्रचलित किये गये। फलतः भारतीय धर्मशास्त्र का पारुष्य और साहस अंग (जिसे आज हम फौजदारी कानून कहते हैं) अपंग-सा रह गया। लेकिन संविदा, क्रय-विक्रय, साझेदारी, रेहनदारी आदि के नियमों में भारतीय तथा मुस्लिम विधि-नियमों का आदान-प्रदान चलता रहा। अंग्रेजों के आगमन के समय तद्विषयक विधि-व्यवस्था एक मिली-जुली-सी बन चुकी थी। औरंगजेब का फतवये आलमगीरी इस तथ्य का प्रमाण है कि बगदाद के खलीफाओं से स्वतंत्र—भले ही उसका नाम इस्लामी आइन ही कायम रहा—भारतीय सीमा का अपना कानून पनप रहा था। अंग्रेजी शासन स्थापित होने के बाद उसी मिली-जुली-सी विधि-व्यवस्था में अंग्रेजी कामन ला के कुछेक सिद्धान्तों अथवा नियमों का सम्मिश्रण करके उसे अंग्रेजों ने भारतीय विधि का नाम दिया। साथ ही विवाह तथा उत्तराधिकार आदि के मुस्लिम और गैर-मुस्लिम नियमों का स्पष्ट नामकरण मुस्लिम तथा हिन्दू कर दिया। भारतीय धर्मशास्त्र के विकास का जो अवरोध तेरहवीं शताब्दि से प्रारम्भ हुआ था, उस पर अठारहवीं शती में पक्की मोहर लग गयी।

जो हो, मुस्लिम आक्रमण के पहले तक भारतीय विधि-व्यवस्था में रूढ़ि दोष नहीं उत्पन्न हुआ था। धर्म-निर्देश होते हुए भी यदि कोई आचरण एवं व्यवहार लोकरुचि के विरुद्ध हो गया हो तो उस धर्म-निर्देश का पालन न करने का ही निर्देश था। याज्ञवल्क्य ने कहा है :

लोकविरुद्धम् धर्म्यम् अप्याचरेन् न तु ।

जीमूतवाहन ने यही भाव दूसरे प्रकार से प्रकट किया है :

वचनशतेनादि वस्तुनोऽन्यथा कारणशक्तेः ।

अर्थात् किसी वास्तविकता को सौ पुस्तकों में भी अवास्तविक बना सकने की शक्ति नहीं होती।

अर्वाचीन समाजशास्त्रीय पद्धति की यह विशेषता है कि वह किसी विधि मत को रूढ़ि सिद्धान्त में सीमित होने से बचाती है और हित-संतुलन का मार्ग प्रशस्त कर विधि-व्यवस्था को विकासशील रखती है। भारतीय धर्मशास्त्र में इसी भाव का संकेत हमें उन स्थलों पर मिलता है, जहां विधि मान्यता का आधार उसका युक्तिसम्मत होना ही माना गया है। व्यवहार-मात्रिका का यह अंश उद्धरणीय है—

धर्मशास्त्रविरोधेतु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः ।

भारतीय विधि-व्यवस्था में परिस्थिति एवं नयी आवश्यकतानुसार विकसित होते रहने की क्षमता का इससे अधिक बलशाली प्रमाण और क्या हो सकता है कि मनु द्वारा प्रतिपादित अठारह व्यवहार पद नारद के समय तक एक सौ बत्तीस प्रकारों में विकसित हो चुके थे । न्यायालय प्रक्रिया का जैसा विस्तृत एवं वैज्ञानिक वर्णन नारद स्मृति में मिलता है उसे पढ़कर कदाचित् किसी को यह भ्रम हो सकता है कि वह कोई आधुनिक पुस्तक पढ़ रहा है। कात्यायन द्वारा वर्णित साक्ष्य नियमों और वर्तमान साक्ष्य-विधि में यदि कोई अन्तर है तो केवल यह कि उन नियमों के आधार पर सत्य की खोज हो जाती थी आज, एकाधिक अन्तरों के कारण ही, वह सत्य को छिपाने का यंत्र सी बन गयी है। प्राड्विवाक मते स्थितः (नारद) का अर्थ केवल यही नहीं कि न्यायाधीश के निर्णय से राजा विमुख नहीं हो सकता था । इसका अर्थ यह भी है कि उस प्रकार के विवाद में वह निर्णय ही विधि नियम बन जाता था। अंग्रेजी में जिसे हम 'ला आफ प्रिसिडेन्स' कहते हैं उसका सैद्धान्तिक आधार नारद में उपलब्ध है। अर्थ-विस्तार, स्पष्टीकरण, उदाहरण, व्याख्या, टीका आदि अनेक माध्यमों से तो नये विधि नियमों का निर्माण संभव था ही किन्तु नयी स्थिति में शासनादेश द्वारा भी विधि नियमों में संशोधन अथवा नये नियम का निर्माण करने की व्यवस्था उपलब्ध थी । शुक्रनीति उल्लेखनीय है :

वर्तमानाश्च प्राचीना धर्माः कं लोक संश्रिताः ।
शास्त्रेष समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना ॥
लोके शास्त्र विरुद्धाः के पण्डितस्तान् विचिन्त्य च ।
नृपं सम्बोधयेत तैश्च परचेह सुखप्रदैः ॥

उपर्युक्त कतिपय उल्लेख संकुचित आत्मतुष्टि के भाव से नहीं दिये गये हैं वरन् इस बात की आवश्यकता पर बल देने के उद्देश्य से दिये गये हैं कि इस विषय पर ऐतिहासिक शोध अपेक्षित है। सामान्य धारणा यह बन गयी है कि वर्तमान सारी विधि व्यवस्था (व्यक्तिगत कानूनों को छोड़कर) अंग्रेजी कामन ला की ही देन है । यह धारणा भ्रामक है, क्योंकि सत्रहवीं-अठारहवीं सदी तक के कामन ला के नियमों से कहीं अधिक उन्नत नियमों का उल्लेख उससे तीन-चार सदी पूर्व के भारतीय विधि-वेत्ताओं के निबन्धों में (स्मृतियों और टीकाकारों का उल्लेख यदि न भी करें) मिलता है। सम्पत्ति हस्तान्तरण, क्रय-विक्रय तथा साझेदारी व कानूनों का वर्तमान के समानान्तर विकसित रूप स्मृतियों तथा टीकाओं में उपलब्ध है। संविदा कानून का परम विकास तो मुस्लिम विधि शास्त्रकारों की ही देन है जो अरब से यूरोप की ओर गतिमान हुआ था । कामन ला में 'नेगोशियेबिल इन्स्ट्रूमेन्ट्स' का कानून रोमन ला पर आधारित है जब कि भारत में उसका विकास स्वतंत्र रूप से ही हुआ। कहना न होगा कि आज भी व्यापारी समुदायों में 'बिल आफ एक्सचेंज' नहीं हुंडियां ही अधिक प्रचलित हैं और वह भी अनेक प्रकार की । अन्य विधि-नियमों में भी अंग्रेजी कानून से भारतीय कानून महत्त्वपूर्ण अंशों में भिन्न हैं। अतः यह मान बैठना कि हमें विधि-ज्ञान कामन ला से ही उपलब्ध हुआ भ्रामक ही है। हमें अंग्रेजी कानून से द्वेष नहीं किन्तु वस्तुस्थिति का तो ज्ञान करना ही चाहिए। विकसित विचार तथा ज्ञान जहां भी उपलब्ध हो ग्रहण करना चाहिए। लेकिन अपने अस्तित्व का भी ज्ञान होना आवश्यक है ताकि हम अब भी परमुखापेक्षी ही न बने रहें ।

भारतीय संविधान की आत्मा

श्री दरबारी लाल शर्मा
अध्यक्ष, विधान परिषद्, उत्तर प्रदेश।

हमारे देश की संविधान सभा द्वारा २६ नवम्बर, १९४९ को स्वीकृत तथा २६ जनवरी, १९५० को प्रवर्तित संविधान न केवल विश्व के वृहत्तम संविधानों में से है, बल्कि इसमें उन सभी विषयों के सम्बन्ध में विस्तृत उपबन्ध हैं, जो सामान्यतः सांविधानिक प्रलेखों में दिए होते हैं। संविधान सभा ने देश के लिए संविधान निर्माण का महान् कार्य संपन्न करते समय एक प्रस्ताव द्वारा अपने लक्ष्य की घोषणा की थी। यह विख्यात 'लक्ष्य सम्बन्धी प्रस्ताव' स्वर्गीय पंडित जवाहर लाल नेहरू ने रखा था। इस प्रस्ताव द्वारा, संविधान सभा के, भारत को एक ऐसा संविधान प्रदान करने के दृढ़ और पवित्र संकल्प की घोषणा की गई थी, जिसके अन्तर्गत, अन्य बातों के साथ-साथ,

" . . . .

५. . . . . भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय और कानून के सम्मुख पद और अवसर की समानता उपलब्ध कराई जाएगी तथा कानून और सार्वजनिक नैतिकता के अधीन विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा, पूजा, व्यवसाय, संघ तथा कार्य की पूर्ण स्वतंत्रता होगी, और

६. अल्पसंख्यकों, पिछड़े तथा जन जाति क्षेत्रों, दलित तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पर्याप्त संरक्षण प्रदान किए जायेंगे, और

७. इस संविधान द्वारा भारत गणराज्य की प्रादेशिक अखंडता अक्षुण्ण रखी जाएगी तथा सभ्य राष्ट्रों के न्याय और विधियों के अनुसार, स्थल, जल और नभ में इसके प्रभुसत्तात्मक अधिकार होंगे . . . .

. . . . "

यही सिद्धान्त निम्नलिखित शब्दों में संविधान की भूमिका में सम्मिलित किए गए हैं :

"हम भारत के लोग जिन्होंने भारत को एक प्रभुसत्तात्मक लोकतन्त्री गणराज्य बनाने और इसके सभी नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय ;
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा तथा पूजा की स्वतन्त्रता;
पद और अवसर की समानता उपलब्ध कराने तथा
व्यक्ति की प्रतिष्ठा और राष्ट्र की एकता को कायम रखते हुए उन सब में बन्धुत्व का विकास करने का पावन संकल्प किया है,

आज २६ नवम्बर, १९४९ को अपनी संविधान सभा में उस संविधान को स्वीकार करते हैं और अपनी जनता को उसे प्रत्यर्पित करते हैं।"

अमेरिका, आयरलैण्ड और चतुर्थ फ्रेंच गणराज्य के संविधानों में, विभिन्न शब्दावलियों में इसी प्रकार की भूमिकाएं दी गई हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव-अधिकार घोषणा में भी इसी प्रकार के लक्ष्य वर्णित हैं। इस प्रकार भारतीय संविधान की भूमिका में वर्णित लक्ष्य उन आदर्शों के अनुरूप हैं, जिनकी घोषणा और पुष्टि समस्त विश्व के सभ्य राष्ट्रों द्वारा की गई है।

संविधान के अनेक अनुच्छेदों में विस्तृत उपबन्ध हैं, जिनमें संविधान की भूमिका में समाहित सिद्धान्त दिए गए हैं। उदाहरण के लिए मौलिक अधिकार विषयक भाग के १४–१८ अनुच्छेदों में पद और अवसर की समानता से संबद्ध उपबन्ध दिए गए हैं; अनुच्छेद १९ विचार, अभिव्यक्ति, संघ बनाने, कोई भी व्यवसाय

अपनाने तथा भारत गणराज्य में कहीं भी विचरण करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। अनुच्छेद २० मनमाने दण्ड के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है और अनुच्छेद २१ तथा २२ वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार की रक्षा करते हैं। अनुच्छेद २३ और २४ समाज के दुर्बल वर्गों को शोषण के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करते हैं और अनुच्छेद २५-३० व्यक्ति को धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। संपत्ति से मनमाने तौर पर वंचित किए जाने के विरुद्ध संरक्षण अनुच्छेद ३१, ३१-अ और ३१-ब में दिया गया है और मौलिक अधिकारों के अतिक्रमण की अवस्था में, गणराज्य के सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी के सम्मुख न्याय मांगने का अधिकार अनुच्छेद ३२ में निहित है। संविधान के सोलहवें भाग में अनुच्छेद ३३०-३४२ में अल्पसंख्यकों तथा कई आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों के संबंधों में विशेष उपबन्ध दिए गए हैं ताकि इनकी बाधाओं की क्षतिपूर्ति हो सके। संविधान में निहित ये सभी उपबन्ध न्याययोग्य हैं और गत १६ वर्षों में, जब से संविधान प्रवर्त्तन में रहा है, देश के न्यायालयों ने, विभिन्न प्रकार के तथ्यों के संबंध में इन उपबन्धों का निर्वचन किया है। यहां हमारा विचार इन निर्वचनों की आलोचना करने का नहीं है। परन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि समग्र रूप में इन निर्वचनों ने संविधान के लक्ष्यों को आगे बढ़ाया है।

उपर्युक्त उपबन्धों के अतिरिक्त, अनेक ऐसे अनुच्छेद हैं, जैसे राज्य नीति के निदेशक सिद्धांतों से संबद्ध भाग में अनुच्छेद ३६-५१, जो न्याययोग्य नहीं हैं परन्तु जिनमें ऐसे सिद्धान्त निहित हैं जो देश के प्रशासन में न केवल मौलिक हैं बल्कि विधि-निर्माण करते समय जिन्हें लागू करना राज्य का कर्त्तव्य है। संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष ने निम्न शब्दों में अनुदेश-पत्र के रूप में इन निदेशक सिद्धान्तों का निरूपण किया है :

"निदेशक सिद्धान्त अनुदेश-पत्र के सदृश हैं जो सन् १९३५ के अधिनियम के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा उपनिवेशों तथा भारत के गवर्नर-जनरल और गवर्नरों के नाम प्रसारित किया गया था..............एकमात्र अंतर यह है कि ये विधानमण्डलों और कार्यकारिणी के लिए अनुदेश हैं। मेरी सम्मति में यह स्वागत-योग्य है। जहां कहीं भी शान्ति, व्यवस्था और सुशासन के लिए शक्ति प्रदान की जाती है, यह आवश्यक हो जाता है कि इसके साथ-साथ अनुदेश भी दे दिए जाएं जो इसकी क्रियान्विति को विनियमित करें।"

इन निदेशक सिद्धान्तों में इस प्रकार के प्रशंसनीय लक्ष्य हैं, जैसे सब के लिए आजीविका के पर्याप्त साधनों की व्यवस्था, पुरुषों और महिलाओं के लिए समान कार्य के लिए समान वेतन, देश के भौतिक साधनों का समुचित वितरण, कामगारों के लिए निर्वाह-योग्य पारिश्रमिक, काम करने का अधिकार, १४ वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, काम की ऐसी दशा का निर्माण जिससे जीवन के उत्तम स्तर और अवकाश का पूर्ण उपभोग संभव हो। बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी और विकलांगता की दशा में सार्वजनिक सहायता, पोषण तथा स्वास्थ्य स्तर को ऊंचा उठाना और इस प्रकार के अन्य विषय।

यह स्पष्ट है कि अगर संविधान के सभी न्याययोग्य तथा अन्याययोग्य उपबंधों को पूर्णतः कार्यरूप में परिणत किया जाए तो संविधान सभा के लक्ष्य संबंधी प्रस्ताव और भारत के संविधान की भूमिका में निहित लक्ष्यों की निस्सन्देह प्राप्ति होगी तथा संविधान के सच्चे स्वरूप और उसके पालन में पूर्ण समस्वरता होगी। इस प्रकार की समस्वरता लाने का दायित्व राज्य के तीन मुख्य अंगों, अर्थात् कार्यकारिणी (सामान्यतः जिसे सरकार का नाम दिया जाता है), विधान मण्डल और न्यायपालिका पर है, जिनकी स्थापना संविधान द्वारा संविधान-निर्माताओं की आकांक्षा-पूर्ति के लिए की गई है। ये तीनों अंग, संविधान-निर्माताओं के ध्येयों को अग्रसर करने की दिशा में, अपने-अपने क्षेत्रों में कहां तक अपना भाग अदा करते हैं, इस पर इन ध्येयों की प्राप्ति निर्भर करेगी।

जिन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भारत का संविधान स्वीकृत किया गया था, उनकी प्राप्ति कहां तक हुई है, इसका आकलन करने का हमारा यहां कोई इरादा नहीं है और न ही असफलताओं का दोष हम राज्य के उपर्युक्त तीन अंगों पर थोपना चाहते हैं। परन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि संविधान के ध्येयों और लक्ष्यों की प्राप्ति का अधिकांश दायित्व कार्य-कारिणी और विधानमण्डल पर होता है, क्योंकि न्यायपालिका तो विधि के निर्वचन के कई सुस्थापित नियमों से बद्ध होने के कारण, संविधान सभा के लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में बहुत कम योगदान कर सकती है। विख्यात गोपालन के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय के बहुमत ने वैयक्तिक स्वतंत्रता के मौलिक अधिकारों से संबद्ध संविधान के उपबंधों का निर्वचन करने के लिए संविधान की भूमिका का आश्रय लेने से इन्कार कर दिया था। स्पष्टतः, न्यायपालिका को विधि का निर्वचन, जिस रूप में वह है, उस रूप में करना होता है। अगर न्यायपालिका के निर्वचन के अनुसार, संविधान के उपबन्ध संविधान-निर्माताओं की आकांक्षाओं को वास्तविक रूप में प्रतिबिम्बित नहीं करते तो इसका उपचार यह है कि संविधान में निर्दिष्ट-संशोधन विधि के अनुसार इन उपबन्धों का संशोधन कर दिया जाए। साढ़े सोलह वर्ष की इस छोटी-सी अवधि में संविधान में अठारह बार संशोधन किया गया है और इस प्रकार अनेक अनुच्छेदों में संशोधन किए गए हैं। क्या इन सभी संशोधनों से

संविधान की भूमिका में निहित लक्ष्यों को अग्रसर करने की दिशा में बढ़ावा मिला है, यह वाद-विवाद का विषय है। तथापि उन लोगों से असहमति प्रकट करना कठिन है, जिनकी यह स्थापना है कि संविधान के भाग तीन के अनुच्छेदों के कुछ संशोधन जो मौलिक अधिकारों को कम करते हैं, संविधान की भूमिका में प्रतिपादित सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं।

जनता के आर्थिक और सामाजिक उत्थान से संबद्ध मुख्य उपबन्ध, जो उन्हें मौलिक अधिकारों संबंधी उपबन्धों द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रताओं का पूर्णतः उपभोग करने योग्य बनाते हैं, संविधान के उस भाग में निहित हैं, जिसमें राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों का विवरण है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, उपबन्ध केवल कार्यपालिका और विधानमण्डलों द्वारा ही कार्यरूप में परिणत किए जा सकते हैं। ये न्यायालयों में प्रवर्त्तनीय नहीं हैं। भारतीय न्यायपालिका की प्रशस्ति में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि ये उपबन्ध न्याययोग्य नहीं हैं, तथापि न्यायालयों का यह मत है कि वे संविधान के १९ वें अनुच्छेद में निहित मौलिक अधिकारों पर लगाए गए प्रतिबन्धों के औचित्य का निर्धारण करते समय इन्हें दृष्टि में रखेंगे। राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों के संबंध में न्यायपालिका की इस प्रकार की धारणा के साथ, इन निदेशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के संबंध में न्यायपालिका के हस्तक्षेप के अवसर कम से कम हैं। इसलिए गत सोलह वर्षों से अधिक अवधि में अगर ये निदेशक सिद्धान्त क्रियान्वित नहीं किए गए, या उस प्रत्याशित सीमा तक क्रियान्वित नहीं किए गए, तो इसके लिए एकमात्र कार्यपालिका और विधानमण्डल ही दोषी हैं।

उदाहरण के लिए हम अनुच्छेद ४५ में निहित निदेशक सिद्धान्त को ले सकते हैं, जिसके अनुसार, "राज्य इस संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की अवधि के अंदर, १४ वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा।" हम देखते हैं कि हमारे राज्य उत्तर प्रदेश में, किसी भी आयु तक के बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के लिए अभी तक, पहला पग भी नहीं उठाया गया। निस्सन्देह, एक निश्चित स्तर तक के बालकों को फीस की छूट दे दी गई है। परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। इसमें केवल वही बच्चे सम्मिलित हैं जिनके माता-पिता उन्हें ऐसे स्कूलों में भेजने के लिए बाध्य होते हैं, जो जाने योग्य आयु वाले सभी बच्चों को प्रवेश नहीं दे पाते, जिनमें अधिकांशतः शिक्षण-सामग्री की समुचित व्यवस्था नहीं होती, जिनके भवन भी ठीक ढंग के नहीं होते और जहां शिक्षकों का अभाव होता है। इस अनुच्छेद के निदेशों को क्रियान्वित करने के लिए राज्य द्वारा स्थापित स्कूलों के विपरीत ऐसे स्कूल हैं, जिनका प्रबंध-संचालन निजी संस्थाएं या व्यक्ति करते हैं। ये स्कूल उन बच्चों के लिए सभी प्रकार की आधुनिक शैक्षणिक सुविधाओं की व्यवस्था करते हैं, जिनके अभिभावक साधन-संपन्न हैं। परिणामतः एक ओर तो निर्धनों के बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूलों का अभाव है और दूसरी ओर समृद्धिशालियों के बच्चे ऐसे स्कूलों में शिक्षा पा रहे हैं जहां आधुनिक शिक्षा की सभी प्रकार की सुविधाएं विद्यमान हैं। संविधान के अनुच्छेद ४५ के उपबन्धों के बावजूद जिनके अंतर्गत दस वर्ष के अंदर सभी बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई थी और जो अवधि कब की समाप्त हो चुकी है, इस प्रकार की स्थिति है।

संविधान का दूसरा निदेश जो हमारी राष्ट्रीय एकता से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है, संविधान के अनुच्छेद ३५१ में निहित है। यह अनुच्छेद भी निदेश के रूप में है हालांकि यह उस अध्याय में नहीं है। इसके अनुसार हिन्दी भाषा का प्रसार और विकास राज्य का दायित्व है ताकि यह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके। भारत सरकार ने इस दिशा में बहुत कुछ किया है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सरकार ने हिन्दी भाषा का इस सीमा तक विकास कर लिया है कि यह देश के सभी लोगों के लिए अभिव्यक्ति का सामान्य माध्यम बन सके। यह कहना असंगत न होगा कि अनुच्छेद ३५१ के अनुसार हिन्दी का रूप, शैली और अभिव्यक्ति मुख्यतः हिन्दुस्तानी होंगे और इसके शब्दकोश का स्रोत भी मुख्यतः संस्कृत होगी। इसका कारण यह है कि संस्कृत वह मूल भाषा है जहां से भारत की अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ है। इस अनुच्छेद द्वारा हिन्दी की समृद्धि के लिए अन्य क्षेत्रीय भाषाओं से शब्द-ग्रहण का बहिष्कार नहीं किया गया। अगर उपर्युक्त अनुच्छेद में निर्धारित रूपरेखा के अनुसार हिन्दी का विकास किया जाए, तो यह भारत के सभी भागों को सरलता से स्वीकार्य होगी। परन्तु क्या हिन्दी के विकास के लिए अब तक संपन्न सभी प्रयासों में इन सब निदेशों को ध्यान में रखा गया है? अब तक हिन्दी का जिस प्रकार विकास किया गया है, उससे तो यह पता चलता है कि दैनिक प्रयोग के शब्दों के स्थान पर ऐसे नए-नए शब्द भर दिए गए हैं जो किसी भी क्षेत्रीय भाषा में लोकप्रिय नहीं हैं। परिणामतः आज की हिन्दी सभी क्षेत्रों के लिए, जिनमें तथाकथित हिन्दी-भाषी क्षेत्र भी सम्मिलित हैं, अजनबी सिद्ध हो रही है।

ये केवल दो उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि संविधान की भावना को कार्य रूप में परिणत करने में राज्य असफल रहा है। समृद्धिशालियों और अकिंचनों की आयों में भीषण असमानताएं, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों में धनियों के और अधिक धनी होने तथा निर्धनों के और अधिक निर्धन होने की प्रवृत्ति जिसे अनेक बार स्वयं सरकारी अधिकारियों ने भी स्वीकार किया है, गिने-चुने संपत्तिशालियों के हाथों में भौतिक साधनों के संकेन्द्रण की प्रवृत्ति, दिन-ब-दिन बढ़ती कीमतों

और गिरती आयों के कारण पोषण-स्तरों में निरन्तर गिरावट की प्रवृत्ति—ये और अन्य सभी प्रवृत्तियां इस बात की परिचायक हैं कि जिन लोगों के कंधों पर संविधान के लक्ष्यों को मूर्त्त रूप देने का महान् दायित्व है, वे सामान्य जनता को वे लाभ नहीं पहुंचा पाए, जिनकी संविधान-निर्माताओं ने कल्पना की थी।

इस संदर्भ में जिस एक बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती, वह यह है कि एक ही राजनीतिक दल अर्थात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, न केवल हमें संविधान देने के लिए मुख्यतः उत्तरदायी था बल्कि जब से संविधान प्रारम्भ हुआ है वह केन्द्र में तथा लगभग सभी राज्यों में सत्ता ग्रहण किए हुए है। इसलिए अब तक जो कुछ हुआ है या होने से रह गया है, उसके दायित्व से यह मुक्त नहीं हो सकता। इसने समाजवादी नीति को स्वीकार किया है। सिद्धान्त के रूप में समाजवाद का चाहे जो भी अर्थ हो, संविधान के चौथे भाग में निहित निदेशों का समाजवादी आदर्श से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। तथ्य तो यह है कि ये निदेश समाजवादी सिद्धान्त के विभिन्न व्यावहारिक पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। संविधान के उपबन्धों को दृष्टिगत न भी रखें तो भी कांग्रेस दल को अपनी प्रशासनिक और विधान संबंधी नीतियों में इन आदर्शों का अनुसरण करना चाहिए। संविधान में इन नीतियों का वर्णन तो इनके क्रियान्वयन के लिए हमें और भी उत्तरदायी बना देता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कांग्रेस सरकारों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। देश की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। देश की एकता को नष्ट करने वाले और इसे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त करने वाले विघटनकारी तत्त्वों का प्रादुर्भाव हो रहा था; पाकिस्तान के निर्माण द्वारा देश दो राष्ट्रों में विभाजित हो चुका था। कांग्रेस दल के नेताओं को, जिन्हें देश के शासन का दायित्व वहन करना था, प्रशासन का कोई अनुभव नहीं था और परिणामतः परामर्श के लिए उन्हें स्थायी सेवाओं पर निर्भर करना पड़ा और फिर उन्हें अज्ञानी और अशिक्षित जन-समुदाय के लिए भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा की समुचित व्यवस्था द्वारा उसे एक लोकतंत्री, आत्मनिर्भर तथा उत्तरदायी राष्ट्र में परिणत करना था। स्वभावतः इन सब समस्याओं का सफल समाधान धीरे-धीरे ही संभव था, विशेषतः जब कि हमारे देश को यह सब कार्य बिल्कुल नए सिरे से प्रारम्भ करना था।

परन्तु समय के गुजरने के साथ-साथ और मित्र देशों की विदेशी सहायता के परिणामस्वरूप लगभग सभी प्रारम्भिक कठिनाइयां विलुप्त हो चुकी हैं। भारत समृद्धि की दिशा में पग बढ़ा रहा है। आत्म-निर्भर अर्थ-व्यवस्था के लिए आधार तैयार हो चुका है। अब आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी नीतियों का पुनरभिनवीकरण और पुनर्निर्माण करें ताकि आर्थिक विकास के लाभ समाज के सभी वर्गों तक पहुंच सकें। मुख्य भाग निर्धन वर्गों को मिले ताकि वे संविधान-निर्माताओं की इच्छा के अनुरूप सुविधाओं और अधिकारों का अधिकाधिक उपभोग कर सकें। अगर यह सब न हुआ तो जनता को केवल इस भावना से संतोष नहीं हो सकता कि वह एक स्वतंत्र, प्रभुसत्तात्मक, लोकतन्त्री गणराज्य की नागरिक है। सांविधानिक प्रत्याभूतियों तथा घोषणाओं और संविधान द्वारा प्रदत्त संसदीय लोकतंत्र के प्रति भी उसकी आस्था डगमगा जाएगी।

इस प्रकार, कांग्रेस के कंधों पर महान् दायित्व है। इसने राष्ट्र को स्वतन्त्रता दिलाई है, इसने उसे एक संविधान प्रदान किया है जिसने जनता के हृदयों में ऊंची-ऊंची आशाएं पैदा की हैं। एक परतंत्र राष्ट्र से स्वतंत्र राष्ट्र की ओर अग्रसर होने की अवधि में आने वाली प्रारंभिक बाधाओं से इसने देश को मुक्ति दिलाई है। परन्तु स्वतंत्रता और सांविधानिक सरकार के फल अभी तक सामान्य जन तक नहीं पहुंचे और वह चिर काल से तृषित है। यह तभी संभव है अगर विधान, कराधान, उद्योग, व्यापार और वाणिज्य के विनियमन के क्षेत्र में तथा दैनिक कार्यकारिणी के क्रिया-कलाप में, भारत के संविधान की भूमिका तथा राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों में अंतर्हित मार्ग-दर्शक तत्त्वों का, न्यायालयों द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्तों की प्रवर्त्तन-बाध्यता न होने पर भी सच्चे अर्थों में पालन किया जाए। तभी हम कह सकते हैं कि संविधान का सही अर्थों में पालन किया जा रहा है।
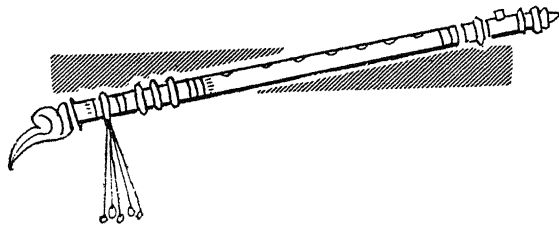
चतुर्थ खण्ड

साहित्य

समाजवाद और साहित्यकार

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, एम० ए०, पी-एच० डी०
दिल्ली विश्वविद्यालय ।

समाजवाद का जयघोष इधर पिछले चार-पांच वर्षों से बहुत अधिक सुना जा रहा है। सन् १९६३ में जयपुर में कांग्रेस-कार्यकारिणी ने इसकी व्याख्या प्रस्तुत की थी और भुवनेश्वर कांग्रेस अधिवेशन में बड़े विस्तार के साथ इसका प्रस्ताव तैयार हुआ, जो सर्वसम्मति से पारित किया गया। जिन नेताओं ने इसके पक्ष-विपक्ष में भाषण दिए वे भी सभी अन्त में इस परिणाम पर पहुंचे कि लोकतांत्रिक शासन-पद्धति को सुदृढ़ और सफल बनाने के लिए समाजवाद ही एकमात्र मार्ग है और इस मार्ग को जितना अधिक व्यावहारिक रूप देकर अपनाया जायगा, उतना ही देश का कल्याण होगा। कल्याण शब्द मैं सुख, समृद्धि और समानता के लिए प्रयुक्त कर रहा हूं। किन्तु समाजवाद की पूर्ण एवं अनवद्य परिभाषा किसी नेता ने नहीं दी। व्याख्या और परिभाषा में बड़ा अन्तर है। व्याख्या तो अति विस्तार से हुई, किन्तु परिभाषा जो इसे एक लक्षण में बांध पाती, तैयार नहीं हो सकी। राष्ट्रनेता नेहरूजी ने तो समाजवाद की परिभाषा के बारे में स्पष्ट कह दिया था कि "मैं कट्टर सिद्धांतवादी नहीं होना चाहता। देश आज कट्टरपंथी समाजवाद को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं है।" समाजवाद का अर्थ सब व्यक्तियों के लिए समान नहीं हो सकता। यही कारण है कि समाजवाद के स्वरूप और परिभाषा पर नेताओं में वाद-विवाद होता रहा है।

आज साहित्य और साहित्यकार के सन्दर्भ में समाजवाद की स्वीकृति का प्रश्न उठाया जाता है। प्रश्न यह है कि साहित्यकार किस रूप में इस समस्या को ग्रहण करे और समाजवाद की व्याख्या किन मूल्यों और मानदंडों के आधार पर करे? मैं इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व एक बात स्पष्ट करना चाहता हूं। समाजवाद का मूलाधार मानवीय समानता है। मनुष्य-मनुष्य में अन्तर न मानकर सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं को मिटाना ही समाजवाद का ध्येय है। यदि इन दो तत्त्वों को समाजवाद का मूल माना जाए, तो हम देखेंगे कि साहित्य में इनकी स्थापना जितने आग्रह और आदर के साथ होती है, उतनी अन्यत्र नहीं होती। राजनीति, धर्म और सम्प्रदायों में समाजवाद उतने सम्मान के साथ स्थान नहीं पाता जितना साहित्य में पाता है। साहित्य किसी जाति, वर्ग, समुदाय या बैंक की सम्पत्ति नहीं है। साहित्य पर एकाधिकार का प्रश्न बीसवीं शताब्दी में उत्पन्न ही नहीं होता। कहते हैं कि एक जमाना था जब शिक्षा और साहित्य को भी एक वर्ग-विशेष ने अपने बक्सों में बन्द कर लिया था। स्त्री और शूद्र को वेद-शास्त्र के अध्ययन से वंचित रखा गया था, किन्तु आज इस प्रकार की कोई सम्भावना नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में आज एकाधिकार का प्रश्न नहीं रहा है। भारतवर्ष में प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के विकास के मूल में यही भावना थी कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति या वर्ग का क्यों न हो, अभिव्यक्ति का समानाधिकार प्राप्त करने का अधिकारी बने। बिना किताबी या स्कूली शिक्षा के भी साहित्य-सर्जन का समान अवसर नाथपंथियों और सन्तों को मिला था। कबीर, रैदास, दादू और मीरा के शिक्षाभ्यास का कोई प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु साहित्य-सर्जन के क्षेत्र में उनकी देन अनुपम ही मानी जाती है।

समाजवाद मानवीय चेतना जाग्रत करने के आन्दोलन का ही एक अंग स्वीकार किया जाता है। प्रत्येक मानव को समान अवसर देकर उसके विकास का प्रयास ही समाजवाद है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए, तो आप देखेंगे कि मानवीय चेतना जाग्रत करने का सब से अधिक दायित्व साहित्य और साहित्यकार पर है। मानवीय चेतना केवल समान अवसर या समान अधिकार प्राप्त होने से ही जाग्रत हो सकेगी, यह कहना अधिक युक्तिसंगत नहीं है। मानवीय चेतना जाग्रत करने में शिक्षा, संस्कार, बुद्धि, विद्या, विचार और भाव का सब से बड़ा हाथ होता है। यह एक ऐसा मुख्य कार्य है जो विचार और बुद्धि के धरातल पर ही पहले सम्पन्न होना चाहिए। मानव की चेतना को उद्बुद्ध करने में साहित्य जो काम कर सकता है वह किसी अर्थनीति, समाजनीति या देशनीति से सम्भव नहीं है। अतः समाजवाद के मूल उद्देश्य की पूर्ति

साहित्य के माध्यम से ही अधिक सम्भव प्रतीत होती है। यदि साहित्यकार अपनी कृति में मानवीय अधिकारों का वर्णन कर पाठक के मन में चेतना जाग्रत कर सके, तो मैं समझता हूं कि समाजवाद की मूलभूत धारणा के प्रचार में वह नेताओं से कहीं अधिक सफल हो सकेगा।

साहित्यकार की दृष्टि समाजवाद के राजनीतिक पहलू पर न होकर उसके तात्त्विक फलितार्थ पर होती है, अतः उसकी कृति में मानव-विकास की सम्भावनाओं को ही स्वीकृति मिलेगी ; किसी छोटी-मोटी आर्थिक उपलब्धि तक वह अपने को सीमित नहीं बनाएगा। जाति या वर्ग के आधार पर किसी को अयोग्य ठहरा देना साहित्य का धर्म नहीं है। राष्ट्र या राष्ट्रनीति का भले ही यह धर्म हो, किन्तु साहित्य इस संकीर्णता से बहुत ऊपर है। धनी और निर्धन के लिए साहित्य में भेद-बुद्धि दृष्टिगत नहीं होती। यदि समाजवाद को व्यापक धरातल पर व्यावहारिक रूप देना हो, तो मैं समझता हूं कि साहित्य और साहित्यकार को इसमें सब से अधिक उपयोगी मानना चाहिए। प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में समाज की विषमताओं का उद्‌घाटन करने के बाद जिस मर्म-व्यथा को पाठक के अन्तर्मन में पैदा किया वह समाजवाद की प्रेरणा में किसी भी प्रस्ताव से अधिक सहायक है।

भुवनेश्वर कांग्रेस-अधिवेशन में जिन पक्षों पर बल देकर व्यावहारिक समाजवाद का प्रस्ताव गठित हुआ उनकी चर्चा भी मैं इस प्रसंग में आवश्यक समझता हूं। समाजवाद शब्द का प्रयोग दो प्रकार की आर्थिक पद्धतियों के सन्दर्भ में आता है। मार्क्सवादी समाजवाद में कम्यूनिस्टों का विश्वास है। मार्क्सवादी समाजवाद में उत्पादन-साधनों पर राज्य का स्वामित्व या अधिकार माना जाता है। राज्य का स्वत्व होने पर कल्पना तो यही की जाती है कि समाज में वर्ग-भेद नहीं रहेगा। किन्तु व्यवहार में देखा यह गया है कि राजनीतिक तानाशाही पैदा हो जाती है और राज्य में पदाधिकारियों का उच्च वर्ग खड़ा हो जाता है। पार्टी के संचालक सत्ता को अपने हाथ में लेकर अपनी प्रभु-सत्ता का प्रकारान्तर से उपयोग करने लगते हैं। पार्टी और सरकारी प्रभाववाले अधिकारियों का शासन वर्ग-भेद की सृष्टि कर देता है। दूसरे प्रकार का समाजवाद लोकतंत्रात्मक कहलाता है। इस लोकतंत्रात्मक समाजवाद की स्थापना का मूलाधार विषमताओं को उत्तरोत्तर न्यून करने और व्यापारिक संस्थाओं पर सरकारी सत्ता या अधिकार स्थापित करना होता है। इस प्रकार की पद्धति में समानाधिकार के लिए अधिक अवसर है। भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस दूसरे प्रकार के समाजवाद को ही स्वीकार किया है।

समाजवाद की स्थापना के लिए किसी शासनतन्त्र को काम में लाया जाए और उसे जबरदस्ती जनता पर लागू कर दिया जाए, यह सम्भावना भी नहीं दीखती। अतः हमें लोकतांत्रितक आदर्शों को अक्षुण्ण रखते हुए ही समाजवादी सिद्धांतों को लाना चाहिए। यदि हम बल-प्रयोग की पद्धति से समाजवाद के प्रसार का उपक्रम करेंगे तो उद्देश्य की सार्थकता ही नष्ट हो जाएगी। अतः हमें नैतिक आग्रह के आधार पर समाजवादी विचारधारा को फैलाना चाहिए। जब हम नैतिक मूल्यों की कसौटी पर समाजवाद को परख लेंगे, तब उसे स्वीकार करने में भय नहीं होगा। शिक्षा के द्वारा हम जनता में यथार्थ रूप से समाजवाद की भावना जाग्रत करें और प्रत्येक व्यक्ति को यह समझने का पूरा-पूरा मौका दें कि समाजवाद कोरी राजनीति का दांव-पेच न होकर व्यक्ति के उत्थान का मार्ग है। हमें यह स्पष्ट करना चाहिए कि समाजवाद किसी वर्ग की कल्पना को प्रश्रय नहीं देता वरन् इसके मूल में सच्चा अद्वैत व्यापार है। साहित्यकार इस सामाजिक अद्वैत को अपनी कला से स्पष्ट करने में सहायक हो सकता है। यदि आस्तिक दृष्टि से हम इस समस्या पर विचार करें तो इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि परमात्मा ने मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई अन्तर नहीं रखा है—उसकी रचना में सब समान हैं, किन्तु मनुष्य ने स्वयं अपनी बुद्धि से भेद की अनेकानेक दीवारें खड़ी कर ली हैं। इस भेद-बुद्धि को निकालने और मानवात्मा को समान सिद्ध करने में सब से बड़ा योगदान साहित्यकार ही कर सकता है। और इस प्रकार वह मौलिक समाजवाद की प्रतिष्ठा में सहायक हो सकता है।

इस समय भारतवर्ष में सब से अधिक विषमता का वातावरण शिक्षा के क्षेत्र में दृष्टिगत होता है। पब्लिक स्कूल के नाम से जो संस्थाएं हमारे देश में खुलती जा रही हैं, उनके द्वारा केवल शिक्षा-स्तर का ही वैषम्य नहीं होता, वरन् गरीब और अमीर की खाई दिनोंदिन स्पष्ट रूप से बढ़ती जा रही है। श्री जगजीवनराम तथा श्री कृपलानीजी ने इस प्रकार की संस्थाओं का विरोध करते हुए अनेक बार कहा है कि जब तक देश में सवर्णों की शिक्षा का पृथक् प्रबन्ध बना रहेगा, तब तक सच्चा समाजवाद देश में नहीं पनप सकता। वस्तुतः मानव को जन्म के आधार पर शिक्षा का अधिकारी या अनधिकारी सिद्ध करना अत्यन्त घातक है।

समान अवसर और समान अधिकार ही समाजवाद के आधार-स्तम्भ हैं। यह समझना भ्रामक है कि समान अवसर देने से प्रोत्साहन का अभाव होगा और कोई भी उद्यम के प्रति उतना सचेष्ट नहीं रहेगा जितना कि वह आज अवसर बनाने या निकालने के लिए करता है। समान अवसर से हमारा तात्पर्य यही है कि जाति, वर्ग, पेशा, जन्म अथवा विरासत के

आधार पर किसी को उपयुक्त अवसर से वंचित न किया जाए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता, क्षमता, कार्य-कुशलता और अध्यवसाय को पूरी तरह आजमाने का अवसर मिलना चाहिए।

समाजवाद के आधार-स्तम्भ समान अवसर और समानाधिकार को मानकर चलने से हम साहित्यकार के लिए इसके प्रसार-प्रचार में योग देने की अनेक सम्भावनाएं पाते हैं। मानव-विकास की दिशा में सब से बड़ा प्रयत्न साहित्यकार ही करता है। वह बौद्धिक धरातल पर जीवन-स्पृहा को स्पष्ट करता हुआ घृणा, क्रोध, हिंसा, द्वेष, वैषम्य, विरोध, स्तेय, लोभ आदि प्रवृत्तियों पर शासन करना सिखाता है। यदि साहित्यकार अपने सर्जन में समाजवाद के मूल उद्देश्यों को समाविष्ट करता है तो वह किसी नेता से छोटा सिद्ध नहीं होगा। साहित्यकार की देन राजनीतिक नेता से कहीं बड़ी और फलप्रद सिद्ध होगी। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के बाद सब से अधिक महत्त्व राजनीतिक नेताओं को प्राप्त होने लगा है। राजनीति में सक्रिय रह कर देश की भौतिक समस्याओं को सुलझाने का दावा करने वाले राजनीतिक व्यक्ति अपने कार्य-कलाप को अन्य क्षेत्रों के व्यक्तियों से श्रेष्ठतर और उच्चतर समझने लगे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह स्थिति एक अंश में सही है किन्तु पूर्णांश में इसे स्वीकार करने से राष्ट्र की आत्मा को बल नहीं मिलता। जब तक बौद्धिक वर्ग को राष्ट्र के कर्णधार होने का सुयोग नहीं मिलेगा, तब तक न तो सच्चा समाजवाद ही स्थापित हो सकेगा और न राष्ट्रोत्थान की सर्वांग पूर्ण कल्पना को ही हम चरितार्थ कर सकेंगे। अतः आवश्यकता है कि हम बौद्धिक शक्ति के प्रतीक साहित्यकारों को समाजवाद के मार्ग पर आने का अवसर दें और उनकी सशक्त लेखनी द्वारा यथार्थ समाजवाद के विकसित होने का मौका दें। सच्चा और सही समाजवाद साहित्य के माध्यम से ही प्रतिष्ठित होगा राजनीति से नहीं।

साहित्यिक रूढ़ियां और वैज्ञानिक तथ्य

श्री देवीशंकर मिश्र 'अमर'
एम० एस-सी०, एम० ए०, साहित्यरत्न ।

साहित्य में अनेक मान्यतायें हैं जो वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं। मान्यतायें परम्परागत रूप में अपने मूल अथवा कुछ विकृत स्वरूप में चली आ रही हैं, परन्तु उनके वैज्ञानिक आधारों को हम भूल गये हैं। आवश्यकता आज इस बात की है कि अपने ज्ञान को सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाने के लिए हम उन मान्यताओं की सूक्ष्म परीक्षा करें और यदि उनमें कुछ विकृति आ गयी है तो उसे दूर कर सत्य के ठोस धरातल पर उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करें। एक बहुत ही साधारण उदाहरण लीजिये—हिन्दी काव्य में जहां भी कोकिल के कल-कूजन की बात कही गयी है वहां उसे नारी माना गया और 'गाती है' लिखा गया है। वास्तविकता इसके विपरीत है। कोकिल का जो 'कुहू-कुहू' शब्द हमारे साहित्यकार सुनते हैं वह नारी कोकिल का नहीं वरन् नर कोकिल का होता है। पक्षी अन्य प्राणियों से इस बात में भिन्न हैं कि जहां अधिकांश प्राणियों में स्वर तथा स्वरूप का आकर्षण नर की अपेक्षा नारी में अधिक होता है वहां पक्षियों में यह आकर्षण नारी की अपेक्षा नर में अधिक होता है। गौरेया में नारी की अपेक्षा नर के रंग अधिक चटकीले होते हैं और उसकी आंखों में काजल भी लगा होता है; सुन्दर चन्द्र-चित्रित पंख मयूर में होते हैं, मयूरी में नहीं और उन्हें फैलाकर मन्द गति से नृत्य भी नर की ही विशेषता होती है नारी की नहीं; यही बात कोकिल के स्वर के सम्बन्ध में भी सत्य है। संस्कृत साहित्य के कवियों में नर कोकिल को ही गाते हुए लिखा भी है, उदाहरण के लिए :

'समुद्गिरसि किं वाचः पुंस्कोकिल सुकोमलाः ।'

—शार्ङ्गधर, शार्ङ्गधरपद्धतिः, ८३९

× × ×

'पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः ।'

—कालिदास, ऋतुसंहारम्, ६।१६

× × ×

'चूतांकुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।'

—कालिदास, कुमारसंभवम्, ३।३२

हिन्दी साहित्यकारों ने मधुर कूजन का साथ नर कोकिल के स्थान पर नारी कोकिल के साथ सम्भवतः इसलिये कर दिया, क्योंकि उन्हें नायक नहीं वरन् नायिका के कण्ठ की मिठास का वर्णन 'पिकबैनी' कह कर करना अभिप्रेत था।

भृङ्गी-कीट-न्याय

एक साहित्यिक मान्यता यह है कि भृंगी झींगुर (झिल्ली) को पकड़ ले जाती है। अपने बिल में ले जाकर वह उसके कानों में नित्य भनभनाती है। परिणामस्वरूप झींगुर का रूप परिवर्तन होने लगता है और कुछ ही समय में वह भृंगी का रूप ले लेता है। उपमा इस न्याय की उस स्थान पर दी जाती है जहां कोई व्यक्ति किसी के कान फूंक-फूंक कर उसे स्वभाव में बिलकुल अपने सरीखा बना लेता है अथवा उसे इस लगन के साथ दीक्षित करता है कि वह भी उसीके समान गुणों से युक्त हो जाये, उसी का दूसरा प्रतिरूप हो जाये।

वैज्ञानिक तथ्य यह है कि भृंगी, ततैया तथा मधुमक्खी की ही भांति, एक कलापक्षयुक्त (झिल्ली-सरीखे पतले पंखों से युक्त) कीट है जो रंग में लौहनील होता है। इसकी नारी अण्डे रखती है, अण्डों से इल्लियां निकलती हैं जो बहुत ही नन्हीं-नन्हीं तथा आकार-प्रकार में अपने माता-पिता से उसी प्रकार बिल्कुल भिन्न होती हैं जिस प्रकार पत्तियों के बीच पाया जाने वाला भंगरा अपनी जननी तितली (चित्रपतंग) से। ये इल्लियां अतिभक्षी होती हैं, जो निरन्तर आहार करती रहती हैं, और फिर रूपान्तरित होकर वयस्क कीट का आकार ले लेती हैं। प्रत्येक इल्ली को उसकी आवश्यक-

तानुसार आहार पहुंचाना नारी कीट के लिये सम्भव नहीं होता, इसलिए वह करती यह है कि प्रजनन काल में झींगुरों की खोज में निकलती है। किसी भी झींगुर को देखते ही वह उस पर सीधी झपटती है और अपने उदर के अन्तिम सिरे पर उपस्थित डंक द्वारा उसके केन्द्रीय नाड़ी मण्डल को आक्रान्त कर संज्ञाशून्य कर देती है। परिणामस्वरूप झींगुर की सारी चेष्टायें शान्त हो जाती हैं। परन्तु वह मरता नहीं। जिस प्रकार एक संज्ञाशून्य मनुष्य बिना खाये-पिये तब तक जीवित पड़ा रहेगा जब तक कि उसकी सारी शक्तियां क्षीण न पड़ जायें, उसी प्रकार झींगुर भी निस्पन्द पड़ा रहता है, कई दिनों तक भृंगी द्वारा प्रेषित नाड़ीविष के प्रभाव से।

भृंगी इस चेष्टाहीन परन्तु जीवित झींगुर को अपने द्वारा बनाये गये एक बिल में उठा ले जाती है और उदर के अन्त में उपस्थित डिम्बप्रस्थापक नामक संरचना की सहायता से उसके शरीर के भीतर एक या दो अण्डे रख देती है। बिल को मिट्टी से बन्द कर देने के बाद वह निश्चिन्त हो जाती है, क्योंकि अण्डे से फूट कर निकलनेवाली इल्ली के भोजन का प्रबन्ध हो ही चुका है।

झींगर के शरीर के भीतर उपस्थित अण्डा फूटता है और उसमें से नन्हीं सी इल्ली बाहर निकल आती है। यह संज्ञाहीन झींगुर के शरीर का मांस खा-खा कर पुष्ट होती तथा बढ़ती है और जब रूपान्तरित होकर वयस्क कीट का रूप ले लेती है तो झींगुर के शरीर के बाहरी खोल को तोड़ कर उससे बाहर निकल आती है और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के लिए चल देती है। झींगुर के शरीर का रत्ती-रत्ती मांस वह अपने वर्धन की अवस्था में ही समाप्त कर चुकी है।

प्राचीन अध्येताओं ने झींगुर को पकड़ कर ले जाती हुई भृंगी को देखा और सम्भवतः भृंगी के बिल में बिना सड़े पड़े हुए झींगुर पर भी बराबर दृष्टि रखी। अन्त में जब उन्होंने झींगुर के खोल में से धीरे-धीरे विकसित होकर भृंगी को निकलते हुए देखा तो वे जिस निष्कर्ष पर पहुंचे वह साहित्य में भृंगी-कीट-न्याय की उत्पत्ति का कारण बना।

काक की कुटुम्बवत्सलता

काक के साथ कवियों ने जहां अन्य अनेक मान्यतायें जोड़ रखी हैं वहां उसे कुटुम्बवत्सल भी कहा है और उसकी कुटुम्बवत्सलता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। शार्ङ्गधर (शार्ङ्गधरपद्धतिः, ८८०) के शब्दों में—

'गात्रं ते मलिनं तथा श्रवणयोरुद्वेगकृत्केङ्कृतं,
भक्ष्यं सर्वमपि स्वभावचपलं दुश्चेष्टितं ते सदा।
एतैर्वायस संगतोऽस्यविनयैर्दोषैरसंभिः परं,
यत्र कुटुम्बवत्सलमतिस्तेनैव धन्यो भवान् ॥'

काक अपने शिशुओं की सुरक्षा के हेतु कितना सतर्क रहता है, यह इसी बात से स्पष्ट हो जायगा कि उसका नीड़ एक क्षण के लिये भी अरक्षित नहीं छोड़ा जाता। नारी काक बराबर अपने शावकों की देख-रेख में लगी रहती है, और जब वह आहार आदि की खोज में बाहर जाती है तो नर काक शावकों के पास बराबर उपस्थित रह कर उनकी देख-रेख किया करता है। यही नहीं, काक दम्पति कोकिल के अण्डों को भी सेते तथा कोकिल-शावकों को भी बड़े ही वात्सल्य के साथ खिला-पिला कर पालते-पोसते हैं—भले ही ऐसा वे उन्हें अपने ही शिशु समझ कर करते हों। इसके विपरीत कोकिल कुटुम्बवत्सलता से कोसों दूर है। वह न केवल अपने ही अण्डों को तथा शावकों की कोई चिन्ता नहीं करती वरन् अपने हितैषी काक के अण्डों को भी स्वार्थवश नष्ट कर देती है। प्राचीन कवियों की सूक्ष्म निरीक्षा से ये सारी बातें बची नहीं, किसी कवि ने कोकिल के लिए कहा भी है :

'पिकस्तावत्कृष्णः परमरुणया पश्यति दृशा
परापत्यद्वेषी स्वसुतमपि नो पालयति यः।'

काक एक आदर्श पति भी है। वह अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करता है। नीड़-निर्माण के दिनों में नारी काक कभी अकेली नहीं देखी जाती। नर काक सदैव उसके साथ रहता है और उसे एक क्षण को भी अपनी दृष्टि से दूर नहीं होने देता। कवियों ने उसके इस दाम्पत्य प्रेम को परिलक्षित करते हुए लिखा भी है 'भ्राम्यन्तः सह भार्यया प्रतिदिशं प्रत्यापगं प्रत्यगं।' नर तथा नारी दोनों मिल कर नीड़-निर्माण के लिये सामान एकत्र करते हैं, फिर नर एक-एक वस्तु उठा कर देता है और नारी नीड़ की रचना करती है। नारी श्रांति का अनुभव न करे इसलिए नर बीच-बीच में उसके पास आ बैठता है और बड़े स्नेह से अपनी चोंच द्वारा उसके शिर में गुदगुदी-सी करता है। नारी लज्जा में डूबी सी उसे हटा देती है और फिर दूने उत्साह के साथ अपने नीड़-निर्माण के कार्य में लग जाती है।

काकोलूकिका

काक और उलूक का स्वाभाविक वैर साहित्य में एक लोकोक्ति बन गया है। काक की प्रकृति होती है कि वह

अन्य पक्षियों के घोंसलों में घुस कर उनके अण्डे नष्ट कर डालता है। उलूक दिन में विश्राम करता है, इसलिए उसके अण्डे नष्ट करने का कौए को पर्याप्त अवसर मिलता है। इधर ब्यूबो (Bubo) जाति के उलूकों का मुख्य आहार काक ही है जिन्हें वे बड़ी निर्दयता से मारते और खाते हैं। यही नहीं, इस जाति के उलूक विशेष कर के काक के अण्डों को भी बड़ी रुचि के साथ खाते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। इस काकोलूकिका के कारण एक ओर उलूक को काकारि, काकभीरु, ध्वांक्षाराति, वायसाराति तथा वायसारि जैसी संज्ञायें दी गयी हैं तथा दूसरी ओर काक को उलूकारि, कौशिकाराति, कौशिकारि, घूकारि तथा पेचकारि जैसे नाम दिये गये हैं।

काक तथा कोकिल का सहज वैर

काक तथा कोकिल का स्वाभाविक वैर भी साहित्य में उसी प्रकार प्रसिद्ध है जिस प्रकार काकोलूकिका। कारण इसका यह कि कौए पीढ़ियों से ऐसा देखते आये हैं कि जिन शावकों को वे बड़े लाड़-प्यार से पाल-पोस कर बड़ा करते हैं उनमें से एक-आध अवश्य जब अपने पंख फैला कर उड़ सकने योग्य हो जाता है तो 'कुहू कुहू' कर उड़ जाता है। वे यह भी अनुभव करते आये हैं कि 'कुहू-कुहू' कर उड़ जाने वाला शावक प्रायः वही पाया गया है जिसकी चपलता, चंचलता तथा चातुर्य पर मुग्ध हो उन्होंने सब से अधिक लाड़-प्यार दिया है, जब कि अन्य शिशुओं को, जो वास्तव में स्वयं उनके अपने शावक थे, न-केवल लाड़-प्यार ही कम मिला है वरन् किसी सीमा तक कुछ थोड़ी-बहुत उपेक्षा भी मिली है। यही नहीं, कोकिल-शावक जब कुछ क्रियाशील हो जाते हैं तो स्वभावतः नीड़ में रखे हुए अन्य अण्डों को नष्ट कर डालते या लुढ़का कर नीचे धरती पर गिरा देते हैं। गिराये जाने वाले अण्डे प्रायः कौए के ही होते हैं जिन्हें नारी काक बाद में रखती है। इतना सब होते हुए भी कौए न तो कोयल के अण्डों को ही अपने अण्डों से अलग पहचान पाते हैं—क्योंकि दोनों लगभग एक ही आकार-प्रकार तथा रंग-रूप के होते हैं—और न अपने तथा कोकिल के शावकों में ही भेद कर पाते हैं, क्योंकि वे दोनों भी उस समय तक बिल्कुल एक-सरीखे ही दीखते हैं जब तक कि कोकिल-शावकों का कण्ठ नहीं फूटता, और कण्ठ फूटने तक कोकिल-शावक अपने पंख फैला स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने के हेतु चल चुके होते हैं। इन सब अनुभवों के आधार पर यदि काक की प्रकृति में कोकिल के प्रति विद्वेष की भावना भर गयी है तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

कोकिल अपने तथा काक के इस सहज वैर-भाव का लाभ उठाता है और उससे अपने अण्डों तथा शावकों का पालन-पोषण करा स्वयं इस उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। काक तथा कोकिल दोनों का ही प्रजनन काल चैत्र से आषाढ़ तक होता है। अण्डे देने के बाद नारी कोकिल अपने नर के साथ कौए के घोंसलों की खोज में चल पड़ती है। नर कोकिल नारी कोकिल से कुछ पहले पहुंच कौओं के घोंसलों के आस-पास 'कुहू-कुहू' का शब्द करता है। कौए नर कोकिल का शब्द सुनते ही झुण्ड-के-झुण्ड उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं; यहां तक कि पास-पड़ोस के वृक्षों पर क्या नर तथा क्या नारी एक भी काक नहीं रह जाता। नर कोकिल कौवों को जितनी भी दूर सम्भव हो सकता है अपने पीछे-पीछे उड़ा ले जाता है। कौओं की अपेक्षा उसका गतिवेग अधिक तेज होता है, इसलिए कौए उसे पकड़ नहीं पाते। नारी कोकिल काक-नीड़ों को सूना पा अपने नीड़ से चोंच में अपना अण्डा दबाये आ पहुंचती है और उसे किसी भी कौए के नीड़ में उसके अण्डों के बीच चुपचाप रख कर उड़ जाती है। एक-एक कर के धीरे-धीरे वह अपने सभी अण्डे विभिन्न काक-नीड़ों में काक के अण्डों के बीच रख आती है और फिर अपने कार्य की परिसमाप्ति पर नर कोकिल को अपने प्रयास की सफलता की सूचना देने के लिए विजय-गर्व के साथ 'कुइल-कुइल-कुइल' का शब्द करती है। नर कोकिल अपनी नारी की सफलता की सूचना पा अपना गतिवेग काफी अधिक बढ़ा कर भाग जाता है और कौए उसे भगा कर अपने नीड़ों को वापस लौट पड़ते हैं। सामान्यतया नारी कोकिल एक काक-नीड़ में अपना एक ही अण्डा रखती है और काक भी गिनती न जानने के कारण पांच और छह का अन्तर समझ नहीं पाते।

बरसत आजु अंगार

कविवर बिहारी का एक दोहा है :

> **बिरह-जरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि कै बार।**
> **अरी, आउ भजि भीतरी, बरसत आजु अंगार।।**

कवि 'परमेश' की भी कुछ ऐसी ही उक्ति है :

> **कहै 'परमेश' चमकत जुगनून चाय**
> **मेरे मन आयी ऐसी उक्ति अनुमान तें।**
> **बिरही दुखारे, तिन पर कूर दईमारे,**
> **मानौं मेघ बरसैं अंगारे आसमान तें।।**

ऊपर दिये हुए दोनों ही उद्धरणों में चमकते हुए जुगनुओं को आसमान से बरसते हुए अंगारे कहा गया है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर, यह कल्पना कुछ उपयुक्त नहीं ठहरती। यदि आप किसी दिन संध्या के धुंधले प्रकाश में उड़ते हुए जुगनुओं को ध्यान से देखें तो आप उन्हें बराबर एक ढंग से उड़ते हुए नहीं पायेंगे। जुगनू जब उड़ते हैं तो कुछ ऊंचाई तक ऊपर उठते हैं और फिर कुछ दूरी तक नीचे गिरते हैं, फिर ऊपर उठते हैं और फिर नीचे गिरते हैं। इस प्रकार उनकी गति बराबर क्रम से ऊपर उठने तथा नीचे गिरने की होती है। उनका प्रकाश-दीप सदैव उसी समय जलता है जब वे ऊपर की ओर उठ रहे होते हैं, उनके नीचे गिरते समय वह बराबर बुझा रहता है। अन्धकारपूर्ण रात्रि में हम जुगनुओं को उनके प्रकाश-दीप के कारण केवल उसी समय देख पाते हैं जब कि वे उड़ते हुए ऊपर की ओर उठ रहे होते हैं, नीचे गिरते समय वे हमें नहीं दिखलाई देते, क्योंकि उस समय उनमें प्रकाश नहीं होता।

ऐसी बात नहीं कि कवियों की सूक्ष्मग्राही दृष्टि से यह वैज्ञानिक तथ्य बच गया हो। 'सिंह' कवि ने ऊपर की ओर उठते हुए जुगनुओं में चिटख कर ऊपर उठती हुई चिनगारियों की कल्पना की है। वह लिखते हैं:

स्याम घटा नाहीं या तौ धून की छटा है छाई,
बीजुरी कहां है ये तौ झारैं उठैं धुर मैं।
गरज कहां है या तौ सोर फटे थम्भन कौ,
जुगनू कहां हैं ये चिनगैं उठैं सु रमैं ॥

कवि श्री रामसहाय ने भी कुछ ऐसी ही कल्पना की है, जब वह लिखते हैं:

ए जीगन न उड़ाहिं री, बिरहजरीहिं जराय।
इत आ री, मदनागि की चिनगारी रहिं छाय ॥

काव्य और संगीत

डॉ० (श्रीमती) उषा गुप्ता
एम० ए०, पी-एच० डी०

यद्यपि ललित कला के अन्तर्गत अमूर्त कला के असीम आकर्षक, मधुर, सुन्दर तथा मनोहर अंग "काव्य और संगीत कलात्मक और रसात्मक होते हुए भी मूलतः एक दूसरे से भिन्न हैं। संगीत में रस की अवतारणा जहां ध्वनि के 'ताल' और 'स्वर' के कलात्मक आरोह और अवरोह के माध्यम से उपस्थित कर दी जाती है, वहीं काव्य में रस की निष्पत्ति शब्दशक्ति के छंदबद्ध कलात्मक संयम से सिद्ध होती है।" तथापि अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्यकला और संगीतकला की पारस्परिक विभिन्नताएं न्यून और महत्त्वहीन हैं तथा उनकी विशेषताओं और गुणों में अत्यधिक समानतायें हैं।

काव्य और संगीत दोनों कलायें स्थिर रूप में एक ही बार नहीं ग्रहण की जा सकतीं। प्रत्येक पंक्ति के साथ कविता का और स्वर के प्रत्येक आरोह तथा अवरोह के साथ संगीत का प्रभाव आगे बढ़ता है।

कवि तथा गायक दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। गायक गाने वाले को कहते हैं। कवि शब्द का धात्वर्थ भी गाने वाला ही है। कवि शब्द 'कु' धातु से सिद्ध होता है जिसका अर्थ ध्वनि करना है। ईश्वर का कवि नाम होने का एक कारण यह भी है कि उसने वेदमंत्र ऋषियों के हृदय में गाकर सुनाये। यही नहीं गायक और कवि दोनों दिव्यमानस-धारी असाधारण व्यक्ति होते हैं।

काव्यकला और संगीतकला दोनों का आधार या संवाहक नाद है। संगीत में नाद का आस्वादन कर्णेन्द्रिय की मध्यस्थता द्वारा संगीत के प्राणरूप सप्तस्वरों द्वारा होता है। काव्य शब्दों का एक विशेष आरोह अवरोह, संगति, संक्रम या तारतम्य है। शब्द एक ओर जहां अर्थ की भावभूमि पर पाठक को ले जाते हैं वहां नाद के द्वारा श्राव्यमूर्त विधान भी करते हैं। काव्यकला का आधार भाषा है, जो नाद का ही विकसित रूप है। अस्तु, काव्य और संगीत दोनों के आस्वादन का माध्यम एक ही है। केवल अन्तर इतना है कि एक का आधार नाद का स्वरव्यंजनात्मक स्वरूप है, दूसरे का आधार नाद का स्वरात्मक आरोह और अवरोह है।

काव्य और संगीत दोनों ही लय पर अवलम्बित हैं। काव्य की रचना छंदों में होती आई है और छंद ही के आधार पर कवि अपने भावों को काव्य का रूप देता है। छंद-लय के ही आधार पर टिका हुआ नाद विधान है। छंद में प्राण निष्ठा करने वाला यही तत्त्व है। छंद और लय एक दूसरे के पूरक हैं। हमारी छंदयोजना ही अपने मूल में लयबद्ध है। नवीन कलाकारों के हाथ में कविता छंद के वर्णों एवं मात्राओं से बंधी हुई नहीं है, वरन् यह उन्मुक्त सरिता की भांति अपने ताल और लय के साथ बहती है। लय ताल ही भारतीय संगीत का भी प्राण है। लय के सहयोग से ताल में विभाजित करने के उपरान्त ही गायक अथवा वादक के पदों या गतों को स्वरों में बांध कर गाया जाता है। प्राचीन युग में छपाई की सुविधा तो थी नहीं। फलस्वरूप संगीतज्ञ स्वरों को लय में बांध कर गाया करते थे और इसी लय के सहारे अपनी स्वरलिपि याद रखा करते थे। कविता भी कविगण लय के सहयोग से स्मरण कर लेते थे। लिखने की प्रथा न होने के कारण उन्हें स्मरण रखने की यही प्रणाली सरल प्रतीत हुई। लय की समानता के कारण ही छंदों में बंधी हुई कविता में जो माधुर्य तथा ओजमयी अनुभूति होती है वही रसानुभूति संगीत के ताल में भी प्रस्फुटित होती है।

भारतीय काव्य तथा संगीत दोनों का विकास प्रकृति की क्रोड़ में हुआ है। प्रकृति का विराट्पट ही दोनों का आश्रयदाता है। कवि वहीं से काव्य के लिए प्रेरणा पाता है और संगीतज्ञ वहीं से संगीत की धुन। प्रकृति के अणु-अणु में अव्यक्त नादाहारी नैसर्गिक सजीव संगीत व्याप्त है। भ्रमरों की गुंजार, पवन का संचरण, पक्षिणों का कलरव, झरने की कलकल आदि मधुर ध्वनियां संगीतज्ञ के संगीत की आधारशिलायें हैं। प्राकृतिक सौंदर्य का रहस्योद्घाटन कर उसके रस में डुबो देना ही साहित्य की सर्वोपरि विशेषता है। प्रकृति अवगुंठनवती है, कवि कौतूहलपूर्ण। इसी कौतूहल-

वृत्ति के कारण कवि प्रकृति की ओर आकर्षित होता है और उसके सौंदर्य पर रीझकर आत्मविभोर हो जाता है। कवि सुधबुध भूलकर उसीके गीत गाने लगता है, प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित मनोभाव काव्य में अपने मुन्दरतम रूप में प्रकट होते हैं। प्रकृतिवर्णन भावों में चार चांद लगा देते हैं। प्रकृति का आधार अनेक कवियों ने लिया है—आदिकवि वाल्मीकि, कालिदास, बाणभट्ट, सूरदास, चंडीदास, वर्ड्सवर्थ आदि सभी ने प्रकृति से प्रेरणा पाई। हमारा दर्शन अरण्यों की देन है। गोकुल में गौएं चराते हमारे कान्हा की भोली छबि पर कवि निछावर हुए हैं। सत्य तो यह है कि प्रकृति से पाये आनन्द, उल्लास तथा कौतूहल को प्रकट करने के लिए ही कवि ने काव्य की एवं संगीतज्ञ नें संगीत की रचना की।

काव्य और संगीत दोनों का सम्बन्ध मस्तिष्क से न होकर हृदय से है। गायक अपने मस्तिष्क से खिलवाड़ नहीं करता, वह तो भावनाओं का बन्दी होकर झूमता जाता है और उसीकी प्रेरणा से राग-विस्तार करता है। कवि भी हृदय की उमड़ती तथा मचलती हुई भावनाओं को ही काव्य का रूप दिया करता है। कविता या किसी प्रकार का साहित्य मस्तिप्क से नहीं टकराया करता। उसका तो स्रोत हृदय है और वहीं से उमड़कर वह काव्य का रूप धारण कर लेता है। अतः काव्य और संगीत यद्यपि मस्तिष्क को भी प्रभावित करते हैं तथापि दोनों ही हृदय से उत्पन्न होते हैं। दोनों ही भाव-प्रधान हैं। हृदय के सुकुमार, भावुक और अन्तरतम से उमड़े हुए उद्गार काव्य और संगीत की छत्रछाया में बिखर पड़ते हैं। जहां एक ओर भावों के सौंदर्य से संगीत खिल उठता है और संगीत के सौंदर्य से भाव वहीं दूसरी ओर भावों को काव्य से अनुपम सौंदर्य मिलता है और भावों के सुन्दर समन्वय से काव्य जगमगा उठता है।

काव्य और संगीत दोनों का ध्येय एक ही है। मनुष्य जीवन का महत्तम ध्येय आनन्द प्राप्त करना है। प्राणी रूप में मनुष्य का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द होता है जो क्षणस्थायी है। किन्तु इसी आनन्द के अनुसन्धान में वह मानसिक और आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि का मार्ग भी प्रस्तुत कर लेता है। यह उसे काव्य तथा संगीत दोनों ही कलाओं द्वारा प्राप्त होता है।

काव्य और संगीत दोनों ही हमें रसानुभूति कराते हैं। दोनों ही सौंदर्य और रमणीयता का सर्जन करते हैं। दोनों ही में हंसाने रुलाने की क्षमता है। दोनों ही शोकसागर में डुबा सकते हैं, उससे उबार सकते हैं। दोनों का उद्देश्य आत्मा को प्रभावित करना है। दोनों का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है और निरन्तर मनुष्य पर पड़ता चला आ रहा है।

काव्य और संगीत की कोमल भावनायें एकमात्र पढ़े लिखे और विद्वानवर्ग तक ही सीमित नहीं हैं। संगीत और काव्य की मार्मिक उक्तियों का प्रभाव शिक्षित तथा अनपढ़ सभी मनुष्यों पर पड़ता है।

काव्य तथा संगीत दोनों को समझने के लिए श्रोता को भी उन्हींके समान भावनाप्रधान होना चाहिए, अन्यथा उसको पूर्णतः रसानुभति न प्राप्त हो सकेगी। अतः दोनों कलाएं सहृदयता सापेक्ष हैं।

काव्य तथा संगीत दोनों ही कलाओं में कलाकार अपनी कला की साधना में ज्यों-ज्यों वृद्धत्व को प्राप्त होता है, त्यों-त्यों उसकी कला यौवनत्व को प्राप्त होती है।

कलाएं तो सभी उत्कृष्ट होती हैं किन्तु प्रायः काव्यकला की श्रेष्ठता पर समालोचकों द्वारा विस्तृत विवेचना तथा समीक्षा की गयी है। संगीत इतना उपेक्षित रहा है कि उसकी श्रेष्ठता का विवेचनात्मक रूप से प्रतिपादन करने का प्रयास ही नहीं हुआ है। किन्तु यदि मननपूर्वक सोचें तो यह ज्ञात होगा कि संगीतकला भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

यह नितान्त सत्य है कि कला एक अखंड अभिव्यक्ति है किन्तु कलाओं के अभिव्यंजक माध्यम अथवा मूर्त आधार की पृथक्ता के फलस्वरूप, अर्थात् जिस कला में मूर्त आधार जितना ही अधिक सूक्ष्म अथवा स्थूल होता है उसका स्तर उसी अनुपात में उच्च अथवा निम्न होता है। काव्यकला शाब्दिक संकेत के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। कवि पद्य लिखे या गद्य, शब्दों का आधार उसे ग्रहण करना ही होता है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्णमाला के गिने चुने अक्षरों का मूर्ताधार अत्यधिक सूक्ष्म है किन्तु संगीतकला में मूर्ताधार सूक्ष्मतम स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। संगीत में कला के संवाहक या आधार स, रे, ग, म, प, ध, नि ये सप्त स्वर हैं। इन सप्त स्वरों का स्वरूप ही कितना होता है। कवि जिस उल्लासभरी मुस्कान अथवा मादक यौवन की मूर्ति को शब्दों के ताने बाने से रचकर संजोता है, उसे संगीतज्ञ एकमात्र अपने स्वर के उतार-चढ़ाव ही से मूर्तिमान कर सजीव बना देता है। भावनाओं के व्यक्तीकरण में कवि जहां शब्दों का आश्रय ग्रहण करता है, वहां संगीतज्ञ को एकमात्र गिने हुए, सन्तुलित और सधे हुए सप्तस्वरों का ही अवलम्ब होता है। कवि सार्थक शब्दों की सहायता से तथा उपयुक्त वातावरण का सहारा लेकर अभीप्ट रूप अथवा रस की सृष्टि करता है जिस प्रक्रिया को काव्यशास्त्र में आलंबन, उद्दीपन इत्यादि के विधान से स्पप्ट किया गया है। किन्तु संगीतज्ञ के लिए न तो अर्थपूर्ण शब्दों का सहारा ही सुलभ रहता है और न वातावरण की सृष्टि का अवसर ही होता है। उसे केवल स्वरों की ध्वनि से ही वातावरण, रस और वांछित अर्थ की भी अवतारणा करनी होती है। स्वरों तथा ध्वनि की उच्चारण प्रक्रिया, स्वरपात एवं स्वरों के कम्पनमात्र से ही संगीतज्ञ कोमलतम भावनाओं के सूक्ष्मतम भेद प्रदर्शित करता है। संगीतज्ञ के

सम्मुख केवल सप्त स्वरों का उतार-चढ़ाव ही है, जब कि कवि के सम्मुख परिपूर्ण सामग्री उपस्थित रहती है। इस पक्ष को लेकर यह कहा जा सकता है कि संगीत कला अधिक श्रेष्ठ कला है।

यों तो कवि बड़ा समर्थ कलाकार होता है। वह अपनी कल्पना के थिरकते पंखों पर बैठकर स्वर्णिम लोक में विचरण करवाता है। किन्तु कवि के लिए एक बन्धन है। उसका प्रभाव उसी व्यक्ति पर पड़ सकता है, जो उसकी भाषा से परिचित हो। किन्तु संगीत इस बन्धन से उन्मुक्त है। यह एक विश्वव्यापी कला है जिसकी सुरम्य तान सृष्टि के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रत्येक को मुग्ध करती है। यहां तक कि रोते हुए अबोध भोले शिशु को चुप कराने में काव्य की सुन्दर, मधुर तथा भावुक उक्तियां काम ही नहीं दे सकतीं। किन्तु संगीत या नाद की ध्वनि पूर्णतया सफल हो जाती है। संगीत के गान भाषा-विशेष के गान न होकर मानव-हृदय के गान होते हैं जिनका प्रभाव नाद के सहारे किसी भी देश के निवासी पर सहज ही पड़ जाता है। वास्तव में जहां शब्दमयी लौकिक भाषा की गति अवरुद्ध हो जाती है, वहां संगीत की दिव्य कला का प्रारम्भ होता है।

मानव चिरकाल से आनन्द तथा सौंदर्य की खोज में लीन रहा है। काव्य तथा संगीत दोनों ही में आनन्द तथा सौंदर्य की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है किन्तु आनन्द की अधिकतम अनुभूति होती है संगीत में। संगीत में जो लोच और माधुर्य है वह हमें सहसा बड़ी शीघ्रता से बाह्य जगत् से खींचकर अन्तर्मुख कर देता है। अन्तरतम सत्ता का दिग्दर्शन कराने में सब से अधिक समर्थ होने के कारण संगीत में आनन्द की अधिकतम अनुभूति होती है और हम चरम आनन्द में लीन होकर अपने अस्तित्व को विस्मृत कर देते हैं।

संगीत का प्रभाव काव्य से अधिक व्यापक, विस्तृत तथा गहरा होता है। यह सत्य है कि काव्य के मार्मिक स्थलों को पढ़ कर नेत्रों से अश्रुकणों की अविरल झड़ी लग जाती है, उत्साहवर्द्धक शब्दों से पराजय जय में परिणत हो जाती है। किंवदन्ती के अनुसार यह भी है कि बिहारी के द्वारा भेजे गए एक दोहे ने नवोढ़ा रानी के रूप-प्रेम-आकर्षण से मुक्त न हो सकने वाले राजा के हृदय को क्षणमात्र में ही परिवर्तित कर दिया। किन्तु क्या काव्य के द्वारा अग्नि प्रज्वलित की जा सकती है, आकाश से वृष्टि की झड़ी लगवायी जा सकती है, पत्थर को जल के रूप में पिघलाया जा सकता है। काव्य के करुणतम तथा सुन्दरतम स्थलों के निरन्तर उच्चारण से भी क्या जंगली हरिणों को वश में किया जा सकता है, मुरझाये वृक्षों में क्या चेतना का पुनः संचार किया जा सकता है? किन्तु प्रसिद्ध जनश्रुतियों के आधार पर यह मान्यता है कि संगीत के द्वारा यह सम्भव किया जा सकता है।

संगीत चाहे निःशब्द हो, अभिधापूर्ण शब्दविहीन हो तो भी उसके गाने अथवा सुनने से भावनाजन्य आनन्द में कोई न्यूनता नहीं आयेगी। एकमात्र ताल तथा स्वर के अस्तित्व पर निर्भर वाद्ययंत्र गीत तथा शब्दों से शून्य होकर भी भावाभिव्यंजना में सफल हो जाते हैं। तराना गाते हुए "तोम दिर दारा त नन" आदि ध्वनियों में भी जब विभिन्न रागों की सृष्टि होती है तब लय और ताल ही के द्वारा उनमें भी श्रोताओं का पूर्ण भावोद्दीपन और रसोद्रेक हो जाता है। अतः संगीत काव्य के अभाव में भी अपना गौरव और महत्त्व घटने नहीं देता, जब कि काव्य संगीत के कुछ तत्त्वों के संयोग के बिना सम्भव नहीं है। संगीत का प्रादुर्भाव तो नाद से हो जाता है किन्तु काव्य का प्रादुर्भाव उस समय होता है जब नाद के आधार पर शब्दरूप भाषा बनती है। अतः काव्य के लिए संगीत का सहयोग अनिवार्य हो जाता है।

यह तो निश्चित है कि संगीत का क्षेत्र कविता की अपेक्षा कम विस्तृत है। जहां काव्य की पहुंच स्थूल, बाह्य और मनुष्य के आन्तरिक जीवन तक होती है, वहां संगीत का क्षेत्र केवल मानव के आन्तरिक जगत् की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित रहता है। संगीत केवल भाव और मानसिक परिस्थितियों को ही प्रकट कर सकता है। काव्य में इसका क्षेत्र विस्तृत रहता है। काव्य बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही दशाओं का वर्णन कर सकता है। विषय की विविधता जैसी काव्य में रहती है, संगीत में नहीं होती। किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आन्तरिक जगत् के अन्तर्द्वन्द्वों के शमन में संगीत अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता। आधार की सूक्ष्मता, आनन्द की विपुलता और सार्वभौमता के कारण संगीत काव्यकला से उत्कृष्ट है।

यह सत्य है कि काव्य और संगीत पृथक्-पृथक् भी सच्चे आनन्द को प्रदान करने वाले हैं। बिना संगीत के काव्य तथा बिना काव्य के उत्कृष्ट कोटि के संगीत का सर्जन हो सकता है किन्तु ऐसी अवस्था में एक के बिना दूसरा अपूर्ण ज्ञात होता है। काव्य तथा संगीत कला अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी अनेक अंशों में अन्योन्याश्रित हैं। अतः दोनों का समन्वय सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर देता है। जहां काव्य और संगीत दोनों मिल कर स्वर्गीय आनन्द प्रदान करते हैं वहां की छटा अनुपम हो जाती है।

श्रेष्ठ काव्य में संगीत का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपने काव्य को सार्वभौमता और माधुर्य गुणों से अलंकृत करने के लिए कवि को संगीत का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है और फिर अनुभूति की तन्मयता में कलाओं का स्वरूप

विभिन्न नहीं रहता। कवि संगीतज्ञ बन जाता है। प्रत्येक शब्द में ध्वनि गूंजने लगती है। अक्षर-अक्षर गुनगुनाने लगते हैं। यही कला का सुन्दरतम रूप है, जहां सौंदर्य अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रस्फुटित होता है। मधुरिमा उसका गुण नहीं अनिवार्य तत्त्व बन जाती है। काव्य और संगीत मौन होकर परस्पर एक दूसरे का आलिंगन करते हैं। सौंदर्य की इस सम्मिलित द्विगुणित नूतन छवि में दोनों एक दूसरे को पहिचान भी नहीं पाते। वस्तुतः काव्य स्वतः संगीत बन जाता है। अतः संगीत को कविता से विलग करना अथवा कविता का संगीतमय रूप नष्ट कर देना उसकी दिव्य शक्ति, आह्लादकारी प्रभाव और अपूर्व महत्त्व को न्यून कर देना है।

ऊपर की गई विवेचना से यह स्पष्ट है कि वही कविता अधिक प्रभावशालिनी तथा हृदयग्राहिणी होती है, जिसमें सौंदर्यमयी चेतना और सुकुमार भाव संगीत का स्वर लहरियों में गुंथ कर आनन्दानुभूति को तीव्र करने वाले हों। कविता को सुन्दरतम रूप में प्रकट करने के लिए संगीत एक अनिवार्य तत्त्व है, इससे सभी कलाकार एकमत हैं। किन्तु यह अनिवार्य रूप से स्मरणीय है कि काव्यत्व और संगीतत्व एक स्तर पर ही स्थित रहें। कवि के सम्मुख कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी आ जाती है जब शब्द और स्वर 'संगीत' में विरोध हो जाता है और संगीत का आधिपत्य कविता की भावाभिव्यंजना में बाधा उत्पन्न करने लगता है। ऐसे समय में कुशल कवि को संगीत के नियमों को तनिक शिथिल कर देना चाहिये, क्योंकि काव्य का प्राथमिक आधार शब्द है स्वर गौण। काव्य में जितना महत्त्व शब्द को दिया जा सकता है, उतना स्वर को नहीं। अतः काव्य और संगीत का समन्वय उस समय तथा उस सीमा तक ही करना चाहिये, जहां तक संगीत के सम्पर्क से काव्य में रमणीयता और सौंदर्य की वृद्धि हो।

पृथ्वीराज रासो की लोकप्रियता तथा चन्द का अभिव्यंजना शिल्प

डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी, एम० ए०, डी० फिल० (कलकत्ता)
रीडर, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

बहुधा यह प्रश्न मन को आन्दोलित किया करता है कि पृथ्वीराज रासो की आखिर वे कौन-सी विशेषतायें हैं, जो उसकी अनैतिहासिकताओं तथा प्रक्षेपों के घटाटोप के बावजूद भी हमारे मन में एक विस्मयजनित कुतूहल तथा अनुराग उत्पन्न किया करती हैं। इतिहासकारों द्वारा एक स्वर से इसे एक परवर्ती ऐतिहासिक जाल ठहराने पर भी इसके प्रति लोकोत्तर आकर्षण की कमी नहीं दिखलाई पड़ती है।

पृथ्वीराज ने अपने जीवन-काल में ही अपने शौर्य, पराक्रम, त्याग, उदारता, आत्मोत्सर्ग आदि की अमिट छाप भारतीय जन-मन पर लगा दी थी। जनरंजनकारी उनकी कथायें लोक में विस्तृत हुईं, जिनमें जनता की रुचि से अभिज्ञ उनके प्रशंसकों ने अपनी तरफ से बहुत कुछ जोड़-तोड़कर उन्हें अतीव रंगीन बना दिया। विश्व-साहित्य में साधारणतः इस प्रकार के प्रमाण सुलभ हैं कि इस लोक को छोड़ने वाले की अपकीर्ति[1] नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार भारतीय जन-मानस में बैठे हुए पृथ्वीराज जब भारत-आक्रमणकारी के मोर्चे पर बलिदान हुए तो स्वभावतः ही वे आदर्श के प्रतीक बने एवं कालांतर में उनकी त्रुटियों को विस्मृत कर के जब ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में जनता की स्मृति होने के कारण अनुरूप और अनुकूल काल्पनिक कथाओं की अवलियां जुड़ गईं तब तो उनकी भाषा निःसन्देह ही अमित-अटूट प्रभावशालिनी बन गई।

रासो के सभा वाले बृहत् संस्करण के अध्येता जानते हैं कि उसमें प्रक्षेपों की स्थिति हम अनुरूप धारणा होने के कारण भले ही स्वीकार करते चलें परन्तु वे निरन्तर हमारी बुद्धि और विवेक को किसी स्थल पर भी असमंजस में नहीं डालते, वरन् कथा की स्वाभाविक सरिता में डुबाते-उमगाते हुए चलते हैं। रासो के मूल रचयिता एवं उसकी कथा कहने की प्रणाली से भरपूर परिचित परवर्ती प्रक्षेपकर्ताओं ने भारतीय प्राचीन परिपाटी तथा पौराणिक एवं महाकाव्य की शैली में जैसा जो कुछ निबद्ध कर के रखा है वह अपनी इस शैली में अति प्रशंसनीय है। पौराणिक व्याख्यानों के साथ-साथ स्वकल्पित ऐतिहासिक आख्यान तथा पृथ्वीराज रासो एवं उनके समसामयिक शासन और उनके सामन्तों द्वारा समय-समय पर उठाई गई विविध जिज्ञासाओं का कवि द्वारा अपूर्व समाधान स्थान-स्थान पर द्रष्टव्य है। अपने युग के अप्रतिम शिरोमणि, उत्तर भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् एवं उनके सामन्तों की जाज्वल्यमान कथा आज भी यदि भारत की क्षत्रिय एवं युद्धप्रिय जातियों को एक आदर्श का मार्ग दिखाती है, तो भारत के इतर जनों से पग-पग पर अपने कलेवर में समाविष्ट वीरता, साहस और उत्सर्ग के दृश्यों के प्रति मौन श्रद्धांजलि दिलाती हुई उन्हें उसके प्रशंसकों की पंक्ति में स्वभावतः ही ला खड़ा करती है। रासो में पृथ्वीराज के विपक्षी विपरीत आचरण करते हुए भी अपने मित्र-समाज में धर्मोपदेश करते देखे जाते हैं।

रासो की एक और बहुत बड़ी विशेषता है कि उसके पात्र राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी, मंत्री-सेनापति, सामन्त-साधारण योद्धा, पुरोहित, ज्योतिषी एवं अन्य चाहे जिस वर्ग, धर्म या जाति के हों, सब अपने-अपने रंग में मदमाते, अपनी-अपनी उमंग के अनुरूप कार्य करते, परिस्थितियों की अवज्ञा करते हुए शक्ति और साहस के साथ निरन्तर आगे बढ़ते चले जाते हैं। विघ्न-बाधाओं का वे रंच मात्र भी भय नहीं मानते, आपत्तियों से हँसी-विनोद करते, विपत्तियों से क्रीड़ा-कौतुक करते, उद्धततापूर्वक अपनी अभिलाषा की पूर्ति हेतु अबाध गति से बढ़ते चले जाते हैं। मानव मन की अनुरंजना

1. Nil nisi bonum. (Do not speak ill of the dead)

हेतु यह आधार कम महत्त्व का नहीं कि वह ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों का चरित्र देखे-सुने जो अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति में उन्मुक्त रूप से अग्रसर होते हैं। वृत्तियों की सुखद मानसिक क्रीड़ा सभी को सुखद लगती है परन्तु बाह्य रूप में अमित उत्साह से अग्रसर होकर अन्ततः सफलता द्वारा उनका अभिषेक होते देखकर किसके चक्षु, विवेक और मन अभिनन्दित न होंगे। रासो का शूरवीर पात्र घटना के पीछे नहीं चलता वरन् घटनायें ही उसकी अनुगामिनी हैं। रासो घटना-प्रधान रचना होकर चरित्र-प्रधान कृति है।

लोक-नायक पृथ्वीराज का चरित्र आदि से अन्त तक बड़ी ही कुशलतापूर्वक संवारा गया है। एक ओर उनके उत्कर्ष के हेतुओं की जहां चर्चा है, वहां कवि ने उनके अपकर्ष हेतुक तत्त्वों का भी समुचित विधान किया है। यही कारण है कि अलंकरण पद्धति का साहचर्य होते हुए भी काव्य की स्वाभाविक धारा में भी आकर्षण है। पृथ्वीराज के आये दिन लगे रहने वाले युद्धों में चाहे वे मृगया-विनोदकालीन युद्ध हों, चाहे बरण-हरण प्रसंगों से सम्बन्धित हों और चाहे देशी-विदेशी विपक्षी के आक्रमण के प्रतिरोध में किये गये युद्ध; रासो में निरन्तर ही सेना की तैयारी और रणांगण में अस्त्र-शस्त्रों की झनकार सुनाई देती है तथा युद्ध की चहल-पहल से रिक्त प्रस्ताव फीका और नीरव प्रतीत होने लगता है। अहर्निशि धर्मरत इन युद्धों के दृश्य श्रोता अथवा पाठक के मन में रासो के नायक के प्रति श्रद्धा एवं संवेदना प्रकट करते हैं। युद्ध की विषम विभीषिका की क्रूरता व उग्रता को कम करने वाले बरण-हरण सम्बन्धी रोमानी प्रसंग अपने लालित्य और आकर्षण की मधुरिमा उसमें भरते चलते हैं। इनके अतिरिक्त विविध वस्तु-वर्णनों की योजना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जिनमें पनघट के कथाचक्र, सरोवर, नदी, सागर, पर्वत आदि के सुरम्य प्रसंग, विविध ऋतुओं के सांगोपांग चित्र एवं मानव पर उनके प्रभावों की योजना, स्वप्न में शुभ और अशुभ दर्शन की यथास्थान चर्चायें; प्रसंगानुकूल शकुन-अपशकुन के उल्लेख; मनोमुग्ध करने वाले अद्भुत कबंध-युद्ध; वीरगति पाने वाले का विभिन्न लोकवास; चिरयौवना अप्सराओं द्वारा हुतात्मा योद्धाओं का वरण; मृतात्माओं का स्वर्गारोहण; देवी-देवताओं द्वारा योद्धाओं को प्रोत्साहन; विविध रीति-रिवाज-संस्कार आदि के उल्लेख तथा पुरातन कथा-सूत्रों, जैसे—शुक, हंस, ब्राह्मण, नट, दूत; वन में अचानक खजाने की प्राप्ति; लिंग-परिवर्तन आदि के सुनियोजित अपूर्व समन्वय द्वारा रासो के लगभग समान युद्धों की नीरसता को न केवल सरसता में परिणत किया गया है वरन् पृथ्वीराज उनके सामन्तों एवं उनके विपक्षियों की प्रधान कथा को भी अपेक्षाकृत लुभावना बना दिया गया है, भले ही कहीं भोजन की सामग्रियों की नामावली सुचारु ढंग से परिगणित कराई जा रही हो और कहीं काव्य-परिपाटी के पोषण में अन्य चर्चायें भी हों।

राजस्थान का शायद ही कोई क्षत्रिय शासक ऐसा हो जिसका पूर्व पुरुष पृथ्वीराज का सामन्त न रहा हो। पृथ्वीराज की सेवा में क्षत्रियों के छत्तीसों वंशों के रहने का उल्लेख रासो के अनेक स्थलों पर है। इस प्रकार पृथ्वीराज के साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, प्रकारांतर अथवा अप्रकारांतर से सम्बन्धित होने के कारण पृथ्वीराज रासो को प्रायः प्रत्येक क्षत्रिय अपना गौरव-ग्रन्थ समझता है, जिसमें उसके पराक्रमी पूर्वजों की गाथा का इतिहास सुरक्षित है तथा वीर गुणों से रंजित एवं साहस, उत्साह, औदार्य, शौर्य आदि के दर्शन से अपनी सहज वृत्तियों को मूर्त पाकर वह इस महाकाव्य की वन्दना करता है। आश्रयदाताओं के स्तुतिपाठक चारण-भट्ट-मागध-वन्दीजन स्वभावतः ही उसमें रस लेते हैं तथा प्राकृतजनों के लोकपरक गुणों से अभिभूत होने वाले प्रायः सभी व्यक्ति उसमें अनौचित्य न देखकर उसके प्रति आकर्षित होते हैं। अपने युग की इस राष्ट्रीय[1] कृति को देश में बदली हुई धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति के कारण भले ही अनुदार लोग जातीय रचना बताने का प्रयास करें, कल्पना और इतिहास पर आश्रित महाकाव्य उत्तर भारत की हिन्दू जनता द्वारा अपने निर्माण काल से ही समादृत होता चला आ रहा है।

चन्द का अभिव्यंजना शिल्प—आनन्द और कीर्ति ही काव्य-रचना के माने हुए प्रयोजन हैं। इस तुला पर बारहवीं शती से वर्तमान काल तक के युग की पुकार-स्वरूप किसी परम्परा या रूढ़ि-विशेष का अनुकरण करते हुए निर्मित हिन्दी-साहित्य की विपुल राशि का अवलोकन कर उस सबको निम्न प्रकारों में भी रखा जा सकता है :

(१) राजा, सामन्तों, बादशाहों, नवाबों, रईसों आदि का अर्थात् प्राकृत जनों का गुण गान।

(२) निर्गुण तथा सगुण सत्ता के प्रति स्वसंवेद्य अथवा परसंवेद्य निवेदन।

(३) जन मन का अनुरंजन, और

(४) लौकिक प्रिय का रंजन।

यह निर्विवाद है कि बाह्य और आभ्यंतरिक वातावरण सदा से ही भावुक हृदयों की प्रेरणा का अनादि स्रोत है

---

१. हिन्दु सेन उप्परै साहि बज्जे रन जंगी।

और वह प्रेरणा ही साहित्य-क्षेत्र में काव्य-प्रसून बन कर विकसित हुई है। कवि-हृदय ने जिस हेतु का लक्ष्य कर के अपने उद्‌गार प्रकट किये उस हेतु के प्रति आकृष्ट होकर उक्त उद्देश्य की पूर्ति में वह तन्मय हो गया। इस तन्मयता का स्तर जैसा कुछ हुआ उसी श्रेणी का अनिर्वचनीय आनन्द उसने पाया और उसीके अनुरूप वह यशस्वी भी हुआ। इसके साथ इतना और ध्यान में रखने योग्य है कि कवियों ने अपने भावों के प्रकटीकरण में अपनी शास्त्रोक्त (काव्य, संगीत आदि कलाओं की) पहुंच के अनुसार ही सफलता प्राप्त की—यह बात दूसरी है कि उनमें से कोई अत्यधिक प्रतिभासम्पन्न और स्वानुभूतियों के अभिव्यक्तीकरण में क्षम धर्मशास्त्र के भी नवीन सूत्र उद्‌घाटित कर गया।

दरबारी कवि के लिए अपेक्षित था कि यह प्रत्युत्पन्नमति, बहुश्रुति, विविध कलाओं और विधाओं का मर्मज्ञ एवं पारखी, वाक्‌पटु, सभाचतुर, शास्त्रवेत्ता तथा विविध परम्पराओं का ज्ञाता हो, क्योंकि उसकी बुद्धि और प्रतिभा की राजदरबार में दैनंदिन परीक्षा ही समझिये। राजा और रनिवास से ही नहीं वरन् राज्य के बड़े-बड़े कुशल पदाधिकारियों, प्रजावर्ग के विभिन्न स्तरीय प्रतिनिधियों, संगीतज्ञों, वास्तु-शिल्प-कलाकारों, वैद्यों, ज्योतिषियों, आचार्यों, अन्य कविगणों तथा बाहरी प्रदेशों और राज्यों से आने जाने वाले राजदूतों आदि से कवि का प्रायः प्रतिदिन साक्षात् ही नहीं वरन् पारस्परिक प्रतिभा की होड़ के अवसर आने की पूरी सम्भावना रहती रही होगी। गुणज्ञ आश्रयदाता और भी अधिक सावधानी तथा सतर्कता बरतने की अज्ञात प्रेरणा देता रहा होगा। राजा के लिए शूरवीर, साहसी, उदार, त्यागी, दानी और धर्मचारी होना आवश्यक ही है।

चन्द बरदाई में यदि दरबारी कवि के गुण थे तो दिल्लीश्वर पृथ्वीराज चौहान तृतीय में वास्तविक आश्रयदाता के। पृथ्वीराज एक ओर जहां अपने शूरत्व और गुणों के कारण एक सौ अमित साहसी सामन्तों के अधिपति होने के अतिरिक्त स्वरूपवान तथा अपने युगानुरूप आकर्षक व्यक्तित्व वाले थे, वहां चन्द भी अपनी विद्या-वुद्धि में निष्णात था। इससे असम्भव नहीं कि वे विद्वान् चौंकें जो पृथ्वीराज के दरबार में चन्द के अस्तित्व पर संशय करते हैं। अस्तु, उनके लिए यह सारा विवाद त्याग कर पृथ्वीराज रासो की काव्य-परीक्षा की मीमांसा ही यथेष्ट होगी। परन्तु जब तक एक स्वर से यह नहीं सिद्ध हो जाता कि चन्द और पृथ्वीराज परस्पर असम्बद्ध थे तब तक उनके नामों का उल्लेख अन्योन्याश्रय भाव से करना ही समीचीन होगा।

पृथ्वीराज रासो के प्रगल्भ रचयिता ने देश-हित में अपनी आहुति देने वाले युग-पुरुष पृथ्वीराज को उसी प्रकार अपने काव्य का नायक बनाया था जिस प्रकार परवर्ती भूषण ने लोक-नायक शिवाजी को। अतिशयोक्तियों और अत्युक्तियों से रंजित, उत्प्रेक्षाओं और रूपकों से मंडित रासो ने कवि-कल्पनाओं को मूर्त स्वरूप प्रदान किया है। अनेक राजपूत राजकुमारियों के नयनाभिराम तथा विपक्षियों के दांत खट्टे करने वाले अप्रतिम शूरमा पृथ्वीराज का रासो उनकी कीर्ति का वांछित यशोगान है। इतिहास का चश्मा लगाकर काव्य शोध करने वाले विद्वानों की आंशिक तुष्टि भले ही रासो पर कतिपय अनैतिहासिक तत्त्वों का निर्देश कर के हो जाये परन्तु काव्यानुरागियों की तो यह अमूल्य निधि है।

ऐतिहासिक निष्कर्ष पर रासो की कोई घटना अथवा घटनायें सन्देह का स्थल बन कर इतिहासकार पर असमंजस की रोक रखें परन्तु कवि वर्णन की शैली, अलंकारों का योग, वांछित छंदों का नियोजन, कथा-सूत्रों और काव्य-रूढ़ियों का सन्निवेश, कथानक और अन्तःकथाओं के सुललित मोड़ तथा भावाभिव्यंजना इस प्रकार साधारण पाठक और श्रोता को अग्रसर करते हैं कि वह मंत्रमुग्ध उस धारा में बहता चला जाता है। उसे यह विचारने का अवसर ही नहीं आता कि इस कथा में पौराणिक और अरेबियन नाइट्स के तत्त्व तो नहीं समाविष्ट हो गये हैं। वास्तव में यही रासोकार का काव्य-कौशल है, जो हमें उसकी प्रशंसा करने के लिये प्रेरित करता है।

बारहवीं शताब्दी के उत्तर भारत में दिल्ली, कन्नौज और गुर्जर ये तीन बड़े साम्राज्य थे, जो अत्यन्त दुर्द्धर्ष थे और थे परस्पर प्रतिद्वंद्वी। आये दिन रण-भेरी का निनाद गूंजता था और एक दूसरे को नीचा दिखाने के अवसर ढूंढ़े जाते थे। प्रजा का हित कहां तक सध रहा था यह कहना तो प्राप्त आधारों पर कठिन ही है परन्तु इतना कहने का साहस किया ही जा सकता है कि वह प्रायः उपेक्षित थी। इन तीनों राज्यों के अधिपतियों ने पर्याप्त धनराशि संचित कर रखी थी और सदृश मनोवृत्तिवाले योद्धाओं का योग भी प्राप्त कर रखा था। उस समय 'किहनी-उपखान' वाले भारत में प्रवेश कर रहे थे और उन सरीखा (छद्म) वेश धारण किये भेदियों का विभिन्न राज्यान्तर्गत अबाध आवागमन भी था। निर्गुण और सगुण उपासनायें भी बन्द नहीं थीं। यह सब कुछ था परन्तु यह सब युग की पुकार शौर्य-पराक्रम-प्रदर्शन की पूर्ति में ही प्रकारान्तर से सुनियोजित था। प्रतीत होता है कि पूजा और अर्चना, उपासना और ज्ञान, कथा और वार्ता सब के सब वीरता को बढ़ावा देने में ही चरितार्थ होते थे। कहने का अभिप्राय यह है कि वीरता दिखाने और उसके लिए जहां जैसा अवसर मिले उसको हाथ से न जाने देना ही युग-धर्म था। पृथ्वीराज रासो इसी युग-धर्म का प्रतिबिम्ब है तथा यह

प्राकृतिक ही है कि उसमें आदि से अन्त तक शौर्य और वीर्य का घोष प्रतिध्वनित होता है । आखिर वह आन-बान-शान वाले, स्वामी धर्म के दीवाने, हुतात्मा क्षत्रियों का काव्य ठहरा।

रासो का प्रधान रस वीर है; रौद्र, वीभत्स, भयानक और अद्भुत उसके सखा ठहरे । निर्वेद संचारी है, जिसका उपयोग संसार की असारता चित्रित करके जीवन के सुखों, अभिलाषाओं, आकांक्षाओं को पूरा करने के लिये उत्साह नियोजित करना मात्र है। करुण के लिये इसमें स्थान नहीं, क्योंकि उसका अवसर ही नहीं आता । योद्धागण मृत्यु-सुन्दरी का सहास आलिंगन कर के विभिन्न लोगों के आमोद-प्रमोदों में जाकर रमने के लिये प्रतिक्षण कटिबद्ध हैं और सती होने वाली वीरांगनायें इस जीवन के उस पार अपने प्रियतम से मिलन की प्रगाढ़ प्रतीति लेकर आनन्दातिरेक से अनुप्राणित हो लपलपाती अग्नि-ज्वालाओं में प्रवेश कर जाती हैं। पूरे महाकाव्य में केवल एक स्थल पर विप्रलम्भ-जनित करुणा के दर्शन होते हैं। हास्य एक दो स्थलों पर प्रासंगिक है। वीर रस के उपरान्त गणना में दूसरा नाम है श्रृंगार का। केवल भारत में ही नहीं, पुरातन काल से लेकर आज तक वीर पुरुष रति-प्रेमी पाये जाते हैं। वीरोन्माद के क्षणों में जीवनाहुति के लिये प्राणों के कण-कण का आवेश अन्ततः रति में ही शामिल होता है और यही कारण है कि विश्व के वीर योद्धा यदि एक ओर रणक्षेत्र में अपनी असाधारण अद्भुत वीरता का सिक्का जमा गये तो दूसरी ओर श्रृंगार के क्षेत्र में भी उनकी अमित प्रीति बरस पड़ी है। यदि रासो से ही प्रमाण लेना है तो एक ओर हर रण-मोर्चे पर पृथ्वीराज की वीरता, साहस और पराक्रम के घोष के साथ उनकी विजय के अभियान देखो और दूसरी ओर इंछिनी, पुंडीरनी, इन्द्रावती, हंसावती, पद्मावती, कूरंभा, संयुक्ता प्रभृति रानियों के साथ उनके रस-विलास देखो।

परस्पर विरोधी परिगणित वीर और श्रृंगार के अद्भुत सामंजस्य की झांकी प्रस्तुत करता हुआ रासो इस बात को स्थापित कर देता है कि वीर रस का स्थायी भाव उत्साह बढ़ कर श्रृंगार क्षेत्र को भी अपना क्रीड़ांगन बना सकता है और विरोध में मैत्री पैदा कर शास्त्र का नया विशिख बन सकता है। रस-शास्त्र में परम्परागत रासोकार ने भावानुकूल रासो को साक्षात् मूर्त स्वरूप प्रदान किया है, अलंकार इस दिशा में उसके साधक हैं। कतिपय स्थल द्रष्टव्य होंगे :

सांगरूपक के कौशल से एक युद्धारम्भ का चित्र देखिए—'सुलतान गोरी रूपी समुद्र में पंग (जयचन्द) रूपी ग्राह का भय लगा हुआ था। चौहान की वहां पर देवरूप में शोभा हुई। उन्होंने युद्ध का परवाना हाथ में ले लिया और शत्रु से भिड़ने के लिये सुन्दर वट के आकार में अपनी चतुरंगिणी वाहिनी सजाई। फिर तो युद्ध-भूमि में रक्ताभ तलवार रूपी कमल खिल उठे :

समुद रूप गोरी सुबर, पंग ग्रेह भय कीन ।
चाहुआन तिन विवध कै, सो ओपम कवि लीन ।।
सो ओपम कवि लीन, समर कग्गद लिय हथ्थं ।
भिरन पुच्छि बट सुरंग, बंधि चतुरंग रजथ्थं ।।
समर सु मुक्कलि सोर, लोह फुल्यौ जय कुमुदं ।
रा चावंड रा जैतिसी, रा बड़ गुज्जर समुदं ।। छं० ५५ सं० २६

महारानी इंछिनी को संयुक्ता और पृथ्वीराज की रति क्रीड़ा बताते हुए धृष्ट शुक दूत ने कहा—'लज्जा निम्न स्थानों में जाकर छिप गई, दम्पति अधरों की माधुरी पान करने लगे, पर्यंक रूपी क्षेत्र में वे आलिंगन पाश में बंध गये, आभूषण रूपी कवच भग्न होकर आधे बीच में लटक गये, नगाड़ों के स्थान पर नूपुर बज रहे हैं, उनका हास्य ही ललकार है, यही काम का समर है' :

लाज गढ्ढलोपंत। बहिय रद सन ढक रज्जं।
अधर मधुर दम्पतिय। लूटि अब ईं व परज्जं।।
अरस प्ररस भर अंक। षेत परजंक षटक्किय।
भूषन टूटि कवच्च । रहै अध बीच लटक्किय।।
नीसान थान नूपुर बजिय। हाक हास करषत चिहुर।
रतिवाह समर सुनि इंछिनिय। कीर कहत बत्तिय गहर ।।

—छं० १४१, सं० ६२

और ऐसे ही रणोन्माद से प्रचारने तथा श्रृंगार की भूमिका पर युद्ध की उग्रता एवं शुष्कता को सरस बनाने वाले स्थल काव्य-रूढ़ियों एवं कथा-सूत्रों के मेल से रासो को एक श्रेष्ठ काव्य की संज्ञा से अभिहित करते हैं। युद्ध के व्यवसायी और स्वामिधर्म के व्रती शूरमा क्षत्रियों ने विधाता द्वारा दी हुई तलवार (अर्थात् क्षत्रिय-जन्म के कारण ही लड़ना मरना) को ही तत्त्व माना—'करवार हथ्थ तरवार दिय, इह सुतत्त रजपूत कर।' अपनी मृत्यु को श्रेयस्कर समझा—'रजपूत मरन

संसार वर।' शूरों का मरण मांगलिक निश्चित किया—'सूर मरन मंगली' और युगों तक चलने वाले यश और मृत्यु को एक जानकर थोड़े जीवन की वांछना की—

मरना जाना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्हां।
सा पुरुसां का जीवना, थोड़ाई है भल्लां॥

जीवित रहने पर लक्ष्मी के उपभोग और मरणोपरान्त चिर-यौवना अप्सराओं के सहवास से क्षणभंगुर शरीर के युद्ध में नष्ट होने की चिन्ता नहीं की—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगणा।
क्षणे विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे॥

तथा खड्गधार रूपी दीर्घ को काशी सदृश सम्मानित किया—

धार तित्थ वर आदि। तित्थ कासी सम भज्जै।

'कर्म-बन्धन को मिटाने वाले, विधि के विधान में संधि कर देने वाले, युद्ध की भयंकर विषमता से क्रीड़ा कर के रणभूमि में अपने शरीर को सुगति देने वाले बलवान और भीष्म शूर सामंत स्वामी के कार्य में मति रखने वाले हैं, स्वामि-कार्य में लगकर इन श्रेष्ठ मति वालों के शरीर खड्ग से खंड-खंड हो जाते हैं और शिव उनके सिर को अपनी मुंडमाला में डाल लेते हैं'—

सूर संधि विहि करहिं, कम्म संधी जस तोरहि।
इक्क लष्ष आहुटहिं, एक लष्षं मन मोरहि॥
सुबर वीर मिथ्या, विवाद भारथ्थह षंडै।
बिच्चि वीर गजराज, बाद अंकुस को मंडै॥
कलहंत केलि काली विषम, जुद्ध देह देही सुगति।
सामन्त सूर भीषम बलह, स्वामि काज लग्गेति मति॥

छं० ७२०, सं० २१

रासो में इन्हीं शूरों की हस्तलाघवता, पराक्रम और अद्भुत उत्साहपूर्ण कार्यों का वर्णन है। इसमें संशय नहीं कि रासोकार काव्य शास्त्र से भली-भांति अभिज्ञ था और उसने अपने ज्ञान का पूरा उपयोग किया है। परन्तु साथ ही इतना कहने में भी कोई सन्देह नहीं है कि वीरों की शूरवीरता के स्वाभाविक कार्यों से सारा काव्य जगमगा उठा है। मृत्यु का भय साधारणतः बुद्धि और विवेक को भ्रम में डालता हुआ कम्पन और रोमांच पैदा करता है। परन्तु रासो का वीर उसका वरण करता फिरता है और अपने शरीर को विपक्षी से ललकार के साथ भिड़कर पंचत्व में मिलाता हुआ अपनी गर्व भरी हुंकार पीछे बसुंधरा पर छोड़ जाता है कि यदि कर्त्तव्य की वेदी पर सच्चे उतरना चाहते हो तो मरना सीखो तथा प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिये मुस्कराते हुए अपना उत्सर्ग करना सीखो। शूर नर की यही चिर-आचरित आस्था वीरों के लिये वरदान है। रासो का दार्शनिक प्रवृत्ति वाला योद्धा ही यह कहने में समर्थ है—'महामाया शरीर का रक्त पान कर लें, भूत-भावन की वक्षमाला में मेरा मस्तक हो, हृदय में स्वामी की विजय की चाह हो, मन में ताली लग जाये, सूर्य-मंडल में मेरा हंस जुड़ जाये, आवागमन से त्राण मिल जाये और निराकार में ध्यान समाधिस्थ हो भय के पाश कट जावें':

पियै सगति धर श्रोन, पिंड पावक आहारै।
साइं समप्पै प्रान, सीस उर संकर धारै॥
अन्त तुहिं पय चंपहि, डिम्भ लग्गहि श्रग गिद्धिय।
जय बंछै निज स्वामि, लगै ताली मन बद्धिय॥
मंडलह हंस हंसह जुरै, जीय जोग गति उद्धरै।
निरकार ध्यान राखै जु निज, इव भव सारूपह तरै॥

—छं० ९६०, सं० ६६

जिनकी मृत्यु के दृश्य इस प्रकार खींचे गये हैं—'टूटे सिर वाले कबन्ध ने हाथियों के बीच में फंसने पर अपनी कटार ले ली थी, देवी महामाया ने स्मरण किये जाने पर हुंकार किया था, आकाश से अमृत ध्वनि हुई थी। अल्हनकुमार विभ्रम में पड़ गया था। अन्ततः विमान यात्रा उसने मनोनीत की थी। गंगा को धारण करने वाले त्रिलोचन ने यह दृश्य देखा और हँसकर उसका सिर अपनी मुंडमाला में डाल लिया'—

सिर तुट्यौ रुंध्यौ गयंद, कढ्यौ कहारौ।
वहां सुमरिय महमाइ, देवि दीनौ हुंकारौ॥

अमिय सद्द आयास, लयौ अच्छरिय उछंगह ।
तहां सुभई परतविष, अरित अरि कहत कहंगह ।।
अल्हन कुमार विभ्रम सुभ्यौ, रन कि विमानह सनु मन्यौ ।
तिहि दरस तिलोचन गंगधर, तिम संकर सिर धर धुन्यौ ।।
—छं० २२९७, सं० ६१

तथा—'लोहाना आजानबाहु तीन टुकड़े होकर गिरा, उसके गिरने पर सारी सेना के मुंह से जय-जयकार घोषित हुई, इन्द्र धन्य-धन्य कहने लगे, नारद सुन्दर ध्वनि उच्चरित करने लगे। उस शूरमा का कौतुक देखकर देवता स्तम्भित हो गये और इस लोक के योद्धाओं की टकटकी बंध गई। सारी अप्सरायें आश्चर्य में पड़ गईं, जब उन्होंने देखा कि वह सूर्य-मंडल भेद गया'—

परयौ होय आजान बाहु त्रयखंड धरन्नी ।
जै-जै-जै जयंत, मुष्ष सब सेन परन्नी ।।
धनि-धनि जंपि सुरेस, सुधुनि नारद उच्चारं ।
करिग देव सब किसि, बुद्धिनभ पुहुप अपारं ।।
कौतिग्ग सूर थक्यौ सुरह, भइय टगहग भुअ भरनि ।
आसंस करें अच्छरि सघन; गयौ भेदि मंडल तरनि ।।
—छं० १३०५, सं० ६१

यदि इन योद्धाओं के कबन्धों का भिड़ना भी रासोकार ने काव्य-परम्परावश दिखाया तो वीर से ही तो अद्भुत की निष्पत्ति होती है।

वांछित रस की सांगोपांग प्रतिष्ठा करते हुए रासोकार ने उल्लेख अलंकार की सहायता से एक व्यापार द्वारा अनेक भावों की स्फुरणा युद्ध और रति, दोनों क्षेत्रों में कई स्थलों पर बड़ी ही पटुता से की है। तुलसी, जायसी, केशव भी इस कला में दक्ष थे।

रस की सिद्धि में नियोजित रासो के अलंकारों में परम स्वाभाविक होने के कारण भाव-उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। जिस स्थल या घटना विशेष का वर्णन स्थायी प्रभाव डालने की अभिलाषा से कवि ने किया है, वहां उसने प्रायः समस्त विषय-वस्तु सावयव रूपक की सहायता ली है। दो स्थल देखिए—'युद्ध रूपी विषम यज्ञ प्रारम्भ हो गया, शस्त्र-बल-प्रहार रूपी वेदपाठ होने लगा, घोड़ों और नरों का हवन प्रारम्भ हुआ, शीश कटने के रूप में स्वस्तिवाचन आहुति दी जाने लगी, उस हवन कुंड का क्रोधरूपी विस्तार हुआ, कीर्ति रूपी मंडप तना था, गिद्ध-सिद्ध-वैताल रूपी दर्शक थे और इस युद्ध रूपी यज्ञ में वीरों को मुक्ति रूपी तत्त्व की प्राप्ति हुई —

विषम जग्य आरम्भ वेद प्रारम्भ शस्त्र बल ।
है गै नर होमियै; सीस आहुत्ति स्वस्ति कल ।।
क्रोध कुंड बिस्तरिय, कित्ति मंडप करि मंडिय ।
गिद्धि सिद्धि वेताल, पेषि पल साकृत छंडिय ।।
तुंबर सु नाग किंनर सु चर, अच्छरि अच्छ सु गावहीं ।
मिलि दान अस्स अप्पन जुगति, भुगति मुगति तत पावहीं ।।
—छं० ४५३, सं० २५

तथा—'संयोगिता को देखकर पृथ्वीराज ने प्रेम रूपी जल में काम रूपी कगार देखे, हाव-भाव-कटाक्ष आदि व्यापार भंवर रूप में थे जिसमें उसके शब्द, झंकोर द्वारा लहरों का आन्दोलन कर रहे थे और सिवाल रूपी दुःखों का हरण करने वाले कुच रूपी चक्रवाक थे तथा दृग रूपी भंवरों में मकर बिम्ब सारे मनोरथों को पूर्ण करने वाले थे'—

देखि तथ्थ संजोगि, नेह जल काम करारे ।
हाय भाय विभ्रम कटाच्छ, दुज बहु भांति निनारे ।।
रचि तरंग झंकोर, वयन अंदोल कसय सब ।
हरन दुष्य द्रुम सम सिवाल कुच चकवाक सोहि सब ।।
द्रिग भवर मकर बिंबर परत, भरत मनोरथ सकल सुनि ।
वर विद्दुर न्रपति म्रनाल में, नन जानो कहि घटिय गुनि ।।
—छं० ११९८, सं० ६१

उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, भ्रांति, सन्देह, अतिशयोक्ति, दीपक, दृष्टांत, अर्थांतरन्यास, अन्योन्य प्रभृति अलंकारों का कवि ने आवश्यकतानुसार सफल प्रयोग किया है। लोकोक्ति अलंकार के सहारे कवि ने अपने काव्यान्तंगत होने वाले वार्तालाप में नाटकीय तत्त्व सम्मिलित कर दिया है।

लगभग ६८ प्रकार के छंदों में रासो की कथा लिखी गई है और वे बहुधा बदलते हैं परन्तु इससे कथा के प्रवाह में कोई व्याघात नहीं पड़ता। इससे स्पष्ट है कि चन्द को छंदों की प्रकृति की पूरी-पूरी पहचान थी।

'चरित्र चित्रण' और 'जीवन से सम्बन्ध' विषयों पर विचार करते हुए हम पृथ्वीराज रासो को एक श्रेष्ठ एवं सफल काव्य ही नहीं वरन् एक अन्यतम महाकाव्य कहने में कोई संकोच नहीं करते।*
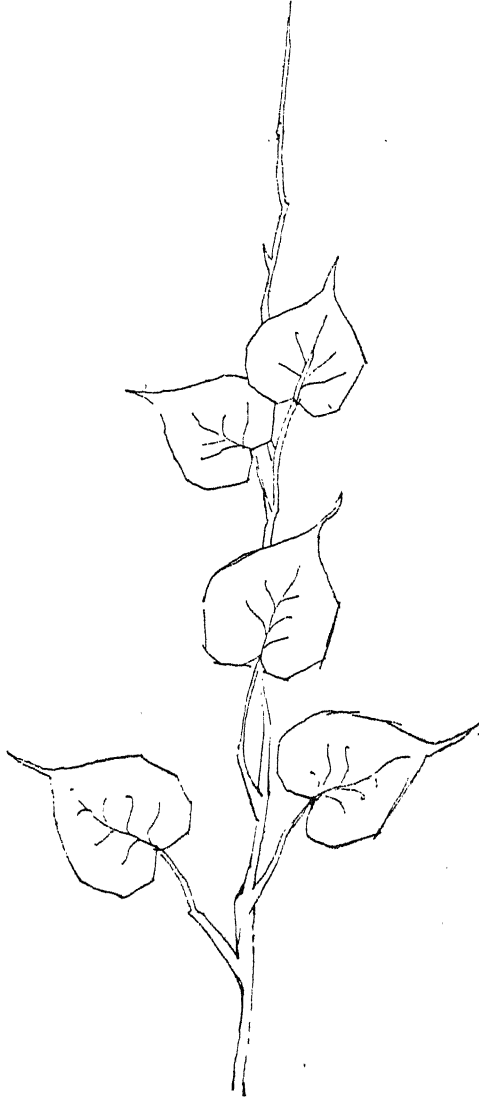
*रसवंती; मासिक, (काव्य कला अङ्क); लखनऊ; फरवरी १९६० ई०; पृ० ९-१६।

रास काव्य-रूप का उद्भव

डा० सुमनलता सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापिका हिन्दी विभाग,
आचार्य नरेन्द्रदेव महापालिका महिला डिग्री कालेज, कानपुर।

रास,[१] रासो,[२] रासक,[३] रासहं,[४] रासउ, रासु,[५] रासलउ[६] इत्यादि शब्द मूलतः संस्कृत रास् धातु से व्युत्पन्न हैं, जिसके अनेक अर्थ है :—

(i) चिल्लाना, (ii) सामान्य ध्वनि, (iii) भाषण, (iv) एक प्रकार का नृत्य विशेष, (v) गोल घेरा (vi) क्रीड़ा, (vii) मंडल, (viii) भगवान् कृष्ण द्वारा वृन्दावन में गोपियों के साथ किया गया नृत्य विशेष।[७]

रास शब्द को लेकर हिन्दी साहित्य में अनेक वाद-विवाद हुए हैं। अपने अध्ययन के आधार पर, रास शैली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, मेरे विचारों ने जो रूपरेखा ग्रहण की है, उसे इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) रास शब्द की उत्पत्ति खोजने के लिए 'लास्य' शब्द महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। लास्य की उत्पत्ति लस्

---

(१) गायो हो रास सुणै सब कोई—वीसलदेव रास

(२) नन्दीवर धनु जासु निवासो, पभणउ नेमि जिणंदह रासो—नेमिनाथ रास (१३वीं शताब्दी)

(३) चर्चरी—रासक प्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल
वृत्तिप्रवृत्तिं नाधत्ते प्रायः कोऽपि विचक्षणः॥
प्राकृतभाषया धर्मरसायनाख्यो रासकश्चक्रे॥
—उपदेश रसायन रास (१२९५ वि०) अपभ्रंश काव्यत्रयी

(४) हुं हिव पभणिसु रासहं छंदिहि,
तं जनमनहर मन आणंदिहि।
—भारतेश्वर बाहुबलि रास (१२४१ वि०)

(५) भणिसु रासु रेवंतगिरि, अंबिके देवि सुमरेवि।
—रेवंतगिरि रास

(६) पभणिसु वीरह रासलउ अनुसभलउ भवियं मिलेवि।
दूय नियमाणि उल्लासि 'रासलहुड भवियण दियहु॥
—महावीर रास

(७) रास (रासते) to cry, scream, yell sound howl रासः (i) an uproar adin confused noise (ii) A sound in general (iii) Speech (iv) A kind of dance उत्सृत्य रासे रसं गच्छंती ve 1-2 रासे हरिमिहि विहित विलासं स्मरति मनो मम कृतपरिहास GT-2 also (v) A chain Comp ईश्वरी N of Radha (vi) क्रीड़ा (vii) मंडल (viii) A sportive dance, the circular dance of Krishna and the cowherdesses of Vrindavana.

Practical Sanskrit English Dict'onary—by Apte p. 802

में ण्यत् प्रत्यय के संयोग से हुई है—जिसके अनेकों अर्थ हैं, सभी नृत्य से सम्बन्धित हैं।[१] भावप्रकाश में शारदानतय ने भी यही मत व्यक्त किया है।[२]

(२) भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है, कि जब सर्वप्रथम नाटक खेला गया तो उसमें शिव ने तांडव और पार्वती ने लास्य का प्रदर्शन किया। यहां लास्य शब्द का प्रयोग विशेष नहीं साधारण है। अस्तु उस समय नृत्य की दो कोटियां प्रचलित थीं—उद्धत्त, जिसे तांडव नाम से अभिहित किया जाता था, और मधुर जिसे लास्य कहते थे।[३] ये वस्तुतः लोक नृत्य थे।

(३) यही लोकनृत्य की परम्परा आगे विकसित हुई। भरत ने लास्य एवं तांडव का उल्लेख करते हुए बताया कि वे दो प्रकार के होते हैं, देशी और शास्त्रीय। धनंजय ने भी इसे स्वीकार किया है। स्वयं भगवान् शंकर और देवी पार्वती अवैदिक देवता माने जाते हैं, अतः ये लोक नृत्य भारत के आदिवासियों के उल्लासमय नृत्य थे। तांत्रिकों में रास की प्रतिष्ठा भी इस विचार को पुष्ट करती है। बृहद् गौमती तंत्र, राधातंत्र आदि ग्रन्थों में रास को आनुष्ठानिक रूप दिया गया है।[४]

(४) भागवत में रास को क्रीड़ा-नृत्य, सामान्य के अर्थ में ही लिया गया है। भागवत के रासवर्णन का कुछ अंश इस प्रकार है "जिनके मुख पर पसीने की बूंदें छलक रही हैं, जिन्होंने अपने केश तथा कटि के बन्धन कस कर बांध रखे हैं, वे कृष्णप्रिया गोपियां, भगवान् कृष्ण का यशोगान करती हुईं, विचित्र पद विन्यास, बाहुविक्षेप, मधुर मुसकान युक्त भृकुटि विलास, कमर की लोच चंचल अंचल, और कपोलों के पास हिलते हुए कुंडलों के कारण, मेघ-मंडल में चमकती हुई चपला के समान सुशोभित हुईं।"[५] रति में प्रीति करने वाली लाल कंठ वाली वे गोपियां भगवान् के स्पर्श से आनन्दित होकर नृत्य करती हुई, उच्च स्वर से गायन करने लगीं, जिनके गीत से यह सारा जगत् व्याप्त हो गया।

इस रास वर्णन से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :[६]

(i) रास एक प्रकार का समूह नृत्य था जिसमें स्त्रियां विशेष भाग लेती थीं।
(ii) उत्सवों से इसका संभवतः अधिक सम्बन्ध था तथा इसे क्रीड़ा नाम से भी अभिहित किया जाता था।
(iii) यह मंडलाकार नृत्य था।
(iv) मधुर कोटि में आता था।
(v) इसमें गीतों का प्रयोग होता था तथा ध्रुपद आदि रागों का भी समावेश होता था।

लास्य में भी लगभग यही विशेषताएं पाई जाती हैं। वह मधुर होता है, प्रायः स्त्रियां ही उसमें भाग लेती हैं, गीतों का प्रयोग होता है, कौशिकी वृत्ति होती है, शृंगार एवं हास्य रस का प्राधान्य होता है। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि, इस नृत्य का उल्लेख भागवत में भी लोक-परम्परा की वस्तु है। ब्रज में ही इसका उल्लेख है, जो गोरस की स्निग्धता और लोक जीवन के चांचल्य का प्रतीक है। निश्छल ग्रामीण अहीरिनों का प्रेमोल्लास ही इसमें व्यक्त हो सका है, मथुरा इत्यादि में फिर इसका उल्लेख नहीं मिलता।

---

(१) लास्यं—लस्-ण्यत् (i) Dancing a dance आस्येधास्यति कस्य लास्यमधुना वाचां विपाको मम Br 4-42-R-16 (ii) A dance accompanied with singing and instrumental music (iii) A dance in which the emotions of love are represented by means of various gesticulations and attitudes. —Practical Sanskrit Dictionary.

(२) भाव प्रकाश, पृ० ४६

(३) वृत्तिरारभटी गीत काले तत्ताण्डवं-विदुः
ललितै रंगहारैश्च निर्वर्त्य ललितैर्लयैः
वृत्तिः स्यात्कौशिकी गीते यत्र तल्लास्यमुच्यते।

—भावप्रकाश, पृष्ठ ४६

(४) अथ श्री रास क्रीडामंत्रस्य मुग्धनारद ऋषिर्गायत्री छन्दः ओंक्ली साक्षान्मन्मथवीजं प्रेमान्ध्युद्भवस्वाहा-शक्तिः श्री राधाकृष्णौ देवौ रास क्रीडायां परस्परानन्द प्राप्त्यर्थेजपे विनियोगः।

—रास और रासान्वयी काव्य भूमिका

(५) भागवत दशम स्कन्ध

(६) वही, दशम स्कन्ध, ८, ९

(५) आगे चलकर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। शारदा-तनय ने भावप्रकाश में रासक को स्पष्टतः लास्य का भेद माना है। लास्य के उन्होंने चार भेद बताएं हैं—दण्ड रासक, मंडल रासक तथा नाट्य रासक।[१] उपरूपकों के अन्तर्गत नाट्य रासक में भी लता, पिंडी तथा भेद्यक नृत्यों का प्रयोग बताया है। अस्तु निश्चय ही लास्य से भिन्न नहीं।[२]

(६) जैन रास काव्यों की जो परम्परा अपभ्रंश में मिलती है, वह इसी प्रकार की है। ये रास काव्य प्रार्थना की भांति रास नृत्य के साथ गाये जाते थे। ककसूरि के गुरु का देहावसान राजस्थान में हुआ था। उनके निर्वाण के समय स्थान-स्थान पर होने वाले उत्सवों में अन्य नृत्यों के साथ लकुड़ रास का भी स्पष्ट उल्लेख है।[३] यह दण्ड-रासक का ही देसी नाम है। जिनदत्त सूरि विरचित अपभ्रंश नीति-काव्य-चर्चरी में लिखा है, "जहां रात्रि में रथभ्रमण नहीं किया जाता, जहां लगुड़ रास करने वाले पुरुषों का निषेध है—जहां जल कीड़ा में आन्दोलन होता है, मूर्त्तियों का नहीं, वहां (व्याकरण) महाभाष्य (पातंजलि) के आठ आह्निकों का अध्ययन करने वालों के लिए माघ मास में मालाधारण करने का निषेध नहीं है।[४] उपदेश रसायन रास में रात्रि में तालारासक तथा दिन में पुरुषों के साथ लगुड़रास करने का निषेध है।[५] कन्हड़ दे प्रबन्ध में भी रास का उल्लेख नृत्य रूप में ही हुआ है।[६] कुछ ऐसे भी रास हैं, जिनका प्रयोग मन्दिरों में विहित था। इन नृत्यों में गीतों के साथ, गीतों का भावाश्रित अभिनय भी होता था।[७]

(७) यह रास वर्ण्य वस्तु का नाम नहीं, वरन् वर्णन शैली का नाम है। यद्यपि बाद में यह अपने प्रथम अर्थ में रूढ़ हो गई।

(८) रास नृत्य एवं रासक उपरूपक का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाट्य पर आधारित दृश्य काव्य रूपक कहलाते हैं और नृत्य पर आधारित उपरूपक। उपरूपकों का स्पष्ट उल्लेख प्रारम्भिक आचार्यों ने नहीं किया है। भरत का नाट्य शास्त्र इस विषय में मौन है—और अग्नि पुराण में यद्यपि सोलह उपरूपकों के नाम तो मिलते हैं किन्तु न तो उन्हें उपरूपकों की संज्ञा दी गई है और न ही उनके लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। उपरूपकों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ग्रन्थों के मौन रहने का कारण यही जान पड़ता है कि वे उस समय लोक नृत्य की सीमा में ही थे। किन्तु क्रमशः उनमें अभिनयात्मक तत्त्वों का विकास हुआ और वे लोक नाट्य के अन्तर्गत ले लिये गये, किन्तु रहे वे नृत्य पर आधारित उपरूपक ही। लक्षण ग्रन्थों में उपरूपकों की ये दोनों स्थितियां दृष्टिगोचर होती हैं।

नाट्य दर्पण में रामचन्द्र ने रासक को सोलह और बारह नायिकाओं द्वारा किया गया पिण्डी बद्ध नृत्य माना है, जो बसन्त मास में गेय है।[८] भावप्रकाश में रासक की कई परिभाषायें दी गई हैं, जिनमें

---

(१) सुकुमार प्रयोगो यो नियतो लास्यमुच्यते।
तत्छृंखलालता पिण्डीभेद्यकैः स्याच्चतुर्विधम्॥
लता रासक नाम् स्यात्तत्रेधा रासकं भवेत्।
दण्डरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम्॥
—भावप्रकाश।

(२) वही

(३) उपगेशगच्छ पट्टावली, रचना संवत् १२७७ वि० १६ क० ख०

(४) रास और रासान्वयी काव्य, चर्चरी, १

(५) उचिय थुत्ति-थुयपाठ पठिज्जहिं, जे सिद्धंतिहिं सु ह संधिज्जहिं।
तालारासु विदिति न रयणहिं दिवसि विलउडारसु सहूं पुरिसिहिं। ३६

(६) कन्हड़ दे प्रबन्ध, पृ० २३८

(७) धम्मिय नाऽय पर नच्चिज्जहिं।
भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवहि—बल—रायह चरियइं
नच्चिवि अंति हुंति पव्वहयइं॥
—अपभ्रंश काव्यत्रयी, छं० ३७

(८) नाट्यदर्पण, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा पृ० २१४-२१५

नृत्य एवं नृत्य रूपक दोनों के लक्षण मिल जाते हैं। एक ओर तो रासक अपने अनेक भेदों सहित, मधुर ताल लय समन्वित बारह और सोलह नायिकाओं द्वारा किया गया नृत्य विशेष है,[१] दूसरी ओर उसमें एक अंक, सूत्रधार रहित होना, सुश्लिष्ट नांदी, पांच पात्र, तीन संधियां, विभिन्न भाषाएं, कौशिकी और भारती वृत्तियां, वीथ्यंग, प्रसिद्ध नायक, प्रसिद्ध नायिका एवं उत्तरोत्तर उदात्त भाव आवश्यक माने गये हैं।[२] साहित्यदर्पणकार ने रासक के नाट्य रूप को ही प्रमुखता दी है।[३]

रासक के ये दोनों रूप विकास की दो स्थितियां हैं, यद्यपि इनका सहअस्तित्व भी पाया जाता है। अतः रास शैली का विकास सीधे उपरूपक रासक से नहीं वरन् वह स्वयं रास नृत्य पर आधारित है—उसकी विकसित प्रवृत्तियों का एक प्रतीक है। बाद में भी शुद्ध नृत्यगीतात्मक एवं अभिनयात्मक दोनों ही प्रवृत्तियां प्रचलित रहीं। इस प्रकार रास नृत्य में अभिनयात्मक तत्त्व विकसित होने पर वे उपरूपक के अन्तर्गत स्वीकृत कर लिये गये। केवल रासक के लिये ही नहीं, प्रायः सभी उपरूपकों के लिये कहा जा सकता है कि वे पहले लोकनृत्य थे, और बाद में लोक-नाट्य के रूप में विकसित हुए। शारदातनय के विचार से अधिकांश उपरूपकों की उत्पत्ति लास्य से हुई है, और यही वस्तुस्थिति भी प्रतीत होती है।

(९) प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों में रासा नामक छन्द का भी उल्लेख मिलता है। डा० हरमन याकोबी ने लिखा है, कि रासा नागर अपभ्रंश का प्रधान छंद है।[४] वृत्तजाति समुच्चय में रासा छन्द कई द्विपदी अथवा विस्तारित के योग से बनने वाला बताया गया है जिसके अन्त में विचारी होता है।[५] इसके अतिरिक्त वह रचना जिसमें अनेक दोहा, मात्रा, रड्ड़ा और ढोस छन्द पाये जाते हैं, रासा कहलाती है।[६] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर रासा छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया है—

रासा—मात्रावृत्तम्।।
चतुर्मात्रास्त्रयः ग ग

अथवा
गजेन्द्र=४
तुरंग=४
कर्ण=ऽऽ
अर्थात् प्रत्येग पद में ४+४+४+ऽऽ=१६ मात्राएं

---

(१) षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिंडीबन्धादि विन्यासैः रासकं तदुदाहृतम।
पिंडनात्तु भवेत्पिंडी गुम्फनाच्छृंखला भवेत्।
भेदनाद्भेद्यको जातो लता जालोपनाहृतः।।
एते नृत्तात्मना कार्या नाट्यवन्तः क्रियाविधौ।।

—भावप्रकाश, नवम अधिकार

(२) भावप्रकाश, पृ० २६७

(३) रासकं पंचपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्।
भाषा विभाषा भूयिष्ठं भारती कौशिकी युतम्।।
असूत्रधारमेकांकं सवीथ्यंग कलान्वितम्।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकां मूर्खनायकम्।
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम्।
इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचक्षते।।

—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद

(४) भूमिका पृ० ७१, भविसयत्त कहा—धरणवाल, जर्मन संस्करण।

(५) वृत्ति जाति समुच्चय, ४—३७।

(६) अडिलाहिं दुवहएहिंव मत्तारड्ढाहिं तहअ ढोसाहिं।
बहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासऊ णाम्।।३८

दसवीं शताब्दी के स्वयम्भू ने रास छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया है : "काव्य में घत्ता, छड्डणिया, पद्धड़िया और दूसरे सुन्दर-सुन्दर छन्द बड़े युक्तिपूर्वक रासाबन्ध होकर लोगों को सुन्दर लगते हैं ।[1] इसके उपरांत उन्होंने रासा छन्द के नियम दिये हैं, कि इसमें इक्कीस मात्राएं, और अन्त में तीन लघु होते हैं, यति चौदह मात्राओं पर होती है ।

हेमचन्द्र के अनुसार रासक छन्द में १८ मात्रा+ल ल ल=२१ मात्राएं होती हैं, और चौदह पर यति होती है ।

इन लक्षणों में दो परम्पराएं स्पष्ट हैं । एक परम्परा के अनुसार, रासा एक प्रकार का मात्रिक छन्द है, और दूसरी परम्परा के अनुसार, एक विशेष काव्यबन्ध; जिसमें अनेक छन्दों का प्रयोग किया जाता था । रासक उपरूपक की दोनों परम्पराएं यहां भी उपस्थित हैं । पहले रास नृत्य गीतों में रासछन्द प्रयुक्त होता होगा, क्रमशः उसमें लय एवं ताल के अनुकूल अन्य छन्दों को भी स्थान दिया जाने लगा और रासाबन्ध जैसा काव्य निर्मित हुआ । आगे भी ये दोनों परम्पराएं कभी अलग, कभी हिलती-मिलती साथ-साथ चलती रहीं ।

किन्तु फिर भी इन छन्दों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है—वे हैं रास छन्द की ही उत्पत्ति । "इसका सबसे प्रबल प्रमाण तो इन छन्दों का स्वरूप है । ये छन्द स्वभाव से मात्रिक हैं । मात्रिक छन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि मात्रा का आधारभूत ताल है, और ताल का जन्म नृत्य के साथ हुआ । ताल का जितना सम्बन्ध नृत्य से है, उतन संगीत से नहीं । यह ताल नृत्य से विलग होकर संगीत में रहा—और शब्द में बंधने पर समय की कला अथवा अंश न रह कर मात्रा की इकाई बना । लघु एक मात्रा की इकाई है, गुरु दो के समान । इस प्रकार शब्द के निर्मायक अक्षरों में लघु गुरु के माध्यम से ताल को 'ताल' की लघुतम काल-कला (time factor) को घनिष्ठ रूप से बांध दिया है । इससे यह सिद्ध होता है कि नृत्य से ही मात्रिक छन्दों की उत्पत्ति हुई है ।[2] अतः रास छन्द या रासाबन्ध छन्द रास नृत्य से ही उद्भूत है ।

वैसे भी नृत्य शारीरिक अभिव्यक्ति है और इसका उद्भव मानव के जन्म के साथ ही है—छन्दों की उत्पत्ति बाद में हुई ।

संक्षेप में रास काव्य रूप का विकास इस प्रकार रखा जाता है —

नृत्य—अद्वैत स्थिति

नृत्य मूल प्रक्रिया—नृत्य से सम्बन्धित गीत और उस विशेष ताल से बना छन्द उसका अभिन्न अंग—तीनों मिलकर एक रूप ।

विश्लेषण—गीत प्रधान हो उठता है—वस्तु को स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त होती है—नृत्य से सम्बन्धित ताल—के अतिरिक्त वह अन्य रूपों में भी सम्मान पाती है ।

शास्त्र—द्वैत स्थिति—इस विधा के सभी तत्त्व स्वतन्त्र हो प्रधान हो उठते हैं—एवं उनकी शास्त्रीय परम्पराएं तथा लक्षण बन जाते हैं । नृत्य पृथक् हो जाता है—ताल से उत्पन्न छन्द को शास्त्रीय परिभाषाएं मिल जाती हैं और वह छन्द अन्य स्थलों पर भी प्रयुक्त होने लगता है । गीत विकसित हो पृथक् रूप धारण कर लेता है तथा उसे शास्त्रीय मर्यादाओं में बांध दिया जाता है ।

इस प्रकार प्रारम्भ में रास-नृत्य, रासगीत तथा रासछन्द अद्वैत अवस्था में थे । क्रमशः नृत्य एवं गीत पृथक् हो गए और गीत ने अपनी स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर ली । किन्तु ताल के रूप में छन्द का साथ बना रहा । कालान्तर में छन्द भी स्वतन्त्र हो गया एवं अन्य काव्य रूपों में स्थान पाने लगा । रास काव्यों में अन्य छन्दों का प्रयोग होने लगा । अतः विकास की यही प्रणाली तर्कसंगत प्रतीत होती है ।

---

(१) घत्ता छड्डणिआहिं पद्धडिआ (हिं) सु—अण्णरुएहि ।
रासाबन्धो कव्वे जण-मण-अहिरामो (मओ) होइ ।।
—श्री स्वयम्भू छन्दः

(२) मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० ४७० ।

हिन्दी जैन साहित्य की कतिपय विशेषताएं

श्री अगरचंद नाहटा

हिन्दी भाषा अपभ्रंश से निकली है और अपभ्रंश साहित्य काफी समृद्ध रहा है। अनेक बातों में अपभ्रंश के साहित्य की हिन्दी को बड़ी देन है। हिन्दी रचनाओं की संज्ञायें, शैली, छन्द, कथावस्तु आदि में अपभ्रंश से परम्परागत जो-जो देन मिली है, उनका यहां विस्तार से उल्लेख करना अभीष्ट नहीं। अपभ्रंश साहित्य जैन विद्वानों का ही अधिकांशत: रचित है और इसकी लम्बी परम्परा रही है। अत: हिन्दी भाषा के विकास को जानने के लिये इन रचनाओं का बड़ा महत्त्व है। हिन्दी के आदिकाल की जैनेतर रचनायें बहुत थोड़ी हैं। उस समय की दिगम्बर और श्वेताम्बर अपभ्रंश प्रभावित आदि में हिन्दी व राजस्थानी की प्रचुरता है।

हिन्दी जैन साहित्य में चरितकार्यों की अधिकता विशेषरूप से उल्लेखनीय है। ये चरित, धार्मिक, नीति, नियम के उदाहरण के रूप में रचे गये हैं। अत: जनता के नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने में उनका बड़ा हाथ रहा है। कथाओं के द्वारा धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार बहुत सुगमता से हो सकता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर अनेक कथाओं को जैन विद्वानों ने हिन्दी में लिखा। इनमें कई कथायें तो प्राचीन जैन ग्रंथों पर आधारित हैं और कई लोक कथाओं पर। विक्रम पंचदण्ड, भोज चरित्र, चन्द मलयागिरि चौपाई, नन्द बहुतरी आदि ऐसी ही कथायें हैं।

हिन्दी जैन साहित्य में गद्य साहित्य की ही प्रचुरता है टीकाओं के रूप में तो बहुत बड़े-बड़े ग्रंथ और संख्या में भी बहुत अधिक मिलते हैं और कुछ ग्रंथ मौलिक भी हैं।

शान्तरस की अखंड धारा जैन साहित्य में ही है और शृंगार से तो वह बहुत ही दूर रहा है। इसलिये जैन साहित्य विलासिता को प्रोत्साहन न देकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करता है। मैं तो विकासवर्द्धक रचनाओं की कमी को कमी नहीं मानता, अपितु गौरव की बात ही मानता हूं।

हिन्दी और संस्कृत के कई जैनेतर ग्रंथों की हिन्दी व संस्कृत में टीकायें लिखकर हिन्दी जैन विद्वानों ने उन्हें सर्वसुलभ बनाने का प्रयत्न किया। बिहारी सतसई और रसिकप्रिया की तो जैन विद्वानों ने संस्कृत टीकायें लिखीं। और केशव के नखशिख और रसिक प्रिया की राजधानी टीका प्राप्त है। हिन्दी में संस्कृत के भर्तृहरि शतक, लघु स्तवन, आदि की टीकायें और हिन्दी काव्य में बिहारी सतसई और सुन्दर शृंगार की टीकायें विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। वैद्यक के संस्कृत ग्रंथ बालतंत्र और शतश्लोकी लोलिम्बदाज और स्वरोदय की भाषा टीका आदि जैन विद्वानों की सर्वजनोपयोगी रचनायें हैं।

हिन्दी के विद्वानों की यह धारणा है कि जैन साहित्य जैनधर्म से ही सम्बन्धित है, सर्वजनोपयोगी नहीं है। इसलिये उन्होंने उसको उचित स्थान नहीं दिया। पर वास्तव में यह धारणा सही नहीं है। इसका परिचय आगे दी जाने वाली विविध विषयक हिन्दी जैन ग्रंथों की सूची से मिल जायेगा। वैसे धार्मिक ग्रंथों में साहित्यिक सरसता हो तो उसका उल्लेख भी साहित्य के इतिहास में किया जाना चाहिये। ग्रंथों के देखे बिना ही केवल एक धारणा बनाकर उपेक्षा करना उचित नहीं कहा जा सकता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' में इस सम्बन्ध में बड़ा जोरदार लिखते हैं कि "कई रचनायें ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहां कवि को प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों उससे वह साहित्य निश्चित रूप में भिन्न है, जिसमें धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मंथित और प्रभावित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की रचनायें जो मूलत: जैन भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं; और विजयपाल, रासो और अमीर रासो की भांति ही साहित्यिक इतिहास के लिये स्वीकार्य हो सकती हैं।

धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं होना चाहिये। इधर जैन अपभ्रंश काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय की मुहर मात्र से अलग कर दिये जाने योग्य नहीं है। केवल नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा। तुलसी तथा रामायण से भी अलग होना पड़ेगा। कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार करना पड़ेगा। जायसी को भी दूर से दण्डवत् कर विदा कर देना पड़ेगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म साधक ही रही है। जो कुछ भी पुस्तकें आज सौजन्य से बची रही गई हैं, उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधान रूप से धर्म बुद्धि ही रही है। काव्य रस की भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह सकी हैं, जिनमें किसी-न-किसी प्रकार धर्म के भाव का संस्पर्श रहा है।

जैन विद्वानों ने स्वयं हिन्दी में ग्रंथ लिखे—इतना ही नहीं पर सैकड़ों जैनेतर ग्रंथों को अपने ज्ञान भंडारों में सुरक्षित रखा है। उनमें कई ग्रंथ तो ऐसे भी हैं, जिनकी प्रति अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होती। जैनेतर ग्रंथों पर टीकायें बनाकर उन्होंने जो सेवा की है उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध पृथ्वीराज रासो के मध्यम संस्करण आदि की प्रतियां जैनेतर भंडारों में व जैनों की लिखित हैं, मिली हैं।

ब्रज भाषा के प्रचार का एक ठोस प्रयत्न श्वेताम्बर जैन विद्वान कनककुशल और कुंवरकुशल ने किया, वह चिर-स्मरणीय रहेगा। उन्होंने कच्छ नरेश लखपत द्वारा भुज में ब्रजभाषा की शिक्षा, छन्द एवं काव्यों का अध्ययन करने के लिये विद्यालय स्थापित करवाया, जिसमें गुजरात, राजस्थान आदि दूर-दूर के विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। उनके भोजन आदि का सारा प्रबन्ध राज्य की ओर से था। यह विद्यालय करीब १५० वर्ष बरावर चलता रहा और सैकड़ों विद्वान यहां से तैयार हुए। कनककुशल और उनके शिष्य कुंवरकुशल ने छन्दकोश, अलंकार से सम्बन्धित कई ग्रंथ बनाये। जैन धर्म से सम्बन्धित इनकी कोई रचना ही नहीं मिलती। ऐसे ही कई अन्य जैन कवि भी हो गये हैं, जिन्होंने केवल सर्वजनोपयोगी ही ग्रंथ रचे। उदाहरणार्थ जटमल नाहर, वैद्य मनोत्सव के कर्ता कवि नैनसुखकवि विनोद आदि के कर्त्ता खरतगच्छीय पान कवि और राजविलास, विहारी सतसई टीका के रचयिता विजयगच्छीय मान कवि। इसी प्रकार मूलचन्द, उदयचन्द भंडारी, उदयचन्द गंधेरण आदि अनेक कवि हैं जिन्होंने जैन धर्म से सम्बन्धित कुछ भी नहीं लिखा। और सर्व जनोपयोगी साहित्य का निर्माण किया। इसलिए जैन कवियों की रचनायें जैनधर्म से ही सम्बन्धित हैं, इस भ्रांत धारणा को निकाल देना चाहिये। अहिन्दी प्रदेशों में इन्होंने हिन्दी के प्रचार का जो प्रयत्न किया है, वह तो अत्यन्त महत्त्व का है।

इसी प्रकार एक अन्य धारणा हिन्दी जैन साहित्य के सम्बन्ध में जैनेतर विद्वानों की है, कि जैन हिन्दी कवियों में उच्च कोटि के कवि बनारसीदास को छोड़कर नहीं हुए। इसीलिये उन्होंने २–४ जैन कवियों के नामों को छोड़कर अन्य किसी का भी अपने साहित्य में उल्लेख नहीं किया। पर वास्तव में यह धारणा जैन ग्रंथों के अध्ययन पर आधारित न होकर इधर-उधर से ही रूढ़ हो गई है। ज्ञानसागर जैसे उच्च कोटि के योगी कवि आलोचक के साहित्य का परिचय हमने १५–२० वर्ष पूर्व हिन्दुस्तानी पत्रिका में दिया था, पर किसी भी विद्वान ने उस ओर ध्यान देकर अपने ग्रंथों में उसका नामोल्लेख नहीं किया। यह अवश्य है कि जैन विद्वानों ने सर्व साधारण के सरलता से समझने के लिये ही रचनायें की हैं। इसीलिये पेशेवर कवियों की भांति उनकी रचना छटादार न हो तो यह स्वाभाविक ही है। फिर भी प्रतिभा किसी की पृथक् सम्पत्ति नहीं। इसीलिये सैकड़ों कवियों में से कुछ कवि अवश्य ही उल्लेखनीय मिलेंगे। हिन्दी जैन रचनाओं का तटस्थता से अध्ययन किया जाकर उनको उचित स्थान दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

हिन्दी जैन साहित्य की विशालता भी कम नहीं है। ४५ वर्ष पूर्व हिन्दी जैन साहित्य की जो सूची लाहौर के श्रीज्ञानचन्द जैन और श्रीनाथूराम जी प्रेमी ने प्रकाशित की थी, उसमें १७० कवियों की ५०० से अधिक हिन्दी दिगम्बर जैन ग्रंथों की सूची थी। उसके पश्चात् तो अनेकों कवि और रचनायें जानने को मिली हैं। अतः सैकड़ों कवियों की सहस्राधिक रचनायें प्राप्त होने से अवश्य ही उल्लेखनीय हैं। अनेकान्त में दिल्ली के दिगम्बर भंडारों की हिन्दी ग्रंथों की सूची छपी थी व आमेर व जयपुर के भंडारों की सूची प्रकाशित हो चुकी है।

इधर कुछ वर्षों में अनेकांत और वीरवाणी पत्रों से पचासों दिगम्बर हिन्दी कवियों का परिचय प्रकाशित भी हो चुका है। अतः इच्छा होते हुए भी और कुछ कवियों का परिचय लिख दिये जाने पर भी इस निबन्ध के सीमित पृष्ठों में वह दिया नहीं जा सका।

हिन्दी जैन कवियों के कतिपय ग्रंथ तो अपने ढंग के एक ही हैं। उनका उल्लेख करना भी यहां आवश्यक हो जाता है। कविवर बनारसी दास की आत्मकथा समस्त हिन्दी साहित्य में बेजोड़ ग्रंथ है, इसी प्रकार मस्तयोगी ज्ञानसागर जी ने सुप्रसिद्ध मोहन विजय जी रचित चन्द रास की आलोचना चार सौ तेरह दोहों में की है। वह भी अपने ढंग की एक ही है। सच्ची समालोचना का आदर्श इस ग्रंथ में पाया जाता है। इसमें केवल दोष ही नहीं बतलाये, पर कहां पर क्या-

क्या होना चाहिये था, उसका उल्लेख किया गया है। दोहे कुछ ही टकसाली हैं। यहां नमूने के तौर पर प्रारम्भ के पांच दोहे दिये जा रहे हैं :

ए निश्चै निश्चै करो : लखि रचना को मांभ।
छंद अलंकार निपुण, नहिं मोहन कविराज ।। (१)
दोहा छंदे विसमपद, कहीं तीनदस मात।
सम में ग्याहै हुँधरे, छंद निरथे क्षात ।। (२)
सो तो पहिले ही पदे, भात रची दो बार।
अलंकार दूषण लिखूं, लिखित चढ़त विस्तार ।। (३)
प्राकृत विद्या में निपुण, नहीं वाको नहीं हेत।
प्रथम शव्द दो थान के, एक पढ़कर देत ।। (४)
ऐसे केते थान के, मात्रा अधिकी देख।
एक थान के लिख दियों, कोलौ लिखूं अशेष ।। (५)

कवि कुंवरकुशल रचित पारसात नाममाला फारसी और ब्रज का सुन्दर कोश ग्रंथ है। जैन कवियों के कई वैद्यक ग्रंथ भी बहुत ही महत्त्व के हैं, क्योंकि उन्होंने तत्त्व सम्बन्धी अपना अनुभव इन ग्रंथों में दिया है, जिससे वैद्यों के लिये वे बड़े काम के हो गये हैं। उदाहरणार्थ—मेघ कवि के मेघविनोद का पंजाब के जैनन्जैनेतर सभी वैद्यों में बड़ा अच्छा प्रचार है। उसमें दिये हुए नुस्खे प्रयोग रामबाण सा काम करते हैं। हिन्दी के जैन वैद्यक ग्रंथ अधिकांशतः पंजाब में श्वेताम्बर यतियों द्वारा रचे हैं। इसका संक्षिप्त परिचय सप्त सिन्धु आदि से प्रकाशित मेरे लेखों में दिया जा चुका है। कई जैन श्रावक कवियों के आश्रयदाता भी थे। उनके लिये कवियों ने ग्रंथ लिखे, जैसे सूरत मिश्र ने अमर चंद्रिका टीका अमर चन्द के लिये तथा मुंहणौत प्रतापसिंह के लिये शिवचन्द ने प्रताप पचीसी लिखी।

श्वेताम्बर कवियों का नगर वर्णात्मक गजल साहित्य अनूठा है। ऐसी पचासों गजलें प्राप्त हुई हैं जिनमें कवि ने उन-उन नगरों का खाका बड़ी खूबी से खींचा है। इनमें से कुछ गजलें जैन विद्या में छपी थीं। मुनि कांतिसागरजी ने हिन्दी पद्य संग्रह ग्रंथ निकाला था व अन्य बड़ा संग्रह तैयार था।

जैन कवियों की भक्ति और आध्यात्मिक पदावली भी बड़ी सुन्दर है। कई पद तो बहुत हृदयस्पर्शी और अनुभवपूर्ण हैं। भारतीय ज्ञानपीठ ने हाल ही में आध्यात्मिक पदावली नामक एक सुन्दर संग्रह ग्रंथ विवेचना सहित प्रकाशित किया है। ऐसे पद हजारों की संख्या में प्राप्त हुए हैं। ये बड़े उद्बोधक और प्रेरणादायक हैं।

हिन्दी जैन साहित्य का रचे जाने का उद्देश्य सर्वजन हिताय रहा है। अतः वह सरल भाषा में और सीधी सादी लोकप्रिय हिन्दी शैली में ही अधिक रचा गया है। विद्वत्ता तथा कवित्व का प्रदर्शन जैन कवियों का उद्देश्य नहीं था। नृपतियों की चाटुकारिता, विद्वत्सभा में प्रतिष्ठा प्राप्ति और जनमनोरंजन भी उसका उद्देश्य नहीं था। अतः सन्त साहित्य की भांति उसका भी आदर होना चाहिये। सन्तों की वाणी में काव्य गुणों की दृष्टि न रखी जाकर भावों की मधुरता और प्रेरणा शक्ति से ही उनका मूल्यांकन करना चाहिये।
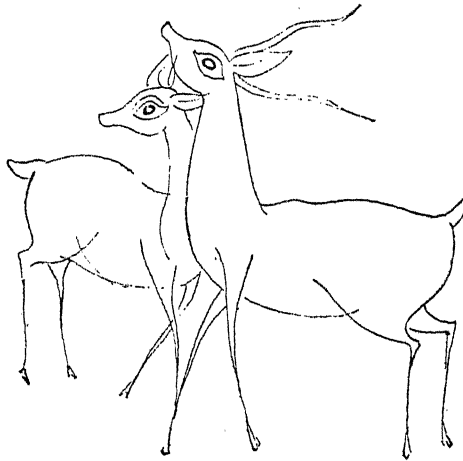
सूफी काव्य में प्रतीक योजना

डॉ० (श्रीमती) सरला शुक्ल एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

मध्ययुगीन शिल्पकला, चित्रकला, वास्तुकला एवं काव्य में प्रतीकों का प्रभाव था। प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर मानव-कल्पनाओं का अत्यधिक झुकाव होने के कारण प्रतीकों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम होता गया। सूफी कवि जो भाव-विभोर रहते हैं, अपने प्रिय के स्वरूप-ध्यान में निमग्न रहते हैं, उन्हें अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के हेतु प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। परम सौन्दर्यशाली ब्रह्म का वर्णन करना असम्भव है, फिर उसकी अनुभूति तो और भी अधिक अप्रेषणीय है। जो ब्रह्म को जानता है वह वाणी के माध्यम से उसे पूर्णरूपेण अभिव्यक्त नहीं कर पाता। यही कारण है कि सूफी कवियों को संकेतों तथा प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

परम तत्त्व की कल्पना नूर, ज्योति एवं अलख निरंजन के द्वारा सूफियों ने की है। अन्धकार से भयभीत मानव को प्रकाश या ज्योति की आवश्यकता सदैव रहती है। प्रकाश नैराश्य को नष्ट कर के मृत्यु-भय को दूर करता तथा अमरत्व प्रदान करने में समर्थ होता हैं। अविद्या, अज्ञान और अन्धकार नश्वरता के प्रतीक हैं। प्रकाश एवं ज्योति परमतत्त्व एवं ज्ञान के द्योतक हैं। प्रकाश और ज्ञान का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। विभिन्न कालों में प्रकाश के प्रतीक रूप में प्रयुक्त होने में इन सभी भावनाओं का योग रहा है।

इन्द्रियजनित विषय वासनाओं के लिये ठग एवं बटमार प्रतीकों का प्रयोग कवियों ने किया है जो साधक की साधनात्मक पूंजी का अपहरण कर के उसे नष्ट कर देते हैं। समशाह ने हंसजवाहिर में यही प्रयोग किया है :

हम बटमार न छांड़े काहू, देव सबै जो चहै बनाहू ।

चित्रावली में साधना के निरन्तर विकास को लक्षित करने में कवि ने मार्ग में आने वाले विषयात्मक अन्तरायों को 'पुरों' कहा है। इन पड़ावों या नगरों में ठहरकर भी उनकी ओर आकर्षित न होना साधक का कर्त्तव्य है। जो साधक इसमें सफल हो जाता है वही रूपनगर तक पहुंच पाता है।

प्रथम भोगपुर नग्र सोहाया, भोग विलास पाउ जहँ काया ।
आगे गोरखपुर जहाँ देसू, निबहै सोइ जो गोरख भेसू ।

× × ×

आगे नेह नगर भल देसू, रंक होइ जहाँ जाय नेरसू ।
आगे पंथ चलै पै सोई, जाके संग कछु भार न होई ।

इन्द्रिय-सुखों को कहीं-कहीं तस्कर भी कहा गया है। बन्दीखानों के द्वार पर बैठे हुए कठोर द्वारपालों के रूप में भी इनका वर्णन हुआ है। चित्रावली में उसमान कवि ने लिखा है :

तैं अब हीं घर आप न बूझा, द्वार देखि पिछवार न सूझा ।
बैठे देइं सेंध पिछवारे, भूसहिं तसकर घर अंधियारे ।

इन्द्रावती में कवि नूरमुहम्मद ने इन्हीं अन्तरायों को वन भी कहा है। ये वन इन्द्रिय-सुख के प्रतीक हैं।

पहले बन मों राज सरेखा, भांतिहि भांति का पच्छिय देखा ।
राजे कहा, जोग हम लीन्हा, आगम पहुंचै पर हित दीन्हा ।
दुसरे बन में राजा आएउ, मधुर सबद पच्छिनसों पाएउ ।

× × ×

तिसरे बन आएउ नरनाहां, मिललेउ सुगन्ध तहां बन माहां ।

वन का स्वरूप कवि ने माया की गहनता को ध्यान में रखते हुए चित्रित किया है। इन वनों से निष्कृति तभी सम्भव है जब साधक के नामस्मरण में लगन एवं दर्शन लालसा हो। नूर मुहम्मद ने इसी प्रकार अपनी अनुराग बांसुरी में पात्रों के नामकरण प्रतीकात्मक किये हैं। प्रत्येक पात्र का नाम गुणविशेष का द्योतक है। 'मूर्तिपुर' शरीर का राजा जीव जीवात्मा का प्रतीक है। जीव राजा का अन्तःकरण नामक पुत्र है। अन्तःकरण जीवात्मा को अतीव प्रिय है। अन्तःकरण सभी निश्चय अपने साथी संकल्प एवं विकल्प के कथनानुसार करता है। अतःकरण की संकल्पात्मक या विकल्पात्मक दो वृत्तियां हैं। अतः कवि ने संकल्प एवं विकल्प को अन्तःकरण का संघाती या संगी कहा है। बुद्धि, चित्त और अहंकार भी उसके सखा हैं। 'सरवन' ब्राह्मण श्रवण का तथा 'ज्ञातस्वाद' ब्राह्मण रसना का प्रतीक है। इन दोनों में 'विद्या' सम्बन्धी मैत्री है। इनका मिलन भी विद्यानगर में ही हुआ। 'रसना' का कहा 'श्रवण' हृदयंगम कर लेता है। इस प्रकार मानव अंगों एवं अन्तःकरण के स्नेह के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प को कवि ने रोचक गुणविशष के द्योतक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया है। शरीर का अधिपति जीवात्मा है, उसकी चेतना अन्तःकरण में सीमित है। जहां से वह निश्चय या अनिश्चय करता है। जिह्वा से कही एवं कानों से सुनी उस परमेश्वर की रूपगुण चर्चा पर वह आकर्षित होता है तथा दृढ़ संकल्प कर के केवल स्नेह का आधार लेकर अग्रसर होता है। काल के वशीभूत जीव भावना को इन कवियों ने कुछ प्रतीकों के आधार पर व्यक्त किया है, जिनमें मैना और बाज, मैना और मार्जारी प्रमुख हैं। शेख रहीम ने भाषा प्रेमरस में लिखा है :

काल सीस पर रैन दिन जैस बाज मंडराय।
जिउ की मैना पींजड़े सभै पाय लै जाय।।

'समुद्र' सदैव प्रेम का प्रतीक बना है। समुद्र की ही भांति प्रेम भी अत्यन्त गंभीर, विशाल एवं विस्तृत है। इस प्रेम समुद्र में साधक तभी डूबता एवं पथभ्रष्ट होता है, जब वह विधि-विधानों का उल्लंघन करता है। समुद्र में 'मरजीया' या अमर होकर निकलना प्रेम में आचूड़ निमग्न साधक के अमरत्व की ओर संकेत करता है। अली मुराद ने कुंवरावत में लिखा है :

मरजीया होके समुद्र में पल में जाओ समाय।
कर से मानिक गहि पकड़ अब ऊपर उतराय।।

'सिंहलगढ़' साधक के परीक्षा-स्थल या सिद्धपीठ के रूप में वर्णित होता रहा है। वहां पहुंचकर ही सिद्धि-लाभ सम्भव है ऐसा वर्णन भी प्राप्त होता है। नाथपंथियों एवं सूफियों दोनों को वहां सिद्धि-लाभ होता है। नाथपंथी सौन्दर्य-विमुख होकर सिद्धि पाता है और सूफी साधक सौन्दर्ययोपासना के द्वारा।

'जुल्फ' या अलक का वर्णन भुलावा देने वाले के रूप में कवियों ने किया है। लट का वर्णन अनिवार्य रूप से इन कवियों ने किया है। नूर मुहम्मद ने इन्द्रावती में लिखा है :

बुहँ उपवन पर लट लटकारी, तसी देवस मा निस अंधियारी।
एक कहा लट सों मुख सोभा, होत अधिक लखि मुरछा लोभा।।
एक कहा लट नागिन मारी, डसा गरल सों गिरा भिखारी।
एक कहा लट जाभिन होई राति जानि जोगी गा सोई।

तिल एकत्वका, शून्य का प्रतीक है। इन्द्रावती और चित्रावती इन दोनों में इसका वर्णन हुआ है :

तिल एक सुन्न इकाई केरा, तेहि दिस करत जगत जिय फेरा। —इन्द्रावती
परछाहीं तिल एक ही, सब नैनन्ह महं जोति। —चित्रावती

लब या अधर ईश्वर की जीवनदायिनी शक्ति है। इन्द्रावती में कवि लिखता है :

अधर तेहिक जिउ दाता आही।
देत भलो जीवन जस चाही।।

इसी प्रकार मदिरालय, मदिरा एवं साकी भी प्रतीक के रूप में वर्णित होते रहे हैं।

जीवात्मा के परमात्मा के प्रति प्रेम को इन कवियों ने कई प्रतीकों द्वारा व्यंजित किया है, जिनमें कमल और सूर्य, चन्द्रमा और चकोर, दीपक एवं पतंग, चुम्बक और लोहा, गुलाब और भ्रमर, राग और हरिण मुख्य हैं। इन प्रतीकों में कवि साध्य एवं साधक के बीच के व्यवधान की ओर भी संकेत करता है। सूर्य और कमल में, चन्द्रमा

और चकोर में बहुत दूरी है, किन्तु फिर भी इनकी एकनिष्ठता सराहनीय है। दीपक और पतंगे में प्रेम के त्यागमय स्वरूप की अभिव्यजंना है।

दर्पण साधक के हृदय का प्रतीक है, क्योंकि उसीमें परमेश्वर का प्रतिबिम्व दिखाई पड़ता है।

जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की चर्चा करते समय इन कवियों ने कहीं तो उनके तात्त्विक रूप में एकत्व का वर्णन किया है और कहीं उन्हें निर्माता एवं निर्मिति के रूप में दिखाया गया है। इसीलिये कहीं बूंद और समुद्र, सूर्य और किरण तथा कहीं चित्र एवं चित्रकार, नट एवं कठपुतली प्रतीक बने हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सूफी कवियों ने जिन प्रतीकों के माध्यम से अपनी भावनायें व्यक्त की हैं, वे चिरपरिचित हैं तथा उनसे सहज ही भावव्यंजना सम्भव है।

जायसी-काव्य में प्रयुक्त राजनीतिक शब्दावलि

डा० प्रभाकर शुक्ल, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

भाषा और लोक का सम्बन्ध अविच्छिन्न है । लोक-जीवन के विविध अंगों से सम्बद्ध शब्द समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार उत्पन्न तथा प्रयुक्त होते रहते हैं। ये सभी शब्द अमर नहीं होते । युग के परिवर्तन के साथ-साथ ये भी विकृत और परिवर्तित होते रहते हैं और कभी-कभी पूर्णरूपेण अनुपयोगी होने पर नष्ट भी हो जाते हैं; किन्तु यदि संयोग से किसी उत्कृष्ट साहित्यकार के सम्पर्क में आ जाते हैं तो उसकी लेखनी-सुधा का संस्पर्श पाने मात्र से इन्हें अक्षय जीवन मिल जाता है । उसकी रचना में स्थान पाकर ये युगों तक अपने काल की वस्तुओं, संस्थाओं तथा क्रियाकलापों के स्मारक बन पुरातत्त्व के अवशेषों की भांति अतीत का सजीव चित्र प्रस्तुत करते रहते हैं। जगत् तथा जीवन के अनवरत सम्पर्क और प्रभाव के कारण साहित्यकार के मानस-पटल पर जो अनुभूतियां ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से, धूमिल किंवा स्पष्ट रूप से अंकित हो जाया करती हैं, वे ही हृदय की गहराइयों के बांध तोड़कर, उसकी रचनाओं में अनायास प्रवाहित हो चलती हैं । इसी साहित्य-सरिता में ऐसे शब्द-रत्न भी बह आते हैं, जिन्हें प्राप्त कर ज्ञान की सम्पूर्ण दरिद्रता नष्ट हो जाती है। पाठक के सम्मुख अतीत फिर से नया संसार बन कर आ खड़ा होता है। जायसी का काव्य इसी प्रकार के शब्द-रत्नों का अनुपम भंडार है । पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के भारतीय जीवन की ऐसी सुन्दर, अविकल, प्रभविष्णु तथा जीवन्त प्रतिकृति साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है ।

जायसी ने नागरिक तथा ग्राम्य, दोनों प्रकार के जीवन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण चित्र अंकित किए हैं । पद्मावत की घटना-स्थली प्रायः नगर भूमि ही रही है । उसमें सिंहल, चित्तौड़ तथा दिल्ली का प्रमुख रूप से उल्लेख हुआ है । इन स्थानों के प्रसंग में कवि ने तत्कालीन नागरी सभ्यता और संस्कृति का सुन्दर परिचय किया है। इसके साथ ही ग्राम्य-जीवन से सम्बद्ध शब्दावलि भी जायसी-काव्य में प्राप्त होती है जो इस बात का ठोस प्रमाण है कि जायसी जन-कवि थे । नागरिक तथा ग्राम्य जीवन से सम्बद्ध इस समस्त उपलब्ध शब्दावलि को विश्लेषण की दृष्टि से सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, कला-कौशल सम्बन्धी, भौगोलिक तथा राजनीतिक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । इन सभी वर्गों में आने वाले शब्दों की संख्या प्रचुर है और सांस्कृतिक दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व है । यहां जायसी द्वारा प्रयुक्त राजनीतिक शब्दावलि का प्रयोग निर्देश किया जा रहा है ।

जायसी-काव्य में राज दरबार, शासन-व्यवस्था तथा युद्ध सम्बन्धी शब्दावलि यथेष्ट मात्रा में मिलती है। उनके युग में देश में राजतन्त्र था । राजा[१] ही पुहुमिपिति[२] (सं० पृथ्वीपति) होता था । हिन्दू सम्राट् को महाराजेसुर[३] और मुसलमान सम्राट् को सुलतान[४] (अ० सुल्तान), पातसाहि[५] (फा० पादशाह) अथवा साह[६] (फा० शाह) कहा जाता था । बड़े-बड़े नरपति[७], भुअपति[८] और छत्रपति[९] भी इनकी सत्ता स्वीकार करते थे । जायसी ने चक्रवर्ती सम्राट् के लिए चक्कवै[१०] (सं० चक्रवर्ती) शब्द का प्रयोग किया है। प्रधान रानी पाट परधानी[११] कहलाती थी और अन्य सभी रानी[१२] उसका आदर करती थीं। राजा गढ़[१३] में निवास करते थे। उनके निवास-स्थल को मंदिल[१४] (सं० मन्दिर) और रानियों के रहने के स्थान को रनिवास[१५] कहा गया है । राजा की सेवा करने के लिए बहुत-से दास-दासी होते थे । रनिवास में धामिनी,[१६]

---

१. प० १३।२   २. प० १३।७   ३. प० २७१।२   ४. प० १३।१
५. प० १३।६   ६. प० ४८६।१   ७. प० २६।७   ८. प० २६।७
९. प० २६।३   १०. प० ४६।९   ११. प० ४९।४   १२. प० ४९।५
१३. प० १४।८   १४. प० ८५।१   १५. प० २२८।१   १६. प० ८५।४

धाई[१७], चेरी[१८] तथा दासी[१९] रानी की परिचर्या करती थीं। राजबार[२०] (सं० राजद्वार) पर पाजी[२१] (सं० पत्ति), पंवरिया[२२] तथा पाहरू[२३] रहते थे। दुर्ग की सुरक्षा-व्यवस्था का निरीक्षण कोटवार[२४] (सं० कोट्टपाल) करते थे। अन्य पदाधिकारियों में असुपति[२५] (सं० अश्वपति), गजपति[२६] (सं० गजपति), गड़पति[२७] तथा महरा[२८] प्रमुख थे। शासन-व्यवस्था तथा अन्य राजकीय कार्यों में सहायता देने के लिए राज-सभा होती थी, जिसमें मंत्री, पंडित तथा अन्य सामन्तगण होते थे। मंत्री तो राजा को छर[२९] (सं० छल) का आश्रय लेने का मत[३०] भी देते थे किन्तु पंडित[३१] लोग शास्त्रसम्मत परामर्श ही दिया करते थे। सम्राटों की राजसभाओं में वरिष्ठ सभासद भी राजा[३२] कहलाते थे और मुकुटबन्ध[३३] होते थे। सम्राट् की ओर से वृत्ति पाने वाले सामन्तों की संज्ञा भोगी[३४] थी। प्रधान सामन्तों के लिए राउत[३५] (सं० राजपुत्र) उपाधि थी। हिन्दू राजा राय[३६] तथा देव[३७] उपाधि धारण करते थे। मुसलमान शासक भी अनेक खिताबें[३८] पाते थे। उनके दरबार[३९] में उमरा मीर[४०] बैठा करते थे। राजद्वार पर निसान[४१] बजा करता था।

जायसी ने राजवैभवसूचक सामग्री का भी उल्लेख किया है। इनमें चंवर[४२] (सं० चामर), छात[४३] (सं० छत्र), पाट[४४] (सं० पट्ट), मटुक[४५] (सं० मुकुट), चंदोवा[४६] (सं० चन्द्रापक), सिंघासन[४७] आदि की गणना की जा सकती है।

तत्कालीन शासन-व्यवस्था में पदाधिकारियों के अतिरिक्त दूत[४८] का स्थान भी महत्त्वपूर्ण था। जायसी ने इस अर्थ में बसीठ[४९] (सं० अवसृष्ट) और परेवा[५०] (सं० पारावत) शब्दों का व्यवहार किया है। कुछ दूति[५१] स्त्रियां भी गुप्त रूप से समाचार देती थीं। गुप्त समाचारों का पता लगाने वाले भेदी[५२] कहलाते थे। दूत लिखित और मौखिक सन्देश ले जाते थे।

राज्य में अदल[५३] (अ० अद्ल) अथवा निआउ[५४] (सं० न्याय) की भी व्यवस्था थी। अपराध[५५] करने पर अपराधियों को हथकरी[५६] (सं० हस्त कटक), बेरी[५७] (सं० वलय) और सांकरि[५८] (सं० शृंखला) में बांधकर मजूसा[५९] (सं० मंजूषा-कटघरा) में डाल दिया जाता था। बंदिवान[६०] लोगों को आदिल[६१] (अ० आदिल) के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था, जहां सपत[६२] (सं० शपथ) ली और साखी[६३] (सं० साक्षी) दी जाती थी। अपराध सिद्ध होने पर अनेक प्रकार के डांड[६४] (सं० दण्ड) दिए जाते थे। भयंकर अपराधों में बधिक[६५] अथवा जियबधा[६६] अपराधी को सूरी[६७] (सं०शूली) या फांसी[६८] (सं० पाशी) देने का काम करते थे। कभी-कभी देस-निसारा[६९] (सं० देशनिष्कासन) भी दिया जाता था।

जायसी-काव्य में मध्यकालीन प्रमुख शस्त्रास्त्रों की नामावली स्फुट प्रसंगों में मिलती है। हथियार के साधारण अर्थ में हतियार[७०] तथा अत्र[७१] (सं० अस्त्र) शब्द प्रयुक्त हैं। शस्त्रास्त्र के अर्थ में लोहैं[७२] शब्द भी प्रयुक्त है, यथा—

लोहैं दुहुं दिसि भएउ अघाऊ।[७३]
दर लोहैं दरपन भा आभा।[७४]

लोहे से निर्मित होने के कारण ही शस्त्रों को यह संज्ञा दी गई थी। अस्त्रों में प्रमुख स्थान तरवार[७५] (सं० तरवारि) का है। इससे मिलते-जुलते अन्य अस्त्रों में करवार[७६] (सं० करवाल), खरग,[७७] खांडा,[७८] कटारी,[७९] जमकातरि[८०]

---

१७. प० ८९।५ | १८. प० ३८५।३ | १९. प० ४६१।७ | २०. प० ४६।१
२१. प० ४४८।८ | २२. प० ४१।२ | २३. प० ५५२।८ | २४. प० ४१।३
२५. प० २६।६ | २६. प० २६।६ | २७. प० ४४।१ | २८. प० ३९२।६
२९. प० ६२१।७ | ३०. प० ५३१।७ | ३१. प० २३९।२ | ३२. प० २६३।५
३३. प० ४७।३ | ३४. प० २४१।२ | ३५. प० ५५८।१ | ३६. प० १३४।२
३७. प० ४९४।६ | ३८. प० १२।३ | ३९. प० १५।६ | ४०. प० ४५७।८
४१. प० ४७।३ | ४२. प० ४७०।५ | ४३. प० ४७।४ | ४४. प० १३।२
४५. प० ५१५।२ | ४६. प० २९१।४ | ४७. प० २८२।३ | ४८. प० ४५८।७
४९. प० २१७।७ | ५०. प० ५०२।१ | ५१. प० २४७।२ | ५२. प० २१५।५
५३. प० १५।१ | ५४. प० १५।७ | ५५. प० २११।६ | ५६. प० ५७६।१
५७. प० ५७६।१ | ५८. प० ५७६।१ | ५९. प० ५७६।२ | ६०. प० ५७८।१
६१. प० १५।२ | ६२. प० ५३७।५ | ६३. प० २७३।१ | ६४. प० ५७७।६
६५. प० ५७८।२ | ६६. प० ५७८।१ | ६७. प० २३९।६ | ६८. प० २४४।६
६९. प० ४४९।२ | ७०. प० १०२।२ | ७१. प० १०१।६ | ७२. प० ५१९।१
७३. प० ५१९।१ | ७४. प० ५२०।५ | ७५. प० ५१८।६ | ७६. प० ६३३।४
७७. प०१३।५ | ७८. प० १३।३ | ७९. प० २६३।२ | ८०. प० ३९४।३

या जमकाति[८१] (सं० यमकर्तृका) तथा तबल[८२] (फा० तबर) आदि आते हैं । तलवार की श्रणी के अन्य अस्त्रों में छुरी[८३] (सं० क्षुरिका), बांके[८४], (सं० वक्र)), कुंत[८५], नेजा[८६], (फा० नेज), सेल[८७], सांग[८८], भाल,[८९] (सं० भल्लक) आदि आते हैं। ढाल[९०] और उसके एक विशेष भेद ओड़न[९१] की चर्चा भी मिलती है। गदा के लिए गुरुज[९२] (फा० गुर्ज) शब्द प्रयुक्त है। धनुष को धनुक[९३] (सं० धनु:) और उसकी डोरी को पनच[९४] (सं० प्रत्यंचा) कहा गया है । लेजिम[९५] तथा जंत्र कमान[९६] विशेष प्रकार के धनुष थे। धनुष का अभिन्न अंग तीर,[९७] बान[९८] या सर[९९] है। बाणों के समूह को बनावरि[१००] (सं० बाणावली) कहा जाता था । बाण के एक विशेष भेद को अगिनबान[१०१] बताया गया है । जायसी ने मुसलमानों के नए अस्त्र तुपुक[१०२] (तु० तुपक) और उससे सम्बद्ध वस्तुओं का भी निर्देश किया है । गोला[१०३] (सं० गोल:), गोट[१०४], पलीता[१०५], (फा० फतील), दारू[१०६] (फा० बारूद) आदि ऐसे ही शब्द हैं । तोप के अर्थ में कमान[१०७], नारी[१०८], (सं० नलिका) शब्द भी प्रयुक्त हैं । तोपों के मुंह में लगी हुई पच्चर के लिए जोभ[१०९] और रसना[११०] शब्द प्राप्त होते हैं । कवि ने एक स्थान पर तोप के गोले बनाने की एक प्रक्रिया का भी संकेत किया है ।

औ बांधे गढ़ि गढ़ि मंतवारे । फाटैं धरति होहिं जिवधारे ।[१११]

पत्थरों के छोटे गोले-गोली गढ़कर बारूद में भर दिए जाते थे फिर उनके ऊपर मिट्टी, सन, रूई आदि को लपेट दिया जाता था। जब नीचे फैंके जाने पर वे फटते तो धरती पर छिटक कर मार करते थे। यहां गोलों के लिए मंतवारे शब्द का प्रयोग हुआ है । जायसी के युग में बारूद को दारू और तोपों को मंतवारी कहा जाता था —

दारू पियहिं सहज मंतवारी[११२]

तोपों के नाम के आधार पर ही सम्भवत: गोलों को मंतवारा कहा गया होगा । मिट्टी के तेल के गोलों के लिए अंगार[११३] शब्द व्यवहृत है। स्फुट शस्त्रास्त्रों में चक्र[११४] तथा नागफांस[११५] (सं० नागपाश) की चर्चा मिलती है।

जायसी-काव्य में युद्ध के लिए कई शब्द प्रयुक्त हैं, यथा लराई[११६], रन[११७], संग्राम[११८], जूझाई[११९], जूझ[१२०] आदि । सेना के लिए सैना,[१२१] अनी,[१२२] कटक,[१२३] तथा दर[१२४] शब्द व्यवहृत हैं । सेना के चार भाग होते थे—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल । जायसी ने गजदल,[१२५] असुदल,[१२६] रथ[१२७] तथा दर[१२८] कह कर इन सभी का संकेत किया है । घोड़े पर सवार सैनिकों को लिए असवार[१२९] शब्द आया है । सैनिकों में धानुक[१३०] (सं० धानुष्क) तथा भलइत[१३१] होते थे । सैनिकों के लिए जुझारू[१३२], सूर[१३३], वीर[१३४], बहादुर[१३५] और जंगी[१३६] शब्द मिलते हैं। युद्ध में सैनिकों के लिये विशिष्ट वेश-भषा आवश्यक थी। जायसी ने इस सन्दर्भ में झिलमिल,[१३७] सनाह,[१३८] (सं० सन्नाह), बकतर[१३९] (फा० बक्तर), जेबा,[१४०] खोलि,[१४१] टोपा,[१४२] कुंडि[१४३], राग[१४४] तथा पहुंची[१४५] का उल्लेख किया है । कवच के लिए 'लोह' शब्द भी प्रयुक्त है ।

लोहै सार पहिरि सब कोपा ।[१४६]

युद्ध-वर्णन में सैनिकों की वेशभूषा के साथ-साथ हाथी-घोड़ों की सज्जा से सम्बद्ध शब्द भी प्राप्त होते हैं, यथा—सिरी, टैआ, गजझांप, चौरासी, पोखर (दो० ५१३) तथा सारि[१४७] । यह हाथी तथा घोड़ों—दोनों की सज्जा में प्रयुक्त होते थे ।

जायसी ने तत्कालीन युद्ध-प्रणाली से सम्बद्ध अन्य अनेक शब्दों का भी व्यवहार किया है। शत्रु के लिए सतुरु[१४८],

---

८१. प० १६१।२ ८२. प० ४९९।२ ८३. प० ५४१।८ ८४. प० ५८०।४
८५. प० ५१८।६ ८६. प० ६३०।५ ८७. प० ५१८।४ ८८. प० ६३५।७
८९. प० ४१६।६ ९०. प० ५०५।५ ९१. प० ६३६।६ ९२. प० ६३६।७
९३. प० १०१।८ ९४. प० ५७३।३ ९५. प० ४९९।४ ९६. प० ४९९।३
९७. प० ४९९।३ ९८. प० १०१।८ ९९. प० ३५३।२ १००. प० १०४।३
१०१. प० ११३।५ १०२. प० ५०६।८ १०३. प० ५०६।१ १०४. प० ५२५।४
१०५. प० ५०६।८ १०६. प० ५०७।१ १०७. प० ५०६।१ १०८. प० ५०७।१
१०९. प० ५०६।६ ११०. प० ५०७।५ १११. प० ५०४।३ ११२. प० ५०७।१
११३. प० ५२३।६ ११४. प० १०१।८ ११५. प० २४४।३ ११६. प० २४।४
११७. प० २११।६ ११८. प० १९८।५ ११९. प० ५०८।८ १२०. प० २४२।२
१२१. प० १०४।२ १२२. प० १०४।१ १२३. प० २६।३ १२४. प० २६।३
१२५. प० ५१५।१ १२६. प० ५१५।१ १२७. प० २७७।२ १२८. प० २६।३
१२९. प० ५०५।२ १३०. प० ५०४।५ १३१. प० ५१४।९ १३२. प० १२।५
१३३. प० १३।४ १३४. प० २२।४ १३५. प० ४९९।३ १३६. प० ४९९।३
१३७. प० ३४१।५ १३८. प० ५१२।४ १३९. प० ६३०।८ १४०. प० ४९९।४
१४१. प० ४९९।४ १४२. प० ५१२।४ १४३. प० ६३०।८ १४४. प० ४९९।४
१४५. प० ५१२।४ १४६. प० ५१२।४ १४७. प० ४९७।१ १४८. प० ३७५।३

रिपु[१४९] तथा बैरि[१५०] शब्द आए हैं । आक्रमण करने के अर्थ में उठौनी[१५१] शब्द मिलता है । गढ़ के चारों ओर घेरा डालना अंगूठी[१५२] करना कहलाता था । कभी-कभी गढ़ पर ढोवा[१५३] कर के उसे छेंका[१५४] जाता था । उसमें सुरंग[१५५] भी लगाई जाती थी और दुर्ग के सम्मुख गरगज[१५६] (ऊंचाई पर से तोपें चलाने के लिए निर्मित टीला) बांध कर गोले फेंके जाते थे । शत्रु-पक्ष के खेमों में आग लगाने के लिए दुर्ग से जलती हुई लूक[१५७] (सं० उल्का) को धनुष से फेंका जाता था । नीचे खड़े हुए शत्रु-पक्ष को नष्ट करने के लिए पत्थर की सिला[१५८] तथा कोल्हु[१५९] को भी कोट से गिराया जाता था । प्रत्येक दल के साथ बैरख[१६०] (तु० बैरक) या धुजा[१६१] होती थी । एक अचल धुजा[१६२] भी होती थी जो सेना के पीछे गाड़ी जाती थी । सैनिक उससे पीछे हटने की अपेक्षा खेत[१६३] रहना श्रेयस्कर समझते थे । हार होते हुए देख कर लड़ते हुए मर मिटने की क्रिया को साका[१६४] और उसे करने वाले व्यक्ति को सकवंधी[१६५] कहा गया है । युद्ध में सफलता न मिलने वाले पर मेराठ[१६६] (सं० मेलापक) का प्रस्ताव भी रखा जाता था ।

जायसी-काव्य में उपलब्ध उक्त राजनीतिक शब्दावलि मात्र के आधार पर तत्कालीन राजनीतिक जीवन से सम्बद्ध जो संकेत प्राप्त होते हैं, वे यह भली प्रकार सिद्ध कर देते हैं कि जायसी ने उस पक्ष को बड़ी रुचि से अपनाया था, इसीसे उनकी भाषा इतनी अर्थवती हो गई है । यह सत्य है कि कवि ने बहुत-से शब्दों को पूर्ववर्ती साहित्य तथा परम्परा से भी ग्रहण किया है किन्तु इतना सर्वथा निश्चित है कि अधिकांश प्रयुक्त शब्द जायसी के युग का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं और हिन्दी साहित्य में अपने युग की अमूल्य धरोहर बन सुरक्षित हैं ।

---

१४९. प० ५३३।५ १५०. प० ३३४।३ १५१. प० ६३०।७ १५२. प० ५७५।४
१५३. प० ५२४।२ १५४. प० २४।४ १५५. प० २१५।६ १५६. प० ५२५।२
१५७. प० ५२३।४ १५८. प० ५२३।४ १५९. प० ५२३।५ १६०. प० ५०५।५
१६१. प० ३४४।२ १६२. प० ३१५।३ १६३. प० ४९८।९ १६४. प० २४२।५
१६५. प० ४९१।४ १६६. प० ५३३।४ ।

प्रस्तुत निबन्ध में निम्नलिखित सक्षिप्त रूप प्रयुक्त हैं :

प० = पद्मावत; अ० = अरबी ।
फा० = फारसी; सं० = संस्कृत । तु० = तुर्की

प्रस्तुत विवेचना में डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' को आधार बनाया गया है ।

कृष्ण-काव्य का प्रभुत्व एवं महत्त्व

डॉ० बालमुकुन्द गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर।

कृष्ण-काव्य का क्षेत्र अपार एवं असीमित है। वैभिन्न्य एवं वैविध्य की दृष्टि से यह अत्यन्त ही समृद्ध है। उसकी प्रभुविष्णुता अपरिमेय है। वह अतुल गौरव एवं महान् ऐश्वर्य से मण्डित है। उसकी ऐतिहासिक शृंखला अटूट है, उसकी परम्पराएं अक्षुण्ण हैं। केवल इस देश के विभिन्न प्रदेशों को ही नहीं, वरन् बृहत्तर भारत के सुदूर स्थित कोने-कोने को भी इसने अत्यधिक प्रभावित किया है। दीर्घकाल से यह भारतीय संस्कृति के साथ पग से पग मिलाकर चलता चला आ रहा है और उसे अभूतपूर्व प्रगति एवं उत्कर्ष प्रदान करता रहा है। जावा, चम्पा, कम्बोडिया तथा बालि द्वीपसमूहों के देवालयों, अभिलेखों, शास्त्रों आदि से यह प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है कि कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध कथाओं ने इन देशों के राष्ट्रीय जीवन को महान् प्रेरणा प्रदान की है।

भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में कृष्ण-काव्य को एक अत्यंत प्रतिष्ठित पद प्राप्त है। डा० अमरनाथ झा के कथनानुसार, "कृष्ण-काव्य गुजराती, बंगला और मैथिली साहित्य का प्रधान अंग है। कृष्ण के अतिरिक्त किसी भी मनुष्य अथवा अवतार के सम्बन्ध में इतनी कविताएं नहीं लिखी गईं।" गुजराती, तेलगू, मलयालम और कन्नड आदि के साहित्य से यदि कृष्ण-काव्य का अंश निकाल दिया जाय तो वे अपने स्वाभाविक सौन्दर्य एवं आकर्षण का अधिकांश खो बैठेंगी और यदि श्रीमद्भागवत एवं गीतगोविन्द जैसी महान् कृतियां संस्कृत साहित्य से पृथक् कर दी जायं तो संस्कृत के साहित्य-भंडार को भी अपार क्षति पहुंचेगी।

कृष्ण-काव्य हिन्दी-साहित्य की तो अमूल्य निधि एवं गौरव-स्तम्भ है। इसके अभाव में हिन्दी-साहित्य भावनात्मक रसज्ञता, धार्मिक अनुभूति, कलात्मक सौन्दर्य एवं सुमधुर संगीत; सभी दृष्टियों से अत्यन्त हीन और निर्धन हो जायगा। हिन्दी-साहित्य को इस काव्य धारा ने विद्यापति, सूरदास, परमानन्ददास, मीरा, नन्ददास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'रत्नाकर' और अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे देदीप्यमान रत्न प्रदान किये हैं। आधुनिक युग में भी कृष्ण-काव्य धारा ने मैथिलीशरण गुप्त और द्वारकाप्रसाद मिश्र जैसे महान् कवियों को जन्म दिया है और अन्य अनेक कृष्ण-भक्त कवियों ने भी हिन्दी-काव्य को सम्पन्न बनाया है। साथ ही कृष्ण-काव्य ने ब्रजभाषा को अभूतपूर्व प्रांजलता, माधुर्य एवं संगीतात्मकता प्रदान की और उसे नवीन शैली एवं नवीन अभिव्यंजना से अलंकृत किया। रहस्यवादी तथा प्रतीकात्मक काव्य की रमणीयता और मनोहरता कृष्ण-काव्य के कवियों की ब्रजभाषा की ही देन है। अलंकारों के क्षेत्र में भी कृष्ण-काव्य ने अभूतपूर्व श्रीवृद्धि की है। अष्टछाप के कवियों ने ही इतने अधिक अलंकार प्रयुक्त किये हैं कि उन्हें क्रम से सजाने, उनका वर्गीकरण करने तथा लक्षण आदि स्पष्ट करने के लिये एक आचार्य की प्रतिभा अपेक्षित है। इस काव्य-धारा ने कथन की अनूठी पद्धति को जन्म दिया, प्राचीन शब्दों का पुनरावर्तन किया तथा नवीन शब्दों के निर्माण और ग्रहण करने में अपूर्व क्षमता दिखलाई। इस प्रकार ब्रजभाषा को सुसम्पन्न और समृद्ध करने का सम्पूर्ण श्रेय कृष्ण-काव्य को ही है।

कृष्ण-काव्य ने केवल हिन्दी-साहित्य और ब्रजभाषा को श्रीसंपन्न ही नहीं किया, वरन् उसने बाह्य आक्रमणों से भारतीय संस्कृति की भलीभांति रक्षा करके उसे एक विकासोन्मुख नूतन रूप प्रदान किया है, जिससे भारतीय संस्कृति का प्रभाव दूरस्थ देशों में भी व्याप्त हो गया।

संस्कृति का मूल तात्पर्य मानव-वृत्तियों को प्रशिक्षित, परिमार्जित, सचेष्ट, सजग एवं कला-मर्मज्ञ बनाना है।

(Culture means : "Act of Cultivating, Instruction, Training, Enlightenment, Refinement." —The Oxford English Dictionary.)

किन्तु अब इसका अर्थ अत्यन्त विस्तृत और व्यापक हो गया है। अब संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी प्रवृत्तियों

की गणना होती है जो एक उन्नतिशील समाज की रचना के लिये अपेक्षित हैं, यथा—मानव के पारस्परिक सम्बन्ध एवं लौकिक व्यवहार, सामाजिक रीति-रिवाज, सामान्य आचार-विचार, दर्शन, कला-कौशल, उत्सव एवं त्यौहार आदि। जब कोई राष्ट्र इन्हें विस्मृत कर देता है तो वह अपने व्यक्तित्व को खो बैठता है और नष्ट हो जाता है। कृष्ण-काव्य ने भारतीय संस्कृति की आभा को इस प्रकार विकीर्ण किया है कि मुगल-दरबार की चमक-दमक भी सर्वसाधारण को अपनी ओर आकर्षित न कर सकी और जन-मानस सदैव भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप में ही अनुरक्त रहा। भारतीय संस्कृति ने अपनी महिमा एवं अद्भुत आकर्षण से रसखान, रहीम, ताज प्रभृति अनेक विजातीय कवियों को भी बरबस अपनी ओर खींच लिया। कृष्ण-काव्य के कारण ही भारतीय संस्कृति को वह सामर्थ्य एवं क्षमता प्राप्त हुई, जिससे वह इस्लामी संस्कृति के घात-प्रतिघातों को सर्वथा विफल बना सकी। कृष्ण-काव्य के द्वारा प्रादुर्भूत पुनर्जागरण ने ही भारत को वह शक्ति प्रदान की जिससे उसने इस्लाम का दोनों क्षेत्रों, आध्यात्मिक और भौतिक, में डट कर सामना किया।

मध्ययुग के अराजकतापूर्ण वातावरण ने दर्शन को सर्वाधिक आघात पहुंचाया है। संस्कृत भाषा की लोकप्रियता विनष्ट हो जाने से इस काल में दर्शन का ज्ञान एक प्रकार से दुर्लभ हो गया। संत-कवियों ने यद्यपि प्रमुख प्रचलित भाषाओं में अपने उपदेशों द्वारा दर्शन की चर्चा करने का प्रयत्न किया किन्तु उनका दर्शन-दिग्दर्शन अधूरा ही था। उनके उपदेशों में तार्किकता कम एवं व्यंग्योक्तियों की कटुता अधिक होती थी जिससे उनके उपदेश अधिक प्रभावशाली एवं स्थायी नहीं बन पाये। यत्र-तत्र प्रतिभा का चमत्कार अवश्य दिखाई देता था किन्तु दर्शन का सम्यक् विकास दृष्टिगत नहीं हुआ, जिससे जन-साधारण के हृदय पर भारतीय दर्शन की महत्ता एवं प्रभुता की छाप धुंधली पड़ने लगी और शनैः शनैः वे इस्लामी प्रभाव के शिकार होने लगे। भारतीय विचारधारा के विरुद्ध यह जिहाद सफल हो गया होता यदि कृष्ण-काव्य ने गत्यवरोध उत्पन्न न किया होता। विभिन्न कृष्णायत साम्प्रदायिक आचार्यों ने भारतीय दर्शन पर अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे और विविध उपासना-पद्धतियों के कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी सुमधुर रचनाओं द्वारा इस दर्शन को जन-जीवन के बीच पहुंचा दिया। शंकर का मायावाद, बुद्ध का निराशावाद और सन्त-कवियों का भाग्यवाद मुसलमानों के भोग-विलास एवं ऐहिकता के सामने प्रभावशून्य सिद्ध हो चुके थे और संसार की नश्वरता एवं निस्सारता की निरंतर चर्चा ने हिन्दू-समाज में उदासीनता एवं नैराश्य को जन्म दे दिया था। ऐसी विषम परिस्थितियों में ग्रस्त हिन्दू-समाज में कृष्ण-काव्य ने वेदों के आनन्दवाद को पुनः प्रतिष्ठित किया और हिन्दू जन-जीवन में नव आशा, नव उत्साह और नव जीवन का संचार किया। दार्शनिक क्षेत्र में पुनरुद्धार का यह प्रयत्न कृष्ण-काव्य की अभूतपूर्व देन है। इसने विरोध पक्ष को पराभूत करने और अपनी स्थिति संरक्षण आदि में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कृष्ण-काव्य के सहयोग से ही, विचारों के संघर्ष के बीच भारतीय दर्शन अपनी महत्ता पुनः स्थापित कर सका और एक महान् शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो सका। कृष्ण-काव्य के माध्यम से इसने जनता के मस्तिष्क में प्रविष्ट विषाद और निराशा के वातावरण को छिन्न-भिन्न कर दिया, दबी हुई मनोवृत्तियों में शक्ति का संचार किया और राष्ट्र को शक्तिसम्पन्न बनाया; उसे नव-स्फूर्ति, क्रियाशीलता एवं सजगता प्रदान की।

इस्लाम का संघर्ष और विरोध ऐहिक पक्ष में और भी शक्तिशाली था, किन्तु कृष्ण-काव्यकारों की प्रतिभा को बधाई, जिसने भारतीय संस्कृति को विनाश से बचा लिया। इन कवियों ने सामान्य हिन्दू-जीवन का सम्यक् एवं सुचारु चित्र प्रस्तुत किया जिससे जन-साधारण का विदेशी प्रभाव से पराभूत होना कठिन हो गया। भारतीय जनता के दिन-प्रतिदिन के जीवन पर कृष्ण-काव्य का इतना व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है कि उसका पर्यालोचन उनके भोजन-वस्त्रादि में, रहन-सहन में, त्यौहारों और पर्वों में, संस्कारों और धार्मिक कृत्यों में भली-भांति किया जा सकता है।

त्यौहार, पर्व आदि संस्कृति के अभिन्न अंग होते हैं। प्रत्येक समाज में उनका विशेष स्थान रहता है, क्योंकि वे राष्ट्र की अपूर्व शक्ति एवं समृद्धि के परिचायक हैं। त्यौहार, उत्सव एवं पर्वों की दृष्टि से भारत सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध रहा है। इन उत्सवों और त्यौहारों की उत्पत्ति इतने आनन्द-विलास में हुई है और इनके मनाने में इतना वैभव प्रदर्शन हुआ है कि कुछ विदेशी, जो कि इन उत्सवों और त्यौहारों के परिणामों और प्रभावों से अवगत न थे, इसे राष्ट्रीय सम्पत्ति और राष्ट्रीय साधनों का दुरुपयोग ही समझ बैठे। "प्रत्येक दिन एक भारतीय के लिये दावत का दिन है"—यह लोकोक्ति प्राचीन समय में हमारी समृद्धि की ओर ही संकेत करती है। इन त्यौहारों और उत्सवों ने रीति-रिवाजों, जाति-वंश बन्धनों रहन-सहन, पहनावे तथा भाषा के विभेदों के रहते हुए भी भारत में एकता स्थापित करने का महान् कार्य किया है। इस परिपाटी ने जन-जीवन के मस्तिष्क पर भारतीय इतिहास और संस्कृति की अत्यन्त गहरी छाप डाली है। फलस्वरूप जनता में जागरूकता, आत्म-सम्मान की भावना तथा देश के प्राचीन गौरव और वैभव के प्रति गर्व की भावना सदैव सजग रही।

नित्य प्रति धार्मिक देवालयों में जाना, देवताओं के सम्मान में वैभव-पूर्ण उत्सवों और त्यौहारों का अनुगमन भारतीय सामाजिक पद्धति की परम्परा रही है। वैदिक साहित्य में प्रायः हमारे सभी त्यौहारों की उत्पत्ति पाई जाती है। प्रारम्भ में सभी उत्सव त्यौहारों की पृष्ठभूमि धार्मिक अथवा आध्यात्मिक ही रही किन्तु उनको सामाजिक और सांस्कृतिक

महत्त्व देने का श्रेय प्रमुखतः कृष्ण-काव्य के कवियों को ही है। उन्होंने इन धार्मिक कृत्यों को सामाजिक रूप एवं महत्त्व प्रदान कर राष्ट्र में एक नया जीवन उपस्थित किया ।

भारत में मनाये जाने वाले त्यौहारों की एक लम्बी सूची है। उनमें से प्रमुख हैं—जन्माष्टमी, राधाष्टमी, दशहरा, धनतेरस, दीपावली, गोवर्धन-पूजा, होली, अक्षय तृतीया, रथयात्रा, रक्षाबन्धन, हिंडोला, फुहार का मेला, नागपंचमी, कार्तिकी, शिवरात्रि, नवरात्रि, दुर्गापूजा, बसन्त-पंचमी, गणेश-चतुर्थी, हरचौथ और गोक्रीडा आदि ।

इनमें से वर्ष के अधिकांश महत्त्वपूर्ण त्यौहार या तो कृष्ण से प्रत्यक्ष रूप में ही सम्बन्धित हैं अथवा वे कृष्ण-काव्य से अत्यधिक प्रभावित हैं।

क्रम से, कैलेण्डर के अनुसार, महीने के प्रमुख धार्मिक त्यौहारों में नवरात्रि सर्वप्रथम त्यौहार है। यह दुर्गादेवी के सम्मान में मनाया जाता है। अक्षय-तृतीया वैसाख महीने में मनाई जाती है। अष्टछाप के कवि कुम्भनदास ने अपने एक पद में इसका बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है :

चन्दन पहिरत गिरिधर लाल,
कंचनबेलि प्यारी राधा के भुज वाम भाग गोपाल ।
प्रथम ही चित्रित अछय तृतीय वदन, भृकुटी भाल ।।
(कुम्भनदास : पद ८६)

जेठ में एकादशी का अत्यन्त महत्त्व है। आषाढ़ में धोंधा धरनी एकादशी बड़े ही उत्साह से मनाई जाती है। इस दिन बहुत-से लोग गोवर्धन के चारों ओर घूमते हैं। भारत में सावन का महीना आनन्द व उल्लास का महीना है। धरती उस समय हरी-हरी घास से आच्छादित होती है। शीतल, सुगन्धित, मन्द समीर प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में नया जीवन भर देता है। इस अवसर पर स्त्रियां और लड़कियां आनन्दित होकर कृष्ण-लीला के गीत गाती हैं और पुरुष वर्ग भी इस अवसर पर कृष्ण-जीवन पर 'रसिया' गाते हैं।

कृष्ण-जन्म के उपलक्ष्य में भादों के महीने में जन्माष्टमी का लोकप्रिय त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन सम्पूर्ण भारत में एक अपूर्व आनन्द की लहर फैल जाती है और कृष्ण-काव्य के सभी कवियों ने अनेक गीत इस अवसर पर गाये हैं। रथयात्रा, राधासप्तमी और फूलमण्डली आदि अन्य ऐसे शुभ अवसर हैं जो कि राधा और कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध कथाओं पर आधारित हैं।

आश्विन के महीने में कृष्ण के जीवन पर आधारित झांझी और टेसू के गीत गाये जाते हैं। ये अपना माधुर्य सम्पूर्ण वातावरण में भर देते हैं जो दशहरा तक चलता है। आश्विन के अन्तिम पक्ष में नवदुर्गा, दशहरा, राम-लीला, शरदपूर्णिमा आदि अन्य उल्लेखनीय त्यौहार मनाये जाते हैं।

कार्तिक के महीने में भी अनेक त्यौहार मनाये जाते हैं। दीपावली उनमें से प्रमुख त्यौहार है जो देश-भर में पूर्ण वैभव के साथ मनाया जाता है। इस प्रसन्नता के अवसर पर मनुष्य यह नहीं विस्मृत करते कि कृष्ण ने दैत्य नरकेश्वर के अत्याचारी कारागार से अनेक राजा और रानियों को छुड़ाया था। गोवर्धनपूजा दीपावली के दूसरे दिन सम्पन्न होती है। यह केवल कृष्ण की अप्रत्यक्ष रूप से उपासना है। दीपावली के अतिरिक्त करवा-चौथ, अहोई-आठें, धन-तेरस, रूप-चौदस, अन्नकूट, भैयादूज, अक्षय नौमी, कंसवध, देवठानी एकादशी और गंगापूनों आदि अन्य त्यौहार इस महीने में असीम आनन्द और उल्लास बिखर देते हैं।

पूस और माघ के महीने में संक्रान्ति और बसन्त पंचमी बहुत ही महत्त्वपूर्ण त्यौहार हैं। ये बहुत ही आनन्द के साथ मनाये जाते हैं। फागुन के महीने के प्रमुख त्यौहार शिव तेरस और होली हैं। भारत में होली त्यौहार का राष्ट्रीय महत्त्व भी है। होली कई दिन तक चलती है और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रेम, मित्रता तथा आनन्द की भावना भर देती है। यह त्यौहार कृष्ण-काव्य के कवियों के गीतों से परिपूर्ण है और उनके अभाव में होली का आनन्द और विनोद व्यर्थ ही प्रतीत होता है। निम्न प्रकार के गीत जीवन में आनन्द तथा विनोद की अनुभूति उत्पन्न कर देते हैं :

खेलत आज कुंवर संग होली ।
सखा मण्डली इत ते धाई,
उत ते आई नवल किसोरी ।
एक लिये केसरि पिचकारी,
एक अबीर गुलालनि झोरी ।
(सूरसागर, पद ३६)

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत वर्ष के प्रायः सभी त्यौहारों का वर्णन प्राप्त

होता है जिनके द्वारा वह समाज में आनन्द और नवजीवन का संचार करने में सफल हुआ है। उन्होंने इन उत्सवों और त्यौहारों का इतना सुन्दर और आकर्षक वर्णन किया है कि वे हमारे जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं। ऐसे सुन्दर अवसरों को मनाने के हेतु उपर्युक्त वातावरण को जन्म देने में भी कृष्ण-काव्य ने अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया है।

अकेले त्यौहार ही नहीं वरन् हमारे अन्यान्य पर्व, उत्सव एवं अनेक संस्कार भी कृष्ण-काव्य द्वारा असामान्य रूप से प्रभावित हुए हैं। कोई भी शुभ उत्सव भले ही वह किंचित् महत्त्व का ही क्यों न हो, इन कवियों के गीतों के अभाव में पूर्ण नहीं हो पाता। शिशु-जन्म के अवसर पर के गीत (सोहर), लोरियां, कनछेदन के अवसर पर की मधुर ध्वनियां, यज्ञोपवीत संस्कार पर गाये जाने वाले गीत तथा पाणिग्रहण, भांवरि एवं कंकण खोलने के अवसर के गीत इस काव्य-धारा के गीतों में उपलब्ध हैं, क्योंकि कृष्ण-काव्य जीवन के सभी अवसरों पर गीत प्रस्तुत करता है :

(क) **कान्ह कुंवर को कन छेदनो है,**
हाथ सुहारी भेली गुर की।
विधि विहंसत, हरि हंसत,
हेरि हरि यशुमति के धुकधुकी उर की ॥

(ख) **नहिं छूटे मोहन डोरना हो।**
बड़े हौ बहुत, अब छोरिये हो,
ये गोकुल के राइ।
कै कर जोरि करी बिनती,
कै छुऔ श्री राधा जी के पांइ।
(कंकण खोलना)

इस प्रकार कृष्ण-काव्य ने मनुष्य के जन्म से ब्याह आदि सभी उत्सवों पर गीत प्रदत्त किये हैं। अतएव हमारे सभी संस्कार अपनी सम्पन्नता, बहुलता, आकर्षण एवं आनन्द-उल्लास के लिये इसके परम ऋणी हैं।

व्रत तथा शुभावसरों पर पवित्र जल में स्नान और समारोह आदि का भी हमारी संस्कृति में विशेष महत्त्व है। कृष्ण-काव्य में गौरी-पूजा, सूर्य-पूजा, व्रत, जमुनास्नान का वर्णन अत्यन्त विशद रूप में वर्णित है। मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, कुरुक्षेत्र आदि पवित्र स्थानों पर निश्चित पर्व में स्नान करना आत्मा के लिये विशेष रूप से हितकर माना गया है। इस विश्वास ने आर्य संस्कृति के उद्भव में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। भारतीय आदर्शों के प्रचारक यही प्रमुख केन्द्र थे जहां से इन नवीन आदर्शों का प्रचार सम्पूर्ण देश भर में होता था, क्योंकि ये प्रमुख केन्द्र वर्ष में एक निश्चित तिथि पर विशाल जन समुदाय आकर्षित करते थे। इन पवित्र स्थानों का भी कृष्ण-काव्य में सुन्दर ढंग से वर्णन प्राप्त होता है।

कृष्ण-काव्य सामाजिक उत्सवों और राष्ट्रीय पर्वों तक ही सीमित नहीं है। भारतीय भोजन, वस्त्र, साज-सज्जा तथा आभूषणों आदि की अभिरुचि पर भी इसका प्रभाव अमिट है। भोग, राग और श्रृंगार कृष्ण-भक्ति में भगवान् की सेवाविधि के विभिन्न प्रकार हैं। अतएव कृष्ण-काव्य के कवियों ने अपने गीतों में उनके विशद वर्णन के लिये विशेष प्रयास किया है। 'भोग' प्रमुख महत्त्व का होने के कारण अधिक आकर्षण का केन्द्र रहा है और इन कवियों ने उस पर विशेष ध्यान दिया है तथा उन सभी व्यंजनों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जो कि प्रातःकाल, मध्याह्न काल और सायंकाल में खाये जाते हैं। ये ५६ प्रकार के विभिन्न व्यंजन आज भी देवता या आराध्य के प्रति अन्नकूट के दिन समर्पित किये जाते हैं। सूरदास और अन्य कृष्ण-कवि इन विभिन्न प्रकार के व्यंजनों के वर्णन में विशेष वाक्पुट रहे हैं।

(सूरसागर, ना० प्र० स०, पृ० ४२१, पद ८३१)

कृष्ण-काव्य धारा में राधा और कृष्ण के श्रृंगार पर भी उन्हें महान् बनाने के हेतु विशेष बल दिया गया है। इनके सतत प्रयास से ही कृष्ण की लोकप्रियता दूसरों के लिये आकर्षण का केन्द्र बन गई है। इस लोकप्रियता से राधा और कृष्ण के आभूषणों और पहनावे का अनुकरण स्वाभाविक हो गया। आभूषण शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि कर हृदय में आनन्द उत्पन्न करते हैं। अनुभवी व्यक्तियों का कथन है कि कुछ आभूषणों का प्रभाव शारीरिक स्वास्थ्य पर भी आश्चर्यजनक होता है। किसी-किसी आभूषण को धारण करने से विभिन्न प्रकार के रोग ठीक हो जाते हैं। आर्य सभ्यता में सांसारिक उत्कर्ष परित्यक्त नहीं किया गया है। इसलिये आभूषणों को, जो भौतिक समृद्धि के प्रतीक हैं, एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। कृष्ण-काव्य के कवियों ने आभूषणों की एक विशाल सूची प्रस्तुत की है जो कि सिर से एड़ी तक शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि के लिये तथा सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये धारण किये जाते हैं। सूरदास ने सूरसागर ना० प्र० स० पृ० २३६ और २४० पद सं० २९३ और २१५८ में आभूषणों के नाम इस प्रकार दिये हैं :

मस्तक के—मुकुट, सेहरा, टिपारा, कुल्हे, पाग, दुमाला, फेंटा, पगा, क्रीट, खूंप, चन्द्रिका, तुरि, कतारा।

कण्ठ के—कण्ठी, दुलरी, तिलरी, हमेल, हास, बघनखा, पचलराहार, सतलराहार, नौसरहार, चौकपदम ।

हस्त के—बाजू, पहोची, कंकन, मुद्रिका, हस्तफूल ।

कटि के—क्षुद्रघंटिका, कदिपेच ।

चरण के—पायल, नूपुर, जेहर, बिछिया, पगवान, अनवट ।

मुख के—नकबसर, चिबुक, मकराकृत-कुंडल, ताटंक, सीसफूल ।

कृष्ण-काव्य में आज भी राधा और कृष्ण के शृंगार प्रसाधन का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । कृष्ण-काव्य उस समय में प्रचलित आभूषणों तथा वस्त्रों के वर्णन का अजस्र भण्डार है । बहुमूल्य पोशाकों का वर्णन भारतीय समृद्धि और उत्कर्ष का द्योतक ही नहीं कहा जा सकता है , वरन् इसने भारतीय पोशाकों की लोकप्रियता में मुसलमानी पहनावे की अपेक्षा अधिक अभिवृद्धि की है । कृष्ण-काव्य के कवियों द्वारा दी गई सूची में स्त्री-पुरुष दोनों के वस्त्रों का विशद रूप में वर्णन मिलता है। आज भी तुर्रा का प्रयोग साफे में तथा काले धब्बे का प्रयोग बच्चे के मस्तक पर होता है । यह श्रेय कृष्ण-काव्य के कवि को है, जिसके द्वारा प्रयुक्त की गई यह रीति इतने प्रचलन में आ गई । यह कृष्ण-काव्य की ही महानता है कि इतने राजनीतिक, सामाजिक विप्लवों के होने पर भी इनके द्वारा वर्णित वस्त्रादि आभूषण तथा साज-सज्जा आदि में बहुत कम परिवर्तन हो पाया है ।

कृष्ण भारतीय जन-जीवन के साथ एकदम घुले-मिले हैं । इस अर्धमानव और अर्धदेवता को विस्मृत नहीं किया जा सकता । यह कृष्ण-काव्य के कवियों की प्रतिभा की ही देन है कि उन्होंने धर्म को जीवन के अत्यन्त निकट ला दिया है और भारतीय ऐश्वर्य एवं वैभव का उन्नत स्तर पर रहस्योद्घाटन किया है ।

जीवन-सौन्दर्य ने ललित कलाओं के द्वारा ही अभिव्यक्ति की है । स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और नृत्यकला आदि सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपनी उत्पत्ति और उद्गम के लिये कृष्ण-काव्य की अत्यधिक ऋणी हैं । कृष्ण-काव्य इन कलाओं के विकास एवं उत्थान में, सहायक तथा पथ-प्रदर्शक का काम भी करता रहा है ।

ललित-कलाओं में स्थापत्यकला का भारत में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । असंख्य देवालयों तथा स्तूपों का निर्माण भारत में इतना सुन्दर हुआ है कि वे किसी भी देश के लिये अभिमान और गौरव के प्रतीक हो सकते हैं । कृष्ण-मन्दिरों का निर्माण ईसा से ८० शताब्दी पूर्व भी बहुतायत से हुआ है, किन्तु मध्यकालीन युग में उनकी संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई । इनमें से अधिकांश का निर्माण-कार्य कृष्ण-काव्य के प्रभाव के फलस्वरूप ही सम्पन्न हुआ, यद्यपि मुसलमानों के आक्रमणों तथा मुस्लिम शासकों की मूर्ति-पूजा विरोधी भावनाओं ने भारतीय स्थापत्यकला की उन्नति को १२वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक बहुत कुछ दबाये रखा । अतः उस बीच किसी भी महत्त्वपूर्ण मन्दिर का निर्माण नहीं हो सका ।

१६वीं शताब्दी में अकबर ने हिन्दू मन्दिरों को पुनः नये रूप में बनवाने तथा जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों की मरम्मत करने की आज्ञा दे दी थी । उस समय के चार मन्दिर आज भी मथुरा में विद्यमान हैं । इन सभी मन्दिरों में स्वामी गोविन्ददासजी का मन्दिर शिल्पकला की दृष्टि से पूर्णतया अद्वितीय है । यह मन्दिर कछवाहा के राजकुमार मानसिंह द्वारा उनके गुरुद्वय श्री रूप और श्री सनातन की इच्छा पूर्ति के निमित्त बनवाया गया था ।

यह मन्दिर १२ फुट के धरातल पर २,००,११२ फुट में बना हुआ है । यद्यपि इस मन्दिर का गुम्बज औरंगजेब के द्वारा कुछ समय उपरान्त गिरवा दिया गया था फिर भी इसकी मुख्य इमारत की वैभवश्री में किंचितमात्र भी अन्तर नहीं आ पाया है, अन्य मन्दिरों में श्री मदन मोहन, श्री गोपी नाथ, श्री हरदेव मन्दिर, श्री गोवर्धन मन्दिर और श्री जुगल किशोर जी के मन्दिर निर्माण-कला की दृष्टि से अनुपम ठहरते हैं । हिन्दू निर्माण-कला पद्धति की दृष्टि से श्री जुगल किशोर जी का मन्दिर सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, यद्यपि कहीं-कहीं इस पर मुगल-कला की भी छाप पड़ गई है । चौरासी मन्दिर महाबन के उत्तर में है । यहां अन्य बहुत-सी मूर्तियां पाई गई हैं जिनसे ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह नया मन्दिर ८वीं शताब्दी के किसी ध्वस्त मन्दिर का ही नवीन संस्करण है । इस मन्दिर के स्तम्भों में कमल, मंगल घट और कीर्तमुख कटे हुए हैं ।

कृष्ण-भक्ति के प्रभाव के कारण भारतीय स्थापत्य कला का अत्यधिक विकास हुआ है । इसी के फलस्वरूप भारत में और भारत के बाहर भी अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ है, जो भारतीय प्रतिभा के अन्यतम उदाहरण हैं ।

भारतीय स्थापत्य-कला कृष्ण-काव्य के कवियों के प्रति दो प्रकार से ऋणी है । प्रथमतः इन कवियों ने अपनी उत्कृष्ट कल्पना द्वारा कृष्ण-मन्दिरों का अत्यन्त ही विशद वर्णन किया है और अपनी उत्कट कलात्मक दृष्टि से निर्माण की प्राचीन शैलियों में नवीन आकर्षण मात्र ही नहीं प्रस्तुत किया, वरन् अनेक सुन्दर दृश्यों एवं रंग-विधानों की ऐसी योजनाएं वर्णित की हैं जो इससे पूर्व निदर्शित नहीं हुई थीं । सूरसागर का सम्पूर्ण दशम स्कन्ध स्थापत्यकला वर्णन की दृष्टि से एक स्वर्णिम निधि है और भवन-निर्माण-कला के विकास के लिये पर्याप्त सम्भावनाएं संजोये हुए है । इसमें मथुरा के स्वर्ण-निर्मित गगनचुम्बी मठों पर पड़ती हुई सूर्य की किरणों का वर्णन, सुन्दर एवं आकर्षक सजी हुई मीनारों पर फहराती हुई

पताकाएं, पुष्पोद्यान तथा बगीचे आदि का सांगोपांग वर्णन इस प्रकार हुआ है कि मथुरा को एक आदर्श नगरी का स्वरूप प्राप्त हो गया है। दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में द्वारका का वर्णन भी कौशल और कला की दृष्टि से अभूतपूर्व है। संगमरमर और लाल-पत्थरों पर सुन्दर पच्चीकारी, स्त्रियों और उड़ती हुई चिड़ियों को प्रतिविम्बित करते हुए स्वर्ण और मोतियों से जड़े हुए महल प्रकृति के विभिन्न रूपों को प्रदर्शित करने वाले अन्यान्य प्रकार के विभिन्न रंगों में वर्णित छाया-चित्र आदि सभी का सूर द्वारा इतनी निपुणता से वर्णन किया गया है कि आगामी काल पर उनका अमिट प्रभाव पड़ा है। इन सुन्दर वर्णनों ने कलाकारों की कल्पना और उत्साह को एक नई गति दी तथा विदेशियों के यथावत् अनुकरण से उन्हें रोके रखा और इस प्रकार भारतीय स्थापत्य-कला की एकरूपता एवं व्यक्तित्व को संरक्षण प्रदान किया।

मुसलमान शासकों ने भी इन मन्दिरों की प्रतिद्वन्द्विता में अनेक वैभवशाली कलात्मक इमारतों का निर्माण करवाया। इस परिपाटी ने मुसलमानी वास्तुकला को, जो कि प्रारम्भ में शुष्क थी, भारतीय रूप दे दिया। वस्तुतः यह प्रेरणा कृष्ण-काव्य की ही थी, जिससे मुसलमान शासक निर्माण-कार्य की ओर प्रवृत्त हुए।

अस्तु, कृष्ण-काव्य ने वास्तुकला पर अत्यन्त गहरा प्रभाव डाला है। सर्वप्रथम इसने उसे भारतीय रूप प्रदान किया, तदनन्तर दो विरोधी सभ्यताओं—हिन्दू और मुस्लिम—की वास्तुकला के एकीकरण में विशेष सहयोग प्रदान किया। फलस्वरूप एक नवीन वास्तुकला पद्धति का जन्म हुआ, जो १९वीं शताब्दी तक प्रचलित रही।

मूर्तिकला के क्षेत्र में कृष्ण-काव्य की देन अपेक्षाकृत और भी महान् है। जहां तक मूर्तिकला के भण्डार का प्रश्न है, भारत की स्थिति संसार के अन्य देशों में उच्चतम है। इस भण्डार का अधिकांश मूर्तियों के रूप में विद्यमान है जो कि कृष्ण-काव्य में वर्णित जीवन से सम्बद्ध है। कृष्ण-काव्य के असंख्य कवियों द्वारा कृष्ण-जीवन के विभिन्न पक्षों के वर्णन की लोकप्रियता का ही यह परिणाम था।

कृष्ण-चरित्र में कलाकारों के उत्साह और योग्यता को उद्दीप्त करने की अपूर्व क्षमता है। कृष्ण की कार्य-क्रिया इतनी विविध एवं अनेकमुखी है कि विष्णु का कोई भी अन्य अवतार उनकी तुलना में ठहर नहीं सकता। फलतः अनेक शताब्दियों तक कृष्ण ही मूर्तिकला विशारदों के आकर्षण का केन्द्र बने रहे।

समय-परिवर्तन तथा विदेशी आक्रमणों ने भारतीय मूर्ति भण्डार को महान् क्षति पहुंचाई है। फिर भी मथुरा, देवगढ़, बादामी, पहाड़पुर, नूरपुर, खजुराहो आदि में बहुतायत से कृष्ण मूर्तियां पाई जाती हैं जो स्पष्ट रूप से कृष्ण की लोकप्रियता एवं हिन्दू-मूर्तिकला की उत्कृष्टता को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करती हैं। आज भी वे संसार के 'आश्चर्य' के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे अन्ततः प्रभावपूर्ण, सुन्दर एवं एकनिष्ठ हैं।

मथुरा जो कि कृष्ण के कार्यकलापों का प्रमुख स्थल रहा है, कृष्ण की मूर्तियों में गुण और स्वभाव के अतिरिक्त बहुविधित्व एवं विभिन्नता की दृष्टि से प्रमुख स्थान रखता है। मथुरा में प्राप्त मूर्तियों में कालियदमन, गोवर्धन-पर्वत-धारण तथा वसुदेव द्वारा शिशु कृष्ण का बढ़ी हुई जमुना में गोकुल को ले जाने वाली मूर्तियां अत्यन्त भव्य एवं महान् हैं।

देवगढ़ की मूर्ति-श्रृंखला में, कृष्ण को उनके पिता वसुदेव द्वारा नन्द को सौंपने का दृश्य बड़ा ही हृदयग्राही है। इस मूर्ति में कलाकार स्थिति का मूल्यांकन करने में तथा अपनी कल्पना को साकार करने में पूर्णतया सफल हुआ है। इस श्रृंखला की अन्य सुन्दर कृतियों में कृष्ण-सुदामा-मिलन, चीरहरण-लीला आदि हैं। ये सभी गुप्तकालीन कृतियां हैं।

पहाड़पुर तथा बादामी की मूर्तियां भी इसी युग की हैं। पहाड़पुर की मूर्ति-श्रृंखला में कृष्ण और बलराम की मुष्टिक और चाणूर आदि से मल्लयुद्ध की मूर्ति सर्वोपरि हैं। कृष्ण के द्वारा पेड़ों को उखाड़ देने की मूर्ति जिसके द्वारा उन्होंने दो गन्धर्वों को मुक्ति दी थी, एक दूसरी सुन्दर मूर्ति है।

बादामी गुफा की मूर्तियां कृष्ण के जीवन की सुन्दर घटनाएं एक श्रृंखला में उपस्थित करती हैं। एक मूर्ति में कृष्ण अपने पूरे परिवार के साथ चित्रित किये गये हैं, दूसरी मूर्ति में कृष्ण को माखन चुराते दिखाया गया है। अन्य एक मूर्ति में कृष्ण को यशोदा एक पतली छड़ी लेकर मारती हुई दिखलाई गई हैं तथा एक और मूर्ति में कृष्ण धेनुक और अरिष्ट के साथ युद्धरत दिखाये गये हैं। चामूर और कबुलियापीड हाथी के साथ युद्धरत कृष्ण की भी एक मूर्ति प्राप्त होती है। राधा और कृष्ण तथा गोपियों के मिलन के रमणीय और मनोहारी दृश्य चित्रित करती हुई भी कुछ अन्य मूर्तियां उपलब्ध होती हैं। कला भवन के अजायबघर में भी दो मूर्तियां हैं जिनमें से एक में मक्खन की चाह में श्री कृष्ण दिखाये गये हैं।

नूरपुर (पंजाब) में कृष्ण की अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनमें वे वंशी बजाते हुए, अपने साथियों के साथ युवावस्था के विनोद करते हुए, कालियनाग का मस्तक दबाते हुए, दिखाये गये हैं। ये मूर्तियां कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं।

खजुराहो की मूर्ति-श्रृंखला की एक मूर्ति में देवकी और वसुदेव कारागार में अनेक प्रहरियों के मध्य निराश और क्षुब्ध-हृदय बैठे हुए दिखलाये गये हैं। यह कला की दृष्टि से सर्वोपरि है। एक अन्य मूर्ति में देवकी कृष्ण को उनके जन्म

के उपरान्त लिये हुए लेटी हुई हैं और अनेक दास-दासियां उनकी सेवा में रत हैं। यह मूर्ति भी कला की दृष्टि से बेजोड़ कलाकृति है।

कृष्ण की अब तक की प्राप्त मूर्तियां किसी एक निश्चित पद्धति से मेल नहीं खाती हैं। समय और स्थान के अनुसार उनमें महान् अन्तर आ गया है। तथ्यों के संकलन से यह स्पष्ट है कि कलाकारों ने प्रायः निम्नांकित रूपों के चित्रण में ही विशष रुचि दिखलाई है—(१) बाल-गोपाल, (२) सनातन गोपाल, (३) नवनीत-नृत्य मूर्ति गोपाल, (४) बेनु गोपाल और (५) पार्थ-सारथि।

कालियदमन और गोवर्धनधारण की प्रस्तर मूर्तियों का भी अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है। पहली मूर्ति नागवंश और वसुदेव की शत्रुता पर प्रकाश डालती है। दूसरी मूर्ति वैदिककालीन आर्यो की संघर्ष-प्रवृत्ति को प्रकाश में लाती है।

संगीत पर भी कृष्ण-काव्य का ऋण मूर्ति-कला से कम नहीं है। प्रकृति में गीतात्मक होने के कारण कृष्ण-काव्य ने संगीत को अपना एक आवश्यक तत्त्व समझा है और सूरदास, नन्ददास, हरिदास, हितहरिवंश तथा तानसेन आदि महान् संगीतज्ञों को इसने जन्म दिया है। ये विभूतियां केवल कृष्ण-भक्त ही नहीं थीं वरन् उनमें महती कवि प्रतिभा तथा संगीताचार्यों की श्रेष्ठ योग्यता थी। उन्हें अपने विषय का गम्भीर ज्ञान था। उन्होंने अनेक नवीन राग और रागिनियों की भी खोज की है।

अष्टछापी चतुर्भुजदास कथित षटऋतु की वार्ता नामक एक नवीन वार्ता-पुस्तक अभी प्रकाश में आई है। इसमें भी ३६ रागिनियों के नाम दिये गये हैं, जो कि सूर के नामों से कुछ ही भिन्न हैं।

संगीत के क्षेत्र में कृष्ण-काव्य का योगदान मूल्यांकन करने के लिये संगीत के विकास पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। भारतीय संगीत का आदि रूप वेदों में उपलब्ध है। सामवेद की भक्तिपरक रचनाएं आर्यों की संगीत के प्रति सुरुचि का सुन्दर उदाहरण हैं। संगीत रत्नाकर, वर्ण-रत्नाकर, रागमाला, संगीतसार आदि अनेक ग्रन्थ संगीतकला के विकास का विशद, क्रमबद्ध और वैज्ञानिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

प्राचीन भारत में संगीत, एक पूर्ण रूप से विकसित कला थी। इसमें सप्तस्वर, ३ ग्राम, २१ मूर्च्छनाएं, ४९ कुत्तन, ३ मन्त्र, ३ स्वर-सप्तक (मन्द, मध्य, तार), ३ ल्यासी (विलम्बित, मध्य, द्रुत), ६ राग, ९ रस, ३६ रागिनियों का वर्णन प्राप्त होता है। सारंगदेव कृत संगीत-रत्नाकर जो कि १२५० के लगभग लिखा गया था; स्वरों, धुनों तथा लयों आदि की एक विस्तृत सूची उपस्थित करता है।

विदेशी आक्रमणों तथा संपर्कों ने भी भारतीय संगीत के विकास और उत्कर्ष में पर्याप्त सहायता दी है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में कृष्ण-काव्य के कवियों की संगीतात्मकता, जिनकी संख्या अत्यन्त विशाल और सुश्रृंखलित है, संगीत के विकास की दृष्टि से प्रमुख महत्त्व रखती है। उत्तरी भारत में जहां विदेशी आक्रमणों का प्रभाव अत्यधिक था, संगीत ने कुछ भिन्न रूप में विकास किया है।

१६वीं और १७वीं शताब्दी में मथुरा, ग्वालियर और देहली संगीत के प्रमुख केन्द्र थे। देहली देश की राजधानी होने के कारण जीवन के सभी क्षेत्रों के अनुभवी व्यक्तियों को आकर्षित कर सकी, क्योंकि यहां पर उन्हें अधिक धन, प्रचुर भोगविलास एवं योग्यता का उचित मूल्यांकन प्राप्त होता था। ग्वालियर भारतीय संगीत शिक्षा के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र बन गया था। यहां की संगीत की आत्मा भारतीय होते हुए भी विदेशी सम्बन्धों एवं शासन से प्रभावित थी। यहां भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति फारस, अरब तथा अन्यान्य विदेशी संगीत-पद्धतियों के साथ ऐसे कौशल से मिलाई गई है कि इस संमिश्रण के वाद भी उसका रूप बहुत कुछ भारतीय ही प्रतीत होता है। इस केन्द्र के प्रधान गायक तानसेन थे, जो एक सुप्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि हैं और जिन्होंने संगीत की शिक्षा स्वामी हरिदासजी से प्राप्त की थी।

ग्वालियर का यह प्रधान गायक तानसेन अकबरी दरबार का नवरत्न था। अकबरी दरबार के ३६ संगीतज्ञों में से १५ प्रमुख संगीतज्ञ ग्वालियर केन्द्र के ही थे। इन दरबारी संगीतज्ञों और प्रतिभाशाली गायकों ने इस केन्द्र के संगीत के विकास पर गहरा प्रभाव डाला था। इस प्रकार दोनों देहली और ग्वालियर के संगीत-केन्द्र कृष्ण-काव्य के ऋणी ठहरते हैं।

मथुरा ही एक ऐसा सांस्कृतिक केन्द्र था, जहां शास्त्रीय संगीत कला का अभ्यास पूर्ण शुद्धता से होता था और भारतीय संगीत को भ्रष्ट होने से बचाने के लिये अधिक ध्यान दिया जाता था। मथुरा के प्रमुख कवि, जैसे—सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवि, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, बैजू बावरा, गोपालदास नायक आदि ने कृष्ण-भक्ति के सम्मान में अनन्य निष्ठा से गाया और राष्ट्र को कई शताब्दियों तक प्रभावित रखा। इनमें से कुछ गायक प्रमुख रागिनियों के आचार्य थे। स्वामी हरिदास, बैजू बावरा और गोपाल नायक क्रमशः दीपक, मेघ और मालकोष रागों के आचार्य हैं। कृष्ण-काव्य के

कवियों ने संगीत के क्षेत्र में अनेकानेक नये आविष्कार भी किये थे। एमन, ध्रुपद, कल्यान और ख्याल अपनी उत्पत्ति के लिये उनके ऋणी हैं। ध्रुपद जो कि प्राचीन कालीन ध्रुव के नवीन संस्करण के रूप में विकसित हुआ था, प्रथम श्रेणी का सिद्ध हुआ, क्योंकि वह समय की गति के अनुरूप था। संकीर्तन के लिये उसका विशेष महत्त्व था। ध्रुपद की उत्पत्ति जयदेव और विद्यापति के समय में हुई थी। अष्टछापी कवि सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, गोविन्ददास आदि तथा मीरा, स्वामी हरिदास, हितहरिवंश, श्री भट्ट, व्यास जी आदि की प्रतिभा ने उसे पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान की।

तानसेन ने मियां की टोंड़ी, मियां की मल्हार तथा दरबारी कानड़ा आदि की नवीन खोजें कीं और इस प्रकार संगीत के क्षेत्र में अपना प्रमुख योग दिया।

इस भांति कृष्ण-काव्य ने भारतीय संगीत की विशुद्धता के संरक्षण एवं सुरक्षा तथा नवीन आविष्करण की दृष्टि से अत्यन्त सराहनीय योग दिया है। हिन्दी भाषी जगत् को विद्यापति तथा जयदेव की मदमस्त स्वरमाधुरी से परिचय कराने का श्रेय भी इसी काव्यधारा को है।

कृष्ण-काव्य में अनेकानेक उन वाद्य यन्त्रों का भी वर्णन मिलता है जो गीतों के साथ बजाये जाते थे। इन वाद्य यन्त्रों ने कवियों की मधुरवाणी द्वारा उत्पन्न संगीत का वातावरण बनाये रखने में अभूतपूर्व सहायता की है।

भारत में बहुत प्राचीन काल में ही वाद्य यन्त्रों का विकास हो चुका था। यत्र-तत्र ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं, जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि भारतीय जन जीवन में विविध वाद्य यन्त्रों का अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलन था और वे उनकी वादनकला में पारंगत थे। इसको सत्य प्रमाणित करने के लिये अनेक ऐसे वर्णन प्राप्त होते हैं जिनके अनुसार भारतीय जन-जीवन में अनेक वाद्य यन्त्रों का प्रचलन था और उनके वादन में वे कुशल थे।

कृष्ण-काव्य में संकीर्तन को भक्ति का प्रमुख अंग तथा धार्मिक आचरण का स्रोत समझा जाता है। वाद्य यन्त्र संगीत के अभाव में अधूरा ही सफल होता है। संकीर्तन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वीणा और पखावज गायन का साथ दें। वाद्य यन्त्रों का विशिष्ट महत्त्व होने के कारण कृष्ण-काव्य धारा के कवियों ने वाद्य यन्त्रों के संरक्षण, विकास तथा अन्वेषण की ओर यथेष्ट ध्यान दिया। चतुर्भुजदास कृत षट-ऋतु की वार्ता नामक पुस्तक में ३६ वाद्य यन्त्रों का उल्लेख मिलता है।

तांतयुक्त वाद्य यन्त्रों में कृष्ण-काव्य के कवियों में वीणा, सितार और तानपूरा का अत्यधिक प्रचार था। सितार इसी युग की खोज है, जो प्राचीन कालीन वीणा के आधार पर ही निर्मित हुई है।

मुरली कृष्ण-काव्य के कवियों का मुख्य वाद्य यन्त्र है। कृष्ण दैवी बांसुरी वादक के रूप में सुविख्यात हैं और यह वाद्य यन्त्र उनका अभिन्न अंग रहा है। इसीलिए उन्हें मुरलीधर और वंशीधर कहा भी जाता है। बांसुरी इस काव्य-धारा के सभी कवियों की प्रमुख आकर्षण केन्द्र रही है और उन्होंने अनेक गीत मुरली-माधुर्य पर लिखे हैं।

इस प्रकार कृष्ण-काव्य ने भारतीय संगीत के क्षेत्र में अनेकानेक नवीन तथ्यों और स्वरूपों की खोज की है, नवीन तत्त्वों को जन्म दिया है और भारतीय संगीत-पद्धति की विदेशी संगीत-पद्धति पर श्रेष्ठता स्थापित की और वाद्य यन्त्रों के क्षेत्र में नवीन आकर्षण भी उपस्थित किये।

संकीर्तन प्रायः संगीत और नृत्य के साथ चलता था। इस प्रकार इसने नृत्य-कला को भी कृष्ण-काव्य के अधिक निकट ला दिया। फलतः वह भी कृष्ण-काव्य से अप्रभावित न रही, क्योंकि संकीर्तनों में नृत्यों की सफलता गीतों में व्यक्त भावों की स्पष्ट अभिव्यंजना पर निर्भर रहती थी। वास्तव में नृत्य वह भावपूर्ण भाषा है जो कि मानव-हृदय की उन भावनाओं का प्रदर्शन करती है, जिन्हें वाणी व्यक्त करने में असफल रहती है। नृत्य का मूल वस्तुतः मनुष्य की उस स्वभावगत प्रकृति में निहित है, जिससे प्रेरित वह शारीरिक चेष्टाओं, भावभंगिमाओं एवं मुद्राओं द्वारा अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से ताण्डव और लास्य, नृत्य के प्राचीनतम रूप हैं। नृत्य के अन्य रूप इन्हींके अन्तर्गत आ जाते हैं। भारतीय नृत्य कला के उद्गम और विकास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शंकर और कृष्ण भारतीय नृत्य के दो देवता हैं।

शंकर को ताण्डव नृत्य से विशेष रुचि है। इसमें वीर, रौद्र और वीभत्स भावनाओं की प्रमुखता होती है। नृत्य के अन्य रूप में से आनन्द, संशय, उमा, गौरी, कालिका, त्रिपुर संहार आदि जो कि ताण्डव के अन्तर्गत रखे हैं, वे भी इन्हीं भावनाओं पर आधारित हैं। कोमल भावनाओं का इस नृत्य विशेष में कोई स्थान नहीं है। यह रूप विराट् शक्ति को प्रदर्शित करता है। अंगों की तीव्र थिरकन इस नृत्य में होती है और इसका प्रदर्शन अत्यन्त भयंकर होता है।

लास्य में कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। इसकी प्रमुख भावना शृंगार है। अतः यह प्रेम, आनन्द, विनोद आदि कोमल भावनाओं के व्यक्तीकरण का साधन है। इस पद्धति के अन्तर्गत जिन भावनाओं का वर्णन होता है,

वे कृष्ण-काव्य से ही ली गई हैं, क्योंकि इस काव्य-धारा में राधा-कृष्ण तथा गोपियों के विभिन्न प्रेम-विनोदों और आनन्द-क्रीड़ाओं का चित्रवत् एवं संश्लिष्ट विवरण प्राप्त होता है।

वृन्दावन में गोपियों के साथ कृष्ण की रासलीला लास्य है और रास कृष्ण जीवन के साथ इस प्रकार सम्बद्ध है कि कृष्ण स्वयं रासबिहारी के नाम से पुकारे जाते हैं।

रासनृत्य परम मोहक एवं कमनीय होता है। इसमें एक भाव दूसरे में विलीन होता-सा जान पड़ता है और चेष्टाओं तथा भाव-भंगिमाओं में तरंगों की तरलता एवं कोमलता व्यक्त रहती है। चित्तवृत्ति उद्वेगरहित, शांत, स्वप्निल एवं उल्लासपूर्ण रहती है। कामुकतापूर्ण हावभाव प्रदर्शन एवं कटाक्षों का रास में कोई स्थान नहीं होता।

अत्यन्त दीर्घकाल से रास उत्तर भारत में विभिन्न रूपों एवं परिवर्तनों के साथ प्रचलित रहा है। इसकी अधिकाधिक लोकप्रियता का कारण अनुरागमयी उत्कट अनुभूतियां तथा संयोगकालीन उमंगों के यथार्थ प्रदर्शन की क्षमता है। इस पद्धति के अन्तर्गत तांडव के समान लय अधिक बलवती और सशक्त नहीं होती, किन्तु यह हृदय की कोमल भावनाओं को असामान्य सफलता के साथ मनोरम चेष्टाओं और सुन्दर मुख मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त करती है।

रास ने कृष्ण के आकर्षक व्यक्तित्व के कारण भारत में प्रचलित सभी नृत्य नाटकों को समान रूप से प्रभावित किया है। मलाबार (केरल) का कथकली नृत्य, चक्कियार का कुडियाट्म नृत्य, जमोरिन व कालीकट का कृष्ण-नाटकम्, उत्तरी भारत का शास्त्रीय नृत्य कत्थक, जिसके मुख्य प्रचारक प्रकाश महाराज, कालका बिन्दादीन और जयलाल हैं, प्राचीन देवदासी नृत्य-पद्धति जो कि भरत-नाट्यम् नाम से मद्रास के उच्च समाज में अब भी प्रख्यात है, आंध्र का कुचीपुडी नृत्य नाटक, दक्षिण कनाड़ा का यक्षगान, आसाम का मनीपुरी नृत्य, गुजरात का गर्बा नृत्य, शिरायकेला और अलिमा मालू का छाउ आदि नृत्य प्रत्यक्ष रूप से कृष्ण की जीवन गाथा से सम्बन्धित हैं।

इतिहास इसका साक्षी है कि प्राचीन भारत में नृत्य कला का भारतीय जन-जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। मन्दिरों से लेकर राजप्रासादों तक इसका बोलबाला था, किन्तु राजनीतिक शक्ति के विनष्ट हो जाने पर जब राष्ट्रीय जीवन से आनन्द, सम्पत्ति और वैभव की इतिश्री हो गई, तो नृत्य कला भी अपनी प्रतिष्ठा से च्युत हो गई। विजयी मुसलमान शासकों में से एक या दो के अतिरिक्त प्रायः सभी की इस कला के प्रति सहानुभूति न थी, क्योंकि उनके विश्वासानुसार कला पूर्णतया अधार्मिक वस्तु थी। हिन्दू महलों तक में नृत्य कला ने अपनी पवित्रता खो दी थी। दूषित भावनाओं और अभद्र कुरीतियों ने अधःपतित सामन्तों को सन्तुष्ट करने के लिये इसमें प्रवेश पा लिया था। नृत्य कला शासकों की कुत्सित विषयी मनोवृत्तियों की सन्तुष्टि का साधन मात्र रह गई थी। नृत्य कला का मूल उद्देश्य शासक वर्ग की कामुकता का प्रदर्शन ही रह गया और नृत्य कला वैभव एवं कामवासना का प्रदर्शन मात्र बन गई और अपना समस्त गौरव और स्फूर्ति खो बैठी।

इन हतोत्साहित, पराङ्मुख परिस्थितियों में जब कि नृत्यकला, कला के रूप में भारतीय भूमि से समाप्तप्राय हो रही थी और भाड़े के नूपुरों की रुनझुन राष्ट्र की अजेय शक्ति को भ्रष्ट कर रही थीं, कृष्ण-काव्य के कवियों ने कृष्ण और राधा की जीवन-कथाओं के सुन्दर वर्णन द्वारा भारतीय नृत्य की भव्यता एवं महत्ता को जन-जीवन में स्थिर रखा।

कृष्ण-काव्य के कवियों की रचनाओं की इस क्षेत्र में भी महान् देन है। अष्टछाप के कवि सूर, नन्ददास और अन्य कवियों ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा रासलीला का सांगोपांग तथा विशद वर्णन किया और कृष्ण एवं राधा के विविध सौन्दर्य चित्र उपस्थित किये, जिनके आधार पर अनेक नृत्य-नाट्य लिखे गये। कृष्ण-काव्य के अन्य अनेक कवियों द्वारा वर्णित भावनात्मक शब्द-चित्र भी कलाकारों को विशेष रूप से आकर्षित करते रहे। उन्होंने इन शब्द-चित्रों का मुद्राओं एवं चेष्टाओं द्वारा अनुवाद करने का सफल प्रयत्न किया। कृष्ण द्वारा गोपियों का मार्ग अवरुद्ध करने वाले नटखट कृष्ण के विनोद मानलीला के लिए विषय प्रस्तुत करने में समर्थ हुए। दानलीला में कृष्ण दही लेकर मथुरा जाती हुई गोपिकाओं से दान मांगते हैं। वे उत्कट प्रेमी की भांति व्यवहार करते हैं। होली तो नृत्यों का एक विशेष त्यौहार ही है। इनके अतिरिक्त माखनचोरी, चीरहरण, पनघटलीला, पूतनावध, कालियदमन-वर्णन आदि अन्य मनोहारी कथास्थल हैं, जिनकी ओर नृत्यविशारद नवीन पद्धतियों के लिये कृष्ण-काव्य की ओर आकर्षित होते रहे हैं।

अनेक कृष्ण कवियों ने स्वयं भी इन धार्मिक नृत्यों में भाग लिया है। चैतन्य और मीरा के नाम तो इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। मीरा द्वारा प्रारम्भ की गई परिपाटी दक्षिण में देवदासी प्रथा के रूप में आज भी विद्यमान है। भारत के विस्तृत भागों में इस पद्धति द्वारा नृत्य के लिये जो संरक्षण तथा लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। कृष्ण-काव्य के कवियों ने सभी प्रकार की नृत्य पद्धतियों के लिये नवीन स्वरूप एवं संभावनाएं प्रस्तुत की हैं। आधुनिक युग में भी उदय शंकर जैसे नृत्य-विशारदों को इस काव्य ने पर्याप्त प्रेरणा दी और वे भी अपनी कला के लिये कृष्ण-काव्य के ऋणी हैं।

लोक-नृत्यों में गर्वा और मैनपुरी बहुत ही प्रसिद्ध हैं। वे कवियों द्वारा वर्णित विभिन्न कृष्ण-कथानकों के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं। इनकी नृत्य-पद्धतियों में प्रयुक्त आकार-प्रकार, कथावस्तु, रीतियां, ढंग आदि स्थायी रूप से कृष्ण-काव्य का प्रभाव व्यक्त करते हैं। कृष्ण की जीवन-कथाओं से सम्बन्धित पद नित्य-प्रति इन नृत्यों के साथ बांसुरी और मृदंग आदि वाद्य-यंत्रों को बजा कर गाये जाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण-काव्य भारतीय नृत्य क्षेत्र में भी एक प्रबल शक्ति के रूप में रहा है। भारतीय नृत्य ने अपने विकास के लिये इससे बहुत कुछ ग्रहण किया है। यह भी सत्य है कि कृष्ण-काव्य ने भारतीय नृत्य को विनष्ट और भ्रष्ट होने से बचा लिया और उसके उत्कर्ष एवं लोकप्रियता के लिये अथक प्रयास किया। असंख्य बहु-प्रशंसित नृत्य-पद्धतियों के नृत्य, उदय शंकर और टैगोर के अधिकांश नृत्य, सूर और नन्ददास के पदों में वर्णित भावचित्रों पर आधारित हैं। मर्नापुरी और कत्थक नृत्य तो प्रमुखतया कृष्ण-काव्य की आत्मा ही ठहरते हैं।

राधा-कृष्ण सम्बन्धी चित्रात्मक मधुर गीतों, उनके मनोहारी व्यक्तित्व तथा वृन्दावन के प्राकृतिक सौन्दर्य-वर्णन ने चित्रकारों को भी कृष्ण-काव्य की ओर आकर्षित किया है। कृष्ण के जीवन की सम्पन्नता और विविधता चित्रकला के उद्गम एवं विकास के लिये अपेक्षित भावभूमि दे सकी है।

भारतीय जन-जीवन में चित्रकला का विशेष महत्त्व सदा ही रहा है। हिन्दुओं के धार्मिक उत्सव, पर्व और त्यौहार चित्रकला की महत्ता को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं। कोई भी धार्मिक उत्सव अथवा मंगलमय अवसर अपनी विशिष्ट चित्रकारी के बिना मनाया नहीं जा सकता। दीवाल आदि पर की गई त्रिचकारी भारत में एक साधारण-सी बात है और इस तरह के किसी भी अवसर पर जैसे श्रावणी, देवठान-एकादशी, अनन्त चौदस, जन्माष्टमी, नवरात्रि, करवाचौथ, भैयादूज आदि के दिन ग्रहणियां, देवी और देवताओं के चित्र रोली और चावल के चूर्ण से खींचने में व्यस्त देखी जा सकती हैं। इस प्रकार धर्म ने भारत में चित्रकला के उद्गम और विकास में महान् योग दिया है। यह एक बड़े दुःख की वात है कि उत्तर भारत के प्रायः सभी चित्रकला के अजस्र-भण्डार बर्बर विजेताओं की विरोधी नीति तथा अन्य अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक विप्लवों के कारण विनष्ट हो गये हैं किन्तु जो कुछ भी अवशिष्ट रह गया है वह हिमालय की अतल गहराई में और राजस्थान के विनष्ट प्रदेश में उपलब्ध है।

दक्षिण में अजन्ता और एलोरा की चित्रकारी प्राचीनतम भारतीय चित्रकला का अद्वितीय उदाहरण है। यद्यपि अजन्ता और एलोरा की गुफाओं के चित्रों को देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि वे एक परम उन्नतिशील कला का प्रतिफल हैं, जिसके विकास में हजारों वर्ष लगे होंगे, किन्तु हमारी चित्रकला का इतिहास उन्हींसे आरम्भ होता है, क्योंकि वही प्राचीनतम ज्ञात भारतीय चित्रकारी के अवशेष हैं। अजन्ता की गुफायें गुप्त-कालीन युग की हैं। एलोरा की गुफाओं की चित्रकारी चतुर्थ शताब्दी की मानी जाती है और कालकाचार्य तथा कल्पसूत्र की हस्तलिपि प्राचीन काल के मूल्यवान अवशेष हैं। इनके अतिरिक्त दीवारों पर की गई लोक चित्रकारी, लकड़ी के तख्तों पर की गई चित्रकारी भारतीय चित्रकारी के प्रमुख तत्त्वों को प्रस्तुत करती हैं। ये प्राचीन परम्परायें हिमालय और राजस्थान के अन्तःप्रदेशों में अब भी प्राप्त हैं।

उत्तर भारत में प्राचीनतम चित्रकला के तीन रूप उपलब्ध हैं—(१) राजस्थानी (२) कांगड़ा और (३) जम्बू चित्रकला पद्धति। राजस्थानी चित्रकला-पद्धति भारत की अत्यन्त लोकप्रिय पद्धति है। यह चित्रकला पद्धति मुख्यतः कृष्ण-जीवन से सम्बद्ध सुन्दर चित्रों को उपस्थित करती है। राधा और कृष्ण के अलौकिक प्रेम से सम्बन्वित चित्र, रास नृत्य के चित्र तथा अन्य चित्र जो कि राधा और कृष्ण की विनोदपूर्ण लीलाओं द्वारा उपलब्ध हो सके हैं—इस चित्रकला पद्धति के प्रमुख आकर्षण हैं। इस चित्रकला पद्धति के प्रमुख विषय राधा और कृष्ण के दाम्पत्य प्रेम के चित्र, राधा की साजसज्जा और कृष्ण-काव्य में वर्णित विभिन्न राग रागिनियां तथा राधा और कृष्ण के आनन्दपूर्ण खेलों से सम्बन्धित चित्र हैं। जयपुर की दीवार पर की गई चित्रकारी में उपलब्ध रासलीला का वर्णन इस पद्धति का प्रतिनिधित्व करता है। कृष्ण और गोपियों के विभिन्न चित्र नृत्य की लय और मुद्रा के साथ अंकित हैं। कांगड़ा और जम्बू की चित्रकला-पद्धतियों ने भी मुख्य धारा में सराहनीय योग दिया है। इन तीनों पद्धतियों में बाह्य साम्य होते हुए भी बहुत-से अन्तरंग अन्तर हैं जो कि एक दूसरे के बीच के अन्तर को स्पष्ट करते हैं। कांगड़ा और जम्बू पद्धतियां विशेषतया लोकजीवन के चित्रण में प्रख्यात हैं। यद्यपि जम्बू पद्धति ऐश्वर्य और कोमलता के चित्रांकन में अधिक क्षमता नहीं रखती, फिर भी हृदय की अनुभूतियों और मनोरागों का व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध प्रभाव का प्रतिनिधित्व करने में सर्वथा समर्थ हैं। स्पष्टतया, तीक्ष्णता आदि इस पद्धति की प्रमुख विशेषताएं हैं।

सोलहवीं शताब्दी में राजस्थानी चित्रकला-पद्धति ने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध एक शृंखला में अनेक चित्र 'रागमाला' नाम से प्रस्तुत किये। इस शताब्दी में कुछ चित्रों को छोड़ कर, जिनमें कि प्राकृतिक दृश्यों और स्त्रियों की

वेशभूषा, साज-सज्जा आदि का अंकन प्राप्त होता है, अन्य सभी चित्रों में राधा और कृष्ण के विविध आनन्दमय जीवन के चित्र ही चित्रित किये गये हैं।

अतः इस युग की चित्रकारी ने राधा और कृष्ण के राग-रंगमय सुन्दर वर्णनों से प्रेरणा प्राप्त की है। कवियों की आत्मगत अनुभूतियां, प्रख्यात चित्रकारों के साकार चित्रण के रूप में ढल गईं। कृष्ण के विस्तृत जीवन से उन्हें अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए एक विशाल चित्रफलक (कैनवस) प्राप्त हो सका। इस प्रकार धार्मिक भावभूमि ने अन्य कलाओं के समान चित्रकला को भी एक सशक्त पृष्ठभूमि प्रदान की है। सूरदास और बिहारी प्रभृति कवियों की शब्द-चित्रमयता और मीरा के हृदय-द्रावक आत्मसमर्पण ने चित्रकारों के हृदय पर ऐसा मार्मिक एवं गहन प्रभाव डाला है जिससे वे काव्य की पंक्तियों एवं शब्दों का यथार्थ चित्रण रंग-रेखाओं द्वारा करने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने जो कुछ भी इन कवियों की रचनाओं के अध्ययन से अनुभव किया उसे उसी रूप में अपने अथक परिश्रम और प्रयास द्वारा रेखाओं में चित्रित किया है। मुगलकला जो कि राजस्थानी चित्रकला की समकालीन थी, ईरानी और हिन्दू चित्रकला पद्धति के मिश्रण का ही परिणाम थी। यह भी कृष्ण-काव्य द्वारा अत्यधिक प्रभावित थी और कृष्ण-जीवन को चित्रित करने वाले अनेक चित्र इसकी अमूल्य निधियां हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में इस कला ने पहाड़ी और काश्मीरी पद्धति के विकास स्वरूप एक लम्बी मोड़ ली। इस नवीन शिल्प पद्धति ने बहुत थोड़े किन्तु महत्त्वपूर्ण अन्तर उपस्थित किये। इसने प्राकृतिक सौन्दर्य की महत्ता पर भी वैसा ही बल दिया और इस प्रकार कृष्ण की लीलाओं के चित्रण में जो शिथिलता आ गई थी वह दूर की जा सकी और अनेक नवनवीन दृश्यों की योजना से अभिनव, सशक्त चित्र उपस्थित किये जा सके। काश्मीरी चित्रकला पद्धति ने मानवीय भावनाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र उपस्थित किये हैं। प्रकृति के सुन्दर चित्र उपस्थित करने में भी इसने गौरव प्राप्त किया है। अजन्ता के चित्रों के पश्चात् काश्मीरी पद्धति पर आधारित कृष्ण के जीवन के ये चित्र, कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इस कला पद्धति के चित्र भी कृष्ण-काव्य के कवियों की प्रतिभा के कृतज्ञ हैं जिनकी प्रेरणा से ही ये अभिनव चित्र उपस्थित हो सके हैं।

इस युग के पश्चात्, प्रकाश चित्र-विद्या (फोटोग्राफी) के वैज्ञानिक अनुसंधान के कारण तथा अन्य विदेशी अनु-संधानों एवं आविष्कारों के फलस्वरूप भारतीय चित्रकला को महान् प्रतिरोध प्राप्त हुआ। लेकिन कृष्ण-काव्य में ऐसे अनेक चित्र उपलब्ध हैं जिनके चित्रण में आधुनिक चित्रकार अपने को गौरवान्वित समझते हैं। महाकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर, नन्दलाल बसु, जेमिनीराय, रविशंकर रावल और अहिवासी तथा अन्य महान् कलाकार जो कि आधुनिक भारतीय चित्रकला के प्रमुख वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं, प्रायः अपनी उन कृतियों के कारण ही लोकप्रिय हैं, जिनमें उन्होंने जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, सूरदास, नन्ददास आदि के कुछ निश्चित पदों के आधार पर चित्र उपस्थित किये हैं। श्री अहिवासी का प्रसिद्ध गोचारण चित्र जो कि बम्बई चित्रकला पद्धति से सम्बन्धित है, नन्ददास के एक पद पर आधारित है। भारतीय चित्रकला पद्धति का प्रत्येक वर्ग आजकल प्रायः कृष्ण-काव्य से विषय चयन के लिये आकर्षित होता है। कृष्ण के जीवन के सुन्दर चित्रों के चित्रांकन पर ही उनकी ख्याति विशेष रूप से निर्भर रहती है। इस प्रकार कृष्ण-काव्य बाह्य अनुभूतियों की दृष्टि से, सुन्दर दृश्यों की दृष्टि से, सुन्दर विषयों के चयन की दृष्टि से प्रमुख चिरस्थायी स्थल सिद्ध होता रहा है।

संक्षेप में, कृष्ण-काव्य युगों से सामाजिक जीवन को प्रभावित करने का प्रबल साधन तथा संस्कृति, भाषा एवं साहित्य और प्रचलित एवं लोकप्रिय कलाओं के सर्वांगीण विकास एवं प्ररणा का अजस्र स्रोत रहा है। यदि कृष्ण-काव्य के कवियों के हृदय कृष्ण-भक्ति से पूर्णरूपेण आप्लावित न होते, कृष्ण में यदि उनकी इतनी अटूट श्रद्धा न होती, कृष्ण में ही उन्होंने यदि परम ब्रह्म का पूर्ण विकास न अनुभव किया होता तो वे सम्भवतः ऐसे अथक परिश्रम, सजगता एवं एकाग्रता द्वारा सम्पादित कृष्ण-काव्य का इतना महान्, विराट् और इतना प्रतिभा-सम्पन्न रूप देने में समर्थ न हुए होते।

गोस्वामी तुलसीदास

डा० रामदत्त भारद्वाज एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
देशबंधु कालेज, दिल्ली ।

गोस्वामी तुलसीदास महाकवि भी थे और महापुरुष भी । प्राचीन एवं अर्वाचीन, देशी एवं विदेशी अनेक विद्वानों और सन्तों ने उनके गौरव का उचित मूल्यांकन किया है । सर ज्यौर्ज आर्थर ग्रिअर्सन के अनुसार गौतम बुद्ध के दो सहस्र वर्ष पश्चात् जिस महापुरुष का जन्म भारत में हुआ, वे गोस्वामी तुलसीदास थे । विंसेंट ए० स्मिथ मुगलकालीन भारत के विश्रुत इतिहासकार हैं, उन्होंने 'अकबर, द ग्रेट मुगल' में लिखा कि तुलसीदास जी भारत में अपने युग के महत्तम मानव थे, स्वयं अकबर से भी महत्तर । गोस्वामी जी का 'रामचरित मानस' अप्रतिम ग्रन्थ है, जिसकी प्रशंसा भारत में और विदेशों में भी मुक्तकण्ठ से हुई है । महात्मा गान्धी को कोई वस्तु इतना प्रसन्न नहीं करती थी जितना कि 'गीता' का संगीत और तुलसीदास का 'रामचरित मानस' ।

गोस्वामी जी के गौरव को उनके समकालीन सन्तों और विद्वानों ने भी समझा था । 'भक्तमाल' के प्रणेता नाभादास ने उनकी प्रशंसा में लिखा है । कलि कुटिल जीव निस्तार हेत वाल्मीकि तुलसी भये । तत्कालीन महाविद्वान् मधुसूदन सरस्वती ने उनकी प्रशस्ति में कहा :

आनन्द कानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसी तरुः ।
कविता मंजरी यस्य रामभ्रमर भूषिता ।।
अर्थात् **जंगम तुलसी-तरु लसै आनंद कानन खेत ।**
जाकी कविता मंजरी राम-भंवर रस लेत ।।

'विनय पत्रिका' में गोस्वामी जी के शब्द हैं :

जो पाइ पंडित परम पद, पावत पुरारि मुरारि को ।।१३५।।

जिससे प्रतीत होता है कि कुछ लोग तो उन्हें शिव और विष्णु के तुल्य भी समझते थे । अस्तु ।

अकारण कोई भी व्यक्ति महापुरुष नहीं बन जाता । लगभग चालीस ग्रन्थ तुलसी के लिखे बताये जाते हैं, जिनमें त्रयोदश रचनाएं बहुमत से प्रामाणिक मानी जाती हैं । वे हैं—रामचरित मानस, विनय पत्रिका, गीतावली, कवितावली, कृष्ण गीतावली, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामलला नहछू, दोहावली, हनुमान बाहुक, रामाज्ञाप्रश्न । कुछ लोग 'तुलसी सतई' को अप्रामाणिक मानते हैं । किन्तु ऐसा मानने से पूर्व इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि इस सतसई के बहुत-से दोहे उनकी 'दोहावली' में मिलते हैं । किसी प्रक्षेपक को क्या आवश्यकता थी कि वह स्वयं उत्कृष्ट रचना करता और अपनी उस रचना को तुलसी की रचना में मिला देता ? एसा करने से उसे कौनसा ऐहिक और पारमार्थिक लाभ पहुंच सकता था ? इस सतई में एक दोहा है, जिसके कूट को स्पष्ट करने से तुलसी के पिता आत्माराम का नाम ध्वनित होता है और एक अन्य दोहे में गुरु नृसिंह का नाम भी ।

तुलसीदासजी की मातृभाषा ब्रजावधी थी, जिसका प्रयोग उन्होंने 'रामचरित मानस' नामक महाकाव्य में किया है, जैसा कि कतिपय शब्द, सर्वनाम तथा क्रियारूपों से विदित होता है । 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल' और 'रामलला नहछू' इन तीनों मंगल काव्यों में उनकी भाषा अवधी की ओर झुकी है । 'कवितावली' और 'बरवै रामायण' सरस काव्य हैं। इनके तीनों प्रगीत काव्य—'विनय पत्रिका', 'कृष्ण गीतावली' और 'गीतावली'—ब्रजी में हैं, जो सरस हैं और संगीतमय भी । इनके चार स्फुट काव्य हैं—'हनुमान बाहुक', 'रामाज्ञा प्रश्न', 'दोहावली' तथा 'वैराग्य संदीपनी' । गोस्वामीजी ने अपने समय की सभी प्रचलित शैली-पद्धतियों में रचना की, यथा—प्रबन्ध, सूक्ति, छप्पय, कवित्त-सवैया, गीत, कूट। वे

सरल भाषा और अभिव्यक्ति के प्रेमी रहे हैं। 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' की भाषा चार सौ वर्ष पुरानी है, परन्तु वह कितनी सरल और सरस है! उनका सिद्धान्त था :

सरल कवित कीरति बिमल, सुनि आदरहिं सुजान।

—रा० १, १४

उनके शब्द तत्सम, तद्भव एवं देशज भी हैं, जो कभी समस्त हैं तो कभी समास-रहित। आवश्यकतानुसार उन्होंने मुख्यतया ब्रजी, अवधी और मुसलमानी शब्दों को अपनाया है, तदनन्तर बुन्देलखंडी और राजस्थानी शब्दों को, तथा विरलता से पंजाबी शब्दों को भी।

वर्णन-प्रिय एवं महाकाव्य-प्रणेता होने के कारण उनकी शैली को व्यास-शैली कहना चाहिए, यद्यपि वे मुक्तकों के थोड़े ही शब्दों में बहुत से विचार भर देते हैं। वे कूट का मोह भी न छोड़ सके, जैसा कि 'तुलसी सतसई' के तृतीय अध्याय से स्पष्ट है। वे राम-भक्त थे और राम-भक्ति के प्रचारक भी। इसी से उन्होंने किसी भी पद्धति-शैली को उठाये न रखा।

उनके काव्य में सभी का भाग है—नर का, नारी का; बालक का, युवक का, वृद्ध का; राजा का, प्रजा का; पिता का, माता का, पुत्र का; भाई का, सेवक का; साधारण का, असाधारण का; रसिक का, दार्शनिक का। राम को तो सभी लोग अपने-अपने स्तरों से अनुभव करना चाहते हैं। उन्होंने साधारण नारियों के लिए मंगल अथवा लोकगीत लिखे। 'रूपकों के बादशाह' तुलसी ने कवियों को सांगरूपक दिये, यथा—कवितावली में विराट् पुरुष का रावणरूपी राजयक्ष्मा; गीतावली में चित्रकूट-वैभव; रामचरितमानस में शंकरचाप-जहाज, विजय रथ, ज्ञान दीपक, भक्ति-मणि। 'कृष्ण गीतावली' के भ्रमरगीत किस रसिक को रसमग्न नहीं करते? कौन इस धारणा का निषेध कर सकता है कि सूरदासजी के केवट एवं ग्रामवधू प्रसंगों को तुलसीदास जी ने और भी अधिक, अपनी कलम से, निखार दिया है—'केशव कहि न जाइ का कहिये' विनय पत्रिका के इस पद में, रूपक के द्वारा, जो परम चिन्तन दार्शनिक को भेंट किया गया है, उसके महत्त्व की तुलना तो ऋग्वेद के नारदीय सूक्त से ही हो सकती है।

गोस्वामीजी ने संस्कृत में, और हिन्दी में भी अनेक प्रकार के वर्णवृत्तों एवं मात्रिक छन्दों का जो प्रयोग कुशलता से किया है वह उनकी प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति का परिचायक है। उनके काव्य में अटक नहीं, उसका प्रवाह तो वेगवान नद का सा है; अलंकार और शब्द-चित्र उसमें ऐसे बहे चले आते हैं, जैसे जलचर। राम के शील, बल और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में सभी रसों का उपयोग हुआ है, यद्यपि यह सत्य है कि प्रमुखता भक्ति अथवा शान्त रस की है। शृंगार, करुण, और हास्य रस संयत रूप में प्रवाहित हैं। शृंगार के केवल दो उदाहरण दिये जा रहे हैं। विवाह मण्डप में :

राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेक रही, पल टारति नाहीं॥

ग्रामवधू सीताजी से मजाक करती है :

पूछति ग्रामवधू सिय सों, कहौ सांवरेसे सखि रावरे को हैं।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें, समुझाय कछू मुसकाइ चली॥

तुलसी ने तत्कालीन उदासियों के शील पर किस संयत भाषा में करारी चोट की है :

विंध्य के वासी उदासी तपी व्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू, करुना करि कानन को पगु धारे॥

तुलसी की मधुर अभिव्यंजना वैदर्भी रीति में है; रौद्र और वीर की ओजमयी अभिव्यक्ति गौड़ी में है। प्रसाद गुण तो प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। हां, यह अवश्य है कि उनके महाकाय रूपकों अथवा विषम कूटों को समझने-बूझने के लिए धैर्य और विलम्बित चिन्तन की आवश्यकता पड़ जाती है; किन्तु जिसका परिणाम होता है आनन्दमय चमत्कार अथवा आत्म-विस्मृति।

कबीर जैसे सन्तों ने परम सत्ता के निर्गुण रूप पर आग्रह कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया; परन्तु उनकी खण्डनात्मक प्रवृत्ति ने समाज में भदबुद्धि को अधिक जाग्रत किया और समंजस को कम, क्योंकि उन्होंने मूर्त्तिपूजा, अवतार, व्रत, तीर्थ आदि पर आक्षप किये थे। जायसी जैसे मुसलमान सूफियों ने रस वर्षा की, किन्तु मुसलमानी वेशभूषा को धारण किये हुए उनके वेदान्त ने हिन्दुओं को कम आकृष्ट किया। नाथपंथी हठयोगी भी अपने प्रचार में संलग्न थे। शासक मुसलमान थे जो प्रायः हिन्दू-विरोधी थे, यद्यपि यह विरोध-भावना सम्राट् अकबर के प्रभाव से कम हो चली थी। हिन्दुओं के

वर्णाश्रम धर्म में भी समयवश कुछ विकार उत्पन्न हो गये थे, जिनके कारण उसकी प्रोज्ज्वलता धूमिल हो चली थी। जिस भग्निल हिन्दू-भवन को कबीर ने तोड़ा, उसका पुनर्निर्माण तुलसी ने किया।

उन्होंने शैव-वैष्णव-विरोध को शमन करने का प्रयत्न किया, अतएव कहा कि :

हरि हर निंदा सुनहि जो काना, होइ पाप गो घात समाना। ६. ४७. १

और भगवान् राम के श्रीमुख से भी कहलाया :

शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक महुं वास॥ रा० ६.२

परम सता सगुण है या निर्गुण, साकार है या निराकार, इस विषय में गोस्वामी जी कहते हैं :

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। रा० १. १३९. १

किन्तु निर्गुण सगुण कैसे हो जाता है? तुलसी का उत्तर है कि जैसे जल बर्फ बन जाता है और फिर जल हो जाता है। ईश्वर की प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। तुलसी ने कई कारणों से कर्म अधिक प्रशस्त नहीं समझा। वास्तव में ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं :

ग्यानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।

किन्तु ज्ञान मार्ग का अनुसरण ऐसा है, जैसा तलवार की धार पर चलना, और यह मार्ग मोहादि से कंटकित भी है। ज्ञान-दीपक मोह-वायु से बुझ सकता है; किन्तु भक्ति-मणि सदैव प्रकाशित रहती है। प्रपत्ति द्वारा रामकृपा स्पृहणीय है, क्योंकि उन्हींके कारण जीव के बंध और मोक्ष होते हैं :

नाथ जीव तव माया मोहा, सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा। रा० ४. ४. २

ऐसे महापुरुष के जीवनचरित के सम्बन्ध में जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है। वह चरित अभी तक विवादास्पद रहा है। राजापुर पक्ष का समर्थन करने वाले तथाकथित जीवनचरितों के विवरणों में परस्पर विरोध है, उनकी तिथियां अधिकांश में गणना से अशुद्ध हैं और घटनाएं ऐतिहासिक व्यतिक्रमों से व्याप्त हैं। सब से बड़ी बात यह है कि राजापुर के बड़-बूढ़े और राजापुर की तुलसीस्मारक समिति के मंत्री ही तथा अनेक विद्वान् १९२३ ई० तक यह कहते रहे हैं कि तुलसीदास जी की जन्मभूमि राजापुर नहीं है। बुन्देलखण्ड गजटिअर में राजापुर का इतिहास है कि अकबर सम्राट् के शासनकाल में तुलसीदासजी सोरों, तहसील अलीगंज जिला एटा से आये और उन्होंने राजापुर की नींव डाली थी। यह गजटिअर १८७४ ई० में, आज से ९१ वर्ष पूर्व छपा था; तदनन्तर अन्य अनेक गजटिअरों में इस तथ्य की पुष्टि हुई है। १८७४ का उद्धरण इस प्रकार है :

Tradition has it that in Akbar's reign a holy man named Tulsidas, a resident of Soron, in Parganah Aliganj of the Etah District, came to the jungle on the banks of the Jumna where now Rajapur stands, erected a temple, and devoted himself to prayer and meditation.

१८८६ के इम्पीरिअल गजटिअर के शब्द हैं :

Rajapur was founded in the reign of Akbar by Tulsidas, a devotee from Soron, who erected a temple and attracted many followers.

जो मनुष्य जिस ग्राम को बसाता है वह उसमें उत्पन्न नहीं होता। राजापुर को तो तुलसी ने बसाया था, अतएव उनके वहां उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं।

तुलसीकृत ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य से भी सोरों पक्ष का समर्थन होता है। कवितावली में लिखा है :

तुलसी तिहारो घरजायो है घरको।

अर्थात्, हे राम, तुलसीदास तो आपके घर का पुश्तैनी नौकर है। इस पंक्ति से, स्व० चन्द्रवलि पाण्डे के अनुसार भी, यह ध्वनि निकलती है कि तुलसी का घर रामपुर में था। पर वह रामपुर कहां था, इस सम्बन्ध में कवितावली की पंक्ति है :

बरु बारहिं बार सरीर धरौं, रघुबीर कौ ह्वै तव तीर रहौंगो॥ ७, १७

जिससे यह ध्वनि निकलती है कि उनका यह जन्म भागीरथी गंगा के तट पर हुआ था और उनकी कामना है कि पुनः गंगा-किनारे उनका जन्म हो और राम-भक्ति प्राप्त हो। सोरों-सामग्री में, रामपुर गंगा के तट पर सोरों से लगभग दो मील पूर्व है, जहां तुलसीदासजी के पूर्व पुरुष रहते थे। गोस्वामीजी का अध्ययन सोरों के चक्रतीर्थ मोहल्ले में गुरु नृसिंह की पाठशाला में हुआ। उन्होंने लिखा है :

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत। रा १, ३०

ग्रियर्सन ने उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों से जिस जनश्रुति को प्राप्त किया था, उसे सोरों-सामग्री से प्रमुख समर्थन प्राप्त है। वह जनश्रुति इस प्रकार है :

दुबे आत्माराम है, पिता नाम जग जान।
माता हुलसी कहत सब, तुलसी के सुन कान ।।
प्रह्लादउद्धरण नाम करि, गुरु को सुनिये साधु।
प्रगट नाम नहिं कहत जग, कहे होत अपराधु ।।
दीनबन्धु पाठक कहत ससुर नाम सब कोइ।
रत्नावलि तिय नाम है, सुत तारक गत होइ ।।

इन्होंने अपनी पत्नी की उक्ति से प्रभावित होकर १६०४ वि० में गृह-त्याग किया, भारत के अनेक तीर्थों का भ्रमण किया। अन्त में वे गंगाजी के किनारे काशी में बस गये और १६८० वि० में दिवंगत हुए। जनश्रुति है :

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ सरीर।।

यद्यपि तुलसीदासजी आज शरीर से संसार में विद्यमान नहीं, तथापि आज भी भारत के जन-मानस में उनका निवास है। विदेशी विद्वान् भी उनके ग्रन्थों का पाठ प्रेमाश्रुओं के साथ करते हैं। गोस्वामीजी वास्तव में विश्व की विभूति हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की श्रद्धांजलि है :

कवे, तुम्हारी पुण्यस्मृति से
सचमुच हम सब शुचि होते हैं।
सुकृति, तुम्हारी अविकृत कृति से
कोटि कोटि कल्मष धोते हैं।

'लोक वेद मत मंजुल कूला'

डॉ० देवकी नन्दन श्रीवास्तव
हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

तुलसी भारतीय लोकजीवन के पूर्ण पारखी थे । इस देश की सांस्कृतिक चेतना ने अपने लम्ब इतिहास में जो उलट-फेर देखे थे, उनका भी गहरा अध्ययन उन्होंने किया था । लोक और शास्त्र के परोक्ष एवं प्रत्यक्ष परिचय की विशालता के कारण विरोधी तत्त्वों के बीच सामंजस्य का सूत्र खोज निकालने की अपार क्षमता उन्हें प्राप्त थी । तुलसी के लोक-नायकत्व की यही आधारभूमि है ।

तुलसी मतवादी नहीं थे । मतवादों से अपरिचित भी नहीं थे । नाना मतमतान्तरों को सुन[1] समझ कर इन विभिन्न मतों में व्याप्त एकत्व-सूत्र को पकड़ कर ही वे मतवाद से परे उठ सके थे । इन समस्त मतों को विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से तुलसी ने दो वर्गों में विभक्त किया है—(१) लोकमत, (२) वेदमत, और सर्वत्र उन्होंने अपनी मान्यताओं के निर्धारण में प्रामाणिकता का सबसे सबल तर्क यही दिया है कि उनके निर्णय लोकमत और वेदमत के निचोड़ हैं । उनकी कविता रूपी सरयू 'लोक' और 'वेद' 'मत' के मंजुल कूलों के बीच ही प्रवाहित हुई है ।[2] यही तुलसी की मर्यादावादिता का मूल रहस्य है । साथ ही तुलसी की साधना एवं धारणा के वैयक्तिक एवं ऐकांतिक पक्ष का अपना भिन्न प्रवाह भी है जो उक्त मंजुल कूलों को तोड़-फोड़-कर बहुत कुछ स्वतंत्र मार्ग का अनुसरण करता है ।[3] इस द्विविध दृष्टिकोण की सार्थकता तभी स्पष्ट हो सकती है जब हम इस तथ्य की खोज करें कि तुलसी की शब्दावली में 'लोकमत' और 'वेदमत' किस विशिष्ट अभिप्राय से प्रयुक्त हुए हैं । इस विशिष्ट अभिप्राय की खोज का प्रयास ही इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है कि इन शब्दों का व्यवहार केवल सामान्य शाब्दिक अर्थ में नहीं हुआ है ।

शाब्दिक अर्थ में 'लोकमत' सामान्य जनता के मत का—समाज के अधिकांश व्यक्तियों के मत का सूचक है, जो देश, काल और व्यक्ति के क्रम-विकास के साथ बदलता रहता है । इसका कोई स्वतःनिश्चित सर्वमान्य रूप नहीं हुआ करता । जनता में बिखरी हुई धारणाओं एवं विश्वास-परंपराओं को कवि अपने व्यक्तिगत पर्यटन, अन्वेषण एवं अन्वीक्षण की परिधि में रख कर देखता है और तदनुसार उनमें से किन्हीं को अधिक मूलगत एवं व्यापक मान कर चलता है । यह सदैव वही नहीं होता जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों के मत से मेल खाता हो । कवि फिर भी उसे लोकमत का नाम देता है तो बहुत कुछ इस धारणा से कि समाज के समझदार व्यक्तियों का अधिकांश उससे सहमत है । लोकमत के इस अर्थ का, इस शब्द के साधारण प्रचलित अर्थ से, वैभिन्न्य एवं वैशिष्ट्य स्पष्ट है ।

तुलसी इसी विशिष्ट अर्थ में 'लोकमत' के शब्द का व्यवहार करते हैं । उनका 'लोकमत' विभिन्न लोक-रुचियों के केवल उन्हीं व्यापक अंशों को सहर्ष स्वीकार करता है जिनमें लोकजीवन की प्राणशक्ति समाई हुई है, साथ ही उन संकुचित अंशों का सरोष बहिष्कार करता है जो भीतर ही भीतर लोकजीवन को खोखला बनाते रहे हैं । लोकरुचि का मान और ध्यान वे वहीं तक रखते हैं, जहां तक वह मंगलकारी लोकमत की पोषक है । इसी अर्थ में वे लोकरीति के अविरोधी हैं ।

---

१. बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहां तहां झगरो सो ।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो । वि० १७३

२. चली सुभग कविता सरिता सो, राम विमल जस जल भरिता सो ।
सरजू नाम सुमंगल मूला । लोक वेद मत मंजुल कूला । रा० १, ३९, ६

३. करमठ कठमलिया कहें ज्ञानी ज्ञान विहीन ।
तुलसी त्रिपथ बिहाय गो राम दुआरे दीन । दो० ९९

'वेदमत' का सामान्य शाब्दिक अर्थ है वेदों में कथित एवं प्रतिपादित विचारधारा। वेद भारतीय विश्वास-परंपरा में अपौरुषेय माने जाते हैं और उनमें उपलब्ध ज्ञान प्राचीनतम ज्ञान। भारतीय धर्म साधना के इतिहास में वेदों की मान्यता छोड़ कर चलने वाले महापुरुषों की विचारधारा का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है, परन्तु भारतीय जनजीवन के अणु-अणु में वेद के प्रति श्रद्धा एवं आस्था इतनी गहरी जम चुकी है कि उसका विरोधी कभी भारतीय जनता की अंतरंग निष्ठा एवं भक्ति का स्थायी आलम्बन नहीं बन पाया। गौतम बुद्ध इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। गौतम का इतना महान् व्यक्तित्व था कि उनकी गणना पौराणिकों को भी चौबीस अवतारों में करनी पड़ी, परन्तु भारत में ही जन्म लेकर भारत की धरती को छोड़ कर उनके बौद्ध धर्म को बाहर शरण लेनी पड़ी। कबीर और अन्य बहुतेरे संत कवियों के पंथ भी इसीलिए प्रायः समाज में उपेक्षित रहे तथा अशिक्षित निम्नवर्गों में ही आदृत हो कर सुरक्षित रह सके।

"नास्तिको वेदनिंदकः" कहकर वेद और आस्तिक का अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। वेद ईश्वर की वाणी है, अतः वेदनिंदक को नास्तिक ठहराया गया। यहां पर इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना कदाचित् आवश्यक होगा कि ये मान्यताएं बहुत कुछ वेदपाठी पंडितों की दी हुई थीं, मान्यताएं देना जिनका व्यवसाय ही बन गया था। इनके सामाजिक एवं ऐतिहासिक कारणों का विश्लेषण एक स्वतंत्र विषय है।

वेदों के प्रति भारतीय जनता की इस घनिष्ठ आस्था को तुलसी ने भली भांति परखा था। इस दिशा में गौतम बुद्ध जैसे विदित अवतार को भी निंदित होते उन्होंने देखा था।[1] दूसरी ओर 'श्रुतिबेचक विप्रों' की शोचनीय दशा भी वे देख रहे थे जिनके हाथों वेदों की छीछालेदार हो रही थीं और जो 'वेदवादरत' होते हुए भी सचमुच 'वेदविहीन', अतः शोचनीय थे। वे केवल 'वाक्यज्ञान' में अत्यन्त 'निपुन' थे।[2] वेदज्ञ ब्राह्मण जनता को भटकाने में उतने ही जिम्मेदार थे जितने 'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ' छोड़ कर 'अनेक पंथ' के कल्पक।[3] अतः तुलसी ने मध्यम मार्ग अपनाया। वेदों की महिमा के प्रति अपार श्रद्धा की अभिव्यक्ति करते हुए भी वेदवादी पंडित परंपरा की कुछ मान्यताओं का, जो सहज धर्म-साधना के मार्ग में बाधक हो रही थीं, खुल कर विरोध भी किया। तुलसी ने देखा कि जनता वेदों के अक्षर ज्ञान से अपरिचित है, साथ ही वेदवादियों से असंतुष्ट होते हुए भी वेदों के प्रति उसकी आस्था अटूट बनी है।[4] ऐसी परिस्थिति में तुलसी ने वेदों के सारभूत परमात्मतत्त्व को ग्रहण करके वेदवादियों के प्रति गहरे व्यंग्य करते हुए भी जनकल्याण का पथ प्रशस्त किया और पग-पग पर वेद-प्रामाण्य की इतनी दुहाई देते रहे कि जनता को उनकी सारी विचारपद्धति वेदसम्मत ही प्रतीत हो। स्पष्ट है कि तुलसी का वेदमत भी अर्थ-वैशिष्ट्य रखता है। वह केवल वेदों में कथित ज्ञान का पर्याय नहीं है, वरन् अत्यन्त व्यापक रूप में शास्त्रकथित उस शाश्वत भागवत सत्य का द्योतक है, जिसका विस्तार वेदों में हुआ है। परन्तु जिसका प्रतिपादन देश काल के साथ विकृत होता गया है। इस दृष्टि से अनेक शास्त्रों में व्याप्त ज्ञान का जितना भी सूत्र है, वह सब तुलसी के वेदमत की परिधि में आ जाता है और इसी रूप में वह उनके 'लोकमत' का पूरक बनता है।

'लोकमत' और 'वेदमत' के विषय में तुलसी की धारणा का निर्णय उनके परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले कथनों के विश्लेषण से हो सकता है, जो यत्र-तत्र उनकी रचनाओं में बिखरे पड़े हैं।

कोरे वेदवाद के सम्बन्ध में तुलसी का स्पष्ट कथन है—

कीबै कहा, पढिबो का कहा ?
फल बूझिल न बेद को भेद बिचारै।
स्वारथ को परमारथ को कलि।
कामद राम को नाम बिसारै।
बाद बिबाद बिबाद बढाइ कै।
छाती पराई और आपनी जारै।

---

१. अतुलित महिमा वेद की तुलसी किये विचार।
जो निंदत निंदित भयो विदित बुद्ध अवतार। दोहावली ४६४

२. वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।। विनयपत्रिका, १२३

३. श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।। रामचरितमानस ७, १००

४. इस आस्था का एक जीवन्त प्रमाण यह है कि सूफी मुसलमान कवि जायसी तक को भी अपने 'पद्मावत' में चेतावनी देनी पड़ी थी :
'बेद पंथ जे नहिं चलहि ते भूलहिं बन मांझ'। पद्मावत ३८, २

चारिहु को छहु को नव को
दस आठ को पाठ कुकाठ-ज्यो फारै ।[1]

"कुकाठ को फारने" के समान शुष्क शास्त्रार्थ में बिझे हुए उन पंडितों के प्रति जो 'राम नाम' की क्रियात्मक साधना को छोड़ कर चारों 'वेद, छहों दर्शन, नवों व्याकरण, और अठारहों पुराणों का कोलाहली पाठ करने और 'वेद का भेद' विचारने में मगज पच्ची किया करते हैं, कवि की खीझ स्पष्ट है।

इसी प्रकार सहज नामसाधना में अपनी दृढ़ निष्ठा व्यक्त करते हुए वाह्य नीरस कर्मकांडों तक ही धर्म की इतिश्री मानने वालों पर—विशषकर 'वेद' के नाम पर—रागात्मक भावानुसंधान के पथ का तिरस्कार करने वाले कोरे कर्मवादियों पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—

तप तीरथ उपवास दान मख
जेहि जौ रुचे करो सो।
पाएहि पै जानिबो करम फल
भरि भरि बेद परोसो।[2]

'भरि भरि बेद परोसो' में उस प्रत्यक्ष लोकानुभूति की उन्मुक्त व्यंजना हुई है, जिसके अभाव में भारतीय लोक-संस्कृति रूढ़ियों में जकड़े रहने को बाध्य होती रही है।

यहां पर यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं कि इन कथनों का सम्बन्ध 'वेद' के संकुचित पंडित-गृहीत अर्थ से है। जहां व्यापक ज्ञान स्रोत के अर्थ में वेद शब्द का प्रयोग है, वहां उसके प्रति बराबर तुलसी की अगाध निष्ठा की अभिव्यक्ति हुई है—उदाहरणार्थ मानस की 'नाम-वंदना' में उनकी स्पष्ट उक्ति है—

विधि हरिहरमय बेद प्रान सो।[3]

जो बात 'वेद' के सम्बन्ध में सत्य है वही 'लोक' के सम्बन्ध में भी। जहां लोक का अर्थ मूर्ख जनता मात्र, ग्रहण किया जाता है, वहां तुलसी उसके विरोधी हैं। लोकमत के प्रबल समर्थक होते हुए भी वे 'जड़ जनता' के मत में आस्था नहीं रखते—इस 'भड़िया धसान' से उन्हें चिढ़ है—तभी तो उन्हें खुल कर घोषित करना पड़ा—

तुलसी भेड़ी की धंसनि, जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो खोवत मूढ अपान।[4]

जो लोग तुलसी का आधार लेकर वर्तमान तथाकथित 'जनवादी' प्रवृत्तियों का पोषण करते हैं उन्हें आंख खोल कर कवि की इस चेतावनी का साक्षात्कार करना चाहिये। यही नहीं, कोरे लोक को रिझाने की झोंक में भगवती सीता को वनवास देने वाले अपने आराध्य मर्यादापुरुषोत्तम राम तथा 'स्यमन्तक मणि' की चोरी का अपराध मोल लेने वाले श्रीकृष्ण तक को अपने व्यंग्य की लपेट में लेते हुए तुलसी ने कहा है—

अपजस जोग कि जानकी, मनि चोरी की कान्ह।
तुलसी लोक रिझायबो करषि कातिबो नान्ह।[5]

इस प्रकार तुलसी न तो कोरे 'वेदवाद' के समर्थक हैं और न कोरे लोक-लीक के। यद्यपि अपने व्यापक अर्थ में वे सर्वत्र ही शास्त्रीय मर्यादाओं और लोकरीतियों के पोषक हैं और सर्वत्र उसी पात्र एवं पथ को आदर्श माना है, जो लोक और वेद दोनों का अविरोधी हो। न जाने कितनी बार अपनी इस मान्यता का उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रसंगानुसार किया है, उदाहरणार्थ—

तात भरत तुम धरम धुरीना। लोक बेद बिद परम प्रवीना।[6]
लोकबेद बिदित बड़ो न रघुनाथ सो।[7]

---

१. कवितावली ७, १०४
२. विनय पत्रिका १७३
३. रा० १, १९, १
४. दोहावली, ४९६
५. दोहावली, ४९२
६. रा० २,३०४, ४
७. वि० ७१

व्यंग्य और विनोद के प्रसंगों में भी वे लोक और वेद की चर्चा करना नहीं भूलते—

लोक बेद हूं लों दगो नाम भले को पांच।
धर्मराज जम गाज पबि कहत सकोच न सांच।[1]

साथ ही, जहां 'लोक' और 'वेद' के मत में कुछ विषमता हो वहां 'वेद' की अपेक्षा लोक के मत की व्यावहारिक उपयोगिता की ओर भी उन्होंने मार्मिक संकेत किये हैं। राम के प्रति अपने अनन्य सम्बन्ध का साक्षी उन्होंने लोक को ही बनाया है और अपने आराध्य के समक्ष एक प्रश्न उठा दिया है जो उनकी इस लोकनिष्ठा का द्योतक है।

जगत बिदित बात ह्वै परी समुझिए धौ अपने।
लोक कि बेद बडेरो।[2]

---

१. दोहावली ३७३

२. विनय पत्रिका २७२

तुलसीदास की भक्ति में प्रीति सम्बन्धी शब्दावली

डा० लियोनार्ड टी० वोल्कट
स्करिट कॉलेज फॉर क्रिश्चियन वर्कर्स, टैनेसी, अमेरिका।
अनुवादक—**डॉ० प्रभाकर शुक्ल**

भागवत पुराण (९००—१००० ई० ?) में वर्णित भक्ति का स्वरूप अपने इष्टदेव (कृष्ण) के सम्मुख भक्त का भावप्रवण समर्पण था। रामानुज (११०० ई०) कृत 'श्री भाष्य' के अन्तर्गत वर्णित भक्ति में भक्त द्वारा अपने आराध्य (राम) का सहज सौम्य चिन्तन सन्निहित था जिसका उचित परिचय टॉमस उम ने "Ruhe oder Kontemplative From migkeit"[१] कह कर दिया है। रामानुज की आध्यात्मिक परम्पराओं के सन्निकट होते हुए भी तुलसीदास (१५३२—१६२३) की भाषा भक्ति-चर्चा सम्बन्धी उक्त दोनों अत्यन्त प्रभावशाली कृतियों के मध्य की स्थिति का स्वरूप प्रस्तुत करती है। तुलसी की भक्ति न तो अत्यन्त आवेशमयी है और न सर्वथा शान्त। वह अपने इष्टदेव के सम्मुख एक दीन याचक का प्रदर्शन की लालसा से परे स्वान्तः सुखाय व्यक्त हर्षोन्माद है। तुलसीदास के शब्द-भण्डार तथा चित्रों में उभरते हुए स्नेह एवं प्रेमानुरागमय हर्ष-विस्मय के भावों से युक्त उपासना है। टॉमस उम ने उसका परिचय इन शब्दों में दिया है—

"In Gottes gegenwart stehen, ihm dienen, ihm lieben, von ihm geliebt werden... und faktish die Gottheit geniessen."[२] वह रिम्बॉद (Rimband) की उक्ति 'J'attend Dieu avec gourmadise.'"[३] का स्मरण दिलाती है। वह प्रभु के प्रति स्नेहपूर्ण अनुरक्ति है।

तुलसीदास कृत रामचरितमानस में अधिक भावोन्मेष वाले स्थल प्रायः राम के सर्वाधिक निष्ठावान् भक्त हनुमान की कथा से सम्बद्ध हैं। उदाहरणार्थ, राम तथा लक्ष्मण से हनुमान की सर्वप्रथम भेंट का उल्लेख करते हुए तुलसीदास कहते हैं—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।
पुलकित तनु मुखु आव न बचना। देखत रुचिर बेषु कै रचना॥[४]

तथा इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर—

सुनि प्रभु वचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥[५]

यद्यपि राम उन्हें उठाना चाहते थे तथापि प्रीति के कारण हनुमान उठना ही नहीं चाहते थे—

बार बार प्रभु चहहिं उठावा। प्रेममगन तेहि उठब न भावा।[६]

---

१. Die Liebezu Gott in nicht Christlichen Religionen; Kralling von Munchen; Erich Wervel; 1950, P. 203.
२. वही, पृ० २०२।
३. डी, आर्सी, मार्टिन सिरिल द्वारा उद्धृत : दि माइण्ड एण्ड हार्ट ऑफ लव, फवेर एण्ड फवेर; १९४५, पृ० ५४।
४. किष्किन्धाकाण्ड ३।५—६। अंग्रेजी अनुवाद : डबल्यू० डी० पी० हिल; दि होली लेक ऑफ दि ऐक्ट्स ऑफ राम; लन्दन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, १९५२, पृ० ३२५।
५. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड ३२, गीता प्रेस, गोरखपुर।
६. वही।

भक्ति में प्रेम का कार्य इतना सुखद होता है कि कोई भी उससे विलग नहीं होना चाहता।

तुलसी-काव्य में भक्ति की गाम्भीर्यमयी अभिव्यक्तियां भी कवि की निजी भावभीनी अनुरक्ति से सम्पृक्त हैं। ऐसे स्थल अधिकांशतः राम के प्रजाजनों तथा भाई भरत से सम्बद्ध हैं। अयोध्याकाण्ड का एक अंश देखिये[1] —

सिथिल समाज सनेह समाधी।

समस्त समाज शिथिल हो गया, उसे स्नेह की समाधि लग गई। कुछ पृष्ठ आगे बढ़ने[2] पर राम के प्रति अत्यधिक तल्लीनता का एक अन्य उदाहरण हमारे समक्ष आता है—

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नामु जपु लोचन नीरू।

तुलसीदास कृत रामचरितमानस में वर्णित भक्ति के अन्तर्गत अनुराग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। तल्लीनता का अर्थ-बोध कराने वाले शब्दों के साथ अनुराग-सम्बन्धी शब्द जोड़े गये हैं।[3, 4]

तुलसी-काव्य के अन्तर्गत राम के प्रति कहे गये अनुरागपरक प्रार्थना-सम्बन्धी अवतरणों में सामान्यतया उनके शारीरिक सौन्दर्य की पूर्णता वर्णन है। ऐसे स्थल शृंगारिकता से पूर्ण हैं। उदाहरणार्थ बालकाण्ड के दोहा २५२ में राम, उन समस्त स्त्रियों के लिये आकर्षण का केन्द्र बताये गये हैं, जो उन्हें देखती हैं—"शृंगार धरि मूरति ....."[5] वे राम के अनन्ततत्त्व अथवा अज्ञेय ब्रह्म[6] से उनके तात्त्विक तादात्म्य की चर्चा अपेक्षाकृत कम मात्रा में करती हैं। शारीरिक सौन्दर्य में उनकी समता कामदेव से की जाती रही है।[7] फिर भी तुलसीदास ने इस भाषा की प्रतीकात्मकता और राम के प्रति राग-प्रवृत्ति तथा मानवीय काम-प्रवृत्ति के पारस्परिक अन्तर को कृष्ण-काव्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट कर दिया है। लंकाकाण्ड के आरम्भिक संस्कृत श्लोक में वे लिखते हैं: "रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं .....।"[8] अर्थात् मैं काम के शत्रु शिवजी के पूज्य राम की वंदना करता हूं जो संसार के भय को दूर करने वाले हैं।

तुलसीदास ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि उनकी भगवद् प्रीति विषयक शब्दावलि राम के प्रति अनन्य निष्ठा व्यक्त करती है जिसके द्वारा मानव अन्य समस्त सांसारिक बंधनों तथा वासनाओं से विमुख हो सकता है। जो सद्गुण 'राम' को विशेष प्रिय हैं, उनमें 'विराग' मुख्य है।[9] स्मरणीय है कि यह सांसारिक विरक्ति राम के चरणों में अनुरक्ति का ही प्रतिफल है।[10]

शम दम सील बिरति बहु कर्मा।

---

१. द्वितीय काण्ड २९४, रामजसन द्वारा निर्धारित पाठ, नागरी प्रचारिणी सभा।

२. द्वितीय काण्ड ३१३; रामजसन, अध्ययन के हेतु यही पाठ सुलभ होने के कारण इसी के आधार पर आगे उद्धरण दिये गये हैं।

३. द्वितीय काण्ड, २९० : "रामहि चितवत" तथा "प्रीति नित"।

४. प्रेमाभक्ति सम्बन्धी उल्लेख निम्नलिखित अंशों में प्राप्त होते हैं : प्रथम काण्ड, ९, ९च, २६, २७, २७च, २८, २८च, १७७च, १८१, १८९च, १९०च, १९१, १९५, १९६, १९६च, १९९च, २०१च, २०२, २०४च, २०५, २०७च, २०९, २०९च, २११च, २१२च, २१४, २१४च, २१७, २१७च, २२४च, २२७, २२८च, २३०च, २३१च, २४१; (द्वितीय) २६४, २६४च, २६९च, २७९, २७९च, २८६, २८९च, २८९छन्द १२, २८९; (द्वितीय) च, ३६७, स ३१–३२, ॥ ९०च, १०३च, १०८, १२४, १२५, १२५च, १२६, १२९च, १३२च, १३३च, १३४, १३४च, १३५, १७३च, २९४च (स्नेह)। ३१२, ३१२च, ३१३च; तृतीय काण्ड, ६च, ९च, १२च, २८च, २९च, ३०च, छन्द १०, ३९च, ४१; चतुर्थ काण्ड १च, २२च, २५च; पंचम काण्ड, ३२, ३२च, ४८च, ५९ छन्द ३। षष्ठ काण्ड ७० च, १०७च, १०८। सप्तम काण्ड २, १४ट२, १६, १७च, १८, १८च, १९च, २५, ३६, ३८च, ३९, ४१च, ४२च, ४७च, ४८च, ५०, ९२च, ९२ छन्द, १०७, १०९च, १२२च, १२३च, १२७ (रामजसन)।

५. रामजसन।

६. देखिये, द्वितीय काण्ड, २६च, ३३च; तृतीय काण्ड ७, (१५) पंचम काण्ड, प्रथम श्लोक, षष्ठ काण्ड, प्रथम श्लोक, १०६च, १०७च; सप्तम १३छ ५, १७, १८च, ३४च (रामजसन)।

७. षष्ठ काण्ड १०७च, प्रथम काण्ड २६६ (रामजसन)।

८. देखिये—सप्तम काण्ड ७ (रामजसन)।

९. द्वितीय काण्ड १२४च, १२५च, द्रष्टव्य, सप्तम, १५च, ३८च, ३९, ४१च (रामजसन)।

१०. पंचम काण्ड ४७च, किन्तु 'प्रीति' तृतीय काण्ड १२च (रामजसन) में द्रष्टव्य है।

इस अनुरक्ति का विचार बिरले रूप से ही एक ओर 'अहं' और 'त्वम्' की भावना या दूसरी ओर तादात्म्य के भाव को जाग्रत करता है। ब्रह्म के साथ तादात्म्य के सिद्धान्त का कहीं तो खण्डन किया गया है[1] और कहीं मण्डन।[2] अयोध्याकाण्ड (१७०च) में राम के भ्राता कहते हैं :

बादि मोर सब बिनु रघुराई।
जउं राम पहं आयसु देहू ।।

तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त भक्तिपरक भाषा की कसौटी पर परखने से यह दार्शनिक सा प्रतीत होने वाला कथन राम की भक्ति से सम्बद्ध अभिलाषा मात्र सिद्ध होता है। तुलसी के काव्य में उपासकों के लिये भक्ति का निश्चित स्वरूप राम की प्रेमपूरक भक्ति है। इस प्रेम भक्ति के कारण ही भक्त राम के सम्मुख विनीत भाव से समर्पण करता है। राम के प्रति 'प्रेमभगति' ही उसे संसार से विमुख करती है, उसके आन्तरिक कालुष्य को नष्ट कर देती है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई।।[3]

तुलसीदास ने प्रायः यह स्पष्ट रूप से कहा है[4] कि राम के प्रति भक्ति का अभाव तिरस्करणीय है। रामचरितमानस के सम्पूर्ण सन्देश में यह भाव स्पष्टतया व्यक्त है।

इस काल के बहुत-से हिन्दू कवियों की भांति तुलसीदास ने बहुत-से छन्दों में इष्टदेव के नाम-स्मरण की चर्चा की है। नाम-स्मरण के माहात्म्य पर उनके काव्य में विशेष बल भी दिया गया है—

सेवक सुमिरत नामु सप्रीती।[5]

तुलसीदास ने राम के प्रति भक्ति के सन्दर्भ में 'प्रेम', 'प्रीति', 'नेह', 'सनेह', 'अनुराग' आदि शब्दों का व्यवहार बहुधा किया है। राम और उनके दीन याचकों के मध्य स्थित भाव को व्यक्त करने के लिये कवि ने 'प्रेम' संज्ञा का प्रयोग प्रायः किया है। रामचरितमानस में इस शब्द का प्रयोग लगभग २३५ बार हुआ है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।[6]

राम से प्रेम करने वालों में भरत आदर्श भक्त हैं[7]—

चले भरत अति प्रेम मन संमुख कृपानिकेत।[8]

दूसरा बहुप्रयुक्त शब्द 'प्रीति' है। संस्कृत धातु 'प्रि' से विकसित यह शब्द 'प्रेम' के अर्थ में हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अत्यधिक प्रचलित है। इष्टदेव के प्रति कृष्ण-काव्य में उपलब्ध उन्मुक्त शृंगारिक प्रणयोन्माद के अर्थ-बोध से रहित यह एक शिष्ट तथा शालीन शब्द है। रामचरितमानस में यह लगभग २०३ बार प्रयुक्त हुआ है और इससे सम्बद्ध शब्द 'प्रिय' का प्रयोग विभिन्न रूपान्तरों में २४४ बार मिलता है।[9]

'नेह' तथा 'सनेह' शब्द अपने विभिन्न रूपों में भक्ति और राम की तद्विषयक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए प्रायः प्रयुक्त हैं (१५४ बार)। ये शब्द संस्कृत 'स्नेह' से विकसित हुए हैं।[10] भरत को रामभक्ति का मूर्तिमान् स्वरूप कहते हुए कवि ने इस शब्द का प्रयोग किया है—

धरे देह जनु रामसनेहू।[11]

'अनुराग' (१२६ बार प्रयुक्त) शब्द तो वह वरदान है जिसकी याचना प्रत्येक निष्ठावान् भक्त करता है। 'प्रीति'

---

१. सप्तम काण्ड १०८च।
२. सप्तम काण्ड १४च।
३. सप्तम काण्ड ४९च।
४. द्वितीय काण्ड १५६च, १६१, १६१च, १६६च।
५. प्रथम काण्ड दो० २८
६. सप्तम ४९च।
७. द्वितीय काण्ड २९१ ।
८. सप्तम काण्ड ४।
९. द्रष्टव्य—मानसशब्दसागर, सं० बद्रीदास अग्रवाल, कलकत्ता, काशी प्रसाद विजयकुमार अग्रवाल, १९५५।
१०. द्वितीय काण्ड ९०च।
११. द्वितीय काण्ड १९९ च।

के लिये प्रयुक्त यह प्राचीन शब्द रामचरितमानस में इष्टदेव के प्रति घनिष्ठता अथवा सख्य भाव को व्यक्त ही नहीं करता, वरन् भक्ति के क्षेत्र में प्रेमपूर्ण उपासना के अर्थ में व्यवहृत है।[१]

भक्ति विषयक प्रीति के भाव को व्यक्त करने के हेतु 'रति', 'मोह', 'छो' (ह) शब्दों का व्यवहार भी मिलता है। जिन स्थलों पर ये शब्द इष्टदेव के प्रति भक्त के दृष्टिकोण को व्यक्त करने के हेतु प्रयुक्त हुए हैं, वहां इन शब्दों से सम्बद्ध शारीरिक वासना तथा मोह के अर्थ की ध्वनि बिलकुल नहीं निकलती। उदाहरणार्थ, कहीं-कहीं 'रति' को 'धर्मरति'[२] कहा गया है जिससे सांसारिक आसक्ति से भिन्न तथा धर्म के प्रति अत्यधिक निष्ठा के भाव की अभिव्यक्ति होती है।

उपर्युक्त तथा प्रीति सम्बन्धी अन्य शब्द[३] तुलसी-काव्य में इष्टदेव के प्रति भक्त के दृष्टिकोण को तो व्यक्त करने के निमित्त भी प्रयुक्त हैं।

निष्कर्ष—तुलसीदास ने अपने काव्य में निर्भ्रान्ति रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि वे साधना की सभी पद्धतियों में आस्था रखते हैं और यथावसर उनका समर्थन भी करते हैं, तथापि उनकी दृष्टि में मानव के त्राता राम की उपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन प्रेम भक्ति ही है—

उमा जोग जप दान तप, नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम॥[४]

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥[५]

तुलसीदास की शब्दावली अध्यात्म-विद्या अथवा दर्शन-शास्त्र की नहीं, वरन् काव्य की शब्दावली है। जिन स्थलों में कवि ने राम के प्रति भक्तों की भावना का वर्णन किया है, वहां माधुर्य छलका पड़ता है। उदाहरणार्थ, राम, सीता तथा लक्ष्मण से बात करते हुए वाल्मीकि का प्रसंग इसी प्रकार का है।[६] हिन्दी भाषियों के लिए रामचरितमानस प्रीतिविषयक शब्दावली के कारण ही माधुर्य का अनुपम भण्डार है। राम अपने भक्तों पर सदैव कृपा करते हैं, किन्तु उसका बाह्य प्रदर्शन कभी नहीं करते। भक्तों के भक्ति विषयक उद्गारों में सर्वत्र कुछ आवेश झलकता रहता है।

तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त प्रीतिपरक शब्द सुपरिचित तथा लोक-प्रचलित हैं। उन्होंने उपनिषदों की रहस्यवादी शब्दावली का प्रायः व्यवहार नहीं किया है। कृष्ण-भक्त कवि पहले से ही लौकिक प्रेम में रुचि रखने वाले लोगों के लिए चित्ताकर्षक काव्य का सर्जन कर रहे थे। इन वैष्णव प्रेम कथाओं के प्रति श्रोताओं की अभिरुचि जाग्रत हो चुकी थी। तुलसीदास ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसने लौकिक स्तर पर तो जन-मानस को संतोष प्रदान किया ही, साथ ही एक उन्नत धरातल पर ब्रह्म से आध्यात्मिक सम्बन्ध की संभावनाओं का द्वार खोल दिया।

अपनी भक्ति को लोकप्रचलित प्रीति सम्बन्धी शब्दावली के माध्यम से प्रस्तुत करके तुलसीदास ने इष्टदेव के प्रति भक्तों की अविचल आस्था तथा प्रेम भक्ति की सर्वोच्चता को प्रतिपादित किया है।

—रामचरित मानस के आधार पर
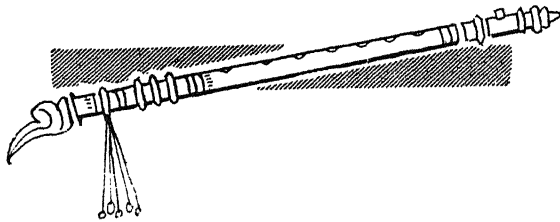
१. प्रथम काण्ड १८१ (अनुराग); द्रष्टव्य चतुर्थ काण्ड ९।
२. तृतीय काण्ड सोरठा १।
३. प्रणय।
४. षष्ठ काण्ड ११७ ब (गीता प्रेस), (रामजसन, ११४)
५. द्वितीय काण्ड २६५; तृतीय काण्ड ३०–३१ भी द्रष्टव्य हैं।
६. द्वितीय काण्ड १२२ (ग), १२८ (इलाहाबाद–बनारस, तृतीय काण्ड ७ भी द्रष्टव्य है)।

मीरां—नाम ?

डॉ० भगवानदास तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०

जिज्ञासा अनुसन्धान की सूत्रधारिणी है, किन्तु अति जिज्ञासा जब अति बौद्धिकता में परिणत हो जाती है, तब जिस तरह के तर्क-वितर्क और वितण्डावाद आविर्भूत होते हैं, उसका एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण परिचित है, किन्तु मीरां के नाम को लेकर कतिपय गण्यमान्य विद्वानों में जो नोंक-झोंक हुई है, वह भी कम ज्ञातव्य नहीं है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सबसे पहले कबीर की तीन साखियों में मीरां शब्द का उल्लेख पाया जाता है—

चौहटे च्यंतामंणि चढी, हाड़ी भारत हाथि।
मीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि।[1]
कबीर चाल्या जाइ था, आगें मिल्या खुदाइ।
मीरां मुझसों यों कह्या, किनि फुरमाई गाइ।।[2]
हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।
मीरां मुझमें क्या खता, मुखां न बोले पीर।।[3]

कबीर के काव्य में प्रयुक्त उक्त मीरां शब्द को देखकर डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने मीरां शब्द की व्युत्पत्ति, उसके अर्थ और परम्परा पर शंका की और उसे फारसी के मीर शब्द से व्युत्पन्न माना। उनके विचार से मीरां ईश्वरवाची शब्द का पर्याय तथा सन्तों द्वारा दिया गया उपनाम था। इसी धारणा को लेकर उन्होंने मीरांबाई का अर्थ ईश्वर की पत्नी लगाया और मीरां को कबीर तथा रैदास से प्रभावित सिद्ध करने की चेष्टा की।[4]

श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ ने डा० बड़थ्वाल का समर्थन किया। उन्होंने लिखा कि मीरां शब्द संस्कृत का नहीं है। मालूम होता है कि नागौर में मुसलमानों का अड्डा होने व मेड़ते के उसके निकट रहने से अथवा अन्य कारणों से, उनका प्रभाव राजपूतों पर पड़ा होगा। ..... मीरां शब्द फारसी में मीर का बहुवचन है और शाहजादों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[5]

श्री हरिनारायण जी पुरोहित का मत है कि—अरबी भाषा के अक्षरी केवल रूप के अनुसार अम्र बना। अम्र से फ़ईल के वज़न पर अमीर बना। अमीर का संकुचित रूप मीर हुआ, 'मीर' का बहुवचन और प्रतिष्ठा द्योतक 'मीरां' शब्द बना। इसके उपरान्त पुरोहितजी ने राजस्थान के कई वृद्ध मूल निवासियों और इतिहासवेत्ताओं से मीरां—नाम पर प्रश्न पूछे और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला कि मीरां के माता-पिता सन्तान के लिये आकुल रहा करते थे, अतः उन्होंने अजमेर शरीफ के सिद्ध मीरांशाह की मनौती करके सन्तान की हित कामना की, जिसके फलस्वरूप उनके यहां पुत्री हुई। यही पुत्री मीरां कहलाई।

श्री महावीरसिंहजी गहलौत ने हरिनारायणजी पुरोहित की धारणा का खण्डन करते हुए लिखा कि प्रथम तो मीरां के माता-पिता के घर मीरां का जन्म उनकी युवावस्था में ही हुआ था, जिससे उनका सन्तान के लिये व्याकुल रहना संगत नहीं जान पड़ता। द्वितीय यह कि उन दिनों अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का बोलबाला था। मीरांशाह की प्रसिद्धि मीरां के जन्म के पश्चात् की बात है।[6]

---

१. कबीर ग्रन्थावली—संपादक डा० श्यामसुन्दरदास, परचा कौ अंग, पृष्ठ १४, साखी क्रमांक १९ ।
२. वही, साध साषीभूत कौ अंग, पृष्ठ ५२, साखी क्रमांक २१ ।
३. वही, विनती कौ अंग, पृष्ठ ८५, साखी क्रमांक ८५ ।
४. सरस्वती, भाग ४०, अंक ३, मीरांबाई नाम—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ २११—२१३ ।
५. सन्तवाणी पत्रिका, वर्ष १, अंक ११, पृष्ठ २४ ।
६. मीरां : जीवनी और काव्य—महाबीरसिंह गहलौत, पृष्ठ १५ ।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी हरिनारायणजी पुरोहित का मत गलत सिद्ध होता है, क्योंकि मीरां हुसैन खंग सवार उर्फ मीरां साहब संवत् १६०१ तक अप्रसिद्ध ही रहे। उनकी कब्र साधारण रूप में थी, पर उसकी मानता संवत् १६१८ से बढ़ी, जब स्वयं पातसाह अकबर वहां गया था ।[१]

श्री महावीरसिंहजी गहलौत ने मीरां का सही अर्थ सागर या महान् मानकर मीरां शब्द का सम्बन्ध मीर से जोड़ दिया और उसी मीर से व्युत्पन्न 'मीरांसा' शब्द का अर्थ मुक्त मन वाला, कृपालु, शीलवान पुरुष निकाला। फिर अपने अनुमान से उन्होंने यह भी लिखा कि—बहुत सम्भव तो यही जान पड़ता है कि मीरां के माता-पिता ने अपनी प्रथम सन्तान को जीवन-चिन्तामणि जानकर अपने सुखों में उसे अति उच्च पद दिया और उसके शील, गुण, नम्रता आदि को लखकर यथागुणानुसार उसे मीर (श्रेष्ठ) ही माना और वही हमारी मीरांबाई अपने नाम को भक्ति-क्षेत्र और काव्य-क्षेत्र में स्वर्णांकित करने में सफल हुईं। यही सीधा-सादा रहस्य 'मीरां' नाम में निहित जान पड़ता है ।[२]

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ, हरिनारायणजी पुरोहित, महावीरसिंहजी गहलौत आदि मीरां नाम को फारसी के मीर से व्युत्पन्न मानते थे। इनके विरोध में विद्वानों का एक दूसरा दल तैयार हुआ, जिसने मीरां नाम को संस्कृत व्युत्पन्न सिद्ध करने के लिये बड़ों पसीना बहाया।

डा० मंजुलाल मजूमदार ने संस्कृत भविष्य महापुराण में मीरांबाई का हवाला देते हुए दो श्लोक उद्धत किये—

मानकाशे नारी भावात् नारी देहमुपागतः।
मीरा नामेति विख्याता, भूपते स्तनया शुभा ॥
मा शोभा च तनौ तस्या, गतिर्गज समा किल।
सा मीरा च बुधे प्रोक्ता, मध्वाचार्य मते स्थिता ॥[३]

मीरां-पदावली के मूल पाठानुसन्धान और उसके विश्लेषण के आधार पर हमारे मत से मीरां सम्प्रदायमुक्त, गुरु-शिष्य-परम्परा-विहीन, परम वैष्णवी भक्तिन थीं, अतः संस्कृत भविष्य महापुराण में होने पर भी उक्त मत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ।[४]

डा० गोकुल भाई पटेल ने गाथा सप्तमी के आधार पर मदिरा से मइरा और मइरा से मीरा शब्द की उत्पत्ति मानी है, जो एक कपोल कल्पना मात्र है ।[५]

गुजराती के प्रसिद्ध विद्वान श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने संस्कृत शब्द मिहिर—सूर्य—से मिहिरा—मिइरा और मीरा शब्द का विकास बतलाते हुए लिखा है कि मीरां शब्द का स्त्रीवाची 'आं' नामों के साथ गुजरात में खूब मिलता है। इसके उदाहरणस्वरूप उन्होंने रूपां, धनां, तेजां, शोभां, लीलां, जीपां आदि दृष्टान्त दिये। फिर उन्होंने शब्द की दूसरी उत्पत्ति भी बताई कि देशी 'मिरिया' झोपड़ी नाम के लिये प्रयुक्त हुआ होगा। देशी मइहर, गांव का अगुआ मईहर, मीअर, मीरा, मीरां—गांव के अगुआ राजा की पुत्री मीरां हुई ।[६]

श्री शम्भुप्रसाद जी बहुगुणा ने शास्त्रीजी के मत का खण्डन करते हुए लिखा कि शास्त्रीजी ने मइहर से जो व्युत्पत्ति दी है, वह मुझे ठीक नहीं जंचती और यदि वह ठीक भी हो तो उसका सम्बन्ध मीरां नाम से नहीं हो सकता। मइहर शब्द का अर्थ मिहिर, मेहर, दयावाला, दयालु भी यद्यपि है, किन्तु वह जन्मभूमि, पीहर, पितृगृह का द्योतक है। उदाहरणार्थ—बाबुल मोरा मइहर छूटी जाय। और इस दशा में स्वयं मइहर शब्द मातृगृहम् व्युत्पन्न है। मातृगृह माइहरं महियर। महिअर फ्रांसिसी भाषा में मिलने वाला समुद्रवाची मेर ला मेरमेडिट्टेरान्ने (भूमध्यसागर) शब्द इसी अर्थ में संस्कृत शब्द महार्णव विद्यमान है, जिसका रूप गुजराती भाषा के कवि मालण (संवत् १४९०—१५७०) की कादम्बरी में मिलता है—मिहिरामण मथिउ अति कोडी।

श्री एन० बी० दिवेटिया इस मिहिरामण की उत्पत्ति इस प्रकार देते हैं—

महार्णरः महारणवु महारावणु मिहिरामण महेरामण।

मुझे दिखाई देता है कि मीरां शब्द के नामार्थ में मिहिर सूर्य से अधिक ठीक है। सूर्योदय के पर्वत को बाइबिल

---

१. अजमेर—हर विलास सारडा, पृष्ठ ७६ ।
२. मीरां : जीवनी और काव्य—महाबीरसिंह गहलौत, पृष्ठ १७ ।
३. संस्कृत भविष्य महापुराण, प्रतिसंर्ग, अध्याय २२, श्लोक ४१–४२ ।
४. मीरां की भक्ति और उनकी काव्यसाधना का अनुशीलन—डा० भगवानदास तिवारी, अध्याय ८ ।
५. स्वर-भार अने व्यापार—डा० गोकुल भाई पटेल, पृष्ठ २१६ ।
६. मीरांबाई नाम—श्री के० का० शास्त्री, बुद्धिप्रकाश, अक्टूबर–दिसम्बर १९३९, पृष्ठ ४२० ।

में मैरोस कहा गया है। यही हमारा सुमेरु है। मिहिर कुल नाम भी है और सूर्य वंश का द्योतक भी, सूर्यकुल से मीरां का सम्बन्ध था ही।[1]

इस प्रकार बहुगुणाजी ने मीरां शब्द को मिहिरोत्पन्न बतलाया।

श्री नरोत्तम स्वामी ने प्राकृत और अपभ्रंश के अक्षर परिवर्तन के व्याकरण सम्बन्धी नियमों के आधार पर मीरां शब्द की उत्पत्ति वीरां शब्द से मानी, क्योंकि राजस्थानी में वीरां शब्द स्त्रीलिंग और पुत्री का पर्यायवाची है। 'वीरां' नाम की एक कवयित्री के कुछ पद महिला मृदुवाणी में भी मिलते हैं।[2] किन्तु वीरां का मीरां में परिवर्तन होना केवल कल्पना मात्र है।

दलाल जेठालाल वाडीलाल लिखते हैं—

प्रेम लक्षणा भक्ति थी वश कीधां करतार।
धन धन मीरांबाई गिरिधारी शूं प्यार॥

उक्त दोहे को उद्धृत करने के बाद उन्होंने मीरा शब्द को मही और इरा के संयोग से निष्पन्न माना। उन्होंने लिखा कि मीरा के जन्म के समय अलौकिक प्रकाश का 'बिम्ब' दिखलाई पड़ा था, जिससे कुमारी का नाम मही इरा अर्थात् मीरा रखा गया। मही का अर्थ पृथ्वी और इरा का अर्थ तेज या प्रकाश हुआ। मीरा ने पृथ्वी पर निर्दोष प्रेम-भक्ति का प्रकाश फैलाया और अपने पिता रत्नसिंह से प्रकट होने के कारण रत्न के प्रकाश के समान वह उज्ज्वल तथा निर्मल थीं।[3]

दलालजी की उक्ति भावुक भक्तों की धार्मिक उल्लास-प्रेरित कल्पना मात्र है, जिसमें ऐतिहासिक सत्य ढूंढना व्यर्थ है।

मीरां माधुरी के सम्पादक श्री ब्रजरत्नदासजी ने मीरां शब्द के स्वरूप, विकास, विश्वव्यापी प्रचार और अर्थ को लेकर अनेक शब्दकोशों को छाना और लिखा—

फारसी के कोशों में मीर शब्द अमीर का मुखफ्फफ अर्थात् छोटा रूप लिखा गया है और अमीर का अर्थ सरदार है। मीर का बहुवचन मीरान् या मीरां होता है। इससे अनेक शब्द बनते हैं, जैसे मीरक—छोटा मीर, मीरज़ाद या मीरजा—मीर का वंशज, मीर मजलिस—सभापति, मीर आखोर—अस्तबल का दरोगा आदि। मुसलमानों में यह प्रमुख सैयदों का अल्ल भी होता है। मुगल दरबार में मीर मीरान्—मीरों का सरदार पदवी दी जाती थी और सम्मान के लिये एक मनुष्य को 'मीरान् जी' कहकर सम्बोधित करते थे।[4]

अंग्रेजी के कोशों को देखने से ज्ञात होता है कि एंग्लोसेक्सन शब्द मेअर—एम ई आर ई—का अर्थ झील या ताल है। जर्मन तथा डच भाषाओं में मीर—एम ई ई आर—लेटिन के मेअर तथा फ्रेंच के मेर—एम ई आर—या मेअर समानार्थी हैं। इन सबका अर्थ समुद्र है। उन कोशों में यह टिप्पणी भी है कि यह शब्द संस्कृत के मरु रेगिस्तान या भ्रि झरना शब्दों में से किसी से व्युत्पन्न है और इसी से मेराइन—समुद्री तथा मार्श—दलदल शब्द बने हैं।

संस्कृत में मीरः शब्द समुद्रवाची है। संक्षिप्त विलसन डिक्शनरी में इसका अर्थ महासमुद्र लिखा है। यह पुल्लिग है और इसकी व्युत्पत्ति भी—फेंकना, फैलाना, रक् उणादि दिया है। आप्टे के कोश में मीरः शब्द समुद्र, सीमा, पेय तथा पर्वत का मुख्यभाग बतलाया गया है। मीरः को आकारान्त कर देने से वह स्त्रीलिंग हो जाता है और तब उसका अर्थ नदी या जल हो जाता है। मीरः के समान इरः का अर्थ क्षीर समुद्र है और यह पुल्लिग है तथा इरा शब्द स्त्रीलिंग है और इसका अर्थ पृथ्वी, सरस्वती, पेय, जल, सुरा, कश्यप की एक स्त्री आदि है। इरावती एक नदी का नाम भी है। इर् धातु का अर्थ जाना है। मि धातु का अर्थ फेंकना, देखना, नापना, स्थापित करना आदि है। मी धातु का अर्थ जाना, समझना आदि हैं। मी या मि इरा मीरा बनता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मीर या मीरा शब्द संस्कृत है और इसीसे यूरोपीय भाषाओं में गया है।[5]

इस तरह ब्रजरत्नदास जी ने मीरां शब्द को संस्कृत प्रमाणित करने का यत्न किया है और मीरा शब्द का सम्बन्ध फारसी के मीर की अपेक्षा संस्कृत की 'मी' या 'मि' धातु और इरा के संयोग से माना है। संस्कृत से मीरां शब्द की उत्पत्ति के विवेचन के उपरान्त आपका अनुमान है कि "कभी-कभी बड़े नाम का अंश मात्र पुकारने से नाम बन जाता है, जैसे

१. जनम जोगिण मीरा—श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, मीरा स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ५३–५४।
२. महिला मृदुवाणी—संपादक मुंशी देवी प्रसाद, पृष्ठ ३९।
३. मीरां माधुरी—संपादक : ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ ११६।
४. वही, पृष्ठ ११२।
५. वही, पृष्ठ ११३–११४।

कश्मीरा से 'मीरा'। प्रमीला, 'मीला' तथा उपसर्ग प्र संयुक्त है और 'मीला' से 'मीरा' बन सकता है। राजपूतों में पुरुषों का हम्मीरसिंह नाम प्राचीन काल से प्रचलित है और इस हम्मीर में 'मीर' शब्द प्रस्तुत है, जिससे मीरा शब्द बन जाना सहज स्वाभाविक है।"[१]

कश्मीरा से 'मीरा' या प्रमीला से 'मीला' से 'मीरा' शब्द की उत्पत्ति अटकलपच्चू बातें हैं। कश्मीरा या प्रमीला को मीरा के नाम से सम्बोधित होते या करते हुए आज तक कहीं नहीं देखा, सुना गया और न कहीं पढ़ने में ही आया है। मीरां शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ये दलीलें बहुत कमजोर, निराधार और व्यर्थ हैं। कम-से-कम इतना तो निश्चित है कि मीरां का नामकरण प्रमीला या कश्मीरा से नहीं हुआ है।

फिर मीरा स्मृति ग्रन्थ में आचार्य ललिताप्रसादजी सुकुल ने 'मीरा निरुक्त' लिखा। मेड़ंता और मीरा शब्द की सन्तुलित व्याख्या करते हुए उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि—मीर ता—मीरता। 'मीर' शब्द का अर्थ संस्कृत कोश के अनुसार जलराशि, समुद्र, किसी पर्वत का कोई भाग, सीमा और पेय विशेष और एकाक्षर कोश के अनुसार 'ता' शब्द लक्ष्मी शब्द का वाचक है। हमारे साहित्य में—क्या प्राचीन और क्या नवीन—लक्ष्मी धन की देवी तो हैं ही, किन्तु सौन्दर्य, ऐश्वर्य इत्यादि भी उन्हीं के उपादान हैं, अतः यदि 'मीर' शब्द जलराशि अर्थात् जलाशय और 'ता' युक्त मीर, सुन्दरतम जलाशय माना जाय तो आपत्ति की कोई गुंजाइश नहीं और इस प्रकार न केवल मेड़ता शब्द की व्युत्पत्ति की ही समस्या हल हो जाती है, वरन् उसकी पूर्ण सार्थकता भी स्पष्ट हो जाती है।

मीराबाई का नाम निस्सन्देह ही उपर्युक्त व्युत्पत्ति से सम्बन्धित है। 'मीर' वाच्य है जलाशय का। मेड़ते के चारों ओर सुन्दर-सुन्दर झीलें हैं।[२] सरिता और झील इत्यादि पर स्त्रियों के नाम रखने की प्रथा हमारे देश में नवीन नहीं। यदि राव दूदाजी ने अपनी पौत्री के अलौकिक सौन्दर्य से प्रेरित होकर मेड़ते की सुन्दरतम झील के आधार पर उसे मीरा कहा हो तो आश्चर्य क्या? साथ ही जल हमारे देश में सात्विक भावना का सिद्ध उद्दीपन माना गया है। इसी के अनुसार मीरा की जल के समान सौम्य सुन्दरता और निर्मलता देख कर राव दूदाजी ने उन्हें 'मीरा' कहा होगा।[३]

उक्त मन्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि मीरा शब्द की उत्पत्ति जलाशय के पर्यायवाची संस्कृत शब्द मीरः से हुई और मीरा का नामकरण राव दूदाजी ने किया। शुक्लजी तथा उनके पूर्ववर्ती अन्य विद्वानों ने मीरां शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में जो नये-नये तर्क प्रस्तुत किये हैं उन सब का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मीरां का नामकरण करते समय उनके परिवारवालों ने मीरां—नाम का मूल खोजने वाले विद्वज्जनों की भांति अरबी, फारसी, लेटिन, जर्मन, फ्रेन्च, संस्कृत शब्द-कोशों की छानबीन कर मीरां शब्द का निर्माण नहीं किया था। भाषा विज्ञान में शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से मीरां शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर यदि इस तरह बाल की खाल खींची जाती तो कोई बात नहीं थी किन्तु कवयित्री मीरां के नामकरण करते समय उनके परिवार में इतने मत-मतान्तरों का आविर्भाव हुआ होगा, यह विचार ही सर्वथा असत्य है। जहां तक मीरां शब्द की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध है, मीरां शब्द संस्कृत के मीरः शब्द से उद्भूत माना जा सकता है और उससे मीर आं—मीरां नाम बन सकता है, किन्तु राजस्थान के क्षत्रिय कुल में प्रयुक्त मीरां शब्द फारसी के मीर शब्द से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता। राजस्थानी राजवंश, जिनमें मीरां का पितृकुल भी सम्मिलित है, अरबों, तुर्कों और यवनों अर्थात् म्लेच्छों के कट्टर शत्रु थे, अतः किसी भी हालत में उन्होंने मीरां का नाम अपने दुश्मनों की भाषा फारसी में उच्चता और बड़प्पन के द्योतक मीर[४] शब्द को लेकर रखा होगा, यह धारणा बिल्कुल गलत है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो पता चलता है कि मीरां शब्द का प्रयोग राजस्थान में मीरां के जन्म से एक शताब्दी पूर्व भी प्रचलित था। बारहठ बीठूजी के दोहे में मीरां शब्द विद्यमान है—

खंगड़े किया खड़ाक सी, लागा सुरताण सूं।
मीरां मीलक नूं मार, छोड़यां उतरी छाक॥[५]

मीर शब्द यदि संस्कृत कोशों के अनुसार समुद्र का पर्यायवाची है तो हम्मीर में प्रयुक्त मीर शब्द समुद्र के गाम्भीर्य के लक्षणार्थ का द्योतक माना जा सकता है। राव मालदेव की पांचवीं पुत्री का नाम मीरां था।[६] गुजरात में भी मीरां नाम

---

१. वही, पृष्ठ ११४।
२. "वाटर इज प्लेन्टीफुल एट मेरता देयर बीइंग न्यूमरस टैंक्स ऑल अराउन्ड द सिटी।"
—राजस्थान गजेटियर, पृष्ठ २३१।
३. मीरा निरुक्त—ललिता प्रसाद सुकुल, मीरा स्मृति ग्रन्थ, परिशिष्ट, पृष्ठ ४२।
४. इन्साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम, पृष्ठ ५०५।
५. मूता नैणसी री ख्यात, भाग—२, पृष्ठ २१७।
६. जोधपुर राज्य का इतिहास—म० म० गौरी शंकर हीराचंद ओझा, खण्ड १, पृष्ठ ३२९।

की दो कवयित्रियां हुई हैं।[1] अतः हमारा निवेदन है कि फारसी के मीर से मीरां का सम्बन्ध जोड़ने में कोई तुक नहीं है और न मीरां उपनाम या उपाधि ही है, जैसा कि डा० पीताम्बरदत्त जी बड़थ्वाल ने माना था। राजस्थान और गुजरात दोनों में मीरां स्त्रियों का सामान्य नाम था किन्तु आजकल खड़ी बोली में मीरां शब्द अनुस्वारान्त न होकर आकारांत रह गया है, अतः लड़कियों के नाम अब मीरां न रखे जाकर मीरा रखे जाते हैं। मीरां नाम को लेकर खड़े हुए वितण्डावाद का यही स्वरूप है।
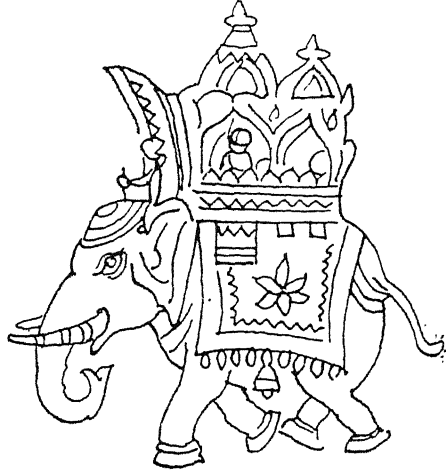
१. मीरां : जीवनी और काव्य—महावीरसिंह गहलौत, भूमिका पृष्ठ १६।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग का नीति और विवेकपरक काव्य

डा० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्०
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

लगभग एक हजार वर्ष के दीर्घकालीन हिन्दी साहित्य में अनेक लौकिक तथा आध्यात्मिक भावधाराएं प्रवाहित होती रही हैं जैसे—वीरभाव, वीरप्रशस्ति, लौकिक प्रेम, संतों की आध्यात्मिक अनुभूतियां, भक्तों की विविध भावमयी प्रेम-भावना, प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम आदि। अनेक भाव प्रवृत्तियों के अतिरिक्त महामानवों की लोक कल्याण से भरी अनुभूतियां और जीवन को प्रशस्त और सुगम बनाने के उपदेशात्मक नीति-वाक्य भी प्रचुर मात्रा में हिन्दी-काव्य के माध्यम द्वारा व्यक्त हुए हैं। नीति और उपदेश की उक्तियां भारतीय वाङ्मय का अक्षय भण्डार हैं। संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य, इस प्रकार की उक्तियों से भरे पड़े हैं। जहां जीवन में शुद्ध रसात्मक साहित्य का मूल्य है वहां रसात्मक शैली में व्यक्त नीति और उपदेश साहित्य का भी मानव जीवन के लिये भारी महत्त्व है। महात्मा तुलसीदास ने तो श्रेष्ठ काव्य उसी को माना है जो लोक का कल्याण करने वाला हो। रामचरित मानस में अपना काव्यादर्श प्रकट करते हुए वे कहते हैं :

कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई।

यश, कविता और सम्पत्ति वही भली या श्रेष्ठ है जिससे गंगा के समान सब का हित या कल्याण (भला) हो। हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी साकेत में यही बात कही है :

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये।

मनुष्य का वह ज्ञान और अनुभूति का भण्डार जो मानव के व्यावहारिक जीवन को सुखमय और उन्नत बनाने में सहायक होता है, नीति साहित्य है। मनुष्य क्या करता है, इस बात को छोड़ कर मनुष्य को क्या करना चाहिये 'नीति' है। परन्तु नीतिशास्त्र और नीतिकाव्य में अन्तर है। जो ज्ञानराशि विश्लेषणात्मक ढंग से बुद्धिसंगत तर्क शैली में व्यक्त की जायगी वह शास्त्र कहलायेगी और जो रसात्मक शैली में सामान्य अनुभूतियों के रूप में प्रकट की जायगी उसे नीतिपरक काव्य की संज्ञा मिलेगी। मानव जीवन के व्यवहार बहुमुखी हैं, हमारे शास्त्रों ने मानव के चार पुरुषार्थ बताये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सांसारिक जीवन का बहुधा सम्बन्ध प्रथम तीन पुरुषार्थों से है। इसीलिये व्यावहारिक जीवन में नीति और उपदेश का क्षेत्र भी मोटे तौर पर धर्मनीति, अर्थनीति और कामनीति होता है। उक्त तीनों पुरुषार्थों के अन्तर्गत मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के धार्मिक, आचारिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि अनेक कर्त्तव्य के क्षेत्र हैं। जैसा कि हमने पीछे कहा है नीति का साहित्य 'शास्त्र' और 'काव्य' दोनों रूपों में संस्कृत भाषा में प्रचुर मात्रा में है। महाभारत, समस्त पुराणों तथा स्मृतियों में इस विषय का सुन्दर विवेचन हुआ है। 'शुक्र नीति' तो संस्कृत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पाली की जातक कथाओं, संस्कृत की पंचतन्त्र तथा हितोपदेश जैसी रचनाओं में और नीतिशतक, नीति मंजरी, नीति संग्रहों तथा अन्योक्ति ग्रन्थों में तथा अपभ्रंश के साहित्य में, प्रबुद्ध वचनों का प्रकाशन सूक्ति और दृष्टान्त, दोनों रूपों में किया गया है। हिन्दी साहित्य में नीति के कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन शास्त्रीय ढंग से तो नहीं किया गया है, परन्तु विधि और निषिद्ध धर्मों तथा लोक हितकारी अनुभवों का कथन आलंकारिक तथा रसात्मक शैली में बहुत हुआ है।

नीति और उपदेशात्मक काव्य की जो धारा संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों में प्रवाहित रही, उस धारा ने हिन्दी में भी प्रवेश किया। मुख्यतः संस्कृत और अपभ्रंश के नीतिपरक साहित्य का हिन्दी पर बहुत प्रभाव पड़ा।

इसका कारण यह है कि संस्कृत भारतीय जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में अत्यन्त व्यापक प्रभावशालिनी मान्य भाषा रही है। अपभ्रंश का इसलिये प्रभाव है कि हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषा अपभ्रंश ही थी जिससे हिन्दी भाषा अपने वर्तमान विविध रूपों में विकसित हुई। इस प्रकार हिन्दी की जननी अपभ्रंश है जिसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के विस्तारकाल को तीन कालों में विभाजित किया है। हिन्दी का आरम्भिक काल लगभग संवत् ११००से संवत् १३५० तक, मध्यकाल सं० १३५० से सं० १९०० तक तथा आधुनिक काल सं०•१९०० से आज तक। आरम्भिक काल को कुछ प्रमुख इतिहासकारों ने वीरगाथाकाल की संज्ञा दी है और मध्यकाल को दो भागों में विभाजित कर 'भक्तिकाल' तथा 'रीतिकाल' कहा है। आधुनिक काल का कोई नामकरण नहीं किया गया है। नीति और उपदेशात्मक काव्य अपभ्रंश साहित्य में प्रचुर मात्रा में है और अपभ्रंश तथा हिन्दी के सन्धिकाल के साहित्य, बौद्ध, सिद्ध और जैन साहित्यों––में भी प्रबोधन, ज्ञान और धर्म सम्बन्धी उपदेश प्राप्त होते हैं। गोरखनाथ की गोरखबानी में भी, दया, क्षमा, काम, क्रोध आदि मनोभावों, व्यावहारिक सम्बन्धों तथा नारी द्रव्यादि पर नीति और उपदेश के कथन हैं। वीरगाथाओं का विषय वीर सामन्तों की प्रशस्ति, उनकी वीरता और प्रेम के प्रसंगों का वर्णन है। इस साहित्य में नीति-विषयक वाक्य नहीं के बराबर हैं। यों जहां तहां अनुभव के कुछ कथन 'रासो' अथवा 'रासक' साहित्य से निकाले जा सकते हैं।

नीति और उपदेशात्मक साहित्य हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग के भक्ति और रीति, दोनों कालों में तथा आधुनिक काल के भारतेन्दु और द्विवेदी युगों में, प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। संतों ने धार्मिक साधन की दृष्टि से मानसिक विकार, आचरण तथा विधि निषिद्ध के सद्असद् विवेक पर अधिक बल दिया है। संतों और भक्तों के इस उत्कर्ष काल में लोगों की धार्मिक मनोवृत्ति निवृत्तिमयी थी। 'संसार असार है, सारे पदार्थ अनित्य हैं, मनुष्य के सम्बन्ध अनित्य और मिथ्या हैं, वे सम्बन्ध दुःख के कारण हैं, संसार ही क्लेश का आगार है।' इस प्रकार की मनोवृत्ति से पूर्ण संतों के उपदेश हैं, ऐसी ही उनकी चेतावनियां हैं। ये वाणियां निवृत्तिमयी धार्मिक मनोवृत्ति से प्रेरित हैं। संतों और भक्तों ने बहुधा साखी और पदों में ये कथन किये हैं। दूसरे प्रकार के वे कवि हुए हैं जिन्होंने ईश्वर, जीव, संसार और मोक्ष की बातें तो बहुत कम कही हैं परन्तु उन्होंने हमारे संसारी (रोजमर्रा) दैनिक जीवन के अनुभव में आने वाली बहुत-सी काम की, हमको सुगम जीवनमार्ग दिखाने की बातें कही हैं। दोनों प्रकार के कुछ प्रमुख कवियों के नाम इस प्रकार हैं––कबीर, नानक, दादू, रैदास, स्वामी अग्रदास, तुलसीदास, सूरदास, रज्जब साहेब, गरीबदास, सुन्दरदास, दयाराम (दयाराम मुख्यतः गुजराती के कवि थे इन्होंने हिन्दी में भी रचनाएं की थीं), आदि। जगजीवनदास, चरनदास, सहजोबाई आदि हिन्दी के कवियों ने धार्मिक और आध्यात्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर नीति और उपदेश के कथन किये हैं।

लौकिक जीवन की हितकारी बातों की सूक्तियों को, जो जनजीवन की कहावतें बनकर प्रचलित हैं, देने वाले कवि हैं—कबीर, तुलसी, रहीम, नरहरि, टोडरमल, बीरबल, गंग जो अकबरी दरबार के नौ रत्नों में से थे। रत्नावली (तुलसीदासजी की पत्नी), घाघ, भड्डरी, बिहारी, मतिराम, वृन्द, रसनिधि, छत्रसाल, बोधा, बेनी, गिरिधर, वैताल, बांकीदास, बाबा दीनदयाल गिरि आदि।

आधुनिक काल में, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और द्विवेदी युगों में उपदेश और नीति की रचना अधिक हुई। इन कालों में हिन्दी के लेखक बहुधा यथार्थ का कथन करके आदर्श की ओर उन्मुख करने वाले होते थे। उस समय तक देश में सांस्कृतिक गौरव, स्वाभिमान, स्वतंत्रता, स्वत्वों की पहचान, भ्रातृत्व भावना और एकता की चेतना, भेदभाव के त्याग की चाह, अपने हित-अहित का ध्यान तथा अच्छे-बुरे शासन के परिणामों का अनुभव आदि भावनाएं जनमन में जाग्रत होगई थीं। इसीलिये भारतेन्दु से लेकर प्रसाद तक आधुनिक कविता में पुरानी उपदेश की मनोवृत्ति प्रखर हो गई थी। इन युगों के नीति और उपदेश के प्रबोधन देने वाले कवि हैं––भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, रामचरित उपाध्याय, मैथिली शरण गुप्त, लाला भगवानदीन, हरिऔध, रूपनारायण पाण्डेय, राय देवी प्रसाद पूर्ण, वियोगी हरि, रामनरेश त्रिपाठी आदि।

हिन्दी नीतिपरक काव्य में छन्द––हिन्दी नीति काव्य अधिकतर दोहा, कुंडलिया, चौपाई और छप्पय छन्दों में लिखा गया है। हिन्दी में दोहा छन्द में 'सतसई' और 'मंजरी' नाम की रचनाएं बहुत लिखी गई हैं। 'सतसई' और 'मंजरी' लिखने की प्रथा प्राकृत की गाथा सप्तशती और संस्कृत की मंजरियों से हिन्दी में आई। इनके विषय भक्ति, शृंगार, वीर, और नीति से सम्बन्धित रहे हैं। परन्तु देखा यह गया है कि हिन्दी की भक्त सतई (जैसे तुलसी सतसई), शृंगार सतसई (जैसे बिहारी सतसई) और वीर सतसई (जैसे वियोगी हरि की वीर सतसई) आदि में भी नीति के अनेक हितकारी कथन व्यक्त हुए हैं। स्वतन्त्र और फुटकर रूप में नीति उपदेश का हिन्दी में प्रचुर साहित्य है। दोहा के अतिरिक्त जो प्राकृत और अपभ्रंश में 'दूहा' के नाम से प्रसिद्ध छन्द था; कुंडलिया, चौपाई (अपभ्रंश में चौपाई को अडिल्ल कहा गया है।

'अडिल्ल' में बहुधा अन्त में दो लघु रहते हैं और चौपाई में बहुधा अन्त में दो गुरु रहते हैं), छप्पय (छप्पय अथवा षटपदी छन्द रोला और उल्लाला छन्दों से मिलकर बनता है) अधिक प्रचलित रहे हैं।

उपदेशपरक दोहा छन्द का उदाहरण :

ज्ञान रतन की कोठरी चुप करि दीन्हों ताल।
पारखि आगे खोलिए, कुंजी बचन रसाल।। कबीर

कबीर जी का ऊपर के दोहे में उपदेशात्मक कथन है कि जो ज्ञान रूपी रत्न अन्तःकरण की कोठरी में मौन के ताले से बन्द करके रखे हैं उन्हें तो मीठे वचनों की ताली या चाभी से खोल कर रत्नों के पारखी, ज्ञान के समझने वाले व्यक्ति को दिखाओ अन्यथा वह दिखाना या यह कथन व्यर्थ जायगा।

उपदेशपरक चौपाई छन्द का उदाहरण :

मारग सोई जा कहं जो भावा, पंडित सोई जो गाल बजावा।
मिथ्यारंभ दंभरत जोई, ता कहं संत कहहिं सब कोई।
सोइ सयान जो परधन हारी, जो कर दंभ सो बड़ आचारी।
जो कह झूठ मसखरी जाना, कलियुग सोई गुनवन्त बखाना।
गुन मंदिर सुन्दर पति त्यागी, भजहिं नारि परपुरुष अभागी।
सौभागिनीं विभूषन हीना, विधवन के शृंगार नवीना।
गुरु सिष बधिर अंध कर लेखा, एक न सुनहि एक नहिं देखा।

तुलसीदासजी उक्त चौपाइयों में व्यंग्य से कहते हैं, "कलियुग में ठीक और बेठीक कोई रास्ता नहीं है जो जिसको अच्छा लगे वही मार्ग है। बड़ा पंडित और विद्वान् वही है जो आत्म-प्रशंसा करे, गाल बजावे। जो आरम्भ से ही झूठ बोलने वाला हो, बनावटी दम्भी हो वही संत और महात्मा है। जो दूसरे के धन को हरने वाला हो, वही चतुर है। और जो पाखंड करने वाला हो, वही बड़ा चरित्रवान् और आचार वाला समझा जाता है। जो झूठ बोलता है और मसखरापन कर सकता है वही गुणवान समझा जाता है। यह तो पुरुषों का हाल है। उधर स्त्रियां अपने गुणवान सुन्दर पति को छोड़कर दूसरे आदमियों को भजती हैं। सौभाग्यवती स्त्रियां आभूषण रहित हैं, और विधवाओं के नित्य नये-नये शृंगार होते हैं। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अन्धे और बहरे का-सा है, जिनमें एक को दीखता नहीं और एक को सुनाई नहीं देता।"

हितकारी कुण्डली छन्द का उदाहरण :

मारे जैहो पथिक हे ! या पथ है बटमार,
पार होन पैहो नहीं मारि डारि हैं बार।
मारि डारि है बार भजो ये फिरैं अनेरैं।
नेरैं तुमको कोपि तकैं ज्यों बाज बटेरैं।
टेरैं दीनदयाले सुनो हित हेत तिहारे।
हारे परिहौ सखे राख धन कहे हनारे।

दीनदयाल गिरि जी कहते हैं :

"हे रास्तगीर ! इस रास्ते में डाकू लगे हुए हैं, इस रास्ते को तुम पार भी न कर पाओगे, बीच ही में मार डाले जाओगे। इन डाकुओं से दूर भागो अभी ये दूर हैं। जब ये पास में आ जायेंगे तो तुम पर इस प्रकार टूट पड़ेंगे जिस प्रकार बटेर पक्षी पर बाज टूटता है। दीनदयाल तुम से तुम्हारी भलाई के लिए पुकारकर कहते हैं कि तुम इन डाकुओं से हार जाओगे, इसलिये अपने धन की रक्षा कर लो।" इस कुंडली छन्द में गिरिजी ने संसार के प्रपंच और गफलत में पड़े हुए संसारी आदमी को अपने जीवन को विकारों से बचाने की चेतावनी और उपदेश दिया है।

प्रबोधपूर्ण छप्पय छन्द का उदाहरण :

मरै बैल गरियार मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू।
बामन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय जु कुल में दाग लगावै।
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भरि सोइये।
बैताल कहैं विक्रम सुनौ, एते मरे न रोइये।

विक्रमशाह को सम्बोधित करते हुए बैताल कवि कहते हैं कि यदि इतने प्राणी मर जायं तो कोई दुःख की बात नहीं है। इनके नष्ट होने पर सुख की नींद ही मिलेगी। गरियार (बहुत मंद चाल वाला ढीठ) बैल, अड़ियल टट्टू

(घोड़ा), करकशा (लड़ने वाली बदजबान) स्त्री, निखट्टू (सब प्रकार से निकम्मा) पति (शौहर), अपने हाथ से मदिरा पिलाने वाला और स्वयं पीने वाला ब्राह्मण, दुष्कर्म करने वाला कुलकलंक पुत्र और अन्यायी राजा।

आधुनिक कवियों ने नीति की बातें पीछे कहे पुराने दोहा, छप्पय, आदि छन्दों के अतिरिक्त बरवै, रोला, गीतिका, हरिगीतिका, वीर आदि छन्दों में भी कही हैं।

नीति काव्य की व्यंजना शैली—हिन्दी का नीति काव्य 'मुक्तक' और 'कथा', दोनों शैलियों में लिखा गया है, परन्तु जो अधिक प्रचलित प्रचुर साहित्य है वह मुक्तक रूप में ही है। मुक्तकों का भी कई शैलियों में प्रकाशन हुआ है। एक शैली वाच्यार्थ शैली है और दूसरी व्यंग्यार्थ। अर्थ को घुमा कर, छिपा कर कल्पना के सहारे वक्र रूप में कथित शैली व्यंग्यशैली है और दूसरी शैली सीधी प्रसाद गुण पूर्ण शैली है, जैसे :

जो तोकों कांटा बुवै ताहि बोइ तू फूल।
तोकों फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल।

जो तेरे लिये कांटा बोये तू उसके लिये फूल बो, तुझको फूल के फूल मिलेंगे, उसको कांटे मिलेंगे।

बहुधा उपदेश और नीति की सामान्य बातें उपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों द्वारा प्रकट की गई हैं। इस शैली में सामान्य उपदेश की बातें, दृष्टान्त द्वारा मन पर अधिक प्रभाव डालती हैं, जैसे वृन्द का कथन है :

नीकी पै फीकी लगै बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में रस शृंगार न सुहात॥ वृन्द

बात चाहे कितनी ही बढ़िया हो बिना अवसर या मौके के वह जचती नहीं, जैसे युद्ध के ओजस्वी वर्णन में शृंगार रस के कोमल कथन बेमेल होते हैं।

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग॥ रहीम
अपनी पहुंच विचारि के करतब करिये दौर।
तेते पांव पसारिये जेती लांबी सौर॥

सामर्थ्य के अनुसार काम करना चाहिये। अन्यथा काम बिगड़ जायगा, अपने को दुःख होगा। जितना लम्बा लिहाफ हो उतना ही पैर फैलाना चाहिये (अन्यथा जाड़ा खाओगे)।

इसी प्रकार सीधे ढंग से बैताल कवि जीभ के प्रयोग के अर्थ और अनर्थ को बताते हैं कि एक जीभ के तरह तरह के इस्तेमाल से अच्छे और बुरे परिणाम निकलते हैं, इसलिये जीभ से सम्भाल कर बोलना चाहिये :

जीभ जोग अरु भोग, जीभ बहु रोग बढ़ावै।
जीभ करै उद्योग, जीभ लै कैद करावै॥
जीभ स्वर्ग लै जाय, जीभ सब नरक दिखावै।
जीभ मिलावै राम, जीभ सब देह धरावै॥
निज जीभ ओठ एकाग्र करि बांट सहारे तौलिये।
बैताल कहै विक्रम सुनो जीभ संभारे बोलिये॥

भाव व्यक्तीकरण की दूसरी शैली व्यंग्यात्मक शैली है, जिसके अन्तर्गत कई आलंकारिक शैलियां आती हैं, जैसे अन्योक्ति, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, व्याज स्तुति, व्याज निन्दा, दृष्टान्त और अपह्नुति अलंकारों से युक्त उक्तियां तथा मुकरियां आदि। महात्मा तुलसीदास ने प्रकृति वर्णन में उपमा और दृष्टान्त देते समय अनेक उपदेशात्मक नीति की बातें कही हैं। जैसे :

दामिनि दमक रही नभ माहीं, खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
बरषहिं जलद भूमि नियराये, यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥
बूंद अघात सहें गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे।
छुद्र नदी भरि चल उतराई, जस थोरे धन खल बौराई॥
(रामचरितमानस)

दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं। इस शैली में बात किसी दूसरे पर ढाल कर कही जाती है और लगती किसी दूसरे पर है। एक अन्योक्ति में गिरि जी किसी कृतघ्न को सचेत करते हैं। किसी व्यक्ति का एक सज्जन ने पोषण किया और उसे उच्च स्थान भी दिलाया। अपने उपकारी पोषक को भूल कर वह कृतघ्न व्यक्ति अपने घमण्ड में मस्त घूमता फिरता है। उसको चेतावनी गिरि जी की इस कुण्डलिया में पौधे और माली पर ढाल कर दी गई है :

वा दिन की सुधि तोहि को भूल गई कित साखि।
बागवान गहि घूरतें ल्यायो गोदी राखि॥
ल्यायो गोदी राखि सींच पाल्यो निज कर तें।
भूलि रह्यो अब फूलि पाय आदर मधुकर तें॥
बरनै दीनदयाल बढ़ाई है सब तिन की।
तू झूमैं फलभार भूलि सुधि को वा दिन की॥

धुएं के बादलों के जैसे धोखे से बचने के लिये मन मोर को दीन दयाल गिरि एक दूसरी अन्योक्ति में चेतावनी अपह्नुति अलंकार द्वारा देते हैं :

धुरवा नहिं दवधूम है नहिं गरजनि तरु सोर।
भ्रम बस कूक करै कहा मरै नाच नचि मोर॥
मरै नाच नचि मोर न ये दामिनि की दमकें।
एतो घोर हुतास जोर चहुं और सों चमकें॥
बरनै दीनदयाल भूलि मति तू मन मुरवा।
तजि यह सिखर कराल, जरैगो नहिं ये धुरवा॥
(अन्योक्ति कल्पद्रुम)

अमीर खुसरो से लेकर आज तक कई कवियों ने इस व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग उपदेश और मनोरंजन के लिये किया है। आधुनिक समय में भी अंग्रेजी शिक्षा, सरकारी अफसर, अंग्रेजी खिताब तथा अनेक सामाजिक कुरीतियों का मुकरियों द्वारा मखौल उड़ाया गया है और उसके द्वारा सुधार की मनोवृत्ति प्रकट की गई है। कथा शैली के अन्तर्गत गद्य और पद्य में पशु पक्षियों की कल्पित कहानियों से लेकर मनुष्य के अनुभव और उपदेश तथा सुधार की भावना से पूर्ण घटनाओं के लघु प्रबन्ध आते हैं। बच्चों की पुस्तकों में बहुधा ऐसे लघु कथानक रहा करते हैं।

हिन्दी नीति साहित्य के विषयों के बारे में हमने कहा है कि वे दो प्रकार के हैं एक धर्म तथा आचार से सम्बन्धित तथा दूसरे लौकिक व्यवहार से युक्त। संतों और भक्तों द्वारा कथित धर्म और आचार के अन्तर्गत इस प्रकार के विषय हैं जैसे—भगवान्, गुरु महिमा, काया, मन, बुद्धि, माया, नाम महिमा, सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, उपकार, सत्संग, संतोष, निरभिमान, अभिमान, स्वार्थ, नारी आदि। व्यावहारिक नीति की कविता के विषय अधिक व्यापक और विस्तृत हैं; जैसे—जाति-पांति, शत्रु-मित्र, सज्जन-दुर्जन, विद्या, गुण-अवगुण, हास्य, सुख-दुःख, आपसी फूट, वीरता, कायरता, सामाजिक कुरीतियां, मानवधर्म, व्यक्ति धर्म आदि।

राजनीति के विविध विषय जैसे—न्याय, अन्याय, साम, दाम, दंड भेद, राजा के लक्षण, मंत्री, शत्रु, मित्र आदि तथा खेती, उद्योग-धन्धे और व्यापार, आरोग्य शास्त्र, वैद्यक आदि से सम्बन्धित अनुभूत बातें भी जिनमें से; अनेक कथनों ने लोक-प्रचलित कहावतों का रूप ले लिया है, नीति साहित्य के अन्तर्गत आती हैं।

नीति काव्य के लेखक कवि और उनकी कविता के उदाहरण—उपदेशात्मक नीतिपरक कवि और कविताओं का परिचय रोचक और उपकारक है। पीछे कहे हुए भक्ति काल के नीतिकार हिन्दी कवियों में कबीर, तुलसी और अब्दुल रहीम खान खाना अधिक प्रसिद्ध हैं। कबीर ने अनेक साखियां लिखीं जो उनकी कविताओं के संग्रहों में उपलब्ध हैं, कबीर की उपदेशात्मक कविता के कुछ उदाहरण देखिये :

सगुन की सेवा करो निर्गुन का करु ज्ञान।
निर्गुन सगुन के परे तहँ हमारा ध्यान॥
साहेब सों सब होत है बन्दें तें कछु नाहिं।
राई ते पर्वत करे पर्वत राई माहिं॥
जाको राखे साइयां मारि सकै नहिं कोय।
बाल न बांका करि सकै जो जग बैरी होय॥
तेरा साईं तुज्झ में ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूंढै घास।
साधू ऐसा चाहिए जैसे सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाय॥

मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझ को सौंपते क्या लागे है मोर।।
कबिरा गर्व न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानों कित मारि है क्या घर क्या परदेस।।

इस प्रकार कबीर की सैकड़ों उपदेशात्मक साखियां हैं। कबीर का ध्येय कविता लिखना नहीं था। वे संत-महात्मा और समाज-सुधारक, उपदेशक थे। काव्य के शास्त्रीय गुण चाहे उनके कथनों में न हों, परन्तु उनके प्रवचन मन पर असर करने वाले हैं। उनमें माधुरी है, सरलता है और चरित्र निर्माण की शक्ति है।

तुलसीदास—महात्मा तुलसीदास हिन्दी भाषा के सर्वश्रेष्ठ मान्य कवि हैं। इनकी कविता का दार्शनिक, धार्मिक, काव्यात्मक और कलात्मक महत्त्व तो है ही, परन्तु वह जिस गुण के कारण लोकप्रिय हैं वह गुण है उनका लोकहित और समाज कल्याण की भावना से युक्त होना। उनकी कविता में नीति के अनेक कल्याणकारी उपदेश भरे हुए हैं। बुरे कर्मों का त्याग और शुभकार्य करने की प्रेरणा, अधर्म का नाश और न्याय का समर्थन, पारस्परिक प्रेम तथा कर्तव्यनिष्ठा की अनेक शिक्षापूर्ण बातें तुलसीदास ने कही हैं, जिनसे मानसिक परिष्कार होता है। रामचरितमानस और दोहावली, ये दो ग्रन्थ उनके उपदेश के भण्डार हैं। अन्य ग्रन्थों में भी कुछ कथन नीतिपरक हैं परन्तु वे थोड़े हैं। इनकी उपदेशात्मक कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:

तुलसी भलो सुसंग तें पोच कुसंगति होइ।
नाउ किन्नरी तीर असि, लोह बिलोकहु सोइ।।

लोहा तार रूप में सारंगी की सुसंगति में चित्त प्रसन्नकारी राग निकाल कर भला ज्ञात होता है और वही लोहा तीर और तलवार में लगकर प्राणघातक बनता है और नीच प्रकृति वाला कहा जाता है। उसी प्रकार अच्छी संगति से सद्गुण और बुरी कुसंगति से दुर्गुण आते हैं।

मान राखिबो, मांगिबो पिय सो नित नव नेह।
तुलसी तीनिए तब फबें जब चातक मति लेहु।।
जड़ चेतन गुन दोष मय विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहि पय, परिहरि वारि विकार।।
मुखिया मुख सौ चाहिए खानपान कों एक।
पाले पोषै सकल अंग तुलसी सहित विवेक।।

रहीम—अब्दुल रहीम खान खाना अकबरी दरबार के एक उच्च पदाधिकारी कर्मचारी थे। इनके मन में हिन्दू और मुसलमान का भेदभाव न था। संस्कृत, फारसी और हिन्दी के वे पण्डित थे। इनका सबसे प्रसिद्ध कविता संग्रह 'रहिमन विलास' है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने भी 'रहिमन विनोद' नाम से इनका एक कविता संग्रह निकाला है। रहीम ने सबसे अधिक कविता नीति और उपदेशपरक की है। यह कविता सरस, सरल और सहज उपदेशों से भरी है। जैसे:

तरुवर फल नहिं खात है सरवर पियत न पानि।
कहि रहीम परकाज हित सम्पति सुचहिं सुजान।।

सज्जन लोगों का धन परहित में लगता है। स्वार्थ भोग में नहीं लगता। जैसे फलदार वृक्ष और जलभरा सरोवर दूसरों को ही फल और पानी खिलाते-पिलाते हैं, स्वयं नहीं खाते-पीते।

धन थोरो इज्जत बड़ी, कह रहीम कहा बात।
जैसे कुल की कुल बधू, चिथरन माहिं सुहात।।
रहिमन अति मति कीजिये, गहि रहिये निज कानि।
अति सै फलै सहिजनों डारपात के हानि।।

वृन्द—वृन्द औरंगजेब के दरबारी कवि थे। इन्होंने एक 'सतसई' नाम की रचना अजीमुश्शान को अर्पित करते हुए लिखी है। औरंगजेब का पोता अजीमुश्शान जो ढाका का सूबेदार था, ब्रजभाषा का बड़ा प्रेमी पण्डित था। कवि ने स्वयं लिखा है:

अति उदार रिझवार जग शाह अजीमुश्शान।
सत सैया सुनि वृन्द की कीनी अति सनमान।।

नीतिकार कवियों में वृन्द का ऊंचा नाम है। इनकी भाषा सरल और सरस है और भाव लोक व्यवहार की अनुभूति और ज्ञान से भरे हैं।

उदाहरण :

कैसे निबहै निबल जन कर सबलन सों बैर ।
जैसे बसि सागर बिषें करत मगर सों बैर ॥
दीबौ अवसर कौ भलौ जासों सुधरै काम ।
खेती सूखै बरसिबो, धन कौ कौने काम ॥
बुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आप ।
करुवी भेषज बिनु पिये, मिटै न तन की ताप ।

बैताल—बैताल नामक कवि विक्रमशाह का दरबारी कवि था। इन्होंने भी नीति विषयक कविताएं रची हैं और कथन विक्रमशाह को सम्बोधित किये हैं। इनका समय संवत् १७३४ विक्रमी कहा जाता है। इन्होंने छप्पय छन्द अधिक लिखे हैं। उदाहरण :

राजा चंचल होय मुलुक कौं सर करि लावै ।
पंडित चंचल होय सभा उत्तर दै आवै ॥
हाथी चंचल होय समर में सूँडि चलावै ।
घोड़ा चंचल होय झपट मैदान दिखावै ॥
हैं ये चारों चंचल भले राजा, पंडित, गज, तुरी ।
बैताल कहै विक्रम सुनो, तिरिया चंचल अति बुरी ॥
दया चट्ट ह्वै गई भरम धंसि गयो धरन में ।
पुण्य गयो पाताल पाप भो बरन बरन में ॥
राजा करै न न्यास, प्रजा की होति खुवारी ।
घर घर में भइ पीर दुखित भये सब नर नारी ॥
अब उलटि दान गजपति मंगै, सील संतोष कितै गयो ।
बैताल कहै विक्रम सुनो यह कलियुग परगट भयो ॥

(कविता कौमुदी, प्रथम भाग)

घाघ—नीतिकार कवियों में एक बहुत लोकप्रिय 'घाघ' नाम के कवि भी हुए हैं। पण्डित राम नरेश त्रिपाठी ने इनका समय सं० १७५३ वि० दिया है। इनकी कहावतें देहात में बहुत प्रचलित हैं। घाघ की तरह एक भड्डरी उपनाम के लोक कवि भी हुए हैं। उनकी भी पद्यात्मक कहावतें बहुत प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग घाघ को भड्डरी भी कहते हैं। घाघ का अर्थ है चतुर चालाक और भड्डरी शनीचर तथा अन्य क्रूर ग्रहों का दान लेने वाले ज्योतिषी ब्राह्मण कहलाते हैं। आज भी इनको अनेक प्रकार का व्यापक ज्ञान होता है। सम्भव है कि घाघ भड्डरी जाति के व्यक्ति रहे हों। कविताएं घाघ और भड्डरी दोनों छापों की उपलब्ध हैं। इन्होंने ऋतु और खेती सम्बन्धी तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी रचनाएं की हैं जो देहात के लोगों ने याद कर रखी हैं। ये कविताएं अनेक प्रकार की जानकारी और प्रबोधन से भरी हुई हैं। उदाहरण :

बनियक सखरच, ठकुरेक हीन, बइदक पूत व्याधि नहिं चीन,
पंडित चुप चुप, बेसवा मइल, कहैं घाघ पांचौ घर गइल ।

बनिये का लड़का खर्चीला, ठाकुर का निकम्मा, वैद्य का लड़का रोग की पहचान न जानने वाला, पण्डित न बोलने वाला तथा वैश्या मैली कुचैली हो तो ये पांचों नष्टता को प्राप्त हो जाते हैं।

अगसर खेती अगसर मार, कहै घाघ ते कबहु न हार ।

जो अगाई खेती करता है और पहले चोट मारता है, घाघ कहते हैं कि वह कभी नहीं हारता।

माघै गरमी जेठै जाड़, कहैं घाघ हम होब उजाड़ ।

माघ मास में गरमी पड़े और जेठ में सर्दी पड़े, तो अकाल पड़ता है और सब उजड़ जाता है।

निहपछ राजा मन को हाथ, साधु परौसी नीमन साथ ।
हुकुमी पूत घिया सतवार, तिरिया, भाई रखैं विचार ।
कहै घाघ हम करत विचार, बड़े भाग ते दे करतार ॥

निष्पक्ष राजा, अपने वंश का मन, सज्जन पड़ोसी, सुदृढ़ साथी, आज्ञाकारी पुत्र, सतवंती कन्या और विचारशीला स्त्री-तथा विचारवान् भाई ये सब ईश्वर बड़े भाग से देता है।

भड्डरी :

कार्तिक सुदी एकादशी बादर बिजुरी होय ।
तो असाढ़ में भड्डरी बरखा चोखी होय ॥

नवै असाढ़े बादरो जो गरजै घनघोर।
कह भड्डरी जोतिसी काल परै चहुं ओर।

यदि अषाढ़ बदी (कृष्ण) नवमी को बादल घनघोर रूप में गरजे तो भड्डरी ज्योतिषी कहता है कि चारों ओर अकाल पड़ेगा।

भादों बदी एकादसी जो ना छिटके मेघ।
चार मास बरसै नहीं कह भड्डरी देख।।

भड्डरी कहता है कि यदि भादों बदी एकादसी को बादल न छिटकें तो चार महीने तक बरसा नहीं होगी।

गिरिधर कविराय—गिरिधर कविराय का जन्म समय सं० १७७० वि० कहा जाता है। इनके बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि इनकी स्त्री भी कवयित्री थी। 'सांई' शब्द से युक्त छन्द इनकी स्त्री द्वारा लिखे कहे जाते हैं। उपदेश और नीतिकार हिन्दी कवियों में गिरिधर कविराय का स्थान बहुत ऊंचा है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता गोपाल चन्द उपनाम गिरिधरदास से ये भिन्न कवि हैं। गिरिधर कविराय ने कुण्डलियां अधिक लिखी हैं। उदाहरण :

बिना विचारे जो करै सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय।।
जग में होत हँसाय चित्त में चैन न पावै।
खान पान सम्मान राग रंग मनहिं न भावै।।
कह गिरिधर कविराय दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय मांहि कियो जो बिना विचारे।।

× × ×

राजा के दरबार में जैये समया पाय।
साईं तहां न बैठिये जंह कोउ देय उठाय।।
जहं कोउ देय उठाय बोल अन बोले रहिये।
हँसिये नहीं हहाय, बात पूछे ते कहिये।।
कह गिरिधर कविराय, समय सों कीजै काजा।
अति आतुर नहिं होय, बहुरि अनखैहैं राजा।।

दीनदयाल गिरि—बाबा दीनदयाल गिरि काशी निवासी ब्राह्मण थे। ईस्वी १८वीं शताब्दी के अन्त में इनका अस्तित्व था। इनके जीवन के विषय में अभी अधिक खोजबीन नहीं हुई है। नागरी प्रचारिणी सभा से इनकी ग्रन्थावली प्रकाशित हुई है जिसमें इनकी पांच पुस्तकें हैं--अनुराग बाग, दृष्टान्त तरंगिणी, अन्योक्ति माला, वैराग्य दिनेश तथा अन्योक्ति कल्पद्रुम। इन्होंने नीति, उपदेश तथा मानसिक चेतावनी के भावों से युक्त कविता लिखी है। इनकी भाषा में स्वाभाविक मधुरता और उक्तियों में प्रभावात्मकता रहती है। अन्योक्ति के ये एक प्रसिद्ध कवि हैं।

लौकिक अज्ञान में फंसे हुए जीव को चेतावनी देते हुए गिरिजी कहते हैं :

गौने कौ दिन निकट अब होन चहै पिय मेल।
अजहूं छुट्यौ न तोहि री गुड़ियन कौ यह खेल।।
गुड़ियन कौ यह खेल खेलि सब समै बिगारै।
सिखे नहीं गुन कछू पिया मन मोहन बारे।।
बरनै दीनदयाल सीख पैहै प्रिय भौने।
एरी भूषन साजि भट्ठ दिन आवत गौने।।

एक कुण्डलिया में पलास (ढाक वृक्ष) पर ढाल कर किसी नव वैभव प्राप्त मनुष्य को चेतावनी दी गई है कि तेरा वैभव क्षणिक है, इसलिये तू घमंड मत कर :

दिन द्वै पाय बसंत मद फूल्यौ कहा पलास।
ग्रीषम भीखम सीस पै नहि लाली की आस।
नहिं लाली की आस फूल सब तेरे झरि हैं।
पीछे तोहि न दली अली कोउ आदर करिहैं।
बरनै दीनदयाल रहो नय कोमल किन है।
ये नख नाहर नहीं रहेंगे तेरे दिन द्वै।

जैसा कि पीछे हमने कहा है नीति और उपदेशात्मक साहित्य हिन्दी-साहित्य के इतिहास के मध्यकाल में अधिक लिखा गया है। आधुनिक काल के आरम्भ में भी प्रबोधन शैली रही। छायावादी युग में आकर हिन्दी का कवि बाह्य जीवन से मुख मोड़कर आत्मनिष्ठ हो गया। द्विवेदी युग में मैथिली शरण गुप्त की 'भारत भारती' ने देश में जाग्रति उत्पन्न की और अपने स्वत्वों की उन्होंने याद दिलाई। इस युग में जाति पांति, छुआछूत, धर्म के ढकोसले, परतन्त्रता की यातनाएं और राष्ट्रीयता की प्रेरणा तथा स्वराज्य की चाह आदि विषयों पर कवियों ने लिखा। कुछ आधुनिक कवियों ने प्रबन्धों तथा खण्ड काव्यों के अन्तर्गत भी नीति और उपदेश के भाव व्यक्त किये हैं, जो ब्रज और खड़ी, दोनों बोलियों में हैं।

नीति साहित्य में परम्परागत अनुभवों का कथन है। इनमें से बहुत-से अनुभव ऐसे हैं जो हमारे भारतीय जीवन के लिये बहुत उपयोगी हैं। हिन्दी का नीति और विवेक साहित्य बहुत समृद्ध है। विचारों की दृष्टि से और विचार अभिव्यंजनाकला की दृष्टि से भी समृद्ध है। इसकी उपयोगिता सभी प्रकार की अवस्था और सभी प्रकार की स्थिति के व्यक्तियों के लिये अतुल है।
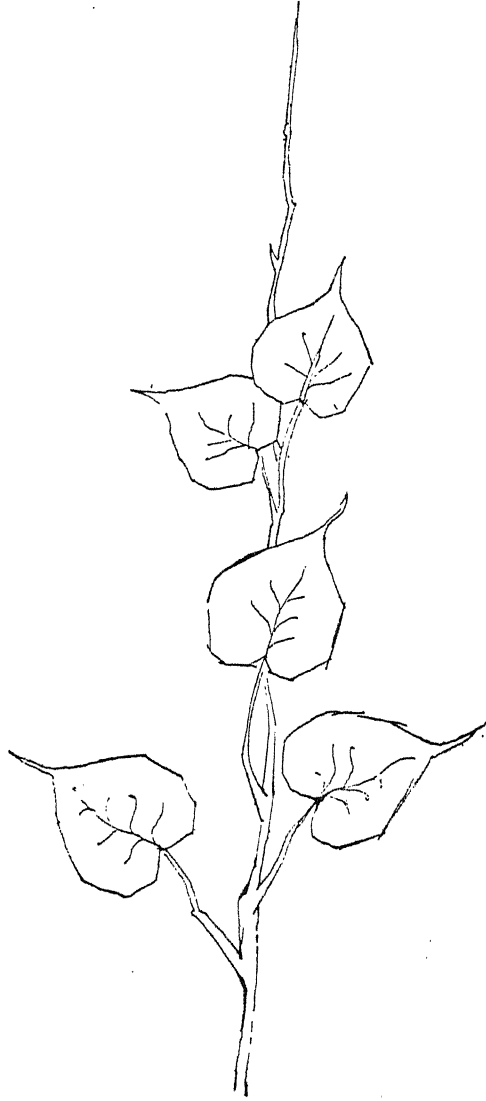
नीति काव्यकार केशव

डॉ० हीरालाल दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०

जनजीवन तथा साहित्य में नीति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। नीति ही मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के क्रियाकलापों में उचित और अनुचित का ज्ञान कराती है। नीतिकार बीती हुई परिस्थितियों के आधार पर संचित ज्ञान प्रकाश से ही मानव के भविष्य का मार्ग प्रकाशित करता है।

नीति की परिभाषा—नीति की परिभाषा पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों ही विद्वानों ने देने का प्रयास किया है। अंग्रेजी में इसका समानार्थक शब्द 'Ethics' है। 'Ethics' यूनानी विशेषण Ethica से सिद्ध हुआ है जो स्वयं Ethos से उत्पन्न है। 'Ethos' का प्रयोग रीति, प्रचलन या आदत के अर्थ में होता है। Ethics को Moral Philosophy भी कहते हैं।[1] 'Moral' शब्द लैटिन के Mos, Moris से व्युत्पन्न है।[2] इसका अर्थ भी रीति या आदत होता है। इसीलिये नीतिशास्त्र को मनुष्य की आदतों की पृष्ठभूमि में स्थित सिद्धान्तों का विवेचन और उनकी अच्छाई तथा बुराई के कारणों का विश्लेषण करने वाला कहा है।[3]

भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण से विचार करने पर नीति शब्द संस्कृत की 'णीय' धातु का विकसित रूप है। इस धातु का अर्थ है 'ले जाना'। इस प्रकार धात्विक दृष्टि से नीति वह है जो आगे ले जाये, अग्रसर करे।

शब्द कोश के अनुसार—शब्द कोश के अनुसार भी जो 'आगे ले जाये' वही नीति है।[4] यह परिभाषा अत्यन्त विस्तृत है, क्योंकि यह नीति किसे कहते हैं यह पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं कर पाती। इस परिभाषा के अनुसार मनुष्य के समस्त क्रियाकलापों का अग्रसर करना नीति का कार्य समझा जायेगा। मनुष्य के क्रियाकलापों की विभिन्न श्रेणियां होती हैं तथा तदनुकूल उनका कार्यक्षेत्र भी भिन्न होता है। इस दृष्टिकोण से नीति की भाव भूमि इतनी विस्तृत हो जाती है।

विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकल व्यक्ति और समाज के समुचित विकास के हेतु जितनी भी सामान्य बातें आवश्यक तथा हितकारी हैं वे सभी इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। जीवन का प्रत्येक कोना चाहे वह धर्म से संबंधित हो, चाहे व्यवहार, साहित्य, आचार, राजधर्म, समाज, वाणिज्य, पर्यटन, दर्शन और विज्ञान से ही सम्बन्धित क्यों न हो, 'नीति' के परिधान से आवेष्टित हो जाता है।

शब्द कोशों के अनुसार 'नीति' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है यथा :

व्यवहार का ढंग, वह आधारभूत सिद्धांत जिसके अनुसार कोई कार्य संचालित किया जाय, लोक व्यापार के निर्वाह के लिये नियत किया गया आचार, लोकाचार की वह पद्धति जिससे अपना कल्याण हो और दूसरे को हानि न पहुंचे तथा किसी राष्ट्र अथवा संस्था द्वारा अपने कार्य के संचालन के लिये नियत की गई कार्य पद्धति आदि।[5]

नीति का प्रणयन लोक रक्षा की धारणा से उत्पन्न हुआ। इस सम्बन्ध में डा० भोलानाथ तिवारी ने अपने शोध में एक अत्यन्त मनोरंजक कथा दी है 'शान्तिपर्व' (महाभारत) के ५९वें अध्याय में भीष्म ने बताया है कि सृष्टि रचना के उपरान्त जब मानवगण पाप-पथ पर अग्रसर हुए तो देवतागण घबराकर विधाता के पास गये। विधाता ने एक लक्ष अध्याय से युक्त नीति शास्त्र की रचना की। यह ग्रन्थ क्रमशः महादेव, इन्द्र और बृहस्पति के पास पहुंचा, जिन्होंने प्रजावर्ग की आयु

---

१. डा० जे० एन० सिन्हा : नीतिशास्त्र पृष्ठ १

२. क्रेन ब्रिन्टन, एहिस्ट्री ऑव वैस्टर्न मारल्स, पृष्ठ ५

३. A Manual of Ethics: J. S. Mackenzie, Page 1.

४. हिन्दी साहित्य कोश : प्रधान सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४२०

५. ज्ञान शब्दकोश : सम्पादक मुकुन्दलाल श्रीवास्तव, पृष्ठ ४२५

कम देखकर उसका परिमाण कम करके तीन हजार अध्याय रखे तथा ग्रन्थ का नाम भी क्रमशः बदलता हुआ अन्त में बार्हस्पत्य हुआ। शुक्राचार्यजी को फिर भी असन्तोष ही रहा और उन्होंने इसका संक्षिप्त रूप एक हजार अध्यायों का 'शुक्रनीति' के नामकरण द्वारा किया।[1]

मनुस्मृति में 'नीति' का प्रयोग समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (चतुर्वर्ग) की उचित रीति से प्राप्ति हेतु विशिष्ट विधि निषेध मूलक सामाजिक, आचारिक, धार्मिक, राजनैतिक, भौतिक, व्यावहारिक तथा आर्थिक आदि नियमों के देश काल तथा पात्र सम्बन्धी विधान के अर्थ में किया गया है।

शुक्रनीति में नीति शास्त्र को धर्म, अर्थ और काम का मूल तथा मोक्ष का दाता कहा गया है।[2] नीति को सम्पूर्ण लोक व्यवहार की आधारशिला बताया गया है।[3] इसी कारण राजा को नीति शास्त्र का यत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये जिससे राजा और मंत्री आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने तथा जगत् के प्रिय होने में भी समर्थ हो सके।[4]

नीति मंजरी के अनुसार—'नीति' कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य को स्पष्ट करती है।[5] व्यक्ति के परिस्थिति सापेक्ष आचारों से सम्बन्धित तत्त्वदर्शन का नाम नीति है।[6] अतः नीति शब्द से तात्पर्य उन निषेध मूलक नियमों से है जो व्यक्ति को यथोचित विधि से चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति करवाकर सत्पथ पर अग्रसर कर सके।

नीति का उद्देश्य व्यक्ति को सुदृढ़ चरित्र निर्माण का पथ प्रदर्शित करना है, क्योंकि चरित्र ही को आदर्श बनाना मानव जीवन की सर्वोच्च साधना और कठोरतम तपस्या है। मानव जीवन में आदर्श चरित्र की ही महत्ता बतलाते हुए जे० हावेज० ने कहा है, "चरित्र एक शक्ति है, प्रभाव है, वह मित्र उत्पन्न करता है, सहायता और संरक्षक प्राप्त कराता है और धन तथा सुख का निश्चित मार्ग खोल देता है।"

नीति का उद्देश्य केवल मानव के चरित्र का निर्माण करना ही नहीं है, वरन् उसका उद्देश्य है व्यक्ति के माध्यम से समाज का सत्पथ आभा-मय बनाना। 'नीति' के अन्तर्गत आने वाली इस प्रकार की बातों से युक्त काव्य नीति काव्य है।[7] जिस काव्य का प्रधान ध्येय नैतिक शिक्षा देना हो उसे ही नीति काव्य कहेंगे।[8] 'नीति काव्य' उस काव्य को भी माना गया है जिसकी प्रमुख प्रवृत्ति नीति एवं उपदेश प्रधान होती है, अर्थात् जो कृति मानव समाज को संस्कृत कर ऊर्ध्वोन्मुखी बनावे उसे ही 'नीति रचना' की उपाधि देनी चाहिये।[9] नीतिपरक कविता में सामान्यतया किसी मानव खण्ड के आचार-व्यवहारों के निरीक्षण से प्राप्त एक प्रकार की परम्परागत बुद्धिमत्ता प्रभावशाली और काव्यात्मक शैली के भीतर काम करती है।[10]

यहां पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या सभी नीतिप्रधान रचनायें काव्य का पद पा सकती हैं? इस सम्बन्ध में विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं। प्रसिद्ध विद्वानों में से आचार्य शुक्ल ने रहीम तथा दीन दयाल गिरि के नीति छन्दों को तो काव्य की कोटि में रखा है किन्तु वृन्द और गिरिधर के पद्यों को कोरी नीति के पद्य कहा है। रहीम के दोहे की वृन्द और गिरिधर के पद्यों से तुलना करते हुए वे लिखते हैं, "रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यों के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं, उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झांक रहा है और यह सारगर्भित सत्य है कि जीवन की सच्ची परिस्थितियां के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा।

---

१. हिन्दी नीति काव्य : डा० भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ३
२. शुक्र नीति ५।१३ सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्। धर्मार्थ काम मूलहि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥
३. शुक्र नीति ५।१८ सर्व लोक व्यवहार स्थितिर्नीत्या बिना नहि।
४. शुक्र नीति ६।४ अतः सदानीति शास्त्रमभ्यसद्यत्नोनृपः। यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्चंशत्रुजित्लोक रंजका॥
५. एवं कर्त्तव्यमेवं न कर्त्तव्यमित्यात्मको योधर्मः सा नीतिः।
६. हिन्दी मुक्तक का विकास : जितेन्द्रनाथ पाठक, पृष्ठ २४१
७. हिन्दी साहित्य कोश : डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४२०
८. "That kind of poetry, which aim or seem to aims at instructions as its object, making pleasure entirely subservient to this....... In the poems generally called didactic, the information or instruction given in the verse is accompanied with poetic reflection, illustrations and episodes etc." —Chamber's Encyclopaedia, Vol. 11, Page 546.
९. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत : डा० त्रिगुणायत, पृष्ठ ३४, भाग २
१०. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास : जितेन्द्र नाथ पाठक, पृष्ठ २४१

निष्कर्ष रूप में नीति काव्य को तीन श्रेणियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—१. सूक्तियां, २. पद्य, ३. चमत्कार-प्रधान नीति कृतियां।

सूक्ति का अर्थ ही अच्छे कथन से है, रचना चातुर्य का आश्रय लेकर कवि उपमानों का प्रभाव उपमेय पर आरोपित कर देता है। कला की दृष्टि से सूक्तिपरक नीति कथनों का स्थान श्रेष्ठतम है। इनमें अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, उदाहरण लोकोक्ति आदि अलंकारों का आश्रय लेने के कारण अभिव्यक्ति में सत्य, शिव, सुन्दर तीनों का ही सम्मिश्रण रहता है। अन्योक्ति एक अलंकार है जिसमें लिखी गयी नीतिउक्तियां शक्कर में लिपटी गोलियों की तरह मीठी लगती हुई पूर्ण प्रभाव की क्षमता रखती हैं।

पद्यात्मक रूप में कहे गये नीति वाक्य सीधे सादे शब्दों में छन्दबद्ध रहते हैं। घाघ, बैताल, भड्डरी, वृन्द और गिरिधर आदि का नीति काव्य इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता है जो कलात्मक दृष्टि से विशेष सुन्दर न होते हुए भी अपने मर्मस्पर्शी भावों की अभिव्यक्ति द्वारा पाठकों के हृदय में तद्गत भावों को जाग्रत कर देता है।

तीसरी और अन्तिम श्रेणी चमत्कार-प्रधान नीति उक्तियों की है जो सूक्ति काव्य के विधायक तत्त्वों से शून्य होती हैं तथा जिनमें केवल उक्ति-वैचित्र्य मात्र ही होता है। ऐसे काव्य से वास्तविक काव्यगत रसानुभूति नहीं होती, यथा :

कबौ न ओछे नरन सो, सरत बड़ेन के काम।
मढ़्यो दमामा जात कहुं, कहि चूहे के चाम ॥[१]

इसी प्रकार उर्दू में देखिए :

नाजनीनो से करूं क्या रब्त में नाजु कमिजाज।
बोझ मुझ से उठ नहीं सकता किसी के नाज का ॥[२]

नीतिकाव्य की उपयोगिता तथा महत्त्व—नीतिकाव्य एक साधन है जिसके पठन-पाठन से मनुष्य को व्यावहारिक, सामाजिक तथा नैतिक ज्ञान होता है और हम अपनी दैनिक समस्याओं का इस काव्य की सहायता से हल करने में समर्थ होते हैं। नीति काव्य हमें नैतिक सूझ प्रदान करता है जिसके द्वारा हम अपने तथा दूसरों के क्रियाकलापों का विश्लेषण कर उचित अनुचित को समझने का प्रयास करते हैं। मानव सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में नीति का गहरा महत्त्व है। समाज की जड़ें तभी मजबूत हो सकती हैं जब उनमें नीति का समुचित समावेश हो। नीति काव्य, कर्म द्वारा प्रकट हुए मानव चरित्र का विश्लेषण कर उसके शुभ और अशुभ की समीक्षा करता है।

सामाजिक और राजकीय नियम मनुष्य की बाह्य व्यवस्था कर सकते हैं। किन्तु हृदय को शुभ लालसाओं से भरना नीति काव्य का ही काम है। नीति के महत्त्व के पक्ष में विश्व के सभी देशी-विदेशी विद्वान हैं। पाश्चात्य विद्वान Mr. Aquinas Thomas ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि इस प्रकार तथ्यों से स्पष्ट है कि आचार संहिता मानव के क्रियाकलापों की पथदर्शिका है। मनुष्य न तो शून्य में स्थित है और न शून्य में क्रियाकलाप ही करता है। मनुष्य सृष्टि, सृष्टिगत वस्तुओं और मानव समाज का एक अंग है। उसका इनसे आवश्यक और गोचर सम्बन्ध है। सृष्टि एक सुव्यवस्थित पूर्ण इकाई है जिसके अन्तर्गत मानव का उपयुक्त स्थान है और जिसके बीच रहते हुए उसे अपने मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना रहता है। आचार विज्ञान आरम्भ से ही व्यावहारिक है[३] +++ अन्ततः सामाजिक और ऐतिहासिक नियम हमें न केवल मनुष्य के वास्तविक चरित्र की जानकारी प्राप्त करने में विशेष सहायक सिद्ध होते हैं, वरन् मानव की स्थिति अर्थात् उन परिस्थितियों के सम्बन्ध में तथ्य प्रदान करते हैं जिनके बीच मानव का प्रत्येक कार्य संचालित होता है और इसीलिए नैतिक आचार के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए इसका ध्यान रखना आवश्यक है।[४]

प्रसिद्ध विद्वान Plato ने भी नीति के आवश्यक तत्त्व मर्यादा, संयम तथा औचित्य को प्रथम श्रेणी में रखा है।[५]

पाश्चात्य विद्वान विन्टरनीटज ने भी इसे स्वीकार किया है कि नीति साहित्य में विश्व का श्रेष्ठतम नीति साहित्य भारत में ही प्रणयित हुआ।[६]

---

१. बिहारी सतसई, दोहा संख्या ९४

२. नासिख शेर

३. Encyclopaedia of Morals, Page 12-13.

४. वही

५. Points of morality & Gnomic Poetry—Measure, moderation and fitness Plato places in the first rank +++ Page 414, Encyclopaedia of Morals

६. "In one department of Literature, that of the aphorism (Gnomic poetry) the Indians have attained a mastery which has never been gained by any other nation. Page 2, 'A History of Indian Literature, Winternitze. vol. I.

भारतीय संस्कृति की पावन वाटिका नीति सुमन की भीनी सुगन्ध से युगों-युगों से लेकर आज तक सुवासित होती आई है। नियम, संयम, धर्म तथा सामाजिक आचार-विचार हमारी सभ्यता के गौरवशाली आधारस्तम्भ हैं। यही कारण है कि विश्व साहित्य में भारतीय नीति वाक्यों को शिवत्व का स्थान प्राप्त है।

वस्तुतः नीति काव्य का आधार कान्तासम्मित शैली है। यही शैली नीति काव्य की उत्कृष्टता की कसौटी है। कान्तासम्मित शैली के अभाव में नीति काव्य सूक्ति ही कहला सकेगा, काव्य नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसी समर्थन में कवियों को कवि मानना स्वीकार नहीं किया है।[१] अतः कान्तासम्मित शैली के आधार पर नीति काव्य सम्बन्धी रचनाओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया गया।[२]

(अ) प्रधान नीति काव्यमयी रचनाएं :—कबीर की साखियां तथा रूपक आदि इसी कोटि में सम्मिलित हैं।

(ब) अन्योक्ति परक नीति रचनाएं :—इस कोटि का नीति काव्य सर्वोत्तम है। श्री दीनदयाल गिरि की अन्यो-क्तियां इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(स) समासोक्ति परक नीति काव्य :—प्रबन्ध काव्यों में इस प्रकार की नीतिपरक उक्तियां यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं।

(द) व्यंजनात्मक रूप से नीति प्रकट करने वाली उक्तियां।

(क) **अवर काव्य**—चमत्कारहीन तथा कान्तासम्मित शैली के अभाव में रची गई शुद्ध नीति प्रधान रचनायें इसी कोटि के अन्तर्गत हैं। ये नीति कथन जन-जीवन को स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं। अतः काव्य की परिधि से इन्हें अलग करना उचित नहीं।

उपर्युक्त शैलीगत विभाजन से अधिक सरल और सुगम वर्गीकरण विषयगत दृष्टिकोण से किया जा सकता है। विषयगत आधार पर मोटे तौर से निम्नलिखित रूप में वर्गीकरण सम्भव है :

वर्गीकरण :

(१) धर्मनीति।

(२) आचार-व्यवहार नीति।

(३) सामाजिक नीति।

(४) राजनीति।

(५) व्यवसाय नीति।

(६) स्वास्थ्य तथा सांस्कृतिक नीतियों का स्फुट संग्रह।

(१) **धर्मनीति**—धर्म नीति के अन्तर्गत कई विषयों पर विचार-विमर्श हुआ है। यथा :—

ईश्वर—ईश्वर के स्वरूप के विषय में प्रायः सभी नीति कवियों को अनिश्चय रहा है, तथापि उसके स्मरण के बिना मोक्ष सम्भव नहीं :

बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।[३]

ईश्वर को भक्तवत्सल, न्यायी, अनन्त, शरणागत और दयालु कहा गया है।

गुरु—ईश्वर के पश्चात् गुरु ही व्यक्ति का अवलम्ब है। वही अपने शिष्य के अज्ञानरुपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश दे ईश्वर से साक्षात्कार करवाने में सहायता देता है। किन्तु गुरु सदैव अच्छा होना चाहिए जो स्वयं अंधा है वह अंधे को क्या मार्ग दिखाएगा :—

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधै अन्धा ठेलया, दूनौ कूप पड़न्त॥[४]

किन्तु अच्छा और ज्ञानी गुरु साधु संगति के द्वारा ही मिल सकता है, क्योंकि परहित हेतु तत्परता सन्तों का स्वाभाविक गुण है। इसी कारण सत्संगति की महत्ता प्रायः सभी नीति कवियों ने मानी है :

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ २९८

२. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत : डा० गोविन्द त्रिगुणायत पृष्ठ ३५, भाग २

३. तुलसी दोहावली, दोहा १२६

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२

सन्त समागम कीजिये तजिये और उपाइ ।
सुन्दर बहुते उद्धरे, सतसंगति में आइ ।।[1]

आचार्य-व्यवहार नीति—नीति का वास्तविक क्षेत्र तो समाज ही है। समाज में एक व्यक्ति को दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, चरित्र को कैसे सुदृढ़ बनाना चाहिये तथा समाज में कौन ऐसी हानिकारक वस्तुएँ हैं जिनसे व्यक्ति को बचना चाहिये; इस पर भी नीति कवियों ने बहुत कुछ कहा है। मदिरा, मांस-भक्षण आदि की सभी नीति कवियों ने निन्दा की है।

समाज नीति—समाज तथा जाति में ही मनुष्य बंधा हुआ है। 'पानी में रह कर मगर से वैर' करने पर तो अपना ही विनाश स्पष्ट है। इसीलिये कहा है कि अपनी जाति के लोगों से कभी भी विरोध नहीं करना चाहिये।

बिनु फूटे निज जाति के हानि लह्यो कब कोय ।
लोहा काट्यो जात तब, लोह छिनी जब होय ।।[2]

समाज जिसे स्वीकार करे वही करना चाहिये, चाहे उचित काम ही क्यों न हो, पर लोकमत यदि विरुद्ध हो तो कभी भी नहीं करना चाहिये। बनिये का कभी विश्वास न करे, भाई से सदा सम्बन्ध बनाये एवं पड़ोसी से बैर न करना, यह समाज नीति बतलाई गयी है।

राजनीति—राजा के गुण-अवगुण, प्रजा के प्रति व्यवहार आदि के सम्बन्ध में राजनीति विषयक नीतिमुक्तक भी हिन्दी साहित्य में उपलब्ध हैं। संस्कृत में तो इनका अपार कोष है। 'चाणक्य नीति', 'राजनीतिसमुच्चय' तथा 'मनुस्मृति' जैसे संग्रह इस कथन के प्रमाण हैं।

मनुस्मृति के अनुसार:— **यस्य प्रसादे पद्मा श्रीविजयश्चपराक्रमे ।**
मृत्युश्च सीत क्रोधे स्वतेजोमयो हि सः ।।[3]

व्यवसाय नीति—कर्म इस संसार का मूलमंत्र है। यदि उद्योग ही न किया जाय तो पेट की समस्या कैसे हल हो सकती है। उद्योग के साथ ही लक्ष्मी आती है, यथा:

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदिनसिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ।।

परिश्रम भाग्य को चमका देता है—

लोहा चमके घिसे ते, लकड़ी रगड़े आग ।
सोना चमके ताप से श्रम से चमके भाग ।[4]

स्फुट संग्रह—इसके अन्तर्गत शेष विषयों जैसे स्वास्थ्य, शकुन विचार, वस्त्र धारण आदि के सम्बन्ध में रचित नीति कथन सम्मिलित हैं। स्वास्थ्यप्रद भोजन के लिये घाघ ने कहा है:

सावन हर्रे भादौं चीत । क्वांर मांस गुड़ खायउ मीत ।
माघ मास घिउ खींचरि खाय । फागुन उठिके प्रात नहाय ।।[5]

हानिप्रद वस्तुओं के सम्बन्ध में कहा है:

सावन साग न भादौं दही । क्वार करेला कातिक मही ।।[6]

छींक के सम्बन्ध में नीति उक्ति है—

सम्मुख छींक लड़ाई भाखै । पीठ पाछिली सुख अभिलाखै ।
अपनी छींक महा दुख दाई ।[7]

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७४१
२. ब्रज सतसई, दोहा ११३
३. मनुस्मृति ७।११
४. वृन्द सतसई, दोहा २५०
५. घाघ २०
६. घाघ २१
७. कविता कौमुदी, पृष्ठ १८१, भाग १

इसी प्रकार नये वस्त्र को शरीर पर धारण करने के लिये ये शुभ दिन बताये गये हैं :

कपड़ा पहिनै तीन बार । बुद्ध बीफै सूकबार ।।

नीति निर्धारण के प्रेरक स्रोत—समाज का प्रतिबिम्ब हमको साहित्यकार की रचनाओं में सिखलाई देता है, क्योंकि साहित्यिक रचनाओं को रचने वाला साहित्यकार उसी समाज में रहता है। अतः उस समाज की हर क्रिया, हर विशेषता एवं हर परिस्थिति से प्रभावित होना साहित्यकार के लिये आवश्यक है। इतिहास के अध्ययन के द्वारा तथा अपने व्यावहारिक जीवन के अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपने देश की सांस्कृतिक विचारधारा से अनुप्राणित होने के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति पर उसके समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। सामाजिक अव्यवस्था, धर्मविरुद्ध आचरण, राजनीतिक अत्याचार आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो उसे इस कार्य के लिये विवश कर देते हैं कि वह अपने अनुभवों के प्रकाश से अपनी वाणी द्वारा जन-सामान्य की समस्याओं को सुलझावे तथा उनको उचित मार्ग प्रदर्शित करें। हम संक्षेप में ऐसे तत्त्वों को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत करेंगे :

(१) राजनीतिक परिस्थितियां और नीति ।

(२) धार्मिक परिस्थितियां और नीति ।

(३) सामाजिक परस्थितियां और नीति ।

(४) मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया और नीति ।

(५) प्रकृति व्यापार और नीति ।

राजनीतिक परिस्थितियां—राजनीतिक स्थिति नीतिकार कवियों की रचना को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित करती है। विशेष रूप से राज्याश्रित कवियों के नीति काव्य पर दरबारी संस्कृति तथा राजनीति का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। वीरगाथाकाल के महाकवि चन्दबरदायी, मध्ययुगीन नीतिकार कवि टोडरमल तथा बीरबल, केशव तथा रहीम एवं १८वीं शती के जसुराम अमृत तथा देवीदास आदि सभी राज्याश्रित कवि थे, जिन्होंने अपने आश्रयदाताओं को राजनीति की शिक्षा देने के लिये राजनीति सम्बन्धी उपदेशात्मक काव्य की रचना की।

आदि काल का काव्य उस समय रचा गया जब उत्तरी भारत पर मुसलमानों के आक्रमण निरन्तर हो रहे थे। अपने प्रभाव की अक्षुण्णता तथा वृद्धि हेतु विभिन्न राज्य भी आपस में लड़ा करते थे। इस स्थिति में प्रत्येक दरबारी कवि का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने आश्रयदाता के शौर्य की प्रशंसा करे और उसे राजनीति, युद्धनीति तथा कूटनीति आदि की शिक्षा दे ।

धार्मिक परिस्थितियां—साहित्य ही किसी भी युग की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक गति-विधियों का दर्पण होता है और कवि ही वास्तविक प्रतिनिधि। पतित समाज को भी अपने उपदेशों से उन्नति के मार्ग पर लाना कविकर्म है। हिन्दी साहित्य का पूर्वमध्यकाल धार्मिक अभिव्यक्तियों के लिये महत्त्वपूर्ण है। धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान, और भक्ति इन तीन धाराओं में चलता है।[1] वज्रयान तथा महायान सम्प्रदाय आदि जनता को धर्म की ओर उन्मुख करने की अपेक्षा उसे धर्म क्षेत्र से दूर हटाने में समर्थ हुए। सामान्य जनता इनकी रहस्यमयी वाणी न समझ पाती थी। भारतीय अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनता के मध्य अनेक तन्त्रयंत्र तथा अन्ध-विश्वास जन्म ले चुके थे। कवियों पर इस अव्यवस्था का प्रभाव अत्यन्त तीव्र पड़ा। प्रतिक्रियास्वरूप अज्ञान में भटकती हुई जनता के मार्ग-प्रदर्शन हेतु अनेक भक्त कवियों की नीतिवाणी मुखरित हुई ।

सामाजिक परिस्थितियां—नीतिकार कवि सामाजिक परिस्थियों से किस प्रकार प्रभावित होता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण विभिन्न काल के नीति कथन हैं। नीति काव्यकार चाहे तुलसी की भांति 'स्वान्तः सुखाय' ही कविता क्यों न करे किन्तु वह 'परजन हिताय' का निषेध नहीं कर पाता। वीरगाथा काल में जब कि युद्ध और प्रेम ही किसी भी व्यक्ति के जीवन के लक्ष्य थे, राजनीति सम्बन्धी नीति काव्य अधिक प्रणीत हुआ। तत्कालीन समाज में नारियों की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में कवि चन्द का नीति कथन सुनिये :

जज्ञ कालेषु धर्मेषु काम कालेषु शोभिता ।
सर्वत्र वल्लभा बाला संग्रामे बन गेहिनी ।।[2]

पूर्व मध्यकालीन भारत में मुसलमानों के प्रभाव के कारण हिन्दू समाज में विलासिता का बोलबाला था। उच्च स्तर के लोगों में विलास, मदिरा-सेवन, परस्पर कलह, भेदभाव आदि दुर्गुणों का प्रवेश हो चला था। अकबर के समय में सौन्दर्य

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ५६

२. पृथ्वी राज वनवज्ज, श्लोक ३९२

प्रेम की भावना-प्रधान थी। वर्ण-व्यवस्था विश्रृंखलित हो चुकी थी। अछूतवर्ग तो मानव समाज से निष्कासित ही कर दिया गया था। समाज की इन सारी प्रवृत्तियों, परिस्थितियों तथा युग भावना का प्रभाव युग के प्रतिनिधि नीतिकार कवियों पर पड़ा और उन्होंने युग के अनुकूल ही नीति उक्तियों को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया।

प्रकृति व्यापार और नीति—इस असार संसार में पदार्पण करने पर मानव ने सर्वप्रथम प्रकृति को अपनी सहयोगिनी के रूप में पाया। प्रकृति उसके दुःख सुख की सहचरी रही है। प्रकृति ही मानव को सदा से आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाली रही है। इसीलिये नीतिकारों ने प्रकृति व्यापारों के द्वारा जनता के समक्ष आदर्शों को उपस्थित किया है।

केशव की पूर्ववर्ती नीति काव्य परम्परा, नीति और संस्कृत साहित्य—नीति सम्बन्धी काव्योक्तियों उद्गम स्रोत ऋग्वेद है। ऋग्वेद की ऋचाओं तथा वैदिक सूक्तों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध, स्वभाव, दानमहिमा, सत्य तथा सदाचार आदि का प्रतिपादन मिलता है। अर्थववेद के संज्ञान सूक्त में मीठे वचन तथा संगठन, पृथ्वी सूक्त में मातृभूमि से सम्बन्धित अनेक नीति वचन संग्रहीत हैं। गृह्यसूत्र में पवित्रता, यज्ञ सम्बन्धी नीति वचन हैं।[१] सामवेद में नीतिकथन बहुत ही कम हैं यद्यपि वह इनसे पूर्णतः शून्य नहीं है। यजुर्वेद में भी यत्रतत्र मैत्री, क्रोध, प्रेम, सत्य तथा लोभ सम्बन्धी उपदेश मिल जाते हैं।[२] नीति मुक्तक परम्परा वेदों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

लौकिक संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत स्मृतियां, पुराण, महाभारत, वाल्मीकि रामायण आदि आते हैं, जिनमें सभी प्रकार के नीति वाक्यों का समावेश है। नीति सम्बन्धी रचनायें हम पाली साहित्य, जैन साहित्य, अपभ्रंश, नाथ एवं हिन्दी साहित्य में भी पाते हैं। यद्यपि हिन्दी साहित्य के वीरगाथाकाल में मुख्य रस वीर एवं सहायक रस श्रृंगार होना स्वाभाविक था, फिर भी दान, स्वामित्व, भाग्य तथा संसार की निस्सारता आदि पर यत्र-तत्र छन्द मिल जाते हैं। राजधर्म, स्वामिधर्म, युद्ध आदि पर भी वहुत सुन्दर नैतिक विचार प्राप्त हैं।

भक्तिकाल में आकर हम देखते हैं युगद्रष्टा महात्मा कबीर की साखियों तथा पदों में पर्याप्त नीति सामग्री मिलती है। सत्संगति, नारी, संसार की असारता, सत्य, गुरु, कुसंगति, साधु महिमा, कुवचन, निन्दा, माया आदि पर विशद रूप से कबीर के नैतिक विचार उनके साहित्य में देखने को मिलते हैं। जायसी के पद्मावत तथा अखरावत में नीति और उपदेश के छन्द मिलते हैं। ईश्वर प्रेम, कुसंगति, संसार, माया, प्रेम, निष्ठुरता आदि अनेक प्रकार की व्यावहारिक तथा सामाजिक नीतियों के कथन इन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। तुलसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस में सत्यं शिवं सुन्दरम् का अत्यन्त सुन्दर समावेश प्राप्त होता है। हर प्रकार की नीति, रस भावना आदि का समन्वय मानस का प्राण है। मानस मध्ययुगीन साहित्य का विश्व कोश है। धर्मनीति, समाजनीति, व्यवहारनीति, राजनीति, काव्यनीति आदि विभिन्न प्रकार की नीतियों का सुन्दर विधि से प्रतिपादन मानस में प्राप्त होता है। हिन्दी के अन्य कवियों ने भी जैसे रहीम, मलूक दास, दादू आदि ने नीति सम्बन्धी मुक्तक रचनाएँ एवं छन्द लिखे हैं। अतः नीति साहित्य की दृष्टि से भक्तिकाल को स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

केशव के नीति काव्य का विश्लेषण और विवेचन—भक्ति तथा रीति काल के सन्धि युग में अवतरित आचार्य केशव के काव्य में नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। केशव के काव्य में काव्यशास्त्रीय ज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान दोनों का सन्तुलित सम्मिश्रण है। केशव ने काव्यगत परम्पराओं तथा काव्यशास्त्रीय ज्ञान के साथ ही व्यावहारिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि नैतिक मूल्यों पर भी सम्यक् विचार करते हुए उचित रूप से पथ निर्देशन किया।

केशव के ग्रन्थों पर जब हम विहंगम दृष्टि डालते हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि केशव ने नीति प्रतिपादन हेतु कोई नीति ग्रन्थ नहीं रचा, क्योंकि प्रामाणिक ग्रन्थों में से रसिकप्रिया, नखशिख तथा कविप्रिया काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इनमें से कविप्रिया में नीति सम्बन्धी कतिपय कथन प्राप्त होते हैं। नीति की दृष्टि से जहांगीर जस चन्द्रिका भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्य प्रबन्ध काव्यों विज्ञान गीता, रतनबावनी, रामचन्द्रिका तथा वीरसिंह देव चरित्र में नीति के कथन अवश्य बिखरे पड़े हैं।

केशव दरबारी कवि थे। इसलिये उन्हें राजनीति तथा व्यवहार नीति का अच्छा ज्ञान था। उनका ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य वीरसिंह देव चरित्र तथा प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य रामचन्द्रिका उनके राजनीतिक ज्ञान का और विज्ञान गीता उनके धर्म नीति विषयक ज्ञान का, प्रमाण उपस्थित करते हैं। व्यवहार नीति विषयक कथन रामचन्द्रिका में भी रामचरितमानस की भांति प्रसंगवश यत्रतत्र आये हैं।

---

१. उत्साद्य बाह्यतोऽङ्गारकपाले शिग्रशर्करा जुहोति। अथर्ववेदीय कौशिकसूत्रम् श्लोक ५
२. वैदिक साहित्य : रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ ४३७

केशव के नीति के स्वरूप के निर्धारण में युग प्रभाव तथा पूर्ववर्ती नीति साहित्य का भी हाथ है। अतः केशव के नीति सामग्री के अध्ययन हेतु वर्गीकरण करते समय निम्न तत्त्वों का भी ध्यान रखना आवश्यक है :

(क) केशव का नीतिकाव्य ।

(ख) युग प्रभाव का विश्लेषण ।

(ग) पूर्ववर्ती नीति काव्य का प्रभाव ।

केशव का नीति काव्य—केशव ने अपने नीति छन्दों में धर्म शास्त्र, राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र, व्यवहार नीति सम्बन्धी ज्ञान का परिचय दिया है। विषयगत आधार पर इस सामग्री के निम्नलिखित विभाग हो सकते हैं :

(१) धर्मनीति सम्बन्धी कथन ।

(२) आचार व्यवहार सम्बन्धी कथन ।

(३) समाजनीति विषयक कथन ।

(४) राजनीति विषयक कथन ।

धर्मनीति और केशव--नीति काव्य में धर्म तथा आचार विचार सम्बन्धी कथन व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास हेतु दिये जाते हैं। इन कथनों का उद्देश्य मानव को सद्वृत्तियों की ओर उन्मुख करना होता है। भारतीय संस्कृति बहुजन हिताय बहुजन सुखाय के पक्ष में रही है। इसका प्रमाण भारतीय महापुरुष और भारतीय साहित्य है। सामान्यतः धर्म का अर्थ उन कर्मों से लिया जाता है जो किसी व्यक्ति को मोक्ष अथवा पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराते हैं। मनुस्मृति भी धृति, क्षमा, दम, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य तथा अक्रोध को धर्म के स्वरूप के अंग मानती है।[१] हिन्दी नीति काव्य ईश्वर नामस्मरण, माया, मन, सत्य, सन्तोष आदि को धर्म के अन्तर्गत स्थान देता है।

आचार्य केशव की धर्मनीति विषयक उक्तियां रामचन्द्रिका तथा विज्ञानगीता में संग्रहीत हैं।

ईश्वर—विज्ञानगीता में केशव ने ईश्वर को वर्णनातीत निर्गुण रूप में देखा है। वह अमित, अबाध, अगुण, अरूप तथा अद्भुत है। यथा :

जाको नाहिं आदि अंत अमित अबाध जुत ।
अकल अरूप अज चित्त में अरत है ॥
अमर अजर अरु अद्भुत अर्बन अंग ।
अच्युत अनाम नाम रसना रटत है ॥
अमल अनंग अति अक्षर असंग अरु ।
अस्तुत अदृष्ट देखिबो को पसरत है ॥
विधि हरिहर अरु बेद कहै जोसि सोसि ।
केशव रायै ता कहं प्रनामहि करत हैं ।[२]

नामस्मरण—जो ईश्वर अनादि, अमेय तथा तेज स्वरूप है, उसका तो नाम ही मुक्ति को प्रदान करने वाला है। केशव के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अनेक कवियों ने (यथा कबीर, तुलसी, मलूक दास, वृन्द आदि) 'राम' नाम के दोहे 'ढाई आखर प्रेम से पढ़ै जु पंडित हो' मान लिया। केशव का भी विचार है कि कलियुग में जब पुराण, जप, तप, तीर्थाटन आदि क्रियाओं का लोप हो जाएगा तब मात्र राम-नाम से ही मानव भव सागर पार हो जायेगा—

'राम' नाम रूपी यही दो अक्षर (रा—म) अधोगति को नष्ट करने वाला तथा बैकुण्ठ का पद दिलाने वाला है यथा :

कहै नाम आधो सो आधो नसावै। कहै नाम पूरो सो बैकुण्ठ पावै।
सुधारे दुहूं लोक को वर्ण दोऊ। हिए छद्म छांड़ै कहै वर्ण कोऊ ॥[३]

गुरु—जीव का ब्रह्म से साक्षात्कार कराने वाला व्यक्ति गुरु है। यह गुरु गोविन्द से बड़ा हो जाता है। अतः मोक्ष प्राप्ति के हेतु गुरु की प्राप्ति आवश्यक है यद्यपि है कठिन।

केशव ने भी अपने 'भूपति' को वास्तविक अर्थों में अधिकारी होने के लिये गुरु की शरण लेने का सुझाव दिया है :

---

१. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ मनुस्मृति ६।९२

२. विज्ञान गीता (के० ग्र० मा० ३) १८।२५

३. रामचन्द्रिका, २६।५

ज्ञान गुरु पै सीखियै जब उपजै विज्ञानु ।
तब अधिकारी होहुगे, भूपति जिय में जानु ।[1]

केशव के गुरु विषयक दृष्टिकोण का प्रतीक विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि का चरित्र है।

संसार—यह संसार मिथ्या है, अनित्य, दुःखपूर्ण तथा क्षणिक है। इस संसार को जीव भ्रमवश सत्य मान लेता है, जैसे बालक काठ के घोड़े को अथवा बालिका गुड्डे-गुड़ियों को सत्य मान लेते हैं। पत्नी-पुत्र आदि सम्बन्ध सब झूठे हैं, जैसा कि केशव ने स्वयं लिखा है :

पुत्र कलत्रनि आदि है झूठो सब संसार ।
जाको देखौ स्वप्न सो साचो ब्रह्म विचार ॥
जन्म मरन तेरो मृषा स्वपच कीर नृप वेष ।
झूठो सिगरो नांउ है माया कर्म अलेख ॥[2]

इसी कारण केशव ने केवल 'राम' का ही आश्रय लेने के लिये मन को प्रेरित किया है। इस संसार में सभी मिथ्या है। अन्त समय साथ कुछ नहीं जायेगा।

हाथी न साथी न घोरे न चेरे, न गांव न ठांव को नाव बिलैहै।
तात न मात, न मित्र, न पुत्र न वित्तन अंग हू संग न रैहै ॥
केशव काम को राम बिसारत और निकाम न कामहि ऐहै।
चेत रे चेत अजौ चित अन्तर अंतक लोक अकेला ही जैहै ॥[3]

मन—इस असार संसार का कारण मन ही है। मन माया की ही उत्पत्ति है और ज्ञान के द्वारा मन की निवृत्ति हो जाने पर मन निर्मल हो जाता है। इसी कारण मन के वशीकरण के द्वारा दुःखपूर्ण संसार को त्याग कर ब्रह्म में लीन होने का उपदेश दिया गया है :

ताते तुम भ्रम छोड़ि कै होउ ब्रह्म सों लीन ।[4]

अहंकार—अहंकार व्यक्ति के व्यक्तित्व को मिटा देता है। उसका समस्त पुण्य अहं के लेश मात्र से नष्ट हो जाता है, यथा :

जोई जोई जो करै अहंकार के साथ ।
स्नान दान तप होम जप निष्फल जानो नाथ ।[5]

आपने लोभ और तृष्णा की भी निन्दा की है।

ब्राह्मण पूजा—केशव के अनुसार विप्र परमेश्वर के समान है। ब्रह्मशक्ति से मानव की प्रभुता में वृद्धि होती है और ब्रह्मदोष से उसका विनाश होता है।

द्विज दोष जहींसु समूल नसै जू। द्विज दोष बिना कहूं बिनसै जू।
ब्रह्म दोष जिनकै हिये, उपजत क्यौ हूं आनि ।
तिनके कुल के नासमन मनतै नियति बखानि ॥[6]

तीर्थाटन—भारतीय कर्मकाण्ड में तीर्थ स्थलों का अत्यधिक महत्त्व है। केशवदासजी ने विज्ञानगीता में एक स्थल पर प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध तीर्थ का उल्लेख किया है। गंगा, सिन्धु, गोदावरी, गोमती, नर्मदा, सरस्वती आदि नदियों की महिमा का गान किया है। समस्त तीर्थों में चौदहों लोक से न्यारी 'काशी' सर्वाधिक पुण्यदायिनी है। केशव का विचार भी इसी पक्ष के अनुकूल है :

बारानसी अरु बिंदु माधव विश्वनाथ बखानि ।
भागीरथी मनिकर्णिका यह दिव्य पंचक जानि ॥

---

१. विज्ञानगीता (के० ग्र० भा० ३) १६।६३
२. कविप्रिया ६।५६
३. विज्ञानगीता २१।१७
४. रामचन्द्रिका १४।१५
५. विज्ञान० (के० ग्र० भा०) ६।६५
६. विज्ञान० १३।१८

बैकुण्ठ भूतल मध्य अद्भुत भांति नित्य प्रकास ।
संसार नासहि करत हैं तिनको न कबहूं नास ।।[1]

धर्म नीति के उल्लिखित अंगों के अतिरिक्त केशव ने विज्ञानगीता में माया, काम, क्रोध, मोह, आशा, दया, ज्ञान, परोपकार तथा अहिंसा पर भी थोड़ा-बहुत विचार किया है। इसी भांति रामचन्द्रिका में भी संसार की असारता, रागद्वेष, आशा आदि से संबंधित कतिपय नीति कथन मिल जाते हैं।

आचार-व्यवहार-नीति और केशव—आचार-व्यवहार-नीति मानव-समाज का अभिन्न अंग है। समाज के अनेक अंगों से मानव का नित्यप्रति साक्षात्कार होता रहता है। अतः यह आवश्यक है कि उसे उन अंगों से सम्पर्क बनाये रखने की कला, अर्थात् व्यवहार नीति का ज्ञान हो। प्रत्येक व्यक्ति से कैसे मिले, परस्पर विश्वास किस प्रकार बनाये रखे; प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, क्षमा, दान आदि सद्-असद् वृत्तियों का क्या मूल्य है तथा इनका उचित प्रयोग किस भांति व किस अवसर पर किया जाय इत्यादि समाज के सक्रिय तत्त्वों तथा उनके उचित प्रयोग का ज्ञान समाज में रहने वाले व्यक्ति के लिये आवश्यक है। वस्तुतः नीति का प्रयोग व्यवहार नीति के ही अर्थ में होता है।

केशव दरबारी कवि थे। अतः उन्हें परस्पर व्यवहार की रीति का अच्छा ज्ञान होना ही चाहिये और इस कसौटी पर वह पूर्ण रूप से खरे उतरते हैं। वीरसिंह देव चरित तथा रामचन्द्रिका में उनके व्यवहार नीति सम्बन्धी अधिकांश छन्द संकलित हैं। केशव ने व्यवहार नीति के अन्तर्गत दान, सन्तोष, शील, प्रेम, क्षमा, प्रभुता, संगत तथा सामान्य नीति सम्बन्धी कथन दिये हैं।

धन—धन के विषय में केशवदासजी का यह कथन कितना सत्य है कि इस संसार में कोई किसी का मित्र नहीं है। धन ही सब का मित्र है, वही पंडित और साधु है, जिसके पास धन है:

काहू को नहि कोऊ मित्त । मित्त अकेलो हूं जग वित्त ।
सोई पंडित सोई साधु । जाके घर में वित्त अगाधु ।[2]

केशवदासजी ने सत्संग की महत्ता बतलाते हुए कहा है कि साधुसंग केवल क्षणमात्र के उपदेश से ही जीव को जीवन्मुक्त कर देता है। इसी कारण केशव सत्संग को गंगा-सागर तीर्थ से भी ऊंचा मानते हैं:

गंगा-सागर सो बड़ो साधुन को सतसंग ।
पावन कर उपदेश अति अद्भुत करत अभंग ।।[3]

संसार के स्वामी रामचन्द्र ने भी अपने हाथ से उद्यम किया था। अतः सभी वस्तुओं को अदृष्ट कृत मानकर आलस्य नहीं करना चाहिये। यह व्यवहार नीति है कि गाय, ब्राह्मण, राजा तथा स्त्री को विपत्ति में देख कर उसकी सहायता की जाय। केशव के शब्दों में:

गाय द्विज राज तिय काज न पुकार लागै ।
भोग वै नरक घोर चोर को अभय दानि ।।

कहावत है कि, "सुबह का भूला यदि सांझ को घर लौट आये तो भूला नहीं कहाता।" केशव की भी यही सम्मति है कि भूले हुए गुणों को फिर से सीख लेना चाहिए, भूले हुए मार्ग को अपना लेना चाहिये, भूला लेखा फिर से ले लेना चाहिये और भूले व्रत को पुनः धारण करना चाहिये—यही न्याय है:

भूल्यो गुन सब सीखि लेइ सब कहैं सयानै ।
भूल्यो मारग लेइ फेरि जब चलै पयानै ।।
भूल्यो लेखो लेइ फेरि यह न्याउ कहावै ।
भूल्यो व्रत जो लेह फेरि तो सीमा पावै ।।[4]
कहि 'केसव' देव अदेव यह कहत दोष कीजे नाचेरि ।।

किसी भी कार्य पर पूर्णतया विचार किये बिना उसे एकाएक करना सदैव हानिप्रद होता है। इस सम्बन्ध में भी केशव ने लिखा है:

---

१. विज्ञान ६।५७
२. वीरचरित्र १।४६
३. रामचन्द्रिका, २३।९
४. वीरचरित्र २।१५

सहसा कछू न कीजई कीजै सब विचारि ।
सहसा करै ते घटि परैं अरु आवै जगगारि ।।[1]

इस प्रकार व्यवहार नीति विषयक अनेक कथन केशव के काव्य में प्राप्त हो जाते हैं, जिनमें जीवन की अनुभूतियां तथा जीवन के लिये उपयोगिता है ।

समाजनीति और केशव साहित्य—केशव जीवन को सफलतापूर्वक निर्वाह करने की कला का भली भांति ज्ञान रखते थे । इस ज्ञान की झलक उनके काव्य में अनेक स्थलों पर दिखाई पड़ जाती है । वे जानते थे कि शत्रु-मित्र, विप्र-स्वामी, माता-पिता आदि विशेष कोटि के लोगों से कैसा व्यवहार करना चाहिये । केशव की समाज नीति का सामान्य परिचय जानने के लिये कुछ प्रधान विषयों पर ही कही गई उनकी उक्तियों को प्रस्तुत करना आवश्यक है ।

नारी—केशव की दृष्टि में नारी का स्थान ऊंचा नहीं है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी रसिकप्रिया की छैल छबीली नायिकायें हैं जो मात्र कटाक्षों के बाण चलाने में ही सिद्धहस्त हैं । उनके समक्ष नारी भोग की सामग्री है, कामायनी की भांति कल्याण की पथदर्शिका नहीं । केशव ने तो कहा है :

जहां भामिनी भोग तहं बिनु भामिनि का भोग ।
भामिनि छूटे जग छूटे जग छूटे सुख भोग ।।[2]

केशव का कहना है कि कामदेव रूपी शिकारी की बनसी का रूप धारण कर यह नारी मनुष्य रूपी मछलियों को फंसाया करती है, यथा :

बंक हिये न प्रभा सरसी सी । कर्दम काम कछू परसी सी ।
कामिनि काम की डोरि ग्रसी सी । मीन मनुष्यन की बनसीसी ।।[3]

केशव के नारी सम्बन्धी विचारों के आधार पर हमको केशव पर दोषारोपण नहीं करना चाहिये, क्योंकि केशव के नारी सम्बन्धी इन विचारों के लिये केशव उत्तरदायी नहीं वरन् उस काल की परिस्थितियां तथा युग का आग्रह उत्तरदायी है ।

नारिधर्म—केशव का यही विचार है कि मनसा, वाचा, कर्मणा पति को देवता मानना नारी का धर्म है :

मनसा वाचा कर्मणा पत्नी के पतिदेव ।
स्नान ध्यान तप सुरन की पति बिनु निष्फल सेव ।[4]

इसी प्रकार रामचन्द्रिका में केशव के राम ने माता कौशल्या को नारिधर्म समझाते हुए कहा है कि नारी के लिये पति चाहे गूंगा, बहरा, रोगी, कुरूप ही क्यों न हो, वह अत्याज्य है ।

शत्रु नीति—केशव ने प्रशस्ति काव्यों की रचना भी की है । ऐसे काव्यों में प्रसंगवश शत्रु के लक्षण, उसके प्रति किये जाने वाले उचित व्यवहार का निर्देश किया है । केशव की नीति है शत्रु को दण्ड दे तथा मित्र की रक्षा करे एवं सत्य वचन द्वारा संसार को वश में कर ले :

मारहु शत्रुनि मित्रनि राखि । बस्यकरहु जगसांची भाखि ।।[5]

केशव का विचार है कि "अपकारिनि सों करै न प्रीति" अर्थात् शत्रुओं के साथ मैत्री नहीं करनी चाहिये अन्यथा अहित होगा और प्रतिष्ठा जाती रहेगी ।

मित्रनीति—आदर्श मित्रों के सम्बन्ध में केशवदासजी ने कहा है कि उनका मिलना मुश्किल है और यदि अच्छे मित्र मिल भी जायें तो उनके साथ समानता का व्यवहार करना चाहिये । यथा :

करै मित्र सो सम संयोग ।[6]

राजनीति और केशव साहित्य—केशवदासजी को अपने आश्रयदाता मधुकरशाह वीर सिंह देव तथा इन्द्रजीत सिंह राजाओं के अत्यन्त निकट सम्पर्क के कारण राजधर्म, राजनीति तथा राज्य सम्बन्धी अन्य तत्त्वों को समझने का पर्याप्त अवसर मिला ।

---

१. वीरचरित्र ५।६६
२. रामचन्द्रिका २४।१४
३. रामचन्द्रिका २४।७
४. विज्ञानगीता १६।४६
५. वीरचरित्र ३९।९२
६. वीरचरित्र ३१।७३

केशव के राजनीति विषयक कथन वीरसिंह देव चरित्र, रामचन्द्रिका तथा विज्ञानगीता में प्राप्त होते हैं। वीरसिंह देव चरित्र के २९ से ३१वें अध्याय तक इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। रामचन्द्रिका में राजनीति सम्बन्धी कथन मुख्यतः तीन प्रसंगों में आये हैं। महोदर, रावण मंत्रणा, राम द्वारा अगस्त्य के सम्मुख राज श्री निन्दा तथा प्रबन्ध के अन्त में राम के द्वारा राजनीति सम्बन्धी उपदेश। विज्ञानगीता में तत्सम्बन्धी एक ही उल्लेखनीय प्रसंग है, राज धर्म द्वारा विवेक के समक्ष राजनीति विषयक कथन। इन तीनों ग्रन्थों में केशव ने राजनीति के विभिन्न अंगों राजा, मंत्री, मंत्र, दूत, दण्ड, शत्रु, साम, दाम, दण्ड भेदादि चतुर्नीति इत्यादि पर प्रकाश डाला है।

राजा—केशव ने उत्तम राजाओं के लिये प्रातः ब्राह्मण पूजन कर उनका अभिषेक करना आवश्यक बताया है, यथा:

करत सीस अभिषेक उदोत ते नरपति अति उत्तम होत।[१]

राजा को ब्राह्मणों में क्षमा, परिजनों में स्नेह, प्रजा के साथ पिता के समान व्यवहार करने वाला होना चाहिये। इसके समर्थन के लिये निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत है:

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद्राजा भृत्यवर्गे वै प्रजासु च पिता यथा॥[२]

मंत्री—मंत्रियों की मंत्रणा का महत्त्व समझते हुए केशव ने संस्कृत का निम्नलिखित नीति वाक्य प्रस्तुत किया है:—

मन्त्रमूलो यतो राजा ततो मन्त्रः सुरक्षितः।
कुर्याद्यत्नेन तद्विद्वान् वर्सनामाफलोदयात्॥[३]

राजा यदि विज्ञ मंत्रियों से सुरक्षित है तभी उसकी गुप्त मंत्रणायें सुरक्षित हैं। अतः कर्म, यश और फल की परीक्षा कर अच्छे विद्वानों को (मंत्री) नियुक्त करना चाहिये।

मंत्र—मंत्रियों की मंत्रणा भी हितकर तथा अहितकर दोनों ही होती है। राजनीति में कुछ कूट मन्त्रणायें तो प्रकट में अकल्याणप्रद होती हैं किन्तु उनका परिणाम हितकर होता है। वास्तव में दाड़िम के बीज के समान मंत्र सर्व-श्रेष्ठ होते हैं जो खाने में भी मधुर तथा अन्त में भी पुष्टिकारक होते हैं। कूटनीतिज्ञ अपने मंत्र का भेद नहीं खोलते। केशव की भी यही सम्मति है.....................................न गूढ मंत्र खोलिये।[४]

दण्ड—राजनीति में दण्ड का उल्लेखनीय स्थान है। शत्रु, अत्याचारी तथा राजद्रोही मनुष्यों को राजा दंडित करता है। केशव ने अपराध के अनुसार धिग्दण्ड, वाग्दण्ड, धनदण्ड तथा वध का विधान किया है, यथा:

धिग्दण्डः सत्ववाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा।
क्रमशो व्यवहर्त्तव्यो ह्यपराधानुसारतः[५]

केशव ने दण्डनीति के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कुछ व्यक्तियों को बध्य तथा कुछ को अवध्य घोषित किया है।

ब्राह्मण माता पिता परिहरै। गुरु जन कौ नृपदंड न धरै।
रोगी दीन अनाथ जु होय। अतिथिहिं राजा हनै न कोय।
इतने जानि परै अपराधु। वृत्तिन हरै निकारैं साधु।[६]

शत्रु—केशव ने शत्रु को जीतना राजा का कर्त्तव्य बतलाया, इससे राजा को यश प्राप्त होता है—

शत्रुहि जीते जग जस कहै॥[७]
यशै संग्रहो निग्रहौ युद्ध जोधा॥[८]

केशव शत्रुओं के साथ दया दिखाने के पक्ष में नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि:

रिपु पर दया परम कदराई।

---

१. रामचन्द्रिका ३२।३
२. रामचन्द्रिका ३१।३१
३. वीरचरित्र ३१।४४
४. रामचन्द्रिका ३९।३०
५. वीरचरित्र ३१।५६
६. वीरचरित्र ३१।५३
७. वीरचरित्र ३१।८३
८. रामचन्द्रिका ३९।३३

राज्य संचालन में चतुर्नीति की आवश्यकता होती है, यथा—साम, दाम, दण्ड, भेद। केशव रामचन्द्रिका में एक स्थल पर राम-हनुमान संवाद में इसका उल्लेख व्यंजना से कर देते हैं। यथा—बुद्धि विक्रम व्यवसाययुत साधु समुझि रघनाथ।[1] यहां बुद्धि, विक्रम, व्यवसाय तथा साधु शब्दों का अभिप्राय क्रमशः भेदनीति, दण्डनीति, दामनीति तथा सामनीति है।

केशव के नीति काव्य का कलापक्ष—काव्य के दो पक्ष होते हैं, भावपक्ष और कला पक्ष। कलापक्ष के अन्तर्गत भाषा, शैली, अलंकार तथा छन्द का विवेचन आता है।

केशव के नीति काव्य की भाषा यद्यपि सरल तथा सुबोध है किन्तु संस्कृत की मधुरता के मिश्रण से वह अधिक प्रभावात्मक बन गई है। केशव ने ब्रज भाषा को अपनी काव्याभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि ब्रज भाषा में अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक मिठास है तथा तोड़ने मरोड़ने और शब्दों के आत्मसात् करने की अधिक क्षमता है। चूंकि केशव बुन्देलखण्डी थे और बुन्देलखण्डी भाषा तथा ब्रज भाषा में पर्याप्त समानता है। अतः केशव की ब्रजभाषा पर बुन्देलखण्डी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त संस्कृत तथा अवधी की छाप भी उस पर यत्रतत्र दृष्टिगोचर होती है। अरबी फारसी शब्दों के प्रयोग के रूप में मुगल काल का प्रभाव भी स्पष्ट है।

शब्द समूह—इसके अन्तर्गत संस्कृत के शब्दों के तत्सम और तद्भव दोनों ही रूप केशव में पर्याप्त परिमाण में प्राप्त हैं। अलक, कटाक्ष, नूपुर, मलयन, कलिंद, कलरव, मीन, सौदामिनी, अम्बर आदि। तद्भव शब्दों की मात्रा भी कम नहीं; पियरौं, औरन, लग्यौं, पिता, जिय, शब्द, करम, खात, अघात, थली, चेत, बखान, सोतन, रती, बिसासीनि आदि।

बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग भी केशव में स्वाभाविक ही है, जैसे—हतै, डांटे, राई (राजा) छोभौं, आछत, गूमोकिलपैले आदि।

अवधी शब्दावली—इहा, दीन, कीन, कोय, जूझत, उबरै, सांच, बसन आदि शब्द अवधी के प्रभाव से ही काव्य में प्रयुक्त हुए।

विदेशी शब्द—केशव की भाषा में अरबी, फारसी तथा तुर्की के प्रभाव से भी कुछ शब्द आ गये हैं। जैसे—दगाबाज, उमराह, बक्सीस, सतरंज, लायक अथवा सिरताज आदि।

शब्द शक्ति—शब्द का अर्थ बोध कराने वाली शक्ति ही शब्द शक्ति है। शब्द शक्तियां तीन होती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन्हींके अनुसार तीन प्रकार के अर्थ भी होते हैं वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ।

केशव के नीति काव्य में अधिकांशतः अभिधा शक्ति से काम लिया गया है। अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द के मुख्य अर्थ तक पहुंचा जा सकता है। केशव के नीति काव्य में अभिधा शक्ति के प्रयोग के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

पतिनी पति बिनु दीन अति, पति पतिनी बिनु मन्द।
चन्द बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिनु जामिनि चन्द।[2]

शैली—नीति काव्य का उद्देश्य उपदेश है। अतएव स्पष्टता तथा सुबोधता नीति काव्य की शैली के अनिवार्य गुण हैं। केशव के नीति काव्य में ये गुण पूर्ण रूप से मिलते हैं।

प्रभावात्मकता—उपदेश यदि प्रभावपूर्ण न हुआ तो सारहीन हो जाता है। अतः कहने की शैली आकर्षक हो तथा उपदेश स्पष्ट व सुगम हो। जैसे—

वै सिगरै मतिमूढ़ है अमल जलज मनिहारि।
सीपिन के संग्रह करत केसव राय निहारि।[3]

नीति काव्य की विभिन्न शैलियां—हिन्दी साहित्य के नीति काव्य में विषय वर्णन हेतु कई प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है। डा० भोलानाथ तिवारी ने इस सम्बन्ध में पांच प्रकार की शैलियों का उल्लेख किया है :

(१) उपदेशात्मक
(२) सूक्त्यात्मक
(३) अन्योक्ति
(४) कथात्मक
(५) मुकरी शैलियां

केशव के काव्य में मुख्यतया तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग हुआ है।

---

१. रामचन्द्रिका १३।३२
२. रामचन्द्रिका १३।१०
३. विज्ञान० ७१९

(१) उपदेशात्मक
(२) सूक्त्यात्मक
(३) अन्योक्ति

उपदेशात्मक शैली—उपदेशात्मक शैली हिन्दी नीति काव्य की सबसे सरल तथा स्पष्ट शैली है। केवल कथन से अवगत कराना ही इस शैली का ध्येय है। केशव ने राजधर्म तथा दान महत्ता के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए मुख्यतः इस शैली का आश्रय लिया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

दान-नीति विषयक केशव का छन्द है :—

पहिले निजवर्तिन देहु अबै। पुनि पावहि नागर लोग सबै।
पुनि देहु सबै निज देशिन को। उबरोधन देउ विदेशिन को।[1]

केशव के काव्य में सूक्त्यात्मक शैली का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है।

अन्योक्ति शैली—नीति साहित्य की उत्कृष्टतम तथा सर्वाधिक सुन्दर शैली अन्योक्ति शैली है। अन्योक्ति एक अलंकार है जिसके सहारे कही गई नीति की बातें 'शक्कर लिपटी गोलियों' की तरह अरुचिकर न होते हुए भी अपना प्रभाव पूर्ण रूप से डालने में समर्थ होती हैं। अन्योक्ति शैली के आधार पर केशव ने सीपियों के संग्रह कर्ताओं को सम्बोधित कर परोक्ष रूप से उन व्यक्तियों के प्रति यह दोहा कहा है जो किसी मोहवश जगत् की सुन्दर तथा उत्कृष्ट वस्तुओं का संग्रह न कर निरुपयोगी तथा सामान्य वस्तुओं के संचयन-हेतु प्रयत्नशील रहते हैं यथा :—

वै सिगरे मतिमूढ़ है अमल जलज मनि डारि।
सीपिन के संग्रह करत 'केसवराय' निहारि॥[2]

अलंकार—अलंकार काव्य के उत्कर्ष साधन में सहायक सिद्ध होते हैं। किन्तु वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। नीति काव्य की सूक्त्यात्मक शैली के प्रयोग अलंकारों के माध्यम से ही होते हैं। नीति काव्य में कहीं भी केशव का अलंकार प्रयोग भारस्वरूप प्रतीत नहीं होता।

केशव ने नीति काव्य में उपमा, अन्योन्य, व्यतिरेक, वक्रोक्ति, रूपक, तुल्ययोगिता, उदाहरण, परिसंख्या, उत्प्रेक्षा यथासंख्य, यमक, कारणमाला, अन्योक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग सुबोधता, स्पष्टता, प्रभावात्मकता के लिये किया है।

छन्द—काव्य के बाह्य उपकरणों में छन्द का विशेष महत्त्व है। छन्द प्रयोग के द्वारा काव्य में नाद सौन्दर्य तथा गति उत्पन्न हो जाती है, जिससे काव्य की प्रभावात्मकता में वृद्धि होती है। हिन्दी नीति काव्य में मुख्यतः दोहा, छप्पय, कुण्डलिया, सवैया, कवित्त, बरवै, छन्द प्रयुक्त होते हैं। केशव के नीति काव्य के अन्तर्गत, दोहा, चौबीला, जयकरी, छप्पय, कुण्डलिया, तोमर, चौपाई, दण्डक आदि ही प्रयुक्त हुए हैं।

तोमर—छन्द ९ वर्णों का होता है, इसमें सगण (।।S) के पश्चात् २ जगण (।S।) आते हैं। यह छन्द केशव को विशेष प्रिय प्रतीत होता है।

उदाहरण :

(१) **द्विज को जु देइ बुलाइ। कहिये सुमध्यम राई।**
गुनि याचना मिस दानु। अतिहीन ताकह जानु॥[3]

छप्पय का उदाहरण देखिए :

द्विज मांगे सो देह विप्र को वचन न खंगिय।
द्विज बोलै सो करिय विप्र को मान न भंगिय॥[4]

कुण्डलिया—इस छन्द का प्रयोग केशव ने यदा कदा किया है, यथा :—

नारी तजै न आपना सपने हूं भरतार।
पंगु गुंग बौरा बधिर, अंध अनाथ अपार॥

---

१. रामचन्द्रिका २१।९
२. विज्ञान० ७।९
३. रामचन्द्रिका २१।७
४. रतनबावनी २२

अंध अनाथ अपार, वृद्ध बावन अतिरोगी।
बालक पंडु कुरूप, सदा कुबचन जड़ जोगी ।।
कलही कोढ़ी भीरु चोर ज्वारी व्यभिचारी।
अधम अभागी कुटिल कुमति पति तजै न नारी ।।[1]

अन्तत: केशव के नीति काव्य पर यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो ज्ञात होगा कि भाषा में प्रवाह, सुगमता तथा रोचकता; अलंकारों की सुन्दर साज सज्जा, छन्दों का भावानकूल प्रवाह एवं शैलीगत नैपुण्य केशव के नीति काव्य की अपनी विशेषतायें हैं। अत: केशव का नीति काव्य अपने भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों में सफल है।

१. रामचन्द्रिका ९।१६

रीतिकालीन कवियों की सौन्दर्यानुभूति

(कु०) **कमलारानी तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०**
हिन्दी-विभाग, आई० टी० कालेज, लखनऊ ।

मनुष्य के मनोमय जीवन का असर जिन अन्तर्वृत्तियों के सहारे सम्पन्न होता है, उनमें प्रमुख महत्त्व से समन्वित हैं आकर्षण एवं विकर्षण की वृत्तियां। जिस किसी वस्तु अथवा भाव में चित्तवृत्ति टिक कर रम जाय उसे 'सुन्दर' कहते हैं और उसकी अनुभूति को 'सौन्दर्य' की संज्ञा प्रदान करते हैं। 'सौन्दर्य' की ललक मनुष्य में जन्मना है, जो वय-वृद्धि के साथ साथ विकसित होकर भावना तथा अनुभूति के माध्यम से दार्शनिक चेतना का रूप धारण कर लेती है। रंग, रूप, ध्वनि और स्पर्श का आकर्षण स्थूल से सूक्ष्मतर होता हुआ मनुष्य को तद्वत् बना देता है। भोले शिशु की सहजानुभूति, किशोर की स्वप्निल कल्पना बन युवक के मांसल प्रदेश में रमण करती हुई, वृद्ध के चिन्तन का विषय बन जाती है। वास्तव में सौन्दर्य ज्ञान का नहीं, व्यवस्थित अनुभूति का आश्रित है। यह अनुभूति वस्तु के गुण की अपेक्षा रखती है। कभी प्रत्यक्ष रूप में तो कभी सादृश्य के बल पर। सौन्दर्य की उपलब्धि आनन्द है। वैज्ञानिक की विश्लेषणात्मक दृष्टि तक में भी किसी वस्तु का व्यापक, विराट् और द्रवणशील होना ही उसके सौन्दर्य का बोधक है। इस प्रकार सौन्दर्य अन्ततोगत्वा, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में वस्तु का आलम्बन लेकर भी चिन्तन का विषय बन जाता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वस्तु-सौन्दर्य की परिणति भाव-सौन्दर्य में और भाव-सौन्दर्य की सार्थकता उसे मूर्त रूप देने में है।

फिर भी, सौन्दर्यानुभूति मात्र व्यक्तिगत न होकर समाज-सापेक्ष भी है। प्रत्येक युग विकास-क्रम से भावना-विशेष से प्रभावित होता है और उस युग की प्रत्येक अभिव्यक्ति में उक्त भावना की प्रेरणा रहती है। यही भावना युग-आदर्श का रूप ग्रहण कर लेती है और यह क्रम युग-परिवर्तन के पूर्व तक सजीव रूप में चला चलता है। परन्तु प्रत्येक युग में परिवर्तन के साथ नयी चेतना और नयी दृष्टि का प्रवेश होता है जब कि पूर्ववर्ती आदर्श शिथिल पड़कर रूढ़ि की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। नवीन युग सदा नयी सौन्दर्य-चेतना को जन्म देता है, जिसके आलोक में मनुष्य सौन्दर्य के नये-नये उपादानों के दर्शन कर पाता है। फिर भी, तात्त्विक दृष्टि से सौन्दर्य के ऐसे कुछ लक्षण शेष रह जाते हैं जिन पर युग-प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही पड़ा करता है और इसका रहस्य उसके अधिकाधिक व्यापक, विराट् और द्रवणशील होने में है। सामान्यतः यह कहने में कोई बड़ी आपत्ति की बात नहीं होगी कि हमारी प्रिय की परिधि में प्रवेश करने वाली वस्तुएं सुन्दर हैं तथा जिन गुणों के कारण वे हमारी प्रिय बन सकी हैं, उन गुणों की संज्ञा ही 'सौन्दर्य' है।

संसार-सौन्दर्य के सहारे जीवित है। सौन्दर्य अविनश्वर है, क्योंकि सुन्दर वस्तुएं अलग-अलग नष्ट होती हैं, लेकिन सुन्दर के प्रतीकों का जीवन निरन्तर प्रवहमान रहता है। "मनुष्य ने अपने मानसिक संघटन के अनुरूप सौन्दर्य का विविध स्वरूपों में साक्षात्कार किया है—प्रथम प्रकृति, द्वितीय जीवन और तृतीय कोई लोकातीत सत्ता। प्रकृति की नानारूपिणी रमणीयताएं, जीवन की अर्थगर्भा मार्मिक छवियां एवं ब्रह्म की रसमयी आनन्दानुभूति, निर्गुण अथवा सगुण, किसी भी रूप में काव्य-पुरुष के विचरण तथा आस्वादन के ये तीन प्रधान क्षेत्र रहे हैं।"[1] रीति परम्परा के कवियों की सौन्दर्यानुभूति में सुन्दर का इतना विस्तृत, व्यापक संसार नहीं समा सका। वे तो वाणी का सार श्रृंगार को और श्रृंगार का सार किशोर किशोरी को स्वीकार करते थे।

> **प्रीति महागुन गीत बिचार,**
> **बिचार की बानी सुधारस बोरी।**
> **बानी को सार बखान्यो सिंगार,**
> **सिंगार को सार किसोर किसोरी ।।** —देव

---

१. प्रो० रमाशंकर तिवारी

अतः उनकी रचनाओं में दैहिक सौन्दर्य की हृदयावर्जक मूर्त्तियों के अतिरिक्त अन्य कोटि के सम्मोहक की खोज करना अधिक समीचीन नहीं होगा और न उन्हें इनके लिए किसी प्रकार दोषी ही ठहराना चाहिये, क्योंकि युग "तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग" के मोहक आदर्श का अनुगमन कर रहा था। अतएव रीतिकालीन कवियों की सौन्दर्यानुभूति यौवन मय शरीर का सौन्दर्य है", नवल "अलबेली छबीलियों का सौन्दर्य है", "मदन-दरद की अमर मूरि" मयंकमुखियों का सौन्दर्य है।

रमणीय सौन्दर्य से प्राप्त सौन्दर्यानुभूति की परम्परा हमारे साहित्य वाङ्मय में अत्यन्त पुरानी है। यथार्थ के रूप का आकर्षण हमारी प्रतिभा के लिए इतना सान्द्र एवं निविड रहा है कि हमने अखिलेश्वर ब्रह्म को भी कोटि-कोटि मनोज को लज्जित करने वाला सौन्दर्य प्रदान किया है। स्तोत्रकारों ने अपनी आराध्या की स्तुति में उसके नखशिख का नितान्त उल्लसित वर्णन किया है। वस्तुतः रूप का आकर्षण भारतीय प्रतिभा के निकट विशुद्ध एवं निष्कलुष राग का विषय रहा है। भरत ने समग्र शुचिता, मेध्यता एवं उज्ज्वलता को जो शृंगार की सीमा में समाहृत किया है[1], वह सौन्दर्य के प्रति इसी दृष्टिभंगी का विद्योतक है। कालिदास ने भगवान् शंकर के मुख से कहलवाया है कि रूप कभी पाप वृत्ति की ओर उन्मुख नहीं होता।[2] "वीर्य क्षोभ उत्पन्न की क्षमता यद्यपि नाना रूप में अंगीकृत की गई है, तथापि उसकी मौलिक कल्पना में पवित्रता का भाव भी स्वीकृत रहा है।"[3] परिस्थिति के बदलने के साथ उत्तरकालीन संस्कृत कवियों ने नारी-रूप का अत्यंत सूक्ष्म एवं मादक चित्रण किया। प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाओं में भी यह धारा प्रवाहित रही। विद्यापति ने अपने पदों में रति विलास से विह्वला कामिनियों की रूप-लक्ष्मी की तन्मयतापूर्वक आरती उतारी। नायक के आगमन पर नायिका ने जो विचित्र चेष्टायें की हैं उनकी सुन्दरता से प्रभावित होकर कवि को अनुभूति प्राप्त हुई। उसने उस सौन्दर्य को अपने तक ही सीमित न रखकर सर्वसाधारण को उसका रस पान करा दिया। नायक ने नायिका की ओर से मुख फेर लिया, दृष्टि को नीची रखा, कानों को भी बन्द कर लिया; यही नहीं उस नायिका ने नायक के सामीप्य सुख से आये स्वेद बिन्दुओं को भी पोंछ दिया।[4] इस प्रकार विद्यापति ने नायिका की सौन्दर्यवृद्धि में जो कलाकौशल दिखलाया है, वह सराहनीय है। भक्त कवियों द्वारा सरस्वती का प्रसाद पाकर रूप-चित्रण की यह विपुल परम्परा और भी अधिक समृद्ध हो गई और लौकिक प्रतीकों के ग्रहण होने पर भी, उसमें आलौकिक व्यंजनाएं प्रविष्ट हो गईं। इस प्रकार रीति-परम्परा के कवियों को, सौन्दर्य चित्रण का समृद्ध उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। धरती के मनुष्यों का प्रणय, एक विशिष्ट सामाजिक माध्यम से, चित्रित करने के कारण उन्होंने जो सौन्दर्य मूर्त्तियां अंकित की हैं, उनमें सूर के अलौकिक संकेत एवं तुलसी की मर्यादा का दर्शन भले ही न हो, रमणीयता उनमें इतनी अवश्य है कि सामान्य पाठक अथवा भावक अपने ही धरातल पर, अपने ही परिवेश में, रूप रस की चर्वणा कर सकता है।

इन कवियों ने नारी-सौन्दर्य के प्रति जो दृष्टि अपनाई है, वह हृदय को पिघला देने वाली है। रमणी रूप के घटक तत्त्वों के जिन धर्मों की प्रतिष्ठा भारतीय प्रतिभा ने चिर काल से कर रखी है उनका परिवर्तन न उन्हें अभीष्ट था, न शक्य। अतः इन कवियों ने नारी को वैसे ही स्वस्थ, मांसल रूप में सजाकर चित्रित किया है जो परम्परा की गरिमा से विभूषित है तथा साथ ही हमें अपने परिवेश में, अपने ही परिवारों में उपलब्ध होती है और हृदय का अपहरण करती है। इन कवियों ने जिन रूपसियों का चित्रण किया है, उनके भिन्न-भिन्न अंगावयव दृश्य जगत् में उन्हीं वस्तुओं के समानधर्मा

---

१. तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभाव प्रभव उज्ज्वल वेषात्मकः। यथा यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छं गोरणानमीयते।" नाट्यशास्त्र अध्याय ६

२. "यदुच्यते पपार्वति पापवृत्त्ये न रूममित्य व्यभिचारि तदवचः॥" कुमार संभव ५।३६

३. प्रो० रमाशंकर तिवारी

४. "अवनत आनन कए हम रहलए वारल लोचन चोर।
पिया मुख रुचि पिवय धाऔल जानि से चांद चकोर॥
ततड़ु सओ हठे हठि मोए आनल धाएल चरन राखि।
मधुक मातल उड़ए न पारए तइअओ पसारए पाँखि॥
माधव बोलल मधुरी बानी से सुनि मुदुमोए कान।
ताहि अवसर ठाम वाम भेल धारि धनुष पंच बान।
तनु पसेवे पसाहनि भासलि तइसन पुलक जागु।
चुनि चुनि भए कांचुअ फाटलि बहु बलया भांगु॥
—विद्यापति की पदावली

हैं जिससे प्रत्येक काव्यानुरागी पूर्णतः परिचित है। मुख के लिए सरोज अथवा चन्द्रमा, नेत्रों के लिए कमल, खंजन अथवा मृग या चकोर, ओठ के लिए बिम्बफल या विद्रुम ; दांतों के लिए हीरक, मोती अथवा दाड़िम के दाने; नाक के लिए शुक; अलकों के लिए तिमिर, मेघ, अथवा सर्पिणी; उरस्यों के लिए सरोज-संपुट, कंचन-कलस, शंभु अथवा गिरिवर, नाभि के लिए कूप अथवा सरोवर; जंघों के लिए कदली; कटि देश के लिए सिंह की कटि, चरणों के लिए कमल तथा तनद्युति के लिए कंचन केसर, चांदनी, दीप, चंपा, बिजली या भानु किरण ये ही चिर परिचित प्रतीक रीति परम्परा के रचयिताओं द्वारा नियोजित किए गए हैं। शरीर यष्टि के लिए स्वर्ण लता अथवा कनक छड़ी प्रायः प्रयुक्त हुए हैं। गति के लिए गयन्द तथा वाणी के लिए पिक, पीयूष, मिश्री, वीणा आदि उपमान के लिए लाये गए हैं।

अतः इन कवियों ने कामिनी के साथ-साथ कविता का भी शृंगार किया है। इसलिए इनके सौन्दर्य चित्रों में परम्परा प्रथित प्रतीक अत्यंत सुन्दर ढंग से सजाये गये हैं। एक ओर, अहि के भ्रम से मोर सुन्दरी की अलकों को पकड़ता है, उसकी वाणी सुनकर कोकिल शोर मचाता है, नाक से सुग्गा ईर्ष्या करता है, दांतों को मोतियों के भ्रम में मराल चुनने लगते हैं और मुखचंद्र के अमृतपान के हेतु चकोर चोंचे चलाते हैं, दूसरी ओर उस चंद्रमुखी के आनन को देखकर शशि कलंकित होता है, नेत्रों को देखकर मृगी वन में शरण लेती है, तनद्युति देखकर कुंदन दीप्तिहीन बन जाता है, इन सब की विपत्ति देखकर वह रूपसी दया से आर्द्र बन जाती है, तथा—

हौं पछिताति हहा सजनी,
रंचि मोहि कहा विधि पापिनी कीन्हीं।[1]

अपने रूप के प्रभाव पर ही अफसोस करने वाली यह सौन्दर्यशालिनी यथार्थ के प्रयोग में भले ही खरी न उतरे, सहृदयों के निकट तो वह नितान्त मूल्यवती है।

देव ने रूप की व्याख्या में उसकी सुखदाता, दर्शनीयता एवं जग को दास बना लेने की क्षमता का वर्णन किया है। इस सौन्दर्य में इतना निविड़ आकर्षण है कि अंग-प्रत्यंग में नयन बन्दी बन जाते हैं। घूंघट में जो दृष्टि उलझ गई थी, वह घूंघट खुलने पर भी सुलझ न सकी। अपितु अधरों, लोचनों पर, नासिका पर फिर गोरे कपोलों पर आकर उलझ गई है। यह विवक्षता कुछ दृष्टि की ही नहीं है, प्रत्युत् मन भी उससे अधिग्रस्त है। काले सटकारे केशों में वह कभी अटक जाता है, कभी धरनन के पानिप-नीर में उलझ जाता है, कभी अधरमधु के पान के लिए ललच उठता है और जब ठोड़ी के गड्ढे में पड़ जाता है, तब उसका वहां से निकलना ही दुस्साध्य हो जाता है; इतना ही नहीं उस रूप जल में मन की स्वतंत्र संज्ञा भी लवण की नांई विलीन हो गई है :—

प्यारी के रूप के पानिप में,
मन माइल मेरो बिलाइ गो लोन सो।
—गंग

वास्तव में कवियों का यह सम्पूर्ण वाग्विलास उनकी इस प्रतीति की व्यंजना के निमित्त नियोजित हुआ है कि सौंदर्य ज्ञात अथवा अज्ञात, सम्पूर्ण प्रतीकों के व्यंग्यार्थों को लांघ कर कुछ ऐसी अपूर्व विभूति है, जो नेत्रों के माध्यम से अन्तःकरण को अधिकृत एवं अभिभावित कर लेता है।

माघ ने रमणीयता की परिभाषा में जो क्षणे-क्षणे नव्यता ग्रहण की बात कही है,[2] उससे भी सौन्दर्य का वही धर्म सूचित है जो वर्ण एवं आकार की सीमाओं का उल्लंघन कर, अपनी सूक्ष्मता एवं अग्राह्यता से प्रेक्षक को चमत्कृत करता है। रीति-परम्परा के कवियों को सौन्दर्य के इस तत्त्व की स्पष्ट अनुभूति है। बिहारी की नव-यौवना का चतुर चितेरों द्वारा भी जो चित्र अंकित नहीं हो सका, उसका भी कारण यही क्षणे-क्षणे नवता प्राप्ति का रहस्य था। मतिराम ने कुंदन के रंग को मात करने वाली, अंगों की गुराई, नेत्रों में आलस्य, चितवन में विलास की मंजुल सरसता तथा बिना मोल खरीदने वाली मुसकान-मिठाई जैसे अभिधेय गुणों का कथन कर 'लावण्य' की ही इस प्रकार व्यंजना की है—

ज्यों ज्यों निहारिए नेरें ह्वै नैननि,
त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई सी॥

सौन्दर्यानुभूति का मूलभत प्राणतत्त्व 'लावण्य' ही रीति-परम्परा के कवियों द्वारा 'छवि' शब्द से अभिहित किया गया है। लगभग सभी कवियों ने रूप चित्रणों में 'छवि की झलमलाहट', छवि की मरीचियों, छवि की तरंगों इत्यादि का कथन किया है। ओप तथा आभा शब्दों से भी लगभग यही भाव ध्वनित होता है। उनका दूसरा प्रिय उल्लेख नायिका

---

१. तोष-सुधा निधि

२. क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः —माघ

के अंगों की 'जगरमगर ज्योति' है। ज्योति के 'जगरमगर' में जो व्यंजना सन्निहित है, उसे रूप-सौन्दर्य के साथ जोड़ देने पर तनद्युति की स्पन्दनशील, इन कवियों की सौन्दर्यानुभूति की प्रांजलता को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करती है। अंग-ज्योति के 'जगरमगर' की भावना का एक सुन्दर उदाहरण देखिये :—

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोति।
लसति रसोई कैं बगर, जगरमगर दुति होति।।

बिहारी

रूप-ज्योति की भावना कराने के लिए इन कवियों ने चांदनी का भी भरपूर प्रयोग किया है। ऐसे चित्र-शुक्लाभिसारिकाओं के संदर्भ में ही प्रायः अंकित हुए हैं। श्वेत साड़ी में सजधज कर नायिका प्रिय मिलन के लिये निकली और उसकी तनद्युति चतुर्दिक् विच्छुरित ज्योत्स्ना में ऐसी घुल मिल गई, जैसे दूध में दूध की धार मिल जाती है। जैसे क्षीरोदधि की सुता क्षीर सिंधु में एकमेक भाव से अपने को विलीन कर देती है। राधिका पून्यों का चांद देखने चौंतरे पर चढ़ी और चांदनी में ऐसे मिल गई, कि केवल कुछ बालों से, कुछ भौंहों से, कुछ नयनों की छवि से ही पहचानी जाती है। ऐसे चित्रों में कहीं कहीं चमत्कार-प्रियता के कारण, कवियों ने मीलित अलंकार का प्रयोग भी किया है। शरीर की स्वाभाविक सुगन्ध के कारण नायिका के पीछे भौंरों की भीड़ एकत्र करना भी उन्हें प्रिय रहा है। रूढ़ियों का उल्लेख आज के सहृदय को हास्यास्पद प्रतीत होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तीर पर खड़ी तरुणी के हासोत्फुल्ल वदन तथा जल में खिले सरोज के बीच भ्रमरों की भीड़ को भी दौड़ा दिया है—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं
नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा
मरन्दलुब्धा हि किशोर माला

यदि ऐसे चित्र इन कवियों ने अंकित किये होते तो हम इन 'अलिपुंजों' के लिए उनकी सराहना ही करते।

'सुकुमारता' अथवा 'मार्दव' सौन्दर्य का एक आवश्यक स्पृहणीय गुण है। वक्रोक्ति के धनी धनानन्द ने इसी प्रकार का उल्लेख किया है, 'यथा राधा अहर्निश कृष्णदर्शन की लालसा लगाये वन की ओर निर्निमेष देखा करती है और यदि कभी मन भावना दिखाई पड़ जाता है तो उस अवसर पर उसकी आंखों से आंसू बहने लगते हैं तथा इस प्रकार मोहन को सामने देखने की उनकी आंखों के मन में सदा आरति (लालसात्मक पीड़ा) लगी रहती है।' भावी संयोग से निराश हृदय कवि ने बड़े ही मार्मिक उपालम्भ दिये हैं, यथा—हंसकर मेरा मन-हरण किया फिर प्रीति दिखा कर अपने लिए चाह बढ़ा ली, अमृत घोलने वाली वाणी से कन्दर्प की सैन्य चढ़ाई कर दी यह सारी स्मृति कसकती है और निकाले नहीं निकलती।[1] तथा दशा बड़ी विचित्र सी हो गई, यथा—'राधा नवमालिका के नए कोमल कोमल प्रसूनों से निर्मित शय्या पर रात को सोई। इससे कुसुम की सेज रंचमात्र भी मलिन नहीं हुई, अपितु, उसके स्पर्श के अनुभव से राधा के शरीर में ही घाव पैदा हो गए।'[2] बिहारी की रूपसी भूषणों के भार से दबी जाती है, रसनिधि की नायिका की पलकें रूप-भार से बारंबार झुकी जाती हैं, देव की सुन्दरी भूषणों का भार न सह सकने के कारण उन्हें उतारती जाती है और पीछे से सहेलियां उन्हें बटोरती जाती है। द्विज देव की कोमलांगना 'जावक के भार से धीरे-धीरे पैर रखती है तथा गंध भार से अलकें उसके कुचों पर बिखर जाती हैं, बरौनियों के भार से दृगों पर पलकें आधी ढंप जाती हैं और कच भार से कमर लच जाती है।' तथापि कुछ चीजों में कोमलता की व्यंजना इस ढंग से हुई है कि भावक का हृदय चमत्कृत हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि चमत्कार एवं वक्रोक्ति के मोह में पड़े होने पर भी इन कवियों ने सहृदयता को अपनी मार्मिक पकड़ से बाहर नहीं जाने दिया है। वयः संधि अथवा यौवन की उठान के प्रति सभी सौन्दर्यलिप्सु कवियों ने रसभरी दृष्टि दौड़ाई है। रीति-परम्परा के भीतर जो श्रृंगार संवलित चित्र अंकित किए हैं उनमें वयः संधि वाले चित्रों का विशिष्ट स्थान है। आधुनिक मनोविज्ञान ने इस संक्रान्ति का बड़ा महत्त्व स्वीकार किया है। बाला के भीतरी परिवर्तनों को साहित्यशास्त्रियों ने भाव, हाव एवं हेला के अभिधानों से 'अंगज' अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित कराया है। रीति-कवियों ने ऐसे चित्रों में प्रायः शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के विकारों को साथ-साथ अंकित किया है। रात और दिन की मिलन-बेला, 'प्रभात की झांई' की कोमल आभा का प्रतीक सभी कवियों को, समान भाव से, वयः संधि की दैहिक 'ओप' के व्यंजनार्थ प्रिय रहा है। बिहारी ने अपनी रंगीनी मस्ती में 'ताफता रंग' की चकमक का भी कथन किया है। मानसिक विकारों के सूचनार्थ 'यौवन नृपति' या

---

१. डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी : सम्मेलन पत्रिका, शीर्षक—हिन्दी काव्य में सौन्दर्य भावना, पृष्ठ सं० १४

२. उज्ज्वलनील मणि

'मदनमहिपाल' को नियोजित किया गया है। सेनापति ने "कामभूप सोवत सो जागत है" में मानो सम्पूर्ण मानसिक विकारों को समाहृत कर दिया है।[1]

सौन्दर्य की मनस्परकता की अनुभूति भी इन कवियों को हुई है, यद्यपि ऐसे कथनों का परिमाण अधिक नहीं है। सहज रूप के आकर्षण से ये परिचित अवश्य हैं, "सहज सुरूप सुघराई रीझो मन मेरो, डोलत है तेरी अद्भत तरंग में" मतिराम का यह कथन सौन्दर्य की आत्मपूर्णता की स्पष्ट स्वीकृति है।

इस प्रकार रीतिकालीन कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इन्होंने सौन्दर्य को पारिवारिक, गार्हस्थिक जीवन की मर्यादाओं के बीच प्रतिष्ठित करने का श्लाघ्य प्रयास किया। हिन्दी काव्य के लिये यह उनकी सर्वोत्तम देन समझी जानी चाहिये। विद्यापति ने वैभवनिष्ठ सौन्दर्य के बाहर झांकने का विचार ही नहीं किया और सूर इत्यादि कृष्ण कवियों ने सौन्दर्य को अलौकिक व्यंजना से भरने का अपूर्व अनुष्ठान पूरा किया। तुलसी मर्यादा की रज्जु में इतने बंधे हुए थे कि वे सामान्य भावक की स्वाभाविक भूखों को परितृप्त कर ही नहीं सकते थे। रीति कवियों ने, वैभव के चाकचक्य से प्रभावित होते हुए भी, अपने मनोरम चित्रों से हमें अपने घरों के भीतर ही, अपने कौटुम्बिक परिवेशों में ही, सौन्दर्य को खोजने के लिए प्रवृत्त कर दिया है। वस्तुतः उनकी सम्पूर्ण दृष्टि ही मुख्यतया गार्हस्थिक रही है। "मरगचे चीर में इठलाने वाली, झीने पट में झिलमिल दिखलाई पड़ने वाली, नीले अथवा अरुण चीर के घूंघट में से अपनी छवि-किरणें प्रक्षिप्त करने वाली, रसोई कक्ष में जगरमगर द्युति से चमकने वाली, लाज में लिपटी चितवन वाली, नैहर में पति दर्शन की लालसा से सटपटाने वाली, विविध भांति की बिंदिया लगाने वाली रूपशाली रमणियां हमारी परिचित परिधियों की मनोज मूर्त्तियां हैं।" नाइन और महावरी के चित्रों द्वारा नायिका की एड़ी की लाली तो व्यंजित हुई है, लेकिन उससे भी बढ़कर, इनसे गृहस्थी की घिस-पिस में नया आकर्षण, नया आस्वाद पाने की लालसा से हम अनुप्राणित हो जाते हैं।

शृंगार की परम्परित परिपाटी का पालन करने के कारण इन कवियों ने रीति-काल के तथा रत्यंत के चित्र भी अंकित किए हैं। किन्तु, श्रीहर्ष इत्यादि संस्कृत कवियों की तुलना में इनकी सौन्दर्य-दृष्टि संयमपूर्ण ही समझी जायगी। परिवेश के अनुरूप, मलमल, मसाल फानूस इत्यादि प्रतीकों का नियोजन हुआ है। इस प्रकार उनकी सौन्दर्यानभूति नितांत प्रसन्न उत्फुल्ल एवं लोकसुलभ बन गई है।

---

१. प्रो० रमाशंकर तिवारी
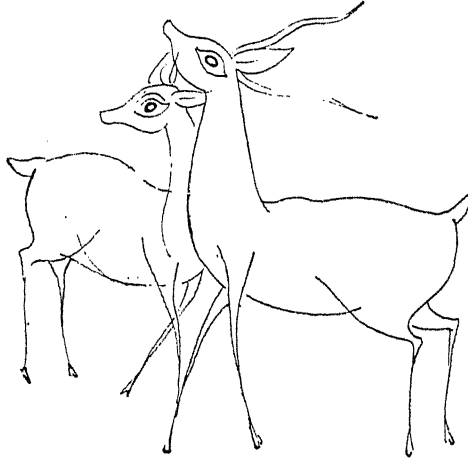
आलम की रचनाएं

श्री रामफेर त्रिपाठी, एम० ए०

'नागरी प्रचारिणी सभा' के 'खोज-विवरणों' से अब तक आलम की जिन कृतियों का पता चला है, उनके नाम इस प्रकार हैं:

(१) अकार के कवित्त (सन् १९०१, संख्या १८ ग), (२) आलम कवि की कविता (१९०९, सं० ३), (३) आलम के कवित्त (१९२३, सं० २९ बी, सी), (४) आलमकेलि (१९०३, सं० ३३), (५) कवित्तसंग्रह (१९४१, सं० १२), (६) कवित्त (१९०४, सं० १५ ख), (७) कवित्त चतुःशती (१९०१, सं० १८ क), (८) कवित्त शेखसाई (१९०४, सं० १५ घ), (९) छप्पय (१९२३, सं० ९ ए)) (१०) रसकवित्त (१९०४, सं० १५ ग), (११) संग्रह (१९२३, सं० ९ डी), (१२) स्यामसनेही (१९०४, सं० १५ छ और १९३२, सं० ६), (१३) सुदामाचरित्र (१९३५, सं० ४) और (१४) माधवानल-कामकंदला (१९०४, सं० ९) १९२३, सं० ८; १९२६, सं० ८; १९४१ सं० ४७५)।

उपर्युक्त 'खोज-विवरणों' का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संख्या १ से लेकर ११ तक की रचनाएं आलम की मुक्तक अथवा स्फुट कविताओं की संग्रह मात्र हैं। रचनाओं के उक्त नाम-वैभिन्न्य से यह भी सूचित होता है कि कवि द्वारा किसी एक सर्वमान्य नाम से इनका संग्रह न किया जाकर अन्य व्यक्तियों द्वारा ही यह संग्रह-कार्य संपन्न किया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि अलग-अलग समय में अलग-अलग काव्य-रसिकों द्वारा आलम की स्फुट कविताओं के जो संग्रह तैयार किये गये उनके किसी एक निश्चित और सर्वमान्य संग्रह-नाम के अभाव में, पृथक्-पृथक् नाम भी दिए गए हैं। किसी ने बारहखड़ी के अनुक्रम में कवि की कविताओं को रखकर उन्हें 'अकार के कवित्त' या 'अक्षरमालिका'[1] नाम दिया तो किसी ने किसी स्पष्ट नाम के अभाव में 'आलम कवि की कविता' अथवा 'आलम के कवित्त', 'कवित्त-संग्रह', 'कवित्त', 'कवित्त शेखसाई' (यहां केवल 'शेख' नाम 'आलम' की संज्ञा का सूचक है, जिससे यह भ्रांति दूर हो जाती है कि शेख और आलम दो भिन्न व्यक्ति थे), 'रसकवित्त' और 'संग्रह' की संज्ञाओं से उन्हें अभिहित किया। इसी प्रकार किसी विशिष्ट नाम के अभाव के कारण 'कांकरौली' के पुस्तकाध्यक्ष ने आलम के ४०० छन्दों के हस्तलिखित संग्रह को 'कवित्त चतुःशती' जैसा काल्पनिक नाम दिया और विद्वानों का तो यहां तक कहना है कि 'आलमकेलि' नाम भी प्रतिलिपिकार की भ्रांति से ही चल पड़ा है।[2] 'छप्पय' नाम की कोई पृथक् रचना न होते हुए भी ७ पृष्ठों में कवि के केवल श्रृंगार और नीति के 'छप्पय' छंद संग्रहीत होने के नाते उसे यह नाम दे दिया गया है।

जो भी हो, इतना निश्चित है कि ये विविध नाम आलम की स्फुट कविताओं के एक ही संग्रह के नाना नाम हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'आलमकेलि' भी कवि-द्वारा प्रदत्त मौलिक नाम नहीं जान पड़ता, क्योंकि प्रायः सर्वत्र इसका नाम 'आलम के कवित्त' के रूप में प्राप्त होता है। प्रायः पूर्वोक्त सभी संग्रहों में आलम और शेख दोनों के नाम-छापों की रचनाएं पायी जाती हैं। 'आलमकेलि' नाम से प्रकाशित संग्रह में कुल ३९७ छंद पाये जाते हैं जब कि इसके अंतर्गत संग्रहीत कुल छंद ४०० कहे जाते हैं। कांकरौलीवाले संग्रह को इसीलिए 'चतुःशती' कहा गया, क्योंकि उसमें ४०० छंद हैं। एक अन्य प्रति के अन्त में छंद-संख्या ४०२ दी गयी है, परन्तु उसमें दो छन्दों की पुनरावृत्ति की गयी है, जो समानरूप से इस प्रकार की अन्य प्रतियों में भी पायी जाती है। इस प्रकार 'आलमकेलि' के अंतर्गत ही हम उक्त विभिन्न नाम वाली कृतियों का समाहार मान कर इसका परिचय देंगे।

. ब्रजभारती, १, ८ पृ०, २०

२. श्री मायाशंकर याज्ञिक के अनुसार 'आलम के कवित्त लिख्यते' में से किसी प्रतिलिपिकार से 'कवित्त' शब्द छूट गया और 'लिख्यते' का 'लि' 'के' के साथ आ जुड़ा। इस प्रकार नाम बना 'आलमकेलि'।

इस प्रकार आलम की निम्नोक्त कुल चार रचनाएं निश्चित होती हैं, जिनमें से तीन प्रबन्ध और एक मुक्तक काव्य की कोटि में आती हैं—

(१) 'माधवानल-कामकंदला'

(२) 'सुदामाचरित्र' •

(३) 'स्यामसनेही'

(४) 'आलमकेलि'

(१) **'माधवानल-कामकंदला'**—'खोज' में अब तक इसकी १२ हस्तलिखित प्रतियां देखी गयीं हैं ।[१] इसकी प्रतियां दो प्रकार की हैं—एक छोटी और दूसरी बड़ी । दोनों प्रकार की प्रतियों में कौन मौलिक है, अभी इसका निश्चय नहीं हो सका है । वर्णन की दृष्टि से भी दोनों में थोड़ा अन्तर पाया ही जाता है । आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'सन् नौ सै इक्या (व) नबै' का अर्थ ९९१ हिजरी लेकर जहां इसका रचना-काल सं० १६४० मानते हैं[२] वहां श्री भवानीशंकर याज्ञिक इसकी पांच प्रतियों से प्राप्त पाठ 'सन् नौ सै इक्यावन जबहीं' के आधार पर ग्रंथारंभ का समय ९५१ हिजरी (संवत् १६०१) और उसका समाप्ति-काल सं० १६३९ से १६४६ के मध्य स्वीकार करते हैं ।[३] अभी हाल में ही प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' में उसका रचना-काल ९५१ हिजरी (संवत् १६०२-३) स्वीकार किया गया है । 'माधवानल-कामकंदला' की अनेक प्रतियों में 'नव सै इक्यावन' पाठ होने के कारण इसका रचना-काल यही ठीक जान पड़ता है । इसकी सबसे प्राचीन प्रतिलिपि' कांकरौली' से प्राप्त हुई है, जिसका लिपि-काल सं० १७१२ है ।

आलम की इस प्रबन्ध-रचना की कहानी, सन् १९०४ की 'खोज' में महाराज बनारस के राजपुस्तकालय से प्राप्त प्रति के आधार पर, इस तरह है । जिस समय पुहुपावती नगरी में गोपीचन्द संज्ञक राजा राज कर रहा था, उस समय उसके दरबार में अनेक शास्त्रपारंगत और अत्यंत रूपवान् माधव नामक एक ब्राह्मण भी रहता था । वह वीणा-वादन में अति निपुण और गान-विद्या में अत्यंत कुशल था । देवपूजा में राजा की सहायता करना ही उसका नित्य-कर्म था । इसकी वीणा को सुन नगर की स्त्रियां मुग्ध हो जाती थीं । एक दिन तो ऐसा हुआ कि एक स्त्री जो अपने पति को भोजन कराने जा रही थी, माधव की वीणा की स्वर-लहरी को सुन इतनी विमुग्ध हो गयी कि भोजन थाली में परोसने के बजाय भूमि पर गिरा दिया । इससे अप्रसन्न हो पति ने कहा, 'आंख होते ही दिन के समय यह क्या करती है ? तुझे हो क्या गया है ?' उसने स्पष्ट बता दिया कि यह माधव की वीणा की करतूत है । अत्यन्त रुष्ट हो उस (पति) ने नगर के अन्य लोगों को एकत्र किया और राजा से सामूहिक रूप में शिकायत की कि, 'माधव के नाते हमारी यह दशा हो रही है या तो उसे नगर से निकाल दिया जाय वर्ना हम लोग ही इस नगर को छोड़ देंगे ।' माधव नगर से निर्वासित कर दिया गया ।

दस दिन बाद अपनी वीणा को साथ लिए माधव कामवती नाम्नी नगरी में पहुंचा, जहां कामकंदला नाम की अत्यंत लावण्यमयी एवं गुणमयी वेश्या रहती थी । एक दिन जब वह श्रृंगार कर राजदरबार के लिए चली तो अन्य लोगों के साथ उसका नृत्य-गान सुनने माधव भी वहां पहुंचा । अन्य लोग तो निर्विघ्न राजप्रासाद में प्रविष्ट हो गए किन्तु माधव अजनवी होने के कारण द्वारपाल द्वारा रोक दिया गया । विवश माधव राजपौरि पर ही बैठ रहा । अन्दर राजसभा जमी । नृत्य-गान प्रारंभ होगया । बाहर से ही अन्दर से आती हुई साज-ध्वनि को सुनता हुआ माधव द्वारपाल से बोला—'जाकर राजा से कह दो कि द्वारा पर बैठा एक ब्राह्मण कह रहा है कि सभा के सभी लोग अनाड़ी हैं, क्योंकि बज रहे १२ मृदंगों में से एक मृदंगची अंगूठा रहित है और वैश्या के पैरों में भी घुंघरुओं के पूरे दाने नहीं हैं जिसके कारण उत्पन्न ताल-भंग की स्थिति को वे लक्ष्य नहीं कर पा रहे हैं ।' द्वारपाल ने इसकी सूचना राजा को दी । देखा गया तो वास्तव में एक मृदंगची मोम का कृत्रिम अंगूठा लगाये था । राजा ने माधव को परम गुणज्ञ जान अन्दर बुलवाया और पुरस्कारार्थ उसे अनेक बहुमूल्य वस्त्राभूषण और बहुत सारा द्रव्य भी प्रदान किया । कामकंदला माधव को इतना बड़ा संगीतज्ञ जान उसे अपना संगीत कौशल दिखाना चाहती थी । जब वह इसलिए नाच रही थी तब एक भौंरा उसके चंदन-चर्चित वक्षःस्थल पर आ बैठा । संगीत-भंग के डर से उसने उसे हाथ से न भगाकर अपनी श्वासों को केन्द्रीभूत कर उड़ा दिया, जिसे माधव को छोड़ अन्य कोई नहीं देख सका । वह इससे इतना प्रभावित हुआ कि राजा से उसे जो कुछ भी उपहार-रूप में मिला था उसे उसने वहीं कामकंदला को समर्पित कर दिया । इससे रुष्ट हो राजा ने उसे उसी दिन नगर से निकल जाने की आज्ञा दी । फिर माधव कुछेक दिन

---

१. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, द्वितीय खण्ड, पृ० १५८–५९ ।

२. हिन्दी-साहित्य का अतीत, भा० २, पृ० ६१२, प्र० सं० ।

३. आलम और रसखान (लेख) 'पोद्दार-अभिनंदन-ग्रंथ', पृ० २९१–३०२ ।

लुक-छुपकर कामकंदला के घर रहा। दोनों में गाढ़ा प्रेम हो गया। तत्पश्चात् वह उज्जैन पहुंचा जहां का राजा विक्रमादित्य था। माधव और कामकंदला दोनों एक-दूसरे के विरह में संतप्त हो रहे थे।

एक दिन उसी नगरी में स्थित उस शिव मंदिर की दीवाल पर उसने यह दोहा लिखा, जहां राजा नित्य देवार्चनार्थ आया ही करता था—

कहा करौं कित जाउं हौं राजा राम न आहिं।
सियबियोग संताप बस राघौ जानत ताहि ।।

राजा इसे ध्यान से पढ़ कर उसके लेखक (माधव) की खोज कराने लगा। ज्ञानवती नामक एक दासी की सहायता से माधव राजा के समक्ष लाया गया। राजा ने ब्राह्मण का बड़ा सत्कार किया, उसकी पूरी स्थिति से अवगत हुआ। राजा ने माधव को समझाते हुए कहा कि वेश्या की प्रीति धन तक सीमित होती है, इसलिए उसके विषय में चिन्ता करना छोड़ दो। परन्तु किसी भी प्रकार से जब उसने नहीं माना तब उसे साथ ले विक्रमादित्य कामसेन पर चढ़ाई करने के लिए चल पड़ा। कामवती नगरी के समीप डेरा डाला गया। गुप्त रीति से राजा कुछ सवारों को साथ ले कामकंदला के घर पहुंचा। उसकी माधवविषयक प्रीति-परीक्षा के हेतु राजा कह बैठा कि 'माधव वियोग में मर गया'। यह सुनते ही उसने प्राण-त्याग दिया। डेरे पर वापस आकर जब राजा ने माधव से उसका मरना बताया तब उसने भी तुरन्त प्राण छोड़ दिया। राजा स्वयं को दो हत्याओं का निमित्त कारण जान अत्यंत व्यथित हो जीते जी चिता में बैठ जल जाने को उद्यत हुआ। ऐसी स्थिति में जब राजा के मित्र बैताल ने पाताल से अमृत लाकर माधव व कामकंदला को पुनरुज्जीवित किया तब राजा ने चिता का परित्याग किया। तत्पश्चात् राजा ने कामसेन के पास इस आशय का दूत भेजा कि कामकंदला को यों ही दोगे अथवा युद्ध कर उसे लाना होगा। उसने बिना युद्ध के उसे देने से इन्कार किया। कामसेन पराजित हुआ। कामकंदला विक्रम को मिल गयी। फिर माधव और कामकंदला को साथ ले विक्रम अपनी राजधानी आया। राजा ने माधव को अपना मंत्री बनाकर उसे एक बहुत बड़ा इलाका भी प्रदान किया। इस प्रकार माधव और कामकंदला दोनों सुखपूर्वक रहने लगे।

इसके अतिरिक्त 'माधवानल-कामकंदला' की जो बड़ी प्रति प्राप्त हुई है[1] उसमें मूल कथा के साथ कतिपय अन्य प्रसंग भी जुड़े पाये गये हैं। उदाहरण के लिए आरंभ में ही मंगलाचरण के पश्चात् इंद्र-सभा का वर्णन, शापवश जयंती नामक अप्सरा का जंगल में शिला के रूप में पड़ा होना, माधव द्वारा उसका उद्धार होना, उस अप्सरा का उस पर मोहित होना और बाद में जयंती का पुहपावती (पुष्पावती) नगरी में कामकंदला के रूप में अवतरित होना आदि बातें देखी जा सकती हैं। इसी प्रकार एकाध अन्य प्रतियों में भी कुछ अन्तर पाए जाते हैं।[2]

प्रबंधात्मक प्रेम-कथा की दृष्टि से आलम की यह रचना उनके कृतित्व में सर्वाधिक महत्त्व की अधिकारिणी है। हिंदी में प्रेम-कथा की परंपरा बहुत पहले से चली आ रही थी। प्रेम-कथा की इस पूर्व परंपरा को तीन रूपों में रखकर देखा जा सकता है। प्रथम, वे पुरानी प्रेम-गाथाएं जो 'ढोला मारूरा दोहा' के रूप में सामने आती हैं, दूसरी, वे प्रेम-कहानियां जिनके रचयिता अधिकांशतः सूफी मुसलमान होते थे और जिनका उद्देश्य ऐसी कहानियों के माध्यम से धर्म-प्रचार करना व उपदेश आदि देना होता था तथा तीसरी कोटि में ऐसी प्रेम-कहानियों की गणना की जा सकती है जिनके स्वरूप में बहुत कुछ 'उषा-अनिरुद्ध' एवं 'नल-दमयंती' जैसी प्राचीन कथाओं का समावेश होता था। वस्तुतः, वर्णन-शली और चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से इनमें से प्रथम और तीसरे प्रकार की प्रेम-कथाओं में भारतीय रीति-नातियों की ही प्रमुखता होती है, जब कि दूसरे प्रकार के प्रेमाख्यानों में भारतीय और अभारतीय दोनों ही तत्त्वों का मेल होता है और साथ ही कथा-योजना में मसनवी पद्धति के समावेश के प्रति पूर्ण आग्रह भी दिखायी पड़ता है। इनमें से किसी एक परंपरा का तद्वत् अनुसरण आलम ने अपनी उक्त रचना में नहीं किया है। उसके वस्तु-संगठन का रूप बहुत कुछ पौराणिक ढंग का और उसका विकास लोकगीतोंवाली पद्धति पर किया गया जान पड़ता है। उक्त कहानी का अवसान सुदृढ़ प्रेम-विजय और भारतीय संस्कृति के संरक्षक महाराज विक्रमादित्य की परहितनिरतता में दिखाया गया है। ग्रंथारंभ में अपने समसामयिक सम्राट् अकबर का उल्लेख, रचना-काल निर्देश तथा रचना को संस्कृति की कथा पर आधारित बताना[3] आदि बातों को देखते हुए यह भी मानना पड़ता है कि उन्होंने इसके प्रणयन में सूफियों की प्रेमाख्यान शैली के आदर्शों पर भी दृष्टि रखी है। माधव

---

१. खोज-विवरण, सन् १९२३, विवरण-संख्या २९।

२. श्री बालकृष्णदास के पास 'माधवानल-कामकंदला' की सुरक्षित प्रति में माधव के पिता शंकरदास का प्रसंग और दिया गया है।

३. 'कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी। भाषा बांधि चौपही जोरी।'–'माधवानल-कामकंदला' 'हिन्दी के कवि और काव्य' भा० ३ के पृ० १५ से उद्धृत।

और कामकंदला के इस प्रसिद्ध आख्यान को लेकर आलम से पूर्व गणपतिकृत 'माधवानल-कामकंदला' (रच० का०, सं० १५८४) और कुशल लाभकृत 'माधवानल-कामकंदला चउपई' (रच० का०, सं० १६१३) की रचना न्यूनाधिक अन्तर के साथ की जा चुकी थी।[१] और आलम के बाद इस प्रकार की रचनाओं में बोधा के 'बिरहबारीश या माधवानल-कामकंदला' (र० का०, सं० १८०९-१५ के बीच),[२] राजकवि केस के 'माधवानल नाटक' (र० का०, सं० १७१७),[३] भीष्मकृत 'माधवविलास' (अन्य नाम 'माधवानल कामकंदला' रच०का०, सं० १८१०)[४], और हरिनारायण के 'माधवानल की कथा' (रच०का०,सं० १८१२)[५], की गणना की जा सकती है।

कवित्व की दृष्टि से इसमें शृंगार रस का प्राधान्य है। इसकी भाषा परिष्कृत अवधी है। प्रबंध-कौशल भी सराहनीय है। कुछ विद्वान् इसे आलम की प्रथम कृति होने का संकेत देते हैं (आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : हिन्दी-साहित्य का अतीत, भा० २ पृ० ६१५)।

(२) **सुदामाचरित्र**—'खोज' में इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुई हैं, जिनमें से एक गढ़ी परसोती (मथुरा) के निवासी पं० रेवतीप्रसाद के यहां से उपलब्ध प्रति का लिपि-काल सं० १८७६ है।[६] सरस्वती भंडार, विद्या-विभाग, कांकरौली से प्राप्त दूसरी प्रति में लिपिकाल नहीं दिया गया है।[७] श्री भवानीशंकर याज्ञिक के देखने में इसकी कई प्रतियां आई हैं। किसी में ५२ छंद हैं, किसी में ५१ और किसी में ६०। याज्ञिकजी ने इसे अकबरकालीन आलम की रचना न मानते हुए लिखा है—"हमारे देखने में कोई भी ऐसी प्राचीन प्रति नहीं आई, जिससे रचयिता का समय अकबरकालीन आलम के समय तक पहुंचाया जा सके।......भाषा, छंद, भाव सभी दृष्टियों से इस ग्रंथ का अध्ययन करने पर इसे अकबरकालीन आलम-रचित मानने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता।"[८] परन्तु याज्ञिकजी में अपनी इस मान्यता के प्रति निश्चयात्मकता का अभाव है, क्योंकि इसी लेख में उन्होंने लिखा है कि "इस ग्रंथ को हम अकबरकालीन आलम रचित मानने या न मानने के संबंध कोई निश्चित मत नहीं दे सकते।"[९] मान्यता की इस द्विविध स्थिति और किसी ठोस प्रमाण के अभाव में उनका मत किसी भी प्रकार से स्वीकार्य नहीं हो सकता। जहां तक इसके छंद, भाव और भाषा आदि के अन्तर की बात है वहां तक इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि थोड़ा ध्यान देने पर ऐसे अनेक कवि निकल आयेंगे जिनकी रचनाओं के मध्य आलम जैसा वैभिन्न्य और वैविध्य मिल जायेगा। रह गया ऐसी प्रतियों के उपलब्ध होने का प्रश्न, जो कवि की स्थिति-काल की सूचक हों, इसे भी किसी बहुत उचित कारण के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि हमारी खोज तो अभी जारी ही है। इसके विपरीत आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र[१०] और आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इसे कविकृत होने का पूर्ण समर्थन किया है।[११]

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें श्रीकृष्ण और सुदामा की उसी कथा का वर्णन है जिसे आलम से पूर्व नरोत्तमदास अपने 'सुदामा चरित' (सं० १६०२) में वर्णित कर चुके थे। संभव है आलम के समक्ष नरोत्तमदास की यह पुस्तक रही हो। यद्यपि वस्तु की दृष्टि से दोनों रचनाएं प्रायः समान हैं तथापि रचना-शैली दोनों की पृथक् है। जहां नरोत्तमदास ने कृष्ण-जीवन के इस प्रेमभावपूर्ण खंड वृत्त को लेकर अपनी रचना ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों में की है वहां आलम ने इसे 'रेखताबंद' में बांधकर पूर्वी प्रयोग से संयुक्त ब्रजी और अवधी के मिश्रण के रूप में प्रस्तुत किया है। इनके इस भाषा-प्रयोग के आधार पर यह भी संभावना व्यक्त की गयी है कि ये पहले पूर्वी (जौनपुर) प्रदेश के रहने वाले थे और बाद में पश्चिम की ओर गये होंगे।[१२] अपनी सुन्दर संवाद-योजना और सरस भाव-चित्रण के कारण नरोत्तमदास की रचना की जितनी प्रसिद्धि

१. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव : भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, पृ० २५२, ४४६ सन् १९५५ (हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी)।
२. वही, पृ० २२८।
३. वही, पृ० २७७।
४. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, द्वि० खं०, पृ० १५८ (ना० प्र० स०, वाराणसी, सं० २०२१)।
५. वही, पृ० १५९।
६. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त, विवरण, द्वितीय खंड, सन् १९३५, खो० संवत् ४।
७. वही, सन् १९०१, खो०-सं०, १८ घ।
८. 'आलम और रसखान', लेख, पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ, पृ० ३००।
९. वही, पृ० २९९।
१०. हिंदी-साहित्य का अतीत, भा० २, पृ० ६२७-२८।
११. 'मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियां तथा नव-निबंध' पृ० ५४-५५, सन् १९५५।
१२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिंदी-साहित्य का अतीत, पृ० ६२८।

हुई उतनी आलम की रचना की नहीं। 'स्यामसनेही' की भाँति आलम ने इसमें भी अपनी प्रेमलक्षणा-भक्ति को ही अभिव्यक्त किया है। मुसलमान हो जाने पर भी आलम का हृदय कृष्ण-भक्ति में निमग्न रहा, यह इस रचना से भी भलीभाँति व्यक्त हो जाता है। इस खण्डकाव्य में कवि ने न्यूनाधिक मात्रा में उर्दू-शब्दों का प्रयोग भी किया है।

(३) **'स्यामसनेही'**—यह भी एक वर्णनप्रधान खण्डकाव्य है, जिसमें रुक्मिणी-विवाह को वर्णित किया गया है। इसकी कथा यद्यपि बहुत छोटी हैतथापि वर्णनों का विस्तार कर उसका विकास किया गया है। 'खोज' (१९०४-१५६) में इसकी एक प्रति श्री भवानीशंकर याज्ञिक, लखनऊ, के यहां से उपलब्ध हुई है, जिसका लिपिकाल सं० १७७५ है और दूसरी एक खण्डित प्रति (१९३२-६) पं० स्रियाराम शर्मा (मैनपुरी) से प्राप्त हुई है, जिससे लिपिकाल का पता नहीं चलता।

आलम ने फलश्रुति के रूप में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि इसके विषय प्रेम और भक्ति दोनों ही हैं—

प्रेमरु भक्ति ताहि रुन भावै। करै कंठ जग सोभा पावै॥

इस अस्थिर संसार में मन को प्रेम-भक्ति से ओतप्रोत करने के लिए ही 'स्यामसनेही' की रचना की गयी थी—

आलम जीवहु जो पलक इहि चंचल संसारू।
दै अहार पोषहु मनहि प्रेमभक्ति आधारु॥

इसकी भाषा मिश्रित व्रजभाषा है। 'माधवानल-कामकंदला' की भाँति ही इसमें भी सोरठा, दोहा और चौपाई आदि छंदों का प्रयोग किया गया है।

(४) **'आलमकेलि'**—इसका परिचय पहले दिया जा चुका है। यहां इसके वर्ण्य-विषय मात्र की चर्चा की जा रही है। 'आलमकेलि' में कवि की स्फुट रचनाएं जिन शीर्षकों के अंतर्गत रखी गयी हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—"श्रीकृष्ण की बाल-लीला, नवोढ़ा, प्रौढ़ा, अभिसार, मानिनी, संकेतस्थल, नायक की दूती, विरहवर्णन, सखी की उक्ति सखी के प्रति, खंडिता, प्रेमकथन, वंशी, प्रवत्स्यत्पतिका, भंवरगीत, उद्धव का लौटना, यशोदाविरह, गोपीविरह, पवनवर्णन, यमुनाकुंज, गंगावर्णन, दीनता, शिव के कवित्त, देवी के कवित्त, रामलीला, रेखता, सवैया, विपरीति, यशोदा की उक्ति, नवयौवना, मानवर्णन, चंद्रकलंक, कुचछवि, युगलमूर्ति, अभिसार, आगतपतिका और शांतरस।[1] ये शीर्षक स्पष्टरूप में रचनाओं की रीतिबद्धता के सूचक लगते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है कि विषय का यह विभाजन स्वयं कवि ने किया है अथवा किसी और ने ? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "संग्रह दूसरों के द्वारा ही हुआ है, क्योंकि आलम की रचना पर चाहे जिस प्रकार से विचार किया जाय ये स्वच्छंद वृत्ति के प्रेमी कवि ही प्रतीत होते हैं। इनकी रचना में रीतिबद्ध कृतियाँ अवश्य हैं, पर सारी रचनाएं रीति के सांचे में ढली नहीं हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में किसी रीतिप्रेमी व्यक्ति ने, चाहे वह इनका अनुगामी ही रहा हो इन्हें विभाजित किया। श्रृंगार की कविता का विभाजन करने के लिए नायक-न्यायिका के अवांतर भेद विशेष अनुकूल और सुखसाध्य थे। इसी से इनकी रचना इस प्रकार विभाजित की गई।"[2]

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी-साहित्य का अतीत भा० २, पृ० ६२८।
२. वही, पृ० ६२८-२९।

पुरानी खड़ी बोली का एक नवप्राप्त सूफ़ी काव्य "कुतुबशतक"

डा० माता प्रसाद गुप्त, एम०ए०, डी० लिट्०

आज जो परिनिष्ठित हिन्दी व्यवहार में आ रही है, उसके संबंध में यह धारणा ठीक ही है कि वह मेरठ-दिल्ली की औक्तिक भाषा (बोली) पर आधृत है, किन्तु एक सामान्य धारणा उसके संबंध में यह भी है कि यह एक अपरिष्कृत भाषा रही है, कदाचित् इसीलिये यह 'खड़ी' कहलाती रही है, इसका पुराना साहित्य बिल्कुल नहीं रहा है और इसका साहित्यिक इतिहास १८०० ई० के पूर्व का नहीं है। किन्तु खड़ी बोली की एक प्राचीन कृति 'कुतुबशतक' की प्राप्ति के अनन्तर ये सारी धारणाएं भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुई हैं। इस रचना में पद्य और गद्य के एक सौ से अधिक अनुच्छेद हैं और इसमें जहां गद्य-भाग में भाषा का औक्तिक रूप मिलता है, पद्य-भाग में भाषा का मंजा हुआ साहित्यिक रूप भी मिलता है। सब कुछ मिला कर यह एक सरस साहित्यिक कृति है और इसका समय, यद्यपि रचना-तिथि इसमें नहीं दी हुई है, दिल्ली का पठान-साम्राज्य युग है। इसमें फीरोज़शाह नामक दिल्ली के एक सुल्तान के शहज़ादे की प्रेम कथा है जो वार्ताबन्ध काव्यरूप में है, अर्थात् जो ऐसे गद्य में कही गई है जिसके बीच-बीच में पद्यों का प्रयोग हुआ है और प्रचुरता के साथ हुआ है। अभी तक प्राचीन खड़ी बोली का हमारा ज्ञान अमीर खुसरो की संदिग्ध रचनाओं, सूफी फकीरों के कुछ चुटकुलों तथा दक्खिनी के प्राचीन साहित्य पर ही आधृत था, प्राचीन खड़ी बोली की उत्तरी भारत की कोई ऐसी रचना नहीं प्राप्त थी जिसके पाठ को भाषा-विश्लेषण के लिये दृढ़ आधार बनाया जा सकता और जो परिमाण में भी ऐसी होती कि भाषा का पूरा-पूरा रूप हमारे सामने रख सकती। यह कृति इस अभाव की पूर्ति अधिकारपूर्वक करती है। प्रस्तुत लेखक ने इसका एक आलोचनात्मक पाठ संपादित किया है जो प्रकाशनीय है।[1] उसके आधार पर इसकी भाषा का विश्लेषण अन्यत्र किया जाएगा। यहां पर रचना का एक आलोचनात्मक परिचय मात्र दिया जा रहा है।

प्रतियां

इस रचना की सर्वाधिक प्राचीन प्रतियां तीन हैं, जो निम्नलिखित हैं:

१—अ—अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर की प्रति, जिसकी पुष्पिका निम्नलिखित है:—

"इति कुतुबशतकं समाप्तं। संवत् १६३३ वर्ष। आषाड़ मासे कृष्ण पक्षे सप्तम्यां तिथौ सोमवासरे घटिका ४८ पल० ४ उत्तर भाद्रपद नामयौमध नक्षत्रे घटी ६०पल० सौभाग्य नाम्नि योगे घटी ३ पल ३ राज्य श्री संग्राम तत्पुत्र राज्य श्री सांवलदास पठनाय कुतुबदी शतकंलि लिखे। वा० श्री कनक प्रभस्यान्तेवासिनामु० सकतारचेन। वाचकस्थरनंद तातू प्रतीहार पुरत्थ वाचकस्य श्रेयांसिभूयांसि भूयासू।"

रचना की प्राप्त प्रतियों में सबसे अधिक प्राचीन यही है और पाठ की दृष्टि से भी यह सबसे अधिक प्रामाणिक है। उल्लिखित सम्पादन इसकी एक सावधानी से की हुई प्रतिलिपि के आधार पर किया गया है जिसे राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डा० हीरालाल माहेश्वरी ने किया था। इस प्रतिलिपि के लिये मैं उनका आभारी हूं।

२-ध—प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर की प्रति जो उसके सम्मान्य निदेशक श्री मुनि जिनविजय जी के सौजन्य से प्राप्त हुई थी, और जिसकी पुष्पिका निम्नलिखित है:—

"इति श्री कुतुबशतं समाप्तं। श्री संवत् १६७० वर्ष वैशाख मासे कृष्ण पक्षे शनिवारे। श्री मन्नागपुरीय तपागच्छ स्वच्छातुच्छ सुगच्छ समुल्लासन सजल जनधाराणां श्री अमरकीर्ति सूरीश्वराणां शिष्य धर्मकीर्तिनालेखितं श्री चेला सांकरसी श्री नागपुर मध्ये।"

---

१. देखिये 'भारतीय साहित्य' का प्रकाशनीय अङ्क।

यह रचना की दूसरी प्राचीनतम प्रति है जिसका उपयोग उल्लिखित संपादन में किया गया है। इस प्रति के उपयोग के लिये मैं श्री मुनिजी का आभारी हूं।

३—का—मुनि श्री कान्तिसागर, उदयपुर की प्रति जिसकी पुष्पिका निम्नलिखित है :—

"इति श्री कुतुबदी साहिवां बात संपूर्णम्। शुभं भवतु। रामाय नमः। श्री कृष्णाय नमः। कल्याणमस्तु।"

यह रचना की एक तीसरी प्राचीनतम प्रति है जो मुनि कांति सागर जी के संग्रह में है और जिसका उपयोग उल्लिखित संपादन में किया गया है। इस प्रति के उपयोग के लिये मैं मुनि कान्तिसागर जी का आभारी हूं। इसमें लेखन-काल नहीं दिया हुआ है, किन्तु यह उपर्युक्त दूसरी प्रति के आस-पास की ही लिखित प्रतीत होती है।

रचना की कुछ और भी प्रतियां हैं जो अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी हैं। वे उपर्युक्त से बाद की हैं और पाठ की दृष्टि से भी कदाचित् इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितनी उपर्युक्त हैं। प्रस्तुत लेखक ने संप्रति उपर्युक्त तीन के आधार पर ही रचना उल्लिखित साधारणतया किया है। यदि ये प्राप्त हो सकीं तो अगले संस्करण में इनका उपयोग किया जा सकेगा।

रचना का एक वार्तिक तिलक (टीका) भी प्राप्त है जिसका पाठ परिशिष्ट के रूप में दिया जाएगा। इसकी एकमात्र प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में है और संवत् १७२२ के लिखे हुए एक गुटके में हैं। इसकी प्रतिलिपि उपर्युक्त डा० हीरा लाल माहेश्वरी से प्राप्त हुई थी, जिसके लिये मैं पुनः उनका आभारी हूं।

पाठ-संपादन

रचना की उपर्युक्त तीन प्रतियों में से अ० स्वतंत्र पाठ-परम्परा की है, क्योंकि उसकी एक भी विकृति अन्य दो में नहीं मिलती है। घ० तथा का० कहीं न कहीं से संकीर्ण सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं और एक पाठ-परम्परा की प्रतियां हैं, यह उनकी निम्नलिखित विकृतियों से प्रमाणित है :

१. रचना के प्रारम्भ में दोनों में एक गद्य वार्तिक है। घ० में यह अपेक्षाकृत छोटा, और का० में बड़ा है। यह अ० में नहीं है और निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। घ० वाले विवरण ही का० में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और अधिक अतिरंजित रूप में दिये गये हैं :

उदाहरणार्थ (१) घ० का 'एक लाख टका' का० में 'दो लाख टका' हो गया है।

(२) संपादित पाठ के १०३-२, तथा १०४-१ दोनों में पूर्ववर्ती चरण से अन्त साम्य के कारण छुटे हुए हैं।

कुछ और छोटे-मोटे विकृति-साम्य के स्थल पाद टिप्पणियों में दिये गए पाठान्तरों में देखे जा सकते हैं। ये स्थल अधिक नहीं हैं। इसलिये यह विकृति या संकीर्ण सम्बन्ध बहुत निकट का नहीं ज्ञात होता है। इसे कहीं न कहीं दूर का ही होना चाहिये। फिर भी इतने विकृति-साम्य से यह प्रमाणित हो जाता है कि दोनों प्रतियों की पाठ-परम्परा एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं है।

इस सम्बन्ध को यदि हम व्यक्त करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं :
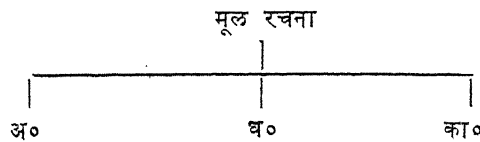
फलतः उल्लिखित पाठ-निर्धारण में अ० के साक्ष्य को उतना ही महत्त्व मिला है जितना घ० और का० के सम्मिलित साक्ष्य को। जहां पर तीनों प्रतियों का पाठ समान है, उसे स्वीकार किया गया है। जहां पर अ० का पाठ घ० और का० में से किसी में भी मिल जाता है, अन्य पाठ को अस्वीकार कर अ० के पाठ को स्वीकार किया गया है, जहां पर अ० में एक पाठ है और घ० तथा का० में कोई अन्य पाठ, वहां पर जो पाठ अपेक्षाकृत प्राचीनतर और अधिक सम्भव ज्ञात हुआ है, वह स्वीकार किया गया है। जहां पर तीनों प्रतियां तीन पाठ देती हैं वहां पर प्रायः अ० के पाठ को स्वीकार किया गया है। अ० के पाठ को यह विशिष्ट मान्यता उसकी प्रति की अपेक्षाकृत अधिक प्राचीनता के कारण तो दी ही गई है, उसका पाठ भाषा आदि की दृष्टि से प्राचीन रूप को अधिक सुरक्षित रखे हुए प्रतीत हुआ है, इसलिये भी उसको यह महत्त्व दिया गया है।

परिशिष्ट में वार्तिक तिलक का पाठ उसकी एक मात्र प्राप्त संवत् १७२२ की प्रति के अनुसार दिया गया है। उसका आलोचनात्मक सम्पादन भविष्य में उसकी और प्रतियां मिलने पर ही किया जा सकेगा।

रचना का नाम

रचना का नाम उसके पाठ के बीच में कहीं कहीं नहीं आता है। प्रयुक्त प्रतियों के अन्त में आने वाले नाम हैं : अ० 'कुतुबशतक' तथा 'कुतुबदीशतक', घ० 'कुतुबशत', का० 'कुतुबदी साहिबां वात'। निर्धारित पाठ-सम्पादन के

सिद्धान्तों के अनुसार नाम 'कुतुब शतक' होना चाहिये, क्योंकि वह अ० में तथा अपर शाखा की प्रति धा० में 'कुतुबशतक' के रूप में मिलता है। रचना बात-ग्रन्थः वार्ता-बन्धः काव्यरूप में प्रस्तुत की गयी है, इसलिये उसका अन्य नाम "कुतुबदी साहिबां बात" भी सार्थक है।

किन्तु प्रयुक्त तीन में से एक प्रति में भी छन्दों या अनुच्छेदों की संख्या सौ या उसके आस-पास नहीं है। इनकी संख्या किसी प्रति में आदि से अन्त तक किसी क्रम से दी हुई भी नहीं है। केवल अ० में कुछ दूर तक क्रम-संख्या एक है, उसके बाद विभिन्न प्रसंगों में आने वाले दोहों की क्रम-संख्या दी हुई है, बाद में पुनः नई क्रम-संख्याएं हैं। उसमें ४७ तक तो क्रम संख्या एक है, उसके बाद विभिन्न प्रसंगों में आने वाले दोहों की क्रम संख्याएं मात्र हैं और वे स्वतन्त्र हैं। शेष प्रतियों में इतना भी नहीं मिलता है। इसलिये इन ४७ अनुच्छेदों की संख्या पद्धति देखकर शेष रचना में भी अनुच्छेदों की क्रम संख्याएं उल्लिखित व संपादन में लगा दी गई है। इस प्रकार संख्याएं देने पर रचना ११४ अनुच्छदों में समाप्त हुई है, और उसका "शतक" नाम भी सार्थक हो सका है।

वार्तिक तिलक में अनुच्छद भी नहीं थे। उल्लिखित संपादन में स्थल-निर्देश की सुविधा के लिये प्रस्तुत लेखक ने उसे १६ अनुच्छेदों में बाँट दिया है।

रचयिता का नाम

रचना में कहीं भी रचयिता का नाम नहीं आता है और न उसकी प्रतियों की पुष्पिकाओं में। विभिन्न प्राप्त प्रतियों के पाठों में इतनी समानता है कि रचना लोक-साहित्य की वस्तु नहीं मानी जा सकती है। वह किसी एक कवि की कृति हो, यद्यपि उसका नाम हमें ज्ञात नहीं हो सका है। सम्भव है आगे की खोजों से वह ज्ञात हो सके।

यह रचयिता सूफी रहा होगा, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है, क्योंकि रचना का स्वर आदि से अन्त तक सूफी है, जैसा हम आगे देखेंगे। किन्तु यह कवि हिन्दी काव्य की परम्पराओं में निष्णात था यह उसकी रचना से भलीभाँति प्रमाणित है। दोहों की रचना तो उसने इतनी कुशलता और कलात्मकता के साथ की है कि वे अपभ्रंश के सर्वोत्कृष्ट दोहों की परम्परा में रचे हुए प्रतीत होते हैं। उसके गद्य की भाषा सुघरी बोल-बाल की हिन्दुई है, जिसमें तुर्कों के लिये आग्रह है, जो मध्ययुगीन गद्य की विशेषता थी।

वार्तिक-लेखक ने भी अपना नाम वार्तिक में नहीं दिया है और न प्रति की पुष्पिका में उसका नाम आता है। सम्भव है आगे की खोजों से ही रस वार्तिक-तिलक के रचयिता और उसके पूर्ण पाठ का भी ज्ञान हो सके।

रचना-तिथि

रचना में रचना-तिथि नहीं दी हुई है: उसके प्रारम्भ और अन्त केवल कथा के प्रारम्भ और अन्त के हैं, रचना के विषय के नहीं। रचना की प्राचीनतम प्रति संवत् १६३३ की है। यदि रचना इसके ७५-७६ वर्ष पूर्व की भी मानी जाये तो इसका रचना-काल सन् १५०० ई० के आस-पास होना चाहिये। भाषा की दृष्टि से रचना कदाचित् इससे भी पूर्व की होनी चाहिये। मेरा अपना अनुमान है कि रचना पन्द्रहवीं शती ईस्वी की होनी चाहिये। उत्तरी भारत की पुरानी खड़ी बोली की कोई तिथियुक्त रचना प्राप्त होने पर ही इसकी रचना-तिथि के सम्बन्ध में और अधिक निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकेगा।

वार्तिक तिलक की तिथि भी इसी प्रकार अनिश्चित है। उसकी प्राप्त प्रति संवत् १७२२ की है। उसका रचना-काल यदि इस प्रति की प्रतिलिपि-तिथि से ७५-७६ वर्ष पूर्व माना जाये तो वह संवत् १६४७ के आस-पास पड़ेगा। इस प्रकार वह ईस्वी सोलहवीं शती के अन्त की होनी चाहिये। उसकी भाषा, 'कुतुब शतक' की भाषा से कम-से-कम एक शती बाद की होनी चाहिये, यह तथ्य भी इसी अनुमान की पुष्टि करता है। इसकी रचना-तिथि का भी अनुमान उत्तरी भारत की खड़ी बोली की कोई तिथि-युक्त रचना प्राप्त होने पर अधिक निश्चयात्मकता के साथ हो सकेगा।

कथासार

(अनु० १-१९) दिल्ली का एक दावर (न्याय-कर्ता) दानिशमन्द नाम का था। उसकी एक ढाढिनी थी, जिसका नाम देवर (देवल) था। दावर की एक कन्या थी, जिसका नाम साहिबा था। इस साहिबा से प्रीति होने के कारण उसे उसने एक बड़ा वचन दे डाला और वह यह था कि उसका विवाह वह शाहज़ादे से करायेगी। दिल्ली में फीरोज़शाह राज्य करता था, जिसका शाहज़ादा कुतुबुद्दीन जवान हो गया था, किन्तु उसे अब भी अपनी लज्जालु माता बीबी विवानां के द्वारा नियुक्त पांच सौ वृद्धा परिचारिकाओं से घिरा रहना पड़ता था। ये परिचारिकाएं इसलिये नियुक्त थीं कि शाहज़ादे पर बाहर की दुनियां का कोई असर न हो। यह देखकर उस शाहज़ादे से मिलने की उस ढाढिनी ने एक युक्ति निकाली। उसने मालिन का वेष किया और एक छाबड़े में पक्की नारंगियां लेकर वह शाहज़ादे के पास पहुंच गयी। शाहज़ादे ने उससे नारंगियां क्रय कर पांच सोने के टके दिये और नारंगियां दो-दो चार-चार करके उसने उपस्थित परिचारिकाओं को बांट दीं। उस समय वह मालिन चली गयी, किन्तु थोड़ी देर बाद वह लौटकर पुनः आयी और अपनी नारंगियां यह कहकर शाहज़ादे से वापस

मांगनें लगी कि वे एक एक मुहर की दावर दानिशमन्द की कन्या के द्वारा मांगी जा रही थीं। शाहजादे ने कहा कि वे खायी जा चुकी थीं। ढाढिनी ने कहा कि वह एक नहीं सुन सकती थी और यदि नारंगियां वापस न हुईं तो वह सुल्तान से कहने जा रही थी। शाहज़ादे ने पूछा कि वह कौन सी और कैसी कन्या थी जो इतने अच्छे दाम दे रही थी। इस प्रश्न पर उस मालिन ने अपना वास्तविक परिचय दिया और शाहज़ादे को अपना अभिप्राय बताया। तदन्तर, वह उस कन्या का नख-शिख वर्णन करने लगी और उसने उसके अंगों का विशद वर्णन किया।

शाहजादे ने विश्वास नहीं किया और कहा कि यदि वह उसे साथ ले चलकर उस कन्या को दिखाती तो उसे विश्वास हो सकता था। मालिन ने कहा कि वह जुमरात (बृहस्पति) को मिल सकती थी यदि राजकुमार फकीर बनकर दावर के यहां पहुंचता और अन्य फकीरों के साथ उबले हुए गर्म चावलों की याचना करता। यह कहकर वह चली गयी।

(अनु० २०-३७) जुमरात आयी और शाहज़ादा जुमा मसजिद में पहुंचा जो दावर के घर से मिली हुई थी। वहां उसने देखा कि झुंड के झुंड दरवेश आये हुए थे जिनमें से बहुतेरे दावर के घर से उसकी सहन तक किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु उसे देखकर वे तमाम दरवेश यह कहते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे कि खुदा का फरिश्ता आया हुआ था। इस हलचल का लाभ उठाकर शाहज़ादे ने उनके छोड़े हुए फकीरी उपकरणों को धारण कर लिया और जिस समय सुल्तान नमाज के लिये गया, वह दावर के दरवाजे पर आ पहुंचा और वह भी अन्य दरवेशों के साथ उबले हुए गर्म चावलों की याचना करने लगा। दावर की कन्या वहां पर उस ढाढिनी के साथ उपस्थित थी। ढाढिनी ने शाहजादे को उसे दिखलाया। दोनों ने एक-दूसरे को देखा और वे पारस्परिक आकर्षण से आबद्ध हो गये। शाहजादे ने सोचा कि वह दावर की उस कन्या को भगा ले जाये और इसके लिये उसके कन्धे भी फड़कने लगे। ढाढिनी यह ताड़ गयी। उसने सोचा कि यदि यह उसे भगा ले गया तो लोग उसे ही बदनाम करेंगे, इसलिये उसने शाहजादे से संकेतों में कहा कि कुछ समय तक वह और प्रतीक्षा करे, किन्तु इसी अवसर पर शाहजादे के प्रति दावर की कन्या ने अपने प्रणय का निवेदन किया और शाहजादे ने वचन दिया कि वह आमरण उससे प्रेम करेगा।

(अनु० ३८-५१) नमाज खत्म करके सुल्तान और उनके पीछे-पीछे शाहजादा वापस हुए। शाहजादा अपनी माता बीबी बिवानां के महल में गया और वहीं पर पर्यंक में पड़ गया। उसकी दशा बिगड़ चली। सबेरा हुआ। वैद्य उपचार करने लगे, दानिशमन्द झाड़-फूंक करने लगे, किन्तु कोई लाभ न हुआ। दानिशमन्दों को देखकर वह चिल्ला पड़ता, "अरे यह साहिबां की नजर है, साहिबां की नजर है, (जिसके कारण) न मैंने रात जानी है और न फजर (प्रातः) जाना है।" बादशाह ने सुना तो वह कुपित हुआ कि दरवेशों ने उस पर नजर कर दी है। किन्तु बीबी बिवानां को विश्वास यह था कि फकीरों की दुआओं से वह चंगा हो जायेगा और उसने प्रचुर धन शाहजादे पर वार कर फकीरों को दिया। फिर भी शाहजादे की दशा में कोई सुधार न हुआ और जभी कोई दानिशमन्द उसकी झाड़-फूंक के लिये आता और अंजलि में पानी लेता, शाहजादा उससे कह उठता, "अरे यह साहिबां की नजर है, साहिबां की नजर है। जिसके कारण न मैंने रात जानी है और न फजर (प्रातः) जाना है।" इसी प्रकार कई दिन बीत गये और कोई युक्ति न चली।

(अनु० ५२-५७) उधर साहिबां भी खाट पर पड़ गई। ढाढिनी से उसने नाड़ी देखने को कहा तो ढाढिनी ने उसकी नाड़ी देखकर बताया कि उसके दिल में एक और दिल आ गया था, जिसके कारण उसकी नाड़ी दोहरी चल रही थी : एक तो उसकी थी और दूसरी शाहजादे का दिल, ये दोनों दिल जुड़े ही रहने वाले थे और जुड़े हुए ही इस लोक से विदा होने वाले थे। यह कहकर उसने वैद्या का वेष बनाया और सुल्तान के दरबार में उपस्थित हुई। लोग उसे वहां ले गये जहां पर शाहजादा पड़ा हुआ था। ज्योंही उसने अंजलि में पानी लिया, शाहजादा पुनः पूर्ववत् चिल्ला उठा। वैद्या ने उसे ढाढ़स दिलाया और नाड़ी दिखाने को कहा। राजकुमार उसे पहचान गया। वैद्या ने रोग का निदान कर लिया और रोगी ने भी उस रोग को स्वीकार कर लिया। शाहजादे ने नेत्र खोल दिये। बिवानां द्रव्य लुटाने लगीं। वैद्या ने ढोलक मंगायी और उसकी ताल पर वह गाने लगी। जैसे ही उसने एक दोहा गाया शाहजादा उठ बैठा। दोहे में उसने बताया कि साहिबां के हृदय-सरोवर में अब वह हंस बन कर केलि कर रहा था, किन्तु उसकी दशा अब शोचनीय हो रही थी। यह सुनते ही शाहजादे का शरीर कांपने लगा। बीबी बिवानां ने इसका कारण पूछा तो वैद्या ने बताया कि शाहजादे के दिल में एक और दिल आ गया था, इसलिए ऐसा हो रहा था और कहा कि शाहजादे के स्वस्थ होने का एकमात्र यही उपाय था कि दोनों दिल मिल जातें, अन्य कोई युक्ति काम नहीं कर सकती थी। उसने बताया कि शाहजादा और दावर दानिशमन्द की कन्या ने एक दूसरे को जुमा मसजिद में भरपूर देख लिया था, जिससे दोनों की यह हालत हो गयी थी। बिवानां ने जाकर यह बात सुल्तान से कही। सुल्तान दौड़ा-दौड़ा दावर के पास गया और उससे बताया कि शाहजादा जी गया है, पर अब उसे अपनी कन्या का विवाह उसके साथ करने के लिये प्रस्तुत होना चाहिये। दावर ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया।

(अनु० ७६-८८) विवाह की तैयारी हुई । बीबी बिवानां के साथ शाहजादा दावर के दरवाजे पर पहुंचा । इस अवसर पर ढाढिनी अपने सच्चे रूप में उपस्थित हुई और उसने सेहरा गाया । विवाह सम्पन्न हुआ । साहिबा शाहजादे के साथ विदा होकर घर गयी । सवेरा होने पर ढाढिनी शाहजादे के घर पर गयी और उसने दोनों के प्रथम रात्रि के मिलन का वर्णन गीतों में किया । अब दोनों के दिन नित्य नवीन केलि के साथ व्यतीत होने लगे ।

(अनु० ८९-१००) ऋतु बदली । बसन्त के बाद ग्रीष्म का आगमन हुआ । प्रासाद को ग्रीष्मोचित उपकरणों से सज्जित किया गया । शाहजादे को भोग और योग में समान रुचि थी । गायक कभी उसे भोग के गीत सुनाते कभी योग के, यह सोचकर कि न जाने उसे दोनों में कौन सा रुचे । एक दिन दो नटिनियां आकर खड़ी हुईं । एक योगिनी का स्वांग किये हुए थी और दूसरी भोगिनी का । योग और भोग के समर्थन में दोनों ने अपने अपने दूहे कहे और वे चली गयीं ।

(अनु० १०१-११४) रात्रि होने लगी थी, शाहजादे को कुछ ठण्ड सी लगी । उसने साहिबां से आसव मंगाया । साहिबां दौड़ी-दौड़ी गयी । दो बार उसने प्याले भर-भर कर दिये । तीसरी बार जब वह प्याला भरने गयी, उसके हाथ से प्याला गिर कर टूट गया । वह डरती हुई सास के पास गयी । शाहजादे ने देखा कि वह देर तक नहीं आयी थी तो वह उसकी खोज में निकला । फर्श पर बिछी हुई अबीर में उसे साहिबां के पदचिन्ह दिखाई पड़े और साथ ही वह प्याला भी टूटा मिला । वह हंस पड़ा और मन में उसने कहा, "मैंने करोड़ की खैरात करने का अपने मन में संकल्प किया था और यह खूब रहा कि पत्थरों का यह प्याला टूट गया और उससे डर कर मेरी पत्नी भाग गयी ।" इतने में उसकी मां वहां जा पहुंची । शाहजादा सकुच गया । मां ने कहा, "साहिबां ने हमें खून (करने का जैसा जुर्म) दिया ।" शाहजादे ने पूछा—"मां, खून क्या ?" मां ने कहा, "साठ लाख का क्रय किया हुआ प्याला टूटा पड़ा है, और क्या खून?" शाहजादे ने कहा, "मां, मैं तो सुल्तान फीरोजशाह का उत्पन्न किया हुआ और समरकन्द की शाहजादी बीबी बिवानां का जन्म दिया हुआ हूं, साहिबां का न्याय (भले ही) उसके पिता दावर के पास हुआ करे ।" यह कहकर जब उसने लाल-निर्मित दो पत्र मंगाये तो न जाने कितने आ गये और एक-एक करके उन सबको उसने माता के सिर पर वार-वार कर तोड़ डाला । उस समय सारी धरती लाल हो रही थी । सुल्तान ने सुना । उसने जौहरियों को बुलाकर उनकी कीमत अंकवायी । उन्होंने बताया कि तीर अरब बासठ करोड़ बारह लाख की सम्पत्ति कुतुबुद्दीन ने गंवा दी थी । सुल्तान ने हुक्म दिया कि टुकड़े भंडार में रख दिये जायें । कुतुबुद्दीन ने निवेदन किया, "उत्तराधिकार में टुकड़े पाऊंगा तो तुम्हारा नाम न चलेगा ।" सुल्तान ने कहा, "तू जो चाहे सो करे, यह सब तेरा ही है ।" सुल्तान ने हुक्म दिया । वे टुकड़े गवाक्षों पर चुन दिये गये, फकीर उन्हें लूटने लगे और बाजे बजने लगे ।

रचना की ऐतिहासिकता

रचना में वर्णित घटनाएं किसी इतिहास ग्रन्थ में नहीं मिलती हैं । उसमें सुल्तान फीरोजशाह, बीबी बिवानां, शाहजादा कुतुब, दावर की कन्या साहिबां, दावर दानिशमन्द तथा देवर ढाढिनी के नाम आते हैं । अलग-अलग फीरोजशाह और कुतुब नाम के एक से अधिक सुल्तान और शाहजादे के रूप में किसी कुतुब का नाम उनमें नहीं मिलता है । इतिहास में प्रायः उन्हीं के नाम आते हैं जो या तो गद्दी पर बैठते हैं, या किसी प्रकार का इतिहास में उल्लेखनीय कार्य करते हैं । इस कथा में कुतुब ऐसा कोई कार्य नहीं करता है जो ऐतिहासिक महत्त्व का हो, और न सुल्तान फीरोजशाह ही कोई ऐसा कार्य करता है जो उसकी जीवनी में उल्लेखनीय महत्त्व का माना जा सकता । इसलिये वर्णित कथा सर्वथा कल्पित है । रचना में कल्पना के पुट के साथ वास्तविकता के तत्त्व होंगे, ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है । किन्तु कथा कथा ही है, इतिहास नहीं । इसलिये यदि इतिहास के साक्ष्य उसकी पुष्टि न करते हों तो भी रचना का महत्त्व एक ऐतिहासकि लघुकथा के रूप में निश्चित है और निःसन्देह यह रचना मुगल साम्राज्य की स्थापना के पूर्व के भारतीय वायुमण्डल में पनपते हुए सूफी दर्शन से प्रभावित इस्लामी जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती है । यह कहना अनावश्यक होगा कि हिन्दी में अपने ढंग की अकेली रचना है, भारत की अन्य भाषाओं में भी कदाचित् ऐसी रचनाएं कम ही होंगी ।

रचना की कथा-सम्पत्ति

रचना की कथा-सम्पत्ति साधारण है । नायक-नायिका के जीवन की दो ही घटनायें सामने रखी गयी हैं : एक है उनका पति-पत्नी के रूप में बंधना और दूसरी है कुछ बहुमूल्य पात्रों का तोड़-तोड़कर फकीरों में वितरित करना ।

पहली घटना के लिए कवि एक चतुरतापूर्ण युक्ति का आश्रय लेता है : वह एक ढाढिनी की कल्पना करता है जो मालिन, वैद्या और ढाढिनी—तीन रूपों में कथा को आगे बढ़ाने में समर्थ होती है । मालिन बनकर वह शाहजादे से साहिबां के रूप की चर्चा करती है और उसे उससे मिलने के लिए प्रेरित करती है, शाहजादे के विरहोन्माद का वैद्या बन कर उपचार करती है और जब दोनों विवाह द्वारा एक दूसरे को प्राप्त करते हैं, सेहरा और मिलन-यामिनी के गीत गाकर उनका मनोरंजन करती है । इसके बाद ही वह कथा से अलग हो जाती है । इस प्रकार की दूती की कल्पना मध्ययुग में

बहुत प्रचलित रही है, और रचना में इस विषय में कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती है। उसके द्वारा किया हुआ रूप-वर्णन, और नायिका तथा नायक के रोगों का निदान अवश्य सरस और विनोदपूर्ण है।

दूसरी घटना के लिए नायिका द्वारा एक बहुमूल्य प्याले के फूटने और उसके कारण उसकी सास के कुपित होने के प्रसंग जुटाये गये हैं। इस दूसरी घटना के पूर्व कवि ने दो छोटे-छोटे संकेत और रखे हैं, जो आनेवाली घटना के लिये पाठक तैयार करते है: एक तो गायकों द्वारा योग (ज्ञानयोग) और भोग (प्रेमयोग) के गीतों का गाया जाना और यह सोचकर गाया जाना कि दोनों विषयों में से पता नहीं कौनसा नायक को रुचे, दूसरा दो नटिनियों का योगिनी और भोगिनी के वेष में उपस्थित होना और अलग-अलग ज्ञानयोग तथा प्रेमयोग की प्रशंसा करना। पहला संकेत तो सर्वथा अविकसित है, किन्तु दूसरा कलात्मकता के साथ विकसित किया गया है, जैसा हम आगे देखेंगे। कुछ ऐसा लगता है कि शाहजादा इस समय जीवन के एक मोड़ पर आ गया था। जीवन की सार्थकता के सम्बन्ध में वह चिन्ता करने लगा था, यद्यपि यह चिन्ता कवि की रचना में सर्वथा मूक है। इसी समय प्याले के अकस्मात् टूटने और उस पर एक बवण्डर खड़े होने की घटना घटित होती है जो उसकी परमार्थ वृत्ति को और भी उद्दीप्त कर देती है और वह एक अप्रत्याशित ढंग से अपनी उस वृत्ति को अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

नायक के चरित्र में यह मोड़ किस प्रकार आता है, इसको अंकित करने का कवि ने कोई प्रयास नहीं किया है। उपर्युक्त घटना के बाद शाहजादे का जीवन किस दिशा में प्रवाहित होता है, यह जानने की भी उत्सुकता पाठक के मन में बनी रह जाती है। वर्णित घटना तो उसके परमार्थ-पथ का प्रथम चरण-मात्र है।

दोनों घटनाओं में कोई सम्बन्ध भी नहीं ज्ञात होता है। कुछ-कुछ ऐसा लगता है जैसे विवाह होता या न होता, दूसरी घटना किसी न किसी रूप में कोई न कोई बहाना पाकर अवश्य ही घटित होती। नायक के परमार्थ पथ में नायिका का प्राप्त होना उसका प्रथम चरण भी नहीं प्रतीत होता है। नायिका को प्राप्त करने में नायक को बाधा होती है और उसको अनायास न पाने के कारण वह विरहोन्माद-रुग्ण हो जाता है, नायक की इतनी ही तपस्या उसकी प्रेम-साधना में दिखाई पड़ती है।

किन्तु यह निश्चित ज्ञात होता है कि कथा एक सूफी कथा है, जिसमें ज्ञान-योग और प्रेम-योग का अच्छा पुट दिया गया है। कथा का पूर्वार्द्ध सम्भवतः प्रेमयोग-परक है और उत्तरार्द्ध सम्भवतः ज्ञान-योग-परक, यद्यपि यह भी बहुत स्पष्ट नहीं है।

पर यह सूफी कथा अन्य सूफी कथाओं से किंचित् भिन्न है, फारस की सूफी कथाओं में प्रेमपात्र की निष्ठुरता और प्रेमी के उससे मिलन की दुर्गमता अत्यधिक अतिरंजना के साथ चित्रित की जाती है। इस कथा में यह अतिरंजना नहीं है। अवधी की सूफी कथाएं या तो विवाह और मिलन-यामिनी पर समाप्त हो जाती हैं, और या तो दुःखान्त रूप में नायक-नायिका के जीवन की समाप्ति अंकित करती हैं। इस कथा में यह भी नहीं है। इस कथा की अन्तिम घटना जीवन में दान और त्याग का महत्त्व अंकित करती है।

सब कुछ मिलाकर रचना की कथा-सम्पत्ति सामान्य ही ज्ञात होती है, उसका महत्त्व इस बात में है कि अब तक प्राप्त हिन्दी की सूफी प्रेम-कथाओं को पढ़कर उनके सम्बन्ध में जो हमारी धारणा बनी थी, इस कथा को पढ़कर उसमें कुछ संशोधन करना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि अवधी क्षेत्र में सूफी प्रेम कथाओं की एक परम्परा विकसित हुई थी जब कि हिन्दी की अन्य बोलियों के क्षेत्रों में उससे किंचित् भिन्न सूफी काव्य परम्पराएं विकसित हुई थीं जिन पर आगे की खोजों से प्रकाश पड़ेगा।

रचना की भाव एवं बिचार सम्पत्ति

रचना की प्रथम घटना भाव-संपत्ति प्रधान है। नायक और नायिका परस्पर दर्शन के अनन्तर विरह-व्याधि से रुग्ण हो जाते है। नायिका तो फिर भी मर्यादाओं के भीतर रहती है, नायक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर जाता है। वह उन्माद-ग्रस्त हो जाता है और तभी स्वस्थ होता है जब उसे नायिका के प्राप्त होने का विश्वास हो जाता है। किन्तु प्रेमयोग की इस कथा में भाव-कल्पना सामान्य है। आशा और निराशा के द्वन्द्वों, उद्देश्य-प्राप्ति के मार्ग की बाधाओं और उनसे संघर्ष करने की भावनाओं का विकास कथा में नहीं किया गया है। पहले कवि ने संकेत तो किया है कि सुल्तान दोनों को मिलने न देगा:

साहिजादे साहिब्बियां साहि करदे लल्लि।
लज्जा लोयिन नच्चणां, लोइ हसदे कल्हि॥३४ तथा

साहिब साहिब्यां बिरह जइ जींवदा जाइ।
लज्जा लीक उलंघणी सिर पर पेरो साहि॥६५

किन्तु आगे इस सूत्र का विकास बिल्कुल नहीं किया है। यह ठीक है कि उन्माद-ग्रस्त पुत्र के स्वस्थ होने का एकमात्र उपाय

उसकी मनचाही प्रेयसी का प्राप्त होना था, यह समझकर ही सुल्तान ने उक्त सम्बन्ध के लिये अपनी स्वीकृति दी होगी, किन्तु एक क्षण के लिये भी तो इस प्रकार की विवशता का भाव कवि ने सुल्तान में अंकित किया होता। जैसे ही शाहजादे की माता उससे पुत्र के रोग का कारण बताती है और उसका उपाय करने को कहती है, सुल्तान कह उठता है:

जहमतियां क्या जाणइ।

जिमी आकास तल होइ तउ हम आणइ।

और जब वह कहती है:

दावल दानसवंद कइ आगलि बिछाओ ऊली।

सुल्तान बिना एक शब्द कहे उस युक्ति को मान लेता है:

सुलताण मानी। दीन दुणियां एक ठउड होत जांणी ॥७३

और वह नंगे पांवों दावर के पास दौड़ जाता है। पुत्र का स्नेह बड़ी चीज है और उसके जीवन के लिये बहुत कुछ किया जा सकता है। किन्तु यह सब रचना में ऐसे ढंग से हुआ है जैसे पुत्र-मोह ने सुल्तान को एकदम विवेक-शून्य कर दिया हो। यह अस्वाभाविक तो नहीं है, किन्तु रचना में भाव-सम्पत्ति की कमी को अवश्य व्यंजित करता है।

दूसरी घटना विचार-प्रधान है। इसे कवि ने कुछ अधिक योग्यता के साथ पल्लवित किया है। वसन्त ऋतु समाप्त हो गयी है, और ग्रीष्म का आगमन हो गया है। प्रासाद ग्रीष्म का सामना करने के लिये सज्जित किया गया है। यह ग्रीष्म तप और साधना का प्रतीक ज्ञात होता है। शाहजादे के सम्मुख जो गीत गाये जा रहे हैं वे या तो योग (ज्ञानयोग) के हैं और या भोग (प्रेमयोग) के। नटिनियां योगिनी और भोगिनी का वेष धर कर उसके समक्ष उपस्थित होती हैं और दूहे कह-कह कर अपने-अपने पक्ष का समर्थन करती हैं। इसी समय नायिका—उसकी प्रेयसी—से प्याला टूटने का प्रसंग घटित होता है और शाहजादे की परमार्थ-वृत्ति एक उग्र रूप ग्रहण कर प्रकट हो पड़ती है। जहां वह प्याला टूटा देखता है वहीं प्रेयसी के पग-चिन्ह भी देखकर वह समझ जाता है कि इसी कारण वह भाग गयी है और वह हंस पड़ता है। वह कह उठता है:

षइर करंदा कोडि कहि मन अप्पणइ विचारि।

षूब स पत्थर भग्गीया बिभग न भग्गी नारी ॥१०७

और कवि कहता है:

साहिजादा हसता हइ। पग देषि-देषि ऊलसता हइ।१०८

पुनः मां जितनी ही इस सम्पत्ति-विनाश पर क्षुब्ध होती है, उतना ही पुत्र और भी उस सम्पत्ति-विनाश में संलग्न होता है। पिता जब उसको टुकड़ों के संग्रह के लिये आदेश करता है, वह इसका भी विरोध करता है और उन्हें फकीरों में वितरित करने का अनुरोध करता है जिसे पिता स्वीकार करता है। कहना न होगा कि इस दूसरी घटना से यह प्रकट है कि रचना का प्रमुख सन्देश त्याग और दान का है जिनका सूफी धर्म और इस्लाम में बड़ा महत्त्व है।

रचना की काव्य-सम्पत्ति और शैली

रचना में दो स्थल कविता की दृष्टि से कलापूर्ण हैं, एक तो ढाढिनी द्वारा किया हुआ नायिका का रूप-वर्णन और दूसरा नटिनियों के द्वारा प्रस्तुत किया हुआ ज्ञानयोग और प्रेमयोग का तुलनात्मक स्तवन। नीचे हम इन दोनों की विशेषताओं पर दृष्टिपात करेंगे।

रूप-वर्णन शिख-नख प्रणाली का है। मानवी का रूप-वर्णन इसी प्रणाली पर इस देश में किया जाता रहा है। कवि केशों से यह रूप-वर्णन प्रारम्भ करता है:

केसा के कसि बंधियां के छुट्टियां रुलंति।

जाणे सर्पनि अप्पणा चर चिंटुआ भषंति ॥११

नायिका के केश दो प्रकार के हैं: कुछ तो लम्बे हैं जो वेणी के रूप में कसकर गूंथे हुए हैं, और कुछ छोटे हैं जो उस वेणी में नहीं गुंथ सके हैं और जो हवा के लगने से हिल रहे हैं। दोनों प्रकार के ये केश एक साथ कैसे लग रहे हैं मानो वे छोटे बाल सर्पिणी के रेंगते हुए चेंटुए हों जिन्हें वह पकड़-पकड़ कर खा रही हो। केशों की ऐसी गतिशील उपमा अन्यत्र देखने में नहीं आती है। वेणी में न आए हुए छोटे-छोटे बाल हिल रहे हैं, इसलिये रेंगते हुए सर्पिणी के चेंटुओं से उनकी तुलना उपयुक्त ही है, किन्तु इसके आगे भी, वे वेणी से मिले हुए हैं, इसलिये उनके सम्बन्ध में यह उक्ति कि मानो सर्पिणी उन्हें खा रही है, एक अत्यन्त जीवन्त कल्पना है। सर्पिणी अपने बच्चों को खा जाती है, यह प्रसिद्ध ही है।

अब वह नायिका के नेत्रों का वर्णन कर रहा है जो यौवनागम के कारण चंचल हो रहे हैं। वह कहता है:

अंगन चंद निलाटियां, भू तर नच्चइ नयण।

जाणे आण बधाइयां, आगम हंदा मयण ॥१२

'उस अंगना का ललाट चन्द्रमा के सदृश है और उसकी भौंहों के नीचे उसके नेत्र नाच रहे हैं, इसलिये वे ऐसे लगते हैं मानो वे मदन के आगमन पर बधाइयां लेकर प्रस्तुत हो रहे हैं।' बधाइयां लाने की एक विशेष प्रथा हिन्दी प्रदेश में प्रचलित रही है। किसी हर्ष के अवसर पर यथा पुत्रोत्पत्ति और पुत्र-विवाह पर बहनें या बेटियां उपहार लेकर आती हैं। यह उपहार गाजे-बाजे के साथ ले जाया जाता है। पास-पड़ोस की स्त्रियों को लेकर वे गाती-बजाती नाचती चल पड़ती हैं और इस उत्सवपूर्ण आयोजना के साथ अपने उपहार प्रस्तुत करती हैं। नायिका के नेत्रों में जो चपलता आ गयी है उसकी कल्पना कवि इसी प्रकार के नृत्य से करता है जो मदन नरेश के आगमन पर बधाइयां लेते हुए प्रस्तुत किया जा रहा है। अपने प्रिय शासक के आगमन पर नेत्रों का उपढौकन लेकर नाचते हुए उसकी सेवा में उपस्थित होने की यह कल्पना बेजोड़ है।

अब वह नायिका की वेणी से लटकने वाले एक मोती का वर्णन कर रहा है। वह कहता है :

वइंणी बंधि बिलंबिया, मुत्ती हेक रुलंति ।
जाने सीप सुमुष्षीयां, कंठइ कीर चुणंति ।।१३

वेणी से बंधकर लटकता हुआ मोती (नायिका के नेत्रों के मध्य नासिका पर) इस प्रकार लोट रहा है मानो जिस सीपी-पुट में से वह निकला हो उसके समक्ष ही (बैठकर) पास का शुक उसे चुगने का यत्न कर रहा हो। उस मोती के प्रसंग में नेत्रों की सीपियों से तुलना कितनी सरस हो गयी है। मोती के शुक द्वारा चुगे जाने की कल्पना नवीन नहीं है, नासिकाभरणों में पड़े हुए मोती के संबंध में यह कल्पना प्रायः मिलती है। किन्तु इस कल्पना में विशेषता यह है कि उस सीपी के फलकों की समक्षता में ही यह मोती शुक द्वारा चुगा जा रहा है जिससे इसकी उत्पत्ति हुई है। व्यंजना यह है कि यह बात सीपी को कितनी खल रही होगी जिसकी सुकुमार सन्तान की यह दुर्गति उसके सामने हो रही है।

अब कवि नायिका के किंचित् उमड़ते हुए उरोजों का वर्णन कर रहा है। वह कहता है :

ही उट्ठा दिट्ठाइयां, दीहा पंचइ च्यारि ।
जाणें गी नारिंगियां, वे अंगीया मझारि ।।१४

उसके उरोज चार-पांच दिनों से ही उठते हुए दिखाई पड़ने लगे हैं और वे ऐसे हैं मानो हूब-हू दो नारियां उस नायिका की कंचुकी में रख दी गयी हों।' यह कल्पना अवश्य लोक-साहित्य में बहु-प्रयुक्त है और इसमें कोई उल्लेखनीय नवीनता भी नहीं है।

अब वह नायिका की कटि का वर्णन करता है। वह कहता है :

लंक धनक्कइ मुट्ठियां, बिन्धि-रसु रंगी बाम ।।
हत्या कांम स पीउ मउ, पिय हत्था मउ कांम ।।१५

'उस कामिनी की कटि को मुट्ठी में लेकर विधाता ने जो उसे रस (प्रेम) में रंगा उसी से काम के हाथ पीले पड़ गये और (उस कामिनी को हाथों में करने की कौन कहे) काम स्वयं उस कामिनी के हाथों (वश) में गया।' खिलौने प्रायः कटि प्रदेश से ही पकड़कर रंगे जाते हैं, अतः काम भी जब अपने मादक रंग से उस कामिनी-पुत्तलिका को रंगता हुआ होगा, उसकी कटि को उसने अपने हाथ की मुट्ठी में लिया होगा, किन्तु परिणाम यह हुआ कि उस नायिका के शरीर के सहज वर्ण से उसकी हथेलियां पीली पड़ गयीं और वह स्वयं भी उस कामिनी के वश में हो रहा। यह कल्पना भी सरस प्रतीत होती है।

अब वह नायिका के चरणों और उनकी उंगलियों का वर्णन कर रहा है। वह कहता है :

पाइ स रत्तां पंकजां, अढ्ढी अगुलियांह ।
जाणे राई वेलियां, फली नीकलियांह ।।१६

'उसके चरण लाल पंकज है और उसकी उंगलियां ऐसी सुन्दर हैं मानो राई की गाछ में निकली हुई फलियां हों।' कहना नहीं होगा कि राई की नयी निकली हुईं फलियों से पैरों की उंगलियों की तुलना सुन्दर है, नवीनता तो इसमें है ही।

रूप-वर्णन के ये दोहे गिनती में छह हैं, किन्तु इनमें से कई ऐसे हैं जिनमें कल्पना की जीवन्तता और व्यंजकता अद्भुत मात्रा में मिलती है। सभी उपमाएं भारतीय जीवन से ली गयी है, यह भी दर्शनीय है।

योगिनी और भोगिनी का स्वांग करके नटिनियों ने जिस ज्ञानयोग और प्रेमयोग का स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने एक मात्र नेत्रों का माध्यम लिया है। एक प्रेम के नेत्रों का वर्णन करती है और उनका बखान करती है तो दूसरी ज्ञान के नेत्रों का वर्णन करती है और उनका बखान करती है :

भोगिनी कहती है :

लोयण ते लोइंदिए, जे दिट्ठां ही पिट्ठ।
पाथर सर जिम कढ्ढोइं, नेह समट्ठा निट्ठ ॥९८

'लोचन तो वे ही देखते हुए होते हैं जो देखते-देखते प्रविष्ट हो जाते हैं और जो स्नेह से ऐसे दृढ़ और पुष्ट होते हैं कि उनको निकालना चुभे हुए शरों को सीधा निकालने जैसा (कठिन) होता है। अनीयुक्त बाणों को सीधे निकालने की कठिनाई से नेत्र-बाणों के निकाले जाने की कठिनाई की तुलना अच्छी बनी पड़ी है।

योगिनी कहती है :

लोयण ते लोयंदीइ, जे लोअंदे जग्ग।
अप्पा काम कमच्छलां, बहु देषंदा कग्ग ॥९३

'लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो जगत् (की वास्तविकता) को देखते होते हैं, अपने आपको तथा अपने कर्म और कर्मछल को बहुतेरे काग भी देखते होते हैं।' स्वार्थी और कर्मछल-पटु व्यक्ति की तुलना काग से स्वाभाविक लगती है।

भोगिनी कहती है :

लोयण तै लोइंदीइ, जे पैम सु बुट्ठइ धार।
रीझडियां झड मंडिकइ, सव्वस अप्पण हार ॥९४

'लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो प्रेम धारा की वृष्टि करते हैं और रीझ जाने पर उसकी झड़ी लगाकर सर्वस्व अर्पित करने वाले होते हैं।' प्रेमी नेत्रों की तुलना उन मेघों से कितनी सटीक बैठी है जो झड़ी बांधकर अपना सब कुछ दे डालते हैं। प्रेम सच्चा वही है जो प्राणी को निःस्वार्थ त्याग के लिए प्रेरित कर सके।

योगिनी कहती है :

लोयण ते लोइंदीए, जे लोइडे अप्प।
तीन्हीं तिनी अवत्थडी, कउ ण करंदा वप्प ॥९५

'लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो आत्मतत्त्व को देखते होते हैं। उनकी तीन ही अवस्थाएं जाग्रत, स्वप्न और तुरीय होती हैं, कभी भी अपने-आप को ढंकते नहीं हैं। सुषुप्ति को नहीं प्राप्त होते हैं। इस कथन में कोई कल्पना नहीं है, कहने के ढंग में अभिव्यक्ति की सरलता मात्र है।

भोगिनी कहती है :

लोइण ते लोइंदीप, जो अणरतां ही रत्त।
दीया देह स दज्झिया तो पडंदा पत्त ॥९६

'लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो (मादक द्रव्यादि से) रक्त न होते हुए भी रक्त होते हैं, जिनका (पतिंगों की भांति) देह दीपक से दग्ध हो गया होता है तो भी (दीपक के पास) पहुंचकर उसमें पड़ते ही हैं।' प्रेमी की पतिंगे से तुलना पुरानी ही है, किन्तु 'दीया देह स दज्झिया' में नवीनता है : वे अनुभव कर रहे हैं कि दीपक उनको झुलसाकर अधमरा कर चुका है, फिर भी वे सहर्ष उस पर अपने जीवन का उत्सर्ग करने के लिये पहुंच ही जाते हैं।

योगिनी कहती है :

लोयण त लोइंदीए, जे जुग जोइ अरत।
माया ओढण मुल्लिया, जांणि कलाली मत्त ॥९७

'लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो जगत् को अरक्त भाव से देखते हैं और माया को उसी प्रकार भूले होते हैं जैसे कलाली मत्त व्यक्ति को भूल जाती है।' कलाली के द्वारा मत्त व्यक्ति की उपेक्षा से योगी द्वारा की गयी जगत् की उपेक्षा की तुलना अच्छी बन पड़ी है।

भोगिनी कहती है :

लोइण त लोइंदीए, जे अंबा ही अब्ब।
ज्युं हीउ पाउस रंगीया, ताइ मिलंदा सब्ब ॥९८

'लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो जल वाले बादलों के सदृश होते हैं—जैसे ही पावस उनके हृदय को अनुरंजित कर देता है, वे (जल के रूप में अपना सर्वस्व अर्पण करने को) इकट्ठे हो जाते हैं।' जल से आर्द्र बादलों से प्रेमी नेत्रों की तुलना अवश्य ही सरस बन पड़ी है।

योगिनी कहती है :

लोइण त लोइंदीए, जे जाणि परंदा गत।
को घरिया पर लग्गीयां, रत्ता तोइ अरत्त ॥९९

'लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो गतःगयेश्र से जान पड़ते हैं। यदि किसी घड़ी वे घर (गृहस्थी) से लग भी हुए होते हैं तो वे उससे रक्त—अनुरक्त (ज्ञात) होते हुए भी अरक्त ही होते हैं।' इस कथन में कोई वैशिष्ट्य नहीं है, केवल अन्तिम शब्दों में विरोधाभास का किंचित् चमत्कार है।

भोगिनी कहती है :

लोइण त लोइंदीए, ज रंगइ करियांह।
बीकर बाजि न चड्डही, ज्युं गज बंगरियां ॥१००

'लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो एकमात्र रंग (प्रेम) करते हैं और प्रेम करके जो फिर कुछ भी और नहीं करते हैं जैसे घोड़े पर चढ़ने वाला व्यक्ति घोड़े को बेचकर विकृत अंग वाले हाथी पर नहीं चढ़ता है।' प्रेम के मार्ग पर लग जाने के बाद और किसी मार्ग में लगने की तुलना घोड़े को बेचकर विकृत अंग वाले हाथी पर चढ़ने से अच्छी जमी है।

स्पष्ट है इस स्वांग में भोगिनी (प्रेमयोगिनी) के कथन जैसे चमत्कारपूर्ण हैं वैसे योगिनी (ज्ञान योगिनी) के नहीं दूसरी बात यह द्रष्टव्य है कि ये कथन उत्तर प्रति उत्तर के रूप में नहीं हैं, अर्थात् एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है, दोनों अपने-अपने पद्य का गुणगान करते हैं और एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से करते हैं। एकसूत्रता यदि है तो इतनी ही कि नेत्रों को लेकर दोनों के कथन किये गये हैं और विशेषता है तो इसी बात में है कि एक रोचक शैली में दिए गये हैं। प्रेमयोग और ज्ञानयोग का मध्ययुगीन द्वन्द्व इस रचना में नेत्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। सगुण भक्तिमार्गी कवियों की रचनाओं में ही यह द्वन्द्व अभी तक मिला था। सूफी तथा निर्गुण भक्तिमार्गी कवियों की रचनाओं में यह द्वन्द्व पहली बार मिल रहा है।

अन्य प्रसंगों में भी कहीं-कहीं उक्तियां सरस बन पड़ी हैं, यथा नायिका से नायक के मिलाने के प्रयास की तुलना द्राक्षावल्ली को आम से लगाने से की गयी है :

साहिब सूं सूरत्तियां, हूं मालन इहि कम्म।
जिउं किउं दक्खा वीललयां, जउ र विलग्गइ अंब ॥९

फकीर का वेष धारण करने की बात सीधी न कहकर फकीरी के उपकरणों को धारण करने के रूप में कहीं गयी है :

साहजाद षथां न होउ, धरि षल्लरी षवेहि।
डीवी डांग सु सिंगरी, कमरि करंदा लेहि ॥१८

नायक-नायिका के परस्पर तन्मय होने की बात एक ही जीवन रस को दो पात्रों में विभक्त करने के रूप में कही गयी है :

साहिजादे साहिब्बीयां, ढढ्ढिनि ढुंढे मंझि।
जाणे जीवण इककरा, बे पुड कीन्हा भंजि ॥२९

नायिका को निर्निमेष देखने की नायक की चेष्टा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि मानो कोई सिंह किसी मृगी को इस प्रकार देख रहा हो कि उसको आंखों के मार्ग से ही निगलना चाहता हो :

साहिब सारंगी नयण, सारंगा रिपु साहि।
अंषी अंषिनु वट्टडी, जानि गिलंदी ताहि ॥३१

प्रेम की अग्नि में बिना तपे हुए प्रेम पात्र को प्राप्त करने की तुलना उस कच्चे भोजन करने से की गयी है जो पेट में विकार उत्पन्न करता है :

तू रस कामन्धा भूखिया, साहित बीबु अजाणु।
साई हाथ पकावना, षांहि न कच्चा षांन ॥३२

आशा के चेतना-शून्य होने की तुलना पावस के आगमन पर बिना बादलों के दर्शन के भी मयूरों के नाच उठने से की गयी है :

आसा अन्धी ढढ्ढिनी, भोग करंदे गोर।
गज्जइ गयण न नच्चिया, पावस हंदे मोर ॥३३

नायिका का जीवनार्पण का संकल्प नायक पर उसके शरीर को वारने की आकांक्षा द्वारा व्यक्त किया गया है :

ढढ्ढिनियां हिय हत्थ लइ, आरतियां करि हेरि।
साहिजादे सिर उप्परइ, मो साहिबियां तन फेरि ॥३६

विरह-दुःख से पीड़ित नायक के सन्तप्त होने का एक विनोदपूर्ण कारण असंगति के रूप में यह दिया गया है कि नायिका के गर्म भोजन करने से नायक का हृदय-संतप्त हो जाता है :

ढढ्ढणि ढोरी अंषियां, साहिबा संमुहियांह ।
तइ तत्ता षांन षाइया, दज्झइ साहि हियांह ॥५४

वर के सेहरे के लिए डूबते हुए सूर्य और वधू की मांग में पड़े हुए सिन्दूर के लिये सन्ध्या की कल्पना सरस की गयी है :

वर सिर सोहइ सेहरा, वरणी सिरि सिन्दूर ।
जांणे संझ सुमष्षिया, सिन्धु सपत्ता सूर ॥७८

वर की उंगली में पड़ी हुई अंगूठी और वधू के हाथ में पड़ी हुई चूड़ियों के रक्तवर्ण के बारे में यह कल्पना की गई है कि मानो काम ने किसी के हृदय में चुभे हुए अपने बाण निकाले हों :

वर कर वीर अंगूठियां, वरणी कर करि लाल ।
जाणे हीयइ हिलगियां, काम स कढ्ढइ साल ॥

ढाढिनी के द्वारा गाये जाते हुए सेहरे की तुलना वर्षा से तृप्त हुए सारसों की मधुर ध्वनि से की गई है :

आसिक अषत मणंदीया, सेष सुणंदा सार ।
जांणे जलहर वुट्ठियां, सारसु कीया सुठार ॥८०

इसी प्रकार और भी अनेक स्थल मिलते हैं जहां पर रचना अपनी टटकी और कभी-कभी अछूती उक्तियों के द्वारा पाठक को मुग्ध कर लेती है। फलतः रचना छोटी होते हुए भी काव्य-रसिकों को चमत्कृत करती है। गद्य में भी जहां तहां एसी उक्तियां आती हैं, किन्तु एसे स्थल इने-गिने ही हैं। रचना की सरसता उसके पद्यात्मक अंशों के कारण ही है। ऐसा लगता है कि गद्य के अनुच्छेद केवल कथा के सामान्य विवरणों तक सीमित रखे गये हैं, जहां पर सरस कल्पना की सम्भावना प्रतीत हुई है कथन और वर्णन अनायास दूहों में किये गये हैं। साथ ही समस्त अप्रस्तुत विधान भारतीय जीवन से लिया गया है, यह द्रष्टव्य है।

इन दूहों में कवि की शैली अत्यन्त सशक्त है। एक स्थान पर भी उसने कवि को धोखा नहीं दिया है। प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर जमकर बैठा हुआ इस प्रकार चमक रहा है जैसे आकाश में नक्षत्र चमकते हैं। शब्दों में प्राणवत्ता स्वतः झलकती हैं, यद्यपि शब्द-चयन सहज ढंग से किया हुआ है। रचना में कहीं भी प्रयास परिलक्षित नहीं होता है, यह रचना की बड़ी भारी विशेषता है।

गद्यांश की शैली में यह विशेषता नहीं है। हिन्दी के मध्ययुग में गद्य उपेक्षित रहा है, यह सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। सरस उक्तियां और कल्पनापूर्ण कथनों के लिये पद्य का ही सहारा वार्ताबन्ध काव्य-रूप तक में भी लिया जाता रहा है। और कदाचित् ऐसे वार्ता-बन्ध काव्यों का पद्य उनके गद्य की अपेक्षा अपने प्रामाणिक रूप में अधिक सुरक्षित भी रहा है, क्योंकि गद्य भाग को आवश्यकता के अनुसार बड़ा और छोटा किया जाता रहा है जब कि पद्य भाग अपनी सरसता और स्मरण सुलभता के कारण बहुत कुछ मूल रूप में सुरक्षित रखा गया है।

कुतुबशतक की भाषा

रचना में उसकी भाषा का नाम नहीं आया है और न उसके वार्तिक तिलक में, किन्तु वार्तिक तिलक में निम्नलिखित अंशों में अन्य भाषाओं के साथ हिन्दुई का नाम उसके कुछ अधिकतर वर्तनी-विषयक विकल्पों के साथ आता है :

बीबी बीवानां को फारसी। हिंदुही। च्यारों ही हकीकति ।
तरीक वेद की। कुरांन की। षुदाथ की इन्याइति रहम सौं। दिलमही थी।

(वार्तिक तिलक, अनु० ६)

——बड़ा भाई हयंदू छोटा भाई मुसलमान। हयंदूई मों पंडित नाम राषौं। सोइ नाम षूव। तब पंडितां आपणा सास्त्र देष्या। तब साहिजादा कुतुबदीन नवल नाम नजरि आया।

(वही, अनु० ११)

हयंदूगी तुरकी कुरांन भी हाजरि हुये अवलि पुरांन वाला बोला साहिजादे सलामति बहुत क्षुब सायति का वक्त है एक निवाला उठायए होम कराने वाला बोला ए साहिजादे बहुत षूब सायति का वक्त है घुंट एक ठंडा आब पाणी की लीजिए।

(वही, अनु० १५)

पहले उद्धरण में 'हिंदुही' का नाम भाषा के रूप में 'फारसी' के साथ लिया हुआ है। दूसरे उद्धरण में 'हयंदूई' हिन्दुओं की भाषा के रूप में उल्लिखित हुई है, जिसमें शाहजादे का नाम रखने के लिए पंडितों से अनुरोध किया गया है। तीसरे उद्धरण में 'हयंदूगी' 'तुरकी' भाषा के साथ लाई गयी है जैसे प्रथम में वह 'फारसी' के साथ लाई गयी है। इससे

स्पष्ट है कि वार्तिक तिलक के लेखक के समय में दिल्ली के शिष्ट समाज में दो ही भाषाएं प्रमुख रूप से प्रचलित थीं, हिन्दुओं में 'हुंदुही', 'हयंदूई' या 'हयंदूगी' और मुसलमानों में 'फारसी' अथवा 'तुरकी'। 'हयंदूई' वर्तनी-भेद से 'हिंदूई' है, तथा 'हिंदुही' और 'हयंदूगी' उसी के अन्य विकल्प हैं। कुछ लेखकों ने 'हिंदुकी' और ('हिंदकी' भी इस भाषा के नाम बताये हैं, किन्तु नागरी लिपि में उद्धृत किए गए इन तीन विकल्पों से स्पष्ट है कि उसका एक नाम 'हिंदुगी' रहा होगा, जिसको फारसी लिपि में लिखने पर 'हिंदुकी' या 'हिंदकी' पड़ गया।

'कुतुबशतक' की भी भाषा यही है। यद्यपि उसका लेखक उसको किस नाम से जानता था यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इस बात की यथेष्ट सम्भावना मानी जा सकती है कि वह भी इसको इसी नाम से जानता रहा हो। अन्तर दोनों की भाषाओं में इतना ही है कि रचना की भाषा तिलक की भाषा से अपेक्षाकृत प्राचीनतर है। दक्षिण भारत की मुसलमानी रियासतों में इसी भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया था और इसमें साहित्य-रचना की गई थी। बाद में इसे 'दक्खिनी' कहा जाने लगा था।

द्विवेदी युग : उपलब्धियाँ

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०
रीडर हिन्दी विभाग, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी।

भारतेन्दु युग में जिस नवीन चेतना का आविर्भाव हुआ था उसने जीवन के विभिन्न पार्श्व स्पर्श कर साहित्य को वह गति प्रदान की जो द्विवेदी युग में शतधा प्रवाहित हो युगान्तर उपस्थित करने का कारण बनी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-कविता का स्वर बदला, विषय बदला; उन्होंने साहित्य में भाव-परिवर्तन कर उसके अन्तरंग में क्रान्ति को जन्म दिया। भाव और विषय के विकास के साथ-साथ उसके बाह्य रूप का परिवर्तन द्विवेदी युग में हुआ। यह परिवर्तन एक अद्भुत परिवर्तन था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में भाव और विषय के साथ-साथ भाषा, छन्द आदि में नाविन्य की सृष्टि करने की चेष्टा की गई थी, किन्तु उसमें अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा के पक्षपाती थे और उनके व्यक्तित्व ने खड़ी बोली का साहित्य में आधिपत्य स्थापित न होने दिया। किन्तु ऐतिहासिक शक्तियां खड़ी बोली के पक्ष में थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु के पश्चात् श्रीधर पाठक जैसे सिद्ध कवि की खड़ी-बोली रचनाओं द्वारा उसके उज्ज्वल भविष्य की आशा होने लगी थी। द्विवेदी युग में उसका विकास हुआ। इस काल में उसने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र उतार कर नवीन परिधान ग्रहण किये और इस प्रकार हिन्दी कविता के नवीन रूप का जो क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मंडल के कवियों द्वारा स्थापित हुआ था वह बीसवीं शताब्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में पूर्ण हुआ——अर्थात् उसके आन्तरिक और बाह्य दोनों रूप नवीन वेश में दृष्टिगोचर हुए। शताब्दियों से प्रतिष्ठित काव्य-भाषा, ब्रजभाषा, के स्थान पर खड़ी-बोली की प्रतिष्ठा होना वास्तव में एक महान् साहित्यिक क्रान्ति थी। इससे एक लाभ यह और हुआ कि हिन्दी में गद्य और पद्य की भाषा का अन्तर मिट गया। इसकी सफलता का श्रेय आलोच्य काल को ही है जिसका नायकत्व महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे जागरूक और साधना-सम्पन्न व्यक्ति के हाथ में था। इतना ही नहीं, उन्होंने नवीन कवियों का मार्ग-प्रदर्शन किया। पिछले युग में जिस खड़ी बोली की नवीन कविता का जन्म मात्र हुआ था, उसे पुष्ट हो, द्विवेदी-युग में समर्थ और सशक्त होने का अवसर प्राप्त हुआ। १९०३ ई० में 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण करते ही महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी कविता के नवीन युग की घोषणा की और मैथिलीशरण गुप्त को ही नहीं, अन्य अनेक कवियों को भी 'महावीर' का 'प्रसाद' मिला। 'सरस्वती' का प्रत्येक अंक खड़ी बोली कविता की प्रगति का एक नवीन चरण बना।

द्विवेदी युग का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इसी काल में खड़ी बोली कविता ने अपनी क्षमता का परीक्षण किया। भारतेन्दुयुगीन कविता में प्राचीनता का अंश अधिक था, परम्परानुगत और काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों से ग्रस्त कविता का राज्य था। इसी सम्पदा को ले कर हिन्दी साहित्य पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ब्रजभाषा कविता में नवीन स्वर भरा था। जो थोड़ी बहुत खड़ी-बोली कविताएं निर्मित हुईं उनका जीवन से संस्पर्श दिखाई देता अवश्य है, किन्तु अत्यन्त क्षीण रूप में। नवोत्थान आन्दोलन और राष्ट्र की नवोदित आकांक्षाओं का वहन प्रधानतः ब्रजभाषा ने किया। उस समय कवियों की दृष्टि वर्तमान और अतीत की ओर ही अधिक थी। आलोच्यकाल में खड़ी बोली कविता सर्वांगीण राष्ट्रीय जागरण और चेतना का माध्यम बनी और उसने 'भारत भारती' जैसी रचना द्वारा भविष्य की ओर भी दृष्टि डाली। साथ ही उसमें आत्म-शक्ति, अपना भविष्य स्वयं निर्मित करने की शक्ति और ओज है। वास्तव में भारतीय नवोत्थान का द्वितीय चरण द्विवेदीयुगीन खड़ी बोली कविता को अपनी सीमा में पूर्णतः संवलित किये हुए है। युग के अनुसार हमें उसमें विषय-विस्तार मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी काव्य राज-दरबारों से बाहर निकल कर जीवन के कठोर पथ पर पैर रख चुका था। आलोच्य काल की खड़ी बोली कविता जीवन मार्ग की सभी दुरूहताओं और कठिनाइयों को झेलती हुई अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। कवियों ने समाज की सभी प्रकार की अनीतियों और दुर्बलताओं की विगर्हणा की और जीवन को सांस्कृतिक धरातल पर स्थित करने का भगीरथ

प्रयत्न किया। उन्होंने सामाजिक सत्य (व्यापक अर्थ में) और मानव की विभूति और उसका गौरव पहिचाना। वीर रसात्मक, भक्ति-रस पूर्ण और शृंगारात्मक रचनायें प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य की परम्परागत प्रवृत्तियों में योग प्रदान करते हुए भी उन्होंने उनके आन्तरिक रूप में, उनकी आत्मा में परिवर्तन कर दिया था। इस काल की वीर-भावना आश्रयदाता मात्र पर आश्रित न रह कर अपने व्यापकतम रूप में मानवी धरातल पर आसीन है। इसी प्रकार भक्ति-भावनाओं से पूर्ण रचनाएं समाजोन्मुखी हैं और शृंगार-प्रधान रचनाओं में कल्पना की उड़ान के साथ-साथ सामाजिक स्वस्थता है। द्विवेदी युग के लगभग अन्त में खड़ी बोली कविता स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म भाव-व्यंजना की ओर उन्मुख होकर अपनी शक्तिमत्ता का एक और प्रमाण देती है। विषय और भाव-विस्तार के साथ-साथ भाषा समृद्ध और शक्ति-सम्पन्न रूप धारण करते हुए अपना नित्य नवीन संस्कार करती है। काव्यगत प्रकृति-चित्रण ने भी रूप बदला। कहने का तात्पर्य यह है कि द्विवेदी युग में नवीन खड़ी बोली कविता व्यापक रूप धारण करती है। भारतेन्दु-युग में वह रति परम्परा से ग्रस्त कविता-कानन में एक उज्ज्वल क्षीण धारा के समान प्रवाहित हो रही थी। अब वह जीवन की भूमि को सींचने वाली विस्तृत जलधारा के समान है। वह बाह्य जगत् और अन्तर्मन दोनों की पिपासा शान्त करने वाली है। इस कविता-निधि ने अपने को महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीति काव्य, और मुक्तक, विविध छन्दों आदि सभी प्रकार की कला-विधाओं और रूपों तथा शैलियों द्वारा अभिव्यक्त किया और जीवन के वास्तविक सत्य, बुद्धिवाद, आदर्शवाद आदि को अपना प्रधान आधार बनाया। इस युग का कवि दृश्यमान वस्तु, तथ्य या घटना तक ही अपने को सीमित न रखकर उसके वास्तविक रहस्य को प्रकट करना चाहता है; वह वस्तु का या घटना का अधिक वर्णन न कर, अपने मन में उत्पन्न प्रतिक्रिया का, बाह्य जीवन के आधार पर कल्पना-प्रसूत जीवन का, अपनी भावनाओं और अनुभूतियों का समावेश करना चाहता है। काव्य-कला की दृष्टि से द्विवेदी युग का निस्सन्देह अत्यधिक महत्त्व है।

नवीन काल की सीमाएं केवल काव्य-क्षेत्र तक ही व्याप्त नहीं थीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने सतत परिश्रम द्वारा गद्य के लिये अनेक प्रकार की ज्ञान-सम्पत्ति जुटाई और स्वयं अपनी कई प्रकार की शैलियों को जन्म दिया। उन्हीं के समय में बालमुकुन्द गुप्त, चतुर्भुज औदीच्य, यशोदानन्दन अखौरी, पद्मसिंह शर्मा, प्रसाद, प्रेमचन्द, मन्नन द्विवेदी आदि अनेक गद्य-लेखक हुए जिन्होंने अपनी-अपनी शैलियों से उसे अलंकृत किया। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'इन्दु', 'प्रताप' आदि पत्र-पत्रिकाएं प्रकाण्ड और उद्भट लेखकों की रचनाओं से भरी रहती थीं। वे भाषा के रूप और विभक्ति-चिन्हों से लेकर राजनीतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, पुरातत्त्व सम्बन्धी ज्ञान-वर्द्धक आदि देशी-विदेशी—विषयों पर लेख लिख कर अपनी बौद्धिक क्रियाशीलता का परिचय दे रहे थे। उन्होंने शब्द-भंडार की अधिकाधिक वृद्धि की। द्विवेदी-युग में गद्य के विषय और उपादानों में अभूतपूर्व विकास दृष्टिगोचर होता है और हिन्दी भाषा एवं साहित्य की परिधि विस्तृत होती है। इसके अतिरिक्त महावीर प्रसाद द्विवेदी ने व्याकरण की दृष्टि से खड़ी बोली को स्थिरता प्रदान की। पीछे इस तथ्य की ओर संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली गद्य को विविध विषय-सम्पन्न तो बनाया, परन्तु वे उसके सुघड़ रूप की ओर ध्यान न दे सके थे। स्वयं उन्हीं की गद्य-रचनाओं में व्याकरण की दृष्टि से अशुद्धियां मिलती हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने लेखों द्वारा, और नए लेखकों से प्राप्त लेखों को शुद्ध कर हिन्दी भाषा-भाषियों का ध्यान विराम-चिन्हों, पैराग्राफों में विभाजन, शब्दों के शुद्ध रूपों आदि की ओर आकर्षित किया। उन्होंने अनिश्चित और अव्यवस्थित भाषा-परम्परा को स्थायित्व प्रदान किया। इस कार्य के लिए द्विवेदी युग की बौद्धिकता और तार्किकता ही अपेक्षित थी।

इतना ही नहीं, गद्य के विविध रूपों के कलात्मक विकास की ओर भी द्विवेदी युग में ध्यान दिया गया और कहानी, गद्य गीत आदि रूप तो निश्चित रूप से इसी युग की देन हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' (१८९३ ई०) और 'रुक्मिणी परिणय' (१८९४ ई०) की रचना कर नाटक क्षेत्र में अराजकता-पूर्ण परिस्थिति दूर करने की चेष्टा की थी। अन्य अनेक नाटककारों ने विविध-विषयक रचनाएं प्रस्तुत कर नाटक को गौरवपूर्ण पद पर आसीन किया। द्विवेदी युग में ही 'प्रसाद' जैसे नाटककार का आविर्भाव हुआ, यद्यपि वे स्वयं द्विवेदी जी के अनुगामी या शिष्य नहीं थे। नाट्य-कला के विविध रूपों का विकास और रचना-पद्धति में परिवर्तन भी इसी युग में हुए। यदि एक ओर पारसी रंगमंच के लिए नाटकों की रचना हुई तो दूसरी ओर परिष्कृत रुचि-सम्पन्न, शुद्ध और परिमार्जित भाषा में साहित्यिक नाटकों का निर्माण इस युग की अपनी विशेषता है। उपन्यास और कहानी क्षेत्रों में भी हमें प्रेमचन्द जैसा लेखक भी इसी समय मिलता है। द्विवेदी जी ने अनेक प्रकार की कहानियां 'सरस्वती' में प्रकाशित कर लेखकों को प्रोत्साहन प्रदान किया। कहानी और उपन्यास-क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक चित्रण, मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क और रचना-पद्धति के विकास की दृष्टि से द्विवेदी युग का ऐतिहासिक महत्त्व है। उपन्यासों के विभिन्न प्रकारों का निर्माण कर लेखकों ने कथा-साहित्य के उज्ज्वल आगामी युग की सूचना दी। गद्य के साहित्यिक रूप के विकास की दृष्टि से निबन्धों का सुन्दर

विकास हुआ और बालमुकुन्द गुप्त तथा अनेक लेखकों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। विषय-विस्तार के साथ-साथ निबन्धगत शैलियों की विविधता ने गद्य के इस रूप को सजीवता प्रदान की। उनमें निबन्ध-सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप निखर उठा है। इसी प्रकार समालोचना-क्षेत्र में द्विवेदी-युग ने अपनी सक्रियता प्रकट की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में जीवन की आलोचना तो बहुत हुई। साहित्यिकों की प्रतिभा ने अपने चारों ओर का जीवन परखा। उन्होंने साहित्यगत भावों और विचारों का मूल्यांकन करना भी प्रारम्भ कर दिया। किन्तु उनकी दृष्टि केवल गुण-दोष विवेचन तक ही सीमित रही। उसके आधार पर उस समय कोई गण्यमान्य समालोचक सामने न आ सका। द्विवेदी युग में, भारतेन्दुयुगीन समीक्षा-प्रणाली का थोड़ा-बहुत प्रचार रहने पर भी, समालोचना के तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन और समालोचना क्षेत्र का विस्तार मिलता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल जैसे समालोचक इसी युग में हुए। तुलनात्मक समालोचना, गवेषणात्मक समालोचना, भावात्मक समालोचना आदि का सूत्रपात इसी युग की प्रतिभा का परिचायक है। स्वयं द्विवेदी जी ने शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली की नींव डाली। यद्यपि समालोचना की ओर साहित्यिकों का जितना ध्यान जाना चाहिए था उतना तो न गया, तो भी साहित्य के एक विशेष और महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में उसका जो विकास हुआ वह इस युग की प्रधान घटना है।

वास्तव में भारतेन्दु-युग में नवीन और आधुनिक साहित्य का जो बीजारोपण हुआ था वह द्विवेदी युग में अंकुरित होकर और भी अधिक विकास को प्राप्त हुआ; उसकी अनेक शाखाएं-प्रशाखाएं फूट निकलीं। भारतीय पुनरुत्थान के द्वितीय चरण की भाव-भूमि में उसे विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। युग-निर्माता महावीर प्रसाद द्विवेदी के नायकत्व में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों और कवियों का उसे संरक्षण मिला हुआ था। पाश्चात्य और भारतीय भावों तथा विचारों के आलोड़न विलोड़न के फलस्वरूप उत्पन्न अमृत रस ने उसे सींच कर बड़ा किया और एक विशाल अश्वत्थ वृक्ष के रूप में परिणत कर हिन्दी भाषा भाषियों को मानसिक शीतलता प्रदान की। बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक गगन में अपनी साधना की प्रखरता लिए हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी सूर्य की भाँति उदित हुए। आज उनका नाम अत्यन्त गौरव और सम्मान सहित स्मरण किया जाता है।

जीवन की विशेष परिस्थितियों के फलस्वरूप नवोत्थान अथवा नवजागरण का जन्म हुआ था। साहित्य-कला-जगत् भी इस नव जागरण से अप्रभावित न रह सका। पाश्चात्य एवं भारतीय भावों तथा विचारों का आलोड़न-विलोड़न, मुद्रण कला, नवीन शिक्षा, विविध राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन, अंग्रेजी और बंगला साहित्यों का प्रभाव आदि कारणों ने जागरण-क्रम को तीव्रता प्रदान की। आधुनिक नवजागरण की सर्वप्रथम साहित्यिक प्रवृत्ति नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में दृष्टिगोचर होती है। नागरी-प्रचार और हिन्दी भाषा तथा साहित्य की सेवा के लिये जिस पावन उद्देश्य से इस सभा की स्थापना हुई उससे हिन्दी-भाषा-भाषियों में जीवन की परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न साहित्यिक चेतना का परिचय प्राप्त होता है। भाषा और साहित्य के प्रेम के कारण स्वर्गीय बाबू (बाद को डॉ०) श्यामसुन्दरदास, पं० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिव कुमार सिंह के प्रयत्नों से १८९३ ई० में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। १८९७ ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशित होने से न केवल हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में स्वर्णयुग का सूत्रपात होता है, वरन् खोज और समालोचना के उच्च स्तर की स्थापना भी होती है। यह पत्र प्रारम्भ में वार्षिक, फिर मासिक और फिर त्रैमासिक रूप में प्रकाशित हुआ। शुरू हो से उसमें साहित्य, समालोचना, इतिहास, समाज शास्त्र आदि के सम्बन्ध में उच्चकोटि के गवेषणापूर्ण और गम्भीर तथा विचारपूर्ण लेखोंने साहित्य जगत् में नई दिशा की ओर इंगित किया। उसमें प्रकाशित लेखों में व्यापक विषय-विस्तार और विविधता के दर्शन होते हैं। प्रगति की आतुरता 'पत्रिका' के प्रारम्भिक अंकों में भली भांति प्रतिबिम्बित है। आज भी वह हिन्दी की एक प्रमुख और उच्चकोटि की पत्रिका बनी हुई है, जिसमें विविध विषयों पर खोज तथा पांडित्यपूर्ण लेख निकलते रहते हैं।

इसी सभा की पोष्य पुत्री 'सरस्वती' पत्रिका भी नवजागरण का सन्देश लेकर अवतीर्ण हुई। उसने हिन्दी वाङ्मय की जो सेवा की वह चिरस्मरणीय रहेगी। जनवरी १९०० ई० में 'सरस्वती' मासिक पत्र का प्रकाशन हुआ। शुरू में यह पत्र बनारस से निकलता था और कार्तिक प्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, श्यामसुन्दरदास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और राधाकृष्ण दास उसके सम्पादक-मंडल में थे। १९०३ में महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में आने के बाद वह प्रयाग से निकलता रहा है। १८९८ ई० में किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा सम्पादित 'उपन्यास' ने कथा-साहित्य के निर्माण में अपना भरपूर योग दिया। 'सरस्वती' का संचालन तो स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी करते थे। द्विवेदी जी की लेखनी से प्रसूत लेख अन्य लेखकों के लिये आदर्श बने। उनकी साधना के प्रकाश ने 'सरस्वती' के माध्यम द्वारा हिन्दी साहित्य का कोना-कोना आलोकित किया। आज का हिन्दी साहित्य बहुत कुछ 'सरस्वती' की देन है।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' दोनों में नागरी-प्रचार और साहित्य के विविध अंगों के अतिरिक्त इतिहास एवं भूगोल, संस्कृति, मनोविज्ञान, दर्शन आदि विषयों पर गम्भीर रचनायें प्रकाशित होती थीं। इन सबका

श्रेय सभा को है। इतना ही नहीं, उसने एक वैज्ञानिक कोश प्रकाशित करने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया था। लेखकों और पाठकों के अभाव में यह कोई साधारण कार्य नहीं था। इसके अतिरिक्त सभा ने एक अत्यन्त पुनीत कार्य किया, जिसके लिये हिन्दी-संसार सदैव उसका ऋणी रहेगा। हिन्दी साहित्य का निर्माण तो बहुत समय से होता चला आ रहा था, किन्तु उसके वैज्ञानिक अध्ययन और सामग्री के संकलन का प्रयास अभी नहीं हुआ था। साहित्य की सामग्री इधर-उधर बिखरी पड़ी थी। उचित निरीक्षण और सुरक्षा के अभाव में वह काल-कवलित होती जा रही थी। सभा ने उसे संग्रहीत करने अथवा खोज-रिपोर्टों में उनके सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएं प्रकाशित करने का गुरुतर भार अपने ऊपर लिया और सफलतापूर्वक उसका निर्वाह किया। आज हिन्दी साहित्य की जो सामग्री उपलब्ध है और जो खोज-कार्य हो रहा है, वह बहुत कुछ सभा के कारण है। साथ ही सामान्य लोगों में भी साहित्य-सम्पदा को सुरक्षित रखने की चेतना उत्पन्न हुई। सभा के उद्योग से ही कचहरियों में नागरी और उर्दू दोनों लिपियों के व्यवहार की घोषणा की गई थी। १९१४ ई० के लगभग से सभा ने 'मनोरंजन पुस्तकमाला' के अन्तर्गत विविध-विषय-सम्बन्धी उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित कीं। इस प्रकार की जागरूकता की दृष्टि से द्विवेदी-युग महत्तम है। विदेशों में भी हिन्दी-प्रचार कार्य इस युग की चेतना का प्रतीक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था :

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल।।

भाषा-प्रेम के इन उद्बोधक शब्दों के कारण आलोच्य काल में भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में नव जागरण की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। सभा की प्रेरणा से ही १९१० ई० में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना हुई। हिन्दी साहित्य के सब अंगों की वृद्धि करना, देवनागरी लिपि का देश भर में प्रचार करना, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करना, हिन्दी की त्रुटियां दूर कर उसे सरल सुबोध बनाना; सरकारी कार्यालयों, देशी राज्यों, कॉलेजों, यूनीवर्सिटियों तथा अन्य स्थानों और समाजों में देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का उद्योग करना; हिन्दी के लेखकों और कवियों को पारितोषिक-वितरण, पदक आदि द्वारा प्रोत्साहित करना; उच्च-शिक्षा-प्राप्त युवकों में हिन्दी के प्रति अनुराग बढ़ाना; पाठशालाएं, विद्यालय तथा पुस्तकालय आदि स्थापित करना, उच्च परीक्षाओं की व्यवस्था करना आदि सम्मेलन के प्रधान उद्देश्य थे। प्रयाग की हिन्दी प्रवर्द्धिनी सभा, आरा और मेरठ की नागरी प्रचारिणी सभाएं, अलीगढ़ की भाषा संवर्द्धिनी सभा, कलकत्ते की हिन्दी साहित्य परिषद्, जालंधर की नागरी प्रचारिणी सभा तथा अन्य ऐसी ही संस्थायें हिन्दी भाषा एवं साहित्य का उन्नयन करने की दृष्टि से स्थापित की गई थीं। छोटे-छोटे नगरों में भी देवनागरी लिपि के प्रचार के लिए आन्दोलन जन्म ले रहे थे। हिन्दी प्रदेश में एक नई जाग्रति और एकता उत्पन्न हो गई थी। इसके अतिरिक्त 'पत्रिका' और 'सरस्वती' को छोड़कर 'मर्यादा', 'इन्दु', 'प्रभा', 'अभ्युदय', 'भारत मित्र', 'सैनिक', 'अर्जुन', 'आज', 'हिन्दी', 'बंगवासी' आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाएं नागरी और हिन्दी की चेतना का माध्यम बनीं। ऐसे अनेक प्रेस संचालित हुए जिनका ध्येय हिन्दी साहित्य का प्रकाशन था। बड़ौदा तथा अन्य देशी राज्यों ने भी इस सम्बन्ध में अपनी जागरूकता का परिचय दिया और शिक्षा-विभागों में हिन्दी को स्थान दिया जाने लगा। गुरुकुलों और राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी और पाठ्य-क्रमों में हिन्दी साहित्य को स्थान दिया गया। १९१९–२० ई० तक कलकत्ता विश्वविद्यालय और काशी विश्वविद्यालय ने, अन्य विषयों के अतिरिक्त, हिन्दी भाषा और साहित्य को पाठ्य-क्रम में निर्धारित किया। यहां तक कि इंडियन नेशनल कांग्रेस और गांधीजी द्वारा भी देवनागरी लिपि और भाषा राष्ट्रीय लिपि और राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार की गई। कुछ उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने दक्षिणी भाषा-क्षेत्रों में हिन्दी प्रचार-योजना प्रस्तुत की। स्वामी भवानी दयाल संन्यासी, गांधीजी आदि ने अफ्रीका में नागरी और हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिये स्तुत्य प्रयास किया। १९१६ ई० में तो अफ्रीका में एक हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी हुआ। स्वयं भारत में रामानन्द चट्टोपाध्याय और शारदाचरण मित्र जैसे अहिन्दी-भाषा-भाषी भी हिन्दी भाषा एवं साहित्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे। वास्तव में देश में यह भावना व्याप्त हो गई थी कि राष्ट्रीय एकता के लिये एक लिपि और एक भाषा का होना आवश्यक है। १९१० ई० में सभा ने इस विषय पर विचार किया और अनेक उपायों और साधनों की योजना बनाई। सरकार या कुछ हिन्दी-विरोधी सभाओं और व्यक्तियों से ज्यों-ज्यों विरोध होता था त्यों-त्यों हिन्दी प्रचार-आन्दोलन अधिकाधिक तीव्र होता जाता था। भारत में अन्तःप्रान्तीय साहचर्य और प्रचार द्वारा तथा विदेशों तक में हिन्दी-प्रेम की अभिव्यक्ति द्वारा हिन्दी-विरोधियों के प्रयत्न विफल ही हो सकते थे। इस व्यापक चेतना का अस्तित्व देश के तत्कालीन सभी शुभ-चिन्तकों में था। 'पत्रिका' और प्रधानतः 'सरस्वती' इस चेतना की माध्यम थी और महावीरप्रसाद द्विवेदी मूल स्रोत। उन्होंने तथा उनके सहयोगियों ने समस्त देश में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रति नया जोश फूंक दिया और न मालूम कितने हिन्दी-भक्तों

को जन्म दिया। हिन्दी-भाषा-भाषियों की इस प्रबल जाग्रति और चेतना ने एक सामूहिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

भाषा-क्षेत्र के अतिरिक्त साहित्य में जो नवीन चेतना और स्फूर्ति उत्पन्न हुई, उसने भी हिन्दी भाषा-भाषियों की अपनी सप्राणता का परिचय देने के साथ-साथ आलोच्य काल का जीवन स्पन्दित किया। पाश्चात्य सभ्यता के संस्पर्श और अपनी निजी आन्तरिक शक्ति के कारण देश किसी एक या दूसरी दिशा की ओर गतिमान हो उठा था। देशवासियों को अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान प्राप्त होने पर और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से जो पुनरुत्थान की भावना उत्पन्न हुई, उससे प्राचीन साहित्य के अनुशीलन और मनन की प्रेरणा मिली। हॉजसन ने १८३३–४४ ई० तक बौद्ध मत सम्बन्धी खोज की और रॉथ ने १८४६ ई० में, बोतलिक ने १८५२ ई० में और १८४९ ई० से १८७५ ई० तक मैक्समूलर ने, और उनके बाद प्रिंसेप, कनिंघम, एड्विन आर्नल्ड, ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन 'भारतीय' साहित्य का अध्ययन किया। फलतः प्राचीन साहित्य का महत्त्व विद्या-रसिकों के सामने आया। यह प्रक्रिया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में शुरू हो गई थी। उस समय राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि का ध्यान प्राचीन संस्कृत काव्य-रचनाओं और नाटकों की ओर गया। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी, लाला सीता राम 'भूप' तथा अन्य साहित्यिकों का ध्यान भी उस ओर आकर्षित हुआ। इस परम्परा का आलोच्य-काल में बहुत विकास हुआ। शक्ति, विकास, नैतिक आदर्श, वीरता, दृढ़ता आदि राष्ट्र-हितकारी गुणों के लिये उन्होंने प्राचीन साहित्य में अवगाहन तो किया ही, किन्तु उसका भाषा-रूप, भाव-विधान और छन्द-विधान पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। अनेक प्राचीन कथानकों को आधुनिक भाषा-माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया गया। भारतेन्दु युग में अनेक ऐसे छन्दों का प्रयोग हुआ था जो हिन्दी के छन्द कहे जा सकते हैं। द्विवेदी युग में खड़ी बोली के विकास के साथ-साथ संस्कृत वृत्तों का प्रचार प्राचीन गौरव-ज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न चेतना के कारण हुआ था। जिस प्रकार सुधारवादी आन्दोलनों में कुछ विभूतियां शुद्धवादी दृष्टिकोण ग्रहण कर अवतरित हुई थीं, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी भाव-संस्कार के लिये शुद्धवादी-दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा। पुरातन ज्ञान-गरिमा ने हिन्दी-कवियों और लेखकों के लिये एक नवीन दृष्टि-पथ उन्मुक्त कर दिया।

साहित्यिक नवजागरण के लिये पुरातन साहित्यिक गरिमा के साथ-साथ पाश्चात्य साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान के परिचय से भी हिन्दी प्रभावान्वित हुई। आधुनिक भारत के अग्रदूत राजा राम मोहन राय के समय से भारतवासियों के पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान-विज्ञान के साथ सम्पर्क की अनुदिन वृद्धि होती गई। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गद्य के क्षेत्र में और उत्तरार्द्ध में काव्य क्षेत्र में, हिन्दी साहित्य ने भी इस सम्पर्क का परिचय दिया। उत्तरार्द्ध में तो कई विश्व-विद्यालय भी खुले। यद्यपि नव-शिक्षा का सम्यक् प्रभाव अच्छा न पड़ा था, तो भी भारतीय और राष्ट्रीय जीवन की उन्नति की दृष्टि से भारतवासियों ने उसके साथ पूर्ण सहयोग प्रकट किया। आलोच्य काल में कॉलेजों और विश्वविद्यालयों की संख्या में भी वृद्धि हुई। नवीन शिक्षा के फलस्वरूप भारतेन्दु युग में नाटकों, काव्य ग्रन्थों, उपन्यासों, निबन्धों, ऐतिहासिक ग्रन्थों आदि के अनुवादों द्वारा नाविन्य का द्वार खोल दिया गया था, जिससे हिन्दी-साहित्य में भाव-जगत् का विस्तार हुए बिना न रह सका। इस साहित्यिक चेतना के श्रेष्ठतम उदाहरण श्रीधर पाठक हैं, जिन्होंने 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०) और 'ऊजड़ ग्राम' (१८८९ ई०) नामक अनुवादों के माध्यम द्वारा हिन्दी-काव्य का भंडार समृद्ध किया। उनसे भी पहले १८७६ ई० में बाबू लक्ष्मी प्रसाद ने गोल्ड स्मिथ कृत 'हरमिट' का 'योगी' के नाम से अनुवाद किया था। इन अनुवादों ने आगे चलकर कथा-काव्यों को प्रभावित किया, 'स्टाइलों' को प्रभावित किया। द्विवेदी युग में पाश्चात्य साहित्य के साथ सम्पर्क और भी बढ़ गया था—विविध प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों से यह कार्य और सरल हो गया था। शेक्सपियर, लौंगफेलो, पोप, ग्रे, बायरन, स्काट, शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स आदि की रचनाओं का अध्ययन और उनके रूपान्तर प्रचुर मात्रा में हुए। इसके साथ-साथ मिल, बर्क, मौर्ले, स्पेन्सर, टॉल्सटॉय, रस्किन, मैज़िनी आदि के विचार भी आए। इन सब ने मिल कर हिन्दी साहित्य के बाह्य और आन्तरिक रूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को प्रश्रय दिया। काव्य-रूप, छन्द-विधान, प्रतीक, कथा-सामग्री, विषय आदि सभी में नवीनता का संचार हुआ। साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण ने जन्म ग्रहण किया। इसी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप द्विवेदी युग के लगभग अन्त में 'स्वच्छन्दतावाद' का जन्म हुआ, जिसने हिन्दी काव्य में एक अभूतपूर्व कलात्मक एवं दार्शनिक आन्दोलन की नींव डाली। नाटक, उपन्यास आदि में भी नवीन विचारों का पूरा संचार मिलता है। गद्य और पद्य दोनों में पश्चिम से गृहीत 'कला कला के लिये' जैसे कलात्मक वादों का प्रचार होने लगा और लोगों का चित्र-शैली, नाद-शैली आदि की ओर ध्यान गया। समालोचना भी पाश्चात्य सिद्धान्तों की कसौटी पर कसी जाने लगी। निस्सन्देह कुछ नवयुवक साहित्यिकों ने उच्छृंखलता और अन्धानुकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित की। किन्तु पाश्चात्य प्रभाव के उत्कृष्ट और उदात्त रूप का भी अभाव न था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनायें इस प्रभाव को और भी

प्रोत्साहन प्रदान कर रही थीं। वास्तव में इस नवीन साहित्यिक चेतना के लिये वातावरण और परिस्थितियां अनुकूल थीं। 'आधुनिकता' ने उसका पूर्णतः पोषण किया।

ऐतिहासिक कारणों से बंगला भाषा और साहित्य का सम्पर्क अंग्रेजी भाषा और साहित्य से सर्वप्रथम स्थापित हुआ और फलतः उसमें नवीनता और आधुनिकता का बीज-वपन भी हिन्दी की अपेक्षा लगभग ६० वर्ष पूर्व हुआ। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों की सुविधा भी उसे बहुत पहले प्राप्त हो गई थी। हिन्दी साहित्य ने जब नया मोड़ लिया तो बंग-साहित्य उसके सामने आदर्श-स्वरूप था। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसकी गतिविधि समझी थी। पारसी थिएटर का घातक प्रभाव दूर करने की दृष्टि से हिन्दी के साहित्यकारों ने बंगला की प्रसिद्ध नाट्य-कृतियों के अनुवाद उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये। उपन्यास क्षेत्र में भी यही हुआ। बंकिम चन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय, माइकेल मधुसूदन दत्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि की रचनाओं के हिन्दी-रूपान्तर प्रकाशित किये गये। आलोच्य काल में इस प्रकार के अनुवादों की भरमार हो गई थी। बंगला के पयार छन्द का प्रयोग तो स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में मिलता है। द्विवेदी युग के अन्तिम भाग का हिन्दी छन्द-विधान बंगला के माध्यम द्वारा अंग्रेजी से प्रभावित हुआ। बंगला की भांति उर्दू और मराठी भी हिन्दी-चेतना को प्रभावित किये बिना न रह सकी। बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा आदि लेखकों की भाषा शैली में उर्दू का चुटीलापन है। हिन्दी-उर्दू का संघर्ष रहने पर भी दोनों का मूलाधार एक ही था। अतः पारस्परिक आदान-प्रदान उतना तो नहीं हुआ जितना हिन्दी और बंगला का हुआ, किन्तु स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी का मराठी भाषा एवं साहित्य से काफी सम्पर्क था। इस सम्पर्क का श्रीगणेश भी भारतेन्दु युग में हो गया था। द्विवेदी-युग में संस्कृत वृत्तों का अत्यधिक प्रयोग हिन्दी की अपनी चेतना के अतिरिक्त मराठी-प्रेरित भी था।

जागरण-काल में अपने चारों ओर की भाषाओं से प्रभाव स्वीकार करना हिन्दी की दुर्बलता का नहीं, सजीवता एवं सप्राणता का चिह्न था। बाह्य प्रभावों को आत्मसात् कर उन्हें अपनी प्रकृति के अनुकूल बना लेना मध्यदेशीय संस्कृति के अनुकूल ही था। उस समय उसमें अपनी मूलभूत जीवन-शक्ति थी, उस समय युग के प्रभावों से प्रभावित होना कोई खतरे की बात नहीं थी, विशेषतः जब कि हिन्दी में दूरदर्शी एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों का कोई अभाव न था। अपनी शक्ति तथा चारों ओर के प्रतियोगितापूर्ण वातावरण में हिन्दी में नवीन दृष्टि, कवियों तथा लेखकों में रूढ़ियों और नियमों के बन्धनों से मुक्त होने की प्रबल भावना पाई जाती है। वैज्ञानिकता, बौद्धिकता और तार्किकता का सम्बल ग्रहण कर उन्होंने जीवन के प्रति स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण अपनाया और व्यक्तिवाद का जन्म हुआ। व्यक्तिवाद, पाश्चात्य सम्पर्क से उत्पन्न एक ऐसी प्रमुख विशेषता है, जिसके रंग में बीसवीं शताब्दी का सारा हिन्दी साहित्य रंगा हुआ है। इसी समय साहित्य में जनवादी परम्पराओं, विचार-स्वातंत्र्य, देश-भक्ति और स्वतन्त्रता की भावनाएं प्रतिष्ठित हुई और नई चेतना के प्रकाश में भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं का फिर से मूल्यांकन किया जाने लगा।
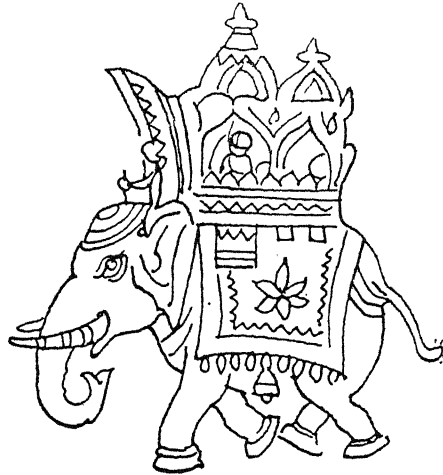
द्विवेदी युगोत्तर कविता में ध्वनि

डॉ० मोहन अवस्थी, एम० ए०, डी० फिल०
प्राध्यापक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से खड़ी बोली का पक्ष सबल बनाते हुए, भाषा व्यवस्थित करने में पर्याप्त परिश्रम किया। उस समय भाषा काव्योपयोगी नहीं थी। अतएव इस युग के कवि भाषा-परिष्कार तथा शब्द-शोधन में व्यस्त रहे। भाव-लालित्य की ओर ध्यान कम दिया गया।

परिनिष्ठित भाषा के अभाव, निश्चित मानदंडों के न होने एवं अन्य बोलियों के प्रभाव के कारण कविता की भाषा छोटी-छोटी जल-धाराओं की भांति कभी इधर, कभी उधर बहती हुई आगामी काल में मिलकर एक विशाल तरंगिणी बनने का प्रयत्न कर रही थी। इसलिए भाषा की वक्रता, वचन की भंगिमाएं इस युग में प्रायः नहीं मिलतीं।

द्विवेदी-युग के पश्चात् ध्वनि-शिंजित कविता का प्रचार अधिक हुआ, किन्तु यह ध्वनि बिहारीलाल द्वारा प्रदर्शित पथ पर नहीं चली। रीतिकाल में बिहारी ने व्यंजना को सर्वोपरिता दी थी। आधुनिक काव्य में व्यंजना को उस रूप में ग्रहण नहीं किया गया। प्राक्कालीन ध्वनि, व्यंजनाप्रधान होने से अत्यन्त दुरूह हो गई थी। बिहारी के दोहे में प्रकरण की कल्पना किये बिना प्रयोजन और बिना नायिका-भद एवं काम-शास्त्र से पूर्व परिचित हुए व्यंग्यार्थ समझ लेना टेढ़ी खीर है।

आधुनिक काल के काव्य में व्यंजना के वैसे उदाहरण बिल्कुल नहीं मिलते। यदि कभी किसी ने उस प्रकार की कविता लिख भी दी, तो उसमें नवीनता नहीं; जैसे, विपरीत-रति के निम्न उदाहरण में बिहारी की छाप स्पष्टतः दिखाई पड़ती है :

> **कर गहते ही लोट पोट हो मचल जाना**
> **मुख चूमते ही ललना का वह लजना।**
> **क्या ही था सुखद नूपुरों का मौन होना वह।**
> **मंद-मंद मंजु मेखला का वह बजना।**[1]

नूपुरों के इस सुखद मौन और मंजु मेखला के बजने में बिहारी का "करत कुलाहल किंकिनी गह्यौ मौन मंजीर" दोहा गूंज रहा है।

वर्तमान काल के छायावाद-युग में ध्वनि लक्षणा तक ही सीमित है और प्रयोजन के आगे बहुधा कम बढ़ती है। यद्यपि प्रतीकशैली, समासोक्ति तथा मुद्रालंकार के कारण वह अधिक बौद्धिक अवश्य है, फिर भी उसे समझने के लिये सैद्धान्तिक ज्ञान अनिवार्य नहीं। 'निराला' की संध्या सुन्दरी'[2] का पाठक 'अंकुरितयौवना' अभिसारिका के अनुभावादिकों से भले ही अवगत न हो, लेकिन अम्बर-पथ से (अम्बर-कपड़ा, अर्थात् पांवड़े, बिछे हुए—मार्ग से) आने वाली रूपसी की कोमलता एवं सुकुमारता की व्यंजना में उसे सन्देह नहीं हो सकता।

लक्षणा-मूला—लक्षणा-मूला-ध्वनि में अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि से द्विवेदी-युगीन काव्य तथा अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि से बाद की कविता अधिकांशतः गुंजित हुई है। अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि के मूल में उपादान लक्षणा होने से प्रारम्भ में कवि इसे बहुत पसन्द करते थे, लेकिन जैसे-जैसे परच्छन्दानुवर्ती-काव्य का ह्रास हुआ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का प्रयोग बढ़ता गया। प्रतीक-शैली में अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि ही रहती है, क्योंकि वहां कवि का अभीष्ट प्रयोजन छिपा रहता है।

---

(१) अनूप : ताजमहल, सरस्वती, जनवरी १९३३, पृ० २८
(२) निराला : परिमल, पं० सं०, पृ० १३४

अभिधा-मूला—अभिधा-मूला (विवक्षितान्य परवाच्य) असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि में रस, भाव, रसाभास और भावाभास व्यंग्यार्थ होते हैं। द्विवेदी-काल रस-योजना का काल था; छायावाद-प्रगतिवाद में भाव, रसाभास, भावाभास के दृष्टान्तों का प्राचुर्य है। रस-प्रकरण में एतद्विषयक विवेचना की जा चुकी है। संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि की शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि के वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि दोनों भेदों में विवेचनाश्रित-काल के कवि ने अपने रचना-नैपुण्य का प्रमाण दिया है।

अभिधा-मूला शब्द-शक्त्युद्भव-ध्वनि मुद्रादि अलंकारों के कारण वर्तमान कविता का प्रधान युग है। इनके अतिरिक्त भी सरल, ऋृजु तथा मार्मिक उदाहरण प्राप्त हैं :—

(प्रिय) यामिनी जागी।[1]

में 'यामिनी' शब्द बदल देने से प्रतीक्षा-रत-अपलक-जागरण की जो व्यंजना है, वह समाप्त हो जायेगी। 'यामिनी' में याम-याम गिन-गिन कर समय काटने का व्यंग्यार्थ छिपा हुआ है।

अलंकार-ध्वनि तो छायावाद-युग में पर्याप्त है। 'पन्त' की ग्रंथि में इसके अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। यों और स्थानों पर भी शब्द-शक्त्युद्भव-अलंकार-ध्वनि मिलती है :—

पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज।[2]

'सरोज' शब्द में मानवता उपमेय का उपमान सर (सरोवर) भी व्यंग्य है।

अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि में वस्तु से वस्तु व्यंग्य के प्राचीन उदाहरणों में एक वस्तु से संलग्न दूसरी वस्तु की व्यंजना रहती थी या किसी व्यापार से वस्तु-व्यंजना होती थी। साथ ही इस व्यंग्य के लिये सोचना पड़ता था। जैसे—

सर सनमुख धावहिं फिरहिं फिर आवहिं फिर जाहिं।
मधुप-पुंज ये अति मधुर गुंजत अधिक सुहाहिं।[3]

में मधुपों का सर के पास पुनः पुनः आना कमलों के सद्य-विकास की व्यंजना करता है। लेकिन साधारणतः पाठक की समझ में यह व्यंग्य नहीं आता। आधुनिक कवि वस्तु से वस्तु-व्यंजना इस चमत्कार के साथ करता है कि वस्तु से वस्तु व्यंग्य स्वतः हृदयंगम हो जाता है :—

तुम डरो नहीं, डर वैसे कहां नहीं है,
पर खास बात डर की कुछ यहां नहीं है,
बस एक बात है, वह है केवल ऐसी,
कुछ लोग यहां थे, अब वे यहां नहीं हैं।[4]

"कुछ लोग यहां थे, अब वे यहां नहीं हैं" वाच्यार्थ से व्यंग्य है कि उन व्यक्तियों के साथ कोई असामान्य घटना अवश्य घटी होगी। इसी प्रकार वस्तु से अलंकार-ध्वनि में वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ है :—

मैं सन्नाटा हूं फिर भी बोल रहा हूं।[5]

यहां विभावना 'और' विरोधाभास', अलंकारों की ध्वनि है, किन्तु यह अभिधेयार्थ की भांति स्पष्ट लक्षित होते हैं :—

लेकिन इस काल के कवि की शिल्प-चातुरी शब्द-अर्थ-उभय-शक्ति-उद्भव-ध्वनि-योजना में है। इस विधान में भी अर्थ खींच-तान की आवश्यकता नहीं। कवि द्वारा प्रस्तुत शब्द-शय्या के अर्थ से व्यंग्य-परिज्ञान करने के लिये सरल शब्दार्थ पर्याप्त है, 'अमरकोश' खोलकर माथा-पच्ची करने की जरूरत नहीं। आधुनिक कविता की यह प्रवृत्ति निम्नांकित उदाहरण से भली-भांति प्रकट हो जाती है :—

मूंद नयनों में अचंचल
नयन का जादू भरा तिल,

---

(१) निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० २
(२) पन्त : बापू के प्रति, सरस्वती जून, १९३६, पृ० ५९६
(३) कन्हैयालाल पोद्दार कृत काव्य कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पं० सं०, पृ० २६७ से उद्धृत
(४) भवानी प्रसाद मिश्र : सन्नाटा, वि० भारत, फरवरी, १९३८, पृ० २४२
(५) वही।

दे रही हूं अलख अविकल,
को सजीला रूप तिल-तिल ।[1]

'नयन का तिल' अर्थात् आंख की पुतली। 'जादूभरा' का लक्षणा से अर्थ हुआ (जिसमें किसी का जादू भरा रूप बस गया है।) मैं उस 'अलख' (पुतली दिखाई नहीं पड़ती) 'अविकल' (क्योंकि अब वह निराश होने से दर्शनार्थ व्याकुल नहीं रहती) को तिल-तिल कर के अपना रूप प्रदान कर रही हूं। पिंडितार्थ यह कि रात-दिन आंखें बन्द कर के रोती रहती हूं। यहां विरह-वेदना की व्यंजना है।

दूसरा अर्थ और भी सुन्दर है। 'नयन का जादूभरा तिल' अर्थात् परमाकर्षक इन्द्रजाली, नेत्रों का तारा, मेरा प्रियतम। मैं अपने उस प्रियतम की स्थिर छवि को अपने नेत्रों में बन्द कर के उसे तिल-तिल (धीरे-धीरे) 'सजीला' (सुन्दर सजा हुआ) रूप प्रदान करने का (साकार बनाने) का प्रयास कर रही हूं। यहां प्रिय के ध्यान की व्यंजना है।

तीसरा अर्थ होगा कि 'अचंचल' (ध्यानस्थ) नेत्रों में जादूभरी (प्रियतम-छवि-सिक्त) पुतली को बन्द कर के मैं उस अलख, अविकल (अपरिवर्तनशील, व्यंजना से निष्ठुर) को तिल-तिल कर के अपना सजीला रूप प्रदान कर रही हूं। 'सजीला' शब्द में सजलता, आर्द्रता, करुणा की व्यंजना है, अर्थात् मैं बराबर रो-रोकर क्षीण हुई जा रही हूं। मैं अपना रूप उसे भेंट कर रही हूं। 'अपना रूप' का अर्थ यदि आत्मा लें, तो उसमें लय हुई जा रही हूं, यदि अहंभाव से प्रयोजन है, तो मैं अहं (मान) छोड़ रही हूं। तिल (तिला) का अर्थ स्वर्ण भी होता है। तब 'नयन का जादू भरा तिल' का अर्थ 'नेत्रों का आकर्षण' हुआ।

उपर्युक्त उदाहरण में अभिधामूला-शाब्दी-आर्थी-व्यंजना होने पर भी रीतिकालीन दुरूहता नहीं है। इस प्रकार आधुनिक ध्वनि न नितान्त बौद्धिक ही है, न निपट वाच्य। अभ्यान्तरिक काव्यगत होने से अल्प हार्दिकता का मेल भी उसमें उपलब्ध होता है।

आधुनिक कविता में विज्ञान के कारण लक्षणा-मूला अत्यन्त-तिरस्कृत ध्वनि-गर्भित कुछ कथन अब अभिधामूला-संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के उदाहरण बन गये हैं :—

चौदह चक्कर खायेगी जब यह भूमि अभंग,
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग।[2]

'अभंग भूमि के चौदह चक्कर खाने' में लक्षणा से यह अर्थ निकलता है कि एक वर्ष प्रिय वियोग में ऐसे कटता है, जैसे पृथ्वी उलट-पलट जाती हो। यदि चौदह वर्षों की उथल-पुथल में वह अभंग बनी रही, तो प्रियतम प्रभु के साथ इस ओर घूमेंगे (लौटेंगे या विचरण करेंगे)। व्यंजना यह है कि चौदह वर्षों में इस भूमि की दुर्दशा हो जायेगी। यहां का जीवन-क्रम भंग हो जायेगा, तब कहीं प्रियतम का आना होगा। विरह-पीड़ित जीवन की कष्ट-कल्पना व्यंग्य है। किन्तु विज्ञान-प्रमाणित पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर एक वर्ष में एक चक्कर काटने के अनुसार सीधा अर्थ यह हुआ कि जब पृथ्वी अभंग गति से चौदह चक्कर लगा लेगी, तब प्रियतम का लौटना होगा। यहां 'घूमने' शब्द में व्यंजना है कि जब पृथ्वी घूमकर इधर आयेगी, तो प्रियतम भी इधर घूमेंगे (यद्यपि यह ठीक नहीं, क्योंकि तब प्रेयसी भी तो घूमकर उधर चली जायेगी)। द्वितीय अर्थ में कालावधि के कथन से विरह-कष्ट-व्यंग्य है।

लाक्षणिक-प्रयोग—इन विशेषताओं के साथ इस युग के काव्य-शिल्प का परिचय प्रधानतः लाक्षणिक प्रयोगों से मिलता है। लाक्षणिकता इतनी प्रिय हुई कि वह वर्तमान काव्य की एक शैली ही बन गई। आधुनिक हिन्दी कविता के प्रथम दो दशक भाषा-भाव की सरलता एवं सर्वगम्य अभिव्यक्ति के वर्ष हैं। इन वर्षों में तथ्य-कथन की अपरोक्ष ऋजु शैली का महत्त्व अधिक था, इसलिये शब्द अभिधा-शक्ति तक सीमित थे। द्विवेदी-युग के कवियों की कविताओं में अभिधा का ही प्रचलन था। गुप्तजी की 'भारत भारती,' 'रंग में भंग' तथा 'जयद्रथ वध' की लोकप्रियता अभिधा के कारण अधिक हुई। १९२० ई० तक द्विवेदी-वर्ग के बाहर भावी छायावादियों की रचनाओं में भी वे ही गुण उपलब्ध होते हैं :—

धूल भरे, घुंघराले काले
भइया को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर चुम्बित मेरे
गोरे गोरे सस्मित-गाल,[3]

(१) महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ४२
(२) गुप्त साकेत, प्र० सं०, पृ० २९०
(३) पन्त : पल्लव, पं० सं०, पृ० ८९

अभिधा के समादर के दो कारण थे—लोक-सम्पर्क की तीव्र इच्छा तथा रसवादी विचारधारा। १९२२ ई० में पन्त की 'उच्छ्वास' पुस्तक के प्रकाशन के साथ 'लक्षणा' ने काव्य में अपना आधिपत्य जमाना प्रारम्भ किया। लेकिन छायावाद के पतन के पश्चात् प्रगतिवादी एवं यथार्थवादी काव्य ने उसका विजय-ध्वज पुनः फहराया। 'बच्चन', नरेन्द्र, 'दिनकर', 'अंचल', 'नेपाली', 'सुमन' आदि कवियों में अभिधा का ही कौशल काव्य को रमणीय बनाता है।

द्विवेदीकालीन कवि सामाजिक था, छायावादी वैयक्तिक; अतः उसे भाषा को अपनी विशिष्ट भंगिमा देनी पड़ती थी। दूसरा कारण यह भी था कि छायावाद ने सूक्ष्म-वस्तु-विवान (विशेषतः सूक्ष्म-भाव) कविता का विषय बनाया, अतः बिम्ब ग्रहण कराने के लिये उसे लक्षणा का सहारा लेना अनिवार्य हो गया। द्विवेदी-भूमि के कवियों के लिये ये नवीन प्रयोग 'प्रिटी नान्सेन्स' मात्र थे।[1]

द्विवेदी-युग के कवियों में लक्षणा के प्रयोग यदि मिलते हैं तो वे अधिकांश रूढ़ हैं। मुहावरों के अतिरिक्त इस काल की रचनाओं में लक्षणा की मूर्तिविवायकता के दर्शन नहीं होते। हां, छावायाद के बाद के कवियों ने अवश्य रूढ़ि-लक्षणा के स्थान पर लक्षण-लक्षणा के प्रयोग भी किये।

रूढ़ि-लक्षणा, लक्षण-लक्षणा, प्रयोजनवती—उपादान—सारोपासाध्यवसाना, गौणी-शुद्धा तथा उनके मिश्रित भेदोपभेद की सूची और उदाहरण संकलन कर विषय को तूल देना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि आधुनिक कविता में लगमग सभी प्रकार के निदर्शन उपलब्ध हैं। देखना यह है कि आधुनिक काव्य के लाक्षणिक प्रयोगों में कवि ने स्वशिल्प द्वारा कहां तक चमत्कार लाने का प्रयास किया है। ध्वनि में उसने अपने कौशल से क्या नूतन झंकार उत्पन्न की है?

विमर्श्य-काव्य अपनी लाक्षणिकता में चित्र-विचित्र है। हिन्दी-कविता लाक्षणिक प्रयोग-शून्य कभी नहीं थी। 'घनानन्द,' 'पद्माकर', 'सूर' में लक्षणा के बहुत मार्मिक एवं मधुर उदाहरण मिलते हैं। परन्तु वे उदाहरण अधिकांश सारोपा के हैं, साध्यवसाना प्रायः उपादान-मूला है और रूढ़ि या उपलक्षण मात्र पर आधारित है। फिर वे प्रयोग काकतालीय हैं, आधुनिक काल की लाक्षणिक कविता काव्य की एक शैली है। प्राचीन 'श्याम रंग' कृष्ण के लिये रूढ़ है।' 'चित्त का बोरना', 'उर में गड़ना' 'मन लेना' आदि मुहावरे लाक्षणिक होते हुए भी परम्परा मुक्त होकर वाच्यार्थ—से ही हो गए हैं।

उपादान-लक्षणा प्राचीनों को बहुत प्रिय थी। 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' में नयन अपना अर्थ न छोड़ते हुए आंसू का आक्षेप करता है। आधुनिक काव्य में उन परम्परीण प्रयोगों के स्थान पर नये अप्रस्तुत लाये गये। 'उपलक्षण' के आधार पर उपादान-लक्षणा का प्रगतिवादी प्रयोग उल्लेखनीय है :—

युवती के लज्जा वसन बचकर ब्याज चुकाये जाते हैं।[2]

लक्षण-लक्षणा आधुनिक कविता में विशेषतया द्रष्टव्य है। महादेवी की कविताओं में पग-पग पर इसके उदाहरण मिलते हैं :—

अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहां मधुमास[3]

'अश्रु से मधुकण लुटाना' का अर्थ है पीड़ा का आनन्द प्रदान करना। किन्तु आधुनिक काव्य लक्षणा के गुम्फित प्रयोगों के कारण अत्यन्त शोभनीय है। कभी-कभी तो उपादान तथा लक्षण-लक्षणा आदि का भेद करना कठिन हो जाता है :—

नादान तुम्हारे नयनों न,
चूमा है मुझको कई बार।
कर लिये बन्द क्यों आज कहो,
मानस के दो घनश्याम द्वार।[4]

'मानस के द्वार' में लक्षण-लक्षणा है, किन्तु 'दो' और 'घनश्याम' विशेषण आंखों की ओर संकेत भी करते हैं।

---

(१) श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी पहली रचना भेजी है—पर विलक्षणता लाने के लिये उन्हें—अर्थहीन शब्दों (Pretty Nonsense) को योजना छोड़ देनी चाहिये। 'अनवसित अवसान' अथवा 'नीरव गान' के समान शब्दों के पिष्टपेषण से अथवा निरर्थक उपमाओं से अर्थ-गौरव नहीं आ जाता।
पुस्तक परिचय, सरस्वती, जनवरी, १९२२, पृ० १६८

(२) दिनकर : हुंकार, सप्तम सं०, पृ० ७३

(३) महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ५३

(४) नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० ४०

आँखों को मानस का द्वार कहना रूढ़ भी हो सकता है; किन्तु द्वार कहने में यह प्रयोजन है कि प्रिय की छवि उन्हीं के द्वारा हृदय में पहुंचती है ।

साध्यवसाना गौणी-लक्षणा रूपकातिशयोक्ति में विद्यमान रहती है । अतएव प्राचीन काव्य में इसके नमूने सभी कहीं प्राप्त हो जाते हैं। आधुनिक काल में उपमानों की नवीनता ने गौणी को शुद्धा कर दिया है :—

प्रथम भी ये नयनों के बाल खिलाये हैं नादान
आज मणियों ही की तो माल हृदय में बिखर गई अनजान,
टूटते हैं असंख्य उडुयन रिक्त हो गया चांद का थाल ।[1]

नयनों के बाल 'उडुगन' जैसे उपमानों का लक्ष्यार्थ 'आंसू' सादृश्य-सम्बन्ध पर आधारित नहीं है ।

छायावादी काव्य में शुद्धा-सारोपा-लक्षण-लक्षणा का प्रयोग बहुत हुआ[2] है । शुद्धा-साध्यवसाना-उपादान-लक्षणा, छायावादी युग के बाद के काव्य का एक प्रधान गुण बन गई है :—

कुटियों पर महलों को वारो पकवानों पर दूध दही[3]

× × ×

है अपूर्व यह युद्ध हमारा हिंसा की न लड़ाई है,
नंगी छाती की तोपों के ऊपर विकट चढ़ाई है
तलवारों की धार मोड़ने गरदन आगे आई है,
सर की मारों से डंडों की होती यहां सफाई है ।[4]

लक्षणा के ऐसे अनूठे प्रयोग भी इस काल में देखने को मिले, जिनमें लक्ष्यार्थ का प्रकाश वाच्यार्थ को द्विगुणित दीप्ति प्रदान करता है । दूसरे शब्दों में, अभिधेयार्थ का वैचित्र्य ही इतना हृदयहारी होता है कि लक्ष्यार्थ के लिये बुद्धि व्यग्र नहीं होती :—

वह मृदु मुकुलों के मुख में,
भरती मोती के चुम्बन ।[5]

इन प्रयोगों में अभिधा में ही चित्रात्मकता है, लक्षणा में उतना आनन्द नहीं मिलता । लेकिन इसके साथ ही लक्षणा कहीं कहीं इतनी दुर्बोध है कि मस्तिष्क खुरचने पर भी बहुत कठिनाई से अर्थ स्पष्ट होता है :—

ऋषियों के गम्भीर हृदय-सी,
बच्चों के तुतले भय-सी ।[6]

यहां भय का लक्ष्यार्थ 'भय का कारण' और तुतले भय का लक्ष्य-अर्थ हुआ 'तुतलाते हुए व्यक्ति द्वारा व्यंजित भय ।' लक्षणाभास के उदाहरण भी कम नहीं हैं :—

कहती अपलक तारावलि,
अपनी आंखों का अनुभव ।
अवलोक आंख आंसू की,
भर आतीं आंखें नीरव ।[7]

'आंसू की आंख' का लक्ष्यार्थ 'आंसू' से अधिक और कुछ नहीं हो सकता । अतः ऐसे लाक्षणिक प्रयोग अभिधा से भी निम्नतर कोटि के हैं । नवीनता का पदे-पदे उन्माद कवि की कभी-कभी लक्षणा की मात्र वप्रक्रीड़ा में ही उलझा

---

(१) पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० १७
(२) बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं ।
—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ३३
(३) एक भारतीय आत्मा : अपने सपूत से, माधुरी, मार्च, १९२३, पृ० १
(४) नेपाली : उमंग, १९३४, पृ० ९१
(५) पन्त : गुंजन, सा० सं० पृ० ८९
(६) पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति पृ० ६८
(७) पन्त : गुंजन, सा० सं० पृ० ३१

देता है और तब वह प्राण हीनता के लिये प्राणों से 'वंचित प्राण' पद का प्रयोग करता है ।[1] इसके अतिरिक्त भी लाक्षणिक प्रयोगों की प्रचुरता अब रूढ़ि-सी होकर काव्य में श्लीपदता उत्पन्न कर रही है। लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलावृत्ति ने उन्हें अभिधेयार्थ का पद प्रदान कर दिया है।

तम फटा, आलोक फूटा,
जग उठीं सोती दिशाएं,
खग जगे, सपने धुले सब,
खिल उठीं सब वासनाएं।[2]

ध्वनि से ही सम्बद्ध अनुरूपक (metaphor), विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण तथा ध्वन्यर्थ व्यंजना आदि पाश्चात्य अलंकार हैं। प्रतीक भी प्रयोजनवती-लक्षणा का ऊर्जस्वीकरण है। द्विवेदी युग के बाद की कविता में विशेषण-विपर्यय तथा प्रतीक का प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि इस युग के काव्य को ध्वनि-काव्य कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

(१) शब्द शून्य थे भाव, रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण ।
—पन्त : आचार्य के प्रति, सरस्वती, जून, १९३३, पृ० ६५२

(२) शिव सेवक शर्मा : पंछी, विशाल भारत, नवम्बर, १९३९, पृ० ४३१

छायावादी काव्य और दर्शन एक सामान्य विचार दृष्टि

भगीरथ मिश्र
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय ।

साहित्य और दर्शन का क्या सम्बन्ध है ? यह सदैव एक विचारणीय प्रश्न रहा है और इसके उत्तर में अनेक प्रकार के मत प्राप्त होते हैं । आजकल के साहित्य के विशिष्ट सन्दर्भ में कुछ लोग यह कहते हैं कि दर्शन का साहित्य से कोई खास सम्बन्ध नहीं होना चाहिये; क्योंकि साहित्य एक रचना है, एक कला है और दर्शन एक विचार-पद्धति है । दर्शन से अत्यधिक सम्बन्धित कर के हम साहित्य को बोझिल बना देते हैं; और ऐसा होकर साहित्य या काव्य, कला की विशिष्टताओं और रचनात्मक प्रवृत्तियों से क्षीण हो जाता है ।

परन्तु, इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि साहित्य या काव्य, दर्शन के बिना हल्का रहता है और जीवन में उसकी उपयोगिता और महत्ता प्रायः नहीं रह जाती । उपर्युक्त दोनों ही मतों में वैचारिकता का अतिरेक देखने को मिलता है । यहां हम यह सोचते हैं कि दर्शन अथवा विचार-पद्धति, कोई जीवन और तदनुसार साहित्य से अलग और बाहर की वस्तु है । जिस प्रकार जीवन की सुन्दर गतिविधि और नियंत्रित प्रगति के लिये विचार-पद्धति आवश्यक होती है, उसी प्रकार साहित्य अथवा काव्य के लिये भी । दर्शन का समावेश जीवन अथवा साहित्य में होने का यह तात्पर्य नहीं, कि वह जीवन या उस दर्शन के प्रचार के लिये है । प्रचार का उद्देश्य न रखते हुए भी जीवन और काव्य के अन्तर्गत दर्शन की अपेक्षा और महत्त्व है । कहा जा सकता है कि दर्शन या विचार-पद्धति के बिना जीवन या साहित्य का ढांचा, बिना रीढ़ का और शिथिल रहेगा । स्पष्ट है कि यहां दर्शन का तात्पर्य किसी साम्प्रदायिक विचार-धारा से न होकर युग की मुख्य वैचारिक चेतना और अपनी निजी, निर्णीत तथा अनुभूत विचारसरणी है, जिसकी आवश्यकता जीवन और साहित्य में मेरी दृष्टि से अनिवार्य है ।

जब हम व्यापक रूप से संसार का और विशेष रूप से भारतीय काव्य का अवलोकन करते हैं, तो यह बात और भी अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाती है । जितने भी महान् कवि हैं और जितनी भी उनकी उत्कृष्ट रचनायें हैं, उन सब में हमें एक-न-एक विचार-पद्धति अवश्य मिलती है । कभी-कभी भावों और कल्पनाओं के सुन्दर अवगुण्ठन में विचार इस प्रकार से आवृत रहता है कि उनका स्पष्ट अनुभव हम नहीं कर पाते । परन्तु जब उसके अस्तित्व का भान होता है तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है । और प्रायः महान् कृतियों में यह बात अवश्य मिलती है । इससे स्पष्ट होता है कि दर्शन का जीवन और साहित्य से अनिवार्य सम्बन्ध है । वास्तव में दर्शन या विचार, साहित्य या काव्य का एक तत्त्व है । और जहां पर उसका अभाव रहता है, वहां पर न तो जीवन और न काव्य ही पूर्णता को प्राप्त कर सकता है ।

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में विचार करने पर हम देखते हैं कि उसके प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत भक्ति काव्य में और आधुनिक साहित्य के अन्तर्गत छायावादी काव्य में दार्शनिक तत्त्व विशेष रूप से मौजूद हैं । भक्ति काव्य तो दर्शन की किसी पद्धति को अपना कर चलने वाला काव्य है, और अधिकांश रचनायें ऐसी भी हैं जिनमें उन पद्धतियों के प्रचार का आग्रह है । इस कारण से उनमें काव्य का कला-पक्ष कहीं-कहीं क्षीण भी हो गया है । परन्तु जिन कवियों ने प्रचार का वैसा उद्देश्य नहीं रखा, वरन् जीवन के सुन्दर और आदर्श रूप से अभिभूत होकर उसको केवल दार्शनिक भूमिका ही प्रदान की है, उनका काव्य सर्वांग सुन्दर है । सूर और तुलसी का काव्य इसी प्रकार का है ।

छायावादी काव्य इस दृष्टि से कला के प्रति और भी अधिक जागरूक है । परन्तु उसमें दार्शनिक विचार की अन्तःसलिला विद्यमान है, इसमें सन्देह नहीं । इस काव्य के सम्पूर्ण गौरव का स्पष्टीकरण उसके अन्तर्व्याप्त दर्शन की

व्याख्या से ही हो सकता है। छायावादी काव्य के प्रमुख स्तम्भ हैं---प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा। इनकी रचनाओं में कोई-न-कोई दार्शनिक पूर्वभूमि मौजूद है। वरन् हम यह कह सकते हैं कि पूर्ववर्ती और समवर्ती अनेक दार्शनिक विचारधाराओं के सम्मिश्रण से जो उस समय एक नवीन दार्शनिक संस्कृति का निर्माण हुआ था, वह इनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि में मौजूद है। उसमें कोई साम्प्रदायिक आग्रह नहीं। इसके साथ ही यह एक राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में प्रकट हुई है। समकालीन राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति उसमें देखी जा सकती है। ऐसी दशा में छायावादी काव्य का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिये तथा उसकी गरिमा को हृदयंगम करने के लिये सहस्रधार होकर बहने वाली इस दार्शनिक विचार-धारा को समझना आवश्यक है। इन छायावादी कवियों ने दर्शन का मंथन करके उसको मृदु रसमय बना दिया। वह शुष्क चिन्तन नहीं। चिन्तन की विविधता उसकी सतरंगी आभा होकर प्रकट हुई है। अतः यहां यह कहना भी आवश्यक है कि इन कवियों की काव्यकला भी इस सतरंगी दार्शनिक आभा से अलग कर के देखी नहीं जा सकती। प्राचीन काव्य और छायावादी काव्य के अध्ययन में यह विशेष अन्तर परखने की आवश्यकता है। इस अध्ययन के लिये विविध दार्शनिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण सर्वप्रथम अपेक्षित है। इस पृष्ठभूमि को समझने पर हम यह देख सकते हैं कि अनेक स्रोतों और दिशाओं से प्राप्त वैचारिक सम्मति को इन कवियों ने किस प्रकार से एक युगीन राष्ट्रीय और कला चेतना के रूप में ग्रहण किया है। यह राष्ट्रीय चेतना और कला चेतना छायावादी कवियों की विशिष्ट उपलब्धि है। इस युग का प्रगतिवादी काव्य कला चेतना के प्रति उदासीन है और परम्परागत कला को महत्त्व देने वाला काव्य वैचारिक चेतना से विरहित है। इसीलिये छायावादी काव्य युगीन और शाश्वत दोनों ही प्रकार की गरिमा से युक्त काव्य है।

दार्शनिक और कलागत समन्वित चेतना के प्रति जागरूक रहे बिना शायद हम छायावादी काव्य का समुचित मूल्यांकन नहीं कर सकते। जिन कवियों ने छायावादी काव्य-सम्पत्ति के वैभव को बढ़ाया है, उन्होंने इस समन्वित चेतना को प्राप्त करने के लिये बड़ी गम्भीर साधना की है, जिसकी ओर आज के नये कवि और नये आलोचक का ध्यान जाना चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो हम उन गम्भीर मौन सांस्कृतिक साधकों के प्रति बहुत बड़ा अन्याय करेंगे, जिन्होंने बड़े धैर्य के साथ अपनी राष्ट्रीय एवं आध्यामिक दोनों ही प्रकार की चेतना से मण्डित कृतियां साहित्य-संसार को भेंट कीं और उसके उपलक्ष्य में किसी भी अभिनन्दन और प्रशंसा की अपेक्षा भी न रखी। उन्होंने उस समन्वित चेतना को विकीर्ण करना अपना एक पावन कर्त्तव्य समझा और उसके द्वारा जीवन के प्रति गम्भीरता से देखने का दृष्टिकोण प्रदान किया; क्योंकि उनके लिये जीवन खिलवाड़ नहीं था। वह उद्देश्यपूर्ण एवं पावन कर्त्तव्यमय था। अपने साहित्य को ऐसा रूप प्रदान करते हुए इन कवियों ने अपने राष्ट्रीय दायित्व को भी निभाया, क्योंकि उन्होंने अपने युग के उत्कृष्ट संस्कार उस साहित्य के द्वारा बनाने के प्रयत्न किए।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के समझने पर हमें छायावादी काव्य के दार्शनिक विश्लेषण की आवश्यकता का अनुभव हो जाता है।
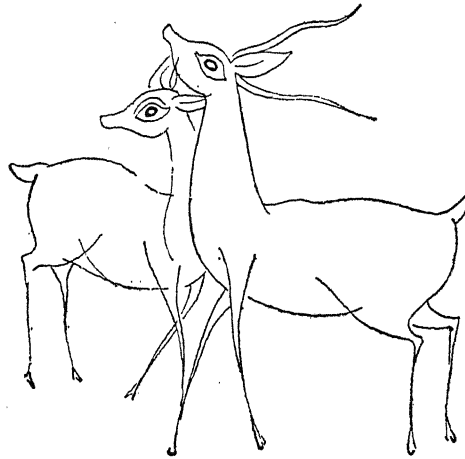
उत्तर प्रदेश के दो महान् कवि : प्रसाद और निराला

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, एम० ए०
उपकुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ।

पिछले कुछ समय से हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में यत्र-तत्र यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि कवि की दृष्टि से प्रसाद और निराला में श्रेष्ठतर प्रतिभा किसकी रही है और हिन्दी काव्य में किसका प्रदेय अधिक मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण है ? विशेषकर निराला जी के स्वर्गवास के पश्चात् इस प्रश्न को साहित्यिकों में आग्रहपूर्वक विचार का विषय बनाया गया है । यद्यपि दो विशिष्ट कवियों की तुलना इतने स्वल्पकाल में प्राय: नहीं की जाती और इस प्रकार के प्रश्न के निर्णय के लिये लम्बे समय का व्यवधान आवश्यक माना जाता है, परन्तु इस प्रश्न के उठाये जाने का कुछ न कुछ कारण भी है ही । हमारी दृष्टि में इसका कारण यह प्रतीत होता है कि निराला के प्रति पिछले वर्षों में हिन्दी के साहियिक समाज में अतिशय श्रद्धा और सम्मान की भावना उत्पन्न और व्याप्त हो गई है, जिसका मुख्य कारण निरालाजी की वैयक्तिक विषम स्थिति थी । वे न केवल शारीरिक और मानसिक व्याधियों से आक्रांत थे, वरन् उनकी आर्थिक दशा भी शोचनीय थी । अन्तिम वर्षों में उनकी सेवा-शुश्रूषा और चिकित्सा आदि की उपयुक्त व्यवस्था नहीं हो सकी थी, जिसके कारण लोगों की सहानुभूति उनके प्रति अत्यधिक मात्रा में उभर उठी थी। दूसरी बात यह है कि इन विपरीत परिस्थितियों के रहते हुए भी निरालाजी ने इन वर्षों में उत्तम कोटि की काव्य-रचना की, जिसमें उन्होंने सामयिक जीवन की असंगतियों पर तीव्र व्यंग्यात्मक प्रकाश डाला और साथ ही अनेकानेक आत्म-निवेदनात्मक गीत लिखे, जो श्रेष्ठ काव्य के निदर्शक हैं । यही नहीं, इस परवर्ती काल में उन्होंने बहुत कुछ सरल भाषा और सुन्दर उक्तियों का प्रयोग किया है, जो हिन्दी काव्य को उनकी नई देन कही जा सकती है । जिन लोगों ने निरालाजी की पूर्ववर्ती रचनाओं को क्लिष्ट और दुरूह बताया था, उन्हें भी उनकी इस नयी शैली की रचनाओं ने आश्चर्यचकित कर दिया और वे अपने पुराने आरोप को बहुत कुछ भूल गये । निराला की आरम्भिक शृंगारिक और वीरभावना पूर्ण सांस्कृतिक रचनाओं की तुलना में जब उन्होंने इन हास्य, व्यंग्य और शान्त-करुण रस की रचनाओं को एक साथ रखकर देखा, तब उन्हें निराला की बहुवस्तुव्यापिनी प्रतिभा का पूरा प्रत्यय प्राप्त हुआ । उन्हें हिन्दी में दूसरा कोई कवि नहीं दिखाई दिया, जो इतने विविध विषयों, शैलियों और भाव-योजनाओं को एक साथ अभिव्यक्त कर सका हो । यह तो निराला के प्रति अनुदार भावना रखने वालों की बात हुई । जो लोग आरम्भ से ही निराला के प्रशंसक थे, उन्हें तो निराला-काव्य के इस परवर्ती चमत्कार में और भी अधिक अभीप्सित वस्तु मिली और कवि के प्रति उनकी धारणा विशेष रूप से समर्थित और पुष्ट हुई । इसी परिस्थिति में निराला और प्रसाद के सापेक्षिक वैशिष्ट्य का प्रश्न उठाया गया है और साहित्यिक समाज में इसकी चर्चा आरम्भ हुई है ।

निराला और प्रसाद की इस तुलना का एक और आशय भी दिखाई देता है । यह न केवल दो कवियों की व्यक्तिगत तुलना है, वरन् एक प्रकार से बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण काव्य के शीर्ष अंश का समाकलन है। प्रसाद और निराला आधुनिक हिन्दी काव्य की दो सर्वोत्तम प्रतिभायें हैं, जो वर्तमान युग के समस्त काव्य प्रयास के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में देखी जाती हैं । हिन्दी साहित्यिकों ने एक ओर द्विवेदी युग के समस्त काव्य पर दृष्टिपात किया, दूसरी ओर छायावाद और उसके पर-वर्ती विकास को भी देखा और इस समस्त काव्य सृष्टि में दो सर्वप्रमुख प्रतिभाओं का चयन किया, जो क्रमश: प्रसाद और निराला की प्रतिभायें हैं । अतएव प्रसाद और निराला की तुलना की प्रेरणा समस्त हिन्दी काव्य के श्रेष्ठ अंश के निर्वाचन की अभीप्सा भी कही जा सकती है । यों ऐसे अनेक कवि हो सकते हैं, जिनकी एक या अनेक कृतियां हिन्दी काव्य में अपूर्व और अतुलनीय हों, परन्तु जब समग्रता में विचार किया जाता है, तब ये स्फुट रचनायें एक किनारे रख दी जाती हैं और सारा ध्यान प्रसाद और निराला के काव्य पर केन्द्रित हो जाता है । इस स्तर पर प्रसाद और निराला की तुलना का यह

आशय नहीं है कि हिन्दी में उनके प्रतिस्पर्धी अन्य कवि हैं ही नहीं, परन्तु सम्पूर्ण काव्य-कृतित्व के रूप में इन दो को सर्वोपरि स्थान देने का आशय अवश्य रहा करता है।

वस्तुतः प्रसाद और निराला का काव्य इस युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। श्रेष्ठ काव्य के जो भी प्रतिमान स्थिर किये जायें, उनका विनियोग इन दो कवियों के काव्य में निर्बाध रूप से किया जा सकता है। सबसे पहली बात जो इन दोनों कवियों में समान रूप से पायी जाती है, जीवनानुभव की वास्तविकता, व्यापकता और गहराई की है। अनुभव की वास्तविकता से यहां यह आशय है कि इन दोनों कवियों के भावजगत् में जीवन की विविध स्थितियों और मनोदशाओं का यथार्थ योग है और इनका दृष्टिकोण वास्तविक मानव जगत् की सचाइयों का आकलन करता है। ये दोनों कवि न तो कोरे भावनावादी हैं न कल्पनावादी। इनके काव्य में मानव अनुभूतियों की यथार्थता सन्निविष्ट हुई है। दूसरे शब्दों में ये दोनों कवि सच्चे अर्थों में मानव-जगत् की स्थितियों और अनुभूतियों के कवि हैं। इनके काव्य का केन्द्रीय तत्त्व जीवन को ऊपर से न देखकर उस अंतरंग में जाकर देखने का है। यही कारण है कि जब अन्य अनेक कवि जीवन स्थितियों को छोड़कर केवल उसके आदर्श या अभिलषित रूप का निरूपण करने लगे हैं, तब इन दो कवियों ने मानव-अनुभवों का यथार्थ संस्पर्श कभी नहीं छोड़ा।

एक दूसरी विशेषता जो इन दोनों कवियों को श्रेष्ठता प्रदान करती है, इनकी काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा है। उन्होंने अपनी काव्यरचना में काव्य-बाह्य उपकरणों का प्रयोग नहीं किया। वर्तमान युग के बहुत से कवि नाना प्रकार के वैचारिक तथ्यों और आदर्शों को काव्य में सन्निहित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। परन्तु उनकी रचनाओं में इन दोनों तथ्यों का समग्र समन्वय नहीं हो सका है। काव्यात्मक अलंकृतियां और अन्य उपकरण एक ओर जा रहे हैं तो वैचारिक और बौद्धिक तत्त्व दूसरी ओर। कवि के व्यक्तित्व के गहरे संस्पर्शों से इन दोनों का योग नहीं हो पाया। फलतः इन अनेक कृतियों में सामंजस्य की कमी के कारण एक बिखराव आ गया है। कुछ समीक्षक इस प्रकार के असंश्लिष्ट काव्य प्रयोगों का समर्थन करते भी देखे जाते हैं। परन्तु महान् काव्य की विशेषता सदैव संश्लेष्ण में ही हुआ करती है। जीवन की बहुविध विकास और आदर्श भूमियों का कवि के व्यक्तित्व में समाहार होने पर ही वास्तविक काव्य की सृष्टि होती है। अन्यथा काव्य में जीवन्त और अटूट समग्रता निर्मित नहीं हो पाती और कविता अपने सर्वोत्तम उत्कर्ष पर नहीं पहुंचती।

जीवन अनुभव की व्यापकता और गहराई, जिन दो शब्दों का प्रयोग ऊपर किया गया है, उनमें अनुभवों की व्यापकता कवि के सामाजिक संस्पर्श से सम्बन्धित है, जबकि उसकी गहराई का सम्बन्ध कवि के वैयक्तिक प्रेरणा-स्रोतों से है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है, कि जो कवि जितना ही वस्तुमुखी होगा, उसमें अनुभवों की व्यापकता उतनी ही अधिक होगी। कवि अपने वैयक्तिक जीवन के संकल्पों और विकल्पों को छोड़कर वास्तविक और बहुमुखी जीवन से अपनी काव्य सामग्री का संचय करेगा। दूसरी ओर जो कवि अधिक अन्तर्मुखी होंगे, और अपने जीवन के अन्तरंग द्वंद्वों को काव्य में प्रतिबिम्बित करना चाहेंगे, उनके काव्य में व्यापकता के स्थान पर गहराई का तत्त्व अधिक होगा। यों तो विशिष्ट काव्य-प्रतिभा इस प्रकार के सभी बन्धनों का अतिक्रमण कर जाती है, पर सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि काव्य में जीवनानुभव की व्यापकता कवि की वस्तुमुखी दृष्टि पर आश्रित रहती है, जबकि गहरे संवेदनों की सृष्टि कवि के अन्तरंग जीवन द्वंद्व से सम्बन्धित होती है। इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद और निराला काव्य के दो विभिन्न निर्माण स्तर दिखाई देते हैं। प्रसाद का काव्य अन्तर्द्वन्द्व से सम्बन्धित है, और इस अन्तर्द्वन्द्व की समस्त मार्मिकता और गम्भीरता उनके काव्य में प्रतिफलित हो सकी है। निराला के काव्य में वस्तुमुखी और बहिरंग तत्त्व की प्रमुखता है। उनके काव्य में अन्तर्द्वन्द्वों से उत्पन्न भावाकुलता और भावोत्कर्ष नहीं है। उसके बदले एक महान् तटस्थता और औदात्य का उत्कर्ष उनके काव्य की विशेषता है। इसके साथ ही निराला की कलापक्षरूपात्मक छवियों की कलना, भाषा और छन्दों की योजना, दार्शनिक समाहार आदि प्रसाद की अपेक्षा अधिक समृद्ध हैं। इन सब के बदले प्रसाद के काव्य में उनके अन्तरंग जीवन पक्ष का अधिक मार्मिक और गहरा समाकलन हो पाया है। जबकि निराला के काव्य का मूल स्वर निःसंगता और तटस्थता के आधार पर निर्मित है, प्रसाद के काव्य का मूल स्वर उनके वैयक्तिक जीवन द्वन्द्वों से संगठित है। निराला के काव्य में जो बहुरूपता और विस्तार है, उसका मुख्य कारण उनकी निजी अनासक्ति है। प्रसाद के काव्य में उत्कर्ष की अधिकतर भूमियां एक गम्भीर और स्थायी विच्छेद भावना से उद्भूत हैं। इसीलिये निराला के काव्य में श्रृंगार और शान्त रसों की प्रमुखता है, जबकि प्रसाद के काव्य में आत्मिक संघर्षों और करुण तत्त्वों की प्रमुखता है।

उपर्युक्त वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिये निराला और प्रसाद के काव्य के कुछ विवरणों में जाना आवश्यक होगा। निराला ने अपनी कविता का आरम्भ मुक्त छन्द से किया था, जो काव्य की क्रमागत भूमिका पर एक अभिनव क्रांति थी। निराला ने उस छन्द को जन्म दिया, जिस पर आगे चलकर हिन्दी काव्य की एक नयी सरणी ही तैयार हुई। इस दृष्टि से निराला का प्रभाव अत्यधिक व्यापक कहा जा सकता है। मुक्त छन्द के आविर्भाव के पश्चात् निराला ने न केवल छन्दात्मक

प्रतीकों की सृष्टि की, बल्कि बहुत ही सधे हुए गीत भी लिख, जो केवल छन्दगति से पाठ्य ही नहीं हैं, संगीत की भूमिका पर भी गेय हैं। इतना ही नहीं, उनके छन्दों में बहुत बड़ी विविधता भी है। उन्होंने अनेकानेक छन्द-प्रयोग किये हैं। छन्दों की इतनी विविधता में प्रसादजी नहीं गये। निराला का काव्य 'जुही की कली' से आरम्भ होकर 'भव अर्णव की तरणी तरुणा' तक पहुंचा है। श्रृंगार से लेकर शान्त रस तक उन्होंने समस्त रसभूमियों को आत्मसात् किया है। उनके आरम्भिक काव्य में श्रृंगार और वीर रस की भूमिका प्रचुर मात्रा में मिलती है, पर विनय और प्रार्थना के वे गीत भी मिलते हैं जो आगे चलकर उनके आत्मनिवेदनात्मक काव्य के आरम्भिक उपकरण कहे जा सकते हैं। इसके साथ ही उनके हास्य व्यंग्य और विनोद के अनेकानेक निदर्शन कुकुरमुत्ता आदि काव्य-रचनाओं में प्राप्त होते हैं। सरोजस्मृति उनका प्रसिद्ध शोकगीत है। उर्दू काव्य शैली के रूपकात्मक और वस्तुमूलक प्रयोग भी उनकी काव्य-रचना में विद्यमान हैं। ये सब निराला के काव्य-विस्तार के परिचायक उपकरण हैं।

दूसरी ओर निरालाजी ने भाषा सम्बन्धी वैविध्य की अनेक रूपरेखायें प्रस्तुत की हैं। भाषा के क्षेत्र में निराला एकदम निराले हैं। उनकी सी भाषा-प्रयोग की अबाध गति अन्यत्र दिखाई नहीं देती। आरम्भ में उन्होंने संस्कृत-हिन्दी-मिश्रित गतिशील और परिष्कृत काव्य भाषा के उदाहरण उपस्थित किये। कहीं इस परिनिष्ठित भाषा में संस्कृत पदावली का बाहुल्य है तो कहीं हिन्दी की ठेठ पदरचना अपने विशेष वैभव में है। आगे चलकर निराला ने अपने उदात्त काव्य के लिये अधिक संस्कृत-प्रचुर प्रयोग किये हैं, जिन्हें हम 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास' आदि में देखते हैं। उन्होंने हिन्दी और उर्दू के सम्मिलित प्रयोगों का पथ भी अपनाया, यद्यपि इस दिशा में वे बहुत दूर तक आगे नहीं गये। अपनी काव्यरचना के अन्तिम वर्षों में उन्होंने एक नई काव्य भाषा का प्रतिमान निर्मित किया, जिसमें ठेठ हिन्दी की सरलता, विशदता और उक्ति सामर्थ्य है। इन विभिन्न भाषा प्रयोगों में निरालाजी का इतना अधिकार रहा है कि उनकी कृतियों में कहीं भी अशक्तता दृष्टिगत नहीं होती, बल्कि कहा जा सकता है कि उन्होंने शब्द-चयन और वाक्य-योजनाओं में क्रमागत भूमिकाओं को नया विस्तार दिया है। कुछ वर्ष पहले जो निराला काव्य की क्लिष्टता कही जाती थी, आज वह उनका ऐश्वर्य माना जाता है।

काव्यरूपों के क्षेत्र में निराला-काव्य अत्यधिक समृद्ध है। उनके से सुविन्यस्त गीत हिन्दी काव्य में विरलता से उपलब्ध होंगे। छोटे प्रगीतों में जिनमें से अनेक मुक्त छन्द में लिखे गये हैं, निराला का कौशल दर्शनीय हुआ है। 'संध्या सुन्दरी' 'विधवा', 'भिक्षुक' आदि उनके प्रारम्भिक प्रगीत अन्विति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। दीर्घ-प्रगीतों में भी निराला की अबाध गति रही है। यद्यपि इस क्षेत्र में उनके कुछ प्रगीत वर्णनात्मक और इतिवृत्त-प्रधान भी हो गये हैं। 'सरोज-स्मृति' दीर्घ प्रगीत का श्रेष्ठतम और सफलतम उदाहरण है। दीर्घ प्रगीतों से और भी आगे बढ़कर निरालाजी की 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसी दास' जैसी प्रबन्धमूलक काव्य-रचनायें भी पायी जाती है। इन प्रबन्धों का विन्यास काव्य-रूप की दृष्टि से इतना सधा हुआ है कि उनमें प्रगीत की समस्त अन्विति उपलब्ध हो जाती है। फलतः समीक्षकों ने अब भी यह निर्णय नहीं किया कि ये रचनायें प्रबन्ध काव्य की श्रेणी में रखी जायें या दीर्घ प्रगीत मानी जायें।

कला-पक्ष की इस समृद्धि के साथ जब हम निराला के भाव-जगत् में प्रवेश करते हैं, तो हमें एक प्रसन्न, स्वस्थ और उदात्त भाव-लोक के दर्शन होते हैं, जिसमें एक सामाजिक क्रांति का स्वर भी मिला हुआ है। निराला-काव्य में यह क्रांति भावना उन्हें एक प्रगतिशील कवि का महत्त्व देती है। सामाजिक भूमिका पर नारी और पुरुष की समानता का पूरा प्रत्यय उनके काव्य में पाया जाता है। बाह्य वैषम्यों के प्रति उनकी दृष्टि विद्रोहात्मक है। अपने इस प्रगतिशील स्वर में निराला की काव्य-चेतना समसामयिक सभी कवियों से प्रखर है। परन्तु अन्यत्र निराला सौम्य और संयत श्रृंगार के कवि हैं। उनकी श्रृंगारिक भावना में किसी प्रकार की वैयक्तिक कुंठा या खिंचाव नहीं है। निराला के श्रृंगारिक चित्रों में स्वस्थता का गुण सर्वत्र पाया जाता है। कदाचित् इस स्वस्थता के कारण ही निराला छायावादियों की ऐकान्तिकता की ओर नहीं गये। उन्होंने वीर, शान्त और हास्य रस तक की भाव भूमियों का परिदर्शन किया है। जहां तक निराला के वीर काव्य का प्रश्न है, उनकी ओजस्विता सर्वविदित है। इस ओजस्विता की सृष्टि के लिये उन्होंने अनुरूप भाषा का निर्माण किया था। निराला इस युग के प्रशस्त और उदात्त भावना के कवियों में अन्यतम कहे जा सकते हैं।

श्री जयशंकर प्रसाद का काव्य एक वैयक्तिक वेदना के मूल स्रोत से समन्वित है। इस वेदना की गहराइयों के अनुरूप ही प्रसाद काव्य का क्रम विकास देखा जा सकता है। उनकी आरम्भिक रचनाओं में इस वेदना के कुछ अस्पष्ट चित्र मिलते हैं। परन्तु 'आंसू' में प्रसाद ने उस वैयक्तिक वेदना को पूरी तरह निरावृत कर दिया है। रूप-वर्णन की जो विशिष्टता प्रसाद में पाई जाती है, अन्यत्र दुर्लभ है। इन्द्रिय संवेदनाओं की मूल भूमिका से उत्थित होकर प्रसाद का रूप-वर्णन रहस्यवादी ऊंचाइयों तक पहुंचा है। प्रेम और सौंदर्य के शारीरिक उपादानों से लेकर अतिशय आध्यात्मिक भावस्तर पर ले जाने का श्रेय प्रसाद को ही दिया जा सकता है। इस प्रेम और सौंदर्य दर्शन की समग्रता प्रसाद के 'कामायनी' महाकाव्य में पूर्णतः प्रतिफलित हुई है। मनु के चरित्र की समस्त उच्छृंखलता, उद्वेग, उसकी सारी अतृप्ति और असन्तोष कामायनी

काव्य के आरम्भिक सर्गों में व्यक्त हुई है। मनु की महत्त्वाकांक्षाएं भी उसकी अभावात्मक मनः स्थिति का ही परिणाम हैं। दूसरी दिशा में श्रद्धा या कामायनी है, जो नारी के समस्त संयम और कल्याण भावना की प्रतिनिधि है। प्रसाद ने श्रद्धा और मनु, नारी और पुरुष, के छाया-आलोक में कामायनी काव्य के बहुरंगी चित्र सर्जित किये हैं। मनु का प्रत्यावर्तन और उसकी उद्वेग-शान्ति के लिये भी प्रसादजी ने श्रद्धा का ही प्रयोग किया है। कामायनी काव्य के अनेकानेक पक्ष हैं, नाना व्याख्यायें हैं। पर उसकी मूल भाव-भूमिका प्रसादजी के निजी व्यक्तित्व का ही महान् प्रतिक्षपण है। आधुनिक युग के किसी अन्य कवि में प्रतिक्षेपण की यह अद्वितीय शक्ति नहीं पायी जाती। 'लहर' के प्रगीतों में प्रसाद की प्रतिक्रिया अधिक स्वच्छ हो गई है। 'प्रलय की छाया' में उन्होंने कमला के माध्यम से ऐसे चरित्र की उद्भावना की है जो सौंदर्य गर्व की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। परन्तु जीवन की अनेक संधियों और मोड़ों को पार करते हुए एक महान् पश्चात्ताप का उदय भी उसमें प्रदर्शित किया गया है। प्रेम और सौंदर्य की समग्र परिकल्पना प्रसाद काव्य की विशेषता है। प्रसाद की काव्य वाणी में जो मार्दव प्राप्त होता है, वह आधुनिक युग के किसी अन्य कवि में नहीं।

कला की आकृतिमूलक और बहिरंग योजनाओं में प्रसाद के समक्ष संस्कृत काव्य का अशेष आधार और आदर्श रहा है। अपनी 'जयशंकर प्रसाद' शीर्षक पुस्तक में मैंने अभिज्ञानशाकुंतल की वस्तु-योजना से कामायनी की वस्तु-योजना की समानता और अनुरूपता दिखाने का प्रयत्न किया है। दोनों ही सृष्टियां आशा और प्रमोद के वातावरण से आरम्भ होकर नियति के गम्भीर प्रवाह में उतरती दिखाई देती हैं और फिर एक अनोखी प्रत्यभिज्ञा से परिचालित होकर स्वर्गीय आनन्द की भूमिका पर पहुंचती हैं। दोनों कृतियों में यह वस्तु-योजना इतनी समरूप है कि इसकी ओर ध्यान न जाना सम्भव ही नहीं। अलंकृतियों की विशेषतायें भी प्रसाद में संस्कृत काव्य की अशेष राशि से प्रतियोजित हैं। प्रसाद को जब भारतीय संस्कृति का कवि कहा जाता है, तब उसका अर्थ केवल भारतीय दर्शन में देखना पर्याप्त नहीं है। प्रसाद के समस्त काव्य सर्जन में भारतीय काव्य-परम्परा का मूल्यवान प्रदेय सन्निहित है, परन्तु प्रसाद ने अपनी अतिक्रामक प्रतिभा के द्वारा इस परम्परा को सभी दिशाओं में आगे भी बढ़ाया है। प्रसाद काव्य की लाक्षणिकता उनकी अपनी विशेषता है। इसकी दीप्ति उनके काव्य को चतुर्दिक् आलोकित करती है।

प्रसाद की काव्य भाषा समरूप और समरस है। उसमें निराला की भांति प्रयोगों का बाहुल्य नहीं। जहां कहीं प्रसाद को उदात्त भावना की व्यंजना करनी पड़ी है, वहां उन्होंने भाषा के बदले छन्द-योजना की सहायता ली है और वीर रस के वर्णन में तो वे प्रायः निःसहाय हो गये हैं। 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' जैसी कविता में भी वीर भाव की अपेक्षा आत्म-विगर्हणा की मनोभावना प्रमुख रूप से अभिव्यक्त हुई है। हास्य, रौद्र और भयानक रसों की अपेक्षा प्रसाद की काव्य-भाषा वियोग, श्रृंगार, प्रसाद गुण और करुण रस के अधिक उपयुक्त बन सकी है। प्रसाद की भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों के बाहुल्य की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। वक्रोक्ति बहुल लाक्षणिक पदावली की योजना से प्रसाद की भाषा एक अभिनव भंगिमा से समन्वित हो सकी है।

प्रसाद और निराला की तुलना—ऊपर हम इन दोनों कवियों की जिन पृथक्-पृथक् विशेषताओं का उल्लेख कर चुके हैं, उनसे उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति की भिन्नता का कुछ आभास मिल गया है। इस भिन्नता के रहते तुलना के लिये अधिक अवकाश की गुंजाइश कहां है? कितने आश्चर्य की बात है कि वैयक्तिक अनुभूति की प्रमुखता और प्रबलता रखने वाले कवि प्रसाद ने एक महाकाव्य लिखा जबकि वे मूलतः श्रेष्ठ प्रगीतों के रचयिता की प्रतिभा रखते थे। कदाचित् यही कारण है कि कामायनी प्रगीतात्मक भावनाओं का महाकाव्य कहा जाता है और यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि निराला जैसे निःसंग, तटस्थ और बहुमुखी सौंदर्य के द्रष्टा कवि ने कोई महाकाव्य न लिखकर लघु दीर्घ-प्रगीतों में ही अपनी सम्पूर्ण काव्य-रचना प्रस्तुत की है। वे प्रगीत इतनी स्वच्छ और उदात्त भावना का प्रतिफलन करते हैं, जबकि प्रगीत काव्य मूलतः वैयक्तिक भावात्मक द्वंद्वों की क्रीड़ाभूमि है। निराला के प्रगीतों का बाह्य कौशल और तराश भी किसी विषयि-प्रधान कवि का प्रदेश नहीं है। उसमें सर्वत्र एक 'क्लासिकल' पूर्णता प्राप्त होती है। अपने कई प्रगीतों में तो निराला महाकाव्योचित औदात्य की सृष्टि भी करते हैं। इस प्रकार प्रसाद का महाकाव्य तो प्रगीतात्मक शैली का एक अप्रतिम उदाहरण है और निराला के प्रगीत महाकाव्य की स्वच्छलता और उदात्तता से सम्पन्न हैं। यह विरोधाभास इस युग की काव्य-रचना की एक स्मरणीय विलक्षणता है। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि निराला के अधिकांश प्रगीत सामूहिक भावना और रस की भूमि पर संस्थित हैं, जबकि प्रसाद का महाकाव्य 'कामायनी' वैयक्तिक मनोभावों और परिस्थितियों के संघर्ष और द्वंद्व पर संस्थित है। रसात्मकता प्रबन्ध काव्य का गुण है, पर वह निराला के प्रगीतों में अपनी सम्पूर्ण विशदता में उपलब्ध है। मनोभावनाओं का ऊहापोह प्रगीत काव्य की विशेषता है, परन्तु वह 'कामायनी' के विशाल प्रबन्ध में सफलता से संयोजित है। यह एक दूसरा उल्लेखनीय विरोधाभास है। वैयक्तिक प्रेरणाओं से उद्भूत काव्य में किसी समग्र दर्शन की नियोजना सामान्यतः सम्भव नहीं होती। परन्तु प्रसाद के काव्य में और विशेषकर 'कामायनी' में एक

सम्पूर्ण दर्शन की नियोजना हुई है। यह इस युग के हिन्दी काव्य का सब से बड़ा चमत्कार है, जिसका श्रेय प्रसाद को सर्वांशतः प्राप्त है। निराला स्वयं एक श्रेष्ठ दार्शनिक हैं, परन्तु उनके काव्य में दर्शन का भार कहीं दिखाई नहीं देता। उनका प्रसन्न व्यक्तित्व उनके शृंगार-प्रधान गीतों में प्रतिफलित हो गया है। अतिरिक्त दार्शनिकता को एक किनारे रख कर निराला ने सौंदर्य की ही साधना अपने काव्य में की है। यह एक तीसरा महत्त्वपूर्ण विरोधाभास है। प्रतिभा के इन वैचित्र्यों को देखते हुए प्रसाद और निराला की तुलना का प्रयास अपने आप में असंगत हो जाता है। हम इतना ही कह सकते हैं कि दोनों ही कवि अपनी प्रतिभा में महान्, अप्रतिम और अपराजेय हैं।
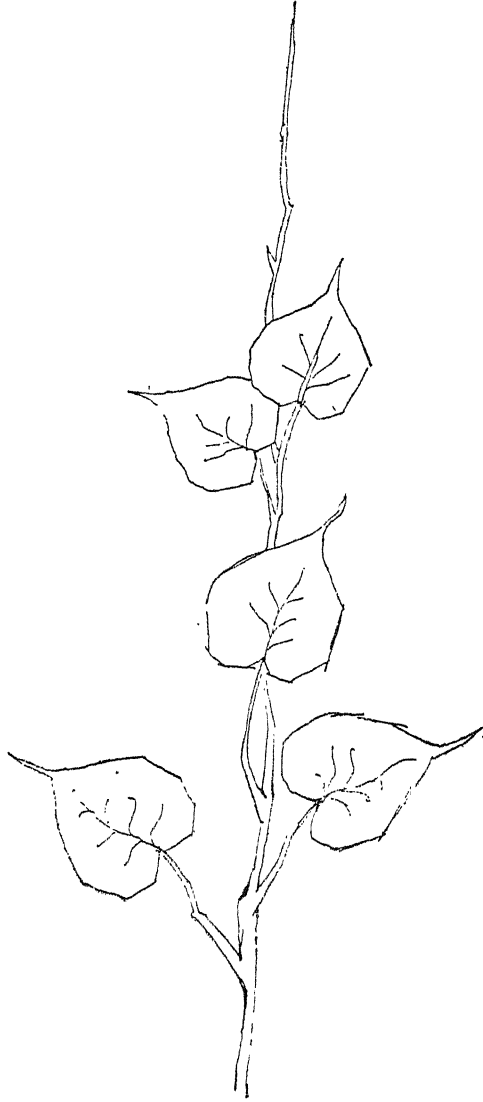
कामायनी में प्रसाद की दार्शनिक दृष्टि

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

भारतीय संस्कृति संश्लेषणात्मक है और दृष्टि अद्वयी। 'निराला' एवं 'प्रसाद' इसी संस्कृति और दृष्टि के क्रांतदर्शी कवि हैं। फलतः उनकी काव्य सृष्टि में संश्लेष और एकान्विति का सम्यक् निर्वाह उपलब्ध होता है। जहां तक अद्वय या अद्वैत दर्शन की बात है--यों तो भारतीय दर्शन में वह अनेक प्रकार और स्तरों का मिलता है--विज्ञानाद्वयवाद, शून्याद्वयवाद, शांकर अद्वैतवाद, ईश्वराद्वयवाद एवं शाक्ताद्वयवाद। बौद्धिक अतिवाद की पीठिका पर भले ही खण्ड भूमिका के द्रष्टा को इनमें विरोध दृष्टिगोचर हो--पर हार्द--पृष्ठभूमि पर इन दोनों कवियों ने जो बौद्ध, आगमिक एवं नैगमिक स्तरों की अद्वयी रेखायें उभारी हैं--वे स्वयं खण्ड-दृष्टि नहीं रखते। इसीलिये एक तरफ 'निराला' जहां 'शून्य और शक्ति' शीर्षक अपने साहित्य की अविभाजित दृष्टि से लिखे गये निबन्ध में बौद्धों के चतुष्कोटि विनिर्मुक्त 'शून्य' और आगमिकों की स्पंदशीला शक्ति में अभेद मानते हैं, साथ ही औपनिषद ब्रह्म को उसी शक्ति का दूसरा निःष्पंद-पक्ष स्वीकार करते हैं--वहीं दूसरी तरफ 'प्रसाद' भी मानते हैं कि उपनिषदों में जिस तत्व को 'नेति-नेति' द्वारा निरूपित किया गया है--बुद्ध ने उसी को अपने अनात्मवाद द्वारा अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन करते हुए विश्वात्मचेतना का समर्थन ही किया है--अन्यथा करुणा या महाकरुणा की सार्थकता ही क्या थी? दूसरी ओर आगमिक अद्वय तत्व को 'कामायनी' में आद्योपांत निरूपित किया ही है। निष्कर्ष यह है कि दोनों ही अद्वय के बौद्ध, नैगमिक और आगमिक स्तर अपने-अपने साहित्य में मुखरित करते हैं, पर उस अनेकता में भी अनुस्यूत एकता देखते हैं। आचार्य शंकर में भी ये सभी भूमिकायें स्तर-भेद से आई हैं।

इस तात्त्विक-साम्य के अतिरिक्त दोनों ही कवियों ने यह माना है कि मायिक जगत् के त्याग में नहीं, बल्कि उसके आनन्दात्मक ग्रहण में मानव जीवन की सर्वविध सार्थकता है। 'निराला' तो कहते ही हैं कि चिन्मयी महामाया की अनुकूलता से 'माया हो गई भली'--'प्रसाद भी मानते हैं 'यह सरस संसार सुख का सिन्धु है'। आगमिक भी मानते हैं कि वही स्थिति 'पूर्णता' की स्थिति है जब कि 'विकल्पोऽप्यमृतायते'--ज्वाला मूल संसारिक विकल्प और वैषम्य भी अमृतायमान हो जाय।

दोनों ही निवृत्ति का दम्भ भरने वाले उन पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्त्तव्यों से विमुख होकर व्यष्टि हितेच्छुओं के समर्थक नहीं हैं। 'निराला' विवेकानन्द के अनुसार मानते हैं कि 'मुक्ति' का अस्तित्व 'बन्धन' से ही है--मुक्ति के लिये 'बन्धन' की सार्थकता है। यह 'बन्धन' प्रारब्धानुसारी कर्म है। कर्म ही योग है--बशर्ते कि व्यक्तिगत असर्ज-विसर्जन की भावना से मुक्त हो कर किया जाये। पर ऐसा तभी सम्भव है जब मानवीय हृदय में प्रेम, करुणा, शक्ति और सहानुभूति की सात्त्विक ज्योति हो। यह सात्विक ज्योति तभी उन्मुक्त प्रकाशित हो सकती है जब घृणा, विद्वेष एवं अहं की क्षुद्र वृत्तियों से मन उन्मुक्त हो और ऐसी उन्मुक्ति के लिये सहिष्णुता एवं उचित तितिक्षा हो। इन समानताओं के होने पर भी रुचिभेदवश एक में विवेकानन्द का विवेचित नव्य शांकर अद्वैत मुखर है--दूसरी ओर आगमिक ईश्वराद्वय-वाद--फिर भी संसार को कर्मक्षेत्र बना कर मुक्ति की ओर बढ़ने का मार्ग 'प्रसाद' भी मानते हैं। श्रद्धा भी तो नराश्य एवं निवृत्ति के धरातल पर प्रतिष्ठित मनु को 'पूर्णता' या 'पूर्णाहंता' की उपलब्धि का पथ-निदश करती हुई कहती है--तुम्हारे हृदय की यह निवृत्ति आपात रमणीय है, केवल दुःख के डर से अज्ञात जटिलताओं का अनुमान कर 'काम' या 'प्रगति' से तुम्हें इतनी झिझक क्यों है? समस्त विश्व का उन्मीलन महाचिति का लीलामय विलास है। इस तथ्य की विस्मृति वश ही तुम इस विश्व का तिरस्कार कर रहे हो और काम मंगल से मण्डित श्रेय-सर्ग को असफलताओं का आगार बना रहे हो। जिस वैषम्य को तुमने अभिशाप और जगत् की ज्वालाओं का मूल समझा है--वह ईश का रहस्य वरदान है। वस्तुतः वैषम्य ही सृष्टि का मूल है। शिव और शक्ति की विषम स्थिति से ही विश्व का विकास हुआ है। यही वैषम्य हमें सामरस्य की ओर ले जाने का साधन है--भूमा की उपलब्धि का सोपान है। भूमा बहुत्व का बोधक है। इसीके लिये

उपनिषदों में कहा गया है—"यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्"। भूमा सीमित सुख का तिरस्कार करता है, क्योंकि इससे उसकी सीमा संकुचित हो जाती है। अतः संसार के मूल रहस्य को—सुख दुःख को—समान अनुभव कर के दोनों एक रस आनन्दमय रूप में गृहीत करना 'भूमा' है। निष्कर्ष यह है कि व्यक्तिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित करना ही वास्तविक आनन्दलाभ है। प्रसाद के उन्नयन या ऊर्ध्वसंचरण का यही व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रस्थान है। उनकी व्यक्तिगत करुणा एवं प्रेम या वियोगवृत्ति उत्तरोत्तर उदात्त और परिष्कृत होती हुई समष्टि में लीन होती गई है। निष्कर्ष यह कि इस प्रकार जो वैषम्य 'भूमा' का साधन या सोपान है—उसकी उपेक्षा कैसी ? इस स्पन्दशीला शक्ति की तरंगों की तह में निःस्पन्द शिव तत्त्व शान्त, अथाह और अनन्त समुद्र-सा स्थिर और शान्त पड़ा हुआ है। यदि उससे समरस होना है तो उसकी नीलाभ शक्ति तरंगों से भीति क्यों—यदि तुम्हें 'पूर्ण' होना है—तो उसके एक देश से यह वितृष्णा क्यों ? यहां तप नहीं, केवल जीवन सत्य है, जहां तरल आकांक्षा से भरा आशा का आह्लाद सो रहा है। इसे सक्रिय करने से विधाता की यह कल्याणी सृष्टि इसी भूतल पर सफल होगी—वह भी तब सरस हो जायेगी। इसी प्रकार 'भूमा' की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

जिस प्रकार निराला का कहना है, कि सारा बाहरी पसारा भीतरी अनादि दोष का है, अतः उसे भीतरी सुधार द्वारा ही सुधारा जा सकता है, इसी प्रकार 'प्रसाद' जी की भी धारणा है कि दोष वस्तु में नहीं दृष्टि में है। तभी तो कहते हैं "

दुःख देगी यह संकुचित दृष्टि

जहां तक वस्तु का शम्बन्ध है—

कौन कहता है जगत् है दुःखमय। यह सरस संसार सुखमय सिन्धु है।

प्रश्न यहां यह खड़ा होता है कि स्वभावतः आनन्दमय विश्व दुःखात्मक क्यों प्रतीत होता है और उसकी वास्तविक प्रकृति अर्थात् आनन्दमयता की उपलब्धि का 'प्रसाद' की 'दृष्टि' में क्या मार्ग है ?

'प्रसाद' ने अपनी 'कामायनी' में इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर दिया है। आनन्दवादी सुर वर्ग के द्वारा कहलवाया है :

मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म मंगल उपासना में विभोर,
उल्लास शील मैं शक्तिकेन्द्र किसकी खोजूं फिर शरण और ?
आनन्द-उच्छलित-शक्ति-स्रोत-जीवन विकास वैचित्र्य भरा,
अपना नव नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा।

यद्यपि प्रत्येक जीव मूलतः पूर्णकाम 'पूर्णाहंतामयी शक्ति' से समरस है, उल्लासशील शक्तियों का केन्द्र है। ऐसी शक्ति का जो आगमों में 'आनन्दोच्छलिता' कही गई है। किन्तु अपनी 'स्वातंत्र्य' रूपा उसी शक्ति के कारण महज लीला के लिये माया, राग, कला, विद्या, नियति और काल के षड्विध कुचक्रों से स्वयं को संकुचित कर लेता है। यही भेदमयी 'माया' जीवन को बाधामय पथ पर ले जाती है। शांकर अद्वैत की 'माया' की भांति ईश्वराद्वयवादी प्रत्यभिज्ञा की 'माया' आकस्मिक नहीं है। वह आत्मा का स्वातंत्र्य मूलक अर्थात् स्वेच्छा परिगृहीत रूप है। आत्मा अपने को ढंकने में भी और प्रकाशित होने में भी समर्थ है। यह कंचुक इसी सामर्थ्य का विलास है। इन कंचुकों से शिव की सर्वतोमुखी व्यापकता और असीमता खण्डखण्ड और ससीम अथवा संकुचित हो जाती है। आत्मरूप के गोपन की इस भूमिका में खण्ड, भेद, अभाव और अपूर्णता का उज्जृम्भण होता है। इसी स्थिति का संकेत करते हुए 'प्रसाद' जी ने कहा है—

सब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि।
दुःख देगी यह संकुचित दृष्टि।।

मनु इसी स्थिति का 'अपूर्णकाम' 'अपूर्ण अहंता' वाला जीव है—जो 'पूर्णकाम' होना चाहता है। पर इस ओर उन्मुख होने वाले साधक को निर्देशक की अपेक्षा होती है। 'श्रद्धा' के व्यक्तित्व की विभिन्न भूमिकाओं में एक भूमिका यह भी है। अपनी दूसरी भूमिका में वह शिवस्वरूप मनु की 'आत्म-शक्ति' भी है—जो सम्प्रति सामने रह कर भी अप्रत्यभिज्ञात है। 'प्रसाद' जी ने 'काम' द्वारा साधक मनु को यह बताया है कि यदि वह 'पूर्णकाम'—होना चाहता है—तो उस आत्म-शक्ति' की प्रत्यभिज्ञा करे—उस 'अमला को पहचाने'। अपनी तीसरी भूमिका में वह दृश्य की रम्य विभूतियों—करुणा, प्रेम एवं शक्ति—का भी प्रतीक है। 'काम' का सन्देश है कि 'उसको पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो'। मनु विकल भी है—'उस ज्योतिर्मयी को देव कहो कैसे कोई नर पाता है ?' स्पष्ट है कि आत्मशक्ति की प्रत्यभिज्ञा के लिये करुणा-शक्ति एवं प्रेम जैसी मानवीय सद्वृत्तियों को लेकर निष्कामकर्म सम्पादन द्वारा अपने को स्वच्छ बनाना है। मनु में इसके

विपरीत असहिष्णुता, असन्तोष, द्वेष, अहं, एकाधिकार, बौद्धिक व्यभिचार—आदि भरे हुए हैं। इड़ा सर्ग में पुन 'काम' उसे उद्‌बोधित करता है और कहता है—'मनु तुम श्रद्धा को गये भूल'। मनु विक्षिप्त हैं, वे कहते हैं :—

क्या मैं भ्रांत साधना में ही अब तक लगा रहा,
क्या तुमने श्रद्धा को पाने के लिये नहीं सस्नेह कहा?
पाया तो, उसने भी मुझ को दे दिया हृदय निज अमृत धाम।
फिर क्यों न हुआ मैं 'पूर्णकाम'।।

पर मनु में मानवीय हृदय की वह सात्त्विक ज्योति अभी तक कहां जग पायी थी—जिसके बल से वह आत्म-शक्ति को पहचाने—श्रद्धा की 'प्रत्यभिज्ञा' करे, फलतः पूर्णकाम हो। पर एक स्थिति वह आती है जब उसके हृदय का समस्त मल पश्चात्ताप की आग में जलकर भस्म हो जाता है और वह योग्यता उत्पन्न होती है जिसके कारण वह उस 'अमला' को पहचान लेते हैं। 'प्रत्यक्ष' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' में अन्तर है। मनु ने आत्म-शक्ति की प्रतीक श्रद्धा का साक्षात्कार तो बराबर किया था—पर 'प्रत्यभिज्ञा' न कर पाये थे और बिना 'प्रत्यभिज्ञा' के विस्मृत आत्मशक्ति, जिसे विमर्श, पूर्णता, पूर्णाहंता—आदि नामों से कहा गया है —का विस्फार नहीं होता, अभाव और अपूर्णता दूर नहीं होती।

यहीं एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि कामायनी में 'प्रत्यभिज्ञा' का स्थल कौन-सा है। क्या 'दर्शन' सर्ग—जहां मनु कहते हैं :—

तुम देवी आह कितनी उदार,
वह मातृ मूर्ति है निर्विकार,
हे सर्व मंगले! तुम महती,
सबका दुःख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय में हो रहती,
मैं भूला हूं तुमको निहार,
नारी सा ही वह लघु विचार।

अथवा 'रहस्य' सर्ग?—जहां श्रद्धा उनके स्वरूप का बोध कराती है—

इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम?

अथवा प्रत्यभिज्ञा का स्थल पहला ही है—केवल काव्य में उसका विशदीकरण या स्पष्टीकरण—यहां तक किया जा रहा है?

वस्तुतः इस प्रश्न का समाधान पाने के लिये प्रत्यभिज्ञा का दार्शनिक क्रम-ज्ञान आवश्यक है। जो लोग प्रथम स्थल पर ही प्रत्यभिज्ञा की स्थिति स्वीकार करते हैं वे कहते हैं कि 'श्रद्धा' मनु-शिव की विमर्शात्मा आत्म-शक्ति है। आत्म-शक्ति को पहचानना ही अपने को पहनानना है। इस प्रत्यभिज्ञा के फलस्वरूप 'आवरण पटल' की ग्रन्थि खुल जाती है और 'प्रकाश का कलोल' तथा 'मधु किरणों की लोल-लहर' तरंगायित होने लगती है। मधुमयी किरणें चिरानन्दमयी स्वरूपस्थिति की ही प्रतीक हैं। दूसरे लोगों का यह विचार है कि यह 'दर्शन' श्रद्धा ने अपनी संविन्मयी किरणों के प्रभाव से कुछ क्षणों के लिये मनु को करा दिया था, जो सद्यः अप्रत्याशित ढंग से विलुप्त भी हो जाता है। अतः वास्तव और स्थायी प्रत्यभिज्ञा वहां होती जब श्रद्धा उन्हें यह बताती है कि 'इस त्रिकोण के मध्य बिंदु तुम'—अर्थात् इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया—जैसी शक्तियों या बिन्दुओं के मूल में अविभागपूर्वक स्थित बिन्दु तुम्हीं हो। त्रिपुर के रूप में दृष्टिगोचर होने वाले ये त्रैपुर-त्रिकोण, सर्जक बिन्दु, जो विश्व के प्रतिनिधि हैं—तुम्हारी ही मूल शक्ति के प्रसार हैं। निर्देशक श्रद्धा की इस 'कथन दीक्षा' के फलस्वरूप ही वस्तुतः मनु को स्थायी प्रत्यभिज्ञा होती है।

वस्तुतः परस्पर विरोधी इन स्थापनाओं में किसी एक के पक्ष-विपक्ष में कहने का अभिप्राय कवि पर भी आक्षेप है। अतः ऊपर जो तीसरा विकल्प प्रस्तुत किया गया है वही युक्तिसंगत जान पड़ता है। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा 'दर्शन' सर्ग में ही है, पर उसी का विशुद्धीकरण या स्पष्टीकरण 'रहस्य' सर्ग तक हुआ है। यह पक्ष इसलिये युक्तिसंगत है कि एक तो प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जो 'पारमेश्वर-शक्तिपात, और 'गुरु-दीक्षा' तथा 'उपाय' की सामग्री आवश्यक है—वह सबकी सब 'दर्शन' सर्गस्थ मनु में विद्यमान है। निर्देशक का स्वयं आ पहुंचना तंत्रालोक के अनुसार 'मन्द-तीन' शक्तिपात है और 'शक्तिपात' गत मन्दता के कारण यहां 'कथन दीक्षा' ही सम्भव है जिससे इस स्तर के साधक को स्वरूप-बोध होता है। यह कथन दीक्षा स्पष्टीकरण के निमित्त 'इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम' तक चलती रहती है। जिसके द्वारा मनु को वह यह समझा देती है कि ये इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया जैसी विभिन्न शक्तियां तुम्हारी स्वातंत्र्यात्मा मूलशक्ति

के ही प्रसार हैं। वह मूलशक्ति स्वयं श्रद्धा है और श्रद्धा शक्तिमान् मनु से अपृथक् है। इस प्रकार शक्ति एवं शिव का 'सामरस्य' हो जाता है। आगमिक अद्वयवाद का शांकर अद्वैतवाद से ही यही स्तर भेद है कि वहां के अद्वयतत्त्व में चिन्मयी कर्तृत्व शक्ति का सामरस्य नहीं है और यहां है। श्रद्धा या आत्मशक्ति की प्रत्यभिज्ञा प्रत्यभिज्ञा की वास्तव स्थिति इसलिये भी है कि 'पूर्णकाम' के साधक मनु को एतदर्थ उस 'अमला की पहचान' को आरम्भ से ही 'प्रसाद' जी साधन बताने आ रहे हैं। अतः उस स्थान को वास्तव प्रत्यभिज्ञा का स्थल न मानना समस्त समारम्भ की भी अवहेलना करना है।

निष्कर्ष यह कि 'प्रसाद' का समस्त दर्शन यह है कि दुःखात्मक संसार से भागकर सीमित सुख की उपलब्धि वास्तव आनन्द की—मोदमय भूमा की उपलब्धि नहीं है—बल्कि हृदय की रम्य विभूतियों के सहारे योग्यतार्जनपूर्वक आत्म-शक्ति की पहचान से दुःख को भी सुखात्मक रूप में परिणत कर अखंड आनन्द की—भूमा की उपलब्धि ही मानव का लक्ष्य है।

सुमित्रानंदन पंत की काव्य-दिशाएं

डॉ० प्रेमशंकर, एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य-सृजन ने समय की इतनी लम्बी यात्रा की है कि उस पर अनेक प्रकार के प्रभाव न पड़ें, यह सम्भव नहीं दीखता। द्विवेदी युग जब उत्कर्ष पर था, उस समय से ही अपने काव्य का आरम्भ कर, वे छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता के दौर तक सृजनरत रहे हैं। सम्भवतः मैथिलीशरण गुप्त का ही व्यक्तित्व ऐसा था जो बराबर एकरस बना रहा और जिस पर काव्य-आन्दोलनों का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। उनके कतिपय भावुक गीत अपवाद ही कहे जायेंगे। पर पन्त जी के समस्त सृजन पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी काव्य-दिशा समय के साथ मोड़ लेती गई है और विभिन्न आन्दोलनों ने उन पर सक्रिय प्रभाव डाला है। किसी कवि के सृजन को खंडित कर के देखना सम्भवतः बहुत प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि जहां इससे उसकी रचना-सम्बन्धी अनेक-रूपता का परिचय मिलता है, वहीं यह भी आक्षेप किया जा सकता है कि इसमें कोई मेरुदण्ड अथवा मूल बिन्दु नहीं है। श्रेष्ठ रचनाकार अपने समय-प्रवाह से इतने असम्पृक्त नहीं हो जाते कि उन पर अनेक प्रकार के प्रभाव न पड़ें, किन्तु उनके प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया साधारण व्यक्तियों से भिन्न होती है। ग्रहणशीलता यदि एक ओर उदार और जागरूक चेतन का गुण है तो नितान्त दुर्बल मानस का उससे अभिभूत हो जाना दूसरे पक्ष की ओर भी संकेत करता है।

पन्त की परिवर्तित काव्य-दिशाओं का कारण उनका कोमल संवेदन अथवा अतिरिक्त ग्रहणशीलता का भाव है। जहां तक प्रभाव-ग्रहण का प्रश्न है, रचनाकारों के कई वर्ग देखे जा सकते हैं। एक वर्ग वह होता है जो अपने चारों ओर ऐसे काल्पनिक जगत् की सृष्टि कर लेता है कि उसमें किसी भी अन्य विचार का प्रवेश सम्भव नहीं होता। ऐसी रचना समाज से कटी हुई होती है और क्रमशः कलात्मकता की ओर अग्रसर होती जाती है। अधिक-से-अधिक उसमें एक सीमित जीवन के कुछ दृश्य देखने को मिल सकते हैं। इसमें कलात्मक उत्कर्ष के धरातल भी देखे जा सकते हैं, पर उसमें जीवन स्पन्दनों का संस्पर्श नहीं होता। इसके विपरीत रचनाकारों का एक ऐसा प्रकार होता है जो समय के प्रवाह में इतनी तीव्रता से प्रवाहित हो जाता है, जैसे उसका अपना कोई आधार ही न हो। ऐसी पिच्छल भूमि पर खड़े होने वाला सृजन कभी-कभी सामयिक बन कर रह जाता है और उसमें काव्य के स्थायी प्रतिमान नहीं मिलते। प्रायः ऐसा भी होता है कि यह ग्रहण-शीलता बतौर फैशन होती है और कवि की मूल-चेतना से उसका अधिक गहन रागात्मक सम्बन्ध नहीं होता। स्वाभाविक है कि ऐसी कृतियों में एक बाह्यारोपण स्पष्ट दिखाई देता है। श्रेष्ठ रचनाकार समय के प्रवाह से अभिभूत नहीं होते और न उससे आंख ही मूंद लेते हैं। वे इतिहास और युग के भीतर झांक लेने की सामर्थ्य रखते हैं और उन सूत्रों पर उनकी दृष्टि चली जाती है जो समय-प्रवाह के मूलाधार हैं। अणुवीक्षणयंत्र जैसी पारदर्शी चेतना उनके पास होती है। वे समस्त प्रभावों के मध्य एक ऐसे सृजन की योजना करते हैं जो केवल वर्तमान तक जी कर समाप्त नहीं हो जाती। उन्हें वर्तमान के साथ आगे का भी अन्दाज रहता है। हिंदी में महाकवि निराला में भाव और शिल्प का जितना वैविध्य है, उतना सम्भवतः किसी अन्य कवि में कठिनाई से प्राप्त होगा किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे खण्डित चेतना के रचनाकार हैं और उनके सृजन का कोई मेरुदण्ड नहीं है।

पन्त का काव्य लगभग पांच-छह दशकों तक से सम्बन्ध रखता है और हिन्दी कवियों में उन्होंने सर्वाधिक ग्रहण-शीलता का परिचय दिया है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या पन्त की यह परिवर्तित काव्य-दिशा उनके व्यक्तित्व-विकास की परिचायक है अथवा इससे उनके टूटते व्यक्तित्व की झांकी मिलती है। कुछ समीक्षक आज भी पन्त के आरम्भिक काव्य को उनका सर्वोत्तम स्वर स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि आगे चलकर पन्तजी कवि के बदले कलाकार अधिक हो गये हैं, किन्तु पन्तजी के प्रशंसक उनके काव्य की विभिन्न परिवर्तित दिशाओं में एक निरन्तर विकसमान व्यक्तित्व का

स्वरूप देखते हैं। पन्त के समस्त काव्य विकास की दिशाओं पर एक दृष्टि डालकर ही हम सम्भवतः यह जान सकेंगे कि उनके सृजन का मूल स्वर क्या है।

अधिकांशतः आधुनिक कवियों की भांति पन्त के काव्य का प्रारम्भ वैयक्तिक प्रेम-भावना मात्र से नहीं हुआ। प्रायः देखा जाता है कि वर्तमान युग में कवि आरम्भिक दौर में अपनी नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन करते हैं और क्रमशः इनका उन्नयन करते हुए, स्वयं को प्रसार देते हुए अन्य भूमियों पर आते हैं। पन्त का जन्म कूर्मांचल प्रदेश में हुआ और वे प्रकृति के नैसर्गिक वैभव के इतने समीप थे कि उनका प्रथम रागात्मक सम्बन्ध इसी से स्थापित हुआ। कवि की कोमल वृत्तियां प्रकृति-सौन्दर्य में बार-बार रमती थीं और उसकी एकान्तप्रियता ने प्राकृतिक दृश्यों के प्रति आश्चर्य, जिज्ञासा, कुतूहल के भावों का प्रवेश कराया। आगे चलकर जब पन्तजी में स्वच्छन्दतावादी भावना आई तब यही प्रकृति-सहचरी उनकी प्रिया बनी और इस प्रकृति-सुन्दरी को उन्होंने अपनी भावनाएं अर्पित कीं। इस प्रकार पन्तजी की आरम्भिक प्रकृति कविताओं में और इसी प्रकार की परवर्ती रचनाओं में अन्तर दिखाई देता है। १९१८ से १९२० तक की आरम्भिक रचनाओं का संकलन 'वीणा' है। 'वीणा' के प्रकृति-चित्र शिल्प की दृष्टि से भले समृद्ध और अलंकृत न हों किन्तु वे अधिक अकृत्रिम और शुद्ध हैं। वहां कवि का प्रकृति के प्रति एक विस्मय भाव है जिस कारण प्राकृतिक दृश्यों में उसे रहस्यमय आध्यात्मिक छाया का भास भी होता है। एक प्रार्थना, उपासना-भाव भी 'वीणा' की कविताओं में विद्यमान है, जिससे कवि की समर्पण भावना का पता चलता है। इन प्रयोगकालीन कविताओं का दौर शीघ्र समाप्त हो गया और पन्तजी के सृजन की महत्त्वपूर्ण सूचना हमें १९२६ में प्रकाशित 'पल्लव' से प्राप्त होती है। इसकी भूमिका छायावादी काव्य का एक प्रभावशाली दस्तावेज है। इसे आधुनिक काव्य का घोषणापत्र भी कहा जा सकता है, जिसने अपने मन्तव्य को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। 'पल्लव' की कविताएं अधिक मांसल भूमि पर प्रतिष्ठित हैं और वहां हमें प्रकृति-सम्बन्धी भावनाएं भी मिश्रित रूप में दिखाई देती हैं। इसके पूर्व 'ग्रन्थि' की रचना हो चुकी थी, जिससे कवि की वैयक्तिक प्रेम-भावना का पता चलता है। इस आत्मकथात्मक वियोग-प्रधान कविता में जैसे पन्त ने स्वयं के बहुत-से भावोच्छ्वासों को निश्शेष कर दिया था और इसलिये आगामी कविताओं में वैयक्तिक प्रेम भावना परोक्ष रूप से ही अधिक व्यक्त हुई है। 'पल्लव' की कविताओं में जीवन का संस्पर्श अधिक है और इसी कारण इसमें अनुभूतियों का मिश्रित स्वरूप हमें दिखाई देता है, जबकि इसके पूर्व कवि को हम मुख्यतया कल्पना की भूमियों पर और प्रकृति के परिवेश में विचरण करते देखते हैं। इस संकलन की भूमिका में जब पन्तजी ने कहा था कि 'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है' तब वे अपने भावजगत् को विस्तार देने की बात सोच रहे होंगे। 'पल्लव' की प्रकृति मानव-सापेक्ष्य होकर आई है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता को व्यंजित करने की चेष्टा कवि ने अधिक नहीं की। इतना' ही नहीं, आगे चलकर छायावादी काव्य में जिस जड़ता में चेतना का आरोप कहीं-कहीं अतिरिक्त मात्रा में किया जाने लगा उसका रागात्मक प्रयोग इन कविताओं में द्रष्टव्य है। प्रकृति के दृश्यों को जीवन्त और मांसल प्रतीकों, रूपकों में बदल देने का कार्य यहां आरम्भ हो गया है। यह प्रयास केवल उपमा अथवा अलंकरण तक सीमित नहीं है, उसको कवि ने जीवन से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध किया है। यह भी सच है कि आरम्भ में पन्तजी की दृष्टि प्रकृति के मनोरम, कोमल पक्षों पर ही अधिक रही है, पर आगे चल कर जब पल्लव-काल में ही 'परिवर्तन' जैसी क्रान्ति-समन्वित कविताओं की रचना हुई तब हमें ज्ञात हुआ कि कवि की दृष्टि फूल के साथ अंगारों पर भी गई है। महाकवि निराला ने 'परिवर्तन' को 'पूर्ण कविता' कहकर सम्बोधित किया है, यह उसके लिये एक गौरवपूर्ण प्रशंसापत्र है। 'पल्लव' में हम पन्त के विकसमान व्यक्तित्व को प्रकाशित पाते हैं, क्योंकि एक साथ उसमें उच्छ्वास, आंसू जैसी करुण भावनायें तथा परिवर्तन के अग्निकण प्रस्तुत हैं। वास्तव में 'परिवर्तन' कविता से पन्तजी के आगामी चरण का एक संकेत मिल जाता है, जहां वे जीवन की कोमल अनुभूतियों और कल्पना जगत् को छोड़कर धरती के कठोर वास्तविक यथार्थ का भी सम्पर्क करते हैं। 'पल्लव' पन्त के प्रथम चरण की प्रतिनिधि कृति है, क्योंकि इसमें वे अपने व्यक्तित्व को समाहित अभिव्यक्ति देने में यत्नशील हैं। भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता भी यहां विद्यमान है। 'पल्लव' का विकास 'गुंजन' में हुआ, जिसमें १९२६ के अनन्तर लगभग पांच-छह वर्षों की रचनायें संग्रहीत हैं। 'गुंजन' का कवि चिन्तन-मनन की ओर भी उन्मुख दिखाई देता है। उसने जो दृश्य देखे हैं, जो अनुभूतियां जुटाई हैं, जिस जीवन के सम्पर्क में आया है; उसका विश्लेषण आरम्भ करता है। सुख-दुःख में समन्वय कराने का उसका प्रयत्न एक 'मनोवांछित सुन्दर कल्पना' ही है। कविताओं में दर्शन का यह प्रवेश जहां पन्त के काव्य को एक वैचारिक आधार देता है, वहीं कुछ सुन्दर कविताये अन्त में आते-आते विचारों से बोझिल हो गई हैं। दृश्य चित्रण की दृष्टि से 'नौका-विहार' और 'एकतारा' श्रेष्ठ कवितायें हैं। कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति अपनी कल्पना के साथ यहां सार्थक व्यंजना प्राप्त करती है, पर कविताओं की अन्तिम निष्कर्षवादी पंक्तियां वर्ड्सवर्थ को भी पीछे छोड़ जाती हैं। 'पल्लव' में कल्पना की प्रधानता थी, यद्यपि कवि की दृष्टि यथार्थ जगत् की ओर जाने लगी थी। किन्तु 'गुंजन' में कतिपय रोमाण्टिक कविताओं के होते हुए भी विचारणा की प्रमुखता हो गई है। 'युगान्त' (१९३४–३५)

में आकर बौद्धिकता का भार काव्य पर कहीं-कहीं इतना बढ़ जाता है कि कवि अनुभूतियों और भावों के रसात्मक प्रकाशन के स्थान पर विचारों को छन्दबद्ध करने लगता है। गांधीवाद के प्रति पन्तजी का जो आकर्षण है, उसके कारण एक आदर्शवादी आध्यात्मिक दृष्टि निर्मित होने लगती है। बापू को निवेदित पंक्तियां स्वयं इसका प्रमाण हैं। इस वैयक्तिक छन्द-योजना के होते हुए भी संध्या, तितली, बसन्त, शुक आदि के सरस चित्र हैं, जो बताते हैं कि कवि आज भी अपने प्रकृति-प्रेम को भूल नहीं पाया है। पर जीवन में और भी तो तकाजे होते हैं। इसीलिये 'युगांत' में सामाजिक यथार्थ सम्पर्क के संकेत मिलते हैं। 'वीणा' और 'युगान्त' के बीच 'ज्योत्स्ना' नामक जो नाटिका रची गई, उसका पन्तजी के वैचारिक-विकास-जगत् में एक विशेष महत्त्व है। इससे शेली के 'प्रोमैथियस अन्बाउण्ड' का स्मरण हो जाता है। 'ज्योत्स्ना' के पात्र अमूर्त विचारों, भावनाओं के प्रतिनिधि प्रतीक हैं। ये अशरीरी पात्र कवि की कल्पना और विचारणा के प्रकाशन के लिये निर्मित हुए हैं और उनमें नाटकीयता का गुण नहीं है। 'ज्योत्स्ना' में जिस 'यूटोपिया', आदर्श कल्पना राज्य का स्वप्न पन्त ने देखा है, उसे पुस्तकीय कहकर आगे बढ़ जाना होगा। इस प्रकार पन्त-काव्य के प्रथम चरण के समन्वित स्वरूप से यह ज्ञात होता है कि आरम्भ की प्रकृति-प्रेम-भावना क्रमशः मानवीय सौन्दर्य की ओर उन्मुख होती है और अपनी अतिरिक्त कल्पना-प्रियता के कारण वे कुछ आदर्श विचारों से उलझते हैं। प्रशंसकों ने इसे उनका 'नवमानववाद' कहा है, पर इसकी रेखाएं इतनी काल्पनिक हैं कि हमारे समक्ष मूर्त विधान उपस्थित नहीं होता। आरम्भिक काव्य चरण के दो मुख्य केन्द्र हैं—प्रकृति और मानव।

पन्त के काव्य का द्वितीय चरण 'युगवाणी' (१९३७-३८) के प्रकाशन से स्वीकार किया जाता है, क्योंकि यहां सामाजिक यथार्थ का ग्रहण स्पष्टता प्राप्त करता है, जिसकी आरम्भिक सूचना 'युगान्त' में मिलती है। पन्त की कल्पनाप्रिय प्रवृत्तियां और कोमल संवेदन सामाजिक यथार्थ के इतना निकट किस प्रकार आ सके, यह भी कभी-कभी आश्चर्यजनक प्रतीत होता है किन्तु यह उनकी ग्रहणशीलता ही है जो इस ओर चली आई—युग के आमंत्रण पर। पन्त के काव्य के जिस नये चरण का प्रकाशन 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' (१९३९-४०) में हुआ है, उसके भी दो पक्ष हैं। स्पष्ट है कि पन्तजी के सामाजिक यथार्थ की दो सीमाएं हैं, जिनका सम्बन्ध गांधी और मार्क्स के व्यक्तित्व से है। इसमें भी प्रमुखता गांधी-व्यक्तित्व की है। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में गांधी का जो व्यक्तित्व रहा है, उससे भी अधिक व्यापक उनका जो सार्वभौमिक स्वरूप है, उस ओर कवि ने अधिक देखा है। गांधी पर लिखी गई कवितायें पन्त की इस दृष्टि का परिचय देती हैं। यदि केवल गांधी के राष्ट्रीय व्यक्तित्व तक ही वह सीमित रहता तब सम्भव है कि केवल कुछ देश-प्रेम सम्बन्धी कवितायें लिखकर वह सन्तुष्ट हो जाता। पर गांधी के माध्यम से पन्तजी की दृष्टि ग्रामीण जीवन की ओर गई, यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। ग्राम्यजीवन के जो चित्र कवि ने 'ग्राम्या' में खींचे हैं वे उसकी संवेदनशीलता के परिचायक हैं। ग्रामवधू, ग्रामनारी, वृद्ध के जो चित्र हैं, उनमें कवि केवल वर्णनकर्ता नहीं है, वहां वह उन दयनीय दृश्यों के साथ एक तादात्म्य भाव स्थापित करता है। वहां कवि ने अपनी ममता और सहानुभूति इन धोबी, चमार, कहार पात्रों को दी है। पन्त के सामाजिक यथार्थ का दूसरा पक्ष मार्क्स से सम्बन्ध रखता है। मेरा विचार है कि पन्तजी मार्क्स के व्यक्तित्व से प्रभावित थे, और उन्होंने इसे महान् मनीषी कह कर अपनी भावनायें भी निवेदित की हैं, पर मार्क्सवाद के प्रति उनका कोई विशेष आग्रह कभी नहीं रहा। मार्क्सवादी सामाजिक क्रान्ति के प्रति उनकी एक भावात्मक दिलचस्पी रही है पर उसके समस्त जीवन दर्शन को स्वीकार करना पन्तजी जैसे कल्पनाप्रिय व्यक्ति के लिये कठिन है। इसीलिये वे भौतिकवाद से पूर्ण सन्तुष्ट न होकर गांधीवाद से उसका एक गठबन्धन चाहते हैं। लोग इसे समन्वय मार्ग कह सकते हैं, पर इस प्रकार का, विरोधी जीवन दृष्टियों का मिलन कितना कृत्रिम होता है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं। मार्क्सवाद की वैज्ञानिक दृष्टि को समझे बिना जो लोग समाजवादी स्वर्ग के भावनामय स्वप्न देखने लगते हैं, वही इस प्रकार के अनमेल मिलन की बात कह सकते हैं।

स्थिति यह है कि पन्तजी के व्यक्तित्व का निर्माण कुछ ऐसी संवेदनशील और कोमल रेखाओं से हुआ है कि उसमें सामाजिक यथार्थ के, विशेषतया मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि के पूर्ण प्रवेश की गुंजाइश ही नहीं है। उन्होंने इस प्रयास में भी मार्क्स से अधिक प्रेरणा गांधी से प्राप्त की है। उन्होंने तो जैसे युग के वातावरण से अभिभूत होकर अपनी सहानुभूति कुछ क्षणों के लिये सामाजिक जीवन को दे दी थी, बस। इसीलिये जब पन्तजी 'स्वर्णकिरण' (१९४४–४५) के साथ कल्पना लोक में चले गये और अरविन्दवाद से अभिभूत हो गये, तब जैसे उनके काव्य की यह स्वाभाविक परिणति थी। जीवन की कठोर, कण्टकित भूमि पर उनके कोमल संवेदन के लिये स्थान कहां? सम्भवतः अतिरेक की विवशतायें भी अन्य प्रकार की होती हैं। पन्तजी अपनी कोमल अनुभूतियों और कल्पनामोह के कारण सामाजिक यथार्थ से दूर हटते गये और जीवन यथार्थ में पूरी तरह रमता हुआ भी निराला का परम विद्रोही स्वरूप किसी वाद का आग्रही न बन सका। आज जब हम पन्तजी की सामाजिक यथार्थ सम्बन्धी कविताओं को देखते हैं तो लगता है जैसे ये दो चार लाल छींटे हैं, जो उनकी श्वेत चादर पर पड़ गये हैं।

पन्त के काव्य का तीसरा चरण सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है, पर सब से दीर्घकाल उसीने पाया है। १९४४-४५ की कविताओं का संकलन 'स्वर्णकिरण' नाम से प्रकाशित हुआ, जिसने पन्त को अरविंदवाद से प्रभावित आध्यात्मिक चर्या के कवि रूप में हमारे सामने रखा। पन्त के व्यक्तित्व में जो भाव-प्रवणता थी, उसे देखकर उनका इस प्रकार अन्तर्मुखी हो जाना बहुत आश्चर्यजनक नहीं लगता, पर एक तथ्य और भी है, जिसने कवि को इस ओर प्रेरित किया है। लम्बी बीमारी ने पन्तजी को झकझोर दिया था, और उन्होंने राजरोग के क्षणों में जैसे मृत्यु का एक भावात्मक साक्षात्कार कर लिया था। इस अनुभव ने मानो एक प्रकार से कवि को अन्तर्मुखी कर दिया। ऐसे अवसर पर विरले ही विद्रोही व्यक्तित्व होते हैं जो पराभव स्वीकार नहीं करते। मेरे विचार से पन्त के नये काव्य चरण ने उन्हें विचारणा और दर्शन की ऐसी भूल-भुलइयों में भटका दिया कि वे 'लोकायतन' के दीर्घ आकार में भी उससे मुक्त न हो सके। प्रबन्ध काव्य और वह भी 'लोकायतन' जैसे बृहदाकार ग्रन्थ में कवि के लिये अवसर था कि वह अपने समग्र व्यक्तित्व को समाहित रूप में वाणी दे। पर यहां भी कवि जैसे सूचना के लिये बहुतेरी बातें तो सुना गया है, पर वह सब उसकी अनुभूति के माध्यम से होकर नहीं आया है, उसने 'रसदशा' नहीं पाई है, वह 'आसव' बन कर रह गया है। 'लोकायतन' के पूर्व स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, युगपथ, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी., सौवर्ण, अतिमा, वाणी, कला और बूढ़ा चांद की लम्बी सूची है। उनमें 'कला और बूढ़ा चांद' में थोड़ा नयापन अवश्य देखने को मिल जाता है अन्यथा अन्य सभी की भावभूमि लगभग एक सी है। 'स्वर्णकिरणों' से लेकर 'वाणी' तक पन्त के काव्य में समीक्षकों के 'नवमानवतावाद', 'अध्यात्मवाद' आदि की खोज कर उसे एक वैचारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। पर ध्यान रखना होगा कि काव्य का मुख्य सम्बन्ध सर्वप्रथम भाव और अनुभूति जगत् से है, अन्य विषय बाद में आते हैं। छन्दबद्ध दर्शनग्रन्थ काव्य नहीं हो सकते। इधर कुछ लोग परिश्रम कर के 'कामायनी' को भी एक दर्शनग्रन्थ प्रमाणित कर देना चाहते हैं, उनके लिये भी यह चेतावनी पर्याप्त है कि वह काव्य के रूप में ही पर्याप्त वैभवशाली है, उसे दर्शन के भारी अलंकरणों की अपेक्षा नहीं। जब काव्य की अपनी गरिमा में कहीं कोई अभाव होता है तभी उसके लिये बाह्यारोपण की अपेक्षा होती है।

पन्त के आध्यात्मिक काव्य में 'ऊर्ध्व मानस-चेतना' की चर्चा सर्वाधिक हुई है। कवि जैसे जीवन-यथार्थ से असन्तुष्ट होकर किसी ऐसे कल्पना-लोक का निर्माण चाहता है, जहां सब कुछ आदर्श रूप में होगा, पर ऐसा भावी स्वप्न व्यवहार की भूमि पर नहीं उतारा जा सकता। गांधीवाद स्वयं अपनी जन्मभूमि में पराजित होता दिखाई दे रहा है—अतिरिक्त आदर्शवादिता के कारण। पन्त की इस नवीन मानवतावादी दृष्टि की सूचना हमें 'ज्योत्स्ना' में ही मिल चुकी थी, पर 'स्वर्ण-किरण' से 'वाणी' तथा 'कला और बूढ़ा चांद' तक का समस्त सृजन तो इतना एकरस है कि सर्वत्र आध्यात्मिकता का रंग स्पष्ट दिखाई देता है। वास्तव में पन्त ने अपने व्यक्तित्व के चारों ओर मकड़ी का एक ऐसा जाला बुन लिया है कि बार बार हम उन्हें उसकी परिक्रमा करते देख सकते हैं। लगता है जैसे यथार्थ जगत् से उन्हें विरक्ति हो गई है, क्योंकि वह अपने वर्तमान स्वरूप में बड़ा भयावह है और इसीलिये उन्होंने एक 'स्वर्णिम' जगत्' की कल्पना कर ली है। इस काव्य में वस्तु-जगत् की अपेक्षा भावलोक की चर्चा अधिक है और यहां पन्त कवि के स्थान पर विचारक अधिक हो गये हैं। पर दर्शन तर्क, विज्ञान की प्रणालियों से चलकर अपना एक स्पष्ट रूप निर्मित करता है, उसके स्थिर प्रतिमान होते हैं। किन्तु यहां 'समन्वय' पर आग्रह इतना अधिक है कि कवि का अपना जीवन दर्शन बहुत स्पष्ट स्वरूप नहीं ग्रहण कर पाता। हम अपने प्रतिभावान कवि की नेकनीयती की प्रशंसा करते हैं कि उसने मानवता के लिये उदात्त कल्पनायें की हैं, पर जहां तक काव्य, रसात्मक काव्य का सम्बन्ध है, हमारी विनम्र धारणा है कि वे काव्य के क्षेत्र से कुछ दूर चले गये हैं। इसमें से बहुत सा दर्शन गद्य में भी लिखा जा सकता है। पन्त में आरम्भ से ही कल्पना का जो वैभव विद्यमान था, उसकी ऐसी अन्तर्मखी परिणति देखकर थोड़ा अफसोस होता है। यह उनकी संवेदनाशीलता और कल्पना की ही सामर्थ्य थी कि वे सामाजिक यथार्थ को भी अनुभूतिप्रवण ढंग से प्रस्तुत कर सके हैं। उनकी चेतना ने उन पात्रों और दृश्यों से साक्षात्कार किया है। 'चिदम्बरा' की भूमिका में पन्तजी ने अपने नवमानवतावाद अथवा उन्हींके शब्दों में 'नवीन चेतना काव्य' की विस्तृत व्याख्या की है, पर जैसा कि हम कह चुके हैं यह दर्शन अधिक वायवी हो गया है।

'स्वर्णकिरण' से कवि में प्रवचन और भाषण की प्रवृत्ति बराबर विकसित होती गई है और 'वाणी' में तो जैसे वह वक्तव्यों को प्रचारित करना चाहता है। हां, 'उत्तरा' की कतिपय कविताओं में आज भी पन्तजी के दृश्य-चित्रण की पूर्वपरिचित क्षमता के संकेत मिल जाते हैं जहां कवि प्रकृति के रूपों में रमता है। 'अतिमा' में संकलित 'कूर्मांचल' कविता में अपनी जन्मभूमि और आरम्भिक प्रेरणास्रोत—प्राकृतिक सौन्दर्य के जो कुछ दृश्य अंकित हैं, वे मार्मिक हैं। पन्तजी के नये काव्य को, मैं, मुख्य रूप से एक सांस्कृतिक दृष्टि का काव्य कह सकता हूं, जिसमें भारत के अतीत गौरव, इतिहास और दर्शन का भी योग है। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि पन्तजी अपने समय और समाज के अनेक प्रश्नों से परिचित हैं, और उनका संकेत भी कहीं-कहीं करते हैं, पर वे उनका चित्रण करने में नितान्त संकोच करते हैं और

उनके समाधान के लिये वे समाधिस्थ हो जाते हैं। पाठकों को अपने प्रिय कवि के नवीनतम काव्य से निश्चित ही वह परितोष नहीं मिला, जो उसे पूर्ववर्ती काव्य ने दिया था। पर ऐसा नहीं है कि यह नया काव्य-चरण बिलकुल निषेध कर देने योग्य है। यहां आकर कवि में एक सांस्कृतिक दृष्टि विकसित हुई है। उसके भाव-जगत् का उन्नयन हुआ है। कल्पना को अतिरिक्त विस्तार मिला है। शब्दराशि और भी वैभवसम्पन्न हुई है। आज भी कहीं-कहीं मनोरम दृश्यावलियां देखने को मिल जाती हैं और सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कवि नये शिल्पविधान से भी परिचित होना चाहता है। 'कला और बूढ़ा चांद' कम-से-कम अपने शीर्षक में नयी प्रवृत्ति के समीप है। उसके शिल्प विधान और कहीं कहीं भाव-बोध पर भी नये काव्य की हल्की-सी छाया दिखाई देती है। छन्द का मोह यहां छूट गया है और कुछ नयी उपमायें भी देखने को मिल जाती हैं जिनसे पूर्ववर्ती एकरसता टूटती है। यह इस बात का प्रमाण है कि पन्तजी साहित्य की नवीनतम चेतना से अपना सम्पर्क बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। पन्तजी के काव्य का एक ऐसा गुण है जो सर्वत्र उनमें जाग्रत रहा है और वह है उनका मौलिक आग्रह। वे अपनी ग्रहणशीलता में किसी वस्तु से प्रभावित हो सकते हैं, अभिभूत भी हो सकते हैं, पर उससे से वे उतना अंश ही ग्रहण करेंगे जितना उन्हें रुचिकर होगा। इसलिये वे समन्वयमार्ग के पक्षपाती हैं। शत प्रतिशत अनुमोदन वे सम्भवतः नहीं कर पाते, क्योंकि उनकी चेतना अपनी कल्पना का आश्रय नहीं छोड़ सकती।

महाकाव्य-प्रणयन किसी भी यशस्वी कवि की आकांक्षा का स्वप्न हो सकता है, यद्यपि संसार के अनेक श्रेष्ठ कवियों ने महाकाव्यों का सृजन नहीं किया। पन्तजी के 'लोकायतन' का आकार ही नहीं, उसका स्वरूप भी एक संकलनात्मक महाकाव्य के निकट दिखाई देता है। उसमें अपने युग का एक धारावाहिक चित्र तो है, पर वह इतना विवरणमय हो गया है कि उसमें रसात्मकता नहीं आ पाई है। हम दूर-दूर तक चले जाते हैं, पर काव्य का एक जो केन्द्रीय तत्त्व होता है वह हमें नहीं मिल पाता। गांधी और अरविंद के व्यक्तित्व इसमें प्रमुखता प्राप्त करते हैं जो किसी काव्य के लिये अतिरिक्त वैचारिक आरोपण ही कहे जायेंगे। मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' पर भी यही दोष लगाया जाता है। आज का युग महाकाव्यों, विशेषतया दीर्घाकार महाकाव्यों के लिये बहुत उपयुक्त नहीं माना जाता। यदि हम युगबोध के सहारे जीवन का चित्रण करना चाहते हैं तो हमें जीवन की जटिलताओं के भीतर प्रवेश करना होगा और प्रतीकात्मक, सांकेतिक रीति से ही उनकी व्यंजना हो सकेगी। पर 'लोकायतन' पाठक के धैर्य को पराजित करने की सामर्थ्य रखता है। स्वाभाविक है कि ऐसे दीर्घआकारी काव्य में अनेक कथाओं के आकर्षण से पाठक बंध सकता है, पर जहां तक वह भी न हो, वहां तो वह ऊबने लगता है। यह काव्य बहुत बिखर गया है और अपनी संकलनात्मक प्रणाली के कारण इतिहास ग्रन्थ-सा दिखाई देता है। यहां भी कवि ने समस्त समस्याओं का समाधान अपनी आध्यात्मिक रीति से ही प्राप्त किया है। महाकाव्य प्रायः वस्तून्मुखी सृजन होता है और जल्दी से देख जाने पर 'लोकायतन' के दार्शनिक प्रवचनों को छोड़कर प्रायः हमें कवि की वैयक्तिकता नहीं दिखाई देती।

हम पन्त के नवीनतम सृजन अथवा उनके समस्त काव्य का परीक्षण नव्यतम समीक्षा-निकषों और काव्य की अधुनातन दिशाओं के आधार पर नहीं करना चाहते, किन्तु प्रश्न यह है कि स्वयं उनके समस्त सृजन के क्रम में उनके जीवन काव्य की स्थिति क्या है? इस दिशा में हमारी दृष्टि छायावाद युग की बृहत्त्रयी पर जाती है। प्रसाद की आरम्भिक रचनायें शिथिल हैं, पर उन्नयन करते हुए वे महत्तर ऊंचाइयों पर गये हैं। निराला में निसर्गजात प्रतिभा है और आदि से अन्त तक वे काव्य के एक विशिष्ट धरातल का निर्वाह करते हैं, पर पन्त का काव्य एक दृष्टि से निगति की ओर जाता दिखाई देता है, क्योंकि वे कवि के बदले विचारक हो गये हैं। पन्त की काव्य दिशायें इतने मोड़ लेती गई हैं, और उनमें ऐसे तीक्ष्ण परिवर्तन हुए हैं कि नयी धारा कहीं-कहीं पूर्ववर्ती धारा से कटी हुई नजर आती है। व्यक्तित्व की एक खण्डित यात्रा-सी दिखाई देती है, जिसमें रचनाकार ने बार-बार दिशा परिवर्तन किया है। लगता है जैसे अपने को विकास देने के प्रयत्न में कवि का व्यक्तित्व बिखर गया है, उसका समीकरण नहीं हो पाया है। उनके नये काव्य को केवल व्यक्तित्व-विकास नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो स्पष्ट दिशा-परिवर्तन है। किन्तु इस खण्डित यात्रा के मध्य कतिपय ऐसे सूत्र कवि पन्त के काव्य में सूक्ष्म रीति से संग्रथित दिखाई देते हैं, जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि वे उनके समस्त सृजन में एकभाव से विद्यमान रहे हैं। कल्पनातत्त्व की चर्चा की जा चुकी है और मेरा तो विश्वास है कि यदि पन्तजी में कल्पना का यह आधिक्य न होता तो सम्भवतः उनकी यह दर्शनवादी, अन्तर्मुखी परिणति न हुई होती। आज भी उनकी कल्पना क्षमता स्वप्न जगत् के निर्माण में द्रष्टव्य है। पन्त आरम्भ से ही अन्तर्मुखी रहे हैं और दर्शनीकरण उनकी एक प्रवृत्ति है। प्रकृति से इसी कारण वे निष्कर्ष प्राप्त करते रहे हैं, पर आज यह अध्यात्मीकरण, दर्शनीकरण कुछ अतिवादी भूमि पर जा पहुंचा है। आरम्भ की स्वच्छन्दता भावना आज भी वैसे इस रूप में सक्रिय है कि एक नये आदर्श लोक का निर्माण

हो। पन्त के नये काव्य को मैं अन्तरवलोकन का काव्य मानता हूं, जिसमें कवि 'मनोमय कोश' को वाणी देने में यत्नशील है ।

यह निर्विवाद है कि पन्तजी एक प्रतिभावान कवि हैं और इसीलिये सम्भवतः उनके 'पल्लवकालीन' पाठक उनसे बड़ी-बड़ी आशायें रखते हैं। चित्रांकन की जो क्षमता, शब्द-ध्वनि का जो ज्ञान पन्तजी को रहा है, वह शिल्प की दिशा में उन्हें कभी शिथिल नहीं होने देता, पर हम उन्हें विचारक और सांस्कृतिक उपदेशक के रूप में नहीं, एक कवि के रूप में ही देखना चाहते थे। आज भी पन्तजी जहां प्रकृति के दृश्यों का अंकन करने लगते हैं, उनका प्राचीन वैभव समक्ष आ उपस्थित होता है और हमें चित्र पर चित्र देखने को मिल जाते हैं। समय के साथ सृजन की दिशायें बदलती हैं, एक ही स्रष्टा के कई चेहरे हमें देखने को मिलते हैं। किन्तु सृजन के दौर में उसे विकासात्मक रूप ही मिलना चाहिये। यदि इस मात्रा में रचनाकार किसी भी कारण से लड़खड़ाकर टूट जाता है तो यह उसके व्यक्तित्व की पराजय है। कवि पन्त ने हिन्दी कविता में सम्भावनाओं के जो द्वार खोले थे, उन्हें अधूरा छोड़कर दर्शन की दीवारें उठाने लगना कवि-धर्म के भी बहुत अनुकूल नहीं है। लोग कह सकते हैं कि पन्त जी कथ्य के अभाव में, सम्भव है इस बौद्धिक और वैचारिक क्षेत्र की ओर चले आये हों, पर मैं इसे स्वीकार करने को तत्पर नहीं हूं। जो कवि प्रकृति के छोटे-से-छोटे दृश्य को भी पूर्ण विस्तार और पूरे सम्भार के साथ अंकित करने की सामर्थ्य रखता हो, जिसके पास संवेदनशक्ति हो, जो उदार मानवीयता से सम्पन्न हो, उसे कथ्य की कमी तभी पड़ सकती है, जब वह जीवन जगत् से आंखें मूंदकर समाधिस्थ हो जाये। हम समझते हैं कि कालान्तर में कवि पन्त का आरम्भिक काव्य अपनी भावसम्पत्ति, रूपचित्रण, मनोरम कल्पना और गुणों के लिये यदि किया जायेगा और परवर्ती काव्य में अनुसन्धानक उनकी विचारणा के सूत्र खोजते रहेंगे। हमें इतना अवश्य कहना है कि समस्त विकासक्रम में पन्तजी सदैव निष्ठावान रहे हैं। और वह पवित्रता उनमें सर्वत्र देखी जा सकती है।

बैसवाड़ा प्रदेश की साहित्यिक उपलब्धियां

डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय ।

उत्तर प्रदेश के कुछ विशिष्ट जनपदीय क्षेत्रों में बैसवाड़े की गणना होती है। इस प्रदेश की न तो कोई राजनीतिक (प्रशासनिक) सीमा है और न कोई भौगोलिक इयत्ता; फिर भी अपने सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक गौरव के कारण परम्परा से लोक-जीवन में यह अंकित तथा चर्चित रहा है। रायबरेली, उन्नाव, फतेहपुर तथा प्रतापगढ़ जिले का यह मध्यवर्ती क्षेत्र अपनी लोक-संस्कृति, जीवन-पद्धति एवं प्राक् विभूति के कारण आज भी सुविख्यात है। उत्तर पूर्व में सई नदी (स्यन्दिका) दक्षिण में जाह्नवी (गंगा नदी) और पश्चिम में लवणा (लोना नदी) इस क्षेत्र का सीमा-निर्धारण करती हैं। ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर यह कान्यकुब्जेश्वर महाराजा जयचन्द्र का शासित प्रदेश रहा है, जिस पर गोप राजाओं का आधिपत्य था। ये गोप राजा मूलतः यादव क्षत्रिय हैं, इन्हे 'बैस' राजा के रूप में जाना जाता है।[१] कान्यकुब्ज के मातहत इन सरदारों की अनेक रियासतें दीर्घकाल तक सुरक्षित रही हैं। आज बैसवाड़ा नाम का एक स्थान विशेष भी है, साथ ही यहां और भी अनेक अवशेष द्रष्टव्य हैं, जिनसे इस प्रदेश के सांस्कृतिक वैभव की पुष्टि होती है। राजभरों की भरौली आज रायबरेली के रूप में विख्यात है जो इसी प्रदेश का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। डलमऊ (दलमऊ) यहां का एक पवित्र तीर्थ है।[२] पुराख्यानों के आधार पर यह दालभ्य ऋषि का स्थान है जिन्होंने भूतबाधा निवारणार्थ अपमार्जन स्तोत्र की रचना की थी। आज भी अन्त्येष्टि संस्कार में उनके स्मृत्यर्थ 'डाभ' की स्थापना की जाती है। गंगा का तटवर्ती स्थान 'गेगांसो' प्राचीन 'गर्गाश्रम' है, जहां द्वापर युगीन यदुवंशियों के कुलाचार्य गर्ग मुनि का निवास था। श्रीमद्भागवत में प्राप्त उल्लेखानुसार गर्ग मुनि ने ही कृष्ण का नामकरण किया है।[३] गेगांसों में अभी उनके कुछ प्रमाण अवशिष्ट हैं। गर्ग विरचित काव्य वृत्तान्तों का संकलन 'गर्ग संहिता' प्रथम प्राप्त अमर कृति है। इसी क्षेत्र का एक स्थान 'सिवौर तारा' महाराज परीक्षित को शाप देने वाले श्रृंगीऋषि का स्मारक कहा जाता है; पुराख्यान में वैस क्षत्रियों के आदि पुरुष शेषनाग हैं। वैस-वंशज शालिवाहन शक संवत् के प्रवर्तक हैं। इनके पुत्र ने डौंडिया खेरा की 'भर' जाति को विजित कर के अपना राज्य स्थापित किया। कालान्तर में बैसवाड़े के अधिकारी तिलोकचन्द हुए जिनका २२ परगनों पर आधिपत्य था। इस वंश में अनेक प्रतापी सम्राट् हुए हैं, जिनके शासनकाल में यह प्रदेश वैभव की पराकाष्ठा पर पहुंचा है। इस प्रकार बैसवाड़े का इतिहास १२वीं वि० से प्रारम्भ होकर १९वीं वि० के उत्तरार्द्ध तक उपलब्ध होता है। इस दीर्घ कालावधि में हिन्दी-साहित्य की भी उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई है। बैसवाड़ा नरेश देवीसिंह (१७७६-१८८५ वि०) काव्यप्रेमी एवं उदार आश्रयदाता रहे हैं, यह कथन उनके प्रति लिखित सुखदेव मिश्र के 'श्रृंगार लता' नामक ग्रन्थ से पुष्ट होता है। कविवर सुखदेव के 'रस रसार्णव' ग्रन्थ में 'रैयाराव' का भी उल्लेख हुआ है। महाराज जोतसिंह भी काव्यप्रेमी नरेश थे। कविवर देव की 'प्रेम चन्द्रिका' कृति इन्हीं के 'आनन्द हेतु' समर्पित है। बैसवाड़े में स्थित टेढ़ा ग्राम निवासी सुवंश शुक्ल ने उमराव कोश के नाम से अमरकोश का अनुवाद किया था और डौंडिया खेरा वाले शम्भुनाथ त्रिपाठी ने 'बैतालपचीसी' की रचना कर के कथा साहित्य को विकसित किया था। साहित्य के इतिहास ग्रन्थों, अवध गजेटियर्स और खोज रिपोर्टों में बैसवाड़ा निवासी इस प्रकार के अनेक कवियों और कृतियों के विवरण प्राप्य हैं। ऐतिहासिक तथ्यों के कारण इस भूखण्ड का गौरव अक्षुण्ण है। डलमऊ तो यहां के 'गत गौरव की समाधि' है। यहां स्थित दुर्ग गोप, यवन और अंग्रेजी

---

१. द्रष्टव्य—प्रभावती—निराला (प्रारम्भिक अंश १—१५-१६)

२. 'कल्याण' तीर्थांक में डलमऊतीर्थ

३. 'यदूनामहचार्यः' दशमस्कन्ध (भागवत)

शासन का विश्वस्त साक्षी रहा है। इसके ध्वंसावशेषों में अंधकारयुगीन भारत का प्रामाणिक इतिहास सुरक्षित है।[1] भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में यह प्रदेश और भी प्रतिष्ठित हुआ है। १८५७ की क्रान्ति के अमर बलिदानी राजा बेनी माधव,[2] नेहरूजी के सत्याग्रह और विद्यार्थीजी के नमक आन्दोलन का यह केन्द्र चिरस्मरणीय है। लोकजीवन की दृष्टि से बैसवाड़े की रीति-नीति एवं प्रथाएं और भी उल्लेखनीय हैं। बैसवाड़ा वासियों के राजन्य संस्कार, शिष्टाचार तथा लोकाचार अपने वैशिष्ट्यवश समस्त अवध प्रदेश में अनन्य हैं।[3] अस्तु, लगभग पांच सौ वर्गमील में विस्तृत यह बैसवाड़ा प्रदेश युग-युग से अपनी संस्कृति, अध्यात्म, परम्परा, इतिहास, साहित्य तथा भाषा सभी क्षेत्रों में अग्रगण्य रहा है; किन्तु विशेषतः साहित्यिक उपलब्धियों के कारण उसका और भी गौरव है। बैससाड़े का साहित्यिक इतिहास हिन्दी के विकास के साथ ही प्रारम्भ होता है। बैसवाड़े का आदि कवि मुल्ला दाऊद है। प्राप्त उल्लेखों के आधार पर इनका स्थिति-काल तेरहवीं शताब्दी और स्थान डलमऊ स्वीकार किया जाता है। मुल्ला दाऊद प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के प्रथम सूफी कवि हैं। चंदायन (चंदावत, चन्दावती, चन्दावन) की रचना (७८१ हिजरी, १३७९ वि० स०) में करके उन्होंने साहित्य-सृजन का सूत्रपात किया और एक परम्परा स्थापित की जिसमें मलिक मुहम्मद जायसी, नूर मुहम्मद तथा अन्य परवर्ती कवि ग्राह्य हैं। जायसी का 'धर्म स्थान' जायस इसी क्षेत्र में स्वीकार्य है। पद्मावत महाकाव्य में वर्णित लोक-परम्परा, प्रकृति-वर्णन तथा समसामयिक देशकाल द्वारा बैसवाड़े का साहित्यिक इतिवृत्त प्रस्तुत हुआ है। जायसी ने लगभग २० कृतियों की रचना करके (जिनमें कुछ उपलब्ध हैं और कुछ अनुपलब्ध) साहित्य-निधि को समृद्ध किया है। सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा का तो यह क्षेत्र केन्द्र रहा है, जहां मुल्ला दाऊद, महाकवि जायसी के अतिरिक्त नूर मुहम्मद आदि अन्य अनेक परवर्ती कवि प्रादुर्भूत हुए हैं। लोककथा, अध्यात्म साधना, भारतीय पुराख्यान, रागतत्त्व, कलात्मकता और वैविध्य की दृष्टि से इनकी कृतियों का महत्त्व असंदिग्ध है।

बैसवाड़े का मध्ययुग अत्यधिक गौरवपूर्ण है। जायसी के उपरान्त श्री लालचदास (१५८५ वि०), श्री क्षेम वंशीजन (१५५६), श्री लालनदास (१६५२), इन्द्रावती के रचयिता नूर मुहम्मद (१७७०) आदि कवियों के विवरण प्राप्य हैं। सं० १८०० वि० दौलतपुर निवासी श्री सुखदेव मिश्र (१७२० वि०) अत्यधिक प्रख्यात हैं। इनके विरचित ग्रन्थ रसार्णव, शृंगारलता, वृत्त-विचार (सं० १७२८), फाजिल अली प्रकाश (सं० १७३३), छन्द-विचार, अध्यात्म-प्रकाश आदि उपलब्ध हैं। सुखदेवजी के शिष्य शम्भुनाथ वन्दीजन (१७९८) 'राम विलास रामायण' के कृती और उनके प्रपौत्र सीतलादीन 'राधा भोग-विलास' के रचयिता कहे जाते हैं। इसी काल के बनी वन्दीजन (१८१६) हैं, जो टिकइतराय प्रकाश, रस-विलास और भंडौआ-संग्रह, आदि ग्रन्थों के रचयिता हैं। आप बैंती के निवासी तथा महाराज टिकैतराय के आश्रित कवि थे। रस-विलास में बैसवाड़े के खूबचन्द्र कायस्थ का संकेत मिलता है। इन ग्रन्थों में रस, छन्द, अलंकार आदि काव्यांगों का बड़ा प्रामाणिक विवेचन हुआ है। बैसवाड़े की सीमा में आचार्य भिखारीदास (टंयोंगा-निवासी) कृत काव्य-निर्णय, छन्दार्णव, रस-सारांश, शृंगार-निर्णय आदि ग्रन्थ सहज स्वीकार्य हैं। सं० १८४८ में चन्दन कवि के भानजे 'थान' कवि (निवासी डौंड़िया खेरा) ने दलेक्त प्रकाश की रचना की है। असनी के भी अनेक भट्ट कवि (वन्दीजन) का उल्लेख मिलता है। फतेहपुर का वह भाग जो बैसवाड़े की सीमान्तर्गत है—उसमें शम्भुनाथ मिश्र (रस कुल्लेल, रस-तरंगिणी, अलंकार दीपक के रचयिता) कवि ठाकुर वैरीसाल तथा अन्य सुकवि स्वीकार्य हैं। सामान्य कवियों में भौन कवि (सं० १८२५ कृतियां—रस रत्नाकार शृंगार रत्नाकार), सुकवि गिरधारी (१८४३, कृतियां—सतसई, सुदामा-चरित्र, गोपी-विरह आदि) पं० अयोध्या प्रसाद, 'औध कवि' (१८६४ वि० कृतियां—साहित्य-सुधासागर, राम सर्वस्व, शिकारगाह, छन्दानन्द, राम कवितावली आदि) परमेशवन्दीजन (१८७८ वि०) कृति-कृष्णविनोद, कवि पंधार (१८८२ वि० कृतियां—राम नवरत्न, सप्त विनय, नीति विलास, राम निवास, रामायण, शाहनामा, कृष्णजन्मोत्सव आदि) उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक युग में बैसवाड़ा प्रदेश अनेकानेक साहित्यिक उपलब्धियों की दृष्टि से गौरवान्वित हुआ है। युग

---

१. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य—(अ) महाप्राण निराला कृत 'कुल्ली भाट' में उनकी ससुराल डलमऊ की ऐतिहासिकता का विवरण।
   (ब) उत्तर प्रदेश के ऐतिहासिक स्थान—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी
   (स) राजकलश—श्री अमर बहादुर सिंह 'अमरेश'

२. भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम, सम्पा० श्री अमृतलाल नागर (ब) राणा बेनीमाधव सिंह अमरेश, (स) बेनी माधव बावनी—कृष्णकवि।

३. द्रष्टव्य—बैसवाड़े का जीवन—डा० राम विलास शर्मा

निर्माता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (सं० १८५७ वि०) की यह स्थली समसामयिक साहित्यिक आन्दोलनों की खान है। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती'–सम्पादन, खड़ी बोली के काव्यान्दोलन और साहित्यिक जागरण द्वारा हिन्दी को नई दिशा और नई गति दी है। समालोचना, सम्पादन तथा भाषा के क्षेत्र में द्विवेदीजी का योगदान अभूतपूर्व है। उनकी विरचित विविध विषयक ७९ कृतियों से साहित्यिक भण्डार सम्पन्न हुआ है। द्विवेदीजी की प्रेरणा से इस क्षेत्र में साहित्य सर्जना की एक लहर दौड़ गई, परिणामतः कितनी ही बहुमूला कृतियां यहां सृजित हुई। महाप्राण निराला जैसे विश्व कवि उन्हीं की प्रेरणा तथा प्रतिक्रिया से प्रेरित हुए। निरालाजी का अधिकांश साहित्य बैसवाड़ा की देन है। बैसवाड़े का लोक-जीवन, प्रचलन तथा परम्परा 'निराला' जी का लक्ष्य बिन्दु है। वे कहीं इसके प्रति विद्रोहातुर हुए हैं और कहीं आस्थावान। उनके उपन्यास (निरुपमा, काले कारनामे, चोटी की पकड़, प्रभावती) कहानी-संग्रह (लिली, सुकुल की बीवी, चतुरी चमार) तथा संस्मरणों (कुल्लीभाट, बिल्लेसुर बकरिहा) में बैसवाड़ी समाज, रहन-सहन तथा आचार-व्यवहार का सशक्त प्रतिपादन हुआ है। 'निराला' जी की कुछ कवितायें (सरोज-स्मृति, नये पत्ते, गीत गुंज आदि) यही व्यंग्य विद्रूप और आक्रोश व्यक्त करती हैं। अन्य विश्रुत कवियों में कविरत्न पं० रूपनारायण पाण्डेय, सम्पादक 'माधुरी', 'सुधा' (स्थितिकाल १९४१––२०१५ वि० स्थान-गेंगासों, कृतियां––लगभग ६० मौलिक तथा अनूदित प्रकाशित काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना एवं चरित ग्रन्थ), आधुनिक मल्लिनाथ लाला भगवानदीन (कवि, भाष्यकार, आलोचक एवं आचार्य), कविवर भगवतीचरण वर्मा (जन्म ३० अगस्त, १९०३, शफीपुर, उन्नाव,) काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं विविध कृतियां यथा––चित्रलेखा, टेढ़े मेढ़े रास्ते, भूले बिसरे चित्र, तीन वर्ष, मधुकण, राख और चिनगारी, रुपया तुम्हें खा गया, त्रिपथगा, अपने खिलौने, प्रेम संगीत, मानव पतन, दो बांके, हमारी उलझन, इन्सटालमेंट तथा अन्य।) महाकवि डॉ० द्वारका प्रसाद मिश्र (जन्म १ अप्रैल, १९०१ उन्नाव) वर्तमान मुख्य मंत्री, मध्य प्रदेश, भू० पू० सम्पादक श्री शारदा, सारथी, लोकमत, काव्यकृति––कृष्णायन महाकाव्य। आचार्यप्रवर स्व० पं० ललिताप्रसाद सुकुल भू० पू० अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय (सम्पादक, कवि, आलोचक एवं मूर्द्धन्य साहित्यसेवी) महाकवि रामनाथ शुक्ल 'जोतिसी' स्थितिकाल सं० १९३१ वि०––२००० वि० मैरमपुर, रचना ('श्रीराम चन्द्रोदय' महाकाव्य एवं अन्य १३ काव्य कृतियां) आशुकवि श्री जगमोहन नाथ अवस्थी, साहित्यमनीषी (४ अक्टूबर, १९०४, कवि, सम्पादक, नाटककार, पत्रकार, उपन्यासकार, कृतियां––कदम्ब, जीवन कण, दिविता, अहिंसावध, चौराहे से, प्राणदान, फांसी के स्वर, अमर बापू, जय स्वतंत्रते, सुहाग की चिता, सती वेश्या, पश्चात्ताप, बापू का वरदान, सुधा कलस, छन्द रत्नाकर, मंगला, सीमा-संग्राम आदि, भू० पू० सम्पादक––ग्राम सन्देश, महाकवि पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' (जन्म सं० १९३६ बछरावां), कृतियां––भरत भक्ति (महा०) श्रीराम तिलकोत्सव (महा०) शिवाजी (अप्रकाशित महा०) श्री रामायण महाभाष्य एवं अन्य लगभग २५ विविध विषयक काव्य ग्रन्थ), श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा (१९१४, काव्य कृतियां; अचल सुहाग, वर्ष गांठ, कवि विहग, आशा-पर्व, पंथिनी, प्रसारिका, बोलों के देवता, कथा कुंज, आंगन के फूल, दादी का मटका, संपा० युगमन्दिर, उन्नाव), महाकवि श्री देवी रत्न अवस्थी 'करील' (१९६६ वि०, स्थान बरदर, काव्य कृतियां––देवार्चन (महा०) लोक रीत, मधुपर्क, सर्वोदय आदि) कविवर ब्रजनन्दन (सं० १९४९ स्थान––लालगंज, कृतियां––वैवाहिक विनय, ऊधौ-उपचार तथा अन्य ७ संग्रह तथा स्फुट रचनायें) श्रीराम स्वरूप 'मिश्र' विशारद' (सं० १९५९ स्थान––सेमरौता, कृतियां––कृष्णायन महाकाव्य, सुविचार सतसई तथा अन्य) स्व० श्रीमती तोरन देवी शुक्ल, 'लली' साहित्य चन्द्रिका (स्थितिकाल सं० १९५३––२०१८) स्थान––हमीर गांव, कृति––जाग्रति तथा स्फुट) श्री चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका' (कृतियां––बौछार, रतौंधी, भिनसार तथा स्फुट, आकाशवाणी लखनऊ के पंचायती कार्यक्रम से सम्बद्ध) श्री रमानाथ अवस्थी (१९२६, गीतकार, कृतियां––सुमन सौरभ, आग और पराग, रात और शहनाई)। सुश्री कीर्ति चौधरी (१९३५ उन्नाव, कवयित्री, कहानी-लेखिका, रचनाएं, 'कविताएं' एवं स्फुट, तीसरे सप्तक की प्रयोगवादी लेखिका)। डॉ० देवकी नन्दन श्रीवास्तव (१९२८, नारायणपुर, कवि, आलोचक, प्राध्यापक लखनऊ विश्वविद्यालय, कृतियां––तुलसीदास की भाषा (शोध ग्रन्थ), चित्रकूट के पथ पर (खण्डकाव्य), बरवै सतसई, दोहा शती, आराधना, उद्‌गार, श्रद्धांजलि, भूमा सचल उठी, अवतरण, साकेत से वृन्दावन (महाकाव्य) श्रीकृष्ण दत्त वाजपेयी (४ अप्रैल, १९१८, कवि, सम्पादक––ब्रज भारती, आचार्य––प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, कृतियां––भारतीय व्यापार का इतिहास, ब्रज का इतिहास, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म, युग युग में उत्तर प्रदेश आदि ग्रन्थ।

श्री प्रयाग नारायण त्रिपाठी (१९१९, हिन्दी-सम्पादक सूचना मन्त्रालय, तीसरे सप्तक के प्रयोगवादी कवि) श्री अमर बहादुर सिंह 'अमरेश' (१९२८, कवि, उपन्यासकार, सम्पादक, कृतियां––राना बेनीमाधव, राजकलस, हिना के हाथ, प्रवीणराय, खून भरी छाती, बालों आंचल के दीप, भटकती लहरें, गिलट के गहने, धरा के गीत, मसलानामा आदि) श्री राम मनोहर त्रिपाठी (१९८८, कृति––वीर बैसवाड़ा तथा स्फुट) इनके अतिरिक्त अन्य कवियों में––श्री ब्रजेश, अवधश,

चातुर, विश्वेश, चन्द्रमणि, अरविन्द, तरंगी, कौतुक, चरन सरन नाज, रशीद, माल, द्विजराज, द्विजहंस, अखिलेश, अंजनी-कुमार शुक्ल, कृष्ण कवि, शिवसिंह 'सुमन', उपेन्द्र, शिव बहादुर सिंह भदौरिया, प्रताप, बालकृष्ण मिश्र, करुणेश, सूर्यप्रसाद द्विवेदी 'सूरज', 'देवेश' आदि के नाम स्मरणीय हैं।

आचार्य वर्ग में बैसवाड़े के अनेक मूर्धन्य मनीषी समीक्षादि के क्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ हैं। आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी (१९०६, सम्पादक—भारत, आलोचक, आचार्य, सागर विश्वविद्यालय, कृतियां—सूरसागर, रामचरित मानस (सम्पा० हिन्दी साहित्य; बीसवीं शताब्दी, जयशंकर प्रसाद, महाकवि सूरदास, आधुनिक साहित्य, नया साहित्य; नये प्रश्न, प्रेमचन्द, साहित्यिक विवेचन, राष्ट्र भाषा की समस्याएँ आदि।) आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (१९०६, सम्पादक—वर्णाश्रम, सनातन धर्म, प्राचार्य-मागध-विश्वविद्यालय, भाष्यकार एवं आलोचक, कृतियां—हिन्दी में बाल साहित्य का विकास, काव्यांग कौमुदी ३ भाग, पद्माकर पंचामृत, बिहारी की वाग्विभूति, बुद्ध मीमांसा, हमीरहठ, रसिक प्रिया की टीका, काव्य-निर्णय की टीका, गीतावली की व्याख्या, केशव ग्रन्थावली ३ भाग, मानस का काशिराज संस्करण, रस-मीमांसा, वाङ्मय विमर्श, हिन्दी साहित्य का अतीत–२ भाग, प्रेमचन्द की कहानी-कला तथा अन्य) डॉ० राम विलास शर्मा (१९१२, सम्पादक—हंस; समालोचक, उपन्यासकार, कृतियां–निराला, भारतेन्दु युग, चार दिन, प्रेमचन्द, सन् ५७ की राज्यक्रान्ति, भाषा और समाज, आस्था और सौन्दर्य आदि), डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी (१ अगस्त, १९१५, असनी, फतेहपुर, समीक्षक एवं प्रा० लखनऊ विश्वविद्यालय, कृतियां—चन्दबरदाई और उनका काव्य, रेवातट, असनी के कवि, काव्य विवेचन, विचार और विवेचन, पृथ्वीराज रासो (समीक्षा) आदि)। डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित (१९२० भौरावां, समीक्षा-कृतियां–हिन्दी साहित्य का इतिहास (सहलेखन) सन्त-दर्शन, प्रेमचन्द, सुन्दर दर्शन, भाषा भारती, चरनदास, अवधी भाषा और उसका इतिहास, पश्चिमी साहित्य, एकांकी कला, हिन्दी सन्त-साहित्य आदि) इसी क्रम में डॉ० सूरज प्रसाद शुक्ल, श्री प्रभु दयाल शुक्ल प्रभृति व्यक्ति उल्लेखनीय हैं।

बैसवाड़ा प्रदेश की साहित्यिक समृद्धि उपर्युक्त कृतिकारों की इन बहुमूल्य कृतियों के कारण स्वयमेव सिद्ध है। इन्हीं साहित्यसेवियों के साधना-स्वरूप इस क्षेत्र से सरस्वती, पथिक, विजय, ग्रामसंदेश, सर्व हितकारी, सिंहनाद, जनता राज, युग संदेश, हलचल, कला कौशल, आलोक, रश्मि, ज्योत्स्ना, आभा, इन्साफ, किसान एवं रचना आदि पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती रही हैं। इनके ही नेतृत्व में अनेक प्रकाशन संस्थाएं एवं साहित्यिक परिषदें संचालित हुई हैं जिनमें युग मन्दिर तथा द्विवेदी-स्मारक-समिति सर्वोपरि हैं। इस प्रकार अतीत और वर्तमान को अपनी साहित्यिक उपलब्धियों से परिपूर्ण करके इस प्रदेश ने विशिष्ट योगदान किया है, जिसका गौरव अक्षय है।

क्षेत्रीय लोक कहानियां

डॉ० शंकरलाल यादव
हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

लोकवार्ता के अध्ययन के अन्तर्गत लोक कहानियों का ऊंचा स्थान है। भारत में यह माना जाता है कि कथा कहानियों के श्रवण-संलापन से पुण्य की प्राप्ति होती है तथा पापों का क्षय होता है। इन्हें दिव्य एवं पापहा माना जाता है। व्रतों-अनुष्ठानों की कहानियां एवं तीर्थ माहात्म्य के आख्यान इस ओर प्रमाण रूप में आते हैं।

भारत में कहानी कहने की प्रथा चिर प्राचीन है। ऋग्वेद तक में वाकोवाक्य एवं उपाख्यान आदि का संकेत मिलता है। यह सत्य है कि उस युग में कथा नाम का कोई शब्द नहीं मिलता, पर जिसे आज कथा (कहानी) कहा जाता है वह शैली उस समय के ऋषियों को अज्ञात न थी। शुनः शेप तथा जाबालि के उपाख्यान स्थिति की स्थापना कर रहे हैं। उस युग में कथन की इस विधा का नाम इतिहास दिया जाता था। पुराण शब्द भी इसी शैली के लिये प्रयोग में आता था। पुराणकाल में आकर इन कथाओं को स्थिरता प्राप्त हुई और पद्म पुराण में अनेक कथायें एकत्र हुईं। इसी कारण, पद्म पुराण को कथाओं का सागर कहा गया है। उस युग में कहानी कहना एक कला मानी गई। आगे चलकर रामायण व महाभारतकाल में कहानी का महत्त्व और भी बढ़ा। इन महाकाव्यों में अनेक लोक-कथाओं को प्रश्रय दिया गया और उनके आधार पर नव-नव साहित्यिक उन्मेष हुए। महाभारत के विषय में तो यह उक्ति प्रचलित हो गई कि 'यन्न भारते तन्न भारते'। इस महाकाव्य में अनेकानेक कथायें इसी प्रकार आकर इसका अंग बनी हैं जिस प्रकार नदियां सवेग समुद्र के पास आकर तद्रूप हो जाती हैं। इसी युग में भारत का कथा साहित्य विश्व कथाकाश में सहस्रांशु बनकर चमका। उसकी रश्मियां द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, पंचतन्त्र व हितोपदेश, सिंहासन बत्तीसी, वैताल कथा, शुक सप्तति तथा कथासरित्सागर आदि अनेक कथा संग्रहों के रूप में भास्वर हुईं।

प्राचीन काल से कथासाहित्य 'लोइकव्व' का पूरक एवं पोषक अंग रहा है और लोकवार्ता एवं लोक साहित्य का स प्रकार का सम्बन्ध अनिवार्यतः लोककहानियों के अध्ययन को विशेष बल देता है। विश्व की लोकवार्ताओं के अध्ययन से यह पुष्ट होता है कि भारत में लोक कथा परम्परा बड़ी प्राचीन है। गम्भीर अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रीस की वार्ताओं से भी इनका महत्त्व अधिक है।

लोककथाओं के विश्लेषण से यह विदित होता है कि भारतीय परम्परा में इनका विकास कई स्तरों पर हुआ। आरम्भ में एक कथा मिथ में लिपटी है जिसका स्वरूप महाकाव्यों में, त्रिपिटक, जैनचूर्णिकाओं तथा पुराण आदि में प्राप्त मिथ व उपदेश में देखा जा सकता है। तदुपरान्त उन कथाओं का विकास हुआ जिनको जातक, कथाकोष, पंचतन्त्र, कथासरित्सागर, हितोपदेश आदि में देखा जा सकता है। आगे वे ही कथायें काल्पनिक कहानियों, यथा दण्डी के दशकुमार-चरित, बाणभट्ट की कादम्बरी एवं सुबन्धु की वासवदत्ता आदि रूपों में विकसित तथा पल्लवित हुई हैं। पर ये सब रूप भारतीय उस कथा के हैं जो साहित्य की निधि रही हैं। इन कहानियों के मूलरूप को गुणाढ्य ने पैशाची की अमर कृति 'बड्ड कहा' में निबद्ध किया। इसकी वस्तु, तन्त्र एवं उद्देश्य इतने प्रिय एवं आकर्षक रहे हैं कि उन्हें सुनकर जंगल के पशुपक्षी भी अश्रुपात करने लगे थे और समस्त वन-प्रान्तर विरहसंतप्त हो चला था। गुणाढ्य की इसी कथा का शेषांश सोमदेवकृत कथासरित्सागर के रूप में उपलब्ध होता है। वास्तव में पैशाची की वड्ड कहा की कहानियां भारतीय लोक कहानी की आधार रही हैं। आज भी वे क्षेत्रीय अथवा जनपदीय भाषा के आवरण में लिपटी जनता का मनोरंजन कर रही हैं।

भारतीय लोक-कथाओं की अपनी विशेषता रही है कि एक कथा के प्रमुख तत्त्वों की पुनरावृत्ति अन्य कथाओं

में होती रहती है। बंगाल, बिहार, ब्रज, राजस्थान, हरियाना व पंजाब आदि प्रान्तों में प्रचलित लोककथाओं में अनेक-कथायें एक दूसरे से वस्तु, पात्र, विधान एवं शैली में पर्याप्त सादृश्य लिये हैं। इतना ही नहीं भारत की अनेक कथाएं भौगोलिक सीमा को लांघकर दूर-दूर तक यात्रायें कर चुकी हैं। बौद्धधर्म के साथ वे मध्य व पूर्वी एशिया में पहुंची हैं। आचार्य एल्विन ने ठीक ही कहा है कि जिसे भारतीय कथा साहित्य कहा जाता है वह वास्तव में, एशियाई कथा साहित्य है। तिब्बती, मंगोली, बर्मी, एवं चीनी कथा साहित्य उसी का रूपान्तर है। एक समय यह धारणा बलवती थी कि विश्वभर की लोक कहानियों का मूल एक स्थान है। वहीं से चलकर वे विश्वभर में फैली हैं। बेन्फी ने यह सिद्ध किया कि वह मूल स्थान भारत ही है।

आज कहानी के अध्ययन का आधार-बिन्दु बदल गया है। आरम्भ में 'टाइप' कहानी के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन का आधार रहा था, पर अब वह (आधार बिन्दु) 'मोटिफ' है। यों तो विश्व की अधिकांश कहानियों में एक से मोटिफ (अभिप्राय) मिलते हैं, पर इन मोटिफों के विश्लेषण-विवेचन से विदित होता है कि ये 'अभिप्राय' सभी देशों में तथा सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्र एवं सहज ही निर्मित हो सकते हैं। अतः तुलनात्मक, ऐतिहासिक एवं अभिप्राय विषयक अध्ययन से किसी क्षेत्र विशेष की महत्त्वपूर्ण सामग्री परखी जा सकती है। इस प्रकार उस क्षेत्र के भाषा विज्ञान, नृविज्ञान तथा धर्मगाथाविज्ञान के अध्ययन का पूर्णज्ञान इन कहानियों के द्वारा ही हो सकेगा। इन कहानियों में क्षेत्रीय संस्कृति की सामग्री लबालब भरी होती है जिनमें लोक विश्वासों का प्रमुख स्थान है।

लोक-कहानी को अंग्रेजी के 'फोकटेल्स' के पर्याय के रूप में समझने में कभी-कभी उलझन हो जाती है। अंग्रेजी में यह शब्द बहुत व्यापक है। वहां इसकी परिधि में अवदान, लोककथा, धर्मगाथा (मिथ), पशुपक्षियों की कहानियां तथा नीति कथायें—सभी कुछ जो गद्य के माध्यम से कहा जाता है, सम्मिलित की जा सकती हैं। पर भारतीय प्रसंग में लोक कथाओं की भावभूमि ऐसी नहीं रही है। यदि प्राचीन आचार्यों के मत को अपना सम्बल मानें तो कथा के दो प्रमुख रूप होते हैं—(क) कथा तथा (ख) आख्यायिका। कथा उस कहानी को कहते हैं जो कवि-कल्पना-प्रसूत होती है। परन्तु आख्यायिका का आधार ऐतिहासिक इतिवृत्त होता है। इसमें इतिहास की किसी सत्य घटना का संयोजन रहता है। उदाहरणस्वरूप बाणभट्टकृत 'कादम्बरी' एक कथा है तथा दण्डी का 'हर्षचरित' एक आख्यायिका। अग्नि पुराण में कथा के पांच भेदों का वर्णन आया है:—(क) आख्यायिका (ख) कथा (ग) खण्ड कथा (घ) परिकथा (ङ) कथानिका। वहां पर आख्यायिका आत्मकथा के रूप में तथा कथा पद्यात्मक कथा के रूप में एवं खण्ड कथा में नायक राजपरिवार का न होकर मंत्री, व्यापारी तथा कोई ब्राह्मण होता है। वह विषादान्त होती है। परिकथा की वस्तु मिश्रित होती है तथा कथानिका दिव्य चरित्र के योग से मिली होती है। यह अंग्रेजी की फेयरी टल के समक्ष होती है। आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने विभाजन में खण्ड कथा को देशप्रधान कथा कहा है। उसे क्षेत्रीय कहानी कहा जा सकता है। हरिभद्राचार्य ने अर्थ कथा, काम कथा, धर्म कथा तथा संकीर्ण कथा के नाम से अपना विभाजन प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार संकीर्ण कथा में लौकिक इच्छाओं का चित्रण होता है।

भारत का कथा साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। यहां की कथाओं की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इनका प्रभाव संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों के कथा साहित्य पर प्रचुर परिमाण में पड़ा है। इन कथाओं का अनुवाद सर्वप्रथम पहलवी एवं अरबी भाषाओं में हुआ और पीछे यूरोप की विभिन्न भाषाओं में इनके अनुवाद हुए। 'ईसप' की कहानियों पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है।

पिछली एक शताब्दी से देशी-विदेशी विद्वानों के द्वारा कहानी-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण व खोजपूर्ण कार्य हुआ है। सर आर० सी० टेम्पल का अध्यवसाय इस ओर सराहनीय है। इन्होंने १८६६ में नृविज्ञानवेत्ता रेवरेंड हिस्लप के उन लेखों का सम्पादन किया, जिनमें कहानी अपने मूलरूप में दी गई थी। हिस्लप साहब ने कहानी के विश्लेषण अन्वेषण की एक विद्वत्तापूर्ण शैली अपनाई थी। इनके अतिरिक्त डॉ० आर० एल० स्टाइन का 'हातिम्स टेल्स' नामक १२ कश्मीरी कहानियों का संग्रह एक आदर्श कार्य है। यह संग्रह १८९६ में स्टाइन साहब ने कश्मीर के हातिम नाम के एक अपठित ग्रामीण से सुनकर किया था। हातिम हरमुकुट पर्वत की चोटी पर मोहमन्मर्ग नामक स्थान का रहने वाला था। यह संग्रह अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिलिपि (I.P.A.) तथा शारदा लिपि—दोनों लिपियों में लिखा गया है। इस पुस्तक के आरम्भ में जार्ज ग्रियर्सन ने लोक कहानी के महत्त्व के प्रदर्शन के लिये एक विशालकाय भूमिका दी है। यदि इस प्रकार के कार्यों से कहानियों के तुलनात्मक अध्ययन किये जायें तो लोक-कहानी पर यह साधारण-सा दिखाई देने वाला विषय शास्त्रीय विषय बन जाये।

अपने मूलरूप में क्षेत्रीय वातावरण से लदी इन कहानियों के संग्रह से संस्कृति का पूरा-पूरा परिचय मिल सकता है। इससे भी बढ़कर क्षेत्रीय जनभाषा का ऐसा खालिस रूप मिलेगा जो उस भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी

होगा। अतः संक्षेप में यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि क्षेत्रीय लोककहानियों के अध्ययन से देशी संस्कृति और देशी भाषा की वह धरोहर हाथ लगेगी, जिसके बिना विशाल संस्कृतियों के विकास की कहानी खपुष्प सदृश होगी और जिसके अभाव में भाषा के प्रस्तार-विस्तार का समीचीन अध्ययन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

इन कहानियों को हेय एवं त्याज्य नहीं समझना चाहिये। यदि इनका वैज्ञानिक संकलन किया जाये तो ये न केवल लोकसाहित्य की ही झोली भरेंगी, वरन् साहित्यिक कहानियों के लिये भी आधार प्रस्तुत करेंगी। धनपाल ने एक कहानी को संवार-सम्भाल, झाड़-पौंछ कर उसे 'भविसयत्त कहा' के रूप में विदग्धजन-आस्वाद्य कहानी बना दिया। मोपांसा ने एक स्थान पर कहा है कि लेखक के चारों ओर कथानक अछूती अवस्था में बिखरे पड़े हैं। यदि वह विचार करे तो कहीं से भी एक अछूते कथानक को उठाकर काम में ला सकता है। लोकसाहित्य ऐसे कथानकों की कच्ची सामग्री का पुलिन्दा है।

लोककहानियां नवीनता से भी अपरिचित नहीं हैं। इनमें आज की औद्योगिक सभ्यता के चित्रण भी आने लगे हैं। भाषा, लहजा, उच्चारण एवं व्याकरण तो इनका जनपदीय बोलियों का होता है, पर इनके रंग परम्परा-प्रथित नहीं होते। जहां इनमें प्राचीन लोककहानियों के कथातत्त्व मिलते हैं, वहां फैक्टरियों के साइरन एवं चिमनियों के धुएँ का भी वर्णन आने लगा है; किसान और मजूरों के परिश्रम के चित्र भी हैं। इस बात को शब्द-परिवर्तन के साथ यों कह सकते हैं कि प्राचीन जीवन, प्राचीन कल्पनाओं और जनता के दुःख-सुख ने प्राचीन कथा को जन्म दिया। नव्य भाग्य विधायिनी कर्मशीलता नवीन आख्यान साहित्य को जन्म दे रही है।
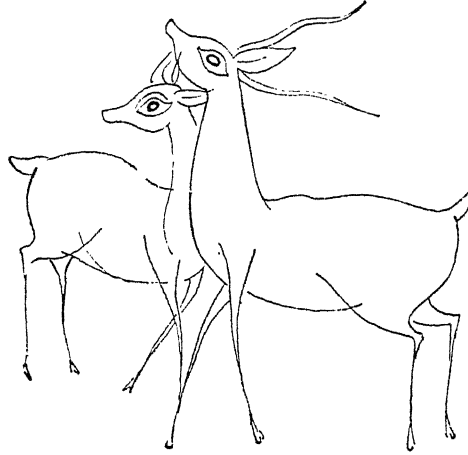
लखनऊ में उर्दू नाटक का प्रारम्भ

प्रो० सय्यद मसऊद हसन रिज़वी, एम० ए०

लखनऊ का नवाबी युग १७११ ई० से आरम्भ होता है, जब बुर्हानुलमुल्क सआदत खां अवध के सूबेदार या गवर्नर नियुक्त हुए। उस समय से सवा सौ वर्ष तक उर्दू नाटक का नाम-निशान नहीं मिलता। लेकिन किस्सा-खानी की कला, भांड़ों की नकलें, भगतियों के स्वांग, बहुरूपियों के रूप; ये ऐसी चीजें विद्यमान थीं, जो नाटक के पंचभूत का काम दे सकती थीं। उनके काल में नाटक के प्रारम्भिक चिह्न मिलते हैं। एक बार 'राग माला' की एक प्रतिलिपि बादशाह को भेंट की गई। 'रागमाला' में राग-रागिनियों के चित्रों का संकलन होता है, जिसमें रागों और रागिनियों को मनुष्य-रूप में प्रतिबिम्बित करते हैं। इस संकलन को देखकर बादशाह ने हुक्म दिया कि 'इसका जल्सा हो।' इस शाही हुक्म के पालन में जो जल्से हुए, उनका वर्णन रजबअली बेग 'सुरूर' ने इस प्रकार किया है :

"जो रागिनी जिस सूरत व पोशाक में देखी, वही सुहबत ठहरी। एक भैरवी के जल्से में पांच सौ औरत दुल्हन का लिबास पहने, हाथों में, पाँवों में मेंहदी लगी, चूड़ी शहानी, सर से पांव तक जवाहिर का जेवर; एक रागिनी की सुहबत तीस दिन होती थी, इन्दर की सभा की आबरू खोती थी।"

राग रागिनियों के चित्र, उनकी व्याख्या और विवरण जिन लोगों की दृष्टि में हैं, वे कल्पना कर सकते हैं कि 'सुरूर' ने जिन जल्सों का वर्णन किया है, उनमें एक नाटकीय अभिव्यक्ति पाई जाती है।

'दी प्राइवेट लाइफ ऑफ एन ईस्टर्न किंग' (The Private Life of an Eastern King) का लेखक विलियम नाइटन (William Knighton) एक बार शाही मेज पर खाना खा रहा था। सामने नाच-गाना और कठपुतलियों का तमाशा हो रहा था। बादशाह इस तमाशे को दिलचस्पी के साथ देखते रहे। नाइटन कहता है कि इस तमाशे में कठपुतलियां इस प्रकार काम करती और नाचती थीं, जिस प्रकार आजकल के नाटकों में मनुष्य। तात्पर्य यह है कि नसीरुद्दीन हैदर के काल में कम-से-कम दो चीजें ऐसी मिलती हैं, जिनमें नाटक की विशेषतायें किसी-न-किसी सीमा तक विद्यमान थीं; एक रागिनियों के जल्से, दूसरे कठपुतलियों के तमाशे।

नसीरुद्दीन हैदर की मृत्यु के बाद उनके साठ बरस के बूढ़े और फालिज के बीमार चचा मुहम्मद अली शाह अवध के बादशाह हुए, जो अपने स्वभाव के अनुसार नाच-गाने और खेल-तमाशे की तरफ आकृष्ट न थे। वे राज्य के प्रबन्ध और शुभ कार्यों की पूर्ति में पूरी शक्ति से तल्लीन हो गये। फलस्वरूप नसीरुद्दीन हैदर के स्थापित किए हुए जल्से भंग हो गये। मुहम्मद अली शाह पांच बरस हुकूमत कर के विदा हो गये और उनके बेटे अमजद अली शाह तख्त पर बैठे। वे अपने बाप से भी अधिक सतर्क प्रकृति और धार्मिक मनोवृत्ति के मनुष्य थे। उनके काल में राज्य का सारा प्रबन्ध-अधिकार मौलवियों और धार्मिक महापुरुषों के हाथ में आ गया। इस्लाम धर्म नृत्य और संगीत को वर्जित और विलास को अनुचित कहता है, इसलिये उनके काल में भी ये चीजें राजकीय संरक्षण से भी वंचित रहीं।

अमजद अली शाह के सुपुत्र और उत्तराधिकारी वाजिद अली शाह भी धर्म का पालन करते थे, लेकिन नाच-गाने का चाव उनकी धार्मिकता पर भी छा जाता था। इसी चाव ने उनको एक नाटक तैयार करने के लिये प्रेरित किया। उस जमाने में लखनऊ में मेलों और दूसरे उत्सवों में रहस का जल्सा हुआ करता था। जन्माष्टमी का दिन गुजर कर रात को हिन्दू अमीरों के यहां घर-घर रहस के जल्से होते थे। मिर्जा कतीब ने इन जल्सों का हाल इस प्रकार बयान किया है :

"ब्राह्मण जाति के लोग अपने प्यारे-प्यारे बच्चों को कन्हैया, राधा और सखियां बनाकर इनाम की आशा में हिन्दू अमीरों के यहां ले जा कर उनको नचाते थे। जब कन्हैया और राधा सभा में प्रवेश करते हैं तो सभी लोग आदर भाव से प्रेरित हो कर खड़े हो जाते हैं और उनको सादर ले जाकर मसनद पर बिठाते हैं। सखियां उनके सामने साज के साथ

नाचना-गाना आरम्भ कर देती हैं। फिर राधा कन्हैया से झगड़ जाती हैं और रूठ कर अलग जा बैठती हैं। सखियां दोन में मेल करा कर नाचने लगती हैं। भोर होते ही राधा और कन्हैया भी सखियों के साथ नाच में सम्मलित हो जाते हैं।"

नाटक का यही अपूर्ण और दोषपूर्ण नमूना वाजिद अली शाह देख थे और उसीको सामने रखकर उन्होंने राधा-कन्हैया की प्रेम कहानी के आधार पर एक छोटा-सा नाटक लिखा और बहुत सा धन व्यय कर के सात कला विशेषज्ञो की मदद से उसका खेल तैयार किया। केवल कन्हैया के मुकुट की लागत एक लाख रुपये थी। सभी सामग्री प्रस्तुत होने पर भी केवल पूजा-पाठ की वस्तुओं और सजावट के सितारों इत्यादि की खरीदारी में पांच सौ रुपये लग। इस खेल में कन्हैया का पार्ट भी कोई औरत ही करती थी।

इस खेल में सब लोगों की बातचीत गद्य में होती है, राधा और कन्हैया केवल एक अवसर पर अपना-अपना प्रेम शेरों और दोहों में प्रकट करते हैं, दूसरे अवसरों पर वे भी गद्य ही में बातें करते हैं। जो काम किये जाते हैं, जैसे— आना-जाना, पानी भरना, दही मथना, मक्खन निकालना, ये सब लय और ताल के साथ अर्थ भाव द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, अर्थात् अनुकरण को वास्तविकता के अनुसार नहीं प्रस्तुत किया जाता, बल्कि कलात्मक ढंग से उनकी ओर संकेत किया जाता है। कई अवसरों पर गाना भी होता है। इसी कारण रहस को डांस-ड्रामा, अर्थात् नृत्य-नाटक और उसके अभिनय को प्राचीन संस्कृत नाटकों के अभिनय का स्वरूप कह सकते हैं।

रहस के पहले जल्से के बाद एक बड़ी मुद्दत तक किसी दूसरे जल्से का पता नहीं मिलता। परन्तु इसकी सम्भावना है कि रहस के जल्से कभी कभार होते रहते थे। वाजिद अली शाह ने अपने राज्य ग्रहण करने के चौथे साल १२६६ हिजरी (१८५० ई०) में अपनी मसनवी 'दरयाए-तअश्शुक' का प्लाट लेकर एक नया नाटक तैयार किया। इस नाटक का जलसा या खेल लाख रुपये मासिक व्यय से लगभग साल भर में तैयार हुआ और १२६७ हिजरी (१८५१ ई०) में पहले पहल खेला गया। यह खेल एक-एक दो-दो दिन के अन्तर से ४० दिन में सम्पन्न हुआ। एक खेल में इतने दिन लग जाने का कारण यह था कि हर चीज में अनुकरण की वास्तविकता कर दिखाना आवश्यक समझा गया। उदाहरणार्थ एक विवाह का दृश्य प्रस्तुत करना था तो मांझा, सांचक, मेंहदी, बरात के जुलूस शाही शानो शौकत के साथ निकाले गये और इन्हीं उत्सवों में पूरी-पूरी रातें बीत गईं। इसी प्रकार जब दो बादशाहों की जंग दिखाई गई तो एक बहुत बड़े मैदान में दिखावटी किला ऐसा बनाया गया कि बिल्कुल असली मालूम होता था। फसीलों पर तोपें चढ़ी हुई थीं, गोलाअन्दाज तैयार खड़े थे और तीर अन्दाज तीर और कमान से लैस थे। तलवार की लड़ाई आरम्भ हुई तो कुछ ऐसी युक्तियां की गई थीं कि जब किसी पर तलवार पड़ती थी तो खून निकलता था। यह किले की जंग सचमुच की लड़ाई मालूम होती थी। इस एक खेल के प्रदर्शन में जितना रुपया लगा उसका अनुमान करना कठिन है।

इस खल के थोड़े ही दिन बाद १२६७ हिजरी (१८५१ ई०) में वाजिद अली शाह की दूसरी मसनवी 'अफसानए-इश्क' की कथा को लेकर एक दूसरा नाटक लिखा गया और उसका खेल तैयार किया गया। उसी साल वाजिद अली शाह की तीन शाहजादियों की शादियां बड़ी धूम-धाम से हुईं। इन शाही उत्सवों में नाच-रंग के जल्से के साथ यह नाटक भी खेला गया और जो लोग इन उत्सवों में सम्मिलित थे, उन्हें पहले-पहल शाही नाटक का खेल देखने का अवसर मिला। इससे पहले वाला खेल केवल राजवंश के उन व्यक्तियों ने देखा था, जिनको बादशाह ने विशेष रूप से बुलाया था, इसलिये उस खेल का वर्णन केवल नवाब इक्तेदारुद्दौला ने किया है, जो वाजिद अली शाह के फूफा थे और उन्हें आरम्भ से अन्त तक उस खेल को देखने का अवसर मिला था। इस दूसरे नाटक के खेल का हाल उस जमाने के कई लेखकों ने लिखा है, जिनमें रजब अली बेग 'सुरूर', अजमत अली 'नामी', गुलाम हैदर 'सगीर' और आगा हसन 'अमानत' आदि हैं। इस सिलसिले में 'अमानत' का नाम विशेष रूप से याद रखियेगा।

इस दूसरे शाही नाटक के अभिनय के कुछ दिन बाद तीसरे खेल की तैयारी आरम्भ हो गई। इस खेल के लिये जो नाटक लिखा गया उसका प्लाट वाजिद अली शाह की तीसरी मसनवी 'बहरे-उल्फत' से लिया गया। स्पष्ट है कि मसनवी को नाटक का रूप देने और उनको रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिये उनमें बहुत कुछ परिवर्तन और काट-छांट करनी पड़ी होगी और कथनोपकथन (Dialogue) में अधिकतर गद्य से काम लिया जाता होगा।

'अमानत' ने शाही नाटक के दूसरे खेल का वर्णन कुछ विस्तार से अपने नाटक 'इन्दर-सभा' की भूमिका में किया है और उसीके आधार पर उर्दू का पहला जनप्रिय नाटक 'इन्दर सभा' लिखा है। इससे मालूम होता है कि 'अमानत' ने वह खेल स्वयं देखा था या किसी देखने वाले से उसका विस्तारपूर्वक विवरण प्राप्त किया था। 'इन्दर सभा' १२६८ हिजरी (१८५२ ई०) में लिखा गया। १२६९ हिजरी (१८५३ ई०) में वाजिद अली शाह ने कैसरबाग के जोगिया मेले की नींव डाली, जिसमें जनता भी सम्मिलित हो सकती थी। इस मेले में पहले पहल शाही नाटक का प्रदर्शन सर्वसाधारण

के सामने हुआ। यह परस्तानी जलसा बड़ा लोकप्रिय हुआ और इसको देखने की इच्छा सबके मन में पैदा हो गई। इस इच्छा की पूर्ति के लिये 'इन्दर सभा' का नाटक तैयार करके १२७० हिजरी (१८५६ ई०) में पहली बार खेला गया।

'इन्दर-सभा' जब पहली बार छपकर निकला तो उसकी मांग इतनी हुई कि उसी साल वह कई प्रेसों में कई बार छापा गया। इसके बाद तो वह निस्सन्देह सैकड़ों बार छपा। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन में उसके ४८ विभिन्न संस्करण मौजूद हैं, जिनमें ११ नागरी लिपि में, ५ गुजराती लिपि में और एक गुरुमुखी लिपि में है। फिरीट्रिश रोजेव ने 'इन्दर-सभा' का अनुवाद जर्मन भाषा में किया। उसीकी भूमिका में 'इन्दर-सभा' के १६ संस्करणों का उल्लेख है, जिनमें ४ नागरी लिपि में, एक गुजराती लिपि में और एक महराठी लिपि में था। 'इन्दर-सभा' नाटक जितना प्रसिद्ध हुआ, उससे कहीं अधिक उसका खेल प्रसिद्ध हुआ। जहां कहीं यह खेल होता था दर्शक टूट पड़ते थे। बहुत सी मंडलियां स्थापित हो गईं जो घर-घर और शहर-शहर बल्कि कस्बों और देहातों तक में 'इन्दर-सभा' का खेल पारिश्रमिक लेकर दिखाती फिरती थीं।

'इन्दर-सभा' की यह असाधारण लोकप्रियता देखकर बहुत-से लोगों ने इसीके आधार पर बहुत-से नाटक लिख डाले। जर्मन लेखक रोजिन का कथन है कि 'इन्दर-सभा' की पृष्ठभूमि पर इतने नाटक लिखे गये कि अगर कोई चाहे तो उनसे अच्छा पुस्तकालय संचित कर सकता है। कुछ नाटकों के खेल भी तैयार किये गये। उनमें मदारी लाल की 'इन्दर-सभा', 'बज्मे-सुलेमान' और 'जश्ने परिस्तान' विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार लखनऊ के शाही स्टेज के प्रभाव से एक विशेष रूप का जन-रंगमंच भी अस्तित्व में आ गया।

फरवरी १८५६ ई० में वाजिद अली शाह राजपाट से वंचित होकर कलकत्ते चले गये और उनके साथ लखनऊ का नवाबी और शाही युग समाप्त हो गया।
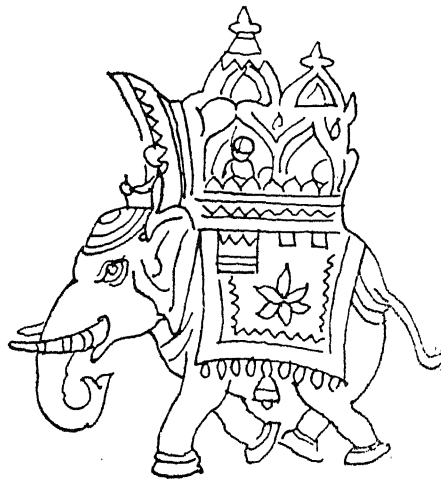
की यूनानी परम्परा में आदर्श के समीक्षात्मक रूपों को धर्म भावना से समन्वित करके भी देखा गया। प्लेटो और अरस्तू जैसे महान् विचार शास्त्रियों के पश्चात् लोंजाइनस, जैसे चिन्तक के उदात्तवादी विचारों को भी आदर्शवाद के ही एक रूप में मान्य किया जा सकता है, क्योंकि उनका सम्बन्ध भी मानव समाज के सर्वतोमुखी उन्नयन से है। आगे चलकर अपेक्षाकृत नवीन विचार-पद्धतियों की तुलना में यद्यपि इस विचारधारा को प्रमुखता नहीं दी गयी। परन्तु इसका प्रयोग उन सभी में किसी-न-किसी रूप में अवश्य होता रहा।

पाश्चात्य वैचारिक चिन्तन के क्षेत्र में प्रभावशाली विचार आन्दोलन का जन्म १९वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ। यह आन्दोलन मुख्यतः चित्र कला के क्षेत्र में रहा। आधुनिक चित्र कला की शैली का आन्दोलन भी इसी वैचारिक आन्दोलन काल से हुआ। अन्य शैलियों की अपेक्षा इसकी विशिष्टता का बोध चित्रण के स्वरूप से ही मुख्यतः होता है। साहित्य के क्षेत्र में इस विचारधारा का आरम्भ बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हुआ। कमिंग्स तथा लावेल आदि की गणना इस प्रारम्भिक काल के प्रभाववादियों के अन्तर्गत ही की जाती है। जहां तक रचनात्मक साहित्य का सम्बन्ध है, इसका रूप प्रायः काव्य के ही क्षेत्र में मिलता है। समीक्षा के क्षेत्र में प्रभाववादी प्रवृत्ति का आगे चलकर आरोपण हुआ। इस दृष्टिकोण से किसी कृति के सम्पूर्ण प्रभाव के स्तर, प्रकार और मात्रा के अनुसार उसके मूल्य का निर्धारण किया जाता है। पाश्चात्य साहित्य समीक्षा के अन्तर्गत रिम्बो, मिलारमे, वैलरे, हापकिंस, इलियट, जायस तथा वर्जीनिया वुल्फ आदि के विचारों पर इस चिन्तन पद्धति का प्रभाव बताया जाता है।

पाश्चात्य समीक्षा के निर्धारक मानदंडों के आधारभूत आन्दोलनों में प्रतीकवाद का भी अपना महत्त्व है। प्रतीक का प्रयोग, चिह्न अथवा प्रतिरूप के अर्थ में किया जाता है। एक सत्य के स्तर पर उससे मिलते-जुलते दूसरे सत्य का उल्लेख ही प्रतीक है। स्थूल रूप से भाषा और शब्द तक को प्रतीक कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने आप में किसी न किसी भावनात्मक अथवा दृश्यात्मक सत्य की निहिति रखता है। परन्तु शब्द अथवा भाषा प्रधानतः विचारों के माध्यम हैं। प्रतीक व्यंजनात्मक रूप से या भावनात्मक समता के धरातल पर विशिष्ट अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द या शब्द समूह होता है। प्रतीक के अभाव में भावाभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है परन्तु शब्दों के अभाव में यह असम्भव है।

पाश्चात्य साहित्य और कला के क्षेत्र में एक विचार आन्दोलन के रूप में प्रतीकवाद का प्रवर्तन फ्रांस में हुआ। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह आदर्शवाद और प्रभाववाद से सम्बद्ध होने के पश्चात् स्वच्छन्दतावाद से भी सम्बन्धित हुआ। साहित्य के क्षेत्र में यह शैली की नवीनता के कारण मान्य हुआ। किसी भी प्रत्यक्ष रूप से जड़ अथवा चेतन पदार्थ को देखने पर जो भावना मनुष्य के हृदय में जन्म लेती है, प्रचलित रूप में प्रतीक उसी अव्यक्त की व्यक्त अभिव्यक्ति को कहा जाता है। उदाहरण के लिये उषा को हम किसी भी प्रकार के उत्साह, आशा, नवीनता तथा नवजीवन के संकेत के रूप में मानते हैं और इसीलिये उसका प्रयोग इन शब्दों के लिये प्रतीक के रूप में करते हैं। प्रतीकों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और इसका संकेत विश्वव्यापी है। उदाहरण के लिये संसार के प्रत्येक राष्ट्र का ध्वज उसकी सम्पूर्ण एकता का प्रतीक होता है। इसके क्षेत्र विस्तार को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के सारे कार्य-कलाप प्रतीकात्मक होते हैं। समाज, धर्म, संस्कृति आदि की जितनी भी क्षेत्रीय प्रतिक्रियाएं एक मनुष्य की होती हैं वे सूक्ष्म रूप में प्रतीकात्मक होती हैं। कैनथवर्ग कहता है कि प्रतीकों का कार्य किसी अनुभव के एक प्रतिरूप अथवा प्रतिकृति का शाब्दिक साम्य है। मानवीय भावनाओं और अनुभूतियों के लिये प्राकृतिक प्रतीकों का उपयोग इसलिये होता रहा है, क्योंकि मानवीय कार्य-कलाप के लिये शब्द अथवा माध्यम का चयन भी किसी ऐसी वस्तु से होना चाहिये जो उसकी अपेक्षा पूर्णतर हो और इस दृष्टिकोण से मनुष्य प्रकृति के क्षेत्र में खोज करता है, क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा, प्रत्येक दृष्टिकोण से सम्पूर्णता लिये हुए है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, साहित्य और कला के क्षेत्र में एक विचार आन्दोलन के रूप में प्रतीकवाद का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में फ्रांस में हुआ। यह वह युग था जब पाश्चात्य देशों में साहित्य और कला के क्षेत्र में यथार्थवाद का सर्वाधिक प्रचार हुआ। धीरे-धीरे यह प्रचार और प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि साहित्य के क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया हुई और उसके फलस्वरूप प्रकृतवाद का जन्म हुआ। यह वाद भी धीरे-धीरे सम्पूर्ण योरप में फैला तथा अपने चरम रूप में इसका विस्तार हुआ। पुनः इसके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई तथा इस बार इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रतीकवाद का जन्म हुआ जो यथार्थवाद, अतियथार्थवाद तथा प्रकृतवाद के विरुद्ध आदर्शवाद का पोषक था। एडगर एलन पो, बोदलेयर, कार्नर, मेटरलिंक तथा डब्लू० बी० ईट्स द्वारा समर्थित इस आन्दोलन के फलस्वरूप यथार्थात्मक और प्रकृतात्मक अभिव्यक्तियों को साहित्य में निषिद्ध करने के उद्देश्य से प्रतीकवादी शैली जन्मी और क्रमशः विकास को भी प्राप्त हुई।

अज्ञेयवाद का उल्लेख भी पाश्चात्य वैचारिक आन्दोलनों के अन्तर्गत किया जाना आवश्यक है। इसका प्रयोग

में लगभग एक शताब्दी पीछे से आने वाली साहित्यिक परम्परा थी। प्रारम्भ में इसका समर्थक प्रमुख रूप से चार्ल्स बोदलेयर रहा। उसने उन्नीसवीं शताब्दी में ही इसका स्पष्टता से निर्देश करने का प्रयत्न किया था। बोदलेयर के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी में ही जिन यूरोपीय साहित्यकारों की कृति में इस प्रवृत्ति का समावेश मिलता है उनमें हाब्रीमान, रिम्बो तथा मिलारमे आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यकारों ने उन्नीसवीं शताब्दी में ही इस प्रवृत्ति की आधार-भूमि तैयार करने में योग दिया जिसका संगठित और निर्धारित रूप बीसवीं शताब्दी में मिलता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में विगत शताब्दी के साहित्य के प्रति उत्पन्न हुई मानसिक और सांकेतिक प्रतिक्रिया ने व्यावहारिक और विद्रोहात्मक रूप धारण कर लिया। सन् १९२० के बाद से इस विशिष्ट वाद की स्पष्ट चर्चा आरम्भ हुई। सैद्धान्तिक रूप से अतियथार्थवाद का अर्थ यह लगाया गया कि जो सत्ता यथार्थ होते हुए भी दृष्टिगत न हो। आन्द्रे ब्रेतन ने इसके स्वरूप का प्रारम्भिक स्पष्टीकरण करने वाले दो घोषणा-पत्रों का भी प्रकाशन किया। लगभग एक दशाब्दी के पश्चात् से इस आन्दोलन की चर्चा फ्रांस के बाहर भी आरम्भ हुई। इंग्लैंड में इसका प्रमुख समर्थक हर्बर्ट रीड रहा। धीरे-धीरे यह एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का आन्दोलन बन गया।

सिद्धान्ततः अतियथार्थवादियों के अनुसार कला या साहित्य को पूर्णतः बौद्धिक नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके विचार से अतिशय रूप से उनके बौद्धिक होने पर मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों के अन्तर्विरोध के चित्रण की सम्भावनाएं कम हो जायेंगी। जहां तक नीति विषयक मान्यताओं का सम्बन्ध है, इस विचारधारा के समर्थकों के अनुसार आधुनिक सभ्य समाज में जो नैतिक दृष्टिकोण आदर्श समझा जाता है वह निरर्थक है। इसीलिये वे नीति विषयक आधुनिक मान्यताओं का विरोध करते हैं। कुछ लोग केवल इसी कारण से अतियथार्थवादियों पर आक्षेप करते हैं कि वे स्वच्छन्दतावाद के समर्थक हैं और कोई नैतिक बन्धन नहीं स्वीकार करना चाहते। अंग्रेजी अतियथार्थवादी विचारक हर्बर्ट रीड ने बताया है कि स्वच्छन्दतावाद स्वाभाविक रूप से तथा निश्चय ही अतियथार्थवाद की ओर अग्रसर होता है। इसीलिये कुछ दूसरे लोगों ने भी अतियथार्थवाद को स्वच्छन्दतावाद का विकसित रूप बताया है। इन दोनों विचारधाराओं की बहुत-सी विशेषतायें प्रायः एक ही प्रकार की हैं। दोनों समता के स्थान पर विषमता को अधिक प्रश्रय देते हैं। दोनों में बौद्धिकता के प्रति अविश्वास है तथा दोनों में मध्य वर्ग को चौंका देने के प्रति आग्रह है। किन्तु यदि अतियथार्थवाद किसी भी दशा में स्वच्छन्दतावाद का प्रतिनिधित्व करने वाला विचार कहा जा सकता है तो यह उस रोमांटिक आत्मा का प्रतिनिधि है जिसका जन्म प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मूल्यों के विघटन पर हुआ था। यह वह समय था जब युद्धोपरान्त सापेक्षिक विज्ञानों के द्वारा पोषित बौद्धिकता के प्रति अनास्था और अविश्वास के प्रति विरोध उठ खड़ा हुआ था। इस विद्रोह को आगे बढ़ाने में सापेक्षिक वैज्ञानिकों विशेष रूप से फ्रायड का बहुत बड़ा हाथ था। फ्रायड ने मनुष्य के द्वारा ओढ़े हुए बौद्धिकता के आवरण को दूर कर के मानव मानस के अचेतन में झांकने का प्रयत्न किया। इस अचेतन पर किसी का वश नहीं था, क्योंकि इसकी कार्यप्रणाली मानव-बुद्धि से परे थी और इस पर तर्कशास्त्र की कोई विधा नहीं लागू होती थी। यह बौद्धिकता से भी परे थी। इस दृष्टिकोण से फ्रायड, हीगेल तथा मार्क्स की त्रयी ही अति यथार्थवादी विचारधारा की वास्तविक जन्मदात्री कही जा सकती है। फ्रायड ने अचेतन तथा सर्वोच्चवादी मनस् का उद्घाटन किया, हीगेल ने निषेधात्मकता के संश्लेषण द्वारा विनाश का प्रतिपादन किया तथा मार्क्स ने वर्तमान मूल्यों के प्रति घृणाशील मस्तिष्क और राजनीतिक क्षेत्र में एक निश्चित कार्यप्रणाली का सृजन किया।

इस प्रकार से उपर्युक्त पाश्चात्य वैचारिक आन्दोलनों और उनके स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि उनमें समय-समय पर नवीन परिवर्तन तथा विकास होता रहा है। ऊपर जिन आन्दोलनों का उल्लेख किया गया है उनके अतिरिक्त भी ऐसे बहुत से मत हैं जो पाश्चात्य चिन्तन धारा में महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु उपर्युक्त सिद्धान्तों में उन सभी तत्त्वों की निहिति है जो युग के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस, मार्क्स, फ्रायड, कीर्केगार्ड, हीगेल, क्रोचे तथा सार्त्र आदि विचारकों के प्रमुख विचार और सिद्धान्त इस चिन्तन-पद्धति का आधार हैं। इन विचार आन्दोलनों ने विभिन्न तत्त्वों की प्रमुखता प्रतिपादित करते हुए उन्हींके अनुसार मूल्यांकन पर बल दिया है। उदाहरण के लिये यदि आदर्शवाद साहित्य में उदात्त तत्त्वों को अधिक महत्त्व देता है तो यथार्थवाद उसकी यथातथ्यता पर; और अभिव्यंजनावाद यदि अभिव्यक्ति की शैली पर अधिक बल देता है तो रूपवाद उसकी बाह्य रूपात्मकता पर। इसी प्रकार से अन्य विविध विचार आन्दोलन भी साहित्य या काव्य के आन्तरिक अथवा बाह्य रूपों में से किसी-न-किसी को मुख्यता देते हैं। आधुनिक युग में पाश्चात्य साहित्य और कला का जो भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विकास हुआ है उसका मूल आधार उपर्युक्त वैचारिक आन्दोलन ही है।

अवध के स्थाननामों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्०,
लखनऊ विश्वविद्यालय।

स्थाननामों की निर्माण प्रक्रिया पर विचार करने से ज्ञात होगा कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत नामों, प्रकृति के नाना पदार्थों, धार्मिक विश्वासों और अपने चारों ओर के स्थूल वातावरण के अनुसार ही स्थानों का नामकरण करने का प्रयास करता है। जिस प्रकार व्यक्ति का बोध बिना किसी नाम के नहीं हो पाता, उसी प्रकार स्थान-विशेष का बोध नाम के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। नामकरण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत में नाम के लिये छह पर्याय शब्द मिलते हैं। आह्व्य, आख्या, आह्वा, अभिधान, नामधेय तथा नाम; जो अभिधेय को पुकारने, सम्बोधित करने, आमंत्रित करने आदि के अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। अतः नामों से निर्दिष्ट व्यक्ति, स्थान अथवा वस्तु का बोध होता है। नाम के बिना संकेतित अर्थ का बोध सम्भव नहीं हो सकता। ये किसी भी भाषा की शब्द सम्पत्ति के प्रमुख अंश होते हैं। इनका अस्तित्व शब्दों पर ही निर्भर रहता है। शब्द यदि सार्थक हैं तो उनसे निर्मित नाम निश्चय ही सार्थक होंगे। नाम प्रारम्भिक अवस्था में अपने शाब्दिक अर्थ सुरक्षित रखते हैं। कालान्तर में उनका शाब्दिक अर्थ बिल्कुल समाप्त हो जाता है और वे केवल इंगित स्थान का बोध ही कराने की क्षमता रखते हैं। शब्द का स्वरूप जिस प्रकार कालान्तर में बदलता रहता है, उसी प्रकार नामों में भी परिवर्तन होते रहना स्वाभाविक है। यह परिवर्तन दो तरह का होता है। एक तो शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन हो जाने से उसका स्वरूप बदल जाता है और दूसरे उसका आमूल परिवर्तन भी सम्भव है। इस स्थिति में उसके स्थान पर कोई नया नाम प्रचलित हो जाता है। नामों के विकास में यह आमूल परिवर्तन सभी प्रकार के नामों में बराबर होते रहते हैं। इस आमूल परिवर्तन का मुख्य कारण प्रायः राष्ट्रीय अथवा सांस्कृतिक पुनर्जागरण विशेष होता है और कभी-कभी वैचित्र्य भी इसका कारण होता है। स्थाननामों के निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन है। अतः इन नामों के अस्तित्व की प्राचीनता की खोज करना जटिल कार्य है। सभी भाषाओं में ऐसे नामों की प्रभूत संख्या मिलेगी, जिनका विश्लेषण साधारण व्यक्ति तो क्या, विशेषज्ञ भी सहज रूप में नहीं कर पाते।

स्थाननामों के निर्माण में कई प्रवृत्तियां कार्य करती हैं। इनमें धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक आदि की प्रमुखता है। इन्हीं से प्रेरित होकर मनुष्य विविध स्थानों के नामकरण में प्रवृत्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति में धार्मिक भावना किसी-न-किसी रूप में मिलती है। अधार्मिक व्यक्ति घृणा का पात्र होता है और उसकी गणना मनुष्य-समाज के बीच निकृष्ट लोगों में की जाती है, इसलिए कोई भी मनुष्य इस कोटि में नहीं आना चाहता। वह इहलोक और परलोक में कल्याण और सुख की भावना से नाना प्रकार के धार्मिक कृत्यों में अपने को संलग्न रखता है। वह इस बात का बराबर प्रयत्न करता है कि उसकी धार्मिक निष्ठा मनसा, वाचा, कर्मणा हो। ईश्वर के चिन्तन, मनन, यज्ञ, तीर्थाटन, पूजापाठ, व्रत, नियम, साधु सन्यासी महात्माओं के प्रति श्रद्धा, भक्ति आदि में उसका अटूट विश्वास होता है। अपने सम्पूर्ण जीवन को वह धर्म से ओतप्रोत रखना चाहता है, क्योंकि इसीमें उसके अस्तित्व की सार्थकता है। अतएव अपने व्यक्तिगत नामों के अतिरिक्त स्थाननामों के निर्माण में भी वह धार्मिक प्रवृत्ति का पूर्ण योग कर देता है। इनमें ईश्वर तथा उसके विविध नामों, गुणों, उससे सम्बन्धित अवतार, पीर-पैगम्बर, देवी-देवता आदि धार्मिक कृत्यों में अनुरक्त साधु सन्तों, विविध धार्मिक अनुष्ठानों, सम्प्रदायों, पंथों, पर्वों आदि की गणना की जा सकती है।

मनुष्य की भौतिक उन्नति एवं संस्कृति समाज पर ही निर्भर करती है। सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरव की आकांक्षा प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक विशेषता है। उसके लिए वह सामाजिक मर्यादाओं, व्यवस्थाओं और नियमों के परिपालन में सतत प्रयत्नशील रहता है। उसी व्यक्ति को समाज का आदर्श माना जाता है, जिसका जीवन इन सबसे ओतप्रोत होता है। ऐसे आदर्श व्यक्ति समाज को नया मोड़ देने में समर्थ होते हैं और युगों तक उनकी यशगाथा समाज के

उन्नयन में अपना योग देती रहती है। उस व्यक्ति के अनेक स्मारक बनाये जाते हैं, जिनमें उसके नाम से नये स्थानों का नामकरण भी है, जो कम महत्त्व का नहीं होता। जातीय व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का एक प्रमुख अंग है। वर्ण और जाति के प्रति मोह होना स्वाभाविक है। उनके अन्तर्गत अनेक उपजातियां और गोत्र आदि भी होते हैं। सामाजिक स्तर पर इन जातियों, उपजातियों और गोत्रों का भी कम या अधिक महत्त्व होता है। इन्हें स्थायित्व प्रदान करने के लिए नामों के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है। विविध जातियों अथवा उपजातियों के आधार पर स्थानों का निर्माण होता है। समाज से सम्बन्धित अनेक उद्योग-धंधे, कला-कौशल आदि हैं, जिनके आधार पर मनुष्यों के विविध वर्ग बन जाते हैं। इनमें से प्रत्येक वर्ग किसी-न-किसी पेशे में अपनी विशिष्टता प्राप्त कर लेता है। समाज में अवसर-अनवसर अनेक प्रकार के उत्सव, समारोह और मेले आदि आयोजित होते रहते हैं। राष्ट्रनायकों की जयन्ती, स्वतंत्रता-दिवस, गणतंत्र-दिवस आदि पर भी विशेष समारोह किये जाते हैं। धार्मिक पर्वों के अतिरिक्त और भी ऐसे कई अवसर होते हैं, जिन पर विशेष आयोजन किये जाते हैं। परिवार के अनेक संस्कारों में यज्ञोपवीत और पाणिग्रहण का विशेष महत्त्व होता है। स्थाननामों के निर्माण में इन सबका भी महत्त्वपूर्ण योग रहता है।

राजनीति का सम्बन्ध शासक और शासित दोनों से होता है। शासन का स्वरूप प्राचीन काल से लेकर अब तक अवश्य बदलता आया है, यद्यपि उसकी सत्ता किसी-न-किसी रूप में आरम्भिक काल से बनी रही है। राजतंत्रीय युग रहा हो, चाहे सामन्तीय, जनतंत्रीय अथवा गणतंत्रीय; सभी में कोई न कोई शासन-व्यवस्था होती है। राष्ट्रीय उत्थान और पतन का प्रभाव राजनीति पर पड़ता है। किसी परतंत्र देश में राष्ट्रीय आन्दोलनों से सम्बन्धित राष्ट्र-प्रेम, देशभक्ति, स्वराज्य आदि का विशेष महत्त्व होता है। भारतवर्ष का स्वतंत्रता आन्दोलन इसका ज्वलंत उदाहरण है। भारतीय परतंत्रता की बड़ियों को तोड़ने के लिए अनेक वर्षों तक अनवरत रूप में न जाने कितने जाने-अनजाने स्थानों, अवसरों पर असंख्य वीरों ने अपने प्राणों की आहुतियां दीं, तभी वर्षों की खोयी हुई स्वतंत्रता की उपलब्धि हो सकी। स्वतंत्रता-संग्राम से सम्बन्धित घटनास्थलों एवं शहीदों के स्मारक-स्वरूप अनेक स्थाननामों का प्रचलन हो गया। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप नये नाम निर्मित हो जाते हैं। प्रशासन से सम्बन्धित अधिकारिवर्ग के नाम पर भी नये स्थानों का निर्माण अथवा पुराने स्थानों का नामकरण हो जाता है। ऐतिहासिक प्रवृत्ति का भी सम्बन्ध राजनीति से होता है। विगत शासक वर्ग एवं अधिकारिवर्ग के नाम पर पुराने और नये स्थानों को स्थायित्व प्रदान करने तथा वहां पर उनकी स्मृति बनाये रखने के लिए नामकरण कर लिया जाता है। किसी भी शासक के शासन-काल में युद्ध एवं विजय, कल्याणकारी नियोजना, महत्त्वपूर्ण घटना आदि से सम्बन्धित स्थान भी प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। अवध का क्षेत्र इसका अपवाद नहीं है। इसके शासन की दीर्घकालीन परम्परा है। मुगल-नवाब अंग्रेजों तथा भारतीय गणतंत्र की शासन अवधि में, अवध के राजनीतिक इतिहास का उत्कर्षापकर्ष कम महत्त्व का नहीं है। स्थाननामों द्वारा इस पर यथेष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है।

सांस्कृतिक उपकरण स्थाननामों के निर्माण में अत्यधिक सहायक होते हैं। प्रायः मानसिक विचारधाराओं, भौतिक उत्कर्ष, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि से जातीय संस्कृति और सभ्यता का बोध होता है। इनमें क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक स्तर पर भिन्नता भी मिलती है। बाह्य रूपों का प्रभाव भी संस्कृति के विविध अंगों पर पड़ता है। इस दृष्टि से अवध की सांस्कृतिक एकता स्पृहणीय है। प्राचीन भारतीय, मध्ययुग की मुगलकालीन और नवाबी तथा आधुनिक पाश्चात्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण अवध में पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। स्थाननामों की संरचना में इन सांस्कृतिक उपकरणों की भी झलक यथेष्ट रूप में मिलती है।

मानव अपने चारों ओर के रम्य वातावरण से भी अत्यधिक प्रभावित होता है। इनमें प्राकृतिक दृश्यों का विशेष महत्त्व है। अब विज्ञान ने प्रकृति के उपकरणों पर भी विजय प्राप्त कर ली है और उसके नैसर्गिक सौन्दर्य पर यत्किंचित् कुठाराघात भी किया है, फिर भी प्रकृति की गोद इतनी विशाल है कि विज्ञान की सर्वत्र पहुंच भी नहीं हो सकती। मनुष्य सांसारिक कोलाहल से ऊब कर थोड़े समय के लिए भी प्रकृति की विश्रामदायिनी गोद में पहुंचने के लिये बराबर लालायित रहता है। वहां पहुंच कर उसे जितना सुख और आनन्द मिलता है वह वर्णनातीत है। उसकी सारी मानसिक उद्विग्नता और शारीरिक थकान क्षण-भर में लुप्त हो जाती है। ऐसे स्वच्छन्द और रम्य प्राकृतिक वातावरण के जीवजन्तु, पशुपक्षी आदि भी उसके लिए आत्मीय बन जाते हैं। बाग-बगीचे, उपवन, झरने, नदी-नाले, जलाशय, सभी बाह्य दृश्यों से उसका विशेष लगाव हो जाता है और ये सभी मानव-जीवन के अभिन्न अंग बन जाते हैं। अतः उनके बीच जीवन-यापन करना भी आवश्यक कर्तव्य-सा बन जाता है। इस स्वच्छन्द वातावरण में विचरण करने वाले जीव-जन्तुओं एवं प्रकृति के विविध उपकरणों से आकृष्ट होकर सम्भवतः उनके अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने के लिए, उन्हीं के नाम से विविध स्थानों का नामकरण कर लिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भली प्रकार स्पष्ट है कि स्थाननामों और लोक-संस्कृति का सम्बन्ध अविच्छिन्न है।

मनुष्य अपने चारों ओर के वातावरण से अछूता नहीं रह सकता। जगत् तथा जीवन के अभिन्न सम्पर्क और अनवरत प्रभाव के कारण मानव के मानस-पटल पर जो अनुभूतियां ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में, धूमिल किंवा स्पष्ट रूप से अंकित हो जाया करती हैं, वे ही हृदय की गहराइयों से उभर कर जीवन के अनेक क्षेत्रों में अनायास अपनी छाप लगा देती हैं। अवध के स्थाननामों पर भी इस प्रकार की छाप सहज ही लक्षित की जा सकती है। विश्लेषण की सुविधा के लिए उक्त विवेचना के आधार पर इन्हें अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, यथा—धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि।

धर्म तथा दर्शन, प्रत्येक जाति और देश की संस्कृति के अभिन्न और महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। अवध के स्थान-नामों पर संस्कृति क इस महत्त्वपूर्ण पक्ष का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले स्थाननाम मुख्यतया ईश्वर, देवी-देवता तथा उनके अनुचर, अवतार तथा उनके अनुचर, हिन्दू तथा मुसलमान सिद्ध-साधक, साधु-सन्त, धार्मिक अनुष्ठान, धर्म तथा मत-मतान्तर, तीर्थ, धार्मिक विश्वास तथा आचार आदि से सम्बद्ध हैं। इनके प्रभूत उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा :

भगवानपुर (लख०, प्र०), अलाहपुर भरवरीजी (बारा०), खुदायपुर (राय०), पूरे परमेश्वर (प्र०), मौलाबाद (बाराबंकी), ईसरपुर (प्र०), परमेसर पट्टी (प्रतापगढ़)।

शिव के नामों में शंकर, हर, त्रिपुरारि, महादेव अधिक जन-प्रचलित हैं। इनके आधार पर शंकरपुर (लख०), शिवपुरी (लख० प्र०), शिवनाम (बारा०), शिवपुर (बारा०), शिवबरना (प्र०), शिवबोझ (प्र०), शिवगढ़ (प्र०), महदेवरी (प्र०), त्रिपुरारिपुर (उ०), हरकुटी (राय०) इत्यादि स्थाननाम अभिहित मिलते हैं।

शिव की अर्धाङ्गिनी, सहचरी पार्वती के उमा, गौरी, दुर्गा, भवानी इत्यादि अधिक लोकप्रचलित नाम हैं, जिनके आधार पर उमापुर (बारा०), भवनियापुर (बारा०), सराय भवानी (प्र०) भवानीपुर (बारा०), भवानीगढ़ (राय०), देवीगढ़ (प्र०), देवीपुर (बारा०), दुर्गागढ़ी (उ०) इत्यादि स्थाननाम मिलते हैं।

प्रमुख त्रिदेवों के अतिरिक्त अनेक हिन्दू देवी-देवताओं के नामों के आधार पर भी स्थानों को अभिहित किया जाता है, जैसे देवपुर (लख०), देवगांव (बारा० उ०), देवखरिया (बारा०), सुरतारी (बारा०), देवपुरा (राय०), देव खेड़ा (राय०), देवगनमऊ, देवरामऊ (उ०) इत्यादि। देव-विशेष के नामों से सम्बद्ध स्थाननाम भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं, जैसे इन्द्रपुर (बारा०), शेषपुर (बारा०), पुरन्दरपुर (उ०) आदि। इन्द्र अथवा पुरन्दर वैदिक साहित्य में परमेश्वर का ही पर्याय था, परन्तु वैदिकोत्तरकालीन साहित्य में इन नामों से वह स्वर्ग में देवताओं के ऐश्वर्यसम्पन्न राजा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

देवयानी प्रसिद्ध दैत्यकुल गुरु शुक्राचार्य की पुत्री थी। पुराणों में सुरगुरु बृहस्पति के पुत्र कच और देवयानी का प्रसिद्ध प्रेमाख्यान वर्णित है। इस प्रकार के नामों की संख्या अधिक नहीं है यथा पूरे देवयानी (प्र०)।

इस्लाम के अनुयायियों के अनुसार कुरान का इलहाम सर्वप्रथम मुहम्मद साहब पर हुआ था। अल्लाह के पैगाम या संदेश का प्रचार करने के कारण मुसलमान उन्हें नबी, पैगम्बर, रसूल इत्यादि नाम से स्मरण करते हैं। उनकी स्मृति में पैगम्बर पुर (बारा०), रसूलपुर (लख०), पैगम्बरपुर (उ०), नबीपुर (हर०) आदि स्थान नाम निर्मित कर लिये गये हैं।

पैगम्बर मुहम्मद के दामाद हुसैन के नाम से जिनका बलिदान कर्बला के मैदान में हुआ था, भी स्थान नाम का निर्माण मिलता है, यथा हुसैनमऊ (बारा०)।

मुसलमानों में प्रचलित लोक-विश्वास के अनुसार मानवेतर योनि में आने वाले जिन या जिन्नात् के नाम पर भी स्थाननाम मिलते हैं यथा जिन्दपुर।

धार्मिक व्यक्ति, साधु-सन्यासी आदि से सम्बन्धित अनेक नाम मिलते हैं, यथा—पूरे आचार्य (प्र०), गुसाईगंज (लख०), गुसाईं खेरा (राय०), पूरे गोसाईं (प्र०), पूरे भगत (प्र०), भगतपुर (प्र०हर), महन्त (उ०), साधु (लख०), सिद्धौर (राय०), सन्तपुर (राय०, हर०), योगीपुर (राय०, हर०)।

भारतवर्ष के धार्मिक वातावरण में संसार के अनेक धर्मों, मत-मतान्तरों की विचारधाराएं पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित हुईं। प्रत्येक ने इस महान् देश की धर्मपरायण और धर्मभीरु जनता को विभिन्न युगों में अनुप्राणित किया। इनमें से बहुत से मत विस्मृति के गर्त में खो गये और अनेक मिटते-मिटते अपने चरण-चिह्नों की छाप युग-पट में लगा कर विलीन हो गये, परन्तु उनकी स्मृति आज भी विद्यमान है। कुछ विचारधाराओं का प्रभाव अद्यावधि वर्तमान है। विगत युगों में जिन जातियों तथा वर्गों ने इन विविध प्रकार की विचारधाराओं के प्रचार-प्रसार में योगदान किया, उनकी मधुर अथवा कटु स्मृति भी उन्हींके सुकृत्यों-कुकृत्यों से जुड़ी है। स्वभावतः धर्मप्राण, व्यवहार और आचरण से परम्परावादी

भारतीय जन-जीवन में धर्म अथवा धार्मिक भावना से सम्बन्धित सभी प्रकार की स्मृतियों को चिरस्थायी करने की परम्परा सी चल पड़ी है। स्थान नामों के नामकरण में इस प्रवृत्ति का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हिन्दू धर्म के आधार पर हिन्दूपुर (प्र०, उ०), हिन्दू नगर (हर०), हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही जैन और वैष्णव धर्म के नाम से जौनपुर, पूरे वैष्णव (प्र०) इत्यादि स्थान नामों का अस्तित्व मिलता है। इस्लाम तथा उसके अनुयायियों के प्रभाव-क्षेत्र में पड़ने वाले स्थानों को इस्लामवाड़ी (लख०), इस्लामपुर (राय०), इस्लामनगर (उ०), मवई मुसलमानान (हर०) इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है। इस्लाम के सम्प्रदायों के आधार पर भी इस प्रकार के स्थाननामों की रचना हुई है; यथा—शिया (प्र०), ईसाई धर्म का प्रभाव अवध-क्षेत्र में आधुनिक कालीन युग की देन है। इसी समय से ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा के नाम पर ईसापुर, ईसानगर (ल० खी०,) नामक स्थाननामों की नींव पड़ी है।

महापुरुषों, अवतारों की लीलाभूमि, कर्मभूमि अथवा जन्मस्थान आदि से उनकी पवित्र स्मृति जुड़ी रहने के कारण श्रद्धालुजन धीरे-धीरे उनके प्रति अपनी पूज्य भावना अर्पित करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते हैं। इन पवित्र स्थानों के नामों के आधार पर अन्यान्य जनपदों के नाम भी रखे जाने लगते हैं। यही कारण है कि भारत के प्रसिद्ध तीर्थ स्थान काशी के नाम पर काशी खेड़ा, काशीपुर (राय०), श्रीकृष्ण की लीला-भूमि मथुरा के नाम पर मथुरापुर (बारा०), मथुरा (बारा०, राय०), सीता०, (गोंडा), तीर्थराज प्रयाग के आधार पर प्रयागपुर (राय०) इत्यादि चल पड़े हैं। पुराणों में अनेक स्थलों पर तीर्थस्थानों के माहात्म्य पर पृथक्-पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के नामकरण में लोगों को गौरव का अनुभव होता है। अपने ग्राम, पुर तथा नगर के नाम को पवित्र स्थानों के नामों से अभिहित करने पर उन समस्त प्रशंसनीय गौरवपूर्ण गाथाओं का सम्बन्ध-सा जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। उसी प्रकार गंगापुर, यमुनानगर आदि स्थान नामों की पृष्ठभूमि में भी पवित्रता तथा महत्ता को व्यक्त करने वाली यही भावना वर्तमान है।

मुसलमानों में पीरों और दरवेशों की समाधियों को तीर्थस्थानों के रूप में मान्यता प्राप्त है। दरिगापुर (राय०) अर्थात् दरगाहपुर इसी प्रकार के स्थाननामों का प्रतिनिधित्व करता है।

त्योहारों तथा पर्वों के नामों पर भी कतिपय स्थान नाम मिलते हैं, यथा—दिवाली (बारा०, हर०), फागपुर, (राय०), नौरोजपुर (हर०) आदि हैं। मुसलमानों के रोजा, नमाज, दुआ इत्यादि के आधार पर नवाबपुर, रोजागांव (बारा०), रोजा (राय०), दुआपुर इत्यादि स्थान अभिधान उल्लेखनीय हैं।

समाज में नाना प्रकार के पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्ध मिलते हैं। इन सम्बन्धों से जीवन में मधुरता या रमणीयता का संचार होता है। सम्बन्ध-भावना का विकास ही मानव के पारस्परिक अनुराग, प्रेम तथा नैकट्य को दृष्टिपथ में रख कर किया गया है। इस प्रकार स्नेह-सूत्र में आबद्ध होकर व्यक्ति जीन में एकाकीपन, उद्विग्नता आदि को भूल जाता है। परिवार और समाज के इन सम्बन्धों का आरोप स्थान नामों में मिलना एक विशेष रोचक तथ्य है। प्रायः समस्त प्रमुख पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर इन स्थानों के नाम मिलते हैं, यथा : पतीपुर (बारा०), प्रीतम सराय (प्र०), बीबीपुर (लख०, प्र०), बिबियापुर मेहरिया (बा०प्र०), बिबियापुर (बारा०), दूल्हैपुर (प्र०), दूलाहपुर (प्र०), दूल्हापुर (हर०), दूल्हीपुर (बारा०), बहुआ (राय०), दुलहिन डीह (बारा०), पूरे मैया (प्र०), पितईपुर (प्र०), भइयापूरे (राय०), पूरे मैया जी (प्र०)), भइया खेड़ा (उ०), सहोदरपुर (प्र०), नानामऊ (बारा०, हर०), ननौती (प्र०), नानापुर (प्र०), नानीपुर सिरौली (बारा०), देवामामापुर (बारा०), बुवापुर (राय०), बुआपुर (सुल्तान०), दादी (गों०), मौसा (लख०), मौसिया (प्र०), देवरई कलां (लख०), देउरनिया (हर०), देवरनिया (बहरा०), सासपुर नजूल (लख०), दोस्तपुर (रा०), मित्रपुर (प्र०), दोस्तीनगर (उ०)।

विभिन्न वर्णों के आधार पर कुछ स्थाननाम निर्मित हैं, यथा— बमनपुर (राय०), ब्रह्मनी (राय०), बमनगवां (सु०), वैशपुर (हर०), बनियामऊ (सीता०)।

ब्राह्मणों की उपजातियों के आधार पर भी बहुत से स्थाननामों की रचना हुई है, जैसे—अवस्थीपुर (प्र०), उपाध्यापुर (प्र०), उपाध्यायपुर (सु०), पूरे ओझा (प्र०), सराय चौबे (बा०), चौबेपुर (प्र०, गों०), तिवारीपुर (लख०), तेवारीपुर (बा०, राय०, सु०), तिवारीपुर (बा०), तिवारी खेड़ा (उ०), तेवरिया (उ०), त्रिवेदीगंज (बारा०), दीक्षितपुर (लखी०), भावेपुर दुबे पट्टी (प्र०), पूरे दुबे (प्र०), दुबेपुर (उ०, सु०), दुबेगढ़ी (उ०), पाठकपुर (उ०सीता०), सराय पांडेय (बारा०), पांडेबारी (लखी०), पांडेपुर (उ०सु०,) पूरे पांडेय (प्र०), पांडे तारा (प्र०), बाजपेयी खेड़ा (उ०), बाजपेयीपुर (राय०), भटगांव (लख०), भटगवां (लख०), भटपुरवा (लख०), (प्र०, उ०), भटवामऊ (राय०), भाट पट्टी (प्र०), भटखेरवा (उ०), भाटमऊ (उ०), भटवमनी (गों०), भटखेरा (बारा०), भाटन खेड़ा (उ०), मिसिरखेड़ा (राय०), मिसरौली (प्र०), मिसिर मऊ (प्र०), मिश्रपुर (प्र०), मिश्राइनपुर (प्र०), मिसरामऊ (उ०), मिश्रनखेड़ा

(उ०), मिश्रपुर (लख०), मिश्रापुर (सीता०, सु०), शुक्ला पुर (बारा०), कोटवा सुकुलपुर (प्र०), सुकुलपुर (प्र०) शुक्ला खेड़ा (उ०), शुकुलपुर (बारा०)।

इसी प्रकार क्षत्रियों की उपजातियों के नामाधार पर भी कतिपय स्थाननामों की रचना हुई है, यथा—चन्देलेपुर (प्र०), चन्देलपुर (सुल्तान०), चौहानपुर (राय०), चौहानपुर (गों०), ठाकुरपुर (बारा०), ठाकुरगंज (लख०), बघेल (राय०), जठौंनी राजपूतान (बारा०)।

कुछ स्थाननाम पिछड़ी हुई अनुसूचित अथवा परिगणित जातियों के नाम पर आधारित हैं, यथा—अहीरगांव (बारा०), कलवारी (उ०), कुम्हरौरा (राय०), जठौंनी कुर्मियान (बारा०), सराय कुर्मी (राय०), कोरिया (राय०) गड़रिया खेड़ा (उ०), गडरिया डीह (सु०), चमरौली (बारा०), सराय चमारान (बारा०), जटपुरा (हर०), जटपुरवा (सीता०), जाटवपुर (सीता०), गोमापुर (राय०), डोमीपुर (प्र०), डोमपुर (प्र०, लख०, सु०), तेलियानी (प्र० उ०), मल्हपुर (लख), मल्हा (लख०), जादौपट्टी (प्र०), रावतपुर (प्र०उ०), लोदीगांव (बारा०), लोधौरा (बारा०), लोधवरिया (राय०), लोधवा खेड़ा (उ०), लोधना खेड़ा (हर०), लोधखेरवा (हर०), लोधौसी (लख०), लोनियापुर (प्र०), नोनारी (लोनारी) (उ०), लोनियार (उ०), लोनियापुर (सु०)।

हिन्दुओं की अन्य स्फुट उपजातियों में से कायस्थ, खत्री, बैजल आदि का भी प्रभाव स्थाननामों की रचना पर पड़ा है, यथा—कमालपुर कायस्थ (लख०), सराय कायस्थान (बारा०), कैथन खेड़ा (उ०), सरायखतरी (गों०), बैजलपुर (प्र०), अन्नी बैजल (सु०)।

सामाजिक जीवन में खान-पान का महत्त्व स्वयं स्पष्ट है। अवध के स्थाननामों में इससे सम्बद्ध वस्तुओं तथा पदार्थों का उल्लेख मिलता है। खाद्य-सामग्री को कई वर्गों में रखा जा सकता है। (अ) धान्य, (आ) पक्वान्न, (इ) गव्य पदार्थ, (ई) मधुर पदार्थ, (उ) शाक, (ऊ) फल, (ए) स्फुट पदार्थ/स्थाननामों की संरचना में इनमें से अधिकांश का योगदान है। यहां प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत हैं :

(अ) **धान्य**—धानपुर (बारा०), सरसों (उ०), मकईपुर (प्र०), तिलयारी (उ०), तेलवा (बारा०)।

(आ) **पक्वान्न**—रोटिहा (लखी०), रोटी गांव (बारा०), हलुवापुर (सीता०)

(इ) **गव्य पदार्थ**—माखनपुर (प्र०)

(ई) **मधुर पदार्थ**—ऊख : ऊखीपुर (प्र०), मिश्री : मिश्रीपुर (उ०)

(उ) **शाक**—कटहर (उ०), तरोई, कोहड़ा (प्र०)

(ऊ) **फल**—आममऊ (प्र०), केलाकलां (प्र०), सराय जमुनी (प्र०), जमुनियां कच्छ (उ०), जमुनियामऊ (बारा०), जमुनीपुर (राय०), फरेंहदा (हर०), गुलरा (प्र०), पीरा महुआ (हर०), महुआ ठांव (लखी०), महुआ (गों०), महुआमऊ (बारा०), महुवार (प्र०), महुवा डाडा (बारा०), इमलीपुर (बारा०), इमलिहा (बारा०), करौंदहा (प्र०), करौंदी (बारा०), खजुरी (राय०), खजुरगांव (राय०), बहेरामऊ (राय०), बेलहटा (राय०)।

संस्कृति को सभ्यता का व्यावहारिक पक्ष भी कह सकते हैं। इसके द्वारा मनुष्य की परम्पराओं, शिष्ट आचरणों, रीति-रिवाजों, खान-पान आदि का विशद परिचय मिलता है। जो समाज जितना ही अधिक सभ्य होता है, उससे उतने ही संस्कृत व्यवहारों की आशा की जाती है। सभ्यता तो मानवीय विकास का केवल बाह्यांग है। अंतरंग पक्ष तो सांस्कृतिक जीवन ही है। अत्यधिक सभ्य होने पर भी किसी समाज के व्यवहार उच्छृंखल, ओछे और निकृष्ट हो सकते हैं। इस प्रकार के समाज को सुसंस्कृत कहना भूल होगी। संस्कृति के साथ मनुष्य के हृदय की कोमल भावनाओं की मनोज्ञता पिरोई रहती है। संस्कृति सभ्यता को सर्वग्राह्य तथा सहानुभूतिपूर्ण बनाती है। यह मानवीय व्यवहारों में से द्वेष, मात्सर्य, कटुता, एवं प्रतिशोध की भावना का अन्त करके सामंजस्य की स्थिति तक ले चलने का प्रयास करती है। जो समाज जितना ही प्राचीन होता है उसकी संस्कृति की जड़ें भी उतनी ही गहरी होती हैं और उनकी गरिमामय परम्परा से मानव-जीवन में उत्साह और प्रेम-भावना का प्रस्फुरण होता है। संस्कृति का विकास ही मानव के सहयोग, सहमिलन, सामंजस्य एवं सहानुभूति से होता है। पृथकत्व की भावना में वह पनप नहीं सकती है, अलगाव उसकी जड़ों को सुखा डालता है, विद्वेष की अग्नि उसे झुलसा डालती है। जिस प्रकार ममतामयी मां की गोद में शिशु प्रमुदित रहता है, उसी प्रकार संस्कृति किसी के विनाश या विघटन के लिये उत्पन्न नहीं होती है। अतः उसके विकास के लिए सहानुभूति का वातावरण, सहयोग की भूमि तथा भ्रातृ-भाव की कामना की आवश्यकता पड़ती है।

भारत अपनी गौरवमयी परम्पराओं की दृष्टि से विश्व में सर्वोच्च स्थान रखता है। इस देश के ऋषि-मुनियों को उच्चतम मानवीय भावनाओं से युक्त संस्कृति का उपदेष्टा ही समझना चाहिए। परम्परा से अवध इक्ष्वाकुवंश के भूपतियों

की पुण्यभूमि माना जाता रहा है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम को आर्य संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ मूर्तिमान रूप माना जाने के कारण उनके उच्च गुणों की यश-कीर्ति का गायन आज भी अवतारी महापुरूष के रूप में किया जाता है। बौद्धों के युग में भी यह कौसल महाजनपद के रूप में अपनी उच्च शासन-पद्धति के कारण शक्तिशाली राज्य के रूप में प्रतिष्ठापित था। मध्यकालीन युग में भक्ति-आंदोलन के लब्धप्रतिष्ठ अग्रणी नेता महामना तुलसीदास का कार्यक्षेत्र भी यही रहा। मुगलों के समय में भी सांस्कृतिक दृष्टि से इस भाग ने खूब ख्याति अर्जित की। पिछले नवाबी शासन में तो इसकी सभ्यता एवं संस्कृति उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो चुकी थी, जिसकी मधुर स्मृतियां आज भी मानव को मोह लेती हैं। सभ्यता, संस्कृति से सम्बन्धित नामकरण की प्रक्रिया इसी आधार पर प्रचलित हुई है।

टिप्पणी——स्थाननामों के आगे ब्राइकिट में बार०, राय०, सीता०, प्र० आदि जो संक्षित रूप प्रयुक्त हुए हैं, वे क्रमशः बाराबंकी, रायबरेली, सीतापुर, प्रतापगढ़ आदि जिलों के नामों का संक्षिप्तीकरण है।
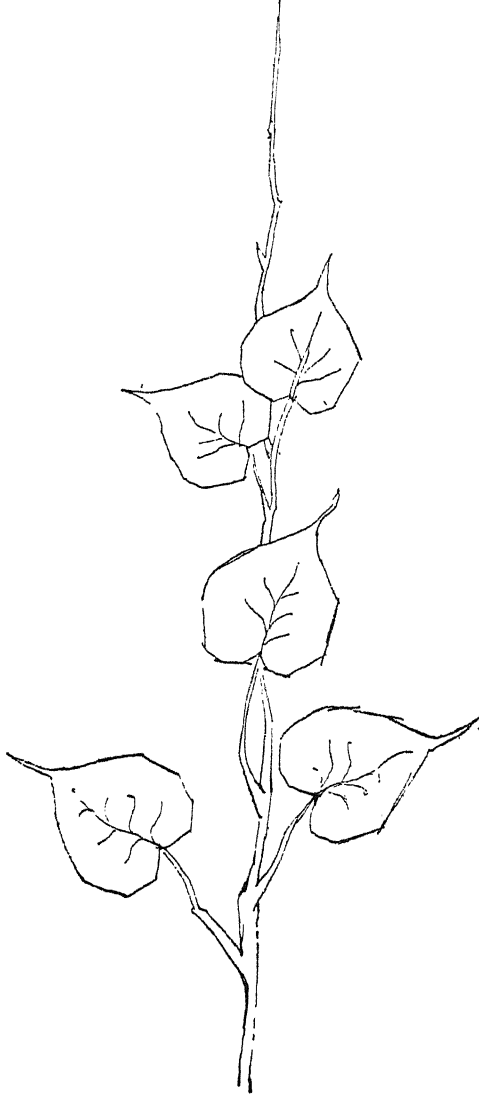
उत्तर प्रदेश की बोलियां

डॉ० भोलानाथ तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, करोड़ीमल कालिज, दिल्ली।

उत्तर प्रदेश अनेक दृष्टियों से भारत का केन्द्र रहा है। राम की अयोध्या, कृष्ण का ब्रज तथा शंकर की काशी ने इसे धार्मिक केन्द्र बनाया तो मध्यदेशीय परम्परा ने इसे सांस्कृतिक केन्द्र। संस्कृत काल में पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा संलग्न पंजाब की भाषा ही परिनिष्ठित थी। परवर्तीकाल की राष्ट्रभाषा पालि भी मूलतः इसी प्रदेश की भाषा पर आधारित है, यद्यपि उस पर प्रभावस्वरूप अन्य तत्त्व भी हैं। शौरसेनी प्राकृत एवं शौरसेनी अपभ्रंश का भी इसी प्रदेश से सम्बन्ध है। इस तरह भाषिक दृष्टि से भी उत्तर प्रदेश का एक भाग केन्द्र रहा है। कहना न होगा कि वर्तमान भारत की राजभाषा हिन्दी का भी केन्द्र यही है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी-भाषी प्रदेश है। यहां पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, पहाड़ी और बिहारी, हिन्दी की ये चार उपभाषाएं बोली जाती हैं।

पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत ब्रज, कौरवी, वांगरू, बुन्देली तथा कन्नौजी ये पांच बोलियां मानी जाती हैं किन्तु इन पंक्तियों का लेखक पश्चिमी हिन्दी में उपर्युक्त पांच के अतिरिक्त निमाड़ी[1] तथा ताजुज्बेकी[2] को भी पश्चिमी हिन्दी में मानता है। इन सात बोलियों में से ब्रज, कौरवी, कन्नौजी, बुन्देली इन चार का सम्बन्ध उत्तर प्रदेश है।

ब्रज : 'ब्रज' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'व्रज' से है, जिसका ऋग्वेद (२. ३८. ८) आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'चारागाह' अथवा 'पशु' आदि के अर्थ में प्रयोग हुआ है। ब्रजमण्डल में, पशुपालन ही प्रमुख पेशा होने के कारण, सम्भवतः इस प्रदेश को 'ब्रज' कहा गया और प्रदेश के आधार पर यहां की भाषा भी 'ब्रज' या 'ब्रजभाषा' कहलाई। हिन्दी या हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह पहले ब्रजभाषा को भी 'भाषा' या 'भाखा' (मुसलमानों द्वारा) कहते थे। 'ब्रजभाषा' नाम का प्राचीनतम प्रयोग १५८७ ई० में गोपाल कृत 'रसविलसटीका' में—'मरुभाषा निरजल तजी, करि ब्रजभाषा चोज' पंक्ति में हुआ है। १८वीं सदी में भिखारीदास के काव्यनिर्णय में 'ब्रज भाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोइ' भी इसका प्रयोग मिलता है। उसके बाद यह नाम पर्याप्त प्रचलित हो गया, यद्यपि १९वीं सदी में भी यह 'भाषा' कहलाती रही है। इसका एक और नाम 'अन्तर्वेदी' भी मिलता है, किन्तु यह नाम केवल अन्तर्वेद (कन्नौज की सीमा के पास का प्रदेश) की भाषा का हो सकता है, जो 'ब्रजभाषा' क्षेत्र का एक भाग मात्र है। इस दृष्टि से 'अन्तर्वेदी' को ब्रज का एक स्थानीय रूपान्तर कहना कदाचित् अधिक उचित होगा। इसे ब्रजी, ब्रिज, ब्रिजकी, भाषामणि, माथुरी, मथुरही, पुरुषोत्तमभाषा, नागभाषा तथा ग्वालिअरी (यह नाम ग्वालियर की भाषा के लिए उचित है, यों काफी प्राचीन काल से मिलता है) भी कहा गया है। कुछ लोग 'ब्रज-बुलि' को भी ब्रजभाषा समझते हैं, पर यथार्थतः ब्रजभाषा से इसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, 'ब्रज' एक बोली है किन्तु अधिक दिनों तक साहित्य की भाषा रहने के कारण यह 'ब्रजभाषा' कही जाने लगी। ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या ७९ लाख थी।

ब्रजभाषा का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश एवं यदि कहना चाहें तो शौरसेनी अवहट्ठ से है। इसका जन्म १००० के आसपास माना जा सकता है। ब्रजभाषा का इतिहास या विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) आदिकाल (प्रारम्भ से १५२५)
(२) मध्यकाल (१५२५–१८००)
(३) आधुनिक काल (१८००–अब तक)

---

१. इसे ग्रियर्सन ने राजस्थानी के अन्तर्गत माना था। तभी से यह राजस्थानी के अन्तर्गत ही मानी जाती है, किन्तु मेरे विचार में यह पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत मानी जानी चाहिए।

२. यह बोली मुझे सोवियत संघ में मिली। विश्लेषण करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यह भी मूलतः पश्चिमी हिन्दी वर्ग की है। 'ताजुज्बेकी' नाम मेरा अपना दिया हुआ है। कोई समुचित नाम न होने के कारण यह नया नाम देना पड़ा है। इस बोली के ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याकरण की स्वतंत्र पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होगी।

आदिकालीन ब्रजभाषा, जैसाकि स्वाभाविक है, अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है तथा उसके सभी रूपों का समुचित विकास नहीं हुआ है। हेमचन्द के व्याकरण में जो उदाहरण हैं, उनकी भाषा में ब्रजभाषा के पूर्वरूप सुरक्षित है। ब्रजभाषा की–हिं (कर्म, करण, सम्प्रदान, अधिकरण) विभक्ति, इसमें–हि (अंगहि-करण कारक) रूप में मिलती है। सम्बन्ध परसर्ग उसमें 'करेउ' रूप में हैं तथा अधिकरण परसर्ग मज्झे, मज्झहे रूप में। इन्हीं से ब्रज को, के, की एवं मांझ, मांही का विकास हुआ है। ब्रज पै, पर हेमचन्द में 'उप्परि' रूप में है। सर्वनाम में भी यही स्थिति है। 'हौं' 'हउं' रूप में, 'मैं', 'मइं' रूप में, 'वो', 'ओइ' रूप में तथा 'तू' 'तव', 'तो' रूप में हैं। 'अइसो' आदि सार्वनामिक विशेषण भी हैं। जाणिउं, (ब्रज जान्यौ), दिण्णी (ब्रज दीन्ही) गोवइ (ब्रजगोवै) आदि क्रिया रूप हैं। सन्देशरासक, प्राकृतपगैलम् आदि संधिकालीन रचनाओं में भी ब्रजरूप हैं। लगभग १३५० से ब्रज का अधिक स्पष्ट रूप मिलने लगता है। इस दृष्टि से अग्रवाल कवि का 'प्रद्युम्नचरित्र' (१३५४ ई०), विष्णुदास (१५वीं सदी पूर्वार्द्ध) की महाभारत कथा, रुक्मिणीमंगल, स्वर्गारोहण, स्नेहलीला, मानिक की बैतालपचीसी (१४८९ ई०), छिताईवार्ता तथा पेघनाथ की गीतभाषा (१५०० ई०) आदि प्रमुख हैं। इस काल के प्राप्त ब्रजरूप निम्नांकित हैं परसर्ग——नै, कहूं, कौ, की, कूं, सौं, सम, तैं, ते, कौ, के, की, कउ, मांझि, मांहि, में, मंहि, सर्वनाम—— हउं, हौं, मई, मो, मोहि, मोरो, मोरी, मेरे, तुम, तुम्हारे, सो, ताको, वहइ, वै, उन, जो, को, कौण, आपणे, आपनो, आपनी। क्रिया——हों, भये, भई, हो, ह्वैहैं आदि। अव्यय——अब, जब, तब, तिहां, कहां, आगे, भीतर आदि।

मध्यकालीन ब्रजभाषा सूर, नन्द, नरोत्तमदास, नाभादास, केशवदास, रसखान, सेनापति, बिहारी, भूषण, देव घनानन्द आदि में सुरक्षित है। इस काल की ब्रज का रूप परिनिष्ठित हो गया है। शब्दसमूह की दृष्टि से, इस काल की ब्रजभाषा में अरबी–फारसी–तुर्की के काफी शब्द आ गये हैं।

अन्तिम काल में लल्लूलाल, भारतेन्दु, रत्नाकर, कविरत्न आदि प्रमुख हैं। इस काल की साहित्यिक ब्रज पर खड़ी बोली का कुछ प्रभाव है। शब्दसमूह में आधुनिक ब्रज में अंग्रेजी के अनेक शब्द आ गये हैं।

ब्रजभाषा अपने शुद्ध रूप में मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर आदि में बोली जाती है। गुड़गांव, भरतपुर, जयपुर, करौली के कुछ भाग भी ब्रजभाषी हैं, यद्यपि इन क्षेत्रों की ब्रजभाषा राजस्थानी तथा बुन्देली से प्रभावित है। इसी प्रकार बुलन्दशहर, बदायूं और नैनीताल की तराई की ब्रजभाषा पर खड़ी बोली या पहाड़ी बोलियों का कुछ प्रभाव है, तो एटा, मैनपुरी, बरेली तथा पीलीभीत की ब्रज पर कन्नौजी का। 'ब्रजभाषा' के प्रधान उपरूप तीन हैं——पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी। पूर्वी ब्रजभाषा का क्षेत्र मैनपुरी, एटा, बदायूं, बरेली, हरदोई (कुछ भाग) और कानपुर (कुछ भाग), पश्चिमी अथवा केन्द्रीय ब्रजभाषा का मथुरा, आगरा, अलीगढ़ और बुलन्दशहर तथा दक्षिणी ब्रजभाषा का भरतपुर, धौलपुर, करौली पश्चिमी ग्वालियर और पूर्वी जयपुर है। 'ब्रज' के स्थानीय रूप गांववारी, ढोलपुर, भरतपुरी, जादोबाटी, सिकरवाड़ी, कठेरिया तथा डांगी आदि हैं।

कौरवी : 'कौरवी' से यहां आशय उस बोली से है, जिसे खड़ी बोली (मेरठ के आस-पास की जनबोली), हिन्दुस्तानी, जनपदीय हिन्दुस्तानी (चटर्जी द्वारा प्रयुक्त), सरहिन्दी, सिरहिन्दी, वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी (ग्रियर्सन द्वारा व्यवहृत) आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है तथा जो साहित्यिक हिन्दी, उर्दू का आधार मानी जाती हैं। खड़ी बोली आदि की तुलना में 'कौरवी' नाम अधिक अच्छा है। इसके लिये दो कारण दिये जा सकते हैं। एक तो यह कि यह क्षेत्र प्रायः वही है, जिसे पहले 'कुरु' जनपद कहते थे, अतः जनपदीय आधार पर कौरवी नाम उचित है, और दूसरे यह कि 'खड़ी बोली' मूलतः उसे कहते हैं, जिस पर आधुनिक साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू आदि आधारित हैं तथा जो अनेक मूल बातों (जैसे ज-न, मूल-द्वित्व आदि) में इस कौरवी से सर्वथा भिन्न हैं, और भिन्नता के होते इस जनबोली को भी उसी नाम से पुकारना बहुत भ्रामक तथा अवैज्ञानिक है।

'कौरवी' बोली रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून का मैदानी भाग, अम्बाला (पूर्वी भाग), कलसिया और पटियाला के पूर्वी भाग में प्रयुक्त होती है, और इसका क्षेत्र, बांगरू, ब्रज और पहाड़ी भाषाओं के बीच में पड़ता है। इसका शुद्ध या परिनिष्ठित रूप बिजनौर में बोला जाता है। अन्य स्थानों पर प्रायः समीपवर्ती भाषाओं का इस पर प्रभाव परिलक्षित होता है। ऊपर जिन स्थानों का उल्लेख किया गया है, वे प्रायः ग्रियर्सन के अनुसार हैं। इधर समीपवर्ती कुछ ब्रज आदि अन्य भाषाओं के क्षेत्रों में भी यह प्रविष्ट हो गई है, इस प्रकार इसका क्षेत्र कुछ बढ़ गया है। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या ५३ लाख से कुछ कम थी। अब इसके बोलने वाले लगभग डेढ़ करोड़ हैं। कौरवी में लोक-साहित्य पर्याप्त मात्रा में है। लिखित साहित्य की रचना इस बोली में नहीं हुई है। पहले यहां के लोग ब्रज आदि में लिखते थे और अब साहित्यिक हिन्दी में लिखते हैं।

कौरवी बोली मध्यदेशी या शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से विकसित हुई है। करखन्दारी, पहाड़ताली तथा बिजनौरी आदि, इसकी कुछ उपबोलियां हैं।

कन्नौजी---पश्चिमी हिन्दी की इस बोली के नाम का सम्बन्ध फर्रुखाबाद जिले के कन्नौज (सं० कान्यकुब्ज, कन्याः कुब्जाः यस्मिन् सः कान्यकुब्जः) नगर के नाम से है। इसे 'कन्नौजी' या 'कनउजी' भी कहते हैं। इस समय कन्नौजी बोलने वालों की संख्या ७५ लाख के लगभग है। इसमें आदर्श कन्नौजी बोलने वाले प्रायः १२ लाख हैं। कन्नौजी का क्षेत्र इटावा, फर्रुखाबाद, शाहजहांपुर, कानपुर (कुछ भाग), हरदोई, पीलीभीत है। आदर्श या शुद्ध कन्नौजी इटावा एवं फर्रुखाबाद के द्वाबे में तथा शाहजहांपुर में गंगा के उत्तर में प्रयुक्त होती हैं। अन्य स्थानों पर ब्रज, बुन्देली, अवधी आदि का मिश्रण हो जाता है। कन्नौजी के चारों ओर ब्रज, बुन्देली, अवधी, नैपाली तथा कुमायूंनी बोली जाती है। साहित्य की दृष्टि से कन्नौजी का विशेष महत्त्व नहीं है। यहां के कवियों (मतिराम, चिंतामणि आदि) ने ब्रजभाषा में ही रचना की है। यद्यपि उनकी ब्रजभाषा, कन्नौजी से प्रभावित है। कन्नौजी में लोक-साहित्य पर्याप्त है।

बुन्देली---इसका क्षेत्र बुन्देलखण्ड होने के कारण इसे 'बुन्देलखण्डी' भी कहते हैं। बुन्देल राजपूतों की प्रधानता के कारण ही यह प्रदेश बुन्देलखण्ड कहलाया। 'बुन्देला' नाम की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है: (क) 'छत्र प्रकाश' के अनुसार पंचम को उनके भाइयों ने गद्दी से उतार दिया था। पंचम गद्दी की प्राप्ति के लिए विंध्यवासिनी देवी के मन्दिर में घोर तपस्या करने लगे। कुछ दिनों तक वे तपस्या करते रहे, किन्तु उन्होंने देखा कि कोई परिणाम नहीं निकल रहा है। अन्त में निराश होकर उन्होंने तलवार निकाली और अपना सिर देवी को चढ़ाने के लिए अपनी गर्दन पर दे मारी। इतने में देवी प्रकट हुई और उन्होंने उन्हें राज्य-प्राप्ति का वरदान दिया। तलवार गर्दन पर लग चुकी थी, किन्तु बीच में ही देवी के प्रकट होने से उनका हाथ हिल गया था, अतः बहुत हल्की लगी थी, और उनकी गर्दन से बूंद-बूंद रक्त निकल रहा था। इन्हीं बूंदों के कारण, पंचम और उनके वंशज 'बुन्देला' कहलाये। (ख) 'हदीकतुल अकालीम' के अनुसार बुन्देल मूलतः हरदेव नाम के गहरवार राजपूत तथा एक बांदी की सन्तान हैं। बांदी की सन्तान होने के कारण ये 'बुन्देल' कहलाये। इसी प्रकार कई और भी मत दिये गये हैं, किन्तु कोई भी साधार नहीं ज्ञात होता। ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ६८,६९,२०१ थी।

'बुन्देली' शुद्ध रूप में झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप आगरा, दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालघाट तथा नागपुर आदि में प्रचलित हैं। इस प्रकार यह बोली दक्षिणी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश के मध्य भाग आदि में प्रयुक्त होती है, और इसका क्षेत्र पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी तथा मराठी के बीच में है। 'बुन्देली' का परिनिष्ठित रूप ओड़छा और सागर के आस-पास बोला जाता हैं और इसके बोलने वालों की संख्या ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार लगभग ३,५१,९२९ थी। कुछ लोगों के अनुसार बुन्देली और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है और इस दृष्टि से इन दोनों को स्वतंत्र बोलियां न मान कर, वे दोनों को एक बोली के दो प्रादेशिक रूप मानने के पक्ष में हैं किन्तु, मेरे विचार में ऐसा मानना ठीक नहीं है। बुन्देली की अपनी विशेषताएं ब्रज से स्पष्टतः अलग हैं। बुन्देली बोली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से हुआ है। बुन्देली के क्षेत्र में नागरी लिपि का ही प्रचार अधिक है। साहित्य की दृष्टि से बुन्देली का अधिक महत्त्व नहीं है केवल एक लाल कवि ही ऐसे हैं, जिन्होंने प्रमुखतः इसीमें साहित्य रचना की है। इनके ग्रन्थ का नाम 'छत्र-प्रकाश' है जिसकी भाषा प्रमुखता बुन्देली ही है। बुन्देली क्षेत्र के अन्य कवि ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते रहे हैं। हां उनकी ब्रजभाषा बुन्देली से प्रभावित अवश्य है। ऐसे कवियों में केशव, पद्माकर एवं पजनेश का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। बुन्देली की उपबोली बनाफर लोकसाहित्य की दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि हिन्दी प्रदेश की प्रसिद्ध लोक गाथा 'आल्हखंड' की रचना मूलतः बनाफरी में ही हुई थी। बुन्देली की प्रमुख उपबोलियां पंवारी, लोधांती, खटोली, भदावरी, सहेरिया तथा किनार की बोली आदि हैं। कुंड़ी, तिरहारी या तिवारी, निभट्टा, कुम्हारी, कोष्टी, पोवारी, गाओली, राघोबंसी, तथा किराटी इसके कुछ मिश्रित रूप हैं।

पूर्वी हिन्दी में अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी ये तीन बोलियां हैं, इनमें उत्तर प्रदेश से प्रथम दो का सम्बन्ध है।

अवधी---अवधी न केवल पूर्वी हिन्दी की, अपितु हिन्दी की भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बोली है। 'अवधी' शब्द का सम्बन्ध सं० 'अयोध्या' से है। 'अयोध्या' शब्द का विकास 'अवध' रूप में हुआ है। अवधी-भाषी प्रदेश का नाम 'अवध' है। इसी आधार पर इस भाषा को 'अवधी' नाम दिया गया है। 'अवधी' नाम का भाषा के अर्थ में प्राचीनतम प्रयोग अमीर खुसरो ने अपने 'नुहसिपर' में किया है। अबुल फजल की 'आईने अकबरी' में भी यह शब्द आता है। कुछ लोगों ने इसे उत्तरी, प्राचीन पूर्वी, उत्तरखण्डी, पूर्वी, कोसली, बैसवाड़ी आदि नामों से भी अभिहित किया है। इनमें कोसली नाम का प्रयोग, जैसाकि आगे हम देखेंगे, इसके लिए उचित नहीं है। 'बैसवाड़ा' वस्तुतः अवधी क्षेत्र का एक भाग मात्र है। अतः 'बैसवाड़ा' नाम को अवधी का समानार्थी न मानकर उसकी एक उपबोली का नाम मानना ही उचित है। 'पूर्वी' नाम स्थान सापेक्ष है, केवल अवधी के लिए ही उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'अवधी' के अतिरिक्त अन्य नाम भी इस प्रकार

दोषपूर्ण हैं। यों 'अवधी' नाम भी बहुत उचित नहीं है। इससे लगता है कि इसका क्षेत्र अवध प्रदेश है। किन्तु यथार्थतः इसकी सीमा तथा अवध प्रदेश की सीमा पूर्णतः एक नहीं कही जा सकती। एक ओर तो अवध प्रदेश के कुछ भागों (जिला हरदोई, खीरी और फैजाबाद के कुछ भाग) में 'अवधी' नहीं बोली जाती, और दूसरी ओर अवध प्रदेश के बाहर फतेहपुर, इलाहाबाद, जौनपुर एवं मिर्जापुर (अन्तिम दो के कुछ भाग) जिले भी इसके क्षेत्र में आते हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी जिलों, कानपुर जिले के कुछ भाग एवं बिहार के मुसलमानों (मुजफ्फरपुर तक) तथा नैपाल की तराई के कुछ हिस्सों (रूम्मनदेई तथा बुटवल तक) की भी बोली यही है। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या लगभग एक करोड़ साढ़े इकसठ लाख थी। अवधी के पश्चिम में स्थित कन्नौजी, ब्रज आदि बोलियां शौरसेनी से उद्भूत हैं, तथा पूर्व की भोजपुरी आदि मागधी से। इसी आधार पर ग्रियर्सन ने अवधी या पूर्वी हिन्दी को शौरसेनी एवं मागधी के बीच की अर्द्धमागधी से उत्पन्न माना था। डा० बाबूराम सक्सेना ने अपने प्रबन्ध 'अवधी का विकास' में ग्रियर्सन से असहमति प्रकट की है, और यह कहा है कि "अर्धमागधी का जो रूप जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है, उसकी तुलना में अवधी पालि से अधिक समानताएं रखती है।" वस्तुतः अर्द्धमागधी का जो रूप जैन ग्रन्थों में है, वह मूल अर्द्धमागधी का प्रतिनिधित्व नहीं करता। यह ग्रन्थ बाद के पुनः सम्पादित हैं। अतः मेरे विचार में पूर्वी हिन्दी या अवधी, अर्द्धमागधी से उद्भूत भी है, तो उस अर्द्धमागधी से, जो अवधी के पूर्व इस क्षेत्र में प्रयुक्त होती थी, न कि उससे जो जैन ग्रन्थों में सुरक्षित है। यों इसे 'कोसली' से उद्भूत कहना कदाचित् अधिक समीचीन है, जैसाकि आगे स्पष्ट किया गया है।

अवधी की उत्पत्ति अन्य भारतीय भाषाओं की तरह ही १००० या ११०० ई० के आस-पास हुई। देशी भाषा के रूप में कोसली का उल्लेख ८वीं सदी के ग्रन्थ 'कुवलयमाला' में मिलता है। प्रश्न उठता है कि 'कोसली' क्या है? इतिहास के अध्येता इस बात से परिचित हैं कि कोसल राज्य भारत के प्राचीनतम राज्यों में माना जाता है। इसके उत्तरकोसल (अयोध्या के आस-पास) तथा 'दक्षिण कोसल' (रीवां, जबलपुर के आसपास) दो भाग थे। पूरे कोसल को 'महाकोसल' कहते थे। इस प्रकार कोसल राज्य में प्रायः अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र आता है। यों कोसल ठीक इतना ही था या कम-अधिक, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। इस तरह कोसली लगभग 'पूर्वी हिन्दी' है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से 'कोसली' एवं 'पूर्वी हिन्दी' को एक मानना भी उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वी हिन्दी की सत्ता १००० के बाद से है, जबकि 'कोसली' का उल्लेख, उसके पूर्व की भाषा के लिये है। इस प्रकार कोसली को 'पूर्वी हिन्दी' का पूर्व रूप माना जा सकता है। इस प्रसंग में मेरा एक सुझाव है, 'कोसली' नाम कल्पित नहीं है; क्योंकि उसका प्रयोग 'कुवलयमाला' में है। साथ ही इसका क्षेत्र प्रायः वही है जो पूर्वी हिन्दी का है। ऐसी स्थिति में क्यों न पूर्वी हिन्दी के पूर्व रूप (अपभ्रंश, अवहट्ठ) के लिये कोसली को स्वीकार कर लिया जाये, अर्थात् अर्द्धमागधी के स्थान पर कोसली से इसकी उत्पत्ति मानी जाये। यहां विस्तार से विषय को उठाना सम्भव नहीं है, किन्तु इतना संकेत किया जा सकता है, कि यदि विस्तार से देखा जाये तो अर्द्धमागधी जिस रूप में ग्रन्थों (विशेषतः जैन) में प्राप्त है, उसके आधार पर उसके स्थान का निर्धारण, बहुत सरल नहीं है। ऐसा लगता है कि इस प्रश्न पर विचार करते समय लोगों का ध्यान भाषा के स्वरूप से अधिक नाम पर रहा है। अस्तु।

अवधी के विकास को तीन कालों में बांटा जा सकता है:

(१) प्रारम्भ से १४०० तक
(२) १४०० से १७०० तक
(३) १७०० से अब तक

अवधी के प्राचीनतम रूपों के बीच हमें पहली सदी से भी पूर्व मिलने लगते हैं। पहली सदी से २०० वर्ष पूर्व एक २०० वर्ष बाद के बीच के पिपरहवा, सोहगौरा, सारनाथ, रुम्मनदेई एवं खैरागढ़ के अभिलेख इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। इनमें विशेष महत्त्व सहगौरा का है। यद्यपि यह कहना गलत होगा कि इनमें केवल अवधी-प्रवृत्तियां ही हैं। साहित्यिक प्राकृतों के काल में ये बीज अंकुरित हुए, और अपभ्रंश के परवर्ती काल में उनमें पर्याप्त विकास हो गया। प्राकृत पैंगलम् के छन्द मोटे रूप से ९वीं से १४वीं सदी तक के हैं, राउलवेल ११वीं की, उक्ति व्यक्ति प्रकरण १२वीं का, एवं कीर्तिलता १४वीं की। यद्यपि इन सभी में जो भाषा रूप हैं, वे इतने परवर्ती न होकर काफी पहले के हैं। साहित्य में भाषा का प्रयोग, समाज में प्रयोग के बाद में होता है। तथाकथित अवहट्ठ की उपर्युक्त सभी रचनाओं एवं हेमचन्द्र में उदयोन्मुखी अवधी के रूप झांक रहे हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। केरअ केरा, कैर; मज्झे मज्झ मांह महं (जीवहिं मज्झे एइ—हेम०, तेन्हु मांझ का कालिदास—उक्त व्यक्ति, युवराजन्हि मांझ पवित्र—कीर्तिलता, मांझ मन्दिर जनु लाग अकासा—जायसी, रामप्रताप प्रगट एहि मांहीं—तुलसी, सरग आइ धरती महं छावा—जायसी), तण तन तइं तें ते थैं भी (कोहि तणेण—हेमचन्द्र,

पिय तन चितइ भौंह करि बांकी-मानस, राम ते अधिक राम कर दासा—मानस, पाऊं थैं पंगुल भया—कबीर), हउं—हौं (विआलि को हउं मागिहउं—उक्ति व्यक्ति, देखि एक कौतुक हौं रहा—जायसी) कवण कवन (कलण काजे—उक्ति व्यक्ति, कारन कवन भरत बन जाहीं—तुलसी), करवां करउं—(हों करवौं—उक्ति व्यक्ति, करउं कथा हरिपद धीर सीता —तुलसी) इत्यादि।

१४००तक अवधी का निर्माण काल या आदिकाल माना जा सकता है। उसके बाद १७००तक इसका मध्यकाल है। मध्यकालीन अवधी का रूप मुल्लादाऊद की 'लोरक हा' या 'चन्दायन' (१३७० ई०), लालचदास के 'हरिचरित' (१५०० के बाद), सूरजदास के रामजन्म (१५वीं सदी अन्तिम चरण), ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' (१५०१ ई०) तथा 'स्वर्गारोहणी इशरदास के' भरत मिला' (१६वीं सदी प्रथम दशक), ईश्वरदास के 'अंगदपैज' (१६वीं सदी प्रथम दशक), कुतुबन की 'मृगावती' (१५०३) तथा जायसी, आलम रिज्कुल्ला, तुलसीदास, उसमान, चतुर्भुजदास, लालदास एवं नारायण दास आदि की रचनाओं में सुरक्षित हैं। यों ३०० वर्षों के इस बड़े काल में, जैसाकि स्वाभाविक है, भाषा की एकरूपता नहीं है। कुतुबन तथा उनकी पूर्व की भाषा के काल को पूर्व मध्यकाल तथा जायसी एवं उनके बाद की भाषा को उत्तर मध्यकाल में रख सकते हैं। कुतुबन एवं जायसी की रचनाओं में कहने को तो लगभग ३० वर्ष का अन्तर है, किन्तु उनकी भाषा स्पष्टतः दो स्तरों की है। कुतुबन में पुरानी अवधी है, तो जायसी में बाद की। यदि पूर्व मध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल की अवधी की तुलना करें तो देखेंगे, कि कुछ बातें पूर्व में यदि बहुत मिलती हैं, तो उत्तर में वे कम हो गई हैं, तथा आधुनिक काल में नहीं मिलतीं, या समाप्तप्राय हैं। उदाहरण के लिये तेन-तेन्ह और तिन-तिन्ह ले सकते हैं। स्पष्ट ही परवर्ती युग्म पूर्ववर्ती का विकास है। पूर्ववर्ती, पूर्व मध्यकाल में अधिक प्रयुक्त हुआ है, तो उत्तर में कम और अब प्रायः बिल्कुल नहीं। इनके विरुद्ध तिन-तिन्ह पूर्वमध्य में कम, उत्तर मध्य में अधिक और अब बहुत अधिक प्रयोग में हैं। भव-भा के बारे में भी यही बात है। 'भव' का ही विकास 'भा' में हुआ है। 'भव' पूर्व मध्य में बहुत मिलता है, उत्तर में कम और अब प्रायः नहीं। दूसरी ओर 'भा' पूर्व में कम, उत्तर में अपेक्षाकृत अधिक, और अब बहुत अधिक मिलता है। शब्द-समूह में भी बहुत परिवर्तन हुआ है। 'अछ' धातु का पूर्व-मध्य में बहुत अधिक प्रयोग है। इसके प्रायः सभी या अधिकांश रूप (आछहिं (हैं), आछत (है) आदि) मिलते हैं। किन्तु उत्तर मध्य में इसका प्रयोग बहुत कम हो गया है। जायसी में आछै, आछत, इन दो रूपों में ही एक-दो बार यह धातु प्रयुक्त है। अब इसका प्रयोग प्रायः समाप्त हो गया है। भोजपुरी में 'अछत' रूप में यह मात्र एक शब्द के रूप में बच गई है। इस प्रकार के और भी अनेक शब्द हैं।

१७०० के बाद की अवधी छेमकरन के कृष्ण चरितामृत (१८वीं सदी मध्य) शिवरामकृत भक्ति जयमाल (१७३०) कासिमशाह का हंस-जवाहर (१७३६), नूरमुहम्मद की इन्द्रावती (१७४३), शेखनिसार की यूसुफ जुलेखा (१७९०), भवानीशंकर की बैतालपचीसी (१८१४), अलीशाह की प्रमचिनगारी (१८४५) तथा ख्वाजा अहमद की नूरजहां (१९०५) आदि पचासों पुस्तकों में सुरक्षित हैं। आधुनिक काल के प्रसिद्ध अवधी ग्रन्थों में कृष्णायन है। अवधी एक जीवित भाषा है, और आज भी विकास के पथ पर है। उसमें आज भी परिवर्तन हो रहे हैं। शब्द-समूह की दृष्टि से यदि अवधी के पूरे विकास पर ध्यान दें तो स्पष्ट हुए बिना न रहेगा कि मध्यकाल में अरबी-फारसी के शब्द इसमें आ गये तो आधुनिक काल में अंग्रेजी के शब्द आ गये हैं। इधर बोलचाल की अवधी पर खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

बघेली—इसके क्षेत्र में बघेल राजपूतों के प्राधान्य के कारण इसे बघेली नाम दिया गया है। इसे बघेलखंडी या रीवाई भी कहते हैं। 'बघेली' का केन्द्र रीवां है, किन्तु उसके आसपास दमोह, जबलपुर, मांडला, बालाघाट, बांदा, फतेहपुर तथा हमीरपुर आदि जिलों के कुछ भागों में भी इसका शुद्ध या मिश्रित रूप बोला जाता है। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या ४६ लाख से कुछ ऊपर थी। 'बघेली' के तिरहारी, बंदेली, गहोरा, जुडार मरारी तथा ओझी आदि प्रधान स्थानीय रूप हैं। इसके कुछ अप्रधान रूप गोंडवानी या गोंडानी तथा केवटी आदि हैं। बघेली में साहित्य रचना नहीं हुई है। इस क्षेत्र के साहित्यिकों की भाषा मध्ययुग में अवधी तथा ब्रज और आधुनिक युग में खड़ी बोली हिन्दी है, यद्यपि उनकी भाषा में प्रयोग तथा शब्द की दृष्टि से कुछ बघेली प्रभाव भी है। बघेली लिखने के लिये नागरी तथा कैथी दोनों का प्रयोग होता है।

पहाड़ी की कुमायूंनी एवं गढ़वाली से उत्तर प्रदेश का सम्बन्ध है।

कुमायूंनी—मुख्य क्षेत्र कुमायूं होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। 'कुमायूं' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी गई है। अधिक मान्य मत के अनुसार इसका सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'कूर्मांचल' या 'कूर्मा चल' से है। ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार 'कुमायूंनी' बोलने वालों की संख्या लगभग ४,३६,७८८ थी। यह कुमायूं नैनीताल (उत्तरी भाग), अलमोड़ा, पिथौरागढ़, चमौली तथा उत्तरकाशी आदि में बोली जाती है। यह गढ़वाली, तिब्बती, नैपाली तथा पश्चिमी हिन्दी से घिरी है। 'कुमायूंनी' की उपबोलियां तथा स्थानीय रूप बहुत विकसित हो गये हैं जिनमें प्रधान खसपूरजिया,

कुमयां या कुमैयां, फल्दकोरिया, पछाई, गंगोला, दानपुरिया, सीराली, सोरियाली, अस्कोटी, जोहारी, रउ चोमैंसी तथा भोटिआ हैं। 'कुमायूंनी' पर राजस्थानी का इतना अधिक प्रभाव है कि यह उसका एक रूप-सा ज्ञात होता है। 'कुमायूंनी' में पुराना साहित्य तो नहीं है किन्तु इधर लगभग डेढ़ सौ वर्षों से साहित्य-रचना हुई है। यहां के पुराने साहित्यिकों में गुमानीपंत, कृष्णदत्त पांडे, सिवदत्त सती आदि प्रधान हैं। यहां की लिपि नागरी है।

गढ़वाली—इसका क्षेत्र प्रधान रूप से गढ़वाल होने के कारण यह नाम पड़ा है। पहले इस क्षेत्र के नाम केदार-खण्ड, उत्तराखण्ड आदि थे। मध्ययुग में बहुत गढ़ों के कारण इसे लोग 'गढ़वाल' कहने लगे। ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या ६,७०,८२४ के लगभग थी। यह गढ़वाल तथा उसके आस-पास टेहरी, अलमोड़ा, देहरादून (उत्तरी भाग), सहारनपुर (उत्तरी भाग), बिजनौर (उत्तरी भाग) तथा मुरादाबाद (उत्तरी भाग) आदि के कुछ भागों में बोली जाती है। 'गढ़वाली' की बहुत-सी उपबोलियां विकसित हो गई हैं, जिनमें प्रमुख श्रीनगरिया, राठी, लोहब्या, बधानी, दौसल्या, मांझकुमैयां, नगपुरिया, सलानी, गंगापारिया तथा टेहरी हैं। श्रीनगरिया गढ़वाली का परिनिष्ठित रूप है। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या १२,००८ थी। गढ़वाली में केवल लोकसाहित्य है। इसकी लिपि नागरी है।

बिहारी में भोजपुरी, मगही तथा मैथिली ये तीन बोलियां आती हैं। इनमें केवल पहली ही उत्तर प्रदेश से सम्बद्ध है।

भोजपुरी—नैपाल की दक्षिणी सीमारेखा के आस-पास से लेकर दक्षिण में छोटा नागपुर तक और पश्चिम में पूर्वी मिर्जापुर, बनारस तथा पूर्वी फैजाबाद से लेकर पूर्व में रांची और पटना के पास तक बस्ती (कुछ भाग), गोरखपुर देवरिया, मिर्जापुर (दक्षिणी पूर्वी), बनारस, जौनपुर(पूर्वी), गाजीपुर, बलिया, शाहाबाद, पालामऊ तथा रांची (थोड़ा पूर्वी भाग छोड़कर) आदि में यह प्रयुक्त होती है। शाहाबाद जिले का एक परगना 'भोजपुर' के आधार पर इस बोली का नाम भोजपुरी पड़ा है। भाषा के अर्थ में 'भोजपुरी' नाम का प्रथम प्रयोग रेमंड के 'शेर मुताखरीन' के अनुवाद की भूमिका में १७८९ का मिलता है। सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या दो करोड़ चार लाख थी। भोजपुरी में प्रमुखतः लोकसाहित्य है। हां, इस सदी में राहुल जी तथा कुछ और लोगों ने भोजपुरी में गद्य और पद्य पुस्तिकाएं लिखीं एवं प्रकाशित की हैं। भोजपुरी की प्रमुख उपबोलियां, उत्तरी, दक्षिणी, पश्चिमी तथा नगपुरिया हैं। इसके कुछ स्थानीय रूप राशिका, बंगरही, गोरखपुरी, सरवरिया, खारवारी, सारनबोली, छपरहिया तथा सोनपरि आदि हैं। भोजपुरी लेखन में नागरी, महाजनी तथा कैथी लिपियां प्रयुक्त होती हैं। भोजपुरी को बिहारी वर्ग में रखा तो जाता है किन्तु वस्तुतः अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में यह पूर्वी हिन्दी की ओर झुकी है।

इस प्रकार उत्तर प्रदेश में प्रमुखतः नौ बोलियां बोली जाती हैं।

हिन्दी में लिंग की समस्या : वचन और पुरुष

डॉ० बलवीर प्रकाश गुप्त
प्राध्यापक, क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय ।

हिन्दी[1] में लिंग व्याकरण के आधार पर निर्धारित किया गया है। इस प्रकार हिन्दी में पुंल्लिग और स्त्रीलिंग, दो लिंग हैं। हिन्दी में आगत संस्कृत के नपुंसक लिंगी शब्द तथा अंग्रेजी के Neuter तथा Common लिंगी शब्द क्रमशः पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंग दोनों में ही अन्तर्भुक्त हो गये हैं। संस्कृत, मराठी, गुजराती आदि में तीन-तीन लिंग हैं। परन्तु उनमें कुछ जड़ पदार्थों को उनके कुछ विशेष गुणों के कारण सचेतन मान लिया गया है। जिन पदार्थों में कठोरता, बल, श्रेष्ठता आदिगुण दीखते हैं, उनमें पुरुषत्व की कल्पना करके उनके वाचक शब्दों को पुंल्लिग तथा जो शब्द नम्रता, कोमलता आदि गुण प्रकट करते हैं उनको स्त्रीलिंग माना गया है।

हिन्दी में सभी जड़ पदार्थों को सचेतन वर्ग में रखा गया है। इस कारण इसमें नपुंसक लिंग नहीं है। यह लिंग न होने के कारण जहां हिन्दी की लिंग-व्यवस्था अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा कुछ सरल है, वहां हिन्दी का लिंग-विधान अन्य भारत भाषा-भाषियों (विशेषतः बंगाली तथा सुदूर दक्षिणी) को कुछ कठिनाई भी पैदा करता है। हिन्दी में प्रकृत नपुंसक लिंगी (जड़ वाचक) शब्दों का पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंग बनने सम्बन्धी कोई निश्चित नियम नहीं है। अपने आकार, प्रकार, भाव, गुण, रूप, अर्थ आदि के अनुसार वे पुंल्लिग व स्त्रीलिंग हो जाते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि गृहीत शब्द का लिंग जो मूल भाषा में रहा हो वही हिन्दी ने भी अपनाया हो।

वस्तुतः हिन्दी में लिंग की अन्विति मुख्यतः विशेषण तथा क्रिया-पदों में ही अपनी संज्ञा के लिंगानुसार होती है। अस्तु, वाक्य में लिंग की ठीक अन्विति के लिए प्रयोक्ता को संज्ञा-शब्द के लिंग से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु हिन्दी-संज्ञा के लिंग-निर्णय में अन्य लोगों को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

हिन्दी-संज्ञा में लिंग-निर्णय—यद्यपि हिन्दी में लिंग-निर्णय के लिये कोई व्यापक तथा पूरे नियम नहीं हैं तथापि हिन्दी-व्याकरणों में लिंग-निर्णय दो प्रकार से किया जाता है—१. शब्द के अर्थ से, और २. उसके रूप से। प्रायः चेतन अर्थ व्यक्त करने वाले शब्दों का लिंग अर्थ के अनुसार और जड़ता वाचक शब्दों का लिंग रूप के अनुसार निश्चित किया जाता है। शेष शब्दों का लिंग केवल लोक-व्यवहार के अनुसार जाना जाता है।

हिन्दी में अंग्रेजी की भांति उभयलिंग (Common gender) न होने के कारण कई मनुष्येतर प्राणिवाचक संज्ञाओं से दोनों जातियों का बोध होता है, पर वे व्यवहार के अनुसार नित्य पुंल्लिग या स्त्रीलिंग होती हैं, यथा—

पुंल्लिग—पक्षी, उल्लू, चीता, मच्छर, कौवा आदि

स्त्रीलिंग—चील, कोयल, मक्खी, तितली, मछली आदि

कभी-कभी इनके लिंग के विशेष स्पष्टीकरण के लिये इनके पूर्व 'नर' या 'मादा' शब्द लगा दिया जाता है। हिन्दी में समुदायवाची संज्ञाएं भी व्यवहार के अनुसार पुंल्लिग व स्त्रीलिंग होती हैं, यथा—

पुंल्लिग—समूह, झुंड, कुटुम्ब, दल आदि।

स्त्रीलिंग—भीड़, फौज, सभा, सरकार, टोली, जनता आदि।

हिन्दी में अप्राणिवाचक संज्ञाओं का लिंग जानना विशेष कठिन है, क्योंकि यह बात अधिकांशतः व्यवहार के अधीन है। अर्थ और रूप दोनों ही साधनों से इन शब्दों का लिंग जानने में कठिनाई होती है। यथा—

१—प्रस्तुत लेख में हिन्दी से मेरा तात्पर्य पश्चिमी उत्तर प्रदेशीय परिनिष्ठित हिन्दी से है, जिसमें कुछ पुट साहित्यिक हिन्दी का भी मिला हुआ है।]

१. एक ही अर्थ व्यक्त करने वाले कई शब्दों के लिंग अलग-अलग होते हैं, यथा—नेत्र (पुं०), आंख (स्त्री०)

२. एक ही अन्त के कई शब्द अलग-अलग लिंगों में आते हैं, यथा—कोदों (पुं०)—सरसों (स्त्री०), खेल (पुं०)—रेल (स्त्री०)

किसी-किसी वैयाकरण[1] ने अप्राणिवाचक संज्ञाओं के अर्थ के अनुसार लिंग-निर्णय करने के लिए कई नियम बनाये हैं पर वे अव्यापक और अपूर्ण हैं, क्योंकि एक तो उनमें अपवादों की संख्या बहुत अधिक है, दूसरे वे हिन्दी की समस्त शब्दावली को विचार में रख कर नहीं चले हैं। इस प्रकार के अवैज्ञानिक नियमों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

१. नीचे लिखे अप्राणिवाचक शब्द अर्थ के अनुसार पुंलिंग हैं—
शरीर के अवयव, धातुएं, रत्नों के नाम, वृक्ष और अनाज, द्रव पदार्थ, जल-थल भागों के नाम, ग्रहों के नाम इत्यादि।

किन्तु इस नियम के अपवाद भी देखिये—
आंख, उंगली, छाती, कमर, चांदी, मिट्टी, मणि, इमली, सरसों, मटर, पानी, शराब, पृथ्वी, नदी, इत्यादि। ये सभी स्त्रीलिंग हैं।

२. निम्नलिखित शब्द अर्थ के अनुसार स्त्रीलिंग हैं—
नदियों के नाम, तिथियों के नाम, किराने के नाम, भोजनों के नाम इत्यादि।

किन्तु कोई भी हिन्दी-वक्ता जानता है कि इनके भी पर्याप्त अपवाद मिलते हैं।

वस्तुतः जड़-पदार्थों का लिंग अर्थात् नपुंसक लिंग स्त्री-पुरुष भेदातीतता का द्योतक है। अतः नपुंसक लिंग में प्रयुक्त वस्तु को स्त्री० या पुं० में रख कर वर्णन करने से व्यक्तिकरण का चित्र (Personificatiou) उपस्थित हो जाता है। परन्तु हिन्दी में जबकि पुं० तथा स्त्री० दो ही हैं, एक प्रकार से उनका व्यक्तिकरण पूर्वसिद्ध ही है, अर्थात् पुं० या स्त्री० में उनका व्यक्तिकरण हो चुका है और वह रूढ़िबद्ध है। अस्तु, यह पूर्व-निर्धारित व्यक्तिकरण स्वतंत्र व्यक्तिकरण के लिये बांधा सिद्ध होता है, जैसा कि प्रायः कुछ कवियों के प्रयोग में हुआ है। पंत ने अपनी 'मधुवन' नामक कविता में 'प्रभात', 'गुलाब' आदि को स्त्री० में प्रयुक्त किया है जबकि उनका पुं० पूर्व-निर्धारित है।

जहां तक हिन्दी के गृहीत शब्दों के लिंग का सम्बन्ध है, मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि गृहीत शब्द अपनी मूल भाषा का लिंग छोड़ कर (यदि दाता भाषा में लिंग रहा है) हिन्दी के अपने निजी समानार्थी शब्द के लिंग के अनुसार अपना लिंग ढाल लेता है। किन्तु इस नियम के भी अपवाद मिलते हैं, यथा—हिन्दी का 'लालटेन' स्त्री० है तथा 'दिया' पुं०, 'कलम' स्त्री० है किन्तु 'पेन' पुं० इत्यादि। श्रीयुत् पेज महोदय[2] ने वर्णनात्मक आधार (Descriptive Basis) पर हिन्दी की ध्वनि-प्रक्रियात्मक रचना के द्वारा हिन्दी के गृहीत शब्दों को हिन्दी के मूल शब्दों से अलग करके उनके सम्बन्ध में लिंग निर्देश करने का प्रयास किया है। किन्तु यह एक नई दिशा में प्रयोग होते हुए भी कई दृष्टियों से अपूर्ण और सर्वथा वैज्ञानिक नहीं है। कभी अवकाश मिलने पर इनके द्वारा प्रस्तुत हिन्दी के गृहीत शब्दों की लिंग-व्यवस्था की समीक्षा करने का प्रयास करूंगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के लिंग का निर्णय करने के लिये कोई निश्चित तथा सर्व-वैज्ञानिक नियम अभी तक स्थिर नहीं हो सके हैं। हिन्दी में प्रायः रूढ़ि को ही आधार मान कर लिंग-निर्णय किया गया है। परन्तु इसके साथ ही साथ शब्द के अर्थ, उसके रूप तथा कभी-कभी तीनों ही के सहयोग से लिंग का निर्णय किया जाता है।

लिंगानुसार विशेषण, क्रियापद आदि के प्रयोग कैसे होने चाहिए—इसका विवरण व्याकरण प्रस्तुत करता है। परन्तु इन व्याकरणिक रूपों को अन्वित करने का प्रश्न तब उठता है जब संज्ञाओं के लिंगों का परिचय हो। अतः मूल प्रश्न संज्ञाओं के लिंग-निर्णय का है जिसके सम्बन्ध में व्याकरण प्रायः संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाता।

अहिन्दी-भाषी व्यक्तियों को हिन्दी बोलते समय लिंग-सम्बन्धी काफी कठिनाई खड़ी होती है और वे प्रायः अशुद्ध लिंग का प्रयोग करके अत्यन्त हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। उनकी लिंग सम्बन्धी इस प्रकार की कठिनाई को दूर करने में यद्यपि व्याकरण कोई निश्चित तथा व्यापक सहायता नहीं करता, किन्तु इसकी पूर्ति हिन्दी-कोश द्वारा

१—देखिये—कामता प्रसाद गुरु—हिन्दी व्याकरण, काशी, सं० १९७७
Kellog—Grammar of the Hindi languag9, (London, 1955).

२. J. Burton Page 'The Gender of Loan Words in Hindi' Turner Jub. Vol. Part II, Indian Linguistics, Poona.

काफी सुविधा के साथ हो जाती है। अस्तु, अहिन्दी भाषी व्यक्ति को हिन्दी-लिंग की जानकारी प्राप्त करने के लिये एक मात्र सरल और सुबोध साधन कोश का आश्रय अवश्य लेना चाहिए ।

नीचे हम रूप, प्रत्यय आदि के द्वारा संज्ञा का लिंग-निर्देश करने का प्रयास करेंगे—

भाववाचक संज्ञायें—विशेषण या जातिवाचक संज्ञाओं में '-पन' या '-पा' (बच-पन, बुढ़ा-पा) लगाने से पुं० तथा '-ई', '-आई' (खुश-ई, मंहग-आई) लगाने से स्त्री० भाववाची संज्ञाएं बनती हैं। इसी भांति '-त्व' लगने पर पुं० (पुरुषत्व) तथा '-ता' लगने पर स्त्री (पुरुषता) का द्योतन होता है। हिन्दी धातु में '-ना' जुड़ने से क्रियार्थक संज्ञा बनती है तथा वह पुं० में रहती है।

कृदन्त भाववाचक संज्ञाएं—धातु में '-आव', '-आन' (छिप-आव, नह-आन) जुड़ने से पुं० कृदन्त भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं। '-हट', '-वट', '-न', '-आई' प्रत्यय लगने से स्त्री० कृदन्त भाववाची संज्ञाएं बनती हैं, यथा—चिल्लाहट, सजावट, जलन, पिटाई आदि। इसी भांति अनेक अकारान्त धातुरूप ही स्त्री० तथा पुं० दोनों ही कृदन्त भाववाचक संज्ञारूप में व्यवहृत होते हैं। इस प्रकार पुं० तथा स्त्री० वाची प्रत्ययों के भिन्न होते हुए भी धातुरूप में प्रयुक्त होने वाली संज्ञाओं के लिंग-निर्णय में काफी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि उनमें रूढ़ि के अनुसार कुछ पुं० तथा कुछ स्त्री० वाची होती हैं, यथा, 'दौड़' स्त्री०, किन्तु 'खेल, मोड़' पुं०।[1]

हिन्दी सर्वनाम और लिंग—हिन्दी में कुल मिला कर १३ सर्वनाम हैं। परन्तु उनमें से किसी का भी लिंग उनके रूप द्वारा नहीं जाना जा सकता। उनके लिंग का निर्णय अर्थ तथा प्रसंग द्वारा अथवा उनकी क्रिया द्वारा ही जाना जा सकता है। परन्तु प्रश्नवाचक 'कौन' (यदि वक्ता को उसका लिंग ज्ञात नहीं है) प्रायः पुं० में ही प्रयोग किया जाता है। यथा—घर में चाहे कोई स्त्री ही आई हो किन्तु प्रश्न यही किया जाता है, कि "देखो तो घर में कौन आया है?" अंग्रेजी में Who पुं० न होकर उभयलिंगी है। यही बात अनिश्चयवाची 'कोई' तथा 'कुछ' के सम्बन्ध में भी है। शेष पुरुषवाची सर्वनामों का लिंग अर्थ तथा प्रसंगानुसार ही निश्चित होता है तथा उसकी अभिव्यक्ति क्रिया में पुं० स्त्री० वाची प्रत्यय जोड़ कर की जाती है।

अंग्रेजी में 'सन्तान, औलाद, सवारी' आदि के समानार्थी शब्द उभयलिंगी हैं किन्तु हिन्दी में वे स्त्री० ही हैं। हिन्दी में प्रयोग करने पर यही कहा जाता है कि "यह किसकी सन्तान (या औलाद) है?"

स्थूलत्व-लघुत्वादि गुणानुसार लिंग-भेद—हिन्दी में प्रायः बृहत् आकार वाली वस्तु वाची शब्द 'आ' प्रत्ययांत होकर पुं० तथा उसी वस्तु का छुद्र रूप वाची शब्द (जड़तावाचक वस्तुओं के सम्बन्ध में) 'ई' प्रत्ययांत होकर स्त्री० का द्योतन करता है। कभी-कभी 'ई' के स्थान पर 'इया' भी लग जाता है, यथा—रस्सा-रस्सी, टोपा-टोपी, घंटा-घंटी, किन्तु लोटा-लुटिया। मनुष्येतर प्राणियों को प्रयुक्त होने पर 'इया' प्रत्यय नर की मादा का भाव द्योतित करता है, यथा—चूहा-चुहिया, बन्दर-बन्दरिया ।

परन्तु इस नियम को अनपवाद रूप में ग्रहण करना सर्वथा भ्रामक है क्योंकि कई बार यही प्रत्यय (-ई आदि) लघुत्वार्थ का द्योतन न करके स्त्री-पुरुष सम्बन्ध (यथा चाचा-चाची) अथवा कोई अन्य अर्थ जो एक दूसरे से पर्याप्त विरोध करते हैं, व्यक्त करके अध्येता को लैंगिक नियमों की विषमता में डाल देते हैं। यथा—ताला-ताली, घड़ा-घड़ी शीशा-शीशी, आदि।[2]

वस्तुतः केवल वर्णनात्मक स्तर पर प्रत्ययों के रूपों के आधार पर शब्दों का लिंग-निर्णय करना अत्यन्त भ्रामक है, क्योंकि एक ही रूप का प्रत्यय (Homonymous affix) भिन्न-भिन्न अर्थ तथा लिंगों की अभिव्यक्ति करता है। अतः उनके स्पष्टीकरण के लिये हमें शब्द तथा उसके प्रत्यय के ऐतिहासिक विवरण की ओर जाना आवश्यक हो जाता है।

संज्ञारूप : प्रत्यय और लिंग—हिन्दी में कुछ प्रत्ययों के सहारे स्त्री० रूप बनाये जाते हैं। इनमें से '-इया', '-आइन', '-ई', '-नी', '-न', '-आनी', '-आ', '-इन' प्रमुख हैं। विशेष जानकारी के लिए कामता प्रसाद गुरु के व्याकरण को देखा जा सकता है। डा० सुमन ने भी स्त्री० वाची तथा पुं० वाची प्रत्ययों की एक सूची अपने उपरिर्चचित लेख में दी है।

१—सुमन के अनुसार प्रायः एकाक्षरी धातुमूलक भाववाचक संज्ञाएं स्त्री० होती हैं, यथा—काट्, जीत्, टूट्, फूट्, मार् रोक्, हार्, आदि। (हिन्दी भाषा में लिंग-विधान—अम्बा प्रसाद सुमन, गवेषणा, जनवरी १९६३, आगरा)

२—देखिये—बाबूराम सक्सेना—हिन्दी में लिंग भेद द्वारा अर्थ भेद (हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, प्रयाग)

संज्ञान्त स्वर और लिंग—हिन्दी की स्वरांत संज्ञाएं प्रायः '-आ', '-ई', '-अ' में अन्त होती हैं। ईकारांत संज्ञाए अधिकांश तथा प्रायः स्त्री० होते हुए भी काफी संख्या में पुं० भी हैं और श्री हर प्रसाद बागची का यह कहना कि हिन्दी में सभी ईकारांत शब्द स्त्री० हैं—केवल ५ शब्द छोड़ कर—दही, घी, मोती, पानी, हाथी—अशुद्ध है, क्योंकि बहनोई, ननदोई, भाई, पक्षी, माली, धोबी, नाई, आदि बहुत-से ईकारांत पुं० शब्द हिन्दी में मौजूद हैं। ऊकारांत बाबू, उल्लू, कोल्हू, आदि यदि पुं० हैं तो जोरू, बहू आदि स्त्री० हैं। इसमें रूप का आधार न होकर अर्थ ही लिंग निर्णय का आधार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी संज्ञाओं के रूप की दृष्टि से भी लिंग-निर्णय करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती, क्योंकि एक ही स्वर में अन्त होने वाली संज्ञाएं पुं० व स्त्री० दोनों ही रूपों में प्रयुक्त होती हैं, यथा—

आकारान्त संज्ञाएं—पुं०—दावा, मजा, दरवाजा आदि
स्त्री०—पूजा, कला, हवा आदि

ईकारान्त संज्ञाएं—उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं।

इकारांत संज्ञाएं—पुं०—रवि
स्त्री०—सखि, छवि, समाधि आदि।

ऐसे शब्द प्रायः संस्कृत से तत्समरूप में गृहीत हैं।

उकारांत संज्ञाएं—संस्कृत से तत्समरूप में गृहीत शब्द जिनका प्रयोग प्रायः पुं० व स्त्री० दोनों में ही किया जाता है, यथा—
पुं०—साधु
स्त्री०—धातु, ऋतु, वायु

ऊकारांत संज्ञाएं—उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं।

इसके अतिरिक्त हिन्दी की अधिकांश व्यंजनांत संज्ञाएं भी पुं० व स्त्री० दोनों ही रूपों में मिलती हैं, यथा—
पुं०—घर, मकान, सिर, ऊंट, कागज आदि।
स्त्री०—मेज, कलम, सड़क, पीठ, भैंस आदि।

इसी भांति अर्धस्वरांत 'सत्य' पुं० है किन्तु 'लय, गाय' स्त्री० हैं; 'गांव, भाव' पुं० हैं किन्तु 'राव' स्त्री० है। औकारांत 'जौ' पुं० तथा अनुस्वारांत 'सरसों' स्त्री० है, किन्तु 'कोदो' पुं० है। शेष स्वरांत संज्ञाएं हिन्दी में प्रायः नहीं हैं।

हिन्दी लिंग की विभक्ति-प्रक्रिया—हिन्दी-लिंग के इस संक्षिप्त निर्णयात्मक विवेचन के पश्चात् अब हम लिंग, वचन तथा पुरुष की दृष्टि से हिन्दी पदों (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रिया) की विभक्ति प्रक्रिया पर विचार करेंगे। अर्थात् संज्ञा के लिंगानुसार संज्ञा तथा वाक्य में प्रयुक्त अन्य पदों के क्या रूप बनते हैं तथा उनमें अन्विति की क्या पद्धति रहती है तथा व्याकरण उसका किस प्रकार रूपात्मक निर्देश करता है।

हिन्दी में जिस प्रकार लिंग दो हैं उसी भांति वचन दो (एकवचन तथा बहुवचन) तथा पुरुष तीन (उत्तम, मध्यम तथा अन्य) हैं।

संज्ञापद—पद-रचना की दृष्टि से विभक्तियों का योग वचन और कारक के व्याकरणिक अर्थ व्यक्त करने को होता है। परन्तु यहां हमें कारक का विचार न करके केवल लिंगानुसार वचन का ही विचार करना है। संज्ञापद का केवल एक ही पुरुष (अन्य पुरुष) होने के कारण पुरुष का विचार भी संज्ञा में न रह कर केवल सर्वनाम तक ही सीमित रहता है। इस प्रकार हिन्दी अकारान्त संज्ञापदों के लिंग तथा वचनानुसार प्रायः चार रूप बनते हैं जो इस प्रकार हैं—

	पुं०	स्त्री०
ए० व०	लड़क-आ	लड़क-ई
ब० व०	लड़क-ए	लड़क-इयाँ

परन्तु इस प्रकार के चार रूप सभी संज्ञापदों में युग्मानुसार मिलें यह आवश्यक नहीं है। ये केवल प्रायः आकारान्त संज्ञाओं के लैंगिक युग्मों में ही मिलते हैं परन्तु उनमें भी इनके अपवाद मिल जाते हैं, यथा—

ए० व०	चाच-आ	चाच-ई
ब० व०	चाच-आ ('ए' नहीं)	चाच-इयां

आकारांत संज्ञापद के इस वर्ग में हमें चार रूप न मिल कर केवल तीन ही रूप मिल रहे हैं।

अन्य संज्ञापदों में पुरुषवाची संज्ञा से प्रत्यय द्वारा स्त्रीवाची संज्ञा बना कर जो रूपात्मक लैंगिक युग्म व्युत्पन्न किये जाते हैं उनके वचनानुसार रूप इस प्रकार बनते हैं—

	वचन	पु०	स्त्रीलिंग
१. व्यंजनांत—क—ए० व०		शेर-∅	शेर-नी
	ब० व०	शेर-∅	शेर-नि-यां
ख—ए० व०		पुत्र-∅	पुत्र-ई
	ब० व०	पुत्र-∅	पुत्र-इ-यां
ग—ए० व०		ठाकुर-∅	ठकुर-आनी
	ब० व०	ठाकुर-∅	ठकुर-आनि-यां
घ—ए० व०		सांप-∅	सांप-इन
	ब० व०	सांप-∅	सांप-इन-एं
२. ईकारान्त	ए० व०	माली-∅	मालि-न
	ब० व०	माली-∅	मालि-न-एं
३. ऊकारान्त	ए० व०	बाबू-∅	बबु-आइन
	ब० व०	बाबू-∅	बबु-आइन-एं

परन्तु कुछ संज्ञापदों में रूपात्मक दृष्टि से लैंगिक युग्म नहीं मिलते। उनमें से कुछ संज्ञापद तो अपने दोनों लिंगों में एक दूसरे से सर्वथा विपरीत रूप रखते हैं, यथा—

पुरुष : स्त्री
पिता : माता
भाई : भाभी
पति : पत्नी इत्यादि

और कुछ संज्ञापद अपने लैंगिक युग्म ही नहीं रखते, यथा—बहू[1]।

अन्त्य स्वरों की दृष्टि से अर्थ के आधार पर लैंगिक-युग्म का भाव रखने वाले संज्ञापदों के रूप दोनों वचनों में इस प्रकार बनते हैं—

	वचन	पु०	स्त्री०
१. व्यंजनांत—क—ए० व०		मर्द-∅	औरत-∅
	ब० व०	मर्द-∅	औरत-एं
ख—ए० व०		पुरुष-∅	स्त्री-∅
	ब० व०	पुरुष-∅	स्त्रि-यां
२. आकारान्त—	ए० व०	राजा-∅	रानी-∅
ईकारान्त—	ब० व०	राजा-∅	रानि-यां
३. ऊकारान्त—	ए० व०	—	बहू-∅
	ब० व०	—	बहु-एं

इस प्रकार हम देखते हैं कि ए० व० पुंलिंग संज्ञापद अपने मूल रूप में (प्रत्यक्षकारक में) अविकृत रहता है तथा ब० व० में यदि वह आकारान्त है तो एकारान्त हो जाता है परन्तु यह नियम सर्वथा लागू नहीं होता, यथा—'राजा', 'चाचा' आदि का ब० व० 'राजे', 'चाचे' न होकर अविकृत ही रहता है। शेष स्वरान्त पुं० संज्ञापद प्रत्यक्षकारक (Direct Case) में प्रायः अपने ए० व० व ब० व० में अविकृत ही रहते हैं।

जो स्त्रीवाची संज्ञापद स्त्रीवाची प्रत्ययों की सहायता से बनाये जाते हैं, उनके ब० व० में ईकारान्त संज्ञापदों का अन्त्य स्वर ह्रस्व होकर अन्त में -यां जुड़ जाता है। '-न-इन' प्रत्यय द्वारा बनाये जाने वाले स्त्री० संज्ञापदों के ब० व० में अन्त में '-एं' जुड़ जाता है। यह स्मरणीय है कि '-न' प्रत्यय केवल ईकारान्त पुं० संज्ञापदों में ही जुड़ता है और प्रत्यय योग से पूर्व अन्त्य स्वर ह्रस्व हो जाता है। वैसे अधिकांश व्यंजनांत स्त्री० संज्ञापदों के ब० व० में '-एं' विभक्ति का ही योग होता है।[2] प्रायः दीर्घ स्वरान्त स्त्री० संज्ञापदों में ब० व० विभक्ति (-एं) का योग होने से पूर्व दीर्घस्वर (-ई, -ऊ) ह्रस्व हो जाते हैं। औकारान्त तथा आकारान्त स्त्री० ए० व० का ब० व० बनाने में अन्त में '-एं' विभक्ति का योग हो जाता है, यथा—गौ : गौएं, माता : माताएं।

१—'दूल्हा' 'दुल्हिन' का और 'वर' 'वधू' का युग्म बनता है, परन्तु 'बहू' अयुग्मक है।
२—किन्तु देखिये अपवादस्वरूप—बहू-बहुएं।

जिन संज्ञापदों के स्त्री० व पुं० क्रमशः 'नर' व 'मादा' शब्द उनके पूर्व जोड़ कर बनाये जाते हैं, उनमें व्यंजनांत संज्ञापद प्रायः अपने ए० व० व ब० व० दोनों रूपों में अविकृत रहते हैं, यथा—

ए० व०	नर मच्छर : मादा मच्छर
ब० व०	नर मच्छर : मादा मच्छर

ईकारान्त के ब० व० में स्वर ह्रस्व होकर '-यों' का योग हो जाता है तथा आकारान्त के ब० व० में अन्त में '-ऐं' विभक्ति का योग हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईकारान्त स्त्रीवाची संज्ञापदों में ब० व० विभक्ति '-याँ' जुड़ती है तथा शेष स्त्रीवाची संज्ञापदों में प्रायः '-ऐं- विभक्ति का ही योग होता है। इसी भांति पुरुषवाची संज्ञापदों में (आकारान्त संज्ञापदों के एक उपवर्ग 'लड़का' को छोड़ कर) ब० व० के लिये प्रायः शून्य -∅ विभक्ति का ही योग होता है।

अब तक हमने प्राणिवाचक संज्ञापदों के लिंग तथा वचन के रूपों का ही विचार किया था। किन्तु हिन्दी में अचेतन पदार्थ भी क्रमशः स्त्री० व पुं० में अन्तर्मुक्त हो गये हैं। ऐसे संज्ञापदों के लिंग तथा वचन की दृष्टि से कौन-कौन से रूपात्मक भेद हैं—इस पर भी यहां विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा।

पुंलिग— १. व्यंजनान्त :

		एक वचन	बहु वचन
	क—	मकान-∅	मकान-∅
	ख—	टोप-∅	टोप-ए
२. आकारान्त :		कब्जा-∅	कब्ज-ए

नोट :—ब० व० -ए विभक्ति 'कब्जा' के -आ का परिवर्तित रूप नहीं है। 'कब्जा' के सम्परिवर्तक प्रातिपदिक 'कब्ज' में -ए विभक्ति का योग हो जाता है।

३. इकारान्त :		रवि-∅	रवि-∅

नोट : कोई विकार नहीं।

४. ईकारान्त :	क—	मोती-∅	मोती-∅
	ख—	घी-∅	—

नोट : कोई विकार नहीं।

५. ऊकारान्त :	आलू-∅	आलू-∅

नोट :—अविकृत

स्त्रीलिंग—

१. व्यंजनान्त :	पुस्तक-∅	पुस्तक-ऐं
	छाया-∅	छाया-ऐं
२. आकारान्त	माला-∅	माला-ऐं

नोट :—आ के पश्चात् -ऐं का योग

३. इकारान्त :	जाति-∅	जाति-यां
	छबि-∅	छबि-यां

नोट :—प्रातिपदिकान्त -इ के पश्चात् -यां का योग

४. ईकारान्त :	पत्ती-∅	पत्ति-यां
	डाली-∅	डालि-यां

नोट :—प्रातिपादिकान्त स्वर ह्रस्व होकर -यां का योग

५. ऊकारान्त :	बालू-∅	—

नोट :—हिन्दी में इसका ब० व० नहीं चलता।[1]

विशेषण और लिंग—स्थूल रूप से हिन्दी विशेषण प्रातिपदिकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

१. अविभक्तिक—जिनमें अपने विशेष्य के लिंग, वचन तथा कारक के अनुसार कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, यथा—सुन्दर लड़का : सुन्दर लड़के : सुन्दर लड़की।

१—स्मरणीय है कि उपर्युक्त सभी संज्ञा ब० व० रूप संज्ञा के प्रत्यक्षकारकीय रूप हैं, विकारीकारकीय नहीं।

२. **सविभक्तिक**—जिनमें अपने विशेष्य के लिंग, वचन तथा कारक के अनुसार विकार (या विभक्ति योग) होता है—काल-आ लड़का : काल-ए लड़के : काल-ई लड़की।

वर्ग संख्या १ के विशेषण रूप की दृष्टि से आकारान्त (बढ़िया, उम्दा), व्यंजनान्त, ईकारान्त (भीतरी, बाहरी, देशी) तथा ऊकारान्त (ढालू) भी हो सकते हैं।

वर्ग संख्या २ के विशेषण २ उपवर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—

१. जो किसी संज्ञा पद की विशेषता प्रकट करते हैं।

२. जो स्वयं संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होने वाले प्रातिपादिकों में संज्ञापदों की भांति ही विभक्तियों का योग होता है, यथा—

ए० व० पुं०— बड़ा कभी छोटा नहीं हो सकता।

ब० व० पुं०— बड़े कभी छोटे नहीं हो सकते।

एक० व० स्त्री०—बड़ी कभी छोटी नहीं हो सकती।

ब० व० स्त्री०—बड़ी कभी छोटी नहीं हो सकतीं।

उपवर्ग संख्या १ के विशेषण प्रातिपादिकों को लिंग की दृष्टि से पुं० तथा स्त्री०—दो वर्गों में रखा जा सकता है। लिंग तथा वचन की दृष्टि से अनेक रूप इस प्रकार बनते हैं :

		ए० व०	ब० व०
आकारान्त :	पुं०—	काला-∅	काल-ए
	स्त्री०—	काल-ई	काल-ई

आकारान्त विशेषण प्रातिपदिक अपने ए० व० में अविकृत रहता है तथा ब० व० में -आ के स्थान पर -ए का योग हो जाता है। इसी भांति स्त्री० बनाते समय -आ के स्थान पर दोनों वचनों में -ई का योग हो जाता है। किन्तु -या में अन्त होने वाले पुं० विशेषण प्रातिपदिकों का जब स्त्री० बनाया जाता है तो -या के स्थान पर -ई हो जाता है, यथा—

पराया (पुं०)—पराई (स्त्री०)

आकारान्त संख्यावाचक विशेषणों में भी गुणवाचक आकारान्त विशेषणों की भांति ही अपने विशेष्य के लिंग व वचनानुसार विकार होता है, परन्तु 'सवा' में विकार नहीं होता, पर इससे बनाया हुआ 'सवाया' शब्द विकारी है, यथा— सवाया किराया, सवाये दाम, सवाई कीमत।

सम्बन्धवाचक विशेषण प्रातिपदिकों में पुं० तथा स्त्री० विशेषण रूपों की भांति ही विभक्तियों का योग होता है, यथा—

	ए० व०	ब० व०
पुं०	मे-र-आ	मे-र-ए
स्त्री०	मे-र-ई	मे-र-ई

सर्वनाम और लिंग—सम्बन्धवाचक सार्वनामिक विशेषण—हिन्दी सर्वनामों में लिंग-भेदकता नहीं है। लिंग का ज्ञान संज्ञा, क्रिया अथवा विशेषण के द्वारा होता है। परन्तु सम्बन्धवाचक सार्वनामिक विशेषणों (पुरुषवाचक) की अन्विति अपने विशेष्य के लिंग तथा वचनानुसार होती है तथा उनमें जिन विभक्तियों का योग होता है उनके द्वारा उनके लिंग तथा वचन को पहिचाना जा सकता है। संज्ञा पद (विशेष्य) के लिंग तथा वचनानुसार सम्बन्ध वाचक सार्वनामिक विशेषण प्रातिपदिकों के रूप इस प्रकार बनते हैं—

			ए० व०	ब० व०
उत्तम पुरुष :	ए० व०	पुं०	मे-र-आ	मे-र-ए
		स्त्री०	मे-र-ई	मे-र-ई
	ब० व०	पुं०	हमा-र-आ	हमा-र-ए
		स्त्री०	हमा-र-ई	हमा-र-ई

मध्यम पुरुष के ए० व० व ब० व०, प्रातिपदिक ते-, तुम्हा- में क्रमशः पुं० ए० व० में -र-आ, पुं० ब० व० में -र-ए तथा स्त्री० ए० व० व ब व० में -र-ई का योग होता है।

अन्य पुरुष में आने वाले सम्बन्धवाचक सार्वनामिक विशेषणों का रूप अ० पु० सर्वनामों के विकारी रूपों में सम्बन्धवाचक (क) प्रत्यय का योग होकर वचन तथा लिंगवाची -ए, -ई विभक्तियों का योग हो जाता है, यथा—

			प्रत्यक्ष		विकारी
अन्य पुरुष	ए० व०	पुं०	इस-क-आ		इस-क-ए
		स्त्री०	इस-क-ई	:	इस-क-ई
	ब० व०	पुं०	इन-क-आ	:	इन-क-ए
	स्त्री०	•	इन-क-ई		इन-क-ई

ऊपर निकटवर्ती निश्चयार्थक सार्वनामिक विशेषणों का उदाहरण दिया गया है। इन्हीं के सादृश्य पर दूरवर्ती निश्चयार्थक उस- और उन- का रूपान्तर भी इनके विशेष्य के लिंग तथा वचन के अनुसार किया जा सकता है। इसी भांति सम्बन्धवाचक सर्वनाम के विकारी रूप जिस- (ए०व०) तथा जिन- (ब०व०), नित्य-सम्बन्धी तिस- (ए०व०) तिन- (ब०व०), प्रश्नवाचक किस- (ए०व०), किन- (ब० व०), मध्यम तथा अन्य पुरुषवाचक आदरार्थक आप- तथा परस्परता बोधक आपस-, इन सबके साथ -क- प्रत्यय का योग होकर इनके विशेष्य के लिंग तथा वचनानुसार क्रमशः स्त्री० के दोनों वचनों में -ई विभक्ति का योग तथा पुं० के ए०व० में -आ और ब०व० में -ए का योग करके उनके रूपों का निर्माण किया जाता है। सर्वपुरुष तथा निजवाची 'आप' के विकारी रूप अप- के साथ -क- प्रत्यय का एक अन्य संपरिवर्तक (Allomorph) -न- का योग कर अन्त में पुं०ए०व० में -आ, पुं०ब० व० में -ए तथा स्त्री० दोनों वचनों में -ई विभक्तियों का क्रमशः योग हो जाता है।

इस प्रकार सर्वनामों के तिर्यक् रूपों के साथ सम्बन्धवाची (क) पदिम (morpheme) के तीन संपरिवर्तक (क~र~न)। क्रमशः अन्य पुरुष, उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष और सर्व पुरुषवाची अप- के साथ संयुक्त होकर पूरक वितरण प्रस्तुत करते हैं। उनके पश्चात् वचन व लिंगवाची -आ, -ए, -ई विभक्तियों का अपने विशेष्य के वचन तथा लिंगानुसार योग होकर सम्बन्धवाची सार्वनामिक विशेषण रूपों का निर्माण होता है।

इस प्रकार हिन्दी में उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुष सर्वनामों के रूप लिंगातीत हैं। केवल उनके सम्बन्धवाची विशेषण रूपों में ही अन्य आकारान्त विशेषणों की भांति संज्ञापद के लिंग तथा वचनानुसार विभक्तियों का योग होता है। इसी भांति 'कौन', 'जो', 'कोई', के साथ जब (स-) प्रत्यय आता है तब उनमें आकारान्त विशेषणों के समान विकार होता है, यथा—

कौन-सआ, कौन-स-ए, कौन-स-ई।

क्रियारूप और लिंग—कई बार जब संज्ञा अथवा सर्वनाम के लिंग को उनके अर्थ तथा रूपों से पहचानने में कोई सहायता नहीं मिलती तथा यदि उनकी विशेषता ज्ञापित करने वाला विशेषण भी अविभक्तिक होने के कारण उनके लिंग की पहिचान नहीं करा पाता, तब उनके लिंग तथा वचन की पहिचान में क्रियारूप एकमात्र सहायक सिद्ध होते हैं। परन्तु क्रियारूप भी कर्तरि प्रयोग में ही अपने कर्ता के लिंग तथा वचन का ज्ञान कराते हैं, कर्मणि प्रयोग में वे अपने कर्म के लिंग व वचन का ही बोध कराते हैं। इस स्थिति में कर्ता का लिंग व वचन प्रच्छन्न ही रह जाता है, तथा उसे केवल प्रसंग से ही जाना जा सकता है, यथा—

लड़का पुस्तक पढ़ता है—कर्तरि प्रयोग
लड़के ने पुस्तक पढ़ी है—कर्मणि प्रयोग

प्रथम वाक्य में क्रिया का कर्तरि प्रयोग है अतः कर्त्ता का लिंग तथा वचन ज्ञातव्य है किन्तु द्वितीय वाक्य में क्रिया का कर्मणि प्रयोग होने के कारण कर्त्ता का लिंग व वचन ज्ञात नहीं होता, क्रिया 'पढ़ी' केवल कर्म (यहां 'पुस्तक') का ही लिंग व वचन ज्ञात कराती है।

परन्तु डा० बाबूराम सक्सेना ने दक्खिनी हिन्दी के पुराने साहित्य से कई ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनमें कर्मणि प्रयोग में भूतकाल में भी क्रिया कर्त्ता के लिंग तथा वचन का अनुसरण करती है, यथा—'मैं तो यो बात ने किया हूं।' (दक्खिनी हिन्दी, पृ० ५६)

इसी भांति जिस क्रिया के पुरुष, लिंग व वचन अपने कर्त्ता या कर्म के अनुसार नहीं होते, वह भावे प्रयोग में आती है तथा सदैव अन्य पुरुष, पुं०ए०व० में रहती है, यथा—

मोहन ने द्रोपदी को बुलाया—भावे प्रयोग

जिस प्रकार सभी प्रकार के आकारान्त विशेषणों में उनके विशेष्य के लिंग तथा वचनानुसार विकार होता है, ठीक उसी के समान क्रिया में भी अपने कर्त्ता व कर्म के लिंग, वचन तथा पुरुष के अनुसार विकार होते हैं अर्थात् क्रिया में पुं०ए०व० की विभक्ति -आ, पु० ब० व० का -ए तथा स्त्री० दोनों वचनों में -ई विभक्ति का योग होता है। परन्तु

सम्भाव्य भविष्यत् और विधि-कालों में लिंग के कारण कोई रूपान्तर नहीं होता। शेष कालों में लिंगभेद भविष्यत् सामान्य तथा अन्य कालों की कृदन्त क्रियाओं से तथा सहायक क्रियाओं से ज्ञात होता है।

सहायक तथा सत्तार्थक क्रिया एक संपरिवर्तक (ह-) सामान्य वर्तमान में अपने लिंग का द्योतन नहीं करता किन्तु सामान्यभूत में उसी का दूसरा संपरिवर्तक (थ-) अपने कर्त्ता के लिंग तथा वचन के अनुसार इस प्रकार रूपान्तरित होता है––

		ए० व०	ब० व०
सामान्य भूत	पुं०	थ-आ	थ-ए
	स्त्री०	थ-ई	थ-ईं

सामान्य भविष्यत् काल में अपने वाच्य के लिंग, वचन तथा पुरुष के अनुसार अकर्मक तथा सकर्मक क्रिया के रूप इस प्रकार बनते हैं :

धातुरूप में निम्न विभक्तियों का योग होकर :

		ए० व०	ब० व०
पुं०	उ० पु०	ऊँ-ग-आ	एँ-ग-ए
	म० पु०	ए-ग-आ	ओ-ग-ए
	अ० पु०	ए-ग-आ	एं-ग-ए
स्त्री०	उ० पु०	ऊँ-ग-ई	एं-ग-ईं
	म० पु०	ए-ग-ई	ओ-ग-ई
	अ० पु०	ए-ग-ई	एं-ग-ईं

उपर्युक्त तालिका में प्रथम विभक्ति वचन तथा पुरुष, द्वितीय काल (भविष्यत् सामान्य) तथा तृतीय वचन तथा लिंग का द्योतन करती है। परन्तु √हो धातु में लगने वाली प्रथम विभक्ति का रूप कई स्थानों पर शून्य ∅ हो जाता है, यथा––

		ए० व०	ब० व०		ए० व०	ब० व०
पुं०	उ० पु०	-उँ-ग-आ	ँ-ग-ए	स्त्री०	-उँ-ग-ई	ँ-ग-ईं
	म० पु०	-∅-ग-आ	-∅-ग-ए		-∅-ग-ई	-∅-ग-ई
	अ० पु०	-∅-ग-आ	-∅-ग-ए		-∅-ग-ई	-ँ-ग-ईं

भविष्यत् प्रत्यक्ष विध्यर्थ के कर्तृवाच्य में लिंग का कोई विधान नहीं होता किन्तु कर्मवाच्य में होता है, यथा––

		पुं०	स्त्री०
ए० व०	उ० पु०	मैं देखा जाऊं	मैं देखी जाऊं
	म० पु०	तू देखा जा	तू देखी जा
	अ० पु०	वह देखा जाए	वह देखी जाए
ब० व०	उ० पु०	हम देखे जाएं	हम देखी जाएं
	म० पु०	तुम देखे जाओ	तुम देखी जाओ
	अ० पु०	वे देखे जाएं	वे देखी जाएं

आदरार्थक भविष्यत् प्रत्यक्ष विध्यर्थ की विभक्ति (-इए~-इएगा) में लिंग का कोई विधान सूचित नहीं होता।

रीत्यनुसार हिन्दी क्रिया के संकेतार्थ अपूर्णकाल में दो विभक्तियों का योग होता है। इनमें से प्रथम -त विभक्ति अपूर्णकाल की द्योतक है तथा दूसरी लिंग तथा वचन की। पुरुष-भेद इस काल के क्रियारूपों में नहीं होता। कर्तृ तथा कर्मवाच्य के अतिरिक्त भाववाच्य में स्त्री० तथा ब० व० घोषित करने वाली विभक्तियों का योग नहीं होता, यथा––

यदि मुझ से **चला जाता** तो क्या बात थी।

इस रूप (भाव वाच्य) में क्रिया सदैव पुं० ए० व० अ० पु० में ही रहती है।

उदाहरण––यदि तू **आता** तो अच्छा होता।

	ए० व०	ब० व०
पुं०	-त-आ	-त-ए
स्त्री०	-त-ई	-त-ईं

उदा०—यदि तू **आया होता** ......

इसमें √ आ और √ हो दोनों धातुओं में लिंग तथा वचन के अनुसार विभक्तियों का योग होता है।

भूतकालिक पूर्णकाल में धातु के पश्चात् लिंग तथा वचन की विभक्तियों का योग होता है परन्तु पुरुष-भेद इस काल के क्रिया रूपों में भी नहीं होता। भाववाच्य में स्त्री० तथा ब०व० प्रयोग नहीं होता, यथा—लड़कियों से चला गया। इस काल में लिंग तथा वचन की विभक्तियों का रूप इस प्रकार है—

	ए० व०	ब० व०
पुं०	-आ	-ए
स्त्री०	-ई	-ईं

उदा०—मैं आया।

इस काल में √ 'जा' धातु के एक संपरिवर्तक (ग-) के साथ उपर्युक्त विभक्तियों का योग होता है। √ 'हो' के संपरिवर्तक (हु-) के साथ भी इन विभक्तियों का योग होता है। √ कर के अतिरिक्त अन्य सभी व्यंजनान्त धातुओं के पश्चात् इन विभक्तियों का योग होता है। परन्तु ऊकारान्त √, तथा √ हो को छोड़ कर शेष सभी स्वरान्त धातु एवं √, आ √ कर, √ जा, √ ले तथा √ दे के संपरिवर्तकों के पश्चात् -आ विभक्ति का योग होने से पूर्व -य श्रुति का सन्निवेश हो जाता है। √ कर का -अर अंश तथा √ ले, √ दे का स्वरांश पुं०ए०व० तथा ब०व० की विभक्ति लगने से पूर्व -इ में परिवर्तित हो जाता है तथा स्त्री० दोनों वचनों की विभक्तियां लगने के पूर्व लुप्त हो जाता है।

अब तक हमने हिन्दी के मूल कालों[१] को लेकर हिन्दी क्रिया में लिंग, वचन तथा पुरुष का विचार किया। परन्तु हिन्दी क्रिया संयुक्त कालों में भी प्रयुक्त होती है। हिन्दी क्रिया के संयुक्त कालों में लिंग, वचन तथा पुरुष का विचार करने से हमारा विषय बहुत अधिक विस्तार में चला जायगा। अस्तु, इस सम्बन्ध में हम केवल निम्नलिखित टिप्पणी कर देना ही स्थानानुकूल समझते हैं—

१. **अपूर्ण काल**—वर्तमानकालिक कृदन्त क्रिया रूपों में धातु के अन्त में वर्तमान कालिक कृदन्त प्रत्यय -त लग कर अन्त में लिंग व वचन की विभक्तियों (-आ पुं०ए०व०, -ए पुं०ब०व०, -ई स्त्री०ए०व०व ब०व०) का योग हो जाता है तथा सहायक क्रिया √ हो के रूप वर्तमान अपूर्ण (मैं आता हूं), भूत अपूर्ण (मैं आता था) तथा संकेतार्थ अपूर्ण (यदि मैं आता होता) के रूपों के अनुसार चलते हैं।

२. **पूर्णकाल**—भूतकालिक कृदन्त क्रियाओं में धातु रूप में लिंग तथा वचनानुसार उन्हीं विभक्तियों का योग होता है जिनका कि भूत पूर्ण में हम कर चुके हैं, तथा सहायक क्रिया √ हो के रूपों में कोई नया परिवर्तन नहीं होता।

उदा०—मैं आया हूं (वर्तमान पूर्णकाल)

३. भविष्यत् कालिक कृदन्त क्रियाओं के साथ सहकारी क्रियाओं से निर्मित सभी कालों में कृदन्त क्रियाओं की विभक्तियां समान हैं। इन कालों में लिंग तथा वचन के अनुसार लगने वाली विभक्तियाँ इस प्रकार हैं—उदा०—पाना।

	ए० व०	ब० व०
पुं०	-न-आ	-न-ए
स्त्री०	-न-ई	-न-ई

उक्त क्रियाओं का व्यवहार केवल कर्मवाच्य (मुझे पुस्तक पानी है) तथा भाव वाच्य (मुझे आना है) में ही होता है। सहकारी क्रिया √ हो के भविष्यत् संभावनार्थ के रूपों में लिंग की अभिव्यक्ति नहीं होती; केवल वचन ही व्यक्त होता है—'मुझे पत्र पाना हो' (ए० व०), 'मुझे पत्र पाने हों' (ब० व०), परन्तु, 'मुझे पुस्तक पानी हो'। यह वचन भी केवल कर्मवाच्य में ही होता है, भाववाच्य में यह सदा पुं० ए० व० में रहता है, यथा—

	ए० व०	ब० व०
कर्मवाच्य—	मुझे पुस्तक पानी हो	मुझे पुस्तकें पानी हों
भाववाच्य—	मुझे आना हो	हमें आना हो

भविष्यत् सामान्य में (मुझे पुस्तक पढ़नी होगी) वर्तमान सामान्य (मुझे पुस्तक पढ़नी है), भूत सामान्य (मुझे पुस्तक पढ़नी थी), अपूर्ण संकेतार्थ (मुझे पुस्तक पढ़नी होती) तथा पूर्ण संकेतार्थ (मुझे पुस्तक पढ़नी हुई) में √ हो के रूप अपने मूलकालिक रूपों के अनुसार ही चलते हैं।

संयुक्त क्रियाओं में भी लिंग तथा वचन की विभक्तियां अपनी मुख्य क्रिया के अनुसार लगती हैं, यथा—वह पढ़ता रहता है : वे पढ़ते रहते हैं : वह पढ़ती रहती है।

१—देखिये—डा० मुरारीलाल उप्रैति : हिन्दी में प्रत्यय विचार, आगरा (१९६४)

क्रियारूपों से बने कृदन्त भी दो प्रकार के होते हैं––रूपान्तरशील तथा रूपान्तररहित। रूपान्तररहित कृदन्तों का प्रयोग क्रिया विशेषणों की भांति होता है तथा उनमें लिंग-वचन की कोई विभक्ति नहीं लगती, यथा–– वह दौड़ कर आया; वे दौड़ कर आए; वह दौड़ कर आई।

रूपान्तररहित कृदन्त प्रायः क्रिया के धातु रूप में प्रयुक्त होते हैं। N हो सत्तार्थक धातु से कृदन्त पद नहीं बनते। शेष सभी धातुओं से बनते हैं।

रूपान्तरशील कृदन्त पद दो प्रकार के होते हैं––१. संज्ञार्थक कृदन्त पद, यथा––दिन में सोना स्वास्थ्य को हानिकर है। २. विशेषणार्थक कृदन्त पद, यथा––भागता लड़का। किन्तु संज्ञार्थक कृदन्त पदों में लिंग तथा वचन की किसी विभक्ति का योग नहीं होता, केवल कारकीय (तिर्यक् कारक) विभक्ति -ए का योग होता है, यथा––माता जी दिन में सोने को मना करती हैं। विशेषणार्थक कृदन्त पदों में लिंग-वचन की विभक्तियों का योग विशेषण के समान (आकारान्त विशेषण) अपने विशेष्य के लिंग तथा वचनानुसार होता है। प्रयोग की दृष्टि से कभी-कभी विशेषणार्थक कृदन्त संज्ञा का कार्य भी करते हैं, यथा––बीते पर क्या रोना। बीता सो बीता।

क्रिया-विशेषण (जो क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं, यथा––वह अच्छा लिखता है।) भी रूप की दृष्टि से विशेषणों के समान ही होते हैं तथा उनमें लिंग-वचन विभक्तियों का योग विशेषण के समान ही होता है। इन दोनों में केवल वाक्यगत कार्य (स्थान) की दृष्टि से ही अन्तर है––विशेषतः रूपान्तरशील क्रिया विशेषण और सविभक्तिक विशेषण के मध्य। रूपान्तररहित क्रिया-विशेषणों में अविभक्तिक विशेषणों की भांति लिंग तथा वचन की दृष्टि से कोई विकार नहीं होता, यथा––वह धीरे-धीरे चलता है।

हिन्दी में क्रियारूपों के सम्बन्ध में एक विशेष कठिनाई है। यह कठिनाई प्रायः अर्थगत है तथा वाक्यात्मक स्तर पर ही इसका विशेष महत्त्व है। हिन्दी में कुछ प्रयोग ऐसे हैं जिनमें वाक्य की क्रिया पुं० में रहती है किन्तु उसका कर्तृपद दोनों लिंगों को समाहित करके चलता है, यथा––'मनुष्य चाहता है कि विश्व पर उसका एकात्म शासन हो।' यहां क्रिया पुं० की है। कर्त्तृपद की दृष्टि से यद्यपि 'मनुष्य' रूढ़ि तथा व्यवहार में पुं० ही है, अतः उसके साथ पुं० क्रिया का आना स्वाभाविक है। किन्तु यदि वाक्य के अर्थ की दृष्टि से देखा जाय तो 'मनुष्य' उभय लिंगी है और उसमें पुरुष-स्त्री दोनों समाहित हैं। इस प्रसंग का संकेत हम ' सन्तान, औलाद, सवारी' आदि शब्दों के लिंगों को लेकर पूर्व ही कर चुके हैं, जिनमें ये शब्द अर्थ की दृष्टि से उभयलिंगी होते हुए भी व्याकरणिक स्तर पर व्यवहारतः स्त्री०म ने जाते हैं और उसी के अनुसार उनकी क्रिया भी स्त्री० में अन्वित होती है। क्रिया के प्रकरण में यह बात कहने का केवल इतना ही मन्तव्य है कि प्रथम तो हिन्दी संज्ञा में उभयलिंग है ही नहीं, फिर क्रिया में भी ऐसा कोई रूप उपलब्ध नहीं है जिसके द्वारा उसके कर्त्तृपद के उभयलिंगी (अर्थात्मक दृष्टि से) होने का बोध हो सके, जैसाकि प्रायः संज्ञा का लिंग (स्त्री० या पुं०)––यदि उसके रूप-अर्थादि से ज्ञात न हो सके––तो क्रिया रूप कई बार उसके लिंग का ज्ञान कराने में सहायक होता है। उभयलिंग के इस व्याकरणिक अभाव के कारण वाक्य के अर्थ में कभी-कभी बड़ी भूल पैदा हो जाती है। विशेषतः कानूनी भाषा में तो इसका बहुत ही महत्त्व है तथा वहां पर उभयलिंगी शब्दों के अर्थों को अलग से स्पष्ट करके रखना पड़ता है। यह बात केवल हिन्दी में ही नहीं अपितु अंग्रेजी में भी है, यद्यपि वहां पर उभयलिंग वर्तमान है। किन्तु उसकी पहिचान संज्ञापद के अर्थ से होती है, न कि क्रियारूप अथवा किसी अन्य व्याकरणिक रूप से। किन्तु हिन्दी और अंग्रेजी में इस लिंग की दृष्टि से यह अन्तर है कि अंग्रेजी में यदि कोई शब्द उभयलिंगी है तो वह अपने अर्थानुसार पूर्व निर्धारित है किन्तु हिन्दी में कोई शब्द अर्थानुसार भले ही उभयलिंगी हो किन्तु व्याकरणिक दृष्टि से पुं० या स्त्री० किसी एक में अन्तर्भुक्त होना आवश्यक है और तदनुसार ही उसका क्रियारूप भी चलेगा। इस प्रकार किसी इतर भाषा-भाषी का यदि हिन्दी की इस प्रकार की समस्या से सामना होगा तो वह क्रियारूप के अनुसार ही उसके कर्त्तृपद के लिंग का निर्णय करेगा और इस प्रकार उस वाक्य का अनर्थ होने के कारण उसका व्यावहारिक परिणाम कुछ भी हो सकता है।
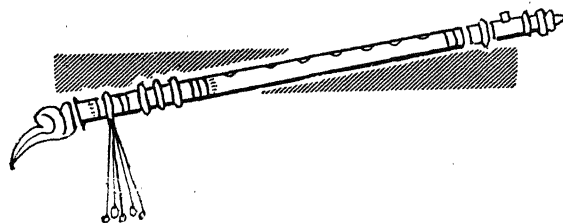
हिन्दी में सङ्गम विचार

डॉ० श्याम प्रकाश
क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय।

प्रस्तुत लेख में संगम शब्द का प्रयोग आंग्ल भाषा के Juncture शब्द के पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है। हिन्दी भाषा में संगम की क्या प्रक्रिया रही है, उस के कौन-कौन से विविध रूप रहे हैं तथा संगम-जन्य परिणामों पर विचार करने से पूर्व संगम के स्वरूप को स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

१. संगम क्या है ?

(१) पढ़ो, मत लिखो।

(२) पढ़ो मत, लिखो।

यहां वार्तालाप के बीच उपर्युक्त दोनों वाक्य समान रूप से पृथक्-पृथक् हैं और किसी प्रकार की संदिग्धावस्था को उत्पन्न नहीं करते। लेखन में, हम किसी वाक्यांश या शब्द की सीमा (Boundary) को विराम-चिह्नों के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। इन्हीं सीमा प्रदर्शकों (Boundary Signals) को हिल महोदय ने संगम के नाम से अभिहित किया है।[१] चार्ल्स ए० फर्गूसन और एम० चौधरी ने ध्वनि-क्रमों के मध्य उपस्थित व्यवधान (Breaks in the Sound Sequence) को संगम कहा है।[२] भाषाशास्त्र के कोश में किसी भाषा की ध्वनियों की पारस्परिक सन्धि-विधि को संगम कहा गया है।[३] अतएव स्थूल रूप में, स्वर अथवा व्यंजन ध्वनियों के पारस्परिक सम्मिलन को संगम कहते हैं।

२. संगम और संक्रमण—संगम और संक्रमण (Transition) इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग, उक्त तत्त्व की विवेचना करते समय किया गया है। वस्तुतः संगम तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये ही संक्रमण का प्रयोग किया गया था। संक्रमण वह साधन है जिस के द्वारा वक्ता अपने अभिप्रेत वक्तव्य (Utterance) को अभिव्यक्त करता है और श्रोता उसे तदनुरूप ग्रहण करता है।[४]

३. संगम का इतिहास और उसके विभिन्न नाम—Juncture, इस पारिभाषिक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग १९३९ ई० में जार्ज एल० ट्रैगर ने किया। उन्होंने इस शब्द का चयन इसके सन्धि-स्थल की घटनाओं (Phenomena) पर प्रकाश डालने के कारण किया। १९४३ ई० में श्री B. L. Wharf ने इस के लिये 'Finalizer' शब्द का प्रयोग किया, जो Hyphen Juncture के समकक्ष था। १९४६ ई० में R. A. Hall, Jr., ने विना किसी व्यवधान के एक के बाद दूसरे आने वाले स्वनिमों (Phonemes) के योग को 'Close Juncture' के अन्तर्गत रखा है और इसका विरोध दिखलाने वाले सव्यवधान स्वनिमों के क्रम को 'Disjuncture' नाम

---

१. Introduction to Linguistic Structures—Archibald A. Hill, Page 21.

२. The Phonemes of Bengali—Charles A. Ferguson and Munier Chawdhury, Page 23 (Language, Vol. 36, No. 1, Part I, January-March, 1960)

३. 'The way in which the sounds of a language are joined together'—'A Dictionary of Linguistic's—M.A. Pei and F. Gaynor, Page 110.

४. The transitions are the means by which the speaker indicates, and the heare understands, the component elements of an utterance or of a series of utterances—the words or phrases or clauses or sentences that are being said.'—George L. Trager 'Some Thoughts on Juncture,' Page 18 (Studies in Linguistics, Vol. 16, No. 1, 1962)

दिया है। इस नाम की सार्थकता, उन्होंने अपने इस तर्क द्वारा सिद्ध की है कि यहां श्लेषात्मक तत्त्व की अपेक्षा विश्लेषात्मक तत्त्व (Phenomena of Separation) का प्राधान्य है। १९४७ ई० में W.E. Welmers ने मुक्त संगम (Open Juncture) और आबद्ध संगम (Close Juncture) नाम पर आपत्ति की और यह कहा, चूंकि संगम यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार स्वनिमों को विलग किया जाता है, न कि उनके संयोग को; अतएव 'Schismeme' इस पारिभाषिक शब्द को उपयुक्त माना।

संक्रमण (Transition) शब्द का प्रयोग ट्रैगर ने संगम पर अपने सर्वप्रथम प्रकाशित तत्त्वों की विवेचना करते समय किया था। परन्तु काल-प्रवाह में यह शब्द लुप्त हो गया। १९६० ई० में पुनः इस तत्त्व को संक्रमण स्वनिम (Transition Phoneme) कहना लोगों को अधिक समीचीन प्रतीत हुआ। फलतः परम्परागत संगम शब्द का वहिष्कार किया जाने लगा। संक्रमण में समय-तत्त्व की प्रधानता थी। अतः स्वनिम-क्रमों के मध्य जहां अधिक समय लगता था, वहां संक्रमण स्वनिम की सत्ता स्वीकार की गयी। यह संक्रमण स्वनिम केवल स्वनिमों के पश्चात् ही आ सकता है, किसी वाक्य या वक्तव्य के प्रारम्भ में नहीं।

४. **संगम के प्रकार**—एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि पर जाने की दो विधियां हैं या अन्य शब्दों में संक्रमण दो प्रकार का होता है। जब एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि पर अव्यवहित रूप से जाया जाता है, तो उसे सामान्य (Normal) संक्रमण कहते हैं। इसी को आवद्ध संक्रमण (Close or Muddy or Smooth Transition) भी कहा गया है। पर एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि पर अनव्यवहित रूप से जाने की विधि को मुक्त संक्रमण (Open or Sharp or Distinct Transition) कहते हैं। जैसे—

(१) तुम्हारे हैं।
(२) तुम् हारे हो।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों में से पहले वाक्य में 'तुम्हारे' के अन्तर्गत 'म्' और 'ह्' के बीच आवद्ध संक्रमण है। किन्तु दूसरे वाक्य में 'तुम हारे' के 'म्' और 'ह' के बीच मुक्त संक्रमण है।

संक्रमण की इन दो विधियों को दृष्टि में रखते हुए प्रायः संगम के भी दो भेद मान लिये जाते हैं—

(१) मुक्त संगम
(२) आबद्ध संगम

पर उक्त विभाजन समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि पर अव्यवहित रूप से संक्रमण की जो सामान्य विधि है, उसे हम संगम नहीं मान सकते। हां, मुक्त संक्रमण के अन्तर्गत निर्विवाद रूप से संगम की स्थिति है। आबद्ध संगम एक स्वनिम नहीं है, अपितु यह एक सामान्य संक्रमण है, जो मुक्त संक्रमण से सदैव विरोधी स्थिति में रहता है। हिल महोदय ने आबद्ध संक्रमण के अन्तर्गत संगम से रहित ध्वनियों में (जैसे—'तुम्हारे') संगमाभाव या शून्य संगम (Absence of Juncture or Zero Juncture) माना है।

हम संगम को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) मुक्त संगम (Open Juncture)
(२) सीमान्त संगम (Terminal Juncture)

(१) मुक्त संगम—इस प्रकार के संगम का स्वरूप ऊपर की विवेचना से स्पष्ट हो गया होगा। उदाहरण के लिए—

(क) खुला सा   (ख) खुलासा
(ग) न दी   (घ) नदी

यहां (क) और (ग) में मुक्त संगम है, जो (ख) और (घ) से विरोध करता है। साथ ही यहां संगम शब्द या वाक्यांश के मध्य में ही आता है, वाक्य या वाक्यांश के अन्त में नहीं। इसलिये इसे आन्तरिक मुक्त संगम (Internal Open Juncture) भी कहते हैं। यह संगम '+' इस चिन्ह के द्वारा प्रदर्शित किये जाने के कारण प्लस संगम (Plus Juncture) के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

(२) सीमान्त संगम—इस के तीन उपभेद हैं—(क) आरोही (Rising) (ख) अवरोही (Falling) (ग) सम (Level)। ये तीनों ही वाक्यांश या वाक्य के अन्त में आते हैं और परस्पर विरोधी स्थिति में रहते हैं। आरोही संगम को ↑ या ‖ चिन्ह द्वारा प्रदर्शित करते हैं और इसे Upturn या Double Bar Juncture कहते हैं। अवरोही संगम को ↓ या # चिन्ह द्वारा दिखाते हैं और इसे Downturn या Double Crass Juncture कहते हैं।

सम संगम को | चिन्ह द्वारा अभिव्यक्त करते हैं और इसे Sustained या Single Bar Juncture कहते हैं। इन्हें हम इन उदाहरणों से समझ सकते हैं—

(क) प्रश्नात्मक वाक्य
^{२}आज कॉलेज ^{३}बन्द है^{४} ↑

(ख) सामान्य कथन •
^{२}आज कॉलेज ^{३}वन्द है^{१} ↓

(ग) किसी जटिल प्रश्न का उत्तर देते वक्त, क्या कहना है, यह सोचते समय, जैसे—
^{२}अच्छा तो^{२} . . . . . ।
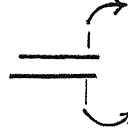
सीमान्त संगम का ही दूसरा नाम वक्तव्य संगम (Utterance Juncture) कहा गया है।

५. संगम की स्वनिमात्मक सत्ता (Phonemic Status of Juncture)—हिन्दी में संगम स्वनिमात्मक है। मुक्त संगम को एक स्वनिम के रूप में प्रदर्शित करने के लिये, हम विभिन्न स्थितियों पर प्रयुक्त संगम वाले निम्नलिखित युग्मों को लेते हैं—

(१) कुल+ले+कर ~ कुल्ले+कर
(२) हसी+ना+आयी ~ हसीना+आयी
(३) आज+आ ~ आ+जा

६. संगम : शब्द सीमा और अक्षर (Syllable) सीमा का निर्धारक—हिन्दी में, संगम शब्द सीमा और साथ ही साथ अक्षर सीमा का भी निर्वारण करता है। उदाहरणार्थ—'तुम+कौन+हो' में सभी संगम अक्षर समाप्ति (Syllable Closures) को प्रकट करते हैं। किन्तु हमें संगम और अक्षर विभाजन (Syllable division) को एक ही चीज नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ऐसे कई स्थल हैं, जहां पर अक्षर-विभाजन बिना संगम की उपस्थिति के ही दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

(१) क-म-ला
(२) झ-मे-ला

इन दोनों उदाहरणों में क, म और ला तथा झ, मे और ला के बीच अक्षर-विभाजन तो है, पर संगम नहीं।

७. आस-पास की ध्वनियों पर संगम का प्रभाव—संगम अपने आस-पास की ध्वनियों पर प्रभाव डालता है। यह एक मध्यवर्ती ध्वनि को अन्तिम या आरम्भिक ध्वनि में परिवर्तित कर देता है। जैसे—

(१) सोडा+लो
(२) सो+डालो

संगम से पहले आने वाला स्वर दीर्घ होता है। जैसे—

(१) खा + जा
(२) खाजा

और यदि संगम के पूर्व कोई व्यंजन हो, तो उस व्यंजन से पहले वाला स्वर दीर्घ हो जाता है। उदाहरण के लिये—

(१) सात् + ही -।- गये
(२) साथी + गये

यहां पहले उदाहरण का 'आ' दूसरे उदाहरण के 'आ' से दीर्घ है।

संगम के पूर्व कम बल का प्रयोग और उसके पश्चात् अधिक बल का प्रयोग होता है—

न^{२} -।- दी^{३}

यहां पर 'दी' के 'ई' पर 'न' के 'अ' की अपेक्षा अधिक बल है।

हिन्दी में पुनरुक्ति विधान

डॉ० कैलाशचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०, पी०-एच० डी०,
प्राध्यापक, के० एम० मुंशी इन्स्टीट्यूट, आगरा विश्वविद्यालय ।

०.० **पुनरुक्ति का अर्थ**––पुनरुक्ति से अभिप्राय है दोहराना । जब कोई शब्द या पद बिना परिवर्तन अथवा अल्प परिवर्तन या पर्याय के साथ दोहराया जाता है तो यह प्रक्रिया पुनरुक्ति कहलाती है । इसे पुनरावृत्ति या द्विरुक्ति भी कहा जाता है । हिन्दी में शब्दों या पदों पर बल देने की सर्वाधिक सहज प्रक्रिया होने के कारण पुनरुक्ति भाषा की उल्लेखनीय विशेषता है । पुनरुक्ति के कारण शब्द या पद का भाव अधिक स्पष्टता तथा सबलता के साथ प्रकट होता है । प्रसंग के अनुसार उससे पूर्णता, अपूर्णता, निरन्तरता, अतिशयता, सजातीयता, पृथकता आदि का बोध होता है । यह प्रक्रिया व्याकरणिक कोटियों में परिगणित होने वाले सभी प्रकार के शब्दों के साथ सम्भावित है । इससे भाषा में प्रभाव के साथ-साथ सौंदर्य की भी वृद्धि होती है । अतः यह अध्ययन कोश, साहित्य तथा भाषा के कथ्य के रूप से आलोच्य सामग्री संचित करके पुनरुक्तियों के कार्य एवं महत्त्व के क्षेत्र-विस्तार को सांगोपांग प्रस्तुत करने का आयास है ।

१.० **अध्ययन-सीमा**––हिन्दी में पुनरुक्ति दो प्रकार से होती है––(१) शब्द या पद को उसी रूप में या आंशिक ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ दोहराकर; यथा : गांव-गांव, नगर-नगर, कोना-कोना, जगह-जगह, लाल-लाल, पीला-पीला, तरह-तरह, रोज-रोज, ऊपर-ऊपर, देख-देख, झांक-झांक, चलते-चलते, भागते-भागते, नाचते-नाचते, रोटी-वोटी, खाना-वाना, पानी-वानी, फट-फाट, कूट-काट, खोल-खाल आदि; इस प्रकार की पुनरुक्तियां प्रसंगानुसार अनेकानेक अर्थों को अभिव्यंजित करती हैं । और (२) शब्द या पद का समानार्थी (पर्याय) दोहराकर; यथा : पास-पड़ोस, धन-दौलत, नौकर-चाकर, काम-काज, काम-धन्धा, शादी-विवाह, मान-सम्मान, मार-पीट, सोच-विचार, उछल-कूद, उलट-पलट, चीर-फाड़, घूम-फिर आदि । अस्तु, हिन्दी में पुनरुक्ति-विधान का अध्ययन तीन प्रकार से किया जा सकता है––(१) गठनपरक, (२) अर्थपरक और (३) शब्दार्थपरक । यहां यथासम्भव तीनों प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

१.१ **गठनपरक अध्ययन**––इसके अन्तर्गत पुनरुक्तियों का गठनात्मक अध्ययन किया गया है अर्थात् पुनरुक्तियों में यदि आंशिक ध्वन्यात्मक परिवर्तन होते हैं तो वे किन आधारों पर, इस सम्बन्ध में नियम निर्धारित किये गये हैं । इस अध्ययन को दो वर्गों में रख सकते हैं––(१) ध्वन्यात्मक वर्गीकरण, और (२) व्याकरणिक वर्गीकरण ।

१.१.१ **ध्वन्यात्मक वर्गीकरण**––इसके अन्तर्गत पुनरुक्तियों में स्वर और व्यंजन की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति के आधार पर कुछ नियम निर्धारित किये गये हैं जो इस प्रकार हैं :

(अ) पूर्ण पुनरुक्ति––जब पूर्व भाग (शब्द या पद) का ध्वन्यात्मक स्वरूप पूर्णतः दोहराया जाता है तो उसे पूर्ण पुनरुक्ति कह सकते हैं । इस प्रक्रिया में पूर्व और उत्तर भागों के मध्य कभी-कभी विकरण रूप में परसर्ग और निपात व्यवहृत होते देखे जाते हैं । अतः पूर्ण पुनरुक्ति के दो भेद किये जा सकते हैं––

(।) विकरण रहित––यथा–कौड़ी-कौड़ी, घर-घर, रोम-रोम, गांव-गांव, समय-समय, लाल-लाल, फीका-फीका, रोज-रोज, पीछे-पीछे, साथ-साथ, उठ-उठ, बैठ-बैठ आदि ।

(।।) विकरण सहित––'का' (की, के), 'पर', 'से', 'में' आदि परसर्गों तथा निपात 'ही' को लेकर; यथा––गांव का गांव, घर का घर, गिरोह के गिरोह, बात की बात, पलटन की पलटन, दिन पर दिन, हाथ पर हाथ, कदम पर कदम, कहां से कहां, देर में देर, हाथ में हाथ, अंधेरा ही अंधेरा, पानी ही पानी, रेत ही रेत, तुम ही तुम, हम ही हम आदि । इसके अतिरिक्त अत्यल्प शब्दों में -आ, -ओं का आगम करके पुनरुक्ति की जाती है; यथा : गर्मा-गर्म, नर्मा-नर्म, हाथों-हाथ, कानों-कान, रातों-रात, बीचों-बीच आदि ।

(आ) अपूर्ण पुनरक्ति––जब शब्द या पद का ध्वन्यात्मक स्वरूप अंशतः दोहराया जाता है तो उसे अपूर्ण

पुनरुक्ति मान सकते हैं। इस प्रकार की पुनरुक्ति में जो अल्प परिवर्तन होता है, उसके सम्बन्ध में निम्न नियम निर्धारित किये जा सकते हैं——

(१) आदि व्यंजन का लोप और उसके स्थान पर व्- का आगम——संज्ञा और विशेषण शब्दों की पुनरुक्ति में प्रायः यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, यथा : घर-वर, कटार-वटार, दाल-वाल, घाटा-वाटा, ताला-वाला, मिठाई-विटाई, तिल-विल, तीर-वीर, चील-वील, सीट-वीट, कुर्सी-वुर्सी, कुल-वुल, खूंटी-वूंटी, तेली-वेली, घेरा-वेरा, बैर-वैर, पैसा-वैसा, रोटी-वोटी, चोट-वोट, दौलत-वौलत, चौक-वौक, खट्टा-वट्टा, सख्त-वख्त, घटिया-वटिया, लाल-वाल, काना-वाना, गिरवीं-विरवीं, गीला-वीला, मीठा-वीठा, खोटा-वोटा, मोटा-वोटा आदि।

यदि आदि भाग में स्वर है तो व्- का आगम स्वर के पहले हो जाता है, यथा——अंडा-वंडा, आग-वाग, आटा-वाटा, ईंट-वींट, ऊन-वून, ऊंट-वूंट, एकता-वेकता, एकड़-वेकड़, एड़ी-वेड़ी, ऐंड़-वेंड़, ऐनक-वेनक, ओंठ-वोंठ, ओढ़नी-वोढ़नी, अनाड़ी-वनाड़ी, अन्धा-वन्धा, आधा-वाधा, उम्दा-वुम्दा, ऊंचा-वूंचा, ऐयाश-वैयाश आदि।

साथ ही, उपर्युक्त प्रवृत्ति क्रियाओं में भी विकसित हो रही है, यथा : कट-वट, चल-वल, फाड़-वाड़, फिर-विर, चीर-वीर, पीट-वीट, भीग-वीग, खेलना-वेलना, देखना-वेखना, भागना-वागना आदि।

यहां यह उल्लेख कर देना प्रसंगगत होगा कि व्- एवं व्- से आरम्भ होने वाले शब्दों या पदों की पुनरुक्ति होते समय प्रायः उनका (व्- और व्-) का लोप हो जाता है यदि उनके बाद स्वर हों; यथा : वाग-आग, वीज-ईज, वेर-एर, बोली-ओली, वीणा-ईणी, वेद-एद आदि।

कुछ अपवाद——हल्ला-गुल्ला, झूठ-मूठ, उल्टा-सुल्टा, गलत-सलत, उथल-पुथल, टेढ़ा-मेढ़ा आदि।

(२) जब पुनरुक्ति पूर्व भाग में होती है तो मुख्य शब्द या पद के आदि व्यंजन का लोप उसमें देखा जाता है, यथा : अड़ोस-पड़ोस, अदला-बदला, आव-ताव, ओट-वोट, आस-पास, आमने-सामने, अंट-संट, औने-पौने, आर-पार, अगल-बगल आदि।

(३) ई, ऊ, ए, ऐ, ओ तथा औ > आ : सामान्य धातुओं की पुनरुक्ति में इस प्रकार का ध्वन्यात्मक परिवर्तन मिलता है; यथा : पी-पा, चीर-चार, छू-छा, कूट-काट, ले-ला, खेल-खाल, छेड़-छाड़, बैठ-बाठ, तैर-तार, धो-धा, बोल-बाल आदि।

उक्त प्रकार का परिवर्तन धातुओं के अतिरिक्त कभी-कभी अन्य शब्दों में भी देखा जाता है; यथा : सीधा-साधा, ठीक-ठाक, भीड़-भाड़, छूत-छात, धूम-धाम, भोला-भाला, देर-दार आदि। इसके अतिरिक्त सामान्य धातुओं से निर्मित कृदन्त शब्दों में भी, यथा : चीरा-चारा, पीटा-पाटा, कूटा-काटा आदि।

(४) आ > ऊ : सामान्य धातुओं की पुनरुक्ति में इस प्रकार का ध्वन्यात्मक परिवर्तन मिलता है, यथा : खा-खू, पा-पू, जता-जतू, बता-बतू, चाट-चूट, भाग-भूग, मार-मूर आदि। इसके अतिरिक्त सामान्य धातुओं से निर्मित कृदन्तों में भी इस प्रकार का परिवर्तन होता है; यथा : बांधा-बूंधा, भागा-भूगा, मारा-मूरा, पाटा-पूटा आदि।

(५) ह्रस्वीकृत धातुओं की पुनरुक्ति के अन्त में -आ का आगम; यथा : बिठ-बिठा, चिर-चिरा, कुट-कुटा, खुल-खुला, मर-मरा, चल-चला आदि।

(६) ह्रस्वीकृत धातुओं से बने कृदन्तों की पुनरुक्ति के अन्त में -या का आगम कर लिया जाता है; यथा : पढ़ा-पढ़ाया, पटा-पटाया, चढ़ा-चढ़ाया, लगा-लगाया, बंधा-बंधाया, मरा-मराया, कटा-कटाया, जला-जलाया आदि। यदि कृदन्त रूप स्त्रीलिंग में है तो पुनरुक्ति करते समय अन्तिम -ई का परिवर्तन -आई में हो जाता है; यथा : लिखी-लिखाई, पढ़ी-पढ़ाई, बंधी-बंधाई, पटी-पटाई आदि। इस प्रक्रिया से केवल विशेषण शब्दों का निर्माण होता है।

(७) कृदन्तों की पुनरुक्ति में ई, ऊ, ए, ऐ, ओ तथा औ का परिवर्तन आ में, आ का परिवर्तन ऊ में, और अन्तिम -आ का परिवर्तन -ई में देखा जाता है; यथा : चीरा-चारी, पीटा-पाटी, लूटा-लाटी, कूटा-काटी, खेला-खाली, देखा-दाखी, बैठा-बाठी, तैरा-तारी, घोला-घाली, फोड़ा-फाड़ी, तोड़ा-ताड़ी, खोला-खाली, भागा-भूगी, मारा-मूरी आदि।

(ई) अनुरणनात्मक शब्दों के गठन पर भी यहां विचार किया जा सकता है, क्योंकि उनमें अनुरणन के आधार पर ध्वनियों की पुनरुक्ति देखी जाती है जिसके सम्बन्ध में सामान्य नियम इस प्रकार बन सकते हैं :

(१) प्रथम अक्षर यथा-रूप में पुनरुक्त होकर; यथा : खट-खट, पट-पट, लप-लप, चम-चम, चट-चट, गड़-गड़, धड़-धड़, भड़-भड़, खड़-खड़, सर-सर, दन-दन, छम-छम, भन-भन, हन-हन, ठन-ठन, टन-टन आदि।

(२) प्रथम अक्षर की पुनरुक्ति के पूर्व -आ का आगम करके; यथा : खटाखट, पटापट, लपालप, चमाचम, चटाचट, धड़ाधड़, भड़ाभड़, सरासर, दनादन, छमाछम आदि।

(३) प्रथम अक्षर की आंशिक पुनरुक्ति करके, प्राय: आदि व्यंजन का लोप और -प् आगम करके; यथा : खटपट, चटपट, सटपट, झटपट, गटपट, खदपद आदि। इसके अतिरिक्त कुछ और भी आंशिक पुनरुक्ति वाले अनुरणनात्मक शब्द हैं; यथा : लप-झप, गड़-बड़, हड़-बड़ आदि।

१.१.२ व्याकरणिक वर्गीकरण––व्याकरण के आधार पर पुनरुक्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है––

(१) धातु-रूपों की पुनरुक्ति जिससे प्रातिपदिक सिद्ध होते हैं; यथा : उथल-पुथल, उलटा पुलटा, चीरा-चारी, पीटा-पाटी, कूटा-काटी, देखा-दाखी, भागा-भूगी, मारा-मूरी आदि।

(२) प्रातिपदिकों की पुनरुक्ति, जिससे शब्द या पद सिद्ध होते हैं; यथा : नाच-वाच, पानी-वानी, आटा-वाटा, रोटी-वोटी, मोटा-वोटा, गीला-वीला, जो-जो, कोई-कोई, कौन-कौन, क्या-क्या, कुछ-कुछ आदि।

(३) शब्द या पद की पुनरुक्ति से, जिसमें वाक्यांश (Phrase) सिद्ध होता है; यथा : जगह-जगह, घर-घर, कोना-कोना, पानी-पानी, पूरा का पूरा, पगला का पगला, बेवकूफ का बेवकूफ, ऊपर-ऊपर, पीछे-पीछे, करते-करते, उठते-उठते, चलते-चलते, बनते-बनते, छिपे-छिपे, भागते-भागते आदि।

१.२ अर्थपरक अध्ययन––अर्थ के आधार पर पुनरुक्तियों के अनेकानेक वर्ग बनाये जा सकते हैं। यहां प्रमुख वर्गों का उल्लेख किया जा रहा है :

१.२.१ पार्थक्य बोधक––यथा : कौड़ी-कौड़ी, पैसा-पैसा, रोम-रोम, बच्चा-बच्चा, गांव-गांव (के किसान), अनोखे-अनोखे (खेल) आदि।

१.२.२ सजातीयता-बोधक––बड़े-बड़े (अफसर), छोटे-छोटे (लड़के), पीले-पीले (आम), लड़के-लड़के (इधर हैं), ब्राह्मण-ब्राह्मण (आये) आदि।

१.२.३ भिन्नता-बोधक––रंग-रंग (के फूल), ढंग-ढंग (के आदमी), तरह-तरह (की बातें), बात-बात (का फर्क है), फूल-फूल (का सौंदर्य दर्शनीय है) आदि।

१.२.४ अतिशयता-बोधक––(घड़ा) टुकड़े-टुकड़े (हो गया), बात-बात (में बात), (वह) दाने-दाने (को मुहताज है), हँसी-हँसी (में लड़ पड़े), कच्चा-कच्चा (आम), मीठा-मीठा (आम), ठंडा-ठंडा (पानी), दूध ही दूध (पिया) आदि।

१.२.५ निरन्तरता-बोधक––यथा : खड़े-खड़े (थक गया), बोलते-बोलते (ऊब गया), लड़ते-लड़ते (मर गया), चलते-चलते (भटक गया), बैठे-बैठे (पड़ता रहा) आदि।

१.२.६ पौन: पुन्यार्थक––यथा : दहक-दहक (कर जल गई), बह-बह (कर पानी आया), रह-रह (कर रोया), पूछता-पूछता (वहां पहुंचा), सोता-सोता (जग पड़ा) आदि।

१.२.७ रीति-बोधक––यथा : धीरे-धीरे (चलो), जल्दी-जल्दी (आना), बाल्टी-बाल्टी (जल लाना), पांव-पांव (चलना), लोटे-लोटे (जल भरना), कौर-कौर (खाना), घूंट-घूंट (पीना) आदि।

१.२.८ न्यूनता-बोधक––यथा : छोटे-छोटे (लड़के), फीका-फीका (जायका), खट्टी-खट्टी (डकार), (तबीयत) उड़ी-उड़ी (है)।

१.२.९ परस्पर सम्बन्ध-बोधक––यथा : मित्र-मित्र (का व्यवहार), भाई-भाई (का प्रेम), बहिन-बहिन (का स्नेह), धर्म-धर्म (की एकता) आदि।

१.२.१० संशय-बोधक––यथा : जायेंगे-जायेंगे (कहते हैं, पर ....), आयेंगे-आयेंगे (कहते हैं, पर ....), (वह) आया आया न आया न आया, (वह) गया गया न गया न गया आदि।

१.२.११ निश्चय-बोधक––यथा : (मैं) चलूंगा चलूंगा, (वह) जायेगा जायेगा, (काम) करूंगा करूंगा, (तुम) आओगे आओगे आदि।

१.२.१२ अवधि-बोधक––यथा : जगते-जगते (सुबह हो गई), (काम) करते-करते (रात हो गई), पहुंचते-पहुंचते (शाम हो गई), पीते-पीते (बेहोश हो गया) आदि।

१.२.१३ अपूर्णता-बोधक––यथा : मरते-मरते (बचा), जाते-जाते (रुका), लिखते-लिखते (सो गया), पढ़ते-पढ़ते (उठ गया) आदि।

१.२.१४ आवेग-बोधक––यथा : राम-राम !, अरे-अरे !, हाय-हाय !, छि:-छि: ! आदि।

१.२.१५ दशा-बोधक––यथा : बाहर का बाहर (रह गया), भीतर का भीतर (रखा है), (फौज) पीछे की पीछे (रह गई), (मैं) कहां से कहां (आ गया), यहीं का यहीं (पड़ा है), वहीं का वहीं (है), (पुस्तक) कहीं की कहीं (रख दी), देर में देर (हो गई)।

१.३. शब्दार्थपरक अध्ययन---उपर्युक्त दो प्रकार के अध्ययनों के अतिरिक्त तीसरा शब्दार्थपरक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत अर्थ और रूप के आधार पर पुनरुक्तियों का वर्गीकरण भिन्न ढंग से किया जा सकता है।

१.३.१ निरालम्ब---वे पुनरुक्तियां जिनके दोनों घटक निरालम्ब और अद्वितीय हैं; यथा : सटर-पटर, गिट-पिट, पटर-पटर, रिम-झिम, लप-झप आदि। इसमें अनुरणनात्मक शब्दावलि भी परिगणित की जा सकती है।

१.३.२ एकालम्ब---वे पुनरुक्तियां जिनका एक घटक सार्थक होता है। रूप की दृष्टि से तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं :

(क) प्रथम घटक का अपरिवर्तित---रोटी-वोटी, खाना-वाना, झूठ-मूठ, ठीक-ठाक, सीधा-साधा आदि।

(ख) द्वितीय घटक अपरिवर्तित---अदला-बदला, आस-पास, आर-पार, आमने-सामने, आव-ताव, अड़ोस-पड़ोस, अगल-बदल आदि।

(ग) दोनों घटक अपरिवर्तित---गांव-गांव, रोटी-रोटी, कौड़ी-कौड़ी, मीठा-मीठा, पीला-पीला, आता-आता, पीता-पीता, करते-करते, चलते-चलते आदि।

१.३.३ उभयालम्ब---वे पुनरुक्तियां जिनमें दोनों घटक स्वतंत्र होते हैं; इसके दो भेद किये जा सकते हैं :

(१) समानार्थी---धन-दौलत, मान-सम्मान, नौकर-चाकर, काम-काज, काम-धंधा, शादी-विवाह, भरा-पूरा, पास-पड़ोस, सोच-विचार, उलट-पलट आदि।

(२) असमानार्थी---कामधाम, रंगढंग, नोंक-झोंक, रोक-टोक, सांठ-गांठ, करता-धरता, दाल-दलिया, बीच-बचाव, झगड़ा-झांसा आदि।

हिन्दी भाषा कोश-निर्माण की कुछ समस्यायें

डॉ० कृष्ण चन्द्र अग्रवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

भाषा-विज्ञान नवीन विषय है। भाषा-विज्ञान की चर्चा पहले विद्या एवं उपविद्याओं में नहीं हुआ करती थी। वास्तविकता तो यह है कि विज्ञान के विकास के साथ-साथ अध्ययन का दृष्टिकोण ही बदल गया है। आज तो कला एवं साहित्य के क्षेत्र में भी विज्ञान का प्रवेश हो गया है। इसी क्रम में साहित्य और भाषा के अध्ययन में भाषा-विज्ञान एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है।

भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत ही एक शाखा के रूप में कोशकला (Lexicogrophy) को भी मान्यता प्राप्त है। भारतवर्ष में कोशग्रन्थों की लेखन परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। लगभग वैदिक युग में ही कोश विषय पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। वेदमंत्रों के द्रष्टा महर्षि ही कोशकार हुआ करते थे। इन कोश ग्रन्थों के उदाहरण आगे भी देखने को मिलते हैं। इससे यह विदित होता है कि वे परवर्त्ती कोशों से सर्वथा भिन्न थे, प्राचीन समय में व्याकरण एवं कोश का विषय लगभग एक ही श्रेणी में माना जाता था, यही कारण था कि जिन प्राचीन विद्यामनीषियों ने व्याकरण शास्त्र की रचना की वे ही कोशकार भी हुआ करते थे, व्याकरण एवं कोश दोनों ही शब्द शास्त्र के अंग थे। लगभग १००० ई० पूर्व भारतवर्ष में निघण्टुओं की रचना हुई थी, जिन्हें वैदिक कोश की संज्ञा दी गई थी। उस युग से लेकर दसवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में न जाने कितने कोश लिखे गये, जिनमें अनेक के विषय में उल्लेख प्राप्त हैं। भारत ने व्याकरण एवं कोश के क्षेत्र में इस समय तक प्रगति कर ली थी, किन्तु ११वीं सदी में जब भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो चुके थे, देश के समस्त आचार्य वर्ग की शक्ति धर्म-रक्षा में क्षीण होने लगी तब व्याकरण एवं कोश के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य न हो सका। अतः वीरकाव्य एवं धार्मिक शक्ति देने वाला भक्ति-काव्य ही उस युग की प्रमुख रचना रह गई। भाषा-विज्ञान का अध्ययन प्रायः अवरुद्ध हो गया। पुनः अकबर आदि के शासनकाल में इस दिशा में कुछ छुट-पुट कार्य हुआ, जो गिरती-पड़ती दशा में चलता रहा, पर कोई भी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व सम्मुख न आया।

विदेश में नई सभ्यता की ज्योति के साथ पुनः नये सिरे से भाषा-विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन १६वीं-१७वीं सदी में प्रारम्भ हुआ, किन्तु इस अध्ययन में भी समय रहते-रहते भारत यूरोप के साथ हो गया। भाषा का सम्बन्ध मानव के जितना निकट है उतना सम्भवतः किसी अन्य वस्तु के नहीं। अन्य विषयों की अपेक्षा 'भाषा-विज्ञान' का सम्बन्ध भी मनुष्य जाति के अधिक निकट है। इस शास्त्र का प्रारम्भिक प्रणयन भी भारत में ही हुआ है, पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि २०वीं शताब्दी जैसे वैज्ञानिक युग में भी इस शास्त्र की सबसे अधिक अवहेलना यहीं पर हुई है। भारत बहुभाषी देश है। यहीं पर भाषाओं की सबसे अधिक जटिल समस्यायें हैं। फिर भी पता नहीं क्यों इस विज्ञान के क्षेत्र में जिज्ञासुओं, प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों एवं लगनशील विद्यार्थियों का जितना उत्साहपूर्वक प्रवेश होना चाहिये था उतना दृष्टिगत नहीं होता। कोशकला का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है।

इस प्रकार कोशकला का इतिहास पर्याप्त प्राचीन होते हुए भी नवीन कहा जा सकता है। यह भाषा-विज्ञान का आधुनिक अंग है, जिसकी ओर हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं और उनके अध्येताओं का ध्यान अभी तक उधर नहीं गया है, किन्तु विशुद्ध रूप से भाषा का व्यापक प्रचार व प्रसार करने तथा उसे जन-जन तक पहुंचाने की दृष्टि से इसका अध्ययन कितना उपयोगी, कितना अनिवार्य है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। जब हिन्दी की शब्द सामर्थ्य को दरिद्र बताया जाता हो और जब उसे अंग्रेजी जैसी सुसमृद्ध भाषा का स्थान ग्रहण करना हो तो इसके अध्ययन की उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है।

स्वतंत्रता के उपरान्त हिन्दी-साहित्य के विकास के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी बहुमुखी विकास हुआ

है तथा अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों के प्रकाशन के साथ ही साथ एक बात महत्त्वपूर्ण यह हुई कि विभिन्न विषयों की पारिभाषिक शब्दावलि का निर्माण हुआ तथा धीरे-धीरे यह शब्दावलि प्रामाणिक एवं विशिष्ट अर्थ में रूढ़ होकर प्रचलित हो रही है, इसीके साथ वैज्ञानिक क्षेत्र में एक विशिष्ट शैली का प्रचार एवं प्रसार भी हो रहा है। अनेक वैज्ञानिक विषयों की शब्दावलि के निर्माण के साथ ही साथ हिन्दी कोश एवं सन्दर्भ ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ है, जो धीरे-धीरे विकास एवं पूर्णता प्राप्त करते आ रहे हैं। पिछले १०–१२ वर्षों में विद्यार्थियों, अनुवादकों एवं विदेशी पर्यटकों तथा बहुत बड़ी संख्या में हिन्दी सीखने वाले देशी एवं विदेशी भाषाविदों की आवश्यकता पूर्ति हेतु अनेक, एकभाषी, द्विभाषी कोशों तथा पारिभाषिक शब्दावलियों का निर्माण हुआ है। नागरी प्रचारणी सभा एवं अन्य अनेक विश्वविद्यालय एवं संस्थायें, सन्दर्भ ग्रन्थ एवं कोश-निर्माण कार्य में लगी हुई हैं जिससे आशा की जा सकती है कि पांच-सात वर्षों में इन प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी का कोश-साहित्य एवं सन्दर्भ-साहित्य बहुत सम्पन्न हो जावेगा।

हिन्दी में नवीन एकभाषी एवं बहुभाषी कोश के क्षेत्र में जहां संख्या की वृद्धि हुई है वहीं उनमें अब भी अनेक प्रकार की त्रुटियां हैं; तथा कोश-रचना का कोई वैज्ञानिक स्वरूप उनके द्वारा सम्मुख नहीं आया है। इसका एक मात्र कारण यही जान पड़ता है कि कोशकार नये-नये कोशों में केवल प्राचीन कोशों के शब्दों को ही सम्पादित करके प्रस्तुत कर देते हैं। पर इस दिशा में होना यह चाहिये कि कोशकार नित्य नये बनने वाले एवं मिलने वाले शब्दों का अत्यन्त परिश्रम से, विधिवत् एवं व्यवस्थित रूप से संकलन करें तथा नये शब्दों के अर्थ एवं प्रयोग के लिये समसामयिक साहित्य का अध्ययन एवं क्षेत्रीय सर्वेक्षण करें। दो-चार मोटे प्राचीन कोश सामने रख कर उनके अनुकरण पर कोश-निर्माण केवल पिष्टपेषण मात्र है, उनमें किसी प्रकार की मौलिकता का अभाव रहता है। यही कारण है कि नये-नये कोशों में भी, २५–३० वर्ष पहले निर्मित कोशों की सी कमजोरियां एवं दोष मिल जाते हैं।

हिन्दी भाषा कोश में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनमें शब्द-संख्या एवं उनके क्रम का ही अभी तक कोई भाषा-वैज्ञानिक आधार निर्मित नहीं हो सका है। कोश का वास्तविक महत्त्व काम के शब्दों तथा उनके ठीक अर्थों पर निर्भर होता है, कोरी शब्द संख्या पर नहीं। शब्द संख्या का तभी महत्त्व है, जब चुने हुए शब्दों के अर्थों का विवेचन एवं व्याख्या उचित रूप से की गई हो। इसके अतिरिक्त हिन्दी कोशों में किसी शब्द की वैज्ञानिक परिभाषायें देने की कला का अभी समुचित विकास नहीं हुआ है। कभी-कभी शब्दों की ऐसी लम्बी एवं उलझी हुई परिभाषा दी जाती है कि पाठकों को समझना कठिन हो जाता है। वास्तव में परिभाषायें स्पष्ट, संक्षिप्त एवं ठीक-ठीक अर्थ बोध कराने वाली होनी चाहिये। इस दिशा में एकभाषी कोश अभी बहुत पीछे है।

हिन्दी शब्दकोश की एक सबसे बड़ी समस्या शब्द-क्रम की है। शब्द कोशों में शब्द एक विशिष्ट क्रम से रखे जाते हैं। यदि कोश में शब्दों का क्रम ठीक, निश्चित एवं व्यवस्थित न हो तो कोश देखने वाले के लिये शब्द खोजना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव हो जायगा। शब्द-क्रम के अभाव में कोश का निर्माण नहीं किया जा सकता। कोश शब्दों का ऐसा व्यवस्थित संकलन है जिसमें क्रम-बद्धता के कारण ही वांछित शब्द को यथास्थान खोजा जा सकता है। क्रम व्यवस्था के लिए कोशकार को स्वर, व्यंजन, अनुस्वार और संयुक्ताक्षर आदि को ध्यान में रख कर ही कार्य सम्पन्न करना होगा। हिन्दी कोश निर्माण करते समय शब्द-क्रम का एक रूप कुछ इस प्रकार हो सकता है—अं, अंअ, अं अ, अं आं, अं आ, अं इं, अं इं, अं ईं, अं ई, अं उ, अं उं, अं ऊं, अं ऊ, अं एं, अं ए, अं ऐं, अं ऐ, अं ओं, अं ओ, अं, औं, अं औ, अ अः, अं कं, अं क, अं कां, अं का ..... । प्रो० विजय कुमार शुक्ल के अनुसार अर्ध चन्द्र बिन्दु के स्थान पर पूर्ण बिन्दु ही रखना आसान है किन्तु श्री रामचन्द्र वर्मा पहले पूर्ण एवं बाद में अर्ध चन्द्र बिन्दु रखने के पक्ष में हैं। प्रो० शुक्ल का कथन है कि एकाक्षर शब्द को छोड़कर बाकी के सभी शब्दों में सानुनासिक व्यंजन ङ, ञ, न, ण, म का ही प्रयोग करना उचित है क्योंकि व्यंजन के ऊपर अनुस्वार रखने की क्रिया कोश की सहायता प्राप्त करने वालों के लिये भ्रम का कारण बन सकती है। जिज्ञासु को इस बात का भी ध्यान नहीं रह जायगा कि 'क' वर्ग के लिए 'ङ्', च वर्ग के लिए 'ञ', ट वर्ग के लिए 'ण', त वर्ग के लिये 'न', 'प' वर्ग के लिए 'म' ही शुद्ध रूप मान्य है। भाषा की शुद्धता की दृष्टि से व्यंजन के ऊपर अनुस्वार रखने के स्थान पर अनुनासिकों का प्रयोग ही अधिक उचित होगा।

हिन्दी शब्दकोशों का एक सबसे बड़ा दोष यह है कि जब कोशकार किसी दूसरी भाषा के शब्द को कोश में स्थान देता है तो बिना इस बात का विवेक रखे हुए कि उस शब्द का वास्तविक हिन्दी में क्या अर्थ है, न लिख कर उसी भाषा के प्रचलित अर्थ को स्थान देता है जिससे कभी-कभी पाठकों को असुविधा का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार के अप्रचलित अर्थ न केवल कोश का परिमाण बढ़ाते हैं वरन् प्रयोगकर्त्ता के लिये उस कोश की कोई उपयोगिता नहीं रहती; इस प्रकार के अर्थ भाषा में भ्रम उत्पन्न करने में सहायक होते हैं तथा भाषा में अशुद्ध प्रयोगों को प्रोत्साहन मिलता है।

आज कोश निर्माण का कार्य पर्याप्त प्रगति कर रहा है। अब कोश में प्रयुक्त अर्थ केवल शब्दों के अर्थ और प्रयोग ही नहीं देते वरन् उनके सम्बन्ध में अन्य प्रकार की उचित सामग्री जैसे शब्दों का व्याकरणिक रूप, उनका ऐतिहासिक विकास आदि भी दिये जाते हैं। हिन्दी के नये शब्द कोशों में यद्यपि उपर्युक्त उल्लिखित सामग्री का उपयोग तो किया जा रहा है पर अभी भी यह कार्य व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग का नहीं हो रहा है। वास्तविकता तो यह है कि अभी तक हिन्दीजगत् में कोई भी ऐसा कोश नहीं है, जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति ढंग से दी गई हो। इस दिशा में कुछ पुस्तकें अवश्य प्रकाश में आई हैं पर वे विषय का आभास मात्र प्रस्तुत करती हैं। कुछ शब्दकोशों में व्युत्पत्ति भी देने का प्रयत्न किया गया है पर वह अपर्याप्त है। व्युत्पत्तियों की दृष्टि से एक बृहत् कोश निर्माण की आज बहुत आवश्यकता है।

हिन्दी भाषा में प्रचलित शब्दों का व्यपत्ति मूलक तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त रोचक सिद्ध हो सकता है। प्रयत्न यह होना चाहिये कि प्रत्येक शब्द की उद्‌गम दिशा में शोध किया जाये जो केवल संस्कृत तक ही सीमित न रहे वरन् उनका मूल, भारोपीय भाषाओं में भी खोजा जावे। यह कार्य अत्यन्त दुरूह है तथा अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। इसके लिये हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य का मंथन अनिवार्य हो जावेगा। हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति से सम्बन्धित सामग्री का क्षेत्र विस्तृत है। हिन्दी में संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, देश्य, अरबी, फारसी, द्राविड़ी आदि भाषाओं से शब्द आये हैं। अभी तक हिन्दी कोशों में जो व्युत्पत्तियां दी गई हैं वे अनुमान पर आधारित होने के कारण सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती हैं। अब समय आ गया है जब प्रामाणिक ग्रन्थों के शोध के आधार पर ध्वनि नियमों के अनुसार शब्दों की व्युत्पत्तियों को खोजा जावे तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत किया जावे। इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण कार्य हिन्दीकोशकार को ही करना है। शब्दों के विषय में ऐतिहासिक सामग्री १८वीं एवं १९वीं शताब्दी के कोशों में बिखरी पड़ी है जिसका पुनः निरीक्षण एवं सम्पादन करके हिन्दी शब्द कोशों में आत्मसात् करने की आवश्यकता है।

हिन्दी कोशों में उच्चारण की समस्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। प्रायः यह समझा जाता है कि देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता के कारण हिन्दी क्षेत्र में उच्चारण सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं है। जब कि इस विचारधारा में वास्तविकता का अभाव है। भाषाविदों का विचार है कि देवनागरी लिपि पूर्ण होते हुए भी दोषों से मुक्त नहीं है। आज हिन्दी में 'ऋ' एवं 'ष' का अपना विशिष्ट उच्चारण समाप्त हो गया है। किन्तु संस्कृत शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने के लिए इन वर्णों का प्रयोग आज भी अनिवार्य माना जाता है। ड़, ढ़ का हिन्दी वर्णमाला में कोई स्थान नहीं है परन्तु लिखने में सभी प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि फारसी ध्वनियों के लिये भी कहा जा सकता है जिनका प्रयोग कुछ लोग बिलकुल नहीं करते तथा एक वर्ग इनका उच्चारण बड़ी सतर्कता से करता है। अंग्रेजी ध्वनि 'ऑ' की भी ऐसी ही स्थिति है। इसी भांति मात्राओं एवं पंचमवर्ण सम्बन्धी अनेक त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है जिस भाषा में लिपि सम्बन्धी इतनी अधिक अवैज्ञानिकता एवं जटिलता है, उसमें उच्चारण सम्बन्धी संदिग्धता बनी रहना स्वाभाविक ही है। इसलिए कोशकारों को प्रायः उच्चारण देना पड़ता है तथा अंग्रेजी कोशों का तो यह अनिवार्य अंग बन गया है। अतः स्पष्ट है कि कोशकार का कार्य शब्दों की शुद्ध वर्तनी प्रस्तुत कर देने तक ही सीमित नहीं है, वरन् शब्द का शुद्ध उच्चारण बतलाना भी उसका धर्म है। कभी-कभी अन्य भाषा-भाषियों को उच्चारण सम्बन्धी असुविधा हो सकती है। जैसे––कनपटी, दुभाषिया, मनचला और कनखजूरा आदि शब्द कन-खजूरा, मनच-ला, दुभा-षिया, कनप-टी रूप में पढ़े जा सकते हैं। अतः हिन्दी शब्द-कोशों में भी शब्दों की ठीक वर्तनी के साथ-साथ उच्चारण एवं बलाघात को भी स्पष्ट कर दिया जावे तो अनजान आदमी भी भाषा का शुद्ध रूप से उच्चारण कोश के माध्यम से कर सकेगा।

कोश-निर्माण के विविध पक्षों से सम्बन्धित इन दोषों के अतिरिक्त एक सबसे बड़ा दोष कोश का उद्देश्यहीन होना है। किसी भी कोश का निर्माण करते समय कोशकार के लिये यह आवश्यक है कि वह कोश के उद्देश्य एवं प्रयोगकर्त्ता की आवश्यकताओं का ध्यान रखे। कुछ कोश केवल साधारण विद्यार्थियों के लिए निर्मित होते हैं; कुछ का सर्जन उच्च वर्ग के विद्यार्थियों के लिये किया जाता है। इसी भांति कुछ कोश विषय-विशेष के लिये निर्मित किये जाते हैं। अतः कोशकार को शब्द एवं अर्थ देते समय प्रयोगकर्त्ता के स्तर का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। जो कोश उपर्युक्त उद्देश्य सामने रखकर निर्मित नहीं किये जाते अथवा जिनमें प्रयोगकर्त्ता की आवश्यकता का पूरा ध्यान नहीं रखा जाता, वे कोश प्रायः निरर्थक सिद्ध होते हैं तथा पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने के अतिरिक्त उनका कोई वास्तविक मूल्य नहीं होता। आज किसी भी अच्छे हिन्दी शब्दकोश में ऐसे अनेक शब्द देखे जा सकते हैं जिनका प्रयोग भाषा में रह ही नहीं गया है अथवा प्रयोगकर्त्ता उनका प्रयोग ही नहीं करता किन्तु फिर भी उनको कोश में स्थान दिया गया है। हिन्दी का प्रचलित शब्दसमूह जीवित एवं मिश्रित शब्दसमूह है। इसमें अनेक प्रादेशिक एवं विदेशी भाषाओं के शब्द घुलमिलकर एकाकार हो गये हैं। मध्ययुगीन साहित्य का न जाने कितना विशाल शब्द-संग्रह आज भी हिन्दी कोश के लिए उपेक्षा का विषय बना हुआ है। ऐसे शब्दसमूह को न तो हिन्दी कोशों में स्थान ही मिला है और न ही उनके अर्थ ही निश्चित हो सके हैं। हिन्दी की इस

विपुल शब्दराशि से कोशकार को ऐसे शब्दों को संचित कर नये कोश में स्थान देना चाहिए जो निश्चित ही कोश के उद्देश्य एवं प्रयोगकर्त्ता की आवश्यकता पूर्त्ति में सहायक होंगे।

हिन्दी में द्विभाषी अथवा बहुभाषी कोशों का अब भी अभाव है, जो थोड़े-से कोश हैं भी उनका स्तर इतना निम्न है कि उनकी गणना अच्छे कोशों में नहीं की जा सकती। लगभग १०–१५ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत की विभिन्न हिन्दी प्रचार संस्थाओं ने हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं के कोश निर्मित कराये थे जो अब आवश्यकता को देखते हुए सन्तोषजनक नहीं कहे जा सकते। उनके संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करणों की नितान्त आवश्यकता है। अब भी ऐसे द्विभाषी कोशों की हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषाओं में बहुत कमी है। इस दिशा में हिन्दी के आचार्यों एवं कोशकारों का पूरा उपयोग कर कोश निर्माण कराना चाहिये जिससे शब्द और उनके अर्थ की रक्षा की जा सके।

भारतीय भाषाओं के द्विभाषी कोशों जैसी स्थिति ही अंग्रेजी-हिन्दी एवं हिन्दी-अंग्रेजी कोशों की है। ऐसे कोशों की आवश्यकता केवल भाषा लिखने वालों को ही नहीं है वरन् बड़ी संख्या में कार्य करने वाले अनुवादकों को भी है। इस दिशा में भी कोशों का नितान्त अभाव है। केवल कुछ प्राचीन एवं दोषपूर्ण कोशों के माध्यम से ही किसी प्रकार काम चलाया जा रहा है। अतः शीघ्र ही सरकार का ध्यान इस ओर भी आकर्षित होना चाहिये जिससे एक बड़े भारी अभाव की पूर्त्ति हो सके।

कोश-निर्माण के सिद्धान्तों, व्यवहारों एवं उसकी समस्याओं पर विचार करते समय, इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि अभी तक कोई भी ऐसा ग्रन्थ सामने नहीं आया जिसमें कोश-निर्माण की अपनी परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए कोशकला का उल्लेख हुआ हो। इस दिशा में यह नितान्त आवश्यक है कि हिन्दी संस्थायें अथवा विश्वविद्यालय इस कमी को पूरा करने के लिये शीघ्र ही विचार-गोष्ठी एवं सम्मेलन करके कोश-निर्माण के सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें जिससे हिन्दी में मौलिक एवं उच्च कोटि के कोश-निर्माण की परम्परा का विकास हो सके। हिन्दी में रामचन्द्र वर्मा का 'कोशकला' इस दिशा में उल्लेखनीय ग्रन्थ है। इस दिशा में विदेशों में कोशरचना शास्त्र पर कुछ उल्लेखनीय सम्मेलन एवं विचार-गोष्ठियां अवश्य हुई हैं जिसके परिणामस्वरूप 'प्राब्लम्स इन लेक्सीकोग्राफी' नामक ग्रन्थ हमारे सामने आया है, जिसमें अनेक आचार्यों के विचार संकलित हैं।

हिन्दी कोश-रचना की इन समस्याओं को सम्मुख रख कर नये सिरे से कोश-निर्माण का कार्य प्रारम्भ होना चाहिये, जिससे अनेक दिशाओं में होने वाली कमी को पूरा किया जा सके। कोश-निर्माण के क्षेत्र में सबसे बड़ी आवश्यकता एक वृहत् कोश की है जिसमें शब्दों को ऐतिहासिक क्रम से संकलित करके उनके अर्थ के विकास का साहित्यिक प्रयोग दिया गया हो। इस कोश में हिन्दी की विशिष्ट पारिभाषिक, वैज्ञानिक एवं कलाशिल्प सम्बन्धी शब्दावलि का भी समावेश किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि महत्त्वपूर्ण व्यक्तिवाची नाम एवं भौगोलिक स्थान नामों का परिचय भी दे दिया जावे तो कोश की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ सकती है। वृहत् कोश से भी बड़ी आवश्यकता है द्विभाषी कोशों की, जिसके अभाव में अनुवादकों का कार्य आज बड़ा दुरूह एवं जटिल हो गया है।
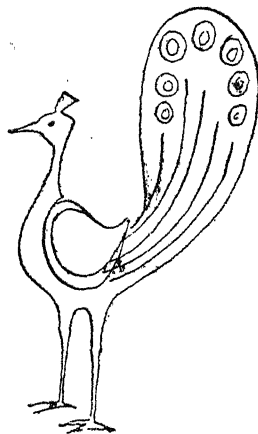
हिन्दी 'क' प्रत्यय
एक संकालिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन

डा० त्रिलोकीनाथ सिंह, एम० ए० (हिन्दी तथा भाषा विज्ञान), पी-एच० डी०
हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

भारोपीय परिवार की भाषाओं में सामान्यतः एक प्रकार के प्रत्यय विधान की व्यवस्था है। (यहां प्रत्यय-विधान का अर्थ affixation के अर्थ में है)। प्रत्यय विधान के दो प्रमुख वर्ग किये जा सकते हैं—एक शब्द-रचनात्मक प्रत्यय और दूसरे पद-रचनात्मक प्रत्यय। पद-रचनात्मक प्रत्यय व्याकरणिक प्रत्यय हैं। संस्कृत की व्याकरणिक शब्दावलि में इन्हें सुप् एवं तिङ् कहा जाता है। ये प्रत्यय पदों के रूप-विकार में प्रयुक्त होते हैं।

दूसरा वर्ग शब्द रचनात्मक प्रत्ययों का है। इनके भी दो मुख्य वर्ग किये जा सकते हैं—उपसर्ग (Prefix) और प्रत्यय (Suffix)। उपसर्ग शब्द-रचना में आधारभूत रूप के पूर्व और प्रत्यय बाद में लगाये जाते हैं। प्रत्यय के भी दो भेद किये जा सकते हैं—प्राथमिक प्रत्यय (Primary suffixes) जिसमें कृत् और अणादि प्रत्यय हैं। द्वितीय (Secondary suffix) जिसे तद्धित कहा जाता है। प्राथमिक प्रत्यय धातु के तत्काल पश्चात् लगकर शब्द रचना करते हैं। इस प्रकार निर्मित शब्द को कृदंत कहा जाता है। निर्मित रूप (derivative stem) के अन्त में जो प्रत्यय जुड़ते हैं वे तद्धित हैं। भारोपीय-परिवार एवं हिन्दी भाषा में प्रत्यय-विधान की रूपरेखा इस प्रकार दी जा सकती है—
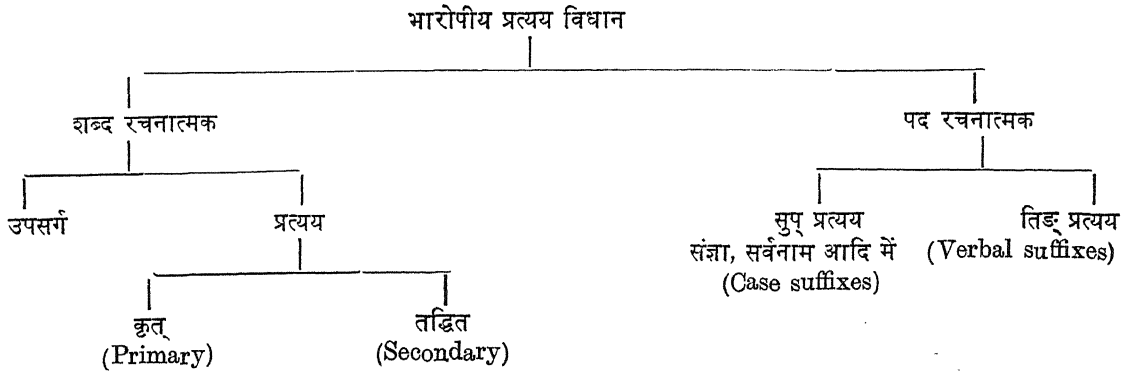
यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से कृत् और तद्धित (Primary) और (Secondary) प्रत्यय का भेद ठीक है, किन्तु व्यावहारिक स्थिति इससे भिन्न है। कुछ प्रत्यय ऐसे हैं जिनका कृत् और तद्धित दोनों रूपों में प्रयोग होता आया है। 'क' प्रत्यय भी इसी कोटि का है।

समकालिक हिन्दी शब्द-रचना-विधान के स्पष्ट दो स्तर हैं—एक तो संस्कृत के प्रत्यय और उपसर्गों द्वारा तत्सम शब्दावलि की रचना और दूसरे संस्कृत, देशी-विदेशी उपसर्गों एवं प्रत्ययों द्वारा तद्भव शब्दावलि का निर्माण। बहुत से संस्कृत-निर्मित शब्द आधुनिक साधु हिन्दी में ज्यों के त्यों लिये जा रहे हैं, जिनकी संरचना का विश्लेषण संस्कृत शब्द-रचना की विधि के अनुसार ही सम्भव है। 'क' द्वारा निर्मित कृदंत और तद्धितांत शब्दों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

संस्कृत कृदंतों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

— अक :— (कर्तृवाचक)—

कृ — कारक
गै — गायक
दा — दायक
लिख— लेखक
मृ — मारक
नी — नायक

नृत — नर्तक
पठ् — पाठक
पच — पाचक

— उक :—(कर्तृवाचक)—

भिक्ष् — भिक्षुक
भू — भावुक
काम् — कामुक

हिन्दी कृदंत—

— क :—(भाववाचक, स्थान वाचक)—

बैठ् (ना) — बैठक
फाड् (ना) — फाटक

(कर्तृवाचक)— मार — मारक
घोल — घोलक
घाल — घालक
जांच — जांचक

— अंकू, आक, आका, आकू (कर्तृवाचक)—

उड़् — उड़ंकू, उड़ाका, उड़ाकू
लड़् — लड़ंकू, लड़ाका, लड़ाकू
पैर — पैराक
तैर — तैराक
धड़ — धड़ाक, धड़ाका, धड़क
चट — चटक, चटाक, चटाका

— क+आ=का और क+ई=की

छील — छिलका
फिर — फिरकी
फूट — फुटकी
डूब — डुबकी
बैठ — बैठकी

संस्कृत तद्धितांत—इसमें -अक और -इक रूप अधिक प्रचलित हैं—

-अक— मीमांसा — मीमांसक
शिक्षा — शिक्षक

-इका
मीमांसिका
शिक्षिका*

-इक— तर्क — तार्किक
अलंकार — आलंकारिक
न्याय — नैयायिक
वर्ष — वार्षिक

ऊक—जागरूक

---

*इनका का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है।

दिन	—	दैनिक	= अ+अ=आ	स्वर वृद्धि के नियम इस प्रकार हैं।
मुख	—	मौखिक	= अ+इ=ऐ	
योग	—	यौगिक	= अ+उ=औ	
देह	—	दैहिक	= अ+ओ=औ	
नीति	—	नैतिक		
श्रम	—	श्रमिक		
पथ	—	पथिक		

-इक प्रत्यय लगने से सामान्यतः आधारभूत रूप में स्वर वृद्धि हो जाया करती है, किन्तु यह सर्वथा आवश्यक नहीं है, जैसा कि श्रमिक और पथिक से स्पष्ट है। कामता प्रसाद गुरु ने 'ऊ वाचक' 'क' प्रत्यय का इस संदर्भ में उल्लेख करते हुए 'पुत्रक' और 'बालक' के उदाहरण दिये हैं, जो अनावश्यक लगते हैं; क्योंकि हिन्दी में 'पुत्रक' का प्रयोग होता नहीं और 'बालक' में 'क' प्रत्ययवत् नहीं रह गया है।

हिन्दी पद्धित में क्+आ, क+ई और 'अक' के रूप मिलते हैं—

का—	छोटा	—	छुट+का
	बडा	—	बड़+का
	चुप	—	चुपका
	छाप	—	छप-।-का
की—	कन	—	कनकी
	टम	—	टमकी (छोटी ढोल)
अक—	ढोल	—	ढोलक (छोटी ढोल)

इसके अतिरिक्त 'क' प्रत्यय कुछ अन्य शब्दों में यौगिक स्थिति में होकर शब्द का अभिन्न अंग हो गया है, और उसे अब प्रत्यय के रूप में विचार करना अनावश्यक है—जैसे

दीप+क	=	दीपक
अधि+क	=	अधिक
लाड़~लड़+का	=	लड़का
माय~मै+का	=	मैका
बाल+क	=	बालक

'ठंढक' शब्द में वस्तुतः ठंढा विशेषण से 'ठंढक' भाव-वाचक संज्ञा 'क' प्रत्यय जोड़कर बनी है, किन्तु 'ठंढ' का स्वयं इस अर्थ में प्रयोग होता है, इसलिए 'क' यहां एक निरर्थक सी स्थिति में रह जाता है।

अब तक समसामयिक हिन्दी शब्द-रचना में कृत और तद्धित प्रत्यय के रूप में अनेक प्रत्ययों का 'क' प्रत्यय के संदर्भ में उल्लेख किया गया है। यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि उक्त क, अक, इक, आक, आका, आकू इत्यादि में 'क' प्रत्यय या पदग्राम के ही विभिन्न रूपान्तर अथवा संरूप हैं या भिन्न हैं। इस प्रश्न पर हम तीन दृष्टियों से विचार कर सकते हैं—१. रूप-रचना २. वितरण और ३. अर्थ।

रूप की दृष्टि से व्यंजन ध्वनि साम्य है और सब के साथ स्वर ध्वनियां भिन्न हैं। इस भिन्नता का आधार भी कोई ध्वनिग्रामिक प्रतिबन्ध नहीं प्रतीत होता है। तो भी यदि अन्य दृष्टियों से एकता हो तो इतनी रूप भिन्नता क्षम्य है।[1]

वितरण की दृष्टि से इनमें कुछ परिपूरक वितरण में हैं जैसे क, उक, अक, आक, आका और आकू किन्तु 'इक' व्यतिरेकी स्थिति में पाया जाता है—

भावुक	—	भावनावाला
भाविक	—	भूत भविष्य की घटनाओं से पूर्ण परिचित
भाषक	—	बोलने वाला
भाषिक	—	भाषा सम्बन्धी, बोली सम्बन्धी
वाचक	—	पढ़ने वाला
वाचिक	—	वचन सम्बन्धी

१. क्योंकि जैसा कि Nida का मत है कि—Forms which have a common semantic distinctiveness but which differ in phonemic form (i. e. the phonemes or order of the phonemes) may constitute a morpheme provided the distribution of formal differences is phonologically definable. Morphology, Nida, Page 14.

इस दृष्टि से 'क' एक रूपग्राम तथा अक, उक, आक आदि उसके सरूप तथा 'इक' भिन्न पदग्राम ठहरते हैं।

अर्थ की दृष्टि से—

-क— मारक (मारने वाला)
जांचक (जांचने वाला)
-अक— नर्तक (नृत्य करने वाला)
पाठक (पढ़ने वाला)
-उक— भिक्षुक (भिक्षा मांगने वाला)
-आक— पैराक (पैरने वाला)
-आका— उड़ाका (उड़ने वाला)
-आकू— लड़ाकू (लड़ने वाला)

आदि में कोई अन्तर नहीं है। सभी 'वाला' 'करने वाला' या doer का अर्थ वहन करते हैं। दूसरी ओर 'इक' प्रत्यय का अर्थ है 'से सम्बन्धित'

सांसारिक	(संसार से सम्बन्धित)
धार्मिक	(धर्म से सम्बन्धित)
आर्थिक	(अर्थ से सम्बन्धित)
आध्यात्मिक	(अध्यात्म से सम्बन्धित)
आंगिक	(अंग से सम्बन्धित)
नैतिक	(नीति से सम्बन्धित)

इस दृष्टि से भी 'इक' प्रत्यय 'क' प्रत्यय से भिन्न हो गया है। अतएव समध्वन्यात्मक होते हुए भी अर्थ की भिन्नता के आधार पर इन्हें दो भिन्न पदग्राम माना जा सकता है।[१]

'क' और 'इक' दोनों उत्पादक प्रत्यय (derivational morpheme) हैं, क्योंकि इनके पश्चात् अन्य उत्पादक प्रत्ययों और विभक्ति प्रत्ययों (Inflectional morphemes) का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—

उत्पादक प्रत्यय—ता—	भावुकता
	सांसारिकता
विभक्ति प्रत्यय—ओं—	लेखकों
	दार्शनिकों।

'क' और 'इक' दोनों प्रत्यय संज्ञा, विशेषण और नाम धातुओं का निर्माण करते हैं। नाम धातुओं में संज्ञावत् गुण निहित होने के कारण मुख्यतः दोनों संज्ञा और विशेषण की संरचना से सम्बन्धित माने जाने चाहिए। व्याकरणिक दृष्टि से संज्ञा और विशेषण भिन्न माने जाते हैं, किन्तु यहां दो भिन्न कोटि के शब्दों की रचना करते हुए भी 'क' और 'इक' से अन्य पदग्राम नहीं निर्धारित किये जा सकते, क्योंकि इनके द्वारा निर्मित शब्द वस्तुतः संज्ञा या विशेषण हैं, यह प्रयोग पर निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में Vendnyes का यह मत उल्लेखनीय है—'As regards the adjective, it often differs very little from the noun. In the Indo-European languages they seem to derive their origin from the same source, and in good many cases they are identical in form.' वस्तुतः दोनों के मूल में एक ही आधारभूत तत्त्व होने के कारण ही विशेषणों का संज्ञावत् प्रयोग सम्भवत् हुआ है। इस सम्बन्ध में Brandal का मत भी उल्लेखनीय है कि—'Even though the adjective lays stress on the quality and is thus to some extent qualitative, it always has a substance in the background that is why it is possible to perform the so-called conversion of adjective into noun.' इसीलिए यदि 'क' और 'इक' प्रत्ययों से युक्त संज्ञा और विशेषण दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं तो उनके विभिन्न रूपों में कोई अन्तर्विरोध नहीं माना जाना चाहिए।

लेखक	—	संज्ञा
जांचक, मारक	—	विशेषण

१. क्योंकि Nida के अनुसार Momophonous forms with distinctly different meaning constitute different morphemes. Nida—Morphology, पृ० ५६.

भिक्षुक — संज्ञा
कामुक — विशेषण
श्रमिक — संज्ञा
नैतिक — विशेषण
दार्शनिक — संज्ञा, विशेषण ।

'क' प्रत्यय के विभिन्न रूपान्तरों या संरूपों के सम्बन्ध में इतना और उल्लेखनीय लगता है कि कि आका, आकू, अंकू आदि रूपों में 'क' या 'अक' से भिन्नता हिन्दी में युक्त संज्ञा शब्दों के स्वरों के प्रभाव के कारण हुई है। जैसे धड़ाक से धड़ाका। अंत्य आ 'बकरा', 'पत्ता' आदि स्वरों के सादृश्य पर आया। इसी प्रकार आकू, अंकू को उड़ाकू, खाऊ आदि के आऊ ने प्रभावित किया है।

इस प्रकार 'क' प्रत्यय के समकालिक विवेचन से हम चार निष्कर्षों पर पहुंचते हैं—

१. 'क' पदग्रामिक स्तर पर 'इक' से भिन्न है
२. 'क' और 'इक' सजीव प्रत्यय के रूप में अब भी प्रचुर शब्द रचना कर रहे हैं और अपना एक सुस्पष्ट अर्थ वहन कर रहे हैं।
३. 'क' के कुछ सदस्य केवल लघुता (diminutives) सूचक अर्थों को वहन कर रहे हैं, इसलिए वे 'क' पदग्राम से भिन्न हैं—जैसे छुटका, छुटकी, ढोलक।
४. कुछ सदस्य 'क' के केवल समन्वन्यात्मक मात्र हैं—वे प्रत्ययवत् न रहकर शब्द केअ भिन्न अंग बन चुके हैं और अर्थ की दृष्टि से वे मर चुके हैं—जैसे बालक, दीपक, अधिक, अमुक आदि।

भाषा की इस 'घिस घिस' की लड़ाई में जहां कि हमारे चरितनायक 'क' प्रत्यय के कुछ सदस्य मृत हो चुके हैं और 'इक' के समान सेनापति विद्रोही हो गये हैं, उसके एक और पराक्रम का उल्लेख किये बिना वर्णन अधूरा रह जायेगा। 'क' प्रत्यय अनेक शब्द योद्धाओं का शिरोच्छेन कर उनका कवच धारण कर चुका है और इस प्रकार उसकी संघर्ष की क्षमता या उत्पादनशीलता कई गुनी बढ़ गई है। 'क' द्वारा निर्मित इस समय दर्जनों शब्द-खण्ड (word fragment) हिन्दी में प्रचलित हैं, जिनका प्रयोग प्रत्ययवत् हो रहा है[1], वे इस प्रकार हैं—

१. आत्मक — रहस्यात्मक. तुलनात्मक, वर्णनात्मक आदि।
२. मूलक — क्रियामूलक, भावमूलक, अभावमूलक आदि।
३. अर्थक — निरर्थक, प्रेरणार्थक, क्रियार्थक आदि।
४. वाचक — स्वभाववाचक, संख्यावाचक, स्थानवाचक।
५. कारक — हानिकारक, व्यवधानकारक आदि।
६. सूचक — भावसूचक, अभावसूचक, दिशासूचक।
७. चिंतक — शुभचिंतक, हितचिंतक आदि।
८. जनक — दुखजनक, खेदजनक, सुखजनक।
९. परक — शान्तिपरक, भयपरक आदि।
१०. नाशक — कर्मनाशक, कृमिनाशक, धननाशक आदि।
११. वाहक — पत्रवाहक, संदेशवाहक आदि।
१२. चालक — मोटर चालक, रिक्शा चालक आदि।
१३. विषयक — शान्तिविषयक, अशान्तिविषयक आदि।
१४. दायक — लाभदायक, फलदायक आदि।
१५. पालक — आज्ञापालक, प्रतिज्ञापालक।

सामान्यतः प्रत्ययों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैयाकरणों और भाषाविदों की धारणा रही है कि वे कभी स्वतंत्र शब्द रहे होंगे, किन्तु प्रत्येक प्रत्यय के सम्बन्ध में यह बात तथ्यपूर्ण नहीं है—भाषाविद् येस्पर्शन के शब्दों में—"According to the orthodox theory of linguists all suffixes should have taken origin in independent words, which have gradually down to subordinaion. Though this is evidently true of

---

१. Hans Marchand की Semi Suffix के धारणा के अनुसार इन्हें भी अर्द्ध प्रत्यय कहा जा सकता है। The Categories and Types of Present-day English Word Formation, Page 290.

some suffixes in historical times, an enormous multitude of suffixes have never and probably never be explained in this way." येस्पर्शन का उक्त कथन 'क' प्रत्यय के सम्बन्ध में भी लागू होता है। 'क' प्रत्यय स्वतंत्र शब्द की सत्ता में क्या था, यह ज्ञात नहीं है। जहां तक प्रत्यय रूप का प्रश्न है ह्विट्नी के अनुसार यह उत्पत्ति की दृष्टि से आनुषंगिक विशेषणों के निर्माण करने वाले प्रत्ययवर्ग में से एक था। इसका यह गुण बहुत कुछ अंशों में अब भी शेष है। एक ओर यह लघुता (diminutives) सूचक शब्दों की संरचना में निपुण है तो दूसरी ओर और अधिक व्यापकरूप से एक ऐसे तत्त्व के रूप में प्रयुक्त होता है जिसकी एक परिभाषा देना कठिन है, किन्तु अनेक संज्ञा और विशेषण शब्दों के साथ जुड़ कर उनका अर्थ निश्चित दिशा में परिवर्तित कर देता है। यह इसका गुण वैदिक युग से आज तक सुरक्षित है।

जैसा कि प्रत्ययों के वर्गीकरण में पूर्व संकेत किया जा चुका है कि 'क' प्रत्यय और इसके विभिन्न संरूप प्राथमिक (कृत्) और तद्धित प्रत्यय दोनों पाये जाते हैं। संस्कृत व्याकरणों की प्रत्यय-सूची में जो इस कोटि के प्रत्यय के प्रत्यय मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—

कृत् :— -क
-अक
-उक
-इक

तद्धित :— -क
-अक
-इक

यह बात विचारणीय है कि क्या उक्त चार कृत् और तीन तद्धित प्रत्यय किसी एक पदग्राम के संरूप हैं अथवा स्वतंत्र पदग्राम। ह्विटनी का मत है कि उक्त समस्त प्रत्यय रूप उत्पत्ति की दृष्टि से मूलतः 'क' प्रत्यय से ही सम्बन्धित हैं।

वैदिक और लौकिक संस्कृत में कृत् प्रत्यय के भीतर -क, अक, उक और इक प्रत्ययों का प्रयोग इस प्रकार मिलता है :—

-क :— इसके अत्यन्त ही सीमित उदाहरण मिलते हैं। श्लोक ($\sqrt{}$श्रु) सुनना, स्तोक (बूंद-$\sqrt{}$स्तु)

-अक :— प्राचीन वैदिक भाषा में इसके बहुत कम उदाहरण ('अ' प्रत्यय) मिलते हैं।

ऋग्वेद में यह — पावक, सायक
यजुर्वेद में — अभिक्रोषक

कालान्तर में इसके प्रयोग प्रचुर हैं—धातु में स्वर योग के साथ—
नायक, दायक, पाचक, ग्राहक, बोधक, जनक।
स्त्रीलिंग — अका, अकी और प्रायः इकी।
नायिका, बोधिका।
आक—कभी आक रूप भी मिलता है—
जलपाक, भिक्षाक
आकु—इक्ष्वाकु (ऋग्वेद)

-उक :— वेदों में इसका प्रयोग अल्प और ब्राह्मणग्रन्थों में प्रचुर है।
शिशुक (ब्रा०) ऋग्वेद में शिशु। भावुक, वेदुक
उका रूप भी मिलता है—पादुका।

ऊक :— कहीं-कहीं उक से ही विकसित लगता है—ऊक भी है—
इच्छूक, मज्जूक जागरूक

-इक :— कुछ धातुओं में इक और ईक प्रत्यय जोड़े गये हैं।
वृश्चिक, बृच्छिक
-इका— ऋषिका

तद्धित—क :—प्राचीन संस्कृत भाषा में विशेषण निर्माता के रूप में इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं। अतंक (अंत), बाल्हीक (बाल्ही) संख्याओं से—एकक, द्वक, त्रिक, अष्टक, त्रितियाक (of the third day), सार्व-

नामिक प्रातिपदिकों से अस्माक (ours), युष्माक (yours), ममक (mine), अधिक, रूपक (रूप-with form), बभ्रुक (बभ्रु-brown) इत्यादि ।

लघुतासूचक अर्थ के सम्भावना वाले शब्द—कुमारक, पादक, पुत्रक (little son), कभी-कभी लघुतासूचक रूप में सार्वनामिक धातुओं और प्रातिपदिकों में 'क' प्रत्यय लगता है जैसे—त से तकम्, तकत, तकस, स से सक, य से यकस, यक, अमु से अमुक । ऋग्वेद में अन्यक ।

सामान्य संज्ञाओं और विशेषणों से निर्मित रूप—अस्तक (घर), नासिका, मक्षिका, दूरक (distant), सर्वक (all), धेनुका (धेनु), नग्नक (नग्न), बद्धक (बद्ध), अर्भक (small), शिशक (young), एजात्क (trembling), पतयिष्णुक (flying), बाद की भाषा में इस प्रकार के असंख्य संज्ञा और विशेषण प्रातिपदिक हैं जो लिंगानुसार 'क' और 'का' अन्तयुक्त हैं ।

अव्युत्पन्न सामासिकों से स्वल्पक (very small), पर्वनमानक (आगे बढ़ता हुआ), विक्षिणक (destroyed) हैं ।

कालान्तर में ब्राह्मण ग्रन्थों में सम्बन्धकारकीय सामासिक विशेषणों और विभक्ति आदि के लिए सुलभ प्राति-पादिकों के निर्माण के लिए इसका प्रयोग होने लगा । अनाक्षिक (नेत्रहीन), व्यस्थक (अस्थिहीन), एकगायत्रिक (एक गायत्री-युक्त), गृहीत्वस्तीरीक (जिसने कल का जल पिया हो), सपत्नीक, बहुहस्तिक (बहुत सी हाथियों वाला), सदीक्षोपसत्क (दीक्षा और उपसद सहित) अभिनववयस्क (युवक), अंगुष्ठमात्रक (अंगूठे के आकार का) ।

'क' प्रत्यय के पूर्व आने वाले स्वर का रूप अनिश्चित होता है । स्त्रीलिंग में -इका और पुल्लिंग में -अक तो निश्चित रूप से आते हैं । ऋग्वेद में केवल एक उदाहरण मिलता है जबकि अथर्ववेद में अनेक हैं—इयत्तक, इयत्तिका ।

-अक और -इक व्याकरण शास्त्रियों द्वारा स्वतंत्र तद्धित प्रत्यय के रूप में दिये गये हैं, जिनके योग से मूल रूप में 'वृद्धि' होती है । मूलतः दोनों 'इ' और 'अ' अंत्य स्वरों के पूर्व 'क' प्रत्यय के योग से बने हैं । यद्यपि इनका स्वतंत्र प्रयोग होने लगा ।

-अक से निर्मित वृद्धि रूप प्राचीन संस्कृत में नहीं हैं—यदि मामक को छोड़ दिया जाय—कालांतर में आव-श्यक, बार्द्धक (वृद्धावस्था), (delightfulness), रामणीयक आदि हैं ।

-इक वृद्धि से व्युत्पन्न शब्द ऋग्वेद में तो बिल्कुल नहीं मिलते और अन्य वेदों में भी बहुत कम उदाहरण हैं—वासंतिक, वार्षिक (वर्षाऋतु का), हैमंतिक (जाड़े का), अथर्ववेद में—कैरातिका (किरात की) । कालान्तर में इन प्रत्ययों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। वैदिक, धार्मिक, आह्निक (दैनिक), दौवारिक (द्वाररक्षक), नैयायिक ('न्याय' में निपुण),

क, अक, इक, उक, आदि प्रत्ययों से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में अनेक प्रत्ययों का विकास हुआ है । आधुनिक हिन्दी भाषा और बोलियों में उनका प्रचर प्रयोग होता है । वे रूप और अर्थ की दृष्टि से भी 'क' प्रत्यय वर्ग से भिन्न स्वतंत्र प्रत्यय हो गये हैं ।

-क —संस्कृत के स्वार्थिक और ऊन वाचक -क प्रत्यय का विकास प्राकृतों में अ और उ स्वरों में हो गया—

	लघुक	>	लहुअ		
	कदंबक	>	कलबंअ		
	नंदकः	>	णंदउ		
	मयूरकः	>	मोरउ		
	स्त्री-लिंग में	>	-इ, ई		
(इका)—	लतिका	>	लइ		
	कीर्तिका	>	कित्तिउन	>	कित्ती
	चन्द्रमुखिका	>	चन्द्रमुहिअ	>	चन्द्रमुही
	नारिका	>	णारिअ	>	णारी
	भूमिका	>	भूमिअ	>	भूमी[1]

-इक— -इक से :—(कार-।-इक) =

कतृवाचक संज्ञापद—भिक्षाकारिक > भिक्खाआरिअ > भिखारी ।

पुजारी, जवारी ।

---

१. प्राकृत पैंगलम—Vol. IV.

-आक—(आ) >प्रा० भा० आ० भा० के आक प्रत्यय से 'आ' का जन्म हुआ है। वैदिक युष्माक (तुम्हारा), अस्माक (हमारा), पवाक, जल्पाक (बकवादी), भिक्षाक (भिखारी) इत्यादि में आक प्रत्यय ही है।

> आक > आअ > आ

यह प्रत्यय विभिन्न अर्थों को प्रकट करता है—निश्चय, गुरुत्व, लघुत्व आदि के अतिरिक्त इसका स्वार्थ प्रयोग भी होता है—

निश्चय	—	बकरा	<	स० बर्कर		
गुरुत्व	—	ऊंचा	<	स० उच्चैस		
लघुत्व	—	नीचा	<	सं० नीचैस		
स्वार्थ	—	पत्र	>	पत्त+आ	>	पत्ता

भोजपुरी और अवधी में—चोर+वा—चोरवा, फगुआ इत्यादि में वा रूप में हैं।

-उक— -उक > आऊ—इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा०—

णिच्-।-आप्-।-उक (क्रियामूलक विशेषण प्रत्यय) से है।

वाडक, नाशुक, उपक्रामुक, वेदुक, भावुक, भिक्षुक, धातुक आदि।

बिकाऊ, टिकाऊ, जड़ाऊ, उड़ाऊ आदि आऊ प्रत्यय से ही बने शब्द हैं।

इसी से 'उआ' प्रत्यय भी बना जिससे अनेक संज्ञा और विशेषण शब्द बनते हैं—

बन्धुआ, गेरुआ, टहलुआ।

उक से ऊ प्रत्यय भी बना—

संज्ञा से विशेषण —	ढाल	—	ढालू
	पेट	—	पेटू
	बाजार	—	बाजारू
प्यार का रूप —	बच्चा	—	बच्चू
	लल्ला	—	लल्लू

छोटी जातियों के नाम —कल्लू, झगड़ू।

सं० उक > म० भा० आ० भा० उअ हुआ।

-आक— -आक, आका—इन प्रत्ययों से गुणवाचक विशेषण बनते हैं। हार्नले ने इसकी व्युत्पत्ति स० आपक से बतलाई है। परन्तु चटर्जी प्राकृत अक्क या आक्क से मानते हैं—

स० उड्डापक > उड्डावक > उड्डाअक > उड़ाका।

केलाग संस्कृत -आकु प्रत्यय से ही इसका विकास मानते हैं।

केलाग के अनुसार संस्कृत शब्द पालक और कारक से 'वाला' और 'हारा' प्रत्यय का विकास हुआ, जिससे आज हिन्दी में अनेक शब्द बनते हैं। उक्त शब्दों का विकास भी 'क' प्रत्यय से हुआ है।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी भाषा और बोलियों में प्रचलित

आ	—	पत्ता
वा	—	चोरवा
उआ	—	गेरुआ
आऊ	—	बिकाऊ

आदि प्रत्ययों का जनक भी 'क' प्रत्यय ही है।

इस सम्बन्ध में हिन्दी के सम्बन्ध कारक-चिह्न 'का' का भी उल्लेख आवश्यक है। उत्पत्ति की दृष्टि से सामान्यत: विद्वानों ने इसे 'कृत:' से विकसित माना है, इसलिए 'क' प्रत्यय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अवधी और ब्रजभाषा काव्य में इसके ऐसे प्रयोग मिलते हैं कि रूप की दृष्टि से 'क' प्रत्यय का भ्रम होने लगता है—

१. **मित्रक** दुख रज मेरु समाना।

२. पितु आज्ञा सब **धर्मक** टीका। (रामचरित मानस)

'अक' प्रत्यय 'लगभग', 'एकाध' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

घाम **घरीक** निवारिये, कलित ललित अलि पुंज। (—बिहारी)

पचासक आदमी—लगभग पचास आदमी।

सेरक दूध—लगभग सेर भर दूध।

'क', 'इक' के कुछ अनिश्चित अर्थ—

१. पाइल पाइ लगी रहै, लगौ **अनौलिक** लाल। (—बिहारी)

२. कोऊ **कोरिक** संग्रहौ कोऊ लाख हजार।

के या क्या का संक्षिप्त रूप भी 'क' है—

१. कहत सबै कवि कमल से मो मत नैन पखानु।
नतरुक इन बिय लगत, उपजतु बिरह-कृसानु॥ (—बिहारी)

२. **कबहुंक** ऐसी रहनि रहौंगो। (—तुलसीदास)

आवृत्तिवाचक—'क' का प्रयोग इस प्रकार है—

५ छक ३०

२ चौक ८

'इक' प्रत्यय अंग्रेजी और रूसी भाषाओं में पाया जाता है। अर्थ और रूप दोनों दृष्टि से वह हिन्दी : अभिन्न—

Historic — ऐतिहासिक Civic — नागरिक

Sporadic — patriotic, unrealistic, economic, linguistic.

'किल' के रूप में लघुतासूचक—

Canticle, particle,

रूसी में संस्कृत कुमारिका, पुत्रक आदि की भांति लघुता सूचक और हिन्दी में छुटका छुटकी की भांति—
(दोमिक—छोटा घर) (स्तोलिक—छोटी मेज) शब्द हैं।
इसके अतिरिक्त 'क' और 'इक' प्रत्यय युक्त अन्य संज्ञा और विशेषण भी रूसी में मिलते हैं।[1]

उपर्युक्त संकेतों से यह स्पष्ट है कि 'क' और 'इक' प्रत्यय भारोपीय भाषा परिवार में पाया जाता है और अधिक शोध करने पर इसकी पर्याप्त प्राचीनता सिद्ध होने की सम्भावना है।

---

१. देखिये—I. M. Pulkiva.
A Short Russian Reference Grammar.

पंचम खण्ड

विविध

चिकित्सा विज्ञान के हिन्दी पारिभाषिक शब्द

डॉ० सुरेन्द्रनाथ गुप्त एम० डी०
जनपदशल्यक, बहराइच ।

स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् देश के प्रायः सभी विद्वानों, प्रशासकों और नेताओं का ध्यान राष्ट्रभाषा-मस्या की ओर गया और इस प्रश्न पर पर्याप्त गम्भीरता से विचार किया गया । अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का बहुमत ने निर्णय किया । विदेशी भाषा की जगह अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की उपयोगिता, सुविधा और उत्कृष्टता पर दो मत नहीं हो सकते । आज नहीं तो कल, हमारे देश के विश्वविद्यालयों और प्राविधिक (टैक्नीकल) कॉलेजों में हिन्दी अपना वास्तविक स्थान ग्रहण करेगी । माध्यमिक स्तर तक हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बना कर अब केवल एक ही विकल्प रह जाता है कि स्नातक (ग्रेजुएट) और स्नातकोत्तर (पोस्ट ग्रेजुएट) कक्षाओं तथा वैज्ञानिक और प्राविधिक शिक्षा के कार्यक्रम में भी हिन्दी माध्यम लाया जाये । बिना किसी विवाद में पड़े हम तो इसे एक अनिवार्य सम्भावना के रूप में देखते हैं । यह बात दूसरी है कि अभी इसमें कितना समय और लगता है । विज्ञान के विद्यार्थियों की शिक्षा के अतिरिक्त जनता को भी उसके लिये आवश्यक साहित्य देना है और वह केवल हिन्दी तथा दूसरी प्रादेशिक भाषाओं में ही दिया जा सकेगा ।

इस सबके लिये उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता है । इसलिये हमारे विचारशील शिक्षाविदों और प्रशासकों का इस ओर जागरूक होना समीचीन है ।

वर्तमान अभाव का कारण—यह ठीक है कि अभी आधुनिक साहित्य के पठन-पाठन, लेखन और अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि का हमारे पास अभाव ही है । इससे हम इन्कार नहीं करते । पर इसके लिये हम भाषा की कथित असमर्थता को उत्तरदायी मानने के लिये तैयार नहीं हैं । बात यह है कि अभी तक हमें इनकी आवश्यकता ही नहीं थी, तो फिर इनकी रचना कैसे होती ? हमारी गुलामी की पिछली शताब्दियों में हमारी भाषा सामान्य बोलचाल की कामचलाऊ भाषा रही है । केवल कुछ ललित साहित्य और धर्मग्रन्थों की रचना इसमें समय-समय पर होती रही है । ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास तो इस समय में प्रायः अवरुद्ध ही रहा है । तो फिर तत्सम्वन्धी साहित्य की रचना और वृद्धि भी कैसे सम्भव होती ।

अंग्रेजों के शासनकाल में जरूर देश में विज्ञान और टैक्नीकल शिक्षा का आविर्भाव और प्रगति हुई पर तब इसका माध्यम अंग्रेजी रहा और हिन्दी लाभान्वित नहीं हो सकी ।

अतीत—हां, जब और जिस दिशा में हमने अध्ययन, निर्माण और प्रगति की, तब तत्सम्वन्धी साहित्य का निर्माण भी प्रचुरता से हुआ । और इन सब क्षेत्रों में हमारी भाषा की तत्कालीन व्यापक अभिव्यंजना, पारिभाषिक शब्दावलि और लेखन शैली देखते ही बन पड़ती है । ज्योतिष, गणित, स्थापत्य, संगीत, आयुर्वेद, दर्शन आदि के क्षेत्रों में तत्कालीन साहित्य की कमी नहीं है । हर अभिव्यक्ति की आवश्यकता के लिये उपयुक्त शब्द रचे गये थे । अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । 'कन्या', 'बाला', 'शोडषी', 'तरुणी', 'प्रौढ़ा' और 'वृद्धा' नारी की विभिन्न अवस्थाओं को इंगित करने वाले शब्द हैं । 'केश', 'रोम', 'लोम' तीनों शब्द बाल को इंगित करने के लिये प्रयुक्त होते हैं, पर तीनों में कुछ विशिष्ट अर्थ निहित हैं । 'त्वक्' और 'चर्म' खाल के लिये दो शब्द हैं, पर निश्चय ही 'त्वक्' जीवित त्वचा के लिये और 'चर्म' निर्जीव चमड़े के लिये प्रयोग किये गये हैं । शरीर रचना (एनेटमी) का जो ज्ञान उस समय तक था उसके लिये भी उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अभाव न था । 'स्कन्ध', 'बाहु', अग्रबाहु', 'कर', 'करतल' तथा 'नितम्ब', 'जंघा', 'जानु', 'टांग', 'पाद' तथा 'पादतल' 'ऊर्ध्व' तथा 'निम्न शाखाओं' के विभिन्न भागों को इंगित करते हैं । हाथ की पांचों उंगलियों के विशिष्ट नाम 'अंगुष्ठ', 'तर्जनी', 'मध्यमा', 'अनामिका' तथा 'कनिष्ठा' रखे गये । 'काम शास्त्र' (सैक्सॉलोजी) जीव विज्ञान-सम्बन्धी विषय और

ज्ञान में अपना प्रमुख स्थान रखता है। प्राचीन भारत में इस विषय में विशेष अध्ययन और प्रगति हुई और तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रचुरता से निर्माण हुआ। 'वात्स्यायनकृत कामसूत्र' को जिन्होंने पढ़ा है वे जानते हैं कि कितनी वैज्ञानिक शैली और सूक्ष्म विवेचना के साथ कामशास्त्र के एक-एक अंग का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ की पारिभाषिक शब्दावलि की सहज अभिव्यंजना, उपयुक्तता और वर्णनात्मकता देखते ही बनती है।

पर काल-चक्र के प्रभाववश न केवल भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता का ही अपहरण हुआ, बल्कि तब हमारी तमाम सांस्कृतिक और वैज्ञानिक प्रगति में गतिरोध हो गया। इतना ही नहीं, जो कुछ था उसका भी निरंतर ह्रास हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे विचारों के आदान-प्रदान का क्षेत्र संकुचित हो गया--परिणामतः भाषा की व्यापकता और मुखरता कुंठित हो गयी। ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति, शास्त्र, दर्शन की विचारवाहिनी देववाणी बोल-चाल की कामचलाऊ 'वर्नाक्यूलर' बन कर रह गयी और आज तो हम इतना विश्वास भी खो बैठे हैं कि ५२ अक्षरों की वर्णमाला और मात्रायें अलग से लेकर हम आधुनिक साहित्य का निर्माण अपनी भाषा में कर सकते हैं, इसमें भी शंका है।

वर्तमान जागरूकता और नये प्रयास--इधर इस दिशा में कुछ जागरूकता दिखाई पड़ने लगी है। कुछ सरकारी और गैर-सरकारी संस्थायें इस ओर प्रयत्नशील हैं। व्यक्तिगत प्रयास भी हो रहे हैं। विज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में प्रगति तेजी से हो रही है। पर चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में इस दिशा में सर्वत्र उदासीनता व्याप्त है। वह क्षेत्र जहां यह काम ठिकाने से हो सकता है और जिनका नैतिक दायित्व भी है (मेरा संकेत चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा संस्थाओं की ओर है) आज भी इस ओर से उदासीन ही हैं। इतना ही नहीं, अप्रत्यक्षरूपेण विरोधभाव भी रखते हैं। उनकी इस उदासीनता का कारण हिन्दी के प्रति उपेक्षा भाव अथवा अंग्रेजी से विशेष प्रेम नहीं है, अपितु उनकी अकर्मण्यता ही अधिक है। अब अपने बुढ़ापे में सहसा इस परिवर्तन की क्षमता अपने में नहीं पा रहे हैं और न इसके लिये प्रयत्न करना ही उन्हें अंगीकार है।

पारिभाषिक शब्दों की स्वाभाविक रचना उन्हीं परिस्थितियों में सम्भव होती है जहां, जब और जिन्हें उनकी आवश्यकता प्रतीत हो। इससे परे अगर प्रयास किया जाये (जैसा मौजूदा स्थिति में हो रहा है) तो उनमें दोष और भ्रांतियों का आ जाना स्वाभाविक है। चिकित्सा विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के सभी मौजूदा प्रयास प्रायः ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा हो रहे हैं जो हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी प्रभृति भाषाओं के पंडित तो अवश्य हैं और शब्दों की खोज और उनके निर्माण का कार्य भी कुशलतापूर्वक कर सकते हैं, परन्तु जिस विषय के पारिभाषिक शब्द वे बनाने जा रहे हैं उससे नितान्त अनभिज्ञ हैं। अतः भाषा के इन विद्वानों से वैज्ञानिक और प्राविधिक पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में भ्रान्तियां हो जाना बहुत सम्भव है।

पारिभाषिक शब्दों की व्युत्पत्ति के आधारभूत सिद्धान्त--किसी भी आधुनिक भाषा में विज्ञान की किसी भी शाखा के पारिभाषिक शब्द किसी एक ही काल, देश और स्कूल, द्वारा निर्मित नहीं हुए हैं, अपितु विज्ञान की उस शाखा की उन्नति में भिन्न-भिन्न स्थान पर देश-देशान्तरों के विविध वैज्ञानिकों द्वारा रचे जाते हैं। इनकी रचना में अभिव्यक्ति की आवश्यकता, निर्माता की व्यक्तिगत रुचि, तत्सम्बन्धी घटना के इतिहास, स्वभाव, गुण आदि का विशेष प्रभाव होता है। इसलिये पारिभाषिक शब्दों की उत्पत्ति के आधारभूत सिद्धान्तों को शब्दों की सीमा से बांधा नहीं जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक पारिभाषिक शब्द का अपना इतिहास और अपना ही सिद्धान्त होता है। उदाहरण के लिये कुछ स्थूल सिद्धान्त बताये जा सकते हैं--

(१) अनेक पारिभाषिक शब्द किसी विशेष ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेकर बनते हैं। यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देश, काल और व्यक्ति से सम्बन्धित हो सकती है अथवा वस्तु विशेष या विषय के आविष्कार या अनुसन्धान सम्बन्धी किसी घटना को लेकर हो सकती है।

'सिनकोना', (माल्टा फीवर, 'रॉकी माउन्टेन फीवर', 'मदुराफुट', 'ओरियण्टल सोर', 'एम बी० ६९३', 'डी ८६०' आदि अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

'कुनीन' उत्पन्न करने वाले पेड़ का 'सिनकोना' नाम 'काउन्टेस सिनकोना' पीरु देश के शासक काउन्ट सिनकोना की पत्नी के नाम पर रखा गया है। उसकी चिकित्सा के लिये इसका प्रयोग किया गया था। 'फिरंग रोग', 'सिफलिस' के लिये ऐसा ही भारतीय शब्द है।

(२) बहुत से नाम और पारिभाषिक शब्द उस रोग, वस्तु विशेष अथवा क्रिया के किसी विशेष गुण, रूप या स्वभाव के द्योतक होते हैं।

उदाहरणतः, 'यैलोफीवर', 'रिकेट्स (अस्थि विकृति)', 'ऑस्टियोमेलेशिया' (मृदुलास्थि), 'ऑस्टियोपोरोसिस', 'अनड्यूलेन्ट फीवर', 'सिकल सैल एनीमिया', 'पलाग्राप्रिवेन्टिंग फैक्टर', 'एन्टी इनफैक्टिव विटामिन', 'स्ट्रैप्टोकॉकस', 'स्टैफिलोकॉकस', 'डिप्लोकॉकस', 'कॉमा विब्रियो' आदि।

(३) तत्सम्बन्धी आविष्कार और अनुसन्धान करने वाले महान् वैज्ञानिकों के नाम पर भी अनेक पारिभाषिक शब्द बनाये जाते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं--

'रॉन्जन रे', 'कॉक्स बैसिलस', 'हैन्सन्स डिजीज', 'एडीसन एनीमिया', 'ग्लिसौन्स कैपस्यूल', 'हन्टर्स कैनाल', 'चोपड़ा टैस्ट', 'हन्टेरियन शैन्कर', 'हर्क्स हाइमर रिएक्शन', 'सिमन्डकैकेक्सिया', 'फ्रॉल्हिक सिन्ड्रोम', 'शीहान्स डिजीज', 'वीडाल रीएक्शन', 'वासरमैन टैस्ट' आदि।

(४) कुछ शब्द किसी देश और काल विशेष की सांस्कृतिक अथवा पौराणिक पृष्ठभूमि के आधार पर भी बनते हैं। 'हाईजीन' तथा 'पनैशिया' ऐसे ही शब्द हैं। ये दोनों शब्द दो यूनानी देवी-देवताओं के नाम पर बने हैं। 'रामबाण औषध' ऐसा ही एक भारतीय शब्द है।

(५) बहुत-सी औषधियों, द्रव्यों और रासायनिक पदार्थों के नाम उनकी उत्पत्ति के परिचायक होते हैं। जैसे— 'पैनेसिलिन', 'स्ट्रैप्टोमाइसिन', 'ऑरियोमाइसिन', 'फोलिक एसिड', 'लैक्टोफ्लेविन' आदि।

(६) अनेक पदार्थों के नाम उनकी रासायनिक रचना के आधार पर बनाये जाते हैं जैसेकि--'डिहाइड्रौक्सी कोलिस्टरॉल', 'ऑक्सीक्यूनोलीन', 'क्लोर ऑक्सी क्यूनोलीन', 'आयड क्लोर ऑक्सीक्यूनोलीन' आदि।

(७) बहुत-से शब्द आज ऐसे भी इस्तेमाल होते हैं, जिनकी रचना के समय जो तत्सम्बन्धी मान्यतायें थीं और जिनके आधार पर वे नाम दिये गये थे, आगे चल कर वे ही मान्यतायें गलत साबित हुईं और इस प्रकार उन पर आधारित पारिभाषिक शब्दों का मूल अभिप्राय भी गलत हो गया।

पर क्योंकि एक लम्बी अवधि तक प्रयोग होने के पश्चात् सर्वसाधारण उस शब्द की व्युत्पत्ति के इतिहास और उसमें निहित मूल अभिव्यक्ति को भूल कर अब केवल उससे इंगित होने वाले रूढ़िगत सच्चे भाव को ही समझने लगा है, इसीलिये वैज्ञानिक जगत् अब भी ऐसे नामों का प्रयोग करता जा रहा है। 'मलेरिया' और 'विटामिन' ऐसे ही शब्द हैं। जब मलेरिया ज्वर का सही कारण ज्ञात नहीं था, तब यह समझ कर कि यह रोग दूषित वायु के कारण होता है, इसे मलेरिया कहा गया। विटामिन शब्द की व्याख्या हम आगे करेंगे।

(८) बहुत से पारिभाषिक शब्द बनाते समय उनकी वर्णनात्मक अभिव्यक्ति के लिये दैनिक व्यवहार की चीजों से तुलना की गयी है। प्रकट है कि इनमें शब्द निर्माणकर्त्ता के सामाजिक स्तर की प्रतिच्छाया देखने को मिलेगी। साथ ही उनकी कल्पनाशक्ति भी। ऐसे अनेक शब्द हैं--जैसे--'सॉसेजशेप ट्यूमर', 'एंचोवीसॉसपस', 'राइसवाटर स्टूल', 'क्यूरान्ट जैली स्प्यूटम', 'हेयरपिन बैन्ड', 'पिंगपांग गोनोरिया' आदि।

(९) कभी-कभी तो पारिभाषिक शब्दों की रचना करते समय अन्य सब बातें भूलकर सुविधा का ध्यान ही सर्वोपरि रखा जाता है। अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

विभिन्न विटामिनों के नाम अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षरों के नाम पर रखे गये--'ए', 'बी', 'सी', 'डी', 'ई', 'एफ', 'जी', 'एच', 'पी' आदि। इन अक्षरों का प्रयोग किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं हुआ है। जैसे-जैसे विटामिनों की खोज होती गयी, वैज्ञानिक सुविधा की दृष्टि से अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षरों का प्रयोग उनके नामकरण के लिये होता गया। आगे चलकर यदि किसी विटामिन के अन्तर्गत विभिन्न प्रभेद पाये गये तो उनके नाम के आगे अंकों का प्रयोग करके इन प्रभेदों का नामकरण भी कर दिया गया। जैसेकि 'बी$_१$', 'बी$_२$', 'बी$_३$', 'बी$_४$', 'बी$_५$', 'बी$_६$', 'बी$_७$', 'बी'$_{१२}$ आदि।

एक शब्द है 'डोपा' (DOPA)। यह छोटा-सा नाम केवल सुविधा के लिये इस पदार्थ के पूरे नाम का संकुचित रूप बना लिया गया है। इस पदार्थ का पूरा नाम है 'डिस ऑक्सी फिनायलएलेनिन'। कितना लम्बा और कठिन है। इसलिये इन चारों पदों के प्रारम्भिक अक्षरों को मिलाकर यह छोटा-सा सरल नाम बना लिया गया।

शब्दों के संक्षिप्त रूप (एब्रीवियेशन) भी इस्तेमाल होते हैं जैसे--पी$_{३२}$ (रेडियो एक्टिव फॉसफोरस के लिये), 'टी० ए० बी० वैक्सीन' आदि।

(१०) एक पारिभाषिक शब्द से तत्सम्बन्धी विभिन्न शब्द भी बनाये जाते हैं। उदाहरण के लिये शब्द 'ऑस्टियम' (ऑस्थि) थे 'ऑस्टियाइटिस', 'ऑस्टियोमेलेशिया', 'ऑस्टियोपोरोसिस', 'ऑस्टियोजनेसिस', 'ऑस्टियोमाइलिटिस', 'ऑस्टियो आर्थाइटिस', 'पेरिऑस्टियम' आदि।

(११) पारिभाषिक शब्द बनाते समय भाषा आदि की सीमित मर्यादाओं का ध्यान भी नहीं रखा जाता।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावलि में अनेक शब्द योरोप की दूसरी भाषाओं के इस्तेमाल होते हैं और आज वे अंग्रेजी बन गये हैं। इतना ही नहीं, 'कालाजार', 'कुर्ची' सरीखे शब्द भी हैं। 'Hiccough' और 'Murmur' संस्कृत के 'हिक्का' और 'मर्मर' हैं।

(१२) पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया में कभी अवरोध नहीं होता। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ इसके भी नित नये रूप देखने को मिलते हैं। वायुयान के साथ शब्द बना, 'एवियेशन मेडिसिन', 'रेडियोसक्रिय' पदार्थों के निर्माण के वाद 'रेडियेशन सिकनैस' और अब अन्तरिक्ष उड़ानों के साथ आविर्भाव हुआ, 'स्पेस-मेडिसन' और उसकी नई पारिभाषिक शब्दावलि का।

(१३) पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता का ध्यान भी रखा जाता है।

उदाहरण—'सेल्सस ने इनफ्लेमेशन के लक्षणों का वर्णन करते समय चार शब्द इस्तेमाल किये थे जिनकी ध्वनि एक रूप है—'कैलॉर', 'र्यूबॉर', 'ट्यूमर' तथा 'डोलॉर' जिनके अर्थ क्रमशः 'उप्णता', 'लालिमा', 'सूजन' तथा 'पीड़ा' हैं। ये चारों शब्द आजतक उसी रूप में इस्तेमाल होते आ रहे हैं।

ऐसी सभी दवायें जिनमें 'इनफ्लेमेशन' की पैथॉलोजी है, प्रत्यय 'आइटिस' (Itis) लगाकर नामांकित की गई हैं। जैसाकि 'ऑस्टियाइटिस', 'पेरिऑस्टिआइटिस', 'रेटिनाइटिस', 'यूविआइटिस', 'डर्मेटाइटिस', 'एडिनाइटिस' आदि।

और जहां किसी दशा की पैथॉलोजी में संशय हुआ तो तुरन्त नया शब्द बना लिया 'डर्मेडटोसिस', 'एडिनोपैथी' आदि।

ये थोड़े से उदाहरण दिये गये हैं, जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावलि से हिन्दी पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के लिये सही दिशा में प्रगति करने में हमारी सहायता करेंगे।

इससे पहले कि हम इस विषय पर आवश्यक सुझाव दें, दो बातों पर विचार और आवश्यक है। एक तो 'पारिभाषिक शब्दों की भाषा' और दूसरा 'पारिभाषिक शब्दों के हिन्दीकरण की वर्तमान दशा'।

पारिभाषिक शब्दों की भाषा—इसके बारे में भी बहुत स्थिर सिद्धान्त नहीं बनाये जा सकते। इधर एक चर्चा बहुव्यापक हो रही है कि पारिभाषिक शब्दावलि सरल होनी चाहिये, रोजमर्रा की बोलचाल की भाषा में होनी चाहिये, सबकी समझ में आने लायक होनी चाहिये। ये बातें प्रायः वे प्रशासक और नेता कहते हैं, जिन्हें इस विषय से अपने जीवन में कोई सरोकार नहीं रहा। ऐसी बातें करते समय वे यह भूल जाते हैं कि किसी भी विषय के पारिभाषिक शब्द एक वर्ग विशेष के व्यक्तियों के पठन-पाठन, लेखन और अभिव्यक्ति के लिये होते हैं और अपनी विशेष शिक्षा के कारण वे उस भाषा और शब्दावलि का आसानी से व्यवहार करते हैं। मूलतः वह इन्हीं के लिये होती भी है। चिकित्सा विज्ञान की अंग्रेजी की सामान्य पुस्तकें जिन्हें चिकित्सा विज्ञान का विद्यार्थी आसानी से पढ़ता और समझता है (जिसका अंग्रेजी का ज्ञान इन्टरमीडिएट के स्तर तक का होता है) अगर अंग्रेजी भाषा के 'ग्रेजुएट' या 'पोस्ट ग्रेजुएट' को भी दी जावे तो शायद वह एक वाक्य भी ठीक से समझ नहीं सकेगा। इसी तरह कानून की किताबों की भाषा केवल कानून के विद्यार्थी ही समझ पाते हैं। शेष सब को यह क्लिप्ट लगती है पर उस वर्ग विशेष के विद्यार्थियों के लिये रोजमर्रा की भाषा बन जाती है।

रोजमर्रा की बोलचाल की कथित भाषा में केवल दैनिक जीवन, आहार-विहार, व्यवसाय आदि छोटी-छोटी बातों का ही काम चल सकता है। इसमें 'भूख लगती है', 'हाजत महसूस होती है', 'बुखार चढ़ता है' और 'दवा पी जाती है', पर ज्ञानविज्ञान की गूढ़ बातों की, दर्शन और शास्त्रों की चर्चा इसमें नहीं होती। सर्वसाधारण के दैनिक जीवन में इस सबसे कोई प्रयोजन नहीं है। 'केमिकल' के लिये या तो 'कीमियाबी', लिखना होगा, या 'रासायनिक', दोनों ही समान रूप से कठिन हैं।

पारिभाषिक शब्दों को गढ़ते समय इनकी सुन्दरता और शिष्टता का ध्यान भी रखना होता है। 'शिश्न', 'योनि', 'मैथुन', 'स्खलन', 'चरमोत्कर्ष', 'प्रहर्षण', 'शिश्नोत्थान' आदि शब्दों के स्थान पर सड़क पर सुनाई देने वाले प्रचलित शब्दों का इस्तेमाल कहां तक श्रेयस्कर होगा—यद्यपि वे ठेठ बोलचाल के आसानी से समझ में आने वाले शब्द हैं।

कभी-कभी अनेक पारिभाषिक शब्द इस तरह के भी इस्तेमाल किये जाते हैं जिनका अभिप्राय सांकेतिक होता है—ताकि विशेष व्यक्ति ही उसे समझ सकें, हर एक नहीं। जैसे कि अंग्रेजी में 'वाटर' के लिये 'एक्वा', या 'ए०डी०', 'ट्यूबर कुलोसिस' के लिये 'कॉक्स डिजीज', 'लेप्रेसी' के लिये 'हैन्सन्स डिजीज', 'ब्रान्डी' के लिये 'स्पिरिट वाइनम्•गैलिसाई' आदि। ऐसे छद्मवेशी पारिभाषिक शब्द जानबूझ कर इस्तेमाल किये जाते हैं। इसलिये अगर हम पानी को 'जीवन', साधारण नमक को 'सैन्धव', और ब्रान्डी को 'वारुणी' कहें, तो भाषा कठिन बनाने के लिये नहीं, अपितु इस विशेष अभिप्राय के लिये ऐसा करेंगे।

पारिभाषिक शब्द बनाते समय एक विशेष ध्यान और रखना पड़ता है कि शब्द या पद छोटा हो (वर्णनात्मकता) तथा विभिन्न उपसर्गों और प्रत्ययों आदि के प्रयोग से उसी एक शब्द से अनेक सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द बनाये जा सकें। उदाहरण के लिये शब्द 'स्तन' से 'स्तनाग्र', 'स्तनमंडल', 'स्तनान्तर प्रदेश', 'स्तनीया धमनी' आदि। इस

तरह स्वभावतः पारिभाषिक शब्दों में सन्धि और समास एवं उपसर्ग और प्रत्यय का प्रयोग अनिवार्य है और इसीलिये रोजमर्रा की भाषा के स्थान पर मूल भाषा और व्याकरण का प्रयोग अपरिहार्य है।

अंग्रेजी के अधिकांश पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जो 'लैटिन' और 'ग्रीक' (यूरोप की मूल भाषायें) से बने हैं। पर अब वे अंग्रेजी के जाने-माने जाते हैं और वास्तव में अंग्रेजी के हो भी गये हैं, पर निश्चय ही रोजमर्रा की अंग्रेजी के नहीं हैं और न वे सबके लिये सरल ही हैं। पर चूंकि अब सदियों के अनवरत अभ्यास से हम इनके प्रयोग के अभ्यस्त हो गये हैं, इसलिये वे कठिन नहीं मालूम होते। चूँकि हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों से अभी हमारे कान अपरिचित हैं, इसलिये वे अपेक्षाकृत सरल, अभिव्यंजनात्मक और कोमल होते हुए भी कठिन मालूम होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करने के लिये मूल भाषा संस्कृत का प्रयोग अनिवार्य है।

ऐसा कहकर हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि शब्दों को जबर्दस्ती दुरूह बनाया जाये और न हम दूसरी प्रादेशिक भाषाओं, जनपदीय बोलियों और विदेशी भाषाओं के उपयुक्त शब्दों का बहिष्कार करने की सिफारिश ही कर रहे हैं। भाषा के इन क्षेत्रों से हमें अपरिमित शब्दराशि मिल सकती है। इसके उदाहरण हम आगे देंगे।

पारिभाषिक शब्दों के हिन्दीकरण की वर्तमान दशा––इससे पहले कि पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के बारे में कुछ रचनात्मक सुझाव दिये जावें, यह आवश्यक है कि हम वर्तमान प्रयासों के दोषों का एक सर्वेक्षण कर लें––

(१) अभी ऐसे सभी प्रयास या तो दो-चार उत्साही व्यक्तियों के एकाकी प्रयत्न हैं अथवा भारत सरकार के मंत्रालयों के वातानुकूलित कार्यालयों में हो रहे हैं। इन शब्दों के निर्माण की सही लेबोरेट्री चिकित्सा विज्ञान के पठन-पाठन, अध्यापन-लेखन के क्षेत्र (हमारी शिक्षा संस्थायें) इस ओर से नितान्त उदासीन हैं। इसीलिये न तो सही परिमाण में प्रगति हो रही है और न सही दिशा में प्रयास।

(२) पारिभाषिक शब्दों को बनाते समय आजकल सबसे दूषित प्रवृत्ति प्रत्येक शब्द अथवा पद पर अक्षरशः अनुवाद करने का प्रयत्न है। ऐसा इसलिये हो रहा है, क्योंकि जो लोग पारिभाषिक शब्दों का निर्माण कर रहे हैं वे हिन्दी में मौलिक रूप से सोचने और लिखने के अभ्यस्त नहीं हैं। यहां हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि अनुवाद किया ही न जाये, पर मक्खी के स्थान पर मक्खी चिपकाना हास्यास्पद ही होगा। जिन शब्दों के अनुवाद से सुन्दर उपयुक्त और अभिव्यंजनात्मक शब्द बन सकें, उनका अनुवाद तो करना ही चाहिये। 'रिकेट्स' के लिये 'अस्थि विकृति' और 'ऑस्टियो-मेलेशिया' के लिये 'मृदुलास्थि' बहुत सुन्दर, उपयुक्त और समानार्थी अनूदित शब्द हैं। 'अल्ट्रावायलेट' के लिये 'पराकासनी' भी ठीक है। पर अनुवाद की इस प्रवृत्ति को अपनी मर्यादा नहीं लांघनी चाहिये। यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि अनूदित शब्द उपयुक्त, शुद्ध और सुन्दर भी है या नहीं। जब और जहां मौलिक शब्द उपलब्ध हैं, या बनाये जा सकते हैं, वहां अंग्रेजी शब्द के अनुवाद का मोह ठीक नहीं है। जिन अंग्रेजी शब्दों में शब्दार्थ से परे कुछ अन्य भाव रूढ़ हो गया है, उनका हिन्दी शब्दानुवाद शब्दार्थ को तो उभार कर रख देगा, पर अधिक आवश्यक रूढ़िगत भाव का सर्वथा लोप कर देगा। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं––

'विटामिन' शब्द से सर्वसाधारण परिचित हैं और इसमें निहित भावार्थ को भी प्रायः सभी समझते हैं। शुरू में जब इस वर्ग के प्रारम्भिक सदस्यों का पता लगा ही था और इनके बारे में कोई विशेष खोज नहीं हो पायी थी, तब लोगों का विचार था कि ये पदार्थ एमाइन (Amine) वर्ग के हैं और चूंकि ये जीवन के लिये वाइटल (Vital) आवश्यक पाये गये, इसलिये सन् १९१२ ई० में 'फन्क' नामक वैज्ञानिक ने इनका नामकरण 'वाइटल' (Vital) का अन्तिम 'एल' हटाकर उसमें 'एमाइन' जोड़कर 'विटामाइन' (Vitamine) किया। बाद की खोजों से सिद्ध हुआ कि यह धारणा कि ये सभी पदार्थ 'एमाइन' वर्ग के है, मिथ्या हैं। इस तरह तब तो 'विटामाइन' शब्द ही बिल्कुल गलत हो गया। परन्तु फिर भी इस शब्द के अन्त से अक्षर 'ई' (E) हटाकर इसमें रूढ़ हुए भावार्थ के द्योतक स्वरूप इसे रहने दिया गया। इस भांति 'विटामिन' शब्द की व्युत्पत्ति का इतिहास और शब्दार्थ उसमें निहित भावार्थ से सर्वथा भिन्न है।

अब यदि इस इतिहास को भुलाकर हिन्दी में इसी भाव को अभिव्यक्त करते समय वही गलती फिर दोहरायी जावे तो उसका औचित्य नहीं प्रमाणित किया जा सकता। बनारस आयुर्वेद कालेज के डा० घाणेकर ने अपनी पुस्तकों में 'एमाइन' का हिन्दी अनुवाद 'तिक्ति' किया है और 'विटामाइन' तथा 'विटामिन' दोनों के लिये 'जीवतिक्ति' शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह 'जीवतिक्ति' में पुनः वह गलती दोहराई गई है जो 'विटामाइन' में हुई थी। 'विटामाइन' शब्द सन् १९१२ ई० में बना था और अब शब्द 'विटामिन' में निहित भाव इतना प्रचलित और सर्वविदित हो गया है कि प्रायः सभी लोग इस शब्द के शब्दार्थ को भूलकर उसके सच्चे भावार्थ के लिये ही इसका प्रयोग करते हैं। 'जीवतिक्ति'

में शब्दार्थ की ही गलती नहीं अपितु भावार्थ का भी अभाव है, क्योंकि एक भाषा के शब्द के रूढ़िगत अर्थ दूसरी भाषा में अनूदित शब्द को सहज उत्तराधिकार की तरह नहीं मिलते।

हिन्दी के विभिन्न लेखकों ने दूसरे अनेक शब्द 'विटामिन' के लिये प्रयोग किये हैं। 'खाद्यप्राण', 'जीवनीय तत्त्व', 'जीवन सत्त्व', 'जीवोज', आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं। इन सबमें सबसे अच्छा शब्द 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्राप्त पुस्तक 'शरीर रचना' के लेखक स्व० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा का दिया हुआ 'खाद्योज' है। पर मेरी समझ में तो अब हिन्दी में 'विटामिन' शब्द का प्रयोग ही श्रेयस्कर है, क्योंकि 'विटामिन' शब्द भी 'टिकट', 'रेल', 'टीन', 'टिंचर', 'प्लास्टर', 'कम्पाउण्डर' 'डॉक्टर' आदि की तरह हिन्दी का ही हो गया है। अब इसे बदलने में कोई लाभ नहीं, इसे तो अब हिन्दी में ही हजम कर लेना चाहिये।

इस 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' अनुवाद की प्रवृत्ति के थोड़े से उदाहरण और दिये जा रहे हैं—

'सिविल सर्जन'	'जनपद शाल्यकी'
'बेड हैड टिकट'	'रोगी शय्या टिकट'
'ड्यूटी रूम'	'कार्यनियोजन कोष्ठ'
'स्टोर रूम'	'कोष्ठागार'
'थर्मामीटर'	'ज्वर मापी'
'क्लिनिक'	'निदानशाला, चिकित्सालय'
'कोलाइटिस'	'कोलनार्ति'
'कम्पाउन्डर'	'पेषक'

इन सभी के लिये अगर अनुवाद के मोह को छोड़कर मौलिक रूप से हिन्दी के शब्द बनाने का प्रयत्न किया जाता या फिर इन्हीं को हिन्दी में हजम कर लिया जाता तो बेहतर होता।

(३) गलतियों का एक कारण और है जो बहुधा देखने को मिलता है—अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों में निहित अर्थ के ज्ञान का अभाव। अगर किसी शब्द का सही अर्थ नहीं मालूम हो तो निश्चय ही उसके लिये हिन्दी पारिभाषिक शब्द बनाते समय गलतियां हो सकती हैं। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

छोटे बच्चों का एक रोग है 'रिकेट्स'। इस रोग में बच्चे की हड्डियां टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं और बच्चे दुबले-पतले होकर सूख से जाते हैं। हिन्दी के लेखकों ने 'रिकेट्स' के लिये 'सूखा', 'सुखण्डी' तथा 'बालशोष' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यहां इन शब्दों का प्रयोग भ्रमोत्पादक है। केवल 'रिकेट्स' ही तो एक ऐसा रोग नहीं है, जिसमें बच्चा सूख जाता है। 'बाल शोष' या बच्चों में 'सूखा' हो जाने के अनेक कारण हो सकते हैं। इसलिये 'रिकेट्स' के लिये इन शब्दों का प्रयोग गलत है। ये तीनों शब्द तो वास्तव में अंग्रेजी के 'मेरेस्मस' (Marasmus) के लिये उपयुक्त हैं। 'रिकेट्स' के लिये 'अस्थिविकृति' शब्द ठीक होगा। स्वयं 'रिकेट्स' का अर्थ है 'टेढ़ी हड्डियां'। यहां हमें 'रिकेट्स' के शब्दार्थ को अक्षुण्ण रखना होगा। ऐसा तभी सम्भव है, जब शब्द निर्माता को 'रिकेट्स' और 'मेरेस्मस' का अन्तर मालूम हो।

इसी तरह का दूसरा उदाहरण है, 'मधुमेह'। हिन्दी के प्रायः सभी लेखकों ने 'मधुमेह' का प्रयोग 'डायबिटीज मैलाइट्स' रोग के लिये किया है। शब्द 'मधुमेह' से तात्पर्य है मूत्र में शर्करा का निष्कासन। पर हिन्दी के सामान्य लेखक या भाषा-विज्ञान के पंडित को तो यह नहीं पता कि मूत्र में शर्करा का निष्कासन केवल 'डायबिटीज' में ही नहीं होता, दूसरी ओर 'डायबिटीज' शब्द से वर्णित किये जाने वाले रोग भी दो तरह होते हैं—एक में मूत्र में शर्करा का निष्कासन होता है—'डायबिटीज मैलाइट्स', दूसरी में नहीं—'डायबिटीज इनसिपिडस'। इस भांति 'डायबिटीज' के लिये 'मधुमेह' का प्रयोग गलत है। 'मधुमेह' अंग्रेजी शब्द 'ग्लाइकोसूरिया' के लिये उपयुक्त है और 'डायबिटीज मैलाइट्स' का केवल लक्षण मात्र है। इसी तरह 'आर्सेनिक (Arsenic) के लिये 'संखिया' का प्रयोग गलत है। 'संखिया' 'आर्सीनियस ऑक्साइड' को कहते हैं।

(४) आजकल हिन्दी के अनेक शब्द ऐसे भी इस्तेमाल हो रहे हैं जिनको भिन्न लेखक विभिन्न आशय के लिये इस्तेमाल करते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर भ्रम उत्पन्न करता है। इन शब्दों के उचित प्रयोग के लिये इनके विशिष्ट अर्थ निर्धारित करना आवश्यक है। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

'नाड़ी' शब्द का प्रयोग 'पल्स' और 'नर्व' दोनों के लिये किया जाता है। 'पल्स' 'नब्ज' को कहते हैं और 'नर्व' स्नायविक संस्थान का अंग है।

'नर्व' शब्द के लिये कभी-कभी 'नस' शब्द का प्रयोग भी होता है। दूसरी ओर मांसपेशियों की कंडराओं के लिये भी 'नस' शब्द का इस्तेमाल होता है। 'वेन' (शिरा, दूषित रक्तवाहिनी नलिका) को भी 'नस' कहा जाता है।

'शोष्य' और 'सूजन' शब्दों के प्रयोग की मौजूदा हालत भी भ्रमोत्पादक है। 'इडीमा' 'एनासाकी' और 'इनफ्लेमेशन' बिल्कुल अलग शब्द हैं। पर हिन्दी के लेखक इन सभी के लिये 'शोथ' और 'सूजन' दोनों का ही प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार कई लेखक 'टाइफायड' के लिये 'आंत्रिक ज्वर' का प्रयोग करते हैं। 'आंत्रिक ज्वर' 'एन्टेरिक फीवर' के लिये ठीक है। सब 'एन्टेरिक फीवर' टाइफाइड नहीं होते।

(५) अंग्रेजी के किसी एक पारिभाषिक शब्द के लिये अनेक भिन्न शब्दों का प्रयोग भी हो रहा है। उदाहरण—

'ऑस्ट्रियो मेलेशिया' स्त्रियों का एक रोग है, जिसमें विटामिन 'डी' और कैलशियम के अभाव में हड्डियां मुलायम होकर विकृत हो जाती हैं। इसके लिये विभिन्न लेखकों ने 'अस्थि दौर्बल्य', 'अस्थि सौकुमार्य' तथा 'मृदुलास्थि रोग' का प्रयोग किया है।

'एबोर्शन' के लिये 'गर्भपात' और 'गर्भस्राव'; 'एज' (Age) के लिये 'अवस्था' और 'आयु'; एपेटाइट (Appetite) के लिये 'बुभुक्षा', 'क्षुधा' और 'आर्टीफिशियल' के लिये 'कृत्रिम' और 'बनावटी; 'हिक्कफ (Hiccough) के लिये 'हिचकी' और 'हिक्का', 'औटॉप्सी' (Autopsy) के लिये 'शव समीक्षा' और 'शव परीक्षा', 'सरकमसिजन' के लिये 'सुन्नत' और 'खतना' आदि।

इस तरह के सभी शब्दों में से केवल एक-एक उपयुक्त शब्द चुनना होगा।

(६) कभी-कभी हिन्दी शब्दों का सही अर्थ न जानने के कारण भी गलतियां हो जाती हैं। सामान्यतः समानार्थी लगने वाले शब्दों के सूक्ष्म भेद को भी समझना होगा।

'स्किन डिजीज' के लिये हमने कई जगह 'चर्म रोग' देखा है। हिन्दी में दो शब्द हैं 'चर्म' और 'त्वक्' (त्वचा)। ये दोनों समान पर्यायवाची नहीं हैं। 'चर्म' 'निर्जीव स्किन' को कहते हैं तथा 'त्वक्' 'सजीव स्किन' को। इस प्रकार 'स्किन डिजीज' के लिये 'त्वक्' रोग ठीक होगा।

इसी तरह 'अवस्था' और 'आयु' का भेद है। 'अवस्था' कहते हैं मौजूदा उमर को और 'आयु' कहते हैं पूरी उमर जो प्राप्त हुई। उदाहरण के लिये कहा जावेगा, 'राम की अवस्था इस समय १८ वर्ष है', और 'राम के दादा ने ८२ वर्ष की आयु पायी'। इस प्रकार 'अवस्था' (Age) के लिये और 'आयु' (Span of Life) के लिये ठीक है।

(७) अगर अभी तक किन्हीं दो शब्दों में कोई सूक्ष्म भेद नहीं है और अगर अब आवश्यकता प्रतीत होती है तो हमें विशिष्ट सूक्ष्म भेद भी करना होगा। उदाहरण के लिये—

दो शब्द हैं, 'गर्भपात' और 'गर्भस्राव'। सामान्यतः ये दोनों शब्द 'एबोर्शन' के समानार्थी समझे जाते हैं और हैं भी। यद्यपि अभी तक किसी भी पारिभाषिक शब्दकोष अथवा तत्सम्बन्धी पुस्तक में इन दोनों शब्दों के प्रयोग में कोई विशेष अन्तर देखने को नहीं मिला, पर हमारी राय में इसमें भावना और क्रिया का सूक्ष्म अन्तर माना जा सकता है। अगर हम स्वाभाविक रूप से खुद-ब-खुद (स्पौन्टेनियस) होने वाले 'एबोर्शन' को 'गर्भस्राव' कहें और जानबूझ कर किये जाने वाले अवैधानिक अथवा चिकित्सात्मक गर्भ गिराने को 'गर्भपात' की संज्ञा दें, तो इन दो शब्दों को विशिष्टतायुक्त पारिभाषिक शब्द बना सकते हैं।

हिन्दी के दो शब्द हैं—'वाणी' और 'वाक्'। सामान्य पाठकों को सम्भवतः दोनों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। 'वाणी' से अभिप्राय मनुष्यमात्र में पाई जाने वाली उस जटिल प्रक्रिया से है जो उसे दूसरों से बोलने, व्यवहार करने, अभिव्यक्त करने और दूसरों की अभिव्यक्ति को समझने की क्षमता प्रदान करती है। इस प्रकार शब्द 'वाणी' अंग्रेजी के 'स्पीच' का समानार्थी बन सकता है। अंग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावलि में एक दूसरा शब्द है 'वायस'। जिसका अभिप्राय है टेंटुये से लेकर ऊपर के अंगों (कंठ, तालू, जिह्वा, दांत तथा ओंठ) की सहायता से जो ध्वनि हम उत्पन्न करके उन्हें विभिन्न स्वर और व्यंजनों का रूप देकर शब्दोच्चारण करते हैं और शब्दों का समूह बना कर अपने अभिप्राय की अभिव्यक्ति करते हैं। स्पष्ट है कि यह प्रक्रिया 'वाणी' का साधन है। अंग्रेजी के इस पारिभाषिक शब्द 'वॉयस' के लिये 'वाक्' प्रयोग किया जा सकता है।

आवश्यक सुझाव—इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना की पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट है कि चिकित्सा विज्ञान के हिन्दी पारिभाषिक शब्दों के निर्माण और प्रयोग की वर्तमान दशा बहुत सन्तोषप्रद नहीं है। इस दिशा में यहां हम कुछ आवश्यक सुझावों का संकेत कर रहे हैं—

(१) यह स्पष्ट हो चुका है कि पारिभाषिक शब्दों का निर्माण, संकलन, चयन और सम्पादन करने के लिये जितनी आवश्यकता भाषा और व्याकरण के ज्ञान की पड़ती है, उससे कहीं अधिक जरूरत तत्सम्बन्धी विषय के ज्ञान की

है। ये सभी बातें एक ही व्यक्ति में होना सम्भव नहीं है। इसलिये पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के लिये अलग-अलग समितियां होना आवश्यक है। प्रत्येक समिति का अध्यक्ष उस विषय का कोई ज्ञाता होना चाहिये। उसकी सहायता के लिये भाषा-विज्ञान और व्याकरण के पंडितों का समावेश भी होगा। अन्य सहायक स्टाफ आवश्यकतानुसार जरूरी है। तभी कुछ सन्तोषप्रद काम हो सकता है।

जैसा कहा जा चुका है कि हर पारिभाषिक शब्द की व्युत्पत्ति का अपना ही निराला सिद्धान्त होता है। इस विषय में कोई स्थिर निश्चित नियम नहीं हैं। फिर भी कुछ विशेष बातों का ध्यान तो रखना ही होगा।

(२) जो पारिभाषिक शब्द चिकित्सा विज्ञान के महान् आचार्यों के नाम पर बने हैं और उनके प्रति हमारी अकिंचन श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। हमारी राय में तो ये सभी शब्द अपरहार्य हैं, चाहे वे किसी भी देश, जाति, धर्म, समुदाय के हों। वही बात ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर बने शब्दों के लिये लागू होती है।

(३) पेटेण्ट नाम अन्तर्राष्ट्रीय शब्द, चिह्न, संकेत, अंक, भार, माप आदि की इकाइयां (यूनिट), व्यक्ति वाचक संज्ञाओं आदि को भी ज्यों का त्यों रखना होगा। 'ग्रासो' के लिये 'धातुमार्जक मसाला', 'एक्सरे' के लिये 'क्षररश्मि' और विटामिन, 'ए', 'बी', 'सी', 'डी' के लिये 'अ', 'ब', 'स', 'द' ऐसी ही गलतियों के उदाहरण हैं।

(४) किसी देश-विदेश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर बने शब्दों का भी अनुवाद नहीं हो सकता। ऐसे शब्दों के लिये मौलिक शब्द बनाने होंगे। बेहतर होगा कि उन्हें मूलरूप में ही स्वीकार कर लिया जावे।

(५) अंग्रेजी के ऐसे शब्द जिनमें रूढ़िगत भावार्थ उनके शब्दार्थ से भिन्न हैं, इनका भी शब्दानुवाद नहीं हो सकता। इस प्रसंग में 'विटामिन' और 'मलेरिया' शब्दों के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। ऐसा ही एक दूसरा शब्द है। 'हाइपोकॉन्ड्रायेसिस'। यह आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का पारिभाषिक शब्द है। अभिप्राय है—ऐसी दशा जिसमें व्यक्ति की मनःस्थिति निरन्तर अपने शरीर के अंगों और स्वास्थ्य के बारे में निरर्थक और अकारण चिन्ता से अभिभूत रहती है, जिसके कारण लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब इस रोग के बारे में आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का यह पक्ष नहीं ज्ञात था, तब इसको एक शारीरिक रोग समझा जाता था और इसका व्युत्पत्ति स्थल उदर का ऊर्ध्व दाहिना भाग (हाइपोकॉन्ड्रियम) समझा जाता था और इसीलिये तब इसे 'हाइपोकॉण्ड्रायेसिस' कहा गया था। आज आधुनिक पृष्ठभूमि में इसका शब्दार्थ गलत हो गया है। पर उसके स्थान पर इसमें सही भावार्थ रूढ़ि हो गया है।

(६) ऐसे सभी शब्द जो सर्वसाधारण में प्रचलित हो गये हैं, उन्हें तो अब हिन्दी में ही हजम कर लेना चाहिये। पर ऐसा करते समय केवल मूल पारिभाषिक शब्द यथावत् लिया जा सकेगा, उससे व्युत्पादित तत्सम्बन्धी दूसरे शब्द अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार ही बन सकेंगे। उदाहरण, अगर 'विटामिन' शब्द ज्यों का त्यों ले लिया जावे, तो अंग्रेजी के दूसरे सम्बन्धित शब्द 'प्रोविटामिन' 'एन्टीविटामिन', 'हाइपोविटामिनोसिस', 'एविटामिनोसिस', 'हाइपरविटामिनोसिस', 'विटामिनोलॉजी', 'एन्टीइन्फैक्टिव विटामिन', 'ग्रोथप्रोमोटिंग विटामिन', 'एन्टीस्कॉर्ब्यूटिक विटामिन' हिन्दी में क्रमशः 'विटामिन प्रवर्तक', 'विटामिन अवरोधक', 'विटामिन की आंशिक हीनता', 'विटामिन की पूर्ण हीनता', (अथवा 'विटामिन हीनता' और 'विटामिनाभाव'), 'विटामिनाधिक्य', 'विटामिन विज्ञान', 'संक्रमण प्रतिरोधक विटामिन', 'वृद्धिकारक विटामिन' और 'स्कर्वीनाशक विटामिन' बनेंगे।

मूल शब्दों का मौलिक रूप भी अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार संशोधित हो जावेगा। उदाहरण 'टिंक्चर' की जगह 'टिंचर', 'प्लास्टर' की जगह 'प्लास्तर' और 'रबर' की जगह 'रबड़'।

मूल शब्द अंग्रेजी होते हुए भी उनके दूसरे रूप (बहुवचन आदि) हिन्दी की अपनी ही प्रकृति और व्याकरण के अनुसार बनेंगे। 'फुट' का बहुवचन 'फीट' नहीं बनेगा। 'विटामिन्स' के लिये 'विटामिनों' ही लिखा जायेगा।

(७) हमारे प्राचीन आयुर्वेद, संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध साहित्य में खोज करने पर बहुत सामग्री मिल सकती है।

(८) नये शब्द बनाते समय साहित्य ग्रन्थों, शब्दकोष, भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण आदि की सहायता से तो लेनी ही चाहिये। साथ ही साथ देश के विभिन्न प्रान्तीय जनपदों में प्रचलित शब्दावलि का भी ध्यान रखना होगा। कारण स्पष्ट है कि समस्त विज्ञान-विषयों में चिकित्सा ही एक ऐसी कला है, जिसका आधार सामान्य समाज है। इसके निर्माण में यदि वैज्ञानिक का बड़ा भाग है, तो सामान्य किसान और मजदूर उसकी आधार वस्तु है। अपने रोगों और कष्टों की समस्त अनुभूतियों का विशद वर्णन ये अपनी बोली में सफलता के साथ कर लेते हैं। इस दिशा में अगर आवश्यकता हो और मिल सके तो हमें इनका नेतृत्व भी लेना होगा।

इससे पहले कि चिकित्सा-विज्ञान सम्बन्धी कुछ ऐसे शब्दों के उदाहरण दिये जावें दो अन्य शब्दों के उल्लेख का लोभ हम सवरण नहीं कर सकते। बुन्देलखण्ड जनपद के ग्रामीण समाज के दैनिक व्यवहार में आने वाले दो शब्द हैं,

'ऊब्रतोई', और 'डूबतोई'। ये दोनों शब्द क्रमशः 'पूर्व' और 'पश्चिम' दिशाओं के लिये प्रयुक्त होते हैं। कितने पूर्ण, सुन्दर और अभिव्यंजनात्मक शब्द हैं। इन्हें भाषा और व्याकरण के पंडितों ने नहीं बनाया है। ये तो हल बक्खर वाले किसान की आवश्यकता की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। अन्य किसी भी भाषा में 'पूर्व' और पश्चिम के लिये इतने सुन्दर शब्द नहीं मिल सकते। 'ईस्ट', 'पूर्व' और 'मश्रिक' तथा 'वैस्ट' 'पश्चिम' और 'मगरिब' सभी के लिये रटना पड़ता है कि 'जिधर से सूरज निकलता है' या 'जिधर डूबता है',। पर 'ऊब्रतोई' 'डूबतोई' से सुनते ही बोध होता है कि कहने वाले का क्या आशय है।

इसी तरह के अनेक शब्द चिकित्सा सम्बन्धी विषयों के भी उपलब्ध हो सकते हैं कुछ। उदाहरण यह हैं—

'कॉर्नियल ओपेसिटी' के विभिन्न रूपों के लिये 'जाला' (नेब्युला), 'माड़ा' (मैक्युला), और 'फुली' (ल्यूकोमा), 'कैटरैक्ट' के लिये 'मोतियाबिन्द', 'नाइट ब्लाइन्डनेस' के लिये 'रतौंधी', 'थ्रेडवर्म' के लिये 'चुन्ने' या 'चुनचुने'। 'टेपवर्म' के लिये 'पटार'। विभिन्न मलेरिया ज्वरों के वर्णन के लिये 'परिया', 'इकतरा', 'तिजारी' और 'चौथिया'। 'थ्रौबिंग पेन' के लिये 'टीस' 'टपकन', 'लौकन'; 'लाइटनिंग पेन' के लिये 'चमक'; 'कॉलिक पेन' के लिये 'शूल'; 'वॉमिट' के लिये 'उलटी' या 'ऊपर' या 'उछाल'। 'सिस्ट' के लिये 'रसौली'।

'टिरीजियम' के लिये 'नाखूना'। 'जॉन्डिस' के लिये 'पीलिया' या 'कॉवर'। 'ग्राइपिंग' के लिये 'मरोड़', 'ऐंठन', 'मुरी' या 'ऐंठा'। 'डिसयूरिया' के लिये 'ठनका' ('पथरी' रोग में पेशाब करते समय होने वाले कष्ट के लिये); 'स्टोन' के लिये 'पथरी'। 'माइग्रेन' के लिये 'आधासीस' या 'अर्द्धकपाली'। 'सेला' या 'उसना' चावल (Parboiled Rice) को कहते हैं। अब इसकी जगह अगर 'ईषत्क्वथित धान्य' लिखा जावे तो उचित नहीं होगा। ऐसे और बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। नेपाल और भारत की सीमा पर रहने वाले लोग 'थर्मामीटर' के लिये 'डिग्री' शब्द का इस्तेमाल करते हैं। स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में इन शब्दों का जन्म हुआ है। पर यह निश्चित है कि इनसे अच्छे शब्द इन भावों के लिये दूसरे बन नहीं सकते।

ये थोड़े से उदाहरण बुन्देलखण्ड जनपद की बोली से लिये गये हैं। भारत विशाल भूखण्ड है, जहां ऐसे सहस्रों शब्द अनायास एकत्र हो सकते हैं।

(९) इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि जहां तक सम्भव हो सके, हिन्दी और भारत की दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दावलि के अनिवार्य अंग एक रूप हों। उनसे हर क्षेत्रीय भाषा की प्रकृति के अनुसार दूसरे सम्बन्धित व्युत्पादित शब्दों की रचना की जा सकेगी। योरोप की सभी आधुनिक भाषाओं में अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावलि ग्रहण करते समय यही तरीका इस्तेमाल किया जाता है। इस बात को ध्यान में रखने से भारत की सभी भाषाओं की वैज्ञानिक शब्दावलि में एकरूपता आ सकेगी।
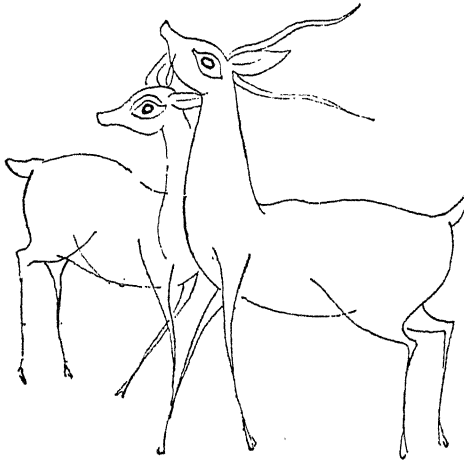
भारतीय जनस्वास्थ्य एवं आयुर्वेद

डॉ० पी० सी० जैन
हेड आफ दि डिपार्टमेंट बेसिक प्रिंसिपल्स, स्टेट आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ।

भारत की गणना संसार के प्रमुख देशों में की जाती है। आज हम अनेक बातों में अन्य देशों की तुलना में पीछे हो गये हैं परन्तु भारतीय इन सबको चुपचाप सहन नहीं कर सकते। हमारा दृढ़ विश्वास है कि हम यदि उचित मार्ग पर विकास की ओर अग्रसर होते रहे तो वह समय दूर नहीं जब हम अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सकेंगे। प्रत्येक देश की सुख एवं समृद्धि वहां के निवासी नागरिकों के स्वास्थ्य पर निर्भर है। किसी भी कल्याणकारी राज्य में जनता के स्वास्थ्य की उन्नति का बहुत महत्त्व है। स्वस्थ नागरिक की शक्ति पर ही निर्माणकार्य का भविष्य निर्भर है। जिस देश के नागरिक शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ होंगे वह देश उतना ही समृद्धि के पथ पर अग्रसर दीखेगा। राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों को पूर्ण करने के लिये व्यक्ति का स्वस्थ रहना परमावश्यक है। स्वास्थ्य समाज एवं राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति है। हमारे ऋषियों ने धर्म, अर्थ एवं काम का मूल आरोग्य को ही माना है। आयुर्वेद ने भारतीय जन-स्वास्थ्य को समृद्ध बनाने में हमें शाही योगदान दिया है। इसने दूसरों की अच्छाइयों को अपने भीतर समाविष्ट करते हुए भी अपनी प्रभुसत्ता को सर्वोपरि रखा है। आज इस चिकित्सापद्धति को भारतीय चिकित्सा-योजनाओं में स्थान नहीं दिया गया है परिणामस्वरूप स्वास्थ्य योजनाओं के बावजूद भारतीय जन-स्वास्थ्य के स्तर में समृद्धि नहीं हो पा रही है। कहा जाता है कि आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा भारत में चेचक, हैजा, प्लेग जैसी बीमारियां कम होती जा रही हैं परन्तु विश्व स्वास्थ्य संस्था के एशिया के उद्धरणों पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि सिर्फ चेचक के प्रकोप ने एशिया में १९६१ की अपेक्षा १९६३ में २० प्रतिशत की वृद्धि की है। इस वृद्धि का अधिक श्रेय भारत को ही है। टी०बी० का तो इस दिशा में कहना ही क्या है। आज भारत में करीब २५ लाख मनुष्य इस रोग से आक्रान्त हैं तथा करीब पांच लाख को प्रति वर्ष इस रोग के कारण अपने जीवन की कुर्बानी देनी पड़ती है। श्री वोरकर के अनुसार तथा सन् ५० से ५५ के उद्धरणों के अनुसार भारत में औसतन आयु का अनुपात सबसे कम ३२.४५ पाया जाता है जबकि अन्य देशों में यह अनुपात न्यूजीलैंड में ६८.८९, इंगलैंड में ६७.५२, आस्ट्रेलिया में ६६.०७, कनाडा में ६६.३३, जर्मनी में ६१.९१, जापान में ६३.८८, रूस में ६१.००, सीलोन में ६०.०३ पाया जाता है। मृत्यु का अनुपात भी हमारे देश में अन्य देशों की तुलना में अधिक है। न्यूजीलैंड में १००० मनुष्यों में यह अनुपात १०.०१, अमेरिका में ११.०२, जर्मनी में ११.०७, सीलोन में १३.०४ है जबकि भारत में २६.०६ है। बच्चों की मृत्यु का अनुपात भी हमारे देश में अधिक है। जबकि स्वीडन में हजार बच्चों में यह अनुपात १८.०७, न्यूजीलैंड में २४.०१, इंग्लैंड में २५.०४, अमेरिका में २६.०६ है तथा भारत में यह अनुपात ११४.०४ है। इस प्रकार आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के आधार पर हमारी स्थिति अन्य देशों की तुलना में नगण्य ही सिद्ध होती है। भारतीय जन-स्वास्थ्य के संवर्द्धन में आयुर्वेद ने हमेशा ही योगदान दिया है। आज भी यदि आयुर्वेद के सिद्धान्तों का हम सही मतलब में उपयोग करें तो हम भारत के व्यक्तियों का स्वास्थ्य उसी अवस्था में पहुंचा सकते हैं जब हम इसे राष्ट्र का गौरव मानते थे।

स्वस्थ की मान्यता—आयुर्वेद ने पुरुष को शरीर, मन एवं आत्मा का समष्टि रूप माना है। इसी अभिप्राय से आयुर्वेदज्ञों ने शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहा है। इनके सम्बन्ध को स्तम्भस्वरूप माना जाता है जिस पर पुरुष का स्वास्थ्य और जीवन निर्भर है। आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ का अर्थ शारीरिक नीरोगता ही नहीं है किन्तु शरीर के रोगरहित होने के साथ-साथ मन और बुद्धि का नीरोग एवं शुद्ध होना आवश्यक है। सामान्य परिभाषा में आयुर्वेद ने स्वस्थ उस मनुष्य को कहा है जिसके दोष और अग्नि स्वाभाविक अवस्था में हों, धातु, मल तथा क्रियाएं साम्यावस्था में हों और इन्द्रिय, मन तथा आत्मा प्रसन्न एवं परिमल हो। आयुर्वेद का स्वास्थ्य सम्बन्धी दृष्टिकोण रचनात्मक एवं

शक्तिमत कहा जा सकता है। यह अपरिवर्त्तनीय नहीं है किन्तु शरीर में प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तनों का समष्टि रूप है। इसी कारण इसके निरन्तर संरक्षण एवं सम्वर्द्धन की आवश्यकता होती है। आयुर्वेद के अनुसार किन्हीं दो मनुष्यों के शरीर एवं मानसिक क्रियाकलापों में पूर्ण साम्यता नहीं पायी जाती अतः प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रकृति में स्थापित करना, प्रकृति के अनुरूप बनाना ही स्वस्थ कहलाता है। यदि मनुष्य अपनी प्रकृति, या स्वाभाविक अवस्था में स्थित है तब बाह्य वातावरण एवं घात-प्रतिघात के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिवर्तन उस पर प्रतिक्रिया नहीं कर सकते ।

चिकित्सा के विविध दृष्टिकोण——आयुर्वेद चिकित्सा के शास्त्रों में दो प्रकार के दृष्टिकोण बतलाये गये हैं। प्रथम में विभिन्न उपायों के द्वारा स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य को स्थिर रखा जाता है और द्वितीय में इस स्वास्थ्य में परिवर्त्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न विकारों का शमन किया जाता है। प्रथम प्रकार को ही आयुर्वेद में प्रमुखता दी गई है जिसमें रोगों की उत्पत्ति के प्रतिषेध के साथ शरीर में देशकाल के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिवर्त्तनों में पुनः साम्यता पैदा की जाती है। कुछ वर्ष पूर्व तक आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान रोगों की प्रतिकारिक चिकित्सा पर ही बल देता था परन्तु आज रोगों के प्रतिषेध की प्रमुखता को अपना कर आयुर्वेद के २५ शताब्दी पूर्व के सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। आयुर्वैदिक चिकित्सा की प्रमुखता है कि वह रोगों को गौण एवं शरीर को प्रमुख मानकर आगे बढ़ता है और इस तरह शरीर की चिकित्सा करता है रोग की नहीं। शरीर को सबल बनाये बिना मनुष्य किसी भी क्षेत्र में कृतकार्य नहीं हो सकता। शरीर के सबल रहने पर बाह्य परिस्थिति एवं जीवाणुओं से उसका अनिष्ट नहीं हो सकता। आयुर्वेद ने शरीर एवं मन को रोगों का अधिष्ठान स्वीकार किया है। पुरुष की उत्पत्ति शरीर, मन एवं आत्मा के संयोग से होने पर भी आत्मा शरीर एवं मन का केवल अधिष्ठाता है। इसीसे शरीर और मन में चैतन्य उत्पन्न होता है जिससे शरीर एवं मन विभिन्न स्वाभाविक एवं वैकृतिक कर्म करते हैं। अधिष्ठान की द्विविधता के कारण रोग भी शारीरिक एवं मानसिक उत्पन्न होते हैं और इनका निश्चित परिज्ञान, परस्पर में सम्बन्ध तथा शरीर एवं मन का सम्यक् संरक्षण ही चिकित्सा की सफलता है। आयुर्वैदिक चिकित्सा में जीवाणुओं का परिज्ञान होने पर भी रोगोत्पत्ति में उनका महत्त्व नहीं है। शरीर के सबल एवं प्रतिकारिक शक्ति के यथेष्ट रहने पर वातावरण एवं शरीर में जीवाणुओं की उपस्थिति भी रोगोत्पादक नहीं होती। अतः दोष जो कि शरीर में धातु, मल एवं इनकी क्रियाओं को नियमित रखते हैं, जब बाह्य वातावरण अथवा जीवाणुओं की क्रिया से प्रकोप को प्राप्त होते हैं तभी पुरुष को रोग उत्पन्न होते हैं। अतः दोषों का वैषम्य ही रोग है एवं इनका साम्य बनाये रखना ही आरोग्य है।

रोगोत्पादक कारण एवं उनका प्रतिषेध——आयुर्वेद में दोषों के वैषम्य से ही रोग पैदा होते हैं। दोषों का वैषम्य अनेक कारणों से होता है। शास्त्रों में दोषों के वैषम्य का कारण काल, बुद्धि और अर्थ का वैषम्य अथवा इनकी अयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग रूप प्रवृत्ति को कहा गया है। इसी से शरीर रोगाक्रान्त होता है। आचार्यों ने काल का विभाजन ६ ऋतुओं में किया है। इनमें भी शीत, वर्षा और ग्रीष्म प्रमुख ऋतु मानी गई हैं। इसी प्रकार देश की विभिन्नता भी इस देश में स्थित काल एवं स्थिति की विभिन्नता से होती है। शीत, वर्षा और ग्रीष्म का कालजन्य प्रभाव जल, वायु, प्राणी एवं वनस्पतिवर्ग पर होना अनिवार्य है। इससे प्राणियों के शरीर में दोष स्वाभाविक संचय, प्रकोप और शमन होता रहता है। काल के अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग रूप परिवर्त्तनों से यह प्रभाव और भी बढ़ जाता है और शरीर में दोषों में वैषम्य हो जाता है। इस प्रभाव से बचने के लिये आयुर्वेद ने विभिन्न ऋतु में मनुष्य की आहार विहार सम्बन्धी विविधताओं पर विस्तृत प्रकाश डाला है। जिसके अनुशीलन से ऋतु सम्बन्धी विकृति एवं दोषों में विषमता को रोका जा सकता है एवं स्वास्थ्य के संरक्षण को बनाये रखा जा सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य——आयुर्वेद में शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण पर अधिक जोर दिया गया है। आज के युग में आधुनिक सभ्यता के परिणामस्वरूप मनुष्य का मानसिक संतुलन बिगड़ गया है। जीवन में वैपरीत्य, आर्थिक प्रतिबंध और महत्त्वाकांक्षाओं में वैषम्य के कारण मनुष्य के मस्तिष्क पर बाह्य आघातों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। परिणामस्वरूप मानसिक स्वास्थ्य का बुरा प्रभाव पड़ रहा है। आचार्य चरक ने मस्तिष्क के इस वैपरीत्य का कारण बुद्धि और इन्द्रियों का हीनयोग, अतियोग और मिथ्यायोग बतलाया है। उनका कहना है कि मन एवं इन्द्रियां अपने-अपने विषयों के अतियोग, हीनयोग और मिथ्यायोग से विकृति को प्राप्त हो बुद्धि के उपघात एवं मानसिक असंतुलन का कारण बन जाती हैं। इन्द्रिय एवं अर्थों के वैपरीत्य से बुद्धि का संतुलन बिगड़ जाता है। मनुष्य कर्म, अकर्म, कृत्याकृत्य, और हेय उपादेय के विवेक का परित्याग कर अनुपादेय कार्य एवं प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है जिससे मनुष्य का सदाचार छिन्न-भिन्न हो जाता है और उसका मानसिक धरातल कलुषित होने से वह मानसिक व्याधियों से आक्रान्त रहता है। महर्षि चरक के अनुसार इस प्रकार उत्पन्न मानसिक अस्थिरता को दूर करने का उपाय सद्वृत्त का आचरण करना है। उनका कहना है कि मन एवं संतप्त इन्द्रियों को स्वस्थ रखने के लिये सात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग बुद्धि द्वारा पुनः पुनः विचार कर

उचित कार्यों का सम्पादन, देश, काल, प्रकृति एवं विकार के विपरीत गुण वाले आहार-विहार और सद्वृत्त का अनुष्ठान उपयोगी होता है। सद्वृत्त के अनुष्ठान से मनुष्य मानसिक विकृति एवं मस्तिष्कगत उत्तेजनाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न बाधाओं को दूर करने में सफल सिद्ध होता है। सद्वृत्त का आचरण मस्तिष्क को उसी प्रकार पोषक तत्त्व प्रदान करता है जैसे समुचित आहार शरीर का वर्द्धन करता है। सद्वृत्त के अनुष्ठान में मनुष्य का जीवन नियमित और संतुलित हो जाता है। मस्तिष्कगत उत्तेजनाओं का परिणाम उस पर न होकर वह दूसरों के हित को चाहने वाला, प्रसन्नमुख, अतिथि का सत्कार करने वाला, परिमित मधुर एवं अर्थयुक्त भाषण करने वाला, मन को वश में रखने वाला, सदाचारी, धर्माचारी, हेतु में ईर्ष्यालु, फल में ईर्ष्या न करने वाला, चिन्ता एवं भयरहित, लज्जाशील, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमाशील, कर्त्तव्यनिष्ठ, विनीत, सुशील, सत्यनिष्ठ, समभावयुक्त, थकावट से पहिले श्रमत्यागी, विद्वान्, कुलीन, वयोवृद्ध महात्मा एवं आचार्य का उपासक, दीनों का सहायक, दूसरों के कटु वचन सहन करने वाला, शान्ति का उपासक, प्रतिहिंसानिरोधक और राग द्वेष के कारणों का नाश करने वाला हो जाता है। सद्वृत्त के अनुष्ठान से इन गुणों को प्राप्त कर मनुष्य मानसिक स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करता है और जीवन में सफल सिद्ध होता है। शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थ मनुष्य ही राष्ट्र को उन्नत बनाने में सफल होते हैं।

स्वास्थ्य रक्षा के साधन—आयुर्वेद के अनुसार दोषधातु मलों की साम्यता आरोग्य है। यह साम्यता जिन कारणों से स्थिर रखी जा सकती है वे स्वास्थ्य रक्षा के साधन कहलाते हैं। महर्षि चरक ने स्वास्थ्य को नियमित रखने को तीन उप-स्तम्भ का विवेचन किया है। उनका कहना है कि जैसे पुरुष का आधार शरीर, मन और आत्मारूपी तीन स्तम्भ हैं, इसी प्रकार मनुष्य के स्वास्थ्य का आधार आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य ये तीन उपस्तम्भ हैं। इनमें प्रमुखता आहार को ही प्राप्त है, क्योंकि शुद्ध और पौष्टिक आहार ही शरीर को सबल बनाते हैं। आहार के वैपरीत्य से ही अधिकांश रोग पैदा होते हैं। मन की पवित्रता भी अधिकांश में आहार तथा जल की शुद्धता पर निर्भर है। हमारे भोज्यपदार्थ सात्विक पौष्टिक होने के साथ प्रकृति, देश, काल एवं जलवायु को ध्यान में रखकर निर्धारित किए जाने चाहिये। प्रकृति से अभिप्राय प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक स्थिति से है। मनुष्य अपने स्वभाव को ध्यान में रखकर यदि आहार द्रव्यों का प्रयोग करता है तो वह सदा स्वस्थ रह सकता है। प्रकृति की अवहेलना स्वास्थ्य में व्यवधान पैदा करती है। आयुर्वेद में आहार सम्बन्धी विविध नियमों का प्रतिपादन आहार विधि विशेषापतन के नाम से किया है तथा इसका सही इस्तेमाल शरीर का पोषण और शक्ति उत्पादन रूप कार्य को नियमित रखता है। महर्षि चरक के अनुसार हमारा भोजन सदैव ताजा, पौष्टिक, पांच-भौतिक एवं षड्रस युक्त होना चाहिये। भोजन मात्रायुक्त, नियत समय पर, भूख लगने पर और पूर्वभुक्त आहार के पाचन होने पर ही सेवन करना चाहिये। भोजन खूब चबाकर, संतुलित मन से, प्रकृति के अनुकूल हो। भूख से अधिक भोजन न किया जाय। संक्षेप में जिस आहार से व्यक्ति का शारीरिक एवं मानसिक विकास नियमित होता रहे वही संतुलित आहार है। आहार के साथ देश, काल एवं जलवायु पर ध्यान देना आवश्यक है। भोजन के बिना तो मनुष्य कुछ दिन जीवित रह सकता है परन्तु शुद्ध वायु के बिना जीवन सम्भव नहीं है। शुद्ध वायु की प्राप्ति के लिये उचित आवास एवं प्रातः भ्रमण लाभदायक है। प्रातः भ्रमण से मनुष्य में ताजगी एवं स्फूर्ति आती है, रक्त शुद्धि ठीक होती है, पाचन शक्ति मजबूत होती है और मन प्रसन्न रहता है। आज हम विज्ञान द्वारा प्रातःकाल की सूर्य किरणों से मानव शरीर पर उत्पन्न प्रभाव को समझ सकते हैं जो परिणाम हम अनेक कृत्रिम साधनों द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकते।

आहार के बाद शरीर को निद्रा आवश्यक मानी गई है। हमारे शरीर में दो प्रकार के अवयव पाये जाते हैं। प्रथम जिन अवयवों की क्रिया हमारी इच्छाशक्ति पर निर्भर करती है और द्वितीय वे अवयव जिनकी क्रिया हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करती किन्तु हमारी इच्छा न रहने पर भी इनमें क्रिया होती रहती है। इन अंगों में—हृदय, फुप्फुस तथा मूत्रोत्पादक अंग प्रमुख हैं। हमारे अंग प्रत्यंग जो प्रतिक्षण कार्य करते रहते हैं और यदि इसी तरह कार्य करते रहें तो उनमें थकावट के कारण अवनति के चिह्न प्रारम्भ हो जायेंगे। ऐसे अंगों को नियमित आराम मिलना आवश्यक है। निद्रा इसी प्रकार की मानसिक अवस्था है जब शरीर की अधिकतर शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएं बन्द हो जाती हैं, और अनैच्छिक क्रियाएं पहले की अपेक्षा कम हो जाती हैं। इससे उन अवयवों को आराम पहुंचता है और वे पुनः जागरणावस्था में कार्य करने को तत्पर रहते हैं। अंग-प्रत्यंगों की एवं शरीर की वृद्धि की क्रिया जिस आयु में ज्यादा होती है उस आयु में उतना अधिक सोना आवश्यक माना जाता है। इसी कारण बाल्यावस्था में अधिक निद्रा अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा आवश्यक मानी जाती है। साधारणतया स्वास्थ्य की दृष्टि से मनुष्य को कम से कम छह घंटा सोना आवश्यक है। रात्रि-जागरण वायु को प्रकुपित कर शरीर को हानि पहुंचाता है।

निद्रा के बाद स्वास्थ्य-संरक्षण में आयुर्वेद ने ब्रह्मचर्य को स्वीकार किया है। आयुर्वेद में विवाह की निम्न अवस्था २५ वर्ष पुरुष की और १६ वर्ष स्त्री की स्वीकार की गई है। इस आयु तक अपरिपक्व अंगों के कारण पुरुष एवं

स्त्री को पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये। ब्रह्मचर्य पालन के लिये मनुष्य का आहार-विहार, रहन-सहन की आदत एवं परिधान पर विशेष ध्यान देना चाहिये। ब्रह्मचर्य द्वारा सम्भावित प्रभाव को ध्यान में रख कर आयुर्वेदज्ञों ने काल के परिवर्त्तन के अनुसार आहार-विहार, एवं परिधान के परिवर्त्तनों को उपादेय बताया है। इसी कारण प्राचीन समय की सन्तान तेजस्वी, बुद्धिमान, बलवान एवं इन्द्रिय और मन पर संयम रखने में समर्थ होती थी। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय केवल शुक्र धातु का संरक्षण ही नहीं है किन्तु शरीर की सभी धातुओं के संरक्षण का ग्रहण करना चाहिये जिससे शरीर में प्रतिक्षण होने वाली क्षति का प्रभाव न हो सके। ये तीन उपस्तम्भ शरीरस्थ सभी भावों में विशेषकर दोष, धातु, मल, अग्नि और इनकी क्रिया में साम्यता पैदा कर बुद्धि ह्रासजन्य वैषम्य को समाप्त कर शरीर को आरोग्य रखने में समर्थ होते हैं।

राष्ट्र के स्वास्थ्य का महत्त्व एवं उसका संरक्षण—किसी भी कल्याणकारी राज्य में जनता के स्वास्थ्य का विशेष महत्त्व है। स्वस्थ जन समुदाय से ही राष्ट्र के निर्माणकार्य विकास की ओर अग्रमुख होते हैं। देश की स्वतंत्रता के बाद हमारे अनेकधा प्रयत्न के बावजूद हम राष्ट्र के स्वास्थ्य को आगे नहीं बढ़ा सके हैं। हमें इस दिशा में गहराई से सोचना चाहिये और किसी नवीन मार्ग को खोजकर आगे बढ़ना चाहिये। संसार के चिकित्साशास्त्रियों ने स्वास्थ्य विज्ञान की उन्नति एवं समाज को स्वस्थ बनाने के लिये नवीन अन्वेषणों के द्वारा विविध रूप से योगदान दिया है परन्तु भारतीय चिकित्सकों का इस दिशा में प्रयत्न नगण्य एवं तुच्छ है। महान् आश्चर्य है कि भारत जैसे बृहत् एवं समृद्ध देश की ओर से चिकित्सा-शास्त्र में कोई उल्लेखनीय समृद्धि नहीं की गई। हम आज अपने को पश्चिम के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने में गौरवान्वित मानते हैं। आज भी यदि भारतीय चिकित्सा-शास्त्री आयुर्वेद के सिद्धान्तों को आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में उपस्थित कर उनको समुचित प्रयोग में ला सकें तो भारतीय विद्वानों का चिकित्सा क्षेत्र में महान् योगदान हो सकता है और भारतीय जन-स्वास्थ्य की समस्या भी आसानी से सुलझाई जा सकती है। आयुर्वेद ने सामाजिक स्वास्थ्य की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वास्थ्य को विशेष महत्त्व दिया है। जिस राष्ट्र के व्यक्तियों का स्वास्थ्य उच्चस्तर पर है वहां का समाज राष्ट्र के उत्थान में अधिक योगदान दे सकता है। इस कारण आवश्यक है कि व्यक्ति के जीवनयापन के साधनों पर ध्यान दिया जाय। व्यक्ति के रहन-सहन एवं आहार-विहार के तरीकों को सुधारना चाहिये। आज के युग में आधुनिक सभ्यता के परिणामस्वरूप मनुष्यों के रहन-सहन के तरीके परिवर्तित हो गये हैं। हम पश्चिम का अंधाधुंध अनुकरण तो कर रहे हैं परन्तु उनके समान अपने आर्थिक उपकरणों को न बढ़ा सकने के कारण हमारे परिवारों की अधिकांश आय का भाग बाह्य रहन-सहन के स्तर को ठीक रखने में ही खर्च हो जाता है। परिणामस्वरूप पौष्टिक आहार एवं स्वास्थ्य के अन्य साधनों का अभाव ही रहता है, फिर हमारा स्वास्थ्य किस तरह सुधरे। पौष्टिक आहार के विषय में अधिकांश जन-साधारण अज्ञ ही हैं। सस्ते पौष्टिक आहार की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। खाद्य-पदार्थों में मिलावट के कारण शुद्ध खाद्य-सामग्री उपलब्ध नहीं होती। उत्पादन की कमी एवं वितरण व्यवस्था दोषयुक्त होने से वस्तुएं बाजार में उपलब्ध ही नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में सरकार का कर्त्तव्य है कि खाद्य व्यवस्था अपने हाथ में ले जिससे प्रत्येक मनुष्य को उचित मूल्य पर पौष्टिक भोजन उपलब्ध हो सके। उत्पादन सामग्री की वृद्धि कर, वितरण व्यवस्था में संतुलन रखकर एवं मनुष्यों के खाने पीने के तरीकों में परिवर्त्तन कर यह कार्य आसान बनाया जा सकता है। पौष्टिक भोजन के बाद आवास की समस्या है। आज शहरों में शुद्ध ताजी हवा मुश्किल से प्राप्त होती है। आवास के मकानों की कमी से शहरों में जन-संकीर्णता बढ़ती ही जा रही है। परिणामस्वरूप शहरों में जन-स्वास्थ्य देहातों की अपेक्षा अधिक खराब हो रहा है। आवास की समस्या का समाधान भी सरकार द्वारा स्वयं भवन निर्माण कर, तथा आर्थिक ऋण एवं अन्य सुविधाओं द्वारा जन-साधारण को भवन-निर्माण में प्रोत्साहित करके हो सकता है। जनसंख्या की वृद्धि रोकने के लिये परिवार नियोजन के उपायों के साथ ब्रह्मचर्य के पालन पर जोर देना चाहिये। शिक्षाक्रम में इन विषयों का उचित अनुपात में समावेश करना चाहिये। प्राइमरी शिक्षा के प्रारम्भ से ही व्यक्तिगत स्वास्थ्य एवं रहन-सहन के तरीकों को पाठ्यक्रम का अंश बनाना चाहिये जिससे बालक में स्वस्थ रहने की दिलचस्पी उत्पन्न हो सके। स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रकाशन के निर्माण एवं प्रसार में सरकार को सहायक होना चाहिये। स्वास्थ्य के विषय में प्रकृति, जल, वायु, देश, काल, सद्वृत्त, आहार, विहार, दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि विषयों पर सरल साहित्य का विकास किया जाय तथा उन्हें जन-साधारण द्वारा पढ़ने, चलचित्र, व्याख्यान, ग्राम सभा आदि साधनों द्वारा समझने एवं उन पर अमल लाने की दिशा में प्रोत्साहित करना चाहिये। आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य इन तीन उपस्तम्भों पर विस्तृत प्रकाश डाला जाय। रोग कैसे फैलते हैं, हम स्वस्थ कैसे रह सकते हैं, हमारा रहन-सहन कैसा होना चाहिये आदि विषयों को चलचित्र, भाषण एवं अन्य साधनों द्वारा स्वास्थ्य के नियमों के अज्ञ विशेषतः ग्रामीण एवं मजदूर वर्ग तथा मध्यमवर्गीय जन-समुदाय में प्रसारित किया जाना चाहिये। इन साधनों से स्वास्थ्य संरक्षण में लोगों की रुचि उत्पन्न कर तथा उनको स्वास्थ्य के नियमों का पालन कराकर भारत के जन-समुदाय का स्वास्थ्य समुन्नत बनाया जा सकता है।

चिकित्सकों की समस्या---राष्ट्र के स्वास्थ्य को समुन्नत बनाने में चिकित्सक प्रमुख साधन है। चिकित्सक अपने व्यवहार एवं कौशल से साधनके बिना भी रोगी को लाभ पहुँचा सकता है। राष्ट्र के हर व्यक्ति को चिकित्सा के साधनों के उपयोग का अवसर मिलना चाहिये। पांच हजार जनसंख्या के आधार पर देश में अस्पताल एवं स्वास्थ्य केन्द्र खोले जायं जिनमें चिकित्सक को प्रत्येक परिवार के व्यक्तिगत जीवन के निरीक्षण के साथ उनको स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों पर चलने को प्रेरित करने का काम भी होना चाहिये। स्वास्थ्य के नियमों पर न चलने वाले व्यक्तियों पर सामाजिक प्रतिबंध लगाये जायं ताकि उनको उन नियमों पर चलने की प्रेरणा मिल सके। आज कहा जाता है कि देश में चिकित्सकों की कमी के कारण स्वास्थ्य प्रतिष्ठान ठीक कार्य नहीं कर पाते। परन्तु मेरे ख्याल से देश में चिकित्सकों की कमी न होकर उनके वितरण का अनुपात ही ठीक नहीं है। फलस्वरूप जहां शहरों में चिकित्सकों एवं अस्पतालों की भरमार पड़ी है देहात में उनकी संख्या नहीं के बराबर है। रूस एवं चीन जैसे महान् देशों ने चिकित्सकों की कमी का उचित समाधान निकालकर वहां के जन-स्वास्थ्य को समुन्नत बना दिया है। क्या हम उनके अनुकरणों को नहीं अपना सकते हैं? रूस में सन् ३० के पूर्व उत्पन्न चिकित्सकों की कमी को फेल्डसर पद्धति से दूर किया गया था। इसमें फेल्डसर एवं गांव के मुखिया वहां प्रचलित प्राचीन औषधियों द्वारा तथा नवीन उपकरणों के प्रशिक्षण की सहायता से प्राथमिक चिकित्सक का कार्य करते थे। चीन में चीनी चिकित्सा पद्धति के चिकित्सकों को वहां के चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवा में उचित स्थान देकर वहां की सरकार ने चीन के जन-स्वास्थ्य को सुधारने की दिशा में सफलता प्राप्त की है। यदि रूस के समान उन्नत देश फेल्डसर श्रेणी का उपयोग, एवं चीन चीनी चिकित्सा पद्धति के चिकित्सकों का उपयोग अपने देश के स्वास्थ्य संवर्द्धन में ले सकता है तो हमारे देश में भी वैद्य हकीमों का उपयोग अधिक सफलता के साथ लिया जा सकता है। जिन वैद्यों के कारण, मेगस्थनीज के भ्रमण के समय भारतीय जन-स्वास्थ्य इतना सम्पन्न एवं समुन्नत था उन वैद्य हकीमों के कौशल को चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में इस्तेमाल न करना कहां की बुद्धिमत्ता है? प्राचीन चिकित्सा के स्नातकों के साथ हीन भावना का व्यवहार करने से एवं भारतीय चिकित्सा पद्धति को अवैज्ञानिक कहने से भारतीय स्वास्थ्य की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। अभी भी समय है कि भारतीय चिकित्सा शास्त्री दीर्घ जीवन के रहस्य को बतलाने वाले आयुर्वेद के सिद्धान्तों से विश्व चिकित्सा शास्त्र को समुन्नत एवं पल्लवित कर सकते हैं एवं इस चिकित्सा पद्धति के चिकित्सकों एवं स्नातकों के सहयोग से भारतीय जन-स्वास्थ्य को समृद्ध बना सकते हैं जिससे वह अपनी लुप्त प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सके।
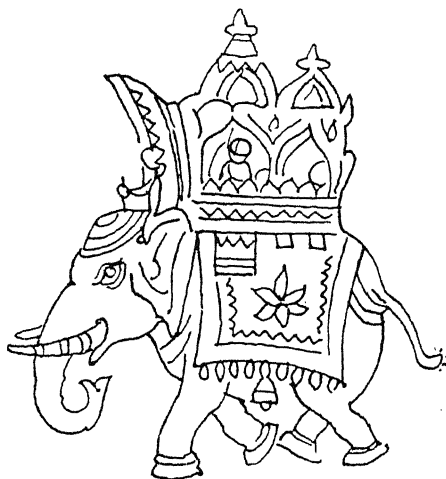
मानसिक रोग और उनकी चिकित्सा

(उत्तर प्रदेश के विशेष संदर्भ में)

डॉ० ब्रजमोहन, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, समाज शास्त्र एवं समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

अतीत के प्राचीनतम पृष्ठों में मानसिक विकारों का उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य एवं पूर्वी देशों के हेब्रू, यूनानी, मिस्री और चीनी आदि भाषाओं के सबसे पुराने ग्रन्थों में मानव के विक्षिप्त एवं उन्मत्त व्यवहारों की प्रव्यञ्जना का वर्णन है। 'ओल्ड टैस्टामेन्ट' से उद्धृत राजा सउल का अवसाद (Depression), ईसा से ६ शताब्दी पूर्व परसिया के राजा कैम्बैसीज की अतिपानता (Alcoholism) एवं यूनानी गाथाओं से प्राप्त हैरक्यूलीज का आक्षेपी (Convulsive) और मानवहत्योन्मादक वर्णन आदि कुछ मानसिक असामान्यता के पूर्वकालिक उदाहरण हैं। मनश्चिकित्सा (Psychiatry) की विविध प्रणालियां भी उतनी ही पुरातन हैं जितने कि ये उदाहरण।

प्राचीन भारत में, जैसाकि वेदों, पुराणों और अन्य गाथाओं से ज्ञात होता है, यह मत प्रचलित था कि मानसिक विकारों और रोगों के पीछे किसी प्रेत पिशाच का हाथ रहता है। मानसिक और शारीरिक सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए सुश्रुत ने लिखा है कि भयानक मानसिक संवेगों और वासनाओं के क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप शारीरिक विकार उत्पन्न होते हैं जिनकी चिकित्सा के लिये शल्य-क्रियाओं की भी आवश्यकता हो सकती है। यह मत किसी हद तक आज भी समीचीन है। सुश्रुत के अनुसार आत्मतत्त्व का प्रमुख गुण 'मानस' होता है जो श्वास-प्रश्वास की शारीरिक क्रिया से जिन्हें 'प्राण' कहते हैं, सूक्ष्म रूप में सम्बन्धित रहता है। मृत्यु आत्मा का शरीर से विघटन है, अर्थात् आत्मा के विघटन के पश्चात् ही शरीर की श्वास क्रिया भी ठप्प पड़ जाती है। यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक भाषाओं में यह व्याख्या स्पष्ट नहीं लगती, किन्तु मनोविश्लेषण और परामनोवैज्ञानिक प्रयोगों और अनुभवों के आधार पर सुश्रुत की उस कल्पना में चेतन और अचेतन मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं और तत्सम्बन्धी शारीरिक रोगों के विषय में महत्त्वपूर्ण झलक मिलती है।

इससे पूर्व कि उत्तर प्रदेश के मानसिक चिकित्सालयों और उनके पीड़ित संवासियों की विस्तृत विवेचना की जाय, वर्तमान भारतीय मनश्चिकित्सा के बारे में दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। भारत में इस समय लगभग ३६ मानसिक चिकित्सालय हैं जो श्रीनगर से लेकर त्रिचूर तक एवं बम्बई से लेकर तेजपुर तक विभिन्न जगहों पर स्थित हैं। इन चिकित्सालयों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि लगभग सभी की स्थापना ब्रिटिश काल में हुई। १७९५ ई० में मद्रास में सर्वप्रथम एक मानसिक चिकित्सालय की स्थापना हुई जिसमें प्रारम्भ में केवल २० रोगियों की चिकित्सा की व्यवस्था थी। आज यहां १८०० मानसिक पीड़ितों के इलाज की व्यवस्था है जितनी कि भारत में अन्यत्र कहीं नहीं है। भारत के सब मानसिक चिकित्सालयों में लगभग १५,००० रोगियों की चिकित्सा की व्यवस्था है, जो अपर्याप्त है। भारत सरकार द्वारा १९६२ में प्रकाशित मुदालियर कमेटी रिपोर्ट के अनुसार भारत में सब प्रकार के मानसिक रोगियों की चिकित्सा के लिये लगभग ६० और ८० लाख शय्याओं की आवश्यकता है। इसमें हमें अपनी मानसिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी आवश्यकताओं और सीमाओं का बोध होता है।

उत्तर प्रदेश में तीन मानसिक चिकित्सालय हैं जो क्रमशः आगरा, बरेली और वाराणसी में स्थापित हैं। लोगों की मानसिक रोग सम्बन्धी नकारात्मक अभिवृत्तियों के कारण इन जगहों का नाम दैनिक वार्तालापों में बड़े व्यंग्य, कूट हास्य एवं अप्रतिष्ठाकारी अर्थों में लिया जाता है। जन-साधारण को इन चिकित्सालयों की आन्तरिक दुनिया के बारे में अनेकों भ्रम हैं। कुछ लोग सोचते हैं इनके अन्दर रोगियों को गरम पानी में फेंक दिया जाता है, पेड़ों पर उल्टा लटका दिया जाता है और इन्हें निर्दय पाशविक दण्ड द्वारा ठीक किया जाता है। ये धारणाएं 'मध्यकालीन' हैं जो जन-साधारण का ही नहीं वरन् बहुत से शिक्षित नागरिकों का भी आज तक पीछा किये हुए हैं। फ्रॉयड का मत है कि भीषण अट्टहास में

असली हास्य की मात्रा कम और आन्तरिक व्याकुलता का अंश अधिक होता है। इस प्रकार मानसिक रोगों और उनसे पीड़ित व्यक्तियों के बारे में प्रचलित अप्रतिष्ठाकारी धारणाएं, लोगों की अपनी-अपनी मानसिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी गहनतम चिन्ता (Anxiety) और असुरक्षा (Insecurity) की अभिव्यक्ति मात्र ही हैं। बोलचाल में आज भी मानसिक रोगियों को 'पागल' ("Lunatic") और उनकी आरोग्यशालाओं को 'पागलखाना' ("Lunatic Asylum") कहा जाता है। कानूनी भाषा में (Indian Lunacy Act 1912) इन मध्यकालीन शब्दों का प्रयोग अभी तक प्रचलित है। किन्तु ये 'उन्मत्तालय' अब 'मानसिक चिकित्सालय' हो गये हैं और इनका आन्तरिक वातावरण भी अधिकांश में बदल चुका है। आइये, डरिये मत, आपको इन मानसिक आरोग्यशालाओं की एक झांकी दिखायें।*

मानसिक चिकित्सालय आगरा निश्चय ही समस्त उत्तर प्रदेश का ही नहीं वरन् उत्तरी भारत में भी मनश्चिकित्सा के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ संस्था माना जाता है। १८६९ में इसकी स्थापना एक 'उन्मत्तालय' के रूप में हुई और १९२५ में इसे एक मानसिक चिकित्सालय की मान्यता प्रदान की गई। कर्नल मूर टेलर ने लगभग २० वर्ष पूर्व भारतीय मानसिक चिकित्सालयों के बारे में अपनी रिपोर्ट भोर कमेटी को प्रस्तुत की जिसमें कि मानसिक चिकित्सालय आगरा को भी सबसे खराब स्थिति वाले चिकित्सालयों की श्रेणी में रखा गया था। १९१४ के पश्चात् से यहां पूर्णकालिक अधीक्षक की व्यवस्था है जो संस्था का प्रधान होता है। लैंगिक आधार पर चिकित्सालय पुरुष और महिला विभागों में बंटा हुआ है जिनके लिये अलग-अलग उप-अधीक्षकों की व्यवस्था है। रोगियों और चिकित्सालय की देखभाल और अन्य सेवाओं के लिये चिकित्सकों के अतिरिक्त उपचारिकाएं, रसोइया, धोबी, माली, चौकीदार, नाई और मेहतर आदि होते हैं। चिकित्सालय में रोगी क्रमशः चार श्रेणियों में रहते हैं, प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ। चतुर्थ श्रेणी के संवासी निःशुल्क होते हैं तथा अन्य तीनों में श्रेणी-विभाजन रोगी की धन-व्यय-क्षमता के आधार पर होता है। यहां चिकित्सा विभिन्न आधुनिक विधियों से की जाती है जिनमें उल्लेखनीय हैं: विद्युत्-आक्षेपी चिकित्सा (Electric Convulsive Therapy), आक्षेपी-धक्का चिकित्सा (Convulsive Shock Therapy), मधुवशि-अधिमूर्छा चिकित्सा (Insulin Coma Therapy), जल चिकित्सा (Hydro therapy), भेषज चिकित्सा (Therapy with drugs and tranquillizers), मनश्चिकित्सा (Psycho therapy) तथा व्यावसायिक चिकित्सा (Occupational therapy)। व्यावसायिक चिकित्सा के अन्तर्गत भूषातक्षण (Fretwork), बढ़ईगिरी, मृत्तिका-प्रतिरूपण (Clay modelling), लोह कर्म (Blacksmithy), मृद्भाण (Pottery), उद्यानकर्म (Gardening), चित्रण (Painting), चर्मकर्म (Leather work), बेंत का काम तथा निवाड़, डलिया और खिलौने आदि बनाने का काम कराया जाता है। मानसिक पीड़ितों के लिये मनोरंजन के उपयुक्त साधन भी जुटाये गये हैं जिनमें रेडियो, सिनेमा, बाह्य और आभ्यंतर क्रीड़ाएं और चक्र-स्पर्धा आदि उल्लेखनीय हैं। वाचन-कक्ष में दैनिक समाचार पत्र एवं अन्य पत्रिकाएं भी रोगियों को मनोरंजन प्रदान करती हैं। इन सब का रोगियों के संस्थागत जीवन में चिकित्सीय महत्त्व होता है। मानसिक चिकित्सालय आज केवल चिकित्सा के ही नहीं वरन् शिक्षा और अनुसंधान के भी केन्द्र होते हैं। यहां के चिकित्सालय में देहली, लखनऊ, कानपुर और आगरा के आयुर्विज्ञान-महाविद्यालयों के छात्र अपनी अनिवार्य शिक्षा लेने आते हैं। कुछ वर्षों से यहां रोगियों के रहने के कमरों के बाहरी ताले खोल दिये गये हैं और अब चौबीसों घंटे रोगी चिकित्सालय के अन्दर स्वतंत्र वातावरण में रहते हैं। इस प्रयोग का रोगियों के मानसिक स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव देखा गया है। चिकित्सालय का अपना एक बाह्य विरुजालय भी है जहां से कि 'उचित' रोगियों को प्रवेश दिया जाता है तथा अन्यों को उचित सलाह और चिकित्सा दी जाती है। हाल ही में एक ६० शय्याओं के वार्ड का निर्माण हुआ है। शहर के शोरगुल से थोड़ी दूर आगरे से मथुरा जाने वाली सड़क पर यह चिकित्सालय बड़े विस्तार में फैला हुआ है। चिकित्सालय के आसपास की आबादी को आगरे की बोलचाल में 'बिल्लोचपुरा' कहते हैं। शहर में किसी रिक्शे या तांगे वाले से बिल्लोचपुरा चलने को कहिये या किसी सज्जन से उधर का रास्ता पूछिये, तो सभी बड़ी उत्सुकता से आपकी ओर देखने लगते हैं।

मानसिक चिकित्सालय बरेली की स्थापना १८२८ में हुई; १८५८–६० तथा १९४८–५० में इसका पुनर्निर्माण हुआ। पहले जब यह केवल 'उन्मतालय' ही था तब इसका मुख्य उद्देश्य रोगियों को बस्तियों से पृथक् रखना ही था; रोगियों से 'अनुशासन' की मांग भी रहती थी। यह चिकित्सालय उतना विशाल नहीं है जितना आगरा का है किन्तु फिर भी चिकित्सा सुचारु रूप से की जाती है। चिकित्सा के प्रकारों में मुख्य हैं: मधुवशि-चिकित्सा, भेषज चिकित्सा तथा व्यावसायिक और मनोरंजनात्मक चिकित्सा। कर्मचारी वर्ग लगभग उसी प्रकार से हैं जिस तरह कि आगरा के चिकित्सालय में हैं। चिकित्सालय की अपनी अनेक आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति के लिये पर्याप्त धन की आवश्यकता है। इस चिकित्सालय

---

*प्रस्तुत अवलोकन लेखक के पी-एच० डी० अन्वेषप्रबन्ध की उपपत्ति पर आधारित हैं।

के वार्ड नं० ६, जिसे वहां आमतौर पर 'डर्टी वार्ड' कहा जाता है, का बड़ा गम्भीर रूप रहता है। अधिकांश रोगी नंगे, जीवन की हर दशा से विरक्त, कोई अत्यधिक शान्त, कोई भयंकर अट्टहासग्रस्त और कोई अत्यधिक क्रोध में चूर और सब एक दूसरे से विरक्त, एक ऐसा जीवन निर्वाह करते हैं जिसे देखकर मानव जीवन पर एक साथ दया और प्यार उमड़ पड़ता है। चिकित्सालय के बाह्य विरुजालय द्वारा रोगियों को बिना दाखिला किये मनश्चिकित्सा और अन्य आवश्यक प्रकार की चिकित्सा की जाती है। इससे चिकित्सालय की आय वृद्धि भी होती है। १९६० में इस विरुजालय से चिकित्सालय को ५,३८० रु० की आय हुई।

वरुणा नदी के उत्तर में पाण्डेपुर गांव के पास १८५५ में स्थापित वाराणसी के मानसिक चिकित्सालय के बारे में थोड़े से लोग ही जानते हैं। सर्वप्रथम १८०९ में इस चिकित्सालय की स्थापना हुकुलगंज में हुई। १८५५ में वहां से हटाकर यह वर्तमान स्थिति पर लाया गया जो कलेक्ट्रेट वाराणसी के उत्तर में है। १९२८ के पश्चात् से यह चिकित्सालय अनिवार्य रूप से अपराधी-मानसिक-रोगियों के लिये निश्चित किया गया है। आगरा और बरेली की भांति यहां पूर्णकालिक अधीक्षक की व्यवस्था नहीं है। जिले का सिविल-सर्जन इसका अधीक्षक भी होता है जो हफ्ते में केवल दो दिन कुछ समय के लिये अस्पताल की देखरेख करता है। उप-अधीक्षक चिकित्सालय की हर समय की देखभाल के लिये रहता है। कर्मचारियों की संख्या आवश्यकतानुकूल नहीं है। मानसिक रोगी यहां ३ श्रेणियों में बांटे गये हैं: (अ) वे जो अपनी अन्वीक्षा (Trial) की प्रतीक्षा में हैं, (ब) वे जो अन्वीक्षा के बाद दोषी किन्तु 'विक्षिप्त' ("Insane") पाये गये और (स) वे जो अपने कारावास के दौरान अपना मानसिक स्वास्थ्य खो बैठे। तृतीय श्रेणी के रोगियों की संख्या बहुत है जिससे ज्ञात होता है कि कारावास-जीवन की आन्तरिक दशाएं मानसिक स्वास्थ्य के लिये बड़ी घातक हैं। हमारे जेलों के वातावरण, उनकी व्यवस्था और कार्य-प्रणालियां कितनी सन्तोषजनक हैं और उनको वैज्ञानिक ढंग पर सुधारने की कितनी आवश्यकता है इस पर अलग से एक लेख लिखा जा सकता है। यहां रोगियों की चिकित्सा के लिये उपयुक्त साधन भी उपलब्ध नहीं हैं। भृत्य श्रेणी के कर्मचारी रोगियों के विभिन्न स्वभावों से किस प्रकार अपना मनोरंजन करते हैं इसका उल्लेख करना यहां उचित न होगा। अधिकांश रोगी खूनी, डकैत और तरह तरह के अपराधी रहे हैं। कानपुर के विख्यात 'कनपटीमार' से लेखक का साक्षात्कार इसी चिकित्सालय में हुआ था। यह चिकित्सालय बाहर और भीतर से कारावास अधिक और चिकित्सालय कम प्रतीत होता है। इसके सुधार के लिये सरकार के विशेष ध्यान की आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश के इन तीनों मानसिक चिकित्सालयों में लगभग १४०० रोगियों के इलाज की व्यवस्था है जिसका विवरण इस प्रकार है:

चिकित्सालय का नाम	पुरुष	स्त्री	योग
१. मानसिक चिकित्सालय, आगरा	४८३	१७५	६५८
२. मानसिक चिकित्सालय, बरेली	२९६	११२	४०८
३. मानसिक चिकित्सालय, वाराणसी	२५२	७९	३३१
योग	१,०३१	३६६	१,३९७

१९६० में नये और पुराने रोगियों की कुल संख्या १,८३७ थी; उन्मुक्त रोगियों की संख्या ५३४ रही। प्रायः अधिकांश रोगी २० से ४० वर्ष की आयु के बीच में होते हैं। मानसिक रोगों में प्रमुख जिनसे अत्यधिक लोग पीड़ित रहते हैं, उन्मादक-अवसापी-मनोरुजा (manic-depressive psychoses) तथा मनोभाजन (Schiyophrenia) हैं। १९६० के १८३७ में मनोभाजन से पीड़ितों की संख्या ७५५ (४१.१ प्रतिशत) थी। इससे आभास होता है मनोविकारों के कारणों में प्रमुख प्रत्याबल और आयास हैं जो संबर्धनिक एवं पर्यावरिक दशाओं से उत्पन्न होते हैं। उत्तर प्रदेश में सभी मानसिक रोगों के कारण में प्रमुख हैं: घरेलू और व्यावसायिक चिन्ताएं, शारीरिक रोग, उपदंश (syphilis) और पित्रागति पूर्व प्रवृत्ति (heresity predisposition)।

मानसिक रोगों की चिकित्सा उत्तर प्रदेश में उपर्युक्त मानसिक चिकित्सालयों के अतिरिक्त अन्य जगहों पर भी होती है, यद्यपि यह पर्याप्त नहीं है। लखनऊ, आगरा आदि जगहों पर स्थापित मुख्य चिकित्सालयों में मनश्चिकित्सा विभाग पृथक् रूप से बना दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद, वाराणसी और लखनऊ आदि स्थानों पर अन्य मनोवैज्ञानिक चिकित्साएं भी उपलब्ध हैं। लखनऊ का लालबाग में स्थापित नूरमंजिल मनश्चिकित्सा केन्द्र अपने सर्वोत्तम

आधुनिक ढंग की चिकित्सा के लिये उल्लेखनीय है। किन्तु यहां चिकित्सा का आर्थिक मूल्य इतना अधिक है कि मामूली व्यक्ति इसकी उपयोगिता से लाभ नहीं उठा सकता।

वर्तमान मानसिक चिकित्सालयों के पुनरनुस्थापन की समस्या उत्तर प्रदेश की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष की है। लोगों की भ्रान्ति है कि मानसिक रोगी की चिकित्सा पर केवल 'डाक्टरों' का ही एकाधिकार है। आधुनिक मनश्चिकित्सा एक 'टीम' द्वारा की जाती है, जिसमें न केवल मनश्चिकित्सक, चैतिकी-विशेषज्ञ और चिकित्सक होते हैं वरन् समाज सेवक, समाजशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक भी सम्मिलित होते हैं। उत्तर प्रदेश के मानसिक चिकित्सालयों में समाज सेवक और मनोवैज्ञानिक आदि की सेवाओं की अभी तक आवश्यकता नहीं समझी गई है। आशा है सरकार का ध्यान इन चिकित्सालयों के सुधार की ओर शीघ्र ही आकर्षित होगा। जन-साधारण में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं को दूर करने के लिये समाज में मानसिक-स्वास्थ्य-शिक्षा की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

खनिज पूर्वेक्षण की क्षेत्रीय प्रविधियाँ

डॉ० रमेश चन्द्र मिश्र, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष भू-विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

पृथ्वी के गर्भ में विद्यमान खनिज-सम्पत्ति की खोज सम्पूर्ण मानव समाज के आर्थिक विकास में एक महान् योगदान रहा है। इस योगदान की पृष्ठभूमि में निहित है भू-वैज्ञानिकों का अदम्य उत्साह, अटूट साहस एवं अडिग तन्मयता। इस महान् कार्य की सिद्धि के लिये भू-वैज्ञानिकों ने, विज्ञान के क्षेत्र में किये गये समस्त अनुसन्धानों से लाभ उठाने की चेष्टा की है, परिणामतः खनिज पूर्वेक्षण में भूभौतिक, भूरासायनिक एवं जीव-विज्ञान की तमाम खोजों का सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सका है। यहां पर भू-वैज्ञानिकों द्वारा खनिज पूर्वेक्षण (Mineral Prospecting) में प्रयुक्त प्रविधियों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है।

एक भू-वैज्ञानिक का सर्वदा ही यह लक्ष्य रहता है कि न्यूनतम व्यय करके खनिज प्राप्ति के विषय में अधिकतम सूचनाएं प्राप्त की जायं। स्पष्टतः हम विस्तीर्ण क्षेत्र के प्रत्येक भाग का गहन अध्ययन नहीं कर सकते। हमें उस क्षेत्र में केवल महत्त्वपूर्ण भागों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा। प्रश्न है इन महत्त्वपूर्ण भागों का चुनाव किन आधारों पर किया जाय। इस आधार के रूप में हम खनिजों के लाक्षणिक गुणों (Characteristic Propertics) का उपयोग करते हैं। परन्तु इसके पूर्व यह वांछनीय है कि सम्पूर्ण क्षेत्र की वायवीय फोटोग्राफी (Aerial Photography) तथा यदि पर्याप्त धन उपलब्ध हो तो साथ ही वायु चुम्बकीय सर्वेक्षण भी किया जाय। इस प्रकार प्राप्त किये गये त्रिवियतीय (Three Dimensional) मानचित्रों की सहायता से क्षेत्र का स्थूल अध्ययन सम्भव हो जाता है। परन्तु हम अपना अध्ययन केवल वायु भू-वैज्ञानिक मानचित्रों (Photographic maps) पर ही आधारित नहीं कर सकते, इसके लिये इन मानचित्रों को मार्ग दर्शक मानकर प्राथमिक क्षेत्र कार्य (Field work) किया जाता है तथा भू-वैज्ञानिक कार्य मानचित्र तैयार किये जाते हैं। यदि हमारे पास क्षेत्र कार्य के लिये धन एवं समय की कमी हो तो वायवीय मानचित्रों पर ही वायु चुम्बकीय सर्वेक्षण की सहायता से महत्त्वपूर्ण स्थानों को अंकित करके उनका विस्तृत अध्ययन प्रारम्भ किया जा सकता है।

अब हमारे पास इतनी सूचनाएं मिल चुकी होती हैं कि हम अपने पूर्वेक्षण के मार्ग पर दूसरा पग रख सकते हैं। वायु चुम्बकीय सर्वेक्षण द्वारा उस क्षेत्र में जिन स्थानों पर चुम्बकीय असंगतियां (Magnetic Anomalies) प्राप्त हुई हैं, उन स्थानों को भू-वैज्ञानिक मानचित्र पर अंकित करके, महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों का भू-भौतिक सर्वेक्षण किया जाता है। भू-भौतिक सर्वेक्षण आरम्भ करने के पूर्व यह तय कर लेना अनिवार्य है कि हम किन खनिजों की खोज में हैं, अन्यथा धन का अपव्यय हो सकता है।

भू-भौतिक सर्वेक्षण विधि के निर्धारण के लिये जिन बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है, वे हैं खनिज प्रकार, क्षेत्र का भू-विज्ञान तथा ऊंचाई और सर्वेक्षण समय। उदाहरण के लिये उस क्षेत्र में यदि चुम्बकीय निक्षेप (Magnetic Deposits) उपस्थित होंगे तो चुम्बकीय सर्वेक्षण द्वारा प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट हो जायेंगे। इतना ही नहीं उन निक्षेपों की प्रकृति, स्थिति, गहराई एवं संरचना की भी जानकारी की जा सकती है। इसी प्रकार विद्युत् चुम्बकीय सर्वेक्षण द्वारा संवाहन कटिबन्धों (Conductive Zones) का पता लगाया जाता है। इस सर्वेक्षण के आधार पर इन कटिबन्धों की गहराई मोटाई संवाहकता पर (Rate of Conductivity) विस्तार एवं प्रकृति का ज्ञान सम्भव हो जाता है। अब यदि भूगर्भस्थ खनिज निक्षेप चुम्बकीय गुण तो नहीं रखता परन्तु विद्युत् का सुचालक है, या दोनों ही गुण रखता है इन तर्कों के आधार पर खनिज विशिष्ट की उपस्थिति की आशंका की जा सकती है।

ध्वनि का वेग विभिन्न माध्यमों में भिन्न-भिन्न रहता है। निश्चय ही ध्वनि के वेग के आधार पर भी पृथ्वी

के अन्दर पाये जाने वाले शैलों की प्रकृति के विषय में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। ध्वानिक पूर्वेक्षण में शैलों के इसी गुण का उपयोग किया जाता है और इस आधार पर जलोढकों (Alluviums) के प्रकार, स्थिति तथा शैल संस्तरों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार भू-रासायनिक सर्वेक्षण में भी विभिन्न शैलों तथा खनिजों के रासायनिक गुणों का अध्ययन करके उस अध्ययन से भू-वैज्ञानिक अनुसन्धानों तथा खनिज सर्वेक्षण में लाभ उठाया जाता है।

इस प्रकार किये गये सर्वेक्षणों के आधार पर भू-वैज्ञानिक मानचित्र में अनेक असंगतियां (Anomalies) अंकित कर ली जाती हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक असंगति के स्थान पर खनिज प्राप्ति हो ही। इन असंगतियों में से महत्त्वपूर्ण स्थलों का चुनाव तो विस्तृत परीक्षण के बाद ही हो सकेगा। लेकिन यह परीक्षण शीघ्रता एवं मितव्ययता के साथ किया जाना चाहिये। इन असंगतियों में से कितनी खान का रूप धारण कर सकेंगी, इस बात का निश्चय अन्तिम रूप से तभी हो सकेगा जब उस स्थान पर पाये जाने वाले शैलों के नमूनों का विश्लेषण हो जाय। किसी भी क्षेत्र में पूर्वेक्षण के लिये सभी रीतियां उपयोग में लाई जायं, यह वांछनीय नहीं। वांछनीय तो यह है कि क्षेत्र विशेष के भू-वैज्ञानिक ज्ञान तथा असंगतियों के आधार पर विशिष्ट क्षेत्रों के लिये विशिष्ट भू-भौतिक रीतियों का उपयोग किया जाय और जो पद (Steps) अनावश्यक हों उन्हें टाल दिया जाय।

जैसा उपर्युक्त पंक्तियों में संकेत किया गया है कि असंगतियों के स्थान से शैल नमूने लाकर प्रयोगशाला में उनका विश्लेषण, खनिज पूर्वेक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके लिये आवश्यक होगा कि गर्तन (Putting), गूल बनना (Trenching) तथा छदन (Drilling) द्वारा असंगति पिंड से प्राप्त नमूनों का विश्लेषण करके उसके विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाय। इस कार्य के प्रतिपादन में प्रतिचयन (Sampling) से भी लाभ उठाया जा सकता है, वरन् कहना तो यों चाहिये कि प्रतिचयन वांछनीय ही नहीं कभी-कभी आवश्यक भी हो जाता है। गड्ढों या गूल के द्वारा किसी अंश तक स्थानीय भू-विज्ञान का त्रिविमितीय चित्र प्रस्तुत हो जाता है। परन्तु छेदन में पृथ्वी के अन्दर का ऊर्ध्वाधर प्रतिछेद (Cross-Section) प्रस्तुत होता है। यदि एक क्षेत्र में कई स्थानों पर छेदन (Drilling) हुआ हो तो इन सब की सहायता से उस क्षेत्र में पृथ्वी के अन्दर की संरचना का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत हो सकता है। पृथ्वी के अन्दर पाई जाने वाली संरचनाओं का यह ज्ञान उस समय और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब हम खनिज तेलों की खोज कर रहे होते हैं।

अब तक केवल इन्हीं निक्षेपों का वर्णन किया गया है जो भू-भौतिक अथवा भू-रासायनिक असंगतियों को जन्म दे सकते हैं। परन्तु कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण निक्षेपों का पूर्वेक्षण उपरोक्त प्रविधियों से नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें ये गुण विद्यमान नहीं होते हैं, जिनका उपयोग उपर्युक्त भू-भौतिक एवं भू-रासायनिक प्रविधियों में किया जाता है। अर्थात् वे संवाहकता, चुम्बकत्व, उच्च आपेक्षिक घनत्व अथवा उपर्युक्त रासायनिक संघटन वाले नहीं होते। इस प्रकार के निक्षेप जिनमें उपर्युक्त विधियां कार्य नहीं करेंगी वे हैं सोना, हीरा अथवा कैसीटराइट के जलोढ (Alluvium) अथवा अपोढ (Elluvium) निक्षेप। इस प्रकार के निक्षेपों को बरमा (Auger) की सहायता से छेद कर, फिर प्राप्त पदार्थ का विश्लेषण एवं अध्ययन किया जाता है।

खनिज पूर्वेक्षण के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन करने के पश्चात्, सर्वेक्षण में प्रयुक्त सामान्य प्रविधियों का व्यवस्थित वर्णन भी असंगत न होगा। सर्वेक्षण विधियों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम तो वे विधियां जो खनिज प्राप्ति में प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती हैं, प्रत्यक्ष (Direct) विधियां कहलाती हैं। दूसरे वे जो खनिज को उसके किसी विशेष गुण के कारण अन्य वस्तुओं से अलग करती हैं, परोक्ष विधियां कही जाती हैं।

प्राचीन काल में जब विज्ञान का इतना अधिक विकास नहीं हुआ था, केवल प्रत्यक्ष विधियों का ही प्रयोग किया जाता था। इन विधियों के लिये मुख्य यन्त्र थे : कुदाल (Pick), फावड़ा (Showel), खरल (Mortar) एवं मूसली (Pestle) तथा कड़ाही (Pan)। परन्तु इन प्रत्यक्ष विधियों का प्रयोग उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित होगा जहां अधिभार (Over burden) कम हो तथा नदियों की घाटियों में जलोढकों (Alluvium) की मोटाई भी अधिक न हो। आज की अनेक खानों की खोज इन्हीं प्राचीन विधियों द्वारा ही की गई थी। प्रत्यक्ष विधियों के दूसरे उदाहरण हैं गर्तन तथा गूल बनाना (Trenching) तथा छेदन (Drilling)। गर्तन तथा गूल बनाने के लिये डाइनेमाइट की सहायता से कुछ विस्फोट भी किया जाता है तथा छेदन में आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रकार के बरमों का प्रयोग करके पृथ्वी के अन्दर से शैल पदार्थ प्राप्त किया जाता है और इस पदार्थ का विश्लेषण होता है।

जहां तक परोक्ष विधियों का सम्बन्ध है, जैसा ऊपर बताया गया है ये स्वयं ही खनिजयामी न होकर खनिजों के भौतिक तथा रासायनिक गुणों के आधार पर उन्हें क्षेत्र के अन्य शैलों आदि से अलग करती हैं। या पहचानने में सहायक

होती हैं। परन्तु खनिजों के ये विशिष्ट लक्षण कभी-कभी खनिजों तक ही सीमित न होकर भू-पृष्ठ में अन्यत्र भी पाये जा सकते हैं, क्योंकि इनकी उपस्थिति मुख्यतः भू-पृष्ठ निर्माण की अवस्थाओं पर निर्भर करती है। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये यह वांछनीय है कि पूर्वेक्षण से सम्बन्धित भू-भौतिक कार्य अधिकांशतः भू-वैज्ञानिकों द्वारा ही किया जाय। चूँकि वे लक्षणों की उपस्थिति के साथ-साथ भू-पृष्ठ की आवश्यकताओं से भी परिचित होंगे भ्रमात्मक स्थिति का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इन परोक्ष विधियों को प्रमुख रूप से चार बृहत् भागों में विभक्त किया जा सकता है। वे हैं भू-वैज्ञानिक, भू-भौतिक, भू-रासायनिक तथा भू-वानस्पतिक विधियां।

यह निसंदेह माना जा सकता है कि अकेली भू-वैज्ञानिक विधियां खनिज पदार्थ के कार्य को प्रतिपादित नहीं कर सकतीं। परन्तु यह भी निश्चय है कि कोई भी अन्य विधि सुव्यवस्थित प्रारम्भिक भू-वैज्ञानिक कार्य के बिना सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। भू-वैज्ञानिक विधियों में महत्त्वपूर्ण है फोटो भू-विज्ञान, पृष्ठमान चित्रण (Surface mapping) जीवाश्म विज्ञान तथा भू-आकृति तत्त्व इत्यादि। फोटो भू-विज्ञान के महत्त्व को संक्षेप में पहले ही बताया जा चुका है। वायवीय मानचित्रों के द्वारा निश्चय ही सम्पूर्ण क्षेत्र की संरचना का तुलनात्मक अध्ययन तथा प्रारम्भिक ज्ञान हो जाता है। इतना ही नहीं इन मानचित्रों की सहायता से विविध शैल प्रकारों एवं कायान्तरण (Metamorphism) के विषय में भी कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पृष्ठ मानचित्रों के भी वायवीय मानचित्रों से बड़ी सहायता मिलती है। पृष्ठ मानचित्रण जहां तक सम्भव हो अपने में पूर्ण होना चाहिये। तत्पर्य यह है कि यह मान-चित्रण किसी विशिष्ट लक्षण के लिये न होकर इससे शैल प्रकार संरचना तथा संस्तरण आदि की अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

भू-वैज्ञानिक विधियों में तीसरा प्रमुख प्रकार है पेट्रोग्रैफिक अध्ययन। इसके अन्तर्गत सम्बन्धित शैल प्रकारों का पारस्परिक परिचय, समय-समय पर विभिन्न कारणों द्वारा उत्पन्न किये गये परिवर्तनों तथा अवसादी (Sedimentary) शैलों में विद्यमान भारी खनिजों का अध्ययन होता है। जीवश्म विज्ञान शैलों के आयु निर्धारण में अत्यन्त ही सहायक सिद्ध हुआ है, जीवाश्मों से युक्त शैलों का अध्ययन बड़ा ही सुव्यवस्थित एवं सरल हो जाता है, क्योंकि जीवाश्मों के प्रकार, उनकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के आधार पर शैलों की आयु निक्षेपण वातावरण (Depositional Environment) तथा निक्षेपकों के विषय में पर्याप्त विश्वास के साथ धारणायें बनाई जा सकती हैं। इसी प्रकार भू-आकृति तत्त्व (Geomorphological Features) भी अपने स्थान पर विशेष महत्त्व रखते हैं। इनका सम्बन्ध खनिजों के प्रकार एवं शैलों के लक्षणों से लगभग सीधा ही होता है।

उपर्युक्त भू-वैज्ञानिक विधियों के अतिरिक्त अनेक भू-भौतिक विधियां भी खनिज सर्वेक्षण में प्रयुक्त होती हैं। भू-भौतिक विधियों में प्रमुख हैं चुम्बकीय भारात्मक तथा विद्युत् चुम्बकीय विधियां। इन विधियों के अन्तर्गत जैसा पहले ही बताया जा चुका है, खनिजों तथा शैलों के विभिन्न गुणों से सम्बन्धित अध्ययन होता है। भूकम्पीय तथा ध्वनिक एव विकिरण विधियां भी अपने स्थान पर खनिज सर्वेक्षण में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इसी प्रकार के शैल पदार्थों के रासायनिक गुण एवं उन पर उगने वाली वनस्पति भी खनिज सर्वेक्षण के लिये उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

आचार्य आर्यभट का आर्धरात्रिक तन्त्र

कृपाशंकर शुक्ल
प्रोफेसर, गणित विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

१. विषय प्रवेश--आचार्य आर्यभट भारतीय ज्योतिष की आर्षेतर परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं। उनका आर्यभटीय नामक ज्योतिष-ग्रन्थ उनकी अमरकीर्ति का प्रतीक है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त उनका कोई अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि उन्होंने ज्योतिष पर कम-से-कम एक और ग्रन्थ लिखा था। परवर्ती आचार्यों ने उनके दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है, एक जिसमें दिन की गणना सूर्योदय से की गई है (और आर्यभटीय के नाम से प्रसिद्ध है) और दूसरा जिसमें दिन की गणना अर्धरात्रि से की गई थी। आचार्य वराहमिहिर (५०५ ई०) ने लिखा है--

> "आर्यभट ने लंका की अर्धरात्रि के समय दिन का आरम्भ होना कहा है; पुनः उन्होंने ही लंका के सूर्योदय से दिन का आरम्भ होना कहा है।"[१]

आचार्य ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने आर्यभट के ग्रन्थों में परस्पर विरोधी वचनों के लिये उनकी आलोचना करते हुए लिखा है--

> "जब सूर्य के भगणों की संख्या ४३,२०,००० निर्धारित कर दी गई, युग का प्रमाण निश्चित हो गया। तो क्या कारण है कि (आर्यभट के ग्रन्थों में) युगसावन दिनों के पाठ में ३०० का अन्तर है।"[२]
>
> "(आर्यभट के) औदयिक और आर्धरात्रिक (तन्त्रों में) १४४०० युगयात वर्षों में १ सावन दिन का अन्तर पड़ता है।"[३]
>
> "अतएव आर्धरात्रिक गणना से प्राप्त मध्यमग्रह, औदयिक गणना से प्राप्त मध्यमग्रह से ग्रहगतिचतुर्थांश तुल्य न्यून आता है। दोनों में से कौन सा शुद्ध है, स्पष्ट नहीं है। अतएव दोनों ही अशुद्ध हैं।"[४]

आर्यभट के आर्धरात्रिक ग्रन्थ का उल्लेख अल बैरूनी कृत 'भारत' नामक ग्रन्थ में तथा नीलकंठ विरचित आर्यभटीय-भाष्य में भी हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में आर्यभटीय की अपेक्षा आर्यभट के आर्धरात्रिक तन्त्र का विशेष आदर था। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तर भारत के ज्योतिषी आर्यभट के आर्धरात्रिक तन्त्र को गणितीय दृष्टि से अत्यन्त शुद्ध

---

१. लंकार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभटः।
स एव भूयः चार्कोदयात् प्रभृत्याह लंकायाम्॥
(पंचसिद्धान्तिका, अध्याय १५, श्लोक २०)

२. युगरविभगणाः ख्युघ्रीति यत् प्रोक्तं तत् तयोर्युगं स्पष्टम्।
त्रिशती रव्युदयानां तदन्तरं हेतुना केन॥
(ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त, अध्याय ११, श्लोक ५)

३. अधिकैः शतैश्चतुर्भिर्वर्षसहस्रैश्चतुर्दशभिरेकः।
युगयातैर्दिनवारान्तरमौदयिकार्धरात्रिकयोः॥
(ब्रास्फुसि, अध्याय ११, श्लोक १३)

४. औदयिकाद्दिनभुक्तेस्तुर्यांशेनार्धरात्रिको भवत्यूनः।
कतर स्फुटं न निश्चितमनयोः स्फुटमेकमपि नातः॥
(ब्रास्फुसि०, अध्याय ११, श्लोक १४)

समझते थे और उसी के आधार पर अपनी गणना करते थे। कदाचित् यही कारण है कि सुविख्यात गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने, जिन्होंने युवावस्था में आर्यभट की अत्यन्त तीक्ष्ण आलोचना की थी तथा अनेक प्रकार से उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश की थी, अपनी वृद्धावस्था में उनके आर्धरात्रिक तन्त्र को आधार बना कर अपने खण्डखाद्यक नामक करण-ग्रन्थ की रचना की थी। खण्डखाद्यक-करण के एक उपोद्घात श्लोक में ब्रह्मगुप्त स्वयं लिखते हैं—

"संसार को उत्पन्न करने वाले, पालन करने वाले, तथा संहार करने वाले भगवान् महादेव को प्रणाम करके, मैं 'खण्डखाद्यक' का उपदेश करता हूं जो आचार्य आर्यभट (प्रणीत आर्धरात्रिक तन्त्र) के समान फल देने वाला है।"[1]

उत्तर भारत में सर्वत्र खण्डखाद्यका का बड़ा आदर हुआ। कश्मीर, नेपाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, सौराष्ट्र, उड़ीसा इत्यादि उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में उस पर भाष्य, व्याख्यान, उदाहरण आदि नाना प्रकार की टीकाएं लिखी गईं। आर्यभट के महाकाय आर्धरात्रिक तन्त्र की अपेक्षा लघुकाय खण्डखाद्यक के उपयोग में सुभीता था, अतएव पश्चोक्त ग्रन्थ के व्यवहार में आते ही पूर्वोक्त ग्रन्थ का महत्त्व कम हो गया। ज्यों-ज्यों खण्डखाद्यक का प्रचार बढ़ता गया, आर्यभट का ग्रन्थ उपेक्षित होता गया और पृष्ठभूमि में पड़ता गया, और शनैः-शनैः लुप्त हो गया। यही कारण है कि अब हम आर्यभट को केवल आर्यभटीय के रचयिता के रूप में जानते हैं।

हर्ष का विषय है कि आर्यभट के सर्वप्रधान शिष्य तथा अश्मक सम्प्रदाय के सर्वमान्य गुरु श्रीमद् भास्कर प्रथम (६२९ ई०) के ग्रन्थों के अनुसन्धान से हमें प्राचीन भारतीय ज्योतिष के सम्बन्ध में नया प्रकाश मिला है। उनके महाभास्करीय नामक ग्रन्थ में ऐसी सामग्री उपलब्ध हुई है जो हमें आर्यभट के लुप्त ग्रन्थ के विषय में महत्त्वपूर्ण बातों की जानकारी कराती है। भास्कर प्रथम ने आर्यभट के औदयिक और आर्धरात्रिक ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख किया है, पहले को आर्यभट-तन्त्र, भटतन्त्र अथवा औदयिक तन्त्र कहा है और दूसरे को आर्धरात्रिक तन्त्र अथवा तन्त्रान्तर ('दूसरा तन्त्र') के नाम से सम्बोधित किया है। महाभास्करीय के सप्तम अध्याय में, जिसमें ज्योतिषीय अचरों का विरण दिया गया है, भास्कर ने आर्यभट के उक्त दोनों ग्रन्थों की विशेषताओं का विवेचन किया है।

सूर्यसिद्धान्त की टीकाओं ने आर्यभट के आर्धरात्रिक तन्त्र विषयक हमारे ज्ञान को और भी अधिक विस्तृत किया है। रामकृष्ण आराध्य (१४७२ ई०), तम्म यज्वा (१५९९ ई०), तथा भूधर (१५७२ ई०) आदि सूर्यसिद्धान्त के टीकाकारों ने आर्यभट के आर्धरात्रिक तन्त्र को आर्यभट-सिद्धान्त के नाम से सम्बोधित किया है तथा उस ग्रन्थ में वर्णित ज्योतिष के यन्त्रों का विस्तृत विवरण भी दिया है। रामकृष्ण आराध्य ने तो आर्यभट-सिद्धान्त के यन्त्राध्याय नामक अध्याय के ३४ श्लोकों को ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया है। तम्म यज्वा ने सूचित किया है कि उन्होंने आर्यभट-सिद्धान्त के आधार पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की है। अतएव आर्यभट के आर्धरात्रिक ग्रन्थ के अस्तित्व में किसी प्रकार के सन्देह की गुंजायश नहीं रह जाती।

प्रस्तुत लेख में हम आर्यभट-सिद्धान्त विषयक अपनी जानकारी से पाठकों को अवगत करायेंगे। पहले हम आर्यभटीय तथा आर्यभट-सिद्धान्त की विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे, फिर रामकृष्ण आराध्य द्वारा आर्यभट-सिद्धान्त के यन्त्राध्याय से उद्धृत श्लोकों का अध्ययन करेंगे और उनमें वर्णित यन्त्रों का विवेचन करेंगे; अन्त में हम पाठकों का ध्यान उन दो आर्या छन्दों की ओर आकर्षित करेंगे जिन्हें शंकरनारायण ने आर्यभट-प्रणीत बताया है।

२ः आर्यभट के औदयिक और आर्धरात्रिक तन्त्रों की विषमताएं—भास्कर प्रथम के अनुसार आर्यभट के औद्यिक और आर्धरात्रिक तन्त्र केवल तीन बातों में भिन्न थे: (१) कुछ ज्योतिषीय अचरों में, (२) ग्रह-स्पष्टीकरण की विधियों में, और (३) ग्रहों के शर साधन की विधियों में।

(१) ज्योतिषीय अचरों में भेद—ज्योतिषीय अचरों का भेद निम्नलिखित सारणियों से स्पष्ट हो जायगा।

सारणी १—ग्रहों के व्यास और दूरियां

	औदयिक तन्त्र के अनुसार (योजनों में)	आर्धरात्रिक तन्त्र के अनुसार (योजनों में)
पृथ्वी का व्यास	१०५०	१६००
सूर्य का व्यास	४४१०	६४८०
चन्द्रमा का व्यास	३१५	४८०
सूर्य की दूरी	४५९५८५	६८९३५८
चन्द्रमा की दूरी	३४३७७	५१५६६
आकाशकक्षा/चन्द्रगण	२१६०००	३२४०००

१. प्रणिपत्य महादेवं जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुम्।
वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभटतुल्यफलम्॥

उपर्युक्त सारणी के द्वितीय और तृतीय कोष्ठकों के अंक प्रायः २ : ३ के अनुपात में हैं। इसका कारण यह है कि औदयिक तन्त्र का योजन आर्धरात्रिक तन्त्र के योजन का डेढ़ गुना था।

सारणी २—सावन और क्षय दिन, बुध और बृहस्पति भगण

	औदयिक तन्त्र के अनुसार	आर्धरात्रिक तन्त्र के अनुसार
युगसावन दिन	१५७७९१७५००	१५७७९१७८००
युगक्षय दिन	२५०८२५८०	२५०८२२८०
युगबुध भगण	१७९३७०२०	१७९३७०००
युगबृहस्पति भगण	३६४२२४	३६४२२०

सारणी ३—ग्रहों के मन्दोच्च

	औदयिक तन्त्र के अनुसार	आर्धरात्रिक तन्त्र के अनुसार
सूर्य	७८°	८०°
मंगल	११८°	११०°
बुध	२१०°	२२०°
बृहस्पति	१८०°	१६०°
शुक्र	९०°	८०°
शनि	२३६°	२४०°

सारणी ४—ग्रहों की मन्दपरिधियां

	औदयिक तन्त्र के अनुसार		आर्धरात्रिक तन्त्र के अनुसार
	ओज पादादि	युग्मपादादि	
सूर्य	१३° ३०′	१३° ३०′	१४°
चन्द्रमा	३१° ३०′	३१° ३०′	३१°
मंगल	६३°	८१°	७०°
बुध	३१° ३०′	२२° ३०′	२८°
बृहस्पति	३१° ३०′	३६°	३२°
शुक्र	१८°	९°	१४°
शनि	४०° ३०′	५८° ३०′	६०°

सारणी ५—ग्रहों की शीघ्रपरिधियां

	औदयिक तन्त्र के अनुसार		आर्धरात्रिक तन्त्र के अनुसार
	ओज पादादि	युग्म पादादि	
मंगल	२३६° ३०′	२२६° ३०′	२३४°
बुध	१३९° ३०′	१३०° ३०′	१३२°
बृहस्पति	७२°	६७° ३०′	७२°
शुक्र	२६५° ३०′	२५६° ३०′	२६०°
शनि	४०° ३०′	३६°	४०°

(२) ग्रहस्पष्टीकरण की विधियों में भेद—औदयिक तन्त्र में मंगल, बृहस्पति और शनि के स्पष्टीकरण के लिये निम्नलिखित संस्कार बताये गये हैं :—

स्पष्ट मन्दकेन्द्र ज्ञात करने के लिये—

(१) मध्यमग्रह में बाहुफलार्ध का संस्कार

(२) प्राप्त ग्रह में शीघ्रफलार्ध का संस्कार।

स्पष्ट ग्रह ज्ञात करने के लिये—

(३) मध्यमग्रह में (स्पष्ट मन्दकेन्द्र से प्राप्त) सम्पूर्ण बाहुफल का संस्कार

(४) प्राप्त ग्रह में सम्पूर्ण शीघ्रफल का संस्कार।

बुध और शुक्र के स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित संस्कार बताये गये हैं :

(१) मध्यमग्रह में शीघ्रफलार्ध संस्कार

(२) मध्यमग्रह में (स्पष्ट मन्दकेन्द्र से प्राप्त) सम्पूर्ण बाहुफल का संस्कार

(३) प्राप्त ग्रह में सम्पूर्ण शीघ्रफल का संस्कार।

आर्धरात्रिक तन्त्र में सभी ग्रहों के स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित संस्कार बताये गये हैं :

स्पष्ट मन्दकेन्द्र ज्ञात करने के लिये—

(१) मध्यमग्रह में शीघ्रफलार्ध का संस्कार

(२) प्राप्त ग्रह में मन्दफलार्ध का संस्कार।

स्पष्ट ग्रह ज्ञात करने के लिये—

(३) मध्यम ग्रह में (स्पष्ट मन्दकेन्द्र से प्राप्त) सम्पूर्ण मन्दफल का संस्कार

(४) प्राप्त ग्रह में सम्पूर्ण शीघ्रफल।

(३) ग्रहों के शरसाधन की विधियों में भेद—औदयिक तन्त्र में मंगल, बृहस्पति और शनि के शर ज्ञात करने के लिये निम्नलिखित सूत्र बताया गया है :

$$\text{ज्या (शर)} = \frac{\text{ज्या (ग्रह—पात) ज्या (परमशर)}}{\text{ग्रह की कलात्मक दूरी}}$$

बुध और शुक्र के शर ज्ञात करने के लिये निम्नलिखित सूत्र बताया गया है :

$$\text{ज्या (शर)} = \frac{\text{ज्या (ग्रहशीघ्रोच्च—पात). ज्या (परमशर)}}{\text{ग्रह की कलात्मक दूरी}}$$

आर्धरात्रिक तन्त्र में मन्दपात और शीघ्रपात नाम के दो पातों की कल्पना की गई है जो इस प्रकार है :—

मंगल का मन्दपात	=	(मन्दोच्च—३ राशि) + १° ३०′
बृहस्पति का मन्दपात	=	(मन्दोच्च—३ राशि) + २°
शनि का मन्दपात	=	(मन्दोच्च—३ राशि) + २°
बुध का मन्दपात	=	(मन्दोच्च + ६ राशि) + १° ३०′
मंगल का शीघ्रपात	=	शीघ्रोच्च—३ राशि
बृहस्पति का शीघ्रपात	=	शीघ्रोच्च—३ राशि
शनि का शीघ्रपात	=	शीघ्रोच्च—३ राशि

बुध का शीघ्रपात नहीं है।

शुक्र का शीघ्रपात = शीघ्रोच्च + ६ राशि।

शर ज्ञात करने के लिये निम्नलिखित सूत्र बताया गया है—

शर = (मन्दपात से प्राप्त शर) + (शीघ्रपात से प्राप्त शर),

जिसमें + या — चिन्ह का प्रयोग शरों की एक दिशा या भिन्न दिशा के अनुसार करना चाहिए।

मन्दपात और शीघ्रपात से शर निकालने का सूत्र यह है :—

$$\text{ज्या (शर)} = \frac{\text{ज्या (ग्रह-पात)} \times \text{ज्या (परमशर)}}{\text{ग्रह की कलात्मक दूरी}}$$

३. आर्यभट के आर्धरात्रिक-तन्त्र का अन्य ग्रन्थों से सम्बन्ध

(१) आर्धरात्रिक तन्त्र और खण्डखाद्यक—भास्कर प्रथम द्वारा वर्णित आर्यभट के आर्धरात्रिक तन्त्र खण्डखाद्यक के साथ तुलना करने पर इस बात की पुष्टि हो जाती है कि पूर्वोक्त ग्रन्थ वस्तुतः वही है जिसे आधार मान व पश्चोक्त ग्रन्थ का प्रणयन किया गया था। केवल शरानयन को छोड़ कर शेष सभी बातों में दोनों में पूर्ण सामंजस्य है शरानयन के विषय में ब्रह्मगुप्त ने आर्धरात्रिक तन्त्र की अशुद्ध विधि को ग्रहण न करके औदयिक तन्त्र की शुद्ध विधि अनुसरण किया है जिसका वर्णन भास्कर प्रथम ने विस्तार में किया है।

आर्धरात्रिक तन्त्र और खण्डखाद्यक की समानता से पूर्वोक्त ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है।

(२) आर्धरात्रिक तन्त्र और मूल सूर्य सिद्धान्त—मूल सूर्य सिद्धान्त तो अब उपलब्ध नहीं है परन्तु आचा वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका के अध्याय १, ९, ११ और १६ में हमें उस सिद्धान्त की झांकी मिल जाती है। इ अध्यायों के साथ आर्यभट के आर्धरात्रिक तन्त्र की तुलना करने पर हम देखते हैं कि :

(१) दोनों ग्रन्थों के ज्योतिषीय अचर समान हैं, अर्थात् ग्रह भगण, ग्रह मन्दोच्च, मन्द और शी परिधियां, ग्रहोदयों के कालांश, इत्यादि दोनों में ठीक वही हैं। ग्रहानयन और शरानयन व विधियां भी प्रायः एक जैसी हैं।

(२) सूर्य और चन्द्रमा की दूरियां यद्यपि पंचसिद्धान्तिका में पठित नहीं की गई हैं तो भी पंचसिद्धान्तिव के अध्याय ९, श्लोक १५–१६ से अनुमान होता है कि उनके मान भी दोनों ग्रन्थों में प्रायः एव समान थे।[१]

मूल सूर्य सिद्धान्त पर आधारित सुमति महातन्त्र नामक ग्रन्थ के ज्योतिषीय अचर भी ठीक वही हैं जो आर्यभ के आर्धरात्रिक तन्त्र में थे।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्यभट का आर्धरात्रिक तन्त्र मूल सूर्य सिद्धान्त पर आधारित था। यह कारण है कि कुछ परवर्ती लेखकों ने आर्यभट को सूर्यसिद्धान्त के आदि उपदेशक भगवान् सूर्य का अवतार माना है, जैस कि डा० कर्ण द्वारा उद्धृत निम्नलिखित मुक्तक से स्पष्ट है :—

सिद्धान्त पंचक विधावपिदृग्विरुद्ध—
मौढ्योपराग मुख खेचर चार क्लृप्तौ।
सूर्यः स्वयं कुसुमपुर्यभवत् कलौ तु
भूगोलवित् कुलप आर्यभटाभिधानः॥

सूर्य सिद्धान्त की टीकाओं में आर्यभट सिद्धान्त के उल्लेख और उद्धरण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं।

(३) आर्धरात्रिक तन्त्र और पुलिशसिद्धान्त—अलबैरूनी द्वारा अपने ग्रन्थ 'भारत' में तथा भट्टोत्पल द्वार अपनी 'बृहत्संहिता की टीका' में उद्धृत पुलिश (या पौलिश) सिद्धान्त भी आर्यभट के तन्त्रान्तर से मेल खाता है। परन्त आमराज द्वारा अपनी खण्डखाद्यक की टीका में उद्धृत पौलिश सिद्धान्त एक-दो ज्योतिषीय अचरों में आर्यभट के तन्त्रान्त से भिन्न है। तथापि यह उल्लेखनीय है कि आमराज़ ने एकाधिक स्थलों पर खण्डखाद्यक के मूल श्लोकों को स्पष्ट करने पौलिश सिद्धान्त को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि—

(१) आर्यभट का तन्त्रान्तर या तो मूल सूर्य सिद्धान्त का नवीन संस्करण था, अथवा उस पर आधारि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था।

(२) भट्टोत्पल और अलबैरूनी द्वारा उद्धृत पुलिश सिद्धात उस नाम के प्राचीन सिद्धान्त का नवी संस्करण था जो आर्यभट के तन्त्रान्तर की सहायता से संशोधित किया गया था।

(३) आमराज द्वारा उद्धृत पुलिश सिद्धान्त उस ग्रन्थ का और भी नया संस्करण था जिसमें कुछ न संशोधन किये गये थे।

यह बात बता देना आवश्यक है कि आर्यभट के तन्त्रान्तर की भांति पुलिश-सिद्धान्त भी आर्धरात्रिक ग्रन्थ था

४. आर्यभट-सिद्धान्त का यन्त्राध्याय—ऊपर हमने मल्लिकार्जुन सुत रामकृष्ण आराध्य (१४७२ ई०) द्वार

---

१. यहां हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि पंचसिद्धान्तिका के अध्याय १७ का १२वां श्लोक तथा अध्याय ९ के १५वें और १६वें श्लोक, जैसे कि थीबो और सुधाकर द्विवदी के संस्करण में छपे हैं, अशुद्ध हैं। इस सम्बन्ध मे Ganita; Vol. V, No. 2 में प्रकाशित हमारा लेख On Three Stanzas from the Pancasiddhantica देखिये।

अपनी सूर्यसिद्धान्त-व्याख्या 'सुबोधिनी' में आर्यभट-सिद्धान्त के यन्त्राध्याय नामक अध्याय से उद्धृत ३४ श्लोकों का उल्लेख किया है। इन श्लोकों में छाया-यन्त्र, धनुर्यन्त्र, यष्टि-यन्त्र, चक्रयन्त्र, छत्र-यन्त्र, तोय-यन्त्र, घटिका-यन्त्र, कपाल-यन्त्र और शंकु-यन्त्र का सांगोपांग वर्णन किया है। इस अनुच्छेद में हम उक्त ३४ श्लोकों को उद्धृत एवं अनूदित करेंगे, और यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार उन पर व्याख्या या टिप्पणी करेंगे।

टीकाकार रामकृष्ण ने उक्त श्लोकों को इस प्रकार से उद्धृत किया है :—

"काल संसाधनार्थाय तथा यन्त्राणि साधयेदित्यादि श्लोक-व्याख्यानुरूपेण आर्यभटसिद्धान्तोक्त यन्त्रानुसारेण। तत्कृतयन्त्राध्यायश्लोका विलिख्यन्ते।

(छायायन्त्राणि)

दिङ्मध्यात्सप्तपञ्चाशदगुंलैस्त्रिज्यकांशकैः।
लिखेद्वृत्तं च चक्रांशचिह्नितं सममण्डलम् ॥ १ ॥
चराग्रज्याद्युनाडीभिः छायायन्त्राणि साधयेत्।
समवृत्तविदिक्छाया कर्णाभ्यां क्रान्तिदोर्गुणाः ॥ २ ॥
समवृत्ते स्वदिश्यग्रां दद्यात् प्राच्यपराशयोः।
चराज्यानामथाग्राङ्कान् दिङ्‌मध्यात् स्वदिशि न्यसेत् ॥ ३ ॥
तदग्रबिन्दुतो वृत्तं वृत्तान्ताग्रं लिखेत्तु तत्।
स्वाहोरात्रदलं तत्र स्पष्टा नाड्यः स्वशङ्कुभिः ॥ ४ ॥
स्वाहोरात्रदलेंऽशाः स्युः षड्गुणा दिननाडिकाः।
अग्रान्तेऽस्तोदयार्कै स्तः याम्यार्धे पूर्वपश्चिमे ॥ ५ ॥
तत्पूर्वापररेखातो दक्षिणार्धं च तत्स्मृतम्।

(धनुर्यंत्रम्)

वृत्तव्यासो धनुर्ज्या स्याद् व्यासार्धं धनुषः शरः ॥ ६ ॥
शङ्कुच्छाया धनुर्ज्यायां दिङ्‌मध्यास्त्विष्टभा सदा।
प्रागग्रं धनुषो वृत्ते भ्रामयेदर्कदिङ्मुखम् ॥ ७ ॥
चापाग्रोदयमध्यांशाः षड्भिर्भाज्या दिने गताः।

(यष्टियन्त्रम्)

वृत्तव्यासदलं ?ष्टिस्त्रिज्यांशाङ्गुल सम्मिता ॥ ८ ॥
दिङ्मध्येऽर्कोन्मुखी धार्या यष्टिः कर्णस्तदुन्नतिः।
शङ्कुस्तच्छंकुमूलात्तु छाया दिनमध्यगा सदा ॥ ९ ॥
यष्ट्यग्रोदयंमध्यांशाः षड्भिर्भाज्या दिने गताः।

(चक्रयन्त्रम्)

भगणांशाङ्कितं चक्रं सरन्ध्रं विषुवत्यथ ॥ १० ॥
धनुः रव्युन्मुखं कृत्वा चापवच्चक्रयन्त्रकम्।
कल्पयेल्लम्बशङ्कोर्वा छाया नाड्यश्च यष्टिवत् ॥ ११ ॥
शङ्कुभ्रमप्रकारेण प्रोक्ता नाड्यश्च तत्प्रभा।
अधुना भाभ्रमान्नाड्यः तथाछाया च कथ्यते ॥ १२ ॥

(छत्रयन्त्रम्)

छत्रं वेणुशलाकाभिः कृत्वा चक्रांशसङ्ख्यया।
दिङ्मध्ये समवृत्तं च कल्पयेच्छत्रयन्त्रकम् ॥ १३ ॥
छत्रदण्डं च तन्मध्ये व्यासार्धं शङ्कुरेव सः।
स्वाहोरात्रदलं सौम्यं व्यस्ताग्रं भाभ्रमाह्वयम् ॥ १४ ॥
षड्गुणा दिननाड्योंऽशाः सौम्यार्धे छत्रयन्त्रतः।
अग्रान्ते ऽर्कोदयास्ते च प्रत्यक्प्राक् च प्रभा स्थिता ॥ १५।

तत्प्रत्यगन्तमस्ताख्यं प्रागन्तमुदयाह्वयम् ।
अस्ताख्यादुदयस्यान्तं छत्र कालां शकाः स्थिताः ॥ १६ ॥
छत्र मध्यस्थ शङ्कोस्तु छायैवेष्टप्रभा सदा ।
छायाग्रास्ताख्यमध्यांशा षड्भिर्नाड्यो दिवा गताः ॥ १७ ॥

(तोययन्त्राणि)

स्तम्भं सद्‌विलसम्पूर्णं तोयं रन्ध्रे तु योजयेत् ।
तन्मुक्तकाल सम्भाज्यः स्तम्भायामो ऽङ्गुलात्मकम् ॥ १८ ॥
अङ्गुलानां मितिः स्तम्भे प्रतिनाडीं तु यन्त्रके ।
नाड्याख्याद् भूतलच्छिद्रात् पूर्यादम्बुघटीतलम् ॥ १९ ॥
बीजमेतत् घटीमानं यन्त्रेषु स्तम्भसूत्रयोः ।
यन्त्रे बद्धनरे शिल्पे युद्धे मेषादिकेऽपि च ॥ २० ॥
अन्तः सुषिरमेवं तन्मयूरं वानरं तथा ।
स्थाप्य स्तम्भे तु सम्पूर्णे यन्त्रे षष्ट्‌ङ्‌गुलोच्छ्रिते ॥ २१ ॥
सुश्लक्ष्णकीलकं सूक्ष्मं यन्त्राङ्कपरिकल्पितम् ।
षष्ट्यङ्गुलेन सूत्रेण वेष्टयेत् षष्टिवेष्टनैः ॥ २२ ॥
तं प्रक्षिपेन्नरे मूर्ध्नि निर्गच्छन् कर्णरन्ध्रयोः ।
पार्श्वे योर्निक्षिपेत् सूत्रं मयूरे वानरे ऽपि वा ॥ २३ ॥
मध्यवेष्टित सूत्राग्रे बध्वालाबूं सपारदाम् ।
नरो परि जले क्षिप्त्वा गुदच्छिद्रे ऽम्बु मोचयेत् ॥ २४ ॥
मयूरे वानरे वेत्थं बध्वालाबूं सपारदाम् ।
नाभिरन्ध्रादधः स्तम्भजले क्षिप्त्वाम्बु मोचयेत् ॥ २५ ॥
प्रतिनाडीं जलं छिद्रान्निर्गच्छत्येकमङ्गुलम् ।
स्तम्भे ऽलाबु बिलान्तस्था ऽधो याति तथाङ्गुलम् ॥ २६ ॥
तद्यन्त्रमध्यकीलस्थवेष्टनं चैकमङ्गुलम् ।
अलाबुकर्षणे सूत्रमधो याति बिलोन्मुखम् ॥ २७ ॥
तत्कीलाग्रे ऽपरं सूत्रं नाडीज्ञानाय लम्बयेत् ।
तद्वेष्टनानि यावन्ति तावंत्यो घटिका गताः ॥ २८ ॥

(घटिकायन्त्रम्)

वृत्तं ताम्रमयं पात्रं कारयेद् दशभिः पलैः ।
षडङ्‌गुलं तदुत्सेधो विस्तारो द्वादशाङ्‌गुलम् ॥ २९ ॥
तस्याधः कारयेच्छिद्रं पलेनाष्टाङ्‌गुलेन तु ।
इत्येद् घटिकायंत्रं पलषष्ट्यम्बुपूरणात् ॥ ३० ॥

(कपालयन्त्रम्)

स्वेष्टं वाऽन्यदहोरात्रे षष्ट्यम्भसि निमज्जनैः ।
ताम्रपात्रमधश्छिद्रमम्बु यन्त्रं कपालकम् ॥ ३१ ॥

(शङ्कुविभेदाः)

तले द्वय ङ्‌गुलविस्तारः समवृत्तो द्वादशोच्छ्रयः ।
सारदारुमयः शङ्कुर्द्वितीयो द्वादशाङ्गुलः ॥ ३२ ॥
सूच्यग्रस्थूलमूलोऽन्यस्तदुत्सेधस्तलाग्रयोः ।
सतिर्यग्वेधसूच्योस्तु लम्बसूची स्फुटो नरः ॥ ३३ ॥
तुल्याग्रस्तलवृत्तोऽन्यः शङ्कुः स्याद् द्वादशाङ्गुलः ।
या व्यक्ता शङ्कुभा यन्त्रात् सा व्यक्तैव नतप्रभा ॥ ३४ ॥

अनुवाद—"समय का ज्ञान करने के लिये यन्त्रों की रचना करवानी चाहिये"। कैसे ? इस श्लोक के अन्तर्गत

दी गयी व्यवस्था के अनुसार अथवा आर्यभट सिद्धान्त में बताई गई यन्त्रनिर्माण करने की विधि के अनुसार। आर्यभट-प्रणीत यन्त्राध्याय के श्लोक नीचे लिखे जा रहे हैं---

छायायन्त्र---दिशाओं के मध्य (अर्थात् पूर्वापर और दक्षिणोत्तर रेखाओं के व्यवच्छेद बिन्दु) को केन्द्र मान कर, तथा एक रेडियन में अंशों की संख्या तुल्य ५७ अंगुलों को व्यासार्ध मान कर एक सममण्डल वृत्त, (अर्थात् ऐसा वृत्त जिसकी गोलाई सर्वत्र एकसमान हो) खींचे, और उसकी परिधि को अंशसूचक ३६० चिन्हों से अंकित करे ॥ १ ॥

तदनन्तर सूर्य की चरज्या और अग्राज्या तथा एक दिन में नाडियों की संख्या की सहायता से (वर्ष के प्रत्येक दिन के लिए) छायायन्त्रों का साधन करे (जिसका विधान निम्नलिखित है) :---

सममण्डल वृत्त की परिधि पर, पूर्व और पश्चिम बिन्दुओं से (उत्तर या दक्षिण की ओर) अपनी दिशा में सूर्य की अग्रा का दान करे, और दोनों जगह एक-एक बिन्दु रखे। सूर्य के चर से संगत सूर्य की अग्रा को पुनः वृत्त के केन्द्र से (उत्तर या दक्षिण) अपनी दिशा में (दक्षिणोत्तर रेखा पर) दान करे, और इस प्रकार प्राप्त बिन्दु को केन्द्र मान कर पूर्व दो बिन्दुओं में से होता हुआ एक वृत्त खींचे। यह सूर्य का अहोरात्र-वृत्त है। इस वृत्त (के दक्षिणी आधे भाग) पर शंकु की स्थिति के अनुसार नाड़ियों के चिन्हों को अंकित करे ॥* २–४ ॥

दिन की इन नाडियों को ६ से गुणा करने पर स्वाहोरात्र-वृत्त पर के अंश प्राप्त होते हैं। सूर्य की अग्रा के सिरों पर के बिन्दुओं पर सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सूर्य की स्थिति होती है।

स्वाहोरात्र वृत्त का आधा भाग जो उदयास्त रेखा से दक्षिण की ओर स्थित होता है, स्वाहोरात्र वृत्त का दक्षिणार्द्ध कहलाता है ॥ ५–६ (।) ॥

[मान लो कि पू स प द सममण्डल वृत्त है, जिसमें पू, प, स, और द क्रमशः पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिग्बिन्दु हैं। चित्र देखो। उ और अ वे बिन्दु हैं जो पूर्व और पश्चिम बिन्दुओं से अग्रा का अपनी दिशा में दान करने पर प्राप्त हुए हैं; छ वह बिन्दु है जो केन्द्र से अग्रा का अपनी दिशा में दान करने से प्राप्त हुआ है।

उ ज अ च वह वृत्त है जो छ को केन्द्र और छ उ को त्रिज्या मान कर खींचा गया है। इसे स्वाहोरात्र वृत्त कहा गया है। उ अ उदयास्त रेखा है; उ वह बिन्दु है जहां सूर्य उदय होता है और अ वह बिन्दु है जहां सूर्य अस्त होता है।
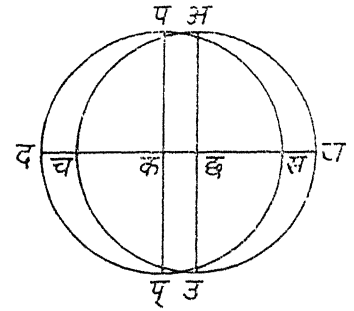
स्वाहोरात्र वृत्त के दक्षिणार्द्ध उ च प को घटी और अंश के चिन्हों से अंकित करते थे, जिसकी विधि यह है: एक शंकु को वृत्त के धरातल में इस प्रकार रखते थे कि छायाग्र केन्द्र पर पड़े। प्रत्येक घटी के अन्त में यह क्रिया करके अहोरात्र वृत्त की परिधि पर जहां छाया उसे काटती थी चिन्ह लगा देते थे। ये चिन्ह दिन की प्रत्येक घटी की समाप्ति सूचित करते थे। पास-पास के दो घटी चिन्हों के बीच के भाग को छः बराबर भागों में विभक्त करते थे, जो अंश कहलाते थे और घटी के छठे भाग को सूचित करते थे।

इस प्रकार से बनाये गये छायायन्त्र का प्रयोग दिन के किसी समय बीती हुई घटियों और अंशों का ज्ञान करने में किया जाता था। जब समय ज्ञात करना होता था उस समय शंकु को सममण्डल-वृत्त के धरातल पर इस प्रकार रखते थे कि छायाग्र केन्द्र पर पड़े; जहां छाया स्वाहोरात्र-वृत्त को काटती थी, उस बिन्दु पर्यन्त घटी और अंशों को पढ़ लेते थे।

एक छायायन्त्र केवल एक दिन काम देता था। अतएव वर्ष के प्रत्येक दिन के लिये अलग-अलग ३६५ छायायन्त्र बनाते थे। जिस दिन सूर्य का जो चर होता था, उस दिन उसी चर का छायायन्त्र प्रयोग करते थे।

(धनुर्यन्त्र)---धनुर्यन्त्र की ज्या को सममण्डल-वृत्त के व्यास के बराबर होना चाहिये, और उसका शर त्रिज्या के बराबर ॥ ६ ॥

(धनुर्यन्त्र को वृत्त के व्यास पर इस प्रकार रखना चाहिये कि उसका एक सिरा पूर्व बिन्दु पर और दूसरा सिरा पश्चिम बिन्दु पर पड़े।) फिर धनुर्यन्त्र (की ज्या) के पूर्वी सिरे को वृत्त परिधि पर इस प्रकार चलाना चाहिये कि धनुर्यन्त्र सूर्य के सामने हो जाय। इस दशा में शंकु की छाया धनुर्यन्त्र की ज्या में पड़ेगी, और (शंकु का छायाग्र केन्द्र में होने के कारण) केन्द्र से शंकु पर्यन्त दूरी तत्कालीन छाया के तुल्य होगी। धनुर्यन्त्र के पूर्वी सिरे और उदय बिन्दु के बीच में स्थित अंशों को ६ से भाग देने पर दिन की व्यतीत घटियां प्राप्त होंगी ॥ ७–८ (।) ॥

---

*प्रत्येक स्थिति में शंकु को इस प्रकार रखना चाहिये कि उसकी छाया सममण्डल-वृत्त के केन्द्र में से होकर जाय।

यष्टि यन्त्र—यष्टि-यन्त्र को, जिसकी लम्बाई सममण्डल-वृत्त के व्यासार्ध तुल्य होनी चाहिये और जिसमें त्रिज्या के अंशों के तुल्य (अर्थात् ५७) अंगुलों के चिन्ह होने चाहिये, वृत्त के केन्द्र पर रख कर सूर्य की दिशा में धारण करना चाहिये। इस दशा में यष्टि छायाकर्ण को, यष्ट्यग्र की ऊंचाई शंकु को, तथा शंकुमूल से वृत्तकेन्द्र तक की दूरी (शंकु की) छाया को द्योतित करेगी ॥ ९ ॥ यष्ट्यग्र और उदय बिन्दु के बीच में स्थित अंश ६ से भाग दिये जाने पर दिन की व्यतीत घटियां होगी ॥ १० (i) ॥

(चक्रयन्त्र)—चक्र यन्त्र (की चक्राकार परिधि) ३६० अंशों के चिन्हों से अंकित होना चाहिए और वसन्त-सम्पात व शरद सम्पात के स्थानों पर छिद्र होने चाहिये ॥ १० ॥

धनुर्यन्त्र की भांति चक्रयन्त्र के चाप को सूर्याभिमुख करके शंकुच्छाया तथा दिनगत नाडियों का ज्ञान यष्टियन्त्र की भांति करना चाहिये ॥ ११ ॥

[धनु, चक्र और यष्टि यन्त्रों का उल्लेख सूर्य-सिद्धान्त (अध्याय १३, श्लोक २०) में मिलता है, परन्तु वहां उनका विस्तृत विवरण नहीं मिलता। चक्र यन्त्र का उल्लेख पंचसिद्धान्तिका में है; वहां पर इस यन्त्र का निम्नलिखित विवरण दिया गया है :

"एक हस्त व्यास और एक अंगुल चौड़ाई का एक चक्र लो; उसकी परिधि को बराबर-बराबर दूरी पर अंश-सूचक ३६० चिन्हों से अंकित करो; और परिधि पर बीचोंबीच एक छिद्र करो। परिधि पर के सूक्ष्म छिद्र से होकर मध्यान्हकालिक सूर्य की किरण को इस प्रकार प्रवेश कराओ कि वह चक्र के केन्द्र से होकर जाय। सूर्य किरण के द्वारा चक्र के प्रकाशित बिन्दु और चक्र केन्द्र से लटकती हुई रस्सी के बीच में स्थित चाप के अंश, मध्यान्हकालिक सूर्य के दृग्ज्या चाप के अंशों को द्योतित करते हैं।"

इस यन्त्र की सहायता से समय का ज्ञान कैसे किया जाता था, यह पंचसिद्धान्तिका में नहीं बताया गया है।

चक्र और धनुर्यन्त्रों से कालज्ञान की विधियां ब्रह्मगुप्त, लल्ल, श्रीपति, और भास्कर द्वितीय के ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, परन्तु वे उपर्युक्त विधियों से भिन्न हैं।

यष्टि यन्त्र का विवरण प्रायः सभी ग्रन्थों में वैसा ही है जैसा ऊपर दिया गया है, तथापि लल्लाचार्य के द्वारा दी गई समय ज्ञान की विधि भिन्न है।]

शंकुच्छाया तथा दिन की व्यतीत घटियों का ज्ञान करने के लिये जो विधियां ऊपर बताई गई हैं वे शंकु चालन पर आधारित हैं। (इन विधियों में शंकु को इस प्रकार चलाते थे कि छायाग्र सममण्डल वृत्त के केन्द्र पर पड़े।) अब हम दिनगत नाडियों तथा शंकुच्छाया के आनयन के लिये उस विधि का वर्णन करेंगे जो भाभ्रम (अर्थात् छाया चालन) पर आधारित है। (इस विधि में शंकु को वृत्त केन्द्र पर स्थापित कर देते थे और उसकी छाया के चालन के आधार पर इष्ट आनयन करते थे) ॥ १२ ॥

(छत्र यन्त्र)—बांस की तीलियों से छत्र-यन्त्र का निर्माण करके, उसकी वृत्ताकार परिधि को ३६० अंशसूचक चिन्हों से अंकित करना चाहिये। अथवा, दिशाओं के बीच में खींचे गये सममण्डलवृत्त को ही छत्र-यन्त्र कल्पित कर लेना चाहिये। ॥ १३ ॥ उसके केन्द्र पर स्थित दण्ड, जो व्यासार्ध तुल्य होना चाहिए, शंकु ही है। विपरीत दिशा में अग्रा का दान करके अहोरात्र-वृत्त बनाना चाहिये, यही भाभ्रम वृत्त है ॥ १४ ॥ छत्रयन्त्र के उत्तर की ओर के भाभ्रमवृत्तार्ध में अंशों की संख्या दिननाडी के ६ गुने के तुल्य होती है। सूर्योदयकालिक छाया पश्चिमी अग्रान्त-बिन्दु में से होकर जाती है और सूर्यास्तकालिक छाया पूर्वी अग्रान्त-बिन्दु में से होकर जाती है ॥ १५ ॥ (अतएव) पश्चिम के अग्रान्त बिन्दु को "अस्त बिन्दु" और पूर्व के अग्रान्त बिन्दु को "उदय बिन्दु" कहते हैं। अस्त-बिन्दु से लेकर उदय-बिन्दु पर्यन्त छत्रयन्त्र कालांशों से अंकित रहता है ॥ १६ ॥ छत्र-यन्त्र के मध्य में स्थित दण्ड की छाया ही सदैव इष्टच्छाया है; छायाग्र और अस्त-बिन्दु के बीच में स्थित अंशों को ६ से भाग देने पर जो लब्धि मिलती है वह दिनगत नाडियों की संख्या है ॥ १७ ॥

[ज्योतिष के किसी अन्य ग्रन्थ में छत्र-यन्त्र का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु लल्ल और श्रीपति का पीठ-यन्त्र उपर्युक्त छत्रयन्त्र जैसा ही है।]

(तोय-यन्त्र)—एक ऐसे स्तम्भ की रचना करवानी चाहिये जिसके भीतर एक सुन्दर (बेलनाकार ऊर्ध्वाधर) खोखला हो। उस खोखले में जल भरवाना चाहिये। जितनी घटियों में यह जल स्तम्भ के मूल में स्थित छिद्र से निकल जाय, उतने से स्तम्भ की ऊंचाई को भाग देना चाहिए; जो लब्धि प्राप्त हो उसे एक घटी सम्बन्धी अंगुल का मान समझना चाहिये ॥ १८ ॥ स्तम्भ को इन घटीसूचक अंगुलों से अंकित करना चाहिये। एक घटी सम्बन्धी जल, स्तम्भ-मूल में स्थित नाडीसंज्ञक छिद्र से निकल कर जलघटी पात्र को (ठीक एक घटी तुल्य समय में) पूरा भर देता है ॥ १९ ॥ घटी का यह परिमाण कालसूचक-यन्त्रों में स्तम्भ और सूत्र के मापदण्ड का आधार है।

स्तम्भ के चारों ओर कारीगरों द्वारा बनवाये गये मनुष्य, अथवा युद्ध करते हुए भेड़ के जोड़े को बांध देना चाहिये अथवा स्तम्भ के ऊपर खोखले मयूर या बन्दर की मूर्ति को स्थापित करना चाहिये; सम्पूर्ण यन्त्र की ऊंचाई ६० अंगुल होना चाहिये ॥ २१ ॥

अब एक अंगुल परिधि वाली सुन्दर चिकनी कील लेकर उस पर (बीचोंबीच) ६० अंगुल लम्बी डोरी ६० घेरों में लपेट देनी चाहिये ॥ २२ ॥ इस कील को (मनुष्य की आकृति वाले) नरयन्त्र के अन्दर इस प्रकार प्रवेश कराना चाहिये कि उसके सिरे मनुष्य के कर्णरंध्रों से बाहर निकले रहें, अथवा (मयूर या वानर यन्त्र में) मयूर या वानर के पार्श्ववर्ती छिद्रों में से होकर भीतर प्रवेश करा देना चाहिये ॥ २३ ॥

कील पर बीचोंबीच लपेटी हुई डोरी के सिरे से एक तोंबी बांध देनी चाहिये, जिसमें कुछ पारा डाल देना चाहिये और उस तोंबी को (मनुष्य के शिर के ऊपर वाले छेद से) मनुष्य के भीतर भरे हुए जल पर रख देना चाहिये। अब मनुष्य की गुदा की जगह वाले छेद को खोल देना चाहिये (ताकि जल बाहर निकलने लगे) ॥ २४ ॥

इसी प्रकार मयूर और वानर यन्त्रों में पारायुक्त तोंबी को डोरी के सिरे से बांध कर नाभिरंध्र से भीतर ले जाकर जल पर छोड़ देना चाहिये और नीचे वाले छेद को खोल कर जल बह जाने देना चाहिये ॥ २५ ॥

इस प्रकार प्रत्येक नाडी में एक अंगुल जल बाहर निकलेगा और स्तम्भ के भीतर स्थित तोंबी एक अंगुल नीचे जायगी ॥ २६ ॥ तोंबी के नीचे जाने से यन्त्र के भीतर कील के मध्य भाग में लपेटी हुई डोरी नीचे के छद की ओर एक अंगुल नीचे जायगी ॥ २७ ॥

कील के (बाहरी) सिरे पर नाडी-ज्ञान के लिये एक अन्य डोरी लटका देनी चाहिये। इस डोरी के जितने घेरे कील पर होंगे, उतनी नाड़ियां व्यतीत मानना चाहिये ॥ २८ ॥

(घटिका-यन्त्र)—दश पल ताम्र से एक अर्धगोलाकार ताम्रपात्र बनवावे, जिसकी ऊंचाई ६ अंगुल तथा व्यास १२ अंगुल हो। उसकी तली में १ पल भार वाली ८ अंगुल लम्बी कील से छेद करावे। यह घटिका-यन्त्र है, जो ६० पल में जल से पूरा-पूरा भर जाता है।

(कपाल-यन्त्र)—इसी प्रकार का कोई अन्य ताम्रपात्र जो इच्छानुसार बनवाया जाय, और जिसकी पेंदी में छेद हो, कपाल-यन्त्र कहलाता है।

(सूर्य सिद्धान्त में भी कपाल-यन्त्र का यही विवरण मिलता है।)

(शंकु-यन्त्र)—(शंकु तीन प्रकार के होते हैं।) पहले प्रकार का शंकु वह है जिसकी आकृति बेलनाकार, तली का व्यास २ अंगुल और ऊंचाई १२ अंगुल होती है तथा जो मजबूत लकड़ी का बना होता है।

दूसरे प्रकार का शंकु भी १२ अंगुल ऊंचा होता है। इसका आकार सूची-जैसा—ऊपर नुकीला और नीचे स्थूल—होता है। इसके तल और अग्र पर गड़ी हुई कीलों से बंधा हुआ एक (डोरे का) अन्य शंकु होता है जो उतना ही ऊंचा तथा नीचे से ऊपर तक एक समान सुई के आकार का होता है।

तीसरे प्रकार का शंकु वह है जो नीचे से ऊपर तक समान व्यास का तथा १२ अंगुल ऊंचा होता है।

शंकु-यन्त्र से जो छाया पड़ती है वह निश्चय ही सूर्य की नतप्रभा (अर्थात् नतांशज्या) है।

४.१ समीक्षा—यह महत्त्वपूर्ण बात है कि आर्यभट ने आर्यभट-सिद्धान्त में केवल छाया-यन्त्रों तथा जल-यन्त्रों का वर्णन करने में ही ३४ श्लोकों का उपयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि आर्यभट-सिद्धान्त का यन्त्राध्याय बहुत बड़ा अध्याय रहा होगा, क्योंकि गोल और स्वयं वह आदि यन्त्र भी, जिनको आर्यभटीय और सूर्य-सिद्धान्त आदि ग्रन्थों में विशेष स्थान मिला है, उसमें अवश्य वर्णित रहे होंगे। यन्त्राध्याय की काया को देखते हुए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आर्यभट-सिद्धान्त भारतीय ज्योतिष का एक वृहत् ग्रन्थ रहा होगा। ब्रह्मगुप्त कृत खण्डखाद्यक के प्रारम्भिक श्लोकों से इस बात की पुष्टि भी होती है।

ऊपर उद्धृत किये गये ३४ श्लोकों में से सभी का अनुष्टुभ् छन्दों में होना दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यभट-सिद्धान्त आर्यभटीय की भांति आर्या छन्दों में प्रणीत न होकर प्राचीन सैद्धान्तिक शैली के अनुरूप ही अनुष्टभ् छन्दों में निबद्ध रहा होगा।

वर्णित विषय की दृष्टि से भी उक्त ३४ श्लोकों का महत्त्व कम नहीं है, क्योंकि वे आर्यभटकालीन प्रयोगात्मक ज्योतिष का नग्न चित्र उपस्थित करते हैं। ये श्लोक केवल यही नहीं बताते कि उस समय भारतीय ज्योतिषी कौन-कौन से

यन्त्र प्रयोग में लाते थे, वरन् यह भी बताते हैं कि उन यन्त्रों का निर्माण कैसे किया जाता था और वे किस प्रकार प्रयोग किये जाते थे।

५. आर्यभट-प्रणीत अन्य श्लोक——भास्कर प्रथम (६२९ ई०) कृत लघुभास्करीय के टीकाकार शंकरनारायण (८६९ ई०) ने लिखा है कि कुछ लोगों के मत से निम्नलिखित श्लोकों के रचयिता आचार्य आर्यभट थे——

वस्वेकेषुयुगघ्नमनुयुगमर्कादिममध्यमचतुर्णाम् ।
धनमृणमृणमथ कृतिगुणितं चक्रेशभैर्लब्धम् ॥ १ ॥
भौमाङ्गिरश्शनीनां देवभृणं देयमब्धिनन्दहृते ।
सित बुधयोर्हेयं देयं सप्तहतं बुधस्योक्तम् ॥ २ ॥

अर्थात् "वर्तमान मन्वन्तर के व्यतीत युगों को (अर्थात् २७$\frac{३}{४}$ को) क्रमानुसार ८, १, ५ और ४ से अलग-अलग गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हों, उन्हें कला मान कर सूर्य, चन्द्रमा, चन्द्रोच्च तथा चन्द्रपात में क्रमानुसार जोड़ना, घटाना, घटाना तथा घटाना चाहिये। पुनः वर्तमान मन्वन्तर के व्यतीत युगों को २० से गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो उसे क्रमानुसार १२, ११ और २७ से अलग-अलग भाग देना चाहिये; जो फल प्राप्त हों उन्हें कला मान कर मंगल, वृहस्पति और शनि में क्रमानुसार जोड़ना, घटाना, तथा जोड़ना चाहिये। पुनः वर्तमान मन्वन्तर के २० गुणित व्यतीत युगों को क्रमानुसार ४ और ९ से भाग देने से जो फल प्राप्त हों, उन्हें कलात्मक मान कर पहले को शुक्रोच्च में घटाना चाहिये और दूसरे को ७ से पुनः गुणा करके बुधोच्च में जोड़ना चाहिये।"

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में 'मनुयुग-संस्कार' नामक बीज संस्कार का वर्णन किया गया है। भास्कर प्रथम विरचित लघुभास्करीय के व्याख्याकार परमेश्वर ने पांच बीज संस्कारों की चर्चा की है जिनमें से एक 'मनुयुग-संस्कार' भी है। परमेश्वर के अनुसार केवल उस बीज संस्कार का प्रयोग करना चाहिये जिससे दृष्टिसाम्य हो सके।

दोनों ही श्लोक आर्या छन्द में हैं, परन्तु आर्या छन्दों में लिखी गयी आर्यभटीय में इनका अस्तित्व नहीं है; आर्यभट-सिद्धान्त में भी इनके होने की सम्भावना कम है क्योंकि जैसा ऊपर बताया जा चुका है वह ग्रन्थ सूर्य-सिद्धान्त की भांति अनुष्टुभ् छन्दों में था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये श्लोक आर्यभट द्वारा लिखे गये मुक्तक छन्द हैं, क्योंकि आर्यभट सम्प्रदाय के सबसे बड़े आचार्य भास्कर प्रथम (६२९ ई०) ने अपने आर्यभटीय भाष्य में आर्यभट-प्रणीत मुक्तक छन्दों की चर्चा की है।

६. उपसंहार——उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आचार्य आर्यभट की लेखनी ने कालक्रमानुसार निम्नलिखित ग्रन्थों की सृष्टि की थी——

(१) आर्यभट-सिद्धान्त
(२) आर्यभटीय

पहला ग्रन्थ अपने नाम के अनुरूप एक बृहत् सिद्धान्त ग्रन्थ था, जो सूर्य-सिद्धान्त पर आधारित था। यह आचार्य की युवावस्था की देन थी। दूसरा ग्रन्थ, जो ब्रह्म-सिद्धान्त पर आधारित बताया गया है, आचार्य की प्रौढ़ावस्था की कृति थी जब उनका मस्तिष्क विशाल अध्ययन, अनवरत निरीक्षण एवं चिरन्तन मनन और चिन्तन के फलस्वरूप परिपक्व हो चुका था और उनकी लेखनी में प्रौढ़ता व्याप्त हो चुकी थी। इस ग्रन्थ में केवल १२१ श्लोकों का समाहार है और इन्हीं १२१ श्लोकों में तत्कालीन सम्पूर्ण गणित और ज्योतिष का पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन हुआ है।

आर्यभटीय प्रधानतः आर्यभट की अपनी देन है। इस ग्रन्थ ने एक नये सम्प्रदाय को जन्म दिया जो आर्यभट सम्प्रदाय कहलाता है और जिसके अनुयायी नर्मदा के दक्षिण फैले हुए हैं। इस सम्प्रदाय का सबसे महत्त्वपूर्ण गढ़ नर्मदा और गोदावरी के मध्य में स्थित अश्मक प्रदेश था और इस सम्प्रदाय के सबसे बड़े आचार्य भास्कर प्रथम थे जिन्होंने आर्यभटीय की व्याख्या महाभास्करीय और लघुभास्करीय नामक ग्रन्थ लिखकर आर्यभट सम्प्रदाय को सुदृढ़ता और चिरन्तनता प्रदान की थी।

नर्मदा के उत्तर के ज्योतिषी सामान्यतः सूर्यसिद्धान्त के अनुयायी थे, अतएव उन लोगों ने आर्यभट-सिद्धान्त को तो अपनाया परन्तु आर्यभटीय को विशेष महत्त्व नहीं प्रदान किया। आचार्य ब्रह्मगुप्त तो आर्यभटीय के घोर शत्रु सिद्ध हुए; उन्होंने अपनी कटु आलोचना से आर्यभटीय की धज्जियां उड़ा दीं। आर्यभट-सिद्धान्त को तो उन्होंने भी अपनाया और उसके आधार पर अपने खण्डखाद्यक का निर्माण किया।

यद्यपि आर्यभटीय के प्रचार ने दक्षिण भारत में तथा खण्डखाद्यक के प्रचार ने उत्तर भारत में आर्यभटसिद्धान्त

का पठन-पाठन समाप्त कर दिया, तो भी उस ग्रन्थ का अस्तित्व बना रहा और विद्वान टीकाकारों ने सूर्य सिद्धान्त पर लिखी गयी टीकाओं में उसका उपयोग किया। इन टीकाकारों में रामकृष्ण आराध्य, तम्म यज्वा, और भूधर के नाम उल्लेखनीय हैं क्योंकि इन्होंने आर्यभट सिद्धान्त की विशेष चर्चा की है। वस्तुतः आर्यभट -सिद्धान्त विषयक अपने ज्ञान के लिये हम इन्हीं टीकाकारों के ऋणी हैं। रामकृष्ण आराध्य और तम्म यज्वा आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे, जो अश्मक के निकट पड़ता है और ज्योतिषियों का एक गढ़ था। उपलब्ध टीकाओं में से अधिकांश इसी प्रदेश से प्राप्त हुई हैं। हमारा विश्वास है कि इस प्रदेश में खोज करने से आर्यभट-सिद्धान्त के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

आपेक्षिकी सिद्धान्त का विकास

डॉ० जगदम्बिका प्रसाद जैसवाल,
रीडर, गणित विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कुछ ऐसे प्रयोग किये गये थे जिनका उद्देश्य प्रकाश की गति पर 'माध्यम' की गति का प्रभाव अथवा ईथर में पृथ्वी की गति का प्रकाश की गति पर प्रभाव मापना था। इनमें मुख्य थे माइकेलसन—मोरले, ट्राउटन—नोबल तथा फीजू के प्रयोग। इन प्रयोगों का परिणाम आश्चर्यजनक रहा। प्रकाश की गति पर कल्पनातीत प्रभाव मापने में सभी प्रयोग असफल रहे। इनमें से माइकेलसन—मोरले के प्रयोग के नकारात्मक परिणाम की व्याख्या करते हुए 'लौरेंज' ने 'आकुंचन—परिकल्पना' प्रस्तुत की। उन्होंने इस परिकल्पना को 'इलेक्ट्रान-सिद्धान्त' के आधार पर उचित भी सिद्ध किया। इन प्रयोगों से जो प्रमुख तथ्य प्राप्त हुआ वह था, किसी भी भौतिक विधि से दो 'जड़त्वीय फ्रेमों' की आपेक्षिक एकसमान गति का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। इन प्रयोगों के नकारात्मक परिणामों की पृष्ठभूमि में 'आपेक्षिकी सिद्धान्त' का जन्म हुआ।

१९०५ में आइन्सटीन ने 'विशिष्ट आपेक्षिकी सिद्धान्त' प्रस्तुत किया। इसके मूल में दो परिकल्पनायें थीं—प्रकाश की गति की अचरता; यह आनुभविक परिकल्पना उपरोक्त प्रयोगों के परिणामस्वरूप प्राप्त हुई थी। (२) जड़त्वीय फ्रेमों की तुल्यता ; यह परिकल्पना तर्क पर आधारित थी। इसका अर्थ था कि किसी भौतिक घटना के वर्णन के लिये सभी 'जड़त्वीय फ्रेम' तुल्य हैं तथा ऐसे सभी फ्रेमों में इस घटना के वर्णन का एक ही रूप होगा। अर्थात् इस घटना का विवरण देने वाले समीकरण इन फ्रेमों की आपेक्षिक गति पर निर्भर नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो तो इसी अन्तर द्वारा आपेक्षिक गति का मान मापा जा सकता है। इन दोनों परिकल्पनाओं के आधार पर एक फ्रेम के अनुभवों को दूसरे फ्रेम के अनुभवों से सम्बन्धित करने वाले 'निर्देशांक रूपान्तरण' भी निकाले गये। यह 'लौरेंज रूपान्तरण' कहलाते हैं। इस रूपान्तरण के समीकरणों द्वारा कई प्रयोगों के परिणाम तर्कसंगत सिद्ध किये जा सके। इनका सबसे क्रान्तिकारी परिणाम यह था कि भौतिक आकाश व समय के समीकरणों ने इनके पृथक् अस्तित्व को नष्ट कर दिया। इसके पहले समय के स्वतंत्र निरपेक्ष अस्तित्व पर किसी ने सन्देह नहीं किया था। यह दो पूर्णरूप से भिन्न तथ्यों का एकीकरण अप्रत्याशित था। शीघ्र यह भी स्पष्ट हो गया कि सम्पूर्ण यान्त्रिकी का पुनर्निर्माण आवश्यक है। इस पुनर्निर्माण में 'मिंकाउस्की' के चतुर्विम विरूपण से बड़ी सहायता मिली। उन्होंने यह बताया कि आकाश की चार 'विमायें' हैं—तीन भौतिक अवकाश की और एक समय की। इसके आधार पर किसी भी घटना को चार निर्देशांक दिये जाने चाहियें। इस प्रकार किसी भी कण की गति को जानने के लिये तीन के स्थान पर चार समीकरणों की आवश्यकता हुई तथा न्यूटन के गति सम्बन्धी नियमों का भी वह रूप न रहा। 'द्रव्यमान संवेग' तथा ऊर्जा के संरक्षण-नियमों का एक साथ इस नवीन व्यवस्था में अंगीकार न हो सका। 'संवेग सम्बन्धी नियम' को स्वीकार करने पर देखा गया कि द्रव्यमान की प्रकृति अचर नहीं रहती। द्रव्यमान को कण की गति पर आधारित करना पड़ा। किसी कण के विरामावस्था के द्रव्यमान m_0 व उसके u गति की दशा के द्रव्यमान m के बीच

$$m = m_0/\sqrt{1 - u^2/c^2}$$

सम्बन्ध प्राप्त हुआ, जिसका अर्थ था कि कण की गति बढ़ने पर उसका द्रव्यमान भी बढ़ता है। 'ऊर्जा-संरक्षण-नियम' में भी थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा। किसी कण या पिण्ड की ऊर्जा में उसकी विरामावस्था की ऊर्जा भी जोड़नी पड़ी तथा इस संयुक्त ऊर्जा का 'संरक्षण-नियम' प्राप्त हुआ। ऊर्जा E तथा द्रव्यमान m में सम्बन्ध $E = mc^2$ प्राप्त हुआ। इसका अर्थ था कि द्रव्यमान को ऊर्जा में तथा ऊर्जा को द्रव्यमान में परिवर्तित किया जा सकता है। यह भी दो सर्वथा भिन्न संकल्पनाओं का एकीकरण था। इस ऊर्जा द्रव्यमान-समीकरण के भयानक व कुत्सित उपयोग से हम सभी परिचित हैं। भीषण संहार एवं विनाश के साधन इसी के परिणाम हैं। आइन्सटीन को स्वप्न में भी यह ज्ञान न

था कि उसके गणित एवं तर्क पर आधारित समीकरण से मानव विशेषकर वैज्ञानिक ऐसे संहारक अस्त्रों का निर्माण करेंगे। आज सारा विश्व प्रयत्नशील है कि इस दिशा में बढ़ते कदमों को रोका जाय और वैज्ञानिकों के इस पागलपन से विश्व को नष्ट होने से बचाया जाय।

१९१५ में आइन्सटीन ने व्यापक आपेक्षिकी सिद्धान्त की रचना की। विशिष्ट आपेक्षिकी सिद्धान्त का यह व्यापकीकरण स्वाभाविक था। यह सिद्धान्त विशिष्ट आपेक्षिकी की तरह एक समान स्थानान्तरण गति तक ही सीमित न था परन्तु इसमें सभी प्रकार की आपेक्षिक गति आती थी विशेषकर त्वरित गति। इस सिद्धान्त की मूल परिकल्पनायें थीं :—(१) विचरण का सिद्धान्त; इसके अनुसार भौतिकी के नियमों को सभी फ्रेमों में ऐसे रूप में व्यक्त किया जा सकता था जो फ्रेम अथवा उसकी गति पर निर्भर न हो। अर्थात् सभी फ्रेमों में इन नियमों को व्यक्त करने वाले समीकरणों का एक ही रूप होगा। यह विशिष्ट आपेक्षिकी के जड़त्वीय फ्रेमों की 'तुल्यता-सिद्धान्त' का व्यापकीकरण था। (२) तुल्यता का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार गुरुत्वाकर्षण युक्त तथा गतिहीन फ्रेम त्वरित परन्तु गुरुत्वाकर्षणहीन फ्रेम के तुल्य माना गया। इसी परिकल्पना के द्वारा आपेक्षिकी में गुरुत्वाकर्षण का प्रवेश हुआ।

यह सौभाग्य की बात थी कि इस सिद्धान्त के विकास में जिस गणितीय व्यवस्था की आवश्यकता थी वह पहले से ही उपलब्ध थी और यही कारण था कि विषय इतनी शीघ्रता से विकसित हुआ। यह भाषा 'टेंसर केल्कुलस' की थी। अतएव यह आवश्यक हो गया कि भौतिकी के नियमों एवं तथ्यों को इस भाषा में व्यक्त किया जाय। दूसरी आवश्यकता प्रतीत हुई एक नयी ज्यामिति की जो 'यूक्लिड' की ज्यामिति से भिन्न हो तथा उसका व्यापकीकरण हो। यह साधन भी उपलब्ध था। 'रीमान' की ज्यामिति तथा 'गाउस' द्वारा उसके अध्ययन के परिणामस्वरूप वांछनीय ज्यामिति व्यवस्था मिल चुकी थी। नये विश्लेषण में गुरुत्वाकर्षण का स्थान आकाश की वक्रता ने ले लिया। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकल्पना थी। भौतिकी के ज्यामितीकरण का आरम्भ था। प्रत्येक भौतिक राशि को किसी ज्यामितीय राशि से सम्बन्धित करना कोई साधारण कार्य न था। ज्यामिति में आकाश की प्रकृति का संकेत करने वाले अंग अर्थात् 'मेट्रिक' में 'मेट्रिक टेंसर' का आकाश में पदार्थ 'वंटन' द्वारा निर्धारण व्यापक आपेक्षिकी का मुख्य अंग है। आइन्सटीन ने शून्य आकाश के लिये गुरुत्वाकर्षण नियम को 'टेंसर समीकरणों' में व्यक्त किया। बाद में इसका ऐसे आकाश के लिये व्यापकीकरण भी किया, जो पदार्थ युक्त हो।

इन समीकरणों का हल मूलकेन्द्र पर स्थायी विरामावस्था में स्थित कण के क्षेत्र के लिये 'श्वार्ज शिल्ड' ने निकाला। इस आकाश में गोलीय सममिति की कल्पना की गई थी। इस 'मेट्रिक' से सूर्य के गुरुत्वाकर्षण द्वारा निर्धारित गृहों की कक्षाओं का अध्ययन किया जा सकता था। इस समस्या के हल करने में एक नये तथ्य का ज्ञान प्राप्त हुआ कि बुध की कक्षा का रवि नीचे स्थिर न रहकर धीरे-धीरे अग्रसर होता है। इस अग्रता का आगणन करने पर इसका मान ४३″ प्रति शताब्दी निकला। यह तथ्य आज प्रयोगों द्वारा मापा जा चुका है और इसका मान ठीक निकला है। ज्योतिष-सम्बन्धी प्रेक्षणों ने इस तथ्य को आश्चर्यजनक समर्थन प्रदान किया है। दूसरा परिणाम जो इन समीकरणों से प्राप्त हुआ वह प्रकाश के किसी गुरुत्वाकर्षक पिण्ड के पास से होकर जाने में पथ का विस्थापन था। इसका आगणन भी इस सिद्धान्त को यथेष्ट समर्थन देता है परन्तु सशक्त नहीं। इसी प्रकार सुदूर स्थित नीहारिकाओं से प्राप्त प्रकाश के 'तरंग दैर्ध्य' में 'अभिरक्त-विस्थापन' का विवरण भी मिला। यद्यपि ऐसा 'अभिरक्त विस्थापन' प्रेक्षणों द्वारा प्राप्त किया गया है फिर भी यह निश्चित रूप से सिद्ध नहीं कि इसका मूल कारण प्रत्याशित ही है। ये तीनों तथ्य व्यापक सिद्धान्त के मुख्य परीक्षण एवं समर्थन बन गये। 'प्रेक्षणों' के आधार पर इन तथ्यों द्वारा आपेक्षिकी सिद्धान्त तथा इसमें विश्वास और भी सुदृढ़ हो गया।

विशिष्ट आपेक्षिकी द्वारा भौतिक आकाश एवं काल; तथा द्रव्यमान एवं ऊर्जा जैसी भिन्न संकल्पनाओं का एकीकरण हुआ तथा प्रचलित काल की निरपेक्षता खंडित हो गयी। इस शताब्दी के आरम्भ में कुछ ऐसी धारणा बन चली थी कि सारे बलों को दो ही प्रकार की संकल्पनाओं से व्युत्पन्न किया जा सकता है। यह थीं गुरुत्वाकर्षण एवं विद्युत् चुम्बकी। १९१९ में 'वाइल' ने गुरुत्वाकर्षण एवं विद्युत्-चुम्बकी के भी एकीकरण का पहला प्रयास किया। 'एडिंगटन' ने पहले-पहल इस सिद्धान्त में 'मेट्रिक टेंसर' को छोड़ कर बन्धुता का प्रयोग किया। आइन्सटीन ने अपने विवरण में बन्धुता एवं 'मेट्रिक टेंसर' दोनों को मुख्य स्थान दिया था। एडिंगटन के विवरण में बन्धुता को सममित लिया गया था। आइन्सटीन का विश्वास था कि इन दोनों शक्तियों का एकीकरण सम्भव होना चाहिये। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण के नियम की व्युत्पत्ति एक 'लाग्रांजियन' से विचरण सिद्धान्त द्वारा की थी। यह 'लाग्रांजियन' सहविचरणशील था। उनका मत था कि इसी 'लाग्रांजियन' का ऐसा व्यापकीकरण किया जाय कि इससे विद्युत् चुम्बकी के भी समीकरण व्युत्पन्न हो सकें। अपने जीवन के शेष काल में वे इसका एकीकरण निकालने में व्यस्त रहे और मृत्यु से कुछ ही दिन पूर्व उन्होंने एकीकृत क्षेत्र-सिद्धान्त व उसके समीकरण प्रस्तुत किये। उनके विचार से ये समीकरण गुरुत्वाकर्षण व विद्युत् चुम्बकी के एकीकरण को सफलतापूर्वक निभा सकते हैं।

इन समीकरणों को हल करके उनके ऐसे प्रभाव निकालना, जिनकी जांच प्रयोगों द्वारा की जा सके, भी एक जटिल समस्या है और ऐसी जांच के अभाव में कोई निश्चित रूप से इस सिद्धान्त का समर्थन अथवा खण्डन नहीं कर सकता।

एकीकृत क्षेत्र-सिद्धान्त पर जो प्रयास किये गये हैं उन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है। (१) जिनमें आकाश की 'विमाएं' बढ़ाकर 'मेट्रिक टेंसर' के घटकों की संख्या बढ़ा लेते हैं और इसमें गुरुत्वाकर्षण व विद्युत् चुम्बकी के 'विभवों' का निरूपण करते हैं। इस दिशा में शोध कार्य प्रमुख रूप से 'कालूजा' तथा 'क्लाइन' व उनके सहयोगियों का है। परन्तु इन अतिरिक्त विमाओं का भौतिक अस्तित्व समझना कठिन हो जाता है। 'क्लाइन' ने पांच विमाओं के आकाश को लेकर पांचवीं विमा को 'क्वांटम' सिद्धान्त-सम्बन्धी अर्थ दिया। (२) इसके विपरीत आइन्सटीन व उनके सहयोगियों ने जिनमें 'श्रोडिंगर' मुख्य थे चार ही 'विमाएं' लेकर 'मेट्रिक टेंसर' का व्यापकीकरण किया। इनमें 'मेट्रिक टेंसर' की सममिति की परिकल्पना त्याग दी गयी तथा बन्धुता से भी सममिति का अनुबन्ध हटा लिया। यह इतना सहज व्यापकीकरण आइन्सटीन की दृष्टि से बच न सका था। परन्तु उन्हें इसको अपनाने में कुछ शंकायें थीं। इसको अपनाते समय वे उनमें से बन्धुता के विषय में जो मुख्य शंका थी उसका समाधान कर चुके थे। (३) पिछले कुछ वर्षों में बर्गमान व उनके सहयोगियों ने सहविचरणशील क्षेत्र-सिद्धान्तों के 'क्वांटीकरण' का अध्ययन किया है। इसका मुख्य उद्देश्य सिद्धान्त को 'लाग्रांजियन' रूप से 'हैमिल्टोनियन' रूप देना है। और जब कभी संवेग स्वतन्त्र नहीं होते इसमें कठिनाइयां आ जाती हैं।

वर्तमान परिस्थिति में एक ओर आइन्सटीन के समीकरणों का हल निकाला जा रहा है और इनके द्वारा उनके सिद्धान्त का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास हो रहा है तथा दूसरी ओर 'क्वांटीकरण' प्रक्रिया चल रही है।

विशिष्ट आपेक्षिकी का सबसे सफल प्रयोग विद्युत् गतिकी में तथा मूल कणों के व्यवहार के अध्ययन में हुआ है। इसमें 'डिरैक', 'क्लाइन', 'जोर्डन' इत्यादि ने अधिक कार्य किया है। इस क्षेत्र में व्यापक सिद्धान्त का प्रयोग नहीं हुआ है क्योंकि इन प्रक्रियाओं में गुरुत्वाकर्षण शक्ति नगण्य होती है। इसलिये विशिष्ट आपेक्षिकी द्वारा प्राप्त परिणाम यथेष्ट परिशुद्ध होते हैं। अभी तक ऊर्जा-संरक्षण-सिद्धान्त को खंडित करने वाली प्रक्रिया भी नहीं मिली है।

व्यापक आपेक्षिकी का सबसे सफल प्रयोग ब्रह्मांड की में हुआ है। यह स्पष्ट है कि इसका सार्थक प्रभाव अत्यधिक दूरी अथवा अत्यधिक गति से सम्बन्धित है। ऐसी दूरियां हमें केवल ब्रह्मांड ही में मिलती हैं। आपेक्षिकी के आधार पर ब्रह्मांड के प्रतिरूपों का पिछले चालीस वर्षों में विस्तृत अध्ययन हुआ है। स्थिर प्रतिरूपों का अध्ययन 'आइन्सटीन' व 'डिसिटर' ने किया परन्तु ये सब अनुपयुक्त सिद्ध हुए। अस्थिर प्रतिरूपों पर भी शोध कार्य प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसका श्रेय 'फ्रीडमान', 'लमायत्र', 'रौबर्टसन', 'टौलमैन' इत्यादि को है। स्वभावतः इस कार्य में 'ज्योतिष-शास्त्रियों' के प्रेक्षणों से मूल परिकल्पनाओं के चयन में तथा बाद में उनमें सुधार करने में बड़ी सहायता मिली है। इन प्रतिरूपों द्वारा हम ब्रह्मांड में होने वाली प्रतिक्रियाओं, इसके इतिहास, आयु एवं प्रगति के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रेक्षणों द्वारा अर्जित ज्ञान हमारे प्रतिरूपों की सीमायें, उनकी कमियां तथा उनके सुधार एवं आवश्यक परिवर्तन की दिशायें निर्धारित करता है। यह ऐसा क्षेत्र है जिसमें शोध-कार्य का अन्त नहीं क्योंकि कैसा भी प्रतिरूप क्यों न हो वास्तविक ब्रह्मांड के सभी गुणों का प्रतिदर्शन नहीं कर सकता। आज भी ब्रह्मांड में सुदूर नीहारिकाओं में होने वाली प्रतिक्रियाओं उनके समीकरण व उनके हल का अध्ययन हो रहा है। यह हमारे लिये गौरव की बात है कि एक भारतीय वैज्ञानिक जयन्त नार्लीकर ने हाल में ही 'हौयल' के साथ इस विषय में एक सारगर्भित परिकल्पना का विवरण दिया है। जब तक प्रेक्षणों द्वारा इनका समर्थन न प्राप्त हो इनका तार्किक आधार व गणित ही इनकी सत्यता का प्रमाण माने जायेंगे।

ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिनमें आपेक्षिकी सिद्धान्त का अनुप्रयोग किया गया है। अनेक ऐसी समस्यायें हैं जिन्हें इस सिद्धान्त के आधार पर हल करने का प्रयास किया गया है और कहीं-कहीं सफलता भी हुई है। परन्तु एक तो इनका मूल सिद्धान्त के विकास से सम्बन्ध नहीं, दूसरे जब तक इस सिद्धान्त के अनुप्रयोग द्वारा कोई ऐसा तथ्य न प्राप्त हो जो पूर्व सिद्धान्तों द्वारा प्राप्त तथ्यों से भिन्न हो तथा जिसकी प्रयोगों द्वारा जांच की जा सके, इनका महत्त्व कम रह जाता है।

जिस महापुरुष ने इस सिद्धान्त को जन्म दिया, इसका विकास किया तथा अनेक वैज्ञानिकों को इसकी व्यापकता एवं क्रान्तिपूर्ण प्रकृति की ओर आकर्षित किया, वह अब हमारे बीच नहीं है परन्तु उसकी इस सिद्धान्त के प्रति निष्ठा, इसकी सफलता में अडिग विश्वास तथा इसे समय-समय पर सुधारने की क्षमता से आज भी इस क्षेत्र में शोध-कर्त्ताओं के मार्ग प्रशस्त हो रहे हैं। सम्भव है आने वाली पीढ़ियां इस सिद्धान्त से भी व्यापक व सफल सिद्धान्त बनाने में सफल हों परन्तु आइन्सटीन का यह सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी के गणित एवं विज्ञान के क्षेत्र में महीयसी अमर देन है।

पिछले कुछ वर्षों से यह अनुभव किया जा रहा था कि आइन्सटीन के समकिरणों में विद्युत् चुम्बकी तथा गुरुत्वाकर्षण के 'समाकलों' के रूप भिन्न थे तथा विद्युत् चुम्बकी को कणों की पारस्परिक क्रियाओं पर आधारित किया जा सका था जबकि गुरुत्वाकर्षण एक क्षेत्र-सिद्धान्त पर आधारित था। इस वैषम्य को मिटाने की दृष्टि से किये गये प्रयासों के

फलस्वरूप 'हौयल' व 'नार्लीकर' ने गत वर्ष गुरुत्वाकर्षण को भी कणों की परस्पर-क्रिया पर आधारित कर एक नये एकीकृत सिद्धान्त की रचना की है। यह सिद्धान्त गुरुत्वाकर्षण के प्रसंग में आइन्सटीन के सिद्धान्त से भिन्न है। उनका विश्वास है कि यह प्रयास उचित दिशा में सफल हुआ है। यदि इस सिद्धान्त का तार्किक अथवा आनुभविक खण्डन न हो सका तो गुरुत्वाकर्षण का यह सिद्धान्त नवीन एवं महत्त्वपूर्ण खोज मानी जायगी। यह कम गौरव की बात नहीं कि इस सफलता के पात्र भारतीय वैज्ञानिक 'जयन्त नार्लीकर' हैं। हाल ही में ब्रह्मांड में कुछ ऐसे सघन ऊर्जा-स्रोत मिले हैं, जिनसे इन सिद्धान्तों के विषय में शंकायें हो चली हैं। 'हौयल' ने स्वयं सन्देह प्रकट किया है कि उनकी नवीनतम कल्पनायें कदाचित् सुदृढ़ नहीं हैं। इसी प्रकार के अनेक स्रोतों का अध्ययन उपलब्ध होने पर सम्भव है सिद्धान्तों को नयी दिशा मिले। सिद्धान्त का विकास ऐसी अवस्था को पहुंच चुका है कि थोड़े बहुत सुधार एवं व्यापकीकरण से अधिक आशा नहीं की जा सकती। सम्भवतः मूलभूत सिद्धान्तों में क्रान्तिकारी परिवर्तन ही प्रेक्षित तथ्यों का समाधान करने वाले सफल एवं सबल सिद्धान्त को जन्म दे सकें।
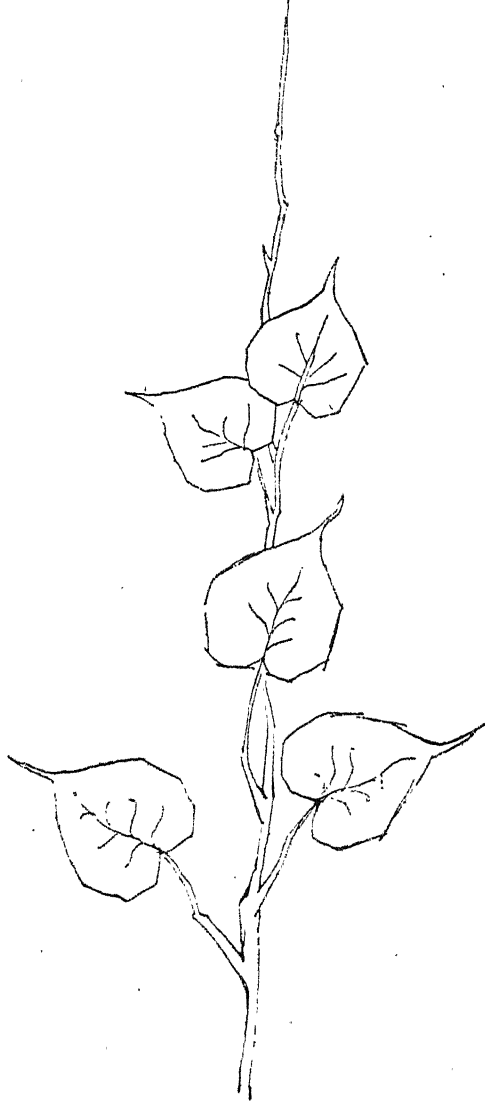
मोती

डॉ० राम रक्षपाल
रीडर, जुलौजीकल विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

कोई नहीं जानता कि कितने सहस्रों वर्ष पूर्व मनुष्य को यह ज्ञात हुआ कि कुछ शुक्तियों, सीपियों और कस्तूराओं के भीतर छिपा हुआ मोती पाया जाता है। क्या कोई कल्पना कर सकता है कि उसको कितना आश्चर्य हुआ होगा जब उसने साधारण सी कस्तूरा को खोला होगा और उसके भीतर चिकना सा देदीप्यमान रत्न पाया होगा ?

वे नहीं जानते थे कि यह रत्न किस प्रकार सीपियों के भीतर प्रवेश कर जाता है इसलिये इस चमत्कार के स्पष्टीकरण के लिये भाँति-भाँति की कथायें प्रचलित थीं। कुछ विश्वास करते थे कि मोती कड़ी की हुई ओस की बूंद है जो बादलों से बरसाई जाती है और समुद्र के पानी पर तैरती रहती हैं। वे सोचते थे कि सीपियां सांस लेने को जब ऊपर आती हैं उनको जल्दी-जल्दी निगल लेती हैं और अपने कवच के भीतर रख लेती हैं। कुछ मनुष्यों का विश्वास था कि मुक्ता सीपी महासागर के तल पर चहारदीवारी से घिरे हुए नगरों में रहती हैं और उनके चारों ओर समुद्री सपक्ष नाग या विकट शरीरधारी शुक्ति पहरा देता रहता है। इसी कारण इनका पाना इतना दुर्लभ होता है।

भारत में अभी भी बहुत से मनुष्य यह विश्वास करते हैं कि शरद् पूर्णिमा की रात्रि में किसी समय आकाश से अमृत की बूंदें गिरती हैं और जब ये बूंदें मुक्ता सीपी में प्रवेश कर जाती हैं तो वे मोती बन जाती हैं। बूंदें केवल उन्हीं सीपियों में प्रवेश कर पाती हैं जिनके कवच उस समय खुले होते हैं, और यही कारण है कि प्रत्येक सीपी में मोती नहीं पाये जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि आखिर सीपी में मोती पहुंचता कहां से है ? कवच वाले जितने भी जन्तु हैं उन सबका शरीर बाह्य क्षोभण के लिये बहुत संवेदनशील होता है। ऐसे जन्तु अपने शरीर को अपने चूना-पत्थर के बने कवच की भीतरी सतह पर के खुरदरे आलेप से संरक्षण करने के लिये एक चिकना वार्निश के समान पदार्थ स्रावण करते हैं। जब यह पदार्थ कड़ा हो जाता है तो यह मुक्तास्तर या मुक्ता की मातृ कहलाता है। मुक्तास्तर श्वेत, चिकना और दीप्तिमान होता है।

मुक्तास्तर, सीपी के कोमल मांसल शरीर के संरक्षण हेतु कवच के भीतर की ओर एक अस्तर सा लगा देता है। जब कभी कोई रेत कण या किसी बहुत छोटे समुद्री कृमि के अंडे के समान कोई बाह्य पदार्थ सीपी के शरीर और कवच के बीच प्रवेश कर जाता है, सीपी को कष्ट होने लगता है। बेचारी सीपी के पास इस कण को निकालने का कोई उपाय नहीं होता। सीपी इसको खुरच भी नहीं सकती। इस कारण इसका शरीर, स्रावण कर, इसके चारों ओर मुक्तास्तर का एक आवरण बना देता है। कण के चारों ओर मुक्तास्तर का एक पतला आवरण भी सीपी का कष्ट दूर नहीं कर पाता, क्योंकि यह लगातार एक के बाद दूसरा स्तर बनाती जाती है जब तक कि एक लगभग गोलाकार मोती नहीं बन जाता, मोती की संहति और सुन्दरता बाह्य कण की आकृति और आकार पर और कवच के भीतर इसकी स्थिति पर निर्भर रहती है।

ये मुक्ता सीपी भोजनार्थ सीपियों से भिन्न होती हैं, कभी-कभी साधारण सीपियां भी मोती बनाती हैं, किन्तु ये मोती न ही इतने चिकने होते हैं और न ही दीप्तिमान और इस कारण ये रत्नों के समान उपयोग नहीं किये जा सकते हैं। वे सीपियां जो भारत, चीन और पर्शिया के गरम समुद्र में पाई जाती हैं मोती बनाती हैं।

सब रत्नों में मोती अधिकतम कोमल, अधिकतम नाजुक और अधिकतम तुनुकमिजाज भी होता है। यदि मोती की सुन्दरता और द्युति को कायम रखना है तो यह आवश्यक है कि इसको समय-समय पर मनुष्य की गरम त्वचा के संस्पर्श में अवश्य आना चाहिये। इसको वास्तव में एक जीवित रत्न कहना चाहिये। सब बहुमूल्य पाषाणों में मोती का

बनना सबसे अधिक शीघ्रता से होता है। जबकि हीरे और पन्ने के बनने के लिये पृथ्वी के भीतर अगणित सहस्रों वर्ष लगते हैं, एक सीपी एक आदर्श मोती लगभग सात वर्ष में बना सकती है।

मोती निकालना––मोती निकालने वाले इन बहुमूल्य सीपियों को एकत्र करने के लिये गरम गहरे पानी में गोता लगाते हैं। ये गोताखोर पक्के तैराक होते हैं और गहरे पानी के भीतर काम करने के बहुत अभ्यस्त होते हैं। गोताखोर अपने सारे शरीर पर तेल और अपने कानों और नाक में रूई लगा लेता है। वह अपने हाथ में हांगुरों से लड़ने के लिये और सीपियों को चट्टानों से अलग करने के लिये एक बड़ा चाकू लिये रहता है। उसकी गर्दन से इन सीपियों को रखने के लिये एक डलिया लटकी रहती है। कभी-कभी तैराक को लकड़ी के फ्रेम में खड़ा कर रस्सियों द्वारा नाव से लटका देते हैं, नाव ऐसे स्थान पर लंगर डाले रहती हैं जहां पर मुक्ता सीपियों के पाने की आशा होती है। फ्रेम ऐसा भारी बनाते हैं जिससे वह डूब सके। किन्तु बहुत से तैराक बिना फ्रेम के ही गोता लगाते हैं और समुद्रतल पर से सीपियों को एकत्र कर लाते हैं। जब वे ऊपर आने को तैयार होते हैं वे खड़े हो जाते हैं और पानी हटाते हुए बड़े वेग से ऊपर आ जाते हैं।

गोताखोरों के फेफड़ों में केवल इतनी ही वायु एकत्र रहती है कि वे दो या दो से भी कम मिनट तक पानी के भीतर रह सकते हैं इसलिये उनको अत्यन्त शीघ्रता से अपना कार्य पूरा करना पड़ता है। गोताखोर इतना फुर्तीला और अभ्यस्त होता है कि वह सामान्यतया लगभग पच्चीस सीपियां प्रति गोते में ले आता है, और वह एक दिन में पचास गोते लगा लेता है। जैसे ही वह सीपियां नाव में लाकर एकत्र करता है, सीपियां यह देखने के लिये कि किनके भीतर बहुमूल्य मोती है तुरन्त ही खोल डाली जाती हैं। साधारणतया एक मोती पाने के लिये लगभग एक सहस्र सीपियां खोलनी पड़ती हैं। हम कल्पना नहीं कर सकते कि जब एक मोती मिलता होगा तो कितनी प्रसन्नता होती होगी। इस प्रकार भाग्यशाली गोताखोर बहुत धनी हो जाता है।

मोती उत्पादन––जब मनुष्य ने प्रथम बार यह देखा कि कुछ सीपियों में मोती पाये जाते हैं तभी से प्रत्येक गोताखोर की उत्कट अभिलाषा रही है कि वह जो भी सीपी समुद्र से निकाले प्रत्येक में एक सुन्दर मोती मिले। प्रत्येक सीपी मोती बनाने का कष्ट नहीं करती। अब प्रश्न यह आता है कि किस प्रकार सब सीपियों से मोती बनवाये जायें।

पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कोकीची मिकिमोटो नामक एक जापानी मोती के सौदागर को जो कुछ-कुछ सनकी किन्तु जिज्ञासु और दृढ़ था, इस समस्या ने व्याकुल किया। उसे ज्ञात था कि सदियों पूर्व चीनी मछियारों ने यह पता लगाया था कि सीपियों के भीतर बुद्ध की छोटी-छोटी मूर्तियां और इसी प्रकार की अन्य मूर्तियों का रखना सम्भव था' और वे इन सीपियों को फिर से समुद्र में डाल कर उस समय तक प्रतीक्षा करते रहते थे जब तक कि इन मूर्तियों पर मुक्तास्तर सुन्दरता से चढ़ा न दिया जाये। जब सीपी ऐसी वस्तुओं पर मुक्तास्तर चढ़ा सकती है, उसने छोटे पत्थर के कण को दीप्तिमान मोती में रूपान्तर करने का सोचा।

मिकिमोटो ने सहस्रों सीपियों में प्रवाल, कांच, धातु, हड्डी, मिट्टी के और अन्य पदार्थों के जिनको वह सोच सका कण रखे। उसने अनुभव किया कि रेत कणों ने बहुत अच्छे मोती नहीं बनाये, और धातुओं के कणों ने सीपी को थोड़े समय में ही मार डाला। प्रथम स्पष्ट परिणाम प्राप्त करने को मिकिमोटो को बीस वर्ष लगे। उसके प्रथम सामान्य रूप से उचित मोती जो आकार में अधिकतर अर्ध गोलाकार थे और प्रायः सीपी कवच से चिपके रहते थे बहुत निम्न प्रकार के थे।

एक दिन उसको ध्यान आया कि एक बहुत छोटा टुकड़ा मुक्तास्तर का ही क्यों न उपयोग किया जाये। मिकि-मोटो ने एक सहस्र से अधिक सीपियों में मुक्तास्तर के कण प्रवेश किये और धैर्यपूर्वक परिणाम की प्रतीक्षा की। आखिरकार सफलता प्राप्त हो गई। उन सब सीपियों में जिनमें मुक्तास्तर के कण प्रवेश किये गये थे मोती बन गये। यद्यपि मोती सब प्रकार से पूर्ण थे, वे पूर्णरूप से गोल नहीं थे––वे सब अर्ध-गोलाकार थे।

इन अर्ध गोलाकार कल्चर्ड मोतियों को बेच कर जो धन प्राप्त हुआ मिकिमोटो ने पूर्णरूप से गोल मोतियों को उत्पन्न करने की विधि खोज करने में लगाया। इस बार उसने मुक्तास्तर कण को दूसरी सीपी के प्रावार की एक परत से ढक दिया था। प्रावार जीवित ऊतक होता है जो सीपी के सब भागों को ढके रहता है और कवच के भीतरी सतह के निकट पाया होता है। अन्त में उसकी दृढ़ता का उसको फल मिला। सीपियों ने लगभग उसी प्रकार इसके चारों ओर मुक्तास्तर पोता जिस प्रकार किसी प्राकृतिक पदार्थ के कष्ट के बचने के लिये करती हैं और इन सीपियों ने सुन्दर गोल श्वेत मोती उत्पन्न किये।

प्रावार से ढके मुक्तास्तर के कण को प्रवेश करना एक कठिन कार्य था, और यह अभी भी मुक्ता उद्योग का सबसे अधिक प्रवीणता का कार्य माना जाता है। मिकिमोटो ने केवल अनन्त प्रयोगों द्वारा यह पता लगाया कि प्रत्येक सीपी में आमाशय और वृक्क के मध्य एक बहुत छोटी पॉकेट होती है, और यह वह स्थान है जहां श्रेष्ठ परिणाम के वास्ते कण

स्थापित करना चाहिये। दंतचिकित्सक के कुदाल (Pick) के सदृश औजार से प्रावार से ढके मुक्तास्तर के छोटे टुकड़े को पकड़ कर उचित स्थान पर लगा दिया जाता है।

इस प्रकार अच्छे मोती बनने में सात वर्ष लग जाते हैं, मोती कल्चर के लिये समुद्र जल के भीतर श्रेष्ठ दशायें पता लगाना अभी भी शेष है। मिकिमोटो ने पता लगाया कि सीपियों को जिनमें मुक्तास्तर कण प्रवेश किया गया समुद्र में प्राकृतिक दशा में छोड़ देना बहुत हानिकारक था क्योंकि पचासों प्रकार के अन्य समुद्री जन्तु, ऑक्टोपस से लेकर बिल्कुल छोटी स्टारफिश तक इन पर आक्रमण कर इनको खा लेती थीं। इसके अतिरिक्त भयंकर तूफान इन सीपियों को बहुत दूर-दूर तक फैला देते, इस प्रकार बहुत अधिक हानियां होतीं थी। इसलिये एक ऐसी व्यवस्था की गई जिससे ये सीपियां अपने प्राकृतिक पर्यावरण में रह सकें और ये नष्ट भी न हों। इन सीपियों को धातु के पिंजरों पर डलियों में रख कर समुद्र तल पर लटका दिया। मिकिमोटो ने अपनी वृद्धि करती हुई सीपियों को भिन्न-भिन्न गहराइयों पर लटकाया। तीस फीट की गहराई तक लटकी हुई सीपियों ने भद्दे कांतिहीन मोती उत्पन्न किये, उन सीपियों ने जो समुद्र की सतह से कुछ ही फिट नीचे थीं लालीपन लिये हुए मोती उत्पन्न किये, अन्त में उसने यह देखा कि उन सीपियों ने जो ठीक तेरह फीट की गहराई पर लटकी हुई थीं, सुन्दर दीप्तिमान मोती उत्पन्न किये। इस प्रकार मनुष्य ने अपनी इच्छानुसार रत्नों को उत्पन्न करने के लिये प्रकृति की सहायता की।

मोती उत्पादन की कला को पूर्ण बनाने के लिये चालीस वर्ष लगे। १९२७ तक मिकिमोटो प्रति वर्ष दस लाख सीपियों के भीतर सुन्दर मोती उत्पन्न करने लगा था। १९३४ में उसने अपना सीपी फार्म टोबा के छोटे से बन्दरगाह, की पेनिनसुला, सेन्ट्रल हॉन्शू पर बनाया, यह स्थान टोकियो से लगभग १५० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है। इस स्थान पर वह १,५०,००,००० सीपियों को पाल रहा था, इनमें लगभग १०,००,००० सीपी अच्छे मोती उत्पन्न कर रही थीं। १९५४ में अपनी मृत्यु के पूर्व जापान में उसकी सबसे अधिक आमदनी थी और उसने १,१७,००० से अधिक मनुष्यों को नौकर रक्खा था।

मार्गरिटिफेरा और मेलीगरिना नामक दो वंशों को सीपियां कल्चर्ड मोती उत्पादन के लिये साधारणतया पाली जाती हैं। कल्चर्ड और प्राकृतिक मोतियों के रूप में कोई अन्तर नहीं होता है। न इनके स्पर्श, वर्ण या सूक्ष्म रासायनिक विश्लेषण में ही कोई अन्तर होता है। केवल एक अन्तर जो इनमें पाया जाता है वह है इनके भार में। कल्चर्ड मोतियों का आपेक्षिक गुरुत्व प्राकृतिक मोतियों की तुलना में कम होता है—किन्तु यह अन्तर केवल अधिकतम परिशुद्ध प्रयोगशाला तुला ही पता लगा सकती है। इनमें अन्तर केवल चतुर विशेषज्ञ बतला सकता है।

अभी तक जापान ही विश्वव्यापी एकाधिकार उपयोग करता था। किन्तु १९५८ में आस्ट्रेलिया के वैज्ञानिकों ने आस्ट्रलिया में कलचर्ड मोती उद्योग आरम्भ करने के अपने हाल के प्रयोगों की सफलता सूचित की—और यह सब जापानियों के प्रवीण निर्देशन और सहायता के बिना सम्भव नहीं था।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् शीघ्र ही आस्ट्रेलिया ने यह प्रस्ताव किया कि पराजित जापान को अपनी युद्ध क्षति-पूर्ति के लिये कल्चर्ड मोती उत्पन्न करने के सम्बन्ध में सम्पूर्ण तकनीकी और वैज्ञानिक सूचना उपलब्ध कर देनी चाहिये। तत्पश्चात्, १९४६ में आस्ट्रलिया निवासियों का एक संघ जापान गया, और जनरल मैकार्थर के कब्जा करने वाले प्रशासन के वैज्ञानिक और आर्थिक विभाग को अनुदेश दिया गया कि वह इन आस्ट्रेलिया निवासियों की सब प्रकार से सहायता करे। मिकिमोटो ने इन आस्ट्रेलिया निवासियों को यह पूर्वकथन करते हुए प्रोत्साहित किया कि आस्ट्रेलिया के समुद्र में अधिक बड़े और अधिक सुन्दर मोती उत्पन्न हो सकेंगे।

एक हाल के कथन में, आस्ट्रेलिनन कामनवेल्थ साइंटिफिक ऐंड इण्डस्ट्रिअल रिसर्च ऑर्गेनाइजशन के मात्स्यकी विभाग के डाइरेक्टर, डा० हम्फ्रेज ने मिकिमोटो के पूर्वकथन की पुष्टि की। प्रथम बार में आस्ट्रेलिया में उत्पादित कल्चर्ड मोती जापानी कल्चर्ड मोतियों की तुलना में बड़े थे, और नौ माह से लेकर पन्द्रह माह तक में उत्पन्न किये गये थे जबकि जापान के समुद्र में सात वर्ष तक लग जाते हैं।

आस्ट्रेलिया के और जापान के कल्चर्ड मोतियों में अन्तर का मुख्य कारण यह है कि आस्ट्रेलिया की सीपी जो मोती उत्पन्न करती है वह बहुत बड़ी होती है। जापान की सीपी की जब इस दीर्घकाय सीपी से तुलना की जाती है तो बहुत छोटी प्रतीत होती है, यह दीर्घकाय सीपी साधारणतया नौ से दस इंच तक व्यास में होती है। यह सिल्वर लिप नामक सीपी, छोटी सीपी की तुलना में मुक्तास्तर बहुत अधिक शीघ्रता से स्रावण करती है, इस कारण कम समय में ही मोती बना देती है।

आस्ट्रेलिया के उत्तर में थर्सडे द्वीप पर अनुसन्धान के प्रधान केन्द्र में वैज्ञानिकों ने यह निर्धारण करने से पहले कि सिल्वर लिप सीपी कल्चर्ड मोती उत्पन्न करने के लिये सबसे अधिक उचित है सीपियों की छः जातियों से प्रयोग किये।

एक आस्ट्रेलिया और जापानी फर्म द्वारा मिलकर चलाई गई कम्पनी ने कल्चर्ड मोतियों का उत्पादन आरम्भ किया है और ऑगस्टस द्वीप के दक्षिणी-पूर्वी किनारे पर के कल्चर्ड मोती फार्म पर ४०,००० से अधिक सीपियों को उपचार दिया गया। इस स्थान के चारों ओर के समुद्र को और आस्ट्रेलिया के पश्चिमी किनारे को विशेष पट्टे पर कम्पनी को दे दिया गया है। यह आशा की जाती है कि शीघ्र ही कल्चर्ड मोती बेचने के वास्ते तैयार हो जायेंगे, इनको बेचने का सारा प्रबन्ध यूनाइटेड स्टेट्स में कर लिया गया है।

भारत के समुद्र में प्राकृतिक मोती पाये जाते हैं, यदि वैज्ञानिक अनुसन्धान इस ओर अनुसंधान करें तो यह सम्भव है कि आस्ट्रेलिया की भांति किसी बड़ी सीपी द्वारा अच्छे बड़े कल्चर्ड मोती यहां भी उत्पन्न किये जा सकें। पर्शिया के प्राकृतिक मोती सबसे सुन्दर होते हैं और बाजार में "बसरा के मोती" नाम से प्रसिद्ध हैं।
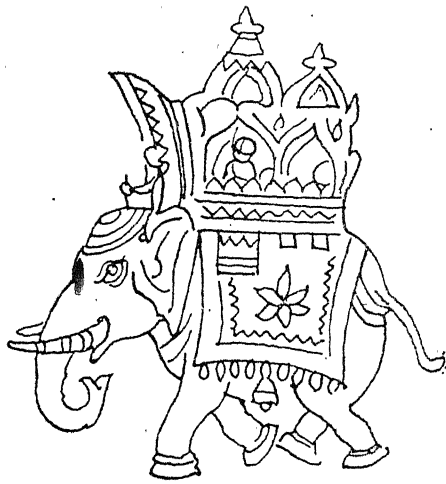
उत्तर प्रदेश में मानव विज्ञान

डॉ० कृपा शंकर माथुर, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष नृतत्त्व विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

मानव विज्ञान एक अपेक्षाकृत नया विज्ञान है। विश्व के किसी भी विश्वविद्यालय में इसके अध्ययन और अध्यापन का इतिहास मात्र सौ वर्ष का है और भारत में केवल चालीस वर्ष का ।

विचित्र और अजनबी वस्तुओं, जातियों और देशों में मनुष्य की रुचि हमेशा से ही रही है, इसी के वशीभूत होकर प्राचीन काल में---जब गमनागमन के साधन अति आदिम और अवनत थे---भी पर्यटकों और यात्रियों ने लम्बी यात्रायें कीं । उनके यात्रा-वर्णन आज भी रोचक और शिक्षाप्रद हैं । कोलम्बस द्वारा अमरीका और वास्कोडिगामा द्वारा भारत की खोज के पश्चात् लम्बी अन्वेषणात्मक समुद्र-यात्राओं में यूरोपियनों की रुचि बढ़ी । आस्ट्रेलिया की खोज हुई । प्रशान्त महासागर स्थित द्वीप ढूंढ निकाले गये । लिविंगस्टन और स्टेनली ने अफ्रीका महाद्वीप के भीतरी भागों की खोज की ।

अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में तो यात्राओं और खोजों की जैसे बाढ़ सी आ गई । वाष्पचालित समुद्रयानों के आविष्कार ने इसमें योग दिया । नवखोजित प्रदेशों और द्वीपों में योरोपिय बिखर गये । और नित्य ही नये स्थानों, जातियों और रिवाजों की खोज होने लगी । इन सबके पीछे अनेक भावनायें और प्रेरणायें थीं । ईसाई मिशनरियों ने सोचा कि मानवता का इतना बड़ा अंश अन्धकारमय है ; उसे प्रकाश में लाना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है । यूरोपिय राष्ट्रीय शक्तियों को विशाल प्रदेश विजय करने और उपनिवेश स्थापित करने का सुनहरा अवसर मिला । व्यापारियों ने इन नये प्रदेशों को अपने देश की निर्मित वस्तुओं का विस्तृत बाजार माना । और फिर इन नव अन्वेषित प्रदेशों के मूलवासियों के रिवाज भी अजीब और अनोखे थे । अट्ठारहवीं सदी के योरोप के कट्टर धार्मिक वातावरण में पले इन यात्रियों को प्रशान्त सागर स्थित द्वीपों अथवा अफ्रीका महाद्वीप के आदिवासियों के रीति-रिवाज, यथा बहुविवाह, मातृसत्ता, टोटेमवाद, यौन स्वच्छन्दता और शारीरिक नग्नता, धार्मिक रूप से स्वीकृत पशु व मानव बलि, नृमांस भक्षण, अति विचित्र तथा जंगली लगना स्वाभाविक ही था ।

विचित्र और अपरिचित में इस रुचि का परिणाम यह हुआ कि अयोरोपिय जातियों और जनों से सम्बन्धित साहित्य एक बृहद् मात्रा में यूरोपीय भाषाओं में समा गया । उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यांश तक नृवंशशास्त्र और नृवृत्त शास्त्र में वैज्ञानिकों और साहित्यिकों की रुचि बहुत कुछ बढ़ चुकी थी । १८९१ ई० में सर एडवर्ड बर्नेट टायलर की पुस्तक "एन्थ्रापालाजी" प्रकाशित हुई और १८८४ ई० में टायलर को आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान में रीडर नियुक्त किया गया---संसार के किसी भी विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान के अध्यापक की यह प्रथम नियुक्ति थी ।

शीघ्र ही यूरोपीय शासकों में यह धारणा फैली कि उपनिवेशों के सुचारु रूप से शासन के लिये उन प्रदेशों के मूलवासियों की संस्कृति और रीतियों का अध्ययन आवश्यक है । इस औपनिवेशिक नीति का परिणाम भारत में यह हुआ कि दसवर्षीय जनगणनाओं के साथ, (जो १८८१ ई० से प्रारम्भ की गई) प्रान्तों और देशी राज्यों की जातियों और जन-जातियों की संस्कृति का भी अध्ययन होने लगा । इस प्रकार भारत में व्यवस्थित नृवृत्तशास्त्र की नींव पड़ी ।

वैसे इसके पूर्व भी १७७४ ई० में रायल ऐशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल का उद्घाटन भाषण देते हुए सर विलियम जोन्स ने (जिनके सतत प्रयत्नों से इस सोसायटी की नींव पड़ी थी) बताया था कि इस सोसायटी का उद्देश्य होगा मानव और प्रकृति का वैज्ञानिक अध्ययन । भारत के विभिन्न प्रदेशों में नियुक्त राज्य और सैनिक अधिकारियों ने सम्बन्धित जातियों और आदिवासी कबीलों पर पुस्तकें लिखीं । १८२० ई० में हैमिल्टन लिखित, "हिन्दुस्तान और पड़ोसी देशों का भौगोलिक, सांख्यिक और ऐतिहासिक वर्णन" अति प्रसिद्ध और सर्वविदित है । १८५४ ई० में थोर्नटन लिखित 'गजेटियर' प्रकाशित हुआ और इसके शीघ्र बाद ही कैम्बबैल लिखित 'भारत का नृवंश' ।

१८९१ ई० की जनगणना में जातियों, जनजातियों, समुदायों आदि के विषय में भी सूचना एकत्रित की गई थी। भारत सरकार ने इसके बाद ही आदेश जारी किये कि प्रान्तों में इस सूचना के आधार पर . . . "ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स" पर विस्तृत पुस्तकें तैयार की जायें। इसी राज्यादेश के अनुसार उत्तर प्रदेश में (जो उस समय पश्चिमोत्तर प्रान्त कहलाता था) सर विलियम क्रुक ने चार खण्डों में एक विशाल पुस्तक लिखी। इस राज्य की जन संस्कृति के विषय में आज भी यह पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है। ब्लन्ट लिखित "उत्तर भारत की जाति व्यवस्था" और नैस्फील्ड लिखित "अवध एवं पश्चिमोत्तर प्रान्तों की जाति व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन" पुस्तकों का आधार उत्तरप्रदेशीय जातिसमाज ही था।

१९२१ ई० में समाज और संस्कृति के कुछ विद्वानों के प्रयत्नों से कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान विभाग की स्थापना हुई। इसके शीघ्र बाद ही १९२८ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से मानव-विज्ञान में प्रतिष्ठापूर्वक डिग्री प्राप्त युवक धीरेन्द्रनाथ मजूमदार की नियुक्ति लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के अध्यापक के रूप में हुई। उस समय अर्थशास्त्र के प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष डा० राधा कमल मुखर्जी के व्यापक दृष्टिकोण के फलस्वरूप इस विभाग में समाजशास्त्र तथा मानव विज्ञान सम्बन्धित कुछ पाठन तथा शोध कार्य प्रारम्भ हुआ। बाईस वर्ष पश्चात् डॉ० डी० एन० मजूमदार के अथक प्रयत्नों का फल हुआ लखनऊ विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान के स्वतन्त्र विभाग की स्थापना। आज भी उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों में मानव विज्ञान का यही एक स्वतन्त्र विभाग है।

अर्थशास्त्र के जिन अनेक शोध विद्यार्थियों ने मानव विज्ञान विषयक अनुसन्धान किये उनमें डा० श्रीधर पन्त[१] डा० वी० एस० भार्गव,[२] तथा डा० सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव[३] के नाम इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इन सभी के शोध कार्य की पृष्ठभूमि उत्तर प्रदेशीय समाज है।

१९४१ ई० में उत्तर प्रदेश की तत्कालीन सरकार ने एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया—इस प्रान्त के जन के मानव-मितिक तथा रक्त-सम्बन्धी अध्ययन का कार्य डॉ० मजूमदार को सौंपा गया। सारे प्रान्त में भ्रमण कर डॉ० मजूमदार ने "संयुक्त प्रान्त का मानवमितिक सर्वे" के लिये न्यास इकट्ठा किया और पी० सी० महलनॉबिस तथा सी० आर० राव की सांख्यिक सहायता द्वारा उसका विश्लेषण कर एक विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की।

इसी सर्वे के सन्दर्भ में एकत्रित प्राप्त सूचना के आधार पर उन्होंने उत्तर प्रदेश की पिछड़ी जातियों पर "आदिम जनजातियों की भाग्य दशा" शीर्षक पुस्तक १९४४ में प्रकाशित की।

१९५० ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय तथा उत्तर प्रदेश सरकार ने मानव विज्ञान का अलग विभाग स्थापित कर इस विषय को मान्यता प्रदान की। इसके प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष डॉ० मजूमदार नियुक्त हुए और ३१ मई १९६० ई०, अपनी मृत्यु तक वे इस पद का भार सम्भाले रहे। इस दस वर्ष में इस विभाग ने तथा प्रदेश में मानव विज्ञान ने भारी उन्नति की। १९५१ ई० में लखनऊ नगरपालिका ने इस विभाग स्थित 'इथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी' को लखनऊ नगर के सामाजिक सर्वे के हेतु एक अनुदान दिया। इस सर्वे की एक संक्षिप्त रिपोर्ट १९५३ ई० में प्रकाशित हुई। १९५४ में लखनऊ तथा कार्नेल विश्वविद्यालय के सहयोग से उत्तर प्रदेश के अनेक भागों में ग्राम अध्ययन का एक विस्तृत शोध कार्य प्रारम्भ किया गया। सहारनपुर, लखनऊ तथा जौनपुर जिले के अनेक ग्रामों में भारतीय और अमरीकन मानव वैज्ञानिकों ने कई वर्ष तक सामाजिक अध्ययन किये और अपनी खोजों के परिणामस्वरूप इस प्रदेश के ग्राम्य-जीवन के विषय में ज्ञान वृद्धि की। १९५५-५६ ई० में मैरियट ने अलीगढ़ के ग्रामों का अध्ययन किया और उसके आधार पर प्राचीन सभ्यताओं के सामाजिक अध्ययन के लिए एक नयी कार्यप्रणाली की रचना की (मैरियट सम्पादित "ग्रामीण भारत", १९५५)

१९५५–५७ ई० के वर्ष शोध के दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण रहे। भारतीय योजना आयोग की रिसर्च प्रोग्राम्स कमेटी द्वारा डा० मजूमदार को तीन महत्त्वपूर्ण शोध कार्य सौंपे गये,—प्रथम, देहरादून जिले के जौनसार बाबर प्रदेश में सार्वजनिक विकास योजनाओं के कार्य का अध्ययन, द्वितीय मिर्जापुर जिले के दुद्धी परगने में सार्वजनिक विकास योजनाओं के कार्य का अध्ययन, तथा तृतीय कानपुर नगर का आर्थिक-सामाजिक अध्ययन। १९५९ ई० तक इन तीनों शोधों के परिणाम रिपोर्ट-रूप में योजना आयोग को भेजे जा चुके थे। इन पर "एक औद्योगिक नगर का सामाजिक वृत्त", "हिमालवी बहुपतित्व" तथा "छोर का एक गांव" पुस्तकें क्रमशः १९६० ई०, १९६१ ई० तथा १९६२ ई० में प्रकाशित हुई।

---

१. हिमालय की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था

२. अपराधोपजीवी जन जातियाँ

३. थारु में संस्कृति परिवर्तन

इसी बीच लखनऊ-कार्नेल अनुसन्धान प्रोजेक्ट के अन्तर्गत अवध के एक गांव का विस्तृत विवरण प्रकाशित करने की योजना बनाई गई। इसके पूर्व अमरीकी मानव वैज्ञानिकों, विशेषकर मॉरिस ई० ओपलर और एल्बर्ट मेअर तथा उनके विद्यार्थियों एवं सहयोगियों ने उत्तर प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में मानव वैज्ञानिक अनुसन्धान किए। इस सन्दर्भ में कॉन गूल्ड, नीहॉफ तथा रुद्रदत्त सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। १९५४ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान विभाग में कार्नेल-लखनऊ प्रोजेक्ट की स्थापना हुई और मजूमदार तथा ओपलर इस प्रोजेक्ट के निदेशक नियुक्त हुए—प्रोजेक्ट ने सहारनपुर जिले के रडखंडी ग्राम में एक अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना की और अवध के एक ग्राम में संचार का अध्ययन लखनऊ केन्द्र द्वारा ही निर्देशित किया गया। रणखण्डी केन्द्र के अध्यक्ष डॉ० श्यामाचरण दुबे थे और इसमें प्राप्त अनुभव के आधार पर उन्होंने १९५८ में "भारत के बदलते हुए गांव" पुस्तक प्रकाशित की। अवध के मोहाना गांव में जाति एवं संचार के आधार पर मजूमदार की पुस्तक "भारत के गांव में जाति एवं संचार" १९५८ में प्रकाशित हुई।

१९५०–६० ई० की दशाब्दी में मजूमदार के अनेक शोध विद्यार्थियों ने जनजातियों और गांवों में क्षेत्रीय अनुसन्धान के आधार पर थीसिस प्रस्तुत किए। इनमें सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव कृत "थारु", कैलाशनाथ शर्मा लिखित "कानपुर के एक गांव का अध्ययन", रघुराज गुप्ता का "देहरादून में हिन्दू मुस्लिम तनाव का अध्ययन" उल्लेखनीय हैं। इनमें से श्रीवास्तव की पुस्तक १९५८ में प्रकाशित हुई। शर्मा तथा गुप्त की थीसिस के अधिकांश भाग लेखों के रूप में विभिन्न शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इन वर्षों में मानव विज्ञान के एम० ए० के विद्यार्थियों में से अनेक ने उत्तर प्रदेश की जातियों, जनजातियों और गांवों पर शोध कार्य किया। कुछ के वर्णन प्रकाशित हो चुके हैं परन्तु अधिकांश लखनऊ विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान विभाग के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

१९६० ई० में मजूमदार की मृत्यु हुई और उत्तर प्रदेश के मानव वैज्ञानिक रंग-मंच से एक विशिष्ट शोध कार्यकर्ता का लोप हो गया। लखनऊ विश्वविद्यालय में अपने जीवन के ३२ वर्षों में मजूमदार ने जो कार्य किया वह किसी भी अन्य प्रदेश में किसी एक व्यक्ति के कार्य से बढ़कर है। अकेले हाथों एक विस्तृत प्रदेश का मानवमितिक, सीरम वैज्ञानिक एवं मानववृत्तीय अध्ययन करना कोई छोटी बात नहीं है। साथ ही उनकी प्रेरणा से लखनऊ एवं विश्वविद्यालय के छात्रों एवं शोध कार्यकर्त्ताओं ने इस प्रदेश के अध्ययन में डटकर भाग लिया। मजूमदार के जीवनकाल में ही उनके कई विद्यार्थियों ने इस प्रदेश की विभिन्न जनजातियों और जातियों पर अध्ययन प्रारम्भ कर दिये थे, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् पूरे हुए। १९५९ में "इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च" की एक छात्रवृत्ति द्वारा हसन ने उत्तर प्रदेश के एक गांव में "सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सफाई" के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्षों का अध्ययन किया। ऐसे ही खरे ने अवध प्रदेश के कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में सामाजिक एवं परम्परा का अध्ययन किया और साथ ही लखनऊ जिले के एक गांव में "सार्वजनिक स्वास्थ्य" के सामाजिक आधारों पर शोध की। राजेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव ने १९५८ में गोण्डा जिले के डगूरिया थारु का मौलिक मानव वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ किया जो १९६३ में पूरा हुआ। उत्तर प्रदेश की अपराधशील जातियों के शारीरिक एवं सामाजिक अध्ययन की भी मजूमदार के प्रयत्नों से उत्तर प्रदेश राज्य ने व्यवस्था की। १९५४ में ही मजूमदार के निर्देशन में बनारस की अपराधोपजीवी जातियों का शारीरिक अध्ययन रिपु दमन सिंह एवं वर्मा ने किया। १९५६-५७ तक गौरीशंकर सिन्हा ने लखीमपुर जिले की अपराधोपजीवी जातियों का सामाजिक अध्ययन किया। बाद में सिन्हा ने इस अध्ययन के आधार पर थीसिस लिखा जो पटना विश्वविद्यालय में स्वीकार किया गया। १९५८-५९ में राजेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव ने लखीमपुर की अपराधोपजीवी जनजातियों का शारीरिक अध्ययन किया।

मजूमदार का विचार इस सबको मिला कर अपराधोपजीवी जनजातियों पर एक विस्तृत पुस्तक तैयार कराने का था परन्तु अपनी असामयिक मृत्यु के कारण वे राज्य सरकार को एक संक्षिप्त रिपोर्ट के अतिरिक्त और कुछ न दे पाए।

इसी बीच १९५५ के अन्त में हिमालय स्थित रूपकुंड में कुछ मानवी लाशों का पता चला। इस घटना ने सरकार, जनता और मानव वैज्ञानिकों एवं इतिहासकारों सभी का ध्यान आकृष्ट किया। ये झील गढ़वाल में १८,००० फुट की ऊंचाई पर सीमा के निकट स्थित है। राज्याधिकारियों को इससे अनेकों लाशों, हड्डियों और अन्य भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति हुई। १९५६ के प्रारम्भ में इसने एक सनसनी खोज रूप धारण किया और इसकी खोज के लिए राज्य सरकार ने मजूमदार से आग्रह किया कि वे रूपकुण्ड जाकर उसका अध्ययन करें। १९५६ में दो बार मजूमदार और उनके सहयोगियों ने रूपकुण्ड की यात्रा की और वहां से काफी संख्या में हड्डियां और अन्य भौतिक वस्तुएं लाने में सफल हुए। १९५७ में इन वस्तुओं का अध्ययन लखनऊ विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान विभाग में किया गया। इन पर मजूमदार ने अनेक लेख भी लिखें और १९६० में एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की जो उनकी मृत्यु के बाद राज्य सरकार को प्रस्तुत की गई।

व्यक्तियों की शारीरिक वृद्धि भी मानव वैज्ञानिक अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और दुर्भाग्यवश इस पर अभी भी भारत में बहुत कम कार्य हुआ है। १९५५ में मजूमदार के प्रयत्नों के फलस्वरूप "इण्डियन कौंउसिल ऑफ

मेडिकल रिसर्च" ने भारतीय बच्चों एवं युवक युवतियों की शारीरिक वृद्धि के अध्ययन की एक विस्तृत योजना तैयार की। इसके अनुसार सारे देश में एक समान प्रविधि से व्यक्तियों की शारीरिक वृद्धि एवं उनके सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों का अध्ययन प्रारम्भ किया गया। मजूमदार के निर्देशन में लखनऊ केन्द्र ने उत्तर प्रदेश एवं हिमाचल प्रदेश के लगभग ५०,००० बच्चों एवं युवक युवतियों की शारीरिक वृद्धि का अध्ययन किया। इसमें यह जानने का प्रयत्न किया गया कि शारीरिक वृद्धि के सामाजिक-सांस्कृतिक आधार क्या हैं। यह शोधकार्य १९५६ से १९६३ तक चला और इसका विस्तृत न्यास अब "इण्डियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च" के दिल्ली केन्द्र में रिपोर्ट तैयार करने के लिये जमा है।

प्रदेश में मानव विज्ञान की प्रगति में त्रैमासिक पत्रिका "ईस्टर्न एन्थ्रोपौलोजिस्ट" का बड़ा हाथ रहा है। १९४५ ई० में मजूमदार और उनके कुछ छात्रों ने लखनऊ में "एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी" की नींव डाली। १९४७ में इस संस्था द्वारा "ईस्टर्न एन्थ्रोपौलोजिस्ट" का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इसका उद्देश्य था देश और विशेषकर उत्तर प्रदेश के जन समाज और संस्कृति का अध्ययन तथा प्रकाशन। इस संस्था ने लोकगीतों के तीन संग्रह प्रकाशित किये—दो उत्तर प्रदेश के पहाड़ी खण्ड पर और एक छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) पर। इसी के अन्तर्गत मजूमदार की पुस्तक "अफेयरस ऑफ ए ट्राइब" (बिहार की हो जनजाति में सांस्कृतिक परिवर्तन) तथा श्यामाचरण दुबे की "कमार" (मध्य प्रदेश की एक जंगली जनजाति का सामाजिक जीवन) प्रकाशित हुए। इस संस्था की मुख्य पत्रिका "ईस्टर्न एन्थ्रोपौलो-जिस्ट" अब अपने १८ वर्ष समाप्त कर रही है और संसार की प्रमुख मानव वैज्ञानिक पत्रिकाओं में इसको श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु इस संस्था ने अनुसन्धान वृत्ति देकर अनेक साहित्यिकों और मानव वैज्ञानिकों को शोध के लिये सहायता प्रदान की। नरेशचन्द्र को "जॉनसार बावर के कोल्टो" की सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिये और माथुर को उत्तर प्रदेश के जनजातीय धर्म में अध्ययन के लिये शोध वृत्तियां दी गईं।

मार्च १९६४ ई० में योजना आयोग की रिसर्च प्रोग्राम्स कमेटी ने एक आयोजना की स्वीकृति दी जिसका उद्देश्य है—'पूर्वी उत्तर प्रदेश के ज़िलों में आर्थिक विकास तथा सामाजिक परिवर्तन' का अध्ययन करना। कहने की आवश्यकता नहीं, पूर्वी उत्तर प्रदेश एक ऐसा क्षेत्र है जो बहुत ही घना आबाद तथा पिछड़ा क्षेत्र है। राज्य के अन्य जिलों की तुलना में उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले अति पिछड़े तथा गरीबी ग्रस्त हैं। बाढ़ों तथा अति वृष्टि के ये हमेशा से शिकार रहे हैं; इसी का परिणाम यह हुआ है कि इस क्षेत्र की अधिकांश जनता आवश्यकता से अधिक भाग्यवादी तथा ईश्वरपरस्त है।

आज के वैज्ञानिक युग में इस क्षेत्र का औद्योगिक विकास कोई असम्भव बात नहीं परन्तु इसके लिए आवश्य-कता है सार्वदेशिक प्रगति की—अर्थात् एक सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक अनुभूति की जिसके फलस्वरूप ये पिछड़े जिले भी सार्वदेशिक उन्नति का लाभ पा सकें।

इसीलिये इस आयोजना के अन्तर्गत पूर्वी उत्तर प्रदेश के छः जिलों (गोरखपुर, देवरिया, बलिया, गाजीपुर आजमगढ़ तथा मिर्जापुर) के ग्रामीण क्षेत्रों के व्यापक अध्ययन के हेतु मानव विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० कृपाशंकर माथुर के निर्देशन में यह सर्वेक्षण किया जा रहा है।

इस सर्वेक्षण का प्रमुख उद्देश्य है पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिलों के आर्थिक विकास तथा सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करना तथा ऐसे तत्त्वों व आचारों का पता लगाना जिनके फलस्वरूप योजना के निर्माताओं को इस क्षेत्र की वास्तविक आवश्यकताओं का ज्ञान हो सके और इस क्षेत्र की सर्वांगीण उन्नति के लिये कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा सकें।
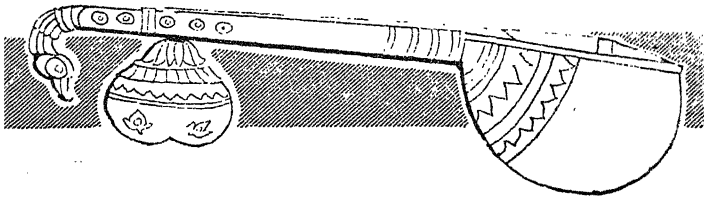
अल्प बचत योजना

सत्यप्रकाश भटनागर, एम० ए०, आई० ए० एस०
क्षेत्रीय निदेशक, राष्ट्रीय बचत, भारत सरकार, (उत्तर प्रदेश) लखनऊ ।

हमारी सरकार का लक्ष्य है एक समाजवादी समाज की स्थापना, एक ऐसा समाज जिसमें धन की विषमता नहीं के बराबर हो, निरक्षरता का अन्त हो तथा प्रत्येक नागरिक को उसके पूर्ण विकास का अवसर मिले, जिससे कि वह देश की समृद्धि में सहयोग दे सके ।

आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना जादू की छड़ी घुमा कर नहीं की जा सकती । देश की वर्तमान सम्पत्ति का वितरण करना ही इस समस्या का हल नहीं है । भारत जैसे गरीब देश के लिये तो इसका अर्थ गरीबी का ही वितरण करना होगा। इसलिये उपभोग की वस्तुओं के अधिकाधिक उत्पादन करने, वर्तमान उद्योगों के प्रसार करने तथा नये उद्योगों के खोलने, परिवहन व्यवस्था में सुधार करने तथा वाणिज्य और व्यापार की व्यापक वृद्धि करने से ही देश की सम्पत्ति बढ़ सकती है। इस प्रकार सभी व्यक्तियों को सब चीजें अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त हो सकेंगी । देश की समृद्धि केवल योजना बनाने से ही नहीं हो सकती है बल्कि जन-जन को इसमें हाथ बंटाना होगा। तभी योजना की सफलता सम्भव है।

सरकार द्वारा आयोजित पंचवर्षीय योजनायें आर्थिक समृद्धि के मार्ग की विभिन्न श्रेणियां हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना ने देश के जन-जीवन में नयी जान डाली। जनता में पर्याप्त मात्रा में लगन और उत्साह पैदा हुआ । दूसरी योजना ने आर्थिक विकास का मार्ग दिखाया । आज हम तीसरी योजना चला रहे हैं। यह हमारी सम्पन्नता की पहली सीढ़ी है। पर अचानक ही हमारे पड़ोसी देश चीन ने बर्बरतापूर्ण आक्रमण करके हमारी प्रगति को रोकना चाहा है। इसलिये हमें न केवल अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को चलाना है बल्कि चीनी शत्रुओं को मुंहतोड़ जवाव देने के लिये अपनी सुरक्षा सम्बन्धी तैयारियों को भी बहुत तेजी से पूरा करना है। इस के लिये हमें अधिक धन और साधन की जरूरत है । ये महान् कार्य जन-सहयोग से ही पूरे हो सकते हैं। बचतों द्वारा धन लगा कर आयोजना तथा सुरक्षा का वित्त-पोषण करने में जनता का अपना हित है। जितनी ही कम बचत की जायेगी, उतने ही अधिक कर लगाये जायेंगे और उसी हद तक घाटे की वित्त-व्यवस्था भी करनी होगी। बाहरी सहायता पर कहां तक निर्भर रहा जा सकता है। जैसा कि हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री जी ने कहा है, "उससे हमें वह शक्ति नहीं मिलेगी जो केवल हमारे अपने लोगों के कठिन परिश्रम और इच्छा से मिल सकती है।"

आयोजना का संचालन मुख्यतः जनता द्वारा ही होना चाहिये। लोगों को स्वेच्छा से सहायता देनी चाहिये। हमारी सरकार तानाशाह नहीं है जो सहायता करने के लिये बलपूर्वक लोगों को विवश करे। उक्त आयोजना नये भारत के निर्माण में जनता को सहयोगी बनाने का एक आमन्त्रण है। आयोजना में सहायता देने और इससे स्वयं लाभ उठाने का तरीका है कि धन बचाया जाये और सरकार को उधार दे दिया जाये। जो बचत करता है और बचाये हुए धन को बचत की मदों (प्रतिभूतियों) में लगाता है, वह भी राष्ट्र-निर्माण तथा संरक्षण का भागीदार बनता है।

बचत हर परिवार के लिये आवश्यक है क्योंकि जिस राष्ट्र के सदस्य बचत नहीं करते वह राष्ट्र कदापि समृद्ध नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति जिसका व्यय आय से अधिक है सदा ऋणी और सुरक्षित नहीं हो सकता। व्यय की तो कोई सीमा ही नहीं है और यह सदा बढ़ता ही जायेगा जब तक कि उस पर अंकुश लगा कर बचत न की जाय। व्यक्ति बचत से ही धनवान हो सकता है। अपनी आय बढ़ा कर कदापि नहीं यदि व्यय पर नियन्त्रण नहीं। इसी प्रकार यदि बचत राष्ट्र के पास नहीं रखी जाती तो राष्ट्र समृद्ध नहीं हो सकता।

अक्सर यह कहा जाता है कि देश के अधिकांश लोग निर्धन हैं। तो वे कैसे बचत कर सकते हैं। इस प्रसंग

में केवल यही कहना है कि क्या गरीब लोगों को आवश्यकता पड़ने पर उधार नहीं लेना पड़ता और क्या इस उधार का भुगतान नहीं करना पड़ता। वह कहां से होता है। जाहिर है कि वह आय से ही निकाला जाता है। जब ऐसा है तो आवश्यकता पड़ने के पूर्व ही क्यों न आय से बचत की जाये और उधार न लेना पड़े। सच तो यह है कि बचत की आवश्यकता निर्धनों को ही अधिक है। धनवान तो प्रायः वचत करते ही रहते हैं। किन्तु उनकी बचत अधिकांशतः बिना किसी बलिदान के होती है। गरीब की बचत ही में बलिदान होता है और उसी का मूल्य भी अधिक है। बीमारी में दुगुनी कठिनाई होती है। एक तो आय कम हो जाती है, दूसरे व्यय अधिक होने लगता है। इसलिये यह अवश्य ही बुद्धिमत्ता की बात होगी कि बचत की जाये और ऐसी स्थिति न आने दी जाये जिससे कि चिकित्सा तक सम्भव न हो सके।

पिछले १८ वर्षों के अथक-प्रयत्नों से खाद्य और औद्योगिक उत्पादन में अवश्य वृद्धि हुई है। किन्तु इस उत्पादन के द्वारा बढ़ी हुई आय का उपभोग न ग्रामीण जनता कर सकती है और न शहरी व्यक्ति ही, क्योंकि अपने व्यय को जनता बढ़ा रही है। इससे कृषकों और मजदूरों में जिन्होंने कठिन परिश्रम करके उत्पादन बढ़ाया है, निराशा ही बढ़ेगी। इसलिये बचत परमावश्यक है।

योजनायें देश की अर्थव्यवस्था में सभी समय के लिये तो रखी नहीं जा सकतीं और न देश में आपत्तिकाल शताब्दियों तक रहेगा। इसलिये ज्यों-ज्यों हमारी अर्थव्यवस्था विकसित होती जायेगी, यह अपने आप ही फैलेगी और हमारे लिये विकास और रक्षा में अधिक साधन उत्पन्न करेगी। परन्तु प्रत्येक परिवार के लिये बचत की आवश्यकता स्थायी है। बचत एक मूल बात है जिसे हमें करना ही है।

व्यय में कुछ कमी करके तो बचत की ही जा सकती है। पर मद्यपान, धूम्रपान और पान पत्ते का पूर्ण त्याग अथवा इन पर होने वाले व्यय में कमी करके और अधिक बचत की जा सकती है।

अर्थव्यवस्था के विकासकाल में वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं, विशेषतया जब कि देश सुरक्षा के गम्भीर प्रयत्नों में संलग्न हो उस समय उपभोग की वस्तुओं का अभाव होने के कारण भाव बहुत बढ़ जाते हैं। परन्तु इन वस्तुओं का अनावश्यक क्रय बन्द करके बचाए हुए धन को सरकारी प्रतिभूतियों में लगा कर न केवल भावों को बढ़ने से रोका जा सकता है, बल्कि ऐसी वस्तुओं का अभाव भी समाप्त किया जा सकता है। भावों को स्थिर करने का बचत ही एक मात्र सही तरीका है।

धन बचाने की आदत मनुष्य के चरित्र का परिचायक है। यही नहीं इससे उसके राष्ट्र के चरित्र का परिचय मिलता है।

जिस प्रकार एक कम आय वाला व्यक्ति शान के लिये अधिक व्यय करता है तो उसकी स्थिति समाज में हास्यास्पद रहती है उसी प्रकार जो राष्ट्र अपना कोष रिक्त रख विदेशों के उधार पर ही जीना चाहता है, उस राष्ट्र का कदापि सम्मान नहीं हो सकता।

कुछ लोगों की आदत है कि वे अपनी बचत को पोटलियों में अथवा दालान के नीचे गाड़ देते हैं। इससे न केवल धन ही नहीं बढ़ता बल्कि चोरी हो जाने, आग लग जाने आदि का भय भी रहता है अथवा चूहे, कीड़ों द्वारा नष्ट भी हो जाता है। इसलिये अपनी बचत को सरकार के पास ही रखना चाहिये ताकि यह हर समय ब्याज से बढ़ती रहे।

आभूषण आदि पर व्यय करने पर भी बचत बढ़ती नहीं घटती ही है।

ऊपर लिखे ध्येय को ध्यान में रख कर ही योजना आयोग ने यह सही निर्णय किया था कि जनता में कम खर्च की आदत डाली जाये।

ऊपर जो कहा गया है उससे हमारी सुरक्षा और आयोजना के लिये अधिक-से-अधिक साधन जुटाने के महत्त्व को बल मिलता है। इस आपत्तिकाल में देश में सभी ओर महान् जाग्रति उत्पन्न हो गयी है जो कि राष्ट्रीय सुरक्षा फंड में मुक्तहस्त दान से ही सिद्ध है। हर व्यक्ति तो मोर्चे पर नहीं जा सकता किन्तु हर कोई बचत करके राष्ट्र की सुरक्षा में योग दे सकता है। यह हर व्यक्ति के लिये गर्व की बात है कि उसकी पांच रुपये की बचत भी जो वह ऋण के रूप में सरकार को दे सका है, बन्दूक की एक गोली बनाने में योग देती है जिससे शत्रु को मारा जा सकता है।

इन कारणों से ही भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय बचत संघटन बना रखा है जो कि बचत का प्रचार करता है। राष्ट्रीय बचत संघटन निम्नलिखित प्रतिभूतियां उपलब्ध करता है ताकि हर कोई अपनी इच्छानुसार बचत कर सके।

१. १२ वर्षीय राष्ट्रीय रक्षा पत्र—ये पत्र बचत बैंक का काम करने वाले सभी डाकघरों से ५ रुपये और ऊपर के मूल्यों में मिलते हैं। हर १०० रुपया जो इन पत्रों में लगाया जायेगा १२ वर्ष बाद १७५ रुपये हो जायगा और इस

प्रकार साधारण व्याज की दर ६·२५ प्रतिशत होगी अथवा चक्रवृद्धि व्याज ४.७५% होगा जो कि आयकर से मुक्त होगा। इस प्रतिभूति में एक व्यक्ति अधिक-से-अधिक ३५,००० रुपये ही लगा सकता है।

२. १० वर्षीय रक्षा जमा पत्र—यह जमा पत्र ५० रुपये रुपये या ५० की गुणित रकमों के होते हैं। व्याज ४.५०% के हिसाब से प्रति वर्ष और आयकर से मुक्त मिलता है। यह पत्र सभी डाकघरों जो बचत बैंक का काम करते हों, तथा स्टेट बैंक आफ इण्डिया और इसकी शाखाओं में और राजकोष एवं उप-राजकोष में मिल सकते हैं। एक व्यक्ति अधिक से अधिक ३५,००० रुपये इन पत्रों में लगा सकता है।

३. १५ वर्षीय वार्षिकी पत्र—इन पत्रों में लगाया १,३३०, ३,३२५, ६,६५०, १३,३०० और २६,६०० रुपया १५ वर्षों तक हर महीने मूलधन और व्याज सहित क्रमशः १०,२५,५०,१०० और २०० वापिस देता है। चक्रवृद्धि व्याज की दर ४.२५% बैठती है।

४. बढ़ने वाली सार्वधिक जमा योजना। किसी भी डाकघर में ५, १० या १५ वर्षों के लिये हर महीने ५, १०, २०, ५०, १०० या २०० रुपये प्रति मास जमा करवाये जा सकते हैं। १५ वर्षीय खाते में अधिक-से-अधिक ३०० रुपये प्रतिमास जमा करवाये जा सकते हैं। मियाद पूरी होने पर ५ वर्षीय खाते में ३.३ प्रतिशत प्रति वर्ष, १० वर्षीय खाते में ३.८ प्रतिशत प्रतिवर्ष और १५ वर्षीय खाते में ४.३ प्रतिशत प्रतिवर्ष चक्रवृद्धि व्याज मिलता है। व्याज पर आयकर नहीं लगता।

१० वर्षीय और १५ वर्षीय खातों में जमा रकमों पर बीमा प्रीमियम और प्रोविडेंट फंड में डाली गयी रकमों की तरह ही आयकर सम्बन्धी छूट मिलती है यदि कुल सीमा आयकर अधिनियम के अन्तर्गत स्वीकार्य हो।

यह योजना विशेषतया उन लोगों के लिये जो किसी के कर्मचारी नहीं हैं, अधिक लाभप्रद होगी।

५. डाकघर बचत बैंक—किसी व्यक्ति को खाता खोलने के लिये शुरू में कम से कम २ रुपये जमा कराने होते हैं। बाद में कम-से-कम एक रुपया भी जमा कराया जा सकता है। हां हर खाते में एक वर्ष पश्चात् कम-से-कम पांच रुपये होने चाहियें। २५ रुपये से १०,००० रुपये तक के शेष पर, प्रति वर्ष ३ प्रतिशत व्याज जोड़ा जाता है और १०,००० से ऊपर पर यानी १५,००० तक (यही अधिक-से-अधिक सीमा है) २½ प्रतिशत व्याज मिलता है। व्याज आयकर से मुक्त होता है। यह बचत बैंक ग्रामों में विशेषतया उपयोगी है क्योंकि ऐसी सुविधायें वहां नहीं होतीं।

चूंकि ऊपर लिखी सभी प्रतिभूतियों पर व्याज आयकर से मुक्त है इसलिए व्याज को भी यदि आय माना जाय तो व्याज की दरें बहुत ऊंची हो जाती हैं।

हमारी कार्य विधि

१. ग्रामीण क्षेत्रों में—ग्राम स्तर सम्बन्धी सभी कार्यकर्ता इस कार्य में हाथ बटाते हैं और प्रयत्न करते हैं कि ग्रामवासियों को इस योजना से अवगत कराया जाये। अधिकांशतः यह कार्य लेखपाल, ग्राम सेवक, पंचायत मंत्री और प्राथमिक अध्यापकों द्वारा कराया जाता है। हर कार्यकर्त्ता को ग्राम हवाले किये जाते हैं और उससे आशा की जाती है कि वह हर परिवार से मिले, बचत के महत्त्व को समझाए और उनके खाते खुलवाए।

२. शहरी क्षेत्रों में—यह कार्य निम्नलिखित उपायों से होता है :

(१) अधिकृत एजेन्ट बनाये जाते हैं जो लोगों का रुपया रक्षापत्रों और वार्षिकी पत्रों में जमा करवाते हैं। इन्हें १⅞ प्रतिशत कुल जमा कराये रुपये का कमीशन मिलता है। इस समय उत्तर प्रदेश में करीब १८०० अधिकृत एजेन्ट हैं।

(२) कार्यालयों, संस्थाओं और स्कूलों में जहां अधिक कर्मचारी व विद्यार्थी होते हैं वहां जिला बचत संघटक बचत ग्रुप बनाते हैं और जहां कर्मचारी वेतन से कटौती कराने के लिये लिखित सम्मति दे देते हैं वहां वेतनीय बचत ग्रुप बनाये जाते हैं। हर वेतनीय ग्रुप का एक नेता होता है जो कि रुपया इकट्ठा करके डाकखाने में जमा करवाता है। उसे यदि वह सरकारी खजांची है तो १ प्रतिशत कमीशन मिलता है अन्यथा कारखाने के मालिक को १ प्रतिशत खर्चा दिया जाता है। इस समय उत्तर प्रदेश में २१८० वेतनीय बचत ग्रुप हैं और ३,००० साधारण ग्रुप हैं, स्कूल के बच्चों को २५ नये पैसे के बचत टिकट प्रति माह खरीदने के लिये उत्साहित किया जाता है जिन्हें बाद में वे किसी प्रतिभूति से बदल सकते हैं।

३. हर मुहल्ले में, घर-घर जाकर प्रचार किया जाता है। यह प्रयत्न रहता है कि सभी कार्य को गैर-सरकारी लोगों को दिया जाये। इसीलिये उत्तर प्रदेश में एक राज्य सलाहकार परिषद् की स्थापना की गयी है जो कि मुख्य मंत्री के सभापतित्व तथा बेगम अलीजहीर के उप-सभापतित्व में कार्य कर रही है। इस परिषद् के २३ गैर-सरकारी सदस्य हैं।

हर जिले में भी एक सलाहकार समिति अध्यक्ष जिला परिषद् के सभापतित्व में कार्य करती है। ब्लाक समितियों, प्रमुख व ग्राम सभापतियों से भी अनुरोध किया जाता है कि वह इस कार्य को अधिक-से-अधिक महत्त्व दें।

उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय बचत संगठन

सन् १९४३ में भारत सरकार ने राष्ट्रीय-बचत योजना का समारम्भ इस उद्देश्य से किया कि मुद्रास्फीति का सामना किया जा सके तथा युद्ध के लिये ऐसे लोगों से रुपया उधार लिया जा सके जो सामान्यतः सरकार को ऋण नहीं देते हैं। किन्तु बचत आन्दोलन के शैक्षिक पक्ष पर, जिसके अन्तर्गत एक तरफ व्यक्तिगत सुख और दूसरी तरफ राष्ट्र की भलाई को महत्त्व दिया जाता है, समुचित बल नहीं दिया गया। युद्धबन्दी के बाद यद्यपि आन्दोलन का मौलिक महत्त्व समाप्त हो गया है तथापि मन्दी रोकने के लिये बचत करने की आवश्यकता बनी रही। आजादी मिल जाने के बाद सरकार ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नियोजन का प्रबन्ध दे कर आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये प्रयास प्रारम्भ किये। बचत आन्दोलन को भी नयी प्रतिष्ठा मिली। विशेषतः इसलिये कि देश के विकास और परिवार के सुख के लिये धन की जरूरत है।

राष्ट्रीय बचत संगठन की ओर से एक निदेशक, दो उप-निदेशक, ग्यारह सहायक क्षेत्रीय निदेशक व लगभग १०० संगठक इस कार्य में लगे हुए हैं। राज्य सरकार की ओर से वित्त सचिव राष्ट्रीय बचत निदेशक हैं और उनकी सहायता के लिये एक उप निदेशक तथा छोटा सा कार्यालय है। राज्य सरकार के कर्मचारी व राष्ट्रीय बचत संगठन के कर्मचारी पूर्ण सहयोग के साथ इस कार्य को करते हैं।

अल्प-बचत योजना का लक्ष्य पिछले वर्ष १५ करोड़ रक्खा गया था जो लगभग पूरा हो गया था। प्रदेश में इस समय ३ लाख सी० टी० डी० के खाते हैं और २५ लाख के ऊपर सेविंग्स बैंक के खाते हैं। जिससे प्रतीत होता है कि प्रत्येक पांच परिवार में एक बचत कर रहा है। इस वर्ष अब तक का जमा धन पिछले वर्षों से अधिक है। हर सम्भव प्रयत्न किया जा रहा है कि निर्धारित लक्ष्य जो १८ करोड़ है पूरा किया जा सके।

यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक संख्या में डाकखाने बचत का कार्य करने लगें जिससे ग्रामीण जनता को घर के निकट रुपया जमा करने की सुविधा मिल सके।

उत्तर-वैदिककालीन उत्तर प्रदेश

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी, एम० ए०
अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

आज जिस भौगोलिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व उत्तर प्रदेश करता है प्रायः वह समूचा भूभाग उत्तर-वैदिकयुगीन आर्यों को ज्ञात हो चुका था। तत्कालीन साहित्य में इस क्षेत्र के अनेक पर्वतीय भागों, नदियों, वनों, जनपदों तथा नगरों के उल्लेख उपलब्ध हैं। अपने पूर्वाभिमुख गमन में आर्यों ने वर्तमान उत्तर प्रदेश के अनेक भागों को जलवायु की दृष्टि से बहुत उपयुक्त पाया। यहां के कई ऐसे स्थानों को चुनकर उन्होंने उन्हें विशेष केन्द्रों के रूप में विकसित किया।

उत्तर वैदिक काल को मोटे तौर से हम ईस्वी पूर्व १००० तथा ६०० के बीच रख सकते हैं। इस काल में मुख्यतः ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के रूप में जो साहित्य रचा गया उससे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पड़ा है। पिछले कई वर्षों में हस्तिनापुर (जि० मेरठ), रूपड़ (जि० अम्बाला), मथुरा, श्रावस्ती (जि० गोंडा) तथा कौशाम्बी (जि० इलाहाबाद) में पुरातत्त्वीय उत्खनन हुए हैं। उनसे इस युग की सभ्यता पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है। प्राचीन सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों की घाटियों में सर्वेक्षण-कार्य भी कराया गया है। इस सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि इन दोनों नदियों के तटों पर उत्तर-वैदिक युग में सभ्यता का विकास हुआ। यह सभ्यता मुख्य रूप से ग्रामीण थी। लोग खेती करना तथा पशु पालना जानते थे। वे मिट्टी, लकड़ी, पत्थर तथा धातु की विविध उपयोगी वस्तुएं बनाते थे और अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण पहनते थे।

इस प्रकार साहित्यिक और पुरातत्त्वीय प्रमाणों के आधार पर हम लगभग चार शताब्दियों के इस युग की एक मोटी रूपरेखा का निर्माण कर सकने में समर्थ हुए हैं। हम यह जान सके हैं कि पूर्व-वैदिककाल में धर्म-दर्शन, भाषा-साहित्य एवं राज्य तथा समाज के सम्बन्ध में जिन विचारधाराओं का सृजन हुआ था, उनका उत्तर वैदिककाल में विकास होता गया। पहले की कई मान्यताओं का विरोध भी हुआ और कतिपय नवीन धारणाओं की सृष्टि हुई। एक प्रगतिशील समाज के लिये इस प्रकार की स्थिति स्वाभाविक थी।

उत्तर-वैदिक साहित्य के अन्तर्गत वेदों के भाष्यरूप में ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् आते हैं। ब्राह्मणों में विविध यज्ञों के क्रियाकलापों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। उत्तर वैदिककाल में आर्य सभ्यता का प्रसार उत्तर भारत के एक बड़े भाग में हो गया था। तत्कालीन साहित्य में वैदिक यज्ञों के जिन प्रमुख क्रियास्थलों के उल्लेख मिलते हैं उनमें से अनेक आधुनिक उत्तर प्रदेश में स्थित थे। गंगा-यमुना की घाटी वैदिक यंत्रों के उच्चारण से गूंजती रहती थी। हस्तिनापुर, काम्पिल्य, अहिच्छत्रा, मथुरा, प्रयाग, कौशाम्बी, आदि नगरों में वैदिक यज्ञ बड़े रूप में निष्पन्न होते थे। पुरोहित ब्राह्मणों को वरीयता प्राप्त थी और शासक तथा जनता द्वारा उनके प्रति असाधारण सम्मान प्रदर्शित किया जाता था।

अनेक श्रौत सूत्रों तथा गृह्य सूत्रों की रचना उत्तर वैदिक-काल के अन्तिम भाग में हुई। इन ग्रन्थों से वैदिक कर्मकाण्ड के ऊपर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। अनेक यज्ञों के विधान इस साहित्य में वर्णित हैं।

ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण, विष्णु आदि जिन महान् देवताओं का वर्णन मिलता है उनकी पूजा-प्रतिष्ठा परवर्ती वैदिक-काल में भी जारी रही। ये देवता विविध शक्तियों के प्रतिनिधि रूप में पूजित थे। लोक-कल्याण के वाहक तथा अनेक विपत्तियों से रक्षक रूप में ये देवता लोक-मानस में मान्य थे। इनके साथ ही मातृ-देवी तथा वृक्ष एवं पर्वत देवता की भी पूजा होती थी।

यज्ञों तथा नागों को भी विशेष शक्ति के रूप में पूजा जाने लगा था। उत्तर प्रदेश के हस्तिनापुर, मथुरा, आलवी, काशी आदि प्रमुख स्थानों में यक्षों के केन्द्र स्थापित हुए। इन यक्षों को शक्ति और धन के अधिपति रूप में माना

जाता था। उनके अनेक रूपों की कल्पना की गई। यक्ष-पूजा के व्यापक प्रचार का पता महाभारत तथा बौद्ध एवं जैन साहित्य से चलता है। महाभारत में यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से अनेक गूढ़ प्रश्न पूछे गये। इन यक्षों की शारीरिक शक्ति का परिचय महाभारत के अनेक स्थलों पर कराया गया है। साहित्यिक विवरणों में अनेक यक्षों के नाम उपलब्ध हैं। यक्षों की शक्तियों के रूप में यक्षियों का भी प्रचुर विवरण मिलता है। उनकी आराधना प्रायः उनके मोहक कल्याणप्रद रूप में की जाने लगी थी। बुद्ध के पूर्व मथुरा नगर यक्ष-पूजा के लिये बहुत प्रसिद्ध था। वहां गर्दभ नामक एक शक्तिशाली यक्ष का निवास था। उसके अतिरिक्त अनेक दुर्दान्त यक्षियों का मथुरा तथा आस-पास के क्षेत्र पर बड़ा प्रभाव था। बौद्ध साहित्य के अनुसार भगवान् बुद्ध द्वारा गर्दभ तथा यक्षियों का दमन कर मथुरा के निवासियों को भयमुक्त किया गया। इसी प्रकार आलवी नामक नगर का दुर्विनीत यक्ष भी बुद्ध के प्रभाव से विनम्र बना।

नाग पूजा का प्रचलन उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों में था। इन नागों को जल के निवासी तथा प्रचुर धन के स्वामी के रूप में माना जाता था। इनकी पूजा सर्प तथा मानव इन दोनों विग्रहों में की जाती थी।

विवेच्य काल में अनेक लौकिक मान्यताओं का पता चलता है। दैवी चमत्कारों तथा फलित ज्योतिष में लोगों का विश्वास था। मन्त्र-तन्त्र, प्रेत-विद्या, वशीकरण आदि में उनकी आस्था थी। अथर्ववेद में उल्लिखित अनेक विद्याएं भी प्रचलित थी। जनता का एक बड़ा वर्ग विविध चमत्कारों में विश्वास रखता था।

धार्मिक मान्यताओं के विषय में लोगों को स्वतन्त्रता थी। वैदिक कर्मकाण्ड में आस्था रखने वाले बहुसंख्यक लोगों के अतिरिक्त कुछ ऐसे वर्ग भी थे जो धार्मिक विषयों में अपने को पूर्णतया स्वतंत्र मानते थे। प्राचीन पाली साहित्य में गौतम बुद्ध द्वारा धर्म-प्रचार करने के पहले उत्तर भारत में ६२ सम्प्रदाय विद्यमान थे। इनके नाम आजीवक, परिव्राजक, जटिलक, तेदंडिक आदि थे। जैन ग्रन्थों में इन सम्प्रदायों की संख्या ३६३ बतायी गयी है। बुद्ध के समकालीन विविध मतों के प्रमुख विद्वानों के नाम मिलते हैं। पुराण कश्यप, मक्खलि गोशाल, असित ऋषि, आड़ार कालाम, रुद्रक रामपुत्र आदि ऐसे अनेक विद्वान थ, जिन्होंने दर्शन की अनेक मान्यताओं को प्रतिष्ठापित किया था।

उत्तर प्रदेश के अनेक प्राचीन स्थानों में किए गए उत्खननों तथा सर्वेक्षणों द्वारा प्राचीन धार्मिक स्थिति पर जो प्रकाश पड़ा है उससे साहित्यिक उल्लेखों की पुष्टि होती है। इन्द्र की पूजा इस क्षेत्र में विशेष रूप से प्रचलित थी। अनेक यज्ञस्थलों की प्राप्ति देहरादून, मथुरा, प्रयाग, कोशाम्बी, आदि स्थानों में हुई है। मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन एक यूप-स्तम्भ पर खुदे हुए ब्राह्मी लेख से पता चलता है कि मथुरा के ब्राह्मणों द्वारा 'द्वादशरात्र यज्ञ' किया गया था। इस प्रकार के यूप राजस्थान तथा मध्य भारत से भी मिले हैं। उत्तर प्रदेश की अनेक जनपदीय मुद्राओं पर इन्द्र का प्रमुख चिह्न 'इन्द्रध्वज' मिलता है। इन्द्रपूजा की परम्परा वैदिककाल से लेकर गुप्तकाल तक उत्तर भारत में समादृत रही। इन्द्र के अतिरिक्त अग्नि, विष्णु, ब्रह्मा तथा अनेक देवियों की प्रतिमायें प्रदेश के प्राचीन कला-केन्द्रों से प्राप्त हुई हैं। इनमें मिट्टी की बनी हुई मातृदेवी की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। ये मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी आदि स्थानों से मिली हैं।

तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था प्रारम्भिक वैदिककाल की अपेक्षा अधिक विकसित हो गई थी। वर्णाश्रम-धर्म का महत्त्व बढ़ गया था। कर्म की प्रधानता की ओर समाज के एक बड़े वर्ग का ध्यान गया। आरण्यकों तथा उपनिषदों में तीन आश्रमों का कथन है। ये आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थन तथा वनाप्रस्थ थे। इन आश्रमों को जीवन-रूपी वृक्ष की तीन शाखाओं के रूप में माना जाता था। उपनिषदों का ज्ञान मार्ग इस काल में बहुत प्रभावोत्पादक हुआ। प्राचीन उपनिषदों के अध्यात्मवाद में तत्त्व-चिन्तन का उच्च रूप मिलता है। जटिल कर्मकाण्ड की अपेक्षा उपनिषदों का यह तत्त्व-दर्शन अधिक मान्य हुआ। क्षत्रियों द्वारा इस दिशा में नेतृत्व के उदाहरण विदेह जनक, प्रवाहण जैबलि, अजातशत्रु आदि की कथाओं में मिलते हैं।

उत्तर वैदिककालीन आर्थिक स्थिति के ऊपर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। हस्तिनापुर, मथुरा, श्रावस्ती, कौशांबी आदि स्थानों की खुदाई से ज्ञात हुआ है कि तत्कालीन जीवन सीधा-सादा था। लोगों के आवास प्रायः मिट्टी के बने होते थ। अनेक बड़े नगरों का निर्माण भी इस काल के अन्त तक हो गया। इनमें वाराणसी, अयोध्या, श्रावस्ती, कौशांबी तथा मथुरा के नाम उल्लेखनीय हैं। खेती तथा पशुपालन इस काल के मुख्य उद्योग थे। इनके अतिरिक्त वस्त्र-व्यवसाय, बढ़ईगीरी, कुम्हारगीरी तथा धातु एवं पत्थर के काम भी जारी थे। अन्य अनेक व्यवसायों का पता भी चला है। उद्योगों की उन्नति एवं उनकी सुरक्षा के लिये विविध व्यवसाय वालों द्वारा अपने संगठन बनाए गये थे। ये निगम, संघ, श्रेणी आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। बौद्ध साहित्य तथा परवर्ती अभिलेखों में अनेक निगमों के रोचक विवरण मिलते हैं। उत्तर भारत में अनेक बड़े व्यापारिक मार्ग बन गये थे। ये मार्ग व्यापारिक नगरों को एक-दूसरे से जोड़ते थे। विभिन्न व्यवसायों तथा वाणिज्य की उन्नति के कारण सामाजिक स्थिति के उन्नयन में पर्याप्त सुविधा प्राप्त हुई।

SRI C. B. GUPTAJI'S ROLE AND INTEREST IN THE DEVELOPMENT OF MEDICAL AND PUBLIC HEALTH SERVICES IN UTTAR PRADESH

DR. D.N. SHARMA *M.D.*
Director, Medical & Health Services, U.P.

The need for development in the fields of medical and public health services got intensified when the country became independent in the year 1947. The rapid progress in these fields in our State of Uttar Pradesh, since that day, has been fairly well advanced compared to what we had before and the credit for the same and putting the development on its onward progressive journey can be rightly given to one person without whose personal interest and zeal in the matter the conditions might not have achieved the present position. Any one who has been looking at these developments from a correct perspective will agree that this person is our beloved Sri C.B. Gupta. The State of Uttar Pradesh in general and the Medical and Public Health Services in particular will always have to remain grateful to this person for his interest and role in the medical and public health matters as Health Minister and subsequently as Chief Minister of this State. Can any one deny that it was his personal interest and zeal to break through the procedural barriers and other administrative bottlenecks which have been responsible for this rapid progress in our State, which otherwise may not have taken place or at best might have had a slower pace ?

For a large and major portion of the years since independence it was Sri G. B. Gupta who was at the helm of affairs as Health Minister of our State and even as the Chief Minister his love for this discipline was maintained in his keeping the portfolio with him for some time till the work load and attention needed in other fields as a Chief Minister made him part with this responsibility after a certain while. His interest as a Chief Minister even after that for the Medical and Public Health problems in the State remained as indispensable as before.

The problems of Medical and Public Health that faced Uttar Pradesh immediately after independence in 1947 were numerous. Integration of the Medical and Public Health Wings of the State Services, recommended by the Bhore Committee was under the consideration of Government when Guptaji was the Health Minister. Hesitancy on the part of some and over-enthusiasm on the part of the others, was raising its head as is natural whenever any change is in the offing, and it was due to his personal interest, boldness and courage which resulted in the amalgamation at the top with a common Director of Medical and Health Services, which put the controversy at rest. It was his foresight and broad visioned approach to the problem which led the Government to make this journey of integration a well worked out, step by step, process and not merely the acceptance of all the interpretations of the integration issue that posed in this field. He had realised that this integration will have to be given its natural span of growth before the real purpose of the integration was achieved ; keeping in view the interest of the people of the State.

The need for more doctors in the State to man the various services was seen crystal clear by him and the rapid coming up of the Kanpur Medical College within a very short time is due to his piloting this scheme. His broad vision and courage enabled the State

Government to put up this college within such a short time and this college will always remain a token of his achievement in the direction of Medical Education. Extensive improvements in the Agra Medical College, rapid progress in the various Departments of the Lucknow Medical College with their various specialties will always remain as a symbol of Guptaji's personal love for Medical and Public Health and education facilities connected with the same. Allahabad Medical College started in the year 1961 'owes no less for its birth and rapid progress to this friend of medical people.

The State's role in obtaining control over some of the communicable diseases is a matter to be proud of. One remembers with horror those pre-independence days when cholera used to spread in leaps and bounds from the numerous fairs where people used to congregate for religious festivals. Introduction of compulsory inoculation to meet the situation was a concrete step which the Government could take only under the dynamic personality of a man like Guptaji, who could immediately get convinced of its necessity, and could meet the opposition that emerged in the various quarters in the early years. The result we see today : when it is no more a nightmare for the Government or the Medical and Public Health officers when they prepare for the State's fairs to fulfil the State's responsibilities.

Under his guidance and under the umbrella of his encouragement the State has made rapid progress in the fields of medical care and preventive health activities. The fall in the infantile mortality rate, the rise in the expectancy of life, the increase in the number of hospital beds, and the number of rural dispensaries and Primary Health Centres in the rural area are definite indications of the progress. Improvement in the hospital facilities at the district headquarters had the initiation with Guptaji's blessings and when one goes and looks at the improved services through the improved hospital buildings constructed and equipped at places like Rae Bareli, Deoria, Ferozabad, Ghaziabad, Khurja, Saharanpur, Bara Banki and Bahraich, one cannot but pay homage to this person. Sri Guptaji's love and enthusiasm to bring about progress in these fields is not only confined to his help through Government finances and resources but his role in persuading rich people and parties to donate money towards construction of some of these hospitals is something for which the people of this State must pay their gratitude to him. Can it be denied that but for his personal contact and persuasive influence with these people it may not have been possible for these people to agree to contribute towards this noble cause ?

The State has not remained idle in having these buildings only. Improvement in services through provision of various specialties has been a right move in this direction. In the divisional headquarters hospitals where there are no medical colleges Specialists' Sections have been provided for service to the people. The number of medical officers and other ancillary staff at the district headquarters hospitals was increased to meet their needed demands. Besides increasing the number of officers, Medical and Surgical specialties are being provided in the District Hospitals and it is expected that all the towns will be covered during the present Plan period. Ancillary specialties like Radiology, Anaesthesiology and Pathology are also being provided in each district, and in future years to come all the District Hospitals may be covered with these specialties.

Malaria Eradication Programme during these years has already played its important part and we hardly see cases of malaria, so much so that teachers in the medical colleges now find it difficult to demonstrate a blood slide cantaining malaria parasite to the students. Efforts towards control and final eradication of small-pox have also been initiated in this State, as in the rest of the country, after a Pilot Project in the district of Sultanpur. The programme of eradication of small-pox is on, and with people's cooperation for themselves and their new borns getting vaccinated we can look forward for the success, and this will be another disease which we will be able to claim as having been controlled and later eradicated.

Sri Guptaji's role and enthusiasm for medical relief was not confined to modern medicine only. His experience and assessment of the desire of the people for giving opportunities to other sciences also are evident from the interest he had shown in the starting of Ayurvedic College in Lucknow and the National Homoeopathic Medical College and Hospital in the same city.

One can go on writing about many other achievements in the sphere of medical and public health advancement which owes its existence, progress and sustinence to this person, and some of them may not have seen the light of the day, but for him. One cannot escape from the reality that whenever one thinks of the progress in the medical and public sphere in the State of Uttar Pradesh Sri C.B. Guptaji's personality comes into the mind. It was to him that people ran and are still running whenever any problem connected with these services meets with difficulties and requires solution. His guidance, his love and blessing has become indispensable and will remain so for many years to come, because he was not only the Minister of Health but a person who really loved these responsibilities imposed on him as a Health Minister and that love is still so engrained in him that he cannot but maintain that love and interest throughout his life.

LARGE-SCALE INDUSTRIALISATION IN UTTAR PRADESH

SRI N.N. AGRAWAL
Industrial Adviser to Government of U.P.

It is a happy sign that a climate is now gradually being built up in Uttar Pradesh for the development of medium and large-scale industries. It was unfortunate that during the first two Plans we could not make much headway in this direction because of several factors— more important of which were the lack of any direct Government investments in industrial units, lack of power supply and assistance programmes to support private investment. During the Third Plan some modest beginnings were made and it is anticipated that by the end of this Plan we shall have an investment of about Rs. 120 crores both in the private and public sectors. In order to catch up with the rest of the country it is necessary that the pace of industrialisation in this State is accelerated. Keeping this end in view it is proposed to plan an investment of Rs. 750 crores in the industrial sector during the Fourth Five Year Plan out of which Rs. 650 crores will be on medium and large-scale industries. During the last three Plans the Government of India have located only 4 projects in this State totalling Rs. 97 crores. In order that we are able to accelerate the pace of industrialisation it is necessary that a sizable investment should be forthcoming in this sector and it is, therefore, proposed that at least Rs. 300 crores worth of projects should be established in Fourth Plan in different parts of U.P. by the Government of India.

2. The State Government have hitherto confined their activities to cement and precision instruments. It will be better if the State Government come in for establishing other ventures like light and medium engineering industries for which there is considerable scope and which can help further industrial development of the State. For this purpose, we are already getting techno-economic feasibility reports prepared for about a dozen industries.

3. As far as the private sector is concerned, we are expecting an investment of Rs. 300 crores in this sector as against Rs. 70 crores expected during the Third Five Year Plan. It is no doubt a big job and it may appear extremely difficult. That it will be difficult cannot be disputed. But that it is within the realm of achievement also cannot be denied. During the Third Plan the infra-structure which is needed for industrialisation on a large scale was just not available. We did not have any of the facilities which are necessary for speedy industrialisation. We did not have any industrial areas ; we did not have much power ; we did not have any financial institutions to underwrite the share capital etc. Fortunately, we have now turned the corner. Power is available in plenty. Besides we have a very ambitious programme of power for the Fourth Plan. Industrial areas are also being acquired by the State Industrial Corporation at eight places. Land is ready for allotment in Ghaziabad, Bareilly, Lucknow and Hardwar. Availability of developed land will help the new units to curtail their initial gestation period by at least a year. With the establishment of State Industrial Corporation, the underwriting facility to the entrepreneurs has also been made possible. The Corporation which started with a share capital of a crore of rupees has already underwritten shares worth about Rs. 2·5 crores. It will be necessary to strengthen

this Corporation to play its legitimate role in industrialising the State and for this purpose a sizable capital is proposed to be placed at its disposal during the Fourth Plan.

4. Another point which has to be remembered is that we must develop industries in our State for which this area is suited. Ours is primarily an agricultural economy and there is tremendous scope for agro-industries for this area. In order to develop agricultural income of our State we need more fertilizers, better agricultural implements, irrigation etc. In order to do so, we require industries for the manufacture of fertilizers, tractors and power tillers, irrigation equipments etc. Similarly, our forest wealth is one of the richest in the country which should be exploited to its maximum for industrial purposes. It is with this end that we are proposing the establishment of at least two more fertilizer factories in this State. The Government of India have also decided to enter the field of paper manufacture. We expect a favourable consideration for U.P. in the location of these units.

5. Another pre-requisite for increasing the pace of industrialisation is the pre-investment studies. If techno-economic feasibility of schemes is taken up only when the Plan is approved, it takes a long time for the project to come up. If, on the other hand, pre-investment studies are taken up at an earlier date, a scheme could be taken up as soon as it is included in the plan. With this end in view, we have started this advance action right now so that when the Plan is finally approved there should be no time-lag in its implementation.
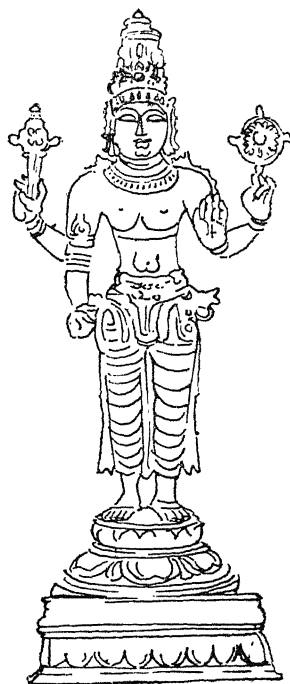
MALARIA ERADICATION IN U.P.

DR. P.K. SAXENA, *M.B.B.S., D.P.H.,*
Deputy Assistant Director, Hqrs.
Malariology Branch

Geographical Position. The State of U.P. is situated between North latitude 23° 52′ and 31° 19′ and East longitude 77° 3′ and 84° 39′ in the Northern part of India. In the north it borders with neighbouring country of Nepal along a distance of about 500 miles and certain districts of the State touch the border of Tibet. In the west and south-west it is bounded by the States of Himachal Pradesh, East Punjab, Delhi and Rajasthan. The southern boundary borders the State of Madhya Pradesh and the eastern borders the State of Bihar.

Natural Divisions. Physiographically the State is divided into three broad regions. (*i*) The Himalayan mountain ranges, (*ii*) Alluvial plain regions of rivers Ganges and Yamuna and (*iii*) the peninsular hills and plateau regions lying in the south of the plains covering the trans-Yamuna tract. The State has been reclassified into 5 natural divisions during the census of 1951. The geographical features of the State also have a considerable bearing on the nature of malaria problem.

(*i*) In districts of the Himalayan Region *i.e.*, districts of Pithoragarh, Uttar Pradesh, Chamoli, Tehri Garhwal, Dehra Dun, Almora, Pauri-Garhwal and Naini Tal, Malaria is chiefly found in the valleys, *viz.* along with streams and nallahs. The disease in the whole region is relatively mild, extending to an altitude of about 5000′. The chief sources of breeding of malaria carrying anopheles, *viz., A. fluviatilis* and *A. minimus* are hilly streams and 'nallahs' with winding tortuous courses having seepages.

(*ii*) **The East Plain Region** includes the districts of Bahraich, Gonda, Basti, Gorakhpur, Deoria, Jaunpur, Azamgarh, Varanasi, Ghazipur and Ballia. Malaria is usually mild in the districts of Jaunpur, Azamgarh, Varanasi, Ghazipur and Ballia while in the remaining districts of the region it is intensively malarious. These districts are densely populated and the cultivation is intense in certain districts. The chief vector in this area is *A. culicifacies* which breeds during and after the rains.

(*iii*) **The Central Plain Region** comprises of the districts of Hardoi, Sitapur, Kanpur, Unnao, Lucknow, Barabanki, Fatehpur, Rae Bareli, Allahabad, Pratapgarh, Sultanpur and Faizabad. Prior to the introduction of Sarda Canal system in 1929, malaria used to be mild and was subject to moderate epidemics during floods but with the introduction of this canal system conditions tending to be similar to those prevailing in certain districts of the west plain region, began to prevail here.

(*iv*) **The West Plain Region** comprises of the districts of Pilibhit, Rampur, Bareilly, Saharanpur, Kheri, Bijnor, Muzaffarnagar, Meerut, Moradabad, Bulandshahr, Budaun, Shahjahanpur, Aligarh, Etah, Mathura, Agra, Mainpuri, Farrukhabad and Etawah. The parts of the districts in the neighbourhood of rivers and streams many of which are in continuation of the Tarai streams or form the marshy head streams of some rivers

like, Gomti are comparatively more intensively malarious. The districts which are served by the western canal system *viz.* Yamuna and Ganga canals are malarious whereas the remaining districts are moderately severe and this largely depends on floods. In the districts served by the canal system marshy tracts and rain water are principal sources of breeding of *A. culicifacies* and *A. fluviatilis*. In the districts affected by floods, the disease is usually mild but is liable to attain epidemic proportions in year of abnormal rainfall or floods.

(*v*) **The Hills and Plateau Region** comprises of the districts of Jhansi, Jalaun, Hamirpur, Banda and Mirzapur. The disease in this region is moderate and patchy in distribution depending on such features as impounded water collections in rocky pool of steams or nallahs while in the district of Mirzapur it is intense and contributed by streams and nallahs which is further intensified by canal system. Conditions in Mirzapur are almost akin to those prevalent in Tarai and Bhabar tracts of Himalayan Region. The chief vector here is *A. culicifacies*.

Climatology. There are three chief seasons—winter, summer and rainy. The winter season starts from November and goes up to February, the summer season lasts from March to June and the rainy season from July to October. On account of the vastness of the State, mountains in the north and distance from the sea, the climate varies in different parts of the State. Rainfall is particularly very heavy on the mountains and foothill areas in the north as compared to the plains. In the plains the eastern districts receive greater rainfall than the western districts. Average annual rainfall of the State in Eastern U.P. and Tarai areas—40″-60″, Central U.P. 30″-40″ and Western U.P. 20″. Winter is more severe in the western parts of the State. Plateau, and hill region in the southern part of State are relatively more dry.

Soil and Irrigation. The Gangetic plain is composed mostly of clayey and sandy soil—the western is more sandy and the eastern more clayey. The Tarai belt below the foothill areas in the north is clayey and markedly productive. The southern plateau areas are made of red soil and laterite and are less productive. The principal means of livelihood in the State is agriculture. Irrigation in one-third area is by means of canal and remaining by means of wells, tube-wells and tanks.

Incidence of the disease. Malaria has been the most dreaded disease in this State since times immemorial. It can be traced from the history that several centuries before Christ malaria had been responsible for the ruin of a number of flourishing Hindu Kingdoms in the foothill regions of the Himalayas in the State. History of the middle ages also provides ample evidence of the ravages of this disease chiefly in the north-eastern and north-western parts of the State. In recent times, however, it has been discovered that malaria is endemic in varying degree in the entire rural areas of the State and big cities and towns have been the targets of epidemics from time to time except those located on the hills 5000′ above sea level.

The reliable data in the form of actual sickness from malaria are not available. However, the malaria morbidity and mortality rates as recorded from 1947 to 1957 before launching of the National Malaria Eradication Programme are given as follows :—

Year	*MALARIA INCIDENCE*	
	Morbidity Percentage to total cases	*Mortality Percentage to total cases*
1947	30·6	10·71
1948	18·4	8·8
1949	16·2	8·6
1950	12·4	9·3
1951	10·3	3·1
1952	8·1	2·2
1953	12·3	1·8
1954	8·8	1·3
1955	8·2	0·94
1956	6·98	1·14
1957	6.78	0·84

The above figures are no doubt exaggerated as the reporting agency of such vital events in the rural areas was and is far from satisfactory with the result that usually all cases with fever as a symptom are grouped under malaria. It has, however, been roughly estimated that about one-third to 1/5th of the mortality recorded under malaria can be ascribed as due to the disease. In accordance with the calculation made by military authorities from the Army records, it has been shown that 20 per cent of the population suffered each year from malaria which would give about 12 million cases of malaria annually. The report of the Royal Commission of Agriculture in India in 1928 has gone as far as to state that one fourth of the population in U.P. got two attacks of malaria each year.

Landmarks in the history of Malaria Control in U.P. The history of malaria organisation in U.P. dates back to the year 1908 when the Malaria Branch was established in the State. Since then it has been functioning continuously except for a short break during the World War I. Originally an Assistant Director of Public Health was incharge of the organisation and was assisted by an Assistant Malaria Officer of the U.P. Public Health Service, four Insect Collectors and Lab. Assistants. A quinine tablet manufacturing factory was also under him. The main functions of the Organisation were undertaking of Malaria surveys in the districts, conducting of enquiries into the prevalence of malaria and to recommend measures for the amelioration of the conditions resulting from the disease. It also supervised and controlled the work in respect of malaria control, inspection of anti-malarial works and to organise measures to safeguard the health of labour concentrations with particular reference to malaria. It also arranged the supply of anti-malarial drugs to the State Hospitals, dispensaries and to some extent to the public.

With the progress of time, the measures for the control of Malaria increased in the State and the first achievement of the organisation was the construction and completion of the headworks of Sarda Canal at Banbass (Naini Tal) during the year 1928 and later on the construction of Khatima Power House in 1947.

After the termination of World War II when DDT was made available for civilian use during the year 1947, the State authorities decided to utilise the insecticide for control of Malaria in certain hyperendemic areas where agricultural waste land was available for the rehabilitation of refugees from Pakistan and ex-army personnel.

1947-48. During the year 1947, two Anti-Malaria Units were established under the Colonisation Department for reclamation of agricultural waste land—one in area of Kichha (Naini Tal) and the other in Ganga Khadar area of Meerut district. The Anti Malaria Unit, Kichha covered 40 villages with a population of 2,565 people, in an area of 40,000 acres. The Anti-Malaria Unit, Ganga Khadar operated in 55 villages with a population of 4,281 over an area of 9,191 acres.

The malariometric indices of the Colonisation Anti-Malaria Unit, Kichha, district Naini Tal and Ganga Khadar Unit, district Meerut were as given below and give an idea of the malariogenic condition prevailing in the area where Control work was started :—

Name of the Unit	*Year*	*Spleen index*	*Parasite index*
Colonisation Anti-Malaria Unit, Kichha distt. Naini Tal.	1947	76%	9·8%
Anti-Malaria Unit, Ganga Khadar, Hastinapur, distt. Meerut.	1947	60%	9·35%

Besides the above, two more Anti-Malaria Units, one at Nagina in district Bijnor and the other at Lalitpur in district Jhansi were also established in the same year under the Public Health Department. The Anti-Malaria Unit, Nagina operated in an area of 30 sq. miles and covered 21 villages in 1947 and later on 6 more villages were added to it. The spleen rate in the area was 40·2 per cent in 1947 before the start of the operations. The Anti-Malaria Unit, Lalitpur operated in 14 villages in 1947 with an area of 30 sq. miles. Later on 16 more villages were included in the scheme and the total area covered 145 sq. miles. The spleen rate was 43·0 per cent in 1946 before the start of the operations.

1948-49. The four Anti-Malaria Units continued to function in their respective areas.

1949-50. The Anti-Malaria Unit at Kashipur in Nainital district was established in June 1949 under the auspices of the Indian Council of Medical Research. The area under operation was about 60 sq. miles which included 49 villages with a population of 3,808. The spleen rate was 63 per cent at the beginning of the operations. This unit also assisted in the colonisation of Kashipur area.

The WHO/UNICEF Malaria Control Demonstration Team was established in the Tarai area of Naini Tal district during the same year. The unit was covering 250 villages with a population of 14,631 people.

1950-51 and 1951-52. The position remained as in last year.

1952-53. During this year the State Government extended the control scheme to 24 selected districts covering 500 or 250 villages, each situated in hyperendemic belts. Because of the policy of using voluntary labour the scheme could not succeed.

National Malaria Control Programme. The Health Survey and Development Committee of the Government of India recommended in 1946 the establishment of anti-malaria organisation all over the country. In 1951 the Planning Commission took up the question again and emphasised that Malaria Control Programme should be carried out on National basis and assigned top priority project. The National Malaria Control Programme was launched in April 1953 with the objective to bring down malaria transmission to a low level at which it would cease to be a major Public Health problem.

A National Malaria Control Programme unit was envisaged to cover a population of about one million with the following staff :—

Anti-Malaria Officer	1	
Senior Malaria Inspectors	4	
Malaria Inspectors	4	
Laboratory Technicians	2	
Clerks	3	
Mechanic	1	
Motor Drivers	5	
Motor Cleaners	4	
Peons	4	
Watchman	1	
Sweeper	1	
Superior Field Workers	4	(for 12 months)
Superior Field Workers	24	(for 5 months)
Field Workers	10	(for 12 months)
Field Workers	110	(for 5 months).

Each National Malaria Control Programme unit was divided into 4 sub-units, each sub-unit under the charge of Senior Malaria Inspector assisted by a Malaria Inspector. Each sub-unit was provided with a truck, one driver, one cleaner, one Superior Field Worker and 2 Field Workers.

The technique employed was to give rounds of indoor residual spraying of all human pwellings and cattle sheds of D.D.T. water wettable powder, in a dosage of 100 mgm/sq. foot in each round. The equipment *viz.*, spray pumps, vehicles and insecticides were supplied by the U.S.T.C.M. through Government of India in following quantities whereas the cost on personnel was borne by the State Government :

Insecticides :

D.D.T.	53·3 short tons.

Spray Equipment :

Power sprayer	1
Hand Compression	36
Stirrup pumps	72

Transport :

Trucks	4
Jeep	1

1953-54. During this year National Malaria Control Programme was launched in this State under which 5 National Malaria Control Programme units as listed below were allotted and established operating in 7 districts each covering about 2,000 villages with a population of about one million.

1. Pilibhit-*cum*-Shahjahanpur
2. Bareilly-*cum*-Rampur
3. Bahraich
4. Mirzapur
5. Kheri.

1954-55. The position remained unchanged.

1955-56. During this year the following 5 more units were established ; thus making a total of 10 units, covering 14 districts and a population of about 10 million.

1. Rudrapur
2. Dehradun-*cum*-Saharanpur
3. Bijnor-*cum*-Garhwal

4. Gonda-*cum*-Basti
5. Gorakhpur-*cum*-Deoria.

1956-57. During this year 10 more National Malaria Control Programme units were established as listed below making a total of 20 units spread over 34 districts and covering a population of about 20 million.

1. Lucknow-*cum*-Barabanki
2. Kanpur-*cum*-Farrukhabad
3. Etawah-*cum*-Mainpuri
4. Hardoi-*cum*-Sitapur
5. Banda-*cum*-Hamirpur
6. Jhansi-*cum*-Jalaun
7. Aligarh-*cum*-Bulandshahr
8. Meerut-*cum*-Muzaffarangar
9. Mathura-*cum*-Agra
10. Rampur-*cum*-Moradabad.

In all the 20 units spraying and pattern of staff, vehicles and insecticides were in accordance with all India pattern.

1957-58. The position remained unchanged.

National Malaria Eradication Programme. On the recommendation of the W.H.O., the Government of India decided to switch over the National Malaria Control Programme to that of the National Malaria Eradication Programme. An agreement between the Government of India and the U.S.T.C.M. was signed on 5th December, 1957. All the States including U.P. decided to accept the Eradication Programme. This change in concept from Malaria Control to Eradication was given effect to in India in April, 1958 and was designed to protect 390 million people living in various parts of the country irrespective of the degree of endemicity.

Malaria Eradication envisages complete stoppage of malaria transmission and reduction of the reservoir of human infection to such a low level in a programme limited in time and carried to such a degree of perfection that when it comes to an end there is no resumption or transmission.

It would be seen from the above that Eradication has few striking features. It entails :—

(*a*) The Programme limited in time ;
(*b*) Execution to be done in perfect manner ;
(*c*) Complete stoppage of transmission ; and
(*d*) Lowering of all the reservoir of human infection.

As such the Programme is divided into 5 Phases.

Preparatory Phase. During which all sprayable surfaces are treated with residual insecticide in a manner so as to be of maximum use for the transmission season, in an adequate dose. This usually takes place during May to July and July to September, but in certain areas where transmission is of longer duration spraying is also undertaken during the months of January and February to prevent spraying transmission. It has to be seen and ensured that coverage with D.D.T. during attack phase is adequate in quantity as well as in quality. The quantitative approach ensures 100 per cent sprayable surface being covered and covered in time. The qualitative approach ensures coverage of all villages, all structures and all sprayable surfaces.

Preconsolidation Phase. Under this phase it is expected that by the judicious activities under the attack phase transmission would have been completely stopped or would be nearing its last lap. In order to find out reservoir of human infection surveillance procedures are to be launched along with the spraying operations. Since it takes some time

for the surveillance operations to come in form we cannot take risk of withdrawing spraying operation and as such both these operations are continued side by side. Surveillance operations are divided into two channels—Active case detection and Passive/Institutional case detection. Under Active case detection procedures a House Visitor goes from door to door at a fixed interval of a fortnight and enquires from the household at the door steps if there have been any fever incidence on the day or during the interval during his present visit and the last and if there have been visitors from outside (to rule out importation of cases). In case he comes across to fever history, he prepares the blood smears and administers presumptive treatment with 4-Amino quinolines. These blood smears are forwarded by him to the unit laboratory for examination and in case any parasite positive cases are detected the same are immediately communicated to the surveillance inspector who in his turn administers radical treatment with 8-Amino quinolines to the patient concerned.

Under the Passive/Institutional case detection, blood slides of all fever cases attending hospitals, dispensaries and other private practitioners (of any system of medicine) are prepared and collected for examination at the unit laboratory in the same manner and for similar action as under Active case detection.

Consolidation Phase. After preconsolidation phase has worked in an area for one or more years Independent Appraisal Teams visit the area and recommend whether the unit concerned is fit for entry into consolidation phase wherein spraying operations are withdrawn and only surveillance procedures are carried out.

Maintenance Phase. After completion of 2 years of consolidation phase in satisfactory manner, where surveillance procedures are carried out adequately, it is presumed that the criteria of Eradication would have been reached and Malaria Eradication would have been achieved.

In Uttar Pradesh, out of 67 units, 19·75 units (one unit=1 million population) after completing attack and consolidation phases become due for entry into maintenance phase with effect from 1.4.1964. Similarly 19·75 units will enter into maintenance phase from 1.4.65. During the 1st year of the fourth Five Year Plan period *i.e.*, from 1.4.66, 16·08 units will enter into maintenance phase and the rest *i.e.*, 11·2 units would continue to function as such (2 border, 2 late attack phase and 7·42 Consolidation Units) *i.e.*, these units being in difficult areas will not enter into the maintenance phase during the Fourth Five Year Plan.

It may, however, be mentioned that the status of Malaria Eradication has to be maintained *ad infinitum* till such time that all the neighbouring States and countries and for that matter the whole globe of ours achieves the status of Malaria Eradication. Price of freedom is eternal vigilance and the slightest slackness of efforts may undo all the efforts put in and success achieved because as is well known diseases know no barriers, political, geographical or ideological and in view of the same re-introduction and re-establishment of disease is not a matter of rarity.
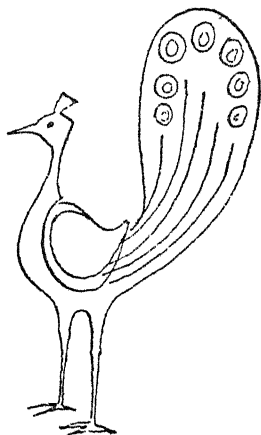
CHOLERA IN UTTAR PRADESH

DR. T. BHADURY, *M.B.B.S.,*
(Luck.) D.P.H., (CAL.) M.P.H., (Yale),
Assistant Director, Epidemiology.

Introduction. Epidemics of Cholera have been occurring in U.P. since time immemorial, and the role played by the pilgrim centres, fairs and festivals in the widespread dissemination of infection is common knowlenge. The pilgrim centres as well as a number of these fairs, particularly the Kumbhs and Ardh Kumbhs of Allahabad and Hardwar drew pilgrims from all parts of the country and thereby provide every facility for the regular importation of infection into the State. In the event of an outbreak of cholera during the course of such a fair, which used to be a regular feature in the past, the infection gets disseminated all over the country through pilgrims returning back to their homes.

Prevalence. Nearly 4 million deaths (3,891,938) from cholera were registered in U.P. during the period 1877 to 1962, the average being 46,418 per year. The following mortality figures indicate the trend of disease in the State.

Decennial Average (Deaths and Death Rates) for the period 1882 to 1961 in U.P.

Sl. No.	*Period*	*Average Annual deaths*	*Average Death rate per 1000 population*	*Percentage to total deaths from all causes*
1	2	3	4	5
1.	1882—91	75283	1·68	5·1
2.	1892—01	69965	1·49	4·4
3.	1902—11	69823	1·47	3·5
4.	1912—21	61480	1·32	3·2
5.	1922—31	30234	0·66	2·6
6.	1932—41	24409	0·49	2·2
7.	1942—51	33117	0·52	3·5
8.	1952—61	7528	0·10	1·1

U. P's share in the total motality from cholera in India comes to roughly 17% or 1/6th, which corresponds to its share of the country's population.

There are two distinct landmarks which have affected the course of Cholera in the State : Firstly, the introduction of the District Health Scheme in 2 districts of the State in the year 1922, and its subsequent extension to the rest of the State. Secondly, the introduction of compulsory inoculation scheme for the 1st time in the 1945 Hardwar Ardh Kumbh, and its subsequent extension to all important fairs and pilgrim routes. The following

mortality figures show the remarkable effect which these measures had on the incidence of the disease in the State.

	Period	*Average annual deaths from cholera*
1.	1897—1921	60264
2.	1922—1946	29924
3.	1947—1961	13653

Present Position. From the mortality data given above, it may be observed that the ravages due to cholera during the last decade have been much less than in the past. The improvement that has been brought about in the cholera position is mainly attributable to the introduction of compulsory inoculation schemes in all major fairs of the State and thes imultaneous increased attention paid towards the sanitation and water supply of the fair areas. Widespread outbreak of the disease, which was the normal result of fairs in the past, is no longer the feature these days. Except for the explosive outbreaks resulting from the Allahabad Ardh Kumbh of 1948, Chait Ram Navami Fair of Ajodhya of 1949, and Panch Koshi Yatra of Varanasi of 1953, there had been no outbreaks of cholera in any other fair area. Incidentally, on all these three occasions, compulsory inoculation was not enforced.

Compulsory inoculation schemes are being enforced in the Kumbh and Ardh Kumbhs of Allahabad and Hardwar, Chait Ram Navami and Sawan Jhoola Fairs of Ajodhya, Syed Salar Fairs of Bahraich, Panch Koshi Yatra (which falls once in 3 years) of Varanasi and the pilgrim routes to Kedarnath and Badrinath.

It would have been ideal if the intending pilgrims are inoculated a week before their entry to the fair areas ; but in actual practice, a large majority of pilgrims are inoculated at the barriers set up at the points of entry to the fair areas. Since the pilgrim takes on an average a week to return to his village home after a visit to the fair, the measure minimises the chances of pilgrim developing an attack of cholera on his return to his home and starting off outbreak in the village.

The extensive use of residual insecticides in keeping the fair areas free from flies, the maintenance of a high standard of sanitation, and the provision of adequate facilities for the supply of safe drinking water and for the detection and isolation of suspected cases, leave little chances for spread of infection in these fair areas.

Geographical Distribution. The distribution of cholera in the various districts is unequal. From a study of the annual death rates from cholera during the recent 12-years' period (1952—1962) it has been observed that the districts of Ghazipur, Sultanpur and Budaun were the worst affected, whereas the Hill districts of Almora, Nainital and Garhwal (including the newly created border districts) are the least affected.

Mean Death rates (per million population) during 1951—62.

Deaths for million population	*Name of Districts*
0-25	(1) Saharanpur (2) Almora, (3) Garhwal (4) Tehri-Garhwal (5) Dehra Dun (6) Muzaffarnagar (7) Mathura (8) Jhansi (9) Fatehpur (10) Gonda (11) Uttar Kashi (12) Chamoli (13) Pithoragarh.
26-50	(1) Agra (2) Etah (3) Jalaun (4) Moradabad (5) Bara Banki.
51-100	(1) Etawah (2) Kanpur (3) Varanasi (4) Ballia (5) Gorakhpur (6) Deora (7) Basti (8) Nainital (9) Lucknow (10) Bahraich (11) Mainpuri (12) Bijnor (13) Rampur (14) Farrukhabad.
101-150	(1) Meerut (2) Shahjahanpur (3) Pilibhit (4) Hamirpur (5) Mirzapur (6) Azamgarh (7) Unnao (8) Rae Bareli (9) Sitapur (10) Kheri (11) Faizabad.

151-250	(1) Bulandshahar (2) Aligarh (3) Allahabad (4) Hardoi (5) Pratapgarh (6) Banda (7) Jaunpur (8) Bareilly.
251+	(1) Ghazipur (2) Sultanpur (3) Budaun.

Periodicity. The yearly mortality figures from cholera since 1948 are given below :—

Year	*No. of registered deaths*
1948	52604
1949	25642
1950	6014
1951	5687
1952	10959
1953	11155
1954	2350
1955	1448
1956	3909
1957	16648
1958	6751
1959	645
1960	12095
1961	9322
1962	988

From the above figures it may be observed that the feature in U.P. is that one or two successive widespread epidemic years are followed by two or three quiescent years to be followed again by an epidemic.

Seasonal Incidence. In U.P. cholera is more or less a disease of the Summer months, as is the case in respect of other Gastro-intestinal diseases. The disease, usually appears in April-May and suddenly increases in May-June. The months of June, July, August and September are usually the worst affected. The disease incidence thereafter declines and the State remains more or less free from the latter half of November. The chances for water borne infection are high in rural areas during the Summer months of May and June when the water level in the drinking water wells is rather low. Flies are most numerous in August, and the rise in incidence during this month is attributable to this factor.

The average monthly mortality from Cholera during the period 1956—1962 is given below :—

Average monthly mortality from cholera in U.P. during the period 1956—1962

Month	*No. of Deaths (average)*
January	17
February	39
March	76
April	180
May	354
June	1093
July	1146
August	2058
September	1195
October	753
November	200
December	83
Total	7194

Control Measures. From the studies made so far, and from the epidemic behaviour observed in recent times, there are little reasons to believe that any truly epidemic areas exist in U.P. It is observed that importation of infection from outside the State has been responsible for first outbreaks during the beginning of the cholera seasons. The likelihood of widespread dissemination of infection is higher in instances when infection is imported into any of the important pilgrim centers of the State. The havoc caused in the year 1957 due to widespread dissemination of infection through pilgrims returning from the one-day Lunar eclipse bathing festival held at Varanasi on May 12 is a typical example.

Control measures adopted in the State are, therefore, directed towards prompt identification of cases and to tackle the infection speedily and efficaciously and seeing that it does not get a foothold. Notification of cases in rural areas by the Panchayat unfortunately continues to remain unsatisfactory. The local health authorities, however, endeavour to obtain information as early as is feasible, from all possible official and non-official sources. In addition, the services of the huge army of malaria surveillance workers who are required in the course of their duties to make frequent house to house visits are being utilised in obtaining prompt information regarding occurrence of cholera cases in rural areas. Control measures in the shape of isolation (and treatment) of patients in Infectious Diseases Hospitals, wherever they are available, disinfection and management of infected homes, sterilisation of water supplies, anti-fly measures and mass anti-cholera inoculations are instituted in all affected areas.

The State Hygiene Institute has a manufacturing capacity of about 50 lakhs c.c. anti-cholera vaccine per year, and this is quite sufficient for the normal needs of the State. The production capacity could be raised to a further 10-20 lakhs if necessary.

Future Programme. The State's armamentarium for combating cholera is, however, not yet complete. No facilities exist for undertaking research into the cholera problem, and facilities for undertaking proper bacteriological examination of Stool samples, exist only at the State Hygiene Institute at Lucknow. The facilities for isolation and treatment of patients are meagre in rural areas and far from adequate in towns.

The following steps are being taken to improve the existing position :

1. The establishment of an epidemiological unit during the year 1964-65 for undertaking continuous study and research on the cholera problem has been sanctioned by Government and is expected to start functioning shortly.

2. Efforts are being made to include the undermentioned scheme in the Fourth Five Year Plan.

(*a*) Establishment of a Public Health Laboratory at each of the district headquarter (54).

(*b*) Establishment of 5 mobile treatment units equipped with a bed strength of 50 each for the isolation and treatment of cholera patients in rural areas.

(*c*) Establishment of a 50 bedded I.D.H. in each district of the State.

(*d*) Increase in the cadre of Epidemic Assistants workers engaged in cholera control work, from 180 to 240 and improvement in the service conditions of these workers.

SMALLPOX ERADICATION—A VITAL HEALTH PROGRAMME UNDER THE THIRD FIVE YEAR PLAN OF UTTAR PRADESH

DR. G.P. CHAKRAVARTI, *M.B.B.S., D.P.H., M.P.H. (Harvard)*
Deputy Director of Medical and Health Services, (N.S.E.P.), U.P.

Smallpox is a major epidemic disease because of the heavy toll of life it takes every year besides causing disfigurement and blindness amongst those who survive after an attack. It has been ravaging the country for centuries with complete disregard for age and sex of the patients, the worst sufferers being the infants and children. According to the W.H.O., India and East Pakistan constitute by far the most important foci of smallpox in the World. Between the year 1958-63, incidence of smallpox in India totalled to 4,08,594 as against the world incidence of 6,22,358, which meant 64·5% of the total incidence. In Uttar Pradesh, it has been estimated that on an average some 20,000 deaths occurred from smallpox every year in the past.

It has been established beyond doubt that smallpox is a preventible disease and can successfully be eliminated by vaccination, which is a harmless process. In 1798 Dr. Edward Jenner, an English County Physician in Berkley, demonstrated to the world that vaccination can prevent this dreadful disease. Many of the advanced countries have since then been able to eradicate this scourge by resorting to mass vaccination. It is now a little more than a century that vaccination in this country was introduced but even then we find smallpox in our midst and epidemics are reported every year. Such a state of affairs was partly due to inadequate coverage of the population by meagre vaccination staff and partly due to strong religious beliefs and prejudices against vaccination.

In view of the above, the problem of smallpox had been occupying the attention of the World Health Organisation for sometime and that body at its Eleventh Assembly in June 1958 passed a resolution which highlighted this problem and recommended to all member Governments the need of expeditious measures to eradicate smallpox. The Government of India taking note of this resolution and the periodicity with which the epidemics of Smallpox were occurring in the country decided to include the National Smallpox Eradication Programme in the Country's Third Five Year Plan. Such a lead by the Government of India was certainly taken at the opportune moment so that mass vaccination campaign could be launched in the country well in advance of the expected cyclic epidemic in 1964-65.

The State-wide Smallpox Eradication scheme in Uttar Pradesh, as a part of the National Progamme, was launched in the year 1962 after a pilot project was conducted in 1960 in one district to gain experience of the methodology of the operation. Since then in 36 districts with a population of 52·52 millions, over 45 millions vaccinations with nearly 5·2 millions primary vaccinations and 39·8 million of Revaccinations have been performed. This gives a coverage of nearly 84% in these districts. In the remaining 18 districts of north-western part of the State with a population of 21·25 millions, this scheme has been introduced from 1964. According to the stipulated plan, the whole State is to be covered under the National Programme by the end of the Third Plan.

Although the progress of programme in Uttar Pradesh, so far as the overall coverage is concerned, has been quite satisfactory there is no room for complacency over such an accomplishment. According to the objectives of 'Eradication' an effective coverage of nearly 100% has to be achieved with particular emphasis on cent-per-cent primary vaccination, as the infant and children are the most vulnerable group. Therefore, lot still remains to be done and all-out efforts are to be made now to cover the left-over population, which is evidently the hard core who escape vaccination every time.

Such a mass scale immunisation has also its due impact on the incidence of smallpox not only in U.P. but also in the country as a whole. As will be seen from the table below, there is a striking reduction in the number of seizures and deaths during the year 1963-64, the expected cyclic epidemic year as compared to that of the last epidemic year during 1957-58, in India and U.P.—

	Years 1957-58 (November-May)		Years 1963-64 (November-May)	
	Seizure	Death	Seizure	Death
INDIA	1,41,920	37,488	26,007	7,124
U.P.	16,002	5,330	5,194	1,668

The above gives a clear indication that the scourge of smallox can be eliminated from this State and the country as a whole by systematic vaccinations and revaccinations with potent vaccine and good technique. But our achievement so far is only limited to control of the incidence of this disease and not its "eradication", which according to the criteria prescribed by the W.H.O. can only be said to have been achieved if no indigenous case of smallpox has occurred for 3 years in succession. This brings out the need of further maintaining the level of immunity attained in the Attack Phase of the programme by taking care of the left-overs and immigrants, 100% vaccination of new borns and periodical revaccination of the general population, particularly the school-going age-group.

From the foregoing, it is evident that the gigantic task of eradication of smallpox from the State and the country will not be complete unless an effective maintenance organisation is established before withdrawal of the eradication staff. Experiences of pilot projects all over the country have amply proved that even after a comprehensive coverage in an area, this programme cannot be left loose in the hands of poorly staffed vaccination organisation employed by local Board, the pattern of which in Uttar Pradesh is @ 1 vaccinator for 60-80,000 or even more. Although the condition may differ from state to state but a National policy in this regard is indicated so that uniform pattern of maintenance organisation could be set up all over the country at the earliest so that all labour and funds invested so far under this National Programme may not prove infructuous.

Lastly, it goes without saying that a programme of this magnitude, where human element is also involved, cannot succeed without willing participation and cooperation of the people from all walks of life. Therefore, smallpox eradication is not to be treated only as a departmental programme but as a National Programme and a People's Programme.

ECONOMIC BACKWARDNESS OF UTTAR PRADESH

Dr. RADHAKAMAL MUKERJEE, *M.A.P.H.D.*
Director J. K. Institute, Lucknow University

Backwardness in Industrialization. India is a continent, and there is a considerable variety of climate and natural resources due to the cumulative effect of which there has been an imbalance in the economic development of the various states and regions. This is the root-cause of provincial jealousy and ill-feeling. Mass unemployment and demand for political power by particular groups with a view to secure economic advantages lead to intra-group bitterness and emotional outbreak. There is no doubt that educated middle class unemployment often fans provincial discriminations, passions and hatreds. The economic and social trends of industrial concentration in a few areas and regions and poverty and under-development in others are not conducive to the harmonius development of a federal state like India.

It ought to be remembered that at one stage of evolution in the United States the different rates of economic development between the North and South—the North being industrialized and prosperous and the South poor and underdeveloped—there was grave risk of disruption of the Confederation. Before independence the National Planning Committee considered the serious problem of the lack of proper balance of development in India and the view held was that the poor and underdeveloped regions should have a more accelerated pace of growth than the more developed States and regions.

Certain broad data are available which we may consider. The following table gives classification of the States according to their degree of industrial development. A, B and C represent high industrialization, middle-scale industrialization and low industrialization respectively. U.P. is a B-class State in respect of modification and industrialization.

States	*Number of Factories*	*Number of Industrial workers (Lakhs)*	*Productive capital Invested (crores)*	*Value added by Manufacture (crores)*
A				
Bombay	1,748	4·9	298	149
West Bengal	1,608	4·6	236	122
B				
Madras	841	1·6	90	36
Uttar Pradesh	598	1·7	94	38
C				
Rajasthan	100	0·2	14	3
Assam	148	0·06	6	1

The imbalance in industrial growth is obvious from the above table.

It will be pertinent to consider whether the disparity of economic development was being reduced or widened during the periods of First and Second Plans. The percentage increases in per capita income of West Bengal were 7·7 and 12·0 during the two Plan periods. The figures for Rajasthan were 21·6 and 18·8 and for Assam 9·5 and 9·8 respectively. It will be wrong to generalise and state that there is an equalising trend but Rajasthan's leap is significant.

Agricultural Depression and Planning. States like U.P., Bihar and Madras can show a faster pace of economic development if there be less overcrowding on the land. On the other hand, Rajasthan can develop quicker if there be controlled migration from the overcrowded regions. There should be set up a board for inter-regional migration that will consider the possibilities of redistribution of surplus labour from congested to sparse regions and States. In order to relieve chronic unemployment and misery, skilled man-power can also migrate under controlled conditions from one region to another. More engineers, technicians, physicians and socis-economic experts can be trained quickly in Kerala and Bengal for facilitating mass education programmes in U.P., Rajasthan, Assam and Orissa. But everything depends upon the level of national emotional integration which is perilously low at present.

Depressed agricultural regions such as the ordered and ravine-stricken lands of U.P. South-West, Delhi South, Rajasthan North-East and Madhya Pradesh North should be brought under a corporation like the DVC for combat against the steady onward march of the desert and erosion control. Similarly the vulnerable eastern regions of U.P. and Westren Tirhoot in Bihar where "little waters" bring devastating floods should be integrated together for unified programmes of flood control, minor irrigation and agro-industrialization under a separate planning authority like the TVA. Similar units for unified economic planning will have to be carved out in Bombay and Madras.

Backwardness in Education and Literacy. A significant equalising trend is represented by the programme of universal education for children between the ages of 6—11 in all States recently introduced under the Third Plan. The present disparity in schooling facilities for children among the various States according to different age groups will be evident from the following table.

States	*Percentage of Population in Schools (1961)*		
	Age-group 6—11	*Age-group 11—14*	*Age-group 14—17*
A			
Maharashtra	73	29	14
Gujarat	72	27	12
West Bengal	66	21	11
B			
Madras	79	30	13
Uttar Pradesh	45	19	12
C			
Rajasthan	42	15	7
Assam	62	27	18

U.P.'s low literacy rate and low rate of development of education are especially, disconcerting.

Literacy Rate

		Males	Females
U.P.	...	27·1	7·0
Gujarat	...	41·1	19·1
Maharashtra	...	42·0	16·8
Kerala	...	55·0	38·9
Madras	...	44·5	18·2
W. Bengal	...	40·1	17·0
All India	...	34·4	12·9

Average (Per capita) Annual Expenditure On Education In Rupees

U.P.	...	5·0
Bombay	...	9·8
Kerala	...	10·3
Madras	...	8·6
W. Bengal	...	9·4
All India	...	7·0

Retarding Factors and Forces. The coastal regions of India, Bengal, Bombay and Madras, took the start and made considerable progress in modernization, education and industrialization before U.P. could make even a beginning. The vestigial remains of the medieval feudal structure and land-holding, the rigidity of caste and class hierarchy, the absence of a sturdy middle class, child marriage, seclusion of women and socio-religious orthodoxy harnessed for lowering the status of womanhood have placed the U.P. at a marked social disadvantage as compared with the modernized parts of India. Some of these retarding factors and forces are to be attributed to the after-effects of alien rule and cultural conquest for several centuries. U.P. is very low in the scale of industrialization. We have already noted that the U.P. has only 600 Factories as compared with Western Bengal and Bombay with about 1700 factories. Urbanization has also made little progress in U.P. The ratio of urban population to total population is only 13 in U.P. as compared with 28 in Maharastra, 27 in Madras and 24 in West Bengal. A considerable section of the population of U.P. belongs to the Scheduled Castes. 24 per cent of the total population of the Scheduled Castes in India as a whole belong to U.P. as compared with 10 per cent in Bihar and West Bengal respectively. The Scheduled Castes of U.P. are at once most backward and most prolific, bringing down the standard of living and the rate of development of the whole State. Social scientists consider infant mortality as the surest index of social progress or backwardness. Infant mortality stands at 97 per mille in U.P. as compared with 86 in West Bengal, but the per capita expenditure on health is Rs. 0·65 and Rs. 2·01 respectively in the two States. In the field of women's education the other States under the leadership of the great pioneers, such as Rammohan Roy, Bethune, Isvarchandra Vidyasagar, Keshabchandra Sen, Ramabai, Annie Besant and Karve, have made considerable advance, disseminating also social reform programmes, such as widow remarriage, abolition of child marriage and co-education. In Madras and Kerala in particular, co-education, particularly at the primary stage, has been a significant factor responsible for a much quicker progress in women's education than in U.P. The backwardness of women's education in rural U.P. is appalling.

Enrolment Percentage of Girls in 6—11 Age-Group

		Rural	*Urban*
U.P.	...	8·4	38·1
Kerala	...	65·0	100·0
Madras	...	30·7	85·6
W. Bengal	...	22·8	100·0
Bombay	...	17·6	100·0
All India	...	17·7	89·4

Equalization of Regional Opportunities of Development. Disparities between the States can be narrowed by the Centre making available much larger financial resources for the under-developed states in education, public health, housing and rural public works—highly productive forms of investment for future economic development. This will be an important step to ensure equality of opportunities among all people in the country within certain allocated periods of time. Such differential measures may also be supported by special facilities for industrial credit, supply of industrial capital and machinery and concession in railway rates.

In the long run equalization can come only from an accelerated industrialization in the underdeveloped states and regions. The development of hydel power, the use of petty motors, the integration of railway and motor transport and the organization of industrial co-operatives make it possible for middle-sized and small industries to multiple fast in Industrial Estates in the underdeveloped regions and States. Certain large-scale consumer industries like textiles, cement and sugar, apart from the agro-industries, can multiply in U.P., Rajasthan, Assam, Orissa and Madras.

Fundamentally, industrialization develops the quality of manpower of backward States and regions and as this happens the country as a whole gains. If India's accelerated industrial growth depends upon the goodwill and generosity of the affluent nations of the world, surely the more prosperous states and regions of India should meet out the same liberal treatment to the less developed states and regions. This is the logic not only of under-developed economy but also of a vast federal State whose colossal exmeriment in social democracy can only succeed on the basis of equalisation of regional opportunities of growth and development.

HUMAN NUTRITION IN RELATION TO PRODUCTION WITH SPECIAL REFERENCE TO U.P.

Dr. K. K. GOVIL, *M.B.B.S., D.P.H., D.T.M. C.N., P.H.S.I.*
Joint Director of Medical & Health Services, U.P.

There are three essentials for the preservation of life (*a*) Food (includingai r and water), (*b*) Clothing and (*c*) Shelter. Of these three, man has provided for his needs of clothing and shelter with a greater degree of success than for his need of food. Throughout human history food has been one of man's most pressing and complicated problems. Health and efficiency depend more upon the food we eat than upon any other single factor. Mere consumption of food does not amount to what is called nutrition, nor its digestion and absorption into the blood. It is only when the different elements of food are properly utilised by the body for its growth and nourishment that the term "Nutrition" is used covering all the processes of ingestion, digestion, absorption and assimilation.

There has been a very rapid advance in the science of Nutrition during recent years. Its development has upset long established beliefs and raised questions of great practical importance on the adequacy and wholesomeness of diets in common use, on existing food habits, on food production and dietary requirements, on the extent of malnutrition and on the direct and indirect effect of nutrition on health, on efficiency and the whole economy of our social organisation. Though our knowledge of food is growing at an amazing rate, we are not yet in a position to give the final answer to what constitutes the best diet. The problem differs to a variable extent with race, climate, age, sex, occupation, habits and individual temperament.

We must have not only sufficient food for living but also proper food for healthful living.

A suitable diet *i.e.*, one capable of supplying proper nourishment should contain in suitable proportion and combination of all the food elements required (*i*) to supply sufficient amount of energy to perform work and to maintain body heat, and (*ii*) to build up the body tissues, to support proper growth and to make up its loss due to wear and tear.

Foods can be divided into :

(1) Energy yielding foods :— Cereals, pulses, sugar, nuts, oilseeds, fat and potatoes etc.

(2) Protective and body buiding foods :— Milk & milk products, eggs, meat and fish, fruits and green leafy vegetables.

An adult man of moderate physical activity should have a balanced diet yielding about 2900 calories to provide in adequate measure all the essential nutrients including both types of foodstuffs.

	oz.		oz.
Cereals	14	Milk	10
Pulses	3	Fruits	3
Root vegetables	3	Fish & meat	3
Other vegetables	3	Green leafy vegetable	4
Sugar & Jaggery	2	Egg (no.)	1
Fats & oils	2		

This daily diet would vary according to age, sex and physical activity. A lacto-vegeatrian may substitute the flesh foods by additional 10 oz. of milk.

The dietary surveys that have been undertaken in Uttar Pradesh, show that the comsumption of protective foods is far below the standard laid down by the Nutrition Advisory Committee, Indian Council of Medical Research and that the diets are largely composed of cereals and are deficient in proteins of animal origin, Calcium, Vitamin 'A' and ascorbic acid. The diets are poor both in quality and quantity.

Growth and nutrition are intimately related and it is the rate of growth in a group of children which calls for special attention since the characteristics of the adult bodily form are largely a matter of race. Vulnerable groups like growing children, of a community are most likely to show the clear cut ill-effects by nutritional inadequacy. In U.P. nutritional surveys conducted amongst boys of 5 to 16 years in various parts of the State have shown that 40·5% had poor physique and 59·3% of the boys examined were found affected with one or more deficiency conditions. The absence of the deficiency signs in many boys did not mean that their nutritional state was satisfactory. Lack of interest in studies, mental depression, want of cheerfulness and apathy were some of the signs of under-nutrition noticed. Every individual should be enabled to reach the optimum standard of vigorous health which a person is capable of attaining within the limits set by heredity through the supply of food adequate in quality and quantity according to his physiological needs.

Foods fall into two main divisions, those of vegetable origin and those derived from the animal kingdom. All foods come directly or indirectly from the soil. The types of food vary from place to place depending on the soil and climatic condition. Food habits and traditions have been built in different areas on the nature and availability of foods that proved to be of value in keeping people alive and well.

The fundamental factor which determines the relative production of foodstuffs is the "food energy per unit of land" relationship. To produce 1000 calories in the form of milk, meat and most vegetables require more land than to produce 1000 calories in the form of sugar, wheat or rice. Stiebling, Ward and Baker in the U.S.A. drew four types of diet in relation to the amount of land per capita required in U.S.A. to produce that diet.

		Acres
(*i*)	An emergency restricted diet consisting largely of cereals to tide very poor destitute people over a comparatively short period of privation.	1·2
(*ii*)	An adequate diet at minimum cost.	1·8
(*iii*)	An adequate diet at moderate cost.	2·3
(*iv*)	A liberal diet.	3·1

Diets nos. (*ii*), (*iii*) and (*iv*) are similar in energy value but vary in proportion of protective foods.

If we compare these figures of American estimates of the amount of land per capita required to produce diets of various types, with those of India and the same holds good for Uttar Pradesh, it provides a per capita acreage of about 0·72 acre of area actually sown. The low per capita acreage under food crops in India shows that the diet of the masses is poor and

this conclusion is in conformity with our knowledge of the actual state of affairs as found out by dietary and nutritional surveys in U.P.

Our agriculture is also in a backward state and since the state of nutrition is also far below the normal, the much quoted phrase of "marrying agriculture and health" coined by the Rt. Hon. S.M. Bruce, at the Assembly of the League of Nations in 1935, has a special significance for India. It means that agricultural policy, research, and administration must be based primarily upon the dietary requirements of the people and that the State must take adequate measures not only to increase food production but also to control its proper distribution.

It is thus clear that the available per capita land under cultivation is not adequate which results in unbalanced dietaries and mal-nutrition and under-nutrition. But it should be noted that Japan, in spite of the lowest per capita crop area 0·36 acre, has tackled her problem of nutrition with vigour and apparent success, by increasing production through :—

(1) reclamation of dry or water-logged areas ;
(2) arrest of the process of soil impoverishment through manures ;
(3) introduction of high yielding and pest resisting varieties of seeds ;
(4) better control of pests and diseases of crops ; and
(5) development of Animal Husbandry.

The development of Animal Husbandry is of great improvement in nutrition as many of the protective foods are derived from the animal kingdom. These include milk, eggs, various forms of meat, liver, poultry and fish.

As Sir John Orr observes "Of animal products, the most important for health is Milk.

Fortunately milk of cow is the most economical transformer of feeding stuffs. From a given amount of feeding stuffs, it produces about four times as much food in the form of milk as the bullock does in the form of beef".

Uttar Pradesh is inhabited by people of different habits and customs and naturally shows a divergence in the food we eat. The majority of the people live on vegetarian diet. Meat is not regularly taken even by non-vegetarians. The Nutrition Advisory Committee, Indian Council of Medical Research, in 1944. assumed that 30% of the population in India was vegetarian. This estimate may be correct for U.P. also if it means that 70% of the population has no objection to taking meat including fish, eggs in one form or the other.

Poverty and scarcity of protective foods are not the only causes of qualitative and quantitative defects in the diets. Green leafy vegetables are cheaper than the other varieties and supply carotene, Vit. 'C' and minerals. Their adequate intake alone would remove several defects of the dietaries. Their low intake therefore leads one to believe that ignorance of healthy food habits is also responsible to a certain extent for the consumption of unbalanced diets. Supply of proteins of animal origin is a difficult problem. Religious objections and traditional dietary habits stand in the way. Milk production greatly falls short of requirements and people do not change their food habits easily. Intake of foods of vegetable origin with high biological value appears to be the only solution for the time being.

A diet consisting of rice or wheat alone as cereal would not be so nutritious and health promoting as a diet consisting of rice and wheat supplemented by other coarse grains. All pulses are rich in proteins which amount to 20 to 30%. They are, therefore, called poor man's meat. Vegetable proteins from pulses are easily available at cheap cost. Gram is a pulse and is favoured by most of us. It can be mixed with wheat flour for advantage.

As our dietaries are deficient mostly in Protective foods, we should eat what we like after we have eaten what we should. Every adult should have per day—

Milk	10 oz.
Green leafy vegetables	4 oz.
Other vegetables	6 oz.

Fruits	3 oz.
Meat & fish	3 oz.
Egg (no.)	one

The cost of a well balanced diet is more than that of an ill-balanced one but the following advice will not add materially to its cost and the diet would be improved. The correct way to spend the kitchen money is to divide it with five equal parts to provide for—

(1) Rice, wheat and other grains ;
(2) Pulses including gram ;
(3) Fat, sugar and spices ;
(4) Milk, fish, eggs and meat ;
(5) Leafy and non-leafy vegetables and fruits

each meal should contain at least one item from each of the above five groups.

The introduction of a new source of food crop of high nutritive value may have far reaching consequences in social economy as was the case with the introduction of potatoes in the latter part of the 16th century in England. Soya bean, food yeast, tapioca and sweet potato may be mentioned here. Soya bean has become popular in China and Japan due to its high nutritive value. Even vegetable milk is produced from Soya bean to make up the inadequate production of milk.

Food and Nutrition has become the burning problem for us. In these days of food scarcity and mal-nutrition, the whole population should be nutrition-conscious to make the best possible use of foods available or procurable.

SOCIAL SECURITY IN U.P.

Dr. SAIYID ZAFAR HASAN,
M.A., LLB., Dip. S.S. (Lucknow), M.S.D., D.S.W. (Columbia)
Professor and Head of the Department of Sociology
and Social Work, Lucknow University

I. The Concept and Forms of Social Security

Social Security, which is based on the assumption of the responsibility by the state to guarantee a minimum standard of living to all its members, forms the very basis of a modern democratic state. All the developed nations of the world, irrespective of their idoalogical differences, have accepted the ideal of a comprehensive and universal system of social security The United States, the United Kingdom, and the U.S.S.R., all possess highly developed social security systems. Growth of social security systems is in fact one of the most significant social developments of the Post-World War era. The progress of a nation may now be measured in terms of the social security programmes that it has been able to develop. The Post-World War period has seen significant developments in social security in India as well. The State of Uttar Pradesh has played a significant and pioneering role in this field. This paper will highlight this role.

Social security seeks to provide income, services and other benefits to those individuals and families whose incomes have been temporarily or permanently discontinued or reduced or who are in special need of certain services and facilities due to their being victims of contingencies beyond their control including old age, sickness, disability, maternity, unemployment, or death of the breadwinner. The overall objective is to provide a minimum standard of living to all the people, including the provision of services and facilities like medical care and education to those who are indeed of these and are unable to pay their cost. Social security schemes, however, represent only one of the groups of measures which the State has to take to achieve the general objective of providing a minimum standard of living to its people through maintaining a continuous flow of adequate incomes to all its families. The other three steps are : (*i*) the maintenance and promotion of full employment through proper social and economic policies ; (*ii*) the provision of adequate income in return for the work done through minimum wage legislation and other necessary measures ; and (*iii*) the encouragement of private savings through tax concessions and other incentives[1].

Social security measures, thus, come last to fill in the gap left by the failure of the family to support itself and to satisfy its minimum requirements. This may be due to defects in the social and economic system of a country, or due to certain contingencies to which individuals are exposed and which have not so far been abolished or completely controlled. The term social security implies the assumption of direct responsibility by the society, ordinarily through the medium of the State, for the fulfilment of the basic needs of its people in the event of the inability of the family unit to do so.

[1]E.M. Burns, *Social Security and Public Policy* (*New York*) McGraw Hill Book Company Inc., N 1956, pp. 1-4.

Social security may be provided in three different forms, namely, social insurance, social or public assistance, and public service. Social insurance covers those contingencies or risks whose incidence can be estimated. Benefits are provided as a matter of right on the basis of assumed average need according to a pre-determined scale which is usually related to the contributions made by the insured. Contributions may also be made by the employers and the State. Public assistance is used to designate programmes in which benefits are given on the basis of actual demonstrated need without previous contributions. The existence of need is the main criterion and generally benefits are provided on the basis ofin dividually determined need. The term public service includes benefits in cash as well as the provision of services to certain groups of people who are assumed to need these, for example, medical care, casework services, children's allowances, no previous contributions are required.

Benefits may be provided under all three forms either in cash or in the form of goods and services. Assumed average need is the basis both in social insurance and public services. The main difference between these two is that contributions have to be paid in case of social insurance, while there is no such condition in case of public service. However, rapid changes are taking place in the methods of providing social security and programmes are now being developed which do not belong to any of the three forms in an exclusive manner[1].

II. Social Security Programme in U.P.

Social security programmes operating in U.P. may be classified into two groups, namely, those which have been introduced by the Union Government and those which have been introduced by the State Government. The first category includes the Workmen's Compensation Act, 1923, the Employees State Insurance Act, 1948, the Employees Provident Fund Act, 1952, the Industrial Disputes Act (Retrenchment and Lay-off Compensation) Amendment Act, 1953, and the Maternity Benefits Act, 1961. The programmes introduced by the State Government are the Old Age Pension Scheme, 1957 and the Triple Benefit Scheme for the Teachers and Other Employees of the Government and Government-Aided Educational Institutions, 1964. In addition to the above both the Central and the State Government provide a number of social security benefits to their own employees. These are not included in the present discussion as here the respective Governments are acting primarily as employers.

The main features of the programmes sponsored by the Central Government are as follows :

(1) All the programmes have been introduced through legislation and extend over the whole country including the State of Uttar Pradesh.

(2) The Central Government has no financial responsibility in any of the programmes. In the Workmen's Compensation, the Retrenchment and Lay-off Compensation, and the Maternity Benefits Schemes the financial responsibility has been placed solely on the employers. The Employees State Insurance, and the Employees Provident Schemes are financed through contributions by the employers and the workers. The cost of medical facilities and services for the families of the workers under the Employees State Insurance Scheme is paid by the State Governments concerned.

(3) Taken together these programmes cover the risks of old age, death, sickness, disability, maternity and unemployment.

(4) These programmes are either insurance or compensation programmes but there is no public assistance programme.

(5) All the programmes cover only the workers of the organised sector, primarily the industrial workers. Other important groups of workers and non-workers have been left out.

---

[1]United Nations, *International Survey of Programmes of Social Development.* (New York : 1955). p. 113.

The State of Uttar Pradesh has provided leadership to the country in the field of social security by being the first state in the country to have introduced the Old Age Pension Scheme in 1957, and by being one of the first to have introduced the Triple Benefit Scheme for Teachers in 1964.

III. The Old Age Pension Scheme

The introduction of the Old Age Pension Scheme in 1957 is significant in several respects. It was the first public assistance programme in India in which the Government accepted the responsibility of providing assistance to persons in need without any contributions having been paid by them or their employers. After a lapse of two years this scheme was introduced in quick succession by several States—Kerala, 1960, Andhra Pradesh, 1961, Madras, 1962, West Bengal, 1962, Punjab, 1964, Mysore, 1964, Rajasthan, 1964, Delhi, 1964. Some States extended the scheme to cover the physically handicapped and the disabled. Kerala introduced Widows Pension Scheme in 1963. The Central Government also announced in 1963 the introduction of a Scheme of Assistance to the Destitute Aged, Physically Handicapped and Dependent Women and Children[1]. Three years have elapsed since the first announcement and the scheme has not materialised. The establishment of the Department of Social Security by the late Prime Minister Lal Bahadur Shastri was expected to have speeded up the pace of the introduction of the above scheme. The Department has been redesignated as Department of Social Welfare, and placed under the charge of the Minister for Planning. Let us hope that this will help the development of the social security programme in the country.

An outline of the U.P. Old Age Pension Scheme, along with those of the other States, may be given here in terms of the conditions of eligibility, standard and forms of assistance, financing of the programmes and structure and character of administration[2].

The first condition of eligibility is age. Originally U.P. prescribed 70 years as the minimum age, which was followed by Kerala, Andhra, West Bengal and Mysore. U.P. later reduced it to 65 years, and further reduced it to 60 years for those who are incapacitated to earn a living due to blindness, leprosy, insanity, paralysis, or loss of limb. U.P. has followed Madras by reducing the age to 60 years for a widow, and for a person who is crippled or suffering from such physical disability as renders him totally incapable to earn a living. Some other States have also followed this lead given by Madras.

The second condition of eligibility in the U.P. Scheme as originally introduced was that the aged person should be a destitute, that is, "without any source of income". This provision was incorporated in all other schemes. The U.P. Scheme has been modified so as to disregard an income of Rs. 10/- per month. Kerala has made a similar amendment, but most of the other States still retain the original U.P. provision.

The third condition of eligibility is the non-existence of the relatives of the defined categories. The original U.P. Scheme gave a long list of relatives the existence of any one of whom disqualified a person from receiving the pension. This defeated the very purpose of the programme. The list of relatives has been curtailed several times, and at present it includes son, son's son, real brother and husband/wife. Even the existence of these relatives would not be a bar to the receipt of pension under certain specified circumstances, for example, if they themselves are destitutes. The provision regarding the relatives is found in all other States' Schemes, with some variations.

---

[1]S. Z. Hasan—Public Assistance, Encyclopaedia of Social Work in India, Central Social Welfare Board, Government of India, New Delhi (Forthcoming edition).

[2]Details regarding the Old Age Pension Schemes of different States have been obtained directly from the Governments concerned.

The fourth condition of eligibility relates to [domicile and residence. In U.P. only those persons are eligible 'who are demiciled and have resided in Uttar Pradesh for more than a year on the date of the application'. All other states have similar provisions.

The U.P. Scheme and all other Schemes, except Madras, provide that persons maintained in institutions free of cost shall not be eligible for pension. In Madras pension is payable to the institution concerned. Professional beggars and mendicants are not eligible to receive pension in any state.

The U.P. Scheme provides that 'future good conduct is an implied condition of grant of pension'. Similar so-called 'moral requirements' have been incorporated in the schemes of other States as well.

Data regarding the number of old age pension recipients in all the states are not available. The number in U.P. was 9036 on March 31, 1963. It is estimated to have gone up to 10,000 or more.

The pension is payable in cash and the amount varies from State to State. In U.P. originally it was Rs. 15/- p.m., which was later raised to Rs. 20/- p.m. In Kerala and Mysore it is Rs. 15/- p.m. In Andhra there are three rates namely, Rs. 25/-, Rs. 20/-, and Rs. 15/- p.m. for the cities Hyderabad and Secunderabad, town of population of one lakh and above. and for small towns and villages respectively. In Madras and Rajasthan it is Rs. 20/- p.m. In West Bengal Rs. 15/- p.m. is paid in urban areas and Rs. 12/- p.m. in rural areas. In Delhi the pension is Rs. 25/- p.m.

All the Old Age Pension Schemes are financed exclusively by the State Governments concerned. In U.P. the annual budget allocation has ranged between Rs. 15 to 23 lakhs. Madras reported the largest allocation, namely Rs. 140 lakhs in the year 1963-64. The time seems to be ripe for the Central Government to share the financial responsibility. It should do so through legislation providing for the payment of grants to the States for the purpose. The American example can be of great benefit to us in this respect[1].

In U.P. the Labour Commissioner is the overall incharge of the programme and its drawing and disbursing officer. The applicants submit their applications on the prescribed form to the Tahsildar, who is responsible for verifying all the facts determining their eligibility through the Lkhpals. The Tahsildar forwards their applications to the District Magistrate who takes the final decision regarding the award of the pension and communicates his decision to the Labour Commissioner. The use of the revenue staff for determination of the eligibility of the applicants has been a subject of controversy. It is alleged that this leads to delay and even corrupt practices have crept into. There is need for improvement. In Kerala the revenue staff is utilised, but the Tahsildars are instructed to make personal enquiries. An applicant whose application has been rejected has the right of appeal to the Board of Revenue. In Andhra too the applicants have a right of appeal against the decision of the District Collector. The appeal lies with the Finance Secretary. In Rajasthan the decision on an application is taken by Treasury Officer/Sub-Treasury Officer, and an appeal against his decision lies with the Government in the Department of Social Welfare.

Some changes in the administration of the U.P. Scheme are considered desirable in the interest of the speedy disposal of applications and the payment of pension to all those eligible to receive it. The Scheme should be placed under the Department of Social Welfare, with the Director of Social Welfare as the person incharge. In the urban areas the verification of eligibility should be entrusted to the District Social Welfare Officers, who may perform the job with the assistance of Welfare Inspectors. In the rural areas the verification of eligibility may be entrusted to the village level workers. Even if the present arrangement is continued,

[1]S Z. Hasan—Federal Grants and Public Assistance (A Study of Policies and Programmes in U.S.A. and India) Kitab Mahal. 1963.

the panchayats may be actively associated with the work. The applicants should, in any case be granted the right of appeal in event of the rejection of their applications.

IV. The Triple Benefit Scheme for Teachers

U.P., Madras, and Delhi were the first to announce the introduction of the triple benefit scheme in the year 1964. A brief outline of the U.P. Scheme will be given here[1].

The triple benefit scheme includes the benefits of provident fund, life insurance and pension. It covers the teachers and other employees of the government and government-aided educational institutions from the primary to the degree stages. The estimated number of persons covered comes to 2,01,085 including 1,48,300 primary and junior high school employees, and 4,912 degree college employees.

The employees' contribution to the provident fund has been fixed at $6\frac{1}{4}\%$ of their salaries. The employers have also to give an equal contribution. All employees will be compulsorily required to take life insurance policies as laid down under the rules. They will be allowed the facility of paying the insurance premia from out of their provident fund contributions.

An employee will be eligible to receive a pension after at least ten years of qualifying service. The pension shall be calculated as the total of 1/120 of the average of the salary drawn during the last three years for every year of completed service. The maximum shall not exceed 30/120 of the average of the salary of the last three years before retirement or the maximum to be fixed by the Government, whichever may be less.

Family pension is payable to survivors of the employee after at least twenty years of qualifying service. This will be paid to the family of the deceased employee for a maximum period of ten years or for five years after the due date of retirement, whichever period is less. In case of the death of an employee after at least three years of service a gratuity equivalent to six months of pay is payable to the survivors.

It was estimated that the scheme would cost Rs. 18,72,000 in the first year of its introduction. The cost would rise to Rs. 48,44,000 in about five years.

The scheme is a significant landmark in the history of the development of social security in India. U.P. has provided the lead, which is expected to be followed by other states. It appears necessary that the scheme should be implemented fully without further delay. It may also have to be liberalised and extended to cover the University teachers and employees as well.

In conclusion it may be re-stated with pride and satisfaction that during the post-Independence period, the state of Uttar Pradesh has played a significant role in the field of social welfare and social security. It was one of the first few states in the country to have set up a Department and a Directorate of Social Welfare. It gave a lead to the country in public assistance by introducing the first Old Age Pension Scheme. It is again showing the way by introducing the Triple Benefit Scheme for Teachers. A note of caution may be sounded here. U.P. has taken the lead, but has not in all cases been able to maintain it. Unceasing sincere effort is necessary for the efficient implementation of social security programmes, and for their further growth and development leading to the attainment of the ideal of a comprehensive and universal social security system. This is possible only through a liberal and enlightened leadership, with a high degree of social consciousness and devotion to social good, which the State of Uttar Pradesh is fortunate to have in the person of Shri C.B. Gupta.

---

[1]Statement of the Education Minister, before the U.P. Legislative Assembly on September 11, 1964.

GOITRE IN UTTAR PRADESH

Dr. B.M. GUPTA, *M.B.B.S., D.P.H. D.T.M.,*
Assistant Director. Provincial Hygiene Institute, U.P. Lucknow and
D.P. Bhatnagar Dietition P.H.I., U.P., Lucknow

The problem of endemic goitre has received the attention of scientific workers and the Government since early part of this century in this State.

Information on the incidence of this disease is based on piecemeal surveys, done by different workers since 1930 and after 1948 by the Nutrition Division and health workers of the State. There are two well defined belts of goitre in the State *e.g.,* (1) the southern slopes of Himalayas covering a distance of few hundred miles and forming northern hilly borders of the State comprising of the districts of Dehradun, Uttar Kashi, Chamoli, Pithoragarh, Pauri Garhwal, Almora, and Nainital and (2) the Sub-Himalayan region consisting of districts of Kheri, Bahraich, Gonda, Basti, Gorakhpur and Deoria. Cases have also been reported now from Saharanpur, Bareilly, Budaun, Bijnor and Azamgarh districts as well.

The Government of India under National Goitre Control Scheme deputed a team to systematically survey the endemic areas of the State in the year 1960. The team carried out surveys in part of Dehradun and Bijnor districts, when it was withdrawn. It has again started work from February 1964 in Nainital district and may afterwards move on to Dehradun to complete the survey of the remaining part of that district.

The following table gives information on the endemicity of the disease in the State.

Incidence of Endemic Goitre in U.P.

	Name of district	*Year of survery*	*Incidence %*	
1.	Almora, Nainital and Garhwal	1930	40	
2.	Bahraich, Gonda and Basti Gorakhpur	1930 1934	3-70	
3.	Dehradun, Jaunsar Bawer Area, Chakrata Tahsil	1945	32	
4.	Chakrata Tahsil	1952	*20·9	*After scheme of iodised
5.	Chakrata Tahsil	1954	*10·5	salt distribution.
6.	Budaun, Bisauli Tahsil	1956	5·5	General population.
			3·1	School children
7.	Deoria	1958	34·0	General population
			33·7	School children.
8.	Bijnor Northern part.	1960	75 %	
	Remaining part of the district.	1960	30 %	

9.	Saharanpur (Raipur)	1960	178	Cases (in villages bordering Ambala).
10.	Almora district	1961	4500	Cases in different areas of the district.
11.	Bareilly district Hadaulia and Tumaria villages	1962	20 %	
12.	Chamoli district	1962	6 %	School children.
13.	Nainital district Tarai Bhabar Area	1962	5 %	
	Hilly areas		10 %	
14.	Dehradun district Kalsi area villages Choharpur, Dushao, Panjia	1962	16·6—55	
15.	Lakhimpur Kheri Tahsil Nighasan few villages		20 %	

Judged from these figures and those of annual hospital and dispensary returns of cases treated for goitre in the State since 1947 it is believed that the disease has spread over a wider area in addition to increase in numbers. This increase may be attributed to lowered power of resistance and widespread malnutrition, due to lack of adequate food of the right quality, high prices, population growth, recognition of more cases at treatment centres and mass consciousness about the disease.

Etiology. Even though environmental and other factors may precipitate the disease on the marginal or low intake of iodine through food and water, it has been demonstrated as a result of feeding minute (traces) 1131 radioactive Iodine in the form of iodide in Punjab (India) and other parts of the world that the thyroid gland of goitre cases show great avidity in absorption of iodine and it has been found that within 6 hours of the administration, the iodide concentration in thyroid registers a steep rise indicating a state of iodine starvation.

Factors which have been found to precipitate the disease on marginal intakes are hardness of drinking water, organic and faecal contamination of water supply, infections, increased requirements of females for iodine during puberty and pregnancy, consumption of goitrogenic substances like cabbage turnips, mustard, rape seeds, Kale and soyabean, excess of fluorine (not a problem in U.P.). Imbalanced diet and to some extent the influence of increased psychological stress in average life.

Prevention. The progress report of the pilot surveys before and after the administration of iodised salt to the endemic areas in Punjab and similar scheme on a smaller scale in Jaunsar Bawer area of Dehradun district started in the State in 1948-49 and continued up to 1956, have demonstrated the effectiveness of use of iodised salt as a practical public health measure in controlling the disease on a large scale. It has to be ensured that all other supplies of salt are stopped and the only salt available in these regions is iodised salt. As a long-term measure, in our Welfare State it would be necessary to extensively educate the masses regarding the advantages of the use of this salt in place of common salt at the same time. Administration of 0·2g. of potassium iodide continuously for a period of 10 days, twice a year has been recommended to the children between ages of 5 to 12 years as a routine prophylactic measure.

The programme of distribution of iodised salt was also taken by a Cooperative Society in the district of Bijnor under the District Medical Officer of Health but the scheme was not very successful for lack of consistent demand from the local public.

Now iodised salt has been made available at the same price as the ordinary salt from Sambhar Lake in Rajasthan to the following districts (Table II) in the State in the quantity

shown against each and a Salt Officer of the U.P. Government has been appointed at Sambhar Lake (Rajasthan) to look after the administrative arrangements. The U.P. Government in their G.O. No. 3763-XXIXB-74(S)/63, dated January 8, 1964 from Secretary to Government of U.P. Food and Civil Supplies (*B*) Department to the District Magistrate (District Supply Officer) releasing the iodised salt supplies have decided to feed the areas affected by goitre exclusively with iodised salt and asked the District Magistrates to see that the salt of any variety other than iodised salt is not allowed to move into their district by rail, road, air or any other mode of transport.

A major portion of the endemic area is thus being supplied with iodised sait. Other districts affected are scheduled to be taken up as soon as increased supplies are made available to the State from Sambhar Lake.

Table II

	District	*No. of wagons per month*		*Quantity in M. Tonnes per month*	
1.	Tehri Garhwal.	16	(M.G. Wagons)	250	(M. Tonnes).
2.	Garhwal	23	,,	268	,,
3.	Dehradun	21	,,	330	,,
4.	Bijnor	41	,,	660	,,
5.	Chamoli	14	,,	224	,,
6.	Uttar Kashi	12	,,	192	,,
7.	Pithoragarh	13	,,	208	,,
8.	Almora	26	,,	416	,,
9.	Nainital	28	,,	448	,,
				3102	M. Tonnes per month.

i.e. 37,234 M. tonnes per year.
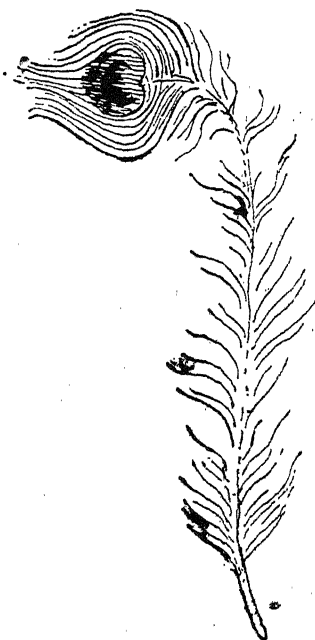
SENTINELS OF DEMOCRACY—CIVIL SERVICE

Dr. D.P. SINGH

Reader, Department of Public Administration, Lucknow University

There has not been much change in the formal meaning of word 'democracy' since the ancient Greek times. According to Herodotus, in the fifth century B.C., democracy meant the "multitudes' rule", or a society in which there was 'equality of right' and the holders of power were accountable for what they did therein.

Lord Bryce trying to make the term more concrete, defined democracy as 'a government in which the will of the majority of qualified citizens rules, taking qualified citizens to constitute, say, roughly, atleast three-fourths, so that the physical force of the citizens coincides with their voting power'.

We do not have, to-day, the system of direct democracy as in ancient times. Democracy works at present through representative institutions. Therefore, recent discussions on the machinery of democracy have been concerned generally with the devices of ascertaining community opinions about matters of public importance. Here we have discussions of the inter-relations between legislative, executive and judicial branches of the Government.

Democracy, really to be effective, must work through various political organs and the role of the executive as the residuary legatee in government after other claimants like, parliament and the Law Courts have taken their share is conspicuous.

It is usual to distinguish three aspects of the executive. These are the nominal or ornamental executive, the political executive and the permanent executive or the civil service.

The logical outcome of welfare concept of modern democratic government is its positive and wholesale activity. The actual and immediate application of political power varying from person to the whole population must be carried on by the civil service. The State reaches everywhere today ; it hardly leaves a gap. So everywhere must be the civil servant also.

Civil service becomes a necessary adjunct to democracies as industrialization demands the inclusion of all the best skilled elements to do the required work, regardless of their social position, religious beliefs, political party etc. Democracies, though based upon equality of men, clearly realise the social advantage of the division of labour for obtaining high standard of living.

The democratic demand of 'career open to the talents' desire for freedom of opportunity, and hatred of the official privileges of aristocracy have helped the rise of the modern civil service.

Civil service organizations have usually come into power on the basis of a levelling of economic and social differences, thus safeguarding democratic structure. As democratic self-government of homogeneous units is no more possible, civil service inevitably accompanies modern mass democracy.

The tasks performed by the modern states are quite intricate. There is need for regular and punctual attention. A high degree of scientific and technical knowledge is required for various measures of state activity. Therefore, it is impossible to leave the actual operation of the services on the other organs of a democratic government, such as, the people, the legislature, the political parties.

The things that democratic government does today cannot be accomplished by the enactment of laws alone. Men and women have to be employed in great numbers to put the policies of the government into effect.

Periodical elections, and frequent shifts in the fortunes of political parties make it necessary to have a permanent civil service to run the machinery of government on a stable basis.

In examining the role of civil service in a Democracy the following points deserve consideration[1].

(*i*) The civil service must be judged by the way it uses its power, and not by its size and cost ;

(*ii*) In order to keep the civil service in its proper place, those who possess governmental authority should exercise their power within limits that are acceptable to the nation as a whole ;

(*iii*) The powers which a modern civil service possesses can be turned towards ends that are not acceptable to the people as a whole. So proper direction and control over administration are essential ; and

(*iv*) To keep the civil service as protector of democracy we must chiefly rely on elective officials, such as ministers and politicians, to carry out the task of direction and control.

If we exercise such a vigilance many of the defects of a civil service system, such as, an excessive sense of self importance on the part of officials, an indifference towards the feelings or convenience of individual citizens, and an obsession with precedents and regulations etc., would be avoided.

An arrogant disposition on the part of the civil service removes its utility as an instrument of democracy. So it must have wide contacts with the people through consultation, inquiries and procedures which enable it to be aware of the state of mind of the governed.

The administration must be controlled not only by an official hierarchy but also by public opinion and public liberties such, as the freedom of the press, the right of associations, and the right of demonstration. The people and their representatives must be free to discuss and to criticise the administration.

The administrative power must be subordinate and submissive. Administrative power should be subject to political control but there should not be any direct interference by political parties. A political party in power should not try to monopolise all the jobs or to exercise pressures on responsible civil servants.

In parliamentary democracies, three principal partners—Ministers, members of legislature and the civil servants,—carry the onerous responsibility of working for mass welfare. For stable functioning of such administration it is essential that proper sphere of activity is clearly understood by each of the parties concerned.

In theory, Ministers decide policy, and civil servents carry out their decisions. Constitutionally it is true ; but in reality it is only a conventional half-truth. There are not many ministers who have knowledge and skill to formulate policy unaided. And most

---

1. Charles Hyneman in "Bureaucracy in a Democracy", Harper and Bros., 1950, develops these points. Similar points were developed by Monsieur Pujet in France.

of them are pressed with time. Thus, they have to depend on their senior officials for advice, and still more for knowledge of the basic facts and figures on which policy must be based. Ministers have a right to expect that the civil servants would do their utmost to make proposals compatible with the programme of the party in power.

A minister is under no legal or constitutional duty to consult his senior officials, but for his own sake he should always consult them before deciding an important matter of policy. The civil servant on his side has a right to put forward "the Departmental philosophy". Thus, it is his duty "to let the waves of practical philosophy wash against ideas put forward by his Ministerial master". The civil servant is entitled to advise, to warn, to encourage and to explain—but no more. And in this way he helps the democratic administration to run smoothly.

The civil servants have no right to be unhelpful, unconstructive and negative. They must have a sympathetic understanding of the political convictions or party-pressures affecting their ministers although as officials they may not share them.

The vast majority of departmental decisions are non-political and civil servants have full discretion and initiative in applying them. However, the policy decisions should adequately reflect the Minister's mind. Higher officials should continuously try to impress this aspect upon their subordinates through improved communication.

In the modern state, a small number of politicians share with a large number of permanent officials the task of making numerous decisions affecting intimately the lives of large number of citizens. The question is raised whether it is fair to place the whole responsibility on the politician and whether it is adequate protection for the citizen.

Several arguments are used to bring into open the part played by individual officials. They point out that a large number of cases are decided without any reference to the minister, and ask why then should the minister suffer for something which has not been near his desk ? Moreover, they argue, asking for the resignation of the minister is too powerful a weapon for everyday use[1].

In the famous Crichel Down case in England, Sir David Maxwell Fyfe enumerated four different categories of cases is which there might be a Parliamentary criticism of the Department. They are :

(*i*) where a civil servant carried out an explicit order by a minister, the minister must protect the civil servant concerned ;

(*ii*) where a civil servant acted properly in accordance with the policy laid down by the minister, the minister must equally protect and defend him ;

(*iii*) where a civil servant made a mistake or caused some delay, but not on an important issue of policy and not where a claim to individual rights was involved, the minister should acknowledge the mistake and accept the responsibility although he was not personally involved ; and

(*iv*) where action had been taken by a civil servant of which the minister disapproved and had no prior knowledge, and the conduct of the official was reprehensible, then there is no obligation on the part of the minister to endorse what he believed to be wrong, or to defend what were clearly shown to be errors of his officers. But, of course, he remained constitutionally responsible to Parliament for the fact that something had gone wrong.

As regards the relationship between members of the legislature and civil servants there is a sound principle which requires the former to communicate with the Minister and not to make a direct approach to his officials, except with his knowledge and permission.

1. In Mundhra case, denial by the former Finance Minister T.T. Krishnamchari seriously affected the morale of the Civil servants iu the Country.

There are considerable disadvantages in close relationship between a civil servant and legislators. A civil servant might be deflected by the political influence of an M.P. or M.L.A. He might be made to feel that his own future depended to some extent on the favour or disfavour in which he stood with the members of the legislature.

Most of the democracies suffer from greater loyalty to family, communal groups, or special cliques, on the part of its citizens. Sometimes, civil servants also are not free from these vices. But civil service norm requires that decisions be made without regard to personal interests and group pressures.

In early democracies the functions of government were simple, because life itself was simple. There was no complex system of public revenues and public debts to puzzle financiers ; there were, consequently, no financiers to be puzzled. No one who possessed power was long at a loss how to use it. The great and only question was, who shall possess it ? Populations were of manageable numbers ; property was of a simple nature.

Modern democracies face the problems of large-scale industry, the division of labour, the headlong pace of applied science, the concentration of economic power, and the increasing recognition of the responsibility of the state towards the underprivileged. Without the support of a highly developed system of civil service, democracies will be a complete failure.

Self-government does not consist in having a hand in everything. So must be trusted the civil service. Democracy, if it knows its business, has no reason to fear civil service which works as one of its sentinels.

INDIAN CONSTITUTION : AN EXPERIMENT IN SOCIALISM*

Dr. R.C. HINGORANI
Professor of Law, Patna University

Ever since the Indian National Congress became a force to be reckoned with in the Indian struggle for independence, it had declared its policy to strive for socialistic pattern of society in India of our dreams. This was due to number of factors. Some of the Congress leaders had their education in Western countries and had read the writings of Carl Marx, Engles, Lenin, Lassale and Owen. Their writings left a lasting impression upon our leaders. Others had realized that in the wake of utter poverty of Indian masses and accumulation of wealth in few Indians, it will indeed be a shame of independence if the conditions were not altered and lot of masses improved. According to them, independence would not be worth its name if there is no economic and agrarian salvation. Political independence must also bring economic independence in its trail. Therefore, when India became independent and the Congress leaders became busy with redeeming their promise of socialism in India, it was thought that the best way of initiating the seeds of socialism would be through the constitution which was being framed for the country then. We will analyse in the following pages the various provisions of our Constitution in so far as they conform to our concept of socialism. Before, however, we consider the Constitution, we should know the meaning of socialism.

Frankly speaking, if one were to go through the literature on socialism, one comes at loggerheads regarding the definition of socialism. In modern days, when each state strives to better the economic lot and standard of living of its citizen, it is difficult to differentiate between Socialism and Communism. It may be said that in Communist countries, means of production vest in the state while means of production may not necessarily vest in the Socialistic State. Of course, even the Union of Soviet Socialist Republics recognizes the institution of personal property which is inheritable under Article 10 of its Constitution. Nevertheless exclusive state trading is the basic fact in Communist society. But it may not be so in Socialistic society. In other respects, it has been noticed that even in Capitalistic countries like the United States and the United Kingdom, schemes of social security, unemployment allowance and free education up to certain level have been introduced. In the United Kingdom, there is state-sponsored free medical service while in the United States medical services are secured through insurance. Therefore, the difference between Capitalism and Communism may be as between private capital and state capital; Socialism may, however, mean the middle path between the two conflicting systems.

Our leaders did not believe in blindly following the foreign concepts of Socialism, Communism or Capitalism. In their view, and rightly so, foreign ideas were not fully appli-

---

*When this writer was approached to contribute an article to the Abhinandan Granth in honour of Sri Chandra Bhanu Gupta, former Chief Minister of Uttar Pradesh and one of the few dynamic and selfless workers in India, I thought that any such volume would be incomplete without an article on socialism to which Guptaji is wedded. Hence this contribution as a token of affection and respect for Sri Guptaji.

cable to Indian conditions. Therefore, despite doctrinal support for Socialism in the broad sense, it was never taken as a dogma. Instead, an indigenous pattern of Socialism has been tried where private and public sectors can co-exist. It is in the light of these observations that we will examine our Constitution.

To start with, Preamble of the Constitution promises to secure "Justice, Social, Economic and Political; Equality of status and opportunity." It also promises to promote fraternity thus assuring the dignity of the individual.

Although the Preamble is not an integral part of any Statute, yet it outlines the motives of the Legislators in bringing out a given statute. The Preamble to our Constitution fulfils the same functions and it gives out the values which the Indian leaders hold so dear. They felt it desirable to ensure that all the Indians, irrespective of their status, descent and such other distinctions, were provided with economic, social and political justice as well as equal opportunity.

This right of equality is more elaborately dealt in the Chapter on fundamental rights. Articles 14 to 18 guarantee some rights of equality. For example, Article 14 of the Constitution guarantees "equality before the law" and "equal protection of the laws". While the first clause secures equal treatment at the altar of law, irrespective of the status of the complainant and that of the accused, the second clause promises that the rights of the down-trodden will be as much protected as those of the higher-ups. The conjoint effect of these two phrases would be to assure the Indians that no discrimination will be made by law between poor and rich, official and non-official, urban and rural resident. All will be treated alike and nobody will be given weightage. Class distinction is, therefore, abolished, by Article 14.

Discrimination on the basis of religion, race, caste, sex or place of birth is prohibited under Article 15. All Indian citizens will be treated alike irrespective of their belonging to particular religion, race, caste, etc. They will also be not denied access to any public place or place maintained by State funds because of their affiliation to particular sect. Article 17 abolishes untouchability and makes practising of untouchability as an offence. This breaks the backbone of class distinction which is the normal fabric of non-socialistic society. Article 18 abolishes the conferment of titles. The British Government had utilized this trick to create artificial class distinctions as well as implant a loyal section in the Indian Society. The Congress leaders thought that any continuation of this practice would be unsocialistic and, therefore, it was abolished.

Article 16 is reiteration of one of the provisions of the Preamble which promises to secure equality of opportunity. The Article guarantees equality of opportunity to appointments under the State. It prohibits any kind of discrimination in appointments on the ground of religion, race, caste, sex, descent, place of birth or residence. The insertion of the word "descent" in this Article indicates that no weightage will be given to any person in appointment because of his birth in a given family. The privileged class is, therefare, abolished.

Man's inhumanity to man is the greatest curse af Capitalism. Human beings should be treated as human beings and they cannot be bartered or exploited. Article 23 aims at abolishing these practices by prohibiting traffic in human beings or involuntary work exacted from them without compensation.

Article 31 is the symbol of mixed socialism. While right to hold or dispose of property is guaranteed under Article 19 of the Constitution, Article 31 provides that property may be acquired by the Government by authority of law which may also fix compensation or guide-lines for fixing compensation. This gives the right to the State to acquire any property which it seeks to do so in public interest. This is very essential in socialistic set-up of society where Government has to decide regarding the placement of certain industries in public or private

sectors. This Article would, therefore, permit the Government to acquire any industry in private sector and convert it into public sector.

The Constitution also seeks to strike at the institution of managing agencies which had been the cause of economic speculation and concentration of economic power. It had been found that large number of companies were controlled by few managing agencies which caused monopolization, manipulation and fiddling with the interests of shareholders. It has thus been the endeavour of the Government to progressively diminish the role of managing agencies with the consequent loss of economic power in the hands of such agencies and resultant progress of socialism. The power to do so has been assumed under Article 31.

The same article permits the Government to acquire mineral and oil resources in the interests of national economy. Any private right in mineral or oil may be extinguished or modified to make it consistent with socialistic pattern of our society. This Article is identical with Article 6 of the Constitution of the Union of the Soviet Socialist Republics which vests ownership of oil and minerals in the State.

Validation of various Land Reforms Acts is sought under Article 31 B. Much before India became free, the Congress leaders had realized the abuses of absentee landlordism. These agricultural tycoons, who had thousands of acres under their sway, lived on the sweat of poor cultivators who had to bear the brunt of vagaries of weather as well as of the zamindar. Besides, by virtue of their bulging purses, they wielded great influence in the areas. It was considered by leaders that democracy in India would be a dead letter if the land-holders enjoyed wealth and power at the cost of poor cultivators. It was also against the principle of socialism that landlord should get money without working in the field.

After the advent of independence, the various Congress Governments passed a number of Land Reforms Acts in almost all the provinces to stop man's exploitation by man and strengthen the seeds of socialism. This was challenged by vested interests. In Kameshwar Singh *V.* State, the Patna High Court held that although the Land Reforms Act may not be challenged under Article 31, it may well be challenged under Article 14 which guarantees equal protection of laws. Thus, it was found that the zamindars could seek the protection of Article 14 at the cost of cultivators. It was, therefore, necessary to validate the laws passed earlier. The same was done by introduction of Article 31 B which purported to validate all such Acts as were listed in the Ninth Schedule. This broke the backbone of obstructionists who were trying to thwart the march of socialism in India.

Apart from some fundamental rights which have paved the way to socialism in India and which can well be enforced in any court of law, there is another set of principles laid down by the Constitution which will guide the policies of the government. These principles are not justiciable but nevertheless directive inasmuch as that the Governments shall strive to secure these values as far as possible. As Article 37 says :

"The provisions contained in this Part shall not be enforceable by any court, but the principles therein laid down are nevertheless fundamental in the governance of the country and it shall be the duty of the State to apply these principles in making laws." Many of these directive principles aim at securing socialism in the country.

Thus, Article 38 enjoins upon the state to strive to promote the welfare of the society by securing and protecting a social order where social, economic and political justice pervades over all the institutions of national life. The purpose of this Article is to see that the state shall build such classless society where no one is exploited because of his social, economic or political weaknesses. All Indians are to be treated alike and the rule of "might is right" shall not prevail.

Article 39 lays down some guiding principles which will go to make India a welfare society. For example, citizens have been given "the right to an adequate means of livlihood." This would mean that it will be the Government's endeavour to see that all Indians, men and

women alike, get a job according to their qualifications which would ensure them adequate means of livlihood.

Above provisions are supplemented by Article 43 which promises to secure living wage to the agricultural, industrial and other workers, thus ensuring decent standard of life and full enjoyment of leisure and social and cultural opportunities. It is on this basis that the various State Governments as well as the Central Government have passed statutes on minimum wages in different vocations in order to protect the workers from exploitation, apart from giving them some minimum wages which should be adequate for their living. The right of fixing minimum wages has been upheld by the Supreme Court in Bijay Cotton Mills Ltd. *V.* State of Ajmer where it held that such fixation is necessary to protect the workers from exploitation by the employers.

The concept of living wage was appropriately given by Justice Gajendragadkar (who recently retired as Chief Justice of India) in Standard Vacuum Refining Co. *V.* Its Workmen. As he said : "In dealing with wage structure it is usual to divide wages into three broad categories. The basic minimum wage is the bare subsistence wage ; above it is the fair wage and beyond the fair wage is the living wage. It would be obvious that the concepts of these three wages cannot be described in definite words because their contents are elastic and they are bound to vary from time to time and from country to country. Sometimes the said three categories of wages are described as the poverty level, the subsistence level and the comfort or the decency level." He further quoted what Justice Higgins had said in his judgment in 1907 that "a fair and reasonable wage in the case of an unskilled labourer must be an amount adequate to cover the normal needs of the average employee regarded as a human being living in a civilized community."

It seems wording of Articles 39 and 43 are identical with the wording of Articles 118 and 119 of the Constitution of the Union of the Soviet Socialist Republics. While Article 118 gives right to paid work to every Soviet citizen, Article 119 ensures right of leisure, rest and paid vacation. The provisions are the evidence that eventually the Government will undertake the responsibility to see that there is no unemployment and every Indian must secure means of livelihood in a welfare society. This is the declared policy of the Government as is given by Article 41 which aims at securing the right to work and public assistance in cases of unemployment, sickness, old age and disablement. Number of states have introduced schemes of financial assistance to aged persons.

Article 39 (*e*) applies a safety catch to the above provisions. Thus, it intends to ensure that every person must take his job, according to his age or physical capability and that no one is forced to take job unsuited to his age or physical strength because of economic compulsion. Importance of this provision should not be underrated because it has been noticed that people often resort to strenuous job much beyond their physical capacity in order to make two ends meet. These practices have many a time resulted in casualties and fatal accidents for which socialistic state would definitely feel ashamed.

It is also provided under this Article that "ownership and control of material resources of the community are so distributed as best to subserve the common good". This is a very important provision. In almost all socialistic countries, means of production are under the control of state in order to subserve the needs of community. Article 39 (*b*) does not say this specifically inasmuch as that it does not vest means of production in the State. But it envisages that ownership of or control over these means of production will be so distributed that it subserves the common good. It, therefore, gives discretion to the Government either to acquire such concerns under Article 31 A in public interest or so regulate or distribute them that they do not become institutions of exploitation or oppression.

Article 39 (*c*) provides "that the operation of the economic system does not result in the concentration of wealth and means of production to the common detriment". The provision is equally socialistic in idea as well as in practice. In socialistic pattern of society, it is the

endeavour of government that there is no concentration of wealth or means of production in few persons or corporations. It is true that here the Indian Constitution has departed from common pattern in Communist countries where means of production vest in the State. But our system is not Communistic, besides, our experiment is indigenous. Our Constitution does not purport to absolutely deprive the individual of his property even though it may be the means of production. But if it is found that any such vesting does not conform to ideals of welfare society, the same may be either regulated under Article 31 A or acquired under Article 31.

Our economic system is also motivated by above considerations. We have a planned economy which is under constant review. Our policies of taxation are to tax the rich heavily. Nationalization of life insurance and abolition of zamindari and estate system are motivated by these considerations. Indeed, it will be the mockery of political freedom if there is no economic freedom and social equality. Investigations into the monopolies system is also on this account. It is, therefore, the Government's policy to see that while it does not intend to fiddle with the institution of private property, yet if it works to the detriment of the society, its management may be taken or regulated or ownership acquired.

Article 40 envisages formation of panchayats at village level as model of small units of self-government endowed with necessary authority. This kind of formation is designed towards decentralization and grappling of problems by the people themselves. Panchayat functioning will also give the participants the insight of democratic working, apart from giving the proletariat greater say in the local administration.

The State is also enjoined upon to impart free and compulsory education up to the age of 14 years. Besides, the level of nutrition and standard of living are to be raised along with improvement in public health. These are some positive steps of bringing the country into a socialist fold.

We have listed above some of the provisions of our Constitution which aim at building a socialistic and welfare society in India. It must have been noticed in the preceding columns that we have not followed dogmatically either Communism or Capitalism. Instead, we have adopted a middle path of mixed economy thereby taking good things from both the systems. This we may call a pattern of socialism in India.

It has been noticed that wherever extreme reforms have been undertaken, democracy has given way to dictatorship. It is another thing that the same may be called guided democracy, democratic dictatorship or benevolent dictatorship. The fact remains that the rights of people, particularly the rights of freedom of speech and association are drastically cut. This is not so in India. Side by side with socialism, we have also maintained the freedom of speech and association as is guaranteed by Article 19 of the Constitution. Our socialism may, therefore, be better called as democratic socialism.

BIBLIOGRAPHY

1. Constitution of India.
2. Pigou, A.C., Socialism *versus* Capitalism.
3. Durkheim, Emile, Socialism.
4. Gajendragadkar, P. B., Law, Liberty and Social Justice.
5. Narendra Dev (Acharya), Socialism and National Revolution.
6. Cole, G.D.H., Socialist Thought, Marxism and Anarchism.
7. Gay Peter, The Dilemma of Democratic Socialism.
8. Denisov A., and Kirichenko A., Soviet State Law.
9. Lohia, Ram Manohar, Marxism, Gandhism and Socialism.
10. Mehta, Ashok, Democratic Socialism.
11. Narayan, Jaya Prakash, Socialism, Sarvodaya and Democracy.
12. Kameshwar Singh *V.* State (AIR) 1951 Patna 91.
13. Bijay Cotton Mills Ltd. *V.* State of Ajmer (AIR) 1955 SC 33.
14. Standard Vacuum Refining Co. *V.* Its Workmen (AIR) 1961 SC 895.

THE COSHARING ZAMINDARS IN THE CEDED AND CONQUERED PROVINCES*

Dr. R.N. NAGAR, *M.A., Ph. D.*
Professor of History, Lucknow University

The far-reaching repurcussions of early British rule in the ceded and conquered Provinces, which formed the nucleus of the present-day Uttar Pradesh, specially in the sphere of revenue administration have not yet been fully assessed. The first twenty years of their rule became a veritable period of chaos. Every measure which initiated during this period contributed towards the disruption and dislocation of the agricultural communities; and the cumulative result of these measures reached devastating proportions.

The newly introduced system of revenue administration was patterned on the principles laid down earlier by Lord Cornwallis in Bengal. In pursuance of that concept, here also zamindars and taluqdars were vested with proprietorial rights in the soil, to the exclusion and at the expense of all other prevailing rights. This sweeping measure was undoubtedly against the basic constitution of the rural fabric. And it struck hard not only against the rights of the ryots, but also against the cosharing zamindars—the pattidari zamindars in the ceded Province, and the Bhaiyachara Zamindars in the conquered Province. These cosharing zamindars were a part of the more or less complicated zamindary system which had continued to exist for a long long time in these parts of the country prior to the advent of the British.

We shall confine our observations in this short note to the problem of the cosharing zamindars only under early British rule in these provinces.

Under Indian rule various land tenures had grown through the passage of centuries, achieving variations under the influence of caste and clan distinctions and local usages. A holding of land, a village, or a group of villages were occupied and cultivated, not under the claim of a single individual, but were held jointly; each person of the family, or of group, held a specified share in the land under a common holding.

When the British, upon their advent in these parts, established their own brand of the zamindary system, they overlooked this important feature of rural mould. It is doubly strange that it should have so happened. Firstly because it was too important a feature to have been easily missed; and secondly because the British had already familiarised themselves with this feature when they had brought the district of Benares under their administrative control. Some years before, eight years to be precise, where similar conditions had prevailed as in the ceded district. Holt Mackenzie, one of the senior-most contemporary officers, observed in his brilliant memorandum, "It was certainly a singular oversight that they (the revenue regulations) contain no specific rules for the settlement of the estates held by village zamindars, themselves the cultivators of the soil, a class of persons so specifically

*The ceded Province, acquired from the Nawab Wazir of Oudh in 1801 consisted of the districts of Moradabad, Bareilly, Etawah, Farrukhabad, Kanpur, Allahabad, and Gorakhpur. The conquered Province wrested from the Marathas in 1803 comprised Agra, Aligarh and Saharanpur. Bundelkhand was added in 1804.

provided for in Benares." The same officer himself explained as to how, under hurry and strain, partly to achieve a certain 'uniformity' in the system, and partly for the sake of "simplifying and facilitating official business", the revenue engagements, in the first instance, were entered into with single individual. He added, "...in those districts where the admission of the parties to engage was more extended, it was still limited to as small a number as possible." It is thus obvious that when the early revenue settlements were formed, the collectors deliberately compromised the rights of numerous cosharing zamindars. There undoubtedly was a large element of ignorance present also in the conduct of these collectors. Being ignorant of the language, the customs, and the usages of the people, they could not make out the difference between one Indian term and another. Hence, a process which proved immensely costly was the use of English equivalents for Indian terms. For instance, when the zamindar was called a landholder, and later a landlord, the zamindar came to acquire the privileges which the British Civilian thought a landlord should possess. To quote another example, as Holt Mackenzie pointed out, "The use of the word zamindar to designate Sudder Malgoozar has obviously been extremely prejudicial ; it having been applied to many who possessed no zamindary rights, and still more frequently to persons, holding as zamidars a very little portion of the estate for which they engage".

There was yet another aspect of the problem, as was pointed out by the Governor-General himself in his minute. He said, "Some estates were also let in form, not because the proprietors were not forthcoming, or not willing to engage, but because they could not readily agree among themselves in the choice of a representative or a manager for the whole partnership. In these cases, as the Collector, during the hurry of a general settlement, had neither the leisure to investigate the allotment of each puttiedar's proportion of the aggregate assessment, nor sufficient information in regard to the nature of their tenures, the readiest mode which suggested itself for the security of the public revenue was to base the whole village to a farmer who should be responsible for the whole jumma." But, whatever might have been the acts of omissions and commissions of collectors, the larger share of the blame must be borne by the Government itself, who neglected to define and preserve the rights of the co-sharers. The regulations were so ill-drafted that they were capable of various interpretations. Thus, the Board of Revenue wrote to the Governor-General-in-Council, "We have, however, had reasons to oelieve that the constructions of the Regulations referred to were not only considered still to involve doubts, but that different officers had acted upon a different construction of them at the formation of the last settlement." The words 'actual proprietors' occurring in the regulations did not clarify whether the term indicated the person in actual possession, or those who had a right to possess. Then again the Government deliberately discouraged its officers from making any attempt to record and specify such rights. The Board of Commissioners wrote to the Governor-General-in-Council, "We are far from wishing to propose an argument of expediency to bar the admission of a right, but the minute subdivision of a landed property ought, we think, to be guarded against as much as possible, for it is not only calculated to occasion great inconvenience and loss of revenue to Government, but it is the source of endless dispute among the inferior landholders." It is obvious that proper demarcations of boundaries between one holding of land and another was essential to specify the various claims. But the Board of commissioners did not desire that this should be done. Thus, how could have collectors carried out measures which they were not expected to carry out ? Hence, for the first few years of the British rule, the claims of cosharing zamindars were neither accepted and confirmed nor denied altogether. Thus, they were placed in an aweful predicament. Numerous cosharing zamindars were forced to accept a position of inferior tenancy or were compelled to quit their lands. They swelled the number of discontenteds and often took to a career of crime. Many more stood in a precarious situation. The precariousness of their situation opened wide opportunities for malpractices which reached inmense proportions. These fraudulent acts were sometimes engineered from

within. Thus, for instance, the Board of Commissioners observed at one place, "...instances have been known of such engaging proprietors wilfully bringing the estate to sale in the view of its being purchased by his son, or by some agent of his own,. for the purpose of annihilating rights of his joint sharers." But more often such conspiracies were launched by subordinate revenue officers themselves. The spearhead of such conspiracies were almost always Tahsildars and Dewans, implicating other officers as well, such as Kanungos and Patwaris.

Several factors helped in the formation of such malpractices. We can only very briefly refer to them. They were : (*a*) The initial step of the new rulers to farm the lands to the highest bidders. Original zamindars could have the option of 'farming' their own lands provided they offered as high as others, and also if they were not 'men of bad character' ; (*b*) Defective Government regulations which not only declared zamindars to possess proprietorial rights in the soil, which ran contrary to the accepted indigenous constitution, but which left this 'proprietorship' open to doubt and dispute ; (*c*) excessive revenue demand, which was periodically increased ; (*d*) short-term settlements, which made confusion worse confounded ; (*e*) absence of proper survey, of demarcation of boundaries, and of a standardised system of measurement ; (*f*) defective modes of recording the various revenue details ; (*g*) ineffective supervision of Collectors, who were, by and large, ignorant of the language, and customs and usages of the people ; (*h*) corrupt subordinate revenue officers ; and (*i*) the last, but the worst, an indiscriminate use of the Sales Law.

The basic implication regarding the sale of a land was simple. Every land became liable to be sold or auctioned if the landholder did not pay the revenue by the due date. Thus, the revenue demanded being exorbitant, the land of the zamindar was brought to the anvil. This process was accelerated by the unfortunate occurrence of a widespread famine, which swept over the provinces at the beginning of the new rule. This famine opened the flood-gates of corruption, and, because of the accruing balances continued in a mounting fury for nearly two decades. Christian, one of the most competent of the contemporary officers, observed on one occasion, "In numerous instances the alleged balances did not probably stand against the parties who engaged and whose estates were sold—The Tehsildars, in a new country, vested with absolute power over the internal management of all estates within their jurisdiction, and spurred on by a percentage to collect as much as they could without any scruples as to the mode, upon the most false and frivolous pretences, threw innumerable estates kham, embezzled the revenue themselves, and brought the estates to hammer for a fictitious balance at which the choicest villages were purchased either in the name of their own connections...or in the substituted names of their relations or men of straw".

Pressure of space forbids us to give details of the consequences which followed such maladministration. We may be content by quoting Leycester, judge and magistrate, who wrote, "I have an average obout 500 persons in jail here, but I have no doubt the daily prisoners in the district would amount to 5000 prisoners, of which I would attribute 1000 to the illegal duress of the Mohajuns for debts, 500 to the usurped restraint upon the people on suspicion of criminal offences, and the remaining 3000 prisoners I would attribute to the illegal duress of sundry kinds by the zamindary Amlahs upon the bodies of the ryotts in order to compel some kind of engagement from them which may be hoped to give a shadow of justice to their future distraint."

To sum up, the preservation of the rights of co-sharers, whether under the Pattidari or Bhaiyachara tenures, or under any other tenure, was impossible, unless each claim was precisely and correctly defined and acknowledged by the Government. The demarcation of boundaries was the necessary evidence of the acknowledgment of such a right. In the beginning, in numerous cases, the Government did not care, either to accept the previous

JUDICIAL REVIEW OF PARLIAMENTARY PRIVILEGE

PARAMATMA SHARAN PACHAURI, *M.A., L.L.M.*
Secretary, Legislative Council, Uttar Pradesh.

Review powers of the Supreme Court and the various High Courts in India in their original jurisdictions are contained in Articles 32 and 226 of the Constitution of India, the only difference being that under Article 32 the Supreme Court has the powers of review only in such matters which involve an infringement of the Fundamental Rights conferred by part III of the Constitution while the High Courts can exercise these powers even where an infringement of a legal right other than the Fundamental Rights is alleged by the petitioner. These powers of review are not new in India. They had been conferred on the High Courts of the presidencies of Bengal, Bombay and Madras even before the commencement of the Constitution by virtue of laws made by the Parliament of U.K. while other High Courts exercised similar powers in limited field by virtue of powers conferred on them by laws made by the Legislatures in India.

However, the privileges which have been conferred by the Constitution of India on the Legislatures in India are quite new. The Govenment of India Act of 1915, had conferred on the Indian Legislatures the privilege of Freedom of Speech which was subject to the Rules made by the executive in exercise of the powers conferred on it by the constitutional statute as well as to the Standing Orders made by the Houses of Legislatures themselves under the limited power which had been conferred on them by the Act of 1915. However, the Rules made by the executive were to prevail over the Standing Orders made by the Houses of Legislatures in cases where the latter came into conflict with the former. Similar privilege of freedom of speech was granted to the Houses of Legislatures under the Government of India Act of 1935. An additional power to lay down their privileges by law was conferred on the Legislatures by the aforesaid Act. But this power was subject to the condition that it could not confer on the Houses the powers to punish for breaches of their privileges or for their contempts. This meant that the Houses of Legislatures had to apply to the Courts of law to punish those whom the Houses adjudged to be guilty of breaches of their privileges or of otherwise contemning them. The Indian Independence Act, 1947, however, enlarged the privileges of the Constituent Assembly of India and equated them to those of the House of Commons of the United Kingdom. But the powers of the Houses of Legislatures in the provinces remained unchanged. It was the Constitution of India which equated the privileges of all the Houses of Legislatures in India to those of the House of Commons of the United Kingdom.

Thus the Constitution of India through Article 32 and 326 gave to the higher courts in India powers of review similar to those possessed by the superior Courts in United Kingdom and through Articles 105 and 194 gave expressly to the Houses of Legislatures in India the privileges which were possessed by the House of Commons of the United Kingdom at the commencement of the Constitution. In this way, generally speaking, two bodies of law of the Constitution of the United Kingdom have been bodily introduced in India. The only

difference is that the powers under Article 226 were not strangers to India while the privileges under Articles 105 and 194 were almost strangers.

It is in the context of these two sets of Articles therefore that the powers of the higher Courts in India to review action taken by Houses of Legislatures in exercise of their privilege jurisdictions is to be determined. It may be pointed out at this stage that the intention here is not to make a detailed study of the subject but only to look at the problem in a general way. A detailed exposition of the subject, in the very nature of this, would not only need much larger space but would make the discussion much too technical and legalistic, for justice to such a controversial subject cannot be done without closely examining hundreds of Judicial observations made by courts of law both in India and abroad.

The Supreme Court of India in its opinion in Special Reference No. 1 of 1964 has observed that the Constitution makers of India should have been aware of the conflict between the House of Commons and the Superior Courts in the United Kingdom on the question of their respective jurisdictions and must have solved the conflict while framing the Constitution of India. No body can dispute this observation, for to do so would mean a clear disrespect to our founding fathers. But a belief in the foresight and acumen of the givers of the Constitution would of necessity imply that every word used by them in the two sets of provisions through which they sought to avoid this conflict in India must be examined thoroughly to discover their real intention. For this purpose Articles 194 and 226 alone may be reproduced here, for the material words which need a microscopic examination are the same in the other two Articles *viz.*, 32 and 105. The former two Articles read as follows :—

Powers, privileges, etc., of the Houses of Legislatures and of the members and committees thereof.

194. (1) Subject to the provisions of this Constitution and to the rules and standing orders regulating the procedure of the Legislature, there shall be freedom of speech in the Legislature of every State.

(2) No member of the Legislature of a State shall be liable to any proceedings in any Court in respect of anything said or any vote given by him in the Legislatures or any committee thereof, and no person shall be so liable in respect of the publication by or under the authority of a House of such a Legislature of any report, paper, votes or proceedings.

(3) In other respects, the powers, privileges and immunities of a House of the Legislature of a State, and of the members and the committees of a House of such Legislature, shall be such as may from time to time be defined by the Legislature by law, and, until so defined, shall be those of the House of Commons of the Parliament of the United Kingdom, and of its members and committees, at the commencement of this Constitution.

(4) The provisions of clause (1), (2) and (3) shall apply in relation to persons who by virtue of this Constitution have the right to speak in, and otherwise to take part in the proceedingsof, a House of the Legislature of a State or any committee thereof as they apply in relation to members of that Legislature.

Power of High Courts to issue certain writs.

226. (1) Notwithstanding anything in article 32, every High Court shall have power, throughout the territories in the relation to which it exercises jurisdiction, to issue to any person or authority, including in appropriate cases any Government, within those territories directions, orders or writs, including writs in the nature of habeas corpus, mandamus, prohibition, *quo warranto* and *certiorari* or any of them, for the enforcement of any of the rights conferred by Part III and for any other purpose.

(1A) The power conferred by clause (1) to issue directions, or order writs to any Government, authority or person may also be exercised by any High Court exercising jurisdiction in relation to the territories within which the cause of action, wholly or in part, arises

for the exercise of such power notwithstanding that the seat of such Government or authority or the residence of such person is not within those territories.

(2) The power conferred on a High Court by clause (1) or clause (1A) shall not be in derogarion of the power conferred on the Supreme Court by clause (2) of article 32".

The most vital words, which need closer examination in Article 194 are the words "powers, privileges and immunities". These three words have certain legal attributes which have become fixed in their juridical connotations. Some of the highest courts of law in countries with legal systems based on the common law and jurisprudence of the United Kingdom have expounded the judicial contents of these three expressions separately. Some of the renowned authors of legal treatises like Salmond, Hohfeld, Julius Stone, Dean Roscoe Pound and Hughes, have also analysed the legal attributes of these words and differentiated them from the other legal attributes of other expressions so that these expressions may not be confused with other expressions which may outwardly appear to have similar legal connotations. The Supreme Court's opinion cantains not even an attempt on these lines. If this had been done the opinion of the Supreme Court would have been very much different, if not altogether different.

Another fruitful approach to the problem would have consisted in comparing article 194 of the Constitution of India with other Articles in the Constitution which have used the words "privilage" and "immunity" to find out in what sense have these words been used in the various Articles of the Constitution so that the legal attributes of these words in Article 194 could be ascertained with greater precision in the light of the general attributes of these words in the common law. In this also the opinion of the Supreme Court is completely barren.

One more crucial question arises in this context. When the Constitution makers bestowed the powers, privileges and immunities of the House of Commons of the United Kingdom on the Houses of Legislatures in India did they mean the powers, privileges and immunities as understood by the House of Commons or powers, privileges and immunities as understood by the Courts of law in the United Kingdom ? In this connection a vital question that arises is that Article 194 does not confer on the Houses of Legislatures powers, privileges and immunities as were enjoyed by the House of Commons from time to time till the commencement of the Constitution but such as were possessed by the House of Commons at the commencement of the Constitution. It is common knowledge that the powers. privileges and immunities of the House of Commons in the United Kingdom consist of those that have been defined by statute law as well as those which are granted to it by the King at the commencement of each Parliament. The statutory powers, privileges and immunities are well defined and ascertainable. But about the rest a question that arises is as to which privileges had the Constitution makers in mind when they enacted Article 194, those which the Speaker of the House of Commons had demanded on behalf of the House and the King had granted as King in Parliament or those that the Courts in the United Kingdom thought were demanded by the Speaker and were granted by the King. If the intention of the makers of the Constitution were to give to the Houses of Legislatures in India those privileges, powers and immunities that the sperior Courts in the United Kingdom thought were demanded and given, then perhaps the privileges of the Houses of Legislatures in India would have been subject to review by the High Courts and the Supreme Court in case it could have been established that these Courts have the same royal attributes as the superior Courts in the United Kingdom. But if that was the real intention of the Constitution makers, they would have added some words to this effect in Articles 105 and 194. But no such words appear in these two Articles. The mere fact that the reference in these two articles is pointedly to the House of Commons alone and not to any courts of the United Kingdom would show that at that time they had in mind only those powers, privileges and immunities as the House of Commons had interpreted to be belonging to it.

Another angle from which this problem can be viewed is the importance and significance of the word "immunity" in Article 194. The word "immunity" ostensibly bestows immunity on the Houses of Legislatures against the powers of other organs of the State, *viz.*, the executive and the judiciary. In an article in the Table Vol. XXIII the Clerk of the House of Commons, Sir Edward Fellows had stated at p. 77 :—

"An injunction cannot be issued to restrain either House ; such an action would be a plain breach of privilege and has never been attempted, let alone proved successfully, even at the height of this struggle between the commons and the courts".

It may be stated here that the Clerk of the House of Commons, though he may not be a lawyer or a jurist, is the custodian of the precedents of the House and when he says that there is no precedent, he speaks with greater authority than the highest judicial authority anywhere.

It may be argued that if the House cannot be restrained, its servants, including the Speaker can be so restrained. But it has been acknowledged by Lord Denman, C. J. in the famous case of Stockdale V. Hansard that whatever the Speaker does in his chamber, *e.g.*, issuing warrants of commitment, on the orders of the House is a proceeding in Parliament and therefore immune from interference by the courts of law. The only provision of law which enables the competent courts in the United Kingdom to issue the writ of Habeas Corpus on the Sergeant-at-Arms of the House of Commons is a provision in one of the Habeas Corpus Acts passed there in the seventeenth century. But do all these laws in the United Kingdom apply in India also ? Secondly, the Sergeant-at-Arms in the United Kingdom is a servant of the executive and not a servant of the House. A detailed study of his position *vis a vis* the House of Commons would unmistakably establish his dual status.

But the greatest reliance is placed on the provisions of Article 226 which extends the jurisdiction of the courts to "any person or authority, including in appropriate cases any Government", to issue certain kinds of writs, orders or directions. The presence of the words "including in appropriate cases any Government" in clause (1) of this Article and reversal of the phraseology to "to any government, authority or person" in the new Clause (1A) of this Article would show that the general words "person" and "authority" have to take their colour from the specific words "Government" which according to many observations of the Supreme Court itself means the executive of the States or the Union. Therefore the words "person" and "authority" allude to private persons or governmental or executive authorities only and not to a legislative body.

Moreover, the word "authority" has been used in different contexts in not less than fifty places in the Constitution. Does this word in any of those contexts include a legislative body ? This was a matter which could have been fruitfully examined by the Supreme Court in its opinion. It may be stated without any fear of contradiction that in no place in the Constitution has the word "authority" been used to include a legislative body. On the other hand, where a reference is intended to be made to a legislative body, the Constitution makers have used the word "body" as in Articles 239A and 240. Moreover, in Article 356 both the words "body" and "authority" have been used. If the words "authority" would have included all that is included in the word "body" than the use of these two words for one single word was unnecessary and the word "authority" would have sufficed.

Again, is a House of Legislature a person ? Certainly it is not a natural person because it is a body of natural persons. It may be mistaken as a legal or juristic person, But one of the basic principles on which a body of persons is recognised to be a juristic person is that it should be capable of suing and being sued in its own name. Has the House of Commons ever sued anywhere in its own name during the last six centuries or so ? And has ever the House of Commons been sued in its own name ? No law or constitutional principle of the United Kingdom can be quoted to show that ever the legal capacities and

liabilities of the House of Commons have been defined, much less to show that it has ever been treated as a legal person in the juridical meaning of the expression.

It would, therefore, be seen that a House of Legislature was not intended to be included within the ambit of the jurisdiction of the High Courts under Article 226 both on the plain reading of Article 226 as well as on reading it in relation to Article 194. Therefore, the review powers of the High Courts under Article 226 do not include the exercise by a House of Legislature of its privilege jurisdiction under Article 194. The same holds good of Article 32 which deals with similar powers of the Supreme Court in a restricted sphere.

ON DEMOCRATIC SOCIALISM

RAGHUVEER SINGH
Professor of Political Science, University of Gorakhpur

The central dilemma of democratic socialism was presented by Alexis de Tocqueville with remarkable clarity in a famous speech in the Assemblee Constituante on September 12, 1848. "Democracy and Socialism", he said, "are not necessarily interconnected. They are not only different, they are opposed......Democracy extends the sphere of individual independence, socialism contracts it. Democracy gives to every man his full value,socialis m makes of every man an agent, an instrument, a cipher. Democracy and socialism are linked only by the word 'equality' ; but note the difference : democracy wants equality in freedom, socialism wants equality in constraint and enslavement". Lest these words should be taken as expressing the prejudice of a doctrinaire and out-dated individualist, one would like to cite a leading intellectual of the British Labour Party, Mr. R.H.S. Crossman, on this perennial problem. In a pamphlet entitled *Socialism and the New Despotism,* Mr. Crossman notes how 'more and more serious minded people are having second thoughts about what once seemed to them the obvious advantages of central planning and the extension of state ownership'. He remarks that "the Labour Governments 'Socialism' meant the establishment of vast bureaucratic corporations", of "a vast centralised state bureaucracy (which) constitutes a grave potential threat to democracy."[1] That the inner tension between these two most widely cherished ideals of our modern civilization is not generally realized by people is due to the fact that both 'democracy' and 'socialism' are highly abstract and ambiguous terms which have assumed for us an honorific value and an emotional, ideological connotation. The inherent conflict between the two is concealed by the fact that their cognitive value may be changed without a corresponding change in their emotive meaning with the result that one can easily establish a hormonious correlation between them by convenient combination and permutation. Democracy is ordinarily conceived as a specific institutional arrangement for arriving at political decisions or as "a method of the *government* of the people", as Barker has defined it[2] (Lincoln's "Government of the people and by the people" formula). But it may be so defined as to include, as its essential element a particular theory regarding the conditions and contents of decision making based on overall purposes and ideals which a government ought to serve in the general interest of the community (Lincoln's 'for the government' formulation). And thus conceived, democracy becomes identical with a socialist pattern of society which aims at providing a economic security and social justice to members of the state by abolishing private enterprize and substituting collective ownership and control of the means of production, distribution and exchange.

---

[1] Fabian Tracts, No. 298 (London, 1956).

[2] *Reflections on Government,* Oxford University Press, 1942, p. 315 (foot note).

Like democracy socialism is also like a box with a false bottom, to use De Tocqueville's analogy, in which we can put whatever ideas we like and take them out again without being observed. We can dilute its meaning by equating it with welfare state or with the 'Middle Way' in Sweden or mixed economy of India, and thus we can bring it nearer to the principles and practices of liberal democracy. In this way we can have the best of the both worlds. But it is the inherent tragedy of the human conditions that all desirable individual or social goals are not logically compatible and the choice between equally valid claims is an inescapable necessity. If we want complete economic security and equality, we must invite increasing state intervention and, consequently, forego freedom to that extent. And if freedom is the essence of democracy—freedom not only realised positively, that is to say, in the active participation of the citizens in the government, but also negatively, that is, by imposing certain restrictions on the power of the state in relation to the individual[1]—we must forego democracy also in the same proportion. To say that we can have both democracy and socialism in the same proportion in their usually accepted sense is, to say, like some curious philosopher-mathematicians, that it is possible to square a circle.

Thus while state socialism is the *sine qua non* of democracy in one of its senses (called social and/or economic democracy), it turns out to be inimical to the spirit and ethos of the liberal democracy with its ideal of limited and constitutional government. It is, therefore, essential for the sake of conceptual clarity that we must be clear about the precise sense in which we want to use the term 'democracy' before we try to establish its relationship with socialism and its necessary concomitant that is centralised and total planning.

As we have just suggested, the term democracy is protean. There is the tradition of Totalitarian Democracy (both in its Jacobin and Bolshevic forms) in which though the government is avowedly carried on in the name of the people, actual control is exercised by a chosen few, the 'power elites' or the enlightened 'vanguards' who are supposed to have a peculiar insight into the real interest of the people or represent the general will of the community in a unique way. This theory of democracy is based on a holistic view of society and an *a priori* rationalistic or metaphysical view of Reality and Truth the attainment of which is supposed to be the ultimate goal of social evolution and human endeavour. It emphasises impersonal forces and inexorable historic processes and minimises the significance of human interests and volition. It makes freedom subservient to a preordained plan or pre-established harmony instead of conceiving it as a matter of individual choice and personal decision.

The other tradition of democracy, crystallised mainly in the Anglo-Saxon countries, is the liberal one rooted in an empirical theory of reality and an individualistic theory of society. Its method is that of trial and error ; it believes in toleration, compromise and mutual adjustment. Since no body has a monopoly of truth, everybody should be given an equal opportunity to express his view freely and to participate in the decision making processes of government. There is nothing like an esoteric truth in politics to be discovered by the institution of a genius or the special insight of an exceptionally gifted elite. But the right of common man to shape the political life of the community takes two major forms. The one is called the Majoritarian Democracy (or, to use Prof. Robert A. Dahl's term, Populistic Democracy) according to which, again in the classic formulation of De Tocqueville, 'the very essence of democractic government consists in the absolute sovereignty of the majority for there is nothing in the democratic states which is capable of resisting it'. But this may mean the loss of the individual freedom, for the tyranny of the majority is sometimes more obnoxious than the despotism of a single king. The other type of democracy in the western countries is known as constitutional democracy (Prof. Dahl's 'Madisonian democracy'), the Whig tradition in politics, which harks back to John Locke and St. Thomas. Its cornerstone is the belief in

---

[1]Cf. Hans Kelsen, *The Political Theory of Bolshevism* Berkeley and Los Angeles, 1955, pp. 7, 47.

some inviolable fundamental rights of the individual which no government, whether of majority or of minority, can abrogate or abridge. It views democracy especially as an instrument of limitation on the powers of the government. The institutional embodiment of this view assumes the form of separations of powers, a system of checks and balances, guarantee of fundamental rights and judicial review. According to some, these institutional safeguards, however, are of no avail unless there is a large measure of shared values in a community and a sense of political property which discourages the use of force and abridgment of individual freedom. This is the typical English method of reconciling the theory of majority government with minority rights and individual freedom. We may adopt the formal device of constitutional safeguards for minorities or simply depend upon the good sense of the majority and its spirit of tolerance, self-restraint and political propriety. But we can never adopt the pure majoritarian thesis without lapsing into a totalitarian, Jacobin or Bolshevic, type of democracy. For in the ultimate analysis majority tyranny is simply another name for the tyranny of the minority which can exploit the masses by monopolizing terror and propaganda. As Prof. Robert A. Dahl has put it so lucidly, "......So far as I am aware, no one has ever advocated, and no one except its enemies has ever defined democracy to mean that a majority would or should do anything it felt an impulse to do. Every advocate of democracy of whom I am aware, and every friendly definition of it, includes the idea of restraint on majorities. But one central issue is whether these restraints are, or should be, (*i*) primarily internalized restraints on the individual behaviour system, such as the conscience and other products of social indoctrination, (*ii*) primarily social checks and balances of several kinds, or (*iii*) primarily prescribed constitutional checks. Among political systems to which the term 'democracy' is used in the western world, one important difference is between those which rely primarily on the first two checks, and those like the United States which also employ constitutional check"[1].

When we speak of democratic socialism or democratic planning, I think we use the term democracy in the western sense which emphasises freedom of thought and expression, fundamental rights of the individual, protection of minorities, supremacy of law and the right to dissent. For totalitarian democracies have collectivist planning as part of their intrinsic character and there is hardly any need to add socialism with them. There is much truth in Kelson's observation that "the antagonism...between liberalism and totalitarian democracy is in truth the antagonism between liberlism and socialism and not between two types of democracy"[2]. Now the question is whether democracy in this sense is possible in a socialist society.

A socialist society must necessarily be a planned society. But in order to avoid the Scylla of a chaotic *laissez faire* capitalism with its attendant phenomena of mass unemployment and exploitation, trade fluctuations and economic crisis and Charybois of a deadly regimentation under complete communism, we seek to adopt democratic planning as contra-distinguished from totalitarian planning. We want, according to Mannheim, planning for freedom, planning for social justice, planning not for a classless society but for one that abolished the extremes of wealth and poverty, planning for cultural standards without 'levelling down', planning that counteracts the danger of mass society by coordination of the mass of social control, but interfering only in cases of institutional or moral deterioriation defined by collective criteria, planning for balance between centralization and dispersion of power, planning for gradual transformation of society in order to encourage the growth of personality ; in short, planning but not regimentation[3].

---

[1] *A Preface to Democratic Theory*, Chicago, 1956, p. 36.

[2] "The Foundations of Democracy", *Ethics*, LXVI, Part 2 (1955), 95n.

[3] Freedom, *Power and Democratic Planning*, London, Routledge and Kegan Paul Ltd., 1951.

All this appears to be quite heartening. But a closer look into the nature of planning will show that the idea of regimentation is to some extent inherent in it. Planning has been defined as the "totality of arrangements decided upon in order to carry out a project" (Charles Bettelheim). It implies the application of 'rationality' to the organization of various aspects of social life. Elucidating the concept of rationality, Mannheim distinguishes substantial rationality from functional rationality[1]. Substantial rationality is "an act of thought which reveals intelligent insight into the inter-relations of events in a given situation". Functional rationality is what we ordinarily call 'rationlization' in an industrial enterprize or organization in which every element of the system receives its proper place in the whole and in which all means are coordinated with utmost efficiency for the attainment of a definite end. An organization is functionally rational when (*a*) it is organized with reference to a definte goal, and (*b*) every member of the organization can adjust oneself to the total system in respect to his own activities. Mannheim rightly thinks that "functional rationalization is, in its very nature, bound to deprive the average individual of thought, insight and responsibility and to transfer these capacities to the individuals who direct the process of rationalization[2]. It is clear, therefore, that the greater the degree of planning the more is the area of discussion and initiative restricted. And democracy has rightly been defined as government by discussion which presupposes freedom of thought, expression and association.

Organisation theorists like Herbert Simon and others have reached the same conclusion. According to Simon, "The rational individual must be an organised and institutionalised individual"[3]. Through "his subjection to the organisationally determined goals, and through the gradual absorption of these goals into his own attitudes, the participant in the organisation acquires an organisation personality rather distinct from his personality as an individual". Here we have the birth of the Organization Man who is not guided by his individual reason but becomes an instrument of collective purpose or social process. Indoctrination and mass manipulation made easier by the use of the scientific techniques accelerate this process of the eclipse of reason in human behaviour. As Hayek has remarked, "The tragedy of collectivist thought is that, while it starts out to make reason supreme, it ends by destroying reason because it misconceives the process on which the growth of reason depends. It may indeed be said that it is paradox of all collectivist doctrine and its demand for "conscious" control or "conscious" planning that they necessarily lead to the demand that the mind of some individual should rule supreme—while only the individualist approach to social phenomena makes us recognize the superindividual forces which guide the growth of reason"[4].

It is rightly argued by the advocates of socialism that a return to complete *laissez faire* economy is neither possible nor desirable in modern conditions and that political democracy without a minimum degree of economic security for all men is meaningless. It is true that sometime a restriction on individual liberty is necessary in the interest of social justice. But to say that this is not an abridgement but enlargement of freedom is an intolerable semantic confusion on which the case for a total central planning is made to rest. Even an ardent supporter of democratic socialism like Prof. Sidney Hook admits that the 'potential dangers' of a totally planned society to democracy are so great that "it is the better part of wisdom to discard total planning as an ideal of social return"[5]. He believes that "the best alternative available to us is a partially planned economy, in which certain areas are planned to be left

---

[1]*Man and Society in an Age of Reconstruction*, pp. 51—66 London, 1940.

[2]*Ibid.*, p. 58.

[3]*Administrative Behaviour*, p. 102.

[4]*The Road to Serfdom*, Phoenix Books, 1944, pp. 165-66.

[5]*Political Power and Personal Freedom*, Collier Books, 1962, p. 427.

to free enterprize, and in which every further step in socialization is tested by its probable consequences on the democratic life of the community"[1].

There are serious defects and abuses in the present economic system. Bnt centralized planning is not the only alternative to it. Economists like Knight and Hayek believe that our problems are not due to the system of competition but to the lack of free competition caused by the growth of private monopolies and other factors. The state should, therefore, intervene to remedy the defects of imperfect competition. "Planning and competition", says Hayek, "can be combined only by planning against competition"[2]. Knight thinks that "the simple and obvious remedy for inequality, in so far as it is unjust and is practically remediable, is not planning by central authority, but progressive taxation, particularly of inheritances, with use of the proceeds to provide services for the poorer people"[3].

All of us may not totally agree with this view. But it cannot be simply ignored. We cannot deny that central planning attempts to cure the evils of "excessively unequal distribution of economic power through an enormously greater concentration—in economic terms, a universal monopoly"[4]. And whatever be its outcome in terms of equal distribution of income or efficiency, it would certainly lead to curtailment of democratic freedom. Any government which takes upon itself the task of regulating the entire economic life of the community is bound to be totalitarian and dictatorial. It must of necessity rely on vast arbitrary and discretionary powers, self-arrogated or delegated to it by the representatives of the people who have neither time nor capacity to go into the complicated details of economic and social problems and their solutions. This means 'passing of parliament' and the triumph of bureaucratic despotism with consequent attenuation of democratic freedom which springs from what Prof. Oakeshett has called the absence of "the overwhelming concentrations of power".

There is another dimension of this problem. Hayek points out that the logical culmination of total economic planning is the abolition of money which means the abolition of freedom by restricting choice in enjoying the fruits of our efforts. "If all rewards, instead of being offered in money, were offered in the form of public distinctions or privileges, positions of power over other men, or better housing or better food, opportunities for travel or education, this would merely mean that the recipient would no longer be allowed to choose and that whoever fixed the reward determined not only its size but also the particular form in which it should be enjoyed"[5].

It is idle to suppose, as some prominent economic planners do, that planning can be confined to economic matters alone. The fact is that planning always tends to become all-embracing. It endeavours to control not only the material means available to human beings at a particular time but also to determine the ends and purposes to which they can be employed. He who controls the means controls the end. And as the question of ends is the question of norms and values, a centrally planned economic order must result in ideological indoctrination and a drastic transformation of the lives and habits of individuals. People must be induced to agree not only on the ends of political measures but also on the existential conditions and possibilities which are considered necessary for their success. It is not without reason, therefore, that we hear about an official Soviet biology in Russia and a science of Nazi anthropology and *Geo-politik* taught to every school boy in Hilter's Germany.

This discussion should not lead one to believe that its author is against all forms of state intervention in the economic life of individual. What he wants to emphasise is that

---

[1] *Ibid.*, p. 427.

[2] Hayek, *The Road to Serfdom, op. cit.* p. 42.

[3] *Freedom and Reform* (Harper and Brothers, N.Y. and London, 1947), p. 362.

[4] *Ibid*, p 363.

[5] *The Road to Serfdom*, op. cit. p. 90.

socialism is both a necessity and a danger. In so far as democracy seeks to realize the ideals of socialism, it becomes undemocratic ; and in so far as socialism becomes democratic, it tends to lose its totalitarian character. The idea of socialism is essentially collectivistic, holistic and authoritarian while that .of democracy is individualistic and liberation. According to the inescapable logic of·human condition, we cannot accept any one of them at the total exclusion of the others. That would lead us either to complete servility or complete anarchy. The question is mainly one of emphasis. We must know where to draw the line between freedom and equality, between free competition and state regulation. "To know that the unregulated competition is a chimera, to know that to regulate competition is not the same thing as to interfere with the operation of competitive controls, and to know the difference between these two activities, is the beginning of the political economy of freedom"[1].
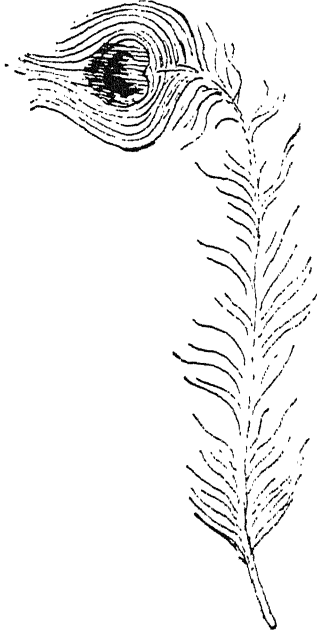
[1]Michael Oakeshott, *Rationalism in Politics and other Essays.* London, 1962, p. 55.

THE VOCABULARY OF AFFECTION IN THE *BHAKTI* OF TULSI DAS

(Illustrated in the Rāmacaritamāns)

Dr. LEONARD T. WOLCOTT, *M.A., D. Phil, (London)*
Nashville, Tennessee, United States of America

The *bhakti* of the *Bhāgavata Purāna* (900-1000 A.D. ?) was emotional abandon of the devotee before his lord (Kṛṣṇa).

The *bhakti* of the *Sii-bhasya* of Ramanuja (c. 1100 A.D.) was quiet meditation by the devotee on his lord (Rāma),—which Thomas Ohm has aptly characterized as "ruhe oder kontemplative "Frommigokit".[1] The language of Tulsī Dās (1532—1623 A.D.), however, although closer to the spiritual traditions of Rāmānuja, lies somewhere between these two most influential works on *bhakti*-expression. Tulsī's *bhakti* is neither explosive nor subdued. It is a personal but not demonstrative ecstasy of the suppliant before his lord,—an adoration of amazement and delight marked by affection and endearment in the vocabulary and word pictures of Tulsī Dās. It is as Thomas Ohm has described it, "in Gottes gegenwart stehen, ihm dienen, ihm lieben, von ihm geliebt werden...und faktish die Gottheit geniessen."[2] It is reminiscent of Rimbaud's phrase "J'attend Dieu avec gourmodise."[3] It is an affectionate attachment to God.

The more ecstatic *bhakti* passages in the Tulsī Dās Rāmacaritmānas are usually associated with the story of Rāma's most loyal devotee Hanumān. On Hanumān's discovery of Rāma and his brother Lakṣman, for example, Tulsī writes his famous passage that "Hanumān recognized the Lord and fell and clasped his feet. His joy, Umā, no tongue can tell. He trembled with emotion (*pulakit tanu*) nor could he utter a word as he gazed on the form of their charming disguise."[4]

And again : "Hanumān was enraptured and in an ecstasy of love (*prem*) fell at his (Rāma's) feet, crying, 'Save me ! save me ! O Adored One."[5] Although Ramā sought to raise him up from his prostrations, nevertheless, "on account of affection, he (Hanumān) was not wanting to rise." ; "*bār bār prabhu cahai uthāvā : prem magan tehi uthav na bhava.*"[5b] The act of affection in *bhakti* is so pleasing, one does not wish to cease from it.

The more contemplative expressions of *bhakti* in Tulsī Dās, retain the personal sense of moving affection. These are usually associated with the *bhakti* of Bharata, Rāma's brother and his subject. Typical is the passage in Ayodhyākāṇḍ :[6] "The assembly was spiritually

---

[1] *Die Liebe zu Gott in den nicht Christlichen Religionen* ; Kralling von Munchen ; Erich Wervel ; 1950. p. 203.

[2] Ibid p. 202.

[3] Quoted by D'Arcy, Martin Cyril ; *The mind and heart of love* ; Faber and Faber ; 1945, p. 54.

[4] IV c[2] in the translation by Hill, W.D.P. ; *The Holy Lake of the Acts of Rama* ; London ; Oxford U. ; 1952. p. 325.

[5] V 32. Translated from the Gita Press Gorakhpur text of Hanuman Prasad Poddar.

[5b] V. 32 C.L. Gita Press

[6] II 294 c from the Rāmjasan text of Nāgarīpracārini Sabhā. cf II 290 c 3 in the Gita edition.

in suspension from their bodies through their affection (for Rāma)"—*sithil samāj saneh samādhi* : that is, a yogi suspension of the mind from the body in meditation on Rāma. A few passages later[7] we read this description of rapt attention on Rāma : "The body enraptured (the hairs erect in emotion), the mind on Rāma and Sītā, the tongue repeating their names, tears in the eye" : "pulak gāt hiy siy Raghubīru jīh nām japu lōcan nīrū."

Affection is the most prominent aspect of *bhakti* in the Rāmacaritamānas of Tulsī Dās. Towards that connote rapt attention terms of affection were added.[8],[9].

The passages of affectionate prayer for Rāma in Tulsī Dās usually describe his material body in terms of physical perfection and seem, in this context, to have erotic form. In doha 252 of Bālkānd, for example, Rāma is said to appear to be physically desirable to the women who saw him : "sringār dhari murati."[9b] Less often they refer to his infinity, or to his essential identity as inconceivable Brahm.[10]. He is even likened to Kāma in physical beauty.[11] Tulsī Dās makes for more clear than does most Krishnaite literature however, the symbolism of this language and the distinction between affection for Rāma and human passion. "I worship Rāma," he writes in the Sanskrit invocation to the Lānka-kāṇḍ, "the adored of Love's enemy..." : "Rāma kāmārisevyam bhavabhayaharaṇ..."[12]

Tulsī Dās makes clear that his vocabulary of affection for Rāma signifies attachment to him whereby one can become detached from all other ties and emotions. In lists of the qualities of those who are dear to Rāma's heart 'detachment' leads.[13] This is detachment, however, which is only the consequence of attachment, self-pejoration, and, in every act,—a loving and persevering adoration :[14] "*daṃ sil virati bahu karmā*".

Rarely the concept of attachment approaches that of an I-thou communication fellowship on the one hand,—or, on the other, identification. The philosophy of identification with the Lord is opposed at times,[15] and averred at others.[16] In Ayodhyākāṇḍ 170c Rāma's brother says : "All is flatulence to me without Raghurāī, let me go to be with Rāma" : "bādi mōr sab binu raghurāī

jāuṅ Rāma pahaṅ āyasuṅ dehū."

This seemingly mystical expression can only mean, when measured by the typical language of devotion used by Tulsī Dās, merely a yearning to adore Rāma. The unmistakable significance of *bhakti* to the devotees in Tulsī's poems is affectionate adoration of Rāma. It is this affectionate adoration which affects a submissive juncture with Rāma : "The servant

---

[7]II 313c Ramjasan. Unless otherwise specified, quotations hereafter and my translations will be from the Rāmjasan text, this being the text available for most of this study.

[8]*e.g.* II 290c : "Rāmahi citvat" : the mind fixed on Rāma and "priti nit" : constant affection. Rāmjasan.

[9]Expressions of affectionate *bhakti* are found in the following passages : 9, 9c, 26, 27c, 28, 28c, 177c, 181, 189c, 190c, 191, 195, 196, 196c, 199c, 201c, 202, 204c, 205, 207c, 209, 209c, 211c, 212c, 214, 214c, 217, 217c, 224c, 227, 228c, 230c, 231c, 241 (2nd) c, 264, 264c, 269c, 279, 279c, 286, 289 chand 12, 289 (2nd) c, 367, S 31-32, II 90c, 103c, 108, 124, 125, 125c, 126, 129c, 132c, 133c 134, 134c, 135, 173c, 294c, (sneh), 312, 312c, 313c, III 6c, 9c, 12c, 28c, 29c, 30c, Chand 10, 39c, 41, IV, 1c, 22c, 25c, V 32, 32c 48c, 59 chand 3, VI 70c, 107c, 108, VII 2, 14T2, 16, 17c, 18, 18c, 19c, 25, 36, 38c, 39, 41c, 42c, 47c, 48c, 50, 92c, 92 chand, 107, 109c, 122c, 123c, 127 (Ramjasan).

[9b]Rāmjasan.

[10]But see II 26c, 33c, III 7, (15) V Invocation 1, VI Invocation 1 ; 106c, 107c, VII 13 ch 5, 17, 18c, 34c. (Rāmjasan).

[11]VI 107c, also I 266. (Rāmjasan)

[12]Also see VII 7 (Rāmjasan)

[13]II 124c, 125c, See also VII 15c, 38c, 39, 41c, (Rāmjasan).

[14]V 47c ; but see prīti in III 12c (Rāmjasan)

[15]VII 108c.

[16]VII 14c.

is like the hand. Tulsī says, hearing this description of affection (prīti). all good poets are filled with pleasure."

Affectionate adoration (prembhagti) for Rāma detaches a man from the world, washes away inward filth :

prem-bhagati jal binu raghurāī
abhi antar mal kabahuṅ na jai.[17]

Lack of affection for Rāma is, to Tulsī Dās, abhorrent, as he frequently makes explicit.[18] It is implicite in the entire message of the epic.

Tulsī Dās, like many Hindu poets of this period, writes many passages on meditation on the *name* of the adored Lord. Again, in Tulsī Dās, it is the affectionate character of meditation on the name of Rāma that is emphasized.

"His servants (*sevak*) need only recollect (*sumirat*) affectionately (*sapriti*) his name (*nam*)."[19]

The world of affection which Tulsi Dās most frequently associates with *bhakti* to Rama are : *prem, priti, neh* or *saneh, anurag*.

Prem (appearing in Tulsī Dās's major epic some 235 times in its variant forms) is the favourite noun for affection between Rāma and his suppliants :

"O Raghurāī, without the water of adoration and affection...

"Prem bhagati jal binu Raghurāī"[20]

"As he listened to his lord's words and looked on his face, Humān was enraptured, and in an ecstacy of affection (prēm) fell at his feet."[21]

Bharata is the ideal *bhakta* who has "affection for Rāma." (Prém Rāma ko).[22] Bharat, with all the people, meets his returning brother with joy and affection :*chale Bharat ati prem man sanmukh krpāniket*.[23]

Another frequently used word is *priti*. This late development from the Sanskrit root *pri*—"to gladden, show pleasure, to propitiate" is a most popular word in Hindi literature for affection. It is a modest word with none of the connotations of Krishnaite fervid, erotic passion for the Lord. It is used some 203 times in the Ramacaritmanas, along with 244 usages of its cognate *priya* in variant forms.[24]

The words *neh* and *saneh* with variants are used frequently to characterize *bhakti* and Ramā's response thereto (154 times). They derive from the Sanskrit *sneh* which first meant "stickness" and then "attachment, love, and friendship".[25] When Bharat is called the very incarnation of love to Rama, this word for clinging affection is used : *"dhāre deh janu Rāmasanehu"*.[26]

Anurāg (used 126 times) is the boon for which faithful *bhakta* asks. This ancient word for affection holds in the Ramacaritamanas setting no idea of familiarity in relationship with the Lord, nor of easy access and comradeship, but of affectionate subservience in adoration.[27]

---

[17]VII 49c, "Without the water of love aud devotion to Raghurāī Inner filth can never go."

[18]*e.g.* II 156c, 161, 161c, 166c.

[19]I d28. Note again the use of the word kāma with reference to Rāma. See I 266.

[20]See footnote 17. VII 49c.

[21]V 32.

[22]II 291.

[23]VII 4.

[24]According to the *Mānas Sabd Sāgar*; ed. Badrīdas Agravāl; Kalkatta, Kaśiprasad, Vijaykumār Agravāl; 1955.

[25]*e.g.* II 90c.

[26]II 199c.

[27]*e.g.* I 181 (*anurāgu*) ; also IV 9.

Other words used to express affection in *bhakti* are *rati, moh, cho*. The connotations of physical desire and delusion often associated with these words are excluded in those passages where they are used to express the devotee's attitude toward his Lord. Sometimes, for example, *rati* is called *dharmmrati*,[28] signifying passionate attachment to *dharma* in contrast to passionate attachment to the world of existence.

These and other words[29] of affection are used freely by Tulsī Dās to express the devotee's attitude toward his Lord, but even more frequently for the Lord's response to his suppliants.

Conclusion. Tulsi Das leaves no doubt in his poetry that, while he tolerates and occasionally advocates all paths and any path of faith to all forms and any form of deity, for him the supreme way is the path of affectionate *bhakti* to Ramā which wins divine attention to man and saves him : "O Umā, Rāma is moved to show favour less by ascetic rites and prayer, penance, varieties of sacrifices, vows and observance than by single-minded affection."[30]

Also : "Knowledge without love for Rāma is like a boat without a boatman."[31]

The vocabulary of Tulsī Dās is not the vocabulary of theology or of philosophy but of poetry. In no passages does the poetry sing more sweetly than in those where he writes of the affection of his devotees for Rāma. Such, for example, is the passage in which Valmīkī addresses Rāma with Sitā and Laksman.[32] It is the words of the affection which give the Ramacaritamanas, for example, its fragrance of delightfulness for all Hindi-speaking people. Rāma is affectionate in his response to his suppliants,—but never demonstrative. The more passionate expressions of affection are always those of the devotees.

The words of affection used by Tulsī Dās are words the people knew and used in daily life. He generally eschewed the esoteric terms of the Sanskrit Upanisads. The Krishnaite poets were already appealing to the physically-sensed emotions of many. Listeners liked the descriptions of yearning for one's Lord in these Vaishnavite stories. Tulsī Dās, however, used language which both appealed to the world-bound imaginations of the people but also by his use of it on higher level, in the context of deeper sympathies, seemed to open up the possibilities of a more satisfactory relationship with God.

Couching his descriptions of *bhakti* in the vocabulary of affection common among the people, Tulsī Dās signalized the supremacy of affectionate *bhakti* as a sweet dependence on the adored Lord.

---

[28] III. Soratha 1.

[29] *e.g. pranay* : affection, reverence, obeisance, salvation.

[30] VI 117b Gita Press Hill's translation altered. (Ramjasan 114).

[31] II 265. See also III, 30, 31.

[32] II 122 (*g*), 128 (Allahabad-Banaras. Also see III 7.)

GEOMETRY IN RETROSPECT

Dr. RAM BALLABH M.Sc., D.Sc.,
Professor and Head of Mathematics Deppt., Lucknow University

The word 'Geometry' means earth measurement. Indeed, the subject seems to have had its birth in ancient Egypt where the periodic inundations of the Nile made the surveying of the land for re-establishment of boundary lines a necessity.

Although geometry seems to be a separate discipline to the student of mathematics today, but long before the invention of zero and the system of place value notation by the Hindus mathematics was developed largely through the methods of geometry. The geometricians, mathematicians as they were then called, were held in the highest of esteem, for it was realized that they were the people who could give the finest possible training for the mind of a future leader of men. The importance of geometry was felt all round so much so that the noted Greek philosopher, Plato refused to meet persons ignorant of geometry.

The ancient Greeks were responsible for giving geometry to the world. While the beginnings of geometry can be traced back to ancient Egyptians, Babylonians and the Hindus, we should not forget that the credit of presenting geometry as a body of propositions based on definite axioms and postulates goes to the Greeks and to Euclid (365—275 B.C.) in particular.

Little is known about Euclid's life, place or date of birth. It is, however, known that he worked as a teacher of mathematics in the royal school at Alexandria founded by king Ptolemy, which was a great seat of learning those days and had the finest library in the world.

Euclid made the best of his stay at Alexandria. He collected all the geometrical facts known till his day and arranged them in proper order improving the proofs of known theorems where necessary and adding new theorems to fill the existing gaps. He thus gave a definite shape to the scattered geometrical knowledge of the time and presented it in the form of his 'Elements', consisting of thirteen books, which continued to command the world market as mathematical test-books for over two thousand years. For twenty centuries the first six books of Euclid were the students' usual introduction to geometry.

Until the close of the eighteenth century the postulates of Euclidean geometry were considered so perfect that only an irresponsible person would question them. The fifth postulate of Euclidean geometry which states that through a given point there is only one parallel to a given straight line was the first to be challenged by J. Bolyai (1802—1860) and N. I. Lobachevskii who constructed a new geometry on the proposition that through a given point there is an infinite number of parallels to a given line. Some other postulates were also challenged resulting in the creation of several types of new geometries, each applicable to its special field of inquiry. But in spite of its several drawbacks arising out of a variety of causes Euclid's geometry remains unchallenged for terrestrial calculations till today.

A great deal of what is now called elementary algebra was worked out through the medium of geometry by the brilliant mathematicians of those times. Many algebraical identities were proved originally by means of geometric figures and reasoning. The school student of today studies these proofs of identities without perhaps being told how they found a place in his book on geometry.

In Euclid's Elements we find a geometric solution of what would now be called quadratic equations of the type $x^2+ax=a^2$ and $x^2=ab$. These and similar equations were solved independently by the Hindus in the pre-Christian era before the time of Euclid and their method is also geometrical. Going through Euclid's books one finds that many concepts now classified as algebraic had their origin in geometry.

Euclidean geometry consists of a large number of theorems, each of which, to all outward appearance, stands alone. The unity which binds together different geometric figures could not be perceived earlier than the seventeenth century A.D. when the algebraic methods had been developed independently, and could provide a base for further development of geometry.

The credit for this perception goes to the French mathematician Descartes who in his Géométrie (1637) uses the present-day notion of coordinates, a term first used by Leibniz (1692) in the technical sense of analytical geometry which is essentially the study of loci by means of equations connecting determining coordinates.

Descartes' study was limited to plane and space curves only. He was, however, responsible for the idea that lies behind all subsequent developments. Instead of dealing with every geometric figure separately, his analytic geometry deals with general, abstract qualities that lie behind whole groups of geometric figures.

After the analytic formulations of geometry it became possible to extend the domain of geometry to other studies in mathematics. The representation of points of a plane by pairs of coordinates (x, y) and those of a space of three dimensions by triples (x, y, z) of coordinates made one think if there existed spaces the points of which could be represented by a larger number of independent coordinates. This led to the conception of a space of more than three dimensions which is capable of concrete representation. For example, in line geometry and sphere geometry we have the concept of four-dimensional space. In the theory of relativity the four dimensional space-time manifold of Einstein-Minkowski has aroused considerable popular interest. In the field of applied mathematics the conception of a multi-dimensional space makes possible the application of geometric language to problems that are essentially analytic.

We thus see that the introduction of algebraic methods in geometry not only brought out the "pattern" which shows itself in algebraic expressions to different curves but also served as a means for the extension of our ideas of the dimensions of space, so useful in providing answers to several problems of physical science. All this does lead one to believe that mathematics is not just a man-made invention, but that it forms part of the eternal make-up of the universe.

SOCIAL MEDICINE AND ITS UTILITY

Dr. B.G. PRASAD M.D., D.T.H., D.T.M.,
Professor and Head of the Department of Social and Preventive Medicine, K.G. Medical College, Lucknow

The purpose of medicine is to raise the level of the health of its people. The Constitution of India provides for the establishment of a welfare state and a socialistic pattern of society, aiming to provide facilities and conditions of healthy living and free and adequate medical aid. With increasing recognition of environmental and social factors in the causation of disease and ill-health and the wider concept of health embracing physical, mental and social well-being, the traditional teaching of medicine by the side of sick-bed within the four walls of a hospital is not considered adequate. The present teaching of medicine includes every aspect of an individual not only the individual in health and disease but also his family and community life. For this the number of contacts between a medical school and the community in which it is situated is increasing and the teaching is getting more and more public health/community oriented.

Eighty-two per cent of India's population lives in villages. With a view to increase agricultural production and give impetus to various developmental activities in an integrated manner, including the raising of health, a net-work of 5,223 community development blocks are to cover the whole of rural India. Each community development block serves a population of nearly 66,000 in about 100 villages. One Primary Health Centre is allotted to each community development block for carrying out integrated curative and preventive work. The immediate objective of medical education in India is to provide a sufficient number of medical practitioners of comprehensive medicine to meet the needs of society, which is mainly rural.

It is obvious that social and preventive medicine will have to play an important part in the training of basic doctors. It is for this reason that the Government of India, the WHO and the UNICEF, besides the Rockefeller Foundation, are helping in the establishment and developmeet of the whole-time departments of social and preventive medicine and their rural health centres. A whole-time department with the help of all the above four agencies is being developed at the K.G. Medical College, Lucknow. It was established in the Second Five Year Plan in March, 1958 and is being further developed in the Third Five Year Plan. Its rural field practice area, the Rural Health Training Centre, Sarojini Nagar came into operation in March, 1959. The department at Lucknow has developed into one of the pioneer departments in India and in certain respects has taken a lead in the teaching of the subject. This is the only department in India where all the three training *viz.*, under-graduate, post-graduate D.P.H. and M.D. (Social and Preventive Medicine) are being done. It is hoped that in the Fourth Five Year Plan it will be further extended and training in Diploma in Health Education will also be available in this department. An Urban Health Centre is also being established by the department at Alambagh, Lucknow.

The Medical Council of India has recommended that 'It is very important that our students must come in contact with the living conditions of the people, so that they may

know these and their importance in the causation and spread of disease. This can be obtained by visits to the houses of the patients with social workers or independently or both'. The under-graduate student today is required to get an opportunity to observe individual of all ages, whether sick or healthy, to understand the needs of a whole family, to recognise the influence of the family situation on the health of an individual, to develop skill for better approach to physician-patient relationship, to apply early preventive measures for healthy members of the family, to appreciate the difficulties for local isolation of infectious disease patients, to provide care for chronically ill patients, to know the social means to preventive ends, and finally to think of the possibility of rehabilitation. All these aspects can only be taught when the students are given family assignments in the community as is being done in this department at Lucknow. This will promote in the students a community and public health out-look.

It is very important and is rather vital that the training of the medical under-graduates should be such as to produce the types of medical men who will be fully equipped to participate in the modern health programme with its newer expanding conception of service to the community, and promotion and maintenance of its health. This becomes especially important for countries like India where the national pattern of comprehensive medical care, as indicated above, is based on integrated approach of curative and preventive work in community. The basic doctor of the future should be 'a social physician protecting the people and guiding them to healthier and happier life'.

Till about a decade or so the training in public health to the under-graduates in India was being done in the fourth year of the Five Year M.B.B.S. course through about 40 didactic lectures and a few demonstrations covered by the subject of hygiene. In the post-independence period the part-time departments of Hygiene have been replaced by whole-time departments of Social and Preventive Medicine. The teaching of Social and Preventive Medicine has spread during the preclinical, clinical and internship periods. The emphasis during the pre-clinical period in teaching should be on the normal growth and physical and and mental development, adaptation of man to his environment—physical, social and biological, and maintenance of normal health. The students should be oriented in medical aspects of human ecology, biostatistics, fundamentals of psychology, social anthropology, sociology, medical economics, historic evolution of medicine and demography. It is desirable that students should spend an appreciable period on field studies in a rural health centre, preferably situated in a community project.

The following was the course of study in social and preventive medicine for the under-graduates in the Five Year M.B.B.S. course developed at Lucknow. The training, covering the preclinical, clinical and internship period, comprised of nearly 200 hours out of the total 5,500 hours spent on under-graduate training and one month or 150 hours of a year's internship period. The training at Lucknow had a trial of five years and seems to have worked well. During the Ist and IInd year M.B.B.S. course 35 lectures were given on medical aspects of human ecology, 15 lectures on elementary biostatistics, 10 lectures on social psychology, and 10 clinical demonstrations conferences to illustrate the multiple casual aspect and social origin in the disease, the circumstances which led to the disease and the application of various levels of prevention in the disease.

During the IIIrd year M.B.B.S. course 8 lectures were devoted to health education, 20 lectures on environmental hygiene, 4 lectures on industrial hygiene, 5 lectures on nutrition and food hygiene, and 4 lectures on personal hygiene. Each student was allotted one family having a mother with a new born infant, for submitting in IVth year a socio-medical case study on one year's follow-up of growth and development of the infant.

Finally in the IVth year M.B.B.S. the subject was covered through 30 lectures on principles of epidemiology, prevention and control of common communicable and non-communi-

cable diseases and disabilities, 12 lectures on personal health services, community organisation, vital statistics and international health and international health agencies. Each student was given a case of pulmonary tuberculosis for presenting a socio-medical study after studying the family and the chronic patient for a period of 4 months.

The training of interns is entirely carried out in the Rural Health Training Centre, Sarojini Nagar of the department. The interns come in batches of seven and live at the centre for one month, the duration of field training. The training is divided into two main parts (1) participative rotating internship and (2) guided comprehensive community health practice. The training aims at creating in the interns a community outlook which enables them to interpret health and disease in relation to the social background of the life of the people and understand rural health needs. The students are able to appreciate that improvement in community health is mainly due not to what is done when people are ill, but to the fact that they do not become ill when the environment in which they live is healthy. The interns get a good opportunity to see in operation the basic sanitary installations for water supply, disposal of human and animal wastes, housing and ventilation, abatement of smoke, protection from and control of insect vectors and rodents and community sanitary facilities etc.

Investment in health is cheaper than in disease. The doctors of the future, including the specialists, will be concerned more with the maintenance of normal health than departure from it *i.e.,* the disease. Every doctor coming out of a medical college should think not only in terms of diagnosis and treatment but also what have been the causes, and if they are preventable, then why not to prevent them. He should understand that a complete diagnosis includes clinical plus social diagnosis, and that therapy includes social therapy.

India needs medical practitioners of comprehensive medicine, including specialists, in thousands to meet the needs of society, so that they may be serving the community through health centres where preventive and curative services are integrated to provide basic health facilities to the people. Even the large teaching hospitals, sooner or later, will have to adopt the philosophy and functions of health centres. 'The problem will be to adjust the specialists, as we are today trying to adjust our basic doctors in the primary health centres, to the concept of health centres'. The community should increasingly form the research, action and evaluation laboratory. It is, therefore, logical to expect that 'Social and preventive medicine should permeate the whole of medical education. There is no subject of the medical curriculum in which the teaching of some aspect of social and preventive medicine cannot be suitably incorporated, and there are many specific situations in which the teaching needs to be integrated with other departments'.

SUPERSTITION AND CREATIVE IMAGINATION

DINKAR KAUSHIK,
Principal, Government College of Arts, Lucknow

Superstition is a state of mental anticipation, without any rational or spiritual insight. A cat crosses the road and the wayfarer cancels his journey. A man sneezes at the point where a person begins his work, and the person gives up his attempt. A raven sits on the house, and the patient starts brooding about death. Primitive societies are full of beliefs, and their life is punctuated by such cerebrations. The farmer, the craftsman and the village tradesman are guided by the popular lore of superstitions. Some of these are spread over large regions while others were local. Some people in their isolation and misery evolve private and personal superstitions. Superstition is a working hypothesis of a confused mind of a pre-rational stage. Shri Aurobindo calls the average human thinking not as stream of thought process, but as intermittant thought-sensations, unrelated in theme or intention, save of self-preservation.

The common man of today for all the progress achieved in the material field is a classic example of superstition-ridden mind. It is perpetually fenced in by beliefs which will not bear out the light of reasoned thinking. The brassy patriotism, which thrives on hatred of neighbouring country, the ugly sense of arrogance born of racial superiority, the superstition of comforts and luxuries unrelated to physical needs, and the superstition of work *versus* liesure are some examples. By the same token, the belief in superiority of national culture and art over those of other countries, is a similar expression of mass ego-centrism. We like mother's cooking, and this liking is based on familiarity and not on the culinary excellence. We find the faces of our dear ones very beautiful, not because of any physical charms but because of our long association with them. To consider our children intelligent, our wives handsome, or our provincial ways most cultured, or our own dress most suitable and gainly is another manner of acknowledging hold of superstition on our life. Belief in tradition is another case in point. In the wake of national resurgence, the Indian people developed a dislike for everything that was alien. This dislike was partly genuine and partly due to psychological resistance of weaker organism developed as a fortification. Murals of Ajanta are no doubt great works of art, but a serious student of world-art will place them beside Central Asian Frescoes, Sigiria murals, Horiyuji wall paintings, Etruscan cave paintings, or Egyptian tomb paintings. He will not parade his shortsightedness by claiming any unique position for these. Sculptures of Elephanta are doubtless a supreme expression of plastic imagination. But we are equally moved by Borobudur, Negro or Maya Sculptures, or by Cycladic carvings. To place them in a class beyond any would be an evidence of our Chauvinism.

Here it would be pertinent to analyse clearly the significance of tradition. Tradition in art is not a static frame of reference. Tradition of Indian painting is not a set style. Indian art does not consist of unbroken wave-like line, or of eyes that are languorous and wistful, or of fingers that elongate in a fashion-plate manner. Indian technique does not consist of heavy ornaments or rounded busts, or hazy washes that indicate [dusty sun sets and powdery moon lights. Tradition is a continuous evolving stream, like a river. When you look towards its origins you see, rocky mountains, melting glaciers, probably taking its birth in some remote continent, cascading through regions, replenishing its store through myriad

rivulets and tributaries. When you look towards its end, it is a mighty expanse, quiet flow, carrying ships and sailing crafts, on to the ocean. The river is not the same at various points of her course. Yet strangely it is the same. You do not dip your hand in the same water, even at the same point ! River and tradition are never same, never static, never a stagnant stinking pool. Lack of movement and flow are clear indications of poodles, that hide under its velvet green, abominable stink and impotence. Tradition is a clear stream, that does not deprive itself of rain bearing clouds, or tributary of alien clime. Tradition when you look back towards past is a cumulate of live springs. It is born of many showers of human imagination, in the catchment regions of bygone centuries. When you look into dark future, tradition is a potentiality in the womb of the unknown. It carries within immeasurable combinations only to be fertilised in its time space dimension. Tradition thus seen, loses all its austre frame-work. Tradition is not in its limits, just as river is not in its banks. Tradition is the living, ever-changing content of human psyche in its social and cultural manifestation.

Thus seen tradition is like a huge rain bearing cloud shaping and reshaping in the skies never remaining the same in contours but unmistakably same in content.

The torch bearers of tradition to-day have missed this significant truth. They are busy fixing the contours on an ever fluctuating phenomenon. To them traditions of Indian art are squarely anchored in the delicate lines, and softly laid out colours, and in the age-old themes of Epics of Ramayana, Mahabharata, and the classics of Kalidasa.

To me, this is travesty and not tradition. This is downright superstition. Greek temples were great architecture, but the modern universities echoing Greek columns is hypocrisy. Apsara from Konark is a great piece of Sculpture, but a contemporary craftsman who caters to tourists bust for collection, is mercenary who sells his self.

Superstition is a social evil. Tradition in its stagnant stench is a cultural evil. Both need to be dispelled by proper rational approach and enlightened education.

As a contrast to these states of human mind, creative intuition stands out as a strange but real experience. Valmiki Ramayana is a great epic and his beautiful lush poetry of pre-Christian era, casts magic spell on us across the barriers two millenia. Sita of Valmiki is mortal woman ready to revile Luxman as having an evil intent, when he refuses to leave her in search of Rama. But Tulsidasa's Sita is of different stuff. For all the poetic magnificence of Valmiki, Tulsi could not take it as his model for imitation. Tulsi repudiated the psychological foundations of Valmiki. He gave his Rama a contemporary mind and a contemporary tongue. To take another example, the Krishna in Pahari painting, is a pahari Village urchin, and Radha a pahari village belle, and Vasudeo a pahari patriarch. Pahari Radha wears Churidar Pajama and Kurta and Orni. Similarly the Buddha of Ajanta is a fourth century Gupta nobleman, and Yashodhara or Maya are Gupta princesses with their heavy bosoms and coy side glances. They seem to have taken life from the dramas of Kalidasa.

Creative imagination does not waste its time in search of archaeological evidence, in matters of dress, ornaments, iconographic details, and other lakshanas. A great work of art is born in the smouldering white heat of creative imagination. At this zero hour all history and archaeology pale into insignificance. Rama or Buddha at this hour is not a historical or mythological figure, richly encrusted in literary annals. Now Buddha is flesh and blood and spirit ; not a mere memory, but a thrilling encounter of personal nature. The Buddha is not Goutama that lived in the 4th century B.C. who was born at Lumbini to a beautiful queen Maya. Now Buddha is a conglomerate of my son, my faith, my ideals, my hopes, and my own blood that courses through veins. At this white heat moment I realise in my guts of guts that Buddha is not a special kind of man, but each man is a latent Buddha. I carry within me the possibility of the living Buddha.

All art worth the salt must pass through these fiery gates of creative intuition. Superstition and its tradition will forever count the beads in sleepy wait. Intuition will cross the gates and win the princess of heart's desire. Only the brave deserve the fair. But Traditionalists are never brave. Their hearts have ceased to beat in living rhythms.